डा. एम. एल. सेठ

एवं

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार
विदेशी विनिमय,
राष्ट्रीय आय
तथा
रोजगार सिद्धान्त सहित

मुद्रा एवं बैंकिंग

(MONEY AND BANKING)

[विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की बी० ए०, बी० कॉम० एवं टी० डी० सी० कक्षाओं के स्वीकृत पाठ्यक्रमानुसार]

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार,

प्रकाशक :

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

अस्पताल रोड, आगरा—3

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ-संख्या

खण्ड 1

मुद्रा

खण्ड 2

बैंकिंग

खण्ड 3

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार

खण्ड 4

विदेशी विनिमय

अध्याय पृष्ठ संख्या

खण्ड 5

भारतीय मुद्रा एवं बैंकिंग का इतिहास एवं समस्याएँ

खण्ड 6

रोजगार एवं राष्ट्रीय आय

खण्ड 7

राजवित्त

"Every branch of knowledge has its fundamental discovery In Mechanics, it is the wheel, in Science the fire, in Politics the vote Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence money is the essential invention on which all the rest is based "

—CROWTHER

प्रथम खण्ड

मुद्रा
(MONEY)

अध्याय | पृष्ठ संख्या

खण्ड 5

भारतीय मुद्रा एवं बैंकिंग का इतिहास एवं समस्याएँ

खण्ड 6

रोजगार एवं राष्ट्रीय आय

खण्ड 7

राजवित्त

"Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In Mechanics, it is the wheel; in Science the fire; in Politics the vote. Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based."

—CROWTHER

प्रथम खण्ड

मुद्रा
(MONEY)

मुद्रा-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "*Money is the pivot around which economic science clusters.*"
   —*Marshall*

2. "Money is a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods or in discharge of other business obligations "
   —*Robertson*

3. "Money includes all those things which are (at any time or place generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses "
   —*Marshall*

4. ' Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held "
   —*Keynes*

5. "Money now-a days in advanced communities means Bank Deposits, metallic and paper money play a diminishing role.'
   —*Lehfieldt*

6. "The one obvious instrument of measurement available in social life is money."
   —*A C Pigou*

7. "The Quantity Theory of Money states that the value of money, other things being the same varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent "
   —*Mill*

8. 'The value of money may be regarded as the reciprocal of the general level of prices, for example, if the general level of prices has doubled this means that the value of money has halved "
   —*Benham*

9. "Gold Standard is a jealous God It will work provided it is given exclusive devotion "
   —*Crowther*

10. 'Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income-earning activity '
    —*A C Pigou*

11. "Reflation may be defined as Inflation deliberately undertaken to relieve depression '
    —*G D H Cole*

12. "*Deflation .. becomes a state in which the value of money is rising* i e,, prices are falling '
    —*Crowther*

13. "Gresham's Law is that an inferior currency, if not limited in amount, will drive out superior currency "
    —*Marshall*

1

मुद्रा तथा उसके कार्य
(Money and Its Functions)

मुद्रा का उद्गम और विकास
(Origin and Development of Money)

यह कहना कठिन है कि मुद्रा का आविष्कार किस समय और किन परिस्थितियों में हुआ। जैसा विदित है आरम्भ में वस्तु विनिमय प्रणाली ही कार्यशील थी अर्थात् एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ विनिमय हुआ करता था। परन्तु कालान्तर में वस्तु विनिमय प्रणाली से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगी और यह प्रणाली अत्यन्त असुविधाजनक बन गयी। वस्तु विनिमय प्रणाली की इन असुविधाओं से बचने के लिए ही मुद्रा का आविष्कार किया गया था। मुद्रा के उद्गम के बारे में मुख्यतः दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं

(1) **मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की किसी व्यक्ति द्वारा खोज नहीं की गयी बल्कि यह तो मानव को संयोगवश ही मिल गयी। प्रो० स्पाल्डिंग (Spalding) ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनके अनुसार जैसे जैसे विनिमय का प्रचलन बढ़ता गया वैसे वैसे लोगों ने किसी विनिमय के माध्यम का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार किसी एक वस्तु को मुद्रा मान लिया गया और उसी के माध्यम से विनिमय-कार्य सम्पन्न होने लगा। परन्तु कालान्तर में एक वस्तु दूसरी वस्तु की तुलना में अधिक उपयुक्त प्रतीत होने लगी। उस वस्तु ने पुरानी वस्तु का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुद्रा को अस्तित्व में लाने के लिए मानव ने अपनी ओर से कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया बल्कि यह तो स्वतः ही *अस्तित्व में आ गयी थी।*

(2) **मुद्रा का आवश्यकता-अनुसंधान सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का आविष्कार वस्तु विनिमय की कठिनाइयों एवं असुविधाओं को ध्यान में रखते हुए मानव द्वारा स्वयं किया गया था अर्थात् मुद्रा को अस्तित्व में लाने के लिए मनुष्य द्वारा सचेत प्रयत्न (conscious effort) किया गया था। जैसा विदित है वस्तु विनिमय के अन्तर्गत मुख्य कठिनाई वस्तुओं का मूल्य आँकने की थी अर्थात् इस प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य आँकने के लिए किसी एक सामूहिक मापक का अभाव था। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया था। प्रारम्भ में जिन वस्तुओं को मुद्रा का कार्य करने के लिए चुना गया, वे केवल सामूहिक मापक का ही काम देती थीं। सभी वस्तुओं के मूल्य मुद्रा के लिए चुनी गयी वस्तु के रूप में व्यक्त किये जाते थे। प्रो० क्राउथर (Crowther) इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार मुद्रा निस्सन्देह एक आविष्कार ही था।

उक्त दोनों सिद्धान्तों के समर्थन तथा विरोध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के विवाद से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं निकलता। हमारे लिये तो इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि किसी न किसी प्रकार मुद्रा अस्तित्व में आयी और कालान्तर में इसका विकास होता चला गया।

मुद्रा निम्नलिखित चरणो (Stages) मे से होकर विकसित हुई है :

(क) वस्तु-मुद्रा—प्रारम्भिक काल मे, जैसा ऊपर बताया गया है, किसी एक वस्तु को मुद्रा के कार्य सम्पन्न करने के लिए चुन लिया गया था। आखेट युग (Hunting Stage) मे पशुओं की खालो, हड्डियो एव बालो को मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त किया गया। चरागाह युग (Pastoral Stage) मे पशुओ को मुद्रा का कार्य करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। भारत मे ऋग्वैदिक काल मे गाय ही मुद्रा का कार्य सम्पन्न करती थी। अफीका के कुछ देशो मे बकरी को मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त किया गया। कृषि युग (Agricultural Stage) मे कृषि-पदार्थों अर्थात् गेहूँ, चावल आदि को मुद्रा का कार्य करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। इस प्रकार विभिन्न समयो पर विभिन्न वस्तुओं का मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया गया था।

(ख) धातु-मुद्रा—प्राचीनकाल मे मुद्रा के रूप मे प्रयोग की जाने वाली उक्त वस्तुओ मे कई प्रकार के दोष व त्रुटियाँ पायी जाती थी। उदाहरणार्थ, उक्त वस्तुओ मे विभाज्यता (divisibility), स्वल्पता (scarcity) तथा अक्षयशीलता (imperishability) आदि के गुण नही पाये जाते थे। अतः मुद्रा-वस्तुओ मे इन गुणो के अभाव के कारण लोगों को अनेक कठिनाइयो व असुविधाओ का सामना करना पडता था। कालान्तर मे मनुष्य ने कुछ ऐसी वस्तुओं की खोज करनी आरम्भ की जिनमे मुद्रा के उक्त गुण विद्यमान थे। इस खोज के परिणामस्वरूप अब धातुओं का मुद्रा के रूप मे प्रयोग होने लगा। प्रारम्भ मे लोहा, पीतल, ताँबे आदि का प्रयाग किया गया और इन धातुओ के टुकडे विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रचलित होने लगे। बाद में चलकर इन धातुओं का स्थान अन्य धातुओ अर्थात् सोने, चाँदी ने ले लिया। अब सोने, चाँदी के टुकडे ही मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त होने लगे। धीरे धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि सोने-चाँदी के ये टुकडे न केवल भद्दे ही है, बल्कि चालाक व्यक्ति उनमें से धातुओं के कुछ अंश निकाल भी लेते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे धातुओ के टुकडो के बजाय उनके सिक्का का प्रयोग होने लगा। कहा जाता है कि धातु-सिक्को का प्रयोग सर्वप्रथम लिडिया (Lydia) और मिस्र (Egypt) मे किया गया था। इस प्रकार पर्याप्त समय तक धातु-सिक्को का प्रयोग होता रहा, परन्तु अब धीरे-धीरे धातु-सिक्को के प्रयोग में भी कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगी। धातु-सिक्के न केवल भारी ही थे, बल्कि उनके प्रयोग से देश को आर्थिक क्षति उठानी पडती थी क्योकि लगातार प्रचलन के कारण वे काफी घिस जाते थे। इसीलिए कागजी मुद्रा (Paper Currency) का आविष्कार किया गया, क्योकि कागजी मुद्रा मे वहनीयता (portability) तथा मितव्ययता (economy) के दोनो ही गुण विद्यमान थे। कागजी मुद्रा न केवल हल्की होती है, बल्कि इसके प्रयोग से देश को किसी प्रकार की आर्थिक क्षति भी नही उठानी पडती। इस प्रकार धीरे-धीरे सभी देशो मे कागजी मुद्रा का प्रयोग बढने लगा। परन्तु प्रारम्भ मे कागजी मुद्रा धातु-सिक्को मे परिवर्तनशील (convertible) थी, अर्थात् कागजी नोटो के बदले धातु-सिक्के प्राप्त किये जा सकते थे। परन्तु धीरे धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि विनिमेय (परिवर्तनशील) कागजी मुद्रा (Convertible Paper Currency) मे लोच का पूर्ण अभाव रहता है। परिवर्तनशील कागजी मुद्रा का निर्गम (issue) तभी सम्भव हो सकता है जबकि उतनी राशि के धातु-सिक्के मुद्रा अधिकरण (monetary authority) के पास सुरक्षित रखे जायें। इससे कागजी मुद्रा की मात्रा को बढाने मे कठिनाई का सामना करना पडता था। इसके अतिरिक्त, यह भी उचित नही समझा जाता था कि धातु सिक्को को प्रारक्षित निधि (Reserve Fund) मे बेकार रखा जाय। इस प्रकार अविनिमेय (अपरिवर्तनशील) कागजी मुद्रा (Inconvertible Paper Currency) का आविर्भाव हुआ। अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा धातु-सिक्को मे नही बदली जा सकती, लेकिन फिर भी बडे पैमाने पर सभी देशो मे आजकल इसका प्रचलन है, क्योकि लोगो को अपनी सरकार मे पूर्ण विश्वास है और इसी विश्वास के आधार पर ही अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रचलित रहती है। पश्चिमी देशो मे तो मुद्रा का और भी अधिक विकास हो चुका है। वहां पर तो कागजी मुद्रा से भी अधिक महत्व साख-मुद्रा (Credit Money) को दिया जाता है। अधिकांश भुगतान (payments) चैको, हुण्डियो आदि जैसे साखपत्रो के माध्यम से ही किये जाते हैं। यह मुद्रा का नवीनतम रूप है।

मुद्रा की परिभाषाएँ
(Definitions of Money)

मुद्रा का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'मनी' (money) है। यह शब्द लैटिन भाषा के 'मौनेटा'

(*moneta*) शब्द से निकाला गया है। मोनेटा, देवी जूनो (Goddess Juno) का ही दूसरा नाम है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में रोम में सिक्कों का टंकन देवी जूनो के मन्दिर में ही हुआ करता था। प्राचीन रोम निवासी देवी जूनो को 'स्वर्ग की रानी' कहकर सम्बोधित किया करते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा में रोमन लोग स्वर्गीय आनन्द की कल्पना किया करते थे। इसलिए मुद्रा का निर्माण देवी जूनो के मन्दिर में किया जाता था।

विभिन्न लेखकों द्वारा 'मुद्रा' शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ की गयी हैं किन्तु हम इन परिभाषाओं को मुख्यतः दो वर्गों में बाँट सकते हैं (क) विस्तार के आधार पर की गयी परिभाषाएँ, और (ख) प्रकृति के आधार पर की गयी परिभाषाएँ।

(क) विस्तार के आधार पर की गयी परिभाषाएँ—विस्तार के आधार पर की गयी परिभाषाएँ तीन प्रकार की है

(1) विस्तृत परिभाषाएँ,

(2) संकुचित परिभाषाएँ, और

(3) उचित परिभाषाएँ।

(1) विस्तृत परिभाषाएँ—इस वर्ग में हम प्रो० हार्टले विदर्स (Hartley Withers) की परिभाषा को सम्मिलित कर सकते हैं। हार्टले विदर्स के कथनानुसार, "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है।"[1] मुद्रा की यह परिभाषा काफी व्यापक है। इस परिभाषा के अनुसार उन सभी वस्तुओं को हम मुद्रा में सम्मिलित कर सकते हैं जो मुद्रा के कार्य को सम्पन्न करती हैं। इस प्रकार धातु-सिक्के एवं करेंसी नोट ही मुद्रा नहीं हैं, बल्कि चैक हुण्डियाँ, विनिमय-पत्र इत्यादि भी मुद्रा में सम्मिलित किये जा सकते हैं क्योंकि चैक, हुण्डियाँ, विनिमय-पत्र आदि सभी मुद्रा के कार्य सम्पन्न करते हैं। इस परिभाषा ने मुद्रा के क्षेत्र को काफी विस्तृत कर दिया है। परन्तु कुछ अर्थशास्त्री इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि इस परिभाषा ने मुद्रा के क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक विस्तृत कर दिया है।

(2) संकुचित परिभाषाएँ—प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) की परिभाषा संकुचित परिभाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है। रॉबर्टसन के कथनानुसार, "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो अन्य वस्तुओं के मूल्यों के भुगतान में या दूसरे व्यावसायिक दायित्वों को निबटाने में विस्तृत रूप से स्वीकार की जाती है।"[2] यदि इस परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो केवल धातु-मुद्रा (metallic money) ही वास्तव में, मुद्रा कहलाने की अधिकारी है, क्योंकि केवल धातु-मुद्रा को ही विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार रॉबर्टसन के अनुसार केवल धातु-सिक्कों को ही मुद्रा की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री इस परिभाषा से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके विचारानुसार रॉबर्टसन की उक्त परिभाषा मुद्रा के क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक संकुचित बना देती है।

(3) उचित परिभाषाएँ—कुछ अर्थशास्त्रियों ने न तो हार्टले विदर्स की विस्तृत परिभाषा और न ही रॉबर्टसन की संकुचित परिभाषा को स्वीकार किया है। उन्होंने इन दोनों परिभाषाओं के बीच के विचार को अपनाया है। प्रो० एली (Ely) तथा डॉ० मार्शल (Marshall) जैसे अर्थशास्त्रियों ने इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। प्रो० एली के कथनानुसार, "मुद्रा कोई भी ऐसी वस्तु हो सकती है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो सामान्यतः ऋणों के अन्तिम भुगतान में ग्रहण की जाती है।"[3] डॉ० मार्शल ने भी इससे मिलती-जुलती परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार, "मुद्रा में वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो किसी विशेष समय अथवा स्थान पर बिना किसी प्रकार के सन्देह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं तथा

---

1 "Money is what money does" —Hartley Withers, *The Meaning of Money*

2 "A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods or in discharge of other business obligations" —Robertson, *Money*

3 "Money is anything that passes freely from hand to hand as medium of exchange and is generally received in final discharge of debts" —Ely, *Elementary Principles of Economics*

के रूप मे तो मार्क मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार जर्मनी मे उस समय दो प्रकार की मुद्राओ का प्रयोग किया जाता था—अमरीकी डालर मूल्य-मापक के रूप मे और मार्क मुद्रा विनिमय-माध्यम के रूप में। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् चीन मे भी ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हुई थी। चीनी मुद्रा का इतनी तेजी के साथ प्रसार हुआ था कि उसका प्रयोग मूल्य मापक के रूप मे लगभग बन्द हो गया था। साधारणत दीर्घकालीन प्रसविदे अमरीकी डालरो के रूप मे किये जाते थे, जबकि विनिमय माध्यम के रूप मे चीनी मुद्रा का ही प्रयोग होता था।

(ख) **गौण कार्य**—इस शीर्षक के अन्तर्गत हम मुद्रा के सहायक अथवा गौण कार्यों का अध्ययन करेंगे।

(1) **मुद्रा स्थगित भुगतानो (Deferred Payments) का मान है**—वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत उधार का लेना व देना प्राय एक कठिन समस्या हुआ करती थी। मुद्रा के अभाव मे लिया गया उधार वस्तुओ व सेवाओ के रूप मे ही लौटाया जाता था, परन्तु आधुनिक द्रव्य-प्रणाली के अन्तर्गत उधार लेने व देने मे बहुत सुविधा हो गयी है। अब उधार मुद्रा के रूप मे ही लिया जाता है और मुद्रा मे ही लौटाया जाता है, अर्थात् मुद्रा स्थगित भुगतानो के मान का कार्य कर रही है। निम्न तीन कारणो से मुद्रा इस कार्य को सम्पन्न करने मे अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई है

(अ) अन्य वस्तुओ की तुलना मे मुद्रा का मूल्य अधिक स्थिर होता है। यह तो नही कहा जा सकता कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन ही नही होते, परन्तु यह निश्चित ही है कि दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा *मुद्रा के मूल्य मे कम परिवर्तन होते हैं*। यही मुख्य कारण है कि स्थगित भुगतानो के लिए मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है। इससे भुगतान लेने अथवा देने वाले दोनो पक्षो को ही आर्थिक हानि का कम भय रहता है।

(आ) अन्य वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा मे टिकाऊपन भी अधिक होता है। इसलिए स्थगित भुगतानो के मान के रूप मे इसका प्रयोग उपयुक्त रहा है।

(इ) मुद्रा मे सर्वग्राह्यता (general acceptability) का गुण होता है जिसके कारण हर समय लोगो को इसकी आवश्यकता बनी रहती है।

मुद्रा का स्थगित भुगतानो के मान के रूप मे बडा महत्व है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मुद्रा के कारण उधार लेना व देना आसान हो गया है और इससे अल्प विकसित देशो के आर्थिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

परन्तु स्थगित भुगतानो के मान के रूप मे मुद्रा मे कुछ दोष भी पाये जाते हैं। मुद्रा का मुख्य दोष यह है कि इसके अपने ही मूल्य म समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है जिनसे कभी ऋणियो (debtors) तथा कभी-कभी ऋणदाताओ (creditors) को आर्थिक हानि उठानी पडती है। उदाहरणार्थ, यदि कीमतो के बढ जाने से मुद्रा का मूल्य गिर जाता है तो ऋणदाताओ को हानि होती है और ऋणियो को लाभ होता है। इसके विपरीत यदि कीमतो के गिर जाने स मुद्रा का मूल्य बढ जाता है तो इससे ऋणदाताओ को लाभ होता है परन्तु ऋणियो को हानि उठाना पडती है।

(2) **मुद्रा क्रय-शक्ति का सचय है**—जैसा विदित है, वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत बचतें (savings) प्राय निरुत्साहित होती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय मुद्रा के अभाव के कारण लोग बचतें वस्तुओ के रूप मे किया करते थे। वस्तुएँ प्राय नश्वर (perishable) होती हैं, इसलिए उस समय लोगो द्वारा की गयी बचतें भी स्थायी नही होती थी। इसके अतिरिक्त, वस्तुओ के रूप मे बचत करने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता भी पडती थी। इसीलिए वस्तु विनिमय प्रणाली के अधीन बचतो की दर बहुत कम होती थी। परन्तु मुद्रा के आविष्कार के फलस्वरूप अब ऐसी बात नही रही। अब लोगो द्वारा बचतें वस्तुओ के रूप मे नही बल्कि मुद्रा के रूप मे की जाती है। इसीलिए अब वे (बचतें) स्थायी होती हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्रा के रूप मे बचत करने से बहुत कम स्थान की आवश्यकता पडती है और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन बहुत कम होते हैं। अत मुद्रा के रूप मे की गयी बचतें वस्तुओ के रूप म की गयी बचतो की तुलना मे अधिक सुरक्षित रहती हैं। इसके अतिरिक्त, मुद्रा के आविष्कार ने पूंजी सचय को सम्भव बना दिया है और पूंजी-सचय पर ही, जैसा

विदित है, देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा के आविष्कार ने ही आर्थिक विकास को सम्भव बनाया है।

(3) **मुद्रा क्रय-शक्ति को हस्तान्तरित करने का साधन है**—आर्थिक विकास के साथ ही साथ विनिमय के क्षेत्र में भी विस्तार होता चला गया। वस्तुओं का क्रय-विक्रय अब दूर-दूर तक होने लगा। इस तरह क्रय-शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। मुद्रा ने इस कार्य को बड़ी सुगमता व कुशलता से सम्पन्न किया। चूंकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण विद्यमान है, इसीलिए कोई भी व्यक्ति किसी एक स्थान पर अपनी सम्पत्ति को बेचकर किसी अन्य स्थान पर नयी सम्पत्ति खरीद सकता है। इसके अतिरिक्त, मुद्रा के ही रूप में धन का लेन-देन होता है। मुद्रा के इस गुण के कारण ही क्रय-शक्ति को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित किया जा सकता है। मुद्रा के इस कार्य का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बड़ा महत्व है। इसी के कारण कुछ लोगों के पास पड़ा हुआ बेकार धन ब्याज देकर *अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादक कार्यों में लगाया जा सकता है।*

(ग) **आकस्मिक कार्य**—मुद्रा के इन कार्यों का वर्णन प्रो० किनले (Kinley) द्वारा किया गया है। उनके कथनानुसार उन्नत तथा विकसित देशों में उपरोक्त कार्यों के अलावा मुद्रा द्वारा कुछ अन्य कार्य भी सम्पन्न किये जाते हैं। इन्हें मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। जैसे-जैसे किसी देश का आर्थिक विकास होता जाता है, वैसे-वैसे ही उस देश में मुद्रा के इन कार्यों का महत्व भी बढ़ता जाता है। मुद्रा के आकस्मिक कार्य निम्नलिखित हैं

(1) **मुद्रा साख का आधार है**—वर्तमान युग में सभी देशों में साख का महत्व बहुत बढ़ चुका है। सभी देशों में *आजकल साखपत्रों (credit instruments) का प्रयोग* व्यापक पैमाने पर होता है। विशेषकर पश्चिम के विकसित देशों में चेकों विनिमय पत्रों आदि का प्रयोग तो बहुत *बढ़ गया है। परन्तु स्मरण रहे कि साखपत्रों के प्रचलन का आधार मुद्रा ही है। बिना मुद्रा के* साखपत्र प्रचलन में नहीं रह सकते। उदाहरणार्थ एक जमाकर्ता (depositor) चैक का प्रयोग तभी कर सकता है जबकि बैंक में उसके लेखे (account) में पर्याप्त मुद्रा हो। इसी प्रकार देश का केन्द्रीय बैंक भी नोटों का निर्गमन तब तक नहीं कर सकता, जब तक कि उन नोटों के पीछे पर्याप्त मात्रा में नकद कोष (cash reserves) न हो। व्यापारिक बैंक भी साख का सृजन नकद कोष के आधार पर ही कर सकते हैं।

(2) **मुद्रा सामाजिक आय के वितरण को सरल बनाती है**—वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा के अभाव में सामाजिक आय के वितरण का कार्य बहुत जटिल हुआ करता था। परन्तु मुद्रा के आविष्कार ने इस कार्य को अब सरल बना दिया है। जैसा विदित है, आधुनिक उत्पादन विभिन्न साधनों द्वारा सामूहिक आधार पर किया जाता है, अर्थात् उत्पादन के विभिन्न साधन अब मिलकर उत्पादन-कार्य करते हैं। इस प्रकार कुल उत्पादन में से प्रत्येक साधन का हिस्सा मुद्रा में निश्चित किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक साधन को उसके काम के बदले में दिया जाने वाला पारितोषिक (reward) मुद्रा के रूप में ही प्रकट किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा के आविष्कार से सामाजिक आय को विभिन्न साधनों में वितरित करने का कार्य सुगम हो गया है।

(3) मुद्रा सीमान्त उपयोगिताओं एवं सीमान्त उत्पादकताओं में समानता लाने में सहायक **होती है**—जैसा विदित है प्रत्येक उपभोक्ता अपने व्यय में से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का *प्रयत्न करता है। उसे अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह विभिन्न वस्तुओं पर* व्यय इस ढंग से करे कि सभी वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगितायें बराबर हों। *जब तक सभी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं में समानता स्थापित नहीं होती* तब तक वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। अब इन सीमान्त उपयोगिताओं को बराबर करने में मुद्रा बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करती है, क्योंकि सभी वस्तुओं की कीमतें मुद्रा के रूप में ही व्यक्त की जाती हैं।

केवल यही नहीं, मुद्रा सीमान्त उत्पादकताओं में समानता लाने में भी सहायक सिद्ध होती है। जैसा हम जानते हैं, प्रत्येक उत्पादक अपने व्यवसाय में से अधिकतम उत्पत्ति (maximum output) प्राप्त करना चाहता है। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे उत्पादन के विभिन्न साधनों का

इस ढंग से प्रयोग करना चाहिए कि सभी साधनो की सीमान्त उत्पादकतायें बराबर हो। अब सीमान्त उत्पादकताओ को बराबर करने मे मुद्रा बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करती है, क्योंकि सभी साधनो की सीमान्त उत्पादकतायें मुद्रा द्वारा ही मापी जाती हैं।

(4) **मुद्रा पूंजी को उत्पादकता को बढाती है**—जैसा हम जानते है, पूंजी कई प्रकार की होती है, परन्तु मुद्रा पूंजी का तरलतम (most liquid) रूप है, अर्थात् मुद्रा के रूप मे पूंजी को किसी भी उपयोग मे लगाया जा सकता है। मुद्रा की इस तरलता (liquidity) के कारण ही पूंजी को कम लाभपूर्ण उपयोगो मे से निकालकर अधिक लाभपूर्ण उपयोगो मे लगाया जा सकता है। मुद्रा की इस तरलता के कारण ही पूंजी की गतिशीलता (mobility) मे वृद्धि हो गयी है। अब पूंजी को एक कम लाभपूर्ण स्थान से दूसरे अधिक लाभपूर्ण स्थान पर ले आया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा के कारण ही पूंजी की उत्पादकता मे वृद्धि हुई है।

(घ) **अन्य कार्य**—मुद्रा के उक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ और कार्य भी है, जो निम्न-लिखित हैं :

(1) **मुद्रा शोधन-क्षमता बनाये रखने मे सहायक होती है**—मुद्रा का यह कार्य वर्तमान युग मे बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है। जब कोई फर्म अपने दायित्वो (liabilities) को मुद्रा के रूप मे चुकाने मे असमर्थ हो जाती है तो वह अपने आपको दिवालिया घोषित कर देती है, हालांकि यह सम्भव है कि उस फर्म की परिसम्पत्ति (assets) उसके दायित्वो से अधिक हो। भविष्य मे भुगतान करने का वचन मुद्रा से ही सम्बन्धित होता है। इसलिए अपनी शोधन-क्षमता को बनाये रखने के लिए प्रत्यक फर्म को तरल मुद्रा के रूप मे कुछ न कुछ अवश्य जमा रखना पड़ता है। ऐसा करने से उसकी शोधन क्षमता भी सुरक्षित हो जाती है। इसी तरह बैंको, बीमा कम्पनियां एव सरकारो को अपनी शोधन-क्षमता बनाये रखने के लिये मुद्रा के रूप मे कुछ न कुछ अवश्य रखना पडता है।

(2) **मुद्रा निर्णय का वाहक है**—प्रो० ग्राहम (Graham) ने मुद्रा के इस कार्य पर विशेष बल दिया है। मुद्रा के रूप मे सचित क्रय-शक्ति का किसी भी उद्देश्य के लिए प्रयोग किया जा सकता है। यह आवश्यक नही कि मुद्रा को उसी उद्देश्य के लिए व्यय किया जाय जिसके लिए वह बचायी गयी थी। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति भविष्य मे मकान बनाने के लिए बचत करता है तो यह आवश्यक नही कि वह उस बचत को केवल मकान बनाने के लिए ही व्यय करे। हो सकता है कि वह उस बचत को मकान पर व्यय न कर, अपने बच्चो की शिक्षा पर व्यय करे। जैसा हम जानते हैं, भविष्य सदैव अनिश्चित होता है। जिस उद्देश्य के लिए मुद्रा सचित की जाती है, यह आवश्यक नहा कि उसी उद्देश्य पर व्यय की जाय। उद्देश्य बदलते रहते हैं। यदि व्यक्ति का उद्देश्य बदल जाता है तो उसे कठिनाई नही होगी, क्योंकि मुद्रा निर्णय का वाहक है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा को भविष्य मे किसी भी वस्तु को खरीदने मे लगाया जा सकता है।

(3) **मुद्रा पूंजी को तरलतम रूप प्रदान करती है**—मुद्रा पूंजी का तरलतम रूप है। मुद्रा के रूप मे पूंजी को किसी भी उपयोग मे लगाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से मुद्रा का भारी महत्त्व है। पूंजी को तरल रूप मे रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रो० जे० एम० कीन्ज (J M Keynes) के अनुसार पूंजी को कई उद्देश्यो (motives) से तरल रूप मे रखना आवश्यक होता है

(क) आय उद्देश्य (income motive) से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कुछ न कुछ मुद्रा अपने पास रखनी पडती है। उसे वेतन तो महीने या सप्ताह के पश्चात मिलता है किन्तु उसका व्यय तो प्रतिदिन होता रहता है। अत इस व्यय को करने के लिए उसे कुछ मुद्रा अवश्य अपने पास रखनी पडती है।

(ख) एक व्यवसायी को भी अपना प्रतिदिन का काम चलाने के लिए कुछ पूंजी मुद्रा के रूप मे अवश्य रखनी पडती है क्योंकि उसे न केवल कच्चा माल ही खरीदना पड़ता है, बल्कि व्यवसाय मे काम करने वाले श्रमिको को मजदूरी भी चुकानी होती है। इसे सौदा उद्देश्य (transactions motive) कहते हैं।

(ग) इसी प्रकार मनुष्य अपनी आकस्मिक आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिए भी कुछ न कुछ मुद्रा सदैव अपने पास रखता है। प्रो० केन्ज के अनुसार इसे सुरक्षा उद्देश्य (precautionary motive) कहा जाता है।

(घ) पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे अनेक व्यवसायी सट्टा करने हेतु पूंजी को तरल रूप मे रखना चाहते हैं। प्रो० केन्ज ने इसे सट्टा उद्देश्य (speculative motive) कहा है। इन सभी उद्देश्यो की पूर्ति के लिए पूंजी को तरल रूप मे रखना आवश्यक होता है और मुद्रा इसके लिए सर्वोत्तम साधन है।

जैसा हमने ऊपर देखा, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। आर्थिक विकास के साथ साथ मुद्रा द्वारा किये गये कार्यों मे भी वृद्धि होती चली गयी है, परन्तु आज भी मुद्रा के मुख्य कार्य चार ही माने जाते है—विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित भुगतानो का मान और क्रय-शक्ति के सचय का साधन। मुद्रा के ये चारो मुख्य कार्य एक-दूसरे पर निर्भर हैं। मुद्रा के रूप मे सचय इसलिए किया जाता है क्योंकि यह विनिमय का माध्यम है तथा स्थगित भुगतानो का मान है। इसी तरह विनिमय का माध्यम होने के कारण ही मुद्रा का लेखे की इकाई (unit of account) या मूल्य मापक के रूप मे प्रयोग किया जाता है।

मुद्रा का स्वरूप
(Nature of Money)

मुद्रा के स्वरूप की व्याख्या करते समय यह बताना आवश्यक है कि मुद्रा केवल साधन (means) है, साध्य (end) नही। जैसा विदित है मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति विभिन्न प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ द्वारा करता है। वर्तमान प्रणाली मे अन्तगत इन वस्तुओ एव सेवाओ को केवल मुद्रा से ही खरीदा जा सकता है, अर्थात मुद्रा मनुष्य की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि का एक साधन है और इसी माध्यम से वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मुद्रा का अपने आप म कोई महत्व नही है। मुद्रा की इच्छा तो इसलिए की जाती है क्योंकि इसके द्वारा मानव अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि कर सकता है। इस प्रकार मुद्रा केवल साधन ही है, साध्य नही।

मुद्रा और चलार्थ
(Money and Currency)

साधारण भाषा म मुद्रा तथा चलार्थ मे कोई अन्तर नही किया जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र मे इन शब्दो का अलग अलग अर्थो मे प्रयुक्त किया जाता है। 'चलार्थ' शब्द से अभिप्राय केवल धातु सिक्को तथा विधिग्राह्य (legal tender) मुद्रा से ही होता है। चलार्थ के अन्तर्गत धातु सिक्को एव कागजी मुद्रा को सम्मिलित किया जा सकता है। इन्हे चलार्थ इसलिए कहा जाता है, क्योंकि कानूनी दृष्टिकोण से इन्ही का देश के भीतर प्रचलन होता है। परन्तु 'मुद्रा' शब्द को अधिक विस्तृत अर्थ दिया गया है। मुद्रा मे धातु सिक्के एव कागजी मुद्रा तो सम्मिलित होती ही हैं परन्तु इनके अतिरिक्त साखपत्रो आदि को भी इसम सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार 'मुद्रा' शब्द का क्षेत्र 'चलार्थ' शब्द की तुलना मे अधिक विस्तृत होता है। मुद्रा तथा चलार्थ के अन्तर को यह कहकर और भी स्पष्ट किया जा सकता है कि सभी चलार्थ तो मुद्रा होते हैं परन्तु सभी मुद्राओ को चलार्थ नही कहा जा सकता (All currency is money but all money is not currency)।

मुद्रा का महत्त्व
(Importance of Money)

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है। मुद्रा के अभाव म आधुनिक अर्थ व्यवस्था प्रचलित हो नही हो सकती। अर्थशास्त्र की सभी शाखाओ—उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राज्य वित्त—मे मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा डॉ० मार्शल ने कहा है, "मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।" वास्तव मे, मुद्रा मानव का एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। प्रो० क्राउथर (Crowther) के शब्दो मे, 'मुद्रा मानवीय आविष्कारो मे सबसे महत्वपूर्ण है।" ज्ञान की प्रत्येक शाखा म एक न एक महत्वपूर्ण आविष्कार होता है जैसे यन्त्रकला (mechanics) मे चक्र, विज्ञान मे अग्नि, राजनीति शास्त्र मे मताधिकार। इसी प्रकार अर्थशास्त्र तथा मानव के सामाजिक जीवन के व्यापारिक पक्ष मे मुद्रा एक आवश्यक आविष्कार है और इसी पर अन्य सभी बातें आधारित हैं। वर्तमान अर्थ व्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व निम्नलिखित बातो से स्पष्ट किया जा सकता है

सबसे अधिक स्थायी होता है। दोनों पक्ष जानते हैं कि निकट भविष्य में मुद्रा के मूल्य में कोई विशेष फेर-बदल नहीं होंगे। अतः भावी सौदे मुद्रा के रूप में ही तय किये जाते हैं।

(7) मुद्रा ने सामाजिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में वृद्धि की है—वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत मजदूरों को उनकी मजदूरियाँ वस्तुओं के रूप में ही दी जाती थी जिससे उनकी स्थिति गुलामों जैसी थी। मालिकों द्वारा मजदूरों को वस्तुओं के रूप में जो कुछ भी दिया जाता था, उसे मजदूरों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता था। परन्तु मुद्रा के आविष्कार के परिणाम-स्वरूप अब मजदूरी वस्तुओं के रूप में नहीं, बल्कि मुद्रा में चुकाई जाती है। मुद्रा के रूप में दी गयी मजदूरियों से श्रमिक अब मनचाही वस्तुएँ खरीद सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा ने मजदूरों को उनकी परम्परागत दासता (slavery) से मुक्ति दिलायी है।

(8) राष्ट्रीय एकता में सहायता—मुद्रा के कारण राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिला है। मुद्रा के परिणामस्वरूप सामाजिक अलगाव (social isolation) कम हो गया है। मुद्रा ने वाणिज्य एवं व्यापार को प्रोत्साहित किया है। अब दूर स्थित क्षेत्रों के लोग व्यापार हेतु एक दूसरे से मिलते जुलते रहते हैं, जिससे उनके आपसी सम्बन्ध सुदृढ़ होते हैं और राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है।

(9) मुद्रा सामाजिक कल्याण की मापक है—मुद्रा के माध्यम से सामाजिक कल्याण को मापा जा सकता है। अमुक व्यक्ति का किसी वस्तु के उपभोग से कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है इसे केवल मुद्रा द्वारा ही मापा जा सकता है। मुद्रा के अभाव में समूचे अर्थशास्त्र में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जायगा।

(10) मुद्रा भौतिक प्रगति को सम्भव बनाती है—वर्तमान भौतिक प्रगति का आधार औद्योगिकरण ही है परन्तु यह औद्योगीकरण बिना पूँजी सचयन (capital accumulation) के सम्भव नहीं हो सकता और पूँजी सचयन केवल मुद्रा के द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

निष्कर्ष—जैसा पहले कहा जा चुका है मुद्रा आधुनिक अर्थ व्यवस्था का अभिन्न अंग है। आधुनिक अर्थ व्यवस्था बिना मुद्रा के सुचारु रूप से कार्य ही नहीं कर सकती। वास्तव में मुद्रा के अभाव में ही इसका महत्व अनुभव किया जा सकता है। प्रो० रावटसन (Robertson) के अनु-सार उत्पादन सम्बन्धी सभी निर्णय मुद्रा के माध्यम से ही किये जाते हैं। किस वस्तु का उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाय—ये सभी बातें मुद्रा के माध्यम से ही निश्चित की जाती हैं। इसके साथ ही साथ उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने में भी मुद्रा महत्वपूर्ण योग देती है। देश की अर्थ व्यवस्था भी मुद्रा प्रणाली के स्वरूप से प्रभावित होती है। मुद्रा के मूल्य में समय समय पर होने वाले परिवर्तनों से अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। देश में होने वाली स्फीति (inflation) तथा अवस्फीति (deflation) के परिणाम दूरगामी (far-reaching) होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि बिना मुद्रा के हम आधुनिक जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। यह सत्य है कि मुद्रा में बहुत से दोष पाये जाते हैं परन्तु इनके बावजूद मुद्रा मानव की सर्वांगीण उन्नति का मूल कारण है।

मुद्रा के दोष
(Evils of Money)

जैसा ऊपर संकेत किया गया है मुद्रा में कई प्रकार के दोष पाये जाते हैं। इनका अध्ययन हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे

(1) **आर्थिक दोष**—मुद्रा के दोष निम्नलिखित हैं

(क) मुद्रा व्यापार चक्रों (trade cycles) को जन्म देती है—जैसा विदित है पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में सदैव व्यापार चक्र चलता रहता है। कभी मन्दी (slump) आती है और कभी तेजी (boom)। इसी व्यापार चक्र के कारण अर्थ व्यवस्था में स्थिरता का अभाव हो जाता है और जनता के विभिन्न वर्गों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वास्तव में, मुद्रा ही व्यापार चक्र के लिए उत्तरदायी है। प्रा० केन्ज (Keynes) के अनुसार बचत (saving) तथा निवेश (investment) में असमानता होने के कारण ही व्यापार चक्र प्रचलित होता है। स्पष्ट है, बचत

(1) **मुद्रा से उपभोक्ता को लाभ**—मुद्रा के आविष्कार से उपभोक्ता को बहुत बडा लाभ हुआ है। अब यदि उपभोक्ता चाहे तो वह अपनी माँग को सुगमता से स्थगित कर सकता है। यदि उपभोक्ता देखता है कि किसी वस्तु की कीमत बहुत ऊँची है तो वह उस वस्तु के क्रय को तब तक के लिए स्थगित कर सकता है जब तक कि उसकी कीमत फिर से नही गिर जाती। मुद्रा मे निहित क्रय शक्ति का प्रयोग उपभोक्ता जब चाहे कर सकता है। उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह मुद्रा को उसी समय खर्च करे जिस समय वह इसे प्राप्त करता है। मुद्रा में सामान्य स्वीकृति एव तुलनात्मक स्थायित्व (comparative stability) के कारण इसका प्रयोग उपभोक्ता जब चाहे कर सकता है। इससे उपभोक्ता को भारी लाभ हुआ है।

इसके अतिरिक्त मुद्रा उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताओं को एक-दूसरे के बराबर करने मे भी सहायता देती है। जैसा विदित है प्रत्येक उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। यह केवल तभी सम्भव हो सकता है जबकि व्यय की विभिन्न मदो से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताएँ समान हो। इन सीमान्त उपयोगिताओ मे समानता स्थापित करने मे मुद्रा एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है।

(2) **मुद्रा से उत्पादक को लाभ**—उत्पादक के लिए भी मुद्रा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक उत्पादक को उत्पादन के विभिन्न साधनो को जुटाने कच्चा माल खरीदने पूजी उधार लेने एव विज्ञापन तथा प्रचार करने आदि म मुद्रा सहायता देती है। बिना मुद्रा के ये सभी उत्पादन सम्बन्धी कार्य सम्पन्न नही किये जा सकते। केवल यही नही उत्पादन सम्बन्धी गणनाओ (calculations) मे भी मुद्रा महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। प्रत्येक उत्पादक को उत्पादन आरम्भ करने से पूर्व कई प्रकार की गणनाएँ करनी पडती हैं। उदाहरणार्थ उत्पादन-व्यय कितना होगा वस्तु का सम्भावित मूल्य कितना होगा एव लाभ की मात्रा क्या होगी? स्पष्ट है कि बिना मुद्रा की सहायता के ये सभी महत्वपूर्ण उत्पादन सम्बन्धी गणनाएँ सम्भव नही है।

(3) **मुद्रा के कारण ही श्रम विभाजन एव विशेषज्ञता सम्भव हो सके हैं**—आधुनिक औद्योगिक प्रणाली मे श्रम विभाजन एव विशेषज्ञता (specialisation) का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना मुद्रा के श्रम विभाजन एव विशेषज्ञता सम्भव ही नही हो सकते थे। जैसा विदित है श्रम विभाजन के अन्तर्गत उत्पादन कार्य को अनेक विधियो (processes) एव उपविधियो (sub-processes) म विभाजित किया जा सकता है। प्रत्येक विधि एव उपविधि अलग अलग श्रम-समूहो द्वारा सम्पन्न की जाती है। चूकि विभिन्न विधियो एव उपविधियो म लगे व्यक्तियो को मुद्रा के रूप मे पारितोषिक (reward) दिया जाता है इसलिए वे अलग अलग रूप म काम कर सकते है। मुद्रा के अभाव मे श्रम विभाजन प्रणाली सम्भव नही हो सकती।

(4) **मुद्रा पूजी को गतिशीलता प्रदान करके अधिक उत्पादक बनाती है**—जैसा हम जानते है मुद्रा पूजी को तरलता (liquidity) प्रदान करती है और इसी तरलता के परिणामस्वरूप पूजी की गतिशीलता मे वृद्धि होती है। मुद्रा के कारण ही पूजी को कम लाभपूर्ण उद्योगो म से निकाल कर अधिक लाभपूर्ण उद्योगो म लगाया जा सकता है। इसी मुद्रा के कारण ही पूजी को कम लाभपूर्ण स्थान से अधिक लाभपूर्ण स्थान को स्थानान्तरित किया जा सकता है। संक्षेप मे मुद्रा ने पूजी को अधिक गतिशील (mobile) बनाया है और पूजी की इसी गतिशीलता के कारण ही आर्थिक विकास सम्भव हो सका है।

(5) **मुद्रा वस्तु विनिमय प्रणाली के सभी दोषो को दूर करती है**—मुद्रा के कारण वस्तु विनिमय प्रणाली की सभी कठिनाइयाँ अब दूर हो गयी हैं। अब दो व्यक्तियो की आवश्यकताओ के पारस्परिक संयोग का अभाव नही रहा। अब मूल्यो की सुगमता से माप हो सकती है। अविभाज्य वस्तुओ के विनिमय म किसी प्रकार की कठिनाई नही होती और किसी भी वस्तु के बदले मे कोई अन्य वस्तु खरीदने म कोई असुविधा नही रहती और न ही क्रय शक्ति को संचित करने मे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव किया जाता है।

(6) **मुद्रा के कारण भावी सौदे वर्तमान मे ही किये जा सकते हैं**—पूजीवादी अर्थ व्यवस्था मे भावी सौदो (future transactions) का विशेष महत्व है। भावी सौदा मे कीमतो का तो वर्तमान मे ही निश्चित कर लिया जाता है परन्तु माल का लेन देन एव कीमतो का भुगतान भविष्य मे ही किया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि सब वस्तुओ की तुलना मे मुद्रा का मूल्य

तथा निवेश दोनो ही मुद्रा से सम्बन्धित हैं। मुद्रा-रहित *अर्थ-व्यवस्था* मे व्यापार-चक्र समाप्त हो जाता है, न तेजी रहती है और न मन्दी।

(ख) मुद्रा अति-पूँजीकरण (Over-capitalisation) एवं अति-उत्पादन (Over-production) को प्रोत्साहन देती है—मुद्रा के आविष्कार के फलस्वरूप ही उधार देना व लेना सुगम हुआ है। उधार की सुगमता के कारण अति-पूँजीकरण की समस्या उत्पन्न हो गयी है, अर्थात् कुछ उद्योग-धन्धो मे आवश्यकता से अधिक पूंजी का प्रयोग किया जाता है। अति-पूँजीकरण के कारण ही अति-उत्पादन की समस्या उत्पन्न होती है। जब किसी अर्थ-व्यवस्था मे आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाता है तो कीमतें गिर जाने से अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो आर्थिक प्रगति के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

(ग) मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता का अभाव रहता है—जैसा सर्वविदित है, मुद्रा का मूल्य स्थिर नही रहता, बल्कि समय-समय पर इसमे परिवर्तन होते रहते है। मुद्रा के मूल्य मे अस्थिरता का मुख्य कारण बडे पैमाने पर कागजी मुद्रा का प्रयोग किया जाना है। आज शायद ही कोई ऐसा देश होगा जिसमे कागजी मुद्रा का प्रयोग बडे पैमाने पर न होता हो। जब कागजी मुद्रा आवश्यकता से अधिक मात्रा मे निर्गमित (issue) की जाती है तो इससे स्फीति (inflation) की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, कीमतें बढ़ने लगती है और उपभोक्ताओं को आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत, जब कागजी मुद्रा आवश्यकता से कम मात्रा मे जारी की जाती है तो इससे अवस्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, कीमतें गिरने लगती है और उत्पादको को हानि होती है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रभाव पड़ते है। कुछ को लाभ होता है और कुछ को हानि। परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य मे यह अस्थिरता व्यापार और उद्योग के लिए बहुत हानिकारक होती है।

(घ) मुद्रा पूँजीवादी प्रणाली को सशक्त बनाती है—मुद्रा की एक त्रुटि यह भी है कि यह पूँजीवादी प्रणाली को सुदृढ बनाती है। जैसा स्पष्ट है, मुद्रा के कारण ही साख अस्तित्व मे आती है और इसी साख के ही कारण धनी व्यक्तियो को धन उधार मिल जाता है। दूसरे शब्दो मे, साख के कारण धनी लोग और अधिक धनी हो जाते है और उनके हाथो मे पूंजी का अधिकाधिक केन्द्रीयकरण (concentration) होता जाता है। इस प्रकार देश मे आय तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विषमताएँ उत्पन्न हो जाती है, जिनसे जनता मे असन्तोष की आग भडक उठती है। कभी-कभी तो यह हिंसक क्रान्तियो का रूप भी धारण कर लेती है।

(ङ) मुद्रा और क्रय-शक्ति कभी-कभी पर्यायवाची नहीं होते—साधारणतः मुद्रा और क्रय-शक्ति एक ही बात मानी जाती है, अर्थात् जब किसी व्यक्ति के पास मुद्रा होती है, तो उसके पास क्रय-शक्ति स्वत ही हो जाती है, क्योकि मुद्रा मे ही क्रय-शक्ति होती है। परन्तु कभी कभी असाधारण परिस्थितियो मे मुद्रा और क्रय-शक्ति एक ही बात नही होती। हो सकता है कि किसी व्यक्ति के पास मुद्रा तो हो परन्तु क्रय-शक्ति का अभाव हो। ऐसी परिस्थिति प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी मे उत्पन्न हुई थी। महान स्फीति (Great Inflation) के कारण वस्तुओ की कीमतें बहुत अधिक बढ़ गयी थी और जर्मन मार्क मुद्रा का मूल्य लगभग शून्य के बराबर हो गया था। उस समय जर्मन लोगो के पास मुद्रा होते हुए भी क्रय-शक्ति का अभाव था। ऐसी परिस्थितियो मे मुद्रा जनता के लिए एक वरदान (blessing) के बजाय अभिशाप (curse) बन जाती है।

(च) मुद्रा सेविका से स्वामिनी बन जाती है—जब तक मुद्रा को नियन्त्रण मे रखा जाता है तब तक यह मानव के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होती है और मानव की सेविका का कार्य करती है। परन्तु जब मुद्रा नियन्त्रण से बाहर हो जाती है तो समूची अर्थ व्यवस्था के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है। दूसरे शब्दो मे, जब मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है तो इसके परिणाम बहुत भयानक होते है और सेविका के बजाय यह मानव की स्वामिनी बन जाती है।

मुद्रा के उपरोक्त दोषो को देखते हुए कुछ विद्वानो ने यह सुझाव दिया है कि मुद्रा का उन्मूलन (abolition) ही कर दिया जाय। परन्तु यह सुझाव वर्तमान युग मे व्यावहारिक नहीं है। बिना मुद्रा के पूँजीवादी *अर्थ-व्यवस्था का अस्तित्व ही समाप्त हो* जायेगा और एक बार फिर हमे

वस्तु-विनिमय की प्राचीन प्रणाली की कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे तो मुद्रा के बिना शायद काम चल सकता है, परन्तु वहाँ पर भी लेखे की इकाई (unit of account) के रूप मे मुद्रा का प्रयोग अनिवार्य होता है। अतः हम उक्त सुझाव से सहमत नही हैं। बुद्धिमत्ता तो इसी मे है कि मुद्रा का उन्मूलन करने के बजाय उसके दोषो को दूर या कम किया जाय। मुद्रा के दोषो को एक सुसचालित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रामान प्रणाली द्वारा कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि मुद्रा के गुणो व दोषो की तुलना की जाय तो हम देखेंगे कि दोषो की अपेक्षा मुद्रा के गुण अधिक है। वास्तव मे, मुद्रा मानव के लिए हितकारी सस्था (institution) सिद्ध हुई है। अत इसके उन्मूलन अथवा परित्याग का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(2) **सामाजिक दोष**— मुद्रा के सामाजिक दोष निम्नलिखित हैं

(क) मुद्रा के कारण आध्यात्मवाद (spiritualism) का ह्रास होता है और भौतिकवाद (materialism) को प्रोत्साहन मिलता है।

(ख) मुद्रा ने लोगो मे लालच और मोह को बढावा दिया है।

(ग) मुद्रा धोखेबाजी, ठगी, चोरी, डकैती, हत्या को प्रोत्साहन देती है।

(घ) मुद्रा मनुष्यो मे दूसरो का शोषण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि आज मुद्रा सभी सामाजिक बुराइयो की जड बन गयी है। इसी कारण आज लोगो का नैतिक पतन हो गया है और मुद्रा समाज के लिए अभिशाप बन गयी है। परन्तु यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उक्त दोष मुद्रा के नही, बल्कि मानव स्वभाव के हैं।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का स्थान
(Place of Money in a Capitalist Economy)

जैसा विदित है, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था म निजी सम्पत्ति को मान्यता दी जाती है। उत्पादन के साधनो का स्वामित्व निजी व्यक्तियो के हाथो मे होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे चयन करने प्रसविदा करने एव उद्यम की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। निजी व्यक्ति जिस तरह चाहे अपनी सम्पत्ति का प्रयोग कर सकते हैं। वे उत्पादन के साधनो को जिस उद्योग मे चाहे लगा सकते हैं। साधारणत. उन पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाता। लेकिन उत्पादन के साधनो का विभिन्न उद्योग-धन्धो मे लगाने हेतु वे कीमत सयन्त्र (price-mechanism) से मार्ग-दर्शन (guidance) प्राप्त करने का प्रयास करते हैं अर्थात् वे देखते है कि किस उद्योग मे कीमतें एव लाभ दर ऊँची है। यथासम्भव वे उसी उद्योग मे अपना धन, अथवा साधन लगाने का प्रयत्न करते है। दूसरे शब्दो मे, कीमत-सयन्त्र के बिना वे उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय नही ले सकते। अब कीमत-सयन्त्र केवल मुद्रा के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। अत पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को सुचारु ढग से चलाने के लिए मौद्रिक प्रणाली अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बचत, विनियोग, साख, ब्याज आदि मुद्रा के माध्यम से ही निर्धारित होते है। मुद्रा के बिना पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था एक दिन भी नही टिक सकती। इस प्रकार मुद्रा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जीवन-रक्त (life-blood) है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा का स्थान
(Place of Money in a Socialistic Economy)

जैसा ऊपर कहा गया है, मुद्रा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अभिन्न अग है। इसके बिना पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था सुचारु ढग से काम ही नही कर सकती। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे कीमत-सयन्त्र (price mechanism) का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सहायता से दुर्लभ आर्थिक साधनो का विभिन्न उद्योगो एव व्यवसायो मे वितरण किया जाता है। किन्तु यह कीमत सयन्त्र मुद्रा के ही रूप म व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार बिना मुद्रा के कीमत सयन्त्र भी क्रियाशील नही हो सकता। बिना कीमत-सयन्त्र के पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था कार्य करना बन्द कर देगी। स्पष्ट है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए मुद्रा अनिवार्य ही प्रतीत होती है।

परन्तु कुछ समाजवादी लेखको का विचार है कि समाजवादी समाज मे मुद्रा का कुछ भी महत्व नही है। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था बिना मुद्रा के सुचारु रूप से कार्य कर सकती है। अत,

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा का परित्याग कर दिया जाना चाहिए।[1] परन्तु समाजवादी लेखको का यह विचार हमे उचित प्रतीत नही होता। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा का लगभग उतना ही महत्व है जितना कि पूंजीवादी समाज मे। रूस व चीन (जो इस समय विश्व के दो प्रमुख समाजवादी देश हैं) के उदाहरण लीजिए। इन दोनो देशो मे मुद्रा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। वास्तव मे, यह समझना कुछ कठिन प्रतीत होता है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था बिना मुद्रा के कैसे क्रियाशील हो सकती है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की भांति समाजवादी अर्थ व्यवस्था मे भी आर्थिक साधनो की दुर्लभता की समस्या होती है। वहां पर भी दुर्लभ आर्थिक साधनो के उचित एव मितव्ययतापूर्ण उपयोग का प्रश्न महत्वपूर्ण होता है। अब जैसा स्पष्ट है, आर्थिक गणनाओ (economic calculations) के बिना दुर्लभ साधनो का उचित एव मितव्ययतापूर्ण उपयोग सम्भव नही हो सकता। आर्थिक गणनाओ को सम्भव बनाने के लिए मुद्रा लगभग उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे। रूस की समाजवादी क्रान्ति के नेता लेनिन (Lenin) ने भी स्वीकार किया था कि मुद्रा का परित्याग करके समाजवाद की स्थापना नही की जा सकती। हमारे विचार मे प्रो० ए० पी० लरनर (A P Lerner) ने ठीक ही कहा है कि अर्थ-व्यवस्था चाहे कैसी हो, पूंजीवादी अथवा समाजवादी, बिना मौद्रिक कीमत सयन्त्र (monetary price mechanism) के सुचारु रूप मे काम नही कर सकती। दुर्लभ साधनो का अपव्यय (wastage) ही होगा। इन सभी बातो पर विचार करते हुए प्रो० जॉर्ज हाम (George Halm) ने ठीक ही कहा है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था, वास्तव मे, मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था ही होगी।

नियोजित अर्थ व्यवस्था मे मुद्रा का स्थान
(Place of Money in a Planned Economy)

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अर्थ व्यवस्था कैसी भी हो बिना मुद्रा के सुचारु ढग से कार्य नही कर सकती। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था म भी मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यदि कोई पिछडा हुआ एव अविकसित देश अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए आर्थिक नियोजन का सहारा लेता है तो निश्चय ही उसे आर्थिक विकास की गति तीव्र करने हेतु मुद्रा अथवा मौद्रिक ससाधनो की व्यवस्था करनी होगी। प्राय पिछडे हुए देशो मे वास्तविक ससाधन की इतनी कमी नही होती जितनी मौद्रिक ससाधनो की। देश के सुप्त (dormant) वास्तविक ससाधनो को काम मे लगाने के लिए मौद्रिक ससाधनो की आवश्यकता पडती है। अत आर्थिक विकास को सम्भव बनाने के लिए देश की सरकार को पर्याप्त वित्त (मुद्रा) की व्यवस्था करनी पडती है। स्मरण रहे कि बिना पर्याप्त वित्त के देश के वास्तविक ससाधन बेकार ही पडे रहेगे। अत सभी सम्भव साधनो से पर्याप्त वित्त का प्रबन्ध किया जाता है। जनता पर प्रत्यक्ष एव परोक्ष कर लगाये जाते हैं और आवश्यकता पडने पर अल्पकालीन एव दीर्घकालीन ऋण भी लोगो से लिये जाते हैं। यदि करारोपण (taxation) और ऋणो से उपलब्ध वित्त भी अपर्याप्त रहता है, तो अन्त मे सरकार विवश होकर हीनार्थ प्रबन्धन (deficit financing) का सहारा लेती है, अर्थात

---

[1] समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) मे मुद्रा को शोषण का माध्यम बताया था और कहा था कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा का उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। सभी लेन-देन वस्तुओ के रूप म किया जाना चाहिए। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति (Bolshevik Revolution) के बाद रूस म जो आर्थिक प्रणाली स्थापित की गयी थी, उसमे मुद्रा को कुछ भी स्थान नही दिया गया था। किन्तु शीघ्र ही मुद्रा उन्मूलन की नीति का परित्याग कर दिया गया। रूसी सरकार ने अनुभव किया कि आर्थिक योजनाओ की सफलता के लिए आर्थिक गणनाओ (economic calculations) का किया जाना अनिवार्य है। किन्तु मुद्रा इकाई के बिना आर्थिक गणनाए नही की जा सकती थी। अत विवश होकर रूसी सरकार ने मुद्रा प्रणाली को पुन अपनाया था।

सोवियत रूस मे आज मुद्रा लगभग वे सभी कार्य सम्पन्न करती है जो इसके द्वारा पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था म किये जाते है अर्थात यह लेखे की इकाई है, विनिमय का माध्यम है और मूल्य का मापक है।

विकास सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकार बड़े पैमाने पर अविनिमेय (अपरिवर्तनशील) कागजी मुद्रा का निर्गमन करती है। इससे कीमतें बढ़ जाती हैं, मुद्रा का मूल्य गिर जाता है तथा आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिए कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा यह सुझाव दिया गया है कि अल्प-विकसित देश की सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन का न्यूनतम प्रयोग ही करना चाहिए।

आन्तरिक वित्त के साथ-साथ अल्प-विकसित देश की सरकार को यथासम्भव बाह्य वित्त (external finance) अथवा विदेशी विनिमय (foreign exchange) का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। विदेशों से मशीनें एवं अन्य पूंजीगत माल आयात करने के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि विदेशी व्यापारी अपने माल के बदले देशी मुद्रा को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार सरकार अनावश्यक आयातों (imports) को कम कर और निर्यातों को बढ़ाकर बहुमूल्य विदेशी मुद्रा को अर्जित करती है ताकि आवश्यक मशीनें एवं पूंजीगत माल विदेशों से मँगवाया जा सके। ऐसा करने के लिए सरकार तरह-तरह के नियन्त्रण लगाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अल्प-विकसित देश की सरकार को आर्थिक विकास की गति तीव्र करने हेतु पर्याप्त मात्रा में मौद्रिक साधनों की व्यवस्था करनी पड़ती है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 मुद्रा का जन्म कैसे हुआ? (आगरा, 1956 पू०)
[संकेत—यहाँ पर मुद्रा के जन्म के सम्बन्ध में प्रतिपादित दो सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए और यह भी बताइए कि मुद्रा किन किन चरणों में से होकर गुजरी है।]

2 स्पष्टतः समझाइए कि किस प्रकार एवं किस सीमा तक विनिमय व्यवहारों में मुद्रा का प्रयोग करने से वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गयीं? (राजस्थान, 1958)
[संकेत—पहले वस्तु-विनिमय की मुख्य कठिनाइयों का उल्लेख कीजिए। तदुपरान्त, यह समझाइए कि मुद्रा के प्रयोग से ये कठिनाइयाँ कैसे दूर हो गयी।]

3 मुद्रा की परिभाषा और उसके कार्यों की व्याख्या कीजिए। (आगरा, बी० कॉम, 1962 पू०)

अथवा

मुद्रा की परिभाषा कीजिए। इसके प्रमुख कार्य क्या हैं? (आगरा, 1975)
[संकेत—प्रथम भाग में मुद्रा की विभिन्न परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए उनकी त्रुटियों पर प्रकाश डालिए और बताइए कि मुद्रा की सही परिभाषा क्या होनी चाहिए। दूसरे भाग में मुद्रा के मुख्य गौण, आकस्मिक तथा अन्य कार्यों की विवेचना कीजिए।]

4 "मुद्रा अर्थशास्त्र की गति केन्द्र है" विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
(आगरा, बी० कॉम०, 1961)

अथवा

"मुद्रा वह धुरी है जिस पर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है।" चर्चा कीजिए।
(विक्रम, 1969, आगरा 1975)
[संकेत—यहाँ पर देश की अर्थ व्यवस्था में मुद्रा के महत्त्व की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

5 "मुद्रा एक अच्छी सेविका है, किन्तु बुरी स्वामिनी है।" (आगरा, 1966, सागर, 1957)

अथवा

"मुद्रा जो कि मानवता के लिए अनेक वरदानों का स्रोत है, नियन्त्रण में न रखने पर सकट का कारण भी बन जाती है।" (डी० एच० रॉबर्टसन) विवेचना कीजिए। (आगरा, 1969)
[संकेत—यहाँ पर मुद्रा के गुणों एवं अवगुणों (दोषों) की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि जब तक मुद्रा को नियन्त्रण में रखा जाता है तब तक इससे अनेक लाभ होते हैं। परन्तु जब मुद्रा मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर हो जाती है तो यह अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में, जब मुद्रा का अधिक मात्रा में निर्गमन (issue) होता है तब मुद्रा स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और समूची अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।]

6 मुद्रा के प्रमुख कार्यों की गणना और उनका महत्त्व बताइए। (विक्रम, 1969)

अथवा

मुद्रा के कार्यों को पूर्णतया समझाइए। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को इससे मिलने वाले लाभों का भी वर्णन कीजिए। (आगरा, 1967)

[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा के मुख्य, गौण, आकस्मिक एव अन्य कार्यो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, मुद्रा के गुणो का वर्णन कीजिए। मुद्रा की सहायता से उपभोक्ता अपनी माँग को स्थगित कर सकता है और विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताओं मे समानता स्थापित कर सकता है। इसी प्रकार उत्पादक भी मुद्रा के माध्यम से उत्पादन-सम्बन्धी कार्यों को उचित ढग से सम्पन्न कर सकता है। उत्पादन के साधनो को जुटाने, कच्चा माल खरीदने, पूँजी उधार लेने आदि मे मुद्रा सहायक सिद्ध होती है।]

7 **मुद्रा के कार्यों का वर्गीकरण एव विवेचन कीजिए और यह दिखाइए कि मुद्रा के प्रयोग द्वारा उत्पादन एव विनिमय किस प्रकार आसान हो गये हैं?** (बिहार, 1958)

[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा द्वारा किये गये कार्यों को चार वर्गो—मुख्य, गौण, आकस्मिक तथा अन्य—मे विभाजित करते हुए उनका उदाहरण सहित विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि किस प्रकार मुद्रा उत्पादन तथा विनिमय-कार्यों मे सहायता देती है। इसके लिए उक्त अध्याय मे 'मुद्रा का महत्व' नामक उप-शीर्षक देखिए।]

8 **आधुनिक आर्थिक जीवन मे द्रव्य क्यो आवश्यक है? द्रव्य का किन कार्यों मे उपयोग होता है?** (सागर, बी० कॉम० 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, द्रव्य (मुद्रा) द्वारा की गयी सेवाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, द्रव्य के कार्यों की विवेचना कीजिए।]

9 **नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा के महत्व को सक्षेप मे लिखिए।** (विक्रम, 1967)

[संकेत—उपर्युक्त अध्याय मे इस नाम के शीर्षक को देखिए।]

10 **(अ) मुद्रा की परिभाषा दीजिए। (ब) मुद्रा तथा चलन मे क्या अन्तर है?** (आगरा, 1970)

[संकेत—(अ) यहाँ पर मुद्रा की विभिन्न परिभाषाओ की व्याख्या करते हुए उनकी त्रुटियो पर प्रकाश डालिए और बताइए कि मुद्रा की सही परिभाषा क्या होनी चाहिए। (ब) 'चलन' के अन्तर्गत केवल धातु सिक्को एव कागजी मुद्रा को ही सम्मिलित किया जाता है। परन्तु 'मुद्रा' शब्द को अधिक विस्तृत अर्थ दिया जाता है। इसके अन्तर्गत धातु-सिक्को एव कागजी मुद्रा के अलावा साख-पत्रो को भी सम्मिलित किया जाता है।]

11 **"मुद्रा सब दोषो की जड है।" स्पष्ट कीजिए और अपने विचार व्यक्त कीजिए।** (आगरा, 1974)

[संकेत—यहाँ पर मुद्रा के आर्थिक एव सामाजिक दोषो की विस्तृत व्याख्या करने के उपरान्त यह बताइए कि उक्त विचार एकपक्षीय है। यद्यपि इससे बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हुई है लेकिन फिर भी मुद्रा ने मानव की महान् सेवा की है। वास्तव म, मानव की सर्वांगीण उन्नति का मूल कारण मुद्रा ही है।]

2

मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न आधारो पर मुद्रा का वर्गीकरण किया है। मुद्रा के प्रमुख वर्गीकरण निम्नलिखित हैं

प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण

प्रकृति के आधार पर प्रो० जे० एम० केन्ज (J M Keynes) ने मुद्रा को दो उपशीर्षको के अन्तर्गत विभाजित किया है

(क) वास्तविक मुद्रा,

(ख) हिसाब (लेखे) की मुद्रा।

(क) वास्तविक मुद्रा (Actual Money)—वास्तविक मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से है जो किसी देश मे, वास्तव मे प्रचलित होती है। यह मुद्रा विनिमय का माध्यम और स्थगित भुगतानो का आधार होती है। इसी की सहायता से बाजार मे वस्तुओ एव सेवाओ का क्रय-विक्रय होता है। वास्तविक मुद्रा के ही रूप मे क्रय शक्ति का सचय किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत मे 1 पैसा और 1 रुपया दोनो ही वास्तविक मुद्रा है, क्योकि इनके द्वारा ही विभिन्न प्रकार के भुगतान (Payments) किये जाते हैं।

(ख) हिसाब (लेखे) की मुद्रा (Money of Account)—हिसाब की मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसमे सभी प्रकार के हिसाब किताब (Accounts) रखे जाते है। इसी मुद्रा मे ऋणों की मात्रा, कीमतों एवं क्रय-शक्ति को व्यक्त किया जाता है। यह आवश्यक नही कि इस प्रकार की मुद्रा, वास्तव मे, प्रचलन (circulation) मे हो। साधारणत हिसाब की मुद्रा तथा वास्तविक मुद्रा एक ही होती है, परन्तु सकट काल मे ये अलग-अलग भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी मे वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा अलग-अलग हो गयी थी। वास्तविक मुद्रा तो जर्मन मार्क (German Mark) ही थी। सभी प्रकार के भुगतान अथवा लेन देन मार्क के ही रूप मे किये जाते थे। परन्तु हिसाब की मुद्रा फ्रैंच फ्रैंक (Franc) अथवा अमरीकी डॉलर (Dollar) थी, अर्थात् हिसाब किताब प्राय इन मुद्राओ मे रखे जाते थे क्योंकि जर्मन मार्क की तुलना मे इन मुद्राओ के मूल्य अधिक स्थिर थे। इसी प्रकार सन् 1933 मे अमरीका मे हिसाब की मुद्रा तो स्वर्ण डालर (gold dollar) थी परन्तु वास्तविक भुगतान कागजी मुद्रा, तांबे के सिक्को अथवा गिलट के सिक्को मे किये जाते थे।

वास्तविक मुद्रा एव हिसाब की मुद्रा का उक्त अन्तर भारतीय उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय रुपये के इतिहास मे कई परिवर्तन हुए हैं। 19वी शताब्दी मे भारतीय रुपया चाँदी का बना होता था, लेकिन अब रुपया कागज अथवा गिलट का बना हुआ है। इस प्रकार वास्तविक रुपये मे तो अन्तर आ गया है, परन्तु रुपया आज भी लेखे या हिसाब की मुद्रा है।

प्रो० जे० एम० केन्ज ने आगे चलकर वास्तविक मुद्रा को भी दो उपवर्गों में विभाजित किया है—(अ) पदार्थ मुद्रा, (आ) प्रतिनिधि मुद्रा। पदार्थ मुद्रा (Commodity Money) सदैव किसी न किसी धातु की बनी होती है और उसका अंकित मूल्य (face value) उसके यथार्थ मूल्य (intrinsic value) के बराबर होता है। पदार्थ मुद्रा को पूर्णकाय मुद्रा (*Full bodied-Money*) भी कहा जाता है। पदार्थ मुद्रा न केवल विनिमय का माध्यम होती है, बल्कि क्रय शक्ति का संचय भी इसी में किया जाता है। जैसा कहा गया है, पदार्थ मुद्रा का धात्विक मूल्य इसके अंकित मूल्य के बराबर होता है।

इसके विपरीत, प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money) वह मुद्रा होती है जो प्रचलित होती है और विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है, परन्तु क्रय शक्ति का उसमें संचय नहीं किया जा सकता। प्रतिनिधि मुद्रा को पदार्थ मुद्रा में बदलने की सुविधा प्रायः सरकार द्वारा दी जाती है। कोई भी व्यक्ति जब चाहे प्रतिनिधि मुद्रा को पदार्थ मुद्रा में बदलवा सकता है। प्रतिनिधि मुद्रा क्रय शक्ति के संचय के लिए उपयुक्त नहीं होती क्योंकि इसका यथार्थ मूल्य कुछ भी नहीं होता। कागजी मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा का ही उदाहरण है। प्रतिनिधि (कागजी) मुद्रा भी आगे चलकर दो उपवर्गों में विभाजित की जाती है। प्रथम विनिमेय (परिवर्तनीय) प्रतिनिधि मुद्रा और द्वितीय, अविनिमेय (अपरिवर्तनीय) प्रतिनिधि मुद्रा। विनिमेय मुद्रा (Convertible Money) से अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसे सरकार अथवा निर्गमन करने वाली संस्था (issuing authority) पदार्थ-मुद्रा में बदलने के लिए वचनबद्ध होती है। इसके विपरीत, अविनिमेय मुद्रा से तात्पर्य उस मुद्रा से है जिसे पदार्थ मुद्रा में बदलने के लिए सरकार अथवा निर्गमन करने वाली संस्था बाध्य नहीं होती।

प्रो० सेलिगमैन (Seligman) ने उपरोक्त दो प्रकार की मुद्राओं (अर्थात् वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा) को वास्तविक मुद्रा तथा भावना मुद्रा (Ideal Money) कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार प्रो० बेनहम (Benham) ने उन्हें चलन की इकाई (Unit of Currency) तथा लेखे की इकाई (*Unit of Account*) कहकर पुकारा है।

वैधानिकता के आधार पर वर्गीकरण

वैधानिकता के आधार पर मुद्रा को दो उपवर्गों में विभाजित किया जाता है

(क) वैध (विधिग्राह्य) मुद्रा,

(ख) ऐच्छिक मुद्रा।

(क) वैध (विधिग्राह्य) मुद्रा (Legal Tender Money) —यह वह मुद्रा होती है जिसे भुगतान के साधन रूप में जनता एवं सरकार दोनों द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसके पीछे कानून की शक्ति होती है और इसी आधार पर यह मुद्रा जनसाधारण द्वारा स्वीकार की जाती है। कोई भी व्यक्ति भुगतान के रूप में इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो उसे सरकार द्वारा दण्डित किया जाता है। इसीलिए इसे वैध मुद्रा कहते हैं।

वैध मुद्रा को आगे चलकर दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—(i) सीमित वैध मुद्रा, (ii) असीमित वैध मुद्रा।

(i) **सीमित वैध मुद्रा (Limited Legal Tender)—यह वह मुद्रा है जिसको किसी एक निश्चित सीमा के ऊपर स्वीकार करने के लिए किसी व्यक्ति को विवश नहीं किया जा सकता।** सरकार इस प्रकार की मुद्रा की अनिवार्य स्वीकृति की सीमा कानून द्वारा निश्चित कर देती है। इस सीमा से अधिक भुगतान स्वीकार करने के लिए किसी भी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, भारत में 1 पैसे, 2 पैसे, 5 पैसे, 10 पैसे तथा 25 पैसे के सिक्के केवल 25 रुपये तक ही वैध (विधिग्राह्य) हैं। परिणामतः यदि किसी व्यक्ति को 25 रुपये से अधिक रेजगारी दी जाती है तो वह इसे अस्वीकार कर सकता है। परन्तु 25 रुपये तक उसे ये छोटे सिक्के स्वीकार करने ही पड़ेंगे।

(ii) **असीमित वैध मुद्रा (Unlimited Legal Tender)—यह वह मुद्रा है जिसे कोई भी व्यक्ति किसी भी सीमा तक एक ही बार में भुगतान में स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता,** अर्थात् यह मुद्रा असीमित मात्रा में जनता द्वारा स्वीकार की जाती है। यदि कोई व्यक्ति असीमित

मात्रा में इसे स्वीकार करने से इन्कार करता है तो सरकार उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही कर उसे दण्डित कर सकती है। उदाहरणार्थ, भारत में 50 पैसे तथा 1 रुपये के सिक्के तथा सभी प्रकार की कागजी मुद्रा (नोट) असीमित वैध मुद्रा हैं।

(ख) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)—यह वह मुद्रा है जो साधारणतः जनता द्वारा स्वीकार तो की जाती है, परन्तु कानूनन किसी व्यक्ति को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यह भुगतान प्राप्त करने वाले व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है कि वह इस प्रकार की मुद्रा स्वीकार करे अथवा नहीं। यदि मुद्रा देने वाले व्यक्ति की बाजार में साख ऊँची है तो इस प्रकार की मुद्रा को प्रायः सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु किसी भी व्यक्ति को किसी भी दशा में इस प्रकार की मुद्रा को स्वीकार करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता इसीलिए तो इसे ऐच्छिक मुद्रा कहते हैं। विभिन्न प्रकार के साखपत्र जैसे—चैक, हुण्डियाँ, विनिमय पत्र (bills of exchange) इत्यादि ऐच्छिक मुद्रा के उदाहरण हैं।

मुद्रा-पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण

मुद्रा-पदार्थ के आधार पर मुद्रा को दो उपवर्गों में विभाजित किया जाता है :

(क) धातु मुद्रा,

(ख) कागजी मुद्रा।

(क) धातु-मुद्रा (Metallic Money)—यह मुद्रा किसी धातु (सोना, चाँदी, इत्यादि) की बनी होती है। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि धातु मुद्रा किन-किन अवस्थाओं में से होकर गुजरी है। धातु मुद्रा भी तीन प्रकार की होती है **(अ) मानक (प्रामाणिक) मुद्रा, (ब) प्रतीक (सांकेतिक) मुद्रा (स) गौण मुद्रा।**

(अ) मानक (प्रामाणिक) मुद्रा (Standard Money)—इसे प्रधान, पूर्णकाय तथा सर्वांग मुद्रा भी कहते हैं। इसके सिक्के प्रायः सोने व चाँदी के बनाये जाते हैं। ये सिक्के कानून के अनुसार एक निश्चित वजन तथा शुद्धता (fineness) के बनाये जाते हैं। मानक मुद्रा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(i) मानक सिक्का देश का प्रमुख सिक्का होता है—अतः यह विनिमय का माध्यम होता है और इसी में हिसाब किताब रखे जाते हैं। जब देश में मानक सिक्का एक ही धातु का बनाया जाता है तो इसे एक धातुमान (Monometallism) कहते हैं। यदि यह धातु सोना होती है तो इस स्वर्ण एक धातुमान (Gold Monometallism) कहते हैं। इसके विपरीत, यदि यह धातु चाँदी होती है तो इसे रजत एक धातुमान (Silver Monometallism) कहा जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मानक सिक्का दो धातुओं अर्थात सोने व चाँदी का बनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, दो प्रकार के मानक सिक्के होते हैं—एक सोने का और दूसरा चाँदी का बना होता है। ऐसी प्रणाली को द्विधातुमान (Bimetallism) कहते हैं।

(ii) मानक मुद्रा का अंकित मूल्य तथा यथार्थ मूल्य बराबर होते हैं—मानक मुद्रा का *अंकित मूल्य (face value) सदैव इसके यथार्थ अथवा धात्विक मूल्य (intrinsic value) के बराबर* होता है। दूसरे शब्दों में, मानक सिक्के में उसके अंकित मूल्य के बराबर ही धातु रखी जाती है। यदि कोई मानक सिक्के गलाकर बेचता है तो उसे कोई हानि नहीं होती क्योंकि अंकित मूल्य के बराबर ही उसे धातु प्राप्त होती है। इसलिए इसे पूर्णकाय मुद्रा (full-bodied money) कहा गया है। उदाहरणार्थ, सन 1893 से पूर्व भारतीय रुपया मानक सिक्का था। इसमें इसके अंकित मूल्य के बराबर ही चाँदी डाली जाती थी। इसी प्रकार सितम्बर 1931 से पूर्व ग्रेट ब्रिटेन में सावरेन (sovereign) मानक सिक्का था। परन्तु सितम्बर 1931 में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान प्रणाली का परित्याग करने पर ब्रिटिश मुद्रा मानक न रही।

(iii) मानक सिक्कों की खुली ढलाई होती है—मानक सिक्कों की यह विशेषता होती है कि उनकी ढलाई स्वतन्त्र अथवा खुली होती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि खुली सिक्का ढलाई (free coinage) क्या होती है? संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि जब किसी देश की जनता को सोना व चाँदी टकसाल (mint) में ले जाकर उन्हें सिक्कों में ढलवाने का अधिकार प्राप्त होता

है तब ऐसी प्रणाली को खुली सिक्का ढलाई कहते हैं। दूसरे शब्दो मे, इस प्रणाली के अन्तर्गत टकसाल जनता के लिए खुली होती है। इस सेवा के लिए सरकार जनता से कभी ढलाई शुल्क लेती है और कभी नही। इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि देश मे सिक्को का अभाव नही होने पाता। जब कभी जनता सिक्को के अभाव को अनुभव करती है तो तुरन्त वह सोना व चांदी टकसाल म ले जाकर उनके सिक्के ढलवा सकती है।

(iv) मानक मुद्रा असीमित वैध (विधिग्राह्य) मुद्रा होती है—मानक मुद्रा की महत्वपूर्ण विशेषता इसकी असीमित वैधता होती है और ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि मानक मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है। इसी नाते बड़े-बड़े भुगतान (*payments*) इसी मे असीमित मात्रा मे किये जाते हैं।

(ब) प्रतीक (सांकेतिक) मुद्रा (Token Money)—यह मुद्रा प्राय छोटे-छोटे भुगतानो मे प्रयुक्त की जाती है। यह मानव मुद्रा के लिए सहायक का काम देती है। प्रतीक मुद्रा प्राय घटिया एव हल्की किस्म की धातुओ से बनायी जाती है, जैसे तांबा, गिलट, निकिल इत्यादि। इस मुद्रा की विशेषताएँ मानक मुद्रा की विशेषताओ से सर्वथा भिन्न होती है।

(i) प्रतीक मुद्रा की ढलाई खुली नहीं होती—प्रतीक सिक्को की ढलाई केवल सरकार द्वारा ही की जाती है। जनता का यह अधिकार नही होता कि वह धातुओ को टकसाल मे ले जाकर उन्हे सिक्को मे ढलवा सके।

(ii) प्रतीक मुद्रा का अंकित मूल्य उसके यथार्थ अथवा धात्विक मूल्य से अधिक होता है—प्रतीक सिक्को पर अंकित मूल्य उनके भीतर रखी गयी धातु के मूल्य से अधिक होता है। उदाहरणार्थ, एक 25 पैसे के सिक्के मे डाली गयी धातु का मूल्य 25 पैसे से कम होता है। यदि ऐसा न हो तो लोग प्रतीक सिक्को को गलाकर धातु के रूप मे बेचना आरम्भ कर दे। इसीलिए प्रतीक मुद्रा का अंकित मूल्य उसके धात्विक मूल्य से सदैव अधिक रखा जाता है। इसी कारण प्रतीक मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money) कहा जाता है।

(iii) प्रतीक मुद्रा सीमित वैध मुद्रा होती है—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, प्रतीक सिक्का का केवल सीमित मात्रा मे ही भुगतान के रूप म दिया जा सकता है। इन्हे एक समय पर एक निश्चित मात्रा से अधिक स्वीकार करने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ, भारत मे 1 पैसे 2 पैसे 5 पैसे 10 पैसे तथा 25 पैसे के सिक्को को केवल 25 रुपये तक ही किसी व्यक्ति को स्वीकार करने के लिए विवश किया जा सकता है।

(iv) प्रतीक मुद्रा मानक मुद्रा की सहायक होती है—प्रतीक सिक्के छोटे छोटे सौदा (small transactions) के भुगतान मे ही प्राय प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार ये मानक सिक्को के सहायक के रूप म काय करत है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रतीक सिक्क क्यो जारी किये जात है? इसके दो कारण हो सकते है

(1) कभी कभी सरकार के पास सिक्को म प्रयोग की जाने वाली धातुओं का अभाव हो जाता है। अत इन धातुओ का बचतपूर्ण उपयोग करने के लिए प्रतीक सिक्को को प्रचलित किया जाता है। प्रतीक सिक्का मे जैसा ऊपर कहा जा चुका है धातु की मात्रा उनके अंकित मूल्य से कम रखी जाती है। इस तरह थोडी सी धातु से अधिक मात्रा मे सिक्के तैयार हो जात है।

(2) कभी-कभी धातु के मूल्य म वृद्धि क फलस्वरूप लोग सिक्का का गलाना आरम्भ कर देते है और उन्ह धातु के रूप मे बाजार म बेचकर लाभ कमाते है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार सिक्का म धातु की मात्रा को घटा देती है। उदाहरणार्थ सन 1940 से पूर्व भारतीय रुपया (जो चांदी का बना हुआ था) पूर्णकाय सिक्का था। परन्तु दूसरे विश्व युद्ध क छिड जान म चांदी का बाजार मूल्य बढ गया और इसके परिणामस्वरूप लोगो ने रुपया को गला कर उसकी चांदी को धातु के रूप म बाजार मे बेचकर लाभ कमाना आरम्भ कर दिया था। फलत रुपये के सिक्को का बहुत अभाव हो गया था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भारत सरकार ने चांदी के रुपये का अमुद्रीकरण (demonetisation) कर दिया और उसके स्थान पर एक नये रुपये का

चलन किया जिसमे चाँदी का 50% कम कर दिया गया था। बाद म चलकर सन् 1946 म तो रुपया गिलट का बनने लगा था। चाँदी को पूर्णत समाप्त कर दिया गया था।

परन्तु प्रतीक सिक्को को जारी करने का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण तो छोटे छोटे सौदो मे भुगतान को सम्भव बनाना है। इनकी अनुपस्थिति मे जनता का काफी परेशानी का सामना करना पड़ता है। अत सभी देशो मे प्रतीक मुद्रा अनिवार्य-सी बन गयी है और इसके बिना लोगा के व्यावसायिक सौदे सम्पन्न नही हा सकत हैं। सबसे बडी बात तो यह है कि प्रतीक सिक्को के चलन से मूल्यवान धातुओ का बचतपूर्ण उपयोग होता है और फिर इनमे लोचकता (elasticity) का गुण भी विद्यमान है, अर्थात इनकी मात्रा को आवश्यकतानुसार मानक सिक्को की अपेक्षा आसानी से बढाया जा सकता है।

मानक सिक्को के गुण—मानक सिक्का के गुण निम्नलिखित हैं

(1) **अधिक विश्वास**—चूँकि मानक सिक्के पूर्णकाय सिक्के होते हैं (अर्थात् उनका यथार्थ मूल्य उनके अंकित मूल्य के बराबर होना है) इसलिए जनता का उनमे अधिक विश्वास होता है।

(2) **क्रय शक्ति के सचय के साधन**—मानक सिक्के पूर्णकाय होन के कारण क्रय शक्ति का सचय करने के लिए उत्तम साधन होते है।

(3) **विदेशो मे ग्राह्यता**—चूँकि मानक सिक्का का अकित मूल्य उनक धात्विक मूल्य के बराबर होता है इसीलिए उन्ह विदेशा म भी भुगताना के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है।

(4) **स्फीति का भय नहीं होता**—मानक सिक्को के प्रयोग से देश मे स्फीति (inflation) का भय जाता रहता है। जैसा विदित है स्फीति की दशा तो तब उत्पन्न होती है जब मुद्रा की निकासी अत्यधिक मात्रा मे होती है। परन्तु मानक सिक्को (standard coins) के अत्यधिक मात्रा मे निर्गमित किये जान का कोई भय नही होता क्योंकि धातुएँ प्राय असीमित मात्रा मे उपलब्ध नही होती।

मानक सिक्कों के अवगुण—इनके अवगुण निम्नलिखित है

(1) **मानक सिक्के बचतपूर्ण नहीं होते**—जैसा स्पष्ट है, मानक सिक्को को बनाने म मूल्यवान धातुओ का प्रयोग किया जाता है। चलन म काफी समय रहन के बाद इनमे घिसावट होती है जो एक प्रकार की राष्ट्रीय क्षति है। इस प्रकार मानक सिक्को से धातुओ का अपव्यय (wastage) होता है।

(2) **मानक मुद्रा बेलोच होती है**—मानक सिक्का मे लोच का सवथा अभाव रहता है। इन सिक्का की मात्रा को इनकी माँग के अनुसार बढाया नही जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि माँग बढ जाती है तो इनकी मात्रा को उसी अनुपात म बढाना कठिन हा जाता है, क्योकि इनकी मात्रा तो देश मे उपलब्ध धातुओ पर निर्भर करती है।

प्रतीक सिक्को के गुण—इनके गुण निम्नलिखित है

(1) **धातुओ का बचतपूर्ण उपयोग**—चूँकि प्रतीक सिक्को म मूल्यवान धातुआ का प्रयोग नही किया जाता इसलिये य मानक सिक्को की तुलना म मितव्ययी (economical) होत है। प्रतीक सिक्को के उपयोग के परिणामस्वरूप मूल्यवान धातुओ को अन्य उपयोगी कार्यों मे लगाया जा सकता है।

(2) **प्रतीक मुद्रा अधिक लोचपूर्ण होती है**—प्रतीक सिक्को की मात्रा को उनकी माँग क अनुसार मानक सिक्को की अपेक्षा आसानी से बढाया जा सकता है क्योकि उनमे प्रयोग की जाने वाली धातुएँ अधिक सस्ती व सुलभ होती है।

प्रतीक सिक्को के अवगुण—इनके अवगुण निम्नलिखित है

(1) **कम विश्वास**—चूँकि प्रतीक सिक्के पूर्णकाय सिक्के नही होते इसलिए जनता का उनमे विश्वास प्राय कम होता है।

(2) **क्रय शक्ति के सचय के लिए अनुपयुक्त**—प्रतीक सिक्के क्रय शक्ति के सचय के लिए इतने उपयुक्त नही होते जितने कि मानक सिक्के होते हैं।

(3) **अत्यधिक निकासी का भय**—चूंकि प्रतीक सिक्के सस्ती एव सुलभ धातुओ के बने होते हैं, इसलिए इनकी अत्यधिक निकासी का भय बना रहता है ।

(4) **देश के भीतर ग्राह्यता**—प्रतीक सिक्का का चलन क्षेत्र देश की भीतरी सीमाओ तक ही सीमित होता है । विदेशो मे इन्हे भुगतान के रूप मे कोई भी स्वीकार नही करता ।

(5) **सीमित वैधता**—चूंकि प्रतीक सिक्के सीमित विधिग्राह्य होते है, इसलिए इनका केवल छोटे-छोटे सौदो के भुगतान मे ही प्रयोग किया जा सकता है ।

इस प्रकार हमने देखा कि मानक सिक्को तथा प्रतीक सिक्को मे गुण तथा अवगुण दोनो ही है ।

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि मानक तथा प्रतीक सिक्के प्रतिस्पर्द्धी (rivals) न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं, अर्थात् देश की मुद्रा प्रणाली मे इन दोनो ही सिक्को की आवश्यकता पडती है । ये विनिमय की दो अलग-अलग आवश्यकताओ की पूर्ति करते है ।

क्या भारतीय रुपया मानक-प्रतीक सिक्का है ?—भारतीय रुपये के स्वरूप के बारे मे कुछ अस्पष्टता-सी है । क्या भारतीय रुपया मानक सिक्का है अथवा प्रतीक ? इसमे सन्देह नही कि सन् 1893 से पूर्व भारतीय रुपया पूर्ण अर्थो मे मानक सिक्का था । वह चाँदी का बना हुआ था और इसकी ढलाई खुले रूप मे होती थी । इसका अंकित मूल्य इसके यथार्थ मूल्य के बराबर हुआ करता था । परन्तु आज यह परिस्थिति नही है । अब रुपया न तो चाँदी का बना हुआ है और न ही यह पूर्णकाय सिक्का है, अर्थात् आज रुपये का अंकित मूल्य इसके यथार्थ मूल्य से बहुत अधिक है । इसके अतिरिक्त भारतीय रुपये की ढलाई भी स्वतन्त्र तथा खुले रूप मे नही होती । इसलिए कुछ विद्वानो का कहना है कि भारतीय रुपया प्रतीक सिक्का है क्योंकि इसमे प्रतीक मुद्रा के लक्षण पाये जाते हैं । परन्तु यह विचार पूर्णत सत्य नही है । भारतीय रुपये मे मानक मुद्रा के भी कुछ गुण पाये जाते हैं । **प्रथम**, रुपया देश की प्रधान मुद्रा है । सभी वस्तुओ के मूल्य एव कर (taxes) आदि रुपयो मे ही निर्धारित किये जाते हैं । यह हिसाब तथा लेखे की इकाई है । **दूसरे**, विदेशी मुद्राओ के मूल्य भी रुपये के रूप मे व्यक्त किये जाते हैं । **तीसरे** रुपया असीमित विधिग्राह्य (वैध) (unlimited legal tender) मुद्रा है । ये तीनो गुण मानक मुद्रा मे पाये जाते है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय रुपये म मानक एव प्रतीक दोनो ही प्रकार की मुद्राओ के गुण पाये जाते है । अत भारतीय रुपये को मानक-प्रतीक सिक्का (standard token coin) कहना ही उचित होगा । आज विश्व के लगभग सभी देशो मे यही परिस्थिति पायी जाती है, अर्थात् सभी देशो के मानक सिक्को के अंकित मूल्य उनके यथार्थ मूल्यो से अधिक हैं ।

(स) गौण मुद्रा (Subsidiary Money)- गौण सिक्को का निगमन (issue) अत्यन्त छोटे छोटे भुगतानो के सुविधार्थ किया जाता है । इनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है

(अ) ये अत्यन्त अल्प-मूल्य के सिक्के होते है और हल्की धातुओ से बनाये जाते है ।

(आ) ये कम मूल्य वाली वस्तुओ एव सेवाओ के विनिमय को सरल बनाते हैं ।

(इ) इन सिक्को की ढलाई (टकण) स्वतन्त्र अथवा खुले रूप मे नही होती, अर्थात् इनकी निकासी सरकार द्वारा की जाती है ।

(ई) गौण सिक्के सभी प्रतीक होते है ।

(उ) मानक सिक्को से इनका सम्बन्ध सरकार द्वारा कानूनी आधार पर निश्चित किया जाता है ।

(ऊ) गौण सिक्के सीमित विधिग्राह्य होते है ।

सिक्का ढलाई अथवा मुद्रा-टकण
(Coinage)

ऊपर हमने विभिन्न प्रकार के सिक्को का अध्ययन किया है । अब सिक्को के उपयोग के साथ यह जानना भी आवश्यक है कि सिक्को की ढलाई कैसे की जाती है । सर्वप्रथम, लिडिया (Lydia) मे सिक्का-ढलाई का कार्य आरम्भ किया गया था । उसके बाद मिस्र (Egypt) ने यह

काम अपने हाथों में लिया था। धीरे धीरे विश्व के अन्य देशों में भी सिक्का ढलाई का काम आरम्भ किया गया था।

प्रारम्भिक काल में धातु के टुकड़ों को ही मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया गया परन्तु शीघ्र ही इनके प्रयोग से कठिनाइयां उत्पन्न होने लगीं क्योंकि सभी धातु के टुकड़ों का न तो वजन (weight) ही समान था और न ही उनकी शुद्धता (fineness)। परिणाम यह हुआ कि उन्हें स्वीकार करते समय प्रत्येक बार उनका वजन एवं उनकी शुद्धता की जांच करनी पड़ती थी। इससे लोगों को भारी असुविधा होती थी कभी कभी तो सीधे सादे व्यक्ति चालाक लोगों द्वारा ठगे भी जाते थे। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए राज्य ने सिक्का ढलाई का काम अपने हाथों में ले लिया। प्रारम्भ में सिक्कों के निर्माण का कार्य राज्य ने निजी टकसालों (private mints) एवं कारखानों को सौंपा था इन टकसालों एवं कारखानों में सिक्का-ढलाई का काम सरकार की देख रेख में होता था। परन्तु इससे भी कुछ कठिनाइयाँ होने लगीं। सिक्कों में एकरूपता (uniformity) तथा शुद्धता का अभाव होने लगा। अन्ततः राज्य ने सिक्का-ढलाई का काम पूर्णतः अपने हाथों में ले लिया और मुद्रा टंकण राज्य एकाधिकार (state monopoly) हो गया।

सिक्का ढलाई के उद्देश्य—सिक्का-ढलाई के महत्वपूर्ण उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) सिक्कों में एकरूपता (uniformity) एवं परिचयशीलता (cognoscibility) के गुण होने चाहिए ये तभी सम्भव हो सकते हैं जब सिक्के समान वजन तथा समान शुद्धता के बनाये जायं। स्मरण रहे कि धोखेबाजी तथा जालसाजी से बचने के लिए सिक्कों में एकरूपता तथा परिचयशीलता का होना अनिवार्य है

(2) सिक्के इतने बड़े अथवा सख्त होने चाहिए कि परिचलन में उनकी धातु की घिसावट न्यूनतम हो। इसलिए सिक्कों को सख्त बनाने के लिए धातु के साथ थोड़ा टांका मिला दिया जाता है

(3) सिक्के इस ढंग से बनाये जाने चाहिए कि उनसे धातु न काटी जा सके और न ही सिक्कों को गलाकर उनमें से धातु निकाली जा सके।

(4) सिक्कों पर अंकित किये गये चिह्न इस प्रकार के होने चाहिए कि आसानी से उनकी नकल न की जा सके

(5) सिक्के इस ढंग से ढाले जायं कि देखने में वे सुन्दर तथा कलापूर्ण हों और देश की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करें।

(6) अन्त में सिक्का-ढलाई से सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त होनी चाहिए।

सिक्का-ढलाई की प्रणालियां—विश्व में सिक्का-ढलाई की दो प्रमुख प्रणालियां हैं

(क) स्वतन्त्र अथवा खुली सिक्का ढलाई

(ख) सीमित सिक्का ढलाई।

(क) स्वतन्त्र अथवा खुली सिक्का ढलाई (Free Coinage)—जब राज्य द्वारा जनता को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह जितनी मात्रा में चाहे मूल्यवान धातु (सोना अथवा चांदी जिसके सिक्के प्रचलित हों) टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के ढलवा ले तब इस प्रणाली को खुली सिक्का ढलाई कहते हैं। दूसरे शब्दों में टकसाल जनता के लिए खुली होती है। यह सिक्का ढलाई सशुल्क भी हो सकती है और निःशुल्क भी अर्थात सिक्कों को ढालने के लिए सरकार कभी तो लोगों से शुल्क लेती है और कभी नहीं। परन्तु लोगों को असीमित मात्रा में धातु देकर सिक्के ढलवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है सरकार जिस दर (rate) पर धातु के बदले सिक्के देती है उसे टकसाली मूल्य (mint price) कहते हैं उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक देशों में यही प्रणाली प्रचलित थी लोग अपनी आवश्यकतानुसार टकसालों में धातु के सिक्के ढलवाया करते थे। भारत में सन् 1893 तक और ग्रेट ब्रिटेन में सन् 1931 तक यही प्रणाली प्रचलित रही थी।

खुली सिक्का ढलाई के रूप खुली सिक्का ढलाई के दो प्रमुख रूप हैं—(अ) निःशुल्क सिक्का ढलाई (आ) सशुल्क सिक्का ढलाई।

(अ) **निःशुल्क सिक्का ढलाई** (Gratuitous Coinage) जैसा पहले कहा जा चुका है

धातु को सिक्को मे ढलवाने के लिए सरकार जनता से कभी शुल्क लेती है और कभी नही। जब सरकार जनता से सिक्के ढालने का कुछ भी शुल्क अथवा व्यय नहीं लेती, तब उसे नि शुल्क सिक्का ढलाई कहते हैं। सिक्का ढलाई का जो व्यय होता है, सरकार उसे अपनी आय से चुकाती है, परन्तु जनता से इस सेवा के लिए कोई शुल्क नही लिया जाता। ब्रिटेन तथा अमरीका मे पूर्ण-काय सिक्को को इसी प्रणाली के अन्तर्गत ढाला जाता था। आजकल इस प्रणाली का प्रचलन सभी देशो मे बन्द हो चुका है।

(आ) सशुल्क सिक्का-ढलाई (Non gratuitous Coinage)—जब सरकार सिक्का-ढलाई के लिए जनता से शुल्क लेती है, तब इसे सशुल्क सिक्का ढलाई कहते हैं। सशुल्क सिक्का ढलाई भी दो प्रकार की होती है—(i) ढलाई अथवा टकण व्यय, (ii) सिक्का-ढलाई मुनाफा या टकण लाभ।

(i) ढलाई अथवा टकण व्यय (Brassage) —**जब सरकार जनता से सिक्का ढलाई सम्बन्धी सेवा के लिए ठीक उतना ही शुल्क लेती है जितना व्यय उसे व्यय करना पडता है, तब इस प्रकार के शुल्क को ढलाई अथवा टकण व्यय कहते हैं।** इस प्रकार सरकार सिक्का-ढलाई से कोई लाभ अथवा मुनाफा नही कमाती।

(ii) सिक्का ढलाई मुनाफा अथवा टकण लाभ (Seigniorage)—जब सरकार जनता से धातु को सिक्को मे ढालने पर किये गये व्यय से अधिक शुल्क लेती है, तब इसे सिक्का ढलाई मुनाफा या टकण लाभ कहते हैं। अर्थात् जनता के प्रति की गई अपनी सेवा के लिए सरकार अपने व्यय से भी अधिक शुल्क लेती है।

इस प्रकार का शुल्क सरकार दो प्रकार से लेती है। प्रथम, सरकार प्रत्यक्ष रूप से अपना शुल्क लेती है। दूसरे प्रत्यक्ष शुल्क न लेकर सरकार धातु मे टाँका अथवा खोट मिला देती है।

(ख) सीमित सिक्का ढलाई (Limited Coinage)—जब सरकार जनता को यह अधिकार नहीं देती कि वह अपनी धातुएं टकसाल मे ले जाकर सिक्के ढलवाये, तब इसे सीमित सिक्का-ढलाई कहते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत सिक्के ढालने का अधिकार सरकार अपने हाथो मे सुरक्षित रखती है। सरकार स्वय धातुएँ खरीदकर देश की आवश्यकतानुसार सिक्के ढालती है। जनता को सिक्के ढलवाने का अधिकार नही होता। विश्व के सभी देशो में आजकल यही प्रणाली प्रचलित है। सन् 1893 के पश्चात भारत मे भी यही प्रणाली लागू कर दी गई थी। इस समय भारत मे भी इसी प्रणाली के अधीन सिक्के ढाले जा रहे है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उक्त दोनो प्रणालियो मे से कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन दोनो मे से कौन सी अच्छी है। दोनो के समर्थन मे कुछ न कुछ कहा जा सकता है। खुली सिक्का-ढलाई प्रणाली के समर्थको का विचार है कि इसके अन्तर्गत अत्यधिक निकासी (over issue) का भय नही रहता। जैसा पहले कहा जा चुका है, अत्यधिक निकासी के फलस्वरूप देश मे मुद्रा स्फीति (currency inflation) की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और अर्थ व्यवस्था के लिए नये खतरे पैदा हो जाते है। खुली सिक्का-ढलाई के अन्तर्गत तो उतने ही सिक्के ढाले जाते है जितनी धातु की मात्रा होती है, उससे अधिक नही। चूँकि धातु की मात्रा सीमित होती है इसलिए सिक्के असीमित मात्रा मे नही ढाले जा सकते। अत अत्यधिक निकासी की सम्भावना नही रहती। इसके विपरीत सीमित सिक्का ढलाई प्रणाली के पक्षपातियो का कहना है कि इसके अतर्गत सरकार प्रतीक सिक्के निकालकर मूल्यवान धातुओ के उपयोग मे बचत कर सकती है।

परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है खुली सिक्का ढलाई विश्व के सभी देशो मे समाप्त हो चुकी है। सभी देशो मे अब सीमित सिक्का प्रणाली का ही चलन है।

सिक्को की मूल्यहीनता (निकृष्टता)
(Debasement of Coins)

जब सिक्को की तोल शुद्धता अथवा दोनो को ही कम कर दिया जाता है तब इसे सिक्को की मूल्यहीनता (निकृष्टता) कहते हैं। इस प्रकार सिक्को को निकृष्ट बनाने के दो तरीके हैं

(क) **सिक्कों की शुद्धता को कम करना**—जब सिक्के में शुद्ध धातु के अनुपात को कम कर दिया जाता है तब इसे हीनमूल्य अथवा निकृष्ट सिक्का कहते हैं। जैसा पहले कहा गया है मानक सिक्का में शुद्ध धातु का प्रयोग किया जाता है। परन्तु जब सरकार शुद्ध धातु की कमी के कारण सिक्के में इस धातु का अनुपात कम कर देती है या इसमें किसी सस्ती धातु का कुछ अंश मिला देती है तब इसमें सिक्का हीनमूल्य (निकृष्ट) हो जाता है। उदाहरणार्थ दूसरे विश्व युद्ध में भारत सरकार ने रुपये में शुद्ध चांदी की मात्रा कम कर दी थी और इसके स्थान पर रुपये में गिलट मिला दिया था जिससे रुपया निकृष्ट सिक्का हो गया था।

(ख) **सिक्कों की तोल में कमी करना**—जब किसी सिक्के की गैर-कानूनी तरीकों से तोल (वजन) कम कर दी जाती है तब उसे निकृष्ट सिक्का कहते हैं। यह कार्य प्राय लोगों द्वारा गैर कानूनी तरीकों से किया जाता है। समाज विरोधी तत्वों ने सिक्कों की तोल को कम करने के निम्नलिखित तरीके निकाले हैं

(1) **किनारों की कटाई** (Clipping)—सिक्कों के किनारों को काटकर उनका वजन कम कर लिया जाता है। इसको रोकने के लिए सिक्कों के किनारों पर धारियाँ बना दी जाती हैं।

(2) **घिसाई**—यदि सिक्कों को किसी थैली में डालकर जोर से हिलाया जाय तो सिक्कों में से कुछ न कुछ धातु घिसकर थैली में एकत्रित हो जाती है। इसको रोकने के लिए धातु को कड़े बनाने वाले पदार्थ सिक्कों में मिला दिये जाते हैं।

(3) **जलाई (तेजाब से वजन कम करना)**—सिक्कों को तेजाब या अन्य रासायनिक पदार्थों में डालकर उनका वजन कम कर दिया जाता है। इसको रोकने के लिए सरकार ने सिक्कों पर चिह्न अंकित किये हैं जो जलाई से घिसने पड़ जाते हैं।

(4) **जाली सिक्के बनाना**—कभी-कभी समाज विरोधी तत्वों द्वारा जाली अथवा नकली सिक्के भी बनाये जाते हैं। इन सिक्कों में धातु की मात्रा सरकारी सिक्कों की तुलना में कम रखी जाती है। जाली सिक्कों को बनाने वाले व्यक्तियों को सरकार द्वारा कठोर दण्ड दिया जाता है। सिक्के बनाते समय टकसाल में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सिक्के ऐसे बनाये जायें जिनकी नकल न हो सके। परन्तु ऐसा होने हुए भी जाली सिक्के बनाने का काम लगभग सभी देशों में बराबर चलता ही रहता है।

मुद्रा को विनिमय दर को कम करना
(Devaluation)

कभी-कभी सरकार मुद्रा की विनिमय-दर को कम कर देती है। इसका उद्देश्य निर्यातों को बढ़ाना तथा आयातों को कम करना होता है। परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा की विनिमय-दर (rate of exchange) कम करते समय सिक्कों का वजन एवं उनकी शुद्धता पहले जैसी ही रहती है। 17 सितम्बर 1949 को भारत सरकार ने रुपये की विनिमय-दर को कम कर दिया था। उस समय ग्रेट ब्रिटेन ने भी अपने पौण्ड स्टर्लिंग की विनिमय-दर कम कर दी थी। पौण्ड स्टर्लिंग जो पहले 4 03 अमरीकी डालरों के बराबर था—अब घटाकर 2 8 अमरीकी डालरों के बराबर कर दिया गया। ग्रेट ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए भारत सरकार ने भी रुपये की विनिमय-दर कम कर दी थी। भारतीय रुपया जो पहले 30 225 अमरीकी सैण्टों के बराबर था अब घटाकर 21 सैण्टों के बराबर कर दिया गया। 6 जून 1966 को भारतीय रुपये की विनिमय-दर को और भी घटा दिया गया था। अब भारतीय रुपया केवल 13 अमरीकी सैण्टों (cents) के बराबर ही रह गया था। Jcm 1985 Sl. 3 unts।

मुद्रा अवमूल्यन (*Depreciation of Money*)—कागजी मुद्रा तथा अन्य सिक्कों के अत्यधिक निर्गमन के परिणामस्वरूप यदि देश में मुद्रा का मूल्य घट जाता है (अर्थात यदि वस्तुओं तथा सेवाओं की सामान्य कीमतें बढ़ जाती हैं) तो ऐसी परिस्थिति में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है। स्मरण रहे कि मुद्रा-अवमूल्यन से मुद्रा में धातु की मात्रा में कोई कमी नहीं की जाती जैसा मुद्रा की निकृष्टता की दशा में होता है। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद लगभग सभी देशों में मुद्रा का अवमूल्यन हुआ था। युद्ध का व्यय पूरा करने के लिए लगभग सभी सरकारों ने बड़े पैमाने पर कागज के नोट छापे थे। इस प्रकार मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी।

वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें आकाश को छूने लगी थी। इसी कारण मुद्रा का अवमूल्यन हुआ था। मुद्रा-अवमूल्यन की प्रक्रिया आज भी लगभग सभी देशों में चल रही है।

कागजी मुद्रा
(Paper Money)

कागजी मुद्रा का एक लम्बा इतिहास है। सर्वप्रथम, कागजी मुद्रा का उपयोग नवीं शताब्दी में चीन में किया गया था। वहाँ से धीरे-धीरे इसका विस्तार अन्य देशों में हुआ। परन्तु कागजी मुद्रा का बड़े पैमाने पर उपयोग 17वीं व 18वीं शताब्दी में ही होने लगा था। भारत में कागजी मुद्रा का उपयोग 19वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था। सर्वप्रथम, बैंक ऑफ बंगाल ने सन् 1806 में कागजी मुद्रा का निर्गमन किया था।

प्रो० क्राउथर (Crowther) के अनुसार कागजी मुद्रा चार अवस्थाओं में से होकर गुजरी है

प्रथम अवस्था—इसमें कुछ सुविख्यात बैंक जमाकर्ताओं (depositors) को जमा की हुई रकम के बदले में प्रमाणपत्र (certificates) दे दिया करते थे। उन प्रमाणपत्रों को पेश करके जमाकर्ता उन बैंकों या उनकी शाखाओं से रुपया प्राप्त कर सकते थे।

दूसरी अवस्था—इसमें कुछ प्रसिद्ध बैंकों को सरकार द्वारा नोट जारी करने का अधिकार दे दिया गया था। ये नोट इन बैंकों द्वारा केवल अपने जमाकर्ताओं को ही दिये जा सकते थे। इस प्रकार इन नोटों का चलन क्षेत्र सीमित ही था।

तीसरी अवस्था—इसमें बैंकों को अपनी जमा (deposits) से भी अधिक नोट जारी करने का अधिकार सरकार द्वारा दे दिया गया, अर्थात् अब बैंक अपनी जमा से भी अधिक मात्रा में नोट छाप सकते थे। यह इस विश्वास पर किया गया था कि जमाकर्ता सामान्यत अपनी समूची जमा को एक ही समय पर बैंक से नहीं निकलवाते।

चौथी अवस्था—यह नोट निगमन की वर्तमान अवस्था है। इसमें नोट जारी करने का अधिकार सभी बैंकों को न देकर केवल देश के केन्द्रीय बैंक को ही दिया गया है और केन्द्रीय बैंक ही कागजी मुद्रा का निगमन करता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये नोटों को मानक सिक्कों में बदलने का वचन भी दिया जाता है। इस प्रकार कागजी नोट पूर्णत मुद्रा का काम करते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी की गयी कागजी मुद्रा पर सरकार अपना पूर्ण नियन्त्रण रखती है। विभिन्न देशों में कागजी मुद्रा में भिन्न भिन्न मूल्यों के नोट होते हैं। भारत में इस समय 1 रुपया, 2 रुपये, 5 रुपये, 10 रुपये 20 रुपये, 50 रुपये 100 रुपये और 1000 रुपये के नोट प्रचलित हैं।

कागजी मुद्रा के भेद
(Types of Paper Money)

कागजी मुद्रा चार प्रकार की होती है—(क) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा, (ख) विनिमेय कागजी मुद्रा, *(ग) अविनिमेय कागजी मुद्रा, (घ) आदिष्ट मुद्रा।*

(क) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा (Representative Paper Money)—जब कागजी मुद्रा के पीछे ठीक इसके मूल्य के बराबर सोना व चांदी प्रारक्षित निधि (reserve fund) के रूप में रखे जाते हैं, तब इस प्रकार की मुद्रा को प्रतिनिधि कागजी मुद्रा कहते हैं। प्रारम्भिक काल में नोट *जारी करने का मुख्य उद्देश्य सिक्कों की घिसावट से होने वाली हानि से बचना था।* इसलिए जितने नोट जारी किये जाते थे, ठीक उन्हीं के मूल्य के बराबर खजाने में सोने व चाँदी को प्रतिनिधि-स्वरूप रखा जाता था। जब नोटों को सिक्कों में बदलने की माँग की जाती थी उस समय इस माँग को पूरा करने के लिए उसी सोने व चाँदी का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार प्रतिनिधि कागजी मुद्रा के अन्तर्गत नोटों के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी अवश्य ही कोष में रखे जाते थे। सन् 1925 में हिल्टन यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने भारत के लिए इसी प्रकार की कागजी मुद्रा की सिफारिश की थी परन्तु कुछ कारणों से आयोग की यह सिफारिश क्रियान्वित नहीं की जा सकी। अमरीका में भी सोने तथा चाँदी के प्रमाणपत्रों के रूप में यह प्रथा प्रचलित रही थी। अमरीकी सरकार इन प्रमाणपत्रों के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी प्रारक्षित निधि में रख लेती थी, ताकि माँग होने पर प्रमाणपत्रों को धातुओं में बदला जा सके।

प्रतिनिधि कागजी मुद्रा के गुण निम्नलिखित हैं :

(1) **मुद्रा-स्फीति का भय नहीं रहता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति का भय समाप्त हो जाता है। कारण यह है कि इस प्रणाली के अधीन कागजी मुद्रा का निर्गमन तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि उतने ही मूल्य का सोना व चाँदी प्रारक्षित निधि में सुरक्षित न रखा जाय। चूंकि सोना व चाँदी अपरिमित मात्रा में उपलब्ध नहीं होते, इसलिए नोटों के अत्यधिक मात्रा में जारी किये जाने की सम्भावना नहीं रहती। परिणामत: मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न नहीं हो सकती।

(2) **मूल्यवान धातुओं की बचत**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सिक्के सोने या चाँदी के नहीं बने होते। *सोने-चाँदी को तो धातुओं के रूप में प्रारक्षित निधि में ही रखा जाता है।* मुद्रा के कार्य कागजी नोटों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रकार देश को मूल्यवान धातुओं की घिसावट से होने वाली हानि से बचाया जा सकता है।

(3) **जनता का विश्वास**—इस प्रणाली के अन्तर्गत लोगों का कागजी नोटों में विश्वास उत्पन्न हो जाता है। कारण यह है कि लोग इस तथ्य को जानते हैं कि सभी जारी किये गये नोटों के पीछे प्रारक्षित निधि में शत प्रतिशत सोना व चाँदी रखा गया है और आवश्यकता पड़ने पर सरकार आसानी से नोटों के बदले सोना व चाँदी दे सकती है।

इस प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं

(1) **इस प्रणाली में सोने व चाँदी की कोई विशेष बचत नहीं होती**—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस प्रणाली के अन्तर्गत जारी किये गये नोटों के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी प्रारक्षित निधि में रखे जाते हैं। इनको किसी अन्य प्रयोग में नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार इस प्रथा से सोने व चाँदी की कोई विशेष बचत नहीं होती।

(2) **इस प्रणाली में लोच का अभाव रहता है** इस प्रणाली के अधीन नोटों की मात्रा तब तक नहीं बढ़ायी जा सकती, जब तक कि उतने ही मूल्य का सोना व चाँदी प्रारक्षित निधि में न रखा जाय। इस प्रकार इस प्रणाली में लोच का अभाव रहता है। यदि देश में अधिक मुद्रा की आवश्यकता अनुभव की जाती है तो भी तब तक मुद्रा की मात्रा को नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक कि उतने ही मूल्य की धातुएँ सरकार के पास उपलब्ध न हों। परिणामत: आवश्यकता पड़ने पर भी सरकार मुद्रा की मात्रा को नहीं बढ़ा सकती।

(3) **यह प्रणाली निर्धन देशों के लिए उपयुक्त नहीं है**—चूंकि निर्धन देशों के पास सोने व चाँदी का प्राय: अभाव रहता है इसलिए वे इस प्रथा को अपनाने में असमर्थ रहते हैं। यह प्रणाली तो केवल धनी देशों द्वारा ही अपनायी जा सकती है।

(ख) **विनिमेय कागजी मुद्रा (Convertible Paper Money)—जब किसी देश में कागजी नोट इस प्रकार जारी किये जाते हैं कि उनको जनता किसी समय मानक सिक्कों में बदल सकती है, तब इस प्रकार की कागजी मुद्रा को विनिमेय कागजी मुद्रा या परिवर्तनशील कागजी मुद्रा कहते हैं।** इस प्रणाली की मुख्य **विशेषताएँ** निम्न प्रकार है

(1) कागजी नोटों के पीछे सोना व चाँदी प्रारक्षित निधि में रखे जाते हैं, परन्तु इन *धातुओं का मूल्य जारी किये गये नोटों के मूल्य से कम होता है। इस प्रणाली का आधारभूत* सिद्धान्त यह है कि जारी किये गये सभी नोट सामान्यत: एक ही समय पर भुनाने के लिए जनता द्वारा पेश नहीं किये जाते। इसीलिए सरकार प्रारक्षित निधि में जारी किये गये नोटों के मूल्य से कम मात्रा में सोना चाँदी रखती है।

(2) सरकार द्वारा लोगों को यह आश्वासन दिया जाता है कि वे जब चाहे, अपने नोटों के बदले खजाने से सोना व चाँदी ले सकते हैं।

(3) प्रारक्षित निधि में सोना व चाँदी के अतिरिक्त कुछ मात्रा में मानक सिक्के प्रतीक सिक्के तथा प्रमाणित ऋणपत्र (approved securities) भी रखे जाते हैं। ये ऋणपत्र प्राय: उत्तम श्रेणी के होते हैं और इन्हें किसी समय भुनाया (encash) जा सकता है। इस प्रकार प्रारक्षित निधि में कागजी मुद्रा के मूल्य के बराबर सोना व चाँदी नहीं रखे जाते, बल्कि इससे कुछ कम मात्रा

मे रखे जाते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रारक्षित निधि के दो भाग होते हैं—प्रथम, धात्विक भाग (metallic portion) इसमे सोना, चाँदी तथा सिक्के सम्मिलित होते हैं, दूसरा, अरक्षित भाग (fiduciary portion) कहलाता है। इसमे केवल प्रमाणित ऋणपत्र ही सम्मिलित होते हैं।

(4) इस प्रणाली के अन्तर्गत, लोगो को विदेशी भुगतानो (foreign payments) के लिए सरकार द्वारा कागजी मुद्रा के बदले सोना व चाँदी दिया जाता है।

(5) सरकार एक पूर्व निश्चित दर पर सदैव सोना-चांदी खरीदने व बेचने के लिए तैयार रहती है।

इस प्रणाली के गुण निम्नलिखित है

(1) **बहुमूल्य धातुओ मे बचत**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी नोटो का चलन होता है, इसलिए मूल्यवान धातुओ की घिसावट मे होने वाली हानि से बचा जा सकता है।

(2) **यह प्रणाली लोचदार है**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी नोटो के पीछे शत-प्रतिशत सोना व चाँदी नही रखे जाते इसलिए इसमे *प्रतिनिधि कागजी मुद्रा प्रणाली की अपेक्षा* अधिक लोच (elasticity) रहती है। आवश्यकता पडने पर शत-प्रतिशत सोना-चाँदी प्रारक्षित निधि मे रखे बिना ही सरकार कागजी मुद्रा को बढा सकती है।

(3) **इस प्रणाली मे जनता का विश्वास होता है**—चूंकि नोट जारी करते समय सरकार उसके पीछे कुछ न कुछ धात्विक कोष (metallic reserves) अवश्य रखती है, इसलिए जनता का नोटो मे विश्वास बना रहता है। इसके अतिरिक्त, नोटो को सोने व चाँदी मे बदलने की गारण्टी भी सरकार द्वारा दी जाती है।

(4) **विदेशी व्यापार मे सुविधा**—*जैसा ऊपर बताया गया है,* विदेशी भुगतानो के लिए सरकार लोगो को एक निश्चित दर पर कागजी मुद्रा के बदले सोना व चाँदी देने के लिए सदैव तैयार रहती है। इससे व्यापारियो को विदेशी भुगतानो को चुकाने मे सुविधा रहती है और देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रणाली के मुख्य दोष निम्नलिखित है

(1) **इसमे अत्यधिक मुद्रा के जारी किये जाने का भय रहता है**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी नोटो के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष नही रखा जाता, इसलिए नोटो के अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने की सदैव सम्भावना बनी रहती है। सकटकाल मे सरकार वास्तविक आवश्यकता से भी अधिक नोट छाप लेती है, जिससे मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो सकती है।

(2) **इस प्रणाली मे लोगो का इतना अधिक विश्वास नहीं होता जितना कि प्रतिनिधि कागजी मुद्रा प्रणाली मे होता है**—इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटो के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष नही रखा जाता, बल्कि जारी किये गये नोटो के मूल्य से कुछ कम धात्विक कोष रखा जाता है। परिणामस्वरूप इस प्रणाली मे लोगो का विश्वास इतना दृढ नही होता जितना कि प्रतिनिधि मुद्रा प्रणाली मे होता है।

यह प्रथा विभिन्न समयो पर विभिन्न देशो द्वारा अपनायी गयी थी। सन् 1915 मे ब्रिटेन *तथा फ्रास दोनो ने ही इस प्रणाली को अपनाया था। परन्तु आजकल इस प्रणाली की लोकप्रियता* मे ह्रास हुआ है। अब अधिकाश देशो मे अविनिमेय कागजी मुद्रा प्रणाली का ही चलन है।

(ग) **अविनिमेय कागजी मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—जब किसी देश मे कागजी नोट इस प्रकार जारी किये जाते हैं कि सरकार उन्हें सिक्को अथवा मूल्यवान धातुओ मे बदलने की कोई गारण्टी नहीं देती, तब इस प्रकार की मुद्रा को अविनिमेय कागजी मुद्रा या अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा कहते हैं।** दूसरे शब्दो मे, नोटो को सिक्को मे बदलने की सरकार द्वारा कोई गारण्टी नही दी जाती। इस प्रकार की मुद्रा तो केवल सरकार की साख (credit) के आधार पर ही प्रचलित रहती है। इस प्रणाली की **विशेषताएँ** निम्न प्रकार हैं

(1) इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटो के पीछे किसी भी प्रकार की धात्विक निधि (metallic reserves) नही रखी जाती और न ही सरकार नोटो को धातुओ या सिक्को मे बदलने का

आश्वासन देती है। यह हो सकता है कि सरकार जारी किये गये नोटो के पीछे ऋणपत्रो (securities), कोषागार विपत्रो (treasury bills) एव बॉण्ड्स (bonds) की आड़ (cover) रखे।

(2) इस प्रकार की मुद्रा का निर्गमन प्राय एक सीमित मात्रा मे किया जाता है, परन्तु यदि आवश्यकता पडे तो सरकार इसकी मात्रा मे वृद्धि भी कर सकती है ।

इस प्रणाली के गुण निम्नलिखित हैं

(1) **धातुओ की बचत**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रारक्षित निधि (reserve fund) मे धातुओ को बिलकुल नही रखा जाता, इसलिए देश को धातुओ के प्रयोग मे बचत होती है। धातुओ को बेकार प्रारक्षित निधि मे रखने के बजाय अधिक लाभदायक प्रयोगो मे लगाया जा सकता है।

(2) **यह प्रणाली लोचदार है**—इस प्रणाली मे बडे पैमाने पर लोच (elasticity) का अश विद्यमान रहता है। आवश्यकता पड़ने पर सरकार जब चाहे और जितनी मात्रा मे चाहे, बिना प्रारक्षित निधि मे सोना व चाँदी रखे नोट जारी कर सकती है।

इस प्रणाली के दोष निम्नलिखित है

(1) **इसमें मुद्रा-स्फीति का भय सदैव बना रहता है**—चूंकि इस प्रथा के अन्तर्गत प्रारक्षित निधि मे नोटो के पीछे धातुओ के रखने की बिलकुल आवश्यकता नही होती, इसलिए सरकार मनचाही मात्रा मे नोटो का निर्गमन कर सकती है। विशेषकर सकट के समय तो सरकार कभी-कभी आवश्यकता से भी अधिक नोट छाप लेती है, जिसके परिणामस्वरूप देश मे मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है, वस्तुओ की कीमतें बढने लगती है और मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है। इससे लोगो के कुछ वर्गों को बहुत हानि होती है। इसके अतिरिक्त, देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर (exchange rate) भी कम हो जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती है।

(2) **इस प्रणाली मे जनता का विश्वास कम रहता है**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत जारी किये गये नोटो के पीछे धात्विक कोष बिलकुल नहीं होता, इसलिए इस प्रणाली मे जनता का इतना विश्वास नही होता जितना कि प्रतिनिधि कागजी मुद्रा प्रणाली में। वास्तव मे, इस प्रणाली के अन्तर्गत जारी की गयी कागजी मुद्रा एक प्रकार का लोगो से जबर्दस्ती लिया गया ऋण (forced loan) होता है।

दूसरे विश्व युद्ध मे भारत सरकार द्वारा जारी किये गये एक रुपये वाले नोट अविनिमेय कागजी मुद्रा का उदाहरण हैं। इन्हे रुपये के सिक्को मे नही बदला जा सकता। भारत की भाँति बहुत-से अन्य देशो मे भी युद्धकाल मे अविनिमेय कागजी मुद्रा का निर्गमन किया गया था।

(घ) **प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money)**—प्रादिष्ट मुद्रा अविनिमेय कागजी मुद्रा का ही एक रूप है। प्रादिष्ट मुद्रा प्राय सकटकाल में ही जारी की जाती है। इसलिए इसे कभी-कभी सकट कालीन मुद्रा (emergency currency) भी कहा जाता है। प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की प्रारक्षित निधि नही होती, अर्थात् इसके पीछे न तो धात्विक कोष ही होता है और न ही किसी अन्य प्रकार की कागजी आड (fiduciary cover) होती है। इस प्रकार की मुद्रा को धातु-सिक्को मे बदलने के लिए सरकार किसी प्रकार की गारण्टी नही देती। इस मुद्रा की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं

(अ) इस मुद्रा का निगमन सीमित मात्रा मे किया जाता है।
(आ) यह मुद्रा सकट के समय जारी की जाती है।
(इ) इस मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की आड (cover) नही होती।

वास्तव मे, यह मुद्रा एक असाधारण प्रकार की मुद्रा (extra-ordinary money) है और केवल विशेष परिस्थितियो मे ही सरकार इसे जारी करती है। स्मरण रहे कि यह मुद्रा पूर्ण रूप से असीमित विधिग्राह्य (वैध) होती है। चूंकि इस प्रकार की मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की आड नही होती, इसलिए सरकार इसे केवल सीमित मात्रा मे ही निकालती है।

प्रादिष्ट मुद्रा में एक बड़ा गुण यह है कि यदि इसे नियन्त्रित ढंग से प्रचलित किया जाय तो यह देश के आर्थिक विकास में बहुत बड़ी सहायता दे सकती है। जैसा विदित है, पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशों में प्राय वित्त (finance) का अभाव रहता है और इसी वित्त के अभाव के कारण देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा से इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। इसके विपरीत, आलोचकों का कहना है कि प्रादिष्ट मुद्रा में दो गम्भीर दोष पाये जाते हैं—प्रथम, इस मुद्रा में स्फीति (inflation) का सदैव भय रहता है। चूंकि कागजी मुद्रा के पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष नहीं रखा जाता, इसलिए इसके अत्यधिक मात्रा में जारी किये जाने की सम्भावना बनी रहती है और मुद्रा-स्फीति का भय सदैव विद्यमान रहता है। दूसरे, इस प्रकार की मुद्रा में जनता का प्राय बिल्कुल ही विश्वास नहीं होता, क्योंकि जारी किये गये नोटों को सिक्कों में बदलने की सरकार द्वारा कोई गारण्टी नहीं दी जाती।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रादिष्ट मुद्रा केवल सकटकाल में ही जारी की जाती है। इसलिए इतिहास में इस मुद्रा के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। अमरीका में गृहयुद्ध के दौरान ग्रीनबैक्स (Greenbacks) नामक मुद्रा जारी की गयी थी जो प्रादिष्ट मुद्रा का प्रमुख उदाहरण है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी में भी मार्क नामक मुद्रा जारी की गयी जो एक प्रकार से प्रादिष्ट मुद्रा ही थी।

कागजी मुद्रा के लाभ
(Advantages of Paper Money)

कागजी मुद्रा के चलन से अनेक लाभ होते हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है

(1) **धातुओं की बचत**—कागजी मुद्रा के प्रयोग से धातुओं की मात्रा में बचत हो जाती है और इस प्रकार की धातुएँ औद्योगिक कार्यों एव विदेशी व्यापार में इस्तेमाल की जा सकती है।

(2) **धातुओं की घिसावट नहीं होती**—कागजी मुद्रा के प्रयोग से धातु सिक्कों की घिसावट नहीं होती, क्योंकि वे प्राय प्रारक्षित निधि में ही रखे जाते हैं और मुद्रा-सम्बन्धी कार्य नोटों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

(3) **मितव्ययता (Economy)**—कागजी मुद्रा की उत्पादन-लागत बहुत कम होती है। इसे बनाने के लिए किसी मूल्यवान वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। अत कागजी मुद्रा निर्धन देशों के लिए विशेषकर लाभदायक होती है क्योंकि वे मूल्यवान धातुओं के सिक्कों का व्यय सहन नहीं कर सकते।

(4) **मुद्रा-पूर्ति में लोच (Elasticity in Money Supply)**—कागजी मुद्रा की मात्रा में माँग के अनुसार घटा-बढ़ी की जा सकती है। परन्तु धातु मुद्रा में ऐसा करना सम्भव नहीं होता क्योंकि धातुओं का उत्पादन परिमित मात्रा में होता है और इसके साथ ही साथ ये धातुएँ बहुत मूल्यवान भी होती हैं। इस प्रकार कागजी मुद्रा लोचदार होती है।

(5) **सकट काल में सुविधा**—आर्थिक सकट के समय जब सरकार को मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है और उसके पास सोने चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं की कमी होती है तो ऐसे समय पर सरकार कागजी नोट छापकर अपना काम चला सकती है।

कागजी मुद्रा के दोष
(Disadvantages of Paper Money)

इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **मुद्रा-स्फीति का भय**—कागजी मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि सकटकाल में देश में मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न होने का भय रहता है। सकट के समय सरकार अपनी इच्छानुसार कागजी मुद्रा में वृद्धि कर सकती है, क्योंकि ऐसा करने के लिए उसे कागजी नोटों के पीछे किसी प्रकार का धात्विक कोष नहीं रखना पड़ता (स्मरण रहे कि प्रतिनिधि कागजी मुद्रा में इस प्रकार का भय नहीं होता, परन्तु अन्य सभी कागजी मुद्राओं में यह भय सदैव बना रहता है)। जैसा हम जानते हैं, जब मुद्रा अत्यधिक मात्रा में जारी की जाती है तो उसके बहुत गम्भीर परिणाम होते हैं। वस्तुओं एव सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती है और समाज के कुछ वर्गों को बहुत हानि उठानी पड़ती है। कभी-कभी तो कागजी मुद्रा इतनी अत्यधिक मात्रा में जारी की जाती है कि मुद्रा का

मूल्य लगभग शून्य के बराबर हो जाता है। बिलकुल ऐसी ही परिस्थिति प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी में उत्पन्न हुई थी, जबकि जर्मनी की मार्क मुद्रा का मूल्य लगभग शून्य के बराबर हो गया था।

(2) **कागजी मुद्रा का चलन-क्षेत्र सीमित होता है**—कागजी मुद्रा का चलन केवल उसी देश मे होता है जिसमे वह जारी की जाती है। विदेशियो द्वारा कागजी मुद्रा प्राय स्वीकार नही की जाती। इस प्रकार कागजी मुद्रा का चलन-क्षेत्र सीमित होता है।

(3) **नाशवानता (Perishability)**—कागजी मुद्रा मे अविनाशिता का गुण नही है। यह प्राय शीघ्र ही खराब हो जाती है। नोटो के फटने अथवा गीले होने का भी डर रहता है। धातु सिक्को की भाँति यह चिरस्थायी नही होती।

(4) **कागजी मुद्रा के मूल्य मे अनिश्चितता बनी रहती है**—चूँकि कागजी मुद्रा की मात्रा मे अकस्मात ही परिवर्तन किये जाते हैं, इसलिए इसके मूल्य मे स्थिरता का अभाव रहता है। जब कागजी मुद्रा अत्यधिक मात्रा मे जारी की जाती है, तब वस्तुओ की कीमतें बढने के परिणामस्वरूप मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और मुद्रा-स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यदि कागजी मुद्रा की मात्रा मे अकस्मात कमी कर दी जाती है तो उससे वस्तुओ की कीमतें गिर जाती हैं अथवा मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है और देश में अवस्फीति (deflation) की दशा उत्पन्न हो जाती है। कुछ वर्गों पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। इस प्रकार कागजी मुद्रा के मूल्य मे सदैव उतार-चढाव होते रहते हैं जो देश की आर्थिक प्रगति के लिए हानिकारक होते है।

(5) **सट्टेबाजी (Speculation) को प्रोत्साहन**—चूँकि कागजी मुद्रा के मूल्य मे उतार-चढाव होते रहते हैं, इसलिए देश मे एक प्रकार का अनिश्चित वातावरण उत्पन्न हो जाता है और यह अनिश्चित वातावरण सट्टेबाजी को प्रोत्साहित करता है।

(6) **विमुद्रीकरण (Demonetisation) की अवस्था मे कागजी मुद्रा का मूल्य शून्य हो जाता है**—जब सरकार द्वारा कागजी नोटो का विमुद्रीकरण कर दिया जाता है, तब उनका मूल्य शून्य हो जाता है, क्योंकि उनमे किसी प्रकार का यथार्थ मूल्य (intrinsic value) नही होता। कागजी मुद्रा वास्तविक मुद्रा (real money) नही होती। इसका चलन तो केवल सरकार की साख (credit) पर निर्भर करता है।

निष्कर्ष—कागजी मुद्रा के उपर्युक्त गुण दोषो का अध्ययन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसके गुण, दोषो की तुलना मे बहुत अधिक हैं और वास्तव मे, कागजी मुद्रा मानव के लिए एक वरदान (blessing) सिद्ध हुई है। कागजी मुद्रा के जो दोष बताये जाते हैं, वे वास्तव मे, कागजी मुद्रा के दोष नही है। ये तथाकथित दोष तो कागजी मुद्रा के प्रभावपूर्ण नियन्त्रण के अभाव के कारण उत्पन्न होते है। जब सरकार द्वारा कागजी मुद्रा का उचित नियन्त्रण नही किया जाता तो इससे अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु यदि इसे उचित ढग से नियन्त्रित किया जाय तो कागजी मुद्रा देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योग दे सकती है।

अच्छे मुद्रा-पदार्थ के गुण
(Qualities of a Good Money Material)

किसी विशेष पदार्थ के मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त होने के लिए उसमे निम्नलिखित गुणो का होना आवश्यक है

(1) **सर्वमान्यता (General Acceptability)**—मुद्रा के रूप मे चुना गया पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। यदि कोई पदार्थ देश के सभी लोगो द्वारा स्वीकृत नही किया जाता तो वह मुद्रा का काम नही दे सकता। इस दृष्टि से सोना व चाँदी आदर्श पदार्थ है। विश्व मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही होगा जो सोने और चाँदी को स्वीकार करने के लिए तैयार न हो। यहाँ तक कि अफ्रीका के घने जगलो मे निवास करने वाला हब्शी (Negro) भी इन धातुओ से परिचित है और उन्हे स्वीकार कर लेता है। परन्तु यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि सर्वमान्यता का उक्त गुण किसी वस्तु में तभी हो सकता है जब उस वस्तु की लोगो के लिए कुछ उपयोगिता हो। उदाहरणार्थ, सोने एव चाँदी में अपनी निजी उपयोगिता होती है, क्योंकि इन दोनो धातुओ का आभूषण बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। यदि किसी वस्तु मे उपयोगिता का अभाव है तो उस धातु मे सर्वमान्यता का गुण नहीं हो सकता है।

(2) **परिचयता (पहचाने जाने की योग्यता) (Cognsocibility)**—यदि किसी पदार्थ का मुद्रा के लिए प्रयोग करना है तो वह ऐसा होना चाहिए कि उसे आसानी से पहचाना जा सके। यदि वह आसानी से पहचाना नही जा सकता तो जनता के लिए अत्यन्त असुविधाजनक होगा। इसके अतिरिक्त, इस पदार्थ के प्रयोग से धोखेबाजी व ठगी की सम्भावना भी बनी रहेगी। सोना और चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ का काम दे सकते है, क्योकि इन्हे अन्य वस्तुओ की उपेक्षा अधिक आसानी से पहचाना जा सकता है।

(3) **अक्षयशीलता (Indestructibility)**—मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त होने वाला पदार्थ अनश्वर होना चाहिए। यह एक ऐसा पदार्थ होना चाहिए जिसमे बिना किसी आशका के क्रय-शक्ति को सचित किया जा सके। गेहूँ मुद्रा का कार्य नही कर सकता, क्योकि यह कुछ वर्षो के पश्चात सड़-गलकर नष्ट हो जाता है। इसके विपरीत, सोना व चांदी अनश्वर धातुएँ है तथा दीर्घकाल तक टिकाऊ रह सकती है।

(4) **वहनीयता (Portability)**—चूंकि मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना पडता है, इसलिए यह ऐसा पदार्थ होना चाहिए जो सुगमता से वहनीय हो। यह पदार्थ छोटे परिमाण (small bulk) मे अधिक मूल्यवान होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से सोना व चांदी उत्तम मुद्रा पदार्थ माने जा सकते है। कागजी मुद्रा मे वहनीयता का बहुत महत्त्वपूर्ण गुण पाया जाता है। इसे यात्रियो द्वारा बिना किसी कठिनाई के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है।

(5) **विभाज्यता (Divisibility)**—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसे बिना हानि के विभिन्न इकाइयो मे विभाजित किया जा सके। पशु मुद्रा का कार्य नही कर सकते, क्योकि वे विभाज्य नही होते। इसके विपरीत, सोना व चांदी बिना किसी प्रकार की हानि के छोटी छोटी इकाइयो मे विभाजित किये जा सकते हैं।

(6) **ढलाऊपन (Malleability)**—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसे गलाकर किसी भी रूप मे ढाला जा सके तथा उस पर चिह्न अथवा अक्षर आसानी से अकित किये जा सकें। इस लिए मुद्रा पदार्थ न तो बहुत कडा और न ही बहुत मुलायम होना चाहिए। सोने और चांदी मे ढलाऊपन का गुण विद्यमान है। इनको गलाकर आवश्यकतानुसार सिक्के तैयार किये जा सकते हैं।

(7) **समरूपता (Uniformity)**—इससे अभिप्राय यह है कि पदार्थ की विभिन्न इकाइयो मे गुणो की समानता हो अर्थात् पदार्थ के प्रत्येक अश के गुण समान होने चाहिए। सोना व चांदी समरूप होते हैं तथा उनसे बनाये गये सिक्के एक जैसे होते हैं। इसके विपरीत, सभी प्रकार के गेहूँ एक जैसे नही होते और न सभी पशु ही एक जैसे होते है।

(8) **मूल्य की स्थिरता (Stability of Value)**—मुद्रा-पदार्थ का सबसे आवश्यक गुण तो उसके मूल्य की स्थिरता है अर्थात् मुद्रा-पदार्थ का मूल्य यथासम्भव स्थिर होना चाहिए। इसका कारण यह है कि मुद्रा, मूल्य के मापक, स्थगित भुगतानो के मान तथा क्रय शक्ति के सचय के साधन के कार्य करती है। यदि मुद्रा के अपने मूल्य मे ही परिवर्तन होते रहते है तो वह इन कार्यों को भलीभांति सम्पन्न नही कर सकती। यदि मुद्रा के मूल्य मे समय-समय पर परिवर्तन होते हैं अथवा कीमतो मे उतार-चढाव होते है तो इससे समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। मुद्रा पदार्थ के मूल्य में परिवर्तनो का एक परिणाम यह भी होता है कि साधारण लोग मुद्रा को पिघलाने तथा सचित करने लगते है जिससे चलन मे मुद्रा की कमी हो जाती है। युद्धकाल मे धातुओ के मूल्यो के बढ जाने के फलस्वरूप लोग प्राय सिक्को को पिघलाकर उन्हे धातु के रूप मे बेचकर लाभ कमाते हैं। अत मुद्रा पदार्थ के मूल्य मे स्थायित्व का होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुद्रा पदार्थ के ये लगभग सभी गुण सोने और चांदी मे पाये जाते है। यही कारण है कि प्राचीन समय से इन धातुओ के सिक्के बनाये जाते रहे है। तांबा तथा गिलट जैसी धातुओ का भी सिक्को के निर्माण मे प्रयोग होता है, परन्तु इनमे सोने चांदी की अपेक्षा मुद्रा-पदार्थ के बहुत कम गुण पाये जाते हैं।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. कागजी मुद्रा के गुण व दोषो का वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम, 1964)

अथवा

कागजी मुद्रा के क्या गुण हैं ? इनके दोष क्या हैं ? (विक्रम, 1969)

[संकेत—यहाँ पर कागजी मुद्रा की परिभाषा दीजिए और इसके मुख्य भेदो का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। तदुपरान्त, कागजी मुद्रा के लाभ और दोषो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2. विभिन्न प्रकार की मुद्राओ की व्याख्या कीजिए तथा उनकी विशेषताओ का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। (आगरा, बी० कॉम०, 1963 पू०)

[संकेत—यहाँ पर मुद्रा के विभिन्न आधारो पर किये गये वर्गीकरणो की व्याख्या कीजिए और विभिन्न प्रकार की मुद्राओ की विशेषताओ का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए। मुख्यत यहाँ पर धातु-मुद्रा तथा कागजी मुद्रा, वास्तविक मुद्रा तथा लेखे की मुद्रा, वैध मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा का वर्णन कीजिए।]

3. कागजी मुद्रा कितने प्रकार की होती है ? कागजी मुद्रा के गुण-दोषो की विवेचना कीजिए। (आगरा, 1975)

[संकेत—यहाँ पर पहले कागजी मुद्रा के मुख्य चार भेदो की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए और उनकी विशेषताओ पर प्रकाश डालिए। तदुपरान्त, उनके गुण-दोषो की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।]

4. निम्न मे भेद कीजिए
   (अ) वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा।
   (ब) पदार्थ मुद्रा एवं प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा।
   (स) विधिग्राह्य मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा। (राजस्थान, बी० कॉम०, 1960)

[संकेत—उत्तर मे मुद्रा के तीन आधारो पर किये गये उक्त वर्गीकरणो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और समुचित उदाहरण भी प्रस्तुत कीजिए।]

5. निम्न पर टिप्पणियाँ लिखिए
   (क) नि शुल्क टकण, (ख) प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा। (विक्रम बी० कॉम०, 1960)

[संकेत—उक्त दोनो विषयो पर उदाहरण सहित संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।]

6. निम्न से आप क्या समझते हैं
   (क) चलन की इकाई और हिसाब की इकाई।
   (ख) प्रामाणिक मुद्रा और सांकेतिक मुद्रा।
   उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए भारतीय रुपये की स्थिति बताइए। (आगरा, बी० कॉम०, 1960)

[संकेत—(क) के उत्तर मे वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा का उदाहरण सहित अन्तर बताइए। (ख) के उत्तर मे प्रामाणिक मुद्रा तथा सांकेतिक मुद्रा का उदाहरण सहित अन्तर स्पष्ट कीजिए और यह बताइए कि किस प्रकार भारतीय रुपया प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का (Standard Token Coin) है। जहाँ तक (क) का सम्बन्ध है, भारतीय रुपया इस समय चलन की इकाई तथा हिसाब की इकाई दोनो ही है।]

7. अन्तर स्पष्ट कीजिए
   (अ) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा एवं विनिमेय कागजी मुद्रा।
   (ब) प्रादिष्ट मुद्रा एवं गौण मुद्रा।
   (स) धातु-मुद्रा एवं कागजी-मुद्रा।
   (द) स्वतन्त्र सिक्का ढलाई एवं सीमित सिक्का ढलाई। (आगरा, 1972)

[संकेत—(अ) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा वह होती है जो विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है परन्तु क्रय-शक्ति का उसमें सचय नहीं किया जा सकता। इस मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु-कोष रखा जाता है। विनिमेय मुद्रा से अभिप्राय उस मुद्रा से है जिसे सरकार पदार्थ-मुद्रा में बदलने के लिए कटिबद्ध होती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उसके पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखा जाय।

(ब) आदिष्ट मुद्रा अविनिमेय कागजी मुद्रा का ही एक रूप है। यह प्राय सकटकाल में जारी की जाती है। इसके पीछे कोई धातु-कोष नहीं होता। गौण-मुद्रा छोटे-छोटे सिक्कों की होती है। छोटे-छोटे भुगतानों के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

(स) धातु मुद्रा धातुओं की बनी होती है जबकि कागजी मुद्रा कागज की बनी होती है।

(द) जब सरकार जनता से सिक्के ढालने का कुछ भी शुल्क अथवा व्यय नहीं लेती, तब उसे स्वतन्त्र सिक्का ढलाई कहते हैं। जब सरकार जनता को यह अधिकार नहीं देती कि वह अपनी धातुएँ टकसाल में ले जाकर सिक्के ढलवायें, तब इसे सीमित सिक्का ढलाई कहते हैं।]

3

मुद्रामान
(Monetary Standard)

जिस व्यवस्था द्वारा मुद्रा का मूल्य (अथवा क्रय-शक्ति) व्यक्त किया जाता है, उसे मुद्रामान कहते हैं। आधुनिक युग मे मुद्रामान का बडा महत्त्व है। किसी भी देश का आर्थिक विकास बहुत बडी मात्रा मे मुद्रामान पर निर्भर करता है। एक अच्छा मुद्रामान देश की आर्थिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक प्रगति मे बहुमूल्य योग देता है।

मुद्रामान तथा मूल्यमान में अन्तर
(Distinction Between Monetary Standard and Standard of Value)

ऊपरी तौर पर देखने मे मुद्रामान तथा मूल्यमान म कुछ भी अन्तर दिखायी नही पडता और कभी-कभी तो अर्थशास्त्री भी दोनो शब्दो का एक ही अर्थ मे प्रयोग करते हैं। परन्तु वास्तव मे इन दोनो शब्दो मे बहुत अन्तर है। **मूल्यमान से अभिप्राय उस मुद्रा की इकाई से होता है, जिसमे वस्तुओं एव सेवाओं की कीमतें व्यक्त की जाती हैं।** उदाहरणार्थ, भारत मे रुपया, ग्रेट ब्रिटेन मे पौण्ड (Pound), अमरीका मे डॉलर (Dollar) तथा रूस मे रूबल (Rouble) मूल्यमान के कार्य सम्पन्न करते हैं। इसके विपरीत, मुद्रामान अधिक व्यापक शब्द है। इसमे मूल्यमान के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सी बातें सम्मिलित होती हैं। वास्तव मे, मुद्रामान के अन्तर्गत सभी प्रकार के मुद्रा सम्बन्धी नियम सम्मिलित किये जा सकते है। जैसा विदित है, प्रत्येक देश मे मानक सिक्को के अतिरिक्त कई प्रकार के प्रतीक सिक्के भी प्रचलित होते हैं। इनके साथ ही साथ कागजी नोटो का भी चलन होता है। मूल्यमान मे ये सभी प्रकार की गौण मुद्राएँ सम्मिलित नही होती। मूल्यमान तो केवल प्रधान मुद्रा से ही सम्बन्धित होता है। **मुद्रामान मे मुद्रा-नियन्त्रण सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, मूल्यमान मे धातुओ के क्रय-विक्रय तथा उनकी आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यवस्थाएँ सम्मिलित होती है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नीति भी मुद्रामान का ही एक अग होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रामान मूल्यमान की अपेक्षा अधिक विस्तृत शब्द है। वास्तव मे, मूल्यमान मुद्रामान का ही अग होता है।**

मुद्रामान के भेद
(Types of Monetary Standard)

मुद्रामान के दो भेद है—(क) धातुमान (Metallic Standard), (ख) कागजी मान (Paper Standard)। धातुमान के अन्तर्गत, किसी धातु को ही मूल्यमान के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु कागजी मान मे कागजी मुद्रा ही मूल्य के मान के रूप मे इस्तेमाल की जाती है। धातुमान क प्रमुख रूप निम्नलिखित है

(1) एक-धातुमान (Monometallism)—**एक-धातुमान के अन्तर्गत केवल एक ही धातु का मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाता है।** इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(क) जैसा कहा जा चुका है, एक-धातुमान के अन्तर्गत केवल एक ही धातु का मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता है। यह धातु प्राय सोना अथवा चांदी ही होती है।

(ख) देश का मुख्य सिक्का सोने अथवा चाँदी का बना होता है। लेकिन छोटे छोटे सौदो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए हल्की धातुओ से बने हुए कई प्रकार के प्रतीक सिक्के भी होते है।

(ग) देश का प्रधान सिक्का असीमित विधिग्राह्य होता है, परन्तु प्रतीक सिक्के केवल सीमित विधिग्राह्य ही होते है।

(घ) प्रमुख सिक्के का टंकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर किया जाता है, अर्थात् जनता को यह अधिकार होता है कि मनचाही मात्रा मे धातुएँ ले जाकर टकसाल मे सिक्के ढलवा ले।

(ङ) यदि देश का प्रधान सिक्का सोने का बना होता है तो मुद्रा-प्रणाली को स्वर्णमान (Gold Standard) कहा जाता है। इसके विपरीत, यदि देश का प्रमुख सिक्का चाँदी का बना होता है तो मुद्रा प्रणाली को रजतमान (Silver Standard) कहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे सन् 1931 तक स्वर्णमान प्रचलित था और भारत मे सन् 1893 तक रजतमान क्रियाशील था।

एक-धातुमान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(क) सरलता—एक धातुमान मे सरलता का गुण होता है। चूंकि इसके अन्तगत एक ही धातु का मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाता है, इसीलिए साधारण जनता के लिए इसे समझना आसान है।

(ख) जनता का विश्वास—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत देश का प्रधान सिक्का सोने अथवा चाँदी का बना होता है, इसलिए जनता का इसमे अधिक विश्वास होता है।

(ग) विदेशी व्यापार मे सुविधा—जब इस प्रणाली को बहुत-से देशो द्वारा एक साथ अपनाया जाता है तो इससे विदेशी व्यापार मे बड़ी सुविधा रहती है। जैसा विदित है, स्वर्णमान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला था।

(घ) ग्रेशम का नियम (Gresham's Law) क्रियाशील नहीं होता—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रधान सिक्के एक ही मुद्रा के बने हुए होते हैं इसलिए इसमे ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता का भय कम रहता है। इसके विपरीत, द्विधातुमान (Bimetallism) के अन्तर्गत तो ग्रेशम का नियम लगभग अनिवार्य रूप से क्रियाशील होता है।

एक-धातुमान के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(क) एक-धातुमान विश्व के सभी देशो द्वारा नहीं अपनाया जा सकता—चूंकि विश्व मे सोने अथवा चाँदी की कुल मात्रा सभी देशो की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है, इसलिए विश्व के सभी देश एक साथ इस प्रणाली को नहीं अपना सकते।

(ख) कीमत-स्तर मे अस्थिरता—इस प्रणाली के अन्तगत देश के आन्तरिक कीमत-स्तर मे प्राय स्थिरता का अभाव रहता है। इसका कारण यह है कि किसी एक धातु की कीमत पूर्णत स्थिर नही होती। समय समय पर मांग तथा पूर्ति मे हुए परिवर्तनो के परिणामस्वरूप धातु की कीमत मे परिवर्तन होते रहते हैं। जब मुद्रा धातु की कीमत मे परिवर्तन होते हैं तो फिर मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता कैसे रह सकती है? अर्थात् सामान्य कीमतो मे स्थिरता बनाये रखना असम्भव हो जाता है। यदि हम विश्व के 19वी शताब्दी के आर्थिक इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि समय-समय पर सोने अथवा चांदी की कीमतो मे भारी परिवर्तन होते रहे है। इन परिवर्तनो के परिणामस्वरूप मुद्रा के मूल्य मे भी परिवर्तन हुए और आन्तरिक कीमत स्तर मे भारी उतार चढाव आये।

(ग) लोच का अभाव—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे लोच (elasticity) का होना आवश्यक होता है अर्थात् मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसके अधीन आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा का विस्तार एव सकुचन सुगमता से किया जा सके। परन्तु एक धातुमान प्रणाली मे लोच के इस गुण का अभाव रहता है। आवश्यकता पड़ने पर इस प्रणाली के अन्तगत सरकार मुद्रा की पूर्ति

को नही बढा सकती जब तक कि उसके पास सोना अथवा चाँदी जैसी मूल्यवान धातुएँ उपलब्ध न हो। सकटकाल मे तो इस प्रणाली मे कभी कभी बहुत परेशानी का सामना करना पडता है, क्योकि ऐसे समय मे सरकार प्राय. मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करना आवश्यक समझते हुए भी ऐसा नही कर सकती। इसी कारण प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कुछ देशो को स्वर्णमान का परित्याग करना पडा था।

(2) द्विधातुमान (Bimetallism)—जब किसी देश मे दो धातुओ (अर्थात् सोना व चाँदी) के मानक सिक्के एक साथ चलन में होते हैं तो इस प्रकार की प्रणाली को द्विधातुमान कहते हैं। द्विधातुमान की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(क) इस प्रणाली के अन्तर्गत देश के मानक सिक्के सोने तथा चाँदी के बने हुए होते है और ये दोनो सिक्के एक साथ चलन मे रहते हैं।

(ख) इन सिक्को को एक-दूसरे मे बदलने की दर सरकार द्वारा पहले से ही घोषित कर दी जाती है।

(ग) ये दोनो सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते हैं और ऋणी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी सिक्के मे ऋण का भुगतान कर सकते हैं।

(घ) ये दोनो सिक्के पूर्णकाय मुद्रा (full-bodied money) होते हैं, अर्थात् इनके अंकित एव यथार्थ मूल्य बराबर होते हैं।

(ङ) इन दोनो प्रकार के सिक्को का टकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर होता है। जनता को यह अधिकार होता है कि दोनो धातुओ या उनमे से किसी एक धातु को टकसाल मे ले जाकर उसके मानक सिक्के ढलवा ले।

(च) सोने तथा चाँदी के आयात व निर्यात पर सरकार द्वारा किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाता।

19वी शताब्दी मे पश्चिमी यूरोप के कुछ देशो मे तथा सयुक्त राज्य अमरीका मे द्विधातुमान प्रणाली प्रचलित रही। सर्वप्रथम सन् 1742 मे अमरीका ने द्विधातुमान को अपनाया था। परन्तु सन् 1879 मे इसका अमरीका द्वारा परित्याग कर दिया गया था। सन् 1803 मे फ्रास ने इस प्रणाली को अपनाया था। सन् 1853 तक यह प्रणाली फ्रास मे सफलतापूर्वक कार्य करती रही थी। सन् 1865 मे फ्रास, स्विट्जरलैण्ड, बेल्जियम, इटली जैसे देशो ने अपना एक मौद्रिक सघ (Monetary Union) बनाया और द्विधातुमान प्रणाली को अपनाने का निश्चय किया। परन्तु चाँदी की पूर्ति मे अकस्मात वृद्धि होने के परिणामस्वरूप शीघ्र ही इन देशो मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील होने लगा। स्वर्ण मुद्रा चलन से अदृश्य हो गयी और केवल चाँदी की मुद्रा ही चलन मे रह गयी। इस प्रकार इन यूरोपीय देशो का उक्त सघ भग हो गया। 19वी शताब्दी के अन्त मे दो बड़े अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्मेलनो ने द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने की सिफारिश की थी। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन जैसे स्वर्णमान वाले देशो ने द्विधातुमान का कडा विरोध किया था, जिसके परिणामस्वरूप उक्त सिफारिश क्रियान्वित न की जा सकी। अब 20वी शताब्दी मे द्विधातुमान का कुछ भी महत्त्व नही रहा है और यह केवल एक इतिहास का विषय बनकर ही रह गया है।

द्विधातुमान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

(क) *द्विधातुमान के अन्तर्गत पर्याप्त प्रारक्षित निधि की व्यवस्था की जा सकती है*—जैसा स्पष्ट है, एक-धातुमान के अन्तर्गत पर्याप्त प्रारक्षित निधि (reserve fund) की व्यवस्था नही की जा सकती। इसका कारण है कि एक-धातुमान के अधीन केवल एक ही धातु प्रारक्षित निधि मे रखी जाती है। चूँकि एक धातु (सोना अथवा चाँदी) की पूर्ति पर्याप्त नही हो सकती इसलिए एक धातुमान के अन्तर्गत कभी-कभी मुद्रा की परिवर्तनशीलता (Convertibility) को स्थगित कर दिया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कई बार स्वर्णमान वाले देशो ने स्वर्ण कोष की कमी के कारण मुद्रा की परिवर्तनशीलता का परित्याग किया, जिससे जनता का इन देशो की मुद्राओ मे विश्वास कम हो गया था। परन्तु द्विधातुमान के अन्तर्गत यह कठिनाई उत्पन्न नही होती। द्विधातुमान के अधीन प्रारक्षित निधि मे सोना व चाँदी दोनो ही रखे जाते है जिससे मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना आसान हो जाता है। एक धातुमान मे चूँकि एक ही

धातु का प्रयोग किया जाता है, इसलिये धातु-पूर्ति की कमी के कारण मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन हो जाता है। इस प्रकार द्विधातुमान मे प्रारक्षित निधि की पर्याप्तता के फलस्वरूप मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना आसान होता है।

(ख) कीमत-स्तर मे स्थिरता—एक अच्छे मुद्रामान मे मुद्रा का मूल्य यथासम्भव स्थिर रहना चाहिए, अर्थात् कीमतो मे भारी उतार-चढाव नही होने चाहिए। इस दृष्टिकोण से द्विधातुमान प्रणाली आदर्श मानी जाती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत कीमत स्तर मे स्थिरता लायी जा सकती है। जब द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाता है, तब सोने व चाँदी मे से किसी एक धातु की कमी का दूसरी धातु के उत्पादन से दूर किया जा सकता है। इस प्रकार दोनो धातुओं के मूल्यो मे स्थिरता लायी जा सकती है। इस सम्बन्ध मे प्रो॰ जेवन्स (Jevons) ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार यदि नशे मे चूर दो शराबी व्यक्ति साथ-साथ सडक पर चलते हैं तो वे अवश्य ही गिरेंगे। हो सकता है कि एक बायी ओर को गिरे और दूसरा दायी ओर को। परन्तु इन दोनो व्यक्तियो को आपस मे बाँध दिया जाय तो फिर ये गिर नही सकते, क्योंकि यदि एक व्यक्ति दायी ओर को गिरता है तो दूसरा बायी ओर को गिरेगा जिससे दोनो का सन्तुलन बना रहेगा और गिरने नही पायेंगे। इसी प्रकार द्विधातुमान के अन्तर्गत चाँदी की कमी सोने के अधिक उत्पादन से या सोने की कमी चाँदी के अधिक उत्पादन से दूर की जा सकती है। परिणामत द्विधातुमान के अन्तर्गत कीमतो मे स्थिरता बनी रहती है। इसके विपरीत, एक-धातुमान के अन्तर्गत धातु की पूर्ति मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति मे भी परिवर्तन होते रहते है। इससे कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित नही की जा सकती।

(ग) विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन—द्विधातुमान के अन्तर्गत विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इसके दो मुख्य कारण है—**प्रथम,** द्विधातुमान मे सोने व चाँदी दोनो ही धातुओ के मानक सिक्के प्रचलित होते हैं। अत द्विधातुमान वाला देश स्वर्णमान एव रजतमान वाले दोनो ही प्रकार के देशो से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। द्विधातुमान वाले देशो को दोनो ही प्रकार के देशो (अर्थात् स्वर्णमान तथा रजतमान वाले देशो) की मुद्राओ के साथ विनिमय-दर निश्चित करने मे सुविधा रहती है। **दूसरे,** चूँकि द्विधातुमान के अन्तर्गत देश के आयातो व निर्यातो पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता, इसलिए विनिमय दर मे भारी परिवर्तन नही होते, अर्थात् विनिमय दर मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है। इससे देश के विदेशी व्यापार को बढाने मे सहायता मिलती है।

(घ) इसके अन्तर्गत बैंक अपने कोषो का निर्धारण किफायत पूर्वक कर लेते हैं और इसके साथ ही साथ ब्याज की दर मे भी कमी हो जाती है—द्विधातुमान के अन्तर्गत देश के बैंक अपने कोषो की व्यवस्था बहुत आसानी तथा किफायतपूर्ण ढग से कर सकते है। इसका कारण यह है कि द्विधातुमान के अधीन सोने तथा चाँदी दोनो ही धातुओ के सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते है। बैंक अपनी इच्छानुसार अपने कोषो मे दोनो या दोनो मे से किसी एक मुद्रा को रखने मे स्वतन्त्र होते है। इसके अतिरिक्त, चूँकि द्विधातुमान के अन्तर्गत मुद्रा दो अलग-अलग धातुओं की बनी होती है, इसलिए *मुद्रा की पूर्ति प्राय अधिक रहती है जिसके परिणामस्वरूप ब्याज की दरें* कम हो जाती हैं और बैंक व्यापारियो एव उद्योगपतियो को कम ब्याज की दरो पर ऋण दे सकते हैं। इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है।

द्विधातुमान के दोष—इसके दोष निम्नलिखित है

(क) द्विधातुमान मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील होता है—द्विधातुमान, वास्तव मे एक अस्थायी मान है। कोई भी देश दीर्घकाल तक इसे नही चला सकता। द्विधातुमान तभी स्थायी हो सकता है जब इसे सभी देशो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाय। यदि द्विधातुमान केवल एक ही देश द्वारा अपनाया जाता है तो शीघ्र ही ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता के कारण उसे द्विधातुमान का परित्याग करना पडेगा। मान लीजिए, *किसी देश मे सोने व चाँदी के दो* प्रकार के मानक सिक्के हैं और सरकार द्वारा इनको एक दूसरे मे बदलने की दर 1 : 15 निश्चित की गयी है, अर्थात् सोने का एक सिक्का चाँदी के 15 सिक्को से बदला जा सकता है। इसको हम टकसाल दर (Mint Rate) कह सकते हैं। परन्तु यह आवश्यक नही कि इन धातुओं की बाजार दर (Market Rate) भी 1 : 15 होगी। यदि बाजार दर 1 : 16 हो जाती है तो

द्विधातुमान अधिक समय तक चल नही सकता, क्योंकि इस दर पर सोने का बाजार मूल्य टकसाल मूल्य की तुलना मे बढ जाता है। अत सोने की मुद्रा एक अच्छी मुद्रा बन जाती है और चांदी की मुद्रा घटिया मुद्रा हो जाती है। ग्रेशम का नियम क्रियाशील हो जाता है और घटिया मुद्रा (चाँदी की) अच्छी मुद्रा (सोने की) को चलन से बाहर निकाल देती है, अर्थात् सोने के सिक्के लुप्त हो जाते है और चाँदी के सिक्के चलन मे शेष रह जाते है। इस प्रकार द्विधातुमान अन्तत एक धातुमान मे परिवर्तित हो जाता है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि द्विधातुमान तब तक ही जारी रह सकता है जब तक कि दोनो धातुओ की टकसाल दर व बाजार दर एक समान रहे। चूंकि बाजार दर को नियन्त्रित करना एक देश के लिए सम्भव नही होता, इसलिए सभी देशो को मिलकर सोने व चाँदी की बाजार दर पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय द्विधातुमान (national bimetallism) सम्भव नही हो सकता। केवल अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान (international bimetallism) ही सम्भव हो सकता है।

(ख) लेन-देन मे असुविधा—द्विधातुमान के अन्तर्गत जब टकसाल दर तथा बाजार दर मे अन्तर हो जाता है तो उस समय ऋणी (debtors) अपने ऋणो का भुगतान सस्ती धातु मे करना चाहते है, जबकि ऋणदाता (creditor) ऋणो का भुगतान महँगी धातु मे लेना पसन्द करते है। फलत ऋण भुगतान के कार्यों मे उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं।

(ग) टकसाल दर तथा बाजार दर मे समानता बनाये रखना कठिन होता है—जैसा पहले कहा जा चुका है, द्विधातुमान सफलतापूर्वक तभी चल सकता है जबकि टकसाल दर तथा बाजार दर मे समानता बनी रहे। परन्तु व्यवहार मे इन दोनो दरो के बीच समानता बनाये रखना असम्भव नही तो कठिन अवश्य होता है।

(घ) सट्टेबाजी को प्रोत्साहन—द्विधातुमान के अन्तर्गत जब दोनो धातुओ की बाजार दर तथा टकसाल दर मे अन्तर उत्पन्न हो जाता है तो इससे सट्टेबाजी (speculation) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। सटोरिये इन दरो के अन्तर का लाभ उठाते हुए सट्टे को प्रोत्साहन देते है।

द्विधातुमान के दोषों को दूर करने के उपाय—जैसा ऊपर बताया गया है, द्विधातुमान के मुख्य दोष ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता के कारण ही उत्पन्न होते है। अत द्विधातुमान के पक्षपातियो ने इसके दोषो के निवारण के दो निम्नलिखित उपाय सुझाये है

(क) टकसाल दर को बाजार दर के अनुसार परिवर्तित किया जाय—द्विधातुमान को स्थायी बनाने के लिए प्रथम सुझाव तो यह है कि जब कभी बाजार दर तथा टकसाल दर मे असमानता उत्पन्न हो जाय तब टकसाल दर को बाजार दर के अनुसार ही परिवर्तित कर देना चाहिये। सन् 1847-48 मे फ्रास ने, सोने की पूर्ति बढ जाने पर टकसाल दर मे बाजार दर के अनुसार परिवर्तन करके द्विधातुमान को स्थिर बनाने का प्रयत्न किया था।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की स्थापना की जाय—जैसा पहले कहा जा चुका है, राष्ट्रीय द्विधातुमान सफल नही हो सकता। द्विधातुमान को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया जाय। जब विश्व के प्रमुख देश द्विधातुमान को एक साथ अपना लेते हैं तब टकसाल दर तथा बाजार दर मे समानता स्थापित करना आसान हो जाता है। इसका मुख्य कारण द्विधातुमान की क्षतिपूरक क्रिया (compensating action) है। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान मे क्षतिपूरक क्रिया के परिणामस्वरूप द्विधातुमान वाले सभी देशों में बाजार दर अन्तत टकसाल दर के बराबर हो जाती है जिससे सभी देशो मे द्विधातुमान सफलतापूर्वक कार्य करता रहता है। इसलिए द्विधातुमान प्रणाली के दोषो का निवारण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की स्थापना का सुझाव 19वी शताब्दी के अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलनो द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान के अन्तर्गत क्षतिपूरक क्रिया की कार्यशीलता

(Working of the Compensatory Action Under Bimetallism)

अब हम यह देखेंगे द्विधातुमान के अन्तर्गत क्षतिपूरक क्रिया किस प्रकार कार्यशील होती

है। मान लीजिए, किसी द्विधातुमान वाले देश मे सोने तथा चाँदी दोनो के ही सिक्के प्रचलित हैं और सोने व चाँदी की टकसाल दर उनकी बाजार दर के बराबर है, अर्थात् यह दर 1 : 15 है। अब मान लीजिए कि सोने व चाँदी की टकसाल दर तो ज्यो की त्यो बनी रहती है, परन्तु इनकी बाजार दर मे चाँदी की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप परिवर्तन हो जाता है और यह दर अब 1 : 15 के बजाय 1 : 16 हो जाती है। इस परिस्थिति मे, जैसा स्पष्ट है, सोने का टकसाल मूल्य (mint price) कम हो जाता है। बाजार मे 1 इकाई सोने के बदले 16 इकाइयाँ चाँदी की उपलब्ध होती है जबकि टकसाल दर के अनुसार 1 इकाई सोने के बदले केवल 15 इकाइयाँ ही चाँदी की उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट है कि सोने का बाजार मूल्य बढ गया है। इस बढे हुए मूल्य का लाभ उठाने हेतु अब लोग सोने के सिक्को को गलाकर बाजार मे इसके बदले चाँदी खरीदना शुरू कर देंगे और चाँदी को टकसाल मे सिक्का ढलाई के लिए पेश करेंगे। इस प्रकार बाजार मे धीरे-धीरे चाँदी का अभाव हो जायगा क्योकि इसका उपयोग अधिकाधिक मात्रा मे अब सिक्के ढलवाने के लिए किया जाता है। इसके विपरीत, बाजार मे सोने की बहुतायत हो जायगी, क्योंकि इसे सिक्का-ढलाई के लिए टकसाल नही भेजा जाता बल्कि, जैसा पूर्व कहा गया है, सोने के सिक्को को गलाकर बाजार मे लाया जाता है। इस प्रकार सोने की अधिकता और चाँदी के अभाव के कारण बाजार मे इन दोनो धातुओ की विनिमय-दर धीरे-धीरे कम होने लगेगी। दूसरे शब्दो मे, 1 इकाई सोने के बदले मे बाजार मे चाँदी 16 इकाइयो से कम मिलने लगेगी और अन्त मे, इन दोनो धातुओं की बाजार दर इनकी टकसाल दर के बराबर हो जायगी। **इस प्रकार बाजार से चाँदी का सिक्का ढलवाने के लिए टकसाल को जाना और सोने का टकसाल से बाजार में लौट आना क्षतिपूरक क्रिया कहलाती है और यह क्रिया उस समय तक कार्यशील रहती है जब तक कि बाजार दर अन्ततः टकसाल दर के बराबर नहीं हो जाती।**

परन्तु यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि क्षतिपूरक क्रिया तभी कार्यशील होती है जबकि सभी देशो मे सोने व चाँदी की बाजार दर एकसमान रहे, न कि केवल एक ही देश मे। जब द्विधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपना लिया जाता है और सोने व चाँदी के आयात तथा निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता तब सभी देशो मे सोने चाँदी की बाजार दर एकसी रहती है। यदि किसी एक देश मे सोने व चाँदी की बाजार दर मे परिवर्तन हो जाता है तब विदेशो से इन धातुओ के आयात अथवा निर्यात द्वारा उस देश मे पुन बाजार दर टकसाल दर के बराबर हो जाती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के अन्तर्गत एक देश की सोने व चाँदी की बाजार दर किसी दूसरे देश से अधिक समय तक भिन्न नही रह सकती। यदि किसी देश मे सोने का मूल्य अधिक हो जाता है तो सभी देशो से सोना उस देश को आने लगेगा और चाँदी के सिक्के विदेशो को जाने लगेंगे, जिसके परिणामस्वरूप उस देश मे सोने का मूल्य कम हो जायगा।

निष्कर्ष—अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि द्विधातुमान तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जबकि सभी प्रमुख देशो द्वारा इसे अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपनाया जाय। परन्तु आज की दुनिया मे अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के अपनाये जाने की बिलकुल ही सम्भावना नही है। आज तो सभी देशो मे कागजी मान प्रचलित है और दिन प्रतिदिन इसकी लोकप्रियता बढती जा रही है। आज विश्व मे शायद ही कोई देश द्विधातुमान को अपनाने के लिए तैयार हो। सन् 1944 के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था। अत द्विधातुमान का आज केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है।

पंगु द्विधातुमान
(Limping Standard)

इस मान मे द्विधातुमान की भाँति सोने व चाँदी दोनो के ही सिक्के प्रचलित होते हैं। दोनो सिक्के मानक सिक्के होते हैं और दोनो ही असीमित विधिग्राह्य होते हैं। दोनो के बीच की विनिमय-दर भी सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है। इस प्रकार यह मान द्विधातुमान की तरह ही है, परन्तु इसमे एक आधारभूत अन्तर होता है। जैसा हम देख चुके हैं, द्विधातुमान के अधीन तो दोनो धातुओ का टकण खुली सिक्का ढलाई (Free Coinage) प्रणाली के आधार पर होता है। परन्तु पगु द्विधातुमान मे किसी एक धातु के सिक्के की ढलाई खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर होती है और दूसरे सिक्के की ढलाई खुली सिक्का ढलाई प्रणाली पर नही होती,

अर्थात् एक सिक्के का टकण तो स्वतन्त्र होता है परन्तु दूसरे सिक्के का टकण स्वतन्त्र नही होता। इस मान को पगु द्विधातुमान इसलिए कहते हैं क्योकि इसके अन्तर्गत एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र नही होती और यह सिक्का बडी कठिनाई से चालू रहता है, अर्थात् यह सिक्का लँगडाकर चलता है। साधारणत इस मान मे सोने के सिक्को का टकण खुली सिक्का ढलाई के आधार पर होता है। परन्तु चाँदी के सिक्को का टकण पूर्णत सरकार अपने लिये सुरक्षित रखती है। दूसरे शब्दो मे, चाँदी का सिक्का मानक सिक्का होते हुए भी स्वतन्त्र रूप मे नही ढाला जाता, अर्थात् साधारण जनता को चाँदी टकसाल मे ले जाकर सिक्के ढलवाने का अधिकार नही होता। इस मान का केवल एक ही उदाहरण हमारे पास है। सन् 1803 मे इस प्रकार के मान को फ्रांस द्वारा थोडे समय के लिए अपनाया गया था।

व्यकल्पित अथवा समान्तर द्विधातुमान
(Parallel Bimetallic Standard)

इस मान मे द्विधातुमान की भाँति सोने और चाँदी दोनो धातुओ के सिक्के प्रचलित होते हैं। दोनो सिक्के मानक सिक्के होते हैं और दोनो ही असीमित विधिग्राह्य होते हैं। दोनो सिक्को की ढलाई भी खुली सिक्का ढलाई प्रणाली (Free Coinage) के आधार पर होती है, अर्थात् साधारण जनता को दोनो धातुओ के सिक्के ढलवाने का अधिकार होता है। परन्तु द्विधातुमान की भाँति इस मान मे दोनो सिक्को के बीच की विनिमय-दर सरकार द्वारा स्थायी आधार पर निश्चित नही की जाती बल्कि यह समय-समय पर सरकार द्वारा बाजार दर के बराबर लायी जाती है। इस प्रकार दोनो सिक्को के बीच की टकसाल दर स्थिर नही रहती, बल्कि इसम दोनो धातुओ की कीमतो मे परिवर्तनो के साथ-साथ फेर बदल होते रहते हैं। चूँकि इस मान मे चाँदी के सिक्के सोने के सिक्को के साथ बाजार मूल्यो पर बदले जाते हैं, इसलिए ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता। परन्तु इस मान की सबसे बडी त्रुटि यह है कि दोनो सिक्को की टकसाली विनिमय-दर निश्चित नही होती, जिसके कारण इसमे समय-समय पर भारी परिवर्तन होते रहते हैं और व्यापारियो को कठिनाइयो एव असुविधाओ का सामना करना पडता है।

बहु-धातुमान
(Multi metallism)

बहु धातुमान प्रणाली के अन्तर्गत कई धातुओ का एक साथ मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक धातु के सिक्को का टकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर किया जाता है। सभी सिक्के मानक एव असीमित विधिग्राह्य होते हैं। सभी प्रकार के सिक्कों के बीच की विनिमय-दर सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है और ऋणियो (debtors) को किसी भी सिक्के मे ऋण चुकाने का अधिकार होता है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बहु धातुमान प्रणाली ठीक ही प्रतीत होती है। परन्तु व्यवहार मे इस प्रणाली से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। बहु धातुमान के अधीन विभिन्न प्रकार के सिक्को के बीच की विनिमय-दर को बनाय रखना बहुत कठिन होता है, क्योकि बाजार म विभिन्न धातुओ की कीमतो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। यही कारण है कि बहु धातुमान प्रणाली को अभी तक किसी भी देश ने नही अपनाया है, यद्यपि इस मान मे कीमतो की स्थिरता को बनाये रखने की बहुत बडी सम्भावना होती है।

मिश्रित धातुमान
(Symmetallism)

इस मान का सुझाव सर्वप्रथम सन् 1881 मे डॉ० मार्शल द्वारा प्रस्तुत किया गया था। जैसा हम देख चुके हैं द्विधातुमान के असफल होने का मुख्य कारण ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता था। वास्तव मे, डॉ० मार्शल एक ऐसा मान प्रतिपादित करना चाहते थे जिसमे द्विधातुमान के तो सभी गुण विद्यमान हो परन्तु ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता की सम्भावना न रहे। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने मिश्रित धातुमान का सुझाव दिया था। उनके मतानुसार मिश्रित धातुमान मे निम्नलिखित बातें सम्मिलित होनी चाहिए

(क) सोने तथा चाँदी—दोनो धातुओ का एक ही साथ मूल्यमान के रूप मे प्रयोग किया जाय ।

(ख) साधारण जनता को मुद्रा को सोने तथा चाँदी मे बदलने की सुविधा नही होनी चाहिए ।

(ग) सोने व चाँदी दोनो को एक निश्चित अनुपात मे मिलाकर एक छड (bar) तैयार की जाय और लोगो को मुद्रा को केवल इसी छड मे बदलने की सुविधा दी जाय । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कागजी मुद्रा के बदले मे दोनो ही धातुओ को अनिवार्य रूप मे ग्रहण करना पडेगा । परिणामत ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही हो सकेगा, क्योकि सोने तथा चाँदी की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो का इस मान पर कुछ भी प्रभाव नही पडेगा ।

डॉ० मार्शल का यह सुझाव सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अच्छा है परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से नही । इसलिए किसी देश द्वारा मिश्रित धातुमान को नही अपनाया गया है ।

सूचकांक मान
(Tabular or Index Number Standard)

इस प्रकार के मान का सुझाव सर्वप्रथम एक अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो० फिशर (Fisher) द्वारा प्रस्तुत किया गया था । प्रो० फिशर के अनुसार एक अच्छा मुद्रामान वह होता है जो देश मे वस्तुओ एव सेवाओ की कीमतो मे स्थिरता बनाये रखे । इसी को ध्यान मे रखते हुए प्रो० फिशर ने सूचकांक मान का सुझाव दिया था । उनके अनुसार केवल इसी मान के अन्तर्गत कीमत-स्तर मे स्थिरता बनाये रखी जा सकती है । इस प्रणाली के अनुसार एक आधार वर्ष (base year) चुन लिया जाता है और इसी वर्ष की कीमतो को आधार मानते हुए देश मे सामान्य कीमतो के सूचकाक (General Price Index Number) बना लिये जाते है । भविष्य मे इन्ही सूचकाको के अनुसार मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है । परन्तु स्मरण रहे कि एक बार निश्चित किया गया मुद्रा मूल्य सदा के लिये स्थिर नही रहता, बल्कि समय-समय पर कीमतो के परिवर्तनो के अनुसार उसमे भी परिवर्तन किये जाते हैं । इससे लाभ यह होता है कि स्थगित भुगतानो मे एक प्रकार की समता बनी रहती है और देश के किसी भी वर्ग (ऋणदाताओ तथा ऋणियो) को आर्थिक हानि नही होती । मान लीजिए कि देश मे कीमतो का सूचकाक 5 प्रतिशत बढ जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा का मूल्य 5 प्रतिशत घट गया है । ऐसी परिस्थिति मे सूचकाक मान के अन्तर्गत सरकार सोने के मूल्य को नियमानुसार 5 प्रतिशत कम कर देगी । इससे देश मे मुद्रा की मात्रा मे स्वत ही कमी हो जायगी । इसके परिणामस्वरूप कीमतें गिर जायेंगी और मुद्रा का मूल्य बढ जायगा । इसी प्रकार यदि कीमतो का सूचकाक 5 प्रतिशत घट जाता है तो इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा का मूल्य 5 प्रतिशत बढ गया है । ऐसी परिस्थिति मे सरकार सोने के मूल्य को नियमानुसार 5 प्रतिशत बढा देगी । इससे देश मे मुद्रा की मात्रा मे स्वत ही वृद्धि हो जायगी, कीमतें बढ जायेगी और मुद्रा का मूल्य कम हो जायगा ।

इस प्रणाली का सबसे बडा गुण यह है कि इसके अन्तर्गत सामान्य कीमतो तथा मुद्रा के मूल्य मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है । इससे समाज के सभी वर्गों को लाभ होगा । व्यापार तथा वाणिज्य को प्रोत्साहन मिलेगा । परन्तु इस प्रणाली की मुख्य कठिनाई यह है कि इसे व्यवहार मे कैसे लाया जाय । प्रथम सामान्य कीमतो के सूचकाक बनाने मे सरकार को कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडेगा । यदि सामान्य कीमतो के सूचकाक बना भी लिये जायँ तो भी इस बात की कोई गारण्टी नही कि वे कीमतो के बारे मे सही-सही जानकारी प्रस्तुत करेंगे । जब सामान्य कीमतो के सूचकाक ही विश्वसनीय नही हैं, तब उनके आधार पर सरकार सोने के मूल्य मे कैसे परिवर्तन कर सकती है । दूसरे, सामान्य कीमतो के सूचकाक केवल भूतकाल से ही सम्बन्धित होते हैं । वर्तमान तथा भविष्य के लिए उनका प्रयोग कोई विशेष महत्व नही रखता । इन्ही त्रुटियो के कारण सूचकाक मान को असन्तोषजनक माना गया है और आज तक किसी भी देश ने इसे अपनाने का प्रयत्न नही किया है ।

प्रादिष्ट मान
(Fiat Standard)

धातुमान में (चाहे वह किसी प्रकार का हो) मानक सिक्के की कीमत धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है। परन्तु प्रादिष्ट मान के अन्तर्गत मुद्रा की इकाई की कीमत किसी धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखी जाती। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की इकाई का धातु के साथ किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रो० कैण्ट (Kent) के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा में तीन मुख्य विशेषताएँ पायी जाती हैं

(क) इस मुद्रा का यथार्थ मूल्य (intrinsic value) लगभग शून्य होता है।

(ख) इसको ऐसी किसी वस्तु में परिवर्तित नहीं किया जा सकता जिसका मूल्य इस मुद्रा के अंकित मूल्य (face value) के बराबर हो।

(ग) इसकी क्रय शक्ति को सोने अथवा अन्य किसी वस्तु की कीमत के बराबर नहीं रखा जाता।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि **प्रादिष्ट मुद्रा एक ऐसी कागजी मुद्रा होती है जिसको न तो सोने में और न किसी अन्य वस्तु में परिवर्तित किया जा सकता है।** इसकी क्रय शक्ति भी सोने अथवा अन्य किसी वस्तु से निश्चित नहीं की जाती। यदि कोई मुद्रा सोने में तो परिवर्तनशील नहीं है परन्तु इसके मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखा जाता है, तब इस प्रकार की मुद्रा प्रादिष्ट मुद्रा नहीं कहला सकती। जैसा पहले कहा गया है, प्रादिष्ट मुद्रा का धातु से बिलकुल किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

प्रादिष्ट मुद्रा की स्थापना दो प्रकार से की जा सकती है

(क) सरकार स्वयं ऐसे कागजी नोटों का निर्गमन करती है जो किसी भी अवस्था में सोने अथवा अन्य किसी वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होते, अर्थात् प्रादिष्ट मान की स्थापना अपरिवर्तनशील (अविनिमेय) कागजी मुद्रा को जारी करके की जा सकती है।

(ख) धातुमान वाले देश में कागजी मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता को समाप्त करके भी प्रादिष्ट मान की स्थापना की जा सकती है। सन् 1862 से लेकर सन् 1879 तक अमरीका में प्रादिष्ट मान प्रचलित रहा था। इस अवधि में अमरीकी सरकार द्वारा ग्रीनबैक्स (Greenbacks) नामक मुद्रा जारी की गयी थी। यह मुद्रा न तो सोने में और न ही किसी अन्य वस्तु में परिवर्तनशील थी और न ही इसकी कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी गयी थी। इस तरह ग्रीनबैक्स सही अर्थों में प्रादिष्ट मुद्रा थी।

प्रादिष्ट मान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **धातुमान की अपेक्षा इसमें अधिक लोच होती है**—धातुमान की अपेक्षा प्रादिष्ट मान में अधिक लोच होती है। जैसा पहले कहा गया है, मुद्रा प्रणाली में लोच का होना एक आवश्यक गुण माना गया है। धातुमान के अन्तर्गत, अतिरिक्त (additional) मुद्रा का निर्गमन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि धातु का अतिरिक्त स्टॉक उपलब्ध न हो। कभी-कभी तो धातुमान वाले देश में आवश्यकता होने पर भी अतिरिक्त धातु-स्टॉक के अभाव में अधिक मुद्रा जारी नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि मुद्रा की इस बेलोचकता (inelasticity) के कारण देश के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। परन्तु प्रादिष्ट मान के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता। यदि देश में अधिक मुद्रा की आवश्यकता अनुभव की जाती है तो तुरन्त ही अधिक मुद्रा का निर्गमन किया जा सकता है क्योंकि अतिरिक्त मुद्रा के निर्गमन का धातुओं की उपलब्धता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

(2) **प्रबन्ध की स्वतन्त्रता**—प्रादिष्ट मान का एक गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत सरकार को मुद्रा-सम्बन्धी कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। बाहरी शक्तियाँ सरकार की इस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सरकार देश की आवश्यकताओं के अनुसार एक स्वतन्त्र आर्थिक एवं मौद्रिक नीति अपना सकती है और देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सकती है।

(3) **मुद्रा की अपरिवर्तनशीलता प्रादिष्ट मान की त्रुटि नहीं मानी जा सकती**—आलोचकों द्वारा प्रायः कहा जाता है कि प्रादिष्ट मान के अन्तर्गत कागजी मुद्रा को धातु-सिक्कों

मे बदलने की कोई गारण्टी नही दी जाती जबकि धातुमान मे कागजी मुद्रा को सिक्को मे बदलने का सरकार द्वारा पूर्ण आश्वासन दिया जाता है। इस प्रकार धातुमान प्रादिष्ट मान की तुलना मे श्रेष्ठ प्रणाली है। परन्तु यदि वास्तविक स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि धातुमान का उक्त गुण कोई विशेष गुण नही है। साधारण समयो मे तो धातुमान के अन्तर्गत बहुत कम व्यक्ति कागजी मुद्रा को धातु सिक्को मे बदलने के लिए टकसाल अथवा खजाने मे प्रस्तुत करते हैं। जनता को साधारण समयो मे सरकार पर लगभग पूरा विश्वास होता है। इसलिए कागजी मुद्रा को धातु सिक्का मे बदलने के लिए प्रस्तुत नही किया जाता। परन्तु असाधारण समयो मे (जैसे युद्धकाल मे) जनता का सरकार मे विश्वास कम हो जाता है और लोग प्राय अपनी कागजी मुद्रा को धातु सिक्का मे बदलने का प्रयत्न करते है। सरकार भी नोटो के बदले धातु सिक्के देती है। परन्तु यदि धातु सिक्को की माग बहुत बढ जाती है और सरकार के पास बढी हुई माग को सन्तुष्ट करने के लिए धातुओ का स्टाक अपर्याप्त होता है तो ऐसे समय मे सरकार कागजी नोटो की परिवर्तनशीलता को कानून द्वारा समाप्त कर देती है अर्थात कागजी नोट अपरिवर्तनशील घोषित कर दिये जाते है। युद्धकाल मे प्राय कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को समाप्त कर दिया जाता है। हमारे सामने अनेक ऐसे उदाहरण है जब सरकारो ने धातु कोष के अभाव मे कागजी मुद्रा को अपरिवर्तनशील करार दे दिया था। इस प्रकार धातुमान तक मे कागजी मुद्रा की धातु मे परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी जाती है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि असाधारण समयो मे धातुमान तथा प्रादिष्ट मान मे अन्तर ही क्या रह जाता है? वास्तव मे धातुमान के अन्तर्गत मुद्रा की परिवर्तनशीलता एक प्रकार का भ्रम ही है।

प्रादिष्ट मान के दोष

(1) **मुद्रा स्फीति का भय**—चूकि प्रादिष्ट मान के अन्तर्गत कागजी नोटो के पीछे किसी प्रकार का धातु-कोष नही रखा जाता इसलिए इसमे मुद्रा के अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने की सदैव सम्भावना रहती है। यदि आवश्यकता से अधिक मुद्रा जारी कर दी जाती है तो मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। समाज के कुछ वर्गों को बहुत आर्थिक हानि उठानी पडती है जिससे देश मे अशान्ति फैलती है और जनता का मुद्रा मे से विश्वास उठ जाता है। परन्तु धातुमान मे मुद्रा स्फीति की बिलकुल सम्भावना नही होती।

(2) **विनिमय दर मे अस्थिरता**—चूकि प्रादिष्ट मान मे कागजी मुद्रा का धातुओ से बिलकुल कोई सम्बन्ध नही रहता इसलिए देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर (foreign exchange rate) मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। परिणामत देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भारी धक्का लगता है। जैसा विदित है अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए देश को विदेशी विनिमय-दर मे निश्चितता एव स्थिरता का होना नितान्त आवश्यक है।

ग्रेशम का नियम

(Gresham s Law)

ग्रेशम के नियम का प्रतिपादन सर्वप्रथम ग्रेट ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर टामस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) द्वारा किया गया था। सर टामस ग्रेशम महारानी ऐलिजाबेथ के आर्थिक सलाहकार थे। महारानी ऐलिजाबेथ उस समय ब्रिटेन मे प्रचलित निकृष्ट सिक्को से बहुत चिंतित थी। वह पुराने तथा घिसे हुए सिक्को के स्थान पर नये पूर्णकाय सिक्के चालू करना चाहती थी। इसी विचार से महारानी ऐलिजाबेथ ने पुराने तथा घिसे हुए सिक्को को चलन मे निकालने के लिए नये पूर्णकाय सिक्को को चालू किया। उनका विचार था कि लोग धीरे धीरे पुराने व घिसे हुए सिक्को का परित्याग कर देंगे तथा नये पूर्णकाय सिक्को को अपना लेगे। परन्तु उनकी यह आशा पूर्ण नही हुई। जैसे ही नये सिक्को का चालू किया गया वैसे ही वे बाजार से अदृश्य हो गये और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के बराबर चलते रहे। महारानी ऐलिजाबेथ ने सर टामस ग्रेशम से इस घटना का कारण पूछा। सर टामस ग्रेशम ने इस घटना का स्पष्टीकरण करते हुए कहा **'बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देती है।'** (Bad money drives good money out of circulation)। ग्रेशम के इस कथन को ग्रेशम का नियम कहा जाता है।

अच्छी मुद्रा से अभिप्राय नये तथा पूर्णकाय सिक्को से है जिनका वजन एव शुद्धता ठीक सरकारी कानूनो के अनुसार होती है। जहाँ तक कागजी मुद्रा का सम्बन्ध है, अच्छी मुद्रा से अभिप्राय उन नोटो से है जो अच्छी हालत मे हैं तथा धातु सिक्को मे परिवर्तनशील हैं। इसके विपरीत, बुरी मुद्रा से अभिप्राय पुराने वजन मे कम घिसे हुए और जाली सिक्को से है। जहाँ तक कागजी मुद्रा का सम्बन्ध है, बुरी मुद्रा से तात्पर्य फटे-पुराने तथा अपरिवर्तनशील नोटो से है। **ग्रेशम के कथनानुसार जब अच्छी तथा बुरी मुद्राएँ एक साथ चलन मे होती हैं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देती है।**

डॉ० मार्शल (Marshall) ने इस नियम की परिभाषा इन शब्दो मे की है, "**यदि बुरी मुद्रा मात्रा मे सीमित नहीं है, तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।**" डॉ० मार्शल ने नियम की इस परिभाषा मे इसको परिसीमाओ का भी उल्लेख किया है। डॉ० मार्शल के अनुसार यदि किसी देश मे समान मूल्य की दो मुद्राएँ (जिनकी उत्तमता मे अन्तर है) एक साथ प्रचलन मे हैं तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देती है।

अर्थशास्त्र के अन्य नियमो की भाँति ग्रेशम का नियम भी केवल प्रवृत्ति मात्र है। यह आवश्यक नही कि सभी दशाओ मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील हो। परन्तु साधारणत इस नियम के क्रियाशील होने की सम्भावना रहती है। वास्तव मे, ग्रेशम का नियम मानव की प्रकृति (**human nature**) पर *आधारित है। जब कोई साधारण व्यक्ति किसी वस्तु को लेता है, तो* वह सबसे बढिया इकाई छाँटकर लेता है और जब उसे कोई वस्तु देनी होती है तो वह सबसे घटिया इकाई देने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जब हम सिक्को को लेते है तब हमारा प्रयत्न यही होता है कि नये पूर्णकाय सिक्का को प्राप्त किया जाय और जब हम अपने सिक्को को दूसरो को देते है तो हमारा प्रयास यही रहता है कि घटिया व घिसे हुए सिक्को को दिया जाय। जब समाज मे सभी व्यक्तियो का यही आचरण होता है तो अच्छे पूर्णकाय सिक्के प्रचलन से लुप्त हो जाते हैं और केवल घिसे हुए तथा खराब सिक्के प्रचलन मे शेष रह जाते हैं।

ग्रेशम का नियम क्यो लागू होता है ?—ग्रेशम का नियम निम्न तीन कारणो से क्रियाशील होता है

(1) **मुद्रा का संग्रह** (Hoarding of Money)—साधारण जनता मे मुद्रा को जमा करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ऐसा करने के लिए लोग प्राय नये तथा पूर्णकाय सिक्को तथा अच्छे कागजी नोटो का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार अच्छे सिक्के तथा अच्छे कागजी नोट प्रचलन से प्राय लुप्त हो जाते हैं और केवल निकृष्ट सिक्के तथा फटे पुराने नोट ही प्रचलन मे शेष रह जाते हैं।

(2) **सिक्को का पिघलाना**—कभी-कभी धातुओ के मूल्यो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप लोग सिक्को को गलाकर धातु के रूप मे बेचते हैं और लाभ कमाते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए नये तथा पूर्णकाय सिक्को को ही चुना जाता है क्योकि घिसे हुए सिक्को अथवा प्रतीक सिक्को को गलाने से कोई लाभ नही होता। इस प्रकार नये पूर्णकाय सिक्के प्रचलन से अदृश्य हो जाते हैं।

(3) **विदेशी भुगतान तथा निर्यात**—विदेशो मे प्राय देश की मुद्रा को उसके अंकित मूल्य (face value) पर स्वीकार नही किया जाता। उसे तो केवल उसके यथार्थ मूल्य (intrinsic value) पर ही ग्रहण किया जाता है अर्थात देश के बाहर सिक्को को वजन तथा शुद्धता के हिसाब से लिया जाता है। यही कारण है कि विदेशी भुगतानो के लिए नये व पूर्णकाय सिक्को का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार नये पूर्णकाय सिक्के प्रचलन से लुप्त हो जाते हैं।

नियम का क्षेत्र (Scope of the Law)—ग्रेशम का नियम निम्नलिखित दशाओ मे क्रियाशील होता है

(1) **एक-धातुमान प्रणाली के अन्तर्गत**—जैसा विदित है, इस प्रणाली के अधीन केवल एक ही धातु के सिक्के चलन मे होते हैं परन्तु इन सिक्को मे तोल तथा शुद्धता के अन्तर हो सकते हैं। एक-धातुमान की निम्न परिस्थितियाँ विचार के योग्य है

(क) जब देश में केवल मानक अथवा पूर्णकाय सिक्के प्रचलित होते हैं तब इन सिक्कों में

से कुछ तो नये होते हैं तथा कुछ पुराने। पुराने सिक्के बुरी मुद्रा कहलाते हैं और नये सिक्के अच्छी मुद्रा। ग्रेशम के नियम के अनुसार पुराने सिक्के नये सिक्कों को प्रचलन से बाहर निकाल देते हैं।

(ख) जब मानक (पूर्णकाय) तथा प्रतीक सिक्के साथ-साथ प्रचलन में होते हैं तब ऐसी परिस्थिति में प्रतीक सिक्के बुरी मुद्रा बन जाते हैं और मानक सिक्के अच्छी मुद्रा। प्रतीक सिक्के मानक सिक्कों को चलन से बाहर निकाल देते हैं। भारत में जब रानी विक्टोरिया तथा जॉर्ज पष्टम के सिक्के एक साथ चलन में थे, तब विक्टोरिया के रुपयों में जॉर्ज पष्टम के रुपयों की तुलना में चाँदी की मात्रा अधिक होने के कारण विक्टोरिया के रुपये लुप्त हो गये थे। लोगों ने विक्टोरिया के रुपयों का संग्रह करना आरम्भ कर दिया था और जॉर्ज पष्टम के रुपये ही शेष चलन में रह गये थे, अर्थात् विक्टोरिया के रुपये 'अच्छी' तथा जॉर्ज पष्टम के रुपये 'बुरी' मुद्रा बन गये थे।

(2) **द्विधातुमान प्रणाली के अन्तर्गत**—जैसा पहले कहा जा चुका है, द्विधातुमान के अन्तर्गत सोने व चाँदी के मानक सिक्के एक साथ प्रचलित होते हैं। वे दोनों ही असीमित विधिग्राह्य होते हैं और दोनों का टंकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर किया जाता है। दोनों सिक्कों के बीच की विनिमय-दर सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती है। द्विधातुमान के अधीन यदि एक धातु की कीमत में दूसरी धातु की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हो जाता है तो ऐसी दशा में दोनों धातुओं की बाजार विनिमय-दर (market rate) टकसाल दर (mint rate) से भिन्न हो जाती है। इससे एक धातु के सिक्कों का अतिमूल्यन (over-valuation) और दूसरी धातु के सिक्कों का अवमूल्यन (under-valuation) हो जाता है। अवमूल्यित मुद्रा अतिमूल्यित मुद्रा की तुलना में अच्छी होती है। इसलिए अतिमूल्यित मुद्रा अवमूल्यित मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देती है।

इसे निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—मान लीजिए कि किसी द्विधातुमान वाले देश में सोने तथा चाँदी के एक ही वजन के अर्थात् एक-एक तोले के पूर्णकाय सिक्के हैं और इन दोनों के बीच की विनिमय दर 1 : 15 है। अब मान लीजिए कि चाँदी की पूर्ति में वृद्धि होने के कारण इसकी बाजार कीमत कम हो जाती है, परन्तु सोने की कीमत ज्यों की त्यों बनी रहती है। परिणामतः सोने व चाँदी की बाजार विनिमय-दर 1 : 16 हो जाती है, जबकि टकसाल विनिमय दर अब भी 1 : 15 ही है। इस दशा में चाँदी के सिक्कों को टकसाल दर में अधिक मूल्य दिया गया है। टकसाल दर के अनुसार चाँदी की 15 इकाइयाँ 1 इकाई सोने के बराबर हैं जबकि बाजार दर के अनुसार चाँदी की 16 इकाइयाँ 1 इकाई सोने के बराबर हैं, अर्थात् टकसाल दर में चाँदी को अधिक मूल्य प्रदान किया गया है। दूसरे शब्दों में, चाँदी के सिक्कों का अतिमूल्यन (over valuation) हो गया है। इसके विपरीत, सोने के सिक्कों को टकसाल विनिमय दर में कम मूल्य दिया गया है। टकसाल दर के अनुसार 1 इकाई सोना 15 इकाई चाँदी के बराबर है, जबकि बाजार दर के अनुसार 1 इकाई सोना 16 इकाई चाँदी के बराबर है, अर्थात टकसाल दर में सोने को कम मूल्य प्रदान किया गया है। इस प्रकार सोने के सिक्कों का अवमूल्यन हो गया है। अब चाँदी के सिक्के बुरी मुद्रा बन जायेंगे और सोने के सिक्के अच्छी मुद्रा। ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता के कारण सोने के सिक्के चलन से लुप्त हो जायेंगे। अब लोग सोने के सिक्कों को पिघलाना आरम्भ कर देंगे, क्योंकि एक सोने के सिक्के को गलाकर एक तोला सोना मिल जाता है जिसे बेचकर बाजार में 16 तोले चाँदी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु टकसाल दर के अनुसार 1 तोले सोने के सिक्के के बदले में केवल 15 तोले चाँदी ही प्राप्त होती है। इस प्रकार सोने के सिक्कों को गलाकर उन्हें धातु के रूप में बेचकर लोग लाभ कमायेंगे। सोने के सिक्के अदृश्य हो जायेंगे, परन्तु चाँदी के सिक्के बराबर प्रचलन में जारी रहेंगे।

(3) ***सिक्कों तथा कागजी मुद्रा के एक साथ प्रचलन में***—यदि किसी देश में धातु के सिक्के तथा कागजी नोट साथ-साथ प्रचलित हैं, तो उस देश में धातु के सिक्के अच्छी मुद्रा बन जायेंगे और कागजी नोट बुरी मुद्रा। लोग धातु के सिक्कों का संग्रह करेंगे तथा उन्हें गलाकर धातु के रूप में बेचेंगे। फलतः धातु के सिक्के धीरे धीरे प्रचलन से बाहर चले जायेंगे और केवल कागज के नोट ही प्रचलन में शेष रह जायेंगे। धातु के प्रतीक सिक्के भी कागजी नोटों की तुलना में अच्छी मुद्रा होते हैं, क्योंकि उनको गलाकर फिर भी कुछ न कुछ धातु प्राप्त हो जाती है। परन्तु

कागज के नोटो का यथार्थ मूल्य (intrinsic value) नगण्य होता है। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान ग्रेट ब्रिटेन मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील हुआ था। उस समय ग्रेट ब्रिटेन मे सोने के सिक्को के साथ-साथ कागजी नोट भी प्रचलित थे। परन्तु ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप सोने के सिक्के लुप्त हो गये थे और प्रचलन म शेष कागजी मुद्रा ही रह गयी थी।

(4) **कागजी मुद्रा-प्रणाली मे**—कागजी मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत भी यह नियम लागू होता है। इस प्रणाली के अधीन ग्रेशम का नियम निम्न दशाओ मे इस प्रकार लागू होता है

(क) **यदि देश मे एक ही प्रकार की कागजी मुद्रा प्रचलित है तो गन्दे तथा फटे-पुराने नोट बुरी मुद्रा बन जायेंगे और अच्छे, साफ तथा नये नोट अच्छी मुद्रा बन जायेंगे।** लोग प्राय अच्छे नोटो का सग्रह करेंगे और बुरे नोट प्रचलन मे बने रहगे।

(ख) **यदि देश मे प्रतिनिधि कागजी मुद्रा तथा विनिमेय कागजी मुद्रा एक साथ प्रचलित होती हैं तो प्रतिनिधि कागजी मुद्रा अच्छी मुद्रा बन जायगी और विनिमेय कागजी मुद्रा बुरी मुद्रा।** विनिमेय कागजी मुद्रा प्रतिनिधि कागजी मुद्रा को प्रचलन स बाहर निकाल देगी।

(ग) **यदि किसी देश मे विनिमेय कागजी मुद्रा तथा अविनिमेय कागजी मुद्रा दोनों एक साथ प्रचलित हैं तो विनिमेय कागजी मुद्रा अच्छी मुद्रा तथा अविनिमेय कागजी मुद्रा बुरी मुद्रा बन जायगी।** फलत अविनिमेय कागजी मुद्रा विनिमय कागजी मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।

(घ) **यदि किसी देश मे अविनिमेय कागजी मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा एक साथ प्रचलित है तो प्रादिष्ट मुद्रा बुरी मुद्रा तथा अविनिमेय कागजी मुद्रा अच्छी मुद्रा बन जायगी।** परिणामत प्रादिष्ट मुद्रा अविनिमेय मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।

नियम की परिसीमायें (Limitations of the Law)—ग्रेशम के नियम की परिसीमाएँ निम्नलिखित है

(1) **जब मुद्रा की कुल मात्रा देश की आवश्यकताओ से कम होती है तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** यदि देश मे अच्छी व बुरी दोनो ही प्रकार की मुद्राएँ कुल मिलाकर देश की व्यावसायिक आवश्यकताओ से कम हैं तो ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही होगा। प्रत्येक देश मे व्यावसायिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक न्यूनतम मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। यदि कुल मुद्रा इस न्यूनतम मात्रा से कम है तो विनिमय सम्बन्धी कार्यों मे कठिनाइयाँ होने लगती हैं और पूर्ति की कमी के कारण अच्छी तथा बुरी दोनो प्रकार की मुद्राएँ एक साथ प्रचलन मे रहती हैं।

(2) **जब बुरी मुद्रा बहुत ही खराब दशा मे होती है तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** यदि देश मे प्रचलित बुरी मुद्रा इतनी निकृष्ट हो चुकी है कि लोग उसे किसी भी दशा मे स्वीकार करने के लिए तैयार नही है तो ऐसी परिस्थिति मे अच्छी मुद्रा के बजाय बुरी मुद्रा ही प्रचलन से बाहर चली जायगी, अर्थात ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही होगा। उदाहरणार्थ, अत्यन्त घिसे हुए तथा वजन मे कम सिक्के और फटे-पुराने नोट लोगो द्वारा प्राय स्वीकार नही किये जाते और वे स्वय ही प्रचलन से बाहर निकल आते हैं। उन्हे राजकोष (treasury) मे लौटा दिया जाता है।

(3) *जब सभी लोग बुरी मुद्रा का बहिष्कार कर देते हैं तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील* **नहीं होता।** जब सभी लोग मिलकर निश्चय कर लेते है कि वे बुरी मुद्रा का स्वीकार नही करेंगे तब ग्रेशम का नियम लागू नही हो सकेगा अर्थात अच्छी मुद्रा के बजाय बुरी मुद्रा ही प्रचलन से बाहर निकल जायगी।

(4) **जब द्विधातुमान को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सभी देशो द्वारा अपना लिया जाता है, तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** जैसा पहले कहा गया है, द्विधातुमान को यदि अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर सभी देशो द्वारा अपना लिया जाय तो ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही होगा। एक देश मे द्विधातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम इसलिए क्रियाशील होता है क्योंकि एक देश के लिए धातुओ की टकसाल दर (mint rate) तथा बाजार दर (market rate) मे समानता बनाये रखना कठिन होता है। परन्तु यदि द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी देशो द्वारा

अपना लिया जाता है तो दोनो धातुओ की टकसाल दर तथा बाजार दर मे समानता बनाये रखना आसान हो जाता है। जब धातुओ की टकसाल दर तथा बाजार दर मे समानता बनी रहती है, तब ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोका जा सकता है।

(5) **जब बुरी मुद्रा प्रतीक सिक्कों के रूप मे तथा परिमित मात्रा में होती है तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** यदि बुरी मुद्रा प्रतीक सिक्को के रूप मे है और उसकी मात्रा भी परिमित है तो ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही हो सकेगा। इसका कारण यह है कि बुरी मुद्रा की मात्रा मे कमी होने के कारण लोग सभी भुगतान (payments) इसके रूप मे नही कर सकेंगे। उन्हे भुगतान करने के लिए अच्छी मुद्रा का प्रयोग करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, बुरी मुद्रा की पूर्ति पर भी सरकार अपना नियन्त्रण रखती है और आवश्यकता से अधिक उसका निर्गमन नही होने देती।

(6) **जब विभिन्न मुद्राएँ विभिन्न उद्देश्यो के लिए होती हैं तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** जब देश मे प्रचलित मानक मुद्रा विनिमय सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की माँग को पूरा करती हैं तब प्रतीक मुद्रा बुरी मुद्रा होने पर भी मानक मुद्रा के साथ-साथ प्रचलन मे रहती है और ग्रेशम का नियम क्रियाशील नही होने पाता। प्रतीक मुद्रा छोटे-छोटे सौदो के लिए उपयुक्त होती है और मानक मुद्रा बड़े-बड़े सौदो के लिए। दोनों के उद्देश्य अलग-अलग हैं। अत दोनों मुद्राएँ साथ-साथ चलन मे रहेंगी।

(7) **जब देश की बैंकिंग प्रणाली पर्याप्त मात्रा मे उन्नत हो जाती है, तब ग्रेशम का नियम क्रियाशील नहीं होता।** जब देश की बैंकिंग प्रणाली इतनी उन्नत हो जाती है कि सभी भुगतान (payments) मुद्राओ मे नही, बल्कि चैंको के रूप मे किये जाते हैं, तब ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

निष्कर्ष—जैसा हमने ऊपर देखा है, ग्रेशम का नियम कोई काल्पनिक नियम नही है। हमारे पास बहुत-से ऐसे उदाहरण हैं जबकि विभिन्न परिस्थितियो मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील हुआ था। 19वी शताब्दी मे यूरोपीय देशो मे द्विधातुमान प्रणाली के अन्तर्गत ग्रेशम का नियम विशेष रूप मे क्रियाशील हुआ था। वास्तव मे, द्विधातुमान प्रणाली के पतन का मुख्य कारण ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता ही थी। एक-धातुमान प्रणाली के अन्तर्गत भी ग्रेशम का नियम लागू होता रहा है। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान लगभग सभी देशो मे ग्रेशम का नियम क्रियाशील हुआ था, क्योकि अविनिमेय कागजी मुद्रा के जारी किये जाने के फलस्वरूप धातु-मुद्राएँ चलन से बाहर निकल गयी और केवल अविनिमेय कागजी मुद्रा ही पीछे रह गयी थी। भारत मे भी दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान ग्रेशम का नियम क्रियाशील हुआ था। विक्टोरिया के चाँदी के रुपये प्रचलन से अदृश्य हो गये थे और केवल जॉर्ज पंचम के रुपये ही *(जिनमे चाँदी की मात्रा कम थी)* प्रचलन मे रह गये थे। इस प्रकार ग्रेशम का नियम बड़े महत्व का नियम है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **द्विधातुमान से क्या अभिप्राय है ? इसके गुणो व अवगुणो का विवेचन कीजिए।**

(विक्रम, 1959, गोरखपुर, 1959, आगरा, 1959)

[संकेत—प्रथम भाग मे, द्विधातुमान की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओ की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, द्विधातुमान के गुणो व अवगुणो का विवेचन कीजिए।]

2 **द्विधातुमान और एक-धातुमान की विशेषताओ की विवेचना कीजिए और बताइए कि द्विधातुमान, एक धातुमान की अपेक्षा मूल्य-स्तर को स्थायी रखता हैं।**

(आगरा बी० कॉम०, 1961, राजस्थान, 1955)

[संकेत—प्रथम भाग मे, द्विधातुमान तथा एक-धातुमान की परिभाषाएं देते हुए उनकी मुख्य विशेषताओ की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए कि एक-धातुमान की अपेक्षा द्विधातुमान मूल्य-स्तर को अधिक स्थायी बनाये रख

सकता है, क्योंकि द्विधातुमान के अन्तर्गत एक के बजाय दो धातुओं के मानक सिक्के बनाये जाते हैं, एक धातु की पूर्ति की कमी को दूसरी धातु के अधिक उत्पादन से पूरा किया जा सकता है। परिणामत: मुद्रा की कुल पूर्ति में भारी उतार-चढ़ाव नहीं हो सकते और मूल्य-स्तर में स्थायित्व बनाये रखा जा सकता है।]

3. **विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए, "आधुनिक जीवन में धातु-मुद्रा ने अपना महत्त्व खो दिया।"** (आगरा, बी० कॉम०, 1951)

[**संकेत**—यहाँ पर धातु-मुद्रा के अवगुणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और कागजी मुद्रा के गुणों की विवेचना कीजिए। स्पष्ट कीजिए कि अपने इन गुणों के कारण कागजी मुद्रा धीरे-धीरे धातु-मुद्रा का स्थान ग्रहण कर रही है।]

4. **द्विधात्वीय मौद्रिक पद्धति की मुख्य दुर्बलता ग्रेशम का नियम प्रवर्तन होने पर प्रतीत होती है—समझाइए।** (सागर, 1961)

[**संकेत**—यहाँ पर द्विधातुमान की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। तदुपरान्त, यह दर्शाइए कि द्विधातुमान का मुख्य दोष ग्रेशम के नियम की क्रियाशीलता है और इसी के कारण इसका पतन हुआ था।]

5. **"बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।" व्याख्या कीजिए।** (नागपुर, 1960)

अथवा

ग्रेशम के नियम पर टिप्पणी लिखिए। (आगरा, 1968)

अथवा

"यदि हीन मुद्रा परिमाण में सीमित नहीं तो वह उत्तम मुद्रा को चलन से निकाल देती है।" (मार्शल) इस कथन की व्याख्या कीजिए। (आगरा, *1974*)

[**संकेत**—यहाँ पर ग्रेशम के नियम की परिभाषा देते हुए विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि यह नियम किन-किन परिस्थितियों में क्रियाशील होता है। अन्त में, इसकी परिसीमाओं की भी विवेचना कीजिए।]

6. **ग्रेशम का नियम लागू होने की क्या परिस्थितियाँ होती हैं?** (आगरा, 1970)

[**संकेत**—प्रारम्भ में, ग्रेशम के नियम की परिभाषा देते हुए इसकी व्याख्या कीजिए। तदुपरान्त, उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिए जिनमें यह नियम लागू होता है। उक्त अध्याय में देखिए 'नियम का क्षेत्र' नामक उपविभाग।]

7. **द्विधातुमान के दोषों को दूर करने के क्या-क्या उपाय हैं?**

[**संकेत**—प्रारम्भ में, द्विधातुमान की परिभाषा देते हुए इसकी मुख्य विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए। तदुपरान्त, यह बताइए कि इसके दोषों को दूर करने के दो उपाय हैं—प्रथम, टकसाल दर को बाजार दर के अनुसार परिवर्तित किया जाये। दूसरे, अन्तरराष्ट्रीय द्विधातुमान की स्थापना की जाय।]

4

स्वर्णमान
(Gold Standard)

जैसा पिछले अध्याय मे कहा गया है एक धातुमान के दो मुख्य रूप होते हैं—रजतमान (Silver Standard) तथा स्वर्णमान (Gold Standard)। रजतमान स्वर्णमान की तुलना मे अधिक पुरानी प्रणाली है। यह प्रणाली कई वर्षों तक चीन मे प्रचलित रही थी। 19वी शताब्दी मे भारत मे भी रजतमान का प्रचलन रहा था। स्वर्णमान, सर्वप्रथम, ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनाया गया था। तदुपरान्त, धीरे-धीरे यूरोप के अन्य देशो ने भी इसे अपनाया था। 20वी शताब्दी के प्रथम चरण मे यूरोप के लगभग सभी देशो ने स्वर्णमान को अपना रखा था। अमरीका मे भी स्वर्णमान का प्रचलन था। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। इसके उपरान्त अन्य देशो मे भी धीरे-धीरे स्वर्णमान का लोप हो गया था।

स्वर्णमान की परिभाषा तथा अर्थ
(Definition and Meaning of Gold Standard)

स्वर्णमान की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। इन परिभाषाओ मे स्वर्णमान की विभिन्न विशेषताओ पर बल दिया गया है। प्रो० हाबरलर (Haberler) ने स्वर्णमान की परिभाषा इन शब्दो मे की है "स्वर्णमान सकुचित अर्थ मे ऐसी मुद्रा-प्रणाली है जिसमे मानक स्वरूप वाले सिक्के अथवा स्वर्णपत्र (जिनके पीछे शत-प्रतिशत स्वर्णकोष रहता है) प्रचलन मे होते हैं।"[1] प्रो० हाबरलर की यह परिभाषा, वास्तव मे, सही परिभाषा नही मानी जा सकती, क्योकि उन्होंने स्वर्णमान को अत्यन्त सकुचित अर्थों मे लिया है। प्रो० हाबरलर के अनुसार किसी देश मे स्वर्णमान प्रणाली तभी प्रचलित की जा सकती है जब उस देश मे स्वर्ण के पूर्णकाय सिक्के तथा शत प्रतिशत स्वर्णकोष के आधार पर जारी किये गये स्वर्णपत्र चलन मे हो। परन्तु प्रो० हाबरलर का यह दृष्टिकोण, वास्तव मे, अत्यन्त सकुचित है। स्वर्णमान के लिए यह आवश्यक नही कि विनिमय माध्यम के रूप मे सोने के पूर्णकाय सिक्के प्रचलन मे हो। इसके साथ ही यह भी जरूरी नही है कि जो कागजी मुद्रा चलन मे हो, उसके पीछे स्वर्ण का शत-प्रतिशत कोष रखा जाय। अत हम प्रो० हाबरलर की उक्त परिभाषा से सहमत नही हैं। अन्य मुद्राशास्त्रियो ने भी स्वर्णमान की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमे से कुछ निम्नलिखित है

(1) प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार, "स्वर्णमान वह स्थिति है जिसमे कोई एक देश अपना मुद्रा की इकाई का मूल्य तथा स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है।"[2]

---

1 A gold standard ' in a narrow sense signifies a monetary system under wh ch gold coins of standard specifications or gold certificates with 100% gold backing form the circulating medium " —*Haberler*

2 ' Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another " — *Robertson*

(2) प्रो० कैमरर (Kemmerer) के मतानुसार, "स्वर्णमान वह मौद्रिक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत मूल्य की इकाई जिसमे कीमतो, मजदूरियो तथा ऋणो को व्यक्त तथा उनका भुगतान किया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण-बाजार मे सोने की एक निश्चित राशि के बराबर होती है।"[1]

(3) प्रो० टॉमस (Thomas) के अनुसार, "एक देश स्वर्णमान पर उस समय होता है जब उसकी चलन-इकाई कानून के अनुसार स्वर्ण के निश्चित वजन के बराबर रखी जाती है और उसमे परिवर्तनीय होती है।"[2]

(4) प्रो० कोलबोर्न (Coulborn) के अनुसार, "स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे किसी देश की मुख्य मुद्रा की इकाई एक निश्चित श्रेणी के स्वर्ण की एक निर्धारित मात्रा मे परिवर्तनीय होती है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओ का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि प्रो० रॉबर्टसन तथा प्रो० कैमरर की परिभाषाएँ स्वर्णमान को विस्तृत रूप मे प्रस्तुत करती हैं। इनके अनुसार यदि किसी देश की मुख्य मुद्रा कानून के अन्तर्गत स्वर्ण की निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है तो वह देश निश्चय ही स्वर्णमान पर होता है। यह आवश्यक नही कि उस देश की मुद्रा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वर्ण मे परिवर्तनीय हो। इस प्रकार प्रो० रॉबर्टसन तथा प्रो० कैमरर देश की मुख्य मुद्रा की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता पर जोर नही देते। उनके अनुसार मुद्रा की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता स्वर्णमान की कोई आवश्यक शर्त नही है। परन्तु प्रो० टॉमस तथा प्रो० कोलबोर्न के अनुसार, मुद्रा की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता स्वर्णमान की एक मुख्य विशेषता है। उनके अनुसार देश की मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होनी चाहिए। इसीलिए वे स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard) तथा स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard) को, वास्तव मे, स्वर्णमान स्वीकार ही नही करते, क्योकि इन दोनो प्रणालियो मे देश की मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही होती। वास्तव मे, स्वर्णमान दो प्रकार का होता है—प्रथम, राष्ट्रीय या घरेलू स्वर्णमान (Domestic Gold Standard) द्वितीय, अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard)। राष्ट्रीय अथवा घरेलू स्वर्णमान मे तो देश की मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। देश की मुद्रा का स्वर्ण से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस दृष्टिकोण से स्वर्ण मुद्रामान (Gold Currency Standard), स्वर्ण मात्रामान (Gold Bullion Standard) तथा स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) राष्ट्रीय स्वर्णमान के उदाहरण हैं, क्योकि इन तीनो मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे देश की मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। इसके विपरीत, स्वर्ण निधिमान (Gold Reserve Standard) तथा स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard) अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के उदाहरण है क्योकि इन दोनो मे मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही होती है।

स्वर्णमान की विशेषताएँ—स्वर्णमान के पाँच मुख्य रूप हैं और इन पाँचो मे कुछ न कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। लेकिन कुछ ऐसी भी विशेषताएँ है जो स्वर्णमान के सभी रूपो मे पायी जाती हैं। ये विशेषताएँ निम्नांकित है

(1) **प्रधान मुद्रा की स्वर्ण मे परिभाषा**—स्वर्णमान के अन्तर्गत, देश की सरकार मानक मुद्रा की इकाई के मूल्य तथा उसके वजन एव शुद्धता आदि को स्वर्ण मे परिभाषित करती है। मुद्रा को स्वर्ण मे परिभाषित करने की दो रीतियाँ हैं—**प्रथम**, मुद्रा की इकाई मे शुद्ध स्वर्ण की

---

1 "Gold standard is a monetary system where the unit of value in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid consists of the value, of a fixed quantity of gold in a free gold market" —*Kemmerer*

2 "A country is said to be on the gold standard when its currency unit is exchangeable for and kept at par with a legally fixed rate of gold" —*S E Thomas*

3 "The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." —*Coulborn*

मात्रा को घोषित कर दिया जाता है। दूसरे, स्वर्ण का टकसाल मूल्य (mint price) निश्चित कर दिया जाता है। प्रथम रीति ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपनायी गयी थी। दूसरी रीति अमरीका तथा भारत द्वारा अपनायी गयी थी। भारत मे एक तोले स्वर्ण का टकसाल मूल्य 21 रुपये 7 आने,10 पाई रखा गया था। इस प्रकार देश की मुद्रा की इकाई को स्वर्ण मे परिभाषित करना स्वर्णमान के अन्तर्गत अनिवार्य होता है।

(2) **स्वर्ण-मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है**—स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण-मुद्रा की इकाई सभी प्रकार के भुगतानो के लिए असीमित विधिग्राह्य होती है। सभी प्रकार के ऋणो का भुगतान स्वर्ण-मुद्रा अथवा उस मुद्रा म होना है जो स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है।

(3) **सरकार (अथवा मुद्रा अधिकरण) द्वारा स्वर्ण का क्रय-विक्रय**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार (मुद्रा अधिकरण) निश्चित कीमत पर असीमित मात्रा मे सोने का क्रय-विक्रय करती है, अर्थात् जनता असीमित मात्रा मे निश्चित कीमत पर सरकार से सोना खरीद भी सकती है और उसे सरकार को बेच भी सकती है। कभी-कभी असुविधा से बचने के लिए सरकार सोने का क्रय-विक्रय एक निश्चित सीमा से कम मात्रा मे नही करती।

(4) **स्वर्ण की खुली सिक्का ढलाई**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने के सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र होती है, अर्थात् टकसाल जनता के लिए खुली रहती है और जनता मनचाही मात्रा मे सोने के बदले सिक्के ढलवा सकती है।

(5) **अन्य मुद्राओ की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता**—स्वर्णमान मे स्वर्ण सिक्को के अतिरिक्त हल्की धातुओ के सिक्के तथा कागजी नोट भी प्रचलित होते हैं। परन्तु सभी प्रकार की मुद्राओ का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप म स्वर्ण से सम्बन्ध होता है, अथवा सभी प्रकार के प्रतीक सिक्के तथा कागजी नोट अन्तत स्वर्ण मे परिवर्तनीय होते हैं।

(6) **स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होता है**—इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय लेन-देन के लिए स्वर्ण का आयात तथा निर्यात स्वतन्त्र होता है, अर्थात् स्वर्ण के आयात-निर्यात पर सरकार द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता है।

स्वर्णमान के कार्य
(Functions of Gold Standard)

स्वर्णमान के दो प्रमुख कार्य है

(1) **आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता बनाये रखना**—यह स्वर्णमान का महत्त्वपूर्ण कार्य माना गया है। स्वर्णमान देश के आन्तरिक कीमत स्तर को स्थिर बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। जैसा विदित है, स्वर्णमान के अन्तर्गत अतिरिक्त मुद्रा (additional currency) का तब तक निर्गमन नही किया जा सकता जब तक कि अतिरिक्त स्वर्ण-कोष उपलब्ध न हो। स्वर्णमान के अन्तर्गत जैसा पहले कहा गया है, मुद्रा का स्वर्ण से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार अतिरिक्त मुद्रा जारी करने के लिए अतिरिक्त सोने के कोष की आवश्यकता पड़ती है। चूँकि सोने का स्टॉक अपरिमित मात्रा मे उपलब्ध नही होता, इसलिए स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा के अत्यधिक निर्गमन का भय नही होता और देश मे मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न नही हो सकती। इस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत कीमत-स्तर मे अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता रहती है।

(2) **विदेशी विनिमय-दरो मे स्थायित्व बनाये रखना**—स्वर्णमान विदेशी विनिमय-दरो मे स्थायित्व बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योग देता है जिससे देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, स्वर्णमान के अन्तर्गत निश्चित कीमत पर मुद्रा अधिकरण (monetary authority) जनता का स्वर्ण बेचता है और जनता मनचाही मात्रा मे मुद्रा अधिकरण से स्वर्ण खरीद सकती है। यदि देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है, अर्थात् निर्यातो (exports) की अपेक्षा आयात (imports) अधिक होते हैं तो आयात-कर्ता (importers) विदेशी भुगतानो को विदेशी मुद्रा मे करने के बजाय सोने के रूप मे करना अधिक पसन्द करते हैं, क्योकि सरकार निश्चित मूल्यो पर सोना बेचने के लिए सदैव तैयार रहती है। जब आयातकर्ता विदेशी भुगतानो को स्वर्ण के रूप मे करते हैं तब इससे विदेशी मुद्राओ की

मांग मे वृद्धि नही होती। परिणामत उनके मूल्यो मे भी वृद्धि नही होती। इस प्रकार विदेशी विनिमय-दरो मे स्थायित्व बना रहता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वर्णमान देश की अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता बनाये रखता है। यह देश को आन्तरिक कीमत-स्तर मे होने वाले भारी परिवर्तनो से बचाता है और इस प्रकार देश की आर्थिक प्रगति मे योग देता है। इसके साथ ही साथ स्वर्णमान विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित करके देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करता है।

स्वर्णमान के विभिन्न रूप
(Types of Gold Standard)

स्वर्णमान के पांच महत्त्वपूर्ण रूप हैं—(क) स्वर्ण मुद्रामान (स्वण चलनमान), (ख) स्वर्ण मात्रामान (स्वर्ण पाटमान), (ग) स्वर्ण विनिमय मान, (घ) स्वर्ण निधिमान, (ङ) स्वर्ण समतामान।

(क) स्वर्ण मुद्रामान (Gold Currency Standard)

यह स्वर्णमान का सबसे पुराना रूप है। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व यह प्रणाली ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी तथा अमरीका मे प्रचलित थी। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान इन सभी देशो के लिए स्वर्ण मुद्रामान को बनाये रखना कठिन हो गया था। युद्ध के पश्चात अमरीका को छोडकर अन्य सभी देश इस प्रणाली को पुन अपनाने मे असमर्थ रहे थे। स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली को स्वर्ण टकमान (Gold Coin Standard), कट्टर स्वर्णमान (Orthodox Gold Standard), परम्परागत स्वर्णमान (Traditional Gold Standard) तथा पूर्ण स्वर्णमान (Full Gold Standard) कहकर भी सम्बोधित किया जाता है।

स्वर्ण मुद्रामान की विशेषताएँ—इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित है

(1) **स्वर्ण-सिक्को का चलन**—स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली मैं सोने के सिक्को का वास्तव मे प्रचलन होता है। कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि मुद्रा इकाई मे सोने की कितनी मात्रा रखी जायगी। उदाहरणार्थ, सन् 1914 से पहले ग्रेट ब्रिटेन मे सोने का सिक्का सॉवरेन (Sovereign) कहलाता था। इसका वजन 123 17447 ग्रेन था और इसकी शुद्धता $\frac{11}{12}$ थी, अर्थात् एक सॉवरेन सिक्के मे 113$\frac{1}{623}$ ग्रेन शुद्ध सोना हुआ करता था और शेष उसमे टाँका डाला जाता था। एक सॉवरेन का मूल्य 3 पौण्ड 17 शिलिंग 10½ पेंस था। बैंक ऑफ इगलैण्ड 1 औस सोने के बदले मे 3 पौण्ड 17 शिलिंग 9 पेंस दिया करता था। सॉवरेन मानक सिक्का था, अर्थात् उसका अंकित तथा यथार्थ मूल्य बराबर था और यह असीमित विधिग्राह्य था।

(2) **कागजी तथा अन्य मुद्राओं का प्रचलन**—स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण की बचत के लिए कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्के भी प्रचलन मे रहते है। परन्तु ये सभी मुद्राएँ हर समय स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। इनका स्वर्ण मुद्रा से एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। ये मुद्राएँ निश्चित दरों पर एक-दूसरे मे भी परिवर्तनीय होती हैं।

(3) **खुली सिक्का ढलाई (Free Coinage)**—स्वर्ण मुद्रामान मे सिक्को का टकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर होता है। टकसाल जनता के लिए खुली रहती है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह स्वर्ण ले जाकर टकसाल से इसके बदले मे सिक्के प्राप्त कर ले।

(4) **सरकार द्वारा स्वर्ण का क्रय-विक्रय**—स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत सरकार सोने को एक निश्चित दर पर खरीदती व बेचती है। ग्रेट ब्रिटेन मे सरकार 1 औस सोना 3 पॉण्ड 17 शिलिंग 9 पेंस पर खरीदती थी और $\frac{11}{12}$ शुद्धता का 1 औस सोना 3 पौण्ड 17 शिलिंग 10½ पेंस पर बेचती थी। इस प्रकार सरकार 1½ पेंस प्रति औस सिक्का ढलाई का शुल्क लिया करती थी। इससे सरकार सॉवरेन (Sovereign) की कीमत 113$\frac{1}{623}$ ग्रेन शुद्ध सोने की कीमत के बराबर रखने मे सफल हो जाती थी। मान लीजिए कि बाजार मे 1 औस सोने का मूल्य 1 औस सोने के सिक्के से बढ जाता है। इस परिस्थिति मे जनता सोने के सिक्को को गलाकर धातु के रूप मे बेचना शुरू कर देगी। फलत बाजार मे स्वर्ण की पूर्ति बढ जायगी। स्वर्ण का मूल्य कम हो जायगा और यह अपने पहले वाले स्तर के बराबर हो जायगा। इसके विपरीत,

यदि बाजार मे 1 औंस सोने का मूल्य 1 औंस सोने के सिक्के से कम हो जाता है तब जनता स्वर्ण को टकसाल मे ले जाकर उससे सिक्के ढलवाना आरम्भ कर देगी, क्योंकि ऐसा करने से उसे आर्थिक लाभ होता है। बाजार मे स्वर्ण की पूर्ति कम हो जायगी और इसका मूल्य बढ जायगा। फलत सोने का मूल्य पुन अपने पुराने स्तर के बराबर हो जायगा। इस प्रकार स्वर्ण मुद्रामान के अधीन सरकार सोने के क्रय-विक्रय द्वारा मानक सिक्के के अंकित तथा यथार्थ मूल्य मे समानता बनाये रखने मे सफल हो जाती थी।

(5) **स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात-निर्यात**—स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात पर सरकार द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता। स्वर्ण बाजार पूर्णत स्वतन्त्र रहता है। जनता अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनचाही मात्रा मे सोना खरीद सकती है। सोने के सिक्कों को गला सकती है और इसके (सोने के) सिक्के ढलवा सकती है।

(6) **स्वर्ण मूल्य-मापन का कार्य करता है**—सभी प्रकार के मूल्यो को स्वर्ण के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। सभी प्रकार के भुगतानो के लिए स्वर्ण मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है। देश मे मुद्रा की मात्रा स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) पर निर्भर करती है।

स्वर्ण मुद्रामान के गुण—स्वर्ण मुद्रामान के गुण निम्नलिखित हैं

(1) **सरलता**—स्वर्ण मुद्रामान स्वर्णमान का सरलतम रूप है। इसमे किसी प्रकार की जटिलताएँ नही होती। साधारण जनता के लिए इसे समझना भी आसान होता है। इसमे सोने के सिक्को का प्रचलन होता है, जिन्हे पहचानने मे किसी को कोई कठिनाई नही होती है। अत इस प्रणाली मे धोखेबाजी अथवा ठगी के लिए कोई गुंजाइश नही होती।

(2) **जनता का विश्वास**—इस प्रणाली मे जनता का पूर्ण विश्वास होता है। सोने के सिक्के प्रचलन मे होते है और सोना सर्वग्राह्य है। इस प्रणाली मे जनता का विश्वास अन्य प्रणालियो की अपेक्षा अधिक होने के कारण इस प्रकार है—प्रथम, इसके अन्तर्गत सिक्को का अंकित तथा यथार्थ मूल्य बराबर होता है, अर्थात् सिक्को के अंकित मूल्य के बराबर ही उनमे धातुएँ डाली जाती हैं। द्वितीय, यदि सोने के सिक्को का विमुद्रीकरण (demonetisation) भी कर दिया जाय तो भी जनता को कोई आर्थिक हानि नही होती, क्योकि इन सिक्को को गलाकर धातु के रूप मे बेचा जा सकता है। तृतीय, यद्यपि इस मान मे कागजी मुद्रा तथा प्रतीक मुद्रा का भी प्रचलन होता है लेकिन ये दोनो मुद्राएँ स्वर्ण मे पूर्णत परिवर्तनीय होती हैं। चतुर्थ, चूंकि मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) पर निर्भर करती है, इसलिए मुद्रा के अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने की सम्भावना नही रहती और न ही मुद्रा-स्फीति का भय रहता है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा के मूल्य मे कमी होने की बहुत कम सम्भावना रहती है।

(3) **यह मान स्वयंचालक (automatic) है**—इस मान का सबसे बड़ा गुण इसकी स्वयचालकता (automaticity) है। इस मान को चालू रखने के लिये सरकार को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना पडता है। यह मान तो स्वयचालित है। इस मान की स्वयचालकता की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा की जा सकती है। जैसा पूर्व कहा गया है, इस मान के अधीन मुद्रा की मात्रा स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) पर निर्भर करती है। मुद्रा की मात्रा मे स्वर्ण प्रारक्षणो मे परिवर्तनो के अनुसार ही परिवर्तन किये जा सकते है। यदि स्वर्ण प्रारक्षणो की मात्रा मे वृद्धि होती है, तो मुद्रा की मात्रा को भी उसी अनुपात मे बढाया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि स्वर्ण प्रारक्षणो की मात्रा मे कमी होती है तो उसी अनुपात मे मुद्रा की मात्रा को भी घटाया जा सकता है। मान लीजिये कि देश के आयात, निर्यातो की अपेक्षा अधिक हो जाते हैं, अर्थात् देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है, तब देश को अपने ऋण भुगतान के लिए विदेशो को सोना भेजना पडेगा। सोने के निर्यात के फलस्वरूप देश के स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) मे कमी हो जायगी और मुद्रा की मात्रा को उसी अनुपात मे कम करना पडेगा। परिणामत देश का आन्तरिक कीमत-स्तर गिर जायगा। कीमतो के गिर जाने से अब देश के निर्यातो को प्रोत्साहन मिलेगा और आयातो मे कमी हो जायगी। इसके फलस्वरूप अब देश का अदायगी शेष (balance of payments) अनुकूल हो जायगा। विदेशो को अपने ऋण-भुगतान के लिए उस देश को सोना भेजना पडेगा। देश मे सोने के आयात के परिणामस्वरूप मुद्रा

की मात्रा बढेगी और आन्तरिक कीमत-स्तर ऊँचा हो जायगा। इस प्रकार स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा विश्व-कीमतो मे समानता स्थापित हो जायगी। जैसा स्पष्ट है, यह कार्य बिना किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप के स्वय होता रहता है। इसी को स्वर्ण मुद्रामान की स्वयचालकता कहते हैं। स्वर्ण मुद्रामान के इसी गुण के कारण प्रो० कैनन ने इसे "मूर्ख सिद्ध एव मक्कार-सिद्ध" (Fool-proof and Knave-proof) कहकर सम्बोधित किया है।

(4) आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे आन्तरिक कीमतो मे स्थिरता बनाये रखने की योग्यता होनी चाहिये। इस दृष्टिकोण से स्वर्ण मुद्रामान एक आदर्श प्रणाली है, क्योंकि इसके अन्तर्गत आन्तरिक कीमतो म स्थिरता स्थापित की जा सकती है। जैसा विदित है, सोने की पूर्ति मे प्राय अधिक परिवर्तन नही होते। सोने का वार्षिक उत्पादन सोने की वर्तमान मात्रा का एक छोटा-सा अश होता है। इस प्रकार सोने की पूर्ति मे वार्षिक परिवर्तनो का कोई विशेष महत्व नही होता। परिणामत सोने के मूल्य मे सामयिक तथा अल्पकालीन परिवर्तन नहीं होते। इसके फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति मे भी उतार-चढाव नही हो सकते। इस प्रकार देश के आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता बनी रहती है।

(5) विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता—स्वर्ण मुद्रामान के अधीन मुद्रा की विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता बनी रहती है। जैसा विदित है, विदेशी व्यापार के विकास के लिए मुद्रा की विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता का होना नितान्त आवश्यक है। यदि विदेशी विनिमय-दरो मे समय-समय पर भारी परिवर्तन होते हैं तो इससे देश के विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पडता है। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् यूरोपीय देशो के द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने पर विदेशी विनिमय-दरो मे भारी उतार-चढाव हुए थे जिनके परिणामस्वरूप इन देशो मे विदेशी व्यापार को भारी धक्का लगा था। स्वर्ण मुद्रामान मे यह गुण है कि यह विदेशी विनिमय-दरो में स्थिरता बनाये रखने मे बहुत बडा योग देता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि स्वर्ण-मुद्रामान विदेशी विनिमय-दरो मे कैसे स्थिरता बनाये रखता है? प्रथम, स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत सभी देशो की मुद्राएँ स्वर्ण से सम्बन्धित होती हैं। चूंकि स्वर्ण के मूल्य मे कोई विशेष परिवर्तन नही होते, इसलिए इन मुद्राओ के मूल्य मे भी कोई विशेष फेर-बदल नही हो सकते, अर्थात् इन मुद्राओ के मूल्य स्थिर रहते हैं। परिणामत विदेशी विनिमय-दरो मे अस्थिरता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। द्वितीय, स्वर्ण मुद्रामान के अन्तगत सोने के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता। देश के अदायगी शेष मे होने वाले परिवर्तनो का विदेशी विनिमय दरो पर कोई प्रभाव नही पडता, क्योकि सोने के निर्यात द्वारा विदेशी ऋणो को चुकाया जा सकता है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता बनी रहती है।

स्वर्ण मुद्रामान के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) स्वर्ण का अपव्यय—स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली मे सोने का अपव्यय होता है, क्योंकि सोने के सिक्के प्रचलन मे रहते हैं तथा उनकी घिसावट से राष्ट्र को अनावश्यक हानि उठानी पडती है। इसके अतिरिक्त, स्वर्ण मुद्रामान मे विनिमेय कागजी मुद्रा के पीछे भी 100% स्वर्ण-कोष रखे जाते हैं। इस प्रकार कोष मे सोना बेकार पड़ा रहता है। स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली को अपनाने के लिए इतनी मात्रा मे सोने की आवश्यकता पडती है कि गरीब देश तो इसे अपनाने की सोच भी नही सकते। वास्तव मे, अच्छी मुद्रा-प्रणाली वह होती है जो मितव्ययी (economical) विनिमय का माध्यम प्रदान करे। इस दृष्टिकोण से स्वर्ण मुद्रामान एक आदर्श मान नही समझा जा सकता।

(2) यह मान सकट के समय साथ नहीं देता—जैसा कि कहा गया है स्वर्ण मुद्रामान केवल अनुकूल परिस्थितियो का ही मान है। यह एक ऐसे मित्र की भाँति है जो आवश्यकता के समय साथ नही देता (fair weather friend)। आर्थिक सकट (economic crisis) के समय स्वर्ण मुद्रामान प्राय कार्यशील नही रहता और इसी कारण ऐसे समय मे इसका परित्याग करना पडता है। अब प्रश्न यह है कि सकट के समय स्वर्ण मुद्रामान कार्यशील क्यो नही होता? इसका मुख्य कारण यह है कि इस मुद्रा प्रणाली मे लोच (elasticity) का अभाव रहता है, अर्थात् इसके अधीन आवश्यकतानुसार सरकार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही कर सकती। जैसा पूर्व कहा गया है, स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली के अन्तगत स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) की मात्रा को

बढाये बिना मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही की जा सकती। परन्तु सकट के समय स्वर्ण प्रारक्षणो की मात्रा को बढाना बहुत कठिन होता है। अत ऐसे समय मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही की जा सकती, यद्यपि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करना ऐसे समय नितान्त आवश्यक होता है। परिणामत सकट के समय स्वर्ण मुद्रामान की बेलोचकता (inelasticity) के कारण ही सरकार को इसे छोड़ना पडता है।

(3) **अन्तरराष्ट्रीय सहयोग के अभाव में इसकी स्वयंचालकता (automaticity) समाप्त हो जाती है**—जैसा ऊपर बताया गया है, स्वर्ण मुद्रामान का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि यह स्वयचालित (automatic) होता है। परन्तु आर्थिक सकट के समय इस प्रणाली का यह गुण लुप्त हो जाता है। यह सत्य है कि प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व यह प्रणाली स्वयचालक थी, परन्तु युद्ध के पश्चात इस प्रणाली मे स्वयचालकता का यह गुण समाप्त हो गया था। वास्तव मे, स्वयचालकता का यह गुण स्वर्ण मुद्रामान मे तब तक ही रह सकता है जब तक कि इस मान को बनाये रखने के लिए अन्तरराष्ट्रीय सहयोग उपलब्ध हो। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान इस अन्तरराष्ट्रीय सहयोग का अभाव रहा जिसके कारण इस प्रणाली की स्वयचालकता समाप्त हो गयी। कुछ देशो ने अपने स्वार्थवश स्वर्ण मुद्रा-प्रणाली के नियमो की अवहेलना की थी। युद्धकाल मे कुछ देशो ने सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये और स्वर्ण प्रारक्षणो की मात्रा मे हुए परिवर्तनो के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन नही किये। कुछ देशो ने सोने का बहुत बडा भण्डार जमा कर लेने के बाद भी मुद्रा की मात्रा मे उसी अनुपात मे विस्तार नही किया था। इसी प्रकार कुछ देशो ने स्वर्ण प्रारक्षणो मे हुई कमी के बावजूद मुद्रा की मात्रा मे कमी नही की थी। इस तरह स्वर्ण मुद्रामान के नियमो की अवहेलना करने पर ही इसकी स्वयचालकता समाप्त हो गयी थी और यह प्रणाली स्वयचालित न रहकर, प्रबन्धित प्रणाली (managed system) हो गयी थी।

(4) **इस प्रणाली के अन्तर्गत आन्तरिक कीमतो की स्थिरता प्रायः काल्पनिक होती है**—स्वर्ण मुद्रामान प्रणाली के समर्थको के कथनानुसार यह प्रणाली आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता बनाये रखती है। परन्तु आलोचको का मत है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत कीमत-स्तर मे होने वाली स्थिरता प्राय काल्पनिक होती है, वास्तविक नही। इसका कारण यह है कि सोने की कीमत मे परिवर्तन हो जाने पर देश के कीमत-स्तर मे भी अवश्य ही परिवर्तन होते है। सोने की कीमत मे होने वाले परिवर्तनो को रोकना कठिन होता है। सोने की कीमत मे परिवर्तन कई कारणो से हो सकते है, जैसे नयी सोने की खानो की खोज, सोना निकालने की विधियो मे सुधार, सोने की उत्पादन-लागत मे परिवर्तन, सोने के उपयोग मे परिवर्तन तथा सोने के आयात-निर्यात मे होने वाले परिवर्तन। इस प्रकार सोने की माँग और पूर्ति मे परिवर्तन हो जाने से सोने की कीमत मे भी परिवर्तन होते है। जब सोने की कीमत मे परिवर्तन होते है, तब देश का कीमत-स्तर स्थिर कैसे रह सकता है।

(5) **कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय-दरो की स्थिरता को बनाये रखने के लिए स्वर्ण मुद्रामान आवश्यक नहीं है**—कुछ आलोचको का कहना है कि कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरो की स्थिरता बनाये रखने के लिए स्वर्ण मुद्रामान कोई अनिवार्य प्रणाली नही है, बल्कि इन उद्देश्यो की पूर्ति तो स्वर्णमान के बिना भी हो सकती है। आलोचको का कहना है कि कीमत स्तर तथा विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता बनाये रखने के लिए स्वर्णमान की अपेक्षा प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली (Managed Currency System) अधिक उपयुक्त रहती है, क्योकि प्रबन्धित प्रणाली के अन्तर्गत विश्व के विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग अधिक प्रभावशाली ढग से प्राप्त किया जा सकता है।

(6) **यह प्रणाली प्रायः अवस्फीति को प्रोत्साहित करती है**—श्रीमती जॉन रोबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार स्वर्ण मुद्रामान मे एक अन्य दोष भी पाया जाता है। उनके अनुसार *स्वर्ण मुद्रामान मे मुद्रा-अवस्फीति (currency deflation) की प्रवृत्ति पायी जाती है।* जब किसी देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है तो वह देश स्वर्ण के निर्यात के कारण मुद्रा की मात्रा को स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) के अनुसार घटा देता है। परन्तु स्वर्ण का आयात करने वाला देश स्वर्ण प्रारक्षणो मे हुई वृद्धि के अनुसार मुद्रा की

पूर्ति मे वृद्धि नही करता। इस प्रकार इस प्रणाली का झुकाव मुद्रा-अवस्फीति की ओर ही होता है।

उपर्युक्त दोषो के कारण कुछ अर्थशास्त्रियो ने स्वर्ण मुद्रामान की कडे शब्दो मे भर्त्सना की है। प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार स्वर्ण मुद्रामान जगली लोगो की रुचि को सन्तुष्ट करता है। प्रो० हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार स्वर्ण मुद्रामान साख के नियन्त्रण मे एक प्रकार की अराजकता (anarchy) उत्पन्न कर देता है।

(ख) स्वर्ण मात्रामान अथवा स्वर्ण पाटमान (Gold Bullion Standard)

इतिहास—स्वर्ण मात्रामान स्वर्ण मुद्रामान का ही सशोधित रूप है। इसका विकास प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् हुआ था। यूरोप के बहुत-से देशो ने इसे स्वीकार किया था। जैसा ऊपर बताया गया है, प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान यूरोप के कुछ देशो ने स्वर्ण मुद्रामान की बेलोचकता (Inelasticity) के कारण इसका परित्याग कर दिया था। कारण यह था कि युद्ध को लडने के लिए इन देशो ने अधिक मुद्रा की आवश्यकता अनुभव की थी। परन्तु सोने के कोष के अभाव मे ये देश मुद्रा की पूर्ति मे विस्तार नही कर सकते थे, क्योकि स्वर्ण मुद्रामान क अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि तभी की जा सकती है जबकि सोने के कोष म उसी अनुपात मे वृद्धि हो। इस प्रकार इन देशो के लिए एक जटिल समस्या उत्पन्न हो गयी थी। अन्त म, इन देशो ने स्वर्ण मुद्रामान का परित्याग करना ही उचित समझा। स्वर्ण मुद्रामान के परित्याग के उपरान्त इन देशो ने मनचाही मात्रा मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि की थी। युद्ध के उपरान्त ये देश स्वर्णमान की पुन स्थापना करना चाहते थे परन्तु स्वर्णमान की पुन स्थापना करने की केवल दो ही विधियाँ थी। प्रथम, देश मे बढी हुई मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत सोने का कोष रखा जाय, परन्तु यह विधि उनके लिए व्यावहारिक नही थी। युद्ध के दौरान इन देशो मे कागजी मुद्रा का बहुत विस्तार हो चुका था। इस मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत सोने की आड (cover) रखना इन देशो क लिए सम्भव नही था क्योकि इनके पास सोने का स्टॉक परिमित था। द्वितीय, ये देश अपने सीमित सोने के स्टॉक के अनुसार मुद्रा की पूर्ति मे कमी कर सकते थे, परन्तु यह विधि भी इन देशो के लिए व्यावहारिक नही थी, क्योकि युद्धकाल मे मुद्रा की पूर्ति मे काफी विस्तार हो चुका था। अब उस मुद्रा मे कमी करना उनके हित मे न था। मुद्रा मे कमी करने से इन देशो मे अवस्फीति (deflation) की दशा उत्पन्न हो सकती थी और जैसा विदित है मुद्रा अवस्फीति के परिणाम देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत गम्भीर होते हैं। इस प्रकार यूरोप के इन देशो के लिए स्वर्ण मुद्रामान की पुन स्थापना व्यावहारिक नही थी। अतएव इन देशो ने स्वर्णमान के एक नये रूप का विकास किया जिसे *स्वर्ण मात्रामान* कहकर सम्बोधित किया गया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण मुद्रा-प्रणाली की तुलना मे कम स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) की आवश्यकता पडती है और आन्तरिक कीमत-स्तर मे भारी परिवर्तन किये बिना ही स्वर्णमान स्थापित किया जा सकता है।

स्वर्ण मात्रामान की विशेषताऐं—इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **इसमे सोने के सिक्को का प्रचलन नहीं होता**—स्वर्ण मात्रामान के अन्तर्गत सोने के बने हुए सिक्को का प्रचलन नही होता। देश के भीतर हल्की धातुओ के सिक्को *तथा कागजी* मुद्रा का अधिक प्रचलन होता है। परन्तु इन सिक्को तथा कागजी नोटो की कीमत को स्वर्ण मे परिभाषित किया जाता है।

(2) **सोने की ढलाई खुली नहीं होती**—इस प्रणाली मे सोने की ढलाई स्वतन्त्र नही होती अर्थात जनता को टकसाल मे सोना ले जाकर सिक्के ढलवाने का अधिकार नही होता।

(3) **कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण कोष नहीं होता**—स्वर्ण मुद्रा-प्रणाली की भाँति *इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण कोष नही होता, बल्कि कागजी मुद्रा* का एक निश्चित प्रतिशत ही स्वर्ण के रूप म कोष मे रखा जाता है। परन्तु कागजी मुद्रा निश्चित दर पर स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय बैंक अथवा राजकोष (treasury) से कागजी मुद्रा के बदले सोना खरीद ले। इस प्रणाली मे, जैसा कहा गया है कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण कोष नही रखा जाता, परन्तु इसके बावजूद **सरकार कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता की पूर्ण गारण्टी देती है।** सरकार के लिए ऐसी

गारण्टी देना इसलिए सम्भव हो जाता है क्योंकि किसी विशेष समय में कुल कागजी मुद्रा का एक छोटा-सा भाग ही स्वर्ण में बदलने के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

(4) **निर्धारित कीमत पर सोने का क्रय-विक्रय**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार हर समय असीमित मात्रा में निश्चित दर पर सोना खरीदने व बेचने के लिए तैयार रहती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति सरकार से किसी भी मात्रा में सोना खरीद सकता है, परन्तु व्यवहार में सरकार अपनी सुविधा को देखते हुए सोना बेचने की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर देती है, अर्थात् सरकार इस मात्रा से कम सोना बेचने के लिए तैयार नहीं होती। ग्रेट ब्रिटेन में यह न्यूनतम सीमा 400 औंस रखी गयी थी और भारत में 1056 तोले निश्चित की गयी थी। स्मरण रहे कि इस प्रणाली में सरकार लोगों को केवल सोने की सिल्लियाँ या छड़ें (bars) ही बेचती है।

(5) **स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता**—स्वर्ण मुद्रामान की भाँति इस प्रणाली के अन्तर्गत भी सोने के आयात तथा निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। विदेशों को भुगतान करने के लिए सरकार जनता को देशी मुद्रा के बदले स्वर्ण देने के लिए सदैव तैयार रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल विदेशी भुगतानों के लिए ही सोना दिया जाता है। वास्तव में, जनता सरकार से किसी भी उपयोग के लिए विदेशी मुद्रा के बदले सोना प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार स्वर्ण मात्रामान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता। देश के भीतर तो केवल प्रतीक सिक्के तथा कागज के नोट ही प्रचलित होते हैं। परन्तु सभी प्रकार की मुद्राएँ अन्तत सोने की सिल्लियों अथवा छड़ों में परिवर्तनीय होती हैं।

स्वर्ण मात्रामान को, सर्वप्रथम, ग्रेट ब्रिटेन ने सन् 1925 में अपनाया था। उस देश में कागजी नोटों को 3 पौण्ड 17 शिलिंग 10½ पेंस प्रति औंस की दर पर 400-400 औंस की सोने की सिल्लियों में परिवर्तित करने की व्यवस्था की गयी थी। भारत ने यह मान सन् 1927 में अपनाया था। भारत सरकार ने देशी मुद्रा को 21 रुपये 7 आना 10 पाई प्रति तोला की दर पर 400-400 औंस की सोने की सिल्लियों में बदलने की व्यवस्था की थी। इन दोनों देशों में यह प्रणाली सन् 1931 तक कार्यशील रही, परन्तु सितम्बर 1931 में ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रणाली का परित्याग कर दिया था। भारत ने भी उसी समय इसे त्याग दिया था। धीरे-धीरे अन्य देशों ने भी इस प्रणाली को छोड़ दिया। सन् 1933 में अमरीका ने भी इसका चलन समाप्त कर दिया था।

स्वर्ण मात्रामान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययता**—इस मुद्रामान में स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययता (economy) होती है। स्वर्ण मुद्रामान की भाँति इस प्रणाली में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता। इस प्रकार सिक्कों की घिसावट से होने वाली राष्ट्रीय हानि से बचा जा सकता है। दूसरे, सोने के सिक्कों की ढलाई लागत कागजी मुद्रा की लागत की तुलना में अधिक होती है, किन्तु स्वर्ण मात्रामान में सोने के सिक्कों का प्रचलन न होने के कारण इस अपव्यय (wastage) से बचा जा सकता है। तीसरे, स्वर्ण मात्रामान में कागजी मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए शत-प्रतिशत स्वर्ण प्रारक्षणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार स्वर्ण को बेकार प्रारक्षणों (reserves) में रखने की आवश्यकता नहीं रहती।

(2) **मुद्रा प्रणाली में लोच**—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में लोच का होना अति आवश्यक होता है। स्वर्ण मात्रामान में लोच का यह गुण विद्यमान है। कारण यह है कि स्वर्ण मात्रामान के अन्तर्गत कागजी मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण प्रारक्षण नहीं रखा जाता। अत स्वर्ण प्रारक्षण में थोड़ी सी वृद्धि करने पर ही मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है।

(3) **स्वर्ण का उपयोग सार्वजनिक हित में होता है**—जैसा हम देख चुके हैं, स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण व्यक्तिगत कोषों में बेकार रखा रहता है और इसका लाभदायक उपयोग नहीं किया जा सकता, परन्तु स्वर्ण मात्रामान में सम्पूर्ण स्वर्ण व्यक्तिगत कोषों में न रहकर सरकारी कोष में संचित रहता है। सरकारी कोष में रखे इस स्वर्ण का उपयोग आवश्यकतानुसार सार्वजनिक हित में किया जा सकता है।

(4) **विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता**—चूँकि स्वर्ण मुद्रामान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता, इसलिए विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखना आसान हो जाता है। विदेशी विनिमय की माँग में होने वाले परिवर्तनों को स्वर्ण के आयात निर्यात द्वारा तटस्थ (neutralised) किया जा सकता है।

(5) **इस मान में स्वयचालकता का गुण होता है**—स्वर्ण मुद्रामान की भाँति इस मान में भी स्वयचालकता का गुण पाया जाता है। जब मुद्रा की माँग कम हो जाती है तब जनता सोना खरीदना आरम्भ कर देती है। इससे एक ओर तो स्वर्ण प्रारक्षण में सोने की मात्रा कम हो जाती है और दूसरी ओर चलन में मुद्रा की मात्रा भी कम हो जाती है और अन्तत मुद्रा की मात्रा इसकी माँग के बराबर हो जाती है। इसके विपरीत जब मुद्रा की माँग अधिक होती है तब जनता अपना सोना बेचना आरम्भ कर देती है और यह सोना सरकार के स्वर्ण प्रारक्षण में जमा हो जाता है। स्वर्ण प्रारक्षण की मात्रा बढ जाने से मुद्रा की मात्रा में भी वृद्धि होती है और इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग के बराबर हो जाती है। दूसरे शब्दों में स्वर्ण मात्रामान की स्वयचालकता के कारण देश की मुद्रा की माँग और पूर्ति का स्वत ही सन्तुलन बना रहता है। फलत देश के कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता बनी रहती है।

(6) **सरलता**—यह मुद्रा-प्रणाली स्वर्णमान का सरलतम रूप है। इसे समझना साधारण जनता के लिए आसान होता है और इस मान पर अधिक व्यय भी नहीं किया जाता है।

(7) **जनता का अधिक विश्वास**—चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार जनता द्वारा माँग करने पर कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों को सदैव स्वर्ण में बदलने के लिए तैयार रहती है, इसलिए स्वर्ण मात्रामान में जनता का विश्वास अधिक होता है।

स्वर्ण मात्रामान के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **यह मुद्रा-प्रणाली सकट के समय साथ नहीं देती**—स्वर्ण मुद्रामान की भाँति स्वर्ण मात्रामान प्रणाली भी सकट के समय साथ नहीं देती, अर्थात् यह प्रणाली सकटकाल में ठीक ढग से कार्यशील नहीं होती और विवश होकर सरकार को इसका परित्याग करना पड़ता है। विशेषकर युद्ध के समय जब जनता की स्वर्ण सम्बन्धी माँग बहुत बढ जाती है और इस बढ़ी हुई माँग को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त स्वर्ण प्रारक्षण (gold reserves) नहीं होते, तब ऐसे समय सरकार विवश होकर इस प्रणाली का त्याग देती है। इस प्रकार स्वर्ण मात्रामान प्रणाली केवल साधारण समयों में ही सुचारु रूप से कार्यशील रहती है।

(2) **इस प्रणाली में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता रहती है**—आलोचकों का कहना है कि स्वर्ण मात्रामान प्रणाली में स्वयचालकता (automatic working) का गुण उतना नहीं पाया जाता जितना कि स्वर्णमान में। उनका मत है कि स्वर्ण मात्रामान एक प्रकार की नियन्त्रित अथवा प्रबन्धित प्रणाली होती है क्योंकि इसके अन्तर्गत सरकार कागजी मुद्रा प्रतीक मुद्रा तथा स्वर्ण प्रारक्षणों का स्वय सचालन करती है। इस प्रकार बिना सरकारी हस्तक्षेप के स्वर्ण मात्रामान सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता।

(3) **यह प्रणाली मितव्ययी नहीं होती**—इस प्रणाली के अन्तर्गत बहुत बड़ी मात्रा में सोना स्वर्ण प्रारक्षणों (gold reserves) में बेकार पड़ा रहता है और उसे किसी लाभदायक उपयोग में नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार इस मान का प्रबन्ध करने में भी सरकार को बहुत व्यय करना पड़ता है। अतएव यह एक खर्चीला मान है।

(4) **जनता का इसमें विश्वास अपेक्षाकृत कम होता है**—स्वर्ण मुद्रामान की अपेक्षा इस मान में जनता का विश्वास प्राय कम होता है। इसका कारण यह है कि इस मान के अन्तर्गत सोने के सिक्के प्रचलन में नहीं होते और विनिमय सम्बन्धी कार्यों को कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस मान के अधीन कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों का प्राय विदेशी भुगतानों के लिए ही स्वर्ण में बदला जाता है, घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं।

(ग) स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)

इस प्रणाली का विकास मुख्यत 19वीं शताब्दी में हुआ था, परन्तु भारत तथा अन्य कुछ देशों ने इस प्रणाली को 20वीं शताब्दी के आरम्भ में ही अपनाया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत,

सरकार देशी मुद्रा को घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वर्ण में बदलने का अपने ऊपर उत्तरदायित्व नहीं लेती। इसके अधीन तो सरकार देशी मुद्रा को किसी दूसरे ऐसे देश की मुद्रा में परिवर्तित करने का आश्वासन देती है जो स्वयं स्वर्णमान पर होता है। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान प्रणाली के अन्तर्गत देश की मुद्रा का स्वर्ण से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु देशी मुद्रा को एक निश्चित विनिमय-दर पर किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। इस प्रणाली में निश्चित विनिमय-दर पर सरकार देशी मुद्रा को विदेशी मुद्रा में बदलने का आश्वासन देती है। सरकार देशी मुद्रा के बदले में घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सोना नहीं देती, परन्तु देश की मुद्रा को निश्चित दर पर विदेशी मुद्रा में बदलने के लिए सदैव तत्पर रहती है। इस प्रकार इस प्रणाली में देशी मुद्रा का सोने से केवल अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है।

इस प्रणाली में आन्तरिक मुद्रा, कागजी मुद्रा तथा हल्की धातुओं के बने हुए सिक्कों की होती है। जैसे ऊपर कहा गया है, कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों को घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सोने में नहीं बदला जा सकता। परन्तु विदेशों को भुगतान करने के लिए देश की आन्तरिक मुद्रा निश्चित दर पर विदेशी मुद्रा में परिवर्तनशील होती है। स्मरण रहे कि देशी मुद्रा उस विदेशी मुद्रा में परिवर्तनीय होती है जो स्वयं सोने में बदली जा सकती है।

स्वर्ण विनिमय मान के दो सम्भव रूप हो सकते हैं—प्रथम रूप में देश के भीतर स्वर्ण प्रारक्षण (gold reserves) नहीं रखे जाते। स्वर्ण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश उस देश के स्वर्ण प्रारक्षणों पर निर्भर रहता है, जिसकी मुद्रा से देश की मुद्रा सम्बन्धित होती है। दूसरे रूप में स्वर्ण विनिमय मान वाला देश अपना कुछ कोष विदेशी विनिमय के रूप में उस देश में रखता है जिसकी मुद्रा के साथ देश की मुद्रा जुड़ी हुई होती है। दूसरे प्रकार के स्वर्णमान को कुछ मुद्रा-अर्थशास्त्री स्वर्ण विनिमय मान स्वीकार नहीं करते। किन्तु, वास्तव में दोनों रूप ही स्वर्ण विनिमय मान हैं।

स्वर्ण विनिमय मान की कार्य-प्रणाली—जैसा ऊपर कहा गया है, स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत देशी मुद्रा के पीछे सोने का नहीं बल्कि विदेशी विनिमय का कोष रखा जाता है। सरकार देशी मुद्रा के बदले विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करती है। जब सरकार विदेशी विनिमय को खरीदती है तब देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। इसके विपरीत, जब सरकार विदेशी विनिमय को बेचती है तो देश में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा विदेशी व्यापार की स्थिति पर निर्भर करती है। जब देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है तो विदेशी ऋण भुगतान के लिए सरकार व्यापारियों को विदेशी विनिमय बेचती है। इसके विपरीत जब देश का अदायगी शेष अनुकूल (favourable) होता है, तब सरकार व्यापारियों से विदेशी विनिमय खरीद लेती है। इस प्रणाली में इस प्रकार विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय द्वारा सरकार कुछ लाभ भी कमाती है, क्योंकि विदेशी विनिमय को खरीदने व बेचने की दरों में प्रायः अन्तर होता है।

स्वर्ण विनिमय मान का विकास सर्वप्रथम, डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने स्वर्ण विनिमय मान प्रणाली का उल्लेख किया था। सन् 1877 में हॉलैण्ड (Holland) ने इसे अपनाया था। सन् 1892 में रूस ने भी इसका आश्रय लिया था और उसी वर्ष आस्ट्रिया-हंगरी (Austria Hungary) ने भी इस प्रणाली को ग्रहण किया था। भारत में सन् 1900 में इस मान को अपनाया गया था। उस समय भारतीय रुपये को ब्रिटिश पौण्ड से जोड़ दिया गया था। भारतीय रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस (1s 4d) प्रति रुपया निश्चित की गयी थी। प्रथम विश्व युद्ध में भारत सरकार ने इस मान को कठिनाइयों के बावजूद चालू रखा था। परन्तु सन् 1917 में भारत सरकार ने इसे त्याग दिया। सन् 1920 में युद्ध की समाप्ति पर भारत सरकार ने इसे पुनः अपना लिया था। किन्तु रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस प्रति रुपया के बजाय 2 शिलिंग प्रति रुपया रखी गयी थी। परन्तु इस नयी विनिमय-दर को बनाये रखने में भारत सरकार असफल रही। इसका कारण यह था कि एक ओर चाँदी का मूल्य बहुत गिर गया था और दूसरी ओर देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो गया था जिसके फलस्वरूप भारत सरकार भारतीय व्यापारियों की बढ़ी हुई ब्रिटिश मुद्रा की माँग को सन्तुष्ट

करने मे असमर्थ रही थी। अन्तत सन् 1927 मे भारत सरकार ने स्वर्ण विनिमय मान का परित्याग कर स्वर्ण मात्रामान को अपना लिया था।

स्वर्ण विनिमय मान को बनाये रखने के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State) ने लन्दन मे काउन्सिल बिल्स (Council Bills) अथवा रुपया बिल्स (Rupee Bills) नाम के पत्रो को ब्रिटेन मे ऐसे व्यक्तियो को बेचना आरम्भ कर दिया जो भारतीय व्यापारियो को भुगतान करना चाहते थे। मान लीजिये कि किसी ब्रिटिश आयातकर्ता को भारत मे भुगतान करना है तो वह सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पास जाकर ब्रिटिश मुद्रा के बदले काउन्सिल बिल्स (Council Bills) खरीद लिया करता था और इन्ही बिलो को भारतीय व्यापारी को भेज देता था। भारतीय व्यापारी इन्ही बिलो के आधार पर भारत सरकार से निश्चित दर पर रुपया ले लेता था। इसी प्रकार भारत सरकार रिवर्स काउन्सिल बिल्स (Reverse Council Bills) या स्टर्लिंग बिल्स (Sterling Bills) उन भारतीय व्यापारियो को बेचती थी जो ब्रिटिश व्यापारियो को भुगतान करना चाहते थे। भारतीय व्यापारी देशी मुद्रा के बदले निश्चित दर पर सरकार से रिवर्स काउन्सिल बिल खरीद लेते थे और इन्हो बिलो को ब्रिटिश व्यापारियो को भेज देते थे। ब्रिटिश व्यापारी इन बिलो के आधार पर ब्रिटिश सरकार से ब्रिटिश मुद्रा ले लेते थे। इस प्रकार काउन्सिल बिलो तथा रिवर्स काउन्सिल बिलो की सहायता से ब्रिटेन और भारत के व्यापारियो को एक दूसरे को भुगतान करने मे आसानी रहती थी। इन बिलो का क्रय विक्रय इस ढग से किया जाता था कि दोनो मुद्राओ के बीच विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस प्रति रुपया बनी रहे। इस प्रकार भारत मे स्वर्ण विनिमय मान के प्रचलन मे काउन्सिल बिलो तथा रिवर्स काउन्सिल बिलो ने बहुत योग दिया था।

भारत के अलावा डेनमार्क जर्मनी पोलैण्ड चिली बोलिविया, पनामा, मैक्सिको, फिलीपाइन्स तथा आस्ट्रेलिया जैसे देशो ने भी स्वर्ण विनिमय मान को विभिन्न समयो मे अपनाया था।

स्वर्ण विनिमय मान की विशेषतायें—इसकी विशेषतायें निम्नलिखित है

(1) **अविनिमेय कागजी मुद्रा तथा प्रतीक सिक्कों का प्रचलन** इस प्रणाली के अन्तर्गत देश मे सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता और न ही कागजी मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। देश की आन्तरिक मुद्रा अविनिमेय कागजी मुद्रा तथा हल्की धातुओ के बने हुए प्रतीक सिक्को की होती है।

(2) **मुद्रा का स्वर्ण से केवल अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है**—इस प्रणाली मे देशी मुद्रा का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। देशी मुद्रा केवल अप्रत्यक्ष रूप मे ही स्वर्ण से सम्बन्धित होती है, अर्थात देशी मुद्रा प्रत्यक्ष रूप मे स्वर्ण मे नही बदली जा सकती, बल्कि एक निश्चित दर पर उस देश की मुद्रा मे बदली जा सकती है जो स्वर्ण मुद्रामान या स्वर्ण मात्रामान पर आधारित होता है।

(3) **विदेशी भुगतानो के लिए सोना दिया जाता है** इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार देशी मुद्रा को विदेशी भुगतानो के लिए ही सोने मे बदलने के लिए उत्तरदायी होती है। स्मरण रहे, देशी मुद्रा के बदले मे प्रत्यक्ष रूप से सरकार द्वारा सोना नही दिया जाता। देशी मुद्रा के बदले तो सरकार केवल विदेशी विनिमय ही देती है। परन्तु विदेशी विनिमय आगे चल कर स्वर्ण मे परिवर्तनीय होता है।

(4) **वस्तुओ तथा सेवाओं को कीमतें अप्रत्यक्ष रूप मे सोने से निश्चित होती हैं**—इस प्रणाली के अधीन, जैसा पहले कहा गया है सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम के रूप मे और न मूल्यमान के रूप मे ही किया जाता है किन्तु फिर भी सभी प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ की कीमतें परोक्ष रूप मे सोने की कीमतो से निश्चित होती हैं।

(5) **विदेशो से भुगतान सोने अथवा स्वीकृत विदेशी मुद्राओ मे लिये जाते हैं** विदेशो से लिये जाने वाले भुगतान सोने अथवा स्वीकृत विदेशी मुद्राओ मे ही ग्रहण किये जाते है।

(6) **स्वर्ण मे स्वतन्त्र बाजार का अभाव**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने मे स्वतन्त्र बाजार

(free market) नही होता। सरकार द्वारा स्वर्ण बाजार को पूर्णत. नियन्त्रित किया जाता है। कोई भी व्यक्ति सोने का आयात या निर्यात नही कर सकता।

स्वर्ण विनिमय मान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं :

(1) **यह प्रणाली मितव्ययी होती है**—यह प्रणाली कई कारणो से कम खर्चीली होती है। **प्रथम**, इस प्रणाली मे सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता जिसके कारण सोने की घिसावट से होने वाली राष्ट्रीय हानि से देश को बचाया जा सकता है। **दूसरे**, घरेलू आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कागजी मुद्रा तथा प्रतीक मुद्रा के बदले स्वर्ण देने का सरकार पर कोई उत्तरदायित्व नही होता। इसलिए सोने को कोष मे रखने की आवश्यकता नही पडती और इसे अन्य लाभदायक उपयोगो मे लगाया जा सकता है। **तीसरे**, इस प्रणाली के अन्तर्गत, जैसा ऊपर कहा गया है, सोने का स्वतन्त्र बाजार नही होता जिसके फलस्वरूप न तो सोने का आयात हो सकता है और न ही निर्यात। इसमे सोने के आयात-निर्यात पर होने वाले व्यय से बचा जा सकता है। इन्ही कारणो से यह प्रणाली मितव्ययतापूर्ण होती है।

(2) **मुद्रा-पूर्ति मे लोच**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण प्रारक्षण (gold reserves) रखने की आवश्यकता नही होती, इसलिए सरकार व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार अधिक मुद्रा जारी कर सकती है। अतएव यह मान बहुत लोचपूर्ण होता है।

(3) **सरकार को लाभ**—इस मान से देश की सरकार को भी आर्थिक लाभ होता है। **प्रथम**, विदेशो मे जो कोष रखे जाते हैं, उन पर सरकार को ब्याज की प्राप्ति होती है। **दूसरे**, सरकार विदेशी विनिमय को खरीदने तथा बेचने की दरो मे कुछ अन्तर अवश्य रखती है जिससे सरकार को लाभ होता है।

(4) **विदेशी विनिमय-दर मे स्थिरता**—इस प्रणाली मे विदेशी विनिमय की दर को स्थिर बनाये रखने की जिम्मेदारी सरकार की होती है। विनिमय-दर को स्थिर बनाये रखने के लिए सरकार अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करती है। विदेशी विनिमय-दर की इस स्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे आसानी रहती है, जिसके फलस्वरूप देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) **स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त होते हैं**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने के सिक्को को प्रचलित किये बिना ही स्वर्णमान के सभी लाभ उठाये जा सकते हैं। अतएव यह प्रणाली पिछड़े तथा अविकसित देशो के लिए बहुत उपयुक्त रहती है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष—इसके दोष निम्नलिखित है

(1) **जटिलता**—स्वर्ण विनिमय मान एक अत्यन्त कठिन व जटिल प्रणाली होती है और साधारण जनता के लिए इसे समझना आसान नही होता।

(2) **इसमे जनता का विश्वास कम होता है**—स्वर्ण मुद्रामान की अपेक्षा स्वर्ण विनिमय मान मे जनता का विश्वास कम होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार देशी मुद्रा के बदले सोना नही देती। केवल विदेशो को भुगतान करने के लिए सरकार देशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा देती है जो स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। इस प्रकार देशी मुद्रा का सोने से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता।

(3) **स्वयचालकता का अभाव**—यह प्रणाली स्वयचालित (automatic) नही है, बल्कि इसको प्रचलित रखने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पडता है। इसलिए इसे प्रबन्धित मान (managed standard) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(4) **इस प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है**—इस प्रणाली मे लोच का अभाव रहता है। इस मान के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति मे विस्तार करना तो आसान होता है (क्योकि इसके पीछे स्वर्ण प्रारक्षण की आवश्यकता नही होती) परन्तु मुद्रा का सकुचन करना अति कठिन होता है। भारत मे स्वर्ण विनिमय मान का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है।

(5) **इस मान में कोषो की अधिकता होती है**—यह प्रणाली, वास्तव मे, एक खर्चीली

प्रणाली है। इसे प्रचलित रखने के लिए कई प्रकार के कोषो की आवश्यकता पड़ती है और उनका व्यवस्था पर बहुत खर्च भी करना पड़ता है। भारत मे स्वर्ण विनिमय मान को चलाने के लिए तीन प्रकार के कोष रखे गये थे। प्रथम, स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve), द्वितीय, कागजी मुद्रा कोष (Paper Currency Reserve), और तृतीय, भारत सरकार का ब्रिटेन और भारत मे जमा किया गया कोष। हिल्टन यग आयोग (Hilton Young Commission) ने स्वर्ण विनिमय मान के इस खर्चीलेपन के कारण ही इसकी आलोचना की थी।

(6) **देश की मुद्रा विदेशी मुद्रा पर आश्रित रहती है**—इस मान के अन्तर्गत देश की मौद्रिक स्वतन्त्रता (monetary freedom) प्राय समाप्त हो जाती है और इस मान को अपनाने वाले देश को आधार-देश (planet country) की मुद्रा-नीति से शासित होना पड़ता है। यदि किसी कारण आधार-देश स्वर्णमान को त्याग देता है तो इस परिस्थिति मे उस देश की मुद्रा से सम्बन्धित सभी देशो को स्वर्ण विनिमय मान का परित्याग करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि ऐसी परिस्थिति मे आधार-देश से सम्बन्धित सभी देशो की मुद्राएँ स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही रहती। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान को अपनाने वाला देश, व्यापार, वाणिज्य तथा निवेशो (investments) के लिए आधार-देश पर सदा के लिए निर्भर हो जाता है।

(7) **आधार-देश की मुद्रा प्रणाली असुरक्षित रहती है**—इस प्रणाली के अन्तर्गत आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली मे सदैव असुरक्षा की भावना बनी रहती है। उसका कारण यह है कि आधार-देश के पास स्वर्ण प्रारक्षण सीमित मात्रा मे ही होता है, परन्तु इस सीमित प्रारक्षण पर आधार-देश के अतिरिक्त उन सभी देशो का बोझ पड़ता है जिन्होने अपनी मुद्रा को आधार देश की मुद्रा से जोड़ रखा होता है। यदि आधार देश तथा इसके साथ जुड़े हुए देशो की स्वर्ण सम्बन्धी माँग बढ़ जाती है तो ऐसी परिस्थिति मे आधार-देश की मुद्रा प्रणाली सकट मे पड़ जाती है। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत आधार-देश की मुद्रा-प्रणाली के लिए सदैव खतरा बना रहता है।

(8) **विदेशों में स्वर्ण कोष जमा करने वाले देश को हानि का भय रहता है**—जैसा ऊपर कहा गया है, स्वर्ण विनिमय मान अपनाने वाले देश को विदेशी भुगतानो की सुविधा के लिए किसी विदेशी बैंक मे स्वर्ण प्रारक्षण रखना पड़ता है। यदि किसी कारणवश यह बैंक फेल हो जाता है तो उस देश को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

स्वर्ण विनिमय मान की उपर्युक्त त्रुटियो के कारण हिल्टन यग आयोग (Hilton Young Commission) ने इस मान को भारत के लिए अनुपयुक्त घोषित किया था और आयोग के सुझाव पर भारत सरकार ने सन् 1927 मे इसका परित्याग कर दिया था।

स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण मात्रामान की तुलना

स्वर्ण मुद्रामान	स्वर्ण मात्रामान
(1) इस मान के अन्तर्गत, स्वर्ण का विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान दोनो के ही रूप मे उपयोग किया जाता है।	(1) इस मान के अन्तर्गत, स्वर्ण का केवल मूल्यमान के रूप मे ही उपयोग किया जाता है, विनिमय माध्यम के रूप मे नही।
(2) इसके अन्तर्गत स्वर्ण के सिक्के प्रचलन मे होते हैं तथा उनका टकण खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर होता है।	(2) इसके अन्तर्गत, स्वर्ण के सिक्के प्रचलन मे नही होते और उनके टकण का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।
(3) इस मान के अन्तर्गत, देश मे प्रतिनिधि कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है और सरकार इस मुद्रा को अपरिमित मात्रा मे स्वर्ण के सिक्को मे बदलने का आश्वासन देती है।	(3) इस मान के अन्तर्गत, देश मे कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है जिसे सरकार निश्चित दर पर स्वर्ण मे बदलने का आश्वासन देती है। परन्तु व्यवहार मे सरकार स्वर्ण बेचने की एक न्यूनतम सीमा निर्धारित कर देती है। उस सीमा से कम मात्रा मे सरकार किसी को भी स्वर्ण बेचने के लिए तैयार नही होती।

(4) इस मान के अन्तर्गत, स्वर्ण का उपयोग देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के भुगतानों के लिए किया जाता है।	(4) इस मान के अन्तर्गत, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से तो स्वर्ण सरकार से किसी भी उद्देश्य के लिए खरीदा जा सकता है, परन्तु व्यवहार में स्वर्ण सरकार द्वारा केवल विदेशी भुगतानों के लिए ही दिया जाता है।
(5) यह प्रणाली स्वयंचालित होती है। इसे प्रचलित रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती।	(5) इस प्रणाली में सरकारी हस्तक्षेप की बहुत आवश्यकता रहती है।
(6) इस प्रणाली में देश के आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।	(6) इस प्रणाली में विदेशी विनिमय-दरों की स्थिरता पर अधिक बल दिया जाता है।

स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण मात्रामान की तुलना

स्वर्ण विनिमय मान	स्वर्ण मात्रामान
(1) इस मान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता। सोने का उपयोग न तो विनिमय के माध्यम के रूप में और न ही मूल्य-मान के रूप में होता है।	(1) इस मान में भी सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता अर्थात् सोना विनिमय माध्यम का कार्य नहीं करता, परन्तु मूल्यमान के रूप में सोने का उपयोग किया जाता है।
(2) इस मान में देशी मुद्रा को सोने में बदलने की सरकार द्वारा किसी प्रकार की कोई गारण्टी नहीं दी जाती। इसके अतिरिक्त, देश में अविनिमेय कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है।	(2) इस मान में देशी मुद्रा को निश्चित दरों पर सोने में बदलने की सरकार द्वारा गारण्टी दी जाती है और देश में विनिमेय कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है।
(3) इस प्रणाली में सरकार के लिए स्वर्ण प्रारक्षण का रखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि कागजी मुद्रा को सोने में बदलने की सरकार *द्वारा कोई गारण्टी नहीं दी जाती। सरकार* तो केवल निश्चित विनिमय-दर पर देशी मुद्रा को किसी ऐसी विदेशी मुद्रा में बदलने का आश्वासन देती है जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।	(3) इस प्रणाली में चूँकि कागजी मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है, इसलिए सरकार के लिए स्वर्ण प्रारक्षण रखना अनिवार्य होता *है, परन्तु स्वर्ण प्रारक्षण की कीमत जारी की* गयी कुल कागजी मुद्रा से कम होती है।
(4) इस प्रणाली में सरकार सोना खरीदने व बेचने की अपने ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं लेती।	(4) इस प्रणाली में सरकार निश्चित दर पर तथा अपरिमित मात्रा में सोना खरीदने व बेचने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है।
(5) इस प्रणाली में देशी मुद्रा अप्रत्यक्ष रूप में ही सोने से सम्बन्धित होती है।	(5) इस प्रणाली में देशी मुद्रा प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण से सम्बन्धित होती है।

स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण विनिमय मान की तुलना

स्वर्ण मुद्रामान	स्वर्ण विनिमय मान
(1) इस मान मे सोने का विनिमय् माध्यम तथा मूल्यमान दोनो ही रूपो मे उपयोग किया जाता है।	(1) इस मान मे सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम और न ही मूल्यमान के रूप मे किया जाता है।
(2) इस प्रणाली मे सोने के सिक्को का प्रचलन होता है और इनका टकण खुली सिक्का ढलाई के आधार पर होता है।	(2) इस प्रणाली मे सोने के सिक्को का प्रचलन नही होता। अत उनके टकण का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।
(3) इस प्रणाली मे प्रतिनिधि कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है और सरकार अपरिमित मात्रा मे इस मुद्रा को सोने मे बदलने का आश्वासन देती है।	(3) इस प्रणाली मे अविनिमेय कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है। इस मुद्रा को सोने मे बदलने की सरकार द्वारा कोई गारण्टी नहीं दी जाती। इसीलिए सरकार अपने पास स्वर्ण प्रारक्षण भी नही रखती। परन्तु सरकार देशी मुद्रा को किसी ऐसी विदेशी मुद्रा मे बदलने की गारण्टी देती है जो स्वय स्वर्ण मे परिवर्तनशील होती है।
(4) यह प्रणाली स्वयचालित होती है और इसमे किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नही पडती।	(4) यह प्रणाली स्वयंचालित नही है और इसे चालू रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य होता है।
(5) इस प्रणाली मे देश के आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया जाता है।	(5) इस प्रणाली मे केवल विदेशी विनिमय-दरो की स्थिरता पर ही जोर दिया जाता है।
(6) इस प्रणाली मे देश अपने लिए एक स्वतन्त्र मौद्रिक नीति निर्धारित कर सकता है।	(6) इस प्रणाली मे देश को स्वतन्त्र मौद्रिक नीति अपनाने का अवसर नही मिल सकता, क्योकि देश की मौद्रिक नीति आधार-देश की मौद्रिक नीति से शासित होती है।

(घ) स्वर्ण प्रारक्षण मान अथवा स्वर्ण कोष मान (Gold Standard Reserve)

इस मान का विकास सन् 1936 मे किया गया था। सन् 1936 से लेकर सन् 1939 तक यह मान पश्चिमी देशो मे कार्यशील रहा था। इस मान का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित करना था। जसा पहले कहा जा चुका है, ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका तथा फ्रास द्वारा क्रमश सन् 1931, 1933, 1936 मे स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया था। स्वर्णमान के इस सामान्य (general) परित्याग के परिणामस्वरूप इन देशो की विदेशी विनिमय दरो मे भारी अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी, जिससे इन देशो के विदेशी व्यापार को बहुत धक्का लगा था। अत विदेशी विनिमय-दरो ■ स्थिरता स्थापित करने के लिए सन् 1936 मे अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रास के बीच एक त्रिपक्षीय मौद्रिक समझौता (Tripartite Monetary Agreement) हुआ था। बाद मे चलकर हॉलैण्ड, बेल्जियम तथा स्विटजरलैण्ड भी इस समझौते म शामिल हो गये थे। इस समझौते के अन्तर्गत, इन देशो द्वारा जो मुद्रा प्रणाली अपनायी गयी थी उसे स्वर्ण प्रारक्षण मान (अथवा स्वर्ण कोष मान) कहते हैं। जैसा कहा गया है, इस प्रणाली का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति मे इस प्रणाली को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी। परन्तु यह प्रणाली अधिक समय तक प्रचलित न रह सकी और सन् 1939 मे दूसरे विश्व युद्ध के छिड़ जाने से यह समाप्त हो गयी।

स्वर्ण प्रारक्षण मान की विशेषताएँ—इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **देशी मुद्रा का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं होता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, स्वर्ण न तो विनिमय का माध्यम होता है और न ही मूल्य का मापक, अर्थात् देश के भीतर कागजी मुद्रा तथा हल्की धातुओ के बने हुए सिक्को का प्रयोग होता है। इन मुद्राओ को स्वर्ण मे बदलने की सरकार द्वारा कोई गारण्टी नही दी जाती।

(2) **स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र नहीं होता**—इस प्रणाली मे सोने का आयात तथा निर्यात निजी व्यक्तियो द्वारा नही किया जा सकता, बल्कि सोने के आयात निर्यात पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार (monopoly) होता है और केवल मुद्रा-सम्बन्धी कार्यों के लिए ही सोने का आयात-निर्यात किया जाता है।

(3) **विनिमय समानीकरण कोषो की स्थापना**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रखने के लिए समझौते मे सम्मिलित प्रत्येक देश को विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना करनी पड़ती है। विनिमय समानीकरण कोष को विनिमय समानीकरण लेखा (Exchange Equalisation Account) तथा विनिमय कोष (*Exchange Fund*) भी कहा जाता है। *विनिमय समानीकरण कोष का मुख्य उद्देश्य* विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रखना है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोष मे देशी मुद्रा के साथ-साथ विदेशी विनिमय (foreign exchange) तथा स्वर्ण भी रखा जाता है। यदि किसी विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तो उस मुद्रा का मूल्य अन्य मुद्राओ की तुलना मे बढ़ जाता है परन्तु ऐसी परिस्थिति मे विनिमय समानीकरण कोष के अधिकारी उस विदेशी मुद्रा का बाजार मे बेचकर उसके मूल्य को अधिक बढ़ने से रोक सकते है।

इस प्रणाली मे यह भी व्यवस्था होती है कि यदि किसी देश के विनिमय समानीकरण कोष मे किसी विदेशी मुद्रा की पूर्ति अत्यधिक बढ जाती है तो वह देश उस देश से उसकी मुद्रा के बदले सोना ले सकता है। *मान लीजिए कि फ्रांस के विनिमय समानीकरण कोष मे ब्रिटेन की* स्टर्लिंग मुद्रा की पूर्ति अत्यधिक बढ जाती है। तब ऐसी परिस्थिति मे फ्रास की सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्टर्लिंग मुद्रा के बदले ब्रिटेन की सरकार से सोना प्राप्त कर ले और ब्रिटिश सरकार की यह जिम्मेदारी है कि वह अपनी मुद्रा के बदले मे फ्रास की सरकार को उसी कीमत का सोना दे। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष को सोने का स्थानान्तरण होता रहता था। इसलिए इस प्रणाली को स्वर्ण प्रारक्षण मान का नाम दिया गया था।

(4) **कोषो की गोपनीयता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष को होने वाले स्वर्ण के स्थानान्तरण को गोपनीय रखा जाता था और जनता को इस बारे मे बिल्कुल किसी प्रकार की जानकारी नही होती थी कि उस देश का कोष क्या खरीद रहा है और क्या बेच रहा है, और न ही जनता को इस बात की जानकारी होती थी कि देश के कोष मे कितना सोना और कितनी विदेशी मुद्राएँ हैं।

(5) ***आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे बिना किसी हस्तक्षेप के विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता***—इस मान की एक विशेषता यह भी थी इसके अन्तर्गत देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे बिना किसी हस्तक्षेप के विदेशी विनिमय-दरो को स्थिर बनाया जा सकता था। इसका कारण स्पष्ट है। सरकारे विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति का समन्वय विनिमय समानीकरण कोषो द्वारा आसानी से कर लिया करती थी। इस प्रकार विदेशी विनिमय की माँग तथा पूर्ति का सन्तुलन आन्तरिक अर्थ व्यवस्था मे बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप के बनाये रखा जा सकता था।

स्वर्ण प्रारक्षण प्रणाली ने दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व लगभग तीन वर्ष तक सफलतापूर्वक कार्य किया था। इसके अन्तर्गत, विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित की जा सकी जिसके परिणामस्वरूप उक्त देशो के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। परन्तु दूसरे विश्व युद्ध के छिड जाने मे इन देशो मे कुछ असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थी, जिनके कारण यह प्रणाली अधिक समय तक न टिक सकी और अन्तत: इसका पतन हो गया।

(ङ) स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard)

स्वर्ण समतामान विस्तृत अर्थ में स्वर्णमान का आधुनिकतम रूप है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में पुराना परम्परागत स्वर्णमान क्रियाशील नहीं हो सकता। अतएव एक नयी किस्म के स्वर्णमान की आवश्यकता अनुभव की गयी, जिसे स्वर्ण समतामान का नाम दिया गया है। सन् 1946 में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की स्थापना के साथ स्वर्ण समतामान अस्तित्व में आया था। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपनी मुद्रा को स्वर्ण में परिभाषित करना पड़ता है, अर्थात् प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करना पड़ना है और इसी घोषित मूल्य के आधार पर उस देश की मुद्रा का दूसरे देशों की मुद्राओं के साथ विनिमय सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, उस देश की मुद्रा की दूसरे देशों की मुद्राओं के साथ विनिमय-दर उसी घोषित मूल्य के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस मान की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **देशी मुद्रा का स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं होता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, स्वर्ण देश में न तो विनिमय का माध्यम और न ही मूल्य का मापक होता है, अर्थात् इस मान के अन्तर्गत देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता। देश में कागजी मुद्रा तथा हल्की धातुओं के बने हुए सिक्कों का ही प्रचलन होता है। देशी मुद्रा न तो सोने के सिक्कों में, न ही सोने की छड़ों (bars) में और न ही किसी ऐसी विदेशी मुद्रा में परिवर्तनीय होती है जो स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो।

(2) **मुद्रा की स्वर्ण में परिभाषा**—इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा के मूल्य को स्वर्ण में परिभाषित करना अनिवार्य होता है और इसी परिभाषित मूल्य के आधार पर देश की मुद्रा का दूसरे देशों की मुद्राओं से सम्बन्ध निर्धारित किया जाता है।

(3) **प्रत्येक देश की मौद्रिक नीति स्वतन्त्र होती है**—इस मान को अपनाने वाले प्रत्येक देश को आन्तरिक मौद्रिक विषयों में पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। एक देश की मौद्रिक नीति का दूसरे देश की मौद्रिक नीति से कोई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। मौद्रिक क्षेत्र में विभिन्न देशों का पारस्परिक सहयोग विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए ही होता है। विभिन्न देशों के आन्तरिक मौद्रिक विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता है।

(4) **विनिमय-दरों में लोच**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सदस्य देशों की विदेशी विनिमय-दरों में लोचकता (elasticity) का अंश पाया जाता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) के विधान के अनुसार सदस्य-देश कुछ विशेष परिस्थितियों में अपनी मुद्रा का स्वर्ण में घोषित किया गया मूल्य परिवर्तित कर सकते हैं, अर्थात् सदस्य-देश कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर को बदल सकते हैं

(5) **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सदस्य-देशों को ऋण देने की व्यवस्था**—इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखने के लिए सदस्य देशों को विदेशी मुद्राओं के रूप में ऋण देने की सुविधा भी प्रदान करता है।

कुछ रूढ़िवादी अर्थशास्त्री स्वर्ण समतामान को स्वर्णमान मानने से ही इन्कार करते हैं। उनके कथनानुसार चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है, इसलिए इस मान को स्वर्णमान का दर्जा देना उचित नहीं। परन्तु यह कहना असत्य न होगा कि इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने को महत्वपूर्ण स्थान न दिये जाने के बावजूद विभिन्न देशों की मुद्राओं की एक-दूसरे की विनिमय-दर स्वर्ण के माध्यम से ही निश्चित होती है। अतएव स्वर्ण समतामान स्वर्णमान का नवीनतम रूप माना जाता है।

स्वर्णमान के नियम
(Rules of Gold Standard)

प्रो० क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "स्वर्णमान ईर्ष्यालु देव है। यह उसी परिस्थिति में कार्य करता है जब इसकी तन मन से साधना की जाय।"[1] दूसरे शब्दों में, स्वर्णमान प्रणाली

1 'The Gold Standard is a jealous God It will work, provided it is given exclusive devotion' —*Crowther*

के लाभ तभी उपलब्ध होते है जब स्वर्णमान के नियमो का उचित ढग से परिपालन किया जाय। स्वर्णमान के नियम निम्नलिखित हैं

(1) **मुक्त व्यापार (Free Trade) की नीति अपनायी जाय**—स्वर्णमान सुचारु ढग से तभी कार्य कर सकता है जबकि देश मे पूर्ण व्यापारिक स्वतन्त्रता हो। दूसरे शब्दो म, सरकार द्वारा वस्तुओ के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाना चाहिए। यदि सरकार आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाती है तो इससे स्वर्णमान की क्रियाशीलता मे बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि देश की सरकार सरक्षणात्मक नीति (Protectionist Policy) अपनाती है और वस्तुओ के आयात व स्वर्ण के निर्यात पर कोटा (quota) तथा लाइसेंस (licence) आदि के रूप म प्रतिबन्ध लगाती है तो इससे देश के व्यापारिक भुगतानो मे असमानता उत्पन्न हो जायगी। देश का अदायगी शेष (balance of payments) स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा सन्तुलित न हो सकेगा। अतएव अदायगी शेष की त्रुटियो तथा स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय वितरण की असमानताओ को ठीक करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाया जाय क्योकि ऐसा करने से स्वर्णमान की स्वयचालकता ही समाप्त हो जाती है।

(2) **स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्र होना चाहिए**—स्वर्णमान के प्रभावपूर्ण सचालन के लिए यह भी आवश्यक है कि स्वर्ण के आयात निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। स्वर्ण का एक देश से दूसरे देश को स्वतन्त्र आवागमन होना चाहिए। यदि कोई देश आयातित स्वर्ण (imported gold) को रोक लेता है और उसका निर्यात नही होने देता तो स्वर्ण के अभाव मे दूसरे देशो को स्वर्णमान का परित्याग करना पडेगा। अत यह नितान्त आवश्यक है कि स्वर्णमान वाले देश स्वर्ण के आयात निर्यात पर किसी प्रकार की रोक न लगायें।

(3) **देश की अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए**—स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए यह भी आवश्यक है कि देश की अर्थ व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे, देश की सरकार सोने के आयात-निर्यात से आन्तरिक कीमत स्तर पर पडने वाले प्रभाव को किसी भी प्रकार कम करने का प्रयत्न न करे। देश के स्वर्ण प्रारक्षणो (gold reserves) मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार ही मुद्रा पूर्ति म परिवर्तन करे। उदाहरणार्थ, जब किसी देश म निर्यातो की अपेक्षा आयात अधिक होते है, तब उस देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जायगा। ऐसी अवस्था म अदायगी शेष को ठीक करने के लिए देश को सोने का निर्यात करना चाहिए। सोने के निर्यात के फलस्वरूप उस देश म स्वर्ण प्रारक्षणो की मात्रा कम हो जाती है और अन्तत देश की सरकार को मुद्रा की पूर्ति भी उसी अनुपात म कम करनी पडती है। स्वर्णमान के अन्तर्गत जैसा हम जानते है मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण प्रारक्षणो पर निर्भर करती है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति म कमी हो जाने से देश का आन्तरिक कीमत स्तर नीचे गिर जाता है जिससे निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और आयात हतोत्साहित होते है। परिणामत अदायगी शेष की प्रतिकूलता समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जो देश स्वर्ण का आयात करता है उसे अपने स्वर्ण प्रारक्षणो मे हुई वृद्धि के अनुसार मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करनी पडती है जिससे अन्तत उस देश का कीमत स्तर ऊँचा हो जाता है। कीमत स्तर के ऊँचे हो जाने से देश मे आयात अधिक और निर्यात कम हो जाते है। परिणामत उस देश का अदायगी शेष अनुकूल हो जाता है। इस प्रकार सोने के आयात निर्यात से स्वर्ण प्रारक्षणो मे परिवर्तन होते हैं और उन्ही परिवर्तनो के अनुसार देश की मुद्रा पूर्ति मे परिवर्तन किये जाते हैं। देश के कीमत स्तर म भी उसी अनुपात मे उतार-चढाव होते हैं। **इस प्रकार स्वर्णमान का नियम यह है कि जब किसी देश मे सोने का आयात हो रहा हो तब उस देश को मुद्रा व साख का विस्तार करना चाहिए। इसके विपरीत जब किसी देश से सोने का निर्यात हो रहा हो तब उस देश को मुद्रा व साख का सकुचन करना चाहिए।** जब किसी देश की अर्थ व्यवस्था इस नियम का पालन करने मे समर्थ होती है तब उस देश की अर्थ व्यवस्था को लोचपूर्ण कहा जाता है। इस प्रकार स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए देश की अर्थ-व्यवस्था का लोचपूर्ण होना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए उपयुक्त तीनो नियमो का परिपालन करना स्वर्णमान वाले देशो के लिए अनिवार्य है। यदि इन नियमो

का पालन नहीं किया जाता तो स्वर्णमान का संचालन सफलतापूर्वक नहीं हो सकता। वास्तव में, प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्वर्णमान के इन नियमों का ईमानदारी से पालन नहीं किया गया और इसी कारण स्वर्णमान का पतन हुआ था।

स्वर्णमान का पतन
(Downfall of Gold Standard)

ग्रेट ब्रिटेन ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद अप्रैल 1925 में स्वर्णमान को पुन अपनाया था। परन्तु 6 वर्ष बाद सितम्बर 1931 में उसे स्वर्णमान को त्यागना पड़ा। इसके बाद अन्य देशों जैसे स्वीडन, यूनान, पुर्तगाल, दक्षिणी अफ्रीका, जापान इत्यादि देशों ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। सन् 1936 में अमरीका ने भी स्वर्णमान को छोड़ दिया था। फ्रांस ने कुछ समय तक स्वर्णमान को बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु सन् 1936 में फ्रांस ने भी इसे त्याग दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्धोत्तरकाल में एक-एक करके विश्व के सभी देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। स्वर्णमान के इस पतन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) **स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन**—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्वर्णमान के पतन का मुख्य कारण विभिन्न देशों द्वारा स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन करना था। स्वर्णमान के नियमों की इस अवहेलना के कारण स्वर्णमान की स्वयंचालकता लगभग समाप्त हो गयी थी। हमारे पास अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्णमान वाले देशों ने इस मान के नियमों का जानबूझकर उल्लंघन किया था।

(क) **स्वर्णमान के प्रथम नियम के अनुसार देश को मुक्त व्यापार (Free Trade) की नीति अपनानी चाहिए**—परन्तु युद्धोत्तरकाल में बहुत-से देशों ने इस नियम का पालन नहीं किया। सर्वप्रथम, फ्रांस और अमरीका ने इस नियम का उल्लंघन किया था। देश में आने वाली वस्तुओं तथा देश से निर्यात किये जाने वाले स्वर्ण पर इन देशों द्वारा तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये थे। आयातों पर ऊँचे-ऊँचे कर लगाये गये थे। केवल यही नहीं, आयातों में कमी करने के लिए कोटा प्रणाली तथा लाइसेंस प्रणाली का प्रयोग तक किया गया था। बाद में चलकर ब्रिटेन ने भी इसी नीति का अनुसरण किया और अपने आयातों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये। परिणामत ऋणी देशों को अपने ऋणों का भुगतान इन देशों की वस्तुओं के बजाय स्वर्ण के रूप में करना पड़ा। उनके स्वर्ण-कोष कम हो गये और विवश होकर उन्हें स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

(ख) **स्वर्णमान का दूसरा नियम यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण हो और मुद्रा-पूर्ति में देश के स्वर्ण प्रारक्षणों में हुए परिवर्तनों के अनुसार ही परिवर्तन किये जायें**—परन्तु सभी देशों ने स्वर्णमान के इस महत्वपूर्ण नियम की अवहेलना की और मुद्रा पूर्ति को स्वर्ण प्रारक्षणों में हुए परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तित नहीं किया। उदाहरणार्थ, अप्रैल 1925 में जब ब्रिटेन ने स्वर्णमान को पुन अपनाया तब उस समय ब्रिटिश मुद्रा स्टर्लिंग (sterling) का स्वर्ण में अति मूल्यन (over-valuation) कर दिया गया था जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो गया था, अर्थात् ब्रिटेन के आयात (imports) उसके निर्यातों (exports) की तुलना में बहुत बढ़ गये थे। परिणामत ऋण-भुगतान के लिए सोना बराबर ब्रिटेन से बाहर जाना आरम्भ हो गया। स्वर्णमान के उक्त नियम के अनुसार ऐसी अवस्था में ब्रिटेन को अपनी मुद्रा-पूर्ति में संकुचन करना चाहिए था, ताकि उसका कीमत-स्तर नीचे गिर जाता और उसका अदायगी शेष पुन सन्तुलित हो जाता। परन्तु ब्रिटेन ने ऐसा नहीं किया, अर्थात अपनी मुद्रा-पूर्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं होने दी और इस प्रकार आन्तरिक कीमतों को गिरने से रोके रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऊँची कीमतों के कारण ब्रिटेन का माल विदेशों में जाकर न बिक सका, परन्तु ब्रिटेन के आयात निरन्तर बढ़ते चले गये। परिणामत सोना ब्रिटेन से बराबर बाहर जाता रहा और सोने की इस क्षति के कारण ब्रिटेन को विवश होकर स्वर्णमान त्यागना पड़ा।

इसके विपरीत, फ्रांस ने स्वर्णमान को पुन अपनाते समय अपनी मुद्रा फ्रैंक (Franc) का मूल्य स्वर्ण में अवमूल्यित (under-valued) कर दिया था जिससे फ्रांस का अदायगी शेष

उसके अनुकूल हो गया, अर्थात् फ्रांस के आयातों की तुलना में उसके निर्यात तेजी से बढ़ रहे थे और बड़ी मात्रा में फ्रांस स्वर्ण का आयात कर रहा था। परन्तु फ्रेंच सरकार ने बाहर से आयात किये गये इस सोने को प्रभावहीन (ineffective) बना दिया, अर्थात् आयातित सोने से स्वर्ण कोषों में हुई वृद्धि के अनुसार फ्रेंच सरकार ने मुद्रा की पूर्ति में विस्तार नहीं होने दिया। जैसा ऊपर कहा गया है, स्वर्णमान के अधीन स्वर्ण आयात करने वाले देश को अपने स्वर्ण-कोषों में हुई वृद्धि के अनुसार मुद्रा की पूर्ति में विस्तार करना चाहिए। परन्तु फ्रेंच सरकार ने स्वर्णमान के इस नियम की अवहेलना करते हुए ऐसा नहीं होने दिया। परिणामतः फ्रांस का अदायगी शेष (balance of payments) अनुकूल बना रहा और फ्रांस में सोने का आयात बराबर होता रहा। अमरीका ने भी फ्रांस का ही अनुकरण किया और देश में आयात किये गये सोने को प्रभावहीन बना दिया, अर्थात् आयातित सोने (imported gold) का देश की मुद्रा-पूर्ति पर प्रभाव नहीं पड़ने दिया। परिणामतः अन्य देशों की अदायगी शेषों में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगी और सोने का अन्तरराष्ट्रीय वितरण असमान हो गया। इसके साथ ही स्वर्णमान की स्वयंचालकता भी समाप्त हो गयी।

(2) **स्वर्ण-कोषों का असन्तुलित वितरण**—जैसा ऊपर कहा गया है, विभिन्न देशों द्वारा स्वर्णमान के नियमों की अवहेलना के परिणामस्वरूप सोने का वितरण असमान हो गया था। एक ओर तो अमरीका और फ्रांस में अत्यधिक मात्रा में सोना केन्द्रित हो गया था और दूसरी ओर जर्मनी तथा पूर्वी यूरोप के कुछ देशों के पास सोने की बहुत कमी हो गयी थी। जिन देशों में सोने की कमी हो गयी थी उन्होंने सोने की पूर्ति को और अधिक कम होने से बचाने के लिये इसके निर्यात पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये ताकि वे स्वर्णमान को बनाये रख सकें, परन्तु जिन देशों के पास सोना अत्यधिक मात्रा में एकत्रित हो गया था उन्होंने इसे पूर्णतः प्रभावहीन बना दिया था, अर्थात् इसे अपने कीमत-स्तरों को प्रभावित नहीं करने दिया था। सोने की कमी वाले देशों में सोने के निर्यात पर लगाये गये अनेक प्रतिबन्धों के बावजूद इसकी पूर्ति को बढ़ाया नहीं जा सका, बल्कि इन देशों में सोने की पूर्ति निरन्तर कम होती चली गयी। अन्ततः इन देशों को विवश होकर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा था।

(3) **प्रथम विश्व युद्ध की क्षति-पूर्ति का भुगतान**—प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की पराजय हुई थी और उसने शान्ति सन्धि के अनुसार विजेता देशों को युद्ध सम्बन्धी क्षति-पूर्ति (Payment of war-reparations) का भुगतान करने का वायदा किया था। यह क्षति-पूर्ति विशेषतः अमरीका और फ्रांस को मिलनी थी। जर्मनी इस क्षति-पूर्ति का भुगतान वस्तुओं के रूप में करना चाहता था, परन्तु अमरीका और फ्रांस ने वस्तुओं के रूप में क्षति-पूर्ति का भुगतान स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और इस बात पर जोर दिया कि उन्हें जर्मनी द्वारा की जाने वाली क्षति-पूर्ति स्वर्ण के रूप में ही की जाय। इस प्रकार क्षति-पूर्ति करने के लिए जर्मनी को सोने की बड़े पैमाने पर आवश्यकता पड़ी, जिसके कारण जर्मनी में स्वर्णमान का पतन हो गया। जर्मनी के पास अब स्वर्ण कोष इतना नहीं था कि वह स्वर्णमान को बनाये रखता। इसके अतिरिक्त, अमरीका और फ्रांस ने युद्धकाल में कुछ देशों को दिये गये ऋणों की अदायगी ऋणी देशों से सोने के रूप में किये जाने की माँग की थी। परिणामतः इन देशों में भी सोने की पूर्ति कम हो गयी और उनके लिए स्वर्णमान को बनाये रखना असम्भव हो गया। अतः उन्हें विवश होकर स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा।

(4) **आर्थिक राष्ट्रीयवाद का उदय (Rise of Economic Nationalism)**—स्वर्णमान के पतन का यह एक मुख्य कारण माना जाता है। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व यूरोप के राष्ट्र अनेक आवश्यक वस्तुओं के लिये एक-दूसरे पर निर्भर रहा करते थे। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के दौरान व्यापार की कठिनाइयों के कारण इन देशों ने आवश्यक वस्तुओं में अपने आपको आत्मनिर्भर बना लिया था। ऐसा करने के लिए इन देशों ने संरक्षणात्मक नीति (Protectionist Policy) को अपनाया और स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए कई प्रकार के कदम उठाये थे। इस प्रकार युद्ध के दौरान अथवा इसके बाद इन देशों में आर्थिक राष्ट्रीयवाद की एक लहर दौड़ गयी। अब ये देश यथासम्भव अपनी आवश्यकताओं को अपने आन्तरिक साधनों से ही पूरा करने लगे और विदेशों पर व्यापारिक निर्भरता कम होने लगी। आर्थिक राष्ट्रीयवाद की यह प्रवृत्ति स्वर्णमान

के नियमों के विरुद्ध थी, क्योंकि स्वर्णमान के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रीयवाद के उदय से स्वर्णमान की स्वय-चालकता समाप्त हो गयी थी।

(5) **अल्पकालीन अथवा शरणार्थी पूंजी का आतंक** (Havoc Caused by Short-term or Refugee Capital)—प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व यूरोप के बहुत-से देश अपने अल्पकालीन कोषों (short-term funds) का विदेशों में निवेश (investment) किया करते थे। परन्तु प्रथम युद्ध के पश्चात यूरोप के लगभग सभी देशों ने विदेशी पूंजी पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये थे। उदाहरणार्थ, कुछ देशों ने विदेशी निवेश पर कमाये गये ब्याज के भुगतान पर प्रतिबन्ध लगा दिया यहां तक कि मूलधन की वापसी पर भी पाबन्दी लगा दी गयी। कुछ देशों ने विदेशी विनिमय-दरों में परिवर्तन करके भी विदेशी निवेशकर्ताओं को हानि पहुंचाने का प्रयास किया। इन सब प्रतिबन्धों का यह परिणाम हुआ कि अल्पकालीन विदेशी पूंजी अब भयभीत हो गयी और सुरक्षा की तलाश में एक देश से दूसरे देश को जाने लगी। जिस देश में अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षा पायी जाती थी, विदेशी पूंजी उसी देश की ओर आकर्षित होने लगती, इस प्रकार सुरक्षा की तलाश में मारे-मारे फिरने के कारण ही उसे शरणार्थी पूंजी (Refugee Capital) कहा जाने लगा। परन्तु शरणार्थी पूंजी के एक देश से दूसरे देश को यकायक जाने से दोनों देशों की अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा हो जाती थी और बहुत-से देश शरणार्थी-पूंजी के आयात-निर्यात के अनुसार आन्तरिक कीमतों में परिवर्तन करने में असमर्थ रहते थे। उदाहरणार्थ जब फ्रांस ने युद्धोत्तरकाल में स्वर्णमान को पुनः अपनाया तब उसने अपनी मुद्रा की स्वर्ण में कीमत घटा दी थी। इसके परिणामस्वरूप फ्रेंच पूंजीपतियों की ब्रिटेन में लगायी गयी पूंजी की मात्रा बढ़ गयी और उन्होंने बड़े पैमाने पर अपनी पूंजी ब्रिटेन से वापस मँगानी आरम्भ कर दी। परन्तु अपने सीमित स्वर्ण प्रारक्षणों (gold reserves) के कारण बैंक ऑफ इंगलैण्ड फ्रांस के पूंजीपतियों को अधिक मात्रा में अल्पकालीन पूंजी के भुगतान में सोना देने की स्थिति में नहीं था। परिणामतः विवश होकर ब्रिटेन ने सितम्बर 1931 में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था।

(6) **सन् 1929 की महान मन्दी** (Great Depression of 1929) - स्वर्णमान को सबसे बड़ा धक्का सन् 1929 की महान मन्दी से लगा था। यह मन्दी अमरीका में सन् 1929 के वालस्ट्रीट संकट (Wall Street Crisis) से आरम्भ हुई और तेजी के साथ विश्व के सभी देशों में फैल गयी। इस मन्दी के कारण सभी देशों में कीमत-स्तर गिरने लगा और उत्पादकों का बहुत हानि होने लगी। इस मन्दी के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया (Austria) का केन्द्रीय बैंक फेल हो गया क्योंकि उस बैंक ने अपने धन का अधिकांश भाग उद्योग धन्धों में लगा रखा था। मन्दी के कारण उद्योग धन्धों को बहुत हानि हुई और आस्ट्रिया के केन्द्रीय बैंक से प्राप्त किये गये ऋणों को वे लौटाने में असमर्थ रहे। आस्ट्रिया के इस बैंक के फेल हो जाने से जनता के विश्वास को बड़ा धक्का लगा और लोगों ने बड़े पैमाने पर देशी मुद्रा को स्वर्ण में बदलने की माँग की। परन्तु सरकार स्वर्ण की इस बढ़ी हुई माँग को सन्तुष्ट न कर सकी और विवश होकर उसे स्वर्ण-मान का परित्याग करना पड़ा। आस्ट्रिया के केन्द्रीय बैंक के फेल हो जाने से अन्य देशों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और वहाँ भी जनता ने स्वदेशी मुद्राओं के बदले में स्वर्ण की माँग की, परन्तु इन देशों में सरकारें जनता की इस माँग को पूरा करने में असमर्थ रहीं और एक-एक करके सभी ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

(7) **युद्धोत्तरकाल में स्वर्ण मुद्रामान का परित्याग**—जैसा पहले कहा गया है युद्धोत्तरकाल में यूरोप के लगभग सभी देशों ने स्वर्ण मात्रामान अथवा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया था। परन्तु स्वर्ण मुद्रामान की भाँति इन दोनों प्रणालियों में स्वयंचालकता का गुण विद्यमान नहीं था। परिणामतः विभिन्न देशों की सरकारों ने इन प्रणालियों के संचालन में हस्तक्षेप द्वारा बहुत गड़बड़ी की जिससे स्वर्णमान का पतन अनिवार्य हो गया।

(8) **राजनीतिक अस्थिरता** (Political Instability) युद्धोत्तरकाल में विश्व के कुछ देशों में राजनीतिक अस्थिरता रही जिसके कारण स्वर्णमान को बहुत क्षति हुई। राजनीतिक स्थिरता के अभाव में इन देशों में पूंजी का स्थानान्तरण पहले की भाँति न हो सका और विवश होकर इन देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

(9) सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—युद्धोत्तरकाल मे विश्व की आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण स्वर्ण के निर्बाध आवागमन मे बाधाएँ उपस्थित होने लगी। परिवहन तथा बीमे के व्यय मे कमी हो जाने के परिणामस्वरूप सोने का आयात-निर्यात पहले की अपेक्षा आसान हो गया था और विदेशी विनिमय दरो मे परिवर्तनो के कारण ही सोने का एक देश से दूसरे देश को आयात-निर्यात बढने लगा। ऐसी परिस्थितियो मे गरीब देशो ने अपनी सोने की कमी को देखते हुए सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने शुरू कर दिये। ये प्रतिबन्ध स्वर्णमान के नियमो के विरुद्ध थे और इन्होने स्वर्णमान के पतन मे सहायता दी।

(10) सकटकाल मे स्वर्णमान ने साथ नहीं दिया—जैसा पहले भी कहा जा चुका है, स्वर्णमान एक ऐसे मित्र की भाँति है जो संकट के समय साथ छोड देता है। वास्तव मे, स्वर्णमान प्रणाली तो केवल अनुकूल परिस्थितियो मे ही प्रचलित रहती है। सकटकाल मे यह प्रणाली प्राय साथ नही देती। अत बहुत-से देशो को सकट के समय विवश होकर इस मान का परित्याग करना पडा।

(11) युद्धोत्तर काल मे आन्तरिक कीमतो मे लोच का अभाव—जैसा विदित है, स्वर्णमान की सफलता के लिए आन्तरिक कीमत-स्तर मे लोच (elasticity) का होना आवश्यक है। जब देश के स्वर्ण प्रारक्षण मे स्वर्ण की मात्रा घट जाती है तो उसी अनुपात मे मुद्रा को सकुचित करके कीमतो को घटाना आवश्यक होता है, परन्तु युद्धोत्तरकाल मे उत्पादन लागतो की कमी करना कठिन हो गया था, क्योकि श्रमिक सघ (Trade Unions) मजदूरी मे कटौती किये जाने का तीव्र विरोध करते थे। यही कारण था कि सन् 1925 मे ब्रिटेन के श्रमिक सघो के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पादन लागतो मे कमी करना सम्भव नही हो सका। दूसरे शब्दो मे, स्वर्ण प्रारक्षण मे सोने की मात्रा के कम हो जाने पर भी आन्तरिक कीमतो मे कोई कमी नही की जा सकी। इस प्रकार स्पष्ट है कि युद्धोत्तरकाल मे स्वर्णमान वाले देशो की आन्तरिक कीमतो मे एक प्रकार की बेलोचकता (inelasticity) उत्पन्न हो गयी थी। यह बेलोचकता स्वर्णमान के लिए घातक सिद्ध हुई।

(12) स्वर्णमान के अन्तर्गत सभी देशो की पारस्परिक निर्भरता—जैसा हम जानते हैं, स्वर्णमान पर आधारित एक देश की आर्थिक स्थिति अन्य स्वर्णमान वाले देशो पर अपना प्रभाव अवश्य ही डालती है। यदि किसी स्वर्णमान वाले देश मे मुद्रा-स्फीति (currency inflation) अथवा अवस्फीति (deflation) होती है तो अवश्य ही इस स्थिति का प्रभाव स्वर्णमान वाले अन्य देशो पर पडेगा, अर्थात् यदि एक देश मे मुद्रा स्फीति हो जाती है तो अन्य देशो मे भी मुद्रा-स्फीति के उत्पन्न होने का भय हो जाता है। स्वर्णमान के इस अवगुण के कारण कुछ देशो ने इसका परित्याग कर दिया क्योकि इस प्रणाली के अन्तर्गत उन्हे दूसरे देशो की नीतियो पर आश्रित रहना पडता था।

(13) विश्व के देशो मे सहयोग का अभाव—जैसा विदित है स्वर्णमान की सफलता की एक आवश्यक शर्त यह है कि स्वर्णमान वाले सभी देशो के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग हो और सभी देश मिल-जुलकर काम करें। परन्तु युद्धोत्तरकाल मे स्वर्णमान वाले देशो मे सहयोग का प्राय अभाव ही रहा। प्रत्येक देश अपने स्वार्थों की पूर्ति मे ही रुचि रखता था और किसी ने भी अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की दिशा मे किसी प्रकार का प्रयत्न नही किया। ऐसी परिस्थिति मे स्वर्णमान का पतन अनिवार्य ही था।

स्वर्णमान एक स्वयंचालित मान था अथवा एक प्रबन्धित मान
(Was Gold Standard an Automatic or A Managed Standard ?)

स्वर्णमान एक स्वयचालित मान था अथवा एक प्रबन्धित मान—इस विषय पर अर्थ शास्त्रियो मे एक प्रकार का विवाद चल रहा है। स्वर्णमान के समर्थको का यह विचार है कि प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व स्वर्णमान पूर्णत एक स्वयचालित मान था, यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात इस मान की स्वयचालकता मे कुछ कमी हो गयी थी। (स्वर्णमान कैसे स्वयचालित था, इसकी व्याख्या ''स्वर्णमान के नियम' नामक उपविभाग मे की गयी है) परन्तु स्वर्णमान के आलोचको का यह विचार है कि यह मान कभी पूर्णत स्वयचालित नही रहा, बल्कि समय-समय पर इसको

सचालित करने के लिए सरकार द्वारा हस्तक्षेप किया गया था। अत उनके विचार से स्वर्णमान एक स्वयचालित मान न होकर, एक प्रबन्धित मान ही था। उनके कथनानुसार इस मान के अन्तर्गत स्वर्ण का आयात-निर्यात बहुत कुछ केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर-नीति (Bank Rate Policy) पर निर्भर करता था। इसी प्रकार देश के आन्तरिक कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय-दरो मे पायी जाने वाली स्थिरता भी इस मान की स्वयचालकता के कारण नही, बल्कि केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप का ही परिणाम थी। आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनायी गयी खुले बाजार की नीति (open market operations) का ही परिणाम थी। युद्धोत्तरकाल मे तो केन्द्रीय बैंको ने इस नीति का बडे पैमाने पर उपयोग किया था। इस नीति को अपनाकर ही केन्द्रीय बैंको ने सोने के आयात-निर्यात का अपने देशो की आर्थिक स्थितियो पर कोई प्रभाव नही पडने दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वर्णमान को सचालित रखने मे देश के केन्द्रीय बैंक का बहुत बडा भाग रहता था। यह तो सत्य है कि स्वर्णमान के प्रारम्भिक काल मे इसके सचालन मे प्रबन्ध का अश बहुत कम था। परन्तु समय बीतने के साथ-साथ इस मान को जारी रखने मे केन्द्रीय बैंको का हस्तक्षेप बढता ही गया। अत यह स्पष्ट है कि स्वर्णमान एक स्वयचालित मान न होकर एक प्रबन्धित मान ही था।

अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान
(International Gold Standard)

स्वर्णमान के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इसका घरेलू पहलू (domestic aspect) इतना अधिक महत्वपूर्ण नही था जितना कि इसका अन्तरराष्ट्रीय पहलू (international aspect) अर्थात देशी मुद्रा के आधार के रूप मे स्वर्णमान इतना महत्वपूर्ण नही था जितना कि अन्तरराष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम के रूप मे। जहां तक आन्तरिक मुद्रा का सम्बन्ध है, प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक आवश्यकताओ को कागजी मुद्रा द्वारा सन्तुष्ट कर सकता था क्योकि कागजी मुद्रा देश के नागरिको द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार की जाती थी। देश के नागरिको को अपनी सरकार की वित्तीय क्षमता (financial capacity) मे प्राय पूर्ण विश्वास होता था और वे कागजी मुद्रा को सोने मे बदलने पर प्राय जोर नही देते थे। इस प्रकार जहाँ तक आन्तरिक मुद्रा का सम्बन्ध है वह तो बिना स्वर्ण के सिक्का के भी चलायी जा सकती थी। अत देशी मुद्रा के रूप मे स्वर्णमान का इतना उपयोग तथा महत्व नही था, परन्तु अन्तरराष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम के रूप मे स्वर्णमान का महत्व था। इसका कारण यह है कि कोई भी देश अपनी कागजी मुद्रा द्वारा अन्तरराष्ट्रीय भुगतान (international payments) नही कर सकता क्योकि विदेशी लोग उसकी कागजी मुद्रा मे प्राय विश्वास नही रखते और उसे अपनी वस्तुओ के मूल्यो के भुगतान म स्वीकार करने के लिए तैयार नही होते। यही कारण था कि कुछ देशो ने आन्तरिक कठिनाइयाँ होते हुए भी स्वर्णमान को अपनाया था क्योकि वे जानते थे कि स्वर्ण सर्वग्राह्य होने के नाते अन्तरराष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा अन्तरराष्ट्रीय मूल्य मापक है। इस प्रकार स्वर्णमान का महत्त्व उसकी अन्तरराष्ट्रीय उपयोगिता के कारण ही था।

अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **स्वर्ण अन्तरराष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्याकन का कार्य करता है**—चूँकि स्वर्ण मे सर्वग्राह्यता का गुण है इसलिए यह अन्तरराष्ट्रीय विनिमय के माध्यम तथा मूल्याकन का कार्य करने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो मे स्वर्ण के प्रयोग से बहुत सुविधा रहती है। जिस देश के पास स्वर्ण कोष होता है उसे विदेशो से वस्तुएँ तथा सेवाएं खरीदने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती।

(2) **इस मान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता बनाये रखी जा सकती है। इस मान के अधीन प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित कर देता है और इसी मूल्य के आधार पर उस देश की मुद्रा की अन्य देशो की मुद्राओ से विनिमय दर निश्चित की जाती है। इस प्रकार विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता बनी रहती है, क्योकि सभी देशो की मुद्राओ के मूल्य स्वर्ण मे व्यक्त किये जाते है और स्वर्ण की कीमत मे कोई

अधिक परिवर्तन नहीं होते। इसके अतिरिक्त, इस मान के अन्तर्गत एक पूर्व-निश्चित दर पर सरकार स्वर्ण के क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर ले लेती है। परिणामत यदि विदेशी विनिमय-दरो मे उतार-चढाव होते है तो ऐसी परिस्थिति मे स्वर्ण का स्थान्तरण होने लगता है और विनिमय दरो मे पुन स्थिरता स्थापित हो जाती है। विनिमय-दरो की इस स्थिरता के कारण निर्यात-कर्ताओ तथा बैको आदि सभी को लाभ होता है।

(3) **कीमत-स्तर मे स्थिरता रहती है**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत कीमतो मे भी स्थिरता बनी रहती है जिससे देश के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इसका कारण यह है कि इस मान के अधीन स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा अन्तरराष्ट्रीय कीमत-स्तर मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

(4) **मुद्रा-स्फीति पर रोक**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत देश मे मुद्रा-स्फीति का भय नही रहता। इसका कारण यह है कि देश की मुद्रा स्वर्ण अथवा स्वर्ण पर आधारित मुद्रा मे परिवर्तनशील होती है। इसलिए मुद्रा की पूर्ति सोने की पूर्ति से शासित होती है। इसी कारण अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान मे जनता का विश्वास अधिक होता है।

(6) **स्वयंचालकता**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान स्वयचालित होता है। इसमे सरकारी हस्तक्षेप की कोई विशेष आवश्यकता नही पडती। सभी देश अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के नियमो से परिचित होते है और उनका पालन करते हुए स्वर्णमान के सचालन मे उन्हे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना पडता।

(7) **स्वर्ण का उचित वितरण**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के परिणामस्वरूप विश्व के सभी देशो के बीच स्वर्ण का वितरण न्यायपूर्ण हो जाता है। जब तक ये देश ईमानदारी से स्वर्णमान के नियमो का पालन करते है तब तक इनमे स्वर्ण के कुवितरण (mal-distribution) का कोई भय नही रहता। परन्तु जब इन देशो द्वारा स्वर्णमान के नियमो की उपेक्षा की जाती है, तभी स्वर्ण के अन्यायपूर्ण वितरण की सम्भावना उत्पन्न होती है।

अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के अवगुण—इसके अवगुण निम्नलिखित हैं

(1) **इसके अन्तर्गत आन्तरिक कीमत-स्तर की उपेक्षा की जाती है और विदेशी विनिमय-दरों की स्थिरता पर अधिक बल दिया जाता है**—अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के आलोचको का विचार है कि इसके अन्तर्गत विभिन्न देश विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रखने के लिए आन्तरिक कीमत-स्तर मे समय-समय पर इस उद्देश्य से परिवर्तन करते रहते हैं कि इसका अन्तरराष्ट्रीय कीमत-स्तर से समन्वय किया जा सके। इसका कारण यह है कि इस मान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दरो मे अधिक परिवर्तन नही हो सकते, क्योकि यदि विदेशी विनिमय दरो मे अधिक परिवर्तन होते है तो उन्हें स्वर्ण के हस्तान्तरण द्वारा सीमित किया जा सकता है। जब देश की विदेशी विनिमय-दर मे परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन को देश के आन्तरिक कीमत-स्तर मे समुचित परिवर्तन करके ठीक करना पडता है। जब अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान वाले देशो के आन्तरिक कीमत-स्तरो मे अन्तर हो जाता है तब उन्हे विदेशी विनिमय-दरो की स्थिरता बनाये रखने के लिए अपने कीमत स्तरो मे समानता लानी पडती है। इस प्रकार यदि किसी देश मे कीमतें दूसरे देशो की अपेक्षा नीचे गिर जाती हैं, तो उस देश को दूसरे देशो की कीमतो के साथ समानता स्थापित करने के लिए अपने कीमत-स्तर को ऊँचा करना पडता है। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दरो की स्थिरता बनाये रखने के लिए आन्तरिक कीमतो की स्थिरता की बलि देनी पडती है।

(2) **इसके अन्तर्गत एक देश की आर्थिक स्थिरता दूसरे देश को स्थान्तरित हो जाती है**—इस प्रणाली का एक बडा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा एक देश की आर्थिक अस्थिरता दूसरे देश को स्थान्तरित हो जाती है। यदि किसी देश से सोने का निर्यात होता है तो इस प्रणाली के अन्तर्गत उस देश मे मुद्रा को सकुचित करना पडेगा जिसके परिणामस्वरूप उस देश की *आन्तरिक कीमतें गिर जायेंगी और देश के निर्यातो को प्रोत्साहन* मिलेगा। इसके विपरीत, यदि किसी देश मे सोने का आयात होता है तो इस प्रणाली के अन्तर्गत उस देश मे मुद्रा का विस्तार करना पडेगा जिसके परिणामस्वरूप आन्तरिक कीमतें बढ जायेंगी

और देश के आयातो को प्रोत्साहन मिलेगा तथा निर्यात हतोत्साहित होंगे। परिमाणत उस देश से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। इस प्रकार सोने के आयात-निर्यात से आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होती है, श्रमिको मे अशान्ति फैलती है, ब्याज की दरो मे परिवर्तत होते है तथा एक देश से दूसरे देश को पूँजी का स्थान्तरण होने लगता है। इस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत सोने का निर्यात केवल उस देश को ही प्रभावित नही करता जिससे यह सम्बन्धित होता है, बल्कि स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश की अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करता है।

(3) **स्वर्ण की पूर्ति मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप कीमतो मे परिवर्तन होते रहते हैं**—स्वर्णमान के अन्तर्गत देशो की आन्तरिक कीमतो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है। उदाहरणार्थ, यदि नयी खानो की खोज के परिणामस्वरूप स्वर्ण के उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है तो इससे कीमतो मे भी वृद्धि हो जायगी। इसके विपरीत, यदि किसी कारणवश स्वर्ण के उत्पादन मे कमी हो जाती है तो देश की आन्तरिक कीमतो मे भी कमी हो जायगी। 19वी शताब्दी मे आस्ट्रेलिया तथा अमरीका मे सोने की नयी खानो की खोज के परिणामस्वरूप विश्व मे सोने की पूर्ति बढ गयी थी फलत सभी देशो मे आन्तरिक कीमतें बढ गयी थी। इस प्रकार अन्तर-राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard) के अन्तर्गत विभिन्न देशो के आन्तरिक कीमत-स्तरो मे स्थिरता का अभाव बना रहता है।

(4) **इस मान के अन्तर्गत देश की आन्तरिक मुद्रा-नीति स्वतन्त्र नहीं रह सकती**—इस मान का दोष यह भी है कि इसके अधीन कोई भी देश अपने हितो के अनुसार स्वतन्त्र मुद्रा-नीति नही अपना सकता, बल्कि उसकी मुद्रा-नीति पर बाहरी तत्वो का समय-समय पर अवश्य ही प्रभाव पडता है।

(5) **यह प्रणाली खर्चीली तथा बेलोचदार है**—यह प्रणाली अन्य प्रणालियो की तुलना मे अधिक खर्चीली होती है क्योकि इसके अन्तर्गत स्वर्ण, मुद्रा का आधार होता है। इसके साथ ही साथ इस प्रणाली मे लोचकता का भी अभाव रहता है। इसका कारण यह है कि इसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण की मात्रा से शासित होती है। दूसरे शब्दो मे, बिना अधिक स्वर्ण कोष के अधिक मुद्रा का निर्गमन नही किया जा सकता।

स्वर्णमान का भविष्य

जैसा विदित है, सन 1931 मे स्वर्णमान के सामान्य परित्याग के कुछ ही वर्ष बाद दूसरा विश्व युद्ध छिड गया था। युद्ध के दौरान लगभग सभी देशो मे बडे पैमाने पर अविनिमेय कागजी मुद्रा (Inconvertible Paper Currency) जारी की गयी थी, जिसके परिणामस्वरूप सभी देशो की आन्तरिक कीमतो मे बहुत अस्थिरता उत्पन्न हो गयी थी। दूसरे विश्व युद्ध के अन्तिम वर्षो मे युद्ध के पश्चात स्थायी आधार पर शान्ति स्थापित करने की योजनायें बनायी जाने लगी। उस समय यह भी प्रश्न उठा कि विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग (monetary co-operation) कैसे स्थापित किया जाय। इसी विषय के संदर्भ मे कुछ लोगो द्वारा स्वर्णमान को पुन स्थापित करने का सुझाव प्रस्तुत किया गया था। परन्तु युद्धोत्तरकाल मे इस सुझाव को कार्यरूप मे परिणत करना सम्भव न हो सका। इसका कारण यह था कि स्वर्णमान की पुन स्थापना के लिए कुछ आधारभूत शर्तो को पूरा करना आवश्यक था। जब तक ये शर्तें पूरी नही की जाती तब तक स्वर्णमान की कोई सम्भावना नही हो सकती थी। स्वर्णमान की पुन स्थापना की आवश्यक शर्तें निम्नलिखित है

(1) **स्वर्णमान को बहुत-से देशो द्वारा अपनाया जाय**—स्वर्णमान तभी सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जब इसे बहुत-से देशो (विशेषकर बडे-बडे देशो) द्वारा एक साथ अपनाया जाय। जैसा विदित है, स्वर्णमान अन्तरराष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्य मापन के रूप मे बहुत ही उपयोगी कार्य कर सकता है। अत इसे एक साथ बहुत-से देशो द्वारा अपनाया जाना चाहिए।

(2) **विभिन्न देशो के स्वर्ण प्रारक्षण पर्याप्त होने चाहिए तथा सोने का अन्तरराष्ट्रीय वितरण अधिक समान होना चाहिए**—स्वर्णमान की पुन स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि विभिन्न देशो के पास सोने के पर्याप्त प्रारक्षण होने चाहिए, क्योकि सोने की पर्याप्त पूर्ति के

बिना कोई भी देश स्वर्णमान को नही अपना सकता। जिस देश के पास स्वर्ण का अभाव रहता है वह स्वर्णमान के अन्तर्गत अपने अन्तरराष्ट्रीय भुगतान नही कर सकता। अत स्वर्णमान के लिए यह भी आवश्यक है कि विश्व के विभिन्न देशो के बीच सोने का अधिक समान तथा न्यायपूर्ण वितरण हो।

(3) **स्वर्णमान के नियमों का पालन किया जाय**—जैसा हम देख चुके है, स्वर्णमान के पतन का मुख्य कारण यह था कि विभिन्न देशो ने ईमानदारी से स्वर्णमान के नियमो का पालन नही किया था। अतएव अब इसकी पुन स्थापना के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि विभिन्न देशो द्वारा इसके नियमों का ईमानदारी से पालन किया जाय। स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय तथा विभिन्न देशो के स्वर्ण प्रारक्षणो मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार उनकी मुद्रा-पूर्तियो मे भी परिवर्तन किये जायँ, अर्थात् स्वर्ण के आयात-निर्यात का देश की आन्तरिक कीमतो पर पूर्ण प्रभाव पड़ने दिया जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न देशो की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण हो।

(4) **विदेशी व्यापार की स्वतन्त्रता**—स्वर्णमान की पुन स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि विभिन्न देशो द्वारा मुक्त व्यापार (free trade) की नीति अपनायी जाय और देशो के आयातो तथा निर्यातो पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाया जाय। मुक्त व्यापार नीति के अन्तर्गत ही स्वर्ण का निर्बाध आयात-निर्यात सम्भव हो सकता है और जैसा पहले कहा गया है, स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए स्वर्ण का निर्बाध आयात-निर्यात एक आवश्यक शर्त है।

(5) **अन्तरराष्ट्रीय ऋणो की मात्रा कम की जाय**—स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए अन्तरराष्ट्रीय ऋणो की मात्रा मे भी कमी होनी चाहिए, अर्थात् एक देश का दूसरे देश पर ऋण का बोझ अधिक नही होना चाहिए। यदि किसी देश पर अत्यधिक विदेशी ऋण है, तो उस देश के निर्यातो का बहुत बडा अश विदेशी ऋणो के भुगतान मे ही खप जायगा और उस देश को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशो से वस्तुएँ प्राप्त करना कठिन हो जायगा। ऐसी परिस्थिति मे उस देश को आयातित वस्तुओ के बदले मे सोना बाहर भेजना पड़ेगा जिसके परि-णामस्वरूप उस देश की स्वर्ण-पूर्ति कम हो जायगी और अन्तत उसे स्वर्णमान को त्यागना पडेगा।

(6) **राजनीतिक स्थिरता**—स्वर्णमान की पुन स्थापना की एक आवश्यक शर्त यह भी है कि विभिन्न देशो मे पूर्णरूप से राजनीतिक स्थिरता बनी रहे। इसका कारण यह है कि राज-नीतिक अशान्ति के कारण साधारण जनता मे भविष्य के बारे मे अनिश्चितता तथा भय का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और लोगो मे धन सचय की प्रवृत्ति कार्यशील हो उठती है। विदेशी पूंजी का आयात कम हो जाता है। देश के स्वर्ण प्रारक्षणो पर बोझ बढ जाता है और अन्त मे विवश होकर सरकार को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ता है।

(7) **आन्तरिक मुद्रा-प्रणाली मे लोचकता**—स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए यह भी आवश्यक है कि विभिन्न देशो की आन्तरिक मुद्रा-प्रणालियो मे लोचकता का अश विद्यमान हो। इसका कारण यह है कि यदि मुद्रा-प्रणाली मे बेलोचकता अथवा कठोरता पायी जाती है, तो अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियो मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार वह अपने आपको ढालने मे असमर्थ रहेगी और अन्तत स्वर्णमान का परित्याग करना पडेगा।

(8) **विभिन्न देशो के बीच मौद्रिक सहयोग होना चाहिए**—स्वर्णमान स्वयचालित तभी रह सकता है जब इस मान को अपनाने वाले विभिन्न देशो मे पूर्णरूप से मौद्रिक सहयोग हो। इसका कारण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के बिना स्वर्णमान की स्वयचालकता समाप्त हो जाती है और अन्तत इसका परित्याग करना पडता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या आधुनिक ससार मे उपर्युक्त शर्ते पूरी की जा सकती है? जैसा हम देख चुके हैं, इस समय विश्व के सभी देशो मे आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) का बोलबाला है। सभी देश अपने सकुचित स्वार्थों से ही चिपटे हुए हैं और निकट भविष्य मे ऐसी कोई सम्भावना दिखायी नही देती कि ये देश किसी प्रकार की उदार नीति

का अनुकरण कर सकेंगे। प्रो० क्राउथर (Crowther) ने सत्य ही कहा है कि आज की स्वार्थी वाणिज्यिक प्रणाली के युग मे कोई भी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली सफल नही हो सकती। डॉ० केन्ज (Dr Keynes) तथा प्रो० कैसेल (Prof. Cassell) जैसे विद्वान अर्थशास्त्रियो के मतानुसार सोने के मूल्य मे अस्थिरता के कारण भविष्य मे स्वर्णमान की पुन स्थापना की बहुत कम सम्भावना दिखायी देती है। इसी कारण उन्होने स्वर्णमान के स्थान पर प्रबन्धित कागजी मुद्रा प्रणाली (Managed Paper Currency System) का ही समर्थन किया था। इसके अतिरिक्त, जैसा हम पहले कह चुके हैं, विश्व मे इस समय स्वर्ण का वितरण अत्यन्त असमान तथा अन्यायपूर्ण है। अकेले अमरीका के पास ही विश्व के कुल सोने के स्टॉक का तीन-चौथाई भाग केन्द्रित है। ऐसी परिस्थिति मे स्वर्णमान का विभिन्न देशो द्वारा अपनाया जाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। इसके अलावा, इस समय ऐसी कोई सम्भावना नही दिखायी देती है कि विश्व के विभिन्न देश अपनी वर्तमान सकुचित सरक्षणात्मक नीतियो को छोडकर मुक्त व्यापार की नीति अपनाने के लिए तैयार हो जायेंगे। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्वर्णमान को पुराने, परम्परागत रूप मे पुन स्थापित करना सम्भव नही है।

स्वर्णमान और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(Gold Standard and International Monetary Fund)

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान लगभग सभी देशो ने बड़े पैमाने पर अविनिमेय कागजी मुद्रा का निर्गमन किया था। इस प्रकार लगभग सभी देशो मे प्रबन्धित कागजी मुद्रामान अपनाया गया था। परन्तु प्रबन्धित कागजी मुद्रामान मे दो बड़े दोष पाये गये थे। प्रथम, इस मान के अन्तर्गत मुद्रा के अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने की सदैव सम्भावना रहती थी। इस कारण इस मान मे जनता का विश्वास अधिक नही था। दूसरे इस मान के अन्तर्गत विभिन्न देशो को अन्तरराष्ट्रीय भुगतान करने मे कठिनाई होती थी। इसका कारण यह था कि कोई भी देश किसी दूसरे देश की कागजी मुद्रा को भुगतान के रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार नही होता था। प्रबन्धित कागजी मुद्रामान की उपर्युक्त कठिनाइयो पर विचार करने के लिए सन 1944 मे अमरीका मे ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन ने एक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा सहयोग की योजना तैयार की जिसे बाद मे चलकर बहुत से देशो ने स्वीकार कर लिया था। इस योजना के अन्तगत दो अन्तरराष्ट्रीय सस्थाओ की स्थापना की गयी थी। प्रथम अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund)। द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (International Bank for Development and Reconstruction)। इस योजना के उद्देश्य इस प्रकार थे—विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापना करना, अन्तरराष्ट्रीय कीमतो मे स्थायित्व लाना तथा पिछड़े हुए एव अल्प विकसित देश के आर्थिक विकास मे सहायता देना। इस योजना के अन्तगत स्वणमान के सभी लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु स्वणमान के दोषो को अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। प्रत्येक देश एक स्वतन्त्र मौद्रिक नीति अपना सकता है। इस योजना के अन्तगत सोने को भी अधिक महत्व नही दिया गया है। प्रत्येक देश की आन्तरिक मुद्रा कागजी नोटो तथा हल्की व निकृष्ट धातुओ के बने हुए प्रतीक सिक्को की होती है। विभिन्न देश अपने अन्तरराष्ट्रीय भुगतान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा करते हैं। स्पष्ट है, इस योजना के अन्तर्गत पुराने, परम्परागत स्वणमान की स्थापना तो नही हो सकी, परन्तु स्वर्ण को अन्तरराष्ट्रीय कीमत स्तर तथा विदेशी विनिमय-दरो का आधार अवश्य बना दिया गया है। इस योजना के अन्तगत प्रत्येक सदस्य-देश आवश्यकतानुसार अपनी मुद्रा की विदेशी विनिमय-दर मे कोष की अनुमति से परिवर्तन कर सकता है। इस नयी व्यवस्था मे स्वर्ण का स्थान निम्न प्रकार है

(1) प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपने कोटे का 25 प्रतिशत या अपने सोने के स्टॉक का 10 प्रतिशत सोने के रूप मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष मे जमा करना होता है।

(2) जैसा पहले कहा गया है, प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करना पडता है, और इसी घोषित मूल्य के आधार पर ही उस देश की मुद्रा की विनिमय-दर निर्धारित की जाती है।

(3) जब अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के पास किसी दुर्लभ मुद्रा (Scarce Currency) का अभाव हो जाता है, तब कोष इस मुद्रा को सोने के बदले में खरीद सकता है।

रजतमान
(Silver Standard)

रजतमान चीन तथा भारत मे काफी लम्बे समय तक प्रचलित रहा है। 19वीं शताब्दी मे कुछ अन्य देशो ने भी इसे अपनाया था। भारत ने सन् 1893 और चीन ने सन् 1935 मे इस मान का परित्याग कर दिया था।

इस मान के अन्तर्गत देश मे चाँदी के सिक्को का प्रचलन होता है। ये सिक्के एक निश्चित वजन तथा शुद्धता (fineness) के होते हैं। सिक्को की ढलाई खुली सिक्का ढलाई प्रणाली के आधार पर होती है और ये सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते हैं। इस मान के अधीन चाँदी के आयात-निर्यात पर सरकार द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता।

भारत मे यह प्रणाली सन् 1835 से 1893 तक प्रचलित रही थी। इस अवधि मे रुपया भारत का प्रमुख सिक्का था। इसका टकण खुली सिक्का ढलाई के आधार पर होता था। इसका वजन 180 ग्रेन और इसकी शुद्धता $\frac{11}{12}$ थी। जनता को यह अधिकार था कि वह चाँदी को टकसाल मे ले जाकर उसके सिक्के ढलवा ले। इसी प्रकार जनता को यह भी स्वतन्त्रता थी कि वह रुपयो को गलाकर धातु निकाल ले। सन 1874 तक यह प्रणाली भारत मे सुचारु ढग से कार्य करती रही। परन्तु सन् 1874 के लगभग विश्व मे चाँदी की कीमतें गिरनी शुरू हो गयी। इसके दो प्रमुख कारण थे—प्रथम, मेक्सिको (Mexico) मे चाँदी की नयी खानो की खोज की गयी थी जिसके परिणामस्वरूप विश्व मे चाँदी की पूर्ति बहुत बढ गयी थी। दूसरे, इसी अवधि मे कुछ देशो ने रजतमान को छोडकर स्वर्णमान को अपना लिया था जिसके परिणामस्वरूप चाँदी की माँग पहले की अपेक्षा कम हो गयी थी। इसके साथ ही साथ इन देशो मे चाँदी के सिक्को को गला कर चाँदी की पूर्ति मे वृद्धि की गयी थी। चाँदी के मूल्य मे निरन्तर कमी होते रहने के फलस्वरूप भारत सरकार के लिए चाँदी की खुली सिक्का ढलाई को बनाये रखना दिन-प्रतिदिन कठिन होता चला गया। इसका कारण यह था कि जनता बाजार मे से सस्ती चाँदी खरीदकर उसके बदले टकसाल मे से सिक्के ले लिया करती थी। परिणामत भारत मे मुद्रा की मात्रा मे तीव्र वृद्धि होने लगी। वस्तुओ की कीमतें बढ गयी। देश की अर्थ व्यवस्था पर कीमतो की इस वृद्धि के गम्भीर परिणाम हुए थे। प्रथम, भारत का भुगतान शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो गया, क्योकि कीमतो की वृद्धि के कारण आयात बढ गये परन्तु निर्यातो मे काफी कमी हो गयी थी। दूसरे, भारत सरकार के गृह-व्ययो (home charges) के भार मे भी वृद्धि हो गयी जिसके फलस्वरूप भारत सरकार के लिए अपने बजट को सन्तुलित बनाये रखना कठिन हो गया। भारत सरकार ने अपनी आय को बढाने के लिए अधिक कर लगाने की व्यवस्था की। परन्तु इसके बावजूद सरकार का बजट सन्तुलित न हो सका। सन् 1893 मे हर्शल कमेटी (Herschell Committee) के सुझाव पर भारत सरकार ने चाँदी की खुली ढलाई बन्द कर दी। इस प्रकार सन् 1893 मे भारत मे रजतमान समाप्त हो गया और इसके स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया गया था।

रजतमान तथा स्वर्णमान के नियमो तथा कार्य-प्रणालियो मे कोई विशेष अन्तर नही होता, परन्तु रजतमान मे मुद्रा की आन्तरिक तथा बाह्य कीमतो मे प्राय अस्थिरता रहती है। इसका कारण यह है कि स्वर्ण की अपेक्षा चाँदी के मूल्य मे अधिक उतार-चढाव होते रहते हैं।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. स्वर्णमान की मुख्य विशेषताएँ क्या-क्या हैं? (आगरा, 1970)

अथवा

स्वर्णमान की मुख्य विशेषताओ की विवेचना कीजिए और उसके गुण-दोष बताइए।

[सकेत—प्रथम भाग में, स्वर्णमान की परिभाषा देते हुए इसकी मुख्य विशेषताओ की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग में, स्वर्णमान के गुणो तथा दोषो की व्याख्या कीजिए।]

2. **स्वर्णमान तथा स्वर्ण धातुमान मे क्या अन्तर है। स्वर्ण विनिमय मान के गुणो और दोषो पर प्रकाश डालिए।** (आगरा, बी, कॉम॰, 1964)

[सकेत—प्रथम भाग मे, स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण मात्रा (धातु) मान की परिभाषाएँ देते हुए इन दोनो का अन्तर विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएँ सक्षेप मे देते हुए इसके गुणो व दोषो की व्याख्या कीजिए।]

3 **स्वर्ण मुद्रामान के प्रयोग का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। उसकी विफलता तथा पतन के क्या कारण थे।** (आगरा, बी॰ कॉम, 1959, राजस्थान, बी॰ कॉम, 1958)

[सकेत प्रथम भाग मे, अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान की परिभाषा देते हुए इसके मुख्य गुणो व दोषो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, स्वर्णमान के पतन के मुख्य कारणो पर प्रकाश डालिए।]

4 **स्वर्णमान के सचालन मे किन-किन नियमो का पालन करना आवश्यक है? यह बताइए कि इन नियमो का पालन न करने से किस प्रकार सन् 1931 मे स्वर्णमान टूट गया था?** (विक्रम, 1960)

अथवा

सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

"स्वर्णमान खेल" के नियम

[सकेत—प्रथम भाग मे, स्वर्णमान के सफल सचालन के लिए आवश्यक तीन नियमो का विवेचन कीजिए, अर्थात् **प्रथम,** मुक्त व्यापार की नीति अपनायी जाय, **दूसरे,** स्वर्ण का आयात निर्यात स्वतन्त्र होना चाहिए, और **तीसरे** देश की अर्थ व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि सन 1931 मे पूर्व किस तरह विभिन्न देशो द्वारा इन तीनो का उल्लघन किया गया था।]

5 **स्वर्णमान के कार्यों पर प्रकाश डालिए। क्या प्रबन्धित पत्र चलनमान इससे अच्छा है? कारण दीजिए। क्या स्वर्णमान पुन स्थापित किया जा सकता है?** (बिहार, 1958, राजस्थान, 1958)

[सकेत—प्रथम भाग मे स्वर्णमान की परिभाषा देते हुए इसके मुख्य दो कार्यों पर प्रकाश डालिए। दूसरे भाग म, यह बताइये कि किस प्रकार प्रबन्धित पत्र चलनमान स्वर्णमान की तुलना मे अच्छा होता है। सक्षेप म यह बताइए कि प्रबन्धित पत्र चलनमान लोचपूर्ण होता है और इसमे बहुमूल्य धातुओ की बचत होती है। तीसरे भाग मे, यह बताइये कि स्वर्णमान को पुन स्थापित नही किया जा सकता क्योकि आज की दुनिया मे स्वर्णमान की आवश्यक शर्तों को पूरा करना कठिन है।]

6 **स्वर्णमान के त्याग देने के कारणो का वर्णन कीजिए। इसे पुनः स्थापित करना कहाँ तक सम्भव एव वाछनीय है?** (पटना बी॰ कॉम॰ 1961)

[सकेत—प्रथम भाग मे स्वर्णमान के पतन के मुख्य कारणो का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि स्वर्णमान की पुन स्थापना वाछनीय तो है परन्तु सम्भव नही क्योकि आधुनिक युग मे इसकी आवश्यक शर्तों को पूरा करना कठिन है।]

7. **निम्न में अन्तर स्पष्ट कीजिए :**

(अ) **स्वर्ण चलनमान और स्वर्ण पाटमान,**

(ब) **गोल्ड एक्सचेन्ज स्टेण्डर्ड और डॉलर एक्सचेन्ज स्टेण्डर्ड।**

(आगरा 1966 1972)

[सकेत—(अ) स्वर्ण चलनमान (स्वर्ण मुद्रा मान) तथा स्वर्ण पाटमान (स्वर्ण धातुमान) के अन्तर के लिए प्रश्न 2 के उत्तर को देखिए।

(ब) गोल्ड एक्सचेन्ज स्टैण्डर्ड (स्वर्ण विनिमय मान) के अन्तर्गत आन्तरिक मुद्रा तो कागजी नोटो एव प्रतीक सिक्को की होती है लेकिन विदेशी भुगतानो के लिए यह मुद्रा एक ऐसी मुद्रा मे परिवर्तनीय होती है जो स्वर्ण पर प्रत्यक्षत आधारित होती है, अर्थात् स्वर्ण मे बदली जा सकती है। इसके विपरीत, डॉलर एक्सचेन्ज मान (डॉलर विनिमय मान) के अधीन आन्तरिक मुद्रा विदेशी भुगतानो के लिए डॉलरो मे परिवर्तनशील होती है।]

8. **स्वर्णमान के कार्य-यन्त्रण का वर्णन कीजिए। क्या अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना स्वर्णमान का पुनः लौटना है ?**

   [संकेत—प्रथम भाग मे, स्वर्णमान के कार्य-यन्त्रण से सम्बन्धित तीन नियमों की विस्तृत व्याख्या कीजिए। (देखिए, प्रश्न 4)। दूसरे भाग के लिए, "स्वर्णमान और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष" नामक उपविभाग उपर्युक्त अध्याय मे देखिए।]

9. **"स्वर्णमान वह युक्ति है जिसके द्वारा विनिमय दरो की स्थिरता को कायम रखा जाता है।" (काऊथर) इस कथन की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।** (आगरा, 1974)

   [संकेत—यहाँ पर आप विस्तृत रूप से स्पष्ट कीजिए कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा किस प्रकार दो देशो के बीच विनिमय-दरो को स्थिर बनाये रखा जा सकता है। देखिये उपर्युक्त अध्याय। लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है जब स्वर्णमान के मूलभूत नियमो का पालन किया जाय।]

10. **"स्वर्णमान ईर्ष्यालु देव है। वह उस परिस्थिति में कार्य करता है जब उसकी तन-मन से सेवा की जाय।" (काऊथर) इस कथन की विवेचना कीजिए।** (आगरा, पू० 1975)

    [संकेत—प्रथम भाग मे, स्वर्णमान की परिभाषा एव विशेषताओ का सक्षिप्त विवरण देते हुए यह बताइये कि यह मान तभी सफलतापूर्वक कार्य करता है जब इसके तीन नियमो का निष्ठापूर्वक पालन किया जाये। उक्त तीन नियमो की जानकारी के लिये उपर्युक्त अध्याय को देखिये।]

5

कागजी मुद्रामान अथवा प्रबन्धित मुद्रामान
(Paper Currency Standard or Managed Currency Standard)

कागजी मुद्रामान को कुछ अर्थशास्त्रियो ने प्रबन्धित मुद्रामान भी कहा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा ही देश की मुख्य मुद्रा होती है। इसीलिए यह अपरिमित विधिग्राह्य होती है। परन्तु छोटी-छोटी रकमो के भुगतान के लिए हल्की व निकृष्ट धातुओ के सिक्को का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कागजी मुद्रा का मूल्य न तो सोने, न चाँदी और न ही अन्य किसी धातु मे निर्धारित किया जाता है। कागजी मुद्रा किसी मूल्यवान धातु मे भी परिवर्तनशील नही होती। इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा-नियन्त्रक (Controller of Currency) मुद्रा की पूर्ति को नियमित (regulate) करता है और इस प्रकार मुद्रा के मूल्य को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है। स्मरण रहे, यह प्रणाली स्वर्णमान की भाँति स्वयचालित (automatic) नही होती, बल्कि इसे चालू रखने के लिए मुद्रा-नियन्त्रक (सरकार) के हस्तक्षेप की आवश्यकता पडती है। देश के आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता बनाये रखने के लिए मुद्रा-नियन्त्रक मुद्रा की बढती अथवा घटती हुई माँग के अनुसार उसकी पूर्ति मे परिवर्तन करता रहता है। स्पष्ट है कि कागजी मुद्रामान के अधीन कागजी मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार के धात्विक कोष (metallic reserves) नहीं रखे जाते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) की स्थापना से पूर्व ये देश विदेशी भुगतानो को चुकाने के लिए स्वर्ण प्रारक्षणो की व्यवस्था किया करते थे। परन्तु अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के बाद कागजी मुद्रा-प्रणाली वाले देशो ने विदेशी भुगतानो को चुकाने के लिए स्वर्ण प्रारक्षण रखना बन्द कर दिया है।

सन् 1931 के स्वर्णमान के सामान्य परित्याग (general abandonment) के उपरान्त विश्व के लगभग सभी प्रमुख देशो ने कागजी मुद्रामान को ही अपनाया था। वास्तव मे, वर्तमान युग कागजी मुद्रामान का ही युग है। पहले कागजी मुद्रामान को केवल सकट के समय ही अपनाया जाता था, परन्तु अब साधारण परिस्थितियो मे भी इस मान को अपनाया जाता है। इस प्रकार कागजी मुद्रामान आज एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा प्रणाली बन गयी है।

कागजी मुद्रामान की विशेषताएँ—इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **कागजी मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा होती है**—कागजी मुद्रा देश की प्रमुख मुद्रा होने के नाते अपरिमित विधिग्राह्य होती है। परन्तु छोटी-छोटी राशियो के भुगतान के लिए हल्की व निकृष्ट धातुओ के सिक्को का प्रयोग किया जाता है, किन्तु ये सिक्के परिमित विधिग्राह्य होते हैं।

(2) **कागजी मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा विधान के अनुसार किसी भी मूल्यवान धातु मे परिवर्तनीय नही होती। अत इसके निर्गमन के पीछे स्वर्ण तथा चाँदी के कोषो का रखना आवश्यक नही होता।

(3) **इस प्रणाली मे मुद्रा का प्रबन्ध अथवा नियमन सरकार या मुद्रा अधिकरण द्वारा होता है**– मुद्रा का नियमन अथवा प्रबन्ध करते समय सरकार का उद्देश्य यह होता है कि आन्तरिक

कीमत-स्तर मे *यथासम्भव स्थिरता बनी रहे।* इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार मुद्रा की पूर्ति मे आवश्यक परिवर्तन करती रहती है। मुद्रा की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर रखकर कीमत-स्तर में स्थिरता स्थापित की जाती है।

(4) **इस प्रणाली में विदेशी ऋणो के भुगतान के लिए स्वर्ण प्रारक्षणो की आवश्यकता पडती है** चूंकि विदेशी लोग देश की मुद्रा को प्राय स्वीकार नही करते, इसलिए कागजी मुद्रामान वाले देश को विदेशी ऋणो के भुगतान के लिए अवश्य ही कुछ स्वर्ण कोष मे रखना पडता है। परन्तु अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात अब कागजी मुद्रामान वाले देश को अन्तरराष्ट्रीय ऋणो के भुगतान के लिए कोष मे स्वर्ण रखने की आवश्यकता नही है।

कागजी मुद्रामान के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

(1) **आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक देश की आवश्यकतानुसार मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन करके आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित कर सकती है, उदाहरणार्थ, यदि व्यापार तथा वाणिज्य के विकास के कारण देश मे मुद्रा की माँग बढ जाती है तो बिना अपने पास स्वर्ण-कोष रखे सरकार मुद्रा की पूर्ति को बढा सकती है। इस प्रकार मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे सन्तुलन बनाकर आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

(2) **मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता** चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की मुद्रा किसी धातु पर निर्भर नही करती, इसलिए सरकार मुद्रा-प्रणाली के प्रबन्ध मे स्वतन्त्र रहती है और अपने देश की आवश्यकताओ के अनुसार अपनी मुद्रा का प्रबन्ध करती है।

(3) **देश मे उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सकता है** जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीमती जॉन रोबिन्सन (Mrs Joan Robinson) के अनुसार स्वर्णमान का झुकाव प्राय मुद्रा संकुचन (currency contraction) की ओर होता है, जिसके परिणामस्वरूप देश मे बेरोजगारी फैल जाती है और उत्पादन के साधनो का पूर्ण उपयोग नही हो पाता। परन्तु कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी मुद्रा-स्फीति का निर्धारण इस ढग से करता है कि देश मे उत्पादन के सभी साधनो का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सके और ऐसा करने के लिए सरकार के सामने किसी प्रकार की बाधाएँ नही होती। जैसा ऊपर कहा गया है—कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत प्रत्येक देश की सरकार अपनी मुद्रा-नीति का निर्धारण करने मे स्वतन्त्र होती है। इस प्रकार कागजी मुद्रामान देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने का उत्तम साधन माना जा सकता है।

(4) **मुद्रा-प्रणाली मे लोच**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की सरकार आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा मे घट-बढ कर सकती है, इसलिए इस मान मे लोचकता का अश विद्यमान रहता है। यह लोचकता अन्य प्रणालियो मे इस मात्रा तक नही पायी जाती।

(5) **देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को बाहरी अस्थिरता के प्रभाव से बचाया जा सकता है** *इस प्रणाली का एक गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत देश की अर्थ-व्यवस्था अन्य देशो* की आर्थिक अस्थिरता के बुरे प्रभावो से मुक्त रखी जा सकती है। जैसा हम देख चुके हैं स्वर्णमान मे यह गुण प्राय नही पाया जाता। इसके अन्तर्गत, एक देश की मन्दी शीघ्र ही दूसरे देशो मे फैल जाती है, परन्तु कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत ऐसा नही हो सकता।

कागजी मुद्रामान के दोष इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **मुद्रा स्फीति का भय**—कागजी मुद्रामान का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे मुद्रा-स्फीति का भय सदा बना रहता है। इसका कारण यह है कि देश की मुद्रा किसी धातु से सम्बन्धित नही होती। अत मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करना आसान होता है। सरकार बिना धात्विक कोष रखे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि कर सकती है। आर्थिक सकट अथवा युद्ध के समय सरकार प्राय अत्यधिक मात्रा मे नोट छापकर अपना व्यय पूरा करने का प्रयत्न करती है। इससे मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है और देश की अर्थ-व्यवस्था मे गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते है। कुछ वर्गो को आर्थिक हानि उठानी पडती है और अन्तत उनका मुद्रा-प्रणाली मे से विश्वास उठ जाता है। धातुमान मे चाहे कितने ही दोष क्यो न हो परन्तु कम से कम उसमे मुद्रा-स्फीति का दोष

नहीं है। इसका कारण यह है कि धातुमान में बिना आवश्यक धातु कोष में रखे मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती।

(2) **आन्तरिक कीमतों में अस्थिरता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, देश की आन्तरिक कीमतों में भारी परिवर्तन होते रहते हैं। चूंकि कागजी मुद्रा का यथार्थ मूल्य (intrinsic value) कुछ भी नहीं होता, इसलिए उसके मूल्य की गिरावट की भी कोई अन्तिम सीमा नहीं होती, अर्थात् कागजी मुद्रा का मूल्य कुछ विशेष परिस्थितियों में शून्य तक के बराबर हो सकता है। परन्तु धातुमान के अन्तर्गत, मुद्रा का मूल्य शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि धातु-सिक्कों का मूल्य उनके यथार्थ मूल्य से नीचे नहीं गिर सकता। अतएव कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत आन्तरिक कीमतें किसी भी सीमा तक बढ़ सकती हैं, अथवा मुद्रा का मूल्य किसी भी सीमा तक नीचे गिर सकता है।

(3) **विदेशी विनिमय-दरों में अस्थिरता**—चूंकि कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत, देशी मुद्रा का धातु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए इसकी विदेशी विनिमय-दर में भारी उतार-चढ़ाव हो सकते हैं, किन्तु स्वर्णमान के अन्तर्गत ऐसा नहीं हो सकता। स्वर्णमान के प्रत्येक देश की मुद्रा स्वर्ण से सम्बन्धित होती है। चूंकि स्वर्ण की कीमत में अधिक परिवर्तन नहीं होते, इसलिए स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों की मुद्राओं के बीच विनिमय-दरें भी प्राय स्थिर ही रहती हैं। परन्तु जैसा कहा गया है कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय-दरों में बहुत अधिक मात्रा में परिवर्तन हो सकते हैं। परिणामत इस मान के अन्तर्गत, विदेशी व्यापार में कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। कागजी मुद्रामान के इस दोष को दूर करने के लिए ही आजकल लगभग सभी देशों में विनिमय-नियन्त्रण (exchange control) नीति का आश्रय लिया जाता है।

(4) **एक देश की आर्थिक दशा का दूसरे देशों पर प्रभाव**—जिस प्रकार स्वर्णमान के अधीन एक देश की आर्थिक दशा का प्रभाव स्वर्णमान वाले सभी देशों पर पड़ता है, उसी प्रकार यदि सभी देशों में कागजी मुद्रामान का प्रचलन है तो एक देश का आर्थिक संकट दूसरे देशों की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता।

(5) **स्वयंचालकता का अभाव**—स्वर्णमान की भाँति कागजी मुद्रामान स्वयंचालित नहीं होता, बल्कि इसको चालू रखने के लिए सरकार को समय-समय पर हस्तक्षेप करना पड़ता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सन् 1931 में स्वर्णमान के सामान्य परित्याग के उपरान्त लगभग सभी प्रमुख देशों ने कागजी मुद्रामान को अपनाया था। परन्तु इस प्रणाली के अपनाये जाने के परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार तथा अन्तरराष्ट्रीय लेन-देन में कई प्रकार की उलझनें उत्पन्न हो गयी थीं। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान उक्त उलझनें और भी गम्भीर हो गयी थीं। अतएव कागजी मुद्रामान की इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए सन् 1944 में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन (International Monetary Conference) आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन ने एक योजना तैयार की, जिसके अन्तर्गत दो अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की गयी—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M F) तथा अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (I B R. D)। इन दोनों संस्थाओं की स्थापना के कारण कागजी मुद्रामान की कठिनाइयाँ काफी मात्रा में कम हो गयी हैं। आजकल विभिन्न देश अन्तरराष्ट्रीय भुगतान इन संस्थाओं के माध्यम से ही करते हैं। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य अन्तरराष्ट्रीय कीमत-स्तरों में स्थिरता लाना, विदेशी विनिमय-दरों में स्थायित्व स्थापित करना, विदेशी पूंजी के आयात-निर्यात में सहायता देना, पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास में सहयोग प्रदान करना, अन्तरराष्ट्रीय ऋणों को प्रोत्साहित करना तथा विभिन्न देशों के बीच आर्थिक एवं मौद्रिक सहयोग के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना है। इस प्रकार इन अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने कागजी मुद्रामान के प्रमुख दोषों को बहुत कुछ समाप्त कर दिया है।

कागजी मुद्रा का निर्गमन कौन करे ?

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कागजी मुद्रा का निर्गमन कौन करे ? आरम्भ से ही यह विवाद का विषय रहा है कि नोटों का निर्गमन सरकार द्वारा किया जाय अथवा बैंकों द्वारा। इसके साथ ही साथ अर्थशास्त्रियों में इस विषय पर भी मतभेद है कि यदि बैंकों को कागजी मुद्रा के निर्गमन का अधिकार दिया जाता है तो क्या यह अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को मिलना

चाहिए अथवा एक ही साथ बहुत-से बैंको को। कुछ अर्थशास्त्री इस विषय पर सहमत है कि नोट-निर्गमन का एकाधिकार सरकार को दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत, कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि नोट-निर्गमन का अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को दिया जाना चाहिए। आज भी यह विवाद समाप्त नही हो सका है, हालाँकि नोट-निर्गमन पर सरकारी नियन्त्रण के सिद्धान्त को सभी अर्थशास्त्री स्वीकार करते है।

सरकार द्वारा नोट-निर्गमन के पक्ष मे तर्क—सरकार द्वारा नोटो के निर्गमन के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है :

(1) **जनता का विश्वास**—चूँकि सरकार की साख अधिक ऊँची होती है, इसलिए सरकार द्वारा निर्गमित नोट बैंको द्वारा छापे गये नोटो की तुलना मे अधिक विश्वसनीय होते है। सरकार द्वारा छापे गये नोटो के पीछे सरकार की सम्पत्ति की आड़ (cover) होती है। अतएव सरकारी नोटो मे अविश्वास का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(2) **परिवर्तनशीलता**—चूँकि सरकार द्वारा छापे गये नोटो के पीछे सरकार की समूची साख तथा प्रतिष्ठा होती है, इसलिए नोटो की आड मे किसी प्रकार के धातु-कोष रखने की आवश्यकता नही होती, परन्तु बैंको द्वारा छापे गये नोटो के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता। बैंको की साख इतनी ऊँची नही हो सकती जितनी कि सरकार की। अतएव बैंको को नोटो के पीछे धातु-कोष (metallic reserves) रखने पड़ते है, परन्तु इसके बावजूद बैंक-नोटो मे इतनी सुरक्षा (security) नही होती, जितनी कि सरकार द्वारा छापे गये नोटो मे होती है।

(3) **मुद्रा-प्रणाली का श्रेष्ठ प्रबन्ध**—बैंको की तुलना मे सरकार के पास मुद्रा-प्रणाली का प्रबन्ध करने की अनेक सुविधाएँ रहती है, क्योकि सरकार के सगठन-सम्बन्धी साधन बैंको की अपेक्षा अधिक सुयोग्य तथा क्षमतावान होते है। सरकार के पास उच्चकोटि के विशेषज्ञ होते है जो समय-समय पर देश की मौद्रिक आवश्यकताओ का अध्ययन करते रहते है। इसी प्रकार मुद्रा-प्रणाली का प्रबन्ध करने के लिए बैंको की अपेक्षा सरकार के पास अधिक विश्वसनीय जानकारी तथा आँकडे उपलब्ध होते है। इसके अतिरिक्त, सरकार के हाथो मे कानून बनाने की शक्ति भी होती है। फलत देश की मुद्रा-पूर्ति तथा साख-व्यवस्था पर उचित नियन्त्रण रखने मे सरकार अधिक सफल रहती है और आवश्यकतानुसार मुद्रा-पूर्ति मे परिवर्तन भी कर सकती है।

(4) **बैंको के कागजी मुद्रा-निर्गमन मे सरकारी हस्तक्षेप सदैव रहा है**—जैसा विदित है, कागजी मुद्रा के निर्गमन पर सरकार सदैव अपना नियन्त्रण रखती है। उन देशो मे भी, जहाँ कागजी मुद्रा का निर्गमन निजी बैंको (private banks) द्वारा किया जाता था, सरकार मुद्रा-नीति पर अपना नियन्त्रण रखती थी और नोट छापने के सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय सरकार द्वारा ही लिया जाता था। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि नोटो के बारे मे अन्तिम निर्णय सरकार को ही लेना है तो फिर सरकार इस काम को स्वय ही क्यो न करे।

(5) **अनुपयुक्त नीति के परिणाम घातक होते है**—जैसा विदित है, नोट-निर्गमन सम्बन्धी एक अनुपयुक्त नीति को अपनाने से देश की अर्थ-व्यवस्था मे गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर होते है, इसीलिए यह आवश्यक है कि नोट-निर्गमन का कार्य निजी बैंको के हाथो मे न छोडा जाय। निजी बैंक प्राय अपने स्वार्थो के लिए राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा करते है।

बैंको द्वारा नोट निर्गमन के पक्ष मे तर्क—निजी बैंको को नोट छापने का अधिकार सौपने के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है

(1) **मुद्रा-प्रणाली मे लोच**—जैसा विदित है, सरकारी विभागो का व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग-धन्धो से कोई सीधा सम्पर्क नही होता। परिणामत सरकार द्वारा प्रचलित मुद्रा-प्रणाली मे प्राय लोच का अभाव रहता है। इसके विपरीत, बैंको का देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धो से सीधा सम्पर्क रहता है, जिसके परिणामस्वरूप वे देश की मौद्रिक आवश्यकताओ के बारे मे अधिक विश्वसनीय जानकारी प्राप्त कर सकते है और उसी के अनुसार नोटो की मात्रा मे विस्तार अथवा सकुचन कर सकते है। इस प्रकार बैंको द्वारा नोट छापे जाने के फलस्वरूप मुद्रा-प्रणाली मे अधिक लोच आ जाती है।

(2) **बैंको द्वारा कागजी मुद्रा का निर्गमन-कार्य सुव्यवस्थित ढंग से होता है**—सरकार की

अपेक्षा बैंक नोट-निर्गमन का कार्य बहुत ही अच्छे एव सुव्यवस्थित ढग से कर सकते हैं। जैसा देखने मे आता है, सरकारी काम मे प्राय ढील-ढाल रहती है और नीति-सम्बन्धी निर्णय लेने मे बहुत ही विलम्ब होता है। परिणामत मुद्रा की अधिक मांग होते हुए भी उसकी पूर्ति मे शीघ्रता से वृद्धि नही की जा सकती।

बैंको की मौद्रिक-नीति विशुद्ध आर्थिक विचारों पर आधारित होती है—जब बैंक नोट छापने का कार्य करते हैं, तब देश की मौद्रिक नीति देश के हितो के अनुकूल होती है, परन्तु जब नोट छापने का कार्य सरकार स्वय करती है, तब देश की मौद्रिक नीति विशुद्ध आर्थिक विचारो पर नहो, बल्कि राजनीतिक तथा वित्तीय आवश्यकताओ पर आधारित हो जाती है। कभी-कभी अपनी तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सरकार विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो की बलि दे देती है, अर्थात् उनकी अपेक्षा करती है। यह त्रुटि प्रजातान्त्रिक देशो मे तो विशेष रूप से पायी जाती है। ऐसे देशो मे सरकारें जनता के विरोध के भय के कारण बजट-सम्बन्धी घाटे को करो द्वारा नही, अपितु नोट छापकर पूरा कर लेती है। हालाँकि ऐसी नीति देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध होती है। इस प्रकार नोट छापने का अधिकार सरकार के हाथो मे सौंप देना खतरे से खाली नही, परन्तु बैंक नोट छापते समय विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो से ही प्रेरित होते हैं।

(4) बैंक, बैंकिंग के नियमों का पालन अच्छी तरह करते हैं बैंक नोट निर्गमन सम्बन्धी बैंकिंग के नियमो का सरकार की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार से पालन करते हैं। फलत बैंको द्वारा नोट छापे जाने के परिणामस्वरूप देश मे मुद्रा के आधिक्य का भय नही रहता। परन्तु जब नोट छापने का कार्य सरकार के हाथो मे सौंप दिया जाता है, तब बैंकिंग के नियमो की अवहेलना की सम्भावना बढ जाती है, क्योंकि सरकार इन नियमो की ओर इतना ध्यान नही देती जितना कि बैंक देते हैं। स्मरण रहे कि बैंकिंग नियमो की अवहेलना से देश मे गम्भीर परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

(5) बैंकों द्वारा नोट छापने से जो लाभ होता है, उसका अधिकाश भाग लोकहित मे ही व्यय किया जाता है—बैंको द्वारा नोट छापने से जो लाभ प्राप्त होता है, उसका कुछ अश तो अवश्य ही अशधारियों (shareholders) में बाँट दिया जाता है, परन्तु उसका अधिकाश भाग सरकार द्वारा ले लिया जाता है जिसे सरकार सार्वजनिक हित मे व्यय करती है।

उपर्युक्त सभी तर्कों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नोट-निर्गमन का कार्य सरकार की अपेक्षा बैंको द्वारा अधिक सुव्यवस्थित ढग से सम्पन्न किया जा सकता है। वास्तव मे, इस कार्य के लिए सरकार की अपेक्षा बैंक अधिक उपयुक्त सस्थाएँ हैं। बैंको का व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग-धन्धो से प्रत्यक्ष एव घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जिससे उन्हे देश की मौद्रिक आवश्यकताओ के बारे मे अधिक विश्वसनीय जानकारी होती है। इसके अतिरिक्त, सरकार की अपेक्षा बैंक देश की मुद्रा-प्रणाली को अधिक लोचपूर्ण भी बना सकते हैं। जहाँ तक जनता के विश्वास का सम्बन्ध है, बैंको द्वारा निर्गमित किये गये नोटो की प्रतिष्ठा सरकार द्वारा छापे गये नोटो से कम नही होती। यदि सही ढग से बैंको पर सरकारी नियन्त्रण रखा जाय तो बैंको द्वारा छापे गये नोटो मे अविश्वास का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता और फिर नोटो को छापने से बैंको को जो लाभ होता है, उसका अधिकाश भाग सरकार करो के रूप मे ले सकती है। इस प्रकार नोट-निर्गमन कार्य के लिए सरकार की अपेक्षा बैंक अधिक उपयुक्त सस्थाएँ हैं।

एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली बनाम बहुबाही नोट-निर्गमन प्रणाली
(Single Note-issue System *Vs* Multiple Note-issue System)

यह मान लेने पर कि कागजी मुद्रा का निर्गमन बैंको द्वारा होना चाहिए, अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कागजी मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को दिया जाय अथवा बहुत-से बैंको को ? नोट निर्गमन के प्रारम्भिक काल मे कुछ देशो मे कागजी मुद्रा छापने का अधिकार बहुत-से बैंको को दिया गया था, परन्तु आजकल यह कार्य साधारणत देश के केन्द्रीय बैंक को ही सौंपा जाता है अर्थात् नोट छापने का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास ही रहता है। भारत मे नोट-निर्गमन का एकाधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को दिया गया है। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन मे नोट छापने का एकाधिकार बैंक ऑफ इगलैण्ड के हाथो मे है।

बहुवाही नोट-निर्गमन प्रणाली के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **कागजी मुद्रा मे समानता का अभाव**—यदि नोट छापने का कार्य विभिन्न बैंको को सौंप दिया जाता है तो इससे नोटो मे समानता तथा एकरूपता (uniformity) का अभाव हो जायगा और इस कारण खरी व खोटी मुद्राओ को पहचानना कठिन हो जायगा।

(2) **बैंकों मे प्रतियोगिता**—यदि नोट छापने का कार्य बहुत-से बैंको को सौंप दिया जाता है तो इससे उनमे प्रतियोगिता उत्पन्न हो जायगी। प्रत्येक बैंक अधिकाधिक मात्रा मे नोट छापने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार बैंको मे एक प्रकार की होड़-सी उत्पन्न हो जायगी जो देश के हितो के प्रतिकूल होगी।

(3) **कागजी मुद्रा-कोष मे मितव्ययता का अभाव**—नोट-निर्गमन का कार्य यदि बहुत-से बैंकों को सौंप दिया जाता है तो इससे प्रत्येक बैंक को नोटो के पीछे कुछ न कुछ धातु प्रारक्षण (metallic reserves) अवश्य ही रखना होगा। इससे धातुएँ बेकार कागजी मुद्रा निधियो मे पड़ी रहेंगी और देश को लाभ प्राप्त न होगा।

(4) **नोट-निर्गमन नीतियो मे भिन्नता**—यदि नोट छापने का कार्य बहुत-से बैंको को दे दिया जाता है तो फिर देश के लिए एक सुव्यवस्थित एव प्रभावपूर्ण मुद्रा-नीति को अपनाना कठिन हो जायगा, क्योकि जब बहुत से बैंको द्वारा नोट छापे जाते हैं तो उनकी नीतियो मे भिन्नता का होना अनिवार्य हो जाता है।

बहुवाही नोट-निर्गमन प्रणाली के उपर्युक्त दोषो के कारण अर्थशास्त्रियो द्वारा प्राय एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली का ही समर्थन किया जाता है।

एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **धातु मे मितव्ययता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा के पीछे रखा गया धातु-कोष केवल एक ही बैंक मे केन्द्रित रहता है जिससे सकट के समय उसका प्रभावपूर्ण ढग से उपयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, धातु-कोष की मात्रा भी उतनी नही होती जितनी कि बहु-वाही नोट निर्गमन प्रणाली के अन्तर्गत होती है।

(2) **मुद्रा प्रणाली के नियन्त्रण मे सुविधा**—एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली मे सरकार का नियन्त्रण भी बहुवाही नोट निर्गमन प्रणाली की तुलना मे अधिक प्रभावपूर्ण एव विस्तृत होता है।

(3) **प्रतियोगिता का अभाव**—एकाकी नोट-निर्गमन प्रणाली मे बैंको की पारस्परिक प्रति-योगिता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता क्योकि इसके अन्तर्गत नोट-निर्गमन का समूचा कार्य केवल देश के केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाता है।

(4) **कागजी मुद्रा मे एकरूपता**—चूँकि कागजी मुद्रा का निर्गमन एक केन्द्रीय सस्था द्वारा किया जाता है, इसलिए इसमे एकरूपता रहती है अर्थात् सभी नोट एक ही बनावट, आकार एव रग के होते हैं और खरी व खोटी मुद्रा को आसानी से पहचाना जा सकता है।

(5) **जनता का अधिक विश्वास**—जब कागजी मुद्रा के निर्गमन का अधिकार एक ही बैंक के पास रहता है तथा सरकार उस मुद्रा की परिवर्तनशीलता की गारण्टी देती है तो ऐसी मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास अधिक होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि *बहुवाही नोट-निर्गमन प्रणाली की तुलना* मे एकाकी नोट निर्गमन प्रणाली अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है और कागजी मुद्रा छापने का यह अधिकार केवल देश के केन्द्रीय बैंक के पास ही रहना चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्य बैंको की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन का काय अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है। इसलिए आजकल लगभग सभी देशो मे नोट छापने का एकाधिकार वहाँ के केन्द्रीय बैंको को सौंप दिया गया है।

नोट-निर्गमन के सिद्धान्त
(Principles of Note-Issue)

नोट-निर्गमन के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं। ये दोनो सिद्धान्त एक दूसरे के विपरीत है। पहला सिद्धान्त करेंसी या मुद्रा सिद्धान्त (Currency Principle) कहलाता है, और दूसरे सिद्धान्त को

बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) कहते हैं। कुछ अर्थशास्त्री करेंसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और कुछ बैंकिंग सिद्धान्त का।

1 करेंसी या मुद्रा-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को कभी-कभी सुरक्षा-सिद्धान्त (Security Principle) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कागजी मुद्रा की मात्रा के बराबर नोट-निर्गमन अधिकरण (issuing authority) द्वारा धात्विक-कोष रखे जाते हैं अर्थात् नोट-निर्गमन अधिकरण द्वारा जितनी रकम के नोट छापे जाते हैं, ठीक उतनी ही रकम के बराबर मूल्यवान धातुएँ कोष के रूप में रखी जाती हैं। दूसरे शब्दों में, नोट-निर्गमन संस्था (issuing authority) नोटों के पीछे सोने व चांदी की शत-प्रतिशत आड़ (100% cover) रखती है। इसका उद्देश्य मुद्रा की सुरक्षा तथा जनता का विश्वास प्राप्त करना है, इसलिए नोटों के पीछे शत-प्रतिशत आड़ रखी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार नोट केवल धातु की घिसावट को रोकने के लिए ही जारी किये जाते हैं और धातुओं को प्रचलन में न रखकर कोष में रखा जाता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त पर आधारित नोटों का विस्तार एवं संकुचन धातु-कोष की अधिकता अथवा कमी पर निर्भर करता है।

करेंसी सिद्धान्त के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **सुरक्षा**—चूँकि इस सिद्धान्त के अनुसार नोटों के पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रहते हैं इसलिए मुद्रा प्रणाली में पूर्ण सुरक्षा रहती है और नोटों के अति निर्गमन (over-issue) का कोई भय नहीं होता।

(2) **जनता का विश्वास**—चूँकि इस सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा सदैव धातुओं में परिवर्तनीय होती है, इसलिए जनता का इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली में अधिक विश्वास होता है।

करेंसी सिद्धान्त के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **लोच का अभाव**—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली में लोच का बहुत अभाव रहता है। इसका कारण यह है कि कागजी मुद्रा की पूर्ति को देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा का विस्तार व संकुचन धातु-कोषों की अधिकता या कमी पर निर्भर करता है। जैसा हम जानते हैं, एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में कागजी मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए ताकि देश के आर्थिक विकास में किसी प्रकार की रुकावटें पैदा न हों।

(2) **अमितव्ययता (Lack of Economy)**—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली में अमितव्ययता का दोष भी पाया जाता है। जैसा हम देख चुके हैं—इस सिद्धान्त के अनुसार कागजी नोटों के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष रखे जाते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली में सोने व चाँदी की बचत नहीं होती और ये मूल्यवान धातुएँ धात्विक-कोष में बेकार पड़ी रहती हैं जबकि इनको अन्य लाभदायक उपयोगों में लगाया जा सकता है।

(3) **साख की उपयोगिता की उपेक्षा**—यह सिद्धान्त सुरक्षा (security) को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है तथा साख की उपयोगिता की उपेक्षा करता है। एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में सुरक्षा के साथ-साथ लोच (elasticity) का होना आवश्यक है। परन्तु यह सिद्धान्त लोच की अपेक्षा सुरक्षा को अधिक महत्त्व देता है।

(4) **अव्यावहारिकता**—जैसा हम पहले कह चुके हैं इस समय विश्व के विभिन्न देशों में मूल्यवान धातुओं का वितरण असमान है। कुछ देशों के पास सोना चाँदी अत्यधिक मात्रा में है और कुछ देशों के पास इनका बहुत अभाव है। ऐसी परिस्थिति में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता। कुछ देशों के पास धातुओं की इतनी कमी है कि वे कागजी मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धात्विक-कोष रखने में पूर्णतः असमर्थ हैं।

2 बैंकिंग-सिद्धान्त अथवा लोच-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को कभी-कभी लोच सिद्धान्त (Elasticity Principle) भी कहा जाता है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा-प्रणाली में लोच का होना आवश्यक माना जाता है। इस

सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा म देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार विस्तार तथा सकुचन किया जाता है। इसको सम्भव बनाने के लिए मुद्रा नियन्त्रक (Controller of Currency) को कागजी मुद्रा का निगम तथा नियमन (regulation) करने मे पूण स्वतन्त्रता होती है। इस सिद्धान्त के अन्तगत कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक-कोष रखने की आवश्यकता नही होती बल्कि मुद्रा नियन्त्रक को इस विषय मे पूण स्वतन्त्रता होती है कि वह कागजी नोटो के पीछे कितना धात्विक-कोष रखे। इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे नोट जारी करने का काय प्राय एक बैंक को सौंप दिया जाता है और उसे पूण स्वतन्त्रता होती है कि वह देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार कागजी मुद्रा की मात्रा म परिवतन करे और जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए उसके पीछे आवश्यक धात्विक कोषो की व्यवस्था करे।

बैंकिंग सिद्धान्त के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **मुद्रा प्रणाली मे लोच**—बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली म सदैव लोच का गुण विद्यमान रहता है। इस प्रणाली के अन्तगत देश की मुद्रा पूर्ति को व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार घटाया बढाया जा सकता है और ऐसा करने मे मुद्रा नियन्त्रक को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नही करना पडता। इसका कारण यह है कि बैंकिंग सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोषो के रखने की आवश्यकता नही होती बल्कि कागजी मुद्रा के एक निश्चित भाग के पीछे ही सोने व चादी के कोष रखे जाते हैं। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि किसी विशेष समय पर कागजी मुद्रा का एक निश्चित भाग ही सोने व चादी मे बदलने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। अतएव कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष रखना आवश्यक नही है।

(2) **सोने व चादी के उपयोग मे बचत**—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली म कागजी मुद्रा की कुल पूर्ति की तुलना म धातु-कोष बहुत कम रखा जाता है इसीलिए इस प्रणाली मे सोने व चादी के उपयोग मे बहुत बचत होती है और देश को धातुओं की घिस जाने मे होने वाली राष्ट्रीय हानि से बचाया जा सकता है।

बैंकिंग सिद्धान्त के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **अति निगमन का भय (Danger of Over issue)**—इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली मे प्राय अति निगमन का भय रहता है। इसका कारण यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु-कोष नही रखे जाते और कागजी मुद्रा की निकासी धातु कोषो से शासित नही होती है। अत आवश्यकता से अधिक नोट जारी किये जाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

(2) **जनता का विश्वास कम होता है**—बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित प्रणाली म जनता का विश्वास प्राय कम होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तगत कागजी मुद्रा के पीछे पर्याप्त धातु कोष नही होता।

दोनो मे कौन सा सिद्धान्त अच्छा है?—यह कहना कठिन नहीं है कि उक्त दोनो सिद्धान्तो में से कौन सा सिद्धान्त अच्छा है। करेंसी सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली जनता के दृष्टिकोण से तो अच्छी प्रतीत होती है परन्तु इसम व्यावहारिकता का गुण नही है। आज की दुनिया म कोई भी देश अपनी कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु कोष रखने की परिस्थिति मे नही है। इसका एक कारण तो यह है कि इस समय आवश्यकताओं की तुलना म मूल्यवान धातुओ की कमी है और दूसरे विभिन्न देशो म इस समय इन धातुओ का वितरण भी असमान है। इसके अतिरिक्त करेंसी सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली म लोचकता का भी अभाव रहता है क्योंकि इसके अन्तगत देश की मुद्रा पूर्ति को व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार घटाया-बढाया नही जा सकता। इस प्रकार इस सिद्धान्त को अपनाने से देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास म बाधाए उत्पन्न हो सकती है इसीलिए आजकल सभी देशो ने अपनी मुद्रा प्रणालियो को बैंकिंग सिद्धान्त पर ही आधारित कर रखा है। इसका कारण यह है कि इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली म कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु कोष रखने की आवश्यकता नही होती और थोडे से धातु कोष के आधार पर ही अधिक मात्रा म कागजी मुद्रा

को निर्गमित किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली मे अत्यधिक लोचकता का गुण पाया है। इसके साथ ही साथ चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा के पीछे कुछ न कुछ धातु-कोष अवश्य ही रखना पड़ता है, इसलिए इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता भी बनी रहती है और जनता के विश्वास को भी बनाये रखा जा सकता है। जैसा हम जानते हैं, एक अच्छी मुद्रा प्रणाली मे सुरक्षा (security) तथा लोचकता (elasticity) के दोनो गुणो का समुचित सम्मिश्रण होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली, करेंसी सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। यही कारण है कि आजकल विश्व के सभी देशो मे बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित प्रणालियो को ही अपनाया जाता है।

नोट-निर्गमन की पद्धतियाँ
(Systems of Note-Issue)

अब हम यह देखेंगे कि नोट-निर्गमन की मुख्य पद्धतियाँ कौन-कौन-सी हैं? नीचे इनका वर्णन किया गया है :

1 निश्चित विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति

निश्चित विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति (Fixed Fiduciary System) के अनुसार मुद्रा-नियन्त्रक (Controller of Currency) को यह अधिकार होता है कि वह एक निश्चित मात्रा तक किसी प्रकार के धातु-कोष के बिना कागजी मुद्रा का निर्गमन करे, परन्तु इस निश्चित मात्रा के ऊपर प्रत्येक कागजी नोट के पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना आवश्यक होता है। जो कागजी मुद्रा बिना धातु-कोष के निर्गमित की जाती है, उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियो (government securities) की आड होती है। इस प्रकार के निर्गमन को विश्वासाश्रित निर्गमन कहते हैं। इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य कागजी मुद्रा की धातु मे परिवर्तनशीलता को बनाये रखना है।

ग्रेट ब्रिटेन मे बहुत समय तक यह प्रणाली कार्यशील रही थी। सन् 1844 के बैंक चार्टर एक्ट (Bank Charter Act) के अन्तर्गत बैंक ऑफ इगलैण्ड को यह अधिकार दिया गया था कि यह 140 लाख पौण्ड की कीमत के कागजी नोटो को किसी प्रकार का धातु-कोष रखे बिना जारी कर ले। परन्तु यदि बैंक ऑफ इगलैण्ड इससे अधिक मा"ा मे कागजी मुद्रा जारी करना चाहता था तो ऐसी दशा मे उसके लिए अतिरिक्त कागजी मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना अनिवार्य था। इस प्रकार सन् 1844 के बैंक चार्टर एक्ट के अन्तर्गत, विश्वासाश्रित निर्गमन की सीमा 140 लाख पौण्ड थी। परन्तु बाद मे चलकर समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गमन की सीमा को स्वर्ण-कोषो की कमी तथा मुद्रा-प्रसार की आवश्यकता के कारण बढाया गया। सन् 1971 मे विश्वासाश्रित निर्गमन की सीमा 150 करोड पौण्ड तक पहुँच गयी थी। सन् 1861 और 1920 के बीच भारत ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। जापान तथा नार्वे ने भी कुछ सशोधनो के साथ इसी प्रणाली को क्रियान्वित किया था।

निश्चित विश्वासाश्रित पद्धति के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

(1) **सुरक्षा (Security)**—इस प्रणाली मे सुरक्षा का गुण पाया जाता है। इसका कारण यह है कि कागजी मुद्रा की कुल मात्रा के एक निश्चित भाग को छोड़कर शेष समूची कागजी मुद्रा के पीछे धातु-कोष रखा जाता है जिससे इसकी परिवर्तनशीलता बनी रहती है। यह सत्य है कि सभी नोटो के पीछे धातु-कोष की आड नही रखी जाती। परन्तु जैसा विदित है, एक ही समय पर पर सभी नोटो को धातु मे बदलने के लिए प्रस्तुत नही किया जाता।

(2) **जनता का विश्वास**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार द्वारा कागजी नोटो की धातु मे परिवर्तनशीलता की गारण्टी दी जाती है, इसलिए इस प्रणाली मे जनता का विश्वास अधिक होता है।

(3) **अति-निर्गमन का भय नहीं होता (No Danger of Over-issue)**—इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा के अति-निर्गमन का भय नही रहता, क्योंकि एक निश्चित सीमा के ऊपर जितने भी नोट जारी किये जाते है, उनके पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना अनिवार्य होता है।

निश्चित विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं-

(1) **लोच का अभाव**—इस प्रणाली मे एक निश्चित सीमा के पश्चात जितने भी नोट जारी किये जाते है, उनके पीछे शत-प्रतिशत धातु-कोष रखना पडता है, इससे मुद्रा-प्रणाली मे बेलोचकता (inelasticity) उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, आर्थिक सकट के समय देश मे अधिक मुद्रा की आवश्यकता होते हुए भी मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि नही की जा सकती, क्योकि मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि करने के लिए अधिक मात्रा मे सोने की आवश्यकता पडती है। यदि देश के पास सोने की पूर्ति पहले से ही सीमित है तो फिर कागजी मुद्रा की पूर्ति को नही बढाया जा सकता है।

(2) **यह पद्धति अधिक व्ययपूर्ण है**—यह पद्धति बहुत खर्चीली है और केवल उन्ही देशो द्वारा अपनायी जा सकती है जिनके पास सोने का पर्याप्त स्टॉक होता है। गरीब देशो के लिए यह प्रणाली उपयुक्त नही हो सकती।

(3) **सुविधा का अभाव**—इस प्रणाली मे प्राय सुविधा का अभाव होता है। यदि किसी कारणवश कोष मे सोने की कमी हो जाती है, तब उतने ही मूल्य की कागजी मुद्रा प्रचलन मे से वापस लेनी पडती है, यद्यपि उस समय देश मे मुद्रा की माँग कितनी ही अधिक क्यो न हो। परन्तु इस पद्धति के समर्थको का विचार है कि इसकी इस बेलोचकता को कागजी मुद्रा के विश्वासाश्रित भाग (fiduciary portion) की सीमा को बढाकर दूर किया जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन मे समय-समय पर ऐसा ही किया गया था। परन्तु ऐसा करने मे एक कठिनाई यह होती है कि कागजी मुद्रा के विश्वासाश्रित भाग को समय-समय पर बढाने से जनता का मुद्रा प्रणाली मे से विश्वास उठ जाता है।

2 अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति

अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति (Fixed Maximum Fiduciary System) के अन्तर्गत, कानून द्वारा सरकार कागजी मुद्रा की एक निश्चित सीमा तय कर देती है। देश के मुद्रा नियन्त्रक (केन्द्रीय बैंक) को यह अधिकार होता है कि वह इस निश्चित सीमा तक किसी प्रकार के धातु-कोष के बिना कागजी मुद्रा का निर्गमन करे। इस प्रकार इस पद्धति के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा का धातु-निधि से कुछ भी सम्बन्ध नही होता। परन्तु इस प्रणाली मे निश्चित अधिकतम सीमा के ऊपर नोट जारी करने का अधिकार मुद्रा-नियन्त्रक को बिल्कुल नही होता अर्थात् निश्चित अधिकतम सीमा के परे मुद्रा-नियन्त्रक किसी भी दशा मे नोट जारी नही कर सकता, चाहे वह उसके लिए शत-प्रतिशत धातु-कोष रखने के लिए ही क्यो न तैयार हो। स्मरण रहे कि कागजी मुद्रा की अधिकतम सीमा निश्चित करते समय सरकार देश की व्यापारिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखती है और यह सीमा इस ढग से निर्धारित की जाती है कि देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पडे। साधारणत यह अधिकतम सीमा देश की मुद्रा सम्बन्धी औसत आवश्यकताओ से अधिक ही रखी जाती है। सकट के समय आवश्यकता पडने पर सरकार इस अधिकतम सीमा मे वृद्धि भी कर सकती है। उदाहरणार्थ, फ्रॉंस सरकार समय-समय पर नोटो की निश्चित की गयी अधिकतम सीमा को बढाती रही है।

सन् 1928 तक यह प्रणाली फ्रांस मे प्रचलित रही थी। ग्रेट ब्रिटेन मे भी मैकमिलन समिति (Macmillan Committee) ने इसी प्रणाली को अपनाने की सिफारिश की थी।

अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

(1) **इस प्रणाली मे स्वर्ण को बेकार धातु-कोष में नहीं रखना पड़ता**—इस प्रणाली का सबसे बडा गुण यह है कि-इसमे सोने को धातु-कोष मे बेकार नही रखना पडता, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि मुद्रा-नियन्त्रक किसी प्रकार का धातु-कोष रखता ही नही है। कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखने के लिए इस प्रणाली के अन्तर्गत कुछ धातु-कोष अवश्य ही रखना पडता है। परन्तु कागजी मुद्रा के पीछे कितना धातु-कोष रखा जाय, यह पूर्णत नियन्त्रक की स्वेच्छा पर छोड दिया जाता है।

(2) **मुद्रा-प्रणाली मे लोच**—इस प्रणाली मे लोचकता का अश भी पाया जाता है। इसका कारण यह है कि कागजी मुद्रा की अधिकतम मात्रा निश्चित करते समय सरकार देश की व्यापा-

रिक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखती है और उन्ही के अनुसार कागजी मुद्रा का निगमन किया जाता है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास पर मुद्रा के अभाव का प्रतिकूल प्रभाव नही पडता।

अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गमन पद्धति के अवगुण—इसके अवगुण निम्नलिखित है

(1) **सरकार द्वारा मुद्रा प्रणाली के दुरुपयोग की सम्भावना**—इस प्रणाली म एक दोष यह है कि इसका सरकार द्वारा आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है। सकट के समय अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार कागजी मुद्रा की अधिकतम सीमा को बढा सकती है जिससे अति निगमन के गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर हो सकते हैं। दूसरे शब्दो म इस प्रणाली मे मुद्रा स्फीति के विरुद्ध किसी प्रकार की रोक नही होती।

(2) **मुद्रा प्रणाली मे लोच का अभाव**—इस प्रणाली मे लोच का अभाव भी हो सकता है। उदाहरणार्थ यदि सरकार कागजी मुद्रा निगमन की अधिकतम सीमा म परिवर्तन नही करती तो यह प्रणाली देश की बढी हुई व्यापारिक आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ रहती है।

(3) **यह एक रूढिवादी प्रणाली है**—चूकि यह प्रणाली मुद्रा निकासी के बैंकिंग सिद्धान्त की अपेक्षा करैंसी सिद्धान्त पर बल देती है इसलिए इसे रूढिवादी प्रणाली माना जाता है।

3 आनुपातिक निधि पद्धति

आनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve System) को बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित किया गया है। इस प्रणाली के अन्तगत कागजी मुद्रा की कुल मात्रा तथा धातु-कोष का आपसी अनुपात पहले से ही निश्चित कर दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे यह पहले से निश्चित कर लिया जाता है कि कागजी मुद्रा का कितना न्यूनतम प्रतिशत भाग धातु-कोष के रूप मे रखा जाय और कितना भाग धातु कोष के बिना रखा जाय। कागजी मुद्रा का जो भाग धातु कोष के बिना रखा जाता है उसे विश्वासाश्रित अथवा अरक्षित भाग (fiduciary portion) कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि कागजी मुद्रा के विश्वासाश्रित भाग के पीछे सरकारी ऋणपत्रो व्यापारिक बिलो तथा अन्य प्रकार के प्रमाण पत्रो की आड रखी जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तगत कागजी मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत भाग ही धातु कोष के रूप मे रखा जाता है। उदाहरणार्थ किसी देश मे कागजी मुद्रा का 40 प्रतिशत भाग धातु कोष के रूप मे और शेष 60 प्रतिशत भाग सरकारी ऋणपत्रो के रूप मे रखा जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि कागजी मुद्रा के पीछे रखा गया धातु कोष सदा के लिए निश्चित होता है। समय समय पर सरकार आवश्यकता पडने पर धातु कोष के प्रतिशत को कम या अधिक कर सकती है। यदि सरकार यह अनुभव करती है कि केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा नियन्त्रक के पास पर्याप्त कोष नही है तो वह धातु कोष के प्रतिशत को कम कर सकती है। कुछ देशो मे ऐसी प्रथा भी प्रचलित है कि यदि केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा नियन्त्रक के पास पर्याप्त धातु कोष नही है तब भी वह अधिक मात्रा म कागजी मुद्रा जारी कर सकता है परन्तु ऐसी परिस्थिति मे उसे धातु कोष की कमी पर सरकार को जुर्माना देना पडता है।

प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त इस प्रणाली को अमरिका फ्रास तथा जमनी ने अपनाया था। सन 1927 म हिल्टन यग आयोग (Hilton Young Commission) की सिफारिशो के अनुसार इसे भारत सरकार ने भी अपना लिया था और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट म इसे समुचित स्थान दिया गया था। परन्तु सन 1956 म भारत सरकार ने इस प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम स्वर्ण कोष प्रणाली (Minimum Gold Reserve System) को अपना लिया था। ग्रेट ब्रिटेन म भी यह प्रणाली प्रचलित रही है।

आनुपातिक निधि पद्धति के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

मुद्रा प्रणाली मे लोचकता—इस प्रणाली म लोचकता का गुण पाया जाता है क्योकि इसके अन्तगत केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा नियन्त्रक अपने पास रखे हुए धातु कोष से कही अधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा जारी कर सकता है। उदाहरणार्थ केन्द्रीय बैंक कोष मे धातु का एक सिक्का रखकर उसके आधार पर लगभग 3 गुनी कागजी मुद्रा जारी कर सकता है। इसके विपरीत कोष म धातु का एक सिक्का कम हो जाने से उसे लगभग तीन गुनी कागजी मुद्रा कम भी करनी पडती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली म धातु कोष की कमी के कारण कागजी मुद्रा का विस्तार

रुक नही सकता। कुछ विशेष परिस्थितियो मे धातु की कमी पर सरकार को जुर्माना देकर केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा नियन्त्रक अधिक कागजी मुद्रा जारी कर सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली मे बहुत लोच पायी जाती है।

(2) **परिवर्तनशीलता**—चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा के पीछे कुछ न कुछ धातु कोष अवश्य ही रखा जाता है इसलिए नोटो की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन नही होता। स्मरण रहे कि एक ही समय पर सभी कागजी नोट धातु मे बदलने के लिए प्रस्तुत नही किये जाते।

आनुपातिक निधि पद्धति के दोष—इसके दोष निम्नलिखित है

(1) **मुद्रा सकुचन मे कठिनाई**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा का विस्तार करना तो आसान है, परन्तु इसका सकुचन करना कठिन होता है। जैसा ऊपर बताया गया है देश के धातु-कोष मे सोने के एक सिक्के के कम हो जाने पर 3 या 4 गुनी कागजी मुद्रा को प्रचलन से वापस लेना पडता है। अब कागजी मुद्रा का सकुचन करना, वास्तव मे, कोई आसान बात नही है क्योकि ऐसा करने से देश मे मन्दी फैल जाने का भय रहता है।

(2) **सोने व चाँदी बेकार ही कोष मे पड़े रहते हैं**—इस प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे नोट जारी करने वाली सस्था अर्थात् केन्द्रीय बैंक के पास बहुत बडी मात्रा मे सोना व चाँदी बेकार ही धातु कोष मे पडे रहते हैं जबकि उन्हे आसानी से अन्य लाभदायक उपयोगो मे लगाया जा सकता है।

(3) **नोटो की परिवर्तनशीलता प्राय काल्पनिक होती है**—यह सत्य है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा वैधानिक रूप से धातु मे परिवर्तनशील होती है परन्तु व्यवहार मे कागजी मुद्रा की इस तथाकथित परिवर्तनशीलता का कोई महत्त्व नही होता। इसका कारण यह है कि एक नोट के बदले जब सोने का सिक्का दिया जाता है तब उसी समय सोने का एक सिक्का निकल जाने के कारण धातु कोष मे सोने की मात्रा निश्चित अनुपात से कम रह जाती है इसलिए सरकार द्वारा निर्धारित अनुपात का उल्लघन किये बिना केन्द्रीय बैंक के लिए कागजी नोटो को सोने मे बदलना सम्भव नही होता। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता काल्पनिक ही रहती है वास्तविक नही।

4 आशिक अनुपात निधि पद्धति

आशिक अनुपात निधि पद्धति (Percentage System), आनुपातिक निधि प्रणाली का ही सशोधित रूप है। इस प्रणाली के अन्तर्गत धातु-कोष का कुल कागजी मुद्रा के साथ अनुपात निश्चित करते समय धातु की न्यूनतम मात्रा को भी निर्धारित कर दिया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत धातु कोष मे सोने चाँदी तथा अन्य मूल्यवान धातुओ के साथ विदेशी ऋणपत्रो को भी रखा जाता है। सन 1956 से पूर्व कागजी मुद्रा की यह प्रणाली भारत मे प्रचलित थी। उस समय कानून ने अन्तर्गत कुल कागजी मुद्रा का 40 प्रतिशत भाग धातु कोष के रूप मे रखना अनिवार्य था। इस 40 प्रतिशत मे सोने तथा विदेशी ऋणपत्रो (foreign securities) को भी सम्मिलित किया जाता था। कागजी मुद्रा का 60 प्रतिशत भाग अन्य ऋणपत्रो के रूप मे रखना पडता था। धातु-कोष मे रखे गये सोने की न्यूनतम मात्रा 40 करोड रुपये से कम नही हो सकती थी। सोने के मूल्य निर्धारण के लिए सरकार द्वारा सोने की कीमत 21 रुपये 3 आने 10 पाई प्रति तोला निश्चित की गयी थी।

आशिक अनुपात निधि पद्धति के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **सोने की बचत**—इस प्रणाली मे सबसे बडा गुण यह है कि इसमें सोने की बचत होती है अर्थात समूची कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण कोष रखना आवश्यक नहीं होता और इस प्रकार बचाये गये सोने को अन्य लाभदायक उपयोगो मे लगाया जा सकता है।

(2) **आनुपातिक निधि पद्धति के सभी लाभ उपलब्ध होते हैं**—इस प्रणाली मे आनुपातिक निधि पद्धति के सभी लाभ उपलब्ध होते हैं, अर्थात् इसमे लोचकता, मितव्ययता तथा परिवर्तन-शीलता के सभी गुण पाये जाते हैं।

आंशिक अनुपात निधि पद्धति के दोष—इस प्रणाली मे वे सब दोष पाये जाते हैं जो आनुपातिक निधि पद्धति मे विद्यमान होते हैं ।

5 साधारण जमा पद्धति

साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit System) के अन्तर्गत, नोट जारी करने वाली सस्था (अर्थात् केन्द्रीय बैंक) को कुल कागजी मुद्रा की कीमत के बराबर सोना एवं चाँदी एक कोष मे जमा रखना पडता है । इस प्रकार इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा प्रतिनिधि कागजी मुद्रा के रूप मे प्रचलित होती है । इसका कारण यह है कि कागजी मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत धातु-कोष रहता है ।

साधारण जमा पद्धति के गुण व दोष—चूँकि इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा के पीछे 100 प्रतिशत धातु-कोष रहता है, इसलिए सभी नोटो की परिवर्तनशीलता की गारण्टी रहती है । इससे इस प्रणाली मे जनता का विश्वास अत्यधिक होता है। इसके अतिरिक्त, इस प्रणाली मे अति निर्गमन का भय नही रहता क्योकि कागजी नोटो के पीछे 100 प्रतिशत धातु-कोष रखना पडता है ।

परन्तु इस प्रणाली मे कुछ दोष भी पाये जाते है । इसमे सोने-चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं की बचत नही होती, इसलिए यह प्रणाली मितव्ययी (economical) नही है । इसके अतिरिक्त, इस प्रणाली मे लोचकता नही पायी जाती, क्योकि कागजी मुद्रा मे वृद्धि करने के लिए शत-प्रतिशत सोने-चाँदी के कोषो की आवश्यकता पडती है । इन्ही दोषो के कारण यह प्रणाली विभिन्न देशो में लोकप्रिय नही हो सकी है ।

6 कोषागार विपत्र निधि पद्धति

इस कोषागार विपत्र निधि पद्धति अथवा सरकारी बौण्ड्स जमा पद्धति (The Government Bonds Deposit System) के अन्तर्गत, कागजी मुद्रा जारी करने वाली सस्था अर्थात् केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा के पीछे धातु-कोष नही रखना पडता है । कागजी मुद्रा का निर्गमन कोषागार विपत्रो अथवा सरकारी बौण्ड्स के आधार पर ही किया जाता है । ये विपत्र या बौण्ड्स सरकार के अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र होते हैं । सरकार इन विपत्रो को केन्द्रीय बैंक को दे देती है जिनके आधार पर वह कागजी मुद्रा का निर्गमन करता है । इन कोषागार विपत्रो पर सरकार को ब्याज मिलता है, परन्तु सरकार का उद्देश्य आय न कमाकर, कागजी मुद्रा की सुव्यवस्था करना है । इस पद्धति मे कागजी मुद्रा-निर्गमन की मात्रा पर सरकार कोषागार विपत्रों के माध्यम से नियन्त्रण रखती है ।

कोषागार विपत्र निधि पद्धति के गुण व दोष—इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा के अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने का भय नही रहता, क्योकि केन्द्रीय बैंक कोषागार विपत्रो को खरीदे बिना कागजी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही कर सकता । परन्तु इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि इसमे लोचकता का अभाव रहता है, क्योकि बिना कोषागार विपत्रो के कागजी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नहीं की जा सकती ।

भारत सरकार ने सन् 1902 मे इस पद्धति को आशिक रूप मे अपनाया था परन्तु सन् 1905 में विदेशी विनिमय सकट के कारण इसे त्याग दिया गया था । सन् 1913 मे अमरीका ने भी इस प्रणाली को अपनाया था । परन्तु इसकी बेलोचकता के कारण बाद मे इसका परित्याग कर दिया गया था ।

7 न्यूनतम निधि पद्धति

इस न्यूनतम निधि पद्धति (Minimum Reserve System) के अन्तर्गत, धातु-कोष की एक निश्चित तथा न्यूनतम मात्रा निर्धारित कर दी जाती है और केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह इस न्यूनतम धातु-कोष को रखते हुए जितनी मात्रा मे चाहे, कागजी मुद्रा का निगमन कर सकता है । सन् 1956 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन करके भारत ने इस प्रणाली को अपनाया था ।

न्यूनतम निधि पद्धति के गुण—इसके गुण निम्नलिखित है

(1) **मितव्ययता**—यह प्रणाली मितव्ययी(economical) है, क्योंकि इसके अन्तर्गत,

सोने-चाँदी की बहुत बचत होती है। समूची कागजी मुद्रा के पीछे धातु-कोष रखने की आवश्यकता नही होती, बल्कि धातु-कोष की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है।

(2) **लोचकता**—अन्य प्रणालियो की अपेक्षा इस प्रणाली मे अधिक लोचकता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि इसके अन्तर्गत एक न्यूनतम धातु-कोष रखकर केन्द्रीय बैंक देश की आवश्यकताओ के अनुसार कागजी मुद्रा जारी कर सकता है और कागजी मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि करने के लिए अतिरिक्त धातु-कोष की आवश्यकता नही पडती।

न्यूनतम निधि पद्धति के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **मुद्रा-स्फीति की सम्भावना**—इस प्रणाली मे मुद्रा-स्फीति की सदैव सम्भावना बनी रहती है। इसका कारण यह है कि न्यूनतम धातु-कोष से अधिक कागजी मुद्रा जारी करने के लिए अतिरिक्त धातु-कोष की आवश्यकता नही पडती।

(2) **परिवर्तनशीलता का अभाव**—इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखना कठिन होता है। जब धातु-कोष की मात्रा कागजी मुद्रा के बदले मे सिक्के देने से न्यूनतम मात्रा के बराबर रह जाती है तो उस समय केन्द्रीय बैंक कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने मे असमर्थ हो जाता है।

8. प्रारम्भिक परिसम्पत्ति पद्धति (Original Assets System)

इस प्रणाली के अन्तर्गत, कागजी नोट बैंक द्वारा अपनी प्रारम्भिक परिसम्पत्ति (Original Assets) के आधार पर जारी किये जाते हैं, लेकिन नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए अलग से कोई धातु-कोष नही रखा जाता। यह पद्धति निश्चय ही मितव्ययी (economical) है, लेकिन खतरे से खाली नही। वास्तव मे, यह पद्धति सैद्धान्तिक ही है। इसे व्यवहार मे कभी नही लाया गया है।

कागजी मुद्रा-निर्गमन की श्रेष्ठतम पद्धति (Best System of Note-issue)—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कागजी मुद्रा की उक्त पद्धतियो मे कौन-सी पद्धति श्रेष्ठतम है? एक अच्छी कागजी मुद्रा-निर्गमन पद्धति मे चार गुणो का होना आवश्यक है—(क) लोचकता, (ख) मितव्ययता (ग) परिवर्तनशीलता, (घ) अति-निर्गमन पर रोक। किसी भी देश की मुद्रा-प्रणाली मे लोचकता का होना आवश्यक गुण माना जाता है। मुद्रा-प्रणाली मे देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा घट-बढ करने की योग्यता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, नोटो का निर्गमन इस ढग से किया जाना चाहिए कि उससे सोने-चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं के उपयोग मे बचत हो और इन धातुओ को अन्य लाभदायक उपयोगो मे लगाया जा सके। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि देश की कागजी मुद्रा परिवर्तनशील न हो, बल्कि नोटो का निर्गमन इस ढग से किया जाना चाहिए कि वे सभी धातु-सिक्को मे परिवर्तनीय हो। इसका कारण यह है कि यदि कागजी नोटो की धातु मे परिवर्तनशीलता को बनाये नही रखा जाता तो इससे देश की मुद्रा-प्रणाली मे से जनता का विश्वास उठ जायगा। अतएव केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए उसके पीछे कुछ न कुछ धातु-कोष अवश्य ही रखना चाहिए। अन्त मे, एक अच्छी कागजी मुद्रा निर्गमन पद्धति मे नोटों के अति निर्गमन पर नियन्त्रण की व्यवस्था होनी चाहिए अर्थात् कागजी नोटो को अत्यधिक मात्रा मे जारी किये जाने पर रोक होनी चाहिए।

अब हमे यह देखना है कि उपर्युक्त गुण मुद्रा-प्रणाली मे किस प्रकार प्राप्त किये जा सकते है? इन गुणो को प्राप्त करने के लिए कागजी मुद्रा जारी करने का कार्य देश के केन्द्रीय बैंक को सौप देना चाहिए। केन्द्रीय बैंक को अधिकार दिया जाना चाहिए कि वह कागजी मुद्रा की पूर्ति तथा धातु-कोष का प्रबन्ध स्वतन्त्रतापूर्वक करे। इस विषय मे सरकार द्वारा किया गया हस्तक्षेप सीमित ही होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सरकार को केवल दो प्रकार का हस्तक्षेप करना चाहिए। **प्रथम**, सरकार कागजी मुद्रा के पीछे रखी जाने वाली न्यूनतम स्वर्णनिधि को पहले से ही निश्चित कर दे। **द्वितीय**, सरकार को कागजी मुद्रा की अधिकतम सीमा भी पहले से ही निश्चित कर देनी चाहिए। इन दोनो बातो को सरकार द्वारा पहले से ही निश्चित कर दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि इनके अभाव मे कागजी मुद्रा की सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता खतरे मे पड़ सकती है।

अतः कागजी मुद्रा की सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए सरकार द्वारा न्यूनतम धातु-कोष तथा कागजी नोटो की अधिकतम सीमा निश्चित करना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि नोटो की अधिकतम सीमा तथा न्यूनतम धातु-कोष सदा के लिए निश्चित कर दिये जायें। इन दोनो मे समय-समय पर देश की बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन किये जाने चाहिए। ऐसा करने से ही देश की मुद्रा-प्रणाली मे लोचकता का गुण बनाये रखा जा सकता है। यह भी स्मरण रहे कि कागजी मुद्रा-निर्गमन की कोई भी पद्धति सदा के लिए अच्छी नही कही जा सकती। किस समय पर, देश मे कौन-सी पद्धति अपनायी जाय, यह देश मे उस समय सोने की पूर्ति, मुद्रा-बाजार की परिस्थिति, व्यापारिक आवश्यकताओ तथा जनता के स्वभाव पर निर्भर करता है। कुछ भी हो, नोट जारी करने वाली संस्था पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए, क्योंकि सरकारी नियन्त्रण के अभाव में कागजी मुद्रा की सुरक्षा खतरे मे पड सकती है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि मुद्रा-प्रणाली की सुरक्षा के लिए लोचकता की बलि दे दी जाय। वास्तव में, एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली वह होती है जिसमे सुरक्षा तथा लोचकता दोनो का ही उचित सम्मिश्रण हो।

एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के गुण—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली वह होती है जिसमे निम्नलिखित गुण पाये जाते है

(1) **सरलता**—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली मे किसी प्रकार की जटिलता नही होनी चाहिए। यदि मुद्रा-प्रणाली जटिल है तो साधारण जनता उसे समझने मे असमर्थ रहेगी। जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मुद्रा-प्रणाली मे सरलता का होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त, यदि मुद्रा-प्रणाली मे जटिलता पायी जाती है तो ऐसी प्रणाली को प्रचलित रखने के लिए अधिक व्यय भी करना पडता है। इसके साथ ही साथ जटिल मुद्रा-प्रणाली मे अकुशलता उत्पन्न होने का भय भी रहता है।

(2) **लोचकता**—लोचकता से अभिप्राय यह है कि मुद्रा-प्रणाली मे शीघ्रतापूर्वक मुद्रा के विस्तार तथा संकुचन का गुण होना चाहिए, अर्थात् व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होना चाहिए। यदि देश की व्यापारिक आवश्यकताएँ बढ जाती है तो उसी अनुपात मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होनी चाहिए। यदि मुद्रा-प्रणाली मे लोचकता का अभाव है तो संकट-काल मे इसके कारण गम्भीर कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

(3) **मितव्ययता**—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली मे मितव्ययता का होना आवश्यक है अर्थात् मुद्रा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसके संचालन पर अधिक व्यय न करना पडे। विशेषकर मुद्रा-प्रणाली मे सोने-चाँदी का बचतपूर्ण उपयोग होना चाहिए। इसका कारण यह है कि खर्चीली मुद्रा-प्रणाली देश के लिए एक प्रकार का बोझ बन जाती है। निर्धन देशो मे तो मितव्ययता का महत्व और भी बढ जाता है, क्योकि ऐसे देशो के पास प्राय धातु-कोषो का अभाव रहता है।

(4) **परिवर्तनशीलता**—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली मे कागजी मुद्रा की परिवर्तनशीलता का होना नितान्त आवश्यक है। इसके दो कारण हैं—**प्रथम**, मुद्रा की परिवर्तनशीलता के परिणामस्वरूप जनता का देश की मुद्रा-प्रणाली मे विश्वास बनाये रखा जा सकता है। अनुभव यह बताता है कि जिस देश मे कागजी मुद्रा परिवर्तनशील नही होती वहाँ की मुद्रा-प्रणाली के प्रति जनता का विश्वास अधिक नही होता। **द्वितीय**, विदेशी भगतानो की सुविधा के लिए भी मुद्रा की परिवर्तनशीलता नितान्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जब देश का अदायगी शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है तब इस प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सोने का उपयोग आवश्यक हो जाता है। अत मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए कुछ न कुछ धातु-कोष अवश्य ही रखना चाहिए।

(5) **वैधानिक निश्चितता** (Legality)—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली का यह भी गुण है कि यह सरकार द्वारा पारित कानून पर आधारित होनी चाहिए। इससे जनता देश की मुद्रा-प्रणाली के विषय मे अपना निश्चित मत बना सकती है और इसके साथ ही साथ मुद्रा-प्रणाली मे जनता का विश्वास भी अधिक हो जाता है। इसके विपरीत, यदि मुद्रा-प्रणाली किसी कानून पर आधा-

रित न होकर केन्द्रीय बैंक की स्वेच्छा पर निर्भर रहती है तो मुद्रा-प्रणाली मे जनता का विश्वास कम हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है ।

(6) **स्वयंचालकता (Automatic Working)**—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के लिए स्वय-चालकता का होना भी आवश्यक है । जैसा हम देख चुके है, स्वर्ण मुद्रामान स्वयचालित हुआ करता था और इसे प्रचलित रखने के लिए किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नही पडती थी । इसी कारण, जैसा प्रो० कैनन ने कहा है, "स्वर्णमान मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध प्रणाली थी", अर्थात् इसमे किसी प्रकार की गडबड-घुटाले की गुंजाइश नही होती थी । परन्तु प्रब-न्धित कागजी मुद्रामान प्रणाली मे स्वयचालकता का अभाव होता है और मुद्रा का निर्गमन तथा नियमन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है । इससे कभी-कभी गम्भीर परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं । जैसा पूर्व कहा गया है, प्रबन्धित कागजी मुद्रामान मे मुद्रा-स्फीति का भय सदैव बना रहता है । अतएव इस दृष्टिकोण से कागजी मुद्रामान प्रणाली को एक अच्छी प्रणाली नही कहा जा सकता ।

(7) **मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यो मे स्थिरता बनी रहनी चाहिए**—जैसा हम जानते है, देश के आर्थिक विकास के लिए आन्तरिक कीमत-स्तर मे स्थिरता का होना नितान्त आवश्यक है, इसलिए मुद्रा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे मुद्रा के आन्तरिक मूल्य (अथवा आन्तरिक कीमत-स्तर) मे स्थिरता बनी रहे । यदि मुद्रा का आन्तरिक मूल्य स्थिर नही रहता, अर्थात् आन्तरिक कीमत-स्तर मे भारी उतार चढाव होते है तो इससे आर्थिक विकास को धक्का लगता है । इसी प्रकार विदेशी व्यापार के विकास के लिए भी मुद्रा के बाह्य मूल्य (external value) अथवा विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता का होना अत्यन्त आवश्यक है । जैसा हम पहले देख चुके है, विदेशी विनिमय-दरो मे अधिक उतार-चढाव होने से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर प्रति-कूल प्रभाव पडता है । अतएव देश के सर्वांगीण आर्थिक विकास के लिए मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यो मे स्थिरता का होना बहुत आवश्यक है ।

भारत की वर्तमान मुद्रा-प्रणाली मे उपर्युक्त गुणो का समावेश कहाँ तक है ?—जैसा विदित है, भारत मे इस समय कागजी मुद्रामान प्रचलित है । इस मुद्रा-व्यवस्था मे एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली के अनेक गुण पाये जाते है । भारत मे कागजी मुद्रा का निर्गमन न्यूनतम निधि प्रणाली (minimum reserve system) के अनुसार होता है इसलिए कागजी मुद्रा के पीछे अत्यधिक मात्रा मे धातु कोष रखने की आवश्यकता नही पडती । इस दृष्टिकोण से भारतीय मुद्रा-प्रणाली मितव्ययी (economical) है । इसके साथ ही साथ भारत की मुद्रा-प्रणाली मे लोचकता का गुण भी पाया जाता है, क्योकि देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन किये जा सकते हैं । भारतीय मुद्रा-प्रणाली मे वैधानिक निश्चितता का गुण भी पाया जाता है, क्योकि यह समूची प्रणाली सरकार द्वारा पारित कानूनो पर आधारित है । भारत मे मुद्रा-निर्गमन, मुद्रा-नियन्त्रक की व्यक्तिगत इच्छाओ के अनुसार नही हो सकता, बल्कि समूची प्रक्रिया कानून द्वारा शासित होती है । यह सत्य है कि भारतीय मुद्रा-प्रणाली मे परिवर्तनशीलता का गुण नही पाया जाता । परन्तु परिवर्तनशीलता का यह अभाव किसी प्रकार से त्रुटिपूर्ण नही माना जा सकता, क्योकि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते भारत की मुद्रा-प्रणाली मे परिवर्तनशीलता का गुण होना आवश्यक नही रह गया है । जहाँ उपर्युक्त गुणो का भारतीय प्रणाली मे समावेश है, वहाँ इस प्रणाली मे कुछ त्रुटियाँ भी पायी जाती हैं । **प्रथम** भारतीय प्रणाली मे सरलता नही पायी जाती । यह प्रणाली बहुत जटिल सिद्ध हुई है और साधा-रण जनता इसे समझने मे असमर्थ है । **द्वितीय**, इस प्रणाली मे स्वयचालकता का भी अभाव है । इसे प्रचलित रखने के लिए सरकार को निरन्तर हस्तक्षेप करना पडता है । **तृतीय**, इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे स्थिरता का भी अभाव रहा है । दूसरे विश्व-युद्ध के आरम्भ से लेकर अब तक आन्तरिक कीमत-स्तर मे निरन्तर वृद्धि होती रही है और मुद्रा का मूल्य निर-न्तर गिरता चला जा रहा है । भारत के वित्त मन्त्री के अनुसार अक्टूबर, 1974 मे भारतीय रुपये का मूल्य केवल 27 6 पैसे ही रह गया था । एक बहुत बडे अश तक मुद्रा प्रणाली की अपर्याप्तता ही इसके लिए उत्तरदायी है । वास्तव मे, मुद्रा के आन्तरिक मूल्य की अस्थिरता भार-तीय मुद्रा-प्रणाली का सबसे बडा दोष है । भारत सरकार ने समय-समय पर मुद्रा-प्रणाली के इस

दोष को दूर करने के प्रयत्न किये हैं, परन्तु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली है । आन्तरिक कीमतें बराबर बढती चली जा रही हैं । जहां भारतीय रुपये के आन्तरिक मूल्य मे बराबर ह्रास होता चला जा रहा है, वहां दूसरी ओर इसके बाह्य मूल्य मे 6 जून, 1966 तक बराबर स्थिरता रही है (स्मरण रहे कि 6 जून, 1966 को भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को कम कर दिया गया था)।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **प्रबन्धित करेंसी से क्या अभिप्राय है ? इसके गुण-दोषो की विवेचना कीजिए ।**
(विक्रम, 1968, आगरा, 1968, आगरा, 1972)
[संकेत – प्रथम भाग मे, प्रबन्धित करेंसी अथवा कागजी मुद्रामान की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताओं की विवेचना कीजिए । दूसरे भाग मे, इसके गुण-दोषो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए ।]

2 **कागजी मुद्रा के निर्गमन की विभिन्न प्रणालियाँ क्या-क्या हैं । विकासशील देश के लिए कौन-सी प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है ?** (आगरा पू, 1975)

अथवा

पत्र-मुद्रा निर्गमन की विभिन्न प्रणालियो का विवेचन कीजिए तथा बताइए कि एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए इनमे से कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है ? कारण दीजिए ।
(इन्दौर, 1968)
[संकेत—प्रथम भाग मे, नोट जारी करने की आठ प्रणालियो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और यह भी बताइए कि ये प्रणालियाँ किन किन देशो मे कार्यशील रही हैं । दूसरे भाग मे इन प्रणालियो के गुणो तथा दोषो की विवेचना कीजिए और अन्त मे, यह निष्कर्ष निकालिए कि न्यूनतम निधि प्रणाली वास्तव मे, सबसे अच्छी प्रणाली है । एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए यह बहुत ही उपयुक्त है क्योंकि इसमे मितव्ययता एवं लोचकता के दोनों गुण पाये जाते हैं ।]

3 **किसी देश मे नोट-निर्गमन किन-किन बातों के आधार पर होना चाहिए ? विभिन्न सिद्धान्तो को समझाइए ।**

अथवा

कागजी मुद्रा के निर्गमन के चलन सिद्धान्त तथा बैंकिंग सिद्धान्त को समझाइए । इनमे से आप किस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं ? कारणों सहित बताइए । (विक्रम, 1968)
[संकेत—यहां पर नोट निर्गमन के दो मुख्य सिद्धान्तो—करेंसी सिद्धान्त एवं बैंकिंग सिद्धान्त—की व्याख्या करते हुए इनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए । इनके साथ ही इनके गुण-दोषो की विवेचना कीजिए । अन्त मे, यह निष्कर्ष निकालिए कि इन दोनो मे से बैंकिंग सिद्धान्त श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमे सुरक्षा एवं लोचकता के दोनो गुण पाये जाते हैं ।]

4 **सरकार द्वारा नोट-निर्गमन और बैंक द्वारा नोट-निर्गमन के सापेक्षिक लाभो को बताइए ।**
(सागर, बी० कॉम०, 1959)
[संकेत—यहां पर पहले सरकार द्वारा कागजी मुद्रा निर्गमन के पक्ष मे तर्क प्रस्तुत कीजिए । इसके उपरान्त बैंक द्वारा मुद्रा निर्गमन के पक्ष मे युक्तियाँ दीजिए और अन्त मे यह *निष्कर्ष* निकालिए कि नोट जारी करने का कार्य सरकार की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाना चाहिए ।]

5 **एक अच्छी पत्र-मुद्रा प्रणाली की विशेषताएं बताइए । भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली मे ये विशेषताएँ कहां तक पायी जाती हैं ?** (आगरा बी० कॉम०, 1962)

अथवा

श्रेष्ठ मुद्रामान के क्या गुण हैं ? भारतीय मुद्रामान के सन्दर्भ मे बताइए । (आगरा, 1971)
[संकेत—प्रथम भाग मे एक अच्छी कागजी मुद्रा-प्रणाली के सात मुख्य गुणो की विवेचना कीजिए । दूसरे भाग मे, यह बताइए कि इनमे से कौन-कौन से गुण भारतीय प्रणाली मे विद्यमान है और कौन-कौनसे नही है ।]

6

मुद्रा के सिद्धान्त
(Theories of Money)

मुद्रा के सिद्धान्तो को भलीभाँति समझने के लिए 'मुद्रा के मूल्य' का अर्थ जानना आवश्यक है।

मुद्रा का मूल्य
(Value of Money)

'मुद्रा-मूल्य' के निम्नलिखित तीन अर्थ लगाये जाते है

(1) **मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय ब्याज-दर से होता है**—कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार वस्तु-बाजार की भाँति मुद्रा का भी बाजार होता है। जिस प्रकार वस्तु-बाजार मे वस्तुएँ खरीदी व बेची जाती है, उसी प्रकार मुद्रा-बाजार मे भी मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है, परन्तु इन दोनो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। वस्तु-बाजार मे वस्तुएँ मुद्रा के बदले मे बेची जाती हैं, परन्तु मुद्रा-बाजार मे मुद्रा का विक्रय मुद्रा को वापस लौटा देने की प्रतिज्ञा के बदले होता है। जब किसी व्यक्ति को लौटाने की प्रतिज्ञा के बदले मुद्रा उधार दी जाती है तो उस व्यक्ति से मुद्रा देने वाला व्यक्ति अर्थात् ऋणदाता ब्याज लेता है। दूसरे शब्दो मे, जब मुद्रा उधार दी जाती है तो वास्तव मे यह मुद्रा का विक्रय ही होता है और इस प्रकार मुद्रा देने वाला व्यक्ति अर्थात् ऋणदाता ब्याज प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है, यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्री ब्याज को ही मुद्रा का मूल्य मानते है। परन्तु, वास्तव मे, यह मुद्रा के मूल्य का सही अर्थ नही है, यद्यपि मुद्रा-बाजार के सन्दर्भ मे ब्याज को ही मुद्रा का मूल्य माना जाता है।

(2) **मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय सामान्य कीमत-स्तर से है**—कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय मुद्रा के बाह्य मूल्य (external value) से होता है, अर्थात् मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय विदेशी विनिमय-दर से होता है। अपने देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले मे किसी अन्य देश की मुद्रा की जितनी मात्रा उपलब्ध होती है, वही उसका बाह्य मूल्य होता है। अब यह भी मुद्रा-मूल्य का सही अर्थ नही माना जा सकता, यद्यपि विदेशी व्यापार के सन्दर्भ मे मुद्रा के मूल्य से यही अभिप्राय होता है।

(3) **मुद्रा-मूल्य से अभिप्राय सामान्य कीमत-स्तर से है**—वास्तव मे, मुद्रा-मूल्य का यही अर्थ सही माना जाता है। मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय मुद्रा की क्रय-शक्ति (purchasing power) से होता है। जिस प्रकार वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें मुद्रा के रूप मे नापी जाती है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य उसकी इकाई के बदले मे उपलब्ध होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे व्यक्त किया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर एक बडी कठिनाई यह है कि जहाँ वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो को नापने के लिए मुद्रा के रूप मे एक निश्चित इकाई होती है, वहाँ मुद्रा के मूल्य को नापने के लिए कोई एक निश्चित इकाई उपलब्ध नही होती। जैसा स्पष्ट है, मुद्रा के मूल्य को मुद्रा ही मे नही नापा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, मुद्रा का मूल्य नापने के लिए

किसी एक वस्तु अथवा सेवा को भी निश्चित नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि मुद्रा स्वय ही सामूहिक मापक का कार्य करती है, इसलिए मुद्रा के मूल्य को सामान्यत वस्तुओ और सेवाओ मे ही व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा का मूल्य नापने के लिए हम वस्तुओ और सेवाओ के एक निश्चित समूह का मूल्य मापक के रूप मे प्रयोग करते है।

इस प्रकार मुद्रा का मूल्य निकालने के लिए हमे मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति को जानना आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा का मूल्य निकालने के लिए हमे सामान्य कीमत-स्तर के बारे मे जानकारी प्राप्त करनी पडती है। वास्तव मे, मुद्रा की क्रय-शक्ति अथवा सामान्य कीमत स्तर एक ही चीज है। मुद्रा का मूल्य निकालने के लिए हमे सामान्य कीमत-स्तर का अनुमान लगाना पडता है और सामान्य कीमत स्तर देश मे उपलब्ध होने वाली सभी वस्तुओ और सेवाओ की औसत कीमत (average price) होती है। स्पष्ट है कि देश की सभी वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो का औसत निकालना कठिन होता है इसलिए हम कुछ वस्तुओ और सेवाओ को सभी वस्तुओ और सेवाओ के प्रतिनिधि के रूप मे चुन लेते हैं और फिर चुनी हुई वस्तुओ और सेवाओ की औसत कीमत निकाल लेते हैं। इस औसत कीमत को ही सामान्य कीमत-स्तर कहा जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि हमने 300 वस्तुओ तथा 100 सेवाओ को प्रतिनिधि के रूप मे चुना है। यह भी मान लीजिए कि इन 300 वस्तुओ की कीमतो का योग 300 रुपये और 100 सेवाओ की कीमतो का कुल जोड 200 रुपये है, इस प्रकार 300 वस्तुओ + 100 सेवाओ (कुल 400 इकाइयो) की सामूहिक कीमत 300 + 200 = 500 रुपये होगी। इस प्रकार वस्तुओ और सेवाओ की सामान्य कीमत 500 — 400 अर्थात् $1\frac{1}{4}$ रुपये होगी अर्थात् मुद्रा की 1 इकाई की क्रय-शक्ति $\frac{4}{5}$ इकाई वस्तुएँ तथा सेवाएँ होगी।

मुद्रा-मूल्य और सामान्य कीमत-स्तर का सम्बन्ध
(Relationship Between Value of Money and the General Price Level)

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुद्रा मूल्य तथा सामान्य कीमत स्तर मे विपरीत सम्बन्ध होता है। यदि सामान्य कीमत-स्तर बढ जाता है तो मुद्रा मूल्य कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि बढी हुई कीमतो के कारण अब मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के बदले मे पहले की तुलना मे कम वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध होती है। इसके विपरीत, यदि सामान्य कीमत-स्तर घट जाता है तो मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसका कारण यह है कि घटी हुई कीमतो के कारण अब मुद्रा की एक निश्चित मात्रा के बदले मे पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे वस्तुएँ एव सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं। इस प्रकार मुद्रा-मूल्य और सामान्य कीमत-स्तर मे विपरीत सम्बन्ध होता है।

सक्षेप मे, मुद्रा का मूल्य, वास्तव मे, मुद्रा की क्रय शक्ति ही होती है। मुद्रा की क्रय शक्ति को सामान्य कीमत-स्तर से जाना जा सकता है। यदि सामान्य कीमत-स्तर मे कोई परिवर्तन नही होता तो मुद्रा के मूल्य मे भी किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध सामान्य कीमत-स्तर से होता है, किसी विशेष वस्तु तथा सेवा की कीमत से नही होता। यह सम्भव है कि किसी समय कुछ वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें बढ रही हो, परन्तु उसी समय अन्य वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें घट रही हो। इसका परिणाम यह होगा कि सामान्य कीमत स्तर मे कुछ भी परिवर्तन नही होगा। ऐसी परिस्थिति मे वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे परिवर्तन होते हुए भी मुद्रा का मूल्य अपरिवर्तित ही रहेगा।

मुद्रा का मूल्य-निर्धारण
(Determination of the Value of Money)

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त समझने से पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है, अर्थात् मुद्रा का मूल्य किन-किन बातो पर निर्भर रहता है और इसके मूल्य मे समय समय पर क्यो परिवर्तन होते रहते हैं। जैसा विदित है, मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (general theory of value) के अनुसार किसी वस्तु अथवा सेवा का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति से निर्धारित होता है। यदि वस्तु की माँग बढ जाती है, तो इसका मूल्य भी बढ जाता है।

इसके विपरीत, यदि वस्तु की माँग घट जाती है, तो इसका मूल्य भी घट जाता है। इसी प्रकार वस्तु की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो से भी मूल्य मे परिवर्तन होते है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति बढ जाती है, तो उसका मूल्य घट जाता है। इसके विपरीत, यदि किसी वस्तु की पूर्ति कम हो जाती है, तो उसका मूल्य बढ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु की माँग तथा इसके मूल्य मे सीधा सम्बन्ध (direct relationship) होता है। परन्तु वस्तु की पूर्ति तथा इसके मूल्य मे विपरीत सम्बन्ध (*inverse relationship*) होता है। जिस बिन्दु पर वस्तु की माँग और पूर्ति का सन्तुलन (equilibrium) स्थापित हो जाता है, वही पर वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है।

चूँकि मुद्रा भी एक वस्तु है, इसलिए वस्तु की भाँति मुद्रा का मूल्य भी इसकी माँग तथा पूर्ति की शक्तियों से निश्चित होता है। दूसरे शब्दो मे, वस्तु की भाँति मुद्रा का मूल्य भी उस बिन्दु पर निश्चित होता है जहाँ पर मुद्रा की माँग और उसकी पूर्ति मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है। अब मुद्रा के मूल्य-निर्धारण को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की पूर्ति के अर्थों को समझा जाय।

मुद्रा की माँग—यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि किसी वस्तु की माँग और मुद्रा की माँग मे एक आधारभूत अन्तर होता है। किसी वस्तु की माग लोगो द्वारा इसलिए की जाती है, क्योकि उसमे उपयोगिता होती है। दूसरे शब्दो मे, किसी वस्तु की माँग इसलिए की जाती है क्योकि उसमे किसी व्यक्ति की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की क्षमता होती है। इस प्रकार हम देखते है कि वस्तु की माँग इसकी उपयोगिता के कारण ही होती है, परन्तु मुद्रा की माँग के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता। मुद्रा मे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति की किसी भी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की क्षमता नही होती। मुद्रा तो केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही व्यक्ति की किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करती है, अर्थात् वह व्यक्ति पहले मुद्रा से वस्तु खरीदता है और वही वस्तु बाद मे आवश्यकता को सन्तुष्ट करती है, इसलिए मुद्रा किसी भी व्यक्ति की आवश्यकता को प्रत्यक्ष रूप मे सन्तुष्ट नही करती। मुद्रा की माँग तो इसलिए की जाती है, क्योकि इसमे क्रय-शक्ति होती है और इसकी सहायता से वस्तुओ को खरीदा जा सकता है जो आगे चलकर हमारी आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि **किसी देश मे मुद्रा की माँग वहाँ पर उपलब्ध होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की पूर्ति पर निर्भर रहती है।** इसका कारण यह है कि आजकल अधिकाश वस्तुओ का उत्पादन विनिमय के लिए किया जाता है। इस **प्रकार मुद्रा की माँग किसी विशेष समय पर बाजार मे विनिमय के लिए उपलब्ध होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की पूर्ति पर निर्भर करती है।** जैसा विदित है बाजार मे विनिमय हेतु आने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा सदा के लिए निश्चित नही होती, बल्कि उसमे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, इसलिए मुद्रा की माँग भी सदैव एक जैसी नही रहती, बल्कि उसमे भी समय-समय पर बाजार मे विनिमय हेतु उपलब्ध होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं।

मुद्रा की पूर्ति—मुद्रा की पूर्ति से अभिप्राय उन वस्तुओ तथा सेवाओ को सामूहिक पूर्ति से है जो किसी देश मे किसी समय विशेष पर विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रचलित होती हैं। यहाँ पर हम मुद्रा के अर्थ को इसके सकुचित रूप मे नही लेते हैं। मुद्रा के अन्तर्गत हम तीन प्रकार की मुद्राएँ रख सकते है—(क) धातु मुद्रा, (ख) कागजी मुद्रा, (ग) साख-मुद्रा। चूँकि मुद्रा का महत्त्व इसके विनिमय के माध्यम के रूप मे होता है, इसलिए मुद्रा के मूल्य निर्धारण का अध्ययन करते समय हम उन सभी मुद्राओ को सम्मिलित कर लेते हैं जो विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। यद्यपि सकुचित अर्थ मे साख-मुद्रा वास्तविक मुद्रा नही है, लेकिन मुद्रा की पूर्ति का अनुमान लगाते समय हम साख-मुद्रा को भी सम्मिलित करते है क्योकि साख-मुद्रा भी विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत हम विधिग्राह्य तथा गैर-विधिग्राह्य दोनो प्रकार की मुद्राओ को सम्मिलित करते है। परन्तु यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि *मुद्रा का वह भाग जो विनिमय के माध्यम का कार्य नही करता,* अर्थात् जो वस्तुओ तथा सेवाओ के क्रय विक्रय मे इस्तेमाल नही होता अथवा जो भूमि मे गड़ा हुआ है, वह मुद्रा की पूर्ति का अग नही समझा जा सकता। इस प्रकार किसी समय पर मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत केवल वही मुद्रा सम्मिलित की जाती है जो उत्पादन अथवा उपभोग के कार्यों के प्रयोग मे आ रही है,

अर्थात् जो प्रचलन मे है। अत मुद्रा की पूर्ति पर मुद्रा के सचलन-वेग (velocity of circulation) का भी प्रभाव पडता है।

इस प्रकार माँग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य विनिमय हेतु बाजार मे आने वाली अथवा विनिमय-साध्य वस्तुओ की पूर्ति तथा उपलब्ध मुद्रा की पूर्ति से निश्चित होता है। जब मुद्रा की माँग अथवा पूर्ति मे किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तब मुद्रा के मूल्य मे भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है। इस प्रकार सामान्य कीमत-स्तर मुद्रा के मूल्य को व्यक्त करता है। जब सामान्य कीमत-स्तर बढता है, तब मुद्रा का मूल्य घट जाता है। इसके विपरीत, जब सामान्य कीमत-स्तर घटता है, तब मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य कीमत-स्तर मे विपरीत सम्बन्ध होता है। चूँकि मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत-स्तर द्वारा प्रकट किया जाता है, इसलिए सामान्य कीमत-स्तर के परिवर्तन ही मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन के सूचक होते हैं।

इस प्रकार प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) के शब्दो मे, "मुद्रा भी अन्य आर्थिक वस्तुओ मे से एक है। अत उसका मूल्य भी अन्य वस्तुओ की भाँति उसकी माँग एव पूर्ति द्वारा निश्चित किया जाता है।"[1]

किन्तु स्मरण रहे कि वस्तु एव मुद्रा मे स्थापित की गयी उक्त समानता पूर्ण नही है। वास्तव मे, वस्तु एव मुद्रा मे निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं

(क) जैसा पहले कहा गया है, मुद्रा मे अपनी कोई उपयोगिता नही होती, इसलिए इसमे मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की प्रत्यक्ष क्षमता नही होती। मुद्रा तो अप्रत्यक्ष रूप मे ही मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट कर सकती है। इसके विपरीत, वस्तुओ मे मानवीय आवश्यकताओ को प्रत्यक्षत सन्तुष्ट करने की शक्ति होती है।

(ख) मुद्रा का निर्गमन अन्य वस्तुओ की भाँति नही होता। वस्तुओ का उत्पादन तो भूमि, श्रम, पूँजी आदि के सहयोग से होता है जबकि मुद्रा का निर्गमन सरकार द्वारा किया जाता है।

(ग) वस्तुओ का प्राय एक ही बार अन्तिम उपभोग हो जाता है जबकि मुद्रा का उपयोग निरन्तर जारी रहता है। मुद्रा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित होती रहती है।

मुद्रा के सिद्धान्त
(Theories of Money)

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुद्रा के मूल्य मे समय-समय पर परिवर्तन क्यो होते रहते है? इस प्रश्न का उत्तर मुद्रा के विभिन्न सिद्धान्तो द्वारा दिया गया है। इस समय मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन के सम्बन्ध मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण सिद्धान्त है—(1) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त, (2) मुद्रा का राज्यीय सिद्धान्त, (3) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, (4) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज समीकरण, (5) केन्ज का मौद्रिक सिद्धान्त और (6) मुद्रा का आय सिद्धान्त।

(1) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त (Commodity Theory of Money)—यह मुद्रा-मूल्य का प्राचीनतम सिद्धान्त है। प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) एव प्रो० जे० एल० लाफलिन (J L Laughlin) इस सिद्धान्त के आधुनिक समर्थक है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा भी अन्य वस्तुओ की भाँति एक वस्तु है अत इसका मूल्य एक वस्तु की भाँति इसकी माँग एव पूर्ति से निर्धारित होता है। किन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा की माँग से तात्पर्य उस वस्तु की माँग से है जिससे मुद्रा का निर्माण किया जाता है। इसी प्रकार मुद्रा की पूर्ति से अभिप्राय उस वस्तु की पूर्ति से है जिससे मुद्रा बनायी जाती है। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा स्वर्ण से बनायी जाती है (अर्थात् प्रचलन मे स्वर्ण के सिक्के हैं) तो मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की माँग एव पूर्ति से निर्धारित होगा। यदि स्वर्ण का मूल्य बढ जाता है तो मुद्रा का मूल्य भी बढ जायगा। इसके विपरीत, यदि स्वर्ण का मूल्य गिर

---

1 'Money is only one of many economic things Its value is, therefore, primarily determined by exactly the same two factors as determined the value of any other thing namely the conditions of demand for it, and the quantity of it available"

—D H Robertson, *Money*, p 23

जाता है तो मुद्रा का मूल्य भी गिर जायेगा। यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा स्वर्ण की ही होनी चाहिए। मुद्रा चाँदी एवं अन्य धातुओं से भी बनायी जा सकती है। लेकिन इसका मूल्य उस धातु के मूल्य से ही शासित होगा।

मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त प्राचीनकाल के लिए तो ठीक था क्योंकि तब विभिन्न देशों मे मुद्रा स्वर्ण अथवा चाँदी से बनायी जाती थी। निश्चय ही उसका मूल्य इन धातुओं की माँग एवं पूर्ति से निर्धारित हुआ करता था। लेकिन आधुनिक काल मे मुद्रा स्वर्ण एव चाँदी से नही बनायी जाती। आजकल तो लगभग सभी देशो मे मुद्रा कागज से ही बनायी जाती है। यह कागजी मुद्रा प्रायः अपरिवर्तनशील होती है। अत यह कहना उचित नही कि मुद्रा का मूल्य आजकल कागज की माँग एवं पूर्ति से निश्चित होता है। स्पष्ट है कि आधुनिक कागजी मुद्रा का मूल्य उसमे निहित वस्तु (अर्थात् कागज) के मूल्य से कही अधिक होता है।

इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि कागजी मुद्रा का मूल्य उसमे निहित वस्तु (कागज) से निर्धारित नहीं होता, बल्कि यह तो कागजी मुद्रा के पीछे रखी गयी स्वर्ण-निधि से निश्चित होता है, लेकिन यह स्वीकार कर लेने पर भी वस्तु-मुद्रा सिद्धान्त सत्य नहीं सिद्ध होता। विगत शताब्दी मे स्वर्ण के अन्तरराष्ट्रीय मूल्य मे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ था, लेकिन फिर भी संसार के अधिकांश देशो मे वस्तु कीमतो मे वृद्धि होने से मुद्रा के मूल्य मे ह्रास हुआ था।

इसके अतिरिक्त, अब मानक वस्तु-मुद्रा का युग समाप्त हो चुका है। आजकल सभी देशों में धातु-सिक्के सांकेतिक ही हैं। अत धातुओं के मूल्यों का मुद्रा-मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि आधुनिक काल मे वस्तु-मुद्रा-सिद्धान्त का मूल्य-निर्धारण मे कुछ भी महत्त्व नहीं रहा है।

(2) ***मुद्रा का राज्यीय सिद्धान्त*** *(State Theory of Money)*—इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो० फ्रेड्रिक नैप द्वारा किया गया है। प्रो० नैप के अनुसार, "मुद्रा की आत्मा इसकी इकाइयों मे प्रयुक्त सामग्री मे निहित नहीं है, बल्कि उन कानूनी अध्यादेशों मे है जो उसके प्रयोग को नियमित करते हैं।"[1] दूसरे शब्दो मे, मुद्रा का मूल्य इसके निर्माण मे प्रयुक्त किये गये पदार्थ से नहीं, बल्कि राज्यीय सत्ता से निर्धारित होता है। चूंकि आधुनिक काल मे मुद्रा का निर्गमन एव नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाता है, अत सरकार ही इसके मूल्य को निर्धारित करने की स्थिति मे है। प्रो० नैप के कथनानुसार राज्य मुद्रा के मूल्य को निम्न प्रकार से निर्धारित करता है

(क) वैधानिक स्वीकृति—मुद्रा को वैधानिक स्वीकृति देने से ही इसका मूल्य उत्पन्न होता है। यदि किसी पदार्थ को राज्य वैधानिक स्वीकृति प्रदान नहीं करता तो ऐसे पदार्थ को जनता कभी भी मुद्रा के रूप मे स्वीकार नहीं करेगी। इसी वैधानिक स्वीकृति के ही कारण मुद्रा विनिमय का माध्यम बन जाती है, यहाँ तक कि भविष्य के सौदे भी मुद्रा के माध्यम से किये जाते हैं। इस तरह मुद्रा का मूल्य राज्य द्वारा प्रदान की गयी वैधानिक स्वीकृति के ही कारण होता है।

(ख) मुद्रा-निर्गमन—मुद्रा के निर्गमन को नियमित एव नियन्त्रित करके भी राज्य मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करता है। यदि राज्य मुद्रा के मूल्य को बढाना चाहता है तो वह मुद्रा की मात्रा मे कमी करके ऐसा कर सकता है। वास्तव मे, मुद्रा-निर्गमन राज्य के हाथो मे एक ऐसा अस्त्र है जिसके प्रयोग से वह चाहे जिस स्तर पर मुद्रा का मूल्य स्थिर कर सकता है।

(ग) वस्तु-कीमत-नियन्त्रण—पूंजीवादी देशो मे कभी-कभी असाधारण समयों में राज्य वस्तु-कीमत-नियन्त्रण (Price-control) की नीति अपनाता है, अर्थात् विभिन्न प्रकार की आवश्यक वस्तुओं की कीमतें सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। इस नीति द्वारा अप्रत्यक्ष रूप मे सरकार मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करती है।

---

1 "The soul of currency is not in the material of the pieces, but in the legal ordinances which regulate their use." —*George F. Knapp*

मुद्रा के राज्यीय सिद्धान्त की आलोचना—इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की गयी है

(क) आलोचको का कहना है कि केवल वैधानिक स्वीकृति देकर ही सरकार किसी पदाथ को मुद्रा का रूप प्रदान नही कर सकती। यह भी आवश्यक है कि ऐस पदाथ को जनता मुद्रा के रूप मे स्वीकार भी करे। यदि जनता किसी पदार्थ का स्वीकार नही करती तो वैधानिक मान्यता हाने पर भी वह पदाथ मुद्रा क कार्य सम्पन्न नही कर सकता। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जमनी म मार्क के नोट का वैधानिक मान्यता ता प्राप्त थी लेकिन इसके बावजूद मार्क का नोट मुद्रा के कार्य सम्पन्न नही कर सका, क्योकि जर्मनी की जनता ने इसे स्वीकार करने स इन्कार कर दिया था। इस प्रकार केवल राज्यीय सत्ता के आधार पर मुद्रा के चलन को जारी रखना सम्भव नही है।

(ख) आलोचको का कहना है कि इस बात म भी काई विशेष सार नही है कि मुद्रा के निगमन को नियमित करके सरकार इसके मूल्य को निर्धारित करती है। यह सही है कि मुद्रा की पूर्ति मे कमी अथवा वृद्धि करके सरकार मुद्रा के मूल्य म क्रमश वृद्धि अथवा कमी कर सकती है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ तो यह निकलता है कि मुद्रा के मूल्य पर उसकी पूर्ति का प्रभाव पडता है। सरकार तो केवल पूर्ति मे परिवर्तन करने का माध्यम मात्र ही है। मुद्रा के मूल्य का निर्धारण प्रत्यक्षत मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनो से होता है।

(ग) यह भी आलोचना की जाती है कि मुद्रा के मूल्य पर सरकार की वस्तु कीमत नियन्त्रण नीति का प्रभाव केवल सीमित ही होता है। इसका कारण यह है कि सरकार कुछ गिनी-चुनी वस्तुओ की कीमतो को ही नियन्त्रित करती है। इसके अलावा, चोर-बाजार मे ये वस्तुएँ सरकार द्वारा निश्चित कीमतो से कही अधिक दामो पर बिकती हैं। अत वस्तु कीमत-नियन्त्रण नीति द्वारा सरकार मुद्रा के मूल्य को अधिक प्रभावित नही कर सकती।

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद इस सिद्धान्त मे सत्यता का कुछ अश विद्यमान है। यह सही है कि सरकार मुद्रा के मूल्य को पूर्णत निर्धारित नही कर सकती लेकिन फिर भी अपनी नीतियो द्वारा वह इसे पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित कर सकती है। अत यह सिद्धान्त बेकार नही कहा जा सकता।

(3) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त** (Quantity Theory of Money)—मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम इटली के अर्थशास्त्री दवनजत्ती (Davanzatti) ने किया था। यह सिद्धान्त वास्तव मे एक बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त है। आधुनिक काल मे इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का श्रेय अमरीका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री इरविंग फिशर (Irving Fisher) को है। इरविंग फिशर ने इस सिद्धान्त के विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण मे महत्त्वपूण योग दिया है। इस सिद्धान्त की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

जॉन स्टुअट मिल (John Stuart Mill) ने इस सिद्धान्त की परिभाषा इन शब्दो मे की है 'यदि अन्य बातें यथास्थिर रहती हैं तो मुद्रा के मूल्य मे परिवतन उसकी मात्रा की ठीक विपरीत दिशा मे होते हैं। मुद्रा की मात्रा मे प्रत्येक वृद्धि उसके मूल्य को उसी अनुपात मे घटाती है और मुद्रा की प्रत्येक कमी उसके मूल्य को उसी अनुपात मे बढाती है।"[1]

विकसैल (Wicksell) ने इस सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार की है, 'मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय शक्ति मे उसके परिमाण के विपरीत अनुपात मे परिवर्तन होते हैं जिससे मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी अन्य बातें यथास्थिर रहन पर, वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे उसकी क्रय शक्ति मे आनुपातिक कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओ की कीमतो मे उतनी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।'[2]

---

1 'The value of money other things being the same varies inversely as its quantity every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent
—*J S Mill*

2 " according to the Quantity Theory the value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of

प्रो० टॉजिग (*Taussig*) के अनुसार, *"यदि अन्य बातें समान रहें,* तो मुद्रा के परिमाण को दुगुना करने पर कीमतें पहले की अपेक्षा दुगुनी हो जायेंगी और मुद्रा का मूल्य पहले से आधा रह जायगा। यदि अन्य बातें समान रहें तो मुद्रा के परिमाण को आधा करने पर कीमतें पहले की अपेक्षा आधी रह जायेंगी और मुद्रा का मूल्य पहले से दुगुना हो जायगा।"[1]

प्रो० टॉमस (Thomas) के शब्दों में, "मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य इसकी माँग तथा पूर्ति के सम्बन्ध से निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मुद्रा की माँग की स्थिति दी हुई होने पर पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी होने की दशा में *सामान्य कीमत-स्तर में आनुपातिक वृद्धि अथवा कमी* होगी और चूँकि मुद्रा का मूल्य कीमत-स्तर की विपरीत दिशा में रहता है इसलिए मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने पर इसका मूल्य नीचे गिरेगा और मात्रा में कमी होने से इसका मूल्य ऊँचा जायगा।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं

(क) मुद्रा के परिमाण तथा देश के सामान्य कीमत-स्तर में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध (direct proportional relationship) होता है। अन्य बातें समान रहते हुए, यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है तो सामान्य कीमत-स्तर में भी उसी अनुपात में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाती है, तो सामान्य कीमत-स्तर में भी उसी अनुपात में कमी हो जाती है।

मुद्रा-पूर्ति तथा कीमत-स्तर के आनुपातिक सम्बन्ध को निम्न रेखाकृति द्वारा व्यक्त किया जा सकता है

इस रेखाकृति में अ ब के सहारे मुद्रा की मात्रा को व्यक्त किया गया है और अ स के साथ-साथ कीमत-स्तर को प्रदर्शित किया गया है। जब चलन में मुद्रा की कुल मात्रा अ म$_1$ होती है तो सामान्य कीमत स्तर अ प$_1$ के बराबर होता। जब मुद्रा की मात्रा को दुगुना कर दिया जाता है, अर्थात् यह अ म$_2$ हो जाती है तो कीमत-स्तर भी दुगुना हो जाता है, अर्थात यह अ प$_1$ से बढ़कर अ प$_2$ हो जाता है। इसी प्रकार जब मुद्रा की मात्रा को आधा कर दिया जाता है, अर्थात् यह अ म$_1$ से घटाकर अ म$_3$ हो जाती है तो सामान्य कीमत-स्तर भी अ प$_1$ से घटकर अ प$_3$ रह जाता है, अर्थात् आधा हो जाता है। क ङ, वक्र ख, ग, घ
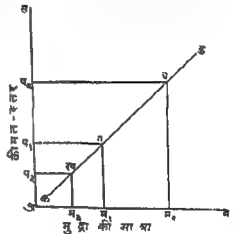
money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices " —*Wicksell*

1 "Double the *quantity of money* and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one-half Halve the quantity of money and other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double " —*Taussig*

2 "According to the Quantity Theory of Money . the value of money is determined by the relation between the demand for money and its supply It asserts that given the conditions of demand for money any given increase or decrease in its supply will lead to a proportionate increase or decrease in the general level of prices and as the value of money varies inversely with the price level, an increase in the volume of money will lead to a fall in its value and a decrease to a rise in that value " —*Thomas*

तीन बिन्दुओं मे से होकर गुजरता है और मुद्रा-पूर्ति तथा कीमत-स्तर के आनुपातिक सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

(ख) मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य मे विपरीत आनुपातिक सम्बन्ध (inverse proportional relationship) होता है। अन्य बातें समान रहते हुए, यदि मुद्रा की मात्रा बढ जाती है तो मुद्रा के मूल्य मे कमी हो जाती है। इसके विपरीत, यदि मुद्रा के परिमाण मे कमी होती है तो मुद्रा का मूल्य बढ जाता है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions of the Quantity Theory of Money)—जैसा हमने ऊपर देखा है, सभी अर्थशास्त्रियो ने परिमाण सिद्धान्त की परिभाषाएँ देते हुए "अन्य बातें समान रहे" वाक्यांश का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी कार्यशील होता है जब अन्य बातें समान रहती है अथवा उनमे कोई परिवर्तन नही होता। अब हम यह देखेंगे कि वे कौन-सी बातें हैं जिनका मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कार्यशीलता के लिए समान रहना आवश्यक है, अर्थात् मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ क्या-क्या हैं ? मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **व्यापार की मात्रा स्थिर रहनी चाहिए अथवा मुद्रा की माँग मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए**—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तभी कार्यशील होता है जबकि मुद्रा द्वारा किये जाने वाले कार्यों मे अथवा व्यापार की मात्रा मे कोई परिवर्तन नही होता। जैसा हम देख चुके हैं, मुद्रा की माँग देश के व्यापार की मात्रा से निश्चित होती है। जब देश के व्यापार की मात्रा स्थिर रहती है तब मुद्रा की माँग भी स्थिर रहती है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मे इस बात की कल्पना की गयी है कि देश के व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की माँग स्थिर रहती है। यदि व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की माँग मे परिवर्तन होते हैं तो मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू नही होगा। उदाहरणार्थ यदि देश म मुद्रा की मात्रा दुगुनी हो जाती है, परन्तु इसके साथ ही देश के व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की माँग भी दुगुनी हो जाती है तो इससे देश के सामान्य कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नही पडेगा अर्थात् कीमत-स्तर स्थिर रहेगा।

(2) **वस्तु-विनिमय सौदो मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए**—जैसा हम जानते है, प्रत्येक देश मे कुछ न कुछ सौदे वस्तु विनिमय प्रणाली (barter system) द्वारा किये जाते हैं ऐसे सौदो मे मुद्रा विनिमय-माध्यम का कार्य नही करती, अर्थात् ये सौदे बिना मुद्रा के ही किये जाते हैं। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के सौदो की मात्रा मे परिवर्तन नही होना चाहिए, क्योकि यदि इस प्रकार के सौदो की मात्रा मे परिवर्तन होता है तो मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कार्यशील नही हो सकता। मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह मान लेता है कि देश मे वस्तु-विनिमय का प्रचलन नही है और यदि है तो इसके द्वारा सम्पन्न होने वाला व्यवसाय यथास्थिर रहता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध मे वस्तु-विनिमय सौदो को या तो मुद्रा की पूर्ति म वृद्धि या व्यापार की मात्रा (अथवा मुद्रा की माँग) मे कमी समझ लिया जाता है।

(3) **साख-मुद्रा की मात्रा मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए**—जैसा विदित है, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे साख-मुद्रा भी कानूनी-मुद्रा की भाँति काम करती है। देश के अधिकाश सौदो का भुगतान चैको, हुण्डियो, ड्राफ्टो (drafts) तथा विनिमय विपत्रो (bills of exchange) जैसे साख-पत्रो द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, साख मुद्रा भी बिलकुल वही कार्य करती है जो कानूनी मुद्रा द्वारा किया जाता है। अतएव साख मुद्रा की मात्रा मे घट-बढ हो जाने पर देश की कुल मात्रा मे भी घट-बढ हो जाती है। मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि साख-मुद्रा की मात्रा मे कोई घट-बढ नही होनी चाहिए। यदि देश की साख-मुद्रा मे घट-बढ होती है तो इससे मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त पूर्णत लागू नही होता। उदाहरणार्थ, यदि देश की कानूनी मुद्रा मे वृद्धि होती है, परन्तु किसी कारणवश साख मुद्रा मे कमी हो जाती है तो इससे देश के कीमत स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। इसका कारण यह है कि बढी हुई कानूनी

मुद्रा का प्रभाव साख-मुद्रा की कमी के कारण तटस्थ हो जाता है और अन्तत. देश के कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नही पडता।

(4) **साख-मुद्रा तथा विधिग्राह्य मुद्रा (चलन) का अनुपात स्थिर रहना चाहिए**—मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि साख-मुद्रा तथा विधिग्राह्य (कानूनी) मुद्रा का आपसी अनुपात स्थिर रहना चाहिए। जैसा विदित है, साख-मुद्रा का निर्माण विधिग्राह्य मुद्रा अथवा चलन के आधार पर होता है और इन दोनो मे एक प्रकार का आपसी अनुपात बना रहता है। एक बैंक साख-मुद्रा का निर्माण अपने नकद कोष के आधार पर ही करता है और उसका नकद कोष उसकी जमा (deposits) की राशि से निश्चित होता है। यदि बैंक की जमा बढ जाती है तो निश्चय ही उसका नकद कोष भी बढेगा और यदि उसका नकद कोष बढ जाता है तो निश्चय ही बैंक अधिक साख-मुद्रा का निर्माण करेगा। परन्तु बैंक मे जमा की जाने वाली राशि देश की विधिग्राह्य मुद्रा (currency) पर निर्भर करती है। जब देश मे विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा मे घट-बढ होती है तब बैंको की जमा मे भी घट-बढ होती है और उसके नकद कोषो मे भी स्वभावत घट-बढ हो जाती है। अन्तत नकद कोष के घट-बढ के कारण बैंको द्वारा जारी की जाने वाली साख-मुद्रा मे भी घट-बढ हो जाती है। सक्षेप मे बैंको द्वारा जारी की जाने वाली साख-मुद्रा अन्तत उनके नकद कोषो पर निर्भर करती है। अब मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि देश मे बैंको की जमा (deposits) तथा नकद कोषो मे एक निश्चित अनुपात रहता है और साख-मुद्रा तथा विधिग्राह्य मुद्रा का आपसी अनुपात भी स्थिर रहता है। यदि साख-मुद्रा तथा विधिग्राह्य मुद्रा का यह अनुपात स्थिर नही रहता तो इससे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कार्य-शीलता पर अवश्य ही असर पडता है।

(5) **मुद्रा के सचलन-वेग मे कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए**—मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की एक मान्यता यह भी है कि विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा दोनो के ही सचलन वेग (velocity of circulation) स्थिर रहने चाहिए। जैसा विदित है, क्रय-विक्रय के सभी सौदों मे मुद्रा का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण होता रहता है। इस प्रकार एक निश्चित काल मे मुद्रा की प्रत्येक इकाई कई बार वस्तुएँ तथा सेवाएं खरीदने के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। **सचलन-वेग का अर्थ यह है कि एक निश्चित काल मे मुद्रा की इकाई कितनी बार वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदती है।** मुद्रा का सचलन-वेग बहुत-सी बातो से प्रभावित होता है, इसका अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। परन्तु यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, मुद्रा के सचलन-वेग को स्थिर मानकर चलता है। यदि मुद्रा के सचलन वेग मे परिवर्तन होते है तो मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कार्यशील नही होता। उदाहरणार्थ, यदि देश की मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि होती है, परन्तु किसी कारणवश मुद्रा के सचलन-वेग मे कमी हो जाती है तो इससे देश के कीमत-स्तर पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा, अर्थात् कीमत-स्तर मे वृद्धि नहीं होगी, यद्यपि मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि हो चुकी है।

उपर्युक्त मान्यताओ का अध्ययन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ अवास्तविक एव अव्यावहारिक है। वास्तविक जीवन मे ये मान्यताएँ सत्य नही उतरती, इसलिए मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक एव ऐतिहासिक महत्व का ही रह जाता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की अधिकाश आलोचनाएँ इसकी अवास्त-विक मान्यताओ के कारण ही की जाती है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण (Equation of the Quantity Theory of Money)—(1) प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक समीकरण (equation) के रूप मे प्रस्तुत किया था। इस समीकरण मे उन्होने मुद्रा की मात्रा, वस्तुओ एव सेवाओ की मात्रा तथा सामान्य कीमत स्तर के आपसी सम्बन्ध को दिखाने का प्रयत्न किया था। प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार था

$$P=\frac{M}{T}$$

समीकरण मे M देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा, T=देश मे वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा अर्थात् व्यापार की मात्रा, P= वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य कीमत-स्तर (general

price level)। इसी समीकरण में T अर्थात् व्यापार की मात्रा को स्थिर मान लिया जाता है और P (कीमत-स्तर) में सभी परिवर्तन M (प्रचलित मुद्रा की मात्रा) के परिवर्तनों के कारण होते है, P और M मे सीधा आनुपातिक सम्बन्ध (direct proportional relationship) होता है, परन्तु इस समीकरण का एक मुख्य दोष यह है कि इसमे केवल मुद्रा की मात्रा को ही सम्मिलित किया गया है। इसके सचलन-वेग (velocity of circulation) को सम्मिलित नही किया गया। इसकी दूसरी त्रुटि यह है कि इस समीकरण मे साख-मुद्रा (credit money) की भी उपेक्षा की गई है।

(2) *कुछ समय बाद अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के उक्त समीकरण के* दोषो को ध्यान मे रखते हुए एक अन्य सशोधित समीकरण प्रस्तुत किया था। यह समीकरण निम्न प्रकार है

$$P = \frac{MV}{T}$$

इसमे M – देश की प्रचलित मुद्रा की मात्रा, V मुद्रा का सचलन-वेग, T= देश मे उपलब्ध वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा, अथवा व्यापार की मात्रा, P= वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य कीमत-स्तर। इस समीकरण के अनुसार, P मे सभी परिवर्तन MV के परिवर्तनो के कारण होते है तथा P और MV मे सीधा आनुपातिक सम्बन्ध होता है। परन्तु यह समीकरण भी दोषयुक्त नही है। इसमे दो बडे दोष पाये जाते हैं। प्रथम, इस समीकरण मे केवल विधिग्राह्य मुद्रा (अथवा चलन) को ही सम्मिलित किया गया है और साख-मुद्रा की उपेक्षा की गयी है। जैसा हम जानते हैं, साख-मुद्रा का भी विनिमय के माध्यम के रूप मे उपयोग होता है, अर्थात् साख-मुद्रा भी वही कार्य करती है जो विधिग्राह्य मुद्रा द्वारा किया जाता है। इसलिए साख-मुद्रा की उपेक्षा नही की जा सकती। प्रो० फिशर ने इस दोष को समझाते हुए कहा कि मुद्रा की कुल पूर्ति के अन्तर्गत हमे विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा दोनो को ही सम्मिलित करना चाहिए। द्वितीय, मुद्रा के परिमाण पर साख-मुद्रा के संचलन-वेग का भी प्रभाव पडता है क्योंकि विधिग्राह्य मुद्रा की भांति साख-मुद्रा भी एक निश्चित समय पर कई बार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित होती है, इसलिए मुद्रा की कुल पूर्ति मे विधिग्राह्य मुद्रा तथा इसके सचलन-वेग के गुणनफल के अतिरिक्त साख-मुद्रा तथा इसके सचलन-वेग के गुणनफल को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। देश की कुल मुद्रा-पूर्ति इन दोनो प्रकार की मुद्राओ के जोड से ही निश्चित होती है। इन दोषो को ध्यान मे रखते हुए प्रो० फिशर ने उपर्युक्त समीकरण मे आवश्यक सशोधन करके एक नये समीकरण का प्रतिपादन किया था।

(3) **प्रो० फिशर द्वारा प्रस्तुत किये गये मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का समीकरण**—प्रो० फिशर द्वारा प्रस्तुत किया गया समीकरण निम्नलिखित है

$$MV + M'V' = PT$$

$$\frac{MV + M'V'}{T} = P$$

इस समीकरण मे M= मुद्रा की कुल मात्रा (कुल विधिग्राह्य मुद्रा) अर्थात धातु-मुद्रा + कागजी मुद्रा, V= विधिग्राह्य मुद्रा का सचलन-वेग (velocity of circulation), M'= साख-मुद्रा अर्थात् चैक, हुण्डियां, ड्राफ्ट इत्यादि की मात्रा, V' =साख-मुद्रा का सचलन वेग, P= वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य कीमत-स्तर (general price level) तथा T व्यापार की मात्रा (समस्त व्यापारिक सौदे)। इस प्रकार किसी देश मे मुद्रा की पूर्ति= MV+M'V'। यह फिशर के समीकरण का एक भाग है। दूसरे भाग मे, मुद्रा की माँग को व्यक्त किया गया है। मुद्रा की माँग =PT। इस प्रकार T वस्तुओ और सेवाओ को P कीमतो पर विनिमय करने के लिए मुद्रा की मांग PT के बराबर होती है। दूसरे शब्दो मे, यदि वस्तुओ और सेवाओ को इनकी कीमतो से गुणा कर दिया जाय तो मुद्रा की कुल माँग निकल आयगी। इस प्रकार उक्त समीकरण मे मुद्रा की पूर्ति =MV+M'V' तथा मुद्रा की माँग= PT।

प्रो० फिशर के उक्त समीकरण से स्पष्ट है कि सामान्य कीमत-स्तर (P) का मुद्रा की कुल मात्रा (MV + M'V') से सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है और P अर्थात् सामान्य कीमत-स्तर का

व्यापार की कुल मात्रा से विपरीत आनुपातिक सम्बन्ध है। प्रो० फिशर के इस समीकरण के अनुसार, यदि मुद्रा की मात्रा बढती है, तो अन्य बातें समान रहते हुए (अर्थात् व्यापार की मात्रा समान रहते हुए) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जायेंगी। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा घट जाती है तो अन्य बातें समान रहते हुए (अर्थात् व्यापार की मात्रा समान रहते हुए) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें गिर जायेंगी। इसी प्रकार यदि व्यापार की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है तो अन्य बातें समान रहते हुए (अर्थात् मुद्रा की मात्रा समान रहते हुए) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें कम हो जायेंगी। इसका कारण यह है कि वस्तुओ तथा सेवाओ की बढी हुई मात्रा का विनिमय कम मुद्रा द्वारा होता है। इस प्रकार मुद्रा की इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने लगती है अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें गिर जाती हैं। इसके विपरीत यदि व्यापार की मात्रा मे कमी हो जाती है तो अन्य बातें समान रहते हुए (अर्थात् मुद्रा की पूर्ति समान रहते हुए) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जायेंगी। इसका कारण यह है कि अब मात्रा मे कम वस्तुओ तथा सेवाओं का विनिमय अधिक मुद्रा द्वारा होने लगता है। दूसरे शब्दो मे मुद्रा की एक इकाई पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने लगती है, अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जाती है। चूँकि मुद्रा की क्रय-शक्ति (अथवा मुद्रा मूल्य) मुद्रा की मात्रा मे कमी तथा वृद्धि पर निर्भर रहती है, इसलिए जो सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा वस्तुओ व सेवाओ की कीमतो के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करता है, उसे मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कहते है। दूसरे शब्दो मे, जब हम माँग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त को मुद्रा पर लागू करते हैं, तब यह मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कहलाता है।

फिशर के सिद्धान्त की मान्यताएं (Assumptions of Fisher's Theory)—प्रो० फिशर ने उपर्युक्त समीकरण प्रतिपादित करते समय यह मान लिया है कि V, V′ तथा T स्थिर रहते है और M′ का M से एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात होता है। फलत P मे होने वाले सभी परिवर्तन केवल M के परिवर्तनो के कारण होते है। चूंकि मुद्रा (M) तथा साख-मुद्रा (M′) दोनो का ही चलन वेग (VV′) अल्पकाल मे स्थिर रहता है तथा साख-मुद्रा (M′) और मुद्रा (M) मे एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात होता है, इसलिए सामान्य कीमत स्तर (P) मे केवल M की मात्रा मे परिवर्तन होने से ही परिवर्तन होते हैं। अत प्रो० फिशर के अनुसार अल्पकाल मे मुद्रा की मात्रा केवल प्रचलित विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा अर्थात् M पर ही निर्भर रहती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अल्पकाल मे V V′ तथा T और M′ का M से अनुपात क्यो स्थिर रहता है। प्रो० फिशर ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—अल्पकाल मे व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा द्वारा किये गये कार्यो की मात्रा स्थिर रहती है। इसका कारण यह है कि अल्पकाल मे देश की जनसंख्या मे परिवर्तन नही होता प्रति व्यक्ति उत्पादन नही बदलता, उत्पादन का जो प्रतिशत उत्पादको द्वारा उपभोग के लिए इस्तेमाल किया जाता है, वह नही बदलता वस्तुओ के सचलन वेग मे कोई परिवर्तन नही होता। उत्पादन की विधियो तथा व्यक्तियो की उपभोग सम्बन्धी प्रवृत्तियों मे कोई परिवर्तन नही होता और वस्तुओ के विनिमय के प्रतिशत मे भी कोई परिवर्तन नही होता। दूसरे शब्दो मे प्रो० फिशर के अनुसार अल्पकाल मे मुद्रा की माँग यथास्थिर रहती है। चूँकि अल्पकाल मे मुद्रा की माँग अपरिवर्तित ही रहती है इसलिए प्रो० फिशर ने बताया है कि P अर्थात् सामान्य कीमत स्तर तथा M अर्थात् मुद्रा की मात्रा में सीधा और आनुपातिक सम्बन्ध होता है।

मुद्रा के सचलन-वेग पर किन-किन बातो का प्रभाव पड़ता है (Factors which influence the velocity of circulation)—मुद्रा का संचलन-वेग क्या होता है ? इसके बारे मे हम पहले ही कह चुके है। जैसा विदित है, मुद्रा की एक इकाई एक दिन मे कितनी ही बार विनिमय के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल की जाती है। जितनी अधिक बार मुद्रा की इकाई विनिमय के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल की जाती है, उतना ही अधिक उसका संचलन-वेग होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक रुपये का नोट दिन भर मे 15 बार विनिमय के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल किया जाता है तो वह एक रुपये का नोट 15 रुपये के बराबर कार्य करता है। **इस प्रकार किसी निश्चित समय मे मुद्रा की इकाई वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए जितनी बार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित होती है इसके औसत को मुद्रा का संचलन-वेग कहते हैं।**

यदि मुद्रा को इसके सचलन-वेग से गुणा कर दिया जाय तो मुद्रा की कुल पूर्ति निकल आती है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति बहुत कुछ इसके सचलन-वेग पर निर्भर रहती है। यदि सचलन-वेग अधिक होता है तो उतनी ही अधिक मुद्रा की पूर्ति होती है। इसके विपरीत, यदि सचलन-वेग कम होता है तो उतनी ही मुद्रा की पूर्ति कम होती है। परन्तु स्मरण रहे कि केवल धातु-मुद्रा तथा कागजी मुद्रा का ही सचलन-वेग नही होता, साख-मुद्रा का भी अपना सचलन-वेग होता है। यदि साख-मुद्रा अधिक बार विनिमय के माध्यम के रूप मे इस्तेमाल की जाती है तो उसका सचलन-वेग भी अधिक होगा। इस प्रकार यदि हमे किसी देश की कुल मुद्रा-पूर्ति का अनुमान लगाना है तो हमे न केवल कुल विधिग्राह्य तथा कुल साख-मुद्रा को ही जोडना होगा, बल्कि कुल विधिग्राह्य मुद्रा तथा कुल साख-मुद्रा को उनके अपने-अपने सचलन-वेगो से भी गुणा करना होगा।

मुद्रा का सचलन-वेग निम्नलिखित बातो से प्रभावित होता है

(1) **मुद्रा की मात्रा**— मुद्रा का सचलन-वेग मुद्रा की मात्रा पर निर्भर रहता है। जैसा विदित है—प्रत्येक देश मे विनिमय कार्यों को सम्पन्न करने के लिए एक निश्चित मात्रा मे मुद्रा की आवश्यकता पडती है। यदि मुद्रा की मात्रा देश की आवश्यकताओ से कम है तब इसका संचलन-वेग बढ जाता है। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा देश की आवश्यकताओ से अधिक है तब इसका सचलन वेग कम हो जाता है।

(2) **नकद क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति**—जब जनता मे नकद क्रय-विक्रय करने की प्रवृत्ति पायी जाती है तब मुद्रा का सचलन वेग बढ जाता है। इसके विपरीत, जब जनता द्वारा उधार के आधार पर क्रय-विक्रय किया जाता है तब मुद्रा का सचलन वेग कम हो जाता है।

(3) **उपभोग की प्रवृत्ति**—प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार अन्य बातें समान रहते हुए, जिस देश मे उपभोग की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है, वहां पर मुद्रा का सचलन वेग बढ जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकाश लोग अपनी आय का बडा भाग उपभोग पर व्यय कर देते हैं। इससे मुद्रा का हस्तान्तरण तीव्र हो जाता है और परिणामत. उसका सचलन-वेग बढ जाता है। इसके विपरीत, अन्य बातें समान रहते हुए, जिस देश मे उपभोग की प्रवृत्ति कम होती है अथवा लोगो द्वारा बचत तथा आय का सग्रह किया जाता है, वहां पर मुद्रा का सचलन-वेग कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि अधिकाश लोग अपनी आय को व्यय करने के बजाय बचाने मे अधिक विश्वास रखते है। इससे मुद्रा का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरण कम हो जाता है और परिणामत उसका सचलन-वेग भी कम हो जाता है।

(4) **उधार सौदो के भुगतान की अवधि**—यदि किसी देश मे उधार सौदो का भुगतान वर्ष मे एक-दो बार ही किया जाता है तो ऐसे देश मे मुद्रा का सचलन वेग कम होता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश मे उधार सौदो का भुगतान थोडे थोडे समय के बाद किया जाता है, तब ऐसे देश मे मुद्रा का सचलन वेग बढ जाता है।

(5) **जनता की तरलता वरीयता** (Peoples' Liquidity Preference)—मुद्रा का सचलन-वेग देश के लोगो की तरलता वरीयता पर भी निर्भर करता है। यदि देश की साधारण जनता तथा व्यापारी लोग अपने दैनिक कार्यों के लिए अधिक मात्रा मे अपने पास नकद धन रखते हैं तो मुद्रा का सचलन वेग कम हो जाता है। इसके विपरीत, यदि साधारण जनता तथा व्यापारी लोग अपने दिन प्रतिदिन के कार्यों के लिए कम मात्रा मे नकद धन रखते हैं तो इससे मुद्रा का सचलन-वेग बढ जाता है। दूसरे शब्दो मे, जनता मे तरलता वरीयता जितनी अधिक मात्रा मे होती है, उतना ही मुद्रा का सचलन-वेग कम हो जाता है।

(6) **मजदूरी का भुगतान करने की प्रणाली**— मजदूरी के भुगतान कई तरीको से किये जा सकते है। मजदूरी दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक आधार पर दी जा सकती है। यदि किसी देश मे मजदूरी का भुगतान एक बहुत लम्बे समय के बाद किया जाता है तब मजदूरो को अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए अपने पास अधिक मात्रा मे नकद धन रखना पडता है। इससे मुद्रा का संचलन-वेग कम हो जाता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश मे मजदूरी के भुगतान थोडे-थोडे समय के बाद किये जाते हैं तो मजदूरों को अपनी दैनिक आवश्यकताओ को

पूरा करने के लिए कम मात्रा मे नकद धन रखना पड़ता है। इससे मुद्रा का सचलन-वेग बढ जाता है।

(7) **ऋण-प्राप्ति की सुविधाएँ**—यदि किसी देश मे लोगो को ऋण प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ दी जाती है तो मुद्रा का सचलन-वेग बढ जायगा। इसका कारण यह है कि ऐसी परिस्थिति मे लोगो को अपने पास नकद धन रखने की अधिक आवश्यकता नहीं रहती।

(8) **परिवहन तथा संचार के साधन**—जब किसी देश मे परिवहन तथा सचार के साधनो का अधिक विकास हो जाता है तो उस देश मे विनिमय का क्षेत्र भी उसी अनुपात मे अधिक विस्तृत हो जाता है और वस्तुओ तथा सेवाओ का क्रय-विक्रय अधिक तेजी से होने लगता है। इससे मुद्रा के सचलन-वेग मे वृद्धि हो जाती है।

(9) **कीमतो के भावी अनुमान**—मुद्रा का सचलन-वेग भावी कीमतो के बारे मे लगाये गये अनुमानो पर भी निर्भर रहता है। यदि आम जनता का यह अनुमान है कि भविष्य मे कीमतें बढने वाली हैं तो इससे मुद्रा का सचलन-वेग बढ जायगा। इसका कारण यह है कि कीमतो की भावी वृद्धि से भयभीत होकर जनता वर्तमान मे ही अधिकाधिक मात्रा मे वस्तुएँ खरीदना आरम्भ कर देगी। इससे निश्चय ही मुद्रा का सचलन वेग बढ जायगा। इसके विपरीत, यदि लोगो का यह अनुमान है कि भविष्य मे कीमतें गिरने वाली है तो वे वर्तमान मे वस्तुओ तथा सेवाओ का खरीदना कम कर देंगे। इससे मुद्रा का सचलन वेग कम हो जायगा। जैसा विदित है, दूसरे विश्व युद्ध के समय सभी देशो मे सचलन वेग बढ गया था। इसका कारण यह था कि लोगो ने भावी कीमत-वृद्धि के भय से वर्तमान मे ही अधिकाधिक मात्रा मे वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदना आरम्भ कर दिया था। इससे मुद्रा का हस्तान्तरण बढ गया था। परिणामत इसके सचलन-वेग मे वृद्धि हो गयी थी।

(10) **राष्ट्र के आर्थिक विकास का स्तर**—मुद्रा का सचलन वेग किसी देश के आर्थिक विकास के स्तर पर भी निर्भर करता है। यदि कोई देश कृषि प्रधान है तो वहाँ के लोगो की आवश्यकताएँ प्राय सीमित होती है और वहाँ पर वस्तु-विनिमय का भी प्रचलन होता है। परिणामत मुद्रा का सचलन वेग कम होता है। इसके विपरीत, विकसित तथा औद्योगिक देशो मे लोगो की आवश्यकताएँ अधिक होती है और उन्हे पूरा करने के लिए मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। परिणामत मुद्रा का सचलन-वेग बढ जाता है। इस तरह सामान्यत आर्थिक विकास के साथ-साथ मुद्रा का सचलन-वेग बढता जाता है।

(11) **साख-मुद्रा की गतिशीलता**—किसी देश मे जितनी तेजी से एक व्यक्ति के खाते से दूसरे व्यक्ति के खाते मे मुद्रा का हस्तान्तरण होता है, उतनी ही तेजी से देश मे साख-मुद्रा का सचलन-वेग बढता जाता है। इस प्रकार आर्थिक विकास तथा बैंकिंग प्रणाली की उन्नति के साथ-साथ साख मुद्रा का सचलन वेग भी बढता जाता है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms of the Quantity Theory of Money)—प्रो० फिशर द्वारा सशोधित मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं

(1) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है**—प्रो० फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण को जिन मान्यताओ पर आधारित किया है, वे अवास्तविक है। जैसा प्रो० फिशर ने कहा है, अल्पकाल मे V, V' तथा T और M' का M से अनुपात स्थिर रहता है। प्रो० फिशर ने इन मान्यताओ को "अन्य बातें समान रहनी चाहिए" वाक्याश मे व्यक्त किया है। परन्तु आलोचको का विचार है कि वास्तविक जीवन मे फिशर द्वारा बतायी गयी अन्य बातें समान नही रहती। उनके अनुसार अल्पकाल मे ये मान्यताएँ सत्य नही उतरती। आलोचको ने अपने मत के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये है.

(क) फिशर के समीकरण मे यह मान लिया गया है कि विधिग्राह्य मुद्रा की पूर्ति (M) मे परिवर्तन हो जाने पर इसके सचलन-वेग मे कोई परिवर्तन नही होता, अर्थात् M और V एक-दूसरे से स्वतन्त्र है और एक-दूसरे को बिलकुल प्रभावित नही करते, परन्तु फिशर की यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। इसका कारण यह है कि विधिग्राह्य मुद्रा (M) मे परिवर्तन हो जाने पर इसके

सचलन-वेग मे अपने आप ही परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि M को दुगुना कर दिया जाय तो P मे दुगुने से अधिक वृद्धि होगी, अर्थात् मुद्रा के मूल्य मे आधे से अधिक कमी होगी। इसका कारण यह है कि जब M मे वृद्धि की जाती है तो इससे P मे अवश्य ही वृद्धि होती है, अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे वृद्धि हो जाती है। परिणामत लोग भावी कीमत-वृद्धि के भय के कारण वस्तुओ को अधिकाधिक मात्रा मे खरीदने लगते हैं। इससे मुद्रा का सचलन-वेग बढ जाता है। इसके अतिरिक्त, ऐसे समयो पर सट्टे (Speculation) मे भी वृद्धि हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा के सचलन-वेग मे और अधिक तेजी आ जाती है।

(ख) प्रो० फिशर ने अपने समीकरण मे यह मान लिया था कि M′ का M से एक स्थिर, निश्चित तथा अपरिवर्तनशील सम्बन्ध होता है और M के परिवर्तनो के अनुसार ही M′ में परिवर्तन होते हैं। परन्तु इन परिवर्तनो के बावजूद दोनो का सम्बन्ध पहले के अनुपात में ही रहता है, लेकिन प्रो० फिशर की यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। तेजी के समय M′ का M से कोई स्थिर, निश्चित तथा अपरिवर्तशील सम्बन्ध नही होता। तेजी के समय M′ का M से अनुपात बढ जाता है, क्योकि ऐसे समय पर व्यापारी लोग बैंको से अधिक मात्रा में ऋण लेते हैं और बैंक बडी मात्रा मे साख-मुद्रा (M′) का निर्माण करते है। इसके विपरीत, मन्दी के समय M′ का M से अनुपात कम हो जाता है क्योकि ऐसे समय व्यापारियो द्वारा ऋणो की माँग कम हो जाने से बैंक साख-मुद्रा का कम मात्रा मे निर्माण करते हैं। इस प्रकार M′ का M से कोई निश्चित अनुपात नही होना बल्कि यह अनुपात समय-समय पर बदलता रहता है।

(ग) प्रो० फिशर ने अपने समीकरण मे यह मान लिया था कि M मे परिवर्तन हो जाने पर भी V′ मे कोई परिवर्तन नही होता, अर्थात दोनो एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते है और एक-दूसरे पर अपना प्रभाव नही डालते, परन्तु प्रो० फिशर की यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। जब किसी कारणवश M मे परिवर्तन होता है तो V′ मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण यह है कि M मे परिवर्तन होने पर V′ मे परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि M की मात्रा मे वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप कीमत-स्तर मे भी वृद्धि होगी और कीमत स्तर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप साख-मुद्रा का भी अधिकाधिक प्रयोग होने लगेगा। फलत साख-मुद्रा का सचलन-वेग अर्थात V′ अवश्य ही बढ जायगा और कीमत-स्तर मे M मे हुई वृद्धि से अधिक अनुपात मे वृद्धि होगी।

(घ) प्रो० फिशर ने अपने समीकरण मे यह भी मान लिया था कि M मे परिवर्तन होने पर भी T मे कोई परिवर्तन नही होता। जैसा हम देख चुके है, T देश के व्यापार की मात्रा को व्यक्त करती है अर्थात् T मुद्रा की माँग का प्रतिनिधित्व करती है। प्रो० फिशर ने यह मान लिया था कि M और T एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते है, अर्थात् जब मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन होता है तो इसकी माँग मे कोई परिवर्तन नही होता परन्तु यह मान्यता भी भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे, जब M मे परिवर्तन होता है तो T परिवर्तित हुए बिना नही रह सकती। उदाहरणार्थ, जब M मे वृद्धि होती है तो इससे P मे भी वृद्धि हो जाती है, अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जाती हैं। इससे उत्पादको को लाभ होता है और इस लाभ से आकर्षित होकर वे माल का अधिक उत्पादन करने लगते हैं। इससे व्यापार की मात्रा बढ जाती है, अर्थात् T मे वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार जब M मे कमी हो जाती है तो इसके परिणामस्वरूप P मे भी कमी हो जाती है, अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें गिर जाती हैं। उत्पादको को हानि होती है और वे उत्पादन की मात्रा को कम कर देते हैं, अर्थात T मे कमी हो जाती है। इस प्रकार प्रो० फिशर की यह मान्यता गलत है कि M मे परिवर्तन हो जाने पर T मे कोई परिवर्तन नही होता। आर्थिक इतिहास मे ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जबकि विभिन्न देशो मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर व्यापार की मात्रा मे भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार फिशर के समीकरण मे T को स्थिर मान लेना पूर्णत गलत है।

कुछ लेखको के अनुसार, केवल पूर्ण रोजगार के बिन्दु (point of full employment) पर ही वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा स्थिर रहती है, अर्थात् T मे कोई परिवर्तन नही होता—इस बिन्दु से पूर्व मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि के परिणामस्वरूप वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन मे वृद्धि होती है और यह वृद्धि तब तक होती चली जाती है जब तक कि पूर्ण रोजगार का बिन्दु प्राप्त

नही हो जाता। पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर भी वस्तुओ तथा सेवाओं के उत्पादन मे वृद्धि नही होती, अर्थात् T अपरिवर्तित रहती है। इसका कारण यह है कि पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर उत्पादन के सभी साधन पूर्णत काम मे लगे होते है और कोई भी साधन बेकार नहीं होता। अत मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर भी अतिरिक्त साधनो के अभाव मे वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमते तो अवश्य ही बढती है, परन्तु उनके उत्पादन मे कोई वृद्धि नही हो सकती। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण को प्रस्तुत करते समय प्रो० फिशर ने सम्भवत पूर्ण रोजगार की अवस्था की कल्पना की थी। यह सत्य है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था मे फिशर का परिमाण सिद्धान्त सही सिद्ध होगा, परन्तु आलोचको का मत है कि पूर्ण रोजगार की यह अवस्था बहुत समय तक नही टिक सकती और कई कारणो से वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तन के अनुपात से अधिक परिवर्तन हो जायगा।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रो० फिशर के समीकरण मे निहित मान्यताएँ गलत तथा भ्रमपूर्ण है। M, M′, V, V′ और T एक दूसरे से स्वतन्त्र नही है, बल्कि ये एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। जब किसी एक मे परिवर्तन होता है तो इसका दूसरो पर भी अवश्य प्रभाव पड़ता है।

(2) **मुद्रा के सचलन-वेग को मापना कठिन है**—फिशर के समीकरण मे विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा के सचलन वेग का सही-सही माप करना कठिन ही नही, बल्कि लगभग असम्भव है। प्रो० फिशर ने विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा के सचलन-वेग को अल्पकाल मे स्थिर मान लिया था, परन्तु दीर्घकाल मे तो इनके सचलन-वेग को स्थिर नहीं माना जा सकता। दीर्घकाल मे तो दोनो मे अवश्य ही परिवर्तन होता है। परन्तु अर्थशास्त्रियो के पास ऐसी कोई विधि नही है जिससे विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा के सचलन-वेग को सही सही मापा जा सके।

(3) ***परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के सचलन-वेग की विवेचना नहीं करता***—परिमाण सिद्धान्त मे एक त्रुटि यह भी पायी जाती है कि यह मुद्रा के सचलन-वेग की विवेचना नही करता और न ही इसको प्रभावित करने वाली बातो पर प्रकाश डालता है। डॉ० मार्शल के अनुसार मुद्रा के मूल्य-निर्धारण की विवेचना करने वाले सिद्धान्त को मुद्रा के सचलन वेग को प्रभावित करने वाले सभी कारणो पर प्रकाश डालना चाहिए।

(4) **यह सिद्धान्त व्यापार चक्रो के कारण कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या नहीं करता**—जैसा हम देख चुके है परिमाण सिद्धान्त के अनुसार देश के कीमत-स्तर म होने वाले परिवर्तन मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो के कारण ही होते है। परन्तु कुछ आलोचको का विचार है कि देश के कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तन केवल मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तनो के कारण ही नही होते, अर्थात् कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के अन्य कारण भी हो सकते है, परन्तु *यह सिद्धान्त उन कारणो पर कुछ भी प्रकाश नही डालता।* उदाहरणार्थ, मन्दीकाल मे मुद्रा की मात्रा मे कमी हुए बिना ही देश के कीमत-स्तर म कमी हो जाती है और तेजीकाल मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हुए बिना ही देश के कीमत स्तर मे वृद्धि हो जाती है। इस *प्रकार परिमाण सिद्धान्त सामान्य कीमत-स्तर मे होने वाले उन परिवर्तनो को समझाने मे असमर्थ* है जो व्यापार-चक्रो (trade cycles) के कारण उत्पन्न होने है।

(5) **यह सिद्धान्त हमे यह नहीं बताता कि मुद्रा की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन कीमत-स्तर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं**—मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत स्तर मे सीधा तथा आनुपातिक सम्बन्ध होता है, परन्तु प्रो० हायक (Hayek) तथा प्रो० हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार, मुद्रा की मात्रा मे होने वाले परिवर्तन कीमत स्तर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही करते, अर्थात् मुद्रा की मात्रा तथा कीमत-स्तर मे कोई प्रत्यक्ष तथा *आनुपातिक सम्बन्ध नही होता। मुद्रा की मात्रा मे होने वाला प्रत्येक परिवर्तन कीमत स्तर को* प्रत्यक्षत प्रभावित नही करता, बल्कि यह पहले ब्याज की दर को प्रभावित करता है। तदुपरान्त ब्याज की दर का परिवर्तन कीमत स्तर को प्रभावित करता है। दूसरे शब्दो मे मुद्रा की पूर्ति मे होने वाला प्रत्येक परिवर्तन परोक्ष रूप से (ब्याज की दर के माध्यम से) कीमत स्तर को प्रभावित करता है। इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत-स्तर मे होने वाले वास्तविक सम्बन्ध का सही सही स्पष्टीकरण करने मे असमर्थ है।

(6) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति को सही ढंग से मापने के बजाय नकद सौदों का मापक बन जाता है**—जैसा हम देख चुके हैं, प्रो० फिशर के समीकरण में मुद्रा का सम्बन्ध सामान्य कीमत-स्तर से होता है और सामान्य कीमत-स्तर सभी प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं पर आधारित होता है अर्थात् सामान्य कीमत स्तर में उपभोग्य तथा उत्पादक दोनों प्रकार की वस्तुयें सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार व्यापार की कुल मात्रा में उपभोग्य वस्तुओं के साथ-साथ उत्पादक वस्तुओं का भी समावेश होता है। प्रो० केन्ज (Keynes) का विचार है कि *सामान्य कीमत-स्तर में उत्पादक वस्तुओं (producer goods) के सम्मिलित किये जाने के परिणामस्वरूप मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही सही माप नहीं किया जा सकता।* परन्तु उपभोक्ताओं की दृष्टि से मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही-सही माप करना नितान्त आवश्यक है। अतः इस दृष्टिकोण से मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अत्यन्त असन्तोषजनक है।

(7) **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति को अधिक महत्व दिया गया है**—जैसा हम देख चुके हैं, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त माँग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त का संशोधित रूप है। परन्तु आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त में माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति को अधिक महत्व दिया गया है। परिमाण सिद्धान्त व्यापार की मात्रा (अथवा मुद्रा की माँग) को स्थिर मानकर ही चलता है। इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त में माँग के महत्व को ही समाप्त कर दिया गया है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के इस दोष के कारण प्रो० केन्ज ने मुद्रा के मूल्य के निर्धारण का एक अन्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्रो० केन्ज ने इस सिद्धान्त में माँग पक्ष को उसका उचित महत्व प्रदान किया है।

(8) **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तर्क विधि उल्टी है**—परिमाण सिद्धान्त के अनुसार कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के कारण ही होते हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन कारण (cause) हैं और मुद्रा के मूल्य में अर्थात् कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तन परिणाम (result) है परन्तु कुछ आलोचकों का मत है कि मुद्रा की पूर्ति तथा कीमत स्तर का सम्बन्ध, वास्तव में, ऐसा नहीं है बल्कि इसके विपरीत है। इन आलोचकों का कहना है कि कीमत-स्तर में परिवर्तन स्वतन्त्र रूप से होते है और फिर आगे चलकर कीमत-स्तर के ये परिवर्तन मुद्रा की मात्रा को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में, *मुद्रा की मात्रा कीमत स्तर को प्रभावित करने के बजाय स्वयं कीमत स्तर से प्रभावित होती है। इस प्रकार कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन कारण है और मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन उनके परिणाम है।* प्रो० फिशर ने आलोचकों के इस मत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। उनका यही कहना था कि मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तन ही कीमत-स्तर के परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। इस सन्दर्भ में यह कह देना उचित ही होगा कि ऐतिहासिक अनुभव प्रो० फिशर के मत का समर्थन करता है।

(9) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य का दीर्घकालीन विश्लेषण करता है**—इस सिद्धान्त में एक अन्य त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य का दीर्घकालीन विश्लेषण ही करता है। इस सिद्धान्त द्वारा अल्पकाल की उपेक्षा की गयी है। जैसा विदित है, अल्पकाल में मुद्रा के मूल्य में कभी-कभी बड़े भयंकर तथा महत्वपूर्ण परिवर्तन होते है, परन्तु यह सिद्धान्त उन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता है। *प्रो० केन्ज (Keynes) ने ठीक ही कहा है कि दीर्घकाल के अध्ययन से कोई विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं।* वास्तव में, हम अल्पकालीन विश्लेषण में अधिक रुचि रखते हैं। परन्तु, जैसा कहा गया है, यह सिद्धान्त अल्पकाल के बारे में कुछ भी नहीं कहता।

(10) **परिमाण सिद्धान्त समय-विलम्ब (Time-lag) के महत्व को स्वीकार नहीं करता**—कुछ आलोचकों का विचार है कि मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का देश के कीमत-स्तर पर तुरन्त ही *प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि यह प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता है।* यह सम्भव हो सकता है कि इस अन्तरिम काल (interim period) में अन्य परिस्थितियाँ समान न रहें। इसका परिणाम यह होगा कि कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तन मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों के ठीक अनुपात में नहीं होंगे।

(11) यह सिद्धान्त संचित-कोषों के बारे में कुछ भी नहीं कहता—प्रो० केन्ज (Keynes) के मतानुसार मुद्रा की पूर्ति में समूची विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा को सम्मिलित करना उचित नहीं है, क्योंकि मुद्रा की यह समूची पूर्ति वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने के लिए प्रयोग में नहीं लायी जाती। विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा का कुछ अंश जनता द्वारा संचित (hoard) कर लिया जाता है और यह अंश विनिमय के माध्यम के रूप में इस्तेमाल नहीं होता। इस प्रकार वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय में मुद्रा के केवल उसी अंश का प्रयोग किया जाता है जिसे लोग प्रायः व्यवसाय, सुरक्षा तथा सट्टे के उद्देश्य से अपने पास तरल रूप में रखते हैं। इस प्रकार प्रो० केन्ज का कहना है कि कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए केवल तरल मुद्रा (*liquid money*) को ही देश की *मुद्रा-पूर्ति में सम्मिलित करना चाहिए,* अर्थात् संचित की गयी मुद्रा (hoarded money) को देश की कुल मुद्रा-पूर्ति में से निकाल देना चाहिए। इसका कारण यह है कि संचित की गयी मुद्रा वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कुछ भी प्रभाव नहीं डालती। परन्तु मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस प्रकार संचित की गयी मुद्रा के बारे में अपनी ओर से कोई स्पष्टीकरण नहीं देता।

(12) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को सिद्धान्त कहना उचित नहीं—प्रो० निकलसन (*Nicholson*) के *अनुसार, मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त तो केवल एक साधारण सत्य का ही* उल्लेख करता है। यह हमें कोई ऐसी महत्वपूर्ण बात नहीं बताता जिससे हम पहले ही परिचित न हों। सभी जानते हैं कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से आन्तरिक कीमत-स्तर में वृद्धि हो जाती है। यह कोई नयी बात नहीं है। इस साधारण सत्य को सिद्धान्त का नाम देना उचित नहीं है। परन्तु प्रो० फिशर ने इस आलोचना के प्रत्युत्तर में कहा है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इतना सरल नहीं है जितना कि आलोचक इसे समझते हैं और यदि यह सरल है तो इसका वैज्ञानिक ढंग से सिद्धान्त के रूप में उल्लेख करने पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(13) मुद्रा का मूल्य कुल आय का परिणाम होता है, मुद्रा की मात्रा का नहीं—प्रो० क्राउथर (Crowther) के मतानुसार—मुद्रा का मूल्य मुद्रा की मात्रा से नहीं, बल्कि देश की कुल आय से निश्चित होता है। प्रो० क्राउथर के शब्दों में, 'मुद्रा का मूल्य, वास्तव में आय के जोड़ का परिणाम होता है, न कि मुद्रा की पूर्ति का। इस प्रकार हमें कुल आय में होने वाले उतार-चढ़ाव के कारणों की खोज करनी चाहिए।''[1]

(14) मुद्रा की मात्रा और कीमत-स्तर में प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं होता—जैसा हम देख चुके हैं, प्रो० *फिशर के समीकरण के अनुसार मुद्रा की मात्रा में होने वाले प्रत्येक* परिवर्तन का सामान्य कीमत-स्तर पर प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, *यदि देश की मुद्रा-पूर्ति दुगनी कर दी जाती है तो प्रो० फिशर के अनुसार, अन्य बातें समान रहते* हुए, देश का कीमत-स्तर भी दुगुना हो जायगा। परन्तु व्यावहारिक जीवन में मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमत-स्तर में इस प्रकार का प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक सम्बन्ध नहीं पाया जाता। अतएव मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त काल्पनिक ही रह जाता है।

(15) यह सिद्धान्त वस्तुओं के संचलन-वेग की उपेक्षा करता है—परिमाण सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसने वस्तुओं के संचलन-वेग की पूर्ण उपेक्षा की है। जिस प्रकार विधिग्राह्य मुद्रा और साख-मुद्रा का संचलन वेग होता है, ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का भी संचलन-वेग होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित समय में कई बार वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने में लायी जाती हैं, ठीक उसी प्रकार वस्तु की इकाई भी एक निश्चित समय में कई बार खरीदी व बेची जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मुद्रा का मूल्य निकालते समय मुद्रा के संचलन वेग को तो ध्यान में रखा जाता है, परन्तु वस्तुओं के संचलन-वेग की पूर्ण उपेक्षा की जाती है। *वास्तव में, मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की यह एक* भारी त्रुटि है।

---

1 "The value of money, in fact, is a consequence of the total of incomes rather than of the quantity of money. It is the causes of fluctuations in the total of incomes of which we must go in search." —*Crowther*

(16) **प्रो० फिशर ने अल्पकाल में जिन बातो को स्थिर मान लिया है, वे वास्तव में स्थिर नहीं होतीं**—प्रो० फिशर ने परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या करते समय कुछ बातो को अल्पकाल मे स्थिर मान लिया है। उनके अनुसार, वस्तु-विनिमय की मात्रा, वस्तुओ का सचलन वेग, उत्पादन की विधियाँ, देश की जनसख्या, जनता की उपभोग सम्बन्धी आदतें तथा प्रति व्यक्ति उत्पत्ति की मात्रा मे अल्पकाल मे कोई परिवर्तन नही होता। परन्तु फिशर की यह कल्पना भ्रमपूर्ण है क्योकि इस गतिशील संसार मे कोई भी चीज ऐसी नही है जो समय के साथ नही बदलती। वास्तव मे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रति क्षण कोई न कोई परिवर्तन अवश्य ही होता रहता है।

(17) *यह सिद्धान्त देश के कीमत-स्तर पर पडने वाले अन्य देशो के कीमत-स्तरो के प्रभावो* **की उपेक्षा करता है**—इस सिद्धान्त मे एक त्रुटि यह भी है कि यह सिद्धान्त किसी देश के कीमत-स्तर पर अन्य देशो के कीमत-स्तरो के प्रभावो की पूर्णत उपेक्षा करता है, अर्थात् यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि देश का अन्य देशो के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नही है, परन्तु आज की दुनिया मे इस प्रकार की मान्यता अत्यन्त अवास्तविक प्रतीत होती है। आजकल विभिन्न देशो का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से आपसी सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो चुका है कि वे आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना नही रह सकते। अत मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी असन्तोषजनक प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त आलोचनाओ का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त दोषपूर्ण, भ्रमपूर्ण एव काल्पनिक है। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार, यह सिद्धान्त न केवल दोषपूर्ण तथा काल्पनिक है, बल्कि अपूर्ण (incomplete) भी है। यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति का उचित व सही सही माप करने मे भी असमर्थ है। इसके अलावा, इस सिद्धान्त मे गणितात्मक सत्यता (mathematical exactness) का भी अभाव है, अर्थात् गणित की दृष्टि से भी यह सिद्धान्त सत्य नही है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है मुद्रा की मात्रा तथा देश के कीमत-स्तर मे कोई प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक सम्बन्ध नही होता। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन करने से कीमत में आनुपातिक परिवर्तन नही होता।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त पूर्णत बेकार नही माना जा सकता। यह सत्य है कि गणित की दृष्टि से यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है, परन्तु एक प्रवृत्ति के द्योतक के रूप म यह सिद्धान्त बिलकुल सत्य है। इसीलिए आर्थिक सिद्धान्तो मे इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह सिद्धान्त हमे वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो के कारणो के बारे मे जानकारी प्रदान करता है। जैसा विदित है, देश के कीमत-स्तर मे होने वाले अधिकांश परिवर्तन मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तनो के फलस्वरूप ही होते है। परिमाण सिद्धान्त, मुद्रा की मात्रा मे होने वाले इन परिवर्तनो पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त, देश के कीमत-स्तर पर नियन्त्रण रखने मे भी यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। यदि देश मे मन्दी के कारण कीमतो मे गिरावट आ जाती है तो ऐसी परिस्थिति मे कीमतो को ऊँचा करने के लिए इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिए। इसके विपरीत, यदि देश मे तेजी के कारण कीमतें बहुत ऊँची हो जाती है तो उनको नीचे लाने के लिए इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे कमी कर देनी चाहिए। इस प्रकार यह सिद्धान्त देश के कीमत स्तर म स्थिरता स्थापित करने मे बहुत सहायता देता है। वास्तव मे, यह सिद्धान्त कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करने की एक अच्छी विधि बताता है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे प्रो० रॉबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही कहा है, "मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिए एक विचित्र सत्य है जिसका समझना वास्तविक जीवन मे मुद्रा की मात्रा और वस्तुओ की कीमतो मे सम्पर्क स्थापित करने के लिए आवश्यक है।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सत्यता—प्रो० फिशर ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की सत्यता को सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये है। यह ठीक है कि इस सिद्धान्त मे बहुत से दोष पाये जाते है परन्तु जब हम माँग और पूर्ति के सामान्य सिद्धान्त को मुद्रा पर लागू करते है तब वस्तुओ की भांति मुद्रा की माग तथा पूर्ति म भूतकाल मे जो फेर-बदल हुय तथा उनके परिणामस्वरूप मुद्रा के मूल्य मे जो परिवर्तन हुए, उनका यह सिद्धान्त सन्तोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दो मे, मोटे तौर पर यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनो

का उचित स्पष्टीकरण करता है। प्रो० फिशर द्वारा प्रस्तुत किये गये विभिन्न उदाहरण निम्नलिखित है :

(1) जब स्पेन के खोजकर्ताओ (explorers) ने अमरीका मे चाँदी की नयी खाने खोज निकाली,तब उन्होने इन खानो से प्राप्त होने वाली चाँदी को अधिकाधिक मात्रा मे यूरोपीय देशो को भेजना आरम्भ कर दिया। यूरोपीय देशो मे बडे पैमाने पर चाँदी के इस आयात के परिणाम-स्वरूप सामान्य कीमत-स्तरो मे वृद्धि हो गयी। जैसे-जैसे इन देशो मे अमरीका से चाँदी का आयात कम होने लगा, वैसे-वैसे ही इनके कीमत-स्तरो मे भी कमी होती चली गयी। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप ही इन देशो के कीमत-स्तरो मे वृद्धि हुई थी।

(2) ब्रिटेन मे सन् 1820 से सन् 1840 तक की अवधि मे वस्तुओ का उत्पादन बहुत बढ गया था। परन्तु मुद्रा की मात्रा मे उसी अनुपात मे वृद्धि नही की जा सकी थी। इसका कारण यह था कि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए ब्रिटेन के पास पर्याप्त सोना नही था। परिणामत ब्रिटेन का कीमत-स्तर नीचे गिर गया था।

(3) सन् 1844 के लगभग आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया (California) से बडे पैमाने पर सोने का निर्यात स्वर्णमान देशो को हुआ था जिसके परिणामस्वरूप इन देशो के कीमत-स्तरो मे वृद्धि हो गयी थी। परन्तु जब इन देशो मे सोने का आयात कम हो गया तब इनके कीमत-स्तरो मे भी कमी होनी शुरू हो गयी थी।

(4) सन् 1873 मे मेक्सिको (Mexico) मे चाँदी की नयी खानो की खोज की गयी जिससे रजतमान वाले देशो मे चाँदी का आयात बढ गया था। परिणामत इन देशो मे कीमते भी बढने लगी। भारत मे भी 19वी शताब्दी मे चाँदी के अधिकाधिक आयात के परिणामस्वरूप वस्तुओ की कीमते बढ गयी थी।

(5) सन् 1896 मे दक्षिणी अफ्रीका के ट्रान्सवाल (Transval) प्रान्त मे सोने की नयी-नयी खानो की खोज की गयी जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के देशो मे सोने का आयात बढ गया था। इससे यूरोप के देशो मे कीमतें बढने लगी।

(6) प्रथम विश्व युद्धकाल मे जर्मनी मे कागजी मुद्रा के अत्यधिक विस्तार के कारण मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो गयी तथा वस्तुओ की कीमते आकाश को चूमने लगी थी।

(7) सन् 1929 मे महामन्दीकाल मे लगभग सभी देशो मे मुद्रा-अवस्फीति (मुद्रा-संकुचन) के कारण वस्तुओ की कीमते बहुत नीचे गिर गयी।

(8) दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तथा इसके पश्चात भारत तथा अन्य देशो मे कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रसार के कारण वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमते बहुत बढ गयी थी।

उपर्युक्त उदाहरणो के अध्ययन से स्पष्ट है कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त बेकार नही है बल्कि इसमे सत्यता का बडा अश पाया जाता है। जैसा ऊपर कहा गया है, मोटे तौर पर यह सिद्धान्त देश के कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि यह सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के बीच कोई गणितात्मक सम्बन्ध स्थापित करने मे असमर्थ रहा है, परन्तु इससे इस सिद्धान्त की उपयोगिता बिलकुल समाप्त नही हो जाती है। जैसा पहले कहा गया है, एक प्रवृत्ति के द्योतक के रूप मे यह सिद्धान्त आज भी सत्य है।

(4) **केम्ब्रिज का मुद्रा परिमाण सिद्धान्त** (*Cambridge Quantity Theory of Money*)—केम्ब्रिज के अर्थशास्त्री प्रो० फिशर द्वारा की गयी मुद्रा सिद्धान्त की व्याख्या से सन्तुष्ट नही हैं। अत उन्होने इस सिद्धान्त की व्याख्या एक नये दृष्टिकोण से की है और इसको एक नये समीकरण के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। केम्ब्रिज के जिन अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को नये रूप मे प्रस्तुत किया है, उनके नाम इस प्रकार है—मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou), केनन (Cannan) हाट्रे (Hawtrey) तथा रॉबर्टसन (Robertson)। केम्ब्रिज के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आधारभूत विशेषताएँ निम्नलिखित है

(1) **समाज मे आय का एक निश्चित भाग नकद-कोष के रूप मे रखा जाता है**—प्रो० फिशर ने अपने समीकरण म मुद्रा की माँग को कुल व्यापारिक सौदो (business transactions) के

मूल्य के बराबर, अर्थात् $M=P \times T$ मान लिया था, **अर्थात् फिशर के अनुसार, मुद्रा का स्वय कोई उपयोग नहीं होता। इसकी माँग तो केवल वस्तुओ तथा सेवाओ के विनिमय के लिए ही की जाती है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा की कोई निजी माँग नहीं होती, बल्कि इसकी माँग तो इसलिए की जाती है, क्योकि यह विनिमय के माध्यम का काम करती है।** केम्ब्रिज के अर्थशास्त्री प्रो० फिशर के इस दृष्टिकोण से सहमत नही हैं। उनके कथनानुसार, मुद्रा की माँग के बारे मे प्रो० फिशर का विचार अवैज्ञानिक (unscientific) है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने पास कुछ न कुछ मुद्रा अवश्य रखना चाहता है। हो सकता है कि उसे तुरन्त किसी वस्तु की आवश्यकता आ पडे। यदि उसके पास मुद्रा नही है तो वह उस आवश्यकता को पूरा नही कर सकेगा। इसलिए अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक निश्चित भाग सदैव अपने पास नक्दी के रूप मे रखता है। इसी प्रकार व्यापारिक सस्थान (commercial firms) भी अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कुछ न कुछ रकम नकदी के रूप मे रखते है। उदाहरणार्थ, एक व्यापारिक सस्थान को कच्चा माल खरीदने तथा श्रमिको को मजदूरी चुकाने के लिए हर समय अपने पास कुछ न कुछ नकद रुपया रखना पडता है। इसी प्रकार सरकार को भी अपनी दैनिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए कुछ न कुछ रकम नकदी के रूप मे रखनी पडती है। **अत केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के अनुसार, मुद्रा की वह मात्रा जो सभी निजी व्यक्तियो, व्यापारिक संस्थानों तथा सरकार द्वारा अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए रखी जाती है, मुद्रा की माग कहलाती है।** केम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० केनन (Cannan) ने मुद्रा की माँग की व्याख्या करते हुए एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, "जिस प्रकार मकानो की वास्तविक माँग मकानो मे रहने वालो की होती है (मकानो के खरीदने व बेचने वालो या इसका व्यवसाय करने वालो की मकानो की माँग वास्तविक माँग नही होती) उसी प्रकार मुद्रा की वास्तविक माँग मुद्रा की वह मात्रा है जिसे लोग अपने खर्च चलाने के लिए अपने पास रखते है। दूसरे शब्दो मे वस्तुओ को खरीदने के लिए मुद्रा की माँग मकानो के खरीदने व बेचने वालो की माँग की तरह वास्तविक माँग नहीं होती, बल्कि मुद्रा की वास्तविक माँग मुद्रा की वह मात्रा होती है जो अपना खर्च चलाने के लिए लोगो द्वारा अपने पास रखी जाती है। इस प्रकार प्रो० फिशर तथा केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो मे मुद्रा की माँग के स्वरूप के विषय मे भारी मतभेद है। सक्षेप मे **प्रो० फिशर** के अनुसार **मुद्रा की माँग वस्तुओ को खरीदने व बेचने अथवा व्यावसायिक सौदो के लिए की जाती है।** इसके विपरीत, **केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की माँग मुद्रा की वह मात्रा होती है जिसे लोग अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए अपने पास रखते हैं।**

(2) **मुद्रा की माँग लोगो की तरलता-वरीयता (liquidity preference) पर निर्भर करती है**—एक व्यक्ति अपने धन को कई प्रकार से लगा सकता है। वह इस मकान जायदाद खरीदने मे लगा सकता है या इस धन से कम्पनियो के अश (Shares) खरीद सकता है या इससे वस्तुओ का स्टाक कर सकता है या इसे बैंक मे जमा करा सकता है। परन्तु जो धन मकान जायदाद खरीदने मे लगाया जाता है, वह तरल (liquid) नही रहता अर्थात यदि उस व्यक्ति को किसी समय नकदी की आवश्यकता पडती है तो वह उस मकान जायदाद को तुरन्त ही बेचकर नकद धन प्राप्त नही कर सकता क्योकि मकान जायदाद को बेचने मे कुछ समय अवश्य लग जाता है और फिर यह भी जरूरी नही कि जितना धन उसने मकान मे लगाया है, बेचने पर उसे उतना ही वापस मिल जायगा। इस प्रकार मकान-जायदाद मे लगाया गया धन तरल नही माना जा सकता। परन्तु कम्पनियो के शयस मे लगाया गया धन मकान जायदाद मे लगाये गये धन की अपेक्षा अधिक तरल होता है क्योकि शेयर्स को किसी भी समय स्टॉक एक्सचेंज (Stock exchange) पर बेचकर नकद रुपया प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु जो रुपया बैंक मे जमा किया जाता है, वह तो अत्यन्त तरल रूप मे होता है। उसे किसी भी समय बैंक से निकाला जा सकता है। परन्तु सबसे अधिक तरलता (liquidity) तो व्यक्ति के अपने पास रखे हुए नकद धन मे होती है, क्योकि उसे वह किसी भी समय किसी भी उपयोग मे लगा सकता है। वास्तव मे, प्रत्येक व्यक्ति मे अपने धन को यथासम्भव तरल रूप मे रखने की अभिलाषा होती है ताकि आवश्यकता पडने पर वह उसका उचित उपयोग कर सके। इसे व्यक्ति की तरलता वरीयता अथवा तरलता पसन्दगी (liquidity prefe-

rence) कहते हैं। **कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियों के अनुसार, व्यक्तियो में तरलता-वरीयता जितनी अधिक होती है, उतनी ही उनकी मुद्रा की माँग अधिक होती है, अर्थात् उतनी ही मात्रा में वे अधिक नकद धन अपने पास रखना चाहते हैं। इसके विपरीत, व्यक्तियो की तरलता-वरीयता जितनी कम होती है, उतनी ही उनकी मुद्रा की माँग कम होती है।** इस प्रकार कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो के अनुसार, मुद्रा की माँग पर तरलता-वरीयता का प्रभाव पडता है।

(3) **मुद्रा की माँग पर कई बातो का प्रभाव पडता है**—मुद्रा की माँग पर तरलता-वरीयता के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार की बातो का प्रभाव पडता है जो निम्नलिखित है

(अ) **आय-प्राप्ति की अवधि**—मुद्रा की माँग व्यक्तियो की आय-प्राप्ति की अवधि पर भी निर्भर करती है। व्यक्तियो की आय-प्राप्ति की अवधि जितनी अधिक लम्बी होगी, उतनी ही अधिक उनकी मुद्रा की माँग होगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को साप्ताहिक आधार पर वेतन मिलता है तो वह व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए अपने पास अधिक मात्रा मे मुद्रा नही रखेगा, अर्थात् उसकी मुद्रा की माँग कम होगी। इसके विपरीत, यदि किसी व्यक्ति को वेतन मासिक आधार पर मिलता है तो वह व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने पास अधिक मात्रा मे मुद्रा रखेगा, अर्थात् उसकी मुद्रा की माँग अधिक होगी।

(ब) **वस्तुओ की कीमतें**—यदि वस्तुओ की कीमतें बढ जाती है तो उन्हे खरीदने के लिए व्यक्तियो को अपने पास अधिक मुद्रा रखनी पडती है। इसके विपरीत, यदि वस्तुओ की कीमतें कम हो जाती है तो उन्हे खरीदने के लिए व्यक्तियो को अपने पास कम मात्रा मे मुद्रा रखनी पडती है।

(स) **राष्ट्रीय धन का वितरण**—जिस देश मे राष्ट्रीय धन का वितरण अधिक समान होता है वहाँ मुद्रा की माँग भी अधिक होती है, क्योकि ऐसे देश मे गरीब लोग भी अपने पास कुछ न कुछ मुद्रा रखने लगते है।

(द) **देश की जनसंख्या**—देश की जनसख्या जितनी अधिक होती है, मुद्रा की माँग भी उतनी ही अधिक होती है, क्योकि अपनी दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए लोगो द्वारा अधिक मात्रा मे मुद्रा रखी जाती है। इसके विपरीत, जनसख्या जितनी कम होती है, मुद्रा की माँग भी उतनी ही कम होती है।

(य) **व्यापार की दशा**—मन्दी काल मे व्यापार मे लाभ कम हो जाता है। इसलिए निर्माता (manufacturers) वस्तुओ का उत्पादन कम कर देते है और अपने पास स्टॉक भी कम रखते है। ऐसी परिस्थिति मे उत्पादक अपने व्यवसाय मे निवेश (investment) कम कर देंगे और अपने पास नकद रूप मे धन रखने लगेंगे। इसके अतिरिक्त, मन्दीकाल मे उपभोक्ता भी कम मात्रा मे वस्तुएँ खरीदने लगते है, क्योकि उन्हे यह आशा होती है कि भविष्य मे वस्तुओ की कीमतें और अधिक गिरेंगी। इस प्रकार उपभोक्ता भी अपने पास अधिक मात्रा में नकद धन रखने लगते हैं। परिणामत मुद्रा की माँग बढ जाती है। इसके विपरीत, तेजीकाल मे वस्तुओ की कीमतें बढ जाती है और उत्पादको के लाभ मे वृद्धि होने लगती है। इससे आकर्षित होकर उत्पादक लोग व्यवसाय मे और अधिक धन लगाने लगते है, यहाँ तक कि बैको से रुपया उधार लेकर भी अपने व्यवसाय का विस्तार करते है। इसके अतिरिक्त, वस्तुओ की बढती हुई कीमतो अथवा मुद्रा के गिरते हुए मूल्य के कारण उपभोक्ता भी अधिकाधिक मात्रा मे वस्तुओ को खरीदना आरम्भ कर देते है, क्योकि उन्हे यह भय रहता है कि भविष्य मे वस्तुओ की कीमते कही और अधिक नही बढ जायें। परिणामत मुद्रा की माँग कम हो जाती है। इस प्रकार हम देखते है कि मन्दीकाल में मुद्रा की माँग बढ जाती है (अर्थात् जनता की तरलता-वरीयता अधिक हो जाती है), जबकि तेजीकाल मे मुद्रा की माँग कम हो जाती है (अर्थात् जनता की तरलता-वरीयता कम हो जाती है)।

(र) **मुद्रा का सचलन-वेग** (*Velocity of Circulation of Money*)—मुद्रा के सचलन-वेग का भी इसकी माँग पर प्रभाव पडता है। यदि लोगो की तरलता-वरीयता अधिक होती है तो वे विनिमय हेतु मुद्रा का अधिक प्रयोग नहीं करेंगे और इस प्रकार मुद्रा का सचलन-वेग कम हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि लोगो की तरलता-वरीयता कम है तब वे विनिमय हेतु

मुद्रा का अधिकाधिक प्रयोग करेंगे। इस प्रकार मुद्रा का संचलन-वेग बढ जायगा। इस परिस्थिति मे मुद्रा की अल्प-मात्रा से ही बहुत अधिक मात्रा मे विनिमय कार्य किया जा सकेगा। इस प्रकार जब मुद्रा का संचलन-वेग अधिक होता है तब मुद्रा की माँग अधिक होती है। इसके विपरीत, जब मुद्रा का संचलन-वेग कम होता है तब मुद्रा की माँग कम होती है। जब मुद्रा का संचलन-वेग कम होता है तब लोगो के पास अधिक मात्रा मे नकद मुद्रा रहती है, अर्थात् मुद्रा की माँग अधिक होती है। विनिमय कार्यों के लिए मुद्रा का उपयोग कम होता है, वस्तुओ की माँग कम हो जाती है और अन्तत उनकी कीमतो मे कमी हो जाती है। इसके विपरीत, जब मुद्रा का संचलन-वेग अधिक होता है तब लोगो के पास कम मात्रा मे नकद मुद्रा रहती है, अर्थात् मुद्रा की माँग कम हो जाती है। विनिमय कार्य के लिए मुद्रा का उपयोग बढ जाता है, वस्तुओ की माँग बढ जाती है और अन्तत वस्तुओ की कीमतें बढ जाती हैं।

(ख) लेन-देन के रस्मो-रिवाज—मुद्रा की माँग देश मे लेन-देन के रस्मो-रिवाज पर भी निर्भर करती है। यदि लेन-देन मे चैको, हुण्डियो एवं विनिमय-विपत्रो, जैसे साख-पत्रो का अधिक प्रयोग होता है तो इससे मुद्रा की माँग कम हो जाती है। इसके विपरीत, यदि लेन-देन मे साख-पत्रो का प्रयोग कम होता है तो इससे मुद्रा की माँग बढ जाती है। इसी प्रकार यदि देश मे उधार मिलने की सुविधाओ मे वृद्धि हो जाती है तो इससे मुद्रा की माँग कम हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा परिमाण के केम्ब्रिज समीकरण के अनुसार, किसी देश मे मुद्रा की माँग वहाँ के व्यापारिक सौदो की मात्रा पर निर्भर नही करती, बल्कि कई प्रकार के अन्य तथ्यो से प्रभावित होती है। प्रो० फिशर ने अपने समीकरण मे तो मान लिया था कि मुद्रा की माँग केवल देश के व्यापारिक सौदो की मात्रा के ही बराबर होती है, परन्तु केम्ब्रिज के अर्थशास्त्री प्रो० फिशर की इस धारणा से सहमत नही हैं। अतएव उन्होने अपने समीकरण से मुद्रा की माँग को एक नये रूप मे प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो का मुद्रा की माँग का विचार फिशर के मुद्रा-माँग के विचार के बिलकुल विपरीत है। चूंकि केम्ब्रिज परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की माग पर अधिक बल देता है, इसलिए कभी-कभी इसे मुद्रा को माँग का सिद्धान्त (Demand theory of money) कहकर भी पुकारा जाता है। प्रो० फिशर ने अपने समीकरण मे माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल दिया था।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का केम्ब्रिज समीकरण—(Cambridge Equation of the Quantity Theory of Money)—मार्शल तथा अन्य केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो ने परिमाण सिद्धान्त का एक नया समीकरण प्रस्तुत किया है जो निम्नलिखित है

$$P = \frac{M}{KR}$$

इस समीकरण मे P=सामान्य कीमत-स्तर, M= मुद्रा की इकाइयो की सख्या, R= समाज की कुल वास्तविक आय, K, R का वह अनुपात है जिसे लोगो द्वारा मुद्रा के रूप मे रखा जाता है। M अर्थात मुद्रा की इकाइयो की संख्या=KR और प्रति इकाई मुद्रा का मूल्य$=\frac{KR}{M}$

चूंकि मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत-स्तर के प्रतिकूल अनुपात मे बदलता है, इसलिए P अर्थात् कीमत-स्तर$=\frac{M}{KR}$

मान लीजिए R=500 क्विण्टल चावल, K$=\frac{1}{10}$और M=1000 रुपये हैं।

ऐसी परिस्थिति मे मुद्रा का मूल्य या क्रय-शक्ति$=\frac{500\times\frac{1}{10}}{1000}=\frac{1}{2}$ क्विण्टल चावल

होगा, कीमत-स्तर अर्थात P$=\frac{1000}{500\times\frac{1}{10}}$ 20 रुपये प्रति क्विण्टल।

केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो के मतानुसार मुद्रा का कार्य केवल वस्तुओ को खरीदना ही नही बल्कि वस्तुओ के मूल्य का सचय भी करना है। इसके अलावा, मुद्रा की माँग व्यावसायिक सौदो

पर निर्भर नही करती, बल्कि यह तो लोगो की नगदी की माँग पर निर्भर रहती है। जैसा विदित है, लोग प्राय अपनी आय का एक निश्चित भाग नगदी के रूप मे अपने पास रखते है, यही उनकी मुद्रा की माँग होती है। इस प्रकार जब लोग अपने पास कुछ रकम नगदी के रूप मे रखते हैं, तब इसका यह अभिप्राय होता है कि वे मुद्रा के रूप मे वस्तुओ तथा सेवाओ को अपने पास जमा रखते है, अर्थात् मौद्रिक आय द्वारा लोग जितनी वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकते हैं, वह उनकी वास्तविक आय होती है और जब वे अपनी मौद्रिक आय का कुछ भाग अपने पास नगदी के रूप मे रखते है तब इसका अभिप्राय यह होता है कि वे अपने पास मुद्रा के रूप मे अपनी *वास्तविक आय का कुछ भाग जमा कर लेते हैं।*

केम्ब्रिज समीकरण की श्रेष्ठता (Superiority of Cambridge Equation)—एक दृष्टि से केम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण से श्रेष्ठ है। केम्ब्रिज समीकरण अल्पकालीन परिवर्तनो के प्रभाव को भी व्यक्त करता है, जबकि फिशर समीकरण केवल दीर्घकालीन परिवर्तनो को ही महत्त्व देता है। उदाहरणार्थ, मन्दीकाल मे, केम्ब्रिज समीकरण के अनुसार, कीमतें इसलिए नीचे गिरने लगती है क्योकि ऐसे समय लोग अपने पास अधिक नगद-कोष जमा करना आरम्भ कर देते हैं। इससे मुद्रा की माँग बढ जाती है और उसका मूल्य भी बढ जाता है अथवा कीमतें गिर जाती हैं। इसी प्रकार अत्यधिक स्फीति के समय लोग अपने पास नगद-कोष रखना कम कर देते है अथवा बन्द कर देते है जिससे मुद्रा की माँग गिर जाती है इसका मूल्य गिर जाता है अथवा कीमते बढ जाती है। लेकिन अल्पकालीन परिस्थितियो मे होने वाले इस प्रकार के परिवर्तन फिशर के समीकरण के क्षेत्र मे नही आते। फिशर का समीकरण तो केवल दीर्घकालीन परिवर्तनो को ही महत्त्व देता है।

प्रो० पीगू द्वारा केम्ब्रिज समीकरण मे संशोधन—केम्ब्रिज समीकरण के मौलिक रूप मे प्रो० पीगू ने *थोडा सशोधन करके इसे और अधिक स्पष्ट बना दिया है। समीकरण के मौलिक रूप मे* जनता द्वारा बैंको मे जमा-राशि को नगद कोषो मे ही सम्मिलित कर दिया गया था, किन्तु समीकरण के सशोधित रूप मे प्रो० पीगू ने बैंक निक्षेपो को पृथक स्थान दिया है। समीकरण का संशोधित रूप *निम्नलिखित है*

$$P=\frac{KR}{M}\ [C+h(I-C)]$$

उपर्युक्त समीकरण मे दो नवीन चिह्न सम्मिलित किये गये हैं। C का तात्पर्य उस नगद राशि से है जो जनता स्वय अपने पास रखती है और h से अभिप्राय नगद राशि के उस भाग से है जिसे बैंको मे जमा के रूप मे रखा जाता है। लेकिन समीकरण के मूल एव सशोधित रूप मे कोई आधारमूलक अन्तर नही है। सशोधित रूप अधिक स्पष्ट है। इसम बैंको मे जमा-राशि को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। परन्तु व्यवहार मे प्राय मूल समीकरण का ही प्रयोग किया *जाता है, क्योकि प्रारम्भ से ही बैंक जमा-राशिया को नगद-कोष के रूप मे स्वीकार किया जाता* रहा है।

केम्ब्रिज समीकरण की आलोचना—यद्यपि केम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण से श्रेष्ठ है, लेकिन इसमें भी कुछ त्रुटियाँ पायी जाती है

(क) वास्तविक आय को **सही-सही मापना कठिन है**—जैसा हम देख चुके हैं फिशर समीकरण के T को मापना बहुत ही कठिन समस्या है। T के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओ एव सेवाओ को सम्मिलित किया गया है जिनका उत्पादन देश मे किया जाता है। ये वस्तुएँ एव सेवाएँ विभिन्न प्रकार की होती है और उन्हे एक पैमाने से मापकर किसी एक इकाई समूह मे नही रखा जा सकता। उदाहरणार्थ, देश मे उत्पन्न किये गये तेल कोयले एव कपडे को एक ही इकाई समूह मे प्रकट नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि तेल को लिटरो मे, कोयले को मीट्रिक टनो मे और कपडे को मीटरो मे मापा जाता है। इस प्रकार देश मे उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओ एव सेवाओ को एक ही पैमाने से नही मापा जा सकता। ठीक इसी प्रकार केम्ब्रिज समीकरण के R को मापना भी एक कठिन समस्या है। इसके अन्तर्गत देश की कुल वास्तविक

आय अथवा देश मे उत्पन्न की गयी वस्तुओ एव सेवाओ को सम्मिलित किया गया है। दूसरे शब्दो मे, केम्ब्रिज समीकरण मे भी वही त्रुटि पायी जाती है जो फिशर के समीकरण मे विद्यमान है।

(ख) इस समीकरण मे ऋण के कारण उत्पन्न होने वाले बैंक निक्षेपो की उपेक्षा की गयी है—जैसा विदित है, बैंक को दो प्रकार के निक्षेप (deposits) प्राप्त होते हैं। प्रथम, वे निक्षेप जो लोग अपनी वर्तमान आय मे से धन बचाकर बैंको मे जमा कराते हैं। दूसरे, वे निक्षेप जो बैंको द्वारा ऋण दिये जाने पर उत्पन्न होते हैं। स्मरण रहे कि जब बैंक किसी व्यक्ति को ऋण देता है तो वह व्यक्ति उस ऋण को पूर्णत अथवा अशत उसी बैंक मे अपने खाते में जमा करा देता है और आवश्यकतानुसार उसे उपयोग मे लाता है। इस प्रकार ऋण देने पर बैंक को निक्षेप भी प्राप्त होते हैं। अब केम्ब्रिज समीकरण मे केवल पहली प्रकार के निक्षेपो को ही नगद-कोषो मे सम्मिलित किया गया है। दूसरी प्रकार के निक्षेपो की पूर्ण उपेक्षा की गयी है जबकि वास्तविकता यह है कि बैंको के अधिकाश निक्षेप ऋणो के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होते है।

प्रो० फिशर तथा केम्ब्रिज-अर्थशास्त्रियो के विचारो का अन्तर—प्रो० फिशर तथा केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो के विचारो मे दो आधारभूत अन्तर है

(1) प्रो० फिशर के अनुसार, मुद्रा की माँग विनिमय साध्य वस्तुओं (exchangeable goods) की मात्रा मे निर्धारित होती है, अर्थात् मुद्रा की माँग व्यापार की मात्रा T से निश्चित होती है, परन्तु केम्ब्रिज-अर्थशास्त्रियो के अनुसार, मुद्रा की माँग लोगो की आय का वह भाग होती है जिसे वे अपने पास नगद रूप मे रखते हैं।

(2) प्रो० फिशर का परिमाण सिद्धान्त दीर्घकालीन और एक समय-अवधि से सम्बन्धित है, परन्तु केम्ब्रिज-अर्थशास्त्रियो का परिमाण सिद्धान्त अल्पकालीन है और केवल एक क्षण से ही सम्बन्धित है।

इन दो अन्तरो के होते हुए भी ये दोनो सिद्धान्त परस्पर विरोधी नही कहे जा सकते बल्कि ये दोनो सिद्धान्त एक ही समस्या के दो अलग रूपो का अध्ययन करते हैं।

केम्ब्रिज समीकरण मे प्रो० केन्ज द्वारा किया गया सशोधन केम्ब्रिज-अर्थशास्त्रियो के उक्त समीकरण मे प्रो० केन्ज ने सशोधन करके इसे निम्न रूप मे अपनी पुस्तक "A Tract on Monetary Reform" मे प्रस्तुत किया है

$$n = p(k + rk')$$

इस समीकरण मे n= मुद्रा की मात्रा, p= सामान्य कीमत स्तर, k= उपभोग की इकाइयां जिनके लिए क्रय-शक्ति लोगो द्वारा मुद्रा के रूप मे रखी जाती है, r= बैंको के नगद-कोष तथा जमा राशि (deposits) का अनुपात अर्थात् बैंको द्वारा अपने निक्षेपो के पीछे रखी गयी नगद राशि का अनुपात और k'= उपभोग की इकाइयो की वह मात्रा जिसके लिए क्रय शक्ति को साख मुद्रा के रूप मे सचित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे k' से अभिप्राय बैंको की उस जमा राशि से है जिसे चैको द्वारा निकाला जाता है।

प्रो० केन्ज के अनुसार, लोग अपने पास कुछ न कुछ मुद्रा सदैव रखते हैं ताकि इससे वे अपनी उपभोग की वस्तुएँ खरीद सकें। ऐसी मुद्रा को प्रो० केन्ज ने उपभोग की इकाइयाँ कहा है। प्रो० केन्ज ने उक्त समीकरण मे यह मान लिया है कि k उपभोग इकाइयो को लोग मुद्रा के रूप मे अपने पास रखते हैं और k' उपभोग इकाइयो को बैंको मे जमा (deposits) के रूप मे रखते हैं। उनके अनुसार बैंक भी अपनी समूची जमा को नगद कोष के रूप मे नही रखते, बल्कि कुल जमा के एक अश को ही नगद-कोष के रूप मे रखते हैं। प्रो० केन्ज ने इस प्रकार के नगद-कोष को r का नाम दिया है। मुद्रा की कुल मात्रा को n के बराबर रखा गया है और एक उपभोग इकाई का मूल्य p माना गया है। प्रो० केन्ज ने उक्त समीकरण मे k, k' तथा r को लगभग स्थिर ही मान लिया है क्योकि इन तीनो मे अल्पकाल मे कोई परिवर्तन नही होता। इसका कारण यह है कि अल्पकाल मे लोगो मे अपने पास नगद धन रखने की आदत मे परिवर्तन नही होता और न ही बैंको द्वारा रखे गये नगद कोषो मे ही अल्पकाल मे किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, इसलिए प्रो० केन्ज ने k, k' तथा r को अल्पकाल मे स्थिर मान लिया है। यदि k, k' तथा r स्थिर मान लिये जाते हैं तो p अर्थात् कीमत-स्तर मे परिवर्तन n मे हुए परिवर्तनो के

अनुसार ही होंगे, अर्थात यदि n मे वृद्धि होती है, तो p मे भी वृद्धि होगी। इसके विपरीत, यदि n मे कमी हो जाती है तो p मे भी कमी हो जायगी। परन्तु यह भी सम्भव है कि n मे वृद्धि होने पर p मे वृद्धि न हो क्योंकि n मे वृद्धि होने से k मे भी वृद्धि हो सकती है। इसी प्रकार यह भी सम्भव हो सकता है कि n मे वृद्धि होने पर k' मे कमी हो जाय और परिणामत कीमत-स्तर (p) मुद्रा की मात्रा (n) की तुलना मे कही अधिक बढ जाय। इसी प्रकार बैंक भी (r) को कम करके कीमत-स्तर (p) को बढा सकते है और (r) को अधिक करके कीमत-स्तर (p) को घटा सकते हैं। इस तरह लोगो की अपने पास नकदी के रूप मे मुद्रा रखने की प्रवृत्ति तथा बैंको की अपने पास नकद-कोष रखने की नीति का देश के कीमत-स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य पर अवश्य ही प्रभाव पडता है। प्रो० केन्ज के उक्त समीकरण मे विधिग्राह्य मुद्रा के साथ साथ साख-मुद्रा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया गया है कि साख-मुद्रा भी कीमत-स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करती है।

प्रो० केन्ज के समीकरण के गुण तथा दोष—*प्रो० केन्ज के उक्त समीकरण मे कुछ विशेष गुण पाये जाते है। प्रथम, प्रो० केन्ज के अनुसार, किसी देश मे मुद्रा की माँग उस देश मे उत्पन्न होने वाली वस्तुओ तथा सेवाओ पर निर्भर नही करती, बल्कि मुद्रा की माँग तो जनता की नकदी के रूप मे मुद्रा रखने की प्रवृत्ति पर आश्रित रहती है। दूसरे, देश का कीमत-स्तर लोगो की उपभोग सम्बन्धी आदतो पर निर्भर रहता है। इस समीकरण के अनुसार, कीमत-स्तर इस बात पर निर्भर रहता है कि लोग अपनी आय का कितना भाग वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने के लिए अपने पास नकदी के रूप मे रखते हैं।*

परन्तु प्रो० केन्ज के उक्त समीकरण मे कुछ दोष भी पाये जाते हैं। प्रथम, इस समीकरण मे k तथा k' की सही-सही माप नही की जा सकती, अर्थात् हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपनी आय का कितना भाग नकदी के रूप मे अपने पास रखते है और कितना भाग बैंको मे जमा के रूप मे रखते हैं। इस प्रकार k, k' की अनिश्चितता के कारण इस समीकरण का व्यावहारिक महत्त्व कम हो जाता है। दूसरे, उपर्युक्त समीकरण मे मुद्रा के सचलन-वेग को कोई स्थान नही दिया गया है। तीसरे इस समीकरण मे केवल प्रचलित उपभोग (current consumption) की इकाइयो पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, अर्थात् इस समीकरण मे (p) हमे केवल प्रचलित उपभोग की वस्तुओ की कीमतो का ही ज्ञान कराती है। व्यावहारिक जीवन मे मुद्रा का प्रयोग प्रचलित उपभोग के लिए ही नही, बल्कि निवेश (investment), सट्टा एव आकस्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी किया जाता है। इस प्रकार इस समीकरण की (p) मुद्रा की वास्तविक क्रय-शक्ति को व्यक्त करने मे असमर्थ रहती है। चौथे, यह समीकरण स्पष्टत यह नही बताता कि बैंक-दर मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप (k') पर क्या प्रभाव पडता है और न ही यह समीकरण यह बताता है कि बंक दर के परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के निक्षेपो (अर्थात् बचत चालू तथा निश्चित अवधि निक्षेपो) के पारस्परिक अनुपात पर क्या प्रभाव पडता है।

प्रो० केन्ज तथा प्रो० फिशर के समीकरणो की तुलना—ऊपर हमने प्रो० फिशर तथा प्रो० केन्ज के समीकरणो का अध्ययन किया है। जैसा स्पष्ट है प्रो० केन्ज तथा प्रो० फिशर के दृष्टिकोणो मे आधारभूलक अन्तर है

(1) प्रो० फिशर का समीकरण व्यापारिक सौदो (business transactions) पर आधारित है, जबकि प्रो० केन्ज का समीकरण नकद-कोषो (cash balances) पर निर्मित किया गया है।

(2) प्रो० फिशर के अनुसार, मुद्रा की माँग व्यापार की मात्रा अथवा देश मे उत्पन्न की गयी वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा पर निर्भर करती है। परन्तु प्रो० केन्ज के अनुसार, मुद्रा की माँग लोगो की तरलता-वरीयता (liquidity preference) पर निर्भर करती है।

(3) प्रो० फिशर के समीकरण मे मुद्रा के सचलन-वेग को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जबकि प्रो० केन्ज के समीकरण मे इसे बिलकुल कोई स्थान नही दिया गया है।

(4) प्रो० फिशर का दृष्टिकोण दीर्घकालीन है, जबकि प्रो० केन्ज का दृष्टिकोण अल्पकालीन है।

प्रो० फिशर तथा प्रो० केन्ज के समीकरणों में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी इनमें कुछ समानता है। वास्तव में, ये दोनों समीकरण एक ही वस्तु के दो पृथक-पृथक दृष्टिकोण बताते हैं। प्रो० केन्ज का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा की ओर सकेत करता है जो एक निश्चित समय में लोगों के पास नकदी के रूप में रहती है। प्रो० फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा की ओर सकेत करता है जो किसी निश्चित समय मे समाज के लेन-देन के लिए आवश्यक समझी जाती है। इस प्रकार प्रो० केन्ज का समीकरण एक समय-बिन्दु से सम्बन्धित है और प्रो० फिशर का समीकरण एक समय-अवधि से सम्बन्धित है।

(5) केन्ज द्वारा मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का पुनर्निर्माण अथवा केंज का मुद्रा एवं कीमतों का सिद्धांत (Reconstruction of the Quantity Theory of Money or Keynes' Theory of Money and Prices)—क्लासीकल अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार मे की है। मोटे तौर पर इस सिद्धान्त के दो मुख्य रूपान्तर है जिनमें से एक को मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का 'स्ट्रिक्ट' (strict) और दूसरे को 'नौट-सो-स्ट्रिक्ट' (not-so-strict) रूपान्तर कहा जा सकता है। स्ट्रिक्ट रूपान्तर के अनुसार, एक ओर तो मुद्रा की मात्रा और दूसरी ओर कीमत-स्तर मे गणितात्मक सम्बन्ध (mathematical relationship) होता है। यदि मुद्रा की मात्रा को दो गुना कर दिया जाय तो कीमत-स्तर भी दो गुना हो जाता है। 'नौट-सो-स्ट्रिक्ट' रूपान्तर के अनुसार मुद्रा की मात्रा एव कीमत-स्तर मे कोई सही-सही एवं निश्चित सम्बन्ध नही होता है। यदि मुद्रा की मात्रा को दो गुना कर दिया जाय तो हो सकता है कि कीमत-स्तर दो गुना न हो, सम्भव है कि वह दो गुने से भी अधिक हो जाय। 'नौट-सो-स्ट्रिक्ट' रूपान्तर केवल यही प्रदर्शित करता है कि यदि मुद्रा की पूर्ति (M) में वृद्धि होती है तो कीमत-स्तर (P) भी ऊँचा उठता है, और यदि मुद्रा की पूर्ति (M) मे गिरावट आती है तो कीमत-स्तर (P) भी गिर जाता है। यह रूपान्तर सही-सही यह स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर किस अनुपात मे परिवर्तित होता है।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, पाठकों को एक आवश्यक बात बड़ी सावधानी से समझ लेनी चाहिए। वह यह है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त भी अन्य सभी क्लासीकल सिद्धान्तों की भाँति पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है। इस प्रकार की मान्यता पूर्ण रूप से अनावश्यक है। प्रो० केन्ज ही इसको चुनौती देने का साहस कर सके हैं। केन्ज का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार के बजाय न्यून-रोजगार सन्तुलन (under-employment equilibrium) से सम्बन्धित है। पूर्ण रोजगार की मान्यता के आधार पर क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के लिए यह कह सकना सरल था कि मुद्रा-पूर्ति-प्रसार के तुरन्त बाद ही कीमत-स्तर ऊँचा हो जाता है। पहले ही से पूर्ण रोजगार होने के कारण उत्पादन मे अधिक वृद्धि की कोई सम्भावना नहीं रहती (क्योंकि आर्थिक ससाधन एव मानव शक्ति पहले ही से पूर्णरूपेण कार्य सलग्न होते है)। अत मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि कीमत-स्तर पर अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। स्मरण रहे कि कीमत स्तर, मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनों से शीघ्र ही प्रभावित होता है। यही कारण है कि मुद्रा-पूर्ति-प्रसार के तुरन्त बाद ही कीमत-स्तर मे वृद्धि हो जाती है। यदि पूर्ण रोजगार की क्लासीकल मान्यता सही होती तो यह व्याख्या भी पूर्ण रूप से सही होती।

केन्ज क्लासीकल अर्थशास्त्रियों से यहाँ तक तो पूर्णत सहमत थे कि मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि कीमत-स्तर मे वृद्धि उत्पन्न करती है, किन्तु वह इस बात पर सहमत नहीं थे कि मुद्रा पूर्ति की वृद्धि किस प्रकार कीमत-स्तर की वृद्धि का कारण बनती है, अर्थात् उनमे तथा क्लासीकल अर्थशास्त्रियों मे 'कारण-प्रक्रिया' (causal process) के सम्बन्ध मे मतभेद था। क्लासीकल अर्थशास्त्रियों का मत यह था कि मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि कीमत-स्तर को **प्रत्यक्ष रूप से** बढाती है।

केन्ज का मत यह था कि कीमत-स्तर की वृद्धि मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि के कारण प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती, बल्कि उसकी वृद्धि ब्याज-दर, आय, उत्पादन एव रोजगार के माध्यम से होती है। प्रो० केन्ज का कथन था कि मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि का पहला प्रभाव यह होता है कि वह ब्याज-दर को गिरा देती है। ब्याज की नीची दर निवेश को प्रोत्साहित करती है। जब मुद्रा सस्ती हो जाती है (अथवा ब्याज-दर गिर जाती है) तो व्यवसायी अपने निवेशों का अधिक विस्तार करने लगते हैं, और बढे हुए निवेशों के कारण आय भी बढ जाती है। इस प्रक्रिया के अग्रसित होने पर उत्पादन एव रोजगार मे भी वृद्धि होती चली जाती है जिसके फलस्वरूप लागतें भी बढ जाती हैं। कच्चे माल

एवं अन्य सहायक पदार्थों की कीमतें तथा मजदूरियाँ बढ़ जाती हैं। लागतों मे वृद्धि हो जाने से निर्मित माल की कीमतें बढ जाती हैं। इस प्रकार आप देखेंगे कि प्रो० केंज के अनुसार मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि कीमत-स्तर को प्रत्यक्ष रूप से ऊँचा नही उठाती है, अर्थात् मुद्रा-पूर्ति कीमत-स्तर को अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित करती है। अत मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का क्लासीकल रूप मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनो से उत्पन्न कीमतो के परिवर्तनो के अध्ययन मे ब्याज-दर के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

यही नही, जैसा हम पहले भी कह आये हैं, प्रो० केंज पूर्ण-रोजगार की मान्यता को भी स्वीकार नही करते हैं। वह बेरोजगारी नाम की अधिक यथार्थ मान्यता को लेकर चलते हैं। पूर्ण-रोजगार की मान्यता का परित्याग करते ही इस सिद्धान्त का स्ट्रिक्ट क्लासीकल रूप स्वत ही पूर्णत अशक्त हो जाता है।

अब आप मान लीजिए कि मुद्रा की पूर्ति को बढाते समय अर्थ-व्यवस्था मे बड़ी भारी बेरोजगारी फैली हुई है, तो उपरोक्त व्याख्या के अनुसार, बढी हुई मुद्रा-पूर्ति के कारण ब्याज-दर गिर जाएगी। चूंकि आर्थिक ससाधन एव मानव-शक्ति बेकार पडे हैं, अत ब्याज की नीची दर निवेश एव उत्पादन मे वृद्धि करेगी। यदि ऐसे अवसर पर अर्थ-व्यवस्था मे और अधिक मुद्रा का निर्गमन किया जाता है तो उत्पादन और भी अधिक बढ जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा पूर्ति की सभी अतिरिक्त वृद्धियो (additional increases) से बेकार ससाधनो को काम मिलता चला जाता है तथा उत्पादन तब तक बढता चला जाता है जब तक कि पूर्ण रोजगार की दशा उत्पन्न नही हो जाती है, अर्थात् यह वृद्धि तब तक होती रहती है जब तक कि सभी ससाधनो को काम नही मिल जाता। प्रो० केंज का कथन है कि यदि मुद्रा पूर्ति का प्रसार पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से भी आगे चला जाता है तो परिणाम "वास्तविक मुद्रा स्फीति" (true-inflation) होता है। अत जब तक पूर्ण-रोजगार की दशा उत्पन्न नहीं होती है तब तक वास्तविक मुद्रा स्फीति का होना सम्भव नही है। इस पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से पूर्व मुद्रा का जितना भी प्रसार होता है, वह कीमत-स्तर मे वृद्धि न करके, केवल उत्पादन मे ही वृद्धि करता है। इस बिन्दु से परे, जितनी भी अतिरिक्त मुद्रा का निर्गमन किया जाता है, उससे उत्पादन मे वृद्धि न होकर, कीमत स्तर मे ही वृद्धि होती है। पूर्ण-रोजगार-बिन्दु के प्राप्त होते ही उत्पादन स्थिर (stable) हो जाता है और केवल कीमत-स्तर ही मुद्रा पूर्ति प्रसार के साथ-साथ बढता है। इस प्रसग मे **वास्तविक मुद्रा-स्फीति तभी आरम्भ होती है जबकि मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनो के प्रत्युत्तर मे उत्पादन की पूर्ति की लोच शून्य हो जाती है** (*True inflation may be said to begin when the elasticity of the supply of output in response to changes in the supply of money falls to zero*)

यही बिन्दु जहाँ पर मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनो के प्रत्युत्तर मे उत्पादन की पूर्ति की लोच शून्य हो जाती है, पूर्ण-रोजगार का बिन्दु (the point of full employment) कहलाता है। प्रो० केंज के अनुसार पूर्ण-रोजगार-बिन्दु की प्राप्ति के उपरान्त ही वास्तविक मुद्रा-स्फीति का प्रारम्भ होता है। पूर्ण-रोजगार-बिन्दु की प्राप्ति के पश्चात ही सिद्धान्त का स्ट्रिक्ट रूपान्तर लागू होता है। इस बिन्दु पर मुद्रा पूर्ति के किसी भी प्रसार के तुरन्त बाद कीमत-स्तर भी उतना ही ऊँचा हो जाता है (यह मानते हुए कि फिशर के समीकरण की 'V' स्थिर रहती है)। जब तक मुद्रा-प्रचलन वेग (velocity of circulation) स्थिर रहती है, तब तक इस सिद्धान्त का स्ट्रिक्ट रूप कार्यशील रहता है। किन्तु 'V' सदा ही स्थिर नही रहती है (अथवा 'V' कभी-कभी ही स्थिर रहती है)। जब कीमत-स्तर इतनी तेजी से ऊँचा उठ रहा होता है तो 'V' के स्थिर रहने की आशा नही की जा सकती है। उस समय मुद्रा-प्रचलन के वेग का बढ जाना अनिवार्य ही होता है। जब कीमत स्तर इतनी शीघ्रतापूर्वक ऊँचा उठ रहा होता है अथवा मुद्रा का मूल्य इतनी तेजी से नीचे गिर रहा होता है तब उस समय लोग रुपये को अपने पास रखना पसन्द नही करते, जैसे ही रुपया उनके पास आता है वैसे ही वे उसको व्यय कर देते है। ऐसे अवसर पर मुद्रा एक ऐसी परिसम्पत्ति (asset) का रूप धारण कर लेती है जिसका मूल्य प्रति क्षण गिरता चला जाता है। लोग अपनी मुद्रा से ऐसी वस्तुओ को खरीदना पसन्द करने लगते हैं जिनकी कीमतो मे वृद्धि हो रही होती हैं। अत प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा को प्राप्त करते ही उससे छुटकारा पाना चाहता है। किन्तु जब सभी लोग इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं तो मुद्रा का प्रचलन-वेग बढ जाता है और पूर्व-

कथनानुसार 'V' ऊँची उठ जाती है। इस प्रकार यदि पूर्ण-रोजगार-बिन्दु के उपरान्त 'M' में निरन्तर वृद्धि होती है और इसके साथ ही साथ 'V' भी निरन्तर बढती है, तो सरपट-स्फीति (hyper inflation) की दशा उत्पन्न हो जायगी और सिद्धान्त का 'स्ट्रिक्ट' रूप पुन परिस्थिति की व्याख्या कर सकने मे असफल हो जायगा। ऐसा क्यो होता है? 'स्ट्रिक्ट' रूपान्तरण के अनुसार, कीमत-स्तर मुद्रा-पूर्ति के परिवर्तनो के अनुपात मे ही परिवर्तित होता है। अब यहाँ एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमे कीमत-स्तर मुद्रा-पूर्ति-प्रसार के अनुपात से भी बहुत अधिक ऊँचा हो जाता है। ऐसी दशा मे सिद्धान्त का 'स्ट्रिक्ट' रूपान्तर पुन असफल हो जाता है। वास्तव मे 'नौट-सो-स्ट्रिक्ट' रूपान्तर ऐसे अवसर पर भी क्रियाशील होता है क्योकि इसके अनुसार मुद्रा-पूर्ति एव कीमत-स्तर मे कोई निश्चित स्पष्ट एव स्थिर सम्बन्ध नही होता है। पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से पहले भी नौट-सो-स्ट्रिक्ट व्याख्या क्रियाशील हो सकती है क्योंकि पूर्ण-रोजगार की प्राप्ति से पूर्व भी कीमत-स्तर वृद्धि की पर्याप्त सम्भावना होती है। इस प्रकार दोनो ही रूपान्तरो (strict and not-so-strict) मे से 'नौट-सो-स्ट्रिक्ट' रूपान्तर अधिक अच्छा, यथार्थ एव स्वीकृति के योग्य है।

ऊपर हमने मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर मे होने वाली वृद्धि की उस सम्भावना को व्यक्त किया है जो पूर्ण-रोजगार के बिन्दु पर पहुँचने मे पहले भी घटित हो सकती है। पाठक सम्भवत इस व्याख्या को पिछले अनुच्छेदो म की गया व जियन व्याख्या स प्रत्यक्ष उलटा ही समझेंगे। प्रो० कैंज की धारणा यही तो है कि जब तक पूर्ण-राजगार बिन्दु प्राप्त नही होता तब तक मुद्रा-पूर्ति की समस्त वृद्धि उत्पादन को तो बढाती है, किन्तु कीमत-स्तर को नही। परन्तु यह परिणाम इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी के समय उत्पादन के साधनो की पूर्ति पूर्णत लोचदार होती है। दूसरे शब्दो मे, जब उत्पादन का प्रसार हो रहा हो तब रोजगार के लिए उत्पादन के विभिन्न साधन सरलता से मिल जाने चाहिए ताकि उत्पादन की गति धीमी न पडे और मुद्रा की बढती हुई पूर्ति के दबाव के फलस्वरूप कीमत-स्तर मे वृद्धि न हो सके। प्रो० कैंज की उक्त धारणा इस मान्यता पर भी आधारित है कि उत्पादन, ह्रासमान-प्रतिफल नियम (Law of Diminishing Returns) अथवा बढ़ती हुई लागत नियम (Law of Increasing Costs) से प्रभावित नहीं होता है। यदि ये मान्यतायें सत्य हैं तो प्रो० कैंज द्वारा प्रतिपादित उक्त धारणा भी पूर्णत सत्य होनी चाहिये। यह भलीभाँति ज्ञात है कि व्यवहार मे न तो पहली और न ही दूसरी मान्यता क्रियाशील होती है। यह आशा नही की जा सकती है कि बढते हुए उत्पादन के अनुसार उत्पादन के साधनो की पूर्ति भी पूर्णतया लोचदार होगी और न ही यह आशा की जा सकती है कि उत्पादन, ह्रासमान प्रतिफल नियम अथवा बढ़ती हुई लागत नियम के अनुसार नही होगा। चूँकि ये मान्यतायें सत्य नही हैं, अत उत्पादन-वृद्धि के साथ ही साथ लागतें भी ऊँची उठने लगती हैं। लागतो की वृद्धि के साथ ही साथ कीमतें भी बढने लगती हैं। अत पूर्ण-रोजगार बिन्दु पर पहुँचने से पहले ही मुद्रा-पूर्ति की वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर मे वृद्धि होने लगती है। किन्तु कीमत-स्तर की इस वृद्धि को हम वास्तविक स्फीति (true inflation) नही कह सकते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वास्तविक स्फीति तो पूर्ण-रोजगार-बिन्दु के उपरान्त ही प्रारम्भ होती है। पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से पूर्व उत्पन्न होने वाली स्फीति को हम लागत स्फीति (cost inflation) ही कह सकते हैं।

लागतो के बढने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(अ) मुद्रा-मजदूरियो मे वृद्धि (Increase in Money Wages)—जब मुद्रा प्रसार के कारण उत्पादन मे शीघ्रता से वृद्धि होती है तो अधिकाधिक श्रमिको की आवश्यकता पडती है। बढते हुए रोजगार के साथ श्रमिको की पूर्ति घटती चली जाती है और श्रमिक सघो की सौदा-शक्ति मे वृद्धि हो जाती है। श्रमिक सघ अपनी इस बढी हुई सौदा शक्ति का प्रयोग अपने सदस्यो की मजदूरी बढाने के निमित्त करते हैं। मालिकान बढी हुई लागतो के इस भार को वस्तुओ की कीमतें बढा कर उपभोक्ताओ पर डाल देते हैं। कभी-कभी तो मालिकान मजदूरी-वृद्धि का स्वागत करते हैं क्योकि उनको कीमतो के बढाने का एक सरल बहाना मिल जाता है, इसी आड मे वे प्राय वस्तुओ की कीमतो को मजदूरी की वृद्धि के अनुपात से भी कही अधिक बढा देते हैं।

(ब) कुछ आवश्यक पदार्थों एव साज-सज्जा का अभाव (Shortages of Certain Materials and Equipment)—उत्पादन विस्तार के साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि अर्थ-

व्यवस्था के कुछ क्षेत्रो मे किन्हीं आवश्यक पदार्थों एवं साज-सज्जा की कमी उत्पन्न हो जाय। इसका कारण यह है कि अर्थ-व्यवस्था के सभी आर्थिक ससाधन एक ही समय मे एक ही साथ पूर्ण-रोजगार की दशा को प्राप्त नही हुआ करते हैं। कुछ ससाधन अन्य ससाधनो की अपेक्षा शीघ्रता से पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त होने हैं। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के ससाधनो मे कमी उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन-विस्तार-काल मे कोयला, बिजली आदि शक्ति के साधनो मे कमी का आ जाना स्वाभाविक ही होता है। कोयला एव बिजली की कमी के कारण राष्ट्रीय उत्पादन-विस्तार प्रक्रिया मे गम्भीर रुकावटें पैदा हो जाती है। इस कमी के परिणामस्वरूप कोयले एव बिजली की कीमतो मे स्वाभाविक रूप से वृद्धि हो जाती है, तथा उसके फलस्वरूप सभी उद्योगो मे कुछ सीमा तक लागतो मे वृद्धि हो जाती है।

(स) अल्पकाल मे ह्रासमान प्रतिफल नियम अथवा बढ़ती हुई लागत नियम की क्रियाशीलता (Operation of the Law of Diminishing Returns or Increasing Costs in the Short-run)—अल्पकाल मे जब उत्पादन की मात्रा बढने लगती है, तब ह्रासमान-प्रतिफल नियम के लागू होने की सम्भावना रहती है। उत्पादन की मात्रा के बढने से प्रति इकाई लागतो मे वृद्धि हो जाती है किन्तु प्रश्न यह है कि ह्रासमान प्रतिफल नियम क्यो लागू होता है?

प्रथम, जब उत्पादन बढता है तब नयी मशीनें तुरन्त ही उपलब्ध नही हो सकती और, यदि नयी मशीनें तुरन्त उपलब्ध हो भी जायें तो भी मालिकान उनको खरीदना पसन्द नही करते, क्योकि निश्चितता नही होती कि बढी हुई माँग स्थायी होगी। इसलिये मालिकान द्वारा प्रयास यह किया जाता है कि अधिक श्रमिको द्वारा वर्तमान मशीनो से ही अधिक काम (over-working) लेकर उत्पादन मे वृद्धि कर ली जाय। परिणामत ह्रासमान प्रतिफल नियम लागू हो जाता है।

द्वितीय, जैसा कि पूर्व कहा गया है उत्पादन वृद्धि के लिए अधिक सख्या मे श्रमिक लगाने पडते हैं किन्तु प्राय ऐसा होता है कि ये नये श्रमिक अपने काम मे पुराने अनुभवी श्रमिको की भाँति कुशल एव योग्य नही होते, यद्यपि दोनो ही प्रकार के श्रमिको को समान मजदूरी देनी पडती है। ऐसी परिस्थिति मे बढते हुए उत्पादन के साथ ही साथ प्रति इकाई लागत मे भी वृद्धि हो जाती है। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि पुरानी एव अप्रचलित मशीनों से काम लेकर उत्पादन को बढाया जाता है। इन सभी कारणो से अल्पकाल मे ह्रासमान प्रतिफल नियम शीघ्र ही क्रियाशील हो जाता है और उत्पादन लागतो मे वृद्धि होने लगती है।

मुद्रा परिमाण-सिद्धान्त में कींज के अशदान का सारांश—अब आवश्यकता इस बात की है कि सक्षेप मे मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त से सम्बन्धित कींज के अशदान का वर्णन किया जाय। प्रो॰ कींज ने मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त को रोजगार की दशा से सम्बन्धित कर दिया है। उनका कथन है कि बेरोजगारो की अवस्था मे मुद्रा-पूर्ति प्रसार के कारण कीमत-स्तर मे वृद्धि न होकर, उत्पादन में वृद्धि होती है किन्तु फिर भी आगे चल कर कीमत-स्तर मे कुछ वृद्धि हो सकती है। इस वृद्धि के कारण ऊपर बताये जा चुके है। किन्तु पूर्ण-रोजगार से पहले कीमतो की यह वृद्धि वास्तविक स्फीति (true inflation) नही होती। वास्तविक स्फीति तो केवल तभी उत्पन्न होती है जबकि मुद्रा-प्रसार पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से भी परे चले जाता है। तब मुद्रा-पूर्ति का प्रत्येक अतिरिक्त *प्रसार कीमतो पर अधिकाधिक दबाव डाल कर उनमे वृद्धि उत्पन्न कर देता है। उत्पादन लगभग स्थिर हो जाता है और उस पर मुद्रा-पूर्ति-वृद्धि का कुछ भी प्रभाव नही पडता। इस स्थिति को प्रो॰ कींज के ही शब्दो मे इस भाँति व्यक्त किया जा सकता है, "जब तक बेरोजगारी रहती है, तब तक रोजगार मुद्रा की मात्रा के अनुपात मे ही बदलता है, और जब पूर्ण-रोजगार प्राप्त हो जाता है तब कीमतें मुद्रा की मात्रा के अनुपात मे बदलती हैं।"—(सामान्य सिद्धान्त, पृ॰ 296)। किन्तु सिद्धान्त का यह साधारण वर्णन कुछ मान्यताओ पर आधारित है। **प्रथम**, यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूर्ण-रोजगार-बिन्दु से पूर्व उत्पादन के साधनो की पूर्ति पूर्णत लोचदार होनी चाहिए। श्रम, कच्चा माल एव साज सज्जा की कमी नहीं होनी चाहिये। यदि इस प्रकार की कोई कमी होती है तो उत्पादन-विस्तार मे बाधायें उत्पन्न हो जायेंगी और कीमत-स्तर मे वृद्धि हो जायगी। **द्वितीय**, प्रभावपूर्ण माँग मे भी मुद्रा-पूर्ति के अनुपात मे वृद्धि होना आवश्यक है। यदि प्रभावपूर्ण

माँग मे मुद्रा-पूर्ति के अनुपात मे वृद्धि नही होती तो इसका अर्थ यह होगा कि उत्पादन का विस्तार उसी दर पर नही हो सकेगा।

प्रो० केन्ज द्वारा प्रतिपादित मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का बड़ा लाभ यह है कि यह हमे स्फीति पर उचित दृष्टिकोण अपनाने के योग्य बनाता है। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा-पूर्ति की प्रत्येक वृद्धि के परिणामस्वरूप स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है क्योकि उनकी दृष्टि से समाज मे पहले ही से पूर्ण-रोजगार विद्यमान होता है। प्रो० केन्ज के अनुसार मुद्रा-पूर्ति का केवल वही प्रसार जो पूर्ण-रोजगार-बिन्दु अथवा उसके परे किया जाता है, स्फीति उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त की कींजियन व्याख्या हमको मुद्रा-पूर्ति के स्फीतिक (inflationary) एव गैर-स्फीतिक (non-inflationary) प्रसारो के अन्तर को समझने मे सहायता देती है। सक्षेप मे, उस समय स्फीति का भय नही होता है जबकि मुद्रा-प्रसार बेरोजगारी की अवस्था मे होता है, और इसके विपरीत स्फीति का भय उस समय वास्तविक हो जाता है जबकि मुद्रा-प्रसार पूर्ण-रोजगार-स्तर से भी आगे बढ जाता है। इस अर्थ मे मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त की कींजियन व्याख्या प्राचीन क्लासीकल अर्थशास्त्रियो की व्याख्या की अपेक्षा अधिक यथार्थ एव श्रेष्ठ है।

कींजियन मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त की एक अन्य आवश्यक बात यह है कि केंज प्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने मुद्रा-परिमाण-सिद्धान्त का सम्बन्ध मूल्य-सिद्धान्त एव उत्पादन-सिद्धान्त से स्थापित किया था। सन् 1930 से पूर्व, प्रो० केंज मुद्रा सिद्धान्त (अथवा मुद्रा परिमाण सिद्धान्त) को केवल कीमतो का सिद्धान्त समझा करते थे। सन् 1930 मे—जब उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ट्रीटाइज (Treatise) की रचना की तब—उनके मुद्रा-सिद्धान्त सम्बन्धी पुराने विचारो मे परिवर्तन हुआ। अब प्रो० केंज कीमतो के मुद्रा सिद्धान्त (Monetary Theory of Prices) से हट कर उत्पादन के मुद्रा-सिद्धान्त (Monetary Theory of Output) पर आ गये थे। यह सिद्धान्त प्रो० केंज का एक महत्वपूर्ण अशदान है। प्राचीन क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा सिद्धान्त को सामान्य आर्थिक सिद्धान्त से कठोरतापूर्वक पृथक कर रखा था। उनके लिए मुद्रा सिद्धान्त केवल कीमतो का ही सिद्धान्त था। यही कारण है कि उन्होंने मुद्रा-प्रसार एव कीमत-स्तर मे एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया था। उनका मत यह था कि पहले ही से अर्थ-व्यवस्था मे पूर्ण-रोजगार होने के कारण मुद्रा-प्रसार प्रत्यक्षत उत्पादन मे वृद्धि किये बिना ही कीमत-स्तर को ऊचा कर देता है। किन्तु इसके विपरीत, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, प्रो० केंज का मत यह था कि इस सम्बन्ध में कारण-प्रक्रिया (causal process) नितान्त भिन्न होती है। बेरोजगारी के सम्बन्ध मे मुद्रा-प्रसार, सर्वप्रथम, उत्पादन मे वृद्धि उत्पन्न करता है। यही से प्रो० केंज के उत्पादन-सिद्धान्त का श्रीगणेश होता है। उनका कथन है कि ज्यो-ज्यो उत्पादन का विस्तार होता जाता है, त्यो-त्यो उत्पादन के नवीन साधन अस्तित्व मे आते चले जाते हैं, जिनके कारण कीमत-स्तर ऊँचा होता चला जाता है। सक्षेप में, लागतो की वृद्धि का कारण उत्पादन के कुछ साधनो की बेलोचदार पूर्ति होता है। यहाँ पर ही लागतों तथा माँग एवं पूर्ति के लोच सहित मूल्य-सिद्धान्त का प्रारम्भ होता है। फलत मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का उत्पादन एव मूल्य-सिद्धान्त मे सफल विलीनीकरण हो जाता है। (The net resalt is that we find a successful integration of the Quantity Theory of Money with the Theory of Output and the Theory of Value)

(6) बचत तथा निवेश सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) अथवा मुद्रा का आय सिद्धान्त (Income Theory of Money)—अब तक हमने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त तथा कैम्ब्रिज सिद्धान्त का अध्ययन किया है। इन दोनो सिद्धान्तो के अतिरिक्त मुद्रा का एक अन्य सिद्धान्त भी है जिसे मुद्रा का आय सिद्धान्त (Income Theory of Money) कहा जाता है। कुछ लेखको ने इसे बचत तथा निवेश (Saving and Investment Theory) का सिद्धान्त भी कहा है, क्योकि यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे बचत तथा निवेश दोनो का ही अध्ययन करता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि प्रो० फिशर (Fisher) का परिमाण सिद्धान्त तथा कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो का परिमाण सिद्धान्त—ये दोनो सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का एक व्यापक अध्ययन नही करते, बल्कि ये दोनो ही सिद्धान्त मुद्रा-मूल्य के केवल कुछ ही पहलुओ का अध्ययन करते हैं। ये सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य, मुद्रा की माँग तथा पूर्ति और सामान्य कीमत-स्तर मे ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये दोनो सिद्धान्त हमे बताते हैं कि किसी विशेष समय पर कीमत-स्तर कैसे निश्चित होता है और

किस प्रकार समय-समय पर उसमे परिवर्तन होते हैं ? परन्तु इन दोनो सिद्धान्तो की त्रुटि यह है कि ये दोनो ही उन विधियों तथा उस क्रम की उपेक्षा करते हैं जिनके द्वारा कीमत-स्तर मे उतार-चढाव होते हैं। इसके विपरीत, आय सिद्धान्त अथवा बचत तथा निवेश सिद्धान्त, कीमत-स्तर तथा इसके परिवर्तनो का कई प्रकार की आर्थिक घटनाओ से सम्बन्ध स्थापित करता है। दूसरो शब्दो मे, आय सिद्धान्त यह बताता है कि कीमत-स्तर तथा मौद्रिक आय (money income), व्यय (expenditure), बचत (saving), निवेश (investment) तथा मुद्रा का सचलन-वेग (velocity of circulation of money) एक-दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं ?

इस सिद्धान्त का श्रेय प्रो० केन्ज (Keynes) को दिया जाता है, यद्यपि इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम सन् 1844 मे टॉमस टुक (Thomas Tooke) ने किया था। प्रो० टुक ने अपने ग्रन्थ *"An Enquiry into the Currency Principle"* मे स्पष्टत लिखा है कि कीमत स्तर मुद्रा की मात्रा से निश्चित नहीं होता, बल्कि मुद्रा की मात्रा स्वय कीमत-स्तर से निर्धारित होती है। इसी सिद्धान्त को आगे विकसित करते हुए सन् 1898 मे स्वीडन के महान् अर्थशास्त्री विकसैल (Wicksell) ने अपने ग्रन्थ *"Interest and Prices"* मे लिखा कि कीमत-स्तर पर आय तथा ब्याज-दर का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। सन् 1925 मे फ्रास के अर्थशास्त्री अलबर्ट अफतालियन (Albert Aftalion) ने कहा कि व्यक्तियो की आय का कीमत-स्तर पर गहरा प्रभाव पडता है। आधुनिक काल मे इस सिद्धान्त के विकास मे प्रो० क्राउथर (Crowther), प्रो० हायक (Hayek) तथा प्रो० हाबरलर (Haberler) जैसे प्रमुख अर्थशास्त्रियों का भी योग है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, प्रो० केन्ज ने केम्ब्रिज समीकरण मे सशोधन करके एक नवीन समीकरण का प्रतिपादन किया था। कालान्तर मे प्रो० केन्ज ने अपने उक्त समीकरण को सशोधित करके मुद्रा के आय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। प्रो० केन्ज के मतानुसार, "मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण पर आश्रित नही होता, बल्कि वह तो लोगो की आय, उनके बचाने की शक्ति, बचत तथा निवेश (investment) के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है।" आय सिद्धान्त को प्रो० केन्ज ने एक सरल एव स्पष्ट समीकरण (equation) के रूप मे अपनी महान् पुस्तक *"General Theory of Employment, Interest and Money"* (सन 1936) मे प्रस्तुत किया है। यह समीकरण इस प्रकार है

$$Y=C+S$$
$$Y=C+I$$
$$C+S=C+I$$
$$\text{अत } S \quad I$$

इसी समीकरण मे Y=कुल अथवा राष्ट्रीय आय, C=उपभोग, S बचत, I=निवेश।

जैसा उपर्युक्त समीकरण से स्पष्ट है राष्ट्रीय आय (Y) का दो मदो पर इस्तेमाल किया जाता है। प्रथम, उपभोग पदार्थों (C) पर और दूसरे, बचत (S) पर। इसीलिए Y C+S केन्ज की यह मान्यता है कि बचत तथा निवेश सदैव समान होते हैं, अर्थात् S सदैव I के बराबर होती है। इसका कारण यह है कि आय का जो भाग व्यय नही किया जाता वह बैंक मे जमा करा दिया जाता है अथवा प्रतिभूतियो के क्रय मे लगा दिया जाता है। अत Y=C+I, अर्थात् राष्ट्रीय आय, कुल उपभोग+कुल निवेश के बराबर होती है। केन्ज के अनुसार जब बचत (S) निवेश (I) के बराबर होती है तो देश की अर्थ-व्यवस्था की सन्तुलनावस्था (state of equilibrium) मे होती है। किन्तु जब S तथा I के बीच असमानता उत्पन्न हो जाती है तो देश की अर्थ-व्यवस्था मे भी असन्तुलन (disequilibrium) पैदा हो जाता है। आय सिद्धान्त की मुख्य मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) किसी निश्चित समय-अवधि मे मुद्रा का मूल्य (अर्थात् कीमत स्तर) एक ओर तो मौद्रिक आय तथा व्यय के सम्बन्ध पर और दूसरी ओर विनिमयसाध्य वस्तुओ (exchangeable goods) की मात्रा अथवा वास्तविक आय पर निर्भर होता है।

(2) मौद्रिक आय का प्रवाह (flow) मुद्रा की मात्रा तथा इसके सचलन-वेग पर निर्भर होता है और वस्तुओ की पूर्ति पूँजी की मात्रा, लाभ की सम्भावना आदि पर निर्भर होती है।

(3) किसी देश मे मुद्रा की पूर्ति बहुत-सी बातो से प्रभावित होती है, जैसे देश के मुद्रामान का स्वरूप, सरकार की मुद्रा-नीति, बैंकिंग तथा साख का विकास।

(4) मुद्रा का सचलन-वेग, उद्यमो से लाभ की आशा, उत्पादन के अन्तर्गत व्यय होने वाले समय तथा उत्पादन के साधनो की मौद्रिक आय के उपयोग-सम्बन्धी निर्णयो पर निर्भर रहता है।

(5) एक निश्चित समय-अवधि मे मौद्रिक आय की मात्रा उस अवधि मे उत्पादक वस्तुओ की मौद्रिक कीमत के बराबर होती है, परन्तु यह सम्भव है कि नयी उत्पादक वस्तुओ को खरीदने के लिए बाजार मे जितनी मुद्रा प्रस्तुत की जाती है, वह मौद्रिक आय से कम अथवा अधिक हो, क्योकि कभी मुद्रा का नि सचय (hoarding) अधिक होता है और कभी कम। इसके साथ ही कभी नयी मुद्रा का निर्माण होता है और कभी पुरानी मुद्रा का विनाश।

(6) बचत से तात्पर्य यह होता है कि किसी विशेष समय मे मौद्रिक आय नयी उपभोग की वस्तुओ पर खर्च नही की जाती और निवेश का अभिप्राय यह होता है कि मौद्रिक आय का नयी पूँजीगत-वस्तुओ (capital goods) पर व्यय किया जाता है। कुल मौद्रिक आय उपभोग्य तथा पूँजीगत दोनो प्रकार की वस्तुओ पर किये जाने वाले व्यय से कम या अधिक हो सकती है। इसका कारण यह है कि कभी तो मौद्रिक आय को सचित (hoard) कर लिया जाता है और कभी उसे असचित कोषो से निकाल लिया जाता है।

(7) इस प्रकार किसी विशेष समय-अवधि मे बचत और निवेश का अनिवार्य रूप से बराबर होना आवश्यक नही और ब्याज की वास्तविक दरें भी उनके बीच साम्य (equilibrium) स्थापित नही करती। जब मुद्रा का विनाश किया जाता है तब बचत निवेश से अधिक हो सकती है और इसी प्रकार जब मुद्रा का निर्माण किया जाता है तो निवेश बचत से अधिक हो सकता है।

(8) जब बचत निवेश से अधिक होती है तो कीमत-स्तर नीचे गिरता है (अर्थात् मुद्रा का मूल्य बढ जाता है)। इसके विपरीत, जब निवेश बचत से अधिक होता है तो कीमत-स्तर ऊपर चढ जाता है (अर्थात् मुद्रा का मूल्य गिर जाता है)। परन्तु जब बचत तथा निवेश एक-दूसरे के बिलकुल बराबर होते हैं तो वह सन्तुलन की स्थिति होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त सिद्धान्त यह बताता है कि उपभोग्य तथा पूँजीगत वस्तुओ की कीमतें (अर्थात् मुद्रा का मूल्य) आय प्राप्तकर्ताओ के इस निर्णय पर निर्भर होती हैं कि वे अपनी आय का कितना भाग वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रस्तुत करते हैं। जब वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रस्तुत की गयी आय घट जाती है, परन्तु वस्तुओ की मात्रा यथास्थिर रहती है या उसमे वृद्धि हो जाती है तो सामान्य कीमत-स्तर नीचे गिर जाता है, अर्थात मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसके विपरीत जब वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रस्तुत की गयी आय बढ जाती है, परन्तु वस्तुओ की मात्रा यथास्थिर रहती है या उसमे कमी हो जाती है तो सामान्य कीमत-स्तर बढ जाता है, अर्थात् मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है।

मुद्रा के आय सिद्धान्त के अनुसार, अल्पकाल मे कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तन समाज द्वारा किये गये व्यय की मात्रा पर निर्भर रहते हैं। मन्दीकाल मे कीमत स्तर इसलिए गिर जाता है, क्योकि ऐसे समय मे समाज द्वारा किया गया व्यय कम हो जाता है। यह व्यय कम इसलिए हो जाता है, क्योकि लोगो के पास आय की कमी हो जाती है। इसके विपरीत, तेजीकाल मे कीमत स्तर इसलिए ऊपर चढ जाता है, क्योकि ऐसे समय मे समाज का व्यय अधिक हो जाता है। समाज के व्यय मे वृद्धि होने का कारण यह होता है कि ऐसे समय पर लोगो की आय मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार समाज का व्यय मुख्यत इसकी आय पर निर्भर रहता है। यदि समाज की आय कम हो जाती है तो लोगो का व्यय भी कम हो जाता है और कीमत स्तर नीचे गिर जाता है। इसके विपरीत, जब समाज की आय बढ जाती है तो उसके साथ ही साथ लोगो का व्यय भी बढ जाता है और कीमत स्तर ऊपर चढ जाता है। इस प्रकार अल्पकाल मे होने वाले कीमत-परिवर्तन मुख्यत समाज की आय के परिवर्तनो के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

अब समाज की आय बचत तथा निवेश की मात्राओ पर निर्भर होती है। अत, कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो का कारण समाज की आय मे होने वाले परिवर्तन है और समाज की आय का स्तर बचत तथा निवेश की मात्राओ पर निर्भर रहता है।

बचत-निवेश सिद्धान्त की श्रेष्ठता (Superiority of Saving-Investment Theory)— आधुनिक अर्थशास्त्री परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा बचत-निवेश सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) को अधिक अच्छा तथा वैज्ञानिक समझते हैं। इसका कारण यह है कि बचत-निवेश सिद्धान्त कुछ ऐसी बातो पर नया प्रकाश डालता है, जिनके बारे मे परिमाण सिद्धान्त कुछ भी नही कहता। इसको निम्नलिखित उदाहरणो से स्पष्ट किया जा सकता है

(1) जैसा हम देख चुके हैं, परिमाण सिद्धान्त व्यापार-चक्रो (trade cycles) के कारण होने वाले कीमत-स्तर सम्बन्धी परिवर्तनो की व्याख्या बिल्कुल नही करता। इसके विपरीत, बचत-निवेश सिद्धान्त व्यापार चक्रो के कारण कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो की सन्तोषजनक व्याख्या करता है।

(2) बचत निवेश सिद्धान्त यह भी बताता है कि मुद्रा की मात्रा को कम कर देने से तेजी (boom) पर तो काबू पाया जा सकता है, परन्तु मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करके मन्दी (depression) को नियन्त्रित नही किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि मन्दीकाल मे जब मुद्रा को बढा दिया जाता है तो यह आवश्यक नही कि ऐसा करने से कीमत-स्तर मे वृद्धि हो जाय अथवा मन्दी समाप्त हो जाय। यह ठीक है कि मन्दीकाल मे मुद्रा की पूर्ति को बढा देने से निवेशकर्ताओ (investors) को व्यापार के विस्तार हेतु अधिक धन उपलब्ध होने लगता है, परन्तु यह आवश्यक नही कि धन की अधिक उपलब्धता के कारण वे अपने व्यवसायो मे निश्चय ही विस्तार करेंगे। इसका कारण यह है कि मन्दीकाल मे व्यवसायियो का विश्वास कम हो जाता है। अतएव वे अपने व्यवसायो मे विस्तार करने अथवा नये व्यवसायो की स्थापना करने से हिचकिचाते हैं। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा को बढा देने से कीमत स्तर तथा रोजगार की मात्रा (volume of employment) मे वृद्धि नही की जा सकती। मन्दीकाल मे रोजगार की मात्रा बढाने के लिए निवेश (investment) को बढाना आवश्यक होता है और निवेश को केवल मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने से ही नही बढाया जा सकता। इस प्रकार यह सिद्धान्त मन्दी के उपचार के सम्बन्ध मे हमारे सामने एक यथार्थ दृष्टिकोण (realistic view) प्रस्तुत करता है।

(3) बचत-निवेश सिद्धान्त हमे यह भी बताता है कि समय-समय पर मुद्रा के चलन-वेग मे परिवर्तन क्यो होते रहते हैं? यदि बचत, निवेश से अधिक होती है तो मुद्रा का सचय (hoarding) होने लगता है जिससे इसका चलन-वेग घट जाता है। इसके विपरीत जब निवेश बचत से अधिक होता है तो मुद्रा असचित कोषो से निकाली जाने लगती है और इस प्रकार इसका चलन-वेग बढ जाता है। इस तरह मुद्रा का चलन-वेग बचत तथा निवेश के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर रहता है।

(4) बचत निवेश सिद्धान्त कीमत-स्तर तथा आर्थिक क्रिया (economic activity) पर पडने वाले मुद्रा की वृद्धि के प्रभाव की वैज्ञानिक ढग से व्याख्या करता है। प्रो० केन्ज के मतानुसार, मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि का प्रारम्भिक प्रभाव ब्याज की दर पर पडता है। मुद्रा की वृद्धि के परिणामस्वरूप ब्याज की दर घट जाती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने से लोगो के पास मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाती है और ब्याज की दर कम हो जाती है। इससे निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। निवेश की वृद्धि के परिणामस्वरूप रोजगार की मात्रा मे भी वृद्धि हो जाती है और रोजगार की वृद्धि के कारण कीमत-स्तर बढ जाता है। इसके कारण निम्नलिखित हैं

(क) रोजगार के बढ जाने के साथ-साथ श्रम की माँग मे वृद्धि हो जाती है। अतएव मजदूरी बढ जाती है।

(ख) अल्पकाल मे उत्पादन पर साधारणत लागत वृद्धि नियम लागू होता है।

(ग) उत्पादन के साधनो की पूर्ति मे कमी आ जाती है।

इन कारणो से कीमत-स्तर बढ जाता है। यद्यपि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने से रोजगार की मात्रा तथा कीमत-स्तर दोनो ही बढते हैं, परन्तु रोजगार की मात्रा पहले बढती है और कीमत-स्तर बाद मे बढता है। जैसा पूर्व कहा गया है, पूर्ण रोजगार बिन्दु (full employment point) के पश्चात् रोजगार की मात्रा मे वृद्धि के बजाय कीमत-स्तर मे वृद्धि होनी शुरु हो जाती है। पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पहले तो मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि का समूचा प्रभाव रोजगार की

मात्रा पर पडता है, अर्थात् कीमत-स्तर नही बढता। केवल रोजगार की मात्रा मे ही वृद्धि होती है, परन्तु पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि का समूचा प्रभाव कीमत-स्तर पर पडने लगता है। अब रोजगार तो नही बढता, परन्तु कीमत स्तर मे निरन्तर वृद्धि होती चली जाती है।

इस प्रकार बचत तथा निवेश सिद्धान्त मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से भिन्न है। वैसे तो दोनो ही *सिद्धान्तो के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि से कीमत स्तर* मे वृद्धि होती है, परन्तु कीमत-स्तर मे होने वाली यह वृद्धि किस क्रम मे होती है, इसके बारे मे दोनो सिद्धान्तो मे भिन्नता पायी जाती है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने से कीमत-स्तर तो ऊँचा हो जाता है, परन्तु ब्याज की दर मे कमी नही होती। इसके विपरीत, बचत तथा निवेश सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने पर पहले ब्याज की दर मे कमी होती है और उसके पश्चात् कीमत-स्तर मे वृद्धि होती है, अर्थात् कीमत-स्तर मे होने वाली वृद्धि ब्याज की घटी हुई दर के माध्यम से ही होती है। इस दृष्टिकोण से बचत तथा निवेश सिद्धान्त हमारे सामने अधिक यथार्थ धारणा प्रस्तुत करता है।

(5) बचत-निवेश सिद्धान्त परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक विस्तृत अथवा व्यापक है। परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य पर केवल इसकी पूर्ति का ही प्रभाव पडता है जबकि बचत निवेश सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य पर आय, व्यय, बचत निवेश, निसचय आदि कई तत्वो का प्रभाव पडता है। इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त एक सकुचित सिद्धान्त प्रतीत होता है।

(6) बचत-निवेश सिद्धान्त परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक (Practical) भी है। इसका समीकरण परिमाण सिद्धान्त के समीकरण की तुलना मे अधिक सरल तथा स्पष्ट है। इसके समीकरण के विभिन्न तत्त्वो की गणना करना कठिन नही। उदाहरणार्थ, किसी देश के Y, C, I तथा S के बारे मे सही तथा विश्वसनीय आँकडे प्राप्त करना कठिन नही जबकि परिमाण सिद्धान्त के समीकरण के V तथा T के बारे मे शुद्ध आँकडे प्राप्त करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे लिये परिमाण सिद्धान्त तथा बचत निवेश सिद्धान्त दोनो ही आवश्यक है, परिमाण सिद्धान्त मुद्रा के दीर्घकालीन मूल्य (long term value) की व्याख्या करता है, जबकि बचत निवेश सिद्धान्त मुद्रा के अल्पकालीन मूल्य निर्धारण पर प्रकाश डालता है। जैसा प्रो० क्राऊथर (Crowther)ने कहा है, "परिमाण सिद्धान्त समुद्र के औसत स्तर की विवेचना करता है, जबकि बचत-निवेश सिद्धान्त समुद्र मे होने वाली उथल-पुथल की व्याख्या करता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त संकेत

1. **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को समझाकर लिखिए। उसकी परिमितता (सीमाएँ) क्या हैं? समझाइए।** (आगरा, 1968)

   [सकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए उदाहरण सहित इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। इस सन्दर्भ मे प्रो० फिशर के समीकरण का भी उल्लेख कीजिए। दूसरे भाग मे, इस सिद्धान्त की सीमाओ का वर्णन कीजिए।]

2. **मुद्रा की मात्रा तथा देश के सामान्य मूल्य-स्तर के बीच के सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।** (विक्रम, 1960, इन्दौर, 1968)

   [सकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और इसकी सीमाओ का वर्णन भी कीजिए।]

3. **फिशर के मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।** (विक्रम, 1971)

   अथवा

   मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त क्या है? इसका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

   (आगरा, 1975, मेरठ, 1975)

[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और प्रो० फिशर के समीकरण का उल्लेख भी कीजिए। दूसरे भाग मे, इस सिद्धान्त के दोषो व त्रुटियो की विवेचना कीजिए।]

4. **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए। किसी देश के मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त अन्य किन-किन बातो का प्रभाव पडता है ?**
(सागर, 1959)
[संकेत—प्रथम भाग मे, परिमाण सिद्धान्त की सक्षेप मे विवेचना कीजिए तथा इस सिद्धान्त की आलोचनाओ का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि कीमत स्तर पर मुद्रा के परिमाण के अतिरिक्त देश की आय, व्यय, बचत तथा निवेश आदि का भी प्रभाव पडता है।]

5. **"मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से आप क्या समझते है ? क्या यह सिद्धान्त कीमत-स्तर के परिवर्तनो का सही कारण बताता है।** (विक्रम, 1960)
[संकेत—प्रथम भाग मे, परिमाण सिद्धान्त की इसके समीकरण सहित व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि यह सिद्धान्त कीमत-स्तर के परिवर्तनो की पूर्ण व्याख्या नही करता, बल्कि यह तो मुद्रा की मात्रा मे हुए परिवर्तनो के कीमत-स्तर पर पडने वाले प्रभाव का ही उल्लेख करता है। जैसा विदित है—देश की आय, व्यय, बचत तथा निवेश— ये सभी कीमत-स्तर को प्रभावित करते है, परन्तु परिमाण सिद्धान्त इन सबकी उपेक्षा करता है।]

6. **"मुद्रा अनेक आर्थिक वस्तुओ में से एक है। अत इसका मूल्य ठीक उन्हीं दो शक्तियों द्वारा मुख्यतः निर्धारित होता है जो अन्य वस्तुओ के मूल्य का निर्धारण करती हैं।"** (रॉबर्टसन)
इस कथन की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, बी० कॉम०, 1959)

अथवा

"अन्य किसी भी वस्तु के मूल्य के समान द्रव्य का मूल्य भी मांग और पूर्ति का सवाल है।" स्पष्ट कीजिए। (विक्रम, 1968)
[संकेत यहाँ पर पहले यह बताइए कि मुद्रा एक आर्थिक वस्तु की भाँति होती है। जिस प्रकार एक वस्तु का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति से निर्धारित होता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य इसकी माँग तथा पूर्ति से निर्धारित होता है। दूसरे शब्दो मे, यह स्पष्ट कीजिए कि माँग व पूर्ति का सामान्य नियम मुद्रा पर भी क्रियाशील होता है। इसके उपरान्त, मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की पूर्ति दोनो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि मुद्रा का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ पर मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति के बराबर होती है। किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि वस्तु एव मुद्रा की यह समानता शत-प्रतिशत नही है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा एव वस्तु मे कुछ अन्तर भी पाये जाते हैं। अत प्रो० रॉबर्टसन का उक्त कथन पूर्णत सत्य नही है।]

7 **मुद्रा की चलन-गति सम्बन्धी धारणा को समझाइए। मुद्रा की चलन-गति पर प्रभाव डालने वाले मुख्य कारणो पर प्रकाश डालिए।** (बनारस, 1959)
[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा की चलन-गति अथवा मुद्रा के सचलन-वेग की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, मुद्रा के सचलन वेग को प्रभावित करने वाली मुख्य-मुख्य बातो का वर्णन कीजिए।]

8 **मुद्रा की माँग से क्या अभिप्राय है ? मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले कौन-कौन से तत्त्व हैं ?** (बिहार, 1960)
[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा की माँग का अर्थ स्पष्ट कीजिए। स्मरण रहे कि मुद्रा की माँग के बारे मे प्रो० फिशर तथा केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो मे आधारभूत मतभेद हैं। अतएव यहाँ पर दोनो के दृष्टिकोणो को प्रस्तुत करते हुए यह बताइए कि केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियो का विचार अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। दूसरे भाग मे, केम्ब्रिज के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्वो की विवेचना कीजिए।]

9 "वास्तव मे, मुद्रा का मूल्य कुल आय का परिणाम है, न कि मुद्रा की मात्रा का।" (क्राउथर) व्याख्या कीजिए। (सागर, बी० कॉम०, 1955)

अथवा

मुद्रा-मूल्य के आय सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (आगरा, 1969)

[सकेत—यहाँ पर पहले यह बताइए कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कीमत स्तर मे हुए परिवर्तनो की पूर्ण व्याख्या नही करता। यह तो केवल कीमत स्तर पर मुद्रा की मात्रा के प्रभाव की ही विवेचना करता है। परन्तु मुद्रा की मात्रा के अतिरिक्त अन्य भी कई तत्त्व है जो देश के कीमत स्तर को प्रभावित करते हैं। बचत तथा निवेश सिद्धान्त उन सभी तत्त्वो की व्याख्या करता है। अतएव बचत तथा निवेश सिद्धान्त, परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा अधिक वैज्ञानिक है।]

10 मुद्रा के मूल्य से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे निर्धारित होता है ? (राजस्थान, 1969)

[सकेत—प्रथम भाग के लिये इस अध्याय के प्रारम्भ मे दिये गये "मुद्रा के मूल्य" नामक शीर्षक को देखिए। दूसरे भाग मे आप यह बताइए कि मुद्रा का मूल्य इसकी माँग एव पूर्ति से निर्धारित होता है। देखिए शीर्षक मुद्रा का मूल्य निर्धारण"। यहाँ पर सक्षेप मे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त एव मुद्रा के आय सिद्धान्त के साराश को भी प्रस्तुत कीजिए।]

11 कैंज के मुद्रा तथा उसके मूल्य के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि यह पुराने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा किस प्रकार श्रेष्ठ है ? (आगरा, 1974)

अथवा

किस अर्थ मे और किस प्रकार केन्ज ने पुराने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का सुधार किया है ? (आगरा, 1975)

[सकेत—देखिए उपर्युक्त अध्याय]

7

स्फीति, अवस्फीति, प्रत्यवस्फीति एवं अपस्फीति
(Inflation, Deflation, Reflation and Disinflation)

पिछले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि कीमत स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। वास्तव मे, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे समय-समय पर व्यापार-चक्र (trade cycle) की कार्यशीलता के कारण व्यापार मे परिवर्तन होते रहते है। कभी मन्दी (depression) आती है और कभी तेजी (boom)। मन्दी के समय कीमत-स्तर मे गिरावट आ जाती है और तेजी के समय कीमत-स्तर बढ जाता है। कीमत-स्तर मे होने वाले इन परिवर्तनो मे आर्थिक जगत म बहुत उथल-पुथल होती रहती है। अतएव कीमत-स्तर मे होने वाले इन उच्चावचनो (fluctuations) का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। मुद्रा के मूल्य अथवा कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के निम्नलिखित चार महत्त्वपूर्ण रूप हैं (क) स्फीति (मुद्रा-प्रसार), (ख) अवस्फीति (मुद्रा सकुचन), (ग) प्रत्यवस्फीति (मुद्रा-सारफीति), एव (घ) अपस्फीति। अब हम इनका एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

0 स्फीति (मुद्र-प्रसार)
(Inflation)

लगभग सभी महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा स्फीति की अपनी-अपनी परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। परिणामत 'मुद्रा स्फीति' शब्द के अर्थ को सही-सही समझने मे बडी कठिनाई होती है। चूँकि देश की अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रा-स्फीति के परिणाम कभी-कभी काफी गम्भीर हो जाते हैं, अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस शब्द के सही-सही अर्थ को समझने का प्रयत्न करे। नीचे हम स्फीति की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे

1 **प्रो० क्राउथर की परिभाषा**—प्रो० क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "*स्फीति वह परिस्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य गिरता रहता है, अथवा वस्तुओ की कीमतें बढ़ती रहती हैं।*"[1]

प्रो० क्राउथर की यह परिभाषा नि सन्देह बहुत ही सरल है, परन्तु यह परिभाषा स्फीति की सही-सही परिस्थिति को व्यक्त नही करती। इसके अनुसार सामान्य कीमत-स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति होती है। चूँकि मुद्रा-स्फीति एक गम्भीर घटना है, अतएव इस परिभाषा के अनुसार कीमत-स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि से हमे सतर्क रहना चाहिए, परन्तु वास्तव मे, बात ऐसी नही है। कीमत-स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक नही होती। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करने से मन्दीकाल मे कीमतें बढती है तो कीमतो मे होने वाली इस प्रकार की वृद्धि हानिकारक नही कही जा सकती, बल्कि मन्दीकाल मे कीमत-स्तर मे वृद्धि का होना देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकर होता है। अतएव कीमत स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा स्फीति नही कहा जा सकता। इसी कारण प्रो० क्राउथर की उक्त परिभाषा सन्तोषजनक नही मानी जा सकती।

---

1 "A state in which the value of money is falling, i e., prices are rising" —G Crowther

2 **प्रो० केमरर की परिभाषा—प्रो० केमरर (Kemmerer) के अनुसार "यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं की मात्रा उत्पादन में कमी होने के कारण घट जाय, तब ऐसी परिस्थिति को मुद्रा-स्फीति की परिस्थिति कहते हैं।"**[1]

प्रो० केमरर की परिभाषा के अनुसार, जब किसी देश में व्यापार की मात्रा की तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाती है, तब इसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं। इस प्रकार जब विनिमयसाध्य वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा की तुलना में मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है और उसके परिणामस्वरूप कीमत-स्तर ऊँचा हो जाता है तब ऐसी परिस्थिति को मुद्रा-स्फीति कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि देश में केवल कीमत स्तर के बढ़ जाने से ही मुद्रा-स्फीति नहीं होती। जब मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने के साथ कीमत स्तर में इसलिए वृद्धि हो जाती है, क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति घट गयी है तब इस प्रकार की परिस्थिति को मुद्रा-स्फीति कहते हैं। इस प्रकार प्रो० केमरर के अनुसार, यदि किसी देश में व्यापार तथा जनसंख्या की वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है तब यह मुद्रा-स्फीति नहीं कहलायेगी, चाहे इस प्रकार की मुद्रा की वृद्धि से कीमतें बढ़ ही क्यों न जायें। अत प्रो० केमरर के मतानुसार, मुद्रा स्फीति तब उत्पन्न होती है जबकि देश में मुद्रा की पूर्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती है कि यह उद्योग तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं से बहुत अधिक हो जाती है अर्थात् जब मुद्रा की माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें ऊपर चढ़ जाती हैं तब ऐसी अवस्था को मुद्रा स्फीति कहते हैं।

प्रो० क्राउथर की भाँति प्रो० केमरर की परिभाषा भी दोषमुक्त नहीं है। प्रथम, प्रो० केमरर की परिभाषा कुछ अस्पष्ट (vague) सी है। यह परिभाषा हमें यह नहीं बताती कि हम व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं अथवा मुद्रा की माँग को कैसे निर्धारित करें। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि अर्थशास्त्रियों के पास ऐसी कोई विधि नहीं है, जिसकी सहायता से हम यह जान सकें कि मुद्रा की पूर्ति व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं अथवा मुद्रा की माँग से अधिक बढ़ी है या नहीं। हमारे पास तो केवल एक ही तरीका है—यदि देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती हैं तो हम कहेंगे कि मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग की अपेक्षा अधिक है और देश में मुद्रा स्फीति की दशा पायी जाती है। इसके विपरीत, यदि देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं तो हम कहेंगे कि मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग की अपेक्षा कम है और देश में मुद्रा-अवस्फीति (currency deflation) की दशा पायी जाती है। परन्तु आलोचकों का कहना है कि कीमत स्तर में हुए परिवर्तनों से देश में मुद्रा की पूर्ति तथा माँग के बारे में अपना इस प्रकार मत निश्चित कर लेना उचित तथा वैज्ञानिक नहीं है। हो सकता है कि औसत लागतों के बढ़ जाने से किसी देश में वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायें, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देश में मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग की तुलना में अधिक हो गयी है। इस प्रकार आलोचकों के मतानुसार कीमत-स्तर में होने वाली वृद्धि इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि देश में मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो गयी है तथा देश में मुद्रा स्फीति की दशा विद्यमान है। दूसरे, मुद्रा की माँग तथा पूर्ति का सही-सही अनुमान लगाना भी कठिन है, इसलिए उनकी आपसी तुलना करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अतएव प्रो० केमरर की उपर्युक्त परिभाषा सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

3 **प्रो० पीगू की परिभाषा**—प्रो० पीगू (Pigou) की परिभाषा इस प्रकार है, "जब मौद्रिक आय, उपार्जन सम्बन्धी क्रियाओं से कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है, तब मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।"[2] एक अन्य स्थान पर प्रो० पीगू ने लिखा है 'मुद्रा-स्फीति उस समय

---

1 "Inflation is too much currency in relation to the physical volume of business being done" —*E M Kemmerer*

2 "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income earning activity" —*Pigou*

उत्पन्न होती है जबकि उत्पादन साधनो (जिनको भुगतान के रूप मे मौद्रिक आय प्राप्त होती है) द्वारा किये गये काम की तुलना मे मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ रही होती है।"[1]

प्रो० पीगू के अनुसार "मुद्रा की पूर्ति बढ जाने पर (जबकि इसकी माँग यथास्थिर रहती है) समाज मे पूंजी-सचय की गति बढ जाती है और ब्याज की दर भी कम हो जाती है जिससे उत्पादको को बैको से ऋण लेने मे प्रोत्साहन मिलता है।" परिणामत उत्पादकगण अपने उत्पत्ति-कार्य का विस्तार करने लगते है। इसके साथ ही साथ मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने से साधारण जनता की मौद्रिक आय भी बढ जाती है। इसके परिणामस्वरूप जनता की उपभोग्य वस्तुओ की माँग बढ जाती है। इससे भी उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। अत धीरे-धीरे उत्पादन के साधनो का अधिकाधिक मात्रा मे प्रयोग होने लगता है और बेकार पडे हुए साधनो को काम मे लगाया जाता है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि होने लगती है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है कि जब मौद्रिक आय की वृद्धि तथा वस्तुओ एव सेवाओ की वृद्धि मे साम्य स्थापित हो जाता है। यदि, इस साम्य-बिन्दु (equilibrium point) के उपरान्त भी मुद्रा की मात्रा अथवा मौद्रिक आय मे वृद्धि होती चली जाती है तो इससे वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि नही हो सकती, क्योकि उत्पादन के सभी साधनो का पहले ही पूर्ण शोषण (exploitation) हो चुका है और अब कोई भी उत्पादन का साधन बेकार नही है। परिणामत अब वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि होने के बजाय उनकी कीमतो मे वृद्धि होने लगती है। इसका कारण यह है कि लोगो की मौद्रिक आय मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वस्तुओ तथा सेवाओ की माग बढ जाती है। चूंकि अब उत्पादन मे वृद्धि नही हो सकती इसलिए वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढनी शुरू हो जाती है। इसी दशा को प्रो० पीगू ने अनुसार मुद्रा स्फीति कहते है। मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत कीमत स्तर मे वृद्धि की विभिन्न दशाएँ इस प्रकार हो सकती हैं (क) जब देश की मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनो बढ रहे होते है परन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की तुलना मे तेजी के साथ बढती है (ख) जब मौद्रिक आय बढती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है, (ग) जब मौद्रिक आय बढती है परन्तु उत्पादन कम हो जाता है, (घ) जब मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है, परन्तु उत्पादन की मात्रा घट जाती है, (ङ) जब मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनो ही घटते है, परन्तु मौद्रिक आय की अपेक्षा उत्पादन अधिक तेजी के साथ घटता है।

इस प्रकार प्रो० पीगू ने मुद्रा स्फीति की धारणा को उत्पादन के साधनो के पूर्ण रोजगार के बिन्दु के साथ जोड दिया है। प्रो० पीगू का यह विचार उचित तथा वैज्ञानिक प्रतीत होता है, अतएव प्रो० पीगू की परिभाषा सर्वोत्तम मानी गयी है।

4 **प्रो० हाट्रे की परिभाषा**—प्रो० हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार, "वह परिस्थिति, जिसमे मुद्रा का अत्यधिक निर्गमन हो, मुद्रा-स्फीति कहलाती है।"[2] देखने मे तो यह परिभाषा अत्यन्त सरल प्रतीत होती है, परन्तु प्रो० केमरर की परिभाषा की भाँति प्रो० हाट्रे की उक्त परिभाषा भी अत्यन्त अस्पष्ट है। यह परिभाषा यह नही बताती कि मुद्रा के अत्यधिक निर्गमन से क्या अभिप्राय है।

5 **प्रो० केन्ज की परिभाषा**—प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार, पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर पहुचने से पूर्व यदि मुद्रा की मात्रा का प्रसार होता है तो उसका एक अश तो रोजगार का विस्तार करेगा और दूसरा अश उत्पादन-लागत मे वृद्धि करके कीमतो को बढायेगा। पूर्ण रोज-गार के बिन्दु से पूर्व की इस अवस्था को प्रो० केन्ज अर्द्ध-मुद्रा-स्फीति (semi-inflation) कहते हैं। परन्तु यदि पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त भी मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि जारी रहती है और वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें निरन्तर बढती जाती हैं तो ऐसी स्थिति को प्रो० केन्ज पूर्ण मुद्रा-स्फीति (full inflation) कहते हैं।

---

1 "Inflation is taking place when money income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment." —*Pigou*

2 "*The state in which there is over-issue of currency is called inflation.*" —*Hawtrey*

प्रो० केन्ज के स्फीतिक-अन्तर का सिद्धान्त (Professor Keynes Concept of Inflationary Gap)—प्रो० केन्ज ने मुद्रा-स्फीति की विवेचना समाज की कुल आय और उसके कुल व्यय तथा वस्तुओ एव सेवाओ की उपलब्ध मात्रा के सम्बन्ध मे की है। जब किसी देश मे मुद्रा की मात्रा बढती है तब लोगो की मौद्रिक आय भी बढ जाती है, मौद्रिक आय के बढ जाने के फलस्वरूप लोगो का व्यय भी बढ जाता है। इससे कीमतो मे ऊपर चढने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि व्यय-योग्य मौद्रिक आय (disposable money income) तथा वस्तुओ और सेवाओ की पूर्ति दोनो एक ही अनुपात मे बढते हैं तो कीमत-स्तर मे वृद्धि नही हो सकती। इसके विपरीत, वस्तुओ तथा सेवाओ की तुलना मे यदि व्यय-योग्य मौद्रिक आय अधिक अनुपात मे बढती है, तो कीमत-स्तर अवश्य ही बढेगा। प्रो० केन्ज के अनुसार, "मुद्रा-स्फीति (और मुद्रा-अवस्फीति) का आधारमूलक कारण विनिमयसाध्य वस्तुओ के प्रवाह की तुलना मे कुल मौद्रिक व्यय का परिवर्तन होता है।" प्रो० केन्ज के कथनानुसार, जब तक अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन के कुछ साधन बेकार पडे रहते हैं तब तक मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। परन्तु जब उत्पादन के सभी साधन पूर्णत काम मे लग जाते हैं तब मुद्रा की मात्रा मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत-स्तर मे वृद्धि होती है और उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होना बन्द हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति की व्याख्या करने के लिए केन्ज ने अपने स्फीतिक-अन्तर (inflationary gap) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए हम एक काल्पनिक उदाहरण लेंगे। मान लीजिए कि किसी देश के कुल उत्पादन का मूल्य 1500 करोड रुपये है। यह भी मान लीजिए कि इस राशि मे 500 करोड रुपये सरकार करो के रूप मे ले लेती है। इस प्रकार व्यक्तिगत उपभोग के लिए 1000 करोड रुपये का उत्पादन बच रहता है। अब यदि जनता की कुल आय भी 1000 करोड रुपये है तो यह आय आधार कीमतो (basic prices) पर उत्पादन की कीमत के बराबर हो जाती है। इस दशा मे अर्थ व्यवस्था मे स्फीतिक अन्तर उत्पन्न नही होता है और कीमत-स्तर भी यथास्थिर रहता है (कुल व्यय-योग्य मौद्रिक आय तथा कुल उत्पादन के अन्तर को स्फीतिक अन्तर कहते हैं)। अब मान लीजिए कि सरकार 500 करोड रुपये की नवीन मुद्रा का निर्गमन करती है। अब लोगो की मौद्रिक आय 1000 + 500 = 1500 करोड रुपये हो जाती है। यदि इसमे से 100 करोड रुपये सरकार करो के रूप मे ले लेती है और 100 करोड रुपये की लोगो द्वारा बचत कर ली जाती है तो लोगो की व्यय-योग्य (spendable) कुल शुद्ध आय 1500 - 100 - 100 = 1300 करोड रुपये होती है। परन्तु इस 1300 करोड रुपये की आय की तुलना मे केवल 1000 करोड रुपये का उत्पादन उपभोग के लिए उपलब्ध है। इस प्रकार इस उदाहरण मे 300 करोड रुपये का स्फीतिक-अन्तर है। इसी के कारण कीमत स्तर मे वृद्धि होगी, क्योकि उत्पादन की मात्रा की तुलना मे लोगो की मौद्रिक आय 300 करोड रुपये अधिक है। **इस प्रकार स्फीतिक-अन्तर वह मात्रा होती है जो सम्भावित व्यय की उपलब्ध उत्पादन की आधार कीमतो पर अधिकता व्यक्त करती है।** प्रो० केन्ज के अनुसार मुद्रा-स्फीति का कारण अर्थ-व्यवस्था मे स्फीतिक-अन्तर का होना है। स्फीतिक अन्तर को घटाने के दो तरीके हैं प्रथम, लोगो की व्यय योग्य मौद्रिक आय को करो अथवा ऋणो द्वारा घटा दिया जाय। द्वितीय देश मे उत्पादन के स्तर को अधिकाधिक बढाया जाय। यदि इन दोनो विधियो को एक साथ कार्यरूप दिया जाय तो मुद्रा-स्फीति की समस्या को सुगमता से हल किया जा सकता है।

प्रो० केन्ज की स्फीतिक अन्तर की धारणा को रेखाकृति की सहायता से और भी स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रस्तुत रेखाकृति मे वास्तविक आय को अ ब के सहारे और नियोजित व्यय (Planned Expenditure) को अ स के साथ साथ व्यक्त किया गया है। उ रेखा उपभोग को प्रकट करती है। उ+न रेखा उपभोग एव निवेश को दिखाती है। उ+न+र रेखा उपभोग निवेश तथा राज्यीय व्यय को व्यक्त करती है। इसी प्रकार उ+न+र' रेखा उपभोग, निवेश एव बढे हुए व्यय को प्रकट करती है। उ+न+र रेखा पर ख बिन्दु यह दिखाता है कि सन्तुलन की

अवस्था मे कुल वास्तविक आय अ म है। इस बिन्दु पर अर्थ-व्यवस्था मे प्रचलित कीमत-स्तर पर पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है। अब यदि राजकीय व्यय मे वृद्धि होती है तो वास्तविक आय अथवा कुल उत्पादन मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि होनी चाहिए, अर्थात् वास्तविक आय मे म म′ की वृद्धि होनी चाहिए अन्यथा कीमत-स्तर मे वृद्धि हो जायगी। इस रेखाकृति मे क ख स्फीतिक-अन्तर को व्यक्त करता है। क ख, उ+न+र रेखा तथा उ+न+र′ रेखा के बीच के अन्तर को दिखाता है। जब तक क ख का स्फीतिक अन्तर बना रहता है और अ म की वास्तविक आय मे कोई वृद्धि नही होती, कीमत-स्तर मे वृद्धि होती रहेगी, लेकिन जैसे ही वास्तविक आय मे म म′ की वृद्धि हो जाती है, क ख का स्फीतिक-अन्तर अदृश्य हो जायगा और कीमतो का बढना समाप्त हो जायगा।
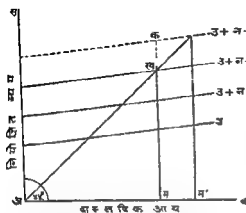
मुद्रा-स्फीति को जांचने का आधार—जैसा हम देख चुके है, जब मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होती है तब कीमत-स्तर बढ जाता है, अर्थात् मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि कीमत-स्तर मे होने वाली प्रत्येक वृद्धि को मुद्रा-स्फीति नही कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि कभी-कभी कीमत-स्तर मे होने वाली वृद्धि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के कारण नही होती। उदाहरणार्थ, जब देश मे औसत उत्पादन लागत (average production costs) के बढ जाने से कीमतो मे वृद्धि हो जाती है तब इसे मुद्रा-स्फीति नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, व्यापार चक्र के उद्धार काल (recovery stage) मे जब कीमत-स्तर मे वृद्धि होती है तब उसे भी मुद्रा-स्फीति नही कहा जा सकता। इसके विपरीत कीमत-स्तर मे बिना किसी वृद्धि के भी मुद्रा-स्फीति सम्भव हो सकती है। यह स्थिति उस समय तक चलती रहती है जब तक कि उत्पादन के सभी साधनो का पूर्ण उपयोग नही हो जाता। जब उत्पादन के सभी साधनो का पूर्ण उपयोग हो जाता है तब मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि कीमत स्तर मे वृद्धि कर देती है। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार, "वास्तविक मुद्रा-स्फीति (true inflation) पूर्ण-रोजगार के बिन्दु के उपरान्त ही उत्पन्न होती है।"

मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूप
(Types of Inflation)

अर्थशास्त्रियो ने कारणो तथा उद्देश्यो के आधार पर मुद्रा स्फीति के निम्नलिखित रूप बताये है

(1) **वस्तु-स्फीति** (Commodity Inflation)—वस्तु-स्फीति से अभिप्राय एक साधारण प्रकार की मुद्रा-स्फीति से होता है। इसमे वस्तुओ की कीमते साधारण रूप से ही बढती है।

(2) **मुद्रा-स्फीति** (Currency Inflation)—जब सकटकाल मे अपनी वित्तीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार अत्यधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन करती है (जिसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर मे वृद्धि हो जाती है) तब ऐसी परिस्थिति को मुद्रा-स्फीति कहा जाता है। दूसरे विश्व युद्ध मे होने वाली स्फीति वास्तव मे मुद्रा-स्फीति ही थी।

(3) **साख-स्फीति** (Credit Inflation)—कभी-कभी सरकार मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखते हुए साख की मात्रा को प्रोत्साहित करती है। इसे साख-स्फीति कहा जाता है। साख-स्फीति के मुख्य उद्देश्य किसानो के ऋण के बोझ को हल्का करना, उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करना तथा विकास योजनाओ के लिए धन को जुटाना है।

(4) **लाभ-स्फीति** (Profit Inflation)—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उत्पादन-लागत

घटने लगती है और उसके परिणामस्वरूप कीमतो मे नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परन्तु सरकार कृत्रिम उपायो (artificial means) से कीमतो को नीचे गिरने से रोकती है। ऐसी परिस्थिति मे कीमतें ऊपर तो नही उठती, परन्तु उनको नीचे गिरने से रोका जाता है। इससे उत्पादको का लाभ बढ जाता है। इस अवस्था को प्रो० केन्ज (Keynes) ने लाभ स्फीति का नाम दिया है। इस प्रकार की स्फीति मे कीमतें अपने पुराने स्तर पर ही बनी रहती हैं।

(5) **उत्पादन-स्फीति** (Production Inflation)—जब देश मे मुद्रा की मात्रा मे कोई वृद्धि नही होती परन्तु प्राकृतिक विपत्तियो के कारण उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है तो इससे कीमतो मे वृद्धि हो जाती है। इस दशा को उत्पादन-स्फीति कहते हैं।

(6) **घाटा-प्रोत्साहित-स्फीति** (Deficit induced Inflation)—प्राय युद्ध के समय अपने बढे हुए व्यय को पूरा करने के लिए सरकार अधिक आय प्राप्त करने मे असमर्थ रहती है, अर्थात् सरकार के बजट म घाटा उत्पन्न हो जाता है और इस घाटे को सरकार नये करो तथा सार्वजनिक ऋणो (Public loans) से भी पूरा नही कर पाती। ऐसी परिस्थिति मे विवश होकर सरकार को नयी मुद्रा का निर्माण करना पडता है। इसे घाटा-प्रोत्साहित-स्फीति कहते है। पिछडे हुए तथा अल्प-विकसित देशो मे आर्थिक योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए जब सरकारो के पास पर्याप्त वित्तीय साधन नही होते तब वे भी विवश होकर हीनार्थ प्रबन्धन (deficit-financing) का आश्रय लेते हैं इससे कीमतें बढ जाती हैं। चूंकि यह हीनार्थ प्रबन्धन भी बजट मे घाटा होने के कारण किया जाता है, इसलिए इसे घाटा-प्रोत्साहित स्फीति कहा जाता है।

(7) **मजदूरी-प्रोत्साहित-स्फीति** (Wage induced Inflation)—जब मजदूर अपने आपको शक्तिशाली श्रमिक सघो (trade unions) मे सगठित कर लेते हैं और कारखानेदारो को मजदूरी बढाने के लिए विवश करने मे सफल हो जाते है तब उत्पादन लागतो मे वृद्धि हो जाती है। परिणामत वस्तुओ की कीमतें बढ जाती हैं। इसे मजदूरी प्रोत्साहित-स्फीति कहते हैं।

(8) **पूर्ण स्फीति तथा आंशिक स्फीति** (Full Inflation and Partial Inflation)—प्रो० पीगू के अनुसार स्फीति दो प्रकार की होती है—पूर्ण स्फीति (full inflation) तथा आंशिक स्फीति (partial inflation)। प्रो० पीगू के अनुसार पूर्ण रोजगार की अवस्था से पूर्व मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कीमत स्तर मे जो वृद्धि होती है, उसे आंशिक स्फीति कहते हैं। आंशिक स्फीति के अन्तर्गत कीमत स्तर मे केवल साधारण सी वृद्धि होती है। मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि से अर्थ-व्यवस्था म बेकार पडे हुए उत्पादन के साधनो को अधिक काम मिलता है, अर्थात् रोजगार की मात्रा बढ जाती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि कीमत स्तर की अपेक्षा रोजगार की मात्रा को अधिक बढाती है, परन्तु पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि रोजगार को तो नही बढाती (क्योकि पूर्ण रोजगार की स्थिति तो पहले से ही विद्यमान होती है) परन्तु कीमत स्तर मे तेजी से वृद्धि करती है। इस दशा को पूर्ण स्फीति कहा जाता है।

पूर्ण स्फीति तथा आंशिक स्फीति के अन्तर को रेखाकृति द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।

इस रेखाकृति मे रोजगार एव कीमतो को अ स के सहारे और मुद्रा की मात्रा को अ ब के साथ साथ व्यक्त किया गया है। च छ पूर्ण रोजगार रेखा है। ख पूर्ण रोजगार बिन्दु है। ख बिन्दु तक होने वाली कीमत वृद्धि आंशिक स्फीति है। यह कीमत-वृद्धि साधारण-सी होती है क्योकि ख बिन्दु तक मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि का प्रभाव कीमत-स्तर की अपेक्षा रोजगार की मात्रा पर अधिक पडता है।
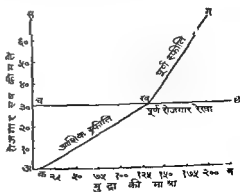
ख बिन्दु के पश्चात् मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि रोजगार की मात्रा को तो नही बढाती, लेकिन कीमत-स्तर पर पूरा प्रभाव डालती है। ख ग पूर्ण स्फीति को व्यक्त करती है।

(9) **खुली तथा छिपी हुई स्फीति** (Open Inflation and Suppressed Inflation)—कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार स्फीति खुली एव छिपी हुई भी हो सकती है। **जब मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि के द्वारा वस्तुओ की कीमतो मे बिना किसी रोकटोक के वृद्धि होने दी जाती है, तब इस प्रकार की स्फीति को खुली स्फीति कहते हैं।** इसके विपरीत, **जब मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि का प्रभाव कीमतो पर नहीं पड़ने दिया जाता तब इस प्रकार की स्फीति को छिपी हुई स्फीति** कहते है। दूसरे शब्दो मे सरकार कीमत-नियन्त्रण (price control) तथा राशनिंग व्यवस्था द्वारा मुद्रा की मात्रा मे होने वाली वृद्धि को प्रभावहीन बना देती है और परिणामत वस्तुओ की कीमतें बढ़ने से रुक जाती हैं।

(10) **घिसटती हुई स्फीति, चलती हुई स्फीति, भागती हुई स्फीति तथा सरपट दौड़ती हुई स्फीति**—स्फीति का यह वर्गीकरण उसकी गति (speed) के आधार पर किया गया है। 'घिसटती हुई स्फीति' (Creeping Inflation) साधारण स्फीति होती है। कभी-कभी अर्थ-व्यवस्था को गतिशील (dynamic) बनाने के लिए साधारण स्फीति का सहारा लेना पड़ता है। विशेषकर एक अविकसित तथा पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था के लिए साधारण स्फीति टॉनिक (tonic) का काम देती है। इससे कीमतो मे मन्द गति से वृद्धि होती है, व्यापार तथा व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है और धीरे-धीरे देश का आर्थिक विकास होने लगता है। परन्तु यदि उस साधारण स्फीति पर उचित नियन्त्रण नही रखा जाता तो बाद मे चलकर यह 'चलती हुई स्फीति' (*Walking Inflation*) का रूप धारण कर लेती है और इसके अन्तर्गत कीमतो मे वृद्धि की गति तेज हो जाती है। इसी प्रकार यदि चलती हुई स्फीति पर भी उचित नियन्त्रण नही रखा जाता तो बाद मे चलकर यह 'भागती हुई स्फीति' (Runaway Inflation) का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की स्फीति के अन्तर्गत कीमतो मे होने वाली वृद्धि और भी अधिक गति (speed) के साथ होने लगती है। यदि भागती हुई स्फीति पर भी उचित नियन्त्रण नही रखा जाता, तो बाद मे चलकर यह एक अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लेती है, और इसी को 'अत्यधिक स्फीति' (Hyper Inflation) अथवा 'सरपट दौड़ती हुई स्फीति' (Galloping Inflation) कहते हैं। वास्तव मे, यह स्फीति का सबसे भयानक रूप होता है। इसके अन्तर्गत, कीमतो मे प्रति क्षण वृद्धि होने लगती है। प्रो० केन्ज के अनुसार, वास्तविक स्फीति (True Inflation) सरपट दौड़ती हुई स्फीति को ही कहते हैं। स्फीति का यह रूप पूर्ण रोजगार के बिन्दु के बाद ही दृष्टिगोचर होता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी मे और दूसरे महायुद्ध के बाद चीन मे इस प्रकार की स्फीति हुई थी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, स्फीति का यह वर्गीकरण गति (speed) के आधार पर किया गया है। 'घिसटती हुई स्फीति' के अन्तर्गत देश मे कीमतें 25 वर्ष मे 50 प्रतिशत बढ जाती हैं, लेकिन 'चलती हुई स्फीति', 'भागती हुई स्फीति' तथा 'सरपट स्फीति' के अन्तर्गत कीमतो की यही वृद्धि (अर्थात् 50%) क्रमश 10, 5 तथा 3 वर्षो मे होती है। वास्तव मे, स्फीति की ये अवस्थाएँ एक शिशु (infant) के शारीरिक विकास की अवस्थाओ की भाँति होती है। सर्वप्रथम, यह घिसटना सीखता है, तब चलना आरम्भ करता है। फिर शारीरिक विकास के फलस्वरूप भागना और कूदना सीख लेता है।
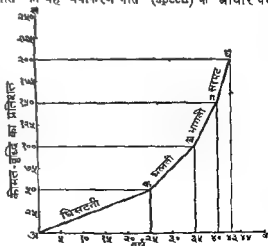
उपर्युक्त रेखाकृति मे वर्षों को अ ब के सहारे और कीमत वृद्धि प्रतिशत को अ स के साथ-साथ व्यक्त किया गया है। 25 वर्षों की प्रथम अवधि मे वस्तुओ की कीमतें 50% बढ गयी हैं। अ क रेखा 'घिसटती हुई स्फीति' को व्यक्त करती है। 10 वर्षों की दूसरी अवधि मे कीमतें 50% बढ गयी हैं। क ख रेखा 'चलती हुई स्फीति' को प्रकट करती है। 5 वर्षों की तीसरी अवधि मे कीमतें पुन 50% बढ गयी हैं और ख ग रेखा 'भागती हुई स्फीति' को व्यक्त करती है। इसी प्रकार 3 वर्षों की चौथी अवधि मे कीमतें फिर 50% बढ गयी हैं और ग घ रेखा 'सरपट दौडती हुई स्फीति' को प्रकट करती है। इस प्रकार 43 वर्षों मे चारो प्रकार की स्फीतियाँ दृष्टिगोचर हो जाती है और इस समूची अवधि मे 200% की वृद्धि हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति की स्थितियाँ
(Stages of Inflation)

अक्सर यह कहा जाता है कि क्षय-रोग (T B) की तरह स्फीति की भी तीन स्थितियाँ होती है। प्रथम स्फीति मे, मुद्रा-स्फीति धीरे-धीरे होती है। वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठती हैं। प्रथम स्थिति मे मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करना अपेक्षाकृत आसान होता है। परन्तु यदि पहली स्थिति मे स्फीति पर नियन्त्रण नही किया जाता तो क्षय-रोग की भाँति यह दूसरी स्थिति मे प्रविष्ट होती है। दूसरी स्थिति मे, मुद्रा स्फीति सरकार के लिए एक प्रकार से सरदर्द बन जाती है। अब वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें अधिक तेजी के साथ बढने लगती है और सरकार के लिए उनको काबू मे रखना काफी कठिन हो जाता है। इस स्थिति मे मुद्रा-स्फीति को पूर्णत दूर तो नही किया जा सकता, परन्तु यदि सरकार प्रभावपूर्ण कार्यवाही करे तो इसे आगे बढने से अवश्य ही रोका जा सकता है। तीसरी स्थिति मे, मुद्रा-स्फीति अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लेती है। जैसा ऊपर कहा गया है, तीसरी स्थिति मे स्फीति 'सरपट दौडती हुई स्फीति' का रूप धारण कर लेती है। वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें प्रतिक्षण बढने लगती हैं और सरकार के लिए उनको नियन्त्रित करना असम्भव-सा हो जाता है। देश की समूची अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है, और अन्त मे, सरकार को देश की मुद्रा का विमुद्रीकरण (demonetisation) करना पडता है।

स्फीति की उपर्युक्त तीन स्थितियो को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम स्थिति मे कीमते उस अनुपात मे नही बढती जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है, अर्थात् कीमतें मुद्रा की वृद्धि के अनुपात से कम तेजी के साथ बढती हैं। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा की मात्रा मे 10 प्रतिशत वृद्धि होती है तो कीमतो मे केवल 5 प्रतिशत या इससे कम वृद्धि होती है। दूसरी परिस्थिति मे कीमतो मे वृद्धि मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि के ठीक अनुपात मे होती है, अर्थात् यदि मुद्रा की मात्रा मे 10 प्रतिशत की वृद्धि होती है तो कीमत-स्तर मे भी ठीक 10 प्रतिशत की ही वृद्धि होती है। तीसरी स्थिति मे कीमतो की वृद्धि मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि से अधिक अनुपात मे होती है, अर्थात् यदि मुद्रा की मात्रा मे 10 प्रतिशत वृद्धि होती है तो कीमत-स्तर मे 15 प्रतिशत या इससे भी अधिक वृद्धि होती हैं। अब हम स्फीति की उन स्थितियो का अलग-अलग वर्णन करेंगे।

(1) **पूर्ण रोजगार से पूर्व की स्थिति (Pre Full Employment Stage)**—जैसा ऊपर कहा गया है, पहली स्थिति मे कीमत-स्तर मे होने वाली वृद्धि, मुद्रा की मात्रा मे हुई वृद्धि से कम अनुपात मे होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। मान लीजिए कि मुद्रा की मात्रा मे 10 प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप तुरन्त ही कीमत स्तर मे वृद्धि हो जायगी। कीमत-स्तर की इस वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा और वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा बढ जायगी। इससे कीमत-स्तर पुन नीचे गिर जायगा। परन्तु यदि मुद्रा की मात्रा मे पुन 10 प्रतिशत वृद्धि की जाती है तो कीमत-स्तर फिर बढेगा और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन मे भी वृद्धि होगी। इस प्रकार, यदि मुद्रा की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि की जाती है तो एक समय ऐसा आयगा कि वस्तुओ के उत्पादन की वृद्धि मुद्रा की मात्रा की वृद्धि की तुलना मे कम होने लगेगी। इसका कारण यह है कि उत्पादन के विस्तार के साथ-साथ अब उत्पादन के साधनो की पूर्ति कम होती चली जायगी, क्योकि जो बेकार साधन थे, वे अब सभी काम

मे लग जायेंगे। उत्पादन के साधनो की कमी अनुभव की जाने लगेगी। परिणामत उत्पादन की वृद्धि की गति धीमी पड जायगी।

(2) **पूर्ण रोजगार की स्थिति (Full-Employment Stage)**—यदि मुद्रा की वृद्धि निरन्तर जारी रहती है तो कुछ समय पश्चात् उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि का होना बन्द हो जायगा, अर्थात् उत्पादन की मात्रा स्थिर हो जायगी। इसका कारण यह है कि अब उत्पादन के सभी साधन काम मे लग जाते हैं और पूर्ण रोजगार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन को और अधिक बढाने के लिए अतिरिक्त साधन उपलब्ध नही होते। अतएव उत्पादन का विस्तार रुक जाता है। उत्पादन की मात्रा स्थिर रहने के कारण अब कीमत स्तर मे उसी अनुपात मे वृद्धि होने लगेगी जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि की जाती है।

(3) **पूर्ण रोजगार के बाद की स्थिति (Post full Employment Stage)**—यदि पूर्ण रोजगार बिन्दु के उपरान्त भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि निरन्तर जारी रहती है तो कुछ समय तक कीमत-स्तर मे वृद्धि उसी अनुपात मे होती रहती है जिस अनुपात मे मुद्रा की मात्रा मे विस्तार होता रहता है। परन्तु आगे चलकर मुद्रा की मात्रा इतनी बढ जाती है कि उस पर से जनता का विश्वास उठने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा की मात्रा मे 10 प्रतिशत वृद्धि होती है तो कीमत स्तर मे 20, 30 और 40 प्रतिशत वृद्धि होने लगती है। इस स्थिति मे कीमतो पर काबू पाना अत्यन्त कठिन, लगभग असम्भव हो जाता है। यह स्फीति की अन्तिम स्थिति है। इस स्थिति मे कीमते इतनी बढ जाती हैं कि देश मे मुद्रा-विनिमय के स्थान पर वस्तु-विनिमय का प्रचलन होने लगता है और कालान्तर मे देश की अर्थ व्यवस्था के लिए बहुत ही भयकर परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते है।

मुद्रा-स्फीति के कारण
(Causes of Inflation)

मुद्रा स्फीति के कारणो को दो शीर्षको के अन्तर्गत रखा जा सकता है—(क) मौद्रिक आय मे वृद्धि करने वाले कारण, (ख) उत्पादन की मात्रा को कम करने वाले कारण।

(क) **मौद्रिक आय मे वृद्धि करने वाले कारण**—देश मे मुद्रा की वृद्धि के कारण निम्नलिखित हैं

(1) **सरकार की मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीति**—कभी-कभी सरकार के निर्देशानुसार देश का केन्द्रीय बैंक अत्यधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन करने लगता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि देश मे आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सके। कभी कभी युद्ध-व्यय की व्यवस्था करने के लिए भी सरकार केन्द्रीय बैंक को अधिक मात्रा मे नये नोट छापने का आदेश देती है। आरम्भ मे, मुद्रा की इस वृद्धि से केवल साधारण स्फीति ही उत्पन्न होती है, परन्तु यदि इस पर उचित नियन्त्रण न रखा जाये तो बाद मे चलकर यह भयकर रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार सरकार के निर्देशानुसार केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर (bank-rate) तथा खुले बाजार की नीति (open market operations) के माध्यम से साख की मात्रा मे वृद्धि करता है। जैसा विदित है, बैंक दर को कम करने से साख का विस्तार होता है। इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो को खरीदने लगता है तो प्रचलन-मुद्रा की मात्रा बढ जाती है। इस तरह मुद्रा की मात्रा तथा साख की मात्रा मे विस्तार करके केन्द्रीय बैंक देश मे स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। दूसरे शब्दो मे, लोगो की मौद्रिक आय मे होने वाली वृद्धि केन्द्रीय बैंक की मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीति का परिणाम होती है।

(2) **मुद्रा के सचलन-वेग मे वृद्धि** मुद्रा के सचलन-वेग मे वृद्धि हो जाने मे भी मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होती है। जब लोगो की उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) तथा पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता (marginal efficiency of capital) बढ जाती है तब मुद्रा के सचलन वेग मे वृद्धि हो जाती है। मुद्रा के सचलन-वेग मे हुई वृद्धि से मुद्रा की मात्रा बढ जाती है और इससे जनता की मौद्रिक आय मे वृद्धि हो जाती है।

(3) **घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing)**—जब सरकार अपने बजट मे होने

वाले घाटे को कागजी मुद्रा के निर्गमन से पूरा करती है तो इससे देश मे मुद्रा की मात्रा बढ जाती है। वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जाती हैं और स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) व्यापारिक बंको की साख-नीति—व्यापारिक बैंक भी अपनी साख-निर्माण नीति के माध्यम से स्फीति को प्रोत्साहित कर सकते हैं। कभी कभी व्यापारिक बैंक अपनी जमा राशियो (deposits) के पीछे रखे जाने वाले नकद-कोषो के अनुपात को कम करके साख का निर्माण करते है। इससे देश मे साख का विस्तार होता है और स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(5) प्राकृतिक कारण—कभी-कभी स्फीति प्राकृतिक कारणो से भी उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कोई देश धातुमान पर निर्भर है और उसका प्रामाणिक सिक्का चांदी का बना हुआ है। अब यदि देश मे चाँदी की नयी खानो की खोज के परिणामस्वरूप चाँदी की पूर्ति बढ जाती है अथवा विदेशो से चाँदी का आयात अधिक होता है तो ऐसी स्थिति मे उस देश को मुद्रा की मात्रा मे अवश्य ही विस्तार करना पडता है, जिससे लोगो की मौद्रिक आय बढ जाती है और देश मे स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। चूँकि आजकल कोई भी देश धातुमान पर निर्भर नही है, इसलिए प्राकृतिक कारणो से मुद्रा स्फीति के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नही है।

(ख) उत्पादन की मात्रा को कम करने वाले कारण—जैसा पूर्व कहा जा चुका है यदि देश मे मुद्रा की मात्रा बढती है और उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है तो ऐसी दशा मे अवश्य ही स्फीति उत्पन्न होगी। उत्पादन की मात्रा मे कमी करने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) उत्पादन का ह्रासमान नियम के अन्तर्गत होना—यदि देश मे उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (law of diminishing returns) के अन्तगत होता है तो इससे उत्पादन लागतो मे वृद्धि हो जाती है। परिणामत वस्तुओ की कीमतें बढने लगती हैं और स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम इसीलिए क्रियाशील होता है क्योकि देश मे उत्पादन के साधनो की कमी होती है और उत्पादन बढाने के लिए पर्याप्त मात्रा मे अतिरिक्त साधन उपलब्ध नही होते।

(3) सरकार की कराधान नीति—जब सरकार वस्तुओ तथा सेवाओ पर नये नये कर लगाती है या पुराने करो को बढा देती है तो इससे वस्तुओ तथा सेवाओ के दाम बढ जाते हैं। उनकी म ांग कम हो जाती है और अन्त मे उनका उत्पादन भी कम हो जाता है।

(3) सरकार की व्यापारिक नीति—जब सरकार विदेशी विनिमय कमाने के लिए देश के निर्यातोको प्रोत्साहित करती है तो इससे देश मे वस्तुओ की मात्रा कम हो जाती है कीमतें बढने लगती हैं और स्फीति उत्पन्न हो जाती है। भारत मे होने वाली वर्तमान स्फीति का यह भी एक मुख्य कारण है क्योकि इस समय बडे पैमाने पर देश से वस्तुओ का निर्यात किया जा रहा है।

(4) प्राकृतिक कारण—कभी कभी बाढ, भूकम्प सूखा आदि जैसी प्राकृतिक विपत्तियो से देश के उत्पादन विशेषकर कृषि-उत्पादन मे कमी हो जाती है। इससे भी स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(5) औद्योगिक अशान्ति जब मजदूर अपने आपको श्रमिक सघो मे सगठित करके अपनी मजदूरी बढवाने के लिए समय समय पर हडतालें करते है तो इससे देश मे उत्पादन काय रुक जाता है और उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है। इससे भी स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(7) शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन—आधुनिक काल मे समय समय पर उद्योगो मे शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन (technological changes) होते रहते है जिनसे कुछ समय तक उत्पादन कार्य रुक जाता है। इस अवधि मे स्फीति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(7) देश की जनसख्या मे वृद्धि—जब देश की जनसख्या तेजी के साथ बढती है तब वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग बढ जाती है, परन्तु उत्पादन उसी अनुपात मे नही बढता। इससे भी स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव
(Effects of Inflation)

मुद्रा-स्फीति समाज के विभिन्न वर्गो को विभिन्न रूप मे प्रभावित करती है। मुद्रा-स्फीति के प्रभावो का अध्ययन करने के लिए हम समाज को पाँच वर्गो मे विभाजित कर सकते हैं—

1 उत्पादक वर्ग, 2 निवेशकर्ता वर्ग, 3 वेतनभोगी वर्ग, 4 उपभोक्ता वर्ग, एव 5 ऋणी और ऋणदाता वर्ग। स्मरण रहे साधारणत एक ही व्यक्ति कई वर्गो के अन्तगत आ जाता है। यदि कोई व्यक्ति उत्पादक है तो वह उसके साथ ही साथ उपभोक्ता भी है। इस प्रकार जहाँ उत्पादक होने के नाते उसे मुद्रा स्फीति से लाभ होता है, वहाँ उपभोक्ता होने के नाते उसे स्फीति से हानि भी होती है। अब हम यह देखेंगे कि मुद्रा-स्फीति उपर्युक्त वर्गों को कैसे प्रभावित करती है

(1) **उत्पादक वर्ग (Producers)**—इसके अन्तर्गत हम किसानो, व्यापारियों, उद्योग -पतियो आदि को रख सकते है। साधारणत स्फीतिकाल मे इन लोगो को लाभ होता है। इसका कारण यह है कि स्फीति के परिणामस्वरूप वस्तुओ की कीमते बढती हैं और इन्हे अधिक लाभ प्राप्त होता है। उत्पादक वग को तीन कारणो से अधिक लाभ होता है प्रथम, मुद्रा-स्फीति के कारण पूर्ति की अपेक्षा वस्तुओ की माँग अधिक होती है जिससे कीमतें बढ जाती है और उत्पादक का माल शीघ्र ही बिक जाता है और उसकी पूँजी माल के रूप मे अवरुद्ध (blocked) नही रहती। दूसरे, स्फीतिकाल मे उत्पादन की लागतें उसी अनुपात मे नही बढती जिस अनुपात मे कीमतें बढती हैं, अर्थात् उत्पादन लागतें कीमतो की तुलना मे नीचे रहती हैं। इसका कारण यह है कि उत्पादन कार्य मे कुछ समय अवश्य ही लगता है। जिस समय उत्पादन के लिए कच्चा माल व अन्य वस्तुएँ खरीदी जाती हैं उस समय उनकी कीमतें कम होती हैं। परन्तु जब माल बनकर तैयार हो जाता है तब कच्चे माल व अन्य वस्तुओ की कीमतें बढ जाती हैं, परन्तु उत्पादक ने इस प्रकार की वस्तुओ को कम दामो पर खरीदा होता है, इससे उसे लाभ होता है। तीसरे, जैसा सर्वविदित है, कीमतो (prices) तथा मजदूरियो (wages) की दौड मे मजदूरियाँ सदैव पीछे रह जाती है, अर्थात् मजदूरियाँ उसी अनुपात म नही बढती जिसमे तैयारशुदा माल की कीमतें बढती हैं। इससे भी उत्पादको को लाभ होता है। उत्पादको की भाँति व्यापारियो को भी मुद्रा स्फीति से लाभ होता है। जिस समय व्यापारी वस्तुएँ खरीदते हैं उस समय उनकी कीमतें कम होती हैं परन्तु जब वे उन्हे बेचते है तब उनकी कीमतें अधिक होती हैं।

(2) **निवेशकर्ता वर्ग (Investors)**—इस वर्ग के अन्तगत उन लोगो को सम्मिलित किया जाता है जो पूँजी को उद्योग धन्धो मे लगाते हैं। निवेशकर्ता भी दो प्रकार के होते है। प्रथम, ऐसे निवेशकर्ता जिनकी आय निवेशो (*investments*) से निश्चित तथा अपरिवर्तनशील होती है। दूसरे, वे निवेशकर्ता जिनकी आय मे व्यापार की मन्दी अथवा तेजी के अनुसार परिवतन होता रहता है। मुद्रा स्फीति का इन दोनो प्रकार के निवेशकर्ताओ पर अलग-अलग प्रभाव पडता है। निश्चित तथा अपरिवर्तनशील आय वाले निवेशकर्ता वे होते है जिन्होंने मिश्रित (सम्मिलित) पूँजी वाली कम्पनियो के ऋण-पत्र (debentures) आदि खरीद रखे होते हैं या वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने सरकारी प्रतिभूतियो (government securities) को खरीद रखा होता है। ऐसे निवेशकर्ताओ को अपने निवेशो से निश्चित तथा अपरिवर्तनशील आय ही प्राप्त होती है। अतएव इनको मुद्रा-स्फीति से हानि होती है। इसका कारण यह है कि उनकी आय तो निश्चित रहती है परन्तु कीमतो के बढ जाने से मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है।

परिवर्तनीय आय वाले निवेशकर्ता वे लोग होते है जिन्होंने मिश्रित (सम्मिलित) पूँजी वाली कम्पनियों के अशो (shares) को खरीद रखा होता है। इस प्रकार के निवेशकर्ताओ की आय व्यापार की तेजी अथवा मन्दी पर निर्भर करती है। तेजीकाल मे इनको अपने अशो से अधिक आय प्राप्त होती है और मन्दीकाल मे इनकी आय कम हो जाती है। अतएव ऐसे निवेश-कर्ताओ को मुद्रा-स्फीति से लाभ होता है, क्योकि अब उन्हे अपने अशो पर अधिक लाभाश (dividend) प्राप्त होने लगता है।

(3) **वेतनभोगी वर्ग (Salaried Classes)**—इस वर्ग मे वे सभी लोग सम्मिलित किये जा सकते हैं जो मुद्रा के बदले अपनी सेवाओ का विक्रय करते हैं। उदाहरणार्थ, खेती मजदूर कारखानो मे काम करने वाले मजदूर, दफ्तरो के कर्मचारी, अध्यापक इत्यादि इसी वर्ग मे आते हैं। मुद्रा-स्फीति से इन लोगो को हानि होती है। इसका कारण यह है कि कीमतों और मजदूरियो की दौड मे मजदूरियाँ सदैव पीछे रह जाती है अर्थात इन लोगो की मजदूरियाँ कीमत-स्तर की अपेक्षा मन्द गति से बढती हैं। यह ठीक है कि मुद्रा स्फीति के समय इन लोगो की मजदूरियो मे कुछ वृद्धि होती है, परन्तु कीमत-स्तर की वृद्धि के अनुपात मे यह बहुत कम होती है। इसके

अतिरिक्त, मुद्रा की क्रय-शक्ति मे अधिक कमी हो जाने से वेतनभोगी वर्ग की वास्तविक मजदूरी (real wages) कम हो जाती है। अत मुद्रा-स्फीति से वेतनभोगी वर्ग को सदैव हानि होती है। परन्तु एक अन्य पहलू से इस वर्ग को प्रोत्साहन मिलता है, जिसके फलस्वरूप श्रम की माँग बढ़ जाती है और मजदूरो को अधिक माना मे रोजगार मिलने लगता है।

मुद्रा-स्फीति काल मे देश की औद्योगिक शान्ति भग हो जाती है और आये-दिन उद्योगो मे हड़तालें होती रहती हैं। इससे उत्पादन की मात्रा भी कम हो जाती है।

(4) उपभोक्ता वर्ग (Consumers)—मुद्रा-स्फीति से उपभोक्ताओ को सदैव हानि होती है। इसका कारण यह है कि वस्तुओ की कीमतें बढ जाने से मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है और उपभोक्ता पहले की तुलना मे कम वस्तुएँ क्रय करने मे समर्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ आवश्यक वस्तुओ की दुर्लभता भी उत्पन्न हो जाती है जिससे उपभोक्ताओ को काफी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। उपभोक्ता भी दो प्रकार के होते हैं। जिन उपभोक्ताओ की आय परिवर्तनीय होती है, अर्थात् तेजी काल मे बढ जाती है, उनको मुद्रा-स्फीति से कोई विशेष हानि नही होती। परन्तु जिन उपभोक्ताओ की आय निश्चित तथा अपरिवर्तनीय होती है, उनको मुद्रा-स्फीति से बहुत कष्ट होता है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात मुद्रा स्फीति के कारण जर्मनी के उपभोक्ताओ को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। एक जर्मनी-निवासी के कथनानुसार, "पहले हम दूकानो पर अपनी जेब मे मुद्रा रखकर ले जाते थे और खाद्य-पदार्थों को टोकरियो मे भरकर लाते थे। अब हम मुद्रा को टोकरियो मे भरकर ले जाते हैं और खाद्य-पदार्थों को अपनी जेबो मे डालकर लाते हैं।"[1]

(5) ऋणी एवं ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)—मुद्रा-स्फीति से ऋणी तथा ऋणदाता वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। मुद्रा-स्फीति से ऋणी वर्ग को लाभ होता है, परन्तु ऋणदाता वर्ग को हानि होती है। इसका कारण यह है कि स्फीतिकाल मे मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, किन्तु ब्याज की दर यथास्थिर रहती है। इस प्रकार ऋणदाता को ब्याज की दर के रूप मे मिलने वाली वास्तविक क्रय शक्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त यदि कोई ऋणी स्फीतिकाल मे ऋणदाता को मूलधन लौटा देता है तो इससे भी ऋणी को लाभ तथा ऋणदाता को हानि होती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा का मूल्य गिर जाने से ऋणी ऋणदाता को कम माना मे क्रय शक्ति लौटाता है। परन्तु एक अन्य पहलू से देखने पर मुद्रा-स्फीति ऋणदाता के लिए लाभदायक भी होती है। इसका कारण यह है कि कीमतो की वृद्धि के फलस्वरूप व्यापार-विस्तार के लिए पूँजी की माँग बढ जाने के कारण आगे चलकर ब्याज की दर मे वृद्धि हो जाती है जिससे ऋणदाता को लाभ होता है। इसके विपरीत, ऋणी को हानि होती है क्योंकि एक तो उसे नये ऋणो पर अधिक ब्याज देना पड़ता है और दूसरे, उसे नये ऋण प्राप्त करने मे कठिनाई होती है।

मुद्रा-स्फीति के अन्य प्रभाव—समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले उपर्युक्त प्रभावो के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति के निम्न अन्य आर्थिक प्रभाव भी होते हैं

(2) कराधान में वृद्धि—स्फीतिकाल मे प्राय कराधान (taxation) मे वृद्धि हो जाती है। सरकार अपनी आय को बढाने के लिए पुराने करो को बढा देती है और विभिन्न प्रकार के नये-नये कर भी लगाती है।

(2) सार्वजनिक ऋणों मे वृद्धि—स्फीतिकाल मे अपने बजट के घाटे को पूरा करने के लिए कराधान के अतिरिक्त सरकार लोगो से ऋण भी लेती है।

(3) नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली—स्फीतिकाल मे प्राय स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली का परित्याग कर दिया जाता है और इसके स्थान पर नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली (controlled

---

1 "We used to go to the stores with money in our pockets and came with food in our baskets Now we go with money in baskets and return with food in our pockets"
—Quoted by *Samuelson*

economic system) की नीति अपनायी जाती है। सरकार द्वारा कीमत-स्तर को बढने से रोकने के लिए कई प्रकार के वस्तु नियन्त्रण (commodity controls) लगाये जाते हैं।

(4) **बैंकिंग तथा बीमा उद्योगों का विकास**—चूंकि स्फीतिकाल मे लोगो की मौद्रिक आय बढ जाती है, इसीलिए बैंको तथा बीमा कम्पनियो को विकसित होने का स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है। बैंको की जमा राशि (deposits) बढने लगती है। नये-नये बैंको की स्थापना होती है। बीमा कम्पनियो का व्यवसाय भी बढने लगता है।

(5) **आयातो मे वृद्धि तथा निर्यातो मे ह्रास**—चूंकि स्फीतिकाल मे आन्तरिक कीमत-स्तर तेजी से बढता है, इसलिए आयातो को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु निर्यातो मे कमी हो जाती है। इससे देश का भुगतान शेष (balance of payments) प्रतिकूल हो जाता है और विदेशी विनिमय दरो मे वृद्धि हो जाती है।

(6) **बचतें हतोत्साहित होती हैं**—स्फीतिकाल मे बचतें सदैव हतोत्साहित होती हैं। इसका कारण यह है कि मुद्रा का मूल्य निरन्तर गिरने से लोगो का मुद्रा मे से विश्वास उठ जाता है, जिससे बचत की भावना को ठेस पहुँचती है।

(7) **धन का पुन वितरण**—स्फीतिकाल मे राष्ट्रीय धन धनिक वर्गों के हाथो मे केन्द्रित होने लगता है। धनी अधिक धनी होने लगते हैं तथा गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं। इस प्रकार देश मे आर्थिक विषमताएँ (*economic inequalities*) बढ जाती हैं।

(8) **समाज का नैतिक पतन**—स्फीतिकाल मे प्रत्येक व्यक्ति उचित तथा अनुचित साधनो से अधिकाधिक धन कमाने का प्रयत्न करता है। व्यापारियो मे चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी जमा-खोरी आदि जैसी बुरी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी कर्मचारियो मे घूसखोरी बढ जाती है। इससे समूचे समाज का नैतिक पतन हो जाता है।

(9) **रोजगार पर प्रभाव**—स्फीतिकाल मे बेरोजगारी कम हो जाती है। मुद्रा-स्फीति के कारण कीमतो मे वृद्धि होती है जिससे उत्पादको को अधिक लाभ होता है फलत वे उत्पादन का विस्तार करते हैं जिससे बेकार व्यक्तियो को अधिक रोजगार मिलने लगता है। इसी कारण प्रो० केन्ज (Keynes) ने पूर्ण रोजगार की दशा की प्राप्ति के लिए हल्की मात्रा मे मुद्रा स्फीति का समर्थन किया था।

मुद्रा स्फीति के उपर्युक्त प्रभाव केवल इसकी प्रथम तथा दूसरी स्थितियो मे ही होते हैं। जब मुद्रा-स्फीति तीसरी स्थिति म प्रविष्ट होती है तब समूची अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। लोगो का देश की मुद्रा मे से विश्वास उठ जाता है और वे इसे स्वीकार करने म आनाकानी करते हैं। देश मे वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित हो जाती है। अत्यधिक मुद्रा-स्फीति (hyper inflation) से समाज के सभी वर्गों को हानि होती है। मुद्रा-स्फीति की बुराइयो की ओर सकेत करते हुए प्रो० सी० एन० वकील (C N Vakil) ने लिखा है, "मुद्रा-स्फीति की तुलना डकैत से की जा सकती है दोनो ही अपने-अपने शिकारो को उनकी कुछ वस्तुओ से वचित कर देते हैं। अन्तर केवल इतना है कि डकैत देखा जा सकता है जबकि मुद्रा-स्फीति को देखा नही जा सकता। डकैत का शिकार एक समय मे केवल एक या थोडे-से व्यक्ति होते हैं, जबकि मुद्रा-स्फीति का शिकार समूचा राष्ट्र होता है। डकैत को अदालत मे पेश किया जा सकता है जबकि मुद्रा-स्फीति वैधानिक होती है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा स्फीति, वास्तव मे, एक बुरी चीज है और इसके आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक परिणाम अत्यन्त गम्भीर होते हैं। प्रो० राबर्टसन (Robertson)

---

1 "Inflation may be compared to robbery Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible inflation is invisible, the robber's victim may be one or a few at a time, the victim of inflation is the whole nation, the robber may be dragged to a court of law but inflation is legal."
—*C N Vakil*

ने उचित ही कहा है, "मुद्रा मानव के लिए एक प्रकार का वरदान है। लेकिन यदि इसे काबू मे न रखा जाय तो यह सकट एव घबराहट का कारण भी बन सकती है।"[1]

मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय
(Measures to Check Inflation)

मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए प्राय निम्नलिखित तीन उपाय किये जाते हैं

(1) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)—मौद्रिक उपायो के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने वाले कार्य सम्मिलित किये जाते है जिनके द्वारा वह मुद्रा की मात्रा तथा साख मुद्रा पर नियन्त्रण रखता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक दो प्रमुख कार्य कर सकता है—प्रथम, अतिरिक्त मुद्रा (surplus currency) को प्रचलन से वापस लेना और दूसरे, साख मुद्रा पर नियन्त्रण स्थापित करना।

(क) मुद्रा की मात्रा को कम करना—जैसा हम देख चुके है, मुद्रा की मात्रा म अधिकाधिक वृद्धि करने से ही स्फीति का जन्म होता है, इसलिए मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए आवश्यक है कि मुद्रा की वृद्धि पर रोक लगायी जाय। इसी कारण केन्द्रीय बैंक मुद्रा के कुछ नोटो को प्रचलन से वापस ले लेता है। नयी प्रकार की मुद्रा का निर्गमन किया जाता है और पुरानी मुद्रा को नयी मुद्रा मे कम दर पर बदला जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सोवियत रूस ने इस रीति को अपना कर मुद्रा की मात्रा मे कमी की थी।

(ख) साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखना—मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको द्वारा किये जाने वाले साख निर्माण पर उचित नियन्त्रण रखे। ऐसा करने के लिए केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर नीति, खुले बाजार की नीति, साख की राशनिंग, न्यूनतम नकद कोष मे परिवर्तन सीधी कार्यवाही आदि उपायो का प्रयोग कर सकता है। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक को बैंक दर ऊँची कर देनी चाहिए और खुले बाजार मे प्रतिभूतियो को बेचना चाहिए। ऐसा करने से साख की मात्रा को सकुचित किया जा सकता है।

(2) राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures)—इस शीर्षक के अन्तर्गत सरकार को वे सभी राजकोषीय उपाय काम मे लाने चाहिए जो मुद्रा की मात्रा को कम करने मे सहायक होते है। इस सन्दर्भ मे विशेषकर कराधान नीति, सावजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण तथा अतिमूल्यन आदि उपाय उल्लेखनीय हैं।

इनको हम इस प्रकार समझ सकते हैं

(क) कराधान मे वृद्धि—मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए कराधान मे वृद्धि करना आवश्यक होता है। ऐसे समय सरकार को पुराने करो को बढा देना चाहिए और विभिन्न प्रकार के नये प्रत्यक्ष व परोक्ष करो को लगाना चाहिए। ऐसा करने से लोगो की अतिरिक्त क्रय शक्ति (Surplus Purchasing Power) को प्रभावहीन बनाया जा सकता है और मूल्य वृद्धि को रोका जा सकता है।

(ख) सार्वजनिक व्यय में कमी—स्फीतिकाल मे यथासम्भव सरकार को अपना व्यय कम कर देना चाहिए। विशेषकर अनुत्पादक व्यय (unproductive expenditure) को कम करना तो बहुत आवश्यक होता है। ऐसा करने से कीमतो मे होने वाली वृद्धि को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(ग) सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि—स्फीतिकाल मे सरकार को अधिकाधिक मात्रा मे लोगो से ऋण लेना चाहिए और इस प्रकार प्राप्त किये गये धन से उत्पादन मे वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे एक ओर तो जनता के हाथो मे क्रय शक्ति की कमी हो जाती है और दूसरी ओर देश मे उत्पादन की मात्रा बढ जाती है।

(घ) बचतो को प्रोत्साहन—स्फीतिकाल मे सरकार को उपभोग को हतोत्साहित कर बचतो

---

1 "Thus, money which is a source of so many blessings to mankind, becomes also unless we can control it, a source of peril and confusion" —*Robertson*

को प्रोत्साहन देना चाहिए। उपभोग की वस्तुओं पर कर लगाकर उपभोग को कम करना चाहिए, बचत सम्बन्धी योजनाओं का प्रचार करना चाहिए। बचतों को प्रोत्साहित करने हेतु ब्याज की दर में वृद्धि कर देनी चाहिए।

(ङ) सन्तुलित बजट की नीति (Policy of Balanced Budget)—स्फीतिकाल में सरकार को यथासम्भव अपना बजट सन्तुलित रखना चाहिए, अर्थात् घाटे के बजट से बचना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि बजट घाटे का बजट है तो सरकार को उस घाटे को पूरा करने के लिए मुद्रा का निर्गमन करना पड़ेगा। अतएव स्फीतिकाल में घाटे का बजट देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक होता है।

(च) अतिमूल्यन (Over-valuation)—कभी-कभी स्फीति को रोकने के लिए देश की मुद्रा का अतिमूल्यन भी करना पड़ता है। अतिमूल्यन से अभिप्राय यह है कि दूसरे देशों की मुद्राओं की तुलना में अपने देश की मुद्रा को अधिक मूल्य प्रदान करना। मुद्रा के अतिमूल्यन का परिणाम यह होता है कि देश के आयात बढ़ते हैं और निर्यात कम हो जाते हैं। इससे देश में वस्तुओं की मात्रा बढ़ती है और मुद्रा-स्फीति को रोकने में सहायता मिलती है।

(3) अन्य उपाय—मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए दो अन्य उपायों का भी प्रयोग किया जा सकता है—(क) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना, तथा (ख) व्यापार एवं कीमतों पर नियन्त्रण स्थापित करना।

(क) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि—जैसा हम देख चुके हैं, स्फीति का जन्म इसलिए होता है कि देश के उत्पादन की तुलना में लोगों की मौद्रिक आय अधिक बढ़ जाती है। अतः यदि किसी प्रकार उत्पादन की मात्रा को मौद्रिक आय के बराबर कर दिया जाय तो मुद्रा-स्फीति को रोका जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए देश के उत्पादन को अधिकाधिक मात्रा में बढ़ाना आवश्यक होता है। सरकार को ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे उत्पादन को अधिकतम प्रोत्साहन मिले। यदि सरकार समझती है कि निजी उद्योगपति उत्पादन की मात्रा को पर्याप्त रूप में नहीं बढ़ाते तो उसे स्वयं सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) में नये-नये उद्योग-धन्धे स्थापित करके उत्पादन की मात्रा को बढ़ाना चाहिए।

(ख) व्यापार तथा कीमतों पर नियन्त्रण स्थापित करना—स्फीति को रोकने के लिए सरकार को कीमत नियन्त्रण (price control) की नीति अपनानी चाहिए, विशेषकर आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को तो नियन्त्रित करना ही चाहिए। इसी प्रकार दुर्लभ आवश्यक वस्तुओं का राशनिंग (rationing) भी करना चाहिए। इसके साथ ही साथ स्फीति को नियन्त्रण में रखने के लिए देश के विदेशी व्यापार का नियमन (regulation) भी आवश्यक है।

अवस्फीति (मुद्रा-संकुचन)
(Deflation)

मुद्रा-अवस्फीति, मुद्रा-स्फीति की विपरीत दशा है। प्रो० क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "मुद्रा-अवस्फीति वह अवस्था होती है जिसमें मुद्रा का मूल्य बढ़ता है अर्थात् कीमतें नीचे गिरती हैं।" प्रो० क्राउथर की परिभाषा देखने में तो सरल प्रतीत होती है, परन्तु दोषमुक्त नहीं है। प्रो० क्राउथर की परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि कीमत-स्तर की प्रत्येक कमी मुद्रा-अवस्फीति होती है। परन्तु, वास्तव में, बात ऐसी नहीं है। कभी-कभी मुद्रा की मात्रा में बिना किसी प्रकार की कमी के कीमत-स्तर नीचे गिरने लगता है। अब कीमत-स्तर की गिरावट को मुद्रा अवस्फीति नहीं कहा जा सकता।

कुछ लेखकों ने मुद्रा-अवस्फीति की परिभाषा इस प्रकार की है—**जब किसी देश में किसी विशेष समय पर मुद्रा की पूर्ति उसकी मांग से कम होती है तब इसे मुद्रा-अवस्फीति कहते हैं।** दूसरे शब्दों में, जब किसी देश में मुद्रा की मात्रा वहाँ की व्यावसायिक आवश्यकता से (अर्थात् मुद्रा की माँग से) कम होती है, तब उस देश में मुद्रा-अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। वस्तुओं की कीमतें गिरने लगती है और मुद्रा का मूल्य बढ़ना आरम्भ हो जाता है। परन्तु इस परिभाषा में एक त्रुटि यह है कि देश की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओं का सही-सही अनुमान लगाना कठिन होता है।

मुद्रा-अवस्फीति की सर्वोत्तम परिभाषा प्रो० पीगू (Pigou) द्वारा प्रस्तुत की गयी है। प्रो० पीगू के अनुसार, **"मुद्रा-अवस्फीति कीमत-स्तर के गिरने की वह अवस्था है जो उस समय उत्पन्न होती है, जबकि वस्तुओ तथा सेवाओ का उत्पादन मौद्रिक आय की तुलना मे तेजी से बढता है।"** इस प्रकार प्रो० पीगू के अनुसार, "कीमत-स्तर की प्रत्येक कमी मुद्रा-अवस्फीति नही होती। मुद्रा-अवस्फीति की दशा तो तब उत्पन्न होती है जबकि देश का उत्पादन लोगो की मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढता है।" निम्न दशाओ मे कीमतो की गिरावट अवस्फीतिक (deflationary) होती है

(1) यदि मौद्रिक आय घट जाती है, परन्तु उत्पादन की मात्रा यथास्थिर रहती है।

(2) यदि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनो ही कम हो जाते हैं, परन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की तुलना मे अधिक तेजी से घटती है।

(3) यदि उत्पादन की मात्रा बढती है, परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।

(4) यदि उत्पादन की मात्रा तथा मौद्रिक आय दोनो बढते हैं, परन्तु उत्पादन, मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढता है।

(5) यदि उत्पादन की मात्रा बढती है और मौद्रिक आय घटती है।

मुद्रा-अवस्फीति के कारण
(Causes of Deflation)

मुद्रा-अवस्फीति के कारण निम्नलिखित है

(1) **मुद्रा की मात्रा मे कमी**—जब सरकार देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा को कम करती है तब देश मे अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहते हुए भी वस्तुओ तथा सेवाओ की पूर्ति मे वृद्धि हो जाने पर अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि विनिमयसाध्य (exchangeable) वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि हो जाने पर मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ जाती है और कीमत-स्तर मे कमी हो जाती है।

(2) **करधान तथा सार्वजनिक ऋण**—जब सरकार लोगो पर भारी कर लगाती है या बडे पैमाने पर जनता से ऐच्छिक (voluntary) या अनिवार्य (compulsory) रूप मे ऋण लेती है, तब देश मे अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि कराधान तथा ऋणो के कारण देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है, जबकि उत्पादन की मात्रा यथा-स्थिर रहती है इससे कीमतो मे गिरावट आ जाती है और मुद्रा का मूल्य बढ जाता है।

(3) **बैंक-दर मे वृद्धि**—जब केन्द्रीय बैंक बैंक दर (bank-rate) को बढा देता है तब इसके परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी अपनी-अपनी ब्याज की दरें बढा देते हैं जिससे देश मे साख की मात्रा मे कमी हो जाती है। साख की मात्रा मे कमी हो जाने से, कीमत-स्तर पर वही प्रभाव पडता है जो मुद्रा की मात्रा मे कमी हो जाने से, अर्थात बैंक-दर को बढा देने से देश मे अवस्फीतिक परि-स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) **खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)**—जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो को बेचता है तब ऐसा करने से प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। कारण यह है कि सरकारी प्रतिभूतियो को खरीदने के लिए लोग केन्द्रीय बैंक को रुपये चुकाते हैं जिससे व्यापारिक बैंको की जमा राशियाँ (deposits) कम हो जाती हैं। परिणामत बैंको की साख-निर्माण करने की शक्ति कम हो जाती है और साख मुद्रा का सकुचन हो जाता है।

(5) **केन्द्रीय बैंक की अन्य साख-नियन्त्रण नीतियाँ**—केन्द्रीय बैंक, बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओ के अतिरिक्त, देश मे साख मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखने के लिए अन्य उपायो को भी अपनाता है जैसे नकद-कोषो के अनुपात मे परिवर्तन, साख का राशनिंग, सीधी कार्यवाही इत्यादि। इन सभी उपायो का परिणाम यह होता है कि साख-मुद्रा की मात्रा सकुचित हो जाती है।

मुद्रा-अवस्फीति के प्रभाव
(Effects of Deflation)

मुद्रा-अवस्फीति का देश के समूचे आर्थिक जीवन पर प्रभाव पडता है। इससे विभिन्न वर्गों पर पडने वाले प्रभाव निम्नलिखित हैं

(1) **उत्पादक वर्ग एवं व्यापारी वर्ग (Producers and Traders)**—मुद्रा-अवस्फीति से उत्पादकों तथा व्यापारियों को हानि होती है। उत्पादकों को हानि तीन कारणों से होती है। **प्रथम,** उत्पादकों की लागतें कीमतों में होने वाली कमी की तुलना में कम तेजी से घटती हैं। उदाहरणार्थ, लगान ब्याज तथा मजदूरी की दरों को उतनी तेजी से नहीं घटाया जा सकता जितनी तेजी से अवस्फीति-काल में कीमतें गिरती हैं। **दूसरे,** जब कोई उत्पादक, उत्पादन हेतु कच्चा माल खरीदता है तो इसके लिए उसे अधिक कीमत चुकानी पड़ती है परन्तु जब तैयारशुदा माल बिक्री हेतु बाजार में पहुँचता है तब तक कच्चे माल की कीमत और अधिक गिर जाती है और विवश होकर उत्पादक को अपने माल की कीमत घटानी पड़ती है। **तीसरे,** अवस्फीति-काल में वस्तुओं की माँग भी कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप उत्पादकों के पास माल का स्टॉक जमा होता रहता है और उनकी पूँजी अवरुद्ध (blocked) हो जाती है।

मुद्रा-अवस्फीति से व्यापारियों को इसलिए हानि होती है, क्योंकि माल खरीदने के समय तो कीमतें अधिक चुकानी पड़ती है, परन्तु जब तक वे अपने माल को बेचने में समर्थ होते हैं तब तक वस्तुओं की कीमतें और अधिक गिर जाती है। इसी प्रकार अवस्फीति-काल में किसानों को भी आर्थिक हानि होती है। वास्तव में, छोटे किसानों की हालत तो अत्यन्त शोचनीय हो जाती है।

(2) **निवेशकर्ता वर्ग (Investors)**—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, निवेशकर्त्ता दो प्रकार के होते हैं—**प्रथम,** वे निवेशकर्ता जिनकी आय निश्चित तथा अपरिवर्तनशील होती है और **दूसरे,** वे निवेशकर्ता जिनकी आय परिवर्तनशील होती है। मुद्रा-अवस्फीति का प्रभाव इन दोनों निवेशकर्ताओं पर अलग-अलग पडता है। अपरिवर्तनशील आय वाले निवेशकर्ताओं को अवस्फीति से लाभ होता है। इसका कारण यह है कि उनकी आय तो यथास्थिर रहती है परन्तु कीमत-स्तर गिर जाता है। अतएव अपनी निश्चित आय से वे अब अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकते हैं। इस प्रकार मिश्रित पूँजी कम्पनियों में ऋण-पत्रधारियों (debenture holders) तथा सरकारी बॉण्ड-धारियों (bond holders) को मुद्रा-अवस्फीति से विशेष लाभ होता है क्योंकि इन दोनों की आय निश्चित तथा अपरिवर्तनशील होती है। इसके विपरीत परिवर्तनशील आय वाले निवेशकर्ताओं को अवस्फीति से हानि होती है। इसका कारण यह है कि अवस्फीति के कारण उनकी आय कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, मिश्रित पूँजी कम्पनी के अंशधारियों (shareholders) को अवस्फीति से हानि होती है क्योंकि अवस्फीतिकाल में अंशों पर प्राप्त होने वाला लाभांश (dividend) कम हो जाता है।

(3) **वेतनभोगी वर्ग व श्रमिक (Salaried and Labouring Classes)**—मुद्रा-अवस्फीति से वेतनभोगी तथा श्रमिक वर्गों को लाभ होता है। इसका कारण यह है कि कीमतों में कमी हो जाने के साथ-साथ श्रमिकों की मजदूरियों में कमी करना आसान नहीं होता। श्रमिक संगठन मौद्रिक मजदूरी में की गयी कटौती का तीव्र विरोध करते हैं। इसी प्रकार वेतन-भोगी वर्ग के वेतनों में भी कटौती करना आसान नहीं होता। फलत इन वर्गों को मुद्रा-अवस्फीति से लाभ होता है, क्योंकि इनकी मौद्रिक आय तो यथास्थिर रहती है जबकि वस्तुओं की कीमतें गिर जाती हैं। परन्तु एक अन्य दृष्टिकोण से इन वर्गों को मुद्रा-अवस्फीति के कारण हानि भी होती है। इसका कारण यह है कि अवस्फीति के परिणामस्वरूप उत्पादकों को घाटा होने लगता है जिससे भयभीत होकर वे उत्पादन कम कर देते हैं। कुछ व्यावसायिक संस्थान तो बिलकुल बन्द हो जाते हैं। इससे मजदूरों तथा वेतनभोगियों की छँटनी होती है बेरोजगारी बढ जाती है तथा मजदूरों में असन्तोष फैल जाता है। श्रमिक संघ प्राय छटनी का तीव्र विरोध करते हैं, जिससे हडतालें व तालाबन्दियाँ होती है और देश में औद्योगिक अशान्ति फैल जाती है।

(4) **उपभोक्ता वर्ग (Consumers)**—मुद्रा-अवस्फीति से उपभोक्ताओं को प्राय लाभ होता है। इसका कारण यह है कि वस्तुओं की कीमतों के गिर जाने से उपभोक्ता अब मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उनकी

क्रय शक्ति बढ जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि उपभोक्ता भी दो प्रकार के होते हैं। प्रथम, वे उपभोक्ता जिनकी मौद्रिक आय अवस्फीतिकाल मे स्थिर रहती है, जैसे वेतनभोगी कर्मचारी। दूसरे, वे उपभोक्ता जिनकी मौद्रिक आय परिवर्तनशील होती है और अवस्फीतिकाल मे कम हो जाती है। मुद्रा-अवस्फीति से प्रथम श्रेणी के उपभोक्ताओ को तो लाभ होता है, क्योकि उनकी मौद्रिक आय मे कोई कमी नही होती, परन्तु दूसरी श्रेणी के उपभोक्ताओ को अवस्फीति से हानि होती है, क्योकि उनकी मौद्रिक आय कीमतो की तुलना मे अधिक तेजी से नीचे गिरती है।

(5) **ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)**—मुद्रा-अवस्फीति से ऋणदाता वर्ग को लाभ होता है जबकि ऋणी वर्ग को हानि होती है। ऋणदाता वर्ग को इसलिए लाभ होता है, क्योकि ब्याज के रूप मे उन्हे जो राशि प्राप्त होती है, मुद्रा-अवस्फीति के कारण उसकी क्रय-शक्ति बढ जाती है। इसके अतिरिक्त, यदि अवस्फीतिकाल मे ऋणी द्वारा मूलधन लौटा दिया जाता है तो ऋणदाता को वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे अधिक क्रय-शक्ति प्राप्त होती है। मुद्रा-अवस्फीतिकाल मे ऋणदाताओ को इसलिए भी लाभ होता है क्योकि ऐसे समय उपभोग के लिए ऋणो की माँग बढ जाती है और ऋणदाता मनचाही ब्याज की दरो पर ऋण देते हैं, परन्तु जैसा कहा गया है अवस्फीतिकाल मे ऋणी वर्ग को बहुत हानि होती है, विशेषकर किसानो पर ऋण का बोझ अधिक हो जाता है।

मुद्रा-अवस्फीति के अन्य प्रभाव—उपर्युक्त प्रभावो के अतिरिक्त देश के आर्थिक जीवन पर मुद्रा-अवस्फीति के अन्य प्रभाव भी पडते हैं

(1) **करो के भार मे वृद्धि**—अवस्फीतिकाल मे करदाताओ को हानि होती है। यद्यपि मुद्रा के रूप मे उन्हे सरकार को कम कर चुकाना पडता है लेकिन वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे उन पर कर का भार बढ जाता है। इसका कारण यह है कि कीमतो के गिर जाने से मुद्रा का मूल्य बढ जाता है।

(2) **सरकारी ऋणो के भार मे वृद्धि**—मुद्रा का मूल्य बढ जाने से सरकार पर सार्वजनिक ऋणो का बोझ अधिक हो जाता है जिसका देश की समूची अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। बजट सम्बन्धी घाटे को पूरा करने के लिए सरकार को अधिक ऋण लेने पडते है।

(3) **बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव**—अवस्फीतिकाल मे बैंको से ऋण लेने वाले व्यक्तियो की सख्या कम हो जाती है। व्यापार मे मन्दी के कारण बैंको द्वारा दिये गये ऋणो की मात्रा गिर जाती है। अत अवस्फीतिकाल बैंको के लिए सकट का काल होता है।

(4) **विदेशी व्यापार पर प्रभाव**—अवस्फीतिकाल मे आन्तरिक कीमत-स्तर के गिर जाने से निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु विदेशो से आने वाले आयात कम हो जाते हैं। इससे देश का अदायगी शेष (balance of payments) अनुकूल हो जाता है, और देशी मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ जाता है।

(5) **रोजगार पर प्रभाव**—अवस्फीतिकाल मे कीमतो मे कमी हो जाने के कारण उत्पादको को हानि होने लगती है जिससे वे उत्पादन की मात्रा को कम कर देते हैं। कुछ सस्थान बन्द हो जाते है, मजदूरो की छँटनी होती है और देश मे बेरोजगारी फैल जाती है।

(6) **सामाजिक तथा नैतिक दुष्परिणाम**—अवस्फीतिकाल मे मजदूरो तथा कारखानेदारो मे प्राय झगडे होते रहते है जिससे देश की औद्योगिक शान्ति भग हो जाती है। राष्ट्रीय विकास मे बाधाएँ उपस्थित होती हैं तथा समूचे देश का आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

अत मुद्रा-अवस्फीति समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक होती है। कुछ अर्थशास्त्रियो का तो यह मत है कि मुद्रा-स्फीति (inflation) की तुलना मे मुद्रा-अवस्फीति (deflation) अधिक हानिकारक होती है। वास्तव मे, देश के आर्थिक विकास के लिए मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-अवस्फीति दोनो ही हानिकारक हैं, क्योकि इन दोनो का ही देश पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। देश के आर्थिक विकास के लिए कीमत-स्तर मे अत्यधिक उतार-चढाव (fluctuations) हानिकारक सिद्ध होते हैं।

मुद्रा-अवस्फीति को रोकने के उपाय
(Measures To Check Deflation)

जैसा हम ऊपर देख चुके है, मुद्रा-अवस्फीति देश की अर्थ-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देती है। अत सरकार द्वारा इसे रोकने के प्रयत्न किये जाने चाहिए । मुद्रा-अवस्फीति को रोकने के लिए निम्नलिखित तीन उपाय किये जाते है

(1) **मौद्रिक उपाय** (Monetary Measures)—मुद्रा-अवस्फीति को रोकने के लिए निम्न दो प्रकार के मौद्रिक उपायो को अपनाना चाहिए

(क) **मुद्रा का अधिक निर्गमन** –यदि देश मे उत्पादन के अत्यधिक बढ जाने से मुद्रा अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो गयी है तो केन्द्रीय बैंक को अधिक मात्रा मे मुद्रा निर्गमन करना चाहिए । इससे कीमत-स्तर मे सुधार किया जा सकता है।

(ख) **साख-मुद्रा का विस्तार**—मुद्रा-अवस्फीति के समय देश के केन्द्रीय बैंक को अपनी बैंक-दर घटाकर तथा खुले बाजार मे प्रतिभूतियो को खरीदकर साख-मुद्रा का विस्तार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंको को भी अधिक साख-विस्तार के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(2) **राजकोषीय उपाय** (Fiscal Measures)—अवस्फीतिकाल मे सरकार द्वारा निम्नलिखित राजकोषीय उपायो का अपनाया जाना चाहिए

(क) **करों मे कमी**—अवस्फीति का सामना करने के लिए सरकार को करो की सख्या तथा भार मे कमी करनी चाहिए। इससे उत्पादको का लाभ बढ जाता है और वे उत्पादन की मात्रा को बढाते हैं। इससे बेरोजगारी कम हो जाती है। रोजगार की स्थिति मे सुधार होने से जनता की क्रय-शक्ति बढ जाती है, जिसमे वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग म वृद्धि होनी है और अन्तत कीमतो को अधिक नीचे गिरने से बचाया जा सकता है।

(ख) **सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि**—अवस्फीति मे सरकार को यथासम्भव राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी योजनाओ पर अधिकाधिक व्यय करना चाहिए । इससे एक ओर तो रोजगार की मात्रा मे वृद्धि होती है और दूसरी ओर लोगो की क्रय-शक्ति बढ जाती है । स्वर्गीय प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट (President Roosevelt) ने अमरीका मे मन्दी को रोकने के लिए सार्वजनिक व्यय मे काफी वृद्धि की थी।

(ग) **ऋणो का भुगतान**—अवस्फीति मे सरकार को यथासम्भव सार्वजनिक ऋणो का भुगतान करना चाहिए। इससे प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा बढती है और मन्दी को रोकने मे सहायता मिलती है ।

(घ) **आर्थिक सहायता**—अवस्फीति मे उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए ताकि देश मे रोजगार की मात्रा को बढाया जा सके।

(3) **अन्य उपाय**—अवस्फीति को रोकन के लिए उपर्युक्त मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायो के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय भी किये जाने चाहिए

(क) **देश के निर्यातो को प्रोत्साहन देना तथा आयातो को कम करना**—चूँकि अवस्फीति-काल मे देश मे अति-उत्पादन की समस्या उत्पन्न हो जाती है, इसलिए ऐसे समय पर सरकार को यथासम्भव निर्यातो को बढाना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही साथ आयातो पर नियन्त्रण भी रखना चाहिए ताकि देश मे वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि न हो सके।

(ख) **अतिरिक्त उत्पादन को नष्ट किया जाय**—कीमतो मे वृद्धि करने के लिए यह भी आवश्यक है कि अतिरिक्त उत्पादन (surplus production) को नष्ट कर दिया जाय ताकि वस्तुओ की पूर्ति मे कमी हो और अन्तत कीमतो म वृद्धि हो जाय। इससे तत्काल तो उत्पादको को हानि होती है, परन्तु बाद मे चलकर जब कीमतें बढ जाती हैं तो उनकी इस हानि की पूर्ति हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति बनाम मुद्रा-अवस्फीति
(Inflation *vs* Deflation)

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-अवस्फीति में से कौन श्रेष्ठ है ? जैसा हमने ऊपर देखा है, स्फीतिकाल में उत्पादकों, कुछ प्रकार के निवेशकर्ताओं तथा ऋणियों को लाभ होता है । इसके विपरीत, अधिकांश निवेशकर्ताओं, श्रमिकों, वेतनभोगियों, उपभोक्ताओं को हानि होती है । अवस्फीतिकाल में निश्चित तथा अपरिवर्तनशील आय वाले निवेशकर्ताओं उपभोक्ताओं तथा ऋणदाताओं को लाभ होता है। परन्तु अन्य निवेशकर्ताओं, उत्पादकों, श्रमिकों तथा व्यापारियों को हानि होती है । अवस्फीति में उपभोक्ताओं को तो लाभ होता है, परन्तु उद्योग-धन्धे बन्द हो जाने से देश में बेकारी फैल जाती है । स्फीतिकाल में उत्पादकों तथा व्यापारियों को तो लाभ होता है परन्तु उपभोक्ताओं को बहुत हानि होती है और देश में औद्योगिक अशान्ति फैलती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-अवस्फीति दोनों ही हानिकारक हैं। प्रो० केन्ज के मतानुसार, 'मुद्रा स्फीति अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-अवस्फीति अनुपयुक्त है।'[1]

प्रो० केन्ज ने ठीक ही कहा है कि मुद्रा-स्फीति अन्यायपूर्ण होती है। इसके निम्नलिखित कारण हैं

(1) जब सरकार बजट सम्बन्धी घाटे को पूरा करने के लिए नयी मुद्रा का निर्गमन करती है तब यह नीति एक प्रकार से लोगों पर अदृश्य कराधान (invisible taxation) होती है क्योंकि इससे वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती है और उपभोक्ता उनके उपभोग से वंचित रह जाते हैं । इस प्रकार मुद्रा-स्फीति वस्तुओं तथा सेवाओं को जनता से छीनकर सरकार को दे देती है । स्पष्टत यह अन्यायपूर्ण है ।

(2) मुद्रा-स्फीति का भार प्राय समाज के निर्धन वर्गों पर पड़ता है जो उसे सहन कर सकने में समर्थ नहीं होते । इसका कारण यह है कि मुद्रा-स्फीति के कारण आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में सबसे अधिक वृद्धि होती है और इस प्रकार उन पर अधिक बोझ पड़ता है । चूँकि मुद्रा-स्फीति का बोझ धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है, इसलिए यह अन्यायपूर्ण है ।

(3) मुद्रा स्फीति से देश में एक प्रकार की कृत्रिम सम्पन्नता (artificial prosperity) उत्पन्न हो जाती है । जब किसी देश में एक बार मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जाती है तब वह आगे चलकर और अधिक स्फीति को जन्म देती है । इस प्रकार कीमत स्तर में वृद्धि होती चली जाती है और कुछ समय पश्चात कीमतों की यह वृद्धि अपनी उच्चतम सीमा तक पहुँच जाती है । इससे देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने लगती है और विवश होकर सरकार को कुछ ऐसे कदम उठाने पड़ते हैं जिनसे देश में अवस्फीतिक प्रवृत्तियाँ (deflationary tendencies) उत्पन्न होने लगती हैं और कीमत-स्तर में गिरावट आने लगती है । इस प्रकार देश में मुद्रा-अवस्फीति के सभी दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं । कीमत-स्तर में होने वाले इस प्रकार के परिवर्तनों से देश की आर्थिक स्थिरता का अन्त हो जाता है । स्पष्टत यह परिस्थिति देश के कुछ वर्गों के लिए न्यायोचित नहीं होती ।

प्रो० केन्ज ने मुद्रा-स्फीति को यदि अन्यायपूर्ण कहा है तब मुद्रा-अवस्फीति को अनुपयुक्त भी कहा है । इसके निम्न कारण हैं

(1) प्रो० केन्ज के अनुसार, मुद्रा-स्फीति से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है । यह ठीक है कि मुद्रा-अवस्फीति में वेतनभोगियों मजदूरों तथा निश्चित आय वाले उपभोक्ताओं को लाभ होता है, परन्तु इसके साथ ही साथ मुद्रा-स्फीति से देश में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैल जाती है । उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है । मजदूरों, निवेशकर्ताओं, उत्पादकों तथा व्यापारियों को हानि होने लगती है और यह हानि कुछ वर्गों को होने वाले लाभ की अपेक्षा

1 "Inflation is unjust, deflation is inexpedient"—*Keynes*

अधिक होती है। अवस्फीति के सामाजिक तथा नैतिक परिणाम भी अत्यन्त गम्भीर होते हैं। इसलिए इसे अनुपयुक्त नीति समझा जाता है।

(2) मुद्रा-अवस्फीति इसलिए भी अनुपयुक्त है, क्योंकि जब एक बार किसी देश में इसकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तब इसको नियन्त्रित करना कठिन हो जाता है और मुद्रा-अवस्फीति की यह प्रवृत्ति निरन्तर जारी रहती है। इससे कीमतों में अत्यधिक कमी हो जाती है तथा समूचे समाज को हानि होती है।

देखने में तो मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-अवस्फीति दोनों ही बुरी हैं, किन्तु यदि दोनों में से किसी एक को चुनना है तो फिर अवस्फीति की अपेक्षा स्फीति को ही वरीयता (Preference) दी जानी चाहिए। इसका कारण यह है कि अवस्फीति के परिणाम अधिक भयंकर होते हैं। इससे उद्योग-धन्धे ठप्प हो जाते हैं, समूचे देश में बेरोजगारी फैल जाती है, औद्योगिक शान्ति भंग हो जाती है तथा समूचे समाज का नैतिक पतन होने लगता है। इसीलिए प्रो० केन्ज ने कहा है कि सरकार को किसी भी परिस्थिति में अवस्फीति की नीति नहीं अपनानी चाहिए।

मुद्रा-प्रत्यवस्फीति
(Reflation)

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-प्रत्यवस्फीति एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। प्रो० कोल (Cole) के अनुसार, **"जब मन्दी के दुष्परिणामों को दूर करने के लिए जानबूझकर मुद्रा का विस्तार किया जाता है, तब उसे मुद्रा-प्रत्यवस्फीति कहते हैं।"**[1] दूसरे शब्दों में, मुद्रा-प्रत्यवस्फीति एक प्रकार से नियन्त्रित मुद्रा-स्फीति (controlled inflation) होती है। जब कभी मुद्रा-अवस्फीति इतनी अधिक मात्रा में हो जाती है कि वस्तुओं की कीमतें बहुत नीचे गिर जाती हैं, तब देश की अर्थ-व्यवस्था को गम्भीर परिणामों से बचाने के लिए सरकार मुद्रा-प्रत्यवस्फीति का आश्रय लेती है, अर्थात् सरकार कीमतों को फिर से ऊपर उठाने के लिए मुद्रा का अधिक मात्रा में निर्गमन करने लगती है। इससे कीमत-स्तर को पुनः सामान्य स्तर पर वापस लाया जा सकता है।

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-प्रत्यवस्फीति में अन्तर
(Difference Between Inflation and Reflation)

जैसा ऊपर कहा गया है, मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा-प्रत्यवस्फीति एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। दोनों के अन्तर्गत देश में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाया जाता है और दोनों के ही परिणाम-स्वरूप कीमतों में वृद्धि होती है। लेकिन फिर भी दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है

(1) मुद्रा-स्फीति ऐच्छिक होने के साथ-साथ प्राकृतिक कारणों से भी उत्पन्न होती है, परन्तु मुद्रा-प्रत्यवस्फीति सर्वंव ऐच्छिक होती है अर्थात् मुद्रा-प्रत्यवस्फीति की नीति एक पूर्व योजना के अनुसार अपनायी जाती है। मुद्रा-स्फीति भी योजना के अनुसार अपनायी जा सकती है, परन्तु यह कभी-कभी प्राकृतिक कारणों से भी उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि दैवी विपत्तियों के कारण देश में कृषि-उत्पादन की मात्रा गिर जाती है तो इससे मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो सकती है, परन्तु मुद्रा-प्रत्यवस्फीति में ऐसा नहीं होता। यह तो एक निश्चित नीति के रूप में सरकार द्वारा अपनायी जाती है।

(2) मुद्रा-स्फीति व्यापार-चक्र के तेजीकाल में होती है, जबकि मुद्रा-प्रत्यवस्फीति व्यापार चक्र के उद्धारकाल (recovery stage) में होती है। इसका अभिप्राय यह है कि मुद्रा-प्रत्यवस्फीति पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व उत्पन्न होती है, जबकि मुद्रा स्फीति पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त दृष्टिगोचर होती है।

(3) मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत वस्तुओं की कीमतें बहुत तेजी से बढ़ती हैं, जबकि मुद्रा-प्रत्यवस्फीति के अन्तर्गत कीमतें धीरे-धीरे ऊपर उठती हैं।

(4) मुद्रा-स्फीति पर यदि उचित नियन्त्रण न रखा जाय तो यह देश की अर्थ-व्यवस्था

---

1 "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression." —*G. D. H. Cole*

को चौपट कर देती है जबकि मुद्रा प्रत्यवस्फीति देश की अस्त व्यस्त अर्थ व्यवस्था मे सुधार करती है।

मुद्रा अपस्फीति
(Disinflation)

दूसरे विश्व युद्ध के बाद से मुद्रा-अपस्फीति शब्द का अधिक प्रचलन होने लगा है। जिस प्रकार मुद्रा-अवस्फीति के सुधार को मुद्रा प्रत्यवस्फीति कहते हैं उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति के सुधार को मुद्रा-अपस्फीति कहते हैं। जब किसी देश मे मुद्रा स्फीति अत्यधिक मात्रा मे हो जाती है और कीमत बहुत ऊची हो जाती हैं तब इस प्रकार की स्थिति को सुधारने के लिए सरकार मुद्रा अपस्फीति की नीति का आश्रय लेती है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद लगभग सभी देशो म अत्यधिक मुद्रा-स्फीति के कारण कीमतें बहुत बढ गयी थी। अत उनको नीचे लाने के लिए विभिन्न सरकारो ने मुद्रा-अपस्फीति की नीति को अपनाया था। **इस प्रकार जब मुद्रा स्फीति उग्र रूप धारण कर लेती है और कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तब उस नीति को, जिससे कीमतो की अत्यधिक वृद्धि को कम करके सामान्य स्तर पर लाया जाता है मुद्रा-अपस्फीति कहते हैं।**

मुद्रा-अवस्फीति तथा मुद्रा-अपस्फीति मे अन्तर
(Difference Between Deflation and Disinflation)

देखने मे मुद्रा-अवस्फीति तथा मुद्रा-अपस्फीति म समानता पायी जाती है। दोनो के ही अ तगत मुद्रा की मात्रा म कमी क जाती है और दानो के ही कारण कीमतो मे कमी हो जाती है। परन्तु इस समानता के होते हुए भी दोनो मे कई महत्वपूर्ण अ तर हैं

(1) मुद्रा अवस्फीति ऐच्छिक भी होती है तथा प्राकृतिक कारणो से भी उत्पन्न हो सकती है जबकि मुद्रा-अपस्फीति सदैव ऐच्छिक होती है प्राकृतिक कारणो स नहीं अर्थात मुद्रा अवस्फीति प्राकृतिक कारणो से भी उत्पन्न हो सकती है। यदि किसी वष देश मे अत्यधिक कृषि उत्पादन के कारण कीमतें गिर जाती हैं तो देश मे अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है परन्तु यह अवस्फीति प्राकृतिक कारणो से होती है। मुद्रा-अवस्फीति एक निश्चित सरकारी नीति के कारण भी हो सकती है परन्तु मुद्रा-अपस्फीति सदैव निश्चित सरकारी नीति का ही परिणाम होती है। यह प्राकृतिक कारणो से उत्पन्न नही होती।

(2) मुद्रा अपस्फीति के अ तगत कीमतो को सामान्य स्तर तक घटाया जाता है जबकि मुद्रा-अवस्फीति के अन्तगत कीमतें सामान्य स्तर से भी नीचे गिर जाती हैं।

(3) मुद्रा अपस्फीति की नीति उस समय अपनाई जाती है जबकि मुद्रा स्फीति उग्र रूप धारण कर लेती है अर्थात मुद्रा-अपस्फीति की नीति मुद्रा स्फीति को नियन्त्रण मे रखने के लिए अपनायी जाती है जबकि मुद्रा-अवस्फीति की नीति का उपयोग मुद्रा स्फीति स उत्पन्न होने वाली परिस्थितियो का मुकाबला करने के लिए किया जाता है।

(4) मुद्रा-अवस्फीति के अ तगत उत्पादन के घट जाने से देश मे बेकारी फल जाती है परन्तु मुद्रा अपस्फीति मे इस प्रकार की कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती। इसका कारण यह है कि अपस्फीति अपनाते समय सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि देश मे बेरोजगारी न फैलने पाये।

मुद्रा के मूल्य मे परिवतन
(Changes in the Value of Money)

मुद्रा के मूल्य परिवतन के सम्बन्ध मे प्राय तीन शब्दो का प्रयोग किया जाता है—मूल्य वृद्धि मूल्य ह्रास और अवमूल्यन। अब हम तीनो के अर्थों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

मुद्रा की मूल्य वृद्धि (Appreciation of Money)—**जब मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बढ जाता है अर्थात मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओ तथा सेवाओ को खरीदने मे समर्थ हो जाती है तब इसे मुद्रा की मूल्य-वृद्धि कहते है।** स्मरण रहे कि मुद्रा मूल्य मे वृद्धि तभी होती है जब वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमत गिर जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा की मूल्य वृद्धि

अवस्फीति तथा अपस्फीति काल मे होती है। इसका कारण यह है कि इन दोनो के अन्तर्गत वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें गिर जाती है।

मुद्रा का मूल्य ह्रास (Depreciation of Money)—मुद्रा का मूल्य-ह्रास, मूल्य वृद्धि की विपरीत दशा है। **जब मुद्रा का आन्तरिक मूल्य गिर जाता है और मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षा वस्तुओ तथा सेवाओ को कम मात्रा मे खरीदने मे समर्थ होती है, तब इसे मुद्रा का मूल्य-ह्रास कहते हैं**। स्मरण रहे कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास उस समय होता है जब वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य का ह्रास स्फीति तथा प्रत्यवस्फीति-काल मे होता है। *इसका कारण यह है कि इन दोनो के अन्तर्गत वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें* बढ जाती है और मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है। उदाहरणार्थ, भारत मे दीर्घकालीन स्फति के परिणामस्वरूप रुपए के मूल्य मे अत्यधिक ह्रास हुआ हैं।

मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation of Money)—**मुद्रा के अवमूल्यन से अभिप्राय मुद्रा के बाह्य मूल्य की कमी से होता है। जब सरकार मुद्रा का बाहरी मूल्य कम कर देती है, तब इसे मुद्रा-अवमूल्यन कहते हैं**। मुद्रा-अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि देश की एक मुद्रा इकाई के बदले मे कम विदेशी मुद्रा प्राप्त होने लगती है। परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा के अवमूल्यन से मुद्रा के आन्तरिक मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता है अर्थात मुद्रा का आन्तरिक मूल्य यथास्थिर रहता है। इस प्रकार मुद्रा के अवमूल्यन के बाद भी मुद्रा की एक इकाई के बदले मे उतनी ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध होती हैं जितनी कि अवमूल्यन से पहले होती थी। अत मुद्रा के अवमूल्यन का आन्तरिक कीमत-स्तर पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडता। सितम्बर 1949 मे ग्रेट ब्रिटेन ने अपने पौण्ड का मूल्य डालर के रूप मे कम कर दिया था। इस अवमूल्यन के परिणाम-स्वरूप डालर म पौण्ड का मूल्य 30 5 प्रतिशत कम हो गया था। पौण्ड के अवमूल्यन के तुरन्त बाद स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो ने भी अपनी मुद्राओ का डालर के रूप मे मूल्य कम कर दिया था। भारत ने भी उसी समय अपने रुपये का मूल्य डालर के रूप मे 30 5 प्रतिशत कम कर दिया था। इस प्रकार भारतीय रुपया जो पहले 30 अमरीकी सैण्टो (Cents) के बराबर होता था, अब केवल 21 सैण्टो के बराबर ही रह गया। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के सम्बन्ध म आगे चलकर विस्तार स बताया जायगा।

मुद्रा-अवमूल्यन तथा मुद्रा-ह्रास मे अन्तर
(Difference Between Devaluation And Depreciation)

मुद्रा अवमूल्यन तथा मुद्रा-ह्रास मे कोई विशेष अन्तर तो नही होता, परन्तु दोनो की कार्य विधियाँ अलग अलग होती हैं। **मूल्य ह्रास के अन्तर्गत मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे कमी होती है परन्तु मुद्रा-अवमूल्यन के अन्तर्गत मुद्रा के बाह्य मूल्य मे कमी की जाती है**। स्मरण रहे कि मुद्रा के आतरिक मूल्य के कम होने से कुछ समय पश्चात उसका बाह्य मूल्य भी कम हो जाता है यद्यपि मुद्रा के बाह्य मूल्य मे कमी करना मूल्य ह्रास का उद्देश्य नही होता। इसी प्रकार मुद्रा *अवमूल्यन के कारण कुछ समय पश्चात मुद्रा के आन्तरिक मूल्य म भी कमी हो जाती है।* इसका कारण यह होता है कि मुद्रा-अवमूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और इसके फलस्वरूप देश म वस्तुओ की मात्रा कम हो जाती है और अन्तत कीमतो मे वृद्धि हो जाती है। इससे मुद्रा का आन्तरिक मूल्य भी कम हो जाता है। वास्तव मे प्रत्येक परिस्थिति मे मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य एक साथ ही घटते है, परन्तु मुद्रा ह्रास तथा मुद्रा-अवमूल्यन अलग अलग रीतियो से इस कार्य को सम्पन्न करते है।

मुद्रा-अवमूल्यन के उद्देश्य
(Objectives of Devaluation)

मुद्रा अवमूल्यन निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है

(1) देश के प्रतिकूल अदायगी शेष मे सुधार करना—वास्तव मे, मुद्रा-अवमूल्यन का यह प्रमुख उद्देश्य है कि जब किसी देश के विदेशी व्यापार मे घाटा होता है, अर्थात् जब देश का अदायगी शेष (balance pf payments) प्रतिकूल हो जाता है, तब सरकार को विवश होकर मुद्रा-अवमूल्यन का आश्रय लेना पडता है। इसका कारण यह है कि मुद्रा-अवमूल्यन से निर्यातो को प्रोत्साहन

मिलता है और आयात कम हो जाते हैं। इस तरह मुद्रा अवमूल्यन द्वारा अदायगी-शेष की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम किया जा सकता है।

(2) **देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण प्रदान करना**—कभी-कभी देशी उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए भी मुद्रा-अवमूल्यन का आश्रय लिया जाता है। इसका कारण यह है कि मुद्रा-अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशो से आयात किया गया माल देश मे महँगा हो जाता है। इससे घरेलू उद्योगो को संरक्षण (protection) मिल जाता है और वे विदेशी प्रतियोगिता के भय से मुक्त होकर विकसित होने लगते हैं।

(3) **विदेशो से पूंजीगत माल प्राप्त करने के लिए**—जब किसी देश को पूंजीगत माल का निरन्तर आयात करना पडता है तब वह मुद्रा-अवमूल्यन का आश्रय लेता है ताकि इससे देश के निर्यात प्रोत्साहित हो और वह देश अधिक मात्रा मे विदेशी मुद्रा कमा सके और इस प्रकार विदेशी सिक्को मे आयातित माल का भुगतान कर सके।

(4) **मुद्रा के अतिमूल्यन की त्रुटि मे सुधार करने के लिए**—कभी-कभी कोई देश किसी कारणवश अपनी मुद्रा को उचित से अधिक बाह्य मूल्य दे देता है, परन्तु आगे चलकर यह अनुभव किया जाता है कि मुद्रा के अतिमूल्यन से देश के आयातो मे वृद्धि तथा निर्यातो मे कमी होने लगी है और देश का अदायगी-शेष प्रतिकूल हो गया है। तब इस त्रुटि का सुधार करने के लिए मुद्रा-अवमूल्यन का आश्रय लिया जाता है और इसकी सहायता से अदायगी-शेष को अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

उचित मौद्रिक नीति
(Proper Monetary Policy)

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मुद्रा के मूल्य मे अधिक परिवर्तनो के कारण देश के उद्योगो तथा व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अत देश की आर्थिक प्रगति क लिए यह आवश्यक हो जाता है कि मुद्रा के मूल्य पर उचित नियन्त्रण रखा जाय ताकि इसमे अत्यधिक परिवर्तन न हो सकें। ऐसा करने के लिए प्रत्येक देश को एक उचित मौद्रिक नीति अपनानी पडती है। किसी भी देश की मौद्रिक नीति के तीन मुख्य उद्देश्य हो सकते हैं

(1) **कीमत-स्तर मे स्थिरता** (Stability of the Price level) आजकल अधिकाश अर्थशास्त्रियो का मत है कि मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश के कीमत स्तर मे स्थिरता बनाये रखना होना चाहिए, अर्थात् इसका उद्देश्य देश के आन्तरिक सन्तुलन (internal equilibrium) को बनाये रखना होना चाहिए। इसका कारण यह है कि कीमत स्तर की अस्थिरता के परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अतएव देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए कीमत स्तर मे स्थिरता बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। परन्तु कीमत-स्तर मे स्थिरता बनाये रखने की नीति के विरुद्ध आलोचको द्वारा निम्न लिखित बातें कही जाती है

(क) **किन कीमतो मे स्थिरता लायी जाय?** कीमत-स्थिरता की नीति के विरुद्ध यह आपत्ति की जाती है कि यह नीति स्पष्ट रूप से यह नही बताती कि कौन सी कीमतो मे स्थिरता लायी जाय। क्या थोक-कीमतो (wholesale prices) मे स्थिरता स्थापित की जाय अथवा फुटकर-कीमतो (retail prices) मे? क्या उपभोग्य-वस्तुओ की कीमतो मे स्थिरता लायी जाय या उत्पादक-वस्तुओ की कीमतो मे? इसके अलावा, एक अन्य कठिनाई यह भी है कि जब तक कीमतो मे सापेक्षिक स्थिरता न हो तब तक सामान्य कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करना अर्थहीन होता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या कीमतो मे सापेक्षिक स्थिरता स्थापित की जाय? अत इन कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए आलोचको के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता नही होना चाहिए।

(ख) **कीमतों मे परिवर्तन आर्थिक जीवन के परिवर्तनों का परिणाम होते हैं**—आलोचको के अनुसार जब किसी देश मे उत्पादन तथा अन्य आर्थिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं तब इनके फलस्वरूप ही कीमत-स्तर मे परिवर्तन होते हैं। दूसरे शब्दो मे, आर्थिक जीवन की अस्त-व्यस्तता के कारण ही कीमतो मे परिवर्तन होते हैं, अर्थात् आर्थिक जीवन की अस्त-व्यस्तता

ही कीमतो मे परिवर्तन का कारण होती है। चूंकि कीमतो मे होने वाले परिवर्तन देश के आर्थिक जीवन मे हुए परिवर्तनो का ही परिणाम होते है, इसलिए कीमतो मे स्थिरता स्थापित करने की मौद्रिक नीति से कोई विशेष लाभ नही हो सकता।

(ग) कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करना कठिन है—कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करने के लिए एक ओर तो मुद्रा की पूर्ति को यथास्थिर रखना चाहिए और दूसरी ओर वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे परिवर्तन नही होना चाहिए। अब ये दोनो बातें ही कठिन है, लगभग असम्भव है। यदि मुद्रा की पूर्ति को यथास्थिर रख भी लिया जाय तो वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा को यथास्थिर रखना असम्भव है। अतएव कीमत-स्तर मे पूर्ण स्थिरता स्थापित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(घ) कीमत-स्तर मे स्थिरता सदैव वाछनीय नहीं होती—प्रो० केन्ज के अनुसार, "पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व तो कीमत-स्तर मे स्थिरता होनी ही नही चाहिए।" इसका कारण यह है कि यदि पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित हो जाती है तो इससे पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त नही किया जा सकता। पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देश मे थोडी-सी कीमत-वृद्धि होती रहे। इससे उत्पादन के साधनो को पूर्ण रोजगार प्राप्त करने मे सहायता मिलती है। अत पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व कीमत-स्तर मे स्थिरता देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए वाछनीय नही होती।

(2) विनिमय स्थिरीकरण (Exchange Stabilisation)—कुछ अर्थशास्त्रियो के मतानुसार, मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश के बाह्य सन्तुलन (external equilibrium) को बनाये रखना होना चाहिए अर्थात् इसका मुख्य उद्देश्य देश की विनिमय-दर मे स्थिरता स्थापित करना होना चाहिए। विनिमय दर को जो शक्तियाँ अस्थिर बनाती है, उन्हे दूर किया जाना चाहिए। सरकार को इस बात का प्रयास करना चाहिए कि देश की विनिमय-दर मे होने वाले साधारण परिवर्तनो को आन्तरिक कीमत-स्तर के साथ समायोजित (adjust) कर दिया जाय। लेकिन विनिमय दर मे भारी उच्चावचन (fluctuations) न होने दिये जायँ। विनिमय-दर मे होने वाली उथल पुथल से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। प्रथम, विदेशी विनिमय बाजार मे सट्टे की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है और इससे देश की साख को धक्का पहुचता है। दूसरे, विनिमय-दर मे भारी उथल-पुथल से विदेशी पूंजीपतियो का विश्वास उठ जाता है और वे देश मे लगी अपनी पूंजी को स्वदेश वापस ले जाना आरम्भ कर देते है अथवा उन देशो मे लगाते है जहाँ विनिमय-दर स्थिर होती है। तीसरे देश की विनिमय-दर मे होने वाले साधारण परिवर्तनो का भी आन्तरिक कीमत स्तर पर बुरा प्रभाव पडता है।

अत उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जाता है कि देश की मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य विनिमय-दर की स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिए। यह नीति विशेषकर उन देशो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है जो प्रत्यक्षत विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते है, अथवा जिनकी अर्थ-व्यवस्था मे विदेशी व्यापार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह नीति उन देशो के लिए भी लाभप्रद है जो आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी पर निर्भर करते हैं। इसके अतिरिक्त, *विनिमय-दर की स्थिरता से अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढता है और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को भी प्रोत्साहन मिलता है।*

यद्यपि विनिमय-स्थिरीकरण (exchange stabilisation) का उद्देश्य सराहनीय है और स्वर्णमान के अन्तर्गत इसे अपनाया भी गया था, लेकिन इस नीति मे एक गम्भीर त्रुटि भी पायी जाती है। इसके अन्तर्गत, आन्तरिक कीमत-स्तर मे सदैव अस्थिरता बनी रहती है। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नही कि आन्तरिक कीमत-स्तर की अस्थिरता के कितने गम्भीर परिणाम होते हैं।

(3) आय-स्थिरीकरण (Income Stabilisation)—कुछ अर्थशास्त्रियो (जिनमे प्रो० आर० जी० हाट्रे प्रमुख हैं) ने सुझाव दिया है कि मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य आय स्थिरता (income stability) होना चाहिए। इन अर्थशास्त्रियो का विश्वास है कि व्यापार-चक्र विशुद्धत मौद्रिक कारणो से होता है। इसी व्यापार-चक्र के कारण ही लोगो की आय मे परिवर्तन होते

रहते हैं। यदि व्यापार-चक्र की क्रियाशीलता को काबू मे रखा जाय तो आय मे स्थिरता स्थापित की जा सकती है। उनके मतानुसार व्यापार-चक्र की क्रियाशीलता को नियन्त्रित करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि साख की मात्रा को नियमित (regulate) किया जाय। उनका कहना है कि देश को साख के अति-प्रसार (over-expansion) से तो प्रत्येक दशा मे बचना चाहिए। इसी प्रकार यदि देश मे अवस्फीतिक प्रवृत्तिया पायी जाती हैं तो बैंकिंग प्रणाली को साख-विस्तार की नीति अपनानी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि लोगो द्वारा मुद्रा-संग्रह (money-hoarding) कर लिया जाता है और उसके फलस्वरूप आय एवं रोजगार के स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है तो ऐसी परिस्थिति मे बैंको को साख-विस्तार कर आय एव रोजगार के पुराने स्तर को बनाये रखना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, साख-विस्तार एव साख सकुचन के माध्यम से बैंकिंग प्रणाली को आय-स्तर मे स्थिरता बनाये रखनी चाहिए।

किन्तु मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य की दो आधारो पर आलोचना की गयी है। प्रथम, यदि आय के वर्तमान स्तर को स्थिर बना दिया जाय तो इससे रोजगार का वर्तमान स्तर स्वत ही स्थिर हो जायगा। लेकिन रोजगार का वर्तमान स्तर सन्तोषजनक नहीं है क्योकि इसमे बहुत-सी बेरोजगारी भी निहित है और उसका स्थिरीकरण करना उचित न होगा। दूसरे, आय के वर्तमान स्तर का स्थिरीकरण उचित नीति नही है क्योकि राष्ट्रीय आय का वर्तमान वितरण अन्यायपूर्ण है, अर्थात् विभिन्न वर्गों मे इसका बँटवारा न्याय पर आधारित नही है। यदि इसे स्थिर बना दिया जाय तो गरीबो के प्रति घोर अन्याय होगा।

(4) **तटस्थ-मुद्रा की नीति (Policy of Neutrality of Money)**—तटस्थ मुद्रा की नीति का सुझाव सर्वप्रथम प्रो० विकस्टीड (Wicksteed) ने प्रस्तुत किया था। प्रो० हायक (Hayek) ने इसका समर्थन किया है। उनके अनुसार, मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तनो के परिणाम-स्वरूप ही देशो के आर्थिक जीवन मे अस्थिरता उत्पन्न होती है, इसलिए यदि देशो मे आर्थिक स्थिरता को बनाये रखना है तो मुद्रा की मात्रा मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होना चाहिए, अर्थात् मुद्रा को बिलकुल तटस्थ (neutral) कर देना चाहिए। इसी कारण प्रो० हायक के मतानुसार, बैंको को मुद्रा तथा साख की मात्रा को यथास्थिर रखना चाहिए। यदि देश का उत्पादन बढ जाता है तो मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहने के कारण कीमत-स्तर मे अवश्य ही गिरावट होगी। मुद्रा की मात्रा मे केवल उसी समय वृद्धि की जानी चाहिए जब जनता द्वारा मुद्रा-संग्रह (money hoarding) के कारण प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है या किसी कारणवश मुद्रा के सचलन-वेग मे कमी हो जाती है। तटस्थ मुद्रा के विरोध मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है

(क) व्यावहारिक जीवन मे मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर बनाये रखना अत्यन्त कठिन होता है। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्रियो के पास इस समय कोई ऐसा साधन नही है जिससे वे लोगो द्वारा किये गये मुद्रा-संग्रह का सही-सही अनुमान लगा सकें और न ही उनके पास कोई ऐसी विधि है जिससे वे मुद्रा के सचलन-वेग के बारे मे सही-सही जानकारी प्राप्त कर सकें। अतएव, जैसा कहा गया है, मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर बनाये रखना असम्भव है।

(ख) आलोचको का कहना है कि देश मे निवेशो (investment) को प्रोत्साहित करने के लिए कीमत-स्तर मे साधारण वृद्धि अनिवार्य होती है। अत तटस्थ मुद्रा की नीति उपयुक्त नहीं है।

(ग) प्रो० हैन्सन (Hansen) के अनुसार, एकाधिकार तथा औद्योगिक संघो के वर्तमान युग मे तटस्थ मुद्रा की नीति व्यावहारिक नही हो सकती। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी लोग अपने सभी साधनो का प्रयोग करते हुए कीमत-स्तर मे किसी प्रकार की कमी नही होने देते।

(घ) कुछ अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि यदि देश मे मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रखा जाता है तो इससे तटस्थ मुद्रा की नीति का उद्देश्य पूरा नही होता।

(5) **उत्पादन के साधनो के अधिकतम उपयोग की नीति (Policy of Full Employment of Productive Resources)**—प्रो० केन्ज के अनुसार, मौद्रिक-नीति का उद्देश्य देश मे उत्पादन के साधनो का अधिकतम उपयोग करना होता है। कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करने अथवा तटस्थ मुद्रा की नीति अपनाने से उत्पादन के सभी साधनों को पूर्ण रोजगार प्रदान नहीं किया जा सकता। प्रो० केन्ज के मतानुसार, इन नीतियो से देश मे मन्दी का जन्म होता है,

इसलिए उन्होने इस बात पर जोर दिया है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य उत्पादन के साधनों को पूर्ण रोजगार प्रदान करना है। प्रो० हाम (Halm) भी इसी विचार के समर्थक है। अब उत्पादन के साधनो को पूर्ण रोजगार देने के लिए किस प्रकार की नीति उपयुक्त हो सकती है। प्रो० केन्ज के अनुसार, यदि हमे उत्पादन के सभी साधनो को पूर्ण रोजगार प्रदान करना है तो उसके लिए हमे सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) को अपनाना पडेगा। इस नीति के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करके कीमतो को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, अर्थात् पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व कीमत-स्तर मे साधारण वृद्धि होती रहनी चाहिए। परन्तु पूर्ण रोजगार के बिन्दु के उपरान्त मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि नही की जानी चाहिए, क्योकि यदि ऐसा किया जाता है तो इससे अत्यधिक स्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। अधिकांश वर्तमान अर्थशास्त्री प्रो० केन्ज के इस विचार से सहमत है।

(6) आर्थिक विकास (Economic Growth)—हाल ही के वर्षों मे कुछ अर्थशास्त्रियो ने सुझाव दिया है कि मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य देश के आर्थिक विकास को तीव्र करना होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, मौद्रिक नीति आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे सहायक होनी चाहिए। आर्थिक विकास से अभिप्राय वास्तविक उत्पादन (real production) की वृद्धि से है, अर्थात् आर्थिक विकास के अन्तर्गत वस्तुओ एव सेवाओ की मात्रा एव गुणो (qualities) मे सुधार होना चाहिए ताकि जनसाधारण का जीवन स्तर ऊँचा उठ सके। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आर्थिक विकास की प्राप्ति के लिए किस प्रकार की मौद्रिक नीति अपनायी जाये। इसके लिए एक ऐसी मौद्रिक नीति अपनायी जाये जिसमे दो विशेषताएँ हो। प्रथम, इसमे लचीलापन (flexibility) होना चाहिए और इसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति को इस ढग से नियमित एव नियन्त्रित किया जाना चाहिए कि देश के सभी साधनो को पूर्णत उत्पादन-कार्य मे लगाया जा सके और उसके साथ ही साथ आन्तरिक कीमत-स्तर मे भी स्थिरता बनाये रखी जा सके। दूसरे, मौद्रिक नीति को इस तरह नियन्त्रित किया जाय कि इससे पूँजी-निर्माण (capital-formation) की क्रिया को प्रोत्साहन मिल सके।

स्मरण रहे कि आर्थिक विकास के लिए कीमत स्थिरता (price stability) तथा विनिमय स्थिरता (exchange stability) दोनो का ही होना आवश्यक है।

अर्द्ध-विकसित देश म मौद्रिक नीति का उद्देश्य यह होना चाहिए कि घरेलू बचतें भी निरुत्साहित न हो और विदेशी पूँजी के आयात मे भी कोई बाधा न पडे। दूसरे शब्दो मे, मौद्रिक नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को निरन्तर तीव्र करना होना चाहिए।

ऊपर हमने मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्यो की चर्चा की है। इन सभी उद्देश्यो को एक साथ अपनाना सम्भव नही क्योकि उनके बीच सघर्ष भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, पूर्ण रोजगार के उद्देश्य एव मौद्रिक नीति के अन्य उद्देश्यो मे निश्चय ही सघर्ष है। उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि एक विकसित देश के लिए मौद्रिक नीति का सर्वोत्तम उद्देश्य पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना है जबकि एक अर्द्ध-विकसित देश के लिए नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना होना चाहिए।

भारत में मुद्रा-स्फीति
(Inflation in India)

भारत मे मुद्रा-स्फीति दूसरे विश्व युद्ध के दौरान आरम्भ हुई थी। सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ गयी और साधारण जनता को काफी कठिनाई का सामना करना पडा था। जब दूसरा विश्व युद्ध समाप्त हुआ तो लोगो को यह आशा हुई कि शीघ्र ही मुद्रा-स्फीति की दशा समाप्त हो जायगी और कीमतें पुन अपने युद्ध-पूर्व स्तर पर आ जायेंगी, परन्तु दुर्भाग्यवश लोगो की यह आशा पूर्ण न हो सकी। सन् 1947 मे देश का विभाजन हुआ और इसके साथ ही साथ अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हुई। उदाहरणार्थ, शरणार्थियो की समस्या। इसके अतिरिक्त, कोरिया मे युद्ध छिड गया जिससे कीमतें और भी ऊपर चढ गयी। सन् 1952 मे भारत मे पचवर्षीय योजनाओ का श्रीगणेश हुआ। इन सभी कारणो से मुद्रा स्फीति कम होने के बजाय और अधिक बढ गयी। सन् 1962 म चीनियो ने भारत पर आक्रमण किया जिसके फलस्वरूप सुरक्षा पर

व्यय कई गुना बढ़ा दिया गया था। इससे मुद्रा-स्फीति को और अधिक बल मिला। इस समय भारत मे मुद्रा-स्फीति ने भयकर रूप धारण कर रखा है। यद्यपि भारत मे मुद्रा-स्फीति अभी अपनी तीसरी स्थिति मे प्रविष्ट नही हुई है फिर भी देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था अत्यन्त चिन्तनीय है। यदि सरकार ने समय रहते इसे नियन्त्रित न किया तो कुछ समय पश्चात मुद्रा-स्फीति से अत्यन्त गम्भीर परिणाम उत्पन्न होगे।

भारत मे मुद्रा-स्फीति की समस्या का हम दो शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं :

(1) युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति (War-time Inflation) जैसा ऊपर कहा गया है, दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही भारत मे मुद्रा-स्फीति शुरू हो गयी थी। परन्तु युद्ध के प्रारम्भिक काल मे कीमतो मे अधिक वृद्धि नही हुई। जैसे-जैसे समय बीतता गया कीमतो मे अधिकाधिक वृद्धि होने लगी। आरम्भ मे, सरकार ने मुद्रा-स्फीति की गम्भीरता को स्वीकार नही किया। परन्तु आगे चलकर जब भारतीय मुद्रा-शास्त्रियो ने स्थिति की गम्भीरता की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया तब सरकार ने विवश होकर स्फीति के अस्तित्व को स्वीकार कर ही लिया। युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का मुख्य कारण बड़े पैमाने पर देश मे कागजी मुद्रा का विस्तार ही था। इतने बड़े पैमाने पर कागजी मुद्रा की निकासी से कीमत-स्तर मे वृद्धि का होना अनिवार्य ही था। अत देश का कीमत स्तर युद्धकाल के दौरान काफी ऊपर चढ गया था।

(क) युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के कारण-- युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं

(1) भारत के सुरक्षा-व्यय मे भारी वृद्धि--जैसा विदित है, दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भारत सरकार के रक्षा-व्यय मे अत्यधिक वृद्धि हुई थी। जहाँ सन् 1939-40 मे सरकार का रक्षा व्यय 49 54 करोड रुपये था, वहाँ सन् 1944-45 मे यह बढकर 458·32 करोड रुपये हो गया था। परिणामत इस बढे हुए व्यय को पूरा करने के लिए भारत सरकार को कागजी मुद्रा का निर्गमन करना पडा।

(2) भारत सरकार द्वारा मित्र-देशो के लिए माल का खरीदना—युद्ध प्रारम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार के साथ एक वित्तीय समझौता किया जिसके अन्तर्गत भारत सरकार ने ब्रिटेन तथा अन्य मित्र देशो के लिए भारत मे माल खरीदना स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार इस माल की कीमत भारत सरकार को रुपयो मे चुकानी पडती थी और इसके बदले ब्रिटिश सरकार भारत सरकार को स्टर्लिंग के रूप मे भुगतान करती थी, परन्तु इस माल के बदल भारत सरकार को स्टर्लिंग के रूप मे भुगतान तुरन्त नही किया जाता था, बल्कि इस माल का स्टर्लिंग मूल्य भारत के खाते मे जमा कर दिया जाता था। इसे पौण्ड पावना (sterling balances) कहा जाता था और इसी पौण्ड पावने के आधार पर भारत सरकार कागजी-मुद्रा का निर्गमन करती थी। सन् 1939 40 से सन् 1945-46 तक भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को लगभग 1,740 करोड रुपये का माल सप्लाई किया था। इस प्रकार एक ओर तो इतनी भारी मात्रा मे माल बाहर भेजे जाने पर देश मे उत्पादन की मात्रा कम हो गयी लेकिन दूसरी ओर कागजी-मुद्रा के अत्यधिक निर्गमन से प्रचलन मे मुद्रा की मात्रा बढ गयी थी। इस प्रकार कीमतो का बढना अनिवार्य हो गया था।

(3) मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि—युद्धकाल मे भारतीय मुद्रा की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हुई परन्तु वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा मे इसी अनुपात मे वृद्धि न हो सकी। परिणामत कीमतो मे भारी वृद्धि हुई। जबकि सितम्बर 1939 मे भारत मे कागजी-मुद्रा की मात्रा 197 करोड रुपये थी तब सन् 1944-45 म कागजी मुद्रा की मात्रा 1,084 करोड रुपये हो गयी थी। इसी प्रकार इस अवधि मे साख मुद्रा भी 126 करोड रुपये से बढकर 444 करोड रुपये हो गयी थी। अत मुद्रा की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि के कारण स्फीति की दशा उत्पन्न हो गई थी।

(4) कोष-विपत्रो के आधार पर कागजी मुद्रा का निर्गमन—युद्धकाल मे भारत सरकार ने न केवल पौण्ड पावने (sterling balances) के विरुद्ध, वल्कि कोष विपत्रो (treasury bills) के आधार पर भी कागजी-मुद्रा का निर्गमन किया था। प्रो० सी० एन० वकील ने सरकार की इस क्रिया को नग्न मुद्रा स्फीति (naked inflation) कहकर सम्बोधित किया था।

(5) **साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool)**—युद्धकाल में साम्राज्य डालर कोष ने भी स्फीति को बढ़ाने में योग दिया था। इस कोष के अन्तर्गत युद्धकाल में अमरीका ने जो माल भारत से खरीदा, उसका भुगतान ब्रिटिश सरकार को डालरों के रूप में किया था। ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को डालर देने के बजाय उसी मूल्य के बराबर भारत के खाते में स्टर्लिंग जमा कर दिया, अर्थात् ब्रिटिश सरकार ने भुगतान डालरों में न करके, स्टर्लिंग के रूप में किया और यह स्टर्लिंग भी नकदी के रूप में न देकर भारत के खाते में जमा कर दिया। इस प्रकार भारत के पौण्ड पावने में वृद्धि होती चली गयी। भारत सरकार ने इसी पौण्ड पावने (Sterling balances) के आधार पर कागजी मुद्रा का निर्गमन करके भारतीय विक्रेताओं को उनके माल का भुगतान किया। इससे देश में मुद्रा-स्फीति को और अधिक बल मिला।

(6) **उत्पादन-प्रणाली में लोच का अभाव**—यद्यपि दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान भारत में मुद्रा की मात्रा में भारी वृद्धि हुई, तथापि देश के उत्पादन में उसी अनुपात में वृद्धि न हो सकी। इसका कारण भारत की उत्पादन प्रणाली में लोच का नितान्त अभाव था। इसी कारण,उत्पादन की मात्रा को उसी अनुपात में नहीं बढ़ाया जा सका जिसमें मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हुई थी।

(7) **निर्यातों में वृद्धि**—जैसा ऊपर कहा गया है, युद्धकाल में भारत सरकार ने बड़े पैमाने पर ब्रिटिश तथा अन्य मित्र देशों को माल निर्यात किया था। इससे देश में वस्तुओं की दुर्लभता बढ़ गयी और मुद्रा स्फीति ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया।

(8) **आयातों में कमी**—युद्धकाल में भारत के आयातों में भारी कमी हुई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि बर्मा, मलाया, स्याम तथा हिन्दचीन पर जापानियों का कब्जा हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप इन देशों से माल का आयात पूर्णत बन्द हो गया था। इससे देश में खाद्य पदार्थों की कमी हो गयी थी। स्मरण रहे कि युद्ध से पूर्व भारत बड़े पैमाने पर बर्मा से चावल आयात किया करता था। युद्धकाल में चावल तथा अन्य वस्तुओं के आयात बन्द हो जाने के परिणामस्वरूप कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हुई थी।

(9) **परिवहन पर अत्यधिक दबाव**—युद्ध के दौरान परिवहन के साधनों पर (विशेषकर रेलों पर) अत्यधिक दबाव पड़ा, क्योंकि इन्हें अधिकतर सैनिकों तथा युद्ध सामग्री को ढोने के लिए इस्तेमाल किया गया था। इसके साथ ही पेट्रोल की दुर्लभता के कारण सड़क-परिवहन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इससे देश के भीतर माल के यातायात में कमी हो गयी और देश के कुछ क्षेत्रों में सामान्य अभाव की स्थिति पैदा हो गयी। परिणामत कीमतें और अधिक ऊपर चढ़ने लगी।

(10) **व्यापारियों द्वारा वस्तु-संग्रह तथा चोर-बाजारी**—युद्धकाल में कीमतों के ऊपर चढ़ने का एक कारण यह भी था कि भारतीय व्यापारियों ने बड़े पैमाने पर दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का संग्रह (hoarding) कर लिया था और ऊँचे दामों पर चोर-बाजार में इन वस्तुओं का विक्रय करने लगे थे।

(11) **सट्टेबाजी की प्रवृत्ति**—देश में वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतों से सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला और व्यापारियों ने आवश्यक वस्तुओं को संचित करके उनमें बड़े पैमाने पर सट्टेबाजी की थी। जैसा विदित है, सट्टेबाजी से कीमतें और अधिक ऊपर बढ़ती है।

युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति से देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। देश में राष्ट्रीय आय का वितरण असमान हो गया। व्यापारियों तथा अन्य उत्पादक वर्गों ने बड़े पैमाने पर लाभ कमाया, परन्तु मजदूरों, वेतनभोगियों तथा अन्य निश्चित आय वाले व्यक्तियों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। देश में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला। चोर बाजारी तथा जमाखोरी बड़े पैमाने पर होने लगी। सरकारी कर्मचारियों तथा अधिकारियों में भ्रष्टाचार फैल गया और समूचे देश का नैतिक पतन होने लगा, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का एक अच्छा परिणाम भी निकला। इससे देश में रोजगार की मात्रा बढ़ गयी और लाखों बेकार व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हुआ।

(ख) **युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए किये गये सरकारी उपाय**—युद्धकाल में स्फीति को रोकने के लिए सरकार द्वारा निम्नलिखित उपाय किये गये थे.

(1) **कराधान में वृद्धि**—जनता की अतिरिक्त क्रय शक्ति (surplus purchasing power) को कम करने के लिए तथा मुद्रा को प्रचलन से वापस लेने के लिए भारत सरकार ने युद्ध

के दौरान कई प्रकार के नये करो को लगाया और पुराने करो की दरो मे वृद्धि की। सन् 1940 मे आयकर के साथ 35 प्रतिशत अतिरिक्त कर लगा दिया गया। सन् 1942 मे अतिरिक्त लाभ कर (excess profit tax) को 25 प्रतिशत से बढाकर 36⅔ प्रतिशत कर दिया गया। इसके साथ ही साथ विभिन्न वस्तुओ पर उत्पादन कर (excise duty) लगा दिया गया और पुराने उत्पादन करो मे वृद्धि कर दी गयी।

(2) **सार्वजनिक ऋणो मे वृद्धि**—युद्ध के दौरान जनता की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करने के लिए सरकार ने अधिकाधिक मात्रा मे लोगो से ऋण लेना शुरू किया। इस उद्देश्य के लिए रक्षा बॉण्डस (defence bonds) तथा विजय ऋण (victory loans) जारी किये गये और इसके साथ ही साथ कोषागार विपत्रो (treasury bills) को भी अधिक मात्रा मे निर्गमित किया गया। छोटी बचतो को भी प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार भारत सरकार ने जनता से लगभग 1456 करोड रुपये के ऋण प्राप्त कर मुद्रा स्फीति की तीव्रता का कम करने का प्रयत्न किया था।

(3) **अनिवार्य बचत योजनाएँ** (Compulsory Saving Schemes) लोगो की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करने के लिए सरकार ने अनिवार्य बचत योजनाओ को भी प्रचलित किया। इस प्रकार की अनिवार्य बचतो पर 2½ प्रतिशत ब्याज दिया जाता था तथा मूलधन को युद्ध समाप्ति के एक वर्ष बाद वापस लिया जा सकता था। सन 1943 मे व्यापारियो को अतिरिक्त-लाभ-कर का ⅕ भाग अनिवार्य रूप से सरकार के पास जमा करना पडता था और सन 1944 45 मे इसे बढाकर 19/64 कर दिया गया। इस प्रकार इस योजना द्वारा सरकार ने व्यापारियो के अत्यधिक युद्धकालीन लाभो को प्रभावहीन (ineffective) बना दिया था।

(4) **सन्तुलित बजट नीति**—मुद्रा स्फीति की तीव्रता को कम करने के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो ने अपने व्यय को कम करके बजट मे सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया ताकि मुद्रा का और अतिरिक्त निर्गमन न करना पडे।

(5) **स्वर्ण का विक्रय**—लोगो की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करने के लिए युद्ध के दौरान सरकार ने सोने का विक्रय भी किया। इसका कारण यह था कि कुछ लोग युद्ध के कारण अपने अतिरिक्त धन को सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाने के इच्छुक नही थे। अत इन लोगो के लिए सरकार ने सोना बेचने का प्रबन्ध किया और इस प्रकार इनकी अतिरिक्त क्रय शक्ति को निष्प्रभाव बनाने का प्रयत्न किया।

(6) **सट्टेबाजी पर प्रतिबन्ध**—युद्धकाल मे वस्तुओ की कीमतो को बढने से रोकने के लिए भारत सरकार ने अनेक वस्तुओ के सट्टे पर प्रतिबन्ध लगा दिया विशेषकर सोने चाँदी के अग्रिम व्यापार (future trade) पर तो पूर्णत रोक लगा दी गयी थी।

(7) **जमाखोरी तथा मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण**—वस्तुओ की कीमतो को बढने से रोकने के लिए सरकार ने मुनाफाखोरी तथा जमाखोरी के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया, परन्तु इसमे सरकार को कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हो सकी।

(8) **कीमत-नियन्त्रण तथा राशनिंग व्यवस्था**—मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणामो से लोगो को बचाने के लिए सरकार ने कीमत नियन्त्रण (price control) तथा राशनिंग की नीति को अपनाया था। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओ की कीमतें निर्धारित कर दी गयी और कुछ आवश्यक वस्तुओ का राशनिंग भी कर दिया गया। परन्तु सरकार की यह नीति अधिक सफल न हो सकी।

(9) **अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन** (Grow More Food Campaign)—सरकार ने खाद्य पदार्थो की कमी को दूर करने के लिए देश मे 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत सरकार किसानो को अच्छे बीज खाद तथा कर्जे देने की व्यवस्था करती थी। छोटी छोटी सिंचाई की योजनाओ को भी क्रियान्वित किया गया। परन्तु सरकार का यह आन्दोलन अधिक सफल न हो सका।

(10) **औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहन**—कीमतो को बढने से रोकने के लिए सरकार ने देश मे औद्योगिक उत्पादन को बढाने का प्रयत्न किया। इसके लिए सरकार ने उद्योग धन्धो को कई प्रकार की सुविधाएं प्रदान की। नये उद्योग धन्धो को प्रारम्भ मे कुछ वर्षों के लिए आय कर (income tax) से मुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार महत्वपूर्ण उद्योग धन्धो को नियन्त्रित कीमतो पर कच्चा माल सप्लाई करने का प्रबन्ध किया गया।

2 **युद्धोत्तरकाल मे मुद्रा-स्फीति (Post-war Inflation)**—युद्ध के समाप्त हो जाने पर यह आशा की गयी थी कि वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें कम हो जायेगी और उनकी दुर्लभता नही रहेगी, परन्तु दुर्भाग्यवश लोगो की यह आशा पूर्ण न हो सकी और कीमतें घटने के बजाय और बढती चली गयी।

(क) युद्धोत्तरकाल मे मुद्रा-स्फीति के कारण—युद्धोत्तरकालीन मुद्रा-स्फीति के कारण निम्नलिखित हैं

(1) **भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार का व्यय वहन करना**—युद्ध समाप्त हो जाने पर भी भारत सरकार निरन्तर ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत मे विदेशी सेनाओ पर व्यय करती रही और ब्रिटिश सरकार पहले की भाँति इस व्यय का भुगतान स्टर्लिंग के रूप मे करती रही। इस प्रकार भारत के पौण्ड पावने मे वृद्धि होती चली गयी और इसी पौण्ड पावने के आधार पर भारत का रिजर्व बैंक कागजी-मुद्रा का निर्गमन करता रहा। इस प्रकार देश मे स्फीतिक प्रवृत्तियो को युद्धोत्तरकाल मे भी प्रश्रय मिलता रहा। यह क्रम जून 1946 तक जारी रहा।

(2) **घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Financing)**—युद्धोत्तरकाल मे भी घाटे की अर्थ-व्यवस्था निरन्तर जारी रही और बडे पैमाने पर कागजी-मुद्रा का निर्गमन होता रहा। इसका कारण यह था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार का व्यय कई कारणो से बढ गया था। उदाहरणार्थ, कश्मीर मे युद्ध, हैदराबाद मे पुलिस कार्यवाही, शरणार्थियो की समस्या इत्यादि।

(3) **विनियन्त्रण की नीति (Policy of Decontrol)**—युद्धोत्तरकाल मे सरकार ने वस्तुओ की कीमतो तथा वितरण पर से नियन्त्रण हटा लिया था। इससे कीमतो मे और अधिक वृद्धि हो गयी और व्यापारियो द्वारा बडे पैमाने पर मुनाफाखोरी तथा जमाखोरी की जाने लगी जिससे विवश होकर सरकार को पुन कीमतो पर नियन्त्रण लगाना पडा। परन्तु इसी बीच मे सरकार की नियन्त्रण नीति के फलस्वरूप कीमतें काफी बढ चुकी थी।

(4) **खाद्य-पदार्थों का अभाव**—युद्धोत्तरकाल मे देश के विभाजन के परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थों की बहुत कमी हो गयी थी। गेहूँ व चावल उत्पन्न करने वाले बहुत-से क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये थे जिससे भारत मे अन्न-सकट उत्पन्न हो गया और कीमतो मे और अधिक वृद्धि हो गयी थी।

(5) **औद्योगिक उत्पादन मे कमी** युद्धोत्तरकाल मे औद्योगिक उत्पादन मे भी कमी हो गयी थी। इसके कई कारण थे। उदाहरणार्थ, कच्चे माल की कमी, मजदूरो द्वारा हडतालें तथा उद्योगो के विस्तार के लिए विदेशी मशीनो का अभाव। इस प्रकार औद्योगिक वस्तुओ की कमी के कारण मुद्रा-स्फीति को और अधिक बल मिला था।

युद्धोत्तरकालीन स्फीति के भी वही परिणाम हुए जो युद्धकालीन-स्फीति के हुए थे। उद्योग-पतियो, व्यापारियो तथा अन्य उत्पादक वर्गों को अत्यधिक लाभ हुआ था। इसके विपरीत, श्रमिको, वेतनभोगियो तथा अन्य निश्चित आय वाले वर्गों को हानि हुई, विशेषकर, मध्यवर्गीय लोगो की दशा तो बहुत ही सोचनीय हो गयी थी। देश मे राष्ट्रीय आय के कुवितरण (*mal-distribution*) से आर्थिक विषमताएँ बहुत बढ गयी थी।

(ख) युद्धोत्तरकालीन स्फीति को रोकने के लिए किये गये सरकारी उपाय—जैसा उपर कहा गया है, युद्धोत्तरकाल मे मुद्रा स्फीति की स्थिति काफी गम्भीर हो गयी थी, विशेषकर सन् 1948 म कीमत सम्बन्धी परिस्थिति सरकार के लिए सरदर्द बन गयी थी। कीमत-स्तर मे होने वाली इस निरन्तर वृद्धि को रोकने के लिए सरकार ने अक्टूबर 1948 मे एक स्फीति-विरोधी योजना बनायी थी। इस योजना के दो भाग थे प्रथम, सरकारी व्यय को कम करना तथा जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को निष्प्रभाव बनाना। दूसरे, उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करना। योजना के प्रथम भाग के अन्तर्गत सरकार द्वारा निम्नलिखित कदम उठाये गये थे

(1) **करो मे वृद्धि**—सरकार ने लोगो पर नये-नये कर लगाकर तथा पुराने करो को बढाकर उनकी अतिरिक्त क्रय-शक्ति को गतिहीन बनाने का प्रयत्न किया था।

(2) **मुद्रा की मात्रा मे कमी**—मुद्रा की मात्रा मे कमी करने के लिए सरकार ने घाटे की अर्थ-व्यवस्था की नीति का धीरे-धीरे परित्याग कर दिया था।

(3) **सरकारी व्यय मे वृद्धि**—सरकार ने अपने तेजी से बढते हुए व्यय पर रोक लगाने का प्रयत्न किया ताकि देश मे मुद्रा-चलन की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि न हो सके।

(4) **बैंक-दर मे वृद्धि** साख के विस्तार को रोकने के लिए नवम्बर 1951 मे सरकार ने बैंक-दर को 3 प्रतिशत से बढाकर 3½ प्रतिशत कर दिया (इस समय बैंक-दर 9% है)। इसके साथ ही सन् 1949 के बैंकिंग एक्ट के अनुसार प्रत्येक व्यापारिक बैंक के लिए उसकी कुल जमाराशि का 25 प्रतिशत भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे निवेशित करना अनिवार्य कर दिया गया। इससे साख की मात्रा मे कुछ कमी हुई।

देश मे उत्पादन की मात्रा को बढाने के लिए सरकार द्वारा निम्नलिखित कदम उठाये गये

(1) सरकार ने 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को अधिक तेज करने का प्रयत्न किया। किसानो को बीज, खाद तथा सिंचाई की सुविधाएँ देकर खाद्योत्पादन को प्रोत्साहन दिया गया।

(2) बेकार पडी भूमि को खेती के अधीन लाने के प्रयत्न किये गये।

(3) विदेशो से खाद्य-पदार्थों तथा औद्योगिक वस्तुओ के आयात बढाये गये।

(4) औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बढाने के लिए नये-नये उद्योग धन्धो को पहले 3 वर्ष के लिए आय-कर से मुक्त कर दिया गया।

(5) कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग सम्बन्धी नियमो को कडाई से क्रियान्वित किया गया।

योजना-काल में मुद्रा-स्फीति
(Inflation During Plan Period)

पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत भी मुद्रा-स्फीति निरन्तर जारी रही।

(क) **प्रथम पचवर्षीय योजना**—प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक काल मे मुद्रा स्फीति की गति कुछ धीमी पड गयी थी। इसका कारण यह था कि मानसून की अनुकूलता के कारण कृषि-उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि हुई थी। इसके साथ ही साथ परिस्थितियो की अनुकूलता के कारण औद्योगिक उत्पादन मे भी वृद्धि हुई थी। इस प्रकार, प्रथम योजना के प्रारम्भिक काल मे कीमत-स्तर पहले की अपेक्षा गिर गया, परन्तु जून 1955 से देश मे मुद्रा स्फीति की गति तेज होने लगी और कीमतें पुन बढने लगी। इसका कारण यह था कि सन 1955 मे मानसून के फेल हो जाने के कारण कृषि-उपज मे कमी हो गयी थी, परिणामत जून 1955 से कीमत-स्तर धीरे-धीरे पुन बढना शुरू हो गया था। यद्यपि प्रथम योजना के अन्तर्गत 290 करोड रुपये की घाटे की अर्थ-व्यवस्था का प्रावधान किया गया था, लेकिन वास्तविक राशि 333 करोड रुपये के बराबर थी।

(ख) **दूसरी पचवर्षीय योजना**—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जून 1955 से कीमतो मे वृद्धि होनी शुरू हो गयी थी और कीमतो के बढने की यह प्रवृत्ति दूसरी योजना के समूचे काल मे निरन्तर जारी रही। सभी प्रकार की कीमतें बढी। परिणामत दूसरी योजना-अवधि मे लोगो के जीवन-निर्वाह की लागत बहुत बढ गयी और साधारण जनता का जीवन-स्तर बुरी तरह प्रभावित हुआ। यद्यपि दूसरी योजना के अन्तर्गत 1200 करोड रुपये की घाटे की अर्थ व्यवस्था का प्रावधान किया गया था, लेकिन वास्तविक राशि 954 करोड रुपये के बराबर हुई थी।

(ग) **तीसरी पचवर्षीय योजना**—तीसरी पचवर्षीय योजना की अवधि मे कीमतो मे वृद्धि निरन्तर जारी रही, इसके कई कारण थे। उदाहरणार्थ, सरकारी व्यय मे वृद्धि, निजी निवेश (investment) मे वृद्धि, मुद्रा एव साख का अत्यधिक विस्तार, विदेशी विनिमय की कमी, उपभोग्य वस्तुओ के उत्पादन मे गिरावट तथा भारत-चीन सीमा युद्ध। इन सभी कारणो से देश मे स्फीतिक प्रवृत्तियो को अधिक बल मिला और कीमत-स्तर मे वृद्धि का क्रम निरन्तर जारी रहा। तीसरी योजना मे 550 करोड रुपये की घाटे की अर्थ-व्यवस्था का प्रावधान किया गया था, लेकिन वास्तविक राशि इस लक्ष्य से कही अधिक बढ गयी थी। अनुमान है कि तीसरी योजना की अवधि मे लगभग 1133 करोड रुपये की घाटे की अर्थ-व्यवस्था की गयी थी।

(घ) **तीन वार्षिक योजनाएँ, 1966-69 (Three Annual Plans, 1966-69)**—इन तीन वार्षिक योजनाओ मे सरकार ने 335 रुपये की घाटे की अर्थ-व्यवस्था की थी लेकिन वास्तविक राशि इस लक्ष्य से भी दुगुनी हो गयी थी। इन तीन वर्षों मे लगभग 682 करोड रुपये

की घाटे की अर्थ-व्यवस्था की गयी थी। इसका निश्चय ही देश के कीमत स्तर पर प्रभाव पडा था। कीमतें और अधिक बढ गयी थी।

(ड) चौथी पचवर्षीय योजना, 1969-74—चूँकि देश मे कीमत-स्तर बहुत बढ चुका था, इसलिए योजनाकारो ने चौथी योजना मे केवल 850 करोड रु० के बराबर घाटे की अर्थ व्यवस्था की थी। लेकिन योजना के प्रथम वष (1969 70) मे ही औसत थोक कीमतो मे 3 7 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी। सन् 1970 71 म भी कीमतो की वृद्धि का यह क्रम जारी रहा।

सन1972-73 मे भी कीमत स्थिति मे कोई सुधार नही हुआ। लेकिन सन् 1973 74 मे तो स्फीतिक दशा अत्यन्त गम्भीर हो गई थी। विवश होकर 11 अगस्त 1973 को भारत सरकार ने अपनी स्फीति विरोधी नीति की घोषणा की थी। इस नीति की घोषणा से पूर्व भी भारत सरकार ने कई स्फीति विरोधी कदम उठाये थे जो इस प्रकार थे

(i) घाटे की अथ व्यवस्था (deficit financing) मे कटौती कर दी गई थी। सरकारी व्यय की पूर्ति यथासम्भव गैर स्फीतिक साधनो से की जा रही थी।

(ii) बैंक दर को 6 प्रतिशत से बढाकर 7 प्रतिशत कर दिया गया था।

(iii) अनुसूचित बैंको के नकद अनुपात को 3% से बढाकर 5% कर दिया गया था।

(iv) व्यापारिक बैंको द्वारा ऋण देने की न्यूनतम ब्याज ~ 10% निर्धारित कर दी गई थी।

इन सबका उद्देश्य बढती हुई स्फीति पर रोक लगाना था।

सरकार की नई स्फीति विरोधी नीति का मुख्य उद्देश्य सरकारी व्यय मे कटौती करना था ताकि घाटे की अथ व्यवस्था को न्यूनतम किया जा सके। सरकार के गैर-योजना व्यय मे भारी कटौती कर दी गई थी। सरकारी क्षेत्र मे कार्यसील उद्योगो से कहा गया था कि वे अपनी आय बढायें और घाटे मे कमी करें। इसके साथ ही साथ योजना व्यय (Plan Expenditure) मे भी कटौती करने का निश्चय किया गया था। लेकिन ऐसा करते समय यह देखा जायगा कि मूल एव आवश्यक परियोजनाओ के व्यय मे किसी प्रकार की कटौती न की जाय। इस प्रकार कुल मिलाकर केन्द्रीय एव राज्य सरकारो के व्यय मे 400 करोड रु० की कटौती की जानी थी। इसके अलावा, सावजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System) को भी सुदृढ करने का निश्चय किया गया ताकि जनता को आवश्यक वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्यो पर सुगमता से उपलब्ध हो सकें।

जुलाई 1974 मे भारत सरकार ने दो अध्यादेशो द्वारा बढे हुए मुनाफो एव मजदूरियो को जाम (freeze) कर दिया था। तीसरे अध्यादेश मे करदाताओ के लिये एक अनिवाय बचत योजना (Compulsory Deposits Scheme) लागू कर दी गई थी। इन तीनो अध्यादेशो का उद्देश्य बढती हुई कीमतो पर रोक लगाने हेतु लोगो की क्रय शक्ति को निष्प्रभाव करना था।

इन उपायो के अतिरिक्त सरकार ने बैंक-साख पर भी कडा नियन्त्रण लगा दिया था। इन सभी का परिणाम यह निकला कि कीमत स्तर मे धीरे धीरे गिरावट आने लगी। 26 जून, 1975 को आपात स्थिति की घोषणा के उपरान्त तो कीमतो की यह गिरावट और भी तेज हो गई थी। अप्रैल, 1974 मे भारत मे मुद्रा स्फीति की वार्षिक दर 30 1 प्रतिशत थी। लेकिन अप्रैल, 1975 मे यह घटकर 6 5 प्रतिशत हो गई थी। 19 जुलाई 1975 को मुद्रा स्फीति की दर —2 7 प्रतिशत हो गई थी अर्थात् यह दर अब ऋणात्मक (negative) हो गई थी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 मुद्रा-प्रसार की परिभाषा कीजिए। इसके क्या परिणाम तथा उपचार हैं?

(बनारस 1959, इलाहाबाद 1956)

[संकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा-स्फीति (मुद्रा प्रसार) की परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए इसकी व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइए कि देश के आर्थिक जीवन तथा विभिन्न वर्गों पर मुद्रा स्फीति का क्या प्रभाव पडता है। तीसरे भाग मे, यह बताइए कि मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए किन किन उपायो को अपनाना चाहिए।]

2 मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन के अर्थ स्पष्ट रूप से समझाइए। देश के विभिन्न वर्गों पर इनका क्या प्रभाव पडता है?

(आगरा, 1955)

[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-अवस्फीति की परिभाषाएँ देते हुए इन दोनो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि इन दोनो से देश के विभिन्न वर्गों पर क्या-क्या प्रभाव पडते है।]

3 **"मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-सकुचन अनुपयुक्त—इन दोनो मे से मुद्रा-सकुचन अधिक बुरा है।" विवेचना कीजिए।** (सागर, 1948, गोरखपुर, 1959, ग्वालियर, 1971)
[संकेत—यहा पर प्रो० केन्ज के उक्त उद्धरण की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। पहले यह समझाइए कि मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण क्यो है और तदुपरान्त, यह स्पष्ट कीजिए कि मुद्रा-सकुचन की नीति अनुपयुक्त क्यो है। अन्त मे, मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन की तुलना करते हुए यह बताइए कि इन दोनो मे से मुद्रा सकुचन अधिक बुरा होता है, अर्थात् यहाँ पर मुद्रा सकुचन की बुराइयो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

4 **मूल्य-स्थैर्य की वास्तविक समस्या क्या है? क्या मूल्य-स्थैर्य वांछनीय है अथवा क्या वह प्राप्तव्य है? अपने उत्तर के लिए स्पष्टीकरण दीजिए।** (जबलपुर, 1958)
[संकेत—पहले भाग मे, मूल्य-स्थैर्य (अर्थात् कीमतो की स्थिरता) की समस्या की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि मूल्य स्थैर्य की नीति वाछनीय तो है परन्तु इसे व्यावहारिक रूप देने मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है।]

5 **स्फीति, अवस्फीति तथा प्रत्यवस्फीति मे क्या अन्तर है? समझाइए। किसी देश की आर्थिक प्रगति मे किन परिस्थितियो मे अवस्फीति लाभप्रद होती है? उदाहरण सहित समझाइए।** (सागर, 1961)
[संकेत—प्रथम भाग मे, स्फीति, अवस्फीति तथा प्रत्यवस्फीति शब्दो की परिभाषाएँ देकर इनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि अवस्फीति की नीति उस समय लाभप्रद सिद्ध होती है जबकि देश मे स्फीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कीमतो को और अधिक बढने से बचाने के लिए अवस्फीति का आश्रय लिया जाता है।]

6 **मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन मे क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिए। देश की आर्थिक उन्नति के लिए किन-किन परिस्थितियो मे मुद्रा-प्रसार लाभदायक हो सकता है?** (आगरा, 1958, 1972, राजस्थान, 1956)
[संकेत—प्रथम भाग के लिए प्रश्न 2 के उत्तर को देखिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व मुद्रा-प्रसार की नीति लाभदायक होती है।]

7 **मुद्रा-प्रसार एव मुद्रा सकुचन रोकने की रीतियाँ उदाहरण सहित समझाइए।** (आगरा, 1969)
[संकेत—पहले आप मुद्रा प्रसार (मुद्रा-स्फीति) एव मुद्रा-सकुचन (मुद्रा-अवस्फीति) की परिभाषाएँ देकर इनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए। तदुपरान्त, इन्हे रोकने की रीतियो का उल्लेख कीजिए। इसके लिए देखिए "मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय" तथा "मुद्रा अवस्फीति को रोकने के उपाय' नामक उपविभाग।]

8 **मुद्रा-स्फीति किसे कहते हैं? इसका समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पडता है? इसे कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है?** (राजस्थान, 1971)

अथवा

मुद्रा-स्फीति से क्या अभिप्राय है? अर्थ-व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पडता है? मुद्रा-स्फीति का उपचार कैसे किया जाता है? (आगरा, 1975)
[संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा स्फीति की परिभाषा करते हुए इसके विभिन्न रूपो की सक्षिप्त विवचना कीजिए। दूसरे भाग मे, यह स्पष्ट कीजिए कि उत्पादको, उपभोक्ताओ, निवेश कर्ताओ, ऋणियो ऋणदाताओ, वेतनभोगी वर्गों पर मुद्रा स्फीति का क्या प्रभाव पडता है। तीसरे भाग के लिए उपर्युक्त अध्याय मे "मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय' नामक उपविभाग को देखिए।]

8

सूचकांक
(Index Numbers)

प्रस्तावना—जैसा हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, कीमत-स्तर मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, अर्थात् मुद्रा का मूल्य कभी बढ जाता है और कभी घट जाता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कीमत-स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो को किस तरह नापा जाय ? जैसा विदित है, कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को सूचकाको (index numbers) द्वारा नापा जाता है। कीमत-स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तन आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते है, क्योकि कीमतो के उतार-चढाव देश के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालते है। इसलिए कीमत स्तर मे होने वाले उतार-चढावो को निश्चित रूप से नापना आवश्यक हो जाता है। अत इस कार्य के लिए सूचकाको का प्रयोग किया जाता है।

सूचकांक क्या होते हैं ?
(What are Index Numbers ?)

जैसा विदित है, किसी विशेष समय पर सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें एक साथ न तो एक ही दिशा मे बढती है और न ही घटती है। यदि कुछ वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें घटती है, तब कुछ अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें बढ जाती हैं। इसी प्रकार यह भी सम्भव हो सकता है कि कुछ वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें कम अनुपात मे बढें और कुछ अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें अधिक अनुपात मे बढें। यह भी सम्भव हो सकता है कि कुछ वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे कुछ भी परिवर्तन न हो। परन्तु यदि हम विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो का औसत (average) निकाल लें, तब हमें पता चलेगा कि सामान्य कीमत-स्तर (general-price-level) मे वृद्धि हुई है अथवा कमी। सूचकाको का उद्देश्य कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को सक्षिप्त रूप मे व्यक्त करना होता है। इस प्रकार सूचकाको की सहायता से देश के सामान्य कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के बारे मे हम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

यदि सूचकाक बढ जाते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि सामान्य कीमत-स्तर ऊँचा हो गया है, अर्थात् वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो की केन्द्रीय प्रवृत्ति बढने की ओर है अथवा मुद्रा के मूल्य की प्रवृत्ति कम होने की ओर है। इसके विपरीत, यदि सूचकाक गिर जाते है तो इसका यह अर्थ होता है कि सामान्य कीमत-स्तर मे कमी हो गयी है, अथवा मुद्रा का मूल्य बढ गया है। इस प्रकार सूचकाको के बढने पर कीमत-स्तर बढ जाता है और उनके घटने पर कीमत-स्तर घट जाता है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूचकाक मुद्रा के पूर्ण मापक नही होते। सूचकाक किसी पूर्वकाल के कीमत-स्तर की तुलना किसी उत्तरकाल के कीमत-स्तर से करते है। इस प्रकार सूचकाक कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को तुलनात्मक रूप मे ही व्यक्त करते है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि इस समय सूचकाक 75 है तो उसका यह कहना बिलकुल अर्थहीन है, क्योकि जब तक इस अक की किसी अन्य समय के अक से तुलना नही की जाती, तब तक इसका कुछ भी अर्थ नही निकलता। इसी प्रकार इस अक का तब ही कुछ अर्थ निकलता है जब हम यह बताते है कि यह अक अमुक वर्ष का अक है। दूसरे शब्दो मे, हमे यह स्पष्ट करना होता है

कि अमुक अक किस वर्ष से सम्बन्धित है। तभी इसकी किसी अन्य वर्ष के अक से तुलना की जा सकती है। इस प्रकार कीमत सूचकाक (price index numbers) दो विभिन्न अवधियो के कीमत-स्तरो की तुलना मे सहायता देते हैं।

स्मरण रहे कि सूचकाको का प्रयोग केवल कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को नापने के लिए ही नही किया जाता, बल्कि इनका प्रयोग अन्य आर्थिक घटनाओं मे होने वाले परिवर्तनो को नापने के लिए भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, देश के उत्पादन स्तर मे होने वाले परिवर्तनो अथवा देश के आयात-निर्यातो मे होने वाले परिवर्तनो को भी सूचकाको द्वारा व्यक्त किया जाता है।

कीमत-सूचकांक बनाने की विधि

(Method of Preparing Price Index Numbers)

कीमत सूचकाक बनाते समय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखा जाता है

(1) **आधार-वर्ष का चयन** (Choice of the Base-Year) सूचकाक प्राय वार्षिक आधार पर बनाये जाते है, इसलिए सूचकाक बनाने के लिए सबसे पहले आधार-वर्ष का चयन करना पडता है। आधार वर्ष वह वर्ष होता है जिसके औसत कीमत स्तर की तुलना अन्य वर्षों के औसत कीमत स्तरो से की जाती है। चूंकि आधार-वर्ष के कीमत स्तर की तुलना अन्य वर्षों के कीमत-स्तरो से की जाती है इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि आधार-वर्ष को बडी सावधानी से चुना जाय। आधार वर्ष एक ऐसा वर्ष होना चाहिए जो प्रत्येक दृष्टि से सामान्य वर्ष (normal year) हो, अर्थात् उस वर्ष मे कोई असामान्य घटना घटित नही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, उस वर्ष मे कीमत स्तर मे अधिक उतार-चढाव नही होने चाहिए और न ही वह वर्ष सकट का वर्ष होना चाहिए। आधार-वर्ष का चुनाव करते समय कीमत सूचकाक के उद्देश्य को भी ध्यान मे रखना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि हमे युद्ध-पूर्व कीमत स्तर की तुलना वर्तमान कीमत स्तर से करनी है, तो सन् 1939 को ही आधार-वर्ष मानना पडेगा।

(2) **वस्तुओ तथा सेवाओं का चयन** (Choice of Commodities and Services)—आधार-वर्ष निश्चित कर लेने के उपरान्त हमारा दूसरा कदम यह होता है कि किन-किन वस्तुओ तथा सेवाओ को कीमत सूचकाक बनाने के लिए चुना जाय। स्पष्ट है कि कीमत सूचकाको को बनाते समय हम सभी वस्तुओ की तथा सेवाओ की कीमतो को सम्मिलित नही कर सकते। ऐसा करना लगभग असम्भव है। हमे तो ऐसी वस्तुओ तथा सेवाओ का चुनाव करना होता है जो अन्य वस्तुओ तथा सेवाओ का प्रतिनिधित्व करे। वस्तुओ तथा सेवाओ का चुनाव करते समय हमे सूचकाक के उद्देश्य को भी ध्यान मे रखना होता है। उदाहरणार्थ यदि हमे किसी विशेष वर्ग के जीवन निर्वाह लागत (Cost of living) का सूचकाक तैयार करना है तब हमे ऐसी वस्तुओ तथा सेवाओ को चुनना होगा जो उस वर्ग द्वारा प्रयोग मे लायी जाती हैं अर्थात् केवल उन्ही वस्तुओ तथा सेवाओ को चुनना होगा जिनका उपयोग उस वर्ग द्वारा किया जाता है। वैसे तो जितनी अधिक सख्या मे वस्तुओ तथा सेवाओ को सूचकाक मे सम्मिलित किया जायगा उतना ही अधिक प्रतिनिधि सूचकाक बनेगा। परन्तु साधारणत सूचकाक तैयार करते समय 20 या 25 प्रतिनिधि वस्तुओ का ही चुनाव किया जाता है।

(3) ***वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो का चयन*** (*Selection of the Prices of* Commodities and Services)—प्रतिनिधि वस्तुओ तथा सेवाओ के चुनाव के उपरान्त तीसरा कदम यह होता है कि इन वस्तुओ की आधार वर्ष तथा जाँच के वर्ष मे कीमतें मालूम कर ली जाती है परन्तु यहाँ पर एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि इन प्रतिनिधि वस्तुओ की कौन सी कीमतो को सूचकाक बनाते समय लिया जाय। जैसा विदित है, कीमतें दो प्रकार की होती है—थोक कीमते (wholesale prices) तथा फुटकर कीमतें (retail prices)। नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था मे तो कुछ वस्तुओ की कीमतें सरकार द्वारा नियन्त्रित (controlled) भी की जाती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सूचकाक बनाते समय वस्तुओ की किन कीमतो को लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा करने के लिए सूचकाक के उद्देश्य को ध्यान मे रखा जाय। यदि हमे साधारण कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को सूचकाक द्वारा व्यक्त करना है तब हमें थोक कीमतो को ही लेना चाहिए। इसके विपरीत, यदि हमे जीवन-निर्वाह लागत सूचकाक (cost of

living index numbers) तैयार करते हैं तब हमे प्रतिनिधि वस्तुओ की फुटकर कीमतो को ही लेना चाहिए। इसके उपरान्त इन प्रतिनिधि वस्तुओ की कीमतो के बारे मे जानकारी एकत्रित करते समय हमे प्रतिनिधि बाजारो (representative markets) का भी चुनाव करना होता है और इन्ही बाजारो मे प्रचलित कीमतो को ही सूचकाक बनाते समय गणनाओ (calculations) मे सम्मिलित किया जाता है।

(4) कीमतो को प्रतिशत के रूप मे व्यक्त करना (To Represent Prices in Percentages)—कीमत-सूचकाक बनाते समय चौथा कदम यह होता है कि प्रत्येक वस्तु तथा सेवा के आधार-वर्ष की कीमतो को 100 के बराबर मान लिया जाता है और फिर सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के जाँच के वर्ष मे कीमत सम्बन्धी परिवर्तनो को प्रतिशत के रूप मे व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि आधार वर्ष मे गेहूँ की कीमत 20 रुपये प्रति क्विटल है तो इसे हम 100 के बराबर मान लेते हैं। यदि जाँच के वर्ष मे गेहूँ की कीमत 40 रुपये प्रति क्विटल हो जाती है, तब यह प्रतिशत में 200 कहलायगी। इस तरह सभी वस्तुओ तथा सेवाओ के कीमत प्रतिशत निकाल लिये जाते है।

(5) आधार-वर्ष तथा जाँच के वर्ष मे कीमतो का औसत निकालना (To Find Out the Average of Prices)—कीमत-सूचकाक बनाते समय अन्तिम कदम यह होता है कि आधार-वर्ष और जाँच के वर्ष की कीमतो के प्रतिशतो का औसत निकाल लिया जाता है और दोनो की तुलना की जाती है। आधार-वर्ष का औसत तो 100 के बराबर ही रहता है, परन्तु जाँच के वर्ष का औसत 100 से अधिक या 100 से कम हो सकता है। इस औसत को सूचकाक कहते हैं। यदि जाँच के वर्ष का औसत आधार-वर्ष के औसत से अधिक है तो इसका अर्थ यह होगा कि सामान्य कीमत-स्तर बढ गया है। इसके विपरीत, यदि आधार-वर्ष का औसत जाँच के वर्ष के औसत से अधिक है तब इसका अर्थ होगा कि सामान्य कीमत-स्तर कम हो गया है। इस प्रकार सामान्य कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो को प्रतिशत के रूप मे व्यक्त किया जाता है।

साधारण कीमत-सूचकांक का एक उदाहरण—अब हम यहाँ पर एक काल्पनिक तालिका की सहायता से साधारण 'कीमत-सूचकाक' का निर्माण करेंगे। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है कि सन् 1967 का कीमत-सूचकाक 242 8 है। यह आधार वर्ष की तुलना मे प्रतिशत के रूप मे प्रकट किया गया है। इसका अर्थ यह है कि सन् 1951 की तुलना मे सन् 1967 मे कीमत-स्तर मे 242 8—100=142 8 प्रतिशत वृद्धि हो गयी है। दूसरे शब्दो मे, सन् 1967 मे सामान्य कीमत-स्तर सन् 1951 की अपेक्षा लगभग डेढ गुना बढ गया है। (स्मरण रहे, यह तालिका विशुद्धत काल्पनिक ही है।)

वस्तुएँ	आधार-वर्ष सन् 1951 मे कीमतें (रुपयो मे)	आधार-वर्ष का सूचकाक	सन् 1967 मे कीमतें (रुपयो मे)	सन् 1967 का सूचकाक
गेहूँ	20 00 प्रति क्वि०	100	40 00	200
चावल	40 00 ,, क्वि०	100	120 00	300
वनस्पति	2 00 ,, क्वि०	100	4 00	200
दूध	0 50 ,, क्वि०	100	1 00	200
तेल	1 00 ,, लि०	100	3 00	300
कपड़ा	1 00 ,, मी०	100	3 00	300
कोयला	2 00 ,, क्वि०	100	4 00	200
		7)700		7)1700
		100		242·8

जैसा उपर्युक्त तालिका मे हमने देखा है, सभी वस्तुओ को समान महत्व दिया गया है। यही साधारण कीमत सूचकांक का दोष है। वास्तव मे, सूचकांक मे सम्मिलित की जाने वाली सभी वस्तुओ को समान महत्व नही दिया जा सकता। उदाहरणार्थ उपर्युक्त तालिका में गेहूँ को उतना ही महत्व दिया गया है जितना कि तेल को। परन्तु हम जानते हैं कि उपभोक्ता के लिए तेल इतना महत्वपूर्ण नही है जितना कि गेहूँ। उपभोक्ता तेल पर अपनी आय का छोटा-सा अंश ही व्यय करता है, परन्तु गेहूँ पर वह अपनी आय का एक काफी बडा भाग व्यय करता है। यदि तेल की कीमत मे काफी वृद्धि हो जाती है तो भी तेल पर किया गया व्यय कोई अधिक मात्रा मे नही बढता। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता तेल पर पहले ही अपनी आय का एक बहुत छोटा-सा अंश व्यय कर रहा है। इसके विपरीत गेहूँ की कीमत मे यदि थोडी-सी भी वृद्धि हो जाती है तो उपभोक्ता द्वारा गेहूँ पर व्यय की गयी राशि मे अत्यधिक वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उपभोक्ता के लिए गेहूँ और तेल का महत्व एक समान नही है, परन्तु साधारण कीमत सूचकांक मे सभी वस्तुओ को बराबर का महत्व दिया जाता है। इस प्रकार साधारण कीमत-सूचकांक मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनो का सही-सही अनुमान प्रस्तुत नही करता। इस दोष को सभार-कीमत-सूचकांक बनाकर दूर किया जा सकता है।

सभार अथवा भारशील सूचकांक (Weighted Index Number)—जब वस्तुओ तथा सेवाओ को उनके महत्व के अनुसार भार (weights) देकर सूचकांक बनाये जाते है, तब इन्हे सभार अथवा भारशील सूचकांक कहते हैं। इस प्रकार के सूचकांको मे प्रत्येक वस्तु को उसके महत्व के अनुसार भार प्रदान किया जाता है। यदि कोई वर्ग अपनी आय का अधिक भाग किसी वस्तु पर व्यय करता है तब ऐसी वस्तु को दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक भार दिया जाता है। इसके विपरीत, जिस वस्तु पर कोई वर्ग अपनी आय का बहुत कम भाग व्यय करता है, उस वस्तु को कम भार दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओ पर किये गये व्यय के अनुसार ही उन्हे भार प्रदान किया जाता है।

सभार अथवा भारशील सूचकांक का एक उदाहरण—साधारण सूचकांक का जो उदाहरण पीछे प्रस्तुत किया जा चुका है, उसी के आधार पर हम एक सभार सूचकांक बनाने का प्रयत्न करेंगे

वस्तुएँ	आधार-वर्ष सन् 1951 मे कीमतें (रु० मे)	आधार-वर्ष का सभार सूचकांक	सन् 1967 मे कीमतें (रु० मे)	सन् 1967 का सभार सूचकांक
गेहूँ	20 00 प्रति क्वि०	100 × 2 = 200	40 00	200 × 2 = 400
चावल	40 00 ,, क्वि०	100 × 3 = 300	120 00	300 × 3 = 900
वनस्पति	2 00 ,, कि०	100 × 2 = 200	4 00	200 × 2 = 400
दूध	0 50 ,, लि०	100 × 1 = 100	1 00	200 × 1 = 200
तेल	1 00 लि०	100 × 1 = 100	3 00	300 × 1 = 300
कपडा	1 00 मी०	100 × 2 = 200	3 00	300 × 2 = 600
कोयला	2 00 ,, क्वि०	100 × 1 = 100	4 00	200 × 1 = 200
		12) 1200 / 100		12 3000 / 250

जैसा उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है, हमने विभिन्न वस्तुओ को उनके महत्व के अनुसार भार दिये है। गेहूँ को *2*, चावल को 3 वनस्पति को 2, दूध को 1, तेल को 1, कपडे को 2 तथा कोयले को 1 के बराबर भार (*weights*) दिये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता के बजट मे विभिन्न वस्तुओ का सापेक्षिक (relative) महत्व क्या है। जैसी सारणी मे दिखाया गया है सन् 1967 मे सभार सूचकांक के अनुसार कीमत स्तर सन् 1951 की अपेक्षा $1\frac{1}{2}$ गुना बढ गया था।

सूचकांक बनाने में कठिनाइयाँ
(Difficulties in Preparing Index Numbers)

सूचकांक बनाते समय हमें कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जो निम्नलिखित हैं :

(1) **आधार-वर्ष के चयन में कठिनाई**—सूचकांक बनाते समय हमारे सामने पहली समस्या यह उत्पन्न होती है कि किस वर्ष को आधार-वर्ष माना जाय। इसका कारण यह है कि कोई भी वर्ष पूर्णतः सामान्य (normal) नहीं होता। प्रत्येक वर्ष में कुछ न कुछ असामान्य (abnormal) बातें अवश्य ही हो जाती हैं। अतः यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन-से वर्ष को सामान्य वर्ष माना जाय। इसके अतिरिक्त, यदि हम किसी को आधार-वर्ष मान भी लेते हैं तो वह वर्ष सदा के लिए आधार-वर्ष नहीं बन जाता, बल्कि समय समय पर उस आधार-वर्ष में परिवर्तन किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, युद्धकाल में कीमतों की वृद्धि को नापने के लिए सन् 1939 को आधार-वर्ष माना जाता था, परन्तु युद्धोत्तरकाल में सन् 1951 को कीमतें नापने के लिए आधार-वर्ष माना जाने लगा है। इस प्रकार आधार-वर्ष निर्धारित करते समय सूचकांक बनाने के उद्देश्य को भी ध्यान में रखा जाता है।

(2) **प्रतिनिधि-वस्तुओं के चयन में कठिनाई**—सूचकांक बनाते समय दूसरी समस्या यह उत्पन्न होती है कि किन-किन प्रतिनिधि वस्तुओं को सम्मिलित किया जाय। कभी-कभी समय बीतने पर वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् आधार-वर्ष की अपेक्षा जाँच के वर्ष (year of inquiry) में वस्तुओं के गुणों में अन्तर उत्पन्न हो सकता है। तब ऐसी परिस्थिति में पुरानी वस्तुओं को सूचकांक में सम्मिलित करना अर्थहीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य कठिनाई यह है कि कालान्तर में किसी वर्ग विशेष के उपभोग में भी अन्तर पड़ सकता है। उदाहरणार्थ दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व साधारण जनता के उपभोग में वनस्पति घी का इतना महत्त्व नहीं था जितना कि इस समय है। अतएव इस कारण प्रतिनिधि-वस्तुओं के चयन में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

(3) **वस्तुओं की कीमतों की जानकारी प्राप्त करने में कठिनाई**—सूचकांक बनाते समय तीसरी समस्या यह उत्पन्न होती है कि प्रतिनिधि-वस्तुओं की किन कीमतों को लिया जाय—थोक अथवा फुटकर। अब थोक कीमतों के बारे में जानकारी प्राप्त करना तो अपेक्षाकृत आसान है परन्तु फुटकर कीमतों के बारे में जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि उनमें कभी-कभी भिन्नता पायी जाती है।

(4) **वस्तुओं को भार देने में कठिनाई**—सभार सूचकांक बनाते समय एक कठिनाई यह भी उत्पन्न होती है कि विभिन्न प्रतिनिधि-वस्तुओं को किस मात्रा में भार दिया जाय। कितने ही भरसक प्रयत्न क्यों न किये जायँ, विभिन्न वस्तुओं को दिये गये भार केवल अनुमानजनक ही होंगे।

(5) **औसत निकालने में कठिनाई**—सूचकांक बनाते समय एक समस्या यह भी उत्पन्न होती है कि कौन-सी पद्धति से कीमतों की औसत निकाली जाय। जैसा विदित है, अनेक प्रकार की औसतें (averages) होती हैं, जैसे अंकगणित औसत (Arithmetic Average), रेखागणित औसत (Geometric Mean) इत्यादि। कभी-कभी एक ही सांख्यिकीय सामग्री से विभिन्न औसतों के प्रयोग से विभिन्न परिणाम निकलते हैं। अतः सूचकांक बनाते समय औसत की रीति का चुनाव करने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। भार तथा औसत की कठिनाइयों को दूर करने के लिए डॉ० मार्शल ने शृंखलाकारी सूचकांकों (chain index numbers) का सुझाव दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूचकांक बनाते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसलिए वास्तविक एवं पूर्णतः विश्वसनीय सूचकांक तैयार करना सम्भव नहीं और जो कीमत-सूचकांक प्रायः बनाये भी जाते हैं, वे कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों का सही-सही अनुमान प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार सूचकांकों में पूर्ण गणितात्मक सत्यता नहीं पायी जाती। डॉ० मार्शल ने कहा है, "मुद्रा की क्रय-शक्ति को पूर्णतः सही मापना न केवल असम्भव है, बल्कि अविचारणीय भी है।" परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कीमत-सूचकांक बिलकुल बेकार होते हैं। मोटे तौर पर कीमत स्तर में होने वाली प्रवृत्तियों का अनुमान सूचकांकों की सहायता से लगाया जा सकता है।

सूचकांकों के भेद
(Types of Index Numbers)

सूचकांकों के मुख्य भेद निम्नलिखित हैं

(1) थोक कीमत सूचकांक (Wholesale Price Index Numbers)—इस प्रकार के सूचकांक कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं की थोक कीमतों के आधार पर बनाये जाते हैं। प्रायः इन सूचकांकों के तैयार करने में कच्चे पदार्थों (raw materials) की कीमतों को ही सम्मिलित किया जाता है। ये पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(क) कृषि-सम्बन्धी पदार्थ और (ख) गैर-कृषि सम्बन्धी पदार्थ। इन सूचकांकों को बनाते समय इन वस्तुओं की थोक कीमतों को ही लिया जाता है और इन वस्तुओं को उनके महत्व के अनुसार भार (weight) प्रदान किया जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति में होने वाले परिवर्तनों को मापने के लिए प्रायः थोक कीमत सूचकांकों का ही उपयोग किया जाता है परन्तु थोक कीमत सूचकांकों में कुछ दोष भी पाये जाते हैं प्रथम इन सूचकांकों में केवल कच्चे पदार्थों की थोक कीमतों को ही सम्मिलित किया जाता है अर्थात तैयारशुदा वस्तुओं की कीमतों को इनमें सम्मिलित नहीं किया जाता यद्यपि तैयारशुदा वस्तुएँ भी देश की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उतनी ही महत्वपूर्ण होती हैं जितनी कि अन्य कच्ची वस्तुएं। अतः ये सूचकांक मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं करते। द्वितीय इन सूचकांकों को बनाते समय व्यक्तिगत सेवाओं तथा वस्तुओं के विक्री-व्यय को सम्मिलित नहीं किया जाता। परिणामतः ये सूचकांक मुद्रा की क्रय शक्ति में होने वाले परिवर्तनों का सही-सही अनुमान प्रस्तुत नहीं करते। तृतीय इन सूचकांकों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे इनकी उपयोगिता सीमित हो जाती है।

(2) जीवन निर्वाह लागत सूचकांक (Cost of Living Index Numbers)—इस प्रकार सूचकांकों को तैयार करते समय सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं को उनके महत्व के अनुसार भार (weights) भी दिये जाते हैं। जिन वस्तुओं को सूचकांकों में सम्मिलित किया जाता है वे केवल प्रतिनिधिस्वरूप ही होती हैं। इसका कारण यह है कि लोगों द्वारा प्रयोग में लायी गयी सभी वस्तुओं तथा सेवाओं को सूचकांकों में सम्मिलित करना सम्भव नहीं होता है। इन सूचकांकों की सहायता से जीवन निर्वाह-लागत में होने वाले परिवर्तनों को मापा जाता है।

श्रमिक-वर्ग जीवन निर्वाह सूचकांकों तथा साधारण जीवन निर्वाह लागत सूचकांकों में यह अन्तर होता है कि प्रथम प्रकार के सूचकांकों में सेवाओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता जबकि दूसरे प्रकार के सूचकांकों में सेवाओं की कीमतों को भी सम्मिलित किया जाता है। स्मरण रहे कि इस प्रकार के सूचकांक मुद्रा की क्रय शक्ति के सही माप नहीं होते। इसका कारण यह है कि ये सूचकांक व्यक्तिगत सेवाओं पर किये गये व्यय को कम महत्व देते हैं।

(3) औद्योगिक सूचकांक (Industrial Index Numbers)—इन सूचकांकों का उद्देश्य औद्योगिक उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों का अनुमान प्रस्तुत करना है। अतः इन सूचकांकों को बनाते समय देश के विभिन्न उद्योग धन्धों के उत्पादन के आँकड़ों को सम्मिलित किया जाता है। किसी महत्वपूर्ण वर्ष को आधार वर्ष मानकर अन्य वर्षों के औद्योगिक उत्पादन के परिवर्तनों का इन सूचकांकों द्वारा अनुमान लगाया जाता है। आज लगभग सभी देशों में सूचकांकों द्वारा औद्योगिक उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों को मापा जाता है। इन सूचकांकों के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार के सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ कृषि उत्पादन सूचकांक (agricultural production index numbers) राष्ट्रीय-आय सूचकांक (national income index numbers) और आयात निर्यात सूचकांक (import-export index numbers) इत्यादि।

सूचकांकों के लाभ
(Advantages of Index Numbers)

इसके लाभ निम्नलिखित हैं

(1) जीवन निर्वाह लागत सूचकांक—इन सूचकांकों से हमें यह पता चलता है कि जीवन निर्वाह लागत में क्या-क्या परिवर्तन हो रहे हैं। क्या श्रमिकों की जीवन निर्वाह लागत बढ़ रही

है अथवा कम हो रही है ? इन सूचकांकों के आधार पर ही श्रमिकों तथा अन्य प्रकार के कर्मचारियों की मजदूरियों मे परिवर्तन किये जाते हैं।

(2) **मुद्रा के मूल्य की माप**—सामान्य कीमत-सूचकांकों की सहायता से हम देश के भीतर कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनों के बारे मे जानकारी प्राप्त कर सकते है। जैसा विदित है, कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो का समाज के विभिन्न वर्गों पर गहरा प्रभाव पडता है। अत कीमत-सूचकांकों की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि देश के विभिन्न वर्गों पर कीमत-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो का क्या प्रभाव पडा है ? इन्ही सूचकांकों की सहायता से हम यह भी जान सकते है कि देश मे मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो गयी है और उसका मुकाबला करने के लिए कौन-कौन से कदम उठाये जा सकते है।

(3) **व्यापारी के लिए सूचकांकों की उपयोगिता**—इन सूचकांकों की सहायता से एक व्यापारी यह देख सकता है कि उसके माल की बिक्री बढ रही है अथवा कम हो रही है और यदि बढ रही है तो किस अनुपात मे बढ रही है। इस प्रकार सूचकांकों द्वारा प्रस्तुत जानकारी के आधार पर व्यापारी अपने माल की मात्रा मे परिवर्तन कर सकता है।

(4) **विदेशी व्यापार के बारे मे जानकारी**—इन सूचकांकों की सहायता से हमे इस बात की जानकारी हो जाती है कि विदेशी व्यापार की वास्तविक स्थिति क्या है ? क्या विदेशी व्यापार बढ रहा है अथवा कम हो रहा है और यदि बढ रहा है तो किस अनुपात मे बढ रहा है ?

(5) **उत्पादन के बारे मे जानकारी**—इन सूचकांकों की सहायता से हमे यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि देश का उत्पादन बढ रहा है अथवा कम हो रहा है और इसी जानकारी के आधार पर सरकार अपनी औद्योगिक नीति का निर्माण कर सकती है।

(6) **ऋणियों तथा ऋणदाताओं को लाभ**—इन सूचकांकों की सहायता से ऋणियों को यह पता चल जाता है कि उनके ऋण लौटाने का उचित समय क्या है। इसी प्रकार इन सूचकांकों की सहायता से ऋणदाताओं को यह भी पता चल जाता है कि उनकी अतिरिक्त पूंजी को उधार देने का उचित समय कौन सा है।

(7) **राजनीतिज्ञों को लाभ**—इन सूचकांकों की सहायता से राजनीतिज्ञ देश की आर्थिक स्थिति को सही सही समझने मे समर्थ होते है और उसके उपचार के लिए सरकार के सामने अपने सुझाव प्रस्तुत करते हैं।

(8) **सरकार के लिए उपयोगिता**—इन सूचकांकों की सहायता से सरकार भी देश की आर्थिक स्थिति मे होने वाले परिवर्तनो के बारे मे सही-सही जानकारी प्राप्त कर सकती है और उसी जानकारी के आधार पर ही अपनी आर्थिक नीति का निर्माण करती है। एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) मे तो सूचकांकों का महत्व और भी बढ जाता है।

(9) **अन्य उपयोग**—इन सूचकांकों का कई प्रकार के अन्य उद्देश्यों के लिए भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, रेलें माल-यातायात (goods traffic) मे होने वाले परिवर्तनों को इन सूचकांकों की सहायता से जान सकती हैं। इसी प्रकार बैंक भी अपनी जमाराशियों (deposits) मे होने वाले परिवर्तनों को सूचकांकों की सहायता से जान सकते है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ परिसीमाओं (limitations) के बावजूद आर्थिक सूचकांक देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत ही उपयोगी होते हैं। वास्तव मे, इनकी सहायता के बिना देश की अर्थ-व्यवस्था को सही ढग से प्रचलित रखना असम्भव है।

सूचकांकों की परिसीमाएँ
(Limitations of Index Numbers)

इनकी परिसीमाएँ निम्नलिखित हैं

(1) **इनका उपयोग सीमित होता है**—जैसा बताया जा चुका है, प्रत्येक सूचकांक एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया जाता है और उसे किसी अन्य उद्देश्य के लिए उपयोग मे नही लाया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि किसी विशेष वर्ग को जीवन निर्वाह लागत का अध्ययन करने के लिए कोई सूचकांक बनाया जाता है तो उसे अन्य किसी वर्ग की आर्थिक स्थिति का

अध्ययन करने के लिए उपयोग मे नही लाया जा सकता। इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के सूचकांक का उपयोग सीमित रहता है।

(2) **उपभोग पर समय का अन्तर**—जैसा हम पहले भी बता चुके हैं, समय के बीतने के साथ-साथ लोगो की उपभोग सम्बन्धी आदतो मे भी परिवर्तन होता चला जाता है। उदाहरणार्थ लगभग 30 वर्ष पहले भारत मे वनस्पति घी का उपभोग नही के बराबर हुआ करता था, परन्तु आजकल इसका उपभोग अत्यधिक मात्रा मे बढ गया है। इस प्रकार कुछ समय पूर्व उपभोग की जाने वाली वस्तुओ की कीमतो के आधार पर बनाये गये सूचकाको की वर्तमान उपभोग की वस्तुओ की कीमतो पर आधारित सूचकाको के साथ तुलना करना उचित नही है।

(3) **सूचकाको मे गणितात्मक सत्यता का अभाव रहता है**—जैसा विदित है, इन सूचकाको मे गणितात्मक सत्यता (Mathematical accuracy) का प्राय अभाव रहता है, अर्थात् इन सूचकाको की सहायता से आर्थिक परिवर्तनो के बारे मे बिलकुल सही जानकारी प्राप्त नही की जा सकती। ये सूचकाक मोटे तौर पर केवल प्रवृत्तियो (trends) के ही द्योतक होते है और इनसे *गणितात्मक सत्यता की आशा नही रखनी चाहिए।*

(4) **ये सूचकांक मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो की सही तथा विश्वसनीय सूचना प्रस्तुत नहीं करते**—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, *कीमत-सूचकाक प्राय थोक कीमतो के आधार पर* ही बनाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि फुटकर-कीमतो के बारे मे जानकारी आसानी से प्राप्त नही की जा सकती। जैसा विदित है, फुटकर कीमतो मे बहुत अधिक विभिन्नता पायी जाती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही थोक कीमतो का प्रयोग किया जाता है, परन्तु थोक कीमते साधारण जनता के लिए मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का सही-सही प्रतिनिधित्व नही करती, क्योकि साधारण जनता तो वस्तुओ तथा सेवाओ को फुटकर कीमत पर ही खरीदती है। अत कीमत-सूचकाक मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो की सही-सही सूचना प्रस्तुत नही करते।

(5) **इन सूचकांको मे विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ को प्रायः मनमाने ढग से भार दिये जाते हैं**—सभार सूचकाको मे विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ को भार प्रदान करने का कोई वैज्ञानिक आधार नही होता। अतएव इन वस्तुओ तथा सेवाओ को प्राय मनमाने (arbitrary) ढंग से ही भार दिये जाते है, जिसके परिणामस्वरूप ये सूचकाक मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो का सही-सही प्रतिनिधित्व नही करते।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूचकाको की अनेक परिसीमाएँ हैं, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि ये सूचकाक बिलकुल बेकार होते है। वास्तव मे, आर्थिक परिवर्तनो को मापने की और कोई सन्तोषजनक विधि ही नही है। उदाहरणार्थ, मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तनो को मापने का अर्थशास्त्रियो के पास अन्य कोई दूसरा साधन नही है। इस प्रकार इन सूचकाको के अपूर्ण तथा दोषपूर्ण होते हुए भी देश मे होने वाले आर्थिक परिवर्तनो को मापने के लिए इनका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **सूचकांक क्या होता है? सरल सूचकाक को एक सारणी बनाइये। ऐसी सारणी बनाते समय किन नियमों का ध्यान रखना चाहिए?** (आगरा, 1966)
   [संकेत—प्रथम भाग मे, सूचकाक की परिभाषा देते समय इसके उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, एक काल्पनिक सारणी के आधार पर सरल कीमत-सूचकाक तैयार कीजिए। तीसरे भाग मे, यह बताइए कि कीमत-सूचकाक बनाते समय निम्न बातो को ध्यान मे रखना चाहिए—(क) आधार-वर्ष का उचित चयन, (ख) वस्तुओ तथा सेवाओ का उचित चयन, (ग) वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो का समुचित चयन, (घ) कीमतो को प्रतिशत के रूप मे व्यक्त करना, (ङ) आधार-वर्ष तथा जाँच के वर्ष मे कीमतो की औसत निकालना।]
2. **सूचकांक क्या है? सूचकांको की सहायता से मुद्रा के मूल्य का माप करने मे क्या-क्या कठिनाइयाँ अनुभव की जाती हैं?** (राजस्थान, 1956)

[संकेत—प्रथम भाग मे, सूचकाको की परिभाषा देते हुए इनके उद्देश्यो की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह स्पष्ट कीजिए कि एक साधारण कीमत-सूचकाक बनाते समय किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पडता है।]

3. **उदाहरण सहित सरल और गुरुकृत देशनांक समझाइए।** (जबलपुर, 1959)

अथवा

'सूचकांक' की परिभाषा दीजिए। 'साधारण सूचकांक' तथा 'भारित सूचकांक' मे उपयुक्त उदाहरण की सहायता से भेद कीजिए। (मेरठ, 1975)

[संकेत—आरम्भ मे, सूचकाँक (देशनाक) की परिभाषा प्रस्तुत कीजिए और एक काल्पनिक उदाहरण के आधार पर एक सरल कीमत-सूचकाक तैयार कीजिए। तदुपरान्त यह बताइए कि सरल सूचकाक मे सभी वस्तुओ तथा सेवाओ को समान महत्व दिया जाता है। वास्तव मे, यह सरल सूचकाक का मुख्य दोष है। इस दोष को दूर करने के लिए गुरुकृत अथवा सभार सूचकाक का प्रयोग किया जाता है। इसी उदाहरण मे विभिन्न वस्तुओ को उनके महत्त्व के अनुसार भार देते हुए एक काल्पनिक गुरुकृत सूचकाक तैयार कीजिए।

4. **देशनांक क्या हैं? सामान्य देशनांक का अनुगणन करने की विधि समझाइए।**

[संकेत—प्रथम भाग मे, सूचकाक (देशनाक) की परिभाषा प्रस्तुत कीजिए। दूसरे भाग मे सामान्य सूचकाक बनाने की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।]

5. **सूचकाक की परिभाषा दीजिए। उनके उपयोगो और सीमाओं की विवेचना कीजिए।** (विक्रम,1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, सूचकाक की परिभाषा प्रस्तुत कीजिये। दूसरे भाग मे, सूचकाको के उपयोगो के बारे मे विस्तारपूर्वक लिखिए और इसके साथ ही साथ सूचकाक की परिसीमाओ का उल्लेख भी करिए।]

मुद्रा के मूल्य से क्या समझते हो? इसको कैसे मापा जा सकता है? (राजस्थान, 1968)

[संकेत प्रथम भाग के लिए देखिए "मुद्रा का मूल्य" नामक उपशीर्षक अध्याय 6। दूसरे भाग मे, आप बताइए कि इसे कीमत सूचकाक की सहायता से मापा जाता है। यहाँ पर आप विस्तृत रूप से बताइए कि कीमत-सूचकाक का निर्माण कैसे किया जाता है।]

7 **निर्देशाक क्या है? इसे किस प्रकार बनाया जाता है? इसके उपायो को समझाइए।** (विक्रम, 1968)

[संकेत—प्रथम भाग मे, निर्देशाक (सूचकाक) की परिभाषा दीजिए और संक्षेप मे इसके उद्देश्यो की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे, एक काल्पनिक सारणी के आधार पर एक सरल कीमत-निर्देशाक तैयार कीजिए। तीसरे भाग मे, निर्देशाक के उपायो के बारे मे सविस्तार लिखिए। ये थोक कीमतो, औद्योगिक एव कृषि उत्पादन, आन्तरिक एव बाह्य व्यापार, जीवन-निर्वाह लागत इत्यादि को मापने के लिए प्रयोग मे लाये जाते हैं।]

8 **'भारित सूचक अंक" का क्या महत्त्व है? एक छोटी भारित काल्पनिक अक सारणी प्रस्तुत कीजिए।** (आगरा, 1971)

[संकेत—भारित सूचक अक मे सभी वस्तुओ एव सेवाओ को समान भार नहीं दिया जाता बल्कि उनके महत्त्व के अनुसार उन्हे अलग-अलग भार प्रदान किये जाते हैं। काल्पनिक सारणी के लिए उपर्युक्त अध्याय को देखिए।]

9 **सूचक अक क्या हैं? इन्हे कैसे बनाया जाता है और इनके बनाने मे क्या कठिनाइयां आती हैं?** (*राजस्थान, 1971*)

[संकेत—प्रथम भाग मे, सूचकाक की परिभाषा देते हुए इसके उद्देश्यो को संक्षेप मे बताइए। दूसरे भाग मे, सूचकाक बनाने की विधि की विस्तृत व्याख्या कीजिए। देखिए उपर्युक्त

अध्याय । तीसरे भाग के लिए उपर्युक्त अध्याय मे "सूचकांक बनाने मे कठिनाइयाँ" नामक उपविभाग को देखिए ।]

10 मूल्य परिवर्तनो को आप किस प्रकार नापते हैं ? इन परिवर्तनो को नापने मे कौन-कौनसी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं ? (विक्रम, 1971)

[सकेत—प्रथम भाग मे, आप यह बताइए कि मूल्य-परिवर्तनो को कीमत-सूचकाको की सहायता से नापा जा सकता है । दूसरे भाग के लिए प्रश्न न० 9 को देखिए ।]

"A banker is one who, in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it."

—HART

"There have been three great inventions since the beginning of Time fire, the wheel, and central banking."

WILL ROGERS

द्वितीय खण्ड

बैंकिंग
(BANKING)

बैंकिंग-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1 "Credit may be defined as the right to receive payment or the obligation to make payment on demand at some future time on account of the immediate transfer of goods" —*Kent*

2 "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use" —*Kinley*

3 "A central bank is a bank regulating the volume of currency and credit —*Bank of International Settlements*

4 'Clearing House is a general organisation of banks of a given place having of its main purpose the offsetting of cross obligations in the form of cheques —*Taussig*

5 An ordinary bank is run on business lines with a view to earning profits and a central bank on the other hand is primarily meant to shoulder the responsibility of safeguarding the financial and economic stability of the country, it acts only in the public interest and for the welfare of the country as a whole, and without regard to profit as a primary consideration' —*DeKock*

6 A bank is an institution which collects money from those who have it spare or who are saving it out of their income, and lends this money out to those who require it' —*Geoffrey Crowther*

7 'A bank is an institution whose debts are widely accepted in settlement of other people s debts to each other' —*Sayers*

8 'A bank is a person or corporation which holds itself out to receive from the public deposits payable on demand by cheque —*Walter Leaf*

9

साख
(Credit)

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे साख का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे, आधुनिक राजकोषीय व्यवस्था साख पर ही आधारित है। पश्चिमी देशो मे तो साख, मुद्रा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन चुकी है। साधारण सौदो मे मुद्रा की अपेक्षा साख का अधिक उपयोग किया जाता है।

साख की परिभाषा
(Definition of Credit)

हिन्दी भाषा मे 'साख' का अग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'क्रैडिट' है। 'क्रैडिट' शब्द लैटिन भाषा के 'क्रैडो' (credo) शब्द से निकला है। 'क्रैडो' शब्द से अभिप्राय 'विश्वास' (confidence) से है। अत 'क्रैडिट' अथवा 'साख' शब्द का अर्थ 'विश्वास' लगाया जाता है। 'क्रैडिट' शब्द का कई अर्थों मे प्रयोग किया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र म 'क्रैडिट' अथवा 'साख' शब्द का प्रयोग 'उधार देने व लेने' के अर्थ मे किया जाता है। 'साख' की परिभाषाएँ विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा इस प्रकार की गयी हैं

प्रो० जैवन्स (Jevons) के अनुसार, "साख शब्द का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।"[1]

प्रो० किनले (Kinley) ने 'साख' को व्यक्ति की ऋण प्राप्त करने की योग्यता के रूप मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार, "साख से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति की उस शक्ति अथवा सामर्थ्य से होता है जिससे वह अन्य व्यक्ति को भविष्य मे भुगतान की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुएँ समर्पित करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार 'साख' ऋणी का एक गुण अथवा शक्ति है।"[2]

प्रो० जीड (Gide) के शब्दो मे, "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात भुगतान करने पर पूरा हो जाता है।"[3]

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि साख के अन्तर्गत ऋणदाता ऋणी को वर्तमान समय म पूँजी इस विश्वास पर उधार देता है कि एक निश्चित समयावधि के पश्चात ऋणी उतनी ही पूँजी ब्याज सहित लौटा देगा।

साख का वर्गीकरण
(Classification of Credit)

साख का वर्गीकरण कई आधारो पर किया जाता है। साख के कुछ मुख्य भेद अग्र लिखित हैं।

---

1 "Credit means postponement of payment." —*Jevons*

2 "By credit we mean the power which one person has to induce another to put economic goods at his disposal for a time on promise of future payment. Credit is thus an attribute or power of the borrower." —*Kinley*

3 "It is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment." —*Gide*

(1) उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकों की साख (Consumer's Cr dit and Producers' Credit)—उपभोग्य साख के अन्तर्गत वे सभी ऋण रखे जा सकते हैं जिन्हें उपभोग उद्देश्यों के प्रयोग में लाया जाता है, अर्थात् इन ऋणों द्वारा लोग अपनी प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उपभोग्य ऋणों से ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती। अतएव ऋणी को ऐसे ऋण के मूलधन तथा उस पर देय ब्याज का भुगतान अपनी आय में से ही करना पड़ता है। किसी दुकानदार द्वारा अपने ग्राहकों को दिया गया उधार उपभोग्य-साख का उदाहरण है।

उत्पादकीय साख से अभिप्राय व्यक्तियों, कम्पनियों तथा सरकार द्वारा लिये गये उन ऋणों से है जिनको उत्पादक उद्देश्यों (Productive purposes) के लिए प्रयोग में लाया जाता है, अर्थात् इस प्रकार के ऋणों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। उत्पादकीय ऋणों से ऋणी को अवश्य ही कुछ आय प्राप्त होती है और उसी में से ऋणी अपने ऋण को लौटा सकता है। इस प्रकार ऋणदाता की दृष्टि से उत्पादकीय साख, उपभोग्य साख से अधिक श्रेष्ठ होती है।

(2) सार्वजनिक साख तथा व्यक्तिगत साख (Public Credit and Private Credit)—ऋणी के दृष्टिकोण से साख दो प्रकार की होती है (क) सार्वजनिक साख एवं (ख) व्यक्तिगत साख। जब सरकार स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जनता से ऋण लेती है, तब इसे सार्वजनिक साख कहते हैं। इसके विपरीत, जब निजी व्यक्ति, संस्थाएँ तथा कम्पनियाँ अपनी व्यापारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण लेती हैं, तब इसे व्यक्तिगत साख कहते हैं।

(3) व्यापारिक साख (Commercial Credit)—जैसा विदित है, प्रत्येक व्यापारी को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता पड़ती है—अल्पकालीन ऋण तथा दीर्घकालीन ऋण। अल्पकालीन ऋणों (short term loans) को ही व्यापारिक साख कहते हैं। प्रत्येक व्यवसायी को कच्चा माल खरीदने, मजदूरों को मजदूरी चुकाने तथा विज्ञापन आदि के लिए अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है। अतः व्यवसायी द्वारा लिये गये अल्पकालीन ऋणों को ही व्यापारिक साख कहा जाता है।

(4) विनियोग साख (Investment Credit)—व्यवसायियों द्वारा लिये गये दीर्घकालीन ऋणों को विनियोग साख कहते हैं। जैसा विदित है एक व्यवसायी को अल्पकालीन ऋणों के अतिरिक्त दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, यदि व्यवसायी को भूमि तथा मशीनें आदि खरीदनी हैं, तो उसे दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि इन उद्देश्यों के लिए, लिये गये ऋणों को अल्पकाल में लौटाया नहीं जा सकता। दीर्घकालीन ऋण प्रायः बन्धक (mortgage) के आधार पर प्राप्त किये जाते हैं। दीर्घकालीन साख को कभी-कभी औद्योगिक साख (industrial credit) भी कहा जाता है।

(5) बैंक साख (Bank Credit)—बैंक को जनता से जो जमा राशियाँ (deposits) प्राप्त होती हैं, उन्हें बैंक-साख कहते हैं। परन्तु कभी-कभी बैंक साख का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी किया जाता है। इस अर्थ में बैंक-साख का अभिप्राय सभी प्रकार की जमा राशियों, ऋण-पत्रों, बौण्ड्स (bonds) तथा साख-पत्रों से होता है। बैंक-साख के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये कागजी नोटों को भी सम्मिलित किया जाता है।

साख की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व

निम्नलिखित तत्व साख की मात्रा को प्रभावित करते हैं

(1) लाभ की दर—जब लाभ की दरों में वृद्धि होती है तो उत्पादकगण अपने-अपने व्यवसायों का विस्तार करने लगते हैं। ऋणों की माँग बढ़ जाती है और साख का विस्तार होने लगता है। इसके विपरीत जब व्यवसाय में मन्दी छा जाती है और लाभ की दरें गिरने लगती हैं, तब ऋणों की माँग भी कम हो जाती है और साख का संकुचन हो जाता है। इस प्रकार लाभ की दरों तथा साख की मात्रा में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

(2) व्यापार की परिस्थितियाँ—साख की मात्रा पर देश की व्यापारिक परिस्थितियों (trade conditions) का भी प्रभाव पड़ता है। तेजीकाल (boom period) में साख का विस्तार

होता है, क्योकि वस्तुओ की कीमते बढ जाने के कारण व्यापारियो की ऋणो की माँग बढ जाती है। ऐसे समय तो व्यापारी लोग ऊँची ब्याज की दरो पर भी ऋण लेने के लिए तैयार हो जाते है, परन्तु मन्दीकाल (slump) मे वस्तुओ की कीमते गिर जाने के कारण व्यापारियो मे निराशा (pessimism) की लहर दौड जाती है। परिणामत ऋणा की माँग कम हो जाती है और साख का सकुचन हो जाता है।

(3) **देश की राजनीतिक दशा**—किसी देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उस देश मे पूर्णरूप से शान्ति तथा सुव्यवस्था का वातावरण हो। यदि किसी देश मे समय-समय पर दगे होते हैं तो उस देश के आर्थिक विकास की गति धीमी पड जाती है और उसके साथ ही साथ वहाँ पर साख का सकुचन होने लगता है।

(4) **सट्टे की स्थिति**—साख की मात्रा देश मे सट्टे की स्थिति से भी शासित होती है। यदि भविष्य मे कीमतो के बढ जाने की आशा है तो इससे सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है। सटोरियो द्वारा ऋणो की माँग बढ जाती है और साख का विस्तार होने लगता है। इसके विपरीत, यदि देश मे भावो कीमतो के गिर जाने की सम्भावना है तो सट्टा-बाजार मे मन्दी छा जाती है। सटोरियो द्वारा ऋणो की माँग घट जाती है और साख का सकुचन हो जाता है।

(5) **केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति**—किसी भी देश मे साख की मात्रा पर केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का गहरा प्रभाव पडता है। यदि केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा-नीति (cheap money policy) अपनाने हेतु बैंक-दर कम कर देता है तो इससे साख की मात्रा मे विस्तार हो जाता है। इसका कारण यह है कि जब बैंक दर मे कमी हो जाती है तो व्यापारिक बैंको को भी उसी अनुपात मे अपनी अपनी ब्याज की दरो को कम करना पडता है। इस प्रकार ऋणो की मात्रा बढ जाती है और साख का विस्तार होने लगता है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर को ऊँचा कर देता है तो सम्बद्ध व्यापारिक बैंको को भी अपनी-अपनी ब्याज की दरो को बढाना पडता है। इससे ऋणो की माँग कम हो जाती है और साख का सकुचन होने लगता है।

(6) **मुद्रा-व्यवस्था**—साख की मात्रा पर देश की मुद्रा-व्यवस्था (monetary system) का भी गहरा प्रभाव पडता है। यदि देश की मुद्रा-व्यवस्था सुनिश्चित तथा सुदृढ है तो इसके अन्तर्गत साख की मात्रा का विकास होगा। इसके विपरीत, यदि देश की मुद्रा व्यवस्था अनिश्चित है और समय-समय पर उसमे भारी परिवर्तन होते रहते हैं तो साख की मात्रा का सकुचन होता चला जाता है।

(7) **बैंकिग का विकास**—किसी देश मे साख की मात्रा उस देश के बैंकिग विकास के स्तर पर भी निर्भर करती है। जैसा विदित है, बैंक साख निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। यदि किसी देश मे बैंको का विकास ठीक ढग से नही हुआ है तो ऐसे देश मे साख की मात्रा भी अधिक नही हो सकती। पिछडे तथा अल्पविकसित देशो मे बैंकिग भी प्राय अल्पविकसित ही होती है। अत ऐसे देशो मे साख राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा नही करती। किन्तु पश्चिम के उन्नत देशो मे बैंको के विकसित होने के कारण साख को राष्ट्रीय-अर्थ-व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है।

क्या साख पूँजी है ?
(Is Credit Capital ?)

इस विषय पर अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो० मेकलिओड (Macleod) का विचार है कि साख पूँजी है और भूमि की भाँति यह उत्पादन का एक पृथक साधन है। उनके शब्दो मे, "मुद्रा और साख दोनो ही पूँजी है। व्यापारिक साख व्यापारिक पूँजी है।"[1] इसका कारण यह है कि वर्तमान युग मे सभी आर्थिक क्रियाएँ साख पर ही आधारित होती हैं। साख भी वही कार्य करती है जो मुद्रा द्वारा सम्पन्न किया जाता है। साख पत्र, वास्तव मे, मुद्रा के ही प्रतिनिधिस्वरूप है। उनका उपयोग भी उत्पादन मे वृद्धि करने हेतु किया जाता

---

1 "Money and credit are both capital Mercantile credit is Mercantile Capital"

—Macleod

है। अतः साख भी पूँजी की तरह उत्पादन का पृथक् साधन है। परन्तु प्रो० मेकलिओड का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। इसके निम्नलिखित कारण है

(1) आलोचकों के अनुसार, साख न तो स्वयं पूँजी है और न ही पूँजी के निर्माण में सहायक होती है। साख तो ऋणी की वह क्षमता है जिसके आधार पर वह किसी ऋणदाता से प्रतिज्ञापत्र लिख देने के बदले में एक निश्चित अवधि के लिए निश्चित राशि ऋण के रूप में प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार साख स्वयं पूँजी तो नहीं है परन्तु पूँजी के हस्तान्तरण में सहायता अवश्य देती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति के पास अतिरिक्त (surplus) पूँजी है और वह स्वयं इसका लाभपूर्ण उपयोग करने में असमर्थ है तो वह अपनी इस पूँजी को किसी अन्य व्यक्ति को उधार दे सकता है, जो उसका उचित एवं लाभपूर्ण उपयोग करने की स्थिति में है। इस प्रकार साख तो केवल पूँजी के हस्तान्तरण में सहायक ही होती है। वह स्वयं पूँजी नहीं होती। मान लीजिए, किसी व्यक्ति की साख तो ऊँची है परन्तु किसी कारणवश उसे किसी स्रोत से ऋण प्राप्त नहीं होता। क्या वह व्यक्ति अपनी साख के बल पर उत्पादन कार्य कर सकता है? स्पष्ट है कि वह केवल अपनी ऊँची साख के आधार पर उत्पादन-कार्य नहीं कर सकता है। साख तो केवल साधन है साध्य (end) नहीं है। साख की सहायता से पूँजी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु साख स्वयं पूँजी नहीं है।

प्रो० जे० एस० मिल (J S Mill) ने उचित ही कहा है 'उधार देने से ही नयी पूँजी का निर्माण नहीं हो जाता है। इससे तो केवल उस पूँजी का जो पहले ऋणदाता के पास थी ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो दूसरे व्यक्ति की पूँजी का उपयोग करने का अधिकार है। इससे उत्पादन के साधनों में वृद्धि नहीं की जा सकती बल्कि इसका केवल हस्तान्तरण ही हो सकता है।"[1]

(2) आलोचकों का यह भी कहना है कि साख पूँजी की भाँति अलग से एक साधन न होकर केवल उत्पादन की विधिमात्र है अर्थात साख उत्पादन की एक रीति है और अन्य रीतियों की तरह यह भी उत्पादन में वृद्धि करने में सहायता देती है। साख को उत्पादन का स्वतन्त्र साधन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(3) आलोचकों द्वारा यह भी कहा जाता है कि साख पत्र केवल पूँजी का प्रतिनिधित्व ही करते हैं वे स्वयं पूँजी नहीं होते। वे तो केवल पूँजी हस्तान्तरण में सहायता ही देते हैं। अतः उपर्युक्त कारणों के आधार पर कहा जा सकता है कि साख न तो पूँजी है और न ही उत्पादन का स्वतन्त्र साधन ही मानी जा सकती है।

साख के लाभ
(Advantages of Credit)

साख के लाभ निम्नलिखित हैं

(1) **मूल्यवान धातुओं की बचत**—साख पत्रों के प्रयोग से मूल्यवान धातुओं के प्रयोग में बचत होती है। चूँकि अधिकांश सौदों का भुगतान साख पत्रों के माध्यम से होता है इसलिए धातु मुद्रा का प्रयोग कम हो जाता है। पश्चिमी देशों में तो साख-पत्रों के कारण धातु मुद्रा का प्रयोग बहुत ही कम हो गया है।

(2) **पूँजी की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि** साख पूँजी की गतिशीलता को बढ़ाकर उसकी उत्पादन शक्ति में वृद्धि कर देती है। साख की सहायता से एक व्यक्ति के पास बेकार पड़ी हुई पूँजी को किसी अन्य ऐसे व्यक्ति के पास हस्तान्तरित किया जा सकता है जो उसे उत्पादन-कार्य में लगाकर राष्ट्रीय आय में वृद्धि करे।

---

1 New capital is not created by the mere fact of lending only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower Credit being only the permission to use the capital of another person the means of production cannot be increased by it but only transferred —J S Mill

(3) **विनिमय-माध्यम में वृद्धि**—साख-पत्रो के अधिकाधिक प्रयोग से देश मे विनिमय के माध्यम मे वृद्धि हो जाती है। इससे देश के व्यापारियो तथा व्यवसायियो को अधिक सुविधाएँ उपलब्ध होने लगती हैं।

(4) **अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो मे सुविधा**—जैसा विदित है, अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो मे विदेशी विनिमय बिलो का बडे पैमाने पर प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे धातु-मुद्राओ की आवश्यकता नही पडती। इस प्रकार साख की सहायता से अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो मे बहुत सुविधा रहती है।

(5) **दूरस्थ स्थानो पर भुगतान मे सुविधा**—जब दूरस्थ स्थानो पर व्यापारियो को भुगतान करने होते है, तब भी साख पत्रो का ही प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग से धातु-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने की आवश्यकता नही रहती।

(6) **बचतो को प्रोत्साहन**—साख के कारण बचतो को प्रोत्साहन मिलता है। इसका कारण यह है कि व्यापारिक बैंक छोटी से छोटी बचतो को भी जमाराशियो (deposits) के रूप मे स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। इस प्रकार साख से देश मे पूँजी की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है।

(7) **कीमतो मे स्थिरता** किसी देश के कीमत-स्तर मे स्थिरता स्थापित करने मे भी साख एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। साख की सहायता से कीमत स्तर की अस्थिरता को दूर करना सम्भव हो जाता है। यदि कीमत स्तर मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तो साख की मात्रा को घटाकर कीमतो को घटाया जा सकता है। इसके विपरीत यदि कीमत स्तर मे अत्यधिक कमी हो जाती है तो साख की मात्रा को बढाकर कीमतो को ऊपर उठाया जा सकता है। इस प्रकार साख की मात्रा को घटा-बढाकर कीमत-स्तर मे स्थिरता लायी जा सकती है।

(8) **देश के आर्थिक विकास मे सहायता**—जैसा विदित है, आधुनिक काल मे देश के आर्थिक विकास मे सरकार का महत्वपूर्ण भाग होता है। आर्थिक विकास पर किये गये व्यय का काफी बडा भाग घाटे की अर्थ व्यवस्था (deficit financing) तथा सार्वजनिक ऋणो द्वारा पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास मे साख एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(9) **मुद्रा-प्रणाली मे लोच**—साख की सहायता से देश की मुद्रा-प्रणाली मे अधिक लोचकता (elasticity) उत्पन्न की जा सकती है। जैसा स्पष्ट है, साख का निर्माण प्राय व्यापारिक बैंको द्वारा ही किया जाता है। चूँकि ये बैंक व्यापारियो तथा उद्योगपतियो की वित्तीय स्थिति से परिचित होते हैं, इसलिए ये उनकी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ के अनुसार ही साख की मात्रा मे विस्तार तथा सकुचन करते रहते है। परिणामत मुद्रा-प्रणाली अधिक लोचपूर्ण हो जाती है।

(10) **उत्पादन के साधनो का अधिकतम उपयोग**—साख का एक बडा लाभ यह भी है कि इसकी सहायता से उत्पादन के साधनो का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है। जैसे प्रो० केन्ज (Keynes) ने कहा है, साधनो की पूर्ण रोजगार (full employment) की स्थिति को प्राप्त करने के लिए कीमत स्तर में मन्द गति से निरन्तर वृद्धि होती रहनी चाहिए। ऐसी दशा को प्राप्त करने के लिए साख महत्त्वपूर्ण योग देती है और इसके निरन्तर विस्तार से पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है।

(11) **आर्थिक सकट का सामना करने मे सहायता**—साख की सहायता से निजी व्यक्ति तथा सरकार दोनो ही आर्थिक सकट का मुकाबला प्रभावपूर्ण ढग से कर सकते हैं। यदि सरकार युद्ध के छिड जाने से आर्थिक सकट मे फँस जाती है तो सार्वजनिक ऋणो तथा घाटे की अर्थ-व्यवस्था द्वारा वह अपने आर्थिक साधनो मे वृद्धि कर सकती है।

(12) **रोजगार की मात्रा मे वृद्धि**—मन्दीकाल मे प्राय बेरोजगारी बढ जाती है और लाखो व्यक्ति बेरोजगार हो जाते है। ऐसी परिस्थिति मे साख के विस्तार द्वारा कीमत स्तर मे वृद्धि की जा सकती है, जिससे उत्पादन बढ जाता है और बेकार मजदूरो को रोजगार मिलने लगता है।

(13) *उपभोग में वृद्धि*—साख की सहायता से राष्ट्रीय उपभोग (national consumption) मे वृद्धि की जा सकती है। उपभोक्ताओ को अधिक मात्रा मे वस्तुएँ खरीदने के लिए उधार सम्बन्धी सुविधाएँ (credit facilities) दी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, उनसे वस्तुओ की कीमतें आसान किस्तो (easy instalments) के रूप मे ली जा सकती हैं। इससे वस्तुओ की बिक्री को बढाया जा सकता है।

साख की हानियाँ
(Disadvantages of Credit)

साख की हानियाँ निम्नलिखित हैं

(1) **साख अपव्यय को प्रवृत्ति को बढ़ाती है**—साख की सहायता से लोगो को ऋण आसानी से मिल जाते है। परिणामत वे मितव्ययी नही रहते और धन का अपव्यय (wastage) करने लगते हैं। इसके साथ ही साथ साख के कारण लोगो की आत्म निर्भरता की भावना को भी ठेस पहुँचती है।

(2) *साख अकुशल व्यवसायों को जन्म देती है*—साख की सहायता से कभी-कभी अकुशल व्यवसाय भी स्थापित हो जाते है। ऐसे व्यवसाय अपने बल पर नही चल सकते, किन्तु वे साख की सहायता से (बैंको से ऋण आदि लेकर) किसी प्रकार चलते रहते हैं परन्तु जब ऐसे व्यवसाय असफल होकर बन्द हो जाते हैं तो इससे देश के समूचे आर्थिक जीवन को हानि पहुँचती है। दूसरे शब्दो मे, साख की सहायता से अकुशल व्यवसायी अपनी वास्तविक स्थिति को छिपा लेने मे समर्थ हो जाते हैं।

(3) **साख के अत्यधिक प्रसार की सम्भावना रहती है**—साख मे एक त्रुटि यह भी है कि तेजीकाल (boom) मे बैंको द्वारा इसका प्राय अत्यधिक मात्रा मे विस्तार कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर मे मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(4) **साख राष्ट्रीय आय के वितरण को असमान बना देती है**—जैसा विदित है, साख तथा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली दोनो एक साथ चलती हैं। साख के कारण देश मे आय के वितरण मे विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। देश के राष्ट्रीय धन का अधिकांश भाग कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो जाता है। परिणामत धनी वर्ग, श्रमिक वर्ग का शोषण करने लगता है और समूचे देश मे अशान्ति फैल जाती है।

(5) **साख से अति-उत्पादन का भय**—कभी-कभी देश मे साख की मात्रा का अत्यधिक प्रसार होने के कारण अति-उत्पादन (over-production) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। परिणामत कीमते गिरने लगती है, बेरोजगारी बढ जाती है और देश की समूची अर्थ व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(6) **साख से सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है**—जैसा विदित है, साख के विस्तार के परिणामस्वरूप कीमतो मे वृद्धि होती है और इससे अन्तत सट्टे की प्रवृत्ति के बढ जाने के कारण आगे चलकर कीमतो मे भारी उतार-चढाव होते है जिससे समूचे देश को हानि होती है।

(7) *साख से एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है*—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, साख-प्रणाली के अन्तर्गत देश की पूंजी का अधिकांश भाग कुछ ही व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रित हो जाता है। इसमे देश मे एकाधिकारी संस्थाओ की स्थापना होने लगती है और ये संस्थाएँ आगे चल कर जनता का शोषण करने लगती हैं और अवसर मिलने पर राजनीतिक सत्ता को हथियाने मे भी नही हिचकिचाती।

(8) **साख व्यापार-चक्रों को जन्म देती है**—जैसा कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियो का विचार है, साख के विस्तार तथा संकुचन से व्यापार मे भारी उथल पुथल होती है और व्यापार चक्र (trade cycle) कार्यशील हो जाता है।

(9) **अनैतिकता (Immorality)**—साख कभी-कभी अनैतिकता को भी जन्म देती है। *साख के कारण धन के दुरुपयोग की आशंका रहती है। इससे समाज मे जुएबाजी, शराबखोरी एव* वेश्याप्रवृत्ति जैसी बुरी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलता है।

साख के लाभ तथा हानियो के उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि जहाँ देश को साख से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, वहाँ उसे इससे कुछ हानियाँ भी होती है। परन्तु स्मरण रहे कि साख से हानियाँ तभी होती हैं, जबकि साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण नही रखा जाता। यदि देश का केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा पर उचित नियन्त्रण रखता है तो फिर इससे होने वाली हानियो को काफी बडी मात्रा मे कम किया जा सकता है। अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था को स्वस्थ रखने के लिए साख-प्रणाली पर समुचित तथा प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

साख-पत्र
(Credit Instruments)

साख-पत्रो से अभिप्राय उन पत्रो, नोटो तथा पर्चों से होता है जिनका साख-मुद्रा के रूप मे प्रयोग किया जाता है। इन्ही साख पत्रो के आधार पर ऋण दिये व लिये जाते हैं और इन्ही की सहायता से वस्तुओ तथा सेवाओ का क्रय विक्रय किया जाता है। अत स्पष्ट है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे साख पत्र महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। वास्तव मे, साख-पत्र वही काम करते हैं जो मुद्रा द्वारा किया जाता है लेकिन ऐसा होते हुए भी मुद्रा तथा साख पत्रो मे कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते है।

(क) साख-पत्र निजी व्यक्तियों या बैंको द्वारा जारी किये जाते हैं, जबकि मुद्रा सरकार *अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित की जाती है।*

(ख) साख-पत्रो का कोई कानूनी आधार नही होता, अर्थात् वे विधिग्राह्य नही होते। किसी भी व्यक्ति को साख-पत्र लेने के लिए विवश नही किया जा सकता, परन्तु मुद्रा विधिग्राह्य होती है और कोई भी व्यक्ति ऋणो के भुगतान मे इसको लेने से इन्कार नही कर सकता है।

(ग) मुद्रा का क्षेत्र राष्ट्रव्यापी होता है, परन्तु साख-पत्रो का क्षेत्र प्राय सीमित होता है। *साख पत्रो का आधार तो केवल पारस्परिक विश्वास ही है और जहाँ विश्वास का अभाव होता है,* वहाँ साख-पत्रो का उपयोग नही हो सकता।

साख-पत्रो के भेद
(Types of Credit Instruments)

नीचे हम कुछ प्रमुख साख पत्रो का वर्णन करेंगे

1 **रुक्का या प्रणपत्र या प्रतिज्ञापत्र** (Promissory Note)—**रुक्का या प्रतिज्ञापत्र वह शर्तहीन पत्र होता है जिसमे इसका लिखने वाला किसी व्यक्ति को या उसके आदेशित व्यक्ति को या उसके वाहक को एक निश्चित समय बाद अथवा मांग करने पर पत्र मे लिखी हुई रकम को देने की प्रतिज्ञा करता है।**[1] प्रतिज्ञापत्र के दो पक्ष होते हैं—(क) लिखने वाला या आहार्ता (drawer), एव (ख) रुपया पाने वाला या आदाता (payee)। रुपया पाने वाला यदि चाहे तो अपना *अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित कर सकता है। प्रतिज्ञापत्र दो प्रकार के* होते है

(1) **दर्शनी प्रोनोट या प्रतिज्ञापत्र** (Sight Pronote)—इसके अन्तर्गत प्रतिज्ञापत्र मे लिखी गयी रकम आदाता (payee) को माँग पर दी जाती है।

(2) **मुद्दती प्रोनोट या प्रतिज्ञापत्र** (Time Pronote)—इसमे लिखी गयी रकम निश्चित अवधि के समाप्त होने पर ही दी जाती है।

(1) **बैंक प्रोनोट या प्रतिज्ञापत्र** (Bank Pronote)—यह वह प्रतिज्ञापत्र होता है जो देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किया जाता है और इस पत्र मे लिखी गयी रकम का भुगतान

---

1 "Promissory Note is an unconditional document in which the drawer promises to pay the amount stated in it after a definite period or on demand to a person or his order or bearer"

वाहक को माँग करने पर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा जारी किये गये कागजी नोट बैंक-प्रतिज्ञापत्र के उदाहरण हैं।

(2) **करेंसी प्रोनोट या प्रतिज्ञापत्र** (Curreney Pronote)—यह वह प्रतिज्ञापत्र होता है जो देश के मुद्रा-अधिकरण द्वारा जारी किया जाता है। यह भी बैंक प्रतिज्ञापत्र की भांति होता है और इसका भुगतान भी वाहक के माँग करने पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत सरकार द्वारा जारी किये गये एक रुपये के नोट करेंसी प्रतिज्ञापत्र के उदाहरण हैं।

(3) **व्यापारिक प्रोनोट या प्रतिज्ञापत्र** (Commercial Pronote)—यह प्रतिज्ञापत्र निजी व्यापारियो, फर्मों एवं बैंको द्वारा जारी किये जाते हैं। व्यापारिक प्रतिज्ञापत्र वह शर्तहीन लिखित पत्र होता है जिसमे लिखने वाला अपने हस्ताक्षर करके इसे लेनदार को दे देता है, अर्थात् व्यापारिक प्रतिज्ञापत्र एक विनिमय बिल की भाँति होता है, परन्तु व्यापारिक प्रतिज्ञापत्र और विनिमय बिल मे एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। व्यापारिक प्रतिज्ञापत्र देनदार द्वारा लिखा जाता है। वह इस पर हस्ताक्षर करके इसे लेनदार के हवाले कर देता है, परन्तु विनिमय-बिल लेनदार द्वारा लिखा जाता है और स्वीकृति के लिए देनदार के पास भेजा जाता है। देनदार उस पर अपनी स्वीकृति व्यक्त करके उसे पुन लेनदार के पास भेज देता है।

2 **हुण्डी** (Hundies)—हुण्डी साधारणत एक शर्तहीन लिखित प्रलेख होता है जिसमे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को यह आदेश देता है कि वह मुद्रा की एक निश्चित राशि उसमें लिखे गये व्यक्ति को माँग करने पर अथवा एक निश्चित अवधि के पश्चात अदा कर दे। कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियो का विचार है कि हुण्डी विनिमय-बिल का भारतीय रूपान्तर है। परन्तु, वास्तव मे, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि विनिमय बिल तथा हुण्डी मे कुछ अन्तर पाये जाते हैं।

भारत के आन्तरिक व्यापार के लिए मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने मे हुण्डी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। हुण्डी द्वारा मुद्रा एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से भेजी जा सकती है। आवश्यकता पडने पर हुण्डी द्वारा रुपया भी उधार लिया जा सकता है। परन्तु हुण्डी मे एक त्रुटि यह है कि इसमे ऐसा संकेत नही होता जिससे यह पता चले कि यह किसी व्यापारिक माल के सम्बन्ध मे जारी की गई है। इसीलिए बैंक प्राय हुण्डी को आसानी से डिस्काउण्ट (discount) नही करते। हुण्डी को समय के आधार पर दो वर्गों मे बाँटा जाता है

(1) **दर्शनी हुण्डी**—जब हुण्डी मे लिखी रकम माँग करने पर देय (payable) होती है तो उसे दर्शनी हुण्डी कहते है।

(2) **मुद्दती हुण्डी**—जब हुण्डी मे लिखी रकम किसी निश्चित अवधि के बाद देय होती है तो उसे मुद्दती हुण्डी कहते है।

हुण्डी को निम्नलिखित उप विभागो मे भी विभाजित किया जाता है

(अ) **धनीजोग हुण्डी**—इसमे लिखित रकम किसी भी धनी या वाहक को दी जा सकती है। यदि रकम का भुगतान किसी गलत व्यक्ति को हो जाता है तो इसके लिए बैंक को उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता।

(ब) **शाहजोग हुण्डी**—इसमे लिखित रकम किसी शाह, अर्थात् किसी सम्मानित व्यक्ति को ही दी जा सकती है। शाहजोग हुण्डी मे लिखी रकम का भुगतान करते समय बैंक को सतर्क रहना पडता है कि कही भुगतान गलत व्यक्ति को नही हो जाये।

(स) **फरमान जोग हुण्डी**—इस हुण्डी मे लिखित रकम किसी आदेशित व्यक्ति को ही देय होती है।

(द) **देखनहार हुण्डी**—यह वह हुण्डी है जिसका भुगतान इसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को ही कर दिया जाता है।

3 **विनिमयपत्र या बिल ऑफ एक्सचेंज** (Bill of Exchange)—बिल ऑफ एक्सचेंज, वह लिखित व शर्तहीन पत्र होता है जिसको लेखक अपने हस्ताक्षर सहित जारी करता है और जिसमे वह किसी व्यक्ति को अथवा उसके आदेशित व्यक्ति को अथवा पत्र के वाहक को मुद्रा की

एक निश्चित रकम अदा करने के लिए किसी विशेष व्यक्ति को आदेश देता है। दूसरे शब्दो मे, बिल ऑफ एक्सचेन्ज वह लिखित आदेश होता है जिसमे ऋणदाता ऋणी को मुद्रा की एक निश्चित रकम स्वय उसे अथवा किसी आदेशित व्यक्ति को अथवा वाहक को अदा करने की आज्ञा देता है।

बिल ऑफ एक्सचेन्ज के तीन पक्ष होते हैं **प्रथम,** आहार्ता या लेखक (drawer), **द्वितीय,** *आहार्यी या देनदार* (drawee), *तृतीय,* आदाता या लेनदार (payee)। बिल ऋणदाता द्वारा लिखा जाता है और ऋणी पर लिखा जाता है।

बिल ऑफ एक्सचेन्ज दो प्रकार के होते हैं

(1) दर्शनी विनिमय-पत्र या बिल ऑफ एक्सचेंज (Sight or Demand Bill of Exchange)—जब बिल मे लिखी रकम मांगने पर देय होती है तो उसे दर्शनी बिल कहते हैं।

(2) मुद्दती विनिमय-पत्र या बिल ऑफ एक्सचेन्ज (Time or Usance Bill of Exchange)—जब बिल मे लिखित रकम निश्चित अवधि के पश्चात देय होती है, तो उसे मुद्दती विनिमय-पत्र कहते है। मुद्दती विनिमय-पत्र मे दी गयी समयावधि मे तीन अनुग्रह दिवस (days of grace) जोड दिये जाते है और इस प्रकार बिल की देय तिथि ज्ञात की जा सकती है। स्मरण रहे कि दर्शनी विनिमय-पत्र मे अनुग्रह दिवसो का प्रश्न ही नही उठता। मुद्दती विनिमय-पत्रो पर मूर ुनुसार स्टाम्प लगाना अनिवार्य होता है, किन्तु दर्शनी विनिमय-पत्र पर स्टाम्प लगाना आवश्यक नही होता।

जब विनिमय-पत्र लिखकर तैयार हो जाता है तो उसे आहार्यी (देनदार) के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यदि आहार्यी (देनदार) उसे स्वीकार कर लेता है तो वह अपनी स्वीकृति व्यक्त करते हुए उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता है। स्वीकृति के पश्चात् विनिमय-पत्र कानूनी रूप धारण कर लेता है और आहार्यी (देनदार) उसका भुगतान करने के लिए बाध्य हो जाता है।

विनिमय पत्र की विशेषताएँ इस प्रकार है

(1) *विनिमय पत्र या बिल ऑफ एक्सचेंज एक शर्तहीन आज्ञापत्र होता है।*

(2) यह लिखित आदेश होता है।

(3) यह ऋणदाता द्वारा ऋणी पर लिखा जाता है।

(4) इस पर ऋणदाता अथवा आहार्ता के हस्ताक्षर होते है।

(5) बिल पर देनदार या आहार्यी अपनी स्वीकृति व्यक्त करके हस्ताक्षर कर देता है।

(6) बिल का भुगतान माँग करने पर अथवा एक निश्चित अवधि के उपरान्त किया जाता है।

(7) बिल की रकम मुद्रा के रूप मे निश्चित की जाती है।

(8) बिल का भुगतान किसी विशेष व्यक्ति अथवा उसके आदेशित व्यक्ति अथवा वाहक को *किया जाता है।*

बिल ऑफ एक्सचेज दो प्रकार के होते हैं (1) **देशी विनिमय बिल**—यह एक ऐसा बिल होता है जिसका आहार्ता तथा आहार्यी दोनो एक ही देश में रहने वाले होते हैं। देशी विनिमय बिल देशी व्यापार के सम्बन्ध मे ही लिखा जाता है, (2) **विदेशी विनिमय बिल**—यह एक ऐसा बिल होता है जिसका आहार्ता तथा आहार्यी भिन्न-भिन्न देशो के होते हैं। विदेशी विनिमय बिल विदेशी व्यापार के सम्बन्ध मे ही जारी किया जाता है।

व्यापारिक क्षेत्र मे विनिमय पत्रो का बडा महत्व होता है। इनसे *व्यापारियो तथा उद्योग*-पतियो को कई प्रकार के लाभ होते हैं

(1) विनिमय पत्रो की सहायता से व्यापारी लोग बिना नकदी (cash) के माल खरीद सकते है और माल का भुगतान कुछ समय बाद कर सकते हैं।

(2) विनिमय पत्रो से मूल्यवान धातुओ के प्रयोग मे भी बचत होती है, क्योकि जब भुगतान इनके (विनिमय पत्रो) के माध्यम से किये जाते है, तब धातु मुद्राओ का प्रयोग नही होता। इस प्रकार विशेषकर अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो मे विनिमय-पत्रो का बहुत महत्व होता है।

(3) *विनिमय-पत्रों की सहायता से निर्यातकर्ताओं को अपने माल की कीमत अपने देश की* मुद्रा में ही प्राप्त हो जाती है।

(4) विनिमय-पत्र निवेशकर्ताओं (investors) के लिए भी निवेश (investment) के एक तरल एवं सुविधाजनक साधन होते हैं।

(5) विनिमय पत्रों को उनकी निश्चित तिथि से पूर्व भी भुनाया जा सकता है। अतएव यदि किसी व्यक्ति को मुद्रा की तुरन्त आवश्यकता पड़ जाती है और वह विनिमय-पत्र के परिपक्व (mature) होने तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता तो वह बैंक द्वारा विनिमय-पत्र को डिस्काउण्ट (discount) करा सकता है।

4 **साख-प्रमाणपत्र (Letters of Credit)**—साख-प्रमाणपत्र से अभिप्राय एक ऐसे प्रमाणपत्र से होता है जो किसी व्यक्ति, संस्था अथवा बैंक द्वारा लिखा जाता है। इस पत्र में लेखक किसी *अन्य व्यक्ति, संस्था अथवा बैंक से यह प्रार्थना करता है कि वह पत्र में अंकित व्यक्ति* को एक निश्चित सीमा के भीतर किसी अंश तक साख प्रदान करे। इस प्रकार के पत्रों में तिथि का भी उल्लेख कर दिया जाता है और इस तिथि तक ही साख प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है।

साख-प्रमाणपत्र दो प्रकार के होते हैं (1) **साधारण साख-प्रमाणपत्र** (Ordinary Letter of Credit)—यह वह प्रमाणपत्र होता है जिसे किसी व्यक्ति, संस्था अथवा बैंक के नाम ही लिखा जाता है, (2) **गश्ती साख-प्रमाण-पत्र** (Circular Letter of Credit)—यह वह पत्र होता है जिसे कोई बैंक अपनी विभिन्न शाखाओं तथा अन्य सम्बन्धित बैंकों को लिखता है। इस पत्र में यह प्रार्थना की जाती है कि अमुक व्यक्ति को अमुक सीमा के अन्दर किसी अंश तक साख प्रदान की जाय। गश्ती साख-उत्पादन का आदाता (payee) बैंक की किसी भी शाखा से रुपया प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस *प्रकार दिया गया रुपया पत्र में उल्लिखित सीमा से अधिक नहीं हो* सकता।

5 **यात्री चैक (Traveller's Cheques)**—इस प्रकार के चैक बैंकों द्वारा यात्रियों की सुविधा के लिये जारी किये जाते हैं। कोई भी यात्री बैंक में निश्चित रकम जमा कर देने पर यात्री चैक प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक यात्री चैक पर एक निश्चित रकम छपी होती है और यात्री बैंक की किसी भी शाखा को चैक प्रस्तुत कर सकता है। यात्री चैक जारी करने से पूर्व बैंक यात्री के हस्ताक्षर प्राप्त कर लेता है और बाद में इसे बैंक की सभी शाखाओं में प्रसारित कर देता है। इस प्रकार के चैकों से यात्रियों को बहुत सुविधा रहती है और वे अपनी यात्रा के दौरान मुद्रा को अपने साथ-साथ ले जाने के जोखिम से बच जाते हैं।

6 **ट्रेजरी बिल्स या कोषागार विपत्र (Treasury Bills)**—प्राय सरकार अपनी अल्प कालीन *वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जनता से अल्पकालीन ऋण ट्रेजरी बिल्स जारी* करके प्राप्त करती है। ये बिल्स प्राय 3 या 6 महीने की अवधि के होते हैं और इनकी अवधि समाप्त होने पर सरकार इन बिलों का भुगतान कर देती है। ट्रेजरी बिल्स बेचने के लिए सरकार जनता तथा वित्तीय संस्थाओं से टेण्डर (tenders) आमन्त्रित करती है। जिस टेण्डर में न्यूनतम ब्याज तथा बट्टे की दर की माँग की जाती है, उस ही सरकार स्वीकार कर लेती है। इसके पश्चात् स्वीकृत टेण्डर वाले को निश्चित रकम के बदले सरकार ट्रेजरी बिल्स दे देती है। स्मरण रहे कि ट्रेजरी बिल्स खरीदने वाली संस्था बट्टे या ब्याज की दर को काटकर ही सरकार को ट्रेजरी बिलों का मूल्य चुकाती है। जब ट्रेजरी बिल्स परिपक्व (mature) हो जाते हैं तब उनका भुगतान सरकार द्वारा बराबर मूल्य (par value) पर कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि सरकार 100 रुपये का ट्रेजरी बिल बेचती है तो क्रय करने वाली संस्था सरकार को 100 रुपये में से बट्टा (discount) काटकर ही शेष रकम देगी।

7 **बुक क्रेडिट (Book Credit)**—जब कोई दुकानदार ग्राहक को अपना माल उधार पर बेचता है तो वह उसकी रकम को अपने खाते में दिखाता है। यह एक प्रकार का ऋण होता है और इसे बुक क्रेडिट कहा जाता है। स्मरण रहे कि दुकानदार की हिसाब की किताबों में इस प्रकार दिखाया गया ऋण अदालतों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि ऋणी के इस प्रकार के ऋण पर हस्ताक्षर हों।

8 चैक (Cheque)—चैक या धनादेश बैंक में रुपया जमा करने वाले व्यक्ति का अपने बैंक के लिए एक लिखित आदेश होता है, जिसमे लेखक बैंक को आदेश देता है कि चैक में दिखायी गयी रकम को उसमे उल्लिखित व्यक्ति अथवा उसके आदेशित व्यक्ति अथवा उसके वाहक को माँगने पर प्रदान करे। चैक मे तीन पक्ष होते हैं—(1) चैक लिखने वाला व्यक्ति आहार्ता (drawer) कहलाता है, (2) जिस बैंक पर चैक लिखा जाता है, उसे आहार्यी (drawee) कहते है, (3) वह व्यक्ति अथवा सस्था जिसे रुपये का भुगतान किया जाता है, चैक का आदाता (payee) कहलाता है। चैक की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) चैक एक शर्तहीन आदेश होता है।
(2) चैक सदैव लिखित आदेश होता है।
(3) चैक सदैव किसी बैंक पर लिखा जाता है।
(4) चैक पर आदेश देने वाले व्यक्ति या आहार्ता के स्पष्ट हस्ताक्षर होते हैं।
(5) चैक मे भुगतान की जाने वाली रकम को स्पष्ट रूप से लिखा जाता है।
(6) चैक का भुगतान आदेशित व्यक्ति अथवा वाहक को किया जाता है।
(7) चैक में लिखित रकम का भुगतान बैंक को तुरन्त ही माँग पर करना पड़ता है।

चैक कई प्रकार के होते हैं

(1) बियरर या वाहक चैक (Bearer Cheque)—बियरर चैक वह होता है जिसका भुगतान बैंक द्वारा चैक प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति अथवा वाहक को किया जाता है। बैंक इस बात की पूछताछ नही करता कि जो व्यक्ति चैक प्रस्तुत करता है, वास्तव मे, वही रकम लेने का हकदार है अथवा नही। बियरर चैक सुरक्षित चैक नही होता। इसका भुगतान कोई भी व्यक्ति ले सकता है और इसके गलत भुगतान के लिए बैंक उत्तरदायी नही होता।

(2) आर्डर चैक (Order Cheque)—यह वह चैक होता है जिसका भुगतान किसी विशेष व्यक्ति अथवा उसके आदेशित किसी अन्य व्यक्ति को किया जाता है। आर्डर चैक को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करने से पूर्व पृष्ठांकित (endorse) करना आवश्यक होता है और चैक का भुगतान करने वाले बैंक का कर्तव्य होता है कि वह पृष्ठांकन (endorsement) की भली-भाँति जाँच करे और पूछताछ करने के बाद ही सही व्यक्ति को उसकी रकम अदा करे। यदि बैंक की असावधानी से चैक का रुपया किसी गलत व्यक्ति को मिल जाता है तो इसकी जिम्मेदारी बैंक की होती है। इस प्रकार आर्डर चैक सुरक्षित चैक होता है।

(3) रेखांकित चैक (Crossed Cheque)—जब किसी चैक पर बायी ओर के ऊपरी भाग मे दो समान्तर रेखाएँ खीचकर अंग्रेजी भाषा मे '& Co' लिख दिये जाते हैं, तब ऐसे चैक को रेखांकित चैक कहते हैं। इस चैक की यह विशेषता होती है कि इसका भुगतान बैंक की खिड़की पर नकदी के रूप मे नहीं किया जाता, बल्कि चैक मे लिखित रकम आदाता अथवा अन्य किसी आदेशित व्यक्ति के खाते मे ही हस्तान्तरित की जा सकती है। इस प्रकार रेखांकित चैक अत्यन्त सुरक्षित चैक होता है और इसके खो जाने से किसी भी व्यक्ति को कोई हानि नही होती। रेखांकित चैक भी तीन प्रकार के होते हैं

(क) साधारण रेखांकित चैक (Ordinary Crossed Cheque)—इस चैक मे बायी ओर दो समान्तर रेखाएँ खीचकर बीच में 'Not Negotiable' शब्द लिख दिये जाते हैं परन्तु इस प्रकार के चैक का यह अर्थ कदापि नही होता कि चैक का हस्तान्तरण हो ही नही सकता। इन शब्दो का अर्थ यह होता है कि चैक का हस्तान्तरणकर्ता केवल उसी प्रकार के अधिकार का हस्तान्तरण कर सकता है जो उसे स्वयं प्राप्त है।

(ख) विशेष रेखांकित चैक (Special Crossed Cheque)—इस प्रकार के चैक को रेखांकित करने के साथ ही साथ भुगतान प्राप्त करने वाले बैंक का नाम भी लिख दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि चैक का भुगतान तब ही किया जायगा जबकि उसे उसी बैंक द्वारा प्रस्तुत किया जायगा जिसका नाम समान्तर रेखाओ के बीच मे लिखा हुआ है।

(ग) केवल एकाउण्ट पेयी चैक (Only Account Payee Cheque)—जब रेखांकित चैक की दोनो रेखाओ के बीच 'एकाउन्ट पेयी ओनली' (Account Payee Only) शब्द लिख दिये जाते हैं, तब उस चैक मे लिखी रकम का भुगतान केवल आदाता (payee) के खाते मे ही

जमा किया जा सकता है। इसलिए यदि आदाता का बैंक मे खाता नही है, तब चैंक का भुगतान प्राप्त करने के लिए उसे किसी बैंक मे खाता खोलना पडेगा। तब ही उस चैंक का भुगतान हो सकेगा। इस प्रकार का चैक बहुत ही सुरक्षित होता है।

9. बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft)—बैंक ड्राफ्ट एक प्रकार का चैंक होता है जिसे एक बैंक अपनी अन्य शाखाओ अथवा बैंको पर लिखता है जिसमें यह आदेश दिया जाता है कि अमुक व्यक्ति अथवा उसके आदेशित व्यक्ति अथवा ड्राफ्ट के वाहक को उसमे लिखी गई रकम मांग करने पर दी जाय। जब मुद्रा किसी अन्य स्थान को भेजनी होती है तो मुद्रा भेजने वाला व्यक्ति बैंक से ड्राफ्ट बनवा लेता है। वह व्यक्ति भेजी जाने वाली रकम तथा बैंक-कमीशन बैंक के पास जमा करा देता है और उसके बदले बैंक की ओर से उसे ड्राफ्ट मिल जाता है, फिर यह ड्राफ्ट आदाता को डाक द्वारा भेज दिया जाता है। आदाता ड्राफ्ट को लेकर उसमे लिखित बैंक के पास जाता है और उसके बदले रकम प्राप्त कर लेता है। बैंक ड्राफ्ट चैंक की भांति रेखांकित भी किया जा सकता है। इसका सबसे बडा लाभ यह है कि यह नाममात्र कमीशन मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने मे सहायक होता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **क्या साख पूँजी का निर्माण करती है?** (आगरा, 1962)

   [संकेत—वास्तव मे, यह एक विवादग्रस्त विषय है। कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि साख पूँजी का निर्माण करती है, जबकि अन्य अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि साख पूँजी को निर्मित न करके, केवल इसका हस्तान्तरण ही करती है। यहाँ पर इन दोनो दृष्टिकोणो के समर्थन मे दिये गये तर्कों को प्रस्तुत कीजिए, और अन्त मे, यह निष्कर्ष निकालिए कि साख पूँजी का निर्माण नही करती।]

2. **चैक की परिभाषा दीजिए। चैक कितने प्रकार के होते हैं? किन-किन हालतों मे बैंक चैक की रकम का भुगतान नहीं करेगा?** (पटना, 1961)

   [संकेत—प्रथम भाग मे, चैक की परिभाषा देते हुए उसकी मुख्य-मुख्य विशेषताओ की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि चैक मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं—वाहक, आदेशित तथा रेखांकित। आगे चलकर रेखांकित चैको के भेदो पर भी प्रकाश डालिए। तीसरे भाग मे, यह स्पष्ट कीजिए कि किन किन हालतो मे बैंक चैक की रकम का भुगतान नही करता अर्थात् यदि खाते मे पर्याप्त धन नही है, यदि चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर स्पष्ट नहीं हैं अथवा नमूने के हस्ताक्षर से नही मिलते, यदि चैक मे लिखी रकम स्पष्ट नही है, अथवा अंको तथा शब्दो मे लिखी रकम म अन्तर है, यदि चैक उत्तर-तिथि (post-dated) चैक है, यदि चैक मे किसी प्रकार की काँट-छाँट की गयी है। इन हालतो मे बैंक चैक की रकम चुकाने से इन्कार कर देगा।]

10

बैंकों के कार्य

(Functions of Banks)

बैंक की परिभाषा
(Definition of Bank)

चूँकि आधुनिक बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य करता है, इसलिए इसकी ठीक-ठीक परिभाषा करना बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने बैंक की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं। नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

प्रो० फिण्डले सिराज (Findlay Shirras) ने बैंक की परिभाषा इन शब्दों में दी है, "बैंकर उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को कहा जाता है जिसके पास कोई ऐसा व्यापारिक स्थान हो जहाँ मुद्रा अथवा करैंसी की जमा द्वारा साख का कार्य किया जाता हो और जिसकी जमा का ड्राफ्ट, चैक या आर्डर द्वारा भुगतान किया जाता हो या जहाँ स्टॉक, बौण्ड, धातुओं और विपत्रों पर मुद्रा उधार दी जाती हो, अथवा जहाँ प्रतिज्ञापत्र बट्टे पर बेचने के लिए स्वीकार किये जाते हों।"[1]

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट 1949 (Indian Companies Act, 1949) के अनुसार "बैंकिंग का अभिप्राय जनता से (उधार देने अथवा निवेश करने हेतु) मुद्रा के निक्षेपों का स्वीकार करना है, जो माँग पर अथवा किसी अन्य प्रकार चैक, ड्राफ्ट, आदेश आदि द्वारा देय होते हैं।"[2]

प्रो० किनले (Kinley) के मतानुसार, "बैंक एक ऐसी संस्था है जो ऋण की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को रुपया उधार देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता होती है और जिसके पास व्यक्तियों द्वारा अपना अतिरिक्त रुपया जमा किया जाता है।"[3]

यदि हम उपर्युक्त परिभाषाओं का बारीकी से अध्ययन करें तो पता चलेगा कि ये सभी परिभाषाएँ बैंक के दो महत्त्वपूर्ण कार्यों पर ही जोर देती हैं प्रथम, बैंक जनता से जमाराशियाँ

---

1 "A banker is a person, firm or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or currency or subject to be paid or remitted upon draft, cheque or where money is advanced or loaned on stocks, bonds, bullion and B/E and P/N are received for discount and sale " —*Findlay Shirras*

2 "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise " —*The Indian Companies Act 1949*

3 "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use." —*Kinley*

स्वीकार करते हैं। द्वितीय, बैंक जरूरतमन्द व्यापारियो तथा व्यवसायियो को ऋण देते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाएँ त्रुटिपूर्ण हैं, क्योकि जमाराशियाँ स्वीकार करने तथा जरूरतमन्द व्यवसायियो को ऋण देने से ही कोई सस्था बैंक नही बन जाती। जैसा विदित है, भारत के साहूकार भी इन दोनो कार्यों को सम्पन्न करते है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि ऐसा करने से वे बैंकर बन जाते है। स्पष्ट है कि उक्त दोनो कार्यों को सम्पन्न करने से ही कोई सस्था बैंक नही बन जाती है। अत बैंक की उपर्युक्त परिभाषाएँ सन्तोषजनक नही मानी जा सकती। बैंक की कोई ऐसी परिभाषा होनी चाहिए जो इसके सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करे। इस दृष्टिकोण से बैंक की निम्न परिभाषा अत्यन्त उपयुक्त कही जा सकती है। इस परिभाषा के अनुसार, "बैंक उस व्यक्ति अथवा सस्था को कहते हैं जो मुद्रा और साख मे व्यवसाय करती है।"

अब हम इस परिभाषा का विश्लेषण करेंगे। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि मुद्रा और साख मे व्यवसाय करने से क्या अभिप्राय है? जब हम यह कहते हैं कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु मे व्यवसाय करता है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को खरीदता और बेचता है। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि बैंक मुद्रा और साख मे व्यवसाय करता है तब हमारा यह अभिप्राय होता है कि बैंक मुद्रा तथा साख का क्रय-विक्रय करता है। मुद्रा को बेचने का अर्थ उसका ऋण देना होता है। इसी प्रकार मुद्रा को खरीदने का अर्थ उसका ऋण लेना होता है। इन दोनो ही परिस्थितियो मे मुद्रा की कीमत ब्याज के रूप मे चुकाई जाती है। इस प्रकार बैंक का कार्य ऋण का लेना और देना होता है अर्थात् बैंक अपने ग्राहको की साख को खरीदता है और अपनी साख उन्हे बेचता है। इस प्रकार बैंक का आवश्यक कार्य अपनी साख का ग्राहको की साख मे हस्तान्तरण करना होता है।

जब कोई बैंक ऋण देता है, तो वह अपनी साख उत्पन्न करता है। इन ऋणो द्वारा जिन निक्षेपो का निर्माण होता है वे ऋण लेने वालो की साख का निर्माण करते हैं। जब कोई जमाकर्ता बैंक के ऊपर चैक लिखता है तब ग्राहक की साख को बैंक की साख मे परिवर्तित किया जाता है। इस प्रकार ऋणो के माध्यम से साख का हस्तान्तरण होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, साख-व्यवसाय बैंक की एक विशेषता होती है। वैसे तो जमाराशियो को स्वीकार करना तथा जरूरतमन्द लोगो का ऋण देना, ये दोनो काय निजी साहूकारो द्वारा भी किये जाते हैं, परन्तु उनमे और बैंको मे एक अन्तर होता है। अन्तर यह है कि बैंक तो साख का क्रय विक्रय करते है, परन्तु निजी साहूकारो द्वारा साख का क्रय विक्रय नही किया जाता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक बैंक तो साहूकार का काम करता है, परन्तु प्रत्येक साहूकार बैंक का काम नही करता। इस सम्बन्ध म प्रो० सेयर्स (Sayers) ने उचित ही कहा है, "बैंक केवल मुद्रा व्यापारी ही नही, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मे मुद्रा के निर्माता भी होते हैं।"[1] जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्येक बैंक मुद्रा के व्यापारी के रूप मे काम करता है अर्थात वह मुद्रा उधार लेता भी है और देता भी है परन्तु बैंक केवल मुद्रा का व्यापारी ही नही है बल्कि मुद्रा का निर्माण भी करता है। दूसरे शब्दो मे, बैंक साख-मुद्रा का उत्पादन भी करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार बैंक साख का निर्माण करता है। अत बैंक की उपर्युक्त परिभाषा उचित तथा वैज्ञानिक परिभाषा है और बैंक के विभिन्न कार्यों को सही रूप म प्रस्तुत करती है।

आधुनिक बैंक के कार्य
(Functions of a Modern Bank)

आधुनिक बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं

(1) जमा राशियो को स्वीकार करना—जैसा ऊपर बताया गया है, बैंक लोगो का अतिरिक्त धन जमा के रूप मे प्राप्त करते हैं। बैंक पाँच प्रकार के खातो मे निक्षेप (deposits) प्राप्त करते है। जमाकर्ता जिस खाते मे चाहे अपना अतिरिक्त धन जमा करवा सकता है। इन खातो की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं

---

1 "Banks are not merely traders in money but also important manufacturers of money. —Sayers

(क) निश्चितकालीन खाता (Fixed Deposit Account)—इस खाते में रुपया एक निश्चित समय के लिए जमा किया जाता है, अर्थात्, 1, 2 अथवा 5 वर्ष के लिए और उस निश्चित अवधि के समाप्त होने से पूर्व रुपया बैंक से निकाला नहीं जा सकता। इस खाते में ब्याज की दर अन्य खातों की अपेक्षा ऊँची होती है। जितनी अधिक अवधि होती है, उतनी ही अधिक ब्याज की दर होती है।

(ख) चालू खाता (Current Account)—इस खाते में से जमाकर्ता जब चाहे रुपया निकाल सकता है। प्राय बैंक इस प्रकार के खाते पर ब्याज नहीं चुकाता, क्योंकि उसे जमाकर्ता की मांग को पूरा करने के लिए सदैव अपने पास नकद-कोष तैयार रखना पड़ता है। प्राय: व्यापारी लोग ही इस प्रकार के खाते खोलते है, क्योंकि उन्हे दिन मे कई बार बैंक से रुपया निकालना पड़ता है।

(ग) सेविंग बैंक खाता (Saving Bank Account)—इस खाते में जमाकर्ता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, वह सप्ताह में केवल एक बार या दो बार ही निश्चित मात्रा में खाते से रुपया निकाल सकता है। रुपया निकालने के लिये जमाकर्ता को बैंक की सुविधा दी जाती है। इस खाते में ब्याज की दर कम होती है। यह खाता प्राय गृहस्थी लोगों द्वारा खोला जाता है। इस प्रकार के खाते से देश में पूँजी-सचय को प्रोत्साहन मिलता है।

(घ) अनिश्चितकालीन खाता (Permanent Deposit Account)—इस प्रकार के खाते के अन्तर्गत जमा कराया गया रुपया कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर कभी भी नहीं निकाला जा सकता। बैंक इस प्रकार के निक्षेपों पर केवल ब्याज का भुगतान ही करता है। चूँकि ये निक्षेप अनिश्चितकालीन होते हैं, अतएव दी जाने वाली ब्याज की दर सबसे ऊँची होती है परन्तु अनिश्चितकालीन निक्षेप जनता में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके हैं।

(ङ) गृह बचत खाता (Home Saving Account)—गत कुछ वर्षों से इस खाते का प्रचलन किया गया है और थोड़े ही समय में यह लोकप्रिय हो गया है। इस खाते के अनुसार बैंक रुपया जमा करने के लिए जमाकर्ताओं के घर पर एक गुल्लक रख देता है और समय-समय पर जमाकर्ता तथा उनके घर के सदस्य छोटी-छोटी रकमें उस गुल्लक में डालते रहते हैं और एक निश्चित अवधि के बाद उस गुल्लक को बैंक में ले जाकर खोला जाता है। गुल्लक से प्राप्त राशि को जमाकर्ता के खाते में जमा कर दिया जाता है। छोटी छोटी बचतों को प्रोत्साहित करने का यह एक अच्छा तरीका है, परन्तु इस प्रकार के खाते पर बहुत ही कम ब्याज दिया जाता है।

(2) ऋणों का प्रदान करना (Advancing of Loans)—बैंकों के पास जमाकर्ता का जो रुपया जमा हो जाता है बैंक उसे बेकार अपनी तिजोरी में नहीं रखे रहते, बल्कि वह रुपया एक निश्चित नकद कोष रखकर जरूरतमन्द व्यवसायियों को ऋण के रूप में दे दिया जाता है। प्रत्येक व्यवसाय तथा उद्योग में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पूँजी के अभाव के कारण अपने व्यवसाय को सफलतापूर्वक नहीं चला सकते। बैंक ऐसे व्यक्तियों को ऋण देकर उनकी सहायता करते हैं। परन्तु रुपया उधार देने से पूर्व बैंक उनकी साख की अच्छी तरह जाँच कर लेते हैं। ऋण देते समय बैंक को बहुत सतर्क रहना पड़ता है, क्योंकि यदि बैंक ऋण सम्बन्धी कोई गलती कर बैठते हैं, तो वह बैंकों के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। भारतीय बैंक प्राय वैयक्तिक प्रतिभूति (personal security) के आधार पर ऋण नहीं देते, बल्कि उपयुक्त प्रतिभूतियों पर जोर देते हैं। ऋण देने के निम्नलिखित तरीके हैं

(क) साधारण ऋण देना—इसके अन्तर्गत, बैंक किसी व्यक्ति को कोई निश्चित रकम किसी वस्तु को धरोहर या अमानत (security) रखकर दे देता है। यह रकम ऋणी के चालू खाते में जमा कर दी जाती है और आवश्यकतानुसार ऋणी इसमें से रुपया निकाल सकता है। बैंक जिस समय चाहे इस प्रकार का ऋण वापस मांग सकता है।

(ख) नकद साख (Cash Credit)—इसके अन्तर्गत, बैंक ऋणी की निश्चित प्रतिभूति के बदले ऋण देता है। परन्तु समूचा ऋण एक ही समय पर नहीं दे दिया जाता, बल्कि बैंक ऋणी के नाम से एक खाता खोल देता है और बैंक के गोदाम में रखे गये माल के मूल्य के

अनुसार एक निश्चित सीमा तक रुपया निकालने का अधिकार ऋणी को दे देता है। ऋणी अपनी आवश्यकतानुसार खाते मे से छोटी-छोटी रकमे निकालता रहता है। परन्तु स्मरण रहे, बैंक ऋणी द्वारा, वास्तव मे, निकाली गई रकम पर ही ब्याज लेता है।

(ग) बैंक अधिविकर्ष (ओवर ड्राफ्ट) (Bank Overdraft)—बैंक अपने सम्मानित तथा विश्वसनीय ग्राहको को ओवर ड्राफ्ट की सुविधाएँ भी देता है, जो एक प्रकार से ऋण ही है। बैंक ऐसे ग्राहको को उनके खाते मे जमा रकम से अधिक धनराशि निकालने के लिए चैक जारी करने की अनुमति दे देता है। ग्राहक अपनी जमा रकम से अधिक राशि निकालने पर बैंक को ब्याज अदा करता है।

(घ) विनिमय-बिलो का भुनाना (Discounting of Bills of Exchange)—यह एक अन्य प्रकार का ऋण है जो बैंको मे अत्यन्त प्रचलित है। यदि विनिमय-बिल के वाहक को तत्काल नकद रुपये की आवश्यकता पड़ती है तो वह बैंक मे जाकर विनिमय-बिल को भुना सकता है, अर्थात् बट्टा (discount) कटवाकर बिल भुना सकता है। यदि विनिमय-बिल अच्छी पार्टी द्वारा स्वीकृत है तो बैंक उसे तुरन्त ले लेता है तथा उसके वाहक को विनिमय-बिल का वर्तमान मूल्य दे देता है अथवा उसके खाते मे जमा कर देता है। जब विनिमय-बिल परिपक्व (mature) हो जाता है तब बैंक उस बिल को स्वीकार करने वाली पार्टी से बिल का पूर्ण भुगतान प्राप्त कर लेता है।

(3) अभिकर्ता सम्बन्धी कार्य (Agency Functions)—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, बैंक अपने ग्राहको के अभिकर्ता या एजेन्सी-कार्य भी सम्पन्न करता है। इन कार्यों के लिए बैंक अपने ग्राहको से कमीशन वसूल करता है। बैंक के प्रमुख एजेन्सी-कार्य निम्नलिखित हैं

(क) धन का स्थानान्तरण (Transfer of Funds)—बैंक अपने ग्राहको को बैंक-ड्राफ्ट द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने मे सहायता देता है और इस सेवा के लिए थोड़ा-सा शुल्क वसूल करता है।

(ख) ग्राहको का रुपया एकत्रित करना—बैंक दूसरे बैंको से अपने ग्राहको का रुपया वसूल करके उनके खातो मे जमा करता है।

(ग) ग्राहको के लिए अंश (Shares) तथा अन्य प्रतिभूतियाँ खरीदना तथा बेचना—बैंक अपने ग्राहको के लिए मिश्रित पूँजी कम्पनियो के अश तथा सरकारी प्रतिभूतियो को खरीदता तथा बेचता है।

(घ) ग्राहको के अंशो पर लाभांश वसूल करना—बैंक अपने ग्राहको के अशो व ऋणपत्रो पर दिये जाने वाले लाभाश (dividends) तथा ब्याज आदि को वसूल करके उनके खातो मे जमा करता है।

(ङ) ग्राहकों के प्रीमियम तथा अन्य दायित्वों का भुगतान करना—बैंक अपने ग्राहको की ओर से बीमा कम्पनियो को प्रीमियम (premia) आदि चुकाता है अथवा ग्राहक के आदेशानुसार उसके अन्य बिलो का भुगतान करता है।

(च) बैंक ट्रस्टी (trustee) तथा एक्जीक्यूटर (executor) का कार्य करता है—बैंक अपने ग्राहको के वसीयतनामो को सुरक्षित रखता है तथा उन्हे मृत्योपरान्त कार्यान्वित करता है।

(4) कागजी मुद्रा का निर्गमन—19वी शताब्दी मे लगभग सभी बैंको को नोट जारी करने का अधिकार होता था, परन्तु अब यह कार्य प्रत्येक देश मे वहाँ के केन्द्रीय बैंक द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। अब केन्द्रीय बैंक के सिवाय अन्य किसी बैंक को नोट जारी करने का अधिकार नही है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक ही देश की समूची मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओ का अनुमान लगाने की स्थिति मे होता है और उनके अनुसार ही मुद्रा का निर्गमन करता है।

(5) विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय—बैंक विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय भी करता है। साधारणत विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय का कार्य विदेशी विनिमय बैंको (foreign exchange banks) द्वारा किया जाता है। परन्तु भारत मे कुछ व्यापारिक बैंक अपने अन्य कार्यों के साथ-

साथ विदेशी मुद्राओं का व्यवसाय भी करते हैं। इस प्रकार बैंक एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित करता है।

(6) **आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन**—बैंक विनिमय बिलों को डिस्काउन्ट करके आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्धन (finance) करता है। कभी-कभी बैंक हुण्डियों तथा बिलों की जमानत (security) पर अल्पकालीन ऋण भी देता है। यदि किसी व्यापारी के पास कोई ऐसा विनिमय-बिल है जो कुछ समय के बाद परिपक्व होगा, परन्तु उस व्यापारी को तुरन्त ही रुपये की आवश्यकता पड जाती है तो वह व्यापारी इस बिल को बैंक से भुना सकता है। बैंक बिल की रकम से अपना बट्टा काटकर शेष रकम व्यापारी को दे देता है।

(7) **बैंकों के अन्य कार्य**—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, आधुनिक बैंक निम्नलिखित कार्यों को भी सम्पन्न करते हैं

(क) **मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा**—आजकल बैंक प्रायः अपने ग्राहकों को लॉकर्स (lockers) की सुविधाएँ भी देते हैं। इन लॉकरों में लोग अपने सोने-चाँदी के जेवरात, आवश्यक कागज पत्रों, कम्पनियों के अंशों (shares) तथा ऋणपत्रों आदि को रख सकते हैं। इस सेवा के लिए बैंक उनसे साधारण वार्षिक शुल्क वसूल करता है।

(ख) **यात्री-चैक जारी करना**—जैसा पूर्व कहा गया है, बैंक यात्रियों के लिए यात्री चैक अथवा गश्ती साख प्रमाणपत्र (circular letters of credit) जारी करते हैं, जिनसे यात्रियों को यात्रा के दौरान नकद रुपया ले जाने के जोखिम (risk) से छुटकारा मिल जाता है।

(ग) **साख सम्बन्धी सूचनाएँ देना**—चूँकि बैंक अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति से अच्छी तरह परिचित होता है इसलिए वह अपने ग्राहकों की साख सम्बन्धी योग्यता के बारे में सही तथा विश्वसनीय सूचना दे सकता है। बैंक की इस सेवा का लाभ उठाते हुए ग्राहक परस्पर एक दूसरे की साख के विषय में सूचनाएँ प्राप्त करते हैं। इससे ग्राहकों को व्यापार में अधिक सहायता मिलती है और व्यापारिक जोखिमों का खतरा कम हो जाता है।

(घ) **आर्थिक आँकडे संकलित करना**—आजकल प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक देश के बैंकिंग, मुद्रा, व्यापार तथा उद्योगों आदि से सम्बन्धित तथ्यों तथा आँकडों को संकलित करता है और समय समय पर इस प्रकार के तथ्यों तथा आँकडों का प्रकाशन भी करता है। इससे अन्य बैंकों को देश की आर्थिक स्थिति के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है जिसके आधार पर वे अपनी नीतियों का निर्माण कर सकते हैं।

(ङ) **व्यापारिक कम्पनियों के ऋणपत्रों की हामीदारी** (Underwriting)—कभी-कभी निजी कम्पनियाँ पूँजी प्राप्त करने के लिए अपने ऋणपत्रों (debentures) को जारी करती है और जनता से इन ऋणपत्रों को खरीदने का अनुरोध करती है। परन्तु जनता इन कम्पनियों की जानकारी के अभाव में इनके द्वारा जारी किये गये ऋणपत्रों को खरीदने में संकोच करती है। ऐसी परिस्थिति में बैंक इन ऋणपत्रों पर हस्ताक्षर करके इन कम्पनियों की साख को प्रमाणित कर देते हैं। चूँकि बैंक में जनता का विश्वास होता है, इसलिए बैंक द्वारा इन कम्पनियों की साख प्रमाणित किये जाने पर जनता ऋणपत्रों को खरीदना आरम्भ कर देती है। इस कार्य के लिए बैंक इन कम्पनियों से अपनी हामीदारी कमीशन (under writing commission) वसूल करते हैं। कम्पनियों के ऋणपत्रों के अतिरिक्त बैंक इनके अंशों (shares) की भी हामी भरते हैं। बैंकों की इस सेवा से उद्योगपतियों तथा व्यवसायियों को बहुत लाभ होता है, क्योंकि इसके कारण उन्हें पूंजी प्राप्त करने में बहुत सुविधा रहती है।

(च) **ग्राहकों की ओर से विनिमय-बिलों को स्वीकार करना**—कभी कभी बैंक अपने ग्राहकों पर लिखे गये विनिमय-बिलों को स्वीकार भी करते हैं। इससे ग्राहकों को बहुत लाभ होता है, क्योंकि जब बिल पर बैंक की स्वीकृति व्यक्त की जाती है तो इससे ऋणदाता का ऋणी की साख पर विश्वास सुदृढ़ हो जाता है।

(छ) **वित्तीय विषयों पर परामर्श देना**—चूँकि बैंक देश की आर्थिक परिस्थिति से भली-

भाँति परिचित होता है, इसलिए वह अपने ग्राहकों को इनके वित्तीय मामलों पर उपयोगी परामर्श दे सकता है।

(8) **साख का निर्माण**—वास्तव में, साख का निर्माण आधुनिक बैंक का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। आधुनिक बैंक अपनी अश-पूँजी तथा जमाराशियों से ही जरूरतमन्द व्यवसायियों को ऋण नहीं देता, *बल्कि वह स्वयं भी साख-मुद्रा का निर्माण करता है। साख-निर्माण का* कार्य आधुनिक बैंक का एक आधारमूलक कार्य माना जाता है। इसी के कारण ही आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का इतना अधिक विकास सम्भव हो सका है। आगे चलकर हम देखेंगे कि बैंक साख का *निर्माण कैसे करता है ?*

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि आधुनिक बैंक देश की अर्थ-व्यवस्था में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। वास्तव में, बिना एक सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली के किसी भी देश का आर्थिक विकास सम्भव नहीं हो सकता।

साख का निर्माण
(Credit Creation)

जैसा ऊपर कहा गया है, साख-निर्माण आधुनिक बैंक का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है, परन्तु अब हमें यह देखना है कि आधुनिक बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करता है। क्या बैंक की साख निर्माण शक्ति की कुछ परिसीमाएँ भी हैं ?

साख-निर्माण के विषय पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों में कुछ मतभेद पाया जाता है। प्रो० हार्टले विदर्स (Hartley Withers), प्रो० जे० एम० केन्ज, प्रो० सेयर्स तथा प्रो० हाम (Halm) जैसे अर्थशास्त्रियों का विचार है कि बैंक साख का निर्माण करता है। प्रो० सेयर्स ने तो *यहाँ तक लिखा है कि बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्थाएं ही नहीं है, बल्कि एक महत्व*-पूर्ण अर्थ में वे मुद्रा की निर्माता भी हैं। इसके विपरीत, प्रो० वाल्टर लीफ (Walter Leaf) तथा प्रो० एडविन कैनन (Edwin Cannan) जैसे अर्थशास्त्रियों का मत है कि बैंक साख का निर्माण नहीं कर सकते। *अब हम इन दोनों ही मतों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।* पहले हम उन अर्थशास्त्रियों के तर्कों का अध्ययन करेंगे जिनके अनुसार बैंक साख का निर्माण करते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार बैंक दो तरीकों से साख का निर्माण करते हैं

(1) **बैंक कागजी मुद्रा का निर्गमन करके साख का निर्माण करते हैं**—जब बैंक कागजी मुद्रा का निर्गमन करते है तो उस समय साख का निर्माण भी होता है। जैसा पूर्व कहा गया है 19वीं शताब्दी में लगभग सभी बैंकों को कागजी मुद्रा जारी करने का अधिकार होता था, परन्तु *आजकल देश के केन्द्रीय बैंक को ही कागजी मुद्रा जारी करने का एकाधिकार प्राप्त है।* अतः केन्द्रीय बैंक ही कागजी मुद्रा जारी करके साख का निर्माण करता है। जैसा विदित है, नोट जारी करते समय केन्द्रीय बैंक उनके पीछे शत-प्रतिशत धात्विक आड़ (metallic cover) *नहीं रखता, बल्कि कागजी मुद्रा के एक निश्चित अंश के पीछे ही धात्विक आड़ रखता है* और शेष कागजी मुद्रा के पीछे केवल प्रतिभूतियों (securities) की ही आड़ रखी जाती है। इस प्रकार कागजी मुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धात्विक आड़ नहीं रखी जाती, प्रचलन (circulation) *में केवल केन्द्रीय बैंक की साख के आधार पर ही रहता है।*

(2) **प्रारम्भिक निक्षेपों या (नकद-जमा) तथा व्युत्पन्न निक्षेपों (या साख-जमा) के द्वारा साख का निर्माण**—प्रो० हाम के अनुसार, बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं - प्रथम, प्रारम्भिक *निक्षेप (Primary deposits) अथवा नकद जमा।* द्वितीय, *व्युत्पन्न निक्षेप (derivative deposits)* अथवा साख-जमा। प्रारम्भिक निक्षेप वे होते हैं जो जमाकर्ताओं के द्वारा बैंक में वास्तविक मुद्रा के रूप में जमा किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब कोई जमाकर्ता अपने खाते में नकदी के रूप में कोई चीज *जमा करता है तो ऐसी जमा को नकद जमा या प्रारम्भिक निक्षेप कहा जाता* है। इसके विपरीत, जब बैंक किसी व्यक्ति के खाते में स्वयं कुछ राशि जमा कर देता है तो उसे साख-जमा या व्युत्पन्न निक्षेप कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति बैंक से ऋण लेता है तो वह ऋण की समूची रकम बैंक से नकदी के रूप में नहीं लेता, बल्कि ऋण की रकम अपने खाते में जमा करा लेता है और आवश्यकता पड़ने पर उसमें से छोटी-छोटी रकम निकालता रहता

है। इस प्रकार उस व्यक्ति के खाते मे जमा की गयी राशि को नकद-जमा नही कहा जा सकता, बल्कि वह तो साख-जमा ही कही जा सकती है।

प्रो० हाम के अनुसार साख का निर्माण व्युत्पन्न निक्षेप से होता है। अब हम यह देखेंगे कि व्युत्पन्न निक्षेपो से साख का निर्माण कैसे होता है? मान लीजिए कि कोई व्यक्ति अपने खाते मे 10,000 रुपये की राशि जमा करता है। वह अपने खाते मे से यह राशि किसी समय भी निकाल सकता है। परन्तु बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि जमाकर्ता यह समूची राशि एक ही समय पर वापस नही मांगेगा। अतएव बैंक इस राशि का एक निश्चित प्रतिशत नकदी के रूप मे रखकर शेष रकम जरूरतमन्द व्यवसायियो को ऋण के रूप मे दे सकता है। बैंक अपने अनुभव के आधार पर यह जानता है कि सभी जमाकर्ता अपनी जमाराशियो को एक ही समय पर नही निकालेंगे इसलिए वह जमाराशियो का एक निश्चित भाग (10 या 15 प्रतिशत) नकदी के रूप मे रखकर शेष भाग को ऋण के रूप मे दे देता है। उक्त उदाहरण मे यदि हम मान लें कि बैंक 10 प्रतिशत नकद कोष रखता है तो 10,000 रुपये की जमा मे से बैंक 1000 रुपया नकद-कोष मे रखकर शेष 9,000 रुपया ऋण के रूप मे प्रदान कर देगा। ऋण-प्राप्तकर्ता 9,000 रुपये का यह ऋण तुरन्त ही बैंक से नही निकालेगा, बल्कि इस राशि को अपने चालू खाते मे जमा करवा देगा और आवश्यकतानुसार समय-समय पर इसमे से रुपया निकालता रहेगा। चूंकि बैंक जानता है कि ऋण-प्राप्तकर्ता समूची 9,000 रुपये की राशि को एक ही समय पर नही निकालता, इसलिए वह इसका 10 प्रतिशत, अर्थात् 900 रुपया नकद-कोष मे रखकर शेष 8,100 रुपये किसी अन्य व्यक्ति को उधार के रूप मे प्रदान कर देता है। यह व्यक्ति भी पहले ऋण-प्राप्तकर्ता की भाँति ऋण की समूची राशि बैंक से नकदी के रूप मे वसूल नही करता और बैंक इस बात को जानते हुए कि दूसरा ऋण प्राप्तकर्ता ऋण की समूची राशि को एक ही समय पर नही निकालेगा, उसका 10 प्रतिशत नकद-कोष के रूप मे रखकर शेष 7,290 रुपये किसी तीसरे व्यक्ति को ऋण के रूप मे प्रदान कर देगा। तीसरा ऋण प्राप्तकर्ता भी ऋण की समूची राशि को एक ही समय पर बैंक से नही निकालेगा। अतः बैंक एक बार फिर ऋण का 10 प्रतिशत नकद-कोष मे रखकर शेष किसी अन्य व्यक्ति को उधार दे देगा। इस प्रकार बैंक का यह क्रम चलता ही जायेगा और बैंक 10,000 रुपये के प्रारम्भिक निक्षेप के आधार पर लगभग 40,000 रुपये का ऋण प्रदान करने मे समर्थ हो जायगा। इस प्रकार ज्यो-ज्यो बैंक के निक्षेप बढते जाते है, त्यो-त्यो उसकी साख-निर्माण-शक्ति भी बढती जाती है।

इसके अतिरिक्त, बैंक नकद-कोष का प्रतिशत कम करके भी अपनी साख-निर्माण शक्ति को बढा सकता है। स्मरण रहे कि बैंक साख-निर्माण नकद-जमा तथा साख-जमा के द्वारा ही नही करते, बल्कि बैंक अधिविकर्ष (overdraft) की सुविधाएँ देकर भी साख का निर्माण करते है। जैसा पूर्व कहा गया है, अधिविकर्ष की सुविधाएँ केवल बैंक के प्रतिष्ठित ग्राहको को ही दी जाती है। इसके अतिरिक्त, बैंक प्रतिभूतियो (securities) को खरीदकर तथा इसका भुगतान अपने बैंको द्वारा करके भी साख का सृजन करते हैं। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि जिन देशो मे केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जा चुके है वहाँ पर व्यापारिक बैंको की साख-निर्माण-शक्ति भी काफी बढ गयी है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को आवश्यकता पडने पर इनके बिलो का डिस्काउण्ट (discount) करके इन्हे आर्थिक सहायता देते हैं। इस प्रकार व्यापारिक बैंको की साख सृजन की शक्ति बढ गयी है।

क्या बैंक, वास्तव मे साख-निर्माण करते हैं?—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, वाल्टर लीफ तथा प्रो० एडविन कैनन का विचार है कि बैंक स्वय साख-निर्माण का कार्य नही करते बल्कि साख-निर्माण का कार्य तो बैंक के जमाकर्ताओ द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। इसका कारण यह है कि बैंक के जमाकर्ता ही अपने निक्षेपो से बैंक को मौद्रिक साधन प्रदान करते है और बैंक इन निक्षेपो का एक भाग व्यापारियो को ऋण के रूप मे देने मे इसी कारण समर्थ हो जाता है, क्योकि सभी जमाकर्ता अपने समूचे निक्षेपो को एक ही समय पर बैंक से नही निकालते। इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार, साख-निर्माण का कार्य बैंको द्वारा नही, बल्कि जमाकर्ताओ द्वारा किया जाता है। यदि जमाकर्ता अपनी जमाराशियो को एक ही समय पर निकालना आरम्भ कर दें तो साख-निर्माण का कार्य सम्भव ही नही हो सकेगा। परन्तु, वास्तव मे, प्रो० वाल्टर लीफ तथा प्रो० एड-

विन कैनन के उक्त विचार भ्रमात्मक हैं। जैसा विदित है, आधुनिक बैंक प्रारम्भिक निक्षेपो मे प्राप्त हुई मुद्रा राशि से कही अधिक मात्रा मे ऋण प्रदान करने मे समर्थ हो जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बैंक अधिक मात्रा मे साख का सृजन करके ही व्यवसायियो को ऋण प्रदान करते हैं। अतएव यह कहना गलत नही होगा कि बैंको मे साख-सृजन की शक्ति पायी जाती है और इनके निक्षेपो के बढने के साथ ही साथ यह शक्ति भी बढती जाती है।

साख-निर्माण की परिसीमाएँ

(Limitations of Credit Creation)

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या बैंक की साख-सृजन की शक्ति असीमित है ? इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो का स्पष्ट विचार है कि बैंक की साख-निर्माण की शक्ति असीमित नही है, बल्कि उसकी साख-निर्माण-शक्ति की कई परिसीमाएँ हैं। प्रो० बैनहम (Benham) के अनुसार बैंको द्वारा साख-निर्माण की निम्नलिखित परिसीमाएँ हैं

(1) **देश मे मुद्रा की मात्रा**—बैंको की साख-निर्माण-शक्ति देश मे प्रचलित वैध-मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करती है। किसी देश मे वैध-मुद्रा की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही उस देश मे बैंको की साख-निर्माण की शक्ति अधिक होगी। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक जितनी अधिक मात्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन करता है, उतनी ही अधिक मात्रा मे बैंको के निक्षेप बढते है, और जितनी मात्रा मे निक्षेप बढते हैं, उतनी ही अधिक मात्रा मे बैंको के नकद-कोष (Cash reserves) बढते हैं। स्पष्ट है कि जब बैंको के नकद-कोषो मे वृद्धि हो जाती है तब उनकी साख-निर्माण-शक्ति मे भी आनुपातिक वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक कम मा त्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन करता है, तब बैंको के नकद-कोषो मे भी आनुपातिक कमी हो जाती है और अन्तत उनकी साख-निर्माण-शक्ति का ह्रास हो जाता है।

(2) **जनता की बैंक सम्बन्धी आदतें**—किसी देश के बैंको की साख-निर्माण-शक्ति उस देश के लोगो की बैंक सम्बन्धी आदतो पर भी निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, एक पिछडे हुए तथा अल्प-विकसित देश मे अधिकाश व्यापारिक सौदो मे नकदी का ही प्रयोग किया जाता है। अतएव लोगो की नकदी की माँग बढ जाती है। परिणामत बैंको के नकद-कोष भी कम हो जाते हैं। जब बैंको के नकद-कोष कम हो जाते है, तब उनकी साख-निर्माण-शक्ति भी उसी अनुपात मे कम हो जाती है। इसके विपरीत, विकसित देशो मे नकदी का प्रयोग कम किया जाता है और अधिकाश व्यापारिक सौदो का भुगतान चैको द्वारा किया जाता है। इससे लोगो की नकदी की माँग कम हो जाती है। परिणामत बैंको के नकद-कोष बढ जाते हैं। जब बैंको के नकद-कोष बढ जाते है तब उनकी साख-निर्माण-शक्ति भी उसी अनुपात मे बढ जाती है। यही कारण है कि ब्रिटेन, अमरीका, फ्रास तथा जर्मनी जैसे विकसित देशो मे बैंको की साख-निर्माण-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके विपरीत, भारत जैसे पिछडे हुए देश मे, जहां लोगो द्वारा चैको का अधिक प्रयोग नहीं किया जाता, बैंको की साख-निर्माण-शक्ति अपेक्षाकृत कम है। इस प्रकार बैंको की साख-निर्माण-शक्ति जनता की बैंकिंग सम्बन्धी आदतो से भी निश्चित होती है।

(3) **कुल देयताओं का नकद-कोष मे प्रतिशत**—जैसा विदित है, प्रत्येक बैंक को अपने निक्षेपो का एक निश्चित भाग नकद-कोष के रूप मे रखना पड़ता है। यह इसलिए आवश्यक होता है कि जमाकर्ताओ की समय-समय पर की जाने वाली माग को पूरा किया जा सके। अमुक बैंक को अपनी जमाराशियो का कितना भाग नकद-कोष के रूप मे रखना चाहिए, यह उसके प्रति जनता के विश्वास से निश्चित होता है। यदि लोगो को बैंक मे सुदृढ विश्वास है तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक को अधिक नकद-कोष नही रखना पडता और वह केवल थोडे-से नकद कोष से ही अपना काम चला सकता है। इसके विपरीत, यदि बैंक के प्रति लोगो का विश्वास कम है तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक को अधिक नकद-कोष रखना पडता है। आजकल प्राय सभी देशो मे बैंको द्वारा रखे जाने वाले नकद कोषो का प्रतिशत कानून द्वारा निश्चित कर दिया गया है। परन्तु समय-समय पर आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप इसमे परिवर्तन भी किये जाते हैं। जिस देश मे बैंको द्वारा रखी जाने वाली नकद-कोष की मात्रा कम होती है, उस देश के बैंको की साख-सृजन की शक्ति भी अधिक होती है। इसके विपरीत, जिस देश मे बैंको द्वारा रखी जाने वाली

नगद-कोष की मात्रा अधिक होती है, उस देश के बैंको की साख-सृजन की शक्ति भी कम होती है। ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे देशो मे व्यापारिक बैंक अपनी जमाराशियो का 5 प्रतिशत ही नगद-कोष के रूप मे रखते है, जबकि भारत जैसे देश मे व्यापारिक बैंको को अपनी जमाराशियो का 10 प्रतिशत तक नकद-कोष के रूप मे रखना पडता है। अतएव ब्रिटिश बैंको की तुलना मे भारतीय बैंको की साख-निर्माण-शक्ति कम होती है।

(4) **व्यापारिक बैंको को केन्द्रीय बैंक के पास रखी गयी जमाराशियां**—जैसा विदित है, प्रत्येक सम्बद्ध व्यापारिक बैंक को अपने माँग-निक्षेपो (demand liabilities) तथा समय-निक्षेपो (time liabilities) का कुछ निश्चित भाग प्रारक्षण कोष (cash reserves) के रूप मे केन्द्रीय बैंक के पास रखना पडता है। उदाहरणार्थ, सन् 1956 तक भारत मे व्यापारिक बैंको को अपने माँग-निक्षेपो का 5 प्रतिशत तथा समय निक्षेपो का 2 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास प्रारक्षण कोष के रूप मे रखना पडता था। लेकिन सन् 1956 के एक सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक यदि चाहे तो इन्हे क्रमश 8 तथा 20 प्रतिशत तक बढा सकता है। स्मरण रहे कि केन्द्रीय बैंक समय-समय पर बैंको द्वारा रखी जाने वाली जमाराशियो मे परिवर्तन करता रहता है। जब केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको द्वारा रखे जाने वाले कोषो मे वृद्धि कर देता है, तब उसी अनुपात मे व्यापारिक बैंको की साख-निर्माण-शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको द्वारा रखे जाने वाले कोषो का प्रतिशत कम कर देता है, तब उसी अनुपात मे उनकी साख-निर्माण शक्ति बढ जाती है। इसका कारण यह होता है कि केन्द्रीय बैंक के ऐसा करने से व्यापारिक बैंको के निक्षेपो मे वृद्धि हो जाती है। परिणामत उनकी साख-निर्माण-शक्ति बढ जाती है।

(5) **केन्द्रीय बैंक की साख-सम्बन्धी नीति**—बैंको की साख-निर्माण-शक्ति, केन्द्रीय बैंक की साख-सम्बन्धी नीति पर भी निर्भर करती है। यदि केन्द्रीय बैंक यह समझता है कि बैंको द्वारा साख का अत्यधिक निर्माण किया जा रहा है तो वह बैंक-दर नीति (bank rate policy) तथा खुले बाजार की क्रियाओ (open market operations) द्वारा इसे नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर को बढा देता है और खुले बाजार मे प्रतिभूतियो को बेचना शुरू कर देता है। इससे व्यापारिक बैंको की साख-निर्माण-शक्ति स्वत ही कम हो जाती है। इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि बाजार मे साख का अभाव है तो वह अपनी बैंक-दर को कम करके तथा खुले बाजार मे प्रतिभूतियो को खरीदकर, बैंको की साख-निर्माण-शक्ति को बढाने का प्रयत्न करता है।

(6) **जमाकर्ताओं की बैंक मे जमा करने की प्रवृत्ति**—यदि किसी देश मे लोग अपने अतिरिक्त धन को अधिकाधिक मात्रा मे बैंको मे जमा करते है तो इससे बैंको की जमाराशियां पर्याप्त मात्रा मे बढ जायेंगी। परिणामत बैंको की साख-निर्माण-शक्ति मे वृद्धि हो जायगी। इसके विपरीत, यदि जमाकर्ता बैंको मे रुपया जमा करना कम कर देते हैं, तब इससे बैंको के निक्षेपो मे कमी हो जायगी। परिणामत उनकी साख-निर्माण-शक्ति भी कम हो जायगी। अत बैंको की साख-निर्माण शक्ति जमाकर्ताओ की बैंको मे रुपया जमा करने की प्रवृत्ति से भी शासित होती है।

(7) **प्रतिभूतियो का स्वभाव** (Nature of Securities)—बैंको की साख-निर्माण-शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि बैंको से ऋण प्राप्त करने वाले व्यक्ति ऋण के लिए किस प्रकार की प्रतिभूतियां प्रस्तुत करते हैं। यदि वे ऋणो के बदले श्रेष्ठ प्रतिभूतियां प्रस्तुत करते हैं तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक अधिक मात्रा मे साख का सृजन कर सकते हैं। इसके विपरीत, यदि वे अच्छी प्रतिभूतियाँ प्रस्तुत नही करते तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक उन्हे अधिक मात्रा मे ऋण नही दे सकते। परिणामत उनकी साख-निर्माण-शक्ति सीमित हो जाती है।

बैंको का महत्व
(Importance of Banks)

जैसा पूर्व कहा जा चुका है, आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे बैंको का महत्वपूर्ण स्थान होता है। देश का उत्पादन, व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धे सभी बैंकिंग व्यवस्था पर केन्द्रित होते है। बैंको से प्राप्त होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं .

(1) **बैंक बचतों का संग्रह करते हैं**—यदि बैंक न होते तो लोगों की बचतें बिखरी पड़ी रहतीं तथा उद्योग एवं व्यापार के किसी काम न आतीं।

(2) **बैंक व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के लिए अर्थ-प्रबन्धन (finance) करते हैं**—कोई व्यवसायी अथवा उद्योगपति चाहे कितना ही धनी क्यों न हो, अपनी सभी व्यापार-सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता। इसलिए वह ऋण के लिए बैंकों पर ही निर्भर रहता है। अतः बैंक देश के *आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते हैं।*

(3) **बैंक बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत लाते हैं**—बैंकों द्वारा चैकों तथा अन्य साख-पत्रों के प्रयोग के फलस्वरूप बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में बचत होती है।

(4) **मुद्रा को स्थानान्तरित करने में बैंक सहायता देते हैं**—देश के आर्थिक विकास के लिए मुद्रा का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होना अत्यन्त आवश्यक होता है। बैंक सुगमता से तथा कम व्यय पर मुद्रा को स्थानान्तरित करते हैं।

(5) **मुद्रा-प्रणाली में लोच**—जैसा ऊपर कहा गया है आजकल अधिकांश देशों में मुद्रा का निर्गमन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। परन्तु 19वीं शताब्दी में मुद्रा का निर्गमन *प्राय* देश की सरकार द्वारा ही किया जाता था। इससे मुद्रा प्रणाली में पर्याप्त लोच का अभाव रहता था, क्योंकि सरकार बैंकों की तरह देश की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं से भलीभाँति परिचित नहीं होती थी। परन्तु जब से मुद्रा का निर्गमन केन्द्रीय बैंक द्वारा होने लगा है, तब से देश की मुद्रा-प्रणाली अधिक लोचपूर्ण हो गयी है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करता रहता है।

(6) **बैंक कीमतों में स्थिरता लाने में सहायक होते हैं**—साख-सृजन को उचित रूप से नियन्त्रित करके बैंक प्रणाली कीमत स्तर में होने वाले भारी उतार-चढ़ाव को दृढ़तापूर्वक रोक सकती है। निस्सन्देह बैंकों द्वारा की गयी यह सेवा देश के लिए अमूल्य है।

(7) **बैंक अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए अर्थ-प्रबन्धन करते हैं**—बैंक विदेशी विनिमय-बिलों के डिस्काउण्टिंग से देश के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन (finance) करते हैं।

(8) **भुगतान करने की सुविधा**—बैंकों की सहायता से बड़े-बड़े भुगतानों को *करना आसान* हो जाता है। यदि बैंक न होते तो बड़े भुगतानों को करने में बड़ी असुविधा रहती, किन्तु बैंकों ने चैकों की व्यवस्था करके इस कठिनाई को दूर कर दिया है। अब बड़े भुगतान चैकों के माध्यम से किये जा सकते हैं।

(9) **बैंकिंग प्रवृत्ति की जागृति**—बैंकों के सम्पर्क में आने से जनता में बैंकिंग आदत उत्पन्न हो जाती है। वह भुगतान आदि के लिए धातु-मुद्रा के स्थान पर चैकों का प्रयोग करने लगती है। इसमें वैध-मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है।

(10) **विविध सेवाएँ**—*विनिमय बिलों का संग्रह, अपने ग्राहकों की ओर से भुगतानों का* लेना व देना तथा मूल्यवान वस्तुओं का लॉकरों (lockers) में सुरक्षित रखना आदि बैंकों द्वारा की गयी अन्य महत्त्वपूर्ण सेवायें हैं।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **व्यापारिक बैंक के क्या कार्य हैं। देश के आर्थिक विकास में बैंक किस प्रकार सहायक हो सकता है?** (राजस्थान, 1971)

अथवा

आधुनिक बैंकिंग के विभिन्न कार्यों एवं सेवाओं का वर्णन कीजिए। (आगरा, 1974)

[संकेत—प्रथम भाग में, बैंक की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए इसके प्रमुख कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में, समाज को बैंकों से होने वाले लाभों की चर्चा कीजिए।]

2. **"बैंक केवल मुद्रा व्यापारी ही नहीं, वे एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में मुद्रा-उत्पादक भी हैं।" (सेयर्स) इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।** (राजस्थान, 1964)

[संकेत—प्रो० सेयर्स (Sayers) के उद्धरण की व्याख्या करते हुए बैंक के प्रमुख कार्यों की चर्चा कीजिए। यहाँ पर स्पष्ट कीजिए कि बैंक का कार्य केवल निक्षेप स्वीकार करना

तथा ऋण प्रदान करना ही नहीं है, बल्कि इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य साख-मुद्रा का निर्माण करना होता है। यहाँ पर संक्षेप में यह बताइये कि बैंक साख-मुद्रा का निर्माण कैसे करता है। अन्त में, प्रो० सेयर्स की इस परिभाषा का समर्थन करते हुए यह बताइए कि, वास्तव में, बैंक की यही उचित परिभाषा है।]

3 **साख क्या है? व्यापारिक बैंक साख का निर्माण किस प्रकार करते हैं?**

(सागर, 1961, राजस्थान, 1968)

अथवा

साख-निर्माण की सीमाओं को पूर्णतया समझाइए। (जीवाजी, ग्वालियर, 1971)

अथवा

व्यापारिक बैंक साख का निर्माण कैसे करता है? क्या बैंक की साख-निर्माण शक्ति असीमित है? (आगरा, 1975)

[संकेत—प्रथम भाग में, साख की परिभाषा देते हुए इसके अर्थ की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में, यह बताइए कि बैंक किन-किन विधियों से साख का निर्माण करता है। अन्त में, बैंक की साख-निर्माण-शक्ति की परिसीमाओं का भी संक्षेप में उल्लेख कीजिए।]

4 **"ऋण जमा के जन्मदाता हैं और जमा ऋण की जन्मदात्री होती है।" समझाइए।**

(विक्रम, 1971)

[संकेत यहाँ पर आपको यह स्पष्ट करना है कि बैंक अपनी जमा (निक्षेपों) से ही ऋण देता है और आगे चलकर इन ऋणों के परिणामस्वरूप ही बैंक की जमाराशियाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दों में, आपको यहाँ पर विस्तारपूर्वक यह बताना है कि बैंक साख का निर्माण कैसे करता है।]

11

आधुनिक बैंकों के विभिन्न रूप
(Types of Modern Banks)

बैंकों का वर्गीकरण
(Classification of Banks)

बैंको का वर्गीकरण प्राय उनके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों के आधार पर किया जाता है। आधुनिक बैंको के विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं

(1) **व्यापारिक बैंक** (*Commercial Banks*) – व्यापारिक बैंक प्राय व्यापार का ही अर्थ-प्रबन्धन (finance) करते हैं, अर्थात् ये बैंक केवल व्यापारियो तथा व्यवसायियो को ही अल्पकालीन ऋण देते हैं। चूंकि इन बैंको मे निक्षेप (deposits) अल्पकालीन होते हैं, इसलिए ये बैंक केवल अल्पकाल के लिए ही ऋण देते हैं। साधारणत ये बैंक 3 से लेकर 6 महीने तक की अवधि के लिए ही ऋण देते हैं। इसका कारण, जैसा ऊपर कहा गया है, यह है, कि इन बैंको के पास जमा की हुई राशियां केवल थोडे समय के लिये ही होती हैं। अत ये बैंक उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण देने की स्थिति मे नही होते। भारत के अधिकाश सयुक्त पूंजी बैंक व्यापारिक बैंक ही है। कुछ व्यापारिक बैंक विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन मे भी थोडा-सा भाग लेते हैं। इन बैंको के मुख्य कार्यों की विवेचना पिछले अध्याय मे की जा चुकी है।

(2) **औद्योगिक बैंक** (*Industrial Banks*)—औद्योगिक बैंक वे बैंक होते हैं जो उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं। स्मरण रहे, दीर्घकालीन अर्थ-प्रबन्धन इन बैंको की विशेषता होती है। इसके अतिरिक्त, ये बैंक बडी-बडी औद्योगिक फर्मों को उनके ऋणपत्रो (*debentures*), *बौण्ड्स तथा अशो आदि को बिकवाने मे सहायता करते हैं और* कभी-कभी उनके ऋणपत्रो की हामी (underwriting) भी भरते हैं।

औद्योगिक बैंको की आवश्यकता इसलिए पडती है, क्योकि व्यापारिक बैंक उद्योग-धन्धो की दीर्घकालीन आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ होते हैं। जैसे विदित है, उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋणो की आवश्यकता पडती है। परन्तु व्यापारिक बैंक अपने अल्पकालीन निक्षेपो के कारण दीर्घकालीन ऋण देने की स्थिति मे नही होते। अत एक ऐसे प्रकार के बैंको की आवश्यकता पडती है जो उद्योग-धन्धो की दीर्घकालीन आवश्यकताओ को पूरा कर सकें। औद्योगिक बैंक उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण देने की स्थिति मे होते हैं। साधारणत इन बैंको के तीन मुख्य कार्य होते हैं –(क) **दीर्घकालीन निक्षेप** (Long-term deposits) **स्वीकार करना**—चूंकि *अधिकाश औद्योगिक बैंक दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते है, अत वे लोगो से केवल दीर्घकालीन* निक्षेप ही स्वीकार करते हैं, (ख) **उद्योगो को साख-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना**—जैसा विदित है, उद्योग-धन्धो की साख-सम्बन्धी आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं, प्रथम, भूमि क्रय करने, फैक्टरी का निर्माण करने तथा भारी मशीनो को खरीदने के लिए उन्हे पूंजी की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार की आवश्यकता के लिए उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋणो की जरूरत पडती है। दूसरे, उद्योग-धन्धो को कच्चा माल खरीदने तथा श्रमिको को मजदूरी चुकाने के लिए

अल्पकालीन ऋणो की आवश्यकता पडती है। अल्पकालीन ऋण उद्योग-धन्धो को व्यापारिक बैंको द्वारा भी दिये जाते हैं। परन्तु दीर्घकालीन ऋणो के लिए उन्हे औद्योगिक बैंको पर ही निर्भर रहना पडता है, (ग) अन्य कार्य—औद्योगिक बैंक बडी-बडी फर्मों को अंशो (shares) तथा ऋण-पत्रो के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध मे परामर्श भी देते है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक बैंको का देश की आर्थिक स्थिति से घनिष्ठ परिचय होता है और वे औद्योगिक फर्मों को उचित परामर्श देने की स्थिति मे होते हैं।

पश्चिमी देशो मे औद्योगिक बैंको का बडा महत्त्व है। उदाहरणार्थ, अमरीका तथा जर्मनी के अधिकाश बैंक औद्योगिक बैंक ही हैं। परन्तु भारत मे औद्योगिक बैंको का सर्वथा अभाव रहा है। भारत मे कुछ वर्ष पूर्व टाटा औद्योगिक बैंक स्थापित किया गया था, परन्तु यह बैंक अपने उद्देश्य मे सफल नही हो सका। गत कुछ वर्षो मे सरकार ने औद्योगिक बैंको के इस अभाव को दूर करने के लिए औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) तथा राज्य वित्त निगम (State Finance Corporations) की स्थापना की है। इन निगमो से उद्योग-धन्धो को काफी वित्तीय सहायता मिल रही है।

(3) **कृषि बैंक (Agricultural Banks)**—जैसा स्पष्ट है, कृषि-व्यवसाय, व्यापार तथा उद्योग-धन्धो से काफी भिन्न होता है। इसकी ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ व्यापार तथा उद्योग-धन्धो की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओ से भिन्न होती है। अतएव व्यापारिक बैंक तथा औद्योगिक बैंक कृषि की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ होते हैं। इस प्रकार कृषि के अर्थ-प्रबन्धन (finance) के लिए एक विशेष प्रकार के बैंको की आवश्यकता पडती है।

किसानो की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं **प्रथम**, किसानो को बीज, खाद, हल आदि खरीदने के लिए अल्पकालीन ऋणो की आवश्यकता पडती है। **द्वितीय**, किसानो को भूमि का क्रय करने तथा उस पर स्थायी सुधार करने, सिंचाई की व्यवस्था करने तथा भारी यन्त्रो को खरीदने आदि के लिए दीर्घकालीन ऋणो की आवश्यकता पडती है। किसानो की अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार कृषि-बैंक दो प्रकार के होते है **प्रथम**, कृषि सहकारी बैंक (Agricultural Co-operative Bank) जो किसानो की अल्पकालीन साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करते हैं। **द्वितीय**, भूमि-विकास बैंक (Land Development Banks), जो किसानो की दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं।

(क) कृषि सहकारी बैंक (Agricultural Co-operative Banks)—जैसा ऊपर कहा गया है, सहकारी बैंक किसानो की केवल अल्पकालीन ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओ को ही पूरा करते है। भारत मे सहकारी बैंको की रचना इस प्रकार की गयी है। सबसे नीचे स्तर पर गाँव की सहकारी साख समिति (Village Co-operative Credit Society) होती है। गाँव के 10 अथवा 10 से अधिक व्यक्ति मिलकर सहकारी साख समिति स्थापित कर सकते हैं। इस समिति की पूँजी, प्रवेश शुल्को (entrance fees) अशो की बिक्री, जनता तथा सदस्यो द्वारा जमा किये गये निक्षेपो, सुरक्षित कोषो (reserve funds), केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंको से लिए हुए ऋणो से प्राप्त होती है। आवश्यकता पडने पर समिति के सदस्य इससे अल्पकालीन ऋण प्राप्त कर सकते है। इन समितियो के ऊपर सहकारी सघ (Co operative Unions) होते है और ये सहकारी समितियाँ उन सघो से सम्बद्ध होती हैं। आवश्यकता पडने पर समितियाँ सहकारी सघो से ऋण प्राप्त कर सकती हैं। इन सहकारी सघो के ऊपर केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) होते हैं, जो आवश्यकता पडने पर सहकारी संघो को ऋण प्रदान करते है। साधारणत प्रत्येक जिले मे एक जिला केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है। इन केन्द्रीय बंको के ऊपर राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Bank) होता है जो इनकी ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करता है। अन्त मे, इन राज्य सहकारी बैंको के ऊपर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का कृषि साख विभाग होता है जो आवश्यकता पडने पर राज्य सहकारी बैंको को ऋण प्रदान करता है। परन्तु स्मरण रहे कि भारत मे सहकारी बैंको को कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हो सकी है, यद्यपि भारत मे सहकारी आन्दोलन लगभग 72 वर्ष पुराना हो चुका है।

(ख) भूमि-विकास बैंक (Land Development Banks)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है,

भूमि-विकास बैंक किसानो की दीर्घकालीन ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करते हैं। ये बैंक प्राय 5 से लेकर 25 वर्ष तक की अवधि के लिए किसानो को ऋण देते हैं और ये ऋण किसानो की भूमि को बन्धक (mortgage) के रूप मे रखकर दिये जाते हैं। इन ऋणो का भुगतान प्राय आसान किस्तो मे किया जाता है जो एक निश्चित समय के पश्चात ही आरम्भ होती है। भारत मे भूमि-विकास बैंको को सहकारिता के आधार पर सगठित किया गया है। परन्तु दुर्भाग्यवश, इन बैंको को भी सफलता प्राप्त नही हुई है।

(4) **विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)**—वे बैंक एक विशेष प्रकार के बैंक होते हैं जो केवल विदेशी व्यापार का ही अर्थ-प्रबन्धन (finance) करते हैं। इनका मुख्य कार्य विदेशी विनिमय-बिलो के क्रय-विक्रय द्वारा अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो को करना होता है। जैसा विदित है, किसी देश के निर्यातकर्ता अपने माल का भुगतान अपने ही देश की मुद्रा के रूप मे स्वीकार करते हैं। अत एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने की समस्या उत्पन्न होती है। विदेशी विनिमय बैंक इसी समस्या का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् वे एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे परिवर्तित करते हैं। इसी कारण इन बैंको को अपने पास विभिन्न देशो की मुद्राएँ रखनी पड़ती हैं और साथ ही साथ इनको कई दशो मे अपनी शाखाएँ भी खोलनी पड़ती हैं। इन बैंको की कार्यविधि इस प्रकार है—जब किसी विनिमय बैंक की एक देश की शाखा विनिमय-बिल खरीदती है, और उस विनिमय-बिल की कीमत उस देश की मुद्रा मे चुकाती है, तब वह शाखा उस बिल को विदेश मे स्थित अपनी शाखा को भेजती है और विदेश की वह शाखा अदार्यी (drawee) से उस बिल में उल्लिखित रकम को विदेशी मुद्रा मे वसूल कर लेती है। इस प्रकार विभिन्न देशो मे मुद्रा का स्थानान्तरण नही होता और मुद्रा के बिना सुगमता-पूर्वक अन्तरराष्ट्रीय भुगतान होते हैं। इसके अतिरिक्त, ये बैंक अन्तरराष्ट्रीय ऋणो का भुगतान, प्रतिभूतियो का आयात निर्यात तथा अग्रिम विनिमय (forward exchange) व्यापार के कार्य भी करते हैं। ये बैंक विदेशी विनिमय-दरो मे होने वाले भारी उतार चढ़ाव को भी रोकते हैं और इस प्रकार व्यापारियो को अनिश्चितता के कारण उत्पन्न होने वाले जोखिम (risk) से बचाते हैं।

दुर्भाग्यवश, भारत के लगभग सभी विदेशी विनिमय बैंको पर विदेशियो का ही आधिपत्य है। ब्रिटिश शासनकाल मे तो इन बैंको का विदेशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन मे पूर्ण एकाधिकार था, परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त इनका उक्त एकाधिकार समाप्त कर दिया गया है। अब भारत के कुछ व्यापारिक बैंक भी विदेशी विनिमय का व्यवसाय करते हैं, परन्तु इसके बावजूद विदेशी विनिमय बैंक हमारे विदेशी व्यापार पर छाये हुए हैं।

(5) **केन्द्रीय बैंक (Central Banks)**—केन्द्रीय बैंक देश का राष्ट्रीय बैंक होता है। यह बैंक अन्य बैंको से भिन्न होता है। इसकी दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं प्रथम, इस बैंक के पास कागजी मुद्रा के निर्गमन का पूर्ण एकाधिकार होता है। द्वितीय, यह बैंक जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय (direct business) नही करता, अर्थात् अन्य व्यापारिक बैंको से इसकी कोई प्रतियोगिता नहीं होती। केन्द्रीय बैंक के मुख्य मुख्य कार्यों का विस्तारपूर्वक अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। परन्तु यहाँ पर, केन्द्रीय बैंक के कार्यों को केवल संक्षिप्त रूप मे ही बताया जायगा। केन्द्रीय बैंको के मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार है

(1) केन्द्रीय बैंक सरकार का बैंकर (government banker) होता है। यह सरकार के सभी प्रकार के खातो का हिसाब-किताब रखता है और सरकार द्वारा माँग करने पर उसे ऋण भी प्रदान करता है।

(2) यह बैंक सरकार को आर्थिक, राजकोषीय तथा मौद्रिक विषयो पर परामर्श भी देता है और इस उद्देश्य के लिए यह बैंक सभी प्रकार के आर्थिक आँकडो तथा तथ्यो का सकलन करके उन्हे प्रकाशित भी करता है।

(3) यह बैंक देश की समूची बैंकिंग प्रणाली पर अपना नियन्त्रण भी रखता है और समय-समय पर सम्बद्ध बैंको (affiliated banks) के काम का निरीक्षण भी करता है।

(5) यह बैंको का बैंक (Banker's bank) होता है। अर्थात् आवश्यकता पडने पर सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक से ऋण भी ले सकते हैं।

व्यापारिक बकों के संगठन की रीतियाँ
(Methods of Organising Commercial Banks)

व्यापारिक बैंकिंग प्रथा के वैसे तो कई रूप होते है, परन्तु इन्हे साधारणत दो मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(i) शाखा बैंकिंग, (ii) इकाई बैंकिंग।

(i) **शाखा बैंकिंग (Branch Banking)**—शाखा बैंकिंग-प्रणाली के अन्तर्गत, बैंक का मुख्य कार्यालय किसी बड़े नगर मे स्थित होता है और उसकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागो मे फैली रहती हैं, इसलिए इसको *शाखा बैंकिंग* कहते हैं। इस प्रकार की बैंकिंग ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, कनाडा आदि देशो मे पायी जाती है। भारत मे भी शाखा बैंकिंग प्रणाली का ही प्रचलन है। भारत में अनेक बड़े-बड़े बैंक है जिनकी शाखाएँ देश के सभी राज्यो मे फैली हुई है।

शाखा बैंकिंग के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं

(1) **बड़े पैमाने पर विशेषज्ञता तथा श्रम-विभाजन के लाभ**—शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंको का आकार बहुत बड़ा होता है। परिणामत उनके आर्थिक साधन भी विशाल होते हैं। इस प्रकार वे विशेषज्ञता (specialisation) तथा श्रम विभाजन के सभी लाभो को प्राप्त कर सकते हैं। प्रशिक्षित कर्मचारियो तथा योग्य अधिकारियो की सेवाएँ भी प्राप्त कर सकते हैं।

(2) **जोखिम का भौगोलिक वितरण**—शाखा बैंकिंग का एक गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत जोखिम (risk) का अश भौगोलिक आधार पर स्वत ही वितरित हो जाता है। जैसा विदित है, एक बड़े बैंक की अनेक शाखाएँ होती हैं और उनके द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रो मे अलग-अलग रूप से बैंक के निक्षेपो का निवेश (investment) किया जाता है। ऐसा करने से बैंक के जोखिम का अश विभिन्न क्षेत्रो मे स्वत ही बँट जाता है। यदि देश के किसी भाग मे मन्दी फैल जाती है और उसके कारण बैंक को आर्थिक हानि होती है तो बैंक इस प्रकार की हानि की क्षति-पूर्ति करने के लिए देश के अन्य भागो मे अपना व्यवसाय बढा सकता है। परन्तु इकाई बैंकिंग-प्रथा के अन्तर्गत जोखिम का क्षेत्रीय वितरण सम्भव नही हो सकता।

(3) **मुद्रा के हस्तान्तरण मे सुविधाएँ**—चूँकि शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत बैंक की शाखाएँ देश के सभी हिस्सो मे फैली हुई होती हैं, इसलिए मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना सरल तथा सस्ता पड़ता है। परन्तु इकाई बैंको को यह सुविधा उपलब्ध नही होती।

(4) **नकद-कोषो मे बचत**—शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत, नकद-कोषो मे काफी बचत की जा सकती है। बैंक की शाखाएँ थोड़ी मात्रा मे ही नकद कोष रखकर अपना काम चला सकती हैं और यदि आवश्यकता पड़ती है तो वे अपनी अन्य शाखाओ से नकदी मँगा सकती हैं, परन्तु यह सुविधा इकाई बैंको को उपलब्ध नही होती।

(5) **ब्याज की दरो मे समानता**—शाखा बैंकिंग के कारण मुद्रा-बाजार मे ब्याज की दरो मे समानता स्थापित हो जाती है। यदि किसी समय देश के किसी भाग मे मुद्रा की माँग बढ जाती है और उसके परिणामस्वरूप वहाँ पर ब्याज की दर बढ जाती है तो शाखा बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपनी अन्य शाखाओ से उस शाखा को अतिरिक्त मुद्रा स्थानान्तरित कर सकता है, जहाँ पर मुद्रा की माँग अधिक होती है। इस प्रकार वहाँ पर ब्याज की दर को बढने से रोका जा सकता है।

(6) **पूँजी का समुचित उपयोग**—शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत बैंक अपनी पूँजी का सही ढग से उपयोग कर सकता है। यदि किसी शाखा के पास पर्याप्त मात्रा मे निक्षेप हैं परन्तु उसे निवेश (investment) के अवसर प्राप्त नही हैं तो वह शाखा अपनी अतिरिक्त धनराशि को आसानी से दूसरी शाखाओ को भेज सकती है, जहाँ उस धनराशि के निवेश के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हैं।

(7) **बैंकिंग सुविधाओं मे वृद्धि**—इस प्रणाली द्वारा देश के सभी नगरो, छोटे-छोटे कस्बो, पिछड़े हुए क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध की जा सकती हैं। इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत छोटे-छोटे कस्बो तथा अविकसित क्षेत्रो मे बैंक स्थापित करना आर्थिक दृष्टि से असम्भव-सा होता है।

(8) **कर्मचारियों तथा अधिकारियों का प्रशिक्षण**—चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक का

काम बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिए बैंक के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को बैंकिंग व्यवसाय के सभी पहलुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है।

(9) बैंक का देश के सभी भागों से सम्पर्क—इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक का देश के सभी भागों से सम्पर्क बना रहता है और इसके आधार पर बैंक को देश के सभी क्षेत्रों के बारे में सही व विश्वसनीय जानकारी प्राप्त होती रहती है। इससे बैंक को पूँजी का निवेश करने में सुविधा रहती है।

शाखा बैंकिंग के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण की कठिनाइयाँ—चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक की सैकड़ों शाखाएँ होती हैं इसलिए बैंक के प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रणाली के अधीन बैंक का प्रबन्ध मुख्य कार्यालय में केन्द्रित हो जाता है। प्रत्येक शाखा को छोटी छोटी बातों पर भी मुख्य कार्यालय से आदेश प्राप्त करने पड़ते हैं जिससे बैंक के काम में अनावश्यक देरी हो जाती है।

(2) प्रारम्भण (पहल) प्रेरणा का अभाव (Lack of Initiative)—इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक की विभिन्न शाखाओं में प्रारम्भण प्रेरणा का पूर्ण अभाव रहता है। कोई भी शाखा प्रधान कार्यालय के परामर्श के बिना मुख्य समस्याओं पर कोई निर्णय नहीं ले सकती। परिणामत बैंक की शाखाएँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बैंकिंग कार्य चलाने में असमर्थ रहती हैं। इस प्रकार इस प्रणाली में लोच का प्राय अभाव ही रहता है।

(3) आर्थिक एकाधिकार की सम्भावना—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में आर्थिक एकाधिकार के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसका कारण यह है कि बैंक की सभी शाखाओं का नियन्त्रण मुख्य कार्यालय में ही केन्द्रित रहता है और कुछ ही अधिकारी बैंक की समूची कार्यविधि पर छाये रहते हैं। इस प्रकार देश में आर्थिक एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है जो देश की समृद्धि के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

(4) इस प्रणाली के अधीन हानिप्रद शाखाएँ भी जीवित रहती हैं—इस प्रणाली के अन्तर्गत दुर्बल तथा हानिप्रद शाखाएँ भी प्रतिपोषित होती रहती है। इसके विपरीत इकाई बैंकिंग के अन्तर्गत यदि कोई बैंक हानिप्रद हो जाता है तो कुछ समय पश्चात वह स्वत ही बन्द हो जाता है। परन्तु शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत दुर्बल तथा हानिप्रद शाखाएँ सुदृढ तथा लाभदायक शाखाओं के बल पर जीवित बनी रहती हैं।

(5) बैंकों में अनावश्यक प्रतियोगिता—शाखा बैंकिंग का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत, बैंकों में अस्वस्थ प्रकार की प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है। प्राय देखा जाता है कि एक ही स्थान पर विभिन्न बैंकों की शाखाएँ खोली जाती है जिनसे उनमें आपसी प्रतियोगिता आरम्भ हो जाती है। प्रतियोगी बैंकों की शाखाएँ ग्राहकों को अपनी अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कई प्रकार के प्रलोभन तथा सुविधाएँ देती हैं जिससे बैंकिंग के व्यय में वृद्धि होती है और अन्तत बैंकों को हानि होने लगती है।

(6) बैंकिंग सुविधाओं का दोहराव (Duplication of Banking Facilities)—जब एक ही स्थान पर विभिन्न बैंकों की शाखाएँ खुल जाती हैं तो इससे बैंकिंग सुविधाओं का अनावश्यक दोहराव हो जाता है जिससे बैंकों को हानि होने लगती है।

(7) यह प्रणाली खर्चीली है—जब किसी बैंक की अनेक शाखाएँ खुल जाती हैं तो उनके कार्यों में परस्पर समन्वय (co-ordination) स्थापित करने के लिए विस्तृत प्रबन्ध व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे बैंकिंग-व्यय बढ़ जाता है जो बैंकों के हित में नहीं होता।

(8) छोटे स्थानों की पूँजी बड़े स्थानों को चली जाती है—इस प्रणाली के अन्तर्गत, देश के छोटे तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों की पूँजी एकत्रित करके बड़े-बड़े औद्योगिक तथा व्यावसायिक केन्द्रों में पहुँचा दी जाती है। इसका कारण यह है कि बैंक बड़े बड़े केन्द्रों में पूँजी का निवेश करना अधिक लाभपूर्ण समझते हैं। इससे छोटे तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों का आर्थिक विकास नहीं हो पाता और वे अपनी बचतों के विकासात्मक प्रयोग से वंचित रह जाते हैं।

(9) **कुछ शाखाओं में होने वाली हानि का प्रभाव अन्य शाखाओं पर पड़ता है**—जब किसी कारणवश बैंक को कुछ शाखाओं को आर्थिक हानि होती है तो इसका प्रभाव बैंक की अन्य शाखाओं पर पड़ता है।

(10) **विदेशों में कठिनाइयाँ**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, जब बैंक विदेशों में अपनी शाखाएँ खोलता है तब उसे कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि विदेशों के बैंकिंग कानून, व्यापारिक परिस्थितियाँ, मौद्रिक तथा साख-पद्धतियाँ अलग-अलग होती हैं। इसके अतिरिक्त, बैंक को विदेशी सरकारों द्वारा अपनी शाखाओं के राष्ट्रीयकरण का भी सदैव भय बना रहता है।

(ii) **इकाई बैंकिंग (Unit Banking)**—इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत, प्रत्येक बैंक का केवल एक ही कार्यालय होता है और कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर अन्य स्थानों पर बैंक की शाखाएँ नहीं होतीं। प्रो० कैण्ट के शब्दों में, "इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत, प्रत्येक स्थानीय बैंक एक पृथक निगम होता है जिसका पृथक पंजीकरण होता है और जिसकी अपनी पूँजी, संचालन बोर्ड तथा अंशधारी होते हैं।" इकाई बैंकिंग प्रणाली अमरीका में अत्यन्त लोकप्रिय रही है। वहाँ पर बड़े-बड़े बैंक विभिन्न नगरों में शाखाएँ नहीं खोलते, बल्कि वहाँ पर तो हजारों की संख्या में विभिन्न नगरों में छोटे-छोटे बैंक होते हैं और ये बैंक सभी प्रकार के बैंकिंग कार्यों को सम्पन्न करते हैं। इकाई बैंकिंग प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत, अधिकारियों तथा कर्मचारियों की प्रारम्भण (initiative) शक्ति के विकसित होने के पर्याप्त अवसर होते हैं। वास्तव में, किसी विशेष नगर में स्थापित किये गये बैंक का स्वामित्व तथा नियन्त्रण स्थानीय व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए, क्योंकि वे ही वहाँ की स्थानीय आर्थिक परिस्थितियों से परिचित होते हैं। इस दृष्टिकोण से इकाई बैंकिंग प्रणाली आदर्श प्रणाली है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत, प्रत्येक बैंक की पूँजी तथा व्यवसाय सीमित होता है। अमरीका में इस प्रकार के इकाई बैंक अपने नकद-कोष को पास के किसी बड़े नगर के बैंक में जमा करा देते हैं। उन्हें करैसपौण्डैण्ट बैंक (**correspondent bank**) कहते हैं और इन्हीं के माध्यम से मुद्रा का स्थानान्तरण किया जाता है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली के लाभ—इसके लाभ निम्नलिखित हैं

(1) **प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण में सुविधा**—चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंक का आकार छोटा होता है, इसलिए उसका प्रबन्ध, निरीक्षण तथा नियन्त्रण समुचित ढंग से किया जा सकता है और इसके साथ ही साथ प्रबन्ध में होने वाले अपव्यय को भी समाप्त किया जा सकता है।

(2) **अकुशल बैंक जीवित नहीं रह सकते**—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत, दुर्बल तथा हानिप्रद शाखाएँ सुदृढ़ तथा लाभदायक शाखाओं के बल पर जीवित बनी रहती हैं। परन्तु इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई बैंक आर्थिक दृष्टि से दुर्बल तथा अकुशल है तो थोड़े समय के पश्चात वह स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

(3) **एकाधिकारी संस्थाओं के निर्माण पर रोक**—इकाई बैंकिंग प्रणाली में केवल छोटे-छोटे बैंक होते हैं। बड़े-बड़े बैंकों का सर्वथा पूर्ण अभाव होता है। इसलिए इस प्रणाली में एकाधिकारी संस्थाओं के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना नहीं होती।

(4) **बैंक-कार्य में विलम्ब नहीं होता**—इकाई बैंकिंग प्रणाली का एक गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत बैंकिंग कार्य में किसी प्रकार का विलम्ब नहीं होता क्योंकि बैंक को अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य में मुख्य कार्यालय से आदेश प्राप्त नहीं करने पड़ते। बैंक के स्थानीय अधिकारी विभिन्न समस्याओं पर स्वयं ही निर्णय ले सकने में समर्थ होते हैं।

(5) **व्यवसाय में प्रारम्भण प्रेरणा**—चूँकि इकाई बैंकिंग प्रणाली के अधीन बैंक के अधिकारी स्थानीय समस्याओं से भलीभाँति परिचित होते हैं, इसलिए वे प्रारम्भण प्रेरणा से कार्य कर सकते हैं। परिणामतः बैंकिंग व्यवस्था में लोच का अंश उत्पन्न हो जाता है।

(6) **इस प्रणाली में स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जा सकता है**—चूँकि इस प्रणाली के अधीन बैंक के अधिकारियों को स्थानीय आर्थिक आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान होता है

इसलिए वे स्थानीय विकास की उपेक्षा नही कर सकते। इसके विपरीत, शाखा बैंकिंग प्रणाली मे स्थानीय विकास की साधारणत उपेक्षा की जा सकती है।

(7) **यह प्रणाली स्वतन्त्र व्यवसाय के अनुकूल होती है**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, निजी व्यवसाय को विकसित होने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **श्रम-विभाजन तथा विशेषज्ञता का अभाव**—चूंकि इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंको का आकार छोटा होता है तथा उनके आर्थिक साधन सीमित होते हैं, इसलिए उनमे श्रम-विभाजन तथा विशेषज्ञता का प्रयोग नही किया जा सकता। परिणामत वे इनके लाभो से वंचित रहते हैं।

(2) **जोखिम का भौगोलिक वितरण नहीं हो पाता**—शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत बैंको का व्यावसायिक जोखिम विभिन्न क्षेत्रो तथा उद्योगो पर फैला हुआ होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत देश के विभिन्न क्षेत्रो मे बैंको की अनेक शाखाएँ होती हैं और उन शाखाओ द्वारा विभिन्न क्षेत्रो तथा व्यवसायो मे बैंक के निक्षेपो का निवेश किया जाता है। इससे व्यावसायिक जोखिम का वितरण सम्भव नही हो सकता, क्योकि बैंक केवल एक ही स्थान पर केन्द्रित होता है। दुर्भाग्यवश, यदि उस स्थान पर व्यावसायिक मन्दी छा जाती है तो इससे बैंक को बहुत हानि और उसके फेल हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

(3) **पूँजी का स्थानान्तरण अधिक व्ययपूर्ण एवं असुविधाजनक हो जाता है**—चूंकि इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंक को स्थान-स्थान पर अपनी निजी शाखायें नही होती, इसलिए पूँजी के स्थानान्तरण के लिए उस करैसपोण्डेण्ट बैंका की आवश्यकता पडती है। इससे पूँजी का स्थानान्तरण अधिक खर्चीला तथा असुविधाजनक हो जाता है।

(4) **विभिन्न क्षेत्रो मे ब्याज की असमानता**—चूंकि इस प्रणाली मे पूँजी के स्थानान्तरण की कोई मितव्ययी तथा सुविधाजनक व्यवस्था नहीं होती, इसलिए देश के विभिन्न क्षेत्रो मे ब्याज की दरो मे असमानता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ देश के बडे-बडे औद्योगिक तथा व्यावसायिक केन्द्रो मे तो ब्याज की दर कम हो जाती है परन्तु पिछडे हुए तथा अल्प-विकसित क्षेत्रो मे ब्याज की दर अधिक हो जाती है। इससे देश के पिछडे हुए क्षेत्रो के आर्थिक विकास मे बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है।

(5) **बैंकिंग का छोटे-छोटे नगरो तथा कस्बो मे विकास नहीं हो पाता**—शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत एक बडा बैंक आर्थिक हानि उठाकर भी छोटे-छोटे नगरो तथा कस्बो मे शाखाएँ खोल सकता है। परन्तु इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंक ऐसा कर सकने मे असमर्थ रहते हैं। इसका कारण यह है कि उनके आर्थिक साधन पहले से ही सीमित होते हैं। अत वे आर्थिक हानि उठाकर छोटे-छोटे नगरो तथा कस्बो मे शाखाएँ नही खोल सकते हैं।

(6) **बैंकिंग कार्य मे कुशलता का अभाव**—चूंकि इकाई बैंकिंग प्रणाली मे बैंको का आकार बहुत छोटा होता है, इसलिए वे बैंकिंग कार्यविधि के दिनाप्त (up-to-date) तथा नवीनतम उपायो को नही अपना सकते, जिससे उनकी कार्यकुशलता निम्न-स्तर की होती है।

(7) **आर्थिक सकटो का सामना करने मे असमर्थता**—इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंको का आकार छोटा होता है और उनके आर्थिक साधन भी सीमित होते हैं। अत वे आर्थिक सकटो का सामना करने मे असमर्थ रहते है। यही कारण है कि सन् 1929 की महामन्दी के दौरान अमरीका के सैंकडो बैंक फेल हो गये थे।

इकाई बंको के दोषो को कैसे दूर किया गया है?—इकाई बैंकिंग के उक्त दोषो को अमरीका मे दूर व कम करने के कई प्रयत्न किय गये हैं। वे इस प्रकार हैं

(1) **नयी शाखाएँ स्थापित करने का अधिकार**—अमरीका मे इकाई बैंको को अपने आस-पास के क्षेत्र मे नयी शाखाएँ स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है ताकि उनके व्यवसाय मे वृद्धि हो सके और वे अधिक लाभ कमा सकें।

(2) **शृंखलाकारी बैंकिंग प्रणाली को प्रोत्साहन**—इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषो को दूर करने के लिए अमरीकी बैंकरो ने शृंखलाकारी बैंकिंग प्रणाली (chain banking system) का आश्रय लिया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत, एक ही व्यक्ति या व्यक्तियो का समूह एक साथ कई बैंको पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है। यद्यपि ये बैंक अलग-अलग ही रहते हैं, परन्तु उनका स्वामित्व एक व्यक्ति या समूह के हाथो मे आ जाता है। इससे विभिन्न बैंको की नीतियो मे समन्वय स्थापित करने मे सुविधा रहती है।

(3) **करेसपोण्डेण्ट बैंको का निर्माण**—इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए अमरीका मे करेसपोण्डेण्ट बैंक्स (correspondent banks) को भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। जैसा पूर्व बताया जा चुका है, अमरीका के छोटे-छोटे इकाई बैंक अपनी अतिरिक्त जमा-राशियाँ पास के स्थित करेसपोण्डेण्ट बैंक्स मे जमा करवा देते हैं और उनसे आर्थिक तथा व्यावसायिक विषयो पर परामर्श भी लेते हैं। पूंजी के स्थानान्तरण में भी इन बैंको की सहायता ली जाती है और आवश्यकता पडने पर इनसे ऋण भी लिये जाते हैं। इस प्रकार करेसपोण्डेण्ट बैंक्स के द्वारा देश के विभिन्न इकाई बैंको को एक-दूसरे से जोड दिया गया है। इससे अमरीका के इकाई बैंको को भी शाखा बैंकिंग के लाभ प्राप्त होने लगे हैं।

निष्कर्ष—कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग मे से कौन-सी प्रणाली श्रेष्ठ है ? जैसा हमने ऊपर देखा है, इन दोनो प्रणालियो मे ही दोष पाये जाते हैं, परन्तु शाखा बैंकिंग प्रणाली मे इकाई बैंकिंग प्रणाली की अपेक्षा कम दोष पाये जाते हैं। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक अच्छी प्रणाली है*। परन्तु ऐसा होते हुए भी अमरीका मे इकाई बैंकिंग प्रणाली का ही विकास हुआ है। इसका कारण यह है कि अमरीका की आर्थिक परिस्थितियाँ इकाई बैंकिंग प्रणाली के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई हैं। अमरीका एक अत्यन्त धनी एवं समृद्ध देश है और लोगो की प्रति व्यक्ति आय बहुत ऊँची है, इसलिए वहाँ पर इकाई बैंकिंग प्रणाली अधिक सफल हुई है। परन्तु पिछडे हुए देशो के लिए इकाई बैंकिंग प्रणाली उपयुक्त नही हो सकती।

एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली की विशेषताएँ
(Essentials of A Good Banking System)

किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली का होना अनिवार्य होता है। इसका कारण यह है कि बैंक देश के विभिन्न वर्गों की बचतो को एकत्रित कर पूंजी-निर्माण मे सहायता देते हैं। इसके अतिरिक्त, बैंक साख का निर्माण करके देश की उत्पादन-शक्ति को भी बढाते हैं। अत देश के औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास के लिए एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली का होना नितान्त आवश्यक है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ? ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं

(1) **बैंकिंग प्रणाली देश की बचतो को प्रोत्साहित करे**—देश की बैंकिंग प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसकी सहायता से देश के सभी वर्गों की बचतो को एकत्रित किया जा सके और उन्हे निवेश हेतु प्रयोग मे लाया जा सके। अतएव बैंक को विभिन्न प्रकार के खाते खोलकर सभी वर्गों की बचतो को आकर्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(2) **बैंकिंग प्रणाली देश की परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए**—प्रत्येक देश की आर्थिक परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं। अत बैंकिंग प्रणाली देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल ही होनी चाहिए। यदि कोई देश कृषि-प्रधान है तो उस देश की बैंकिंग व्यवस्था इस ढग की होनी चाहिए कि उससे कृषि-उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिल सके।

(3) **साख पर नियन्त्रण होना चाहिए**—एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली की यह भी विशेषता होनी चाहिए कि वह साख के विस्तार पर उचित नियन्त्रण रख सकने मे समर्थ हो। इसका कारण यह है कि साख के अनियन्त्रित विस्तार से देश मे गम्भीर आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव साख के विस्तार को यथासम्भव बैंक-प्रणाली द्वारा नियन्त्रित किया जाना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि साख के विस्तार पर पूर्ण रोक लगा दी जाय। ऐसा करने से देश के आर्थिक विकास मे अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतएव बैंकिंग-प्रणाली इस

प्रकार की होनी चाहिए कि उसके अन्तर्गत, साख का विस्तार तथा सकुचन देश की आवश्यकताओ के अनुसार ही हो सके।

(4) **बैंकिंग-प्रणाली समन्वित होनी चाहिए**—एक अच्छी बैंकिंग-प्रणाली इस ढग की होनी चाहिए कि उसके अन्तर्गत विभिन्न बैंको मे किसी प्रकार की अस्वस्थ प्रतियोगिता (unhealthy competition) न हो, बल्कि सभी बैंको के कार्यों के बीच उचित समन्वय स्थापित किया जा सके।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **बैंको के विभिन्न प्रकार एव उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।** (विक्रम, 1959)

   [संकेत—यहाँ पर विभिन्न प्रकार के बैंको की व्याख्या करते हुए उनके कार्यों का विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिए। उदाहरणार्थ—व्यापारिक बैंक, कृषि बैंक, औद्योगिक बैंक, विदेशी विनिमय बैंक तथा केन्द्रीय बैंक।]

2. **इकाई एव शाखा बैंकिंग के गुण तथा दोषो का विवेचन कीजिए। भारत के लिए उनमें से कौन-सी प्रणाली अधिक उपयुक्त है?** (पटना, 1957)

   [संकेत—प्रथम भाग मे, शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग के अर्थों को उदाहरण सहित समझाइए। तदुपरान्त, उनके गुण तथा दोषो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह निष्कर्ष निकालिए कि भारत के लिए इकाई बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग-प्रणाली अधिक उपयुक्त है, क्योंकि भारत एक पिछडा हुआ देश है और यहाँ की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है।]

3. **शाखा बैंकिंग प्रणाली क्या है? उसके क्या-क्या दोष हैं?** (आगरा, 1970)

   [संकेत शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बैंक का मुख्य कार्यालय किसी बडे नगर मे स्थित होता है लेकिन उसकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागो मे फैली रहती हैं। इस प्रणाली के दोषो के लिए 'शाखा बैंकिंग के दोष' नामक उपविभाग को उपर्युक्त अध्याय मे देखिए।]

12

बैंक की कार्य प्रणाली
(Banking Operations)

बैंक की कार्य-प्रणाली को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम इस बात का अध्ययन करें कि बैंक अपनी पूँजी किस प्रकार प्राप्त करता है।

बैंक की पूँजी के स्रोत
(Sources of Banking Capital)

बैंक निम्नलिखित स्रोतो से पूँजी प्राप्त करता है :

(1) **अंश-पूँजी (Share Capital)**—आधुनिक बैंक प्राय मिश्रित पूँजी कम्पनी प्रणाली के आधार पर ही सगठित किये जाते हैं और बैंको की पूँजी अश बेचकर प्राप्त की जाती है। बैंक का संचालक बोर्ड (board of directors) इस बात का निर्णय करता है कि अशो को बेचकर कितनी पूँजी एकत्रित की जाय। बैंक की कुल अधिकृत पूँजी (authorised capital) के बारे मे भी निर्णय सचालक बोर्ड द्वारा ही किया जाता है। अधिकृत पूँजी का कुछ भाग अशो को बेचकर *एकत्रित किया जाता है। जितनी रकम के अश जनता को बेचने का निर्णय किया जाता है*, उसे बैंक की जारी पूँजी (issued capital) कहते है। इस जारी पूँजी मे से जनता, वास्तव मे जितने मूल्य के अश खरीदती है, उसे स्वीकृत पूँजी (subscribed capital) कहते है। आगे चलकर इस स्वीकृत पूँजी का जितना भाग जनता द्वारा, वास्तव मे, चुकाया जाता है उसे बैंक की चुकती पूँजी (paid up capital) कहते हैं। बैंक की वास्तविक पूँजी उसकी चुकती पूँजी ही होती है। सचालक बोर्ड इस बात का भी निर्णय करता है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक कितने अश खरीद सकता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट 1949 के अन्तर्गत बैंक की स्वीकृत पूँजी उसकी अधिकृत पूँजी की आधी से कम नही होनी चाहिए और इसी प्रकार चुकता पूँजी स्वीकृत पूँजी की आधी से कम नही होनी चाहिए। बैंको द्वारा जनता से पूँजी एकत्रित करने हेतु प्राय साधारण अश (ordinary shares) ही जारी किये जाते है।

(2) **निक्षेप या जमाराशियाँ (Deposits)**—बैंक की पूँजी का दूसरा महत्वपूर्ण साधन जनता से प्राप्त किये गये निक्षेप अथवा जमाराशियाँ हैं। जैसा पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है, जनता से निक्षेप प्राप्त करने हेतु बैंक चार प्रकार के खाते खोलता है। प्रत्येक खाते मे रुपया जमा करने तथा इसको निकालने के अलग-अलग नियम होते हैं। इन खातो मे जमाकर्ता छोटी से छोटी रकम से लेकर बडी से बडी रकम जमा करा सकते हैं।

(3) **ऋण (Loans)**—बैंक की पूँजी का तीसरा साधन ऋण है। बैंक कभी कभी अपनी *आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए देश के केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य बैंको से ऋण प्राप्त करता है* स्मरण रहे कि इस प्रकार के ऋण बैंक द्वारा केवल असाधारण परिस्थितियो मे ही लिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब किसी बैंक के जमाकर्ता एक ही समय पर अत्यधिक मात्रा मे अपने निक्षेप निकालना आरम्भ कर देते हैं और बैंक के पास नकद कोषो का अभाव हो जाता है तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक देश के केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करके सकट का सामना करता है।

(4) **साख का निर्माण (Credit Creation)**—पिछले एक अध्याय मे हम देख चुके है कि बैंक साख का निर्माण कैसे करता है ? वास्तव मे, साख-निर्माण द्वारा बैंको को एक बहुत बड़े पैमाने पर पूंजी उपलब्ध होती है और इसे वह जरूरतमन्द व्यवसायियो को ऋण देकर लाभ उठाते है।

(5) **प्रारक्षित निधि (Reserve Fund)**—प्रत्येक बैंक के पास कुछ न कुछ प्रारक्षित निधि अवश्य ही होती है। यह बैंक की पूंजी का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है। जब बैंक को अपने व्यवसाय से लाभ होता है, तब वह इस लाभ का दो तरीको से प्रयोग करता है **प्रथम**, लाभ का कुछ भाग बैंक के अंशधारियो मे लाभाश (dividend) के रूप मे बांट दिया जाता है। **द्वितीय**, लाभ का शेष भाग प्रारक्षित निधि मे जमा कर दिया जाता है। इस प्रकार कालान्तर मे प्रारक्षित निधि का आकार बढ़ता जाता है। प्रारक्षित निधि का दो तरीको से प्रयोग किया जा सकता है **प्रथम**, यदि बैंक को कोई अप्रत्याशित हानि होती है तो वह इसकी क्षतिपूर्ति प्रारक्षित निधि से कर सकता है। **द्वितीय**, बैंक अपने अंशधारियो को प्रतिवर्ष दिये जाने वाले लाभाश को समान बनाये रखने के लिए भी प्रारक्षित निधि का उपयोग करता है अर्थात् यदि किसी वर्ष किसी कारणवश लाभाश की दर गिर जाती है तो बैंक उसे पहले वर्षों की भांति समान बनाये रखने के लिए प्रारक्षित निधि का प्रयोग कर सकता है। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट 1949 के अनुसार, बैंक की प्रारक्षित निधि उसकी चुकती पूंजी (paid up capital) के बराबर होनी चाहिए। इसलिए प्रत्येक बैंक को प्रतिवर्ष अपने कुल लाभ का 20 प्रतिशत प्रारक्षित निधि मे तब तक जमा करना पड़ता है जब तक कि यह चुकती पूंजी के बराबर नही हो जाती। स्मरण रहे कि बैंक की प्रारक्षित निधि जितनी अधिक होती है उतना ही जनता का बैंक मे अधिक विश्वास होता है। वास्तव मे, किसी बैंक की वित्तीय व्यवस्था के अच्छे होने का स्पष्ट प्रमाण उसकी प्रारक्षित निधि होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि बैंक की प्रारक्षित निधि को नकदी के रूप मे ही रखा जाता है। साधारणत बैंक की प्रारक्षित निधि को प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो (first class securities) मे लगा दिया जाता है, जिन्हे आवश्यकता पड़ने पर आसानी से नकदी मे बदला जा सकता है।

बैंकों की निवेश नीति

(Investment Policy of Banks)

जैसा हमने ऊपर देखा है, बैंक कई स्रोतो से अपनी पूंजी एकत्रित करता है। परन्तु यह पूंजी बैंको के पास बेकार नही पड़ी रहती, बल्कि लाभ कमाने के लिए इसका निवेश कर दिया जाता है। इस पूंजी का निवेश करने के लिए कोई निश्चित नियम तो नही है, परन्तु फिर भी कुछ सामान्य बातो का ध्यान अवश्य ही रखा जाता है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न देशो मे बैंको की निवेश नीतियाँ भी अलग-अलग होती हैं। इसका कारण यह है कि विभिन्न देशो मे आर्थिक परिस्थितियाँ तथा बाजार की दशाएँ भी अलग-अलग होती हैं। अत प्रत्येक देश के बैंको को आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार ही अपनी निवेश नीतियो का निर्धारण करना पड़ता है। बैंक की पूंजी का लाभपूर्ण निवेश करने के लिए यह आवश्यक है कि बैंको के अधिकारियो मे दूरदर्शिता, सही अनुमान लगाने तथा व्यावहारिक अनुभव के गुण होने चाहिए क्योंकि इनके बिना बैंक अपनी पूंजी का उचित तथा लाभपूर्ण प्रयोग कर सकने की स्थिति मे नही हो सकता। आधुनिक बैंक अपनी पूंजी का निवेश करते समय प्राय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखते हैं

(1) **धन की सुरक्षा का सिद्धान्त**—बैंक को अपने अतिरिक्त धन का निवेश करते समय सुरक्षा के विचार को कभी नही त्यागना चाहिए। वास्तव मे, बैंक का सिद्धान्त 'सुरक्षा सर्वप्रथम' (*safety first*) होना चाहिए क्योंकि यदि कोई बैंक निवेश करते समय सुरक्षा की उपेक्षा करता है तो ऐसा करने से उसका अपना अस्तित्व ही खतरे मे पड़ जायगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई बैंक अपर्याप्त जमानत (security) के आधार पर किसी पार्टी को ऋण देता है तो हो सकता है कि उसके ऐसा करने से उसे आर्थिक हानि उठानी पड़े। इससे बैंक की वित्तीय दशा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है। अतएव बैंक द्वारा दिये गये ऋण यथासम्भव पूर्णत सुरक्षित (secured) होने चाहिए। अपने धन का सुरक्षापूर्ण निवेश करते समय बैंक को निम्नलिखित बातो को सदैव ध्यान मे रखना चाहिए

(क) बैंक को अपना समूचा अतिरिक्त धन किसी एक विशेष व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियो अथवा कुछ ही उद्योग-धन्धो को उधार के रूप नही देना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि इनमे से कुछ व्यक्ति अथवा कुछ उद्योग-धन्धे असफलता के कारण बैंक के ऋण लौटा सकने मे असमर्थ रहते है तो इससे बैंक की वित्तीय दशा पर बहुत बुरा प्रभाव पडेगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि बैंक अपना अतिरिक्त धन अधिकाधिक व्यक्तियो तथा उद्योग-धन्धो को ऋण के रूप मे दे। कुछ ही व्यक्तियो अथवा उद्योग-धन्धो को अधिक मात्रा मे ऋण देना बैंक के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इसीलिए कुछ देशो मे कानून के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अथवा फर्म को दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है।

(ख) ऋण देने से पूर्व बैंक को ऋणी के आचरण की पूर्ण जाँच कर लेनी चाहिए। यदि उसे ऋणी के आचरण के बारे मे थोडा सा भी सन्देह है, तो ऐसे व्यक्ति को कदापि ऋण नही देना चाहिए।

(ग) ऋण देने से पूर्व बैंक को ऋणी द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली जमानत (security) की भलीभाँति जाँच कर लेनी चाहिए और इस बात से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेना चाहिए कि जमानत का बाजार-मूल्य, दिये जाने वाले ऋण की राशि से पर्याप्त मात्रा मे अधिक है।

(घ) बैंक को यथासम्भव अल्पकाल के लिये ही ऋण देने चाहिए।

(ङ) बैंक को यथासम्भव ऋणियो की अस्थायी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ही ऋण देने चाहिए।

(च) बैंक को सस्ती साख-नीति नही अपनानी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ऋणियो मे अपव्यय (wastage) की भावना उत्पन्न हो जाती है।

(2) **निवेशो की तरलता का सिद्धान्त**—बैंको को यथासम्भव अपने निवेशो (investments) को तरल रूप मे रखना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि बैंक के निवेश तरल रूप मे नही हैं, अर्थात् उनको आसानी से नकदी मे परिवर्तित नही किया जा सकता तो इससे बैंक को कठिनाई हो सकती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी समय बैंक के अधिकाश जमाकर्ता अपना रुपया निकालना आरम्भ कर देते है और बैंक के निवेश तरल रूप मे नही है तो ऐसी परिस्थिति मे बैंक जमाकर्ताओ की माँग को पूरा नही कर सकेगा और इससे बैंक का अस्तित्व ही खतरे मे पड जायेगा। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि बैंको को अपना अतिरिक्त धन अचल सम्पत्तियो (immovable properties) तथा अविक्री-साध्य प्रतिभूतियो (unsaleable securities) मे नही लगाना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से बैंक के निवेशो मे तरलता का अभाव हो जायगा। अत बैंक को यथासम्भव अपने अतिरिक्त धन को सरकारी अथवा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो अथवा बढिया किस्म के अशो मे ही लगाना चाहिए।

(3) **निवेशो की उत्पादकता का सिद्धान्त**—बैंक को अपने अतिरिक्त धन का निवेश इस ढग से करना चाहिए कि इससे उसे एक अच्छी, पर्याप्त तथा स्थायी आय प्राप्त हो सके। जैसा स्पष्ट है, प्रत्येक बैंक का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। उसकी आय मुख्यत. उसके निवेशो से ही प्राप्त होती है। इसलिए बैंक को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने धन को यथासम्भव उत्पादक परिसम्पत्तियो (productive assets) मे ही लगाये। उसके निवेशो की उत्पादकता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसे अधिक लाभ प्राप्त हो सकेगा। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि लाभ कमाते समय बैंक सुरक्षा की उपेक्षा करे। अतएव बैंक को अपना अतिरिक्त धन सट्टा व्यवसाय मे नही लगाना चाहिए।

(4) **जोखिम की विविधता का सिद्धान्त**—अपने अतिरिक्त धन का निवेश करते समय बैंक को यह ध्यान रखना चाहिए कि उसका अधिकाश धन एक ही प्रकार के ऋणो, व्यवसायो तथा प्रतिभूतियो में न लगाया जाय। उसे यथासम्भव अपना धन विभिन्न प्रकार के ऋणो, व्यवसायो तथा प्रतिभूतियो मे लगाना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि बैंक अपना धन कुछ ही व्यवसायो मे लगाता है तो उन व्यवसायो के असफल हो जाने पर बैंक को खतरा हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि बैंक विभिन्न प्रकार के ऋणो, व्यवसायों एव प्रतिभूतियो मे धन लगाता है तो इसस

बैंक के पास नकदी का एक निरन्तर प्रवाह बना रहता है और इससे उसे अपने ग्राहको की नकदी सम्बन्धी मांग को पूरा करने मे सुविधा रहती है।

(5) **प्रतिभूतियो की बिक्री-साध्यता का सिद्धान्त**—बैंको को अपना धन ऐसी प्रतिभूतियो मे लगाना चाहिए जो आवश्यकता पडने पर आसानी से बाजार मे वेची जा सकें। उदाहरणार्थ, यदि बैंक अपना धन ऐसी प्रतिभूतियो मे लगा देता है जो आवश्यकता पडने पर बाजार मे आसानी से नही बेची जा सकती तो उसे काफी हानि उठानी पडेगी । अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि बैंक अपना धन सरकारी अथवा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो, बढिया किस्म के अशो तथा ऋणपत्रो और तैयारशुदा माल मे ही लगाये, क्योकि इन सभी मे तरलता का गुण पाया जाता है और आवश्यकता पडने पर बिना हानि उठाये इन्हे बाजार मे बेचा जा सकता है । इस दृष्टिकोण से बैंक को अपना धन यथासम्भव अचल सम्पत्ति मे कभी नही लगाना चाहिए।

(6) **निवेशो की कीमतों मे स्थिरता का सिद्धान्त**—बैंको को अपने धन का निवेश ऐसी वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो मे करना चाहिए जिनकी कीमतो मे अपेक्षाकृत स्थिरता अधिक रहती है । यदि बैंक अपने धन को ऐसी वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो मे लगाता है जिनकी कीमतो मे स्थिरता का अभाव है, तब इन वस्तुओ तथा प्रतिभूतियो की कीमतो मे अचानक कमी हो जाने से बैंक को काफी हानि हो सकती है।

(7) **निवेश की कर-मुक्ति का सिद्धान्त**—बैंक को अपना धन यथासम्भव ऐसी सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाना चाहिए जो आय-कर, अथवा दूसरे करो से मुक्त हो, क्योकि ऐसा करने से बैंक की आय को और अधिक बढाया जा सकता है ।

बैंको के निवेश
(Bank's Investments)

साधारणत बैंक के निवेश दो प्रकार के होते हैं प्रथम, अलाभकर निवेश, द्वितीय, लाभकर निवेश । प्रत्येक बैंक को अपना धन इन दोनो प्रकार के निवेशो मे उचित ढग से विभाजित करना पडता है। बैंक को अपने धन का कितना भाग अलाभकर निवेशो मे तथा कितना भाग लाभकर निवेशो मे लगाना चाहिए, इस विषय पर कोई निश्चित नियम नही है। परन्तु प्रत्येक बैंक इस बारे मे निर्णय लेते समय सुरक्षा (security) तथा लाभदायकता (profitability) दोनो के बीच उचित समायोजन (co ordination) करने का प्रयत्न करता है। बैंक के अलाभकर निवेश सुरक्षा तथा तरलता के दृष्टिकोण से आवश्यक होते है । इसका कारण यह है कि जमाकर्ताओ की नकदी सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए बैंक को अपनी देयताओ (liabilities) का एक निश्चित भाग अवश्य ही अलाभकर निवेशो मे लगाना पडता है, क्योकि जैसा विदित है, बैंक का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना ही होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि लाभ कमाने के लिए बैंक जमाकर्ताओ की सुरक्षा की उपेक्षा कर दे। वास्तव मे, जैसा ऊपर कहा है, बैंक को सुरक्षा तथा लाभदायकता के बीच उचित समायोजन करना पड़ता है। अतएव बैंक अपने धन का निवेश लाभकर तथा अलाभकर व्यवसायो मे बड़ी बुद्धिमता तथा सावधानी से करता है।

(I) **अलाभकर निवेश (Profitless Investment)**—बैंको के अलाभकर निवेशो का अध्ययन दो उपशीर्षको के अन्तर्गत किया जा सकता है जो इस प्रकार हैं

(क) **नकद कोष (Cash Reserves)**—प्रत्येक बैंक को अपने धन का कुछ न कुछ अश नकद कोष के रूप मे अवश्य ही अपने पास रखना पडता है। इसका कारण यह है कि जमाकर्ताओ की नकदी सम्बन्धी मांग को पूरा करने के लिए बैंक को सदैव अपने पास कुछ न कुछ नकद-कोष अवश्य ही रखना पडता है । जितना बैंक का नकद-कोष अधिक होगा, उतनी ही बैंक की परिसम्पत्ति (assets) की तरलता अधिक होगी। जैसा स्पष्ट है, बैंक अपने समूचे धन को नकद-कोष के रूप मे नही रख सकता क्योकि यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने शेयरहोल्डरो के लिए लाभ नही कमा सकेगा। परन्तु बैंक की देयताओ का एक निश्चित भाग तो अवश्य ही नकद-कोष के रूप मे रखना पडेगा। इसका यह अभिप्राय नही है कि बैंक समूचा नकद-कोष अपने ही पास

रखता है। हो सकता है कि वह अपने नकद-कोष का कुछ अंश किसी अन्य बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक में जमा कर दे और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकाल ले।

नकद-कोष सम्बन्धी सिद्धान्त (Principles of Cash Reserves)—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि बैंक अपनी देयताओं का कितना भाग नकद-कोष के रूप में रखे? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है, परन्तु फिर भी कुछ सामान्य बातें हैं जिन्हें नकद-कोष रखते समय बैंक को ध्यान में रखना चाहिए। ये बातें निम्नलिखित हैं

(1) **कानूनी आवश्यकताएँ (Legal Obligations)**—एक बैंक को कितना न्यूनतम नकद कोष रखना चाहिए? इस सम्बन्ध में कुछ देशों में सरकार द्वारा कानून बना दिये गये हैं और प्रत्येक बैंक को उन्हीं कानूनों के अनुसार नकद कोष रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ सन् 1956 तक भारत में प्रत्येक अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) को अपनी माँग देयताओं (demand liabilities) का 5 प्रतिशत और समय देयताओं (time liabilities) का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास अवश्य ही जमा रखना पड़ता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई बैंक कानून द्वारा निश्चित की गयी नकद-कोष की न्यूनतम सीमा से अधिक कोष नहीं रख सकता। वास्तव में, अधिकांश बैंक जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए वैधानिक न्यूनतम सीमा से भी बहुत अधिक नकद-कोष अपने पास रखते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में अधिकांश बैंक अपनी कुल देयताओं का 10 प्रतिशत नकद-कोष अपने पास रखते हैं।

(2) **लोगों की बैंकिंग सम्बन्धी आदतें** बैंकों को अपनी कुल जमा का कितना भाग नकद कोष के रूप में रखना चाहिए, यह लोगों की बैंकिंग सम्बन्धी आदतों से भी प्रभावित होता है। यदि लोगों में अधिकाधिक मात्रा में चैकों का प्रयोग करने की आदत है तब ऐसी दशा में बैंकों को कम मात्रा में नकद कोष रखना चाहिए। इसके विपरीत यदि देश के लोग लेन देन में अधिक तर नकदी का ही प्रयोग करते हैं, तब ऐसी दशा में बैंक को काफी मात्रा में नकद-कोष रखना चाहिए।

(3) **स्थानीय व्यावसायिक दशाएँ**—नकद कोषों की मात्रा पर देश की व्यावसायिक अवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। यदि देश में बड़े पैमाने पर सट्टा किया जाता है तब ऐसी परिस्थिति में बैंकों को अपने पास अधिक मात्रा में नकद कोष रखना पड़ेगा।

(4) **समाशोधन गृहों की विद्यमानता (Presence of Clearing Houses)**— नकद-कोषों की मात्रा समाशोधन गृहों की विद्यमानता से भी प्रभावित होती है। जिस क्षेत्र में समाशोधन गृह होते हैं वहाँ बैंकों को बहुत अधिक मात्रा में नकद-कोष रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि बैंकों पर जारी किये गये अधिकांश चैक समाशोधन गृह से होकर ही आते जाते हैं। अतएव बैंकों को आपस में बहुत ही कम मात्रा में नकदी के हस्तांतरण की आवश्यकता पड़ती है। चूँकि भारत में समाशोधन गृहों का अभाव है इसलिए बैंकों को काफी बड़ी मात्रा में नकद कोष रखने पड़ते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी देशों में समाशोधन गृहों का जाल सा बिछा हुआ है। इसीलिए वहाँ पर बैंकों द्वारा कम मात्रा में नकद कोष रखे जाते हैं।

(5) **खातों का स्वभाव** यदि किसी बैंक के खातों में चालू खातों की संख्या अत्यधिक है तब ऐसे बैंक को अधिक मात्रा में नकद कोष रखने पड़ेंगे। इसका कारण यह है कि चालू खातों में से दिन में कई बार रुपया निकाला जा सकता है। इसके विपरीत यदि किसी बैंक के खातों में निश्चितकालीन खातों की अधिकता है तब ऐसे बैंक को अधिक मात्रा में नकद कोष रखने की आवश्यकता नहीं है।

(6) **निक्षेपों का आकार**—यदि किसी बैंक के जमाकर्ताओं की संख्या कम है परन्तु उनके खाते बड़े बड़े आकार के हैं तब ऐसी परिस्थिति में बैंक को अधिक मात्रा में नकद-कोष रखना पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि बैंक के जमाकर्ताओं की संख्या बहुत अधिक है परन्तु उनके खातों का आकार छोटा है तब ऐसी दशा में बैंक को अधिक मात्रा में नकद कोष रखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसका कारण यह है कि छोटे छोटे जमाकर्ताओं की जितनी संख्या अधिक होती है उतनी ही जमाराशियाँ कम निकाली जाती हैं।

(7) **निवेशों की प्रकृति (Nature of Investments)**—यदि कोई बैंक अपने धन का अधिकांश भाग बिलों प्रतिभूतियों तथा अल्पकालीन ऋणों में लगाता है तो उसे अधिक नकद-कोष रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका कारण यह है कि बिलों, प्रतिभूतियों तथा अल्पकालीन ऋणों में लगाया गया धन तरल होता है और आवश्यकता पड़ने पर इसे नकदी में परिवर्तित किया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि बैंक का अधिकांश धन सम्पत्तियों तथा अतरल ऋणों (non liquid loans) में लगाया जाता है तब ऐसी परिस्थिति में बैंक को अपने पास अधिक मात्रा में नकद कोष रखना पड़ेगा।

(8) **दूसरे बैंकों की नकद-कोष नीति**—किसी एक बैंक को कितना नकद-कोष रखना चाहिए यह अन्य दूसरे बैंकों की नकद-कोष नीतियों से भी प्रभावित होता है। प्रायः बैंक एक-दूसरे को देखकर ही अपने-अपने नकद-कोषों का निर्धारण करते रहते हैं। यदि कोई बैंक अपने पास अधिक नकद-कोष रखता है तो जनता का उसमें अधिक विश्वास होता है। इससे लोग उस बैंक की ओर आकर्षित होने लगते हैं और उस बैंक की प्रतियोगात्मक शक्ति (competitive power) बढ़ जाती है। अन्ततः अन्य बैंकों को भी अपनी प्रतियोगात्मक शक्ति बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में नकद-कोष रखने पड़ते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक बैंक को अपने नकद कोष का निर्धारण अत्यन्त बुद्धिमत्ता तथा सावधानी से करनी चाहिए। जैसा ऊपर बताया गया है, अधिकांश देशों में कानून द्वारा नकद-कोष की न्यूनतम सीमा निश्चित कर दी गयी है और कोई भी बैंक निर्धारित सीमा से कम नकद-कोष नहीं रख सकता। परन्तु यह देखा गया है कि अधिकांश बैंक जनता का विश्वास प्राप्त करने हेतु कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम सीमा से भी अधिक नकद कोष रखते हैं।

(ख) **मृत स्टॉक (Dead Stocks)**—मृत स्टॉक बैंकों के अलाभकर निवेश होते हैं क्योंकि इनसे बैंकों को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। परन्तु फिर भी इस प्रकार के निवेश बैंक के लिए अनिवार्य होते हैं क्योंकि बैंक का दैनिक-कार्य इनके अभाव में सम्भव नहीं हो सकता। इन निवेशों में फर्नीचर स्टेशनरी बैंक की इमारत तथा अन्य प्रकार की परिसम्पत्तियाँ (assets) सम्मिलित होती हैं। चूँकि इस प्रकार की परिसम्पत्ति को आसानी से बेचा नहीं जा सकता, इसलिए इन्हें मृत स्टाक कहा जाता है। जब कोई बैंक फेल हो जाता है तब इस प्रकार के मृत स्टॉक को बेच दिया जाता है और इससे प्राप्त हुई रकम को बैंक के लेनदारों के भुगतानों में इस्तेमाल किया जाता है। स्मरण रहे कि बैंक अपनी ख्याति तथा प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए मृत स्टॉक में काफी रुपया लगाता है।

(II) **लाभकर निवेश (Profitable Investments)**—बैंक के लाभकर निवेश इस प्रकार होते हैं

(i) **याचना मुद्रा या अल्प-सूचनार्थ ऋण**(Call Money or Short period Loans)—इसके अन्तगत वे ऋण सम्मिलित किये जाते हैं जो व्यवसायियों को बहुत ही थोड़े समय के लिए दिये जाते हैं। ये ऋण प्रायः 1 दिन 2 दिन या अधिक से अधिक 15 दिन तक के लिए दिये जाते हैं इसीलिए इन्हें अल्प-सूचनार्थ ऋण कहा जाता है। ऐसे ऋणों को बैंक बिना पूर्व नोटिस दिये वापस माँग सकता है और यदि समय पर ऋण नहीं लौटाये जाते तो इनके विरुद्ध बैंक के पास जमा की गयी प्रतिभूतियों को भुनाकर बैंक अपनी क्षति पूर्ति कर लेता है। इन ऋणों पर ब्याज की दर बहुत ही कम होती है—$\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत तक। इस प्रकार के ऋण प्रायः दलालों आढ़तियों तथा डिस्काउण्ट गृहों (Discount Houses) के द्वारा लिये जाते हैं। सुरक्षा की दृष्टि से ये ऋण बैंक के लिए बहुत ही तरल होते हैं और जैसा कहा गया है इन्हें किसी समय वापस माँगा जा सकता है। अतएव नकद-कोषों के बाद इन ऋणों को ही रखा जाता है। वास्तव में, इस प्रकार के ऋण नकद-कोषों से भी अच्छे रहते हैं क्योंकि एक तो इनमें तरलता का गुण होता है और दूसरे इनसे कुछ आय भी प्राप्त होती है। पश्चिमी देशों में इस प्रकार के ऋण बहुत ही लोकप्रिय होते हैं। परन्तु भारत जैसे देश में ये ऋण कुछ बड़े-बड़े शहरों को छोड़कर अन्यत्र लोकप्रिय नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि भारत में सगठित बिल बाजार (bill market) का अभाव है। भारत में अधिकांश अल्प-सूचनार्थ ऋण प्रायः एक बैंक द्वारा दूसरे बैंक को ही दिये जाते हैं।

(2) **विनिमय बिलों का खरीदना**—बैंक अपने धन का कुछ भाग बिलों को खरीदने तथा भनाने में भी लगाते हैं। जैसा विदित है, प्रत्येक बिल के परिपक्व (*mature*) होने की एक निश्चित अवधि होती है। यह प्राय तीन महीने तक की होती है। यदि बिल का धारक इसके परिपक्व होने तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता तो वह किसी व्यापारिक बैंक के पास ले जाकर उसे डिस्काउण्ट करा सकता है, अर्थात् बैंक उस बिल की रकम में से कुछ बट्टा (discount) काटकर शेष रकम का भुगतान कर देता है। बिलों की भाँति व्यापारिक बैंक प्रथम श्रेणी के प्रतिज्ञापत्रों तथा कोषागार विपत्रों (treasury bills) को भी खरीदते हैं। भारत में प्रतिज्ञापत्रों का डिस्काउण्टिंग (discounting) इतना लोकप्रिय नहीं है, परन्तु भारतीय बैंक अपने धन का काफी बड़ा भाग कोषागार विपत्रों (treasury bills) के डिस्काउण्टिंग में लगाते हैं। भारत में बिलों का डिस्काउण्टिंग इतनी मात्रा में नहीं होता जितनी मात्रा में पश्चिमी देशों में किया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में बिल बाजार का अभी समुचित विकास नहीं हो सका है। पश्चिमी देशों में बैंक अपनी जमाराशियों का 10 से 15 प्रतिशत तक बिलों में लगाते हैं, जबकि भारत में कुल जमाराशियों का केवल 5 प्रतिशत ही बिलों के व्यवसाय में लगाया जाता है। बैंकों के इस प्रकार के निवेश को उसकी तीसरी रक्षा पंक्ति (third line of defence) कहा गया है।

(3) **निवेश तथा प्रतिभूतियाँ** (Investments and Securities)—प्रत्येक बैंक अपने धन का एक बड़ा भाग निवेशों तथा प्रतिभूतियों में लगाता है। इसके अन्तर्गत, बैंक अपने धन को अनेक प्रकार की प्रतिभूतियों तथा ऋणों में लगाता है। उदाहरणार्थ, भारत में व्यापारिक बैंक अपने धन का एक बहुत बड़ा भाग केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों, कोषागार विपत्रों तथा बॉण्ड्स आदि खरीदने में लगाते हैं। इसके अतिरिक्त, बैंक अपने धन का कुछ भाग निजी औद्योगिक कम्पनियों के शेयरों तथा ऋणपत्रों को खरीदने में भी लगाते हैं। इस प्रकार के निवेशों से बैंकों को बहुत लाभ होता है—(1) *अधिकांश प्रतिभूतियाँ एवं ऋणपत्र तरल होते* हैं और उन्हें किसी भी समय बेचकर नकदी में परिवर्तित किया जा सकता है, (2) बैंक को इस प्रकार के निवेशों से पर्याप्त नियमित आय भी प्राप्त होती है, (3) सुरक्षा की दृष्टि से भी ये निवेश स्वस्थ होते हैं, क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों में किसी प्रकार का जोखिम नहीं होता, (4) इन निवेशों की कीमतों में भी प्राय स्थिरता ही रहती है। परिणामत इनसे बैंकों को हानि होने की कम सम्भावना रहती है, (5) जब बैंक अपना धन इस प्रकार की सरकारी प्रतिभूतियों में लगाते हैं तब इससे लोगों का बैंकों में विश्वास स्थापित हो जाता है (6) अन्त में, इन निवेशों की समयावधि प्राय कम ही होती है। अतएव बैंकों को अपना धन दीर्घकाल के लिए अवरुद्ध (block) नहीं करना पड़ता। ग्रेट ब्रिटेन में व्यापारिक बैंक प्राय अपनी कुल जमा का 30 प्रतिशत भाग इस प्रकार की प्रतिभूतियों में लगाते हैं। भारत में प्राय चार प्रकार की प्रतिभूतियाँ पायी जाती हैं (1) **सरकारी प्रतिभूतियाँ**, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन्हें प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ कहा जाता है, (2) **अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ**—उदाहरणार्थ, म्युनिसिपल कारपोरेशन, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट तथा अन्य स्थानीय निकायों द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियाँ, (3) **लोकहितकारी सेवाओं द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियाँ** —*उदाहरणार्थ, बिजली तथा रेल कम्पनियों द्वारा जारी की गयी प्रतिभूतियाँ* इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं, (4) **औद्योगिक तथा व्यापारिक कम्पनियों की प्रतिभूतियाँ**—इसके अन्तर्गत, मिश्रित पूँजी वाली औद्योगिक तथा व्यापारिक कम्पनियों द्वारा जारी किये गये शेयर्स तथा ऋणपत्रों को सम्मिलित किया जाता है। व्यापारिक बैंक प्राय अपने धन को सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों में लगाना अधिक अच्छा समझते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनका धन सुरक्षित रहता है और जनता का उनमें विश्वास भी बढ़ जाता है, यद्यपि ऐसी प्रतिभूतियों से बैंकों को आय अधिक नहीं होती।

(4) **ऋण तथा पेशगियाँ (अग्रिम)** (Loans and Advances)—प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपने धन का कुछ भाग ऋणों तथा पेशगियों में भी लगाता है। ये ऋण तथा पेशगियाँ कई प्रकार की होती हैं और इन्हें विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जाता है। इस प्रकार के ऋणों से बैंकों को काफी आय प्राप्त होती है। बैंकों द्वारा इस प्रकार के ऋण निजी व्यक्तियों तथा व्यापारिक फर्मों को दिये जाते हैं और इन पर प्राय 6 प्रतिशत से 16 प्रतिशत तक ब्याज की दर ली जाती है। पश्चिमी देशों में बैंक अपनी कुल जमा का 50 से 60 प्रतिशत भाग इस

प्रकार के ऋणो तथा पेशगियो मे लगाते हैं। भारत मे बैंक प्राय अपनी जमा का 40 से 50 प्रतिशत भाग ही इन ऋणो मे लगाते हैं। अन्य ऋणो के विपरीत इस प्रकार के ऋणो मे तरलता का अश कम रहता है। इसलिए बैंक इन ऋणो पर अधिक ब्याज की दर वसूल करते हैं। वैसे तो ये ऋण बैंक द्वारा माँग किये जाने पर देय (repayable) होते है, परन्तु व्यवहार मे, इन्हे बैंक द्वारा वापस माँगा नही जाता। स्मरण रहे कि इस प्रकार के ऋणो को देने मे बैंक अधिक जोखिम उठाते हैं, इसलिए उन्हे बडी सावधानी तथा बुद्धिमत्ता से कार्य करना पडता है। बैंक इस प्रकार के ऋण तथा पेशगियाँ निम्नलिखित तरीको से देते हैं

(क) साधारण ऋण तथा पेशगियाँ—यह ऋण देने का सरलतम तरीका है। इसके अन्तर्गत, बैंक किसी व्यक्ति या फर्म को ऋण देन से पूर्व उसकी साख की बाकायदा जाँच कर लेता है और ऐसा करने के लिए विभिन्न स्रोतो से बैंक उस व्यक्ति अथवा फर्म की आर्थिक स्थिति के बारे मे जानकारी प्राप्त कर लेता है। यदि बैंक ऋणी की साख से सन्तुष्ट हो जाता है तो वह एक उचित जमानत (security) लेकर उसे ऋण दे देता है। ऋण की पूर्ण राशि ऋणी के खाते मे जमा कर दी जाती है और वह जब चाहे, अपनी आवश्यकताओ के अनुसार उसमे से रुपया निकालता रहता है। स्मरण रहे कि इस पद्धति के अन्तर्गत, ऋणी को ऋण की समूची राशि पर ब्याज देना पडता है।

(ख) ओवर ड्राफ्ट (Overdraft)—यह भी ऋण देने का एक महत्त्वपूर्ण तरीका है। इसके अन्तर्गत, बैंक केवल अपने जमाकर्ताओ को ही ऋण की सुविधा देता है। इस पद्धति के अधीन बैंक जमाकर्ता को आवश्यकता पडने पर उसकी जमा राशि से भी अधिक रुपया निकालने की सुविधा देता है। परन्तु उसके लिए एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है और जमाकर्ता उस सीमा से अधिक रुपया नही निकाल सकता। स्मरण रहे कि बैंक केवल उसी राशि पर ब्याज लेता है, जो ऋणी अपनी जमा से अधिक निकालता है। ओवर ड्राफ्ट देते समय बैंक जमाकर्ता से कोई जमानत (security) नही लेता।

(ग) नकद साख (Cash Credit)—भारत मे बैंको द्वारा ऋण देने का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तरीका है। इस प्रणाली के अन्तर्गत ऋण लेने वाला व्यवसायी बैंक के पास कोई कच्चा अथवा तैयार माल जमा कर देता है और उसी के आधार पर बैंक उसे निश्चित सीमा तक रुपया निकालने की सुविधा प्रदान कर देता है। परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकार का ऋण अचल सम्पत्ति अथवा अविक्रीसाध्य प्रतिभूतियो के आधार पर नही दिया जाता। ऋण देते समय बैंक ऋणी के नाम मे एक खाता खोल देता है और निश्चित सीमा तक ऋणी उसमे से रुपया निकाल सकता है। यदि किसी समय ऋणी बैंक के गोदाम मे से कुछ माल निकाल लेता है तो उसी समय उसे उस माल के बदले मे रुपया जमा कराना पडता है। ओवर ड्राफ्ट की तरह इस पद्धति मे भी बैंक ब्याज केवल उसी राशि पर लेता है जो वास्तव मे ऋणी द्वारा खाते मे से निकाली जाती है। स्मरण रहे कि बैंक जमा किये गये माल की समूची कीमत के बराबर ही ऋणी को ऋण प्रदान नही करता, बल्कि अपनी सुरक्षा के लिए उसमे कुछ अन्तर (margin) रख लेता है। भारत मे नकद साख पद्धति अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

ओवर ड्राफ्ट तथा नकद साख मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि ओवर ड्राफ्ट के अन्तर्गत ऋण की राशि केवल चालू खातो मे जमा की जाती है। इसलिए ओवर ड्राफ्ट की सुविधाएँ केवल जमाकर्ताओ को ही दी जाती है। इसके विपरीत, नकद साख के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋण की राशि चालू खातो मे जमा नही की जाती बल्कि इस राशि से एक नया खाता खोल दिया जाता है और ऋण प्राप्तकर्ता समय-समय पर उसमे से छोटी छोटी रकमे निकलवाता रहता है।

ओवर ड्राफ्ट अथवा नकद साख और साधारण ऋण मे भी कुछ अन्तर होते है—(क) ओवर ड्राफ्ट अथवा नकद साख के अन्तर्गत दिये गये ऋण प्राय अल्पकालीन होते हैं, जबकि साधारण ऋण तथा पेशगियाँ दीर्घकालीन होती है, (ख) ओवर ड्राफ्ट तथा नकद साख के अन्तर्गत ऋणी जब चाहे अपने खाते मे से रुपया निकाल सकता है और जब चाहे उसमे रुपया जमा कर सकता है। परन्तु साधारण ऋणो अथवा पेशगियो के अन्तर्गत ऋण का भुगतान ऋणी को एक ही समय कर दिया जाता है और उसे एक ही समय पर (किस्तो मे नही) समूचे ऋण को लौटाना

पड़ता है, (ग) ओवर ड्राफ्ट तथा नकद साख के अन्तर्गत ब्याज केवल उसी रकम पर लिया जाता है, जिसका वास्तव मे, ऋणी द्वारा उपयोग किया जाता है, परन्तु साधारण ऋण तथा पेशगियो के अन्तर्गत ब्याज ऋण की समूची राशि पर लिया जाता है।

ऋणाधार अथवा ऋण की जमानतें (प्रतिभूतियाँ)
(Securities Regarding Loans)

जैसा विदित है, प्रत्येक बैंक ऋण देने से पूर्व किसी न किसी प्रकार की जमानत अवश्य लेता है। जमानतें मुख्यत दो प्रकार की होती है . (I) व्यक्तिगत जमानत, (II) सहायक जमानत।

(I) **व्यक्तिगत जमानत** (Personal Security)—कभी-कभी बैंक अपने ग्राहकों की व्यक्तिगत जमानत के आधार पर भी ऋण प्रदान करते हैं, अर्थात् कुछ ऋणियो से माल अथवा सम्पत्ति की जमानत लिये बिना ही ऋण दे दिये जाते है। इस प्रकार के ऋणो को अरक्षित ऋण अथवा स्वच्छ अग्रिम (clean advances) कहते हैं। बैंक ऐसे ऋण प्राय अपने उन सम्मानित ग्राहकों को ही देते है जिनसे अच्छी तरह परिचित होते है अथवा जिनकी साख मे उन्हे पूर्ण विश्वास होता है। चूंकि ऐसे ऋण बिना किसी माल अथवा सम्पत्ति की जमानत के दिये जाते हैं, इसलिए बैंकों को इनके बारे मे बडी सावधानी एव बुद्धिमत्ता से काम लेना पडता है। भारत मे इस प्रकार के ऋण अधिक लोकप्रिय नही हैं, परन्तु पश्चिमी देशो में इन ऋणो का बहुत प्रचलन है। भारत मे इस प्रकार के ऋणो का रूप बैंकों द्वारा दी गयी ओवर ड्राफ्ट की सुविधाएँ हैं। व्यक्तिगत जमानत के आधार पर दिये गये ऋण प्राय दो प्रकार के होते हैं (क) **एक नाम के कागजी ऋण**—इस प्रकार का ऋण ऋणी को उसके द्वारा लिखे गये प्रतिज्ञापत्र (pronote) के आधार पर दिया जाता है, (ख) **दो नाम के कागजी ऋण**—इस प्रकार के ऋण तब दिये जाते है; जब ऋणी तथा एक जमानतदार अपनी व्यक्तिगत जमानतें प्रस्तुत करते है। इस प्रकार के ऋणो मे जमानतदार की जमानत भी दो प्रकार की होती है (क) **विशेष जमानत**—इस प्रकार की जमानत मे जमानतदार किसी विशेष ऋण के लिए ही अपनी जमानत प्रस्तुत करता है, (ख) **चालू जमानत**—इस प्रकार की जमानत मे जमानतदार ऋणी द्वारा लिये जाने वाले सभी ऋणो की जमानत प्रस्तुत करता है।

(II) **सहायक जमानतें** (Collateral Securities)—सहायक जमानतें उन गोचर ऋणाधारो (substantial securities) को कहते हैं जो बैंक के पास ऋण की सुरक्षा के लिए ऋणी रहन के रूप मे रखता है। इनके अन्तर्गत, प्राय कच्चा माल अथवा तैयार माल या अन्य भौतिक सम्पत्ति ऋणाधार के रूप मे स्वीकार की जाती है। ये जमानतें प्राय तीन प्रकार की होती है :

(1) **ग्रहणाधिकार अथवा रहन** (Lien)—इसके अन्तर्गत, ऋण की आड (cover) के स्वरूप कोई माल अथवा सम्पत्ति बैंक के पास रखी जाती है। यदि ऋणी समय पर ऋण को नही लौटाता तो बैंक रखे गये माल या सम्पत्ति को तब तक नही बेच सकता जब तक कि अदालत द्वारा कुर्की का आदेश जारी नही कर दिया जाता।

(2) **गिरवी** (*Pledge*)—इसके अन्तर्गत भी ऋण के आड-स्वरूप कोई माल अथवा सम्पत्ति बैंक के पास रखी जाती है। यदि ऋण समय पर नही लौटाया जाता तो बैंक ऋणी को सूचना देकर उसकी सम्पत्ति का नीलाम कर सकता है और इस प्रकार प्राप्त किये गये रुपये से अपने ऋण की पूर्ति कर लेता है।

(3) **बन्धक** (Mortgage)—इसके अन्तर्गत, ऋणी अपनी सम्पत्ति की प्रतिज्ञा करता है और उसी के आधार पर बैंक से ऋण प्राप्त करता है। यदि वह समय पर ऋण को नही लौटाता तो उसकी सम्पत्ति का स्वामित्व बैंक को हस्तान्तरित हो जाता है। बैंक उस सम्पत्ति को बेचकर अपने ऋण की पूर्ति कर लेता है।

सहायक जमानतो के विभिन्न रूप—इसके विभिन्न रूप निम्नलिखित हैं

(1) **स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियाँ** (Stock Exchange Securities)—बैंक प्राय इन प्रतिभूतियो के आधार पर ही ऋण देते हैं। इस प्रकार की प्रतिभूतियो मे उन प्रथम श्रेणी की

प्रतिभूतियों को सम्मिलित किया जाता है जो सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा जारी की जाती है। इसी प्रकार औद्योगिक कम्पनियों के शेयरों, ऋण-पत्रों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि को भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

बैंक इन प्रतिभूतियों के आधार पर इसलिए ऋण देते हैं, क्योंकि इनमें कई प्रकार के गुण पाये जाते हैं।

स्टॉक एक्सचेन्ज प्रतिभूतियों के गुण—इनके गुण निम्नलिखित हैं

(क) बिक्री-साध्यता (Saleability)—इन प्रतिभूतियों को आवश्यकता पड़ने पर शीघ्रता से स्टॉक एक्सचेंज पर बेचा जा सकता है। अतएव बैंकों को इन प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(ख) हस्तान्तरणीयता (Transferability)—इन प्रतिभूतियों के स्वामित्व को आसानी से हस्तान्तरित किया जा सकता है। अतएव बैंकों को इनके आधार पर ऋण देने में कोई कठिनाई नहीं होती।

(ग) कीमत-स्थिरता—इन प्रतिभूतियों की कीमतों में उतार चढ़ाव बहुत कम होते हैं और इनकी कीमतें अपेक्षाकृत स्थिर ही रहती हैं। अतएव बैंकों को इन प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देने में हानि का जोखिम नहीं रहता।

(घ) मूल्य-निर्धारण—इन प्रतिभूतियों के बाजार-मूल्यों को स्टॉक एक्सचेंजों से आसानी से जाना जा सकता है।

(ङ) पुनः बट्टा (Re-discounting)—इन प्रतिभूतियों का एक गुण यह भी है कि आवश्यकता पड़ने पर बैंक इन प्रतिभूतियों का केन्द्रीय बैंक से बट्टा भी करा सकता है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही बैंक इन प्रतिभूतियों (securities) के आधार पर ऋण देने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि इन प्रतिभूतियों में कुछ दोष भी पाये जाते हैं।

स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियों के दोष—इनके दोष इस प्रकार हैं

(क) प्रतिभूतियों का पूर्णतः बिक्री-साध्य न होना—कुछ प्रतिभूतियाँ इस प्रकार की होती हैं कि उन्हें आसानी से बेचा नहीं जा सकता। यदि बैंक इस प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण दे देता है, तब उसे आगे चलकर इन्हें बेचकर ऋण वसूल करने में कठिनाई हो सकती है।

(ख) कुछ प्रतिभूतियाँ अंशतः प्रदत्त होती हैं—शेयरों के रूप में होने वाली प्रतिभूतियाँ कभी-कभी पूर्णतः प्रदत्त (fully paid up) नहीं होतीं, अर्थात् शेयरहोल्डरों (Shareholders) द्वारा उनकी पूरी रकम नहीं चुकायी गयी होती। इस प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देना बैंक के लिए अत्यन्त जोखिमपूर्ण होता है। यदि कोई बैंक असावधानी से ऐसी प्रतिभूतियों को ऋण देने के बदले स्वीकार कर लेता है तो इससे बैंक को आगे चलकर हानि हो सकती है।

अतः स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देते समय बैंकों को कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—(क) प्रतिभूतियों के स्वामित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए, (ख) बैंकों को अंशतः प्रदत्त शेयरों (partly paid up shares) को जमानत के रूप में कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहिए, (ग) बैंकों को इस प्रकार की प्रतिभूतियों को स्वीकार नहीं करना चाहिए जिनको बेचने में किसी प्रकार की कठिनाई होती है (घ) बैंकों को ऐसी प्रतिभूतियों को भी स्वीकार नहीं करना चाहिए जिनकी कीमतों में भारी उतार चढ़ाव होते रहते हैं, (ङ) ऋण देते समय बैंकों को ऋण की राशि तथा प्रतिभूतियों की कीमत में काफी अन्तर रखना चाहिए, अर्थात् ऋण की राशि प्रतिभूतियों की कीमत से काफी कम होनी चाहिए।

(2) माल तथा माल के अधिकार-पत्र (Goods and Titles to Goods)—कभी-कभी बैंक माल तथा माल के अधिकार-पत्रों के आधार पर भी व्यवसायियों को ऋण देते हैं। औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रों में इस प्रकार के ऋण अधिक लोकप्रिय होते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत, गिरवी रखे गये माल को बैंक या तो अपने गोदामों में रखवाता है या जिन गोदामों में यह माल रखा गया होता है, उनकी तालियाँ अपने कब्जे में कर लेता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है

कि बैंक माल की भौतिक उपस्थिति पर ही जोर दे। बैंक माल के अधिकार-पत्रों (titles to goods) के अधिकार पर भी ऋण दे देता है। ये अधिकार-पत्र कई प्रकार के होते हैं—(क) गोदाम के सर्टीफिकेट (Warehouse Certificates), (ख) रेलवे की रसीदें (Railway Receipts), (ग) जहाजों की रसीदें (Loading Bills), (घ) डाक वारण्ट (Dock Warrants) इत्यादि।

माल तथा माल के अधिकार-पत्रों के गुण—*इनके गुण निम्नलिखित हैं*

(क) बिक्री-साध्यता—इन्हें बेचना आसान तथा सुविधाजनक होता है, इसलिए इनके आधार पर दिये गये ऋणों में बैंकों को किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं रहती।

(ख) मूल्य निर्धारण—इनका मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है और उसी के आधार पर बैंक द्वारा ऋण दिये जा सकते हैं।

(ग) प्रतिभूतियों की भौतिकता—चूँकि ये प्रतिभूतियाँ भौतिक होती हैं, इसलिए बैंक को ऋण देने में किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं रहती।

माल तथा माल के अधिकार-पत्रों के दोष—इनके दोष निम्नलिखित हैं

(क) गोदामों की व्यवस्था—इस प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देने के लिए बैंकों को सुरक्षित गोदामों की व्यवस्था करनी पड़ती है और इसमें कभी-कभी काफी परेशानी का भी सामना करना पड़ता है।

(ख) माल के नष्ट हो जाने की सम्भावना—गोदाम में रखे गये माल के नष्ट अथवा खराब हो जाने की सदैव सम्भावना रहती है जिससे बैंक को हानि हो सकती है।

(ग) मूल्य-निर्धारण में कठिनाई—बैंकों को माल का सही-सही मूल्य-निर्धारण करने में कठिनाई होती है और इस विषय में थोड़ी-सी असावधानी से बैंक को काफी हानि हो सकती है।

(घ) कीमतों में उतार-चढ़ाव—कभी-कभी गोदामों में रखे गये माल की कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव होने लगते हैं। यदि कीमतों में भारी कमी हो जाती है तो इससे बैंक को हानि हो सकती है।

(ङ) धोखा-धड़ी—कभी-कभी माल के अधिकार-पत्र झूठे होते हैं और यदि बैंक इनके आधार पर ऋण दे देता है तो उसको बहुत हानि हो सकती है।

(च) अन्य असुविधाएँ—इस प्रकार की जमानत के आधार पर दिये गये ऋणों में अन्य कई प्रकार की असुविधाएँ भी बैंकों को होती हैं। उदाहरणार्थ समय-समय पर ऋणी ऋण की आसान किस्तों में भुगतान करता रहता है और उनके साथ ही साथ गोदाम में से माल भी निकालता रहता है। इससे बैंक को काफी असुविधा उठानी पड़ती है।

उपर्युक्त जमानतों के आधार पर ऋण देते समय बैंक को कुछ बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—(क) ऋण देने से पूर्व गिरवी रखे गये माल के बारे में बैंक को बड़ी सावधानी से जाँच कर लेनी चाहिए ताकि आगे चलकर उसे हानि न उठानी पड़े, (ख) शीघ्र नष्ट हो जाने वाले माल के आधार पर ऋण नहीं देने चाहिए, (ग) माल की कीमत तथा ऋण की राशि में काफी अन्तर होना चाहिए। यदि किसी कारणवश माल की कीमत में कमी हो जाती है तो ऐसा करने से बैंक अपने आपको हानि से बचा सकता है, (घ) बैंक को केवल वही माल स्वीकार करना चाहिए जिसको आसानी से बाजार में बेचा जा सके, (ङ) माल के अधिकार-पत्रों को स्वीकार करने से पूर्व उनके स्वामित्व के बारे में अच्छी तरह से जाँच कर लेनी चाहिए, (च) बैंकों को केवल सुरक्षित गोदामों में ही गिरवी माल को रखना चाहिए और समय समय पर उनका निरीक्षण भी करना चाहिए।

भारत में माल के आधार पर बैंकों द्वारा कम ऋण दिये जाते हैं। इसके कई कारण हैं, जैसे गोदामों का अभाव, सुसंगठित बाजारों का अभाव तथा परिवहन सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव इत्यादि।

(3) विनिमय बिल (*Bill of Exchange*)—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, प्रत्येक बैंक

अपने धन का काफी बडा भाग बिलो के आधार पर ऋण के रूप मे देता है। जब बैंक बिल की परिपक्वता से पूर्व उसका वर्तमान मूल्य चुका देता है तब इसे डिस्काउण्टिग कहते हैं। यह हम पहले भी बता चुके हैं कि बैंक डिस्काउण्टिग व्यवसाय कैसे करता है। इस प्रकार की जमानत के आधार पर दिये गये ऋणो से बैंको को एक विशेष लाभ यह होता है कि आवश्यकता पडने पर वे ऐसे बिलो को केन्द्रीय बैंक से पुन कटौती (rediscounting) कराकर रुपये प्राप्त कर सकते हैं।

विनिमय बिलो के आधार पर दिये गये ऋणो से कई अन्य लाभ भी होते हैं

(क) इन बिलो के मूल्यो मे परिवर्तन नही होता, अतएव बैंक को किसी हानि की सम्भावना नही रहती।

(ख) चूँकि ये बिल अत्यन्त बिक्री-साध्य (saleable) होते हैं, इसलिए इनको आवश्यकता पडने पर भुनाया भी जा सकता है।

(ग) अन्य प्रतिभूतियो की अपेक्षा बिलो के आधार पर दिये गये ऋणो की वसूली आसानी से हो जाती है।

परन्तु बिलो मे ये लाभ होते हुए भी इनमे कुछ दोष पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि बिल को स्वीकार करने वाला व्यक्ति आगे चलकर बिल की रकम चुकाने से इन्कार कर देता है तब ऐसी परिस्थिति मे बैंक को काफी कठिनाई होती है और अन्तत न्यायालयो की शरण लेनी पडती है।

(4) **जीवन-बीमा-पत्र (Life Insurance Policy)**—बैंक अपने धन का कुछ थोडा-सा भाग जीवन-बीमा-पत्रो की जमानत के आधार पर दिये गये ऋणो मे भी लगाता है। परन्तु बैंको द्वारा इस प्रकार के दिये गये ऋण भारत मे अधिक लोकप्रिय नही हो सके हैं। इसका कारण यह है कि बीमा कम्पनियो (L I C) अब स्वय जीवन-बीमा पत्रो के आधार पर अपने ग्राहको को ऋण देती हैं। ऋण देने से पूर्व बैंक पॉलिसियो के अभ्यपूण मूल्य (Surrender Value) की अच्छी तरह से जाँच कर लेता है। बैंक, पॉलिसी के अभ्यपूण मूल्य मे 90 प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं देता।

जीवन-बीमा-पत्रो के आधार पर ऋण देने की प्रथा के निम्नलिखित लाभ हैं ·

(क) जीवन-बीमा-पत्रो का अभ्यपूर्ण मूल्य ज्ञात किया जा सकता है और इस प्रकार मूल्य के आधार पर दिये गये ऋण मे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नही रहती।

(ख) ऋण देने से पूर्व बैंक ऋणी की पॉलिसी को अपने नाम करा लेता है और इस प्रकार ऋण देने मे किसी प्रकार का जोखिम नही रहता।

(ग) यदि बीमा कम्पनी विश्वसनीय है तब पॉलिसी का रुपया डूबने की कोई सम्भावना नहीं रहती। किन्तु जब बीमा कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है तब तो पॉलिसी के रुपये डूबने की बिलकुल ही सम्भावना नही रहती।

(घ) बीमा पालिसी के स्वामित्व का पता लगाने मे भी किसी प्रकार की कठिनाई नही होती।

जीवन-बीमा-पत्रो के आधार पर ऋण देने की प्रथा के निम्नलिखित दोष हैं

(क) बीमा-पत्रो के अभ्यपूर्ण मूल्य के बारे मे जानकारी प्राप्त करना आसान नही होता और इस प्रकार बीमा-पत्र के आधार पर दिये गये ऋण मे जोखिम बना रहता है।

(ख) यदि बीमा-पत्र मे आयु को प्रमाणित नही किया गया है तो इससे आगे चलकर बैंक के लिए कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

(ग) जब बीमा करने वाला व्यक्ति बीमे की प्रीमियम (premium) नही चुकाता, तब बैंक को स्वय इसका भुगतान करना पडता है ताकि पॉलिसी अवैध न हो जाय।

जीवन-बीमा पत्र के आधार पर ऋण देते समय बैंक को इन बातो का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए—(क) पॉलिसी का अभ्यपूण मूल्य निश्चित रूप मे मालूम कर लेना चाहिए और ऋण की मात्रा इस मूल्य से कम की नही होनी चाहिए, (ख) यथासम्भव बैंक को निश्चितकालीन

पॉलिसी (*Endowment Policy*) के आधार पर ही ऋण देना चाहिए, (ग) केवल प्रसिद्ध कम्पनियो की पॉलिसियो पर ऋण दिया जाना चाहिए, (घ) ऋण देने से पूर्व ऋणी की पॉलिसी को बैंक द्वारा अपने नाम करा लेना चाहिए।

(5) **सम्पत्ति (Property)**—वैसे तो बैंक चल तथा अचल दोनो प्रकार की सम्पत्तियो के आधार पर ऋण दे सकता है, परन्तु बैंक को यथासम्भव चल सम्पत्ति के आधार पर ही ऋण देना चाहिए। चल सम्पत्ति मे सोना, चाँदी, तैयार माल, शेयर्स, हुण्डियाँ, विनिमय बिल इत्यादि सम्मिलित किये जा सकते है। चल सम्पत्ति के आधार पर दिये गये ऋणो मे कोई विशेष जोखिम नही रहता, क्योंकि इस प्रकार की सम्पत्ति को आसानी से बेचकर बैंक अपने ऋण की पूर्ति कर सकता है। परन्तु अचल सम्पत्ति (जैसे जमीन, मकान, दूकान आदि) के आधार पर दिये गये ऋण मे बहुत जोखिम रहता है, क्योकि इस प्रकार की सम्पत्ति को बेचना आसान नही होता। इसलिए अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण देने मे बैंक अक्सर हिचकिचाते हैं। कुछ देशो मे तो अचल सम्पत्ति के आधार पर बैंको द्वारा ऋण दिये ही नही जाते।

अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये गये ऋण का एक ही गुण है, और वह यह है कि इससे उन व्यक्तियो को भी ऋण लेने मे सहायता मिल जाती है जिनकी कोई वैयक्तिक साख नही होती और न ही उनके पास ऐसी कोई अन्य वस्तु होती है जिसके आधार पर वे ऋण प्राप्त कर सकते परन्तु अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये गये ऋणो मे कई दोष भी हैं

(क) अचल सम्पत्ति का मूल्यांकन करना आसान नही होता, इसलिए बैंक इसके आधार पर ऋण मे काफी जोखिम उठाता है।

(ख) अचल सम्पत्ति का वास्तविक स्वामित्व जानने मे भी काफी कठिनाई होती है।

(ग) जैसा ऊपर कहा गया है, अचल सम्पत्ति आसानी से बेची नही जा सकती। इसके अतिरिक्त, सम्पत्ति के निरीक्षण, प्रबन्ध तथा मरम्मत आदि पर व्यय करना पड़ता है। इसीलिए भारतीय बैंक प्राय अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नही देते।

ऋण देते समय किन-किन बातो का ध्यान रखा जाय ?

प्रत्येक बैंक को हानि से बचने के लिए ऋण देते समय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखना चाहिए

(1) **परिसम्पत्तियो की तरलता (Liquidity of Assets)**—प्रत्येक बैंक को अपनी परिसम्पत्तियो को यथासम्भव तरल रूप मे रखना चाहिए, इसलिए ऋण देने से पूर्व बैंक को तरल प्रतिभूतियो पर ही जोर देना चाहिए, क्योकि इन्ही मे बैंक की सुरक्षा निहित होती है।

(2) **ऋणो की उत्पादकता**—बैंको को यथासम्भव ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही देना चाहिए, क्योकि उत्पादक कार्यों के लिए दिये गये ऋणो को ऋणियो के लिए लौटाना आसान होता है। सट्टे के कार्यों के लिए तो किसी भी दशा म ऋण नही देना चाहिए।

(3) **प्रतिभूति की आवश्यकता**—बैंको को वैयक्तिक प्रतिभूति (personal security) के आधार पर यथासम्भव ऋण नही देना चाहिए, क्योकि इस प्रकार के ऋणो मे अधिक जोखिम रहता है। इसके विपरीत, बैंको को केवल भौतिक प्रतिभूतियो के आधार पर ही ऋण देना चाहिए ताकि आवश्यकता पडने पर इन प्रतिभूतियो को बेचकर बैंक अपने ऋणो की पूर्ति कर सके।

(4) **प्रतिभूतियों के मूल्य तथा ऋण की मात्रा मे अन्तर**—बैंक को प्रतिभूति के मूल्य तथा ऋण की मात्रा मे काफी अन्तर रखना चाहिए, अर्थात् ऋण की मात्रा प्रतिभूति के मूल्य से काफी कम होनी चाहिए, ताकि प्रतिभूति के मूल्य मे कमी हो जाने से बैंक को क्षति न हो।

(5) **जोखिम का वितरण**—बैंक को जहाँ तक सम्भव हो सके अपनी जोखिम का वितरण करते रहना चाहिए। इसलिए बैंक को अपना धन कुछ थोडे-से व्यक्तियो को न देकर, बहुत से व्यक्तियो तथा किसी एक विशेष उद्योग अथवा व्यवसाय मे निवेश न करके, बहुत-से उद्योगो तथा व्यवसायो मे लगाना चाहिए। इससे बैंक के जोखिम का समुचित वितरण सम्भव हो सकेगा।

(6) **ऋणी की पूछताछ**—बैंक को ऋण देने से पूर्व ऋणी के चरित्र, आर्थिक स्थिति,

ईमानदारी तथा साख के सम्बन्ध मे विस्तृत जाँच कर लेनी चाहिए ताकि बैंक ग्राहक का शिकार न हो सके।

(7) ऋण की वसूली मे नियमितता—बैंक का ऋण की वसूली की ओर उचित ध्यान देना चाहिए और निश्चित अवधि के उपरान्त अपने ऋण की वसूली कर लेना चाहिए। यथासम्भव ऋण का बार-बार नवीनीकरण (renewal) नहीं करना चाहिए क्योकि ऐसा करने से ऋणी की भुगतान करने की उत्सुकता कम हो जाती है।

बैंक का चिट्ठा (तुलन-पत्र)
(Balance Sheet of a Bank)

प्रत्येक बैंक को एक निश्चित अवधि के बाद अपना चिट्ठा प्रकाशित करना पडता है। बैंकिंग नियम के अन्तर्गत उसे ऐसा करने के लिए बाध्य किया जाता है बैंक के तुलन-पत्र से उसकी वास्तविक वित्तीय स्थिति का पता चलता है। उसमे यह पता चलता है कि बैंक की कुल परिसम्पत्ति (assets) कितनी है और इस परिसम्पत्ति मे किन किन मदो को सम्मिलित किया गया है। इससे यह भी पता चलता है कि बैंक की देयताएँ (liabilities) क्या-क्या है और किन किन रूपो मे हैं। इस प्रकार बैंक के तुलन पत्र के अध्ययन मे उसकी वित्तीय अवस्था के बारे मे विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। साधारणत प्रत्येक व्यापारिक बैंक को प्रतिवर्ष अपना तुलन-पत्र प्रकाशित करना पडता है। परन्तु केन्द्रीय बैंक अपना तुलन पत्र प्रति सप्ताह प्रकाशित करता है।

बैंक के तुलन-पत्र का नमूना

लेनदारियाँ या देयताएँ (Liabilities)	लेनदारियाँ या परिसम्पत्तियाँ (Assets)
1 पूँजी (क) अधिकृत पूँजी (Authorised capital) (ख) जारी पूँजी (Issued capital) (ग) स्वीकृत पूँजी (Subscribed capital) (घ) चुकती पूँजी (Paid up capital) (i) अधिमान शेयर (Preference shares) (ii) साधारण शेयर (Ordinary shares) (iii) स्थगित शेयर (Deferred shares)	1 नकदी (Cash) (क) हाथ मे नकदी *(Cash in hand)* (ख) अन्य बैंको व केन्द्रीय बैंक मे जमा (Deposits in Central or other Banks)
2 प्रारक्षित निधि (Reserve fund)	2 याचना मुद्रा (Call money)
3 जमा धन और अन्य खाते (Deposits and other accounts	3 भुनाये तथा खरीदे हुए बिल
4 अन्य बैंको से ऋण (Loans from other Banks)	4 विनियोग (Investments)
5 शोधनीय बिल (Bills payable)	5 ग्राहकों को ऋण तथा पेशगियाँ

6 अन्य बिल (Bills for Collection)	6 स्वीकृतिया तथा बेचान
7 स्वीकृतियाँ (सकार) एव बेचान (Acceptances and Endorsements)	7 कार्य स्थान, फर्नीचर तथा अन्य सम्पत्ति
8 सामयिक तथा आकस्मिक देयताएँ (Contingent liabilities)	
9 लाभ और हानि (Profit and Loss Account)	

बैंक के तुलन-पत्र का विश्लेषण
(Analysis of Balance Sheet of a Bank)

जैसा उपर्युक्त तुलन-पत्र से स्पष्ट है, इसमे बायी ओर देनदारियाँ अथवा देयताएँ दिखायी जाती हैं और दाहिनी ओर लेनदारियाँ अथवा परिसम्पत्तियाँ। दानो ओर की मदो का योग बराबर होता है। अब हम पहले तुलन पत्र की देनदारियो की व्याख्या करेंगे।

(1) पूँजी—तुलन पत्र मे बैंक अपनी पूँजी को निम्न रीति से दिखलाता है

(क) अधिकृत पूजी (Authorised Capital)—जैसा पूर्व कहा गया है प्रत्येक बैंक काम शुरू करने से पहले अधिकृत पूजी की घोषणा कर देता है और इसी पूँजी के आधार पर अपने शेयस निकालता है। अधिकृत पूँजी से अभिप्राय उस अधिकतम पूँजी से है जो बैंक लोगो से आवश्यकता पड़ने पर एकत्रित कर सकता है।

(ख) जारी पूँजी (Issued Capital) यह आवश्यक नही कि कोई बैंक अपनी समूची अधिकृत पूँजी के मूल्य के बराबर ही जनता को शेयर्स बेचे। अधिकृत पूँजी के जिस भाग के शेयर्स वास्तव मे, जनता को बेचने के लिए जारी किये जाते हैं, उसे जारी पूँजी कहा जाता है। यदि बैंक समूची अधिकृत पूँजी के मूल्य के बराबर शेयर्स जारी करता है तो ऐसी परिस्थिति में बैंक की अधिकृत तथा जारी पूँजी बराबर होगी।

(ग) स्वीकृत पूँजी (Subscribed Capital)—यह आवश्यक नही कि बैंक द्वारा जारी किये गये सभी शेयर्स जनता द्वारा खरीद लिए जायें। जितने मूल्य के शेयर्स जनता द्वारा खरीदे जाते है उसे स्वीकृत पूँजी कहते है।

(घ) चुकती पूँजी (Paid-up Capital)—स्वीकृत पूँजी का वह भाग जो लोगो द्वारा वास्तव मे चुका दिया जाता है उसे चुकती पूँजी कहते है।

बैंक जनता से पूँजी एकत्रित करने हेतु विभिन्न प्रकार के शेयर्स जारी करता है जैसे अधिमान शेयर्स साधारण शेयर्स और स्थगित शेयर्स।

(2) प्रारक्षित निधि (Reserve Fund)—जैसा विदित है प्रत्येक बैंक के पास एक प्रारक्षित निधि होती है। इस निधि का निर्माण अवितरित लाभ (undistributed profit) से किया जाता है और इस प्रारक्षित निधि का प्रयोग बैंक द्वारा आकस्मिक हानियो की क्षतिपूर्ति के लिए किया जाता है। भारतीय कानून के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक की प्रारक्षित निधि उसकी चुकती पूंजी के बराबर होनी चाहिए। जब तक प्रारक्षित निधि चुकती-पूँजी के बराबर नही हो जाती है तब तक बैंक को अपने वार्षिक लाभ का 20 प्रतिशत भाग इसमे हस्तान्तरित करना पड़ता है। बैंक की प्रारक्षित निधि जितनी अधिक होती है उतना ही जनता का उसमे अधिक विश्वास होता है। वास्तव मे प्रारक्षित निधि बैंक के शेयर होल्डरो की होती है क्योंकि इसका निर्माण बैंक के वार्षिक लाभ म से होता है। इसलिए इस निधि का शेयर-होल्डरो के हित मे ही प्रयोग किया जा सकता है। प्राय इस प्रारक्षित निधि को प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियो मे लगा दिया जाता है।

(3) जमा धन एव अन्य खाते (Deposits and other Accounts) इसके अन्तर्गत व राशियाँ सम्मिलित की जाती है जो बैंक द्वारा लोगो से जमा के रूप म प्राप्त की जाती है। जैसा पूर्व कहा जा चुका है बैंक मुख्यत तीन प्रकार के खातो म जनता से निक्षेप (deposits) स्वीकार करता है। वास्तव म, ये निक्षेप बैंक की कार्यशील पूँजी होते है और कुछ नकद-कोष रखकर

बैंक इनका निवेश कर देता है। स्मरण रहे कि भारतीय कानून के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को अपने तुलन-पत्र मे विभिन्न प्रकार के निक्षेपो (जमाराशियो) को अलग-अलग रूप से दिखाना अनिवार्य होता है।

(4) **अन्य बैंको से ऋण**—इस शीर्षक के अन्तर्गत, बैंक द्वारा अन्य बैंको से प्राप्त किये गये ऋणो को दिखाया जाता है। जैसा विदित है, कुछ असाधारण परिस्थितियो मे बैंक को दूसरे बैंको से, विशेषकर, केन्द्रीय बैंक मे ऋण लेने पडते है।

(5) **शोधनीय बिल (Bills Payable)**—इस शीर्षक के अन्तगत, उन सभी बिलो की राशि को जोडकर दिखाया जाता है जिनका भुगतान करना बैंक का उत्तरदायित्व होता है।

(6) **अन्य बिल**—इसके अन्तर्गत, उन बिलो की राशि को दिखाया जाता है जिनको बैंक ने अपने ग्राहको की ओर से एकत्रित करने के लिये स्वीकार किया होता है। जब इन बिलो का रुपया एकत्रित हो जाता है, तब उसे ग्राहको को चुका दिया जाता है। अत ऐसे बिलो की राशि को तुलन-पत्र के दोनो स्तम्भो मे दिखाया जाता है। वसूली के पूर्व ये बिल बैंको की लेनदारियाँ होते है, परन्तु वसूली के पश्चात देनदारियाँ बन जाते है।

(7) **स्वीकृतियाँ (सकार) एव बेचान**—इस शीर्षक के अन्तर्गत उस राशि को दिखाया जाता है जिसके मूल्य के बराबर बैंक विनिमय बिल अपने ग्राहको की ओर से स्वीकार करता है। इस प्रकार के स्वीकृत बिल बैंक की देनदारियाँ बन जाते है।

(8) **सामयिक तथा आकस्मिक देयताएँ**—इस शीर्षक के अन्तर्गत बैंक केवल ऐसी देनदारियो को ही दिखाता है जो निश्चित नही होती, अर्थात् जो अज्ञात होती हैं। अपने तुलन-पत्र मे बैंक इस प्रकार की आकस्मिक देयताओ के *लिए भी कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य कर लेता है।*

(9) **लाभ और हानि**—बैंक को वर्ष भर मे जो लाभ प्राप्त होता है, वह इस शीर्षक के अन्तर्गत दिखाया जाता है। चूँकि लाभ शेयर-होल्डरो को चुकाना होता है, इसलिए यह बैंक की देयता होती है।

बैंक के तुलन पत्र के दायें स्तम्भ मे उन राशियो का ब्यौरा दिया जाता है जो बैंको को प्राप्त करनी होती है। इस स्तम्भ के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि बैंक ने अपनी पूँजी का निवेश कैसे किया है और अपनी देयताओ के भुगतान के लिए उसने अपने पास कितनी रकम नकद-कोष के रूप मे और कितनी रकम तरल परिसम्पत्ति के रूप मे रखी है। अब हम इस स्तम्भ मे दी गयी विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियो (assets) का अध्ययन करेंगे।

(1) **नकदी**—प्रत्येक बैंक अपने जमाकर्ताओ की नकदी सम्बन्धी माँग को पूरा करने के लिए सदैव कुछ न कुछ अपने पास नकद कोष रखता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक बैंक देश के केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंको के पास भी कुछ नकद-कोष रखता है। उदाहरणार्थ, भारतीय बैंक अपनी माँग तथा समय देयताओ का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास जमा करते हैं और आवश्यकता पडने पर उनका प्रयोग भी करते है। बैंक की इस नकदी को प्रथम सुरक्षा पंक्ति (First Line of Defence) कहते है।

(2) **याचना मुद्रा (Call Money)**—इस शीर्षक के अन्तगत बैंक द्वारा दिये गये उन सभी ऋणो को सम्मिलित किया जाता है जो माँगने पर तुरन्त देय (*payable*) होते हैं। इस प्रकार के ऋण अधिक से अधिक 15 दिन की अवधि के लिए होते है और बैंक इन्हे किसी भी समय वापस माग सकता है। ये ऋण प्राय तीन प्रकार के होते हैं—(क) केवल एक रात के लिए दिये गये ऋण—ऐसे ऋण प्राय सटोरियो (speculators) द्वारा लिये जाते है, (ख) किसी पूर्व सूचना के बिना माग पर वापस किये जाने वाले ऋण (ग) अल्पकालीन ऋण—जिनका भुगतान एक से लेकर पन्द्रह दिन के भीतर कर दिया जाता है। याचना मुद्रा को बैंक की दूसरी सुरक्षा पंक्ति (Second Line of Defence) कहा जाता है।

(3) **भुनाये तथा खरीदे हुए बिल**—इसके अन्तर्गत, उन बिलो की राशियो का जोड दिखाया जाता है जिन्हे बैंक द्वारा भुनाया अथवा खरीद लिया गया है। इस प्रकार के बिलो की परिपक्वता के उपरान्त बैंक उनकी वसूली कर लेता है, परन्तु यदि परिपक्वता अवधि से पूर्व बैंक

को नकदी की आवश्यकता पड जाती है तो वह इन बिलो को देश के केन्द्रीय बैंक से पुन. बट्टा करा लेता है। इस मद को बैंक की तीसरी सुरक्षा पंक्ति (Third Line of Defence) कहा जाता है।

(4) **निवेश**—इस शीर्षक के अन्तगत बैंक की लाभदायक परिसम्पत्तियो को सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के निवेश की रकम को अलग-अलग दिखाया जाता है। सरकारी तथा गैर सरकारी प्रतिभूतियो मे लगायी गयी रकमो को अलग-अलग दिखाया जाता है।

(5) **ग्राहको को ऋण एवं पेशगियां**—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन राशियो को दिखाया जाता है जो बैंक द्वारा अपने ग्राहको को ऋणो एव पेशगियो के रूप मे दी जाती हैं। जैसा पूर्व कहा जा चुका है, इस प्रकार के ऋण तथा पेशगियां प्राय प्रतिभूतियो अथवा तैयार माल के आधार पर दी जाती हैं। वैसे तो ये ऋण बैंक द्वारा माँग करने पर देय होते हैं, परन्तु व्यवहार मे बैंक इन ऋणो की माँग नही करते और ग्राहक अपनी परिस्थितियो के अनुसार जब चाहे, इन्हे लौटा सकते है। इस मद को बैंक की चौथी सुरक्षा पंक्ति (Fourth Line of Defence) कहा जाता है।

(6) **स्वीकृतियां एवं बेचान**—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन विनिमय-बिलो का समूचा मूल्य दिखाया जाता है, जिन्हे बैंक ने अपने ग्राहको की ओर से स्वीकार किया होता है। यह राशि बैंक की देनदारियो मे भी दिखायी जाती है। चूंकि इसे तुलन-पत्र के दोनो ही स्तम्भो मे दिखाया जाता है, इसलिए तुलन-पत्र के कुल योग पर इसका कुछ भी प्रभाव नही पडता।

(7) **कार्य-स्थान, फर्नीचर तथा अन्य सम्पत्ति**—इस शीर्षक के अन्तर्गत, बैंक की समूची चल व अचल सम्पत्ति के मूल्य को दिखाया जाता है। इसमें बैंक के कार्यालय का भवन, फर्नीचर, स्टेशनरी आदि परिसम्पत्तियो को सम्मिलित किया जाता है। जैसा पूर्व कहा गया है, इस प्रकार की सम्पत्ति बैंक का मृत-स्टॉक होती है। बैंक प्राय इस प्रकार की सम्पत्ति का अपने तुलन-पत्र मे वास्तविक बाजार मूल्य नही दिखाते, बल्कि बाजार मूल्य से बहुत ही कम मूल्य दिखाते हैं। यह इसलिए किया जाता है क्योकि बैंक अपने गुप्त कोषो (secret reserves) का निर्माण करना चाहते हैं। जब कोई बैंक फेल हो जाता है तब इस प्रकार की परिसम्पत्ति को बेचकर जमाकर्ताओ के दावो (claims) का भुगतान कर दिया जाता है।

बैंक के तुलन-पत्र से लाभ
(Advantages of Balance Sheet of a Bank)

किसी बैंक के तुलन-पत्र से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते है

(1) **बैंक की वर्तमान वित्तीय स्थिति के बारे मे ज्ञान**—किसी बैंक की वास्तविक वित्तीय स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके तुलन पत्र का अध्ययन करना चाहिए, क्योकि इसमें बैंक की सभी प्रकार की देनदारियो तथा लेनदारियों का विस्तृत ब्योरा होता है। इससे हमे यह पता चलता है कि बैंक की कुल कार्यशील पूंजी कितनी है और वह किन-किन मदो पर लगायी गयी है। इससे यह भी पता चलता है कि बैंक की नकदी सम्बन्धी परिस्थिति क्या है।

(2) **बैंक की प्रगति के बारे मे जानकारी**—यदि किसी बैंक के गत कुछ वर्षों के तुलन-पत्रो का अध्ययन किया जाय तो हमे यह पता चल सकता है कि बैंक ने अब तक कितनी प्रगति की है, इसकी स्थिति मे कुछ सुधार हुआ है अथवा नही? यदि बैंक की प्रारक्षित निधि मे वृद्धि हुई है तो स्पष्ट है कि बैंक ने प्रगति की है। किसी भी बैंक की वास्तविक स्थिति का अनुमान लगाने के लिए उसकी प्रारक्षित निधि को देखा जाता है। इसी तरह यदि किसी बैंक द्वारा दिया गया लाभाश प्रतिवर्ष बढता चला जा रहा है तो स्पष्ट है कि बैंक प्रतिवर्ष प्रगति कर रहा है।

(3) **दो अथवा दो से अधिक बैंको की वित्तीय स्थिति की तुलना**—यदि हमे दो अथवा दो से अधिक बैंको की तुलना करके यह देखना है कि कौन-सा बैंक अच्छा है तो हमे उन बैंको के तुलन-पत्रो का अध्ययन करना होगा, क्योकि ऐसा करने से ही हम उनकी वित्तीय स्थितियो की तुलना कर सकते हैं। ऐसा करते समय हमे यह देखना होगा कि उनके निक्षेपो, नकद-कोषो, प्रारक्षित-निधियो तथा निवेशो की वास्तविक स्थिति क्या है?

(4) **इसके अध्ययन से यह प्रमाण मिलता है कि जनता का बैंक मे विश्वास कितना है?**

बैंक में जनता का कितना विश्वास है, इसका प्रमाण भी उसके तुलन-पत्र के अध्ययन से मिल जाता है। यदि बैंक की जमाराशियाँ उसकी चुकती-पूँजी के अनुपात में बढ़ती जा रही है तो स्पष्ट है कि जनता का बैंक में विश्वास बढ़ता जा रहा है। जमाराशियों के बढ़ जाने से बैंक की कार्यशील पूँजी भी बढ़ जायगी और बैंक उसका अधिक लाभपूर्ण उपयोग कर सकेगा। बैंक के लाभ बढ़ेंगे, प्रारक्षित निधि बढ़ेगी और परिणामत जनता का बैंक में विश्वास बढ़ जायगा।

(5) **इससे बैंक की सुरक्षा तथा तरलता का ज्ञान होता है**—बैंक के तुलन-पत्र के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी देनदारियाँ किस प्रकार की हैं और उसने अपनी कार्यशील पूँजी का किस ढंग से निवेश कर रखा है। इससे यह भी पता चलता है कि बैंक की परिसम्पत्तियों (assets) में तरलता (liquidity) का कितना अंश है। यदि बैंक ने अपनी कार्यशील पूँजी का अधिकांश भाग प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों में लगा रखा है तो स्पष्ट है कि बैंक की वित्तीय स्थिति सुरक्षित है और आवश्यकता पड़ने पर वह इन प्रतिभूतियों को नकदी में परिवर्तित कर सकता है।

बैंकों के तुलन-पत्रों के उपर्युक्त लाभों के कारण ही भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, 1949 के अन्तर्गत तुलन-पत्र बनाने की एक निश्चित विधि निर्धारित कर दी गयी है और प्रत्येक बैंक को उस विधि के अनुसार अपना तुलन-पत्र तैयार करना पड़ता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **व्यावसायिक बैंकों द्वारा अपनी पूँजी प्राप्त करने के विभिन्न तरीके क्या हैं? विवेचना कीजिए।** (आगरा, बी० कॉम०, 1960)

[संकेत—यहाँ पर बैंकों द्वारा पूँजी प्राप्त करने के पाँच मुख्य साधनों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए (शेयर पूँजी, जमा धन, ऋण, सुरक्षित कोष तथा साख का निर्माण)।]

2 **किसी बैंक के नकद-कोषों को निर्धारित करने वाले महत्त्वपूर्ण घटकों की व्याख्या कीजिए।** (आगरा, बी० कॉम०, 1959)

[संकेत—यहाँ पर नकद-कोष सम्बन्धी उन सभी बातों की व्याख्या कीजिए जिन्हें नकद-कोष निर्धारित करते समय बैंकों द्वारा ध्यान में रखा जाता है।]

3 **ग्राहकों को ऋण देते समय एक बैंकर को किन-किन सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए? एक व्यापारिक बैंक के दृष्टिकोण से कौन से निवेश सबसे उपयुक्त हैं?** (राजस्थान, 1971)

[संकेत—प्रथम भाग में निवेश नीति (investment policy) के मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में, यह बताइए कि एक व्यापारिक बैंक के दृष्टिकोण से याचना मुद्रा, प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ, अच्छी तथा विश्वसनीय पार्टियों द्वारा जारी किये गये विनिमय बिल अधिक उपयुक्त रहते हैं।]

4 **किसी बैंक के एक आदर्श तलपट को बनाइए और इसका विश्लेषण कीजिए।** (सागर, बी० कॉम० 1959)

[संकेत—यहाँ पर किसी बैंक का एक काल्पनिक तुलन-पत्र बनाते हुए उसमें देनदारियों तथा लेनदारियों की मुख्य-मुख्य मदों को दिखाइए और उनका विश्लेषण भी कीजिए।]

5 **"ऋण देते समय बैंकों की सावधानियाँ" विषय पर नोट लिखिए।** (सागर, बी० ए०, 1959)

[संकेत—यहाँ पर यह बताइए कि ऋण देते समय बैंक को निम्न सावधानियाँ बरतनी चाहिए—परिसम्पत्तियों की तरलता, ऋणों की उत्पादकता, प्रतिभूतियों की आवश्यकता, प्रतिभूति के मूल्य तथा ऋण की मात्रा में अन्तर, जोखिम का वितरण, ऋणी की पूछताछ और ऋण की वसूली में नियमितता इत्यादि।]

13

केन्द्रीय बैंकिंग
(Central Banking)

आजकल लगभग सभी देशों मे केन्द्रीय बैंक होता है जो देश की समूची बैंकिंग व्यवस्था को नियन्त्रित करता है। 19वीं शताब्दी मे बहुत कम देशो मे केन्द्रीय बैंक हुआ करते थे, परन्तु 20वीं शताब्दी मे इनकी लोकप्रियता बहुत बढ गयी है। जैसा पूर्व कहा गया है, आज शायद ही कोई ऐसा देश होगा जिसमे केन्द्रीय बैंक न हो। प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक सकट की समस्या का समाधान करने के लिए सन् 1920 में ब्रूसेल्स (Brussels) नामक स्थान पर एक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन किया गया था। इस सम्मेलन मे प्रत्येक देश मे एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की सिफारिश की गयी थी। इस सिफारिश को स्वीकार करते हुए लगभग सभी बड़े देशो ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना की थी। भारत मे भी सन् 1935 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया नाम का केन्द्रीय बैंक स्थापित किया गया था।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा
(Definition of Central Bank)

अर्थशास्त्रियो द्वारा केन्द्रीय बैंक की कई परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी है। नीचे हम तीन महत्त्वपूर्ण परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे

(1) "केन्द्रीय बैंक वह सस्था है जो देश में मुद्रा एव साख का लोक-कल्याण की दृष्टि से सम्बन्ध स्थापित करती है तथा उन्हे देश-हित मे नियन्त्रित करके देशी एव विदेशी कीमतो मे स्थिरता लाती है और बैंकिग व्यवस्था को विकसित तथा सगठित करती है।"

(2) "केन्द्रीय बैंक वह सस्था है जो बैंको तथा साख-सस्थाओ की मुद्रा व साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करती है जो सरकारी बैंक तथा बैंको के बैंक का कार्य करती है और जो देश की मुद्रा तथा साख-प्रणाली का इस ढग से नियन्त्रण करती है कि आन्तरिक कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरो मे सामजस्य स्थापित हो सके, देश की बेकारी दूर हो सके और वास्तविक आय-स्तर मे वृद्धि हो सके।"

(3) "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो देश की साख तथा मुद्रा-प्रणाली की देख-रेख करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक एक साधारण बैंक नही होता बल्कि यह साधारण बैंको से मूलत भिन्न होता है। इसके द्वारा किये गये कार्य साधारण बैंको के कार्यो से भिन्न होते है। केन्द्रीय बैंक को देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते कुछ विशेष अधिकार दिये जाते है। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा का निर्गमन करने का एकाधिकार होता है। वह सरकार का बैंकर होता है और इसी नाते सभी सरकारी कोष उसी के पास रखे जाते हैं। वह बैंको का बैंक होता है और इसी नाते सकटकाल मे अन्य बैंको को सहायता देता है। इसके अतिरिक्त, यह बैंक अन्य बैंको के कार्यो का सामान्य निरीक्षण भी करता है। केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको के साथ प्रतियोगिता करने की छूट नही होती, इसलिए इस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है। उदाहरणार्थ, यह बैंक अन्य बैंको की भाँति जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय नही कर सकता और जनता द्वारा इसमे जमा की गयी राशियो पर ब्याज भी नही दिया जा सकता। इस प्रकार

केन्द्रीय बैंक का दर्जा अन्य बैंकों से भिन्न होता है। इसे कुछ विशेष अधिकार दिये जाते हैं और उनके साथ ही साथ इस पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये जाते है।

केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त
(Principles of Central Banking)

इसके सिद्धान्त इस प्रकार है

(1) **केन्द्रीय बैंक सदैव राष्ट्रीय कल्याण की भावना से प्रेरित होता है**—व्यापारिक बैंक प्राय लाभ-उद्देश्य से ही प्रेरित होते हैं। इनके विपरीत, केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीय कल्याण की भावना से प्रेरित होता है। प्रो० डी काक (De Kock) के शब्दों मे, "केन्द्रीय बैंक का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि वह केवल लोकहित और समूचे देश के कल्याण के लिए ही कार्य करे और लाभ को प्राथमिक उद्देश्य न स्वीकार करे।" परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि केन्द्रीय बैंक हानि उठाकर भी राष्ट्रहित मे कार्य करे। इसका अर्थ तो केवल इतना ही है कि केन्द्रीय बैंक के लिए लाभ-उद्देश्य प्राथमिक (primary) न होकर, गौण (secondary) होना चाहिए।

(2) **मौद्रिक तथा वित्तीय स्थिरता**—केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी है कि यह बैंक देश म मौद्रिक तथा वित्तीय स्थिरता बनाये रखने मे सहायता दे। इसके लिए केन्द्रीय बैंक के शस्त्र भण्डार मे अनेक शस्त्र होते है जिनका प्रयोग करते हुए यह बैंक इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता दे सकता है।

(3) **राजनीतिक प्रभाव से स्वतन्त्रता**—केन्द्रीय बैंक को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रहना चाहिए, अर्थात् केन्द्रीय बैंक पर देश के किसी भी राजनीतिक दल का आधिपत्य नहीं होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक को विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो से ही प्रेरित होना चाहिए किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के बीच पूर्ण सहयोग हो क्योंकि दोनो मिलकर ही देश की आर्थिक समस्याओ का समाधान कर सकते हैं।

केन्द्रीय बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग की तुलना
(Comparison Between Central and Commercial Banking)

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों मे समानताएँ भी हैं तथा असमानताएँ भी। पहले हम इनके बीच समानताओ का अध्ययन करेंगे

(1) **दोनों प्रकार के बैंक मुद्रा-व्यवसायी होते है**—केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक मूलत मुद्रा का व्यवसाय करने वाली संस्थाएँ होती है अर्थात दोनो ही प्रकार के बैंक किसी न किसी रूप मे मुद्रा का व्यवसाय करते है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा का निर्माण करता है, किन्तु व्यापारिक बैंक मुद्रा का लेन देन करते हैं।

(2) **दोनो प्रकार के बैंको द्वारा साख का निर्माण किया जाता है**—दोनो प्रकार के बैंको द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार स साख का निर्माण किया जाता है। जब केन्द्रीय बैंक बिना प्रतिभूतियो के कागजी मुद्रा का निगमन करता है तो वह, वास्तव म साख का निर्माण ही करता है। इसी प्रकार व्यापारिक बैंक भी व्युत्पादित निक्षेपो (derivative deposits) के आधार पर साख-मुद्रा का निर्माण करते है।

(3) **दोनो प्रकार के बैंको को अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं देना चाहिए**—केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनो को ही अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नही देना चाहिए क्योकि ऐसा करने से इनकी परिसम्पत्तियो मे अतरलता (non liquidity) उत्पन्न हो जाती है जो इनके हितो मे नही होती।

(4) **दोनो प्रकार के बैंको को अल्पकालीन ऋण ही देने चाहिए**—केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको को यथासम्भव थोडे समय के लिए ही ऋण देने चाहिए, क्योकि ऐसा करने से उनकी परिसम्पत्तियो मे तरलता बनायी रखी जा सकती है। विशेषकर केन्द्रीय बैंक को तो किसी भी दशा मे दीर्घकालीन ऋण नही देने चाहिए।

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों म कुछ असमानताएँ भी होती है जो निम्नलिखित हैं

(1) केन्द्रीय बैंक देश का सर्वोच्च बैंक होता है और समूची बैंकिंग व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रखता है, जबकि व्यापारिक बैंक समूची बैंकिंग व्यवस्था की इकाई मात्र ही होते हैं।

(2) केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता। वास्तव में, लाभ कमाना तो इसका गौण उद्देश्य होता है। इसका प्राथमिक उद्देश्य तो देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित करना है। इसके विपरीत, व्यापारिक बैंकों का प्राथमिक उद्देश्य लाभ कमाना होता है, इसीलिए वे अपने अतिरिक्त धन को जोखिमपूर्ण कार्यों तक में लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(3) केन्द्रीय बैंक जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय नहीं करता। यह तो केवल अन्य बैंकों तथा सरकार से ही व्यवसाय करता है। इसके विपरीत, व्यापारिक बैंक देश की जनता से प्रत्यक्ष व्यवसाय करते हैं।

(4) केन्द्रीय बैंक मुद्रा-निर्गमन करने वाली संस्था है। वास्तव में, केन्द्रीय बैंक को मुद्रा का निर्गमन करने का एकाधिकार प्राप्त होता है, जबकि व्यापारिक बैंकों का इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं होता।

(5) केन्द्रीय बैंक सरकार का होता है। यह सरकार के सभी कोषों को रखता है। सरकार की ओर से भुगतान करता है और लोक-ऋण (public debt) की व्यवस्था करता है। परन्तु व्यापारिक बैंकों को इस प्रकार की सुविधाएँ नहीं होतीं।

(6) केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता (lender of the last resort) होता है। आवश्यकता पड़ने पर व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से ही ऋण लेते हैं। परन्तु केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से ऋण नहीं लेता। इसलिए केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता कहा जाता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of the Central Bank)

इसके कार्य निम्नलिखित हैं

(1) **कागजी मुद्रा के निर्गमन का एकाधिकार** (Monopoly of Note-Issue)—जैसा पूर्व कहा गया है, 19वीं शताब्दी में व्यापारिक बैंकों को भी नोट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त था, परन्तु व्यापारिक बैंकों द्वारा नोट जारी किये जाने में कई प्रकार की त्रुटियाँ पायी जाती थीं। प्रथम, इनके नोटों में एकरूपता (uniformity) का अभाव होता था। द्वितीय, प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपनी साख के अनुसार ही नोट जारी किया करता था। चूँकि इन बैंकों की साख प्राय सीमित हुआ करती थी, इसलिए इनके द्वारा जारी किये गये नोटों की मात्रा भी सीमित होती थी। तृतीय, कभी-कभी व्यापारिक बैंक अपने नोटों को मुद्रा में बदलने में असमर्थ रहते थे, इसीलिए यह अनुभव किया गया कि व्यापारिक बैंकों द्वारा नोट जारी करने का कार्य सन्तोषजनक नहीं था। कुछ समय के लिए सरकार ने कागजी मुद्रा के निर्गमन का कार्य अपने हाथों में ले लिया, परन्तु यह प्रणाली भी असन्तोषजनक ही सिद्ध हुई क्योंकि इस प्रणाली में प्राय लोच का अभाव रहता था और कागजी मुद्रा का निर्गमन देश की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होता था इसलिए अब यह अनुभव किया जाने लगा कि देश का केन्द्रीय बैंक ही इस कार्य के लिए उपयुक्त संस्था है। अत सन् *1844* में बैंक ऑफ इंग्लैंड को नोट जारी करने का एकाधिकार सौंप दिया गया। उसके उपरान्त, अन्य देशों में भी नोट जारी करने का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्रदान किया गया था। केन्द्रीय बैंक द्वारा कागजी मुद्रा के निर्गमन के निम्नलिखित लाभ हैं

(क) **मुद्रा-प्रणाली में एकरूपता**—इससे देश की मुद्रा-प्रणाली में समानता तथा एकरूपता लायी जा सकती है और इसके साथ ही साथ देश की मुद्रा प्रणाली पर उचित नियन्त्रण भी रखा जा सकता है।

(ख) **मुद्रा में जनता का अधिक विश्वास**—इससे देश की मुद्रा में जनता का विश्वास सुदृढ़ हो जाता है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक की साख बहुत ऊँची होती है।

(ग) **मुद्रा-प्रणाली में लोच**—इससे देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच का गुण उत्पन्न हो जाता है। देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक को देश की मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में पूर्ण जानकारी रहती है और इसी के आधार पर वह कागजी मुद्रा का सचालन करता है। केन्द्रीय बैंक कागजी मुद्रा की मात्रा को आवश्यकताओं के अनुसार घटा-बढ़ा सकता है।

(घ) **साख-निर्माण पर नियन्त्रण**—इससे देश के व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण शक्ति

को भी नियन्त्रित किया जा सकता है, क्योंकि बैंको द्वारा साख-मुद्रा का सृजन अन्ततः कागजी मुद्रा की मात्रा पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार कागजी मुद्रा के माध्यम से केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको की साख निर्माण शक्ति पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकता है।

(ड) सरकार को आर्थिक लाभ—जैसा विदित है, कागजी मुद्रा के निगमन से केन्द्रीय बैंक को आर्थिक लाभ होता है और इस लाभ का कुछ अंश सरकार द्वारा भी कर के रूप मे लिया जा सकता है।

(च) मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यो मे स्थिरता—केन्द्रीय बैंक को जब कागजी मुद्रा के निर्गमन का एकाधिकार मिल जाता है तब इसकी सहायता से वह देशी मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यो मे स्थिरता बनाये रख सकता है। परिणामतः विदेशी विनिमय दरो मे अधिक उतार चढाव नही होते और आन्तरिक कीमत स्तर मे भी स्थिरता बनी रहती है। इसके विपरीत, यदि नोट निगमन का कार्य व्यापारिक बैंको को सौप दिया जाय तो वे देशी मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य-मूल्यो म स्थिरता स्थापित करने मे असमर्थ रहेगे।

इन्ही कारणो से अब सभी देशो मे कागजी मुद्रा के निर्गमन का कार्य केन्द्रीय बैंको को ही सौप दिया गया है। भारत मे भी कागजी मुद्रा का निर्गमन रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा ही किया जाता है।

(2) केन्द्रीय बैंक सरकार का बैंकर होता है (Central Bank ■ Government Banker)—केन्द्रीय बैंक सरकार का आर्थिक परामर्शदाता एजेण्ट तथा बैंकर होता है।

(i) केन्द्रीय बैंक आर्थिक वित्तीय तथा मौद्रिक विषयो पर समय समय पर सरकार को परामर्श देता है। सरकार की आर्थिक नीतियाँ प्राय केन्द्रीय बैंक के परामर्श से ही निर्धारित की जाती हैं। देश का सर्वोच्च बैंक होने के नाते केन्द्रीय बैंक सरकार को इन विषयो के बारे मे अपना उचित परामर्श दे सकता है।

(ii) केन्द्रीय बैंक सरकार का बैंकर होने के नाते सरकार के सभी खातो का हिसाब रखता है। सरकार की समूची आय इसी बैंक मे जमा होती है। सरकारी व्यय के लिए रुपया भी इसी बैंक से निकाला जाता है। परन्तु स्मरण रहे कि केन्द्रीय बैंक सरकारी कोषो पर कुछ भी ब्याज नही देता और सरकार की बडी-बडी रकमें केन्द्रीय बैंक के पास बिना ब्याज के ही पडी रहती हैं। आवश्यकता पडने पर सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण भी ले सकती है परन्तु ये ऋण अल्पकालीन ही होते है। किसी भी दशा मे केन्द्रीय बैंक सरकार को दीर्घकालीन ऋण नही देता क्योकि इससे बैंक की परिसम्पत्तियो की तरलता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। कभी कभी सरकार केन्द्रीय बैंक से अत्यधिक मात्रा मे ऋण लेकर इस सुविधा का दुरुपयोग भी करती है जिससे देश मे मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि अधिकाश देशो मे केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकार को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा को सीमित कर दिया गया है। केन्द्रीय बैंक सरकारी कोष का स्थानान्तरण भी करता है। यह सरकार के लिए विदेशी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय भी करता है। जब सरकार को जनता से ऋण लेना होता है तो ऐसा करने के लिए सरकार केन्द्रीय बैंक की सेवाओ का ही उपयोग करती है अर्थात् सरकार केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही जनता से ऋण लेती है। स्मरण रहे कि इन सेवाओ के बदले केन्द्रीय बैंक सरकार से कुछ भी शुल्क वसूल नही करता क्योकि केन्द्रीय बैंक स्वय सरकारी कोषो पर कोई ब्याज नही देता।

(3) केन्द्रीय बैंक, बैंको का बैंक है (Central Bank is Bankers Bank)—केन्द्रीय बैंक देश का सर्वोच्च बैंक होता है। व्यापारिक बैंक इसके साथ सम्बद्ध (affiliated) होते हैं। इसी नाते प्रत्येक सम्बद्ध बैंक को अपनी देयताओ का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप मे रखना पडता है। जैसा विदित है प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपनी देयताओ का कुछ भाग नगद कोषो के रूप मे अपने पास रखता है, ताकि ग्राहको की माँग होने पर वह उनके धन की अदायगी कर सके। व्यापारिक बैंक इस प्रकार के नकद कोषो को दो प्रकार से रखते हैं प्रथम, अपने पास नकद कोष द्वितीय, केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप मे नकद कोष। व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास रखे गये कोष को भी नकद कोष ही मानते है और आवश्यकता पडने पर उसका उपयोग भी करते हैं। अब लगभग सभी देशो मे बैंकिंग विधान के अन्तर्गत प्रत्येक

व्यापारिक सम्बद्ध बैंक को अपनी देयताओं का कुछ प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास अनिवार्य रूप मे रखना पडता है। इसके कई लाभ हैं

(क) साख-प्रणाली मे लोच—जब किसी व्यापारिक बैंक की कुछ रकम केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखी रहती है तब वह अपने पास की नकद रकम के आधार पर अधिक से अधिक मात्रा मे साख का सृजन कर सकता है क्योंकि वह जानता है कि आवश्यकता पडने पर वह केन्द्रीय बैंक मे अपनी जमा की राशि वापस माँग सकता है।

(ख) नकद-कोषो का अधिकतम उपयोग—इससे व्यापारिक बैंको के काफी मात्रा मे नकद-कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा हो जाते हैं और केन्द्रीय बैंक इन कोषो का उपयोग राष्ट्रीय हित मे कर सकता है।

(ग) नकद मुद्रा के उपयोग मे बचत—चूंकि केन्द्रीय बैंक देश का समाशोधन-गृह (clearing house) भी है इसीलिए सभी बैंको का आपसी लेन देन प्राय इसी माध्यम से होता है। इससे लेन देन मे मुद्रा का प्रयोग कम किया जा सकता है क्योंकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के नाम चैंक लिखकर एक दूसरे को भुगतान कर सकते हैं। केन्द्रीय बैंक एक बैंक के खाते मे से रुपया निकालकर दूसरे बैंक के खाते म जमा कर देता है जिससे मुद्रा के हस्तान्तरण की आवश्यकता नही रहती।

केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता (lender of the last resort) के रूप मे भी कार्य करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब किसी व्यापारिक बैंक को कहीं से भी ऋण प्राप्त नही होता, तब वह केन्द्रीय बैंक से ऋण की माँग करता है और केन्द्रीय बैंक उचित प्रतिभूतियो के आधार पर उसे ऋण प्रदान कर देता है। व्यापारिक बैंक अपनी प्रतिभूतियो तथा बिलो का केन्द्रीय बैंक से पुन बट्टा (rediscounting) करा सकता है अर्थात् व्यापारिक बैंक अपनी प्रतिभूतियो तथा बिलो को केन्द्रीय बैंक से पुन भुना सकता है इससे व्यापारिक बैंको को बहुत लाभ होता है और आवश्यकता पडने पर उन्हे केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त हो सकता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंको को इस प्रकार की साख देने के निम्नलिखित लाभ हुए है

1 **व्यापारिक बैंक थोडे से नकद कोष के आधार पर ही अपना काम चला सकते हैं**—इसका कारण यह है कि व्यापारिक बैंक आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बैंक से अपनी प्रतिभूतियो को पुन भुना सकते हैं। इसलिए उन्हे जमाकर्ताओं की माँग को पूरा करने के लिए अपने पास अधिक मात्रा मे नकद धन रखने की आवश्यकता नही पडती।

2 **सकटकाल मे बैंको को आर्थिक सहायता उपलब्ध हो सकती है**—इससे व्यापारिक बैंको को सकट के समय केन्द्रीय बैंक से आर्थिक सहायता मिल सकती है और इससे वे सकट का सफलता-पूर्वक मुकाबला कर सकते है। इससे व्यापारिक बैंको मे जनता का विश्वास भी बढ जाता है क्योंकि लोग समझते हैं कि विपत्ति पडने पर व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से सहायता प्राप्त कर सकते है। वास्तव मे केन्द्रीय बैंक का वही दर्जा है जो बच्चो के लिए माता पिता का होता है। जब बच्चे कठिनाई मे फँस जाते हैं तो इनकी सहायता करना माता पिता का कर्तव्य होता है।

3 **इससे केन्द्रीय बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण स्थापित करने का अच्छा अवसर मिल जाता है**—जब कोई व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से आर्थिक सहायता की माँग करता है तब केन्द्रीय बैंक को इस बैंक की वित्तीय स्थिति का विस्तृत अध्ययन करने का अधिकार हो जाता है। केन्द्रीय बैंक न केवल उस बैंक की वित्तीय स्थिति का अध्ययन ही करता है बल्कि उसको सुधारने के लिए अपने सुझाव भी प्रस्तुत करता है। व्यापारिक बैंक को वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए इन सुझावों को स्वीकार करना पडता है। परिणामत केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंको पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

4 **केन्द्रीय बैंक समाशोधन-गृह का कार्य करता है**—केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंको के लिए समाशोधन-गृह अथवा निकासी गृह (clearing house) का काम भी करता है। वास्तव मे केन्द्रीय बैंक इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त सस्था है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक के पास सभी सम्बद्ध बैंको के खाते खुले होते है और इन खातो मे ये बैंक कुछ नकद कोष अवश्य ही रखते है। इस प्रकार इन बैंको द्वारा एक दूसरे पर जारी किये गये चैंको का भुगतान केन्द्रीय बैंक द्वारा समाशोधन-गृह के रूप मे आसानी से किया जा सकता है और ऐसा करने से नकदी की मांग

बहुत कम हो जाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए कि बैंक 'क' तथा बैंक 'ख' दोनों ही केन्द्रीय बैंक से सम्बद्ध हैं। यह भी मान लीजिए कि 'क' बैंक के पास 'ख' बैंक पर जारी किये गये 15,000 रुपये के चैक हैं और 'ख' बैंक के पास 'क' बैंक पर जारी किये गये 10,000 रुपये के चैक हैं। अब समाशोधन-गृह के अभाव में 'क' बैंक 15,000 रुपये के चैक 'ख' बैंक के पास ले जायगा और 'ख' बैंक 10,000 रुपये के चैक 'क' बैंक के पास ले जायगा। इस तरह दोनों बैंकों के बीच बड़े पैमाने पर नकदी का आदान-प्रदान होगा। अब मान लीजिए कि दोनों बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा स्थापित समाशोधन-गृह के सदस्य हैं। ऐसी परिस्थिति में अब केवल 'ख' बैंक को ही 5,000 रुपये देने पड़ेंगे, क्योंकि केन्द्रीय बैंक द्वारा उनके परस्पर दायित्वों (liabilities) का निपटारा कर दिया जायगा और केन्द्रीय बैंक 'क' बैंक के खाते में 5,000 रुपये जमा कर देगा। इस तरह नकद मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, समाशोधन-गृह का एक अन्य लाभ यह है कि इसके कारण व्यापारिक बैंक बहुत कम मात्रा में नकद-कोष रखकर काफी बड़ी मात्रा में साख का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि समाशोधन-गृह के कारण नकदी की माँग बहुत कम हो जाती है।

5 केन्द्रीय बैंक राष्ट्र के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक होता है—यह भी केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। केन्द्रीय बैंक राष्ट्र के समूचे स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य करता है। यदि विदेशी विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव होते हैं तो उनको दूर अथवा कम करने के लिए केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है। उदाहरणार्थ यदि किसी विदेशी मुद्रा की कीमत बढ़ जाती है तो केन्द्रीय बैंक उस मुद्रा को अपने कोष में से निकालकर बेचने लगता है। इससे उस विदेशी मुद्रा की कीमत स्वतः गिर जाती है। इसी प्रकार यदि किसी विदेशी मुद्रा की कीमत गिर जाती है तो केन्द्रीय बैंक उस मुद्रा का बाजार से क्रय करना आरम्भ कर देता है जिससे उसकी कीमत पुनः बढ़ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं की कीमतों में स्थिरता बनाये रखता है। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण भी लागू कर देता है।

6 केन्द्रीय बैंक आर्थिक तथ्यों तथा आँकड़ों को एकत्रित व प्रकाशित करता है—लगभग सभी देशों में केन्द्रीय बैंक आर्थिक तथ्यों तथा आँकड़ों को एकत्रित करता है और उनका प्रकाशन भी करता है। इससे देश की अर्थ-व्यवस्था के बारे में बहुमूल्य जानकारी उपलब्ध होती है और इसी के आधार पर सरकार अपनी आर्थिक नीतियों का निर्माण भी करती है।

7 केन्द्रीय बैंक साख-मुद्रा का नियन्त्रण करता है—वास्तव में, यह केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्य इसी पर निर्भर करते हैं। जैसा स्पष्ट है साख-मुद्रा का देश की अर्थ-व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। साख मुद्रा यदि सीमित मात्रा में प्रचलित की जाय तो यह देश के लिए वरदान सिद्ध हो सकती है। परन्तु यदि इसे सीमित न रखा जाय तो यह देश के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। जैसा हम जानते हैं, यदि साख मुद्रा का अत्यधिक विस्तार कर दिया जाता है तो इससे देश के लिए अत्यन्त गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि साख मुद्रा को निश्चित सीमाओं के भीतर ही रखा जाय। केन्द्रीय बैंक ही एक ऐसी संस्था है जो साख पर उचित नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। साख-मुद्रा पर उचित नियन्त्रण स्थापित करने से देश के सामान्य कीमत स्तर में स्थिरता लायी जा सकती है, विदेशी विनिमय-दरों में स्थायित्व स्थापित किया जा सकता है तथा उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। इसलिए साख मुद्रा का नियन्त्रण नितान्त आवश्यक है। केन्द्रीय बैंक साख मुद्रा का नियमन तथा नियन्त्रण कैसे करता है? इसका आगे चलकर अध्ययन किया जायगा।

निष्कर्ष—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त, कुछ अन्य कार्य भी हैं जो केन्द्रीय बैंकों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा है। विशेषकर पश्चिमी देशों में तो केन्द्रीय बैंक कई प्रकार के अन्य कार्यों को भी सम्पन्न करने लगे हैं। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है? वास्तव में, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में भी मतभेद है। प्रो० हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उसका अन्तिम ऋणदाता होना है।" प्रो० स्मिथ

(Smith) के मतानुसार, "केन्द्रीय बैंक द्वारा कागजी मुद्रा का निर्गमन ही उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।" प्रो० शा (Shaw) का विचार है कि केन्द्रीय बैंक के कार्यो मे से साख-नियन्त्रण ही उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रो० किश एण्ड एलकिन (Kisch and Elkin) ने मुद्रामान के स्थायित्व को बनाये रखना ही केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विषय पर अर्थशास्त्रियो मे एक प्रकार का विवाद चल रहा है। वास्तव मे, यह कहना बहुत कठिन है कि केन्द्रीय बैंक का कौन-सा कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। प्रो० डी कॉक (De Kock) ने इस विवाद को व्यर्थ बताते हुए, केन्द्रीय बैंक के महत्त्वपूर्ण कार्यो को इस प्रकार गिनाया है—(1) कागजी मुद्रा का निर्गमन जिसका इसे पूर्ण अथवा आंशिक एकाधिकार होता है, (2) सरकार के लिए बैंकिग तथा एजेण्ट सम्बन्धी सेवाएँ सम्पन्न करना, (3) व्यापारिक बैंको के नकद-कोषो को रखना, (4) राष्ट्र की धातु-निधि को रखना, (5) विनिमय बिलो, ट्रेजरी बिलो एव अन्य प्रतिभूतियो को पुन. भुनाना, (6) अन्तिम ऋणदाता का कार्य सम्पन्न करना, (7) विभिन्न सम्बद्ध बैंको के पारस्परिक दायित्वो का निबटारा करना, (8) व्यापारिक आवश्यकताओ तथा राज्य द्वारा घोषित मुद्रामान की स्थिरता को ध्यान मे रखते हुए साख-मुद्रा का नियन्त्रण करना।

केन्द्रीय बैंक और मुद्रा-नीति
(Central Bank and Monetary Policy)

केन्द्रीय बैंक का देश की मुद्रा-नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जैसा विदित है, मुद्रा-नीति से अभिप्राय मुद्रा के विस्तार एव सकुचन से है। इसके अन्तर्गत, देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा का विस्तार तथा सकुचन किया जाता है। जैसा हम जानते हैं, आधुनिक काल मे साख-मुद्रा कुल मुद्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग होती है। इसलिए मुद्रा की मात्रा मे विस्तार तथा सकुचन से अभिप्राय प्राय साख-मुद्रा के विस्तार एव सकुचन से होता है। जैसा पूर्व कहा जा चुका है, केन्द्रीय बैंक साख-मुद्रा के विस्तार तथा सकुचन पर उचित एव प्रभावपूर्ण नियन्त्रण लागू करता है। अब हम यह देखेंगे कि केन्द्रीय बैंक साख-मुद्रा पर कैसे नियन्त्रण लागू करता है ? परन्तु इससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साख-नियन्त्रण के उद्देश्य क्या-क्या होते है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य
(Objects of Credit Control)

इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) **आन्तरिक कीमतो में स्थिरता स्थापित करना**—*जैसा विदित है, आन्तरिक कीमतो* मे अस्थिरता के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था को बहुत हानि होती है। अतएव साख नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य देश की आन्तरिक कीमतो मे स्थिरता स्थापित करना है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब साख की मात्रा तथा देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के बीच उचित समायोजन स्थापित किया जाय, अर्थात् साख की मात्रा देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार ही होनी चाहिए। यदि किसी देश मे साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओ से कम है तो कीमत-स्तर मे गिरावट आयेगी। इसके विपरीत, यदि साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओ से अधिक है तो इससे कीमत-स्तर मे वृद्धि हो जायगी। इसलिए कीमत स्तर मे स्थिरता बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि साख की मात्रा व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार ही हो। केन्द्रीय बैंक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि साख की मात्रा तथा व्यापारिक आवश्यकताओ के बीच किसी प्रकार की खाई न हो।

(2) **विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करना** - केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित करना भी हो सकता है। जैसा विदित है, विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता का होना देश के विदेशी व्यापार के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यदि विदेशी विनिमय दरो मे अस्थिरता बनी रहती है तो इससे विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अत. जिन देशो का विदेशी व्यापार महत्त्वपूर्ण है, उन्हे इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए कि विदेशी विनिमय-दरो मे भारी उतार-चढाव न हो

ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरों में स्थायित्व स्थापित करना होगा।

(3) **व्यापार-चक्रों पर नियन्त्रण स्थापित करना**—जैसा विदित है, पूंजीवादी देशों में व्यापार-चक्रों (trade cycles) के कारण आर्थिक अस्थिरता का वातावरण बना रहता है। इससे देश की अर्थ-व्यवस्था को बहुत हानि होती है। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य व्यापार-चक्रों को दूर अथवा कम करना होना चाहिए। उनके मतानुसार साख की मात्रा को घटा-बढ़ाकर व्यापार-चक्र पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।

(4) **आर्थिक नियोजन की सफलता**—पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण नीति का उद्देश्य आर्थिक नियोजन को सफल बनाना होना चाहिए। इन देशों में वित्त के अभाव के कारण आर्थिक विकास की गति प्रायः धीमी हो जाती है। अतएव इस कठिनाई को दूर करने के लिए ऐसे देशों में केन्द्रीय बैंक द्वारा साख का विस्तार कर वित्त की समस्या को हल किया जा सकता है।

(5) **युद्ध की तैयारी**—साख-नियन्त्रण का उद्देश्य साख की मात्रा में वृद्धि करके, देश को युद्ध के लिए तैयार करना भी हो सकता है। आधुनिक युद्ध इतने खर्चीले हो गये हैं कि साख का विस्तार किये बिना उनका पर्याप्त रूप में अर्थ प्रबन्धन (finance) नहीं किया जा सकता। इसी कारण दूसरे विश्व युद्ध के दौरान लगभग सभी देशों ने बड़े पैमाने पर साख का विस्तार किया था।

वस्तुतः साख-नियन्त्रण के प्रथम चार उद्देश्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन कभी-कभी एक की प्राप्ति करने में दूसरे की अवहेलना का भय रहता है। अतः किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे का ध्यान रखना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से साख-नियन्त्रण नीति का प्रयोग अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहे कि उक्त सभी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केवल साख-नियन्त्रण नीति से ही काम नहीं चल सकता। उसके साथ ही साथ समुचित राजकोषीय नीति (fiscal policy) भी अपनायी जानी चाहिए।

साख-नियन्त्रण की रीतियाँ
(Methods of Credit Control)

अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि साख नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा किन किन रीतियों का प्रयोग किया जाता है

(1) **बैंक दर नीति** (Bank Rate Policy)—वास्तव में, बैंक दर नीति साख-नियन्त्रण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। **बैंक-दर से अभिप्राय उस न्यूनतम दर से है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों को पुनः भुनाने के लिए अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण देने के लिए तैयार रहता है।** कुछ देशों में बैंक-दर को कटौती-दर (discount rate) भी कहते हैं। बैंक-दर बाजार दर से भिन्न होती है। **बाजार-दर से अभिप्राय ब्याज की उस दर से है जिस पर देश के व्यापारिक बैंक तथा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाएँ हुण्डियों एवं अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों को भुनाने अथवा उनके आधार पर ऋण देने के लिए तैयार रहती हैं।** स्पष्ट है कि बैंक-दर तो केन्द्रीय बैंक की पुनः बट्टा दर (rediscount rate) है जबकि बाजार-दर व्यापारिक बैंकों की बट्टा करने की दर होती है। बैंक-दर तथा बाजार-दर में गहरा सम्बन्ध होता है। जब बैंक-दर बढ़ा दी जाती है तब बाजार दर भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर कम कर दी जाती है, तब बाजार-दर भी कम हो जाती है। बैंक-दर सामान्यतः बाजार-दर से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों के लिए अन्तिम ऋणदाता है। ये बैंक केन्द्रीय बैंक से ऋण की माँग तभी करते हैं, जब इनको अन्य संस्थाओं से ऋण उपलब्ध नहीं होते। इसीलिए केन्द्रीय बैंक उनसे ऊँची दर वसूल करता है। वास्तव में, केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक-दर एक दण्ड के रूप में वसूल की जाती है।

केन्द्रीय बैंक की बैंक दर के परिवर्तनों से अन्य सभी प्रकार की ब्याज की दरों पर प्रभाव पड़ता है। यदि बैंक-दर में वृद्धि कर दी जाती है तो मुद्रा-बाजार की ब्याज की सभी दरें ऊँची हो जाती हैं। व्यापारियों के लिए ऋणों का लेना महँगा हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-

व्यवस्था मे साख का सकुचन होने लगता है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर मे कमी कर दी जाती है तब मुद्रा बाजार की अन्य ब्याज की दरो मे भी कमी हो जाती है। व्यापारियो द्वारा ऋणो का लेना लाभदायक हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था मे साख का विस्तार होने लगता है। इस प्रकार बैंक-दर तथा ब्याज की अन्य दरो मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। परन्तु स्मरण रहे कि बैंक दर के परिवर्तनो का मुद्रा-बाजार की अन्य ब्याज की दरो पर तभी प्रभाव पडता है, जबकि उस देश का मुद्रा-बाजार विकसित एव सगठित होता है। यदि देश का मुद्रा बाजार विकसित एव सुसगठित नही है तो ऐसी दशा मे बैंक-दर अन्य दरो को प्रभावित करने मे असमर्थ रहती है।

कुछ देशो मे केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रत्येक सम्बद्ध बैंक के लिए ऋण की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है। यदि सम्बद्ध बैंक निर्धारित सीमा से अधिक ऋण की माँग करता है तो केन्द्रीय बैंक उससे बढती हुई दर पर ब्याज लेता है। जापान, फ्रास, पीरू एव कोलम्बिया मे इस प्रकार की पद्धति कार्यशील है। इसे बहुमुखी बैंक दर (multiple bank rate) कहते हैं।

बैंक-दर मे परिवर्तन क्यो किये जाते हैं—जैसा विदित है समय समय पर केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर मे परिवर्तन किये जाते हैं। इन परिवर्तनों के उद्देश्य निम्नलिखित हुआ करते है

(क) विनिमय-दर मे सुधार जब विदेशी विनिमय दर देश के प्रतिकूल होती है, तब इसे ठीक करने अथवा देश के अनुकूल बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक, बैंक दर मे वृद्धि कर देता है। इससे विदेशी पूंजी उस देश की ओर आकर्षित होने लगती है। देशी मुद्रा की माँग बढ जाती है और परिणामतः विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष मे हो जाती है।

(ख) स्वर्ण कोष की रक्षा—जब देश का स्वर्ण किसी कारण अधिकाधिक मात्रा मे बाहर जाने लगता है, तब उसे रोकने के लिए बैंक-दर मे वृद्धि कर दी जाती है। इससे स्वर्ण का निर्यात स्वत ही बन्द अथवा कम हो जाता है।

(ग) सट्टे पर नियन्त्रण जब देश मे सट्टा तेजी से होने लगता है तब इससे देश को आर्थिक हानि होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। सट्टेबाज अधिकाधिक मात्रा म व्यापारिक बैंको से ऋण लेने लगते है और व्यापारिक बैंक उस माँग को पूरा करने के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना आरम्भ कर देते है। ऐसी परिस्थिति मे केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर मे वृद्धि कर देता है। इससे सट्टेबाजो को अधिक ब्याज की दर पर रुपया उधार मिलता है जिसके फलस्वरूप सट्टा व्यवसाय स्वत ही हतोत्साहित हो जाता है।

(घ) प्रतिशोध की भावना (Spirit of Retaliation)—कभी-कभी बैंक-दर मे इसलिए वृद्धि कर दी जाती है क्योकि अन्य देशो मे बैंक-दर को बढा दिया जाता है। इसका कारण यह है कि अन्य देशो मे बैंक दर के बढ जाने से पूँजी का निर्यात उन देशो को होने लगता है। अत पूँजी के इस निर्यात को रोकने के लिए देश की बैंक-दर मे वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है।

अब तक तो हमने उन उद्देश्यो का अध्ययन किया है जिनके कारण बैंक दर मे वृद्धि की जाती है। अब हम उन उद्देश्यो की विवेचना करेंगे जिनके कारण बैंक दर मे कमी की जाती है·

(क) मुद्रा-बाजार मे धनाभाव को दूर करने के लिए—जब किसी देश के मुद्रा बाजार मे धन का अभाव उत्पन्न हो जाता है तब ऐसी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए बैंक-दर को कम कर दिया जाता है। परिणामत व्यापारिक बैंको की साख निर्माण की शक्ति बढ जाती है और मुद्रा-बाजार मे धन का अभाव कम हो जाता है।

(ख) मुद्रा की माँग मे वृद्धि करने के लिए—प्राय मन्दीकाल मे व्यवसायियो अथवा व्यापारियो की मुद्रा की माँग घट जाती है। ऐसी परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए केन्द्रीय बैंक बैंक दर मे कमी कर देता है ताकि व्यवसायी तथा व्यापारी लोग अधिक मात्रा मे ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित हो।

(ग) विदेशी पूंजी के आयात के लिए—जब किसी देश मे बडे पैमाने पर विदेशी पूंजी का आयात होता है और यह आयात देश के हित मे नही होता, तब ऐसी परिस्थिति मे केन्द्रीय बैंक बैंक दर को कम करके विदेशी पूँजी के आयात को हतोत्साहित करता है।

बैंक-दर मे परिवर्तनों के प्रभाव—बैंक-दर मे किये गये परिवर्तनो के प्रभाव अग्रलिखित हैं

(क) साख का विस्तार तथा संकुचन—जब बैंक-दर बढ़ा दी जाती है, तब मुद्रा की माँग कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि बैंक-दर के बढ़ जाने से ब्याज की अन्य दरें भी बढ़ जाती हैं। परिणामत व्यवसायियों के लिए बैंको से ऋण लेना लाभप्रद नही रहता और वे ऋण लेना कम कर देते हैं। इससे साख सकुचन हो जाता है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर कम कर दी जाती है तब ब्याज की अन्य दरें भी कम हो जाती हैं जिससे व्यापारियो के लिए ऋण लेना लाभप्रद हो जाता है और वे पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे ऋण लेने लगते हैं। इससे साख का विस्तार होने लगता है।

(ख) आन्तरिक कीमत स्तर पर प्रभाव—बैंक दर मे कमी हो जाने से साख का विस्तार होता है, जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक एव व्यापारिक-कार्यो को प्रोत्साहन मिलता है। सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। परिणामत आन्तरिक कीमत-स्तर बढने लगता है। इसके विपरीत, जब बैंक दर मे वृद्धि कर दी जाती है तो इससे साख का सकुचन होने लगता है। औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्य हतोत्साहित होन लगते हैं। परिणामत आन्तरिक कीमत स्तर मे कमी होने लगती है। स्मरण रहे कि बैंक-दर मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप मजदूरी मे भी परिवर्तन होते है। जब बैंक-दर मे कमी होती है तब साख एव उत्पादन के विस्तार के परिणामस्वरूप मजदूरी मे भी वृद्धि होने लगती है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर मे वृद्धि की जाती है तब साख एव उत्पादन के सकुचन के परिणामस्वरूप मजदूरी मे भी कमी होने लगती है।

(ग) पूंजी के प्रवाह पर प्रभाव—जब बैंक-दर मे वृद्धि कर दी जाती है तब ब्याज की सभी दरो मे वृद्धि हो जाती है, जिससे विदेशी पूंजी देश की ओर आकर्षित होने लगती है। इसके विपरीत जब बैंक-दर मे कमी कर दी जाती है तब ब्याज की सभी दरो मे कमी हो जाती है और देशी पूंजी विदेशो की ओर आकर्षित होने लगती है।

(घ) विदेशी विनिमय दरो पर प्रभाव—जब बैंक दर बढा दी जाती है तब ब्याज की अन्य दरें भी बढ जाती है और विदेशो से पूंजी का आयात होने लगता है। इससे देश का अदायगी शेष (balance of payments) अनुकूल हो जाता है और विनिमय की दर भी देश के अनुकूल हो जाती है। इसके विपरीत, जब बैंक-दर कम कर दी जाती है तब ब्याज की अन्य दरें भी कम हो जाती हैं। देशी पूंजी का विदेशो को निर्यात होने लगता है। इससे देश का अदायगी शेष प्रतिकूल हो जाता है और विनिमय की दर भी देश के प्रतिकूल हो जाती है।

बैंक दर नीति के महत्त्व मे कमी के कारण—विगत कुछ वर्षो मे बैंक-दर नीति का महत्त्व कम हो गया है। अब यह इतनी प्रभावशाली नही रही जितनी कि पहले हुआ करती थी। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(क) अर्थ-व्यवस्था में लोच की कमी- बैंक दर नीति तभी सफल हो सकती है जबकि देश की अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अंश हो। यदि देश की अर्थ व्यवस्था मे लोचहीनता उत्पन्न हो जाती है, तब बैंक-दर नीति सफल नही हो सकती। इसका कारण यह है कि *अर्थ-व्यवस्था* मे लोचहीनता के कारण बैंक-दर मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव उत्पादन, कीमत स्तर इत्यादि पर कम पडता है। अतएव साख का इनके साथ समन्वय ठीक ढग से नही हो पाता। परिणामत बैंक-दर नीति साख का नियन्त्रण प्रभावशाली ढग से नही कर सकती है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात लगभग सभी देशो की अर्थ व्यवस्था मे लोचहीनता उत्पन्न हो गयी थी जिसके फलस्वरूप बैंक-दर नीति का महत्त्व पहले की अपेक्षा अब कम हो गया है।

(ख) व्यापारिक बैंकों की परिसम्पत्तियों की तरलता—विगत कुछ वर्षो से विभिन्न देशो के व्यापारिक बैंक अपनी परिसम्पत्तियो (assets) को अत्यधिक तरल रूप मे रखने लगे हैं। इससे उन्हे केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की अब इतनी आवश्यकता नही पडती जितनी कि पहले हुआ करती थी अर्थात् व्यापारिक बैंको की केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता पहले की अपेक्षा कम हो गयी है जिसके *परिणामस्वरूप बैंक दर नीति का महत्त्व कम हो गया है।*

(ग) साख नियन्त्रण की अन्य रीतियो का उदय—विगत कुछ वर्षों मे साख नियन्त्रण की कुछ अन्य रीतियो का उदय हुआ है जो बैंक दर नीति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं। अत बैंक-दर नीति को पृष्ठभूमि मे धकेल दिया गया है।

(घ) ब्याज की दर में वृद्धि—कभी-कभी व्यापारिक बैंक, बैंक-दर मे की गयी वृद्धि के प्रभाव को अपने जमाकर्ताओ को उनकी जमाराशियो पर ऊँची ब्याज-दर देकर तटस्थ (neutralise) कर देते है। जब बैंक जमाकर्ताओ को ऊँची ब्याज की दर का आकर्षण प्रस्तुत करते हैं, तब उन्हे पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे निक्षेप (deposits) उपलब्ध होने लगते है, जिससे उनकी साख-निर्माण-शक्ति बढ जाती है और वे पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे साख का सृजन करने लगते हैं। इस प्रकार व्यापारिक बैंक बैंक-दर मे की गयी वृद्धि को निष्प्रभावित (ineffective) कर देते है।

(ड) बैंक दर नीति का प्रभाव तात्कालिक नहीं होता—चूंकि बैंक-दर नीति का प्रभाव तात्कालिक नही होता, इसलिए भी इसका महत्व कम है। मौद्रिक क्षेत्र मे तो वही नीति कारगर सिद्ध हो सकती है जिसका प्रभाव तात्कालिक होता है।

(च) व्यापारिक बैंको की केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता मे कमी—जैसा स्पष्ट है, बैंक-दर नीति तभी सफल हो सकती है जबकि व्यापारिक बैंक तथा अन्य सस्थाएँ, ऋणो के लिए केन्द्रीय बैंक पर निर्भर रहती है। परन्तु आजकल ऐसे प्रथम श्रेणी के बहुत से बैंक स्थापित हो चुके है जिनकी केन्द्रीय बैंक पर निर्भरता बहुत कम रहती है। इस प्रकार बैंक दर-नीति का महत्त्व स्वतः ही कम हो जाता है।

(छ) नगद साख तथा ओवरड्राफ्ट सुविधाओ का अधिक उपयोग–आजकल आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करने मे विनिमय बिलो का महत्व घटता जा रहा है। इसके विपरीत, आन्तरिक व्यापार का अर्थ प्रबन्ध अधिकाधिक मात्रा मे नकद-साख तथा ओवरड्राफ्ट ऋणो द्वारा किया जाता है। इससे बैंक-दर नीति की सप्रभाविकता कम हो जाती है, क्योकि अब केन्द्रीय बैंक से विनिमय बिलो को पुन भुनाने की आवश्यकता इतनी नही है जितनी कि पहले हुआ करती थी।

बैंक दर नीति की परिसीमाएँ—ये निम्नलिखित हैं

(क) देश की अर्थ-व्यवस्था मे लोच—बैंक दर नीति की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णत लोचदार होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि लोचदार अर्थ-व्यवस्था मे बैंक-दर मे हुए परिवर्तनो का प्रभाव उत्पादन, मजदूरियो, कीमतो, व्यापार तथा ब्याज की दरो पर पडता है। यदि देश की अर्थ-व्यवस्था लोचहीन है तब बैंक दर मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव इन चीजो पर अधिक नही पडेगा। परिणामत बैंक-दर नीति सफल नही हो सकेगी।

(ख) बैंक-दर मे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार मुद्रा-बाजार की ब्याज की अन्य दरो मे परिवर्तन—बैंक-दर नीति की सफलता की एक शर्त यह भी है कि बैंक दर मे होने वाले परिवर्तनो के साथ-साथ मुद्रा बाजार की अन्य ब्याज की दरो मे भी उसी दिशा मे परिवर्तन होने चाहिए जिस दिशा मे बैंक-दर मे परिवर्तन हुए है, अर्थात् यदि बैंक-दर मे वृद्धि कर दी गयी है तो अन्य ब्याज-दरो मे भी वृद्धि होनी चाहिए। इसके विपरीत, यदि बैंक दर मे कमी की जाती है तो अन्य ब्याज-दरो मे भी कमी होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे, मुद्रा-बाजार की ब्याज दरें बैंक दर के अनुकूल होनी चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब मुद्रा-बाजार पूर्ण रूप से विकसित एव संगठित हो। यदि देश का मुद्रा-बाजार विकसित एव सुसगठित नही है तो बैंक-दर तथा ब्याज की अन्य दरो मे ऐसा सम्बन्ध स्थापित नही हो सकेगा। उदाहरणार्थ, भारत मे एक विकसित एव सुसगठित मुद्रा-बाजार के अभाव के कारण बैंक-दर तथा ब्याज की अन्य दरो मे कोई सीधा सम्बन्ध सम्भव नही है।

बैंक-दर नीति का इतिहास सन् 1914 से पूर्व बैंक-दर नीति साख-नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन हुआ करती थी। विशेषकर ग्रेट ब्रिटेन मे इस नीति को बहुत बडी सफलता प्राप्त हुई थी। परन्तु विश्व के अन्य देशो मे बैंक-दर नीति इतनी सफल नही हो सकी जितनी कि ग्रेट ब्रिटेन मे। इसका कारण यह था कि अन्य देशो मे न तो अर्थ व्यवस्थाएँ इतनी लोचपूर्ण थी जितनी कि ग्रेट ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था थी और न ही मुद्रा-बाजार इतने विकसित थे जितना कि ग्रेट ब्रिटेन का मुद्रा बाजार। आजकल तो बैंक-दर नीति का महत्त्व और भी कम हो चुका है। इसकी तुलना मे साख नियन्त्रण की अन्य रीतियाँ अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। प्रो० केन्ज (Keynes) के अनुसार बैंक दर नीति साख-नियन्त्रण का एक रूढ़िवादी उपाय है। उनके मतानुसार देश की आर्थिक स्थिरता के लिए बचत और निवेश का पारस्परिक सन्तुलन अत्यन्त आवश्यक है और यह

सन्तुलन बैंक दर नीति तथा साख नियन्त्रण के अन्य उपायो द्वारा ही स्थापित नही किया जा सकता बल्कि इसके लिए सरकार को प्रत्यक्ष रूप मे निवेशो (investments) की व्यवस्था करनी चाहिए। मन्दीकाल मे सार्वजनिक कार्यो (public works) का विकास करना चाहिए। इस प्रकार प्रो० केन्ज बैंक-दर नीति को कोई अधिक महत्व नही देते। लेकिन यहाँ पर यह कह देना उचित ही होगा कि बैंक-दर नीति का महत्व अभी पूर्णत समाप्त नही हुआ है। अब भी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए विभिन्न देशो द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। दूसरे विश्व युद्ध, विशेषकर सन् 1950 के बाद, मुद्रा-स्फीति का मुकाबला करने के लिए बैंक-दर नीति का अधिक प्रयोग किया जाने लगा है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)**—यह भी साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण उपाय है। इस रीति का उपयोग विभिन्न देशो द्वारा प्रथम विश्व युद्ध के बाद किया गया था। खुले बाजार की क्रियाओ का अर्थ इस प्रकार है। **जब केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार खुले बाजार मे प्रतिभूतियो (securities) का क्रय-विक्रय करती है तब इसे खुले बाजार की क्रियाएँ कहते हैं।** परन्तु यह इसका विस्तृत अर्थ है। इसको सकुचित अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जाता है। **जब केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार मुद्रा बाजार मे केवल सरकारी प्रतिभूतियो का ही क्रय विक्रय करती है, तब इसे खुले बाजार की क्रियाएँ कहते हैं।**

केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करने के लिए खुले बाजार की क्रियाओ का इस प्रकार प्रयोग करता है—मान लीजिए कि मुद्रा बाजार मे द्रव्य की बहुतायत है और सम्बद्ध बैंक बडे पैमाने पर साख का सृजन कर रहे है परन्तु केन्द्रीय बैंक बडे पैमाने पर साख के इस निर्माण के विरुद्ध है, क्योकि वह समझता है कि अधिक मात्रा मे किया जाने वाला साख का निर्माण देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक है। अत केन्द्रीय बैंक ऐसी परिस्थिति मे प्रतिभूतियो (securities) को बाजार मे बेचना शुरू कर देगा। इसका परिणाम यह होगा कि बडे पैमाने पर द्रव्य का हस्तान्तरण केन्द्रीय बैंक को होने लगेगा, क्योकि जो लोग केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियो को खरीदेंगे उन्हे केन्द्रीय बैंक को इनकी कीमत चुकानी होगी। इस प्रकार सम्बद्ध बैंको से केन्द्रीय बैंक की ओर मुद्रा का हस्तान्तरण होने लगेगा। सम्बद्ध बैंको की जमाराशियाँ कम हो जायेंगी और परिणामत उनकी साख सृजन की शक्ति भी कम हो जायगी। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियो को बेचने की नीति का परिणाम साख-सकुचन होता है।

इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि मुद्रा-बाजार मे द्रव्य की कमी है और इसी कारण साख का निर्माण कम मात्रा मे हो रहा है तो वह मुद्रा बाजार मे प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देगा। इससे केन्द्रीय बैंक से मुद्रा-बाजार की ओर द्रव्य का हस्तान्तरण आरम्भ हो जायगा। इसका कारण यह है कि जब केन्द्रीय बैंक साधारण जनता अथवा बैंको से प्रतिभूतियो को खरीदता है तब उस समय उसे इन प्रतिभूतियो की कीमत चुकानी पडती है। परिणामत सम्बद्ध बैंको की जमाराशियाँ बढ जाती हैं और बढी हुई जमाराशियो के आधार पर सम्बद्ध बैंक अधिक मात्रा मे साख का सृजन करने लगते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियो को खरीदने की नीति का स्पष्ट परिणाम साख विस्तार होता है।

खुले बाजार की क्रियाओ के उद्देश्य—खुले बाजार की क्रियाओ के उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(क) **स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात तथा निर्यात के प्रभावो को दूर करना**—स्वर्णमान के अन्तर्गत जब देश मे सोने का आयात होता है तब उसके परिणामस्वरूप मुद्रा एव साख का परिमाण भी बढ जाता है। कीमत स्तर मे वृद्धि हो जाती है। यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि कीमतो मे होने वाली यह वृद्धि देश के हित मे नही है तो वह प्रतिभूतियो को बेचकर मुद्रा एव साख मुद्रा की पूर्ति को कम कर सकता है। इसमे कीमत स्तर मे स्वत ही गिरावट आ जाती है। इसके विपरीत, यदि देश से सोने का निर्यात होना है तब मुद्रा एव साख की मात्रा कम होने लगती है और कीमत स्तर मे गिरावट आ जाती है। यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि कीमतो की यह गिरावट देश के हित मे नही है तो वह मुद्रा तथा साख की कमी को दूर करने के लिए प्रतिभूतियो को खरीदना आरम्भ कर देता है। इससे मुद्रा तथा साख की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है और अन्तत कीमत स्तर भी बढने लगता है

(ख) **पूंजी के निर्यात पर रोक लगाना**—यदि किसी देश मे बडे पैमाने पर विदेशो को

पूँजी का निर्यात हो रहा है और केन्द्रीय बैंक समझता है कि पूँजी का यह निर्यात देश के हित में नहीं है तो वह ऐसी परिस्थिति में प्रतिभूतियों को बेचकर मुद्रा-बाजार से अतिरिक्त (Surplus) मुद्रा अपनी ओर खींच सकता है।

(ग) बैंक पर दौड़ को रोकना—जब किसी कारणवश लोगों में घबराहट पैदा हो जाती है तो वे बैंक से अपने निक्षेप (deposits) निकालने के लिए दौड़ पड़ते हैं (run on the banks), तब बैंकों के लिए एक अत्यन्त खतरनाक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी तो बैंक इस स्थिति का मुकाबला करने में असमर्थ रहते हैं और फेल भी हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक बाजार से बड़े पैमाने पर प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देता है। इससे मुद्रा-बाजार की ओर द्रव्य का हस्तान्तरण होने लगता है। जनता में पुनः विश्वास उत्पन्न हो जाता है। सम्बद्ध बैंकों पर दौड़ समाप्त हो जाती है और वे आर्थिक संकट से बच जाते हैं।

(घ) मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी को दूर करना—जब किसी समय मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी उत्पन्न हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है, तब ऐसी परिस्थिति में केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदकर मुद्रा-बाजार में मुद्रा की मात्रा को बढ़ा देता है।

(ङ) बैंक-दर को सफल बनाना—जब कभी बैंक दर साख का नियन्त्रण करने में असफल रहती है, तब इसे सफल बनाने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का भी उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, जब बैंक दर में की गयी वृद्धि के परिणामस्वरूप सम्बद्ध बैंक ब्याज की दरों को नहीं बढ़ाते तब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचकर उनकी अतिरिक्त निधि को कम कर देता है। परिणामतः सम्बद्ध बैंकों को ब्याज की दरें बढ़ाने के लिए विवश होना पड़ता है।

खुले बाजार की नीति बनाम बैंक दर की नीति—(Open Market Operations vs. Bank Rate Policy)—विगत कुछ वर्षों में खुले बाजार की क्रियाओं का महत्व बढ़ गया है। इसके दो मुख्य कारण हैं : प्रथम, खुले बाजार की नीति बैंक-दर की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, सक्रिय तथा प्रत्यक्ष होती है। *जब बैंक दर में कोई परिवर्तन किया जाता है तब ब्याज की अल्पकालीन* दरों पर इसका प्रभाव तुरन्त पड़ता है। परन्तु ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर यह प्रभाव काफी समय के बाद ही पड़ता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ तक ब्याज की अल्पकालीन दरों का सम्बन्ध है, *बैंक-दर नीति काफी प्रभावशाली सिद्ध हुई है, परन्तु ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर बैंक-दर नीति* का प्रभाव इतना शीघ्र नहीं पड़ता जितना कि अल्पकालीन दरों पर। इसकी तुलना में खुले बाजार की क्रियाओं का अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की ब्याज की दरों पर तुरन्त एवं प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। *द्वितीय, खुले बाजार की क्रियाएँ स्वतन्त्र रूप से कार्यशील होती हैं,* अर्थात् खुले बाजार की क्रियाएँ बिना किसी अन्य रीति की सहायता के साख का नियन्त्रण करने में समर्थ होती हैं। खुले बाजार की नीति के इस गुण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में कुछ मतभेद है। प्रो० कीन्ज (Keynes) के अनुसार, *'खुले बाजार की नीति किसी अन्य रीति की सहायता के बिना साख का उचित नियन्त्रण कर सकती है।' इसके विपरीत प्रो० हाट्रे (Hawtrey) का यह* विचार है कि खुले बाजार की नीति अन्य रीतियों की सहायता के बिना साख का उचित नियन्त्रण *नहीं कर सकती। वास्तव में, बैंक-दर नीति खुले बाजार की नीति आपस में प्रतियोगी न होकर,* एक दूसरे की पूरक हैं। दूसरे शब्दों में बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की नीति दोनों का प्रयोग एक साथ होना चाहिए, तभी साख को प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित किया जा सकता है।

खुले बाजार की क्रियाओं की परिसीमाएँ—खुले बाजार की नीति तब ही सफल हो सकती है जब कुछ शर्तें पूरी की जायें। ये शर्तें इस प्रकार हैं :

(क) प्रतिभूतियों की माँग तथा पूर्ति सदैव विद्यमान होनी चाहिए—खुले बाजार की नीति तब ही सफल हो सकती है जब बाजार में प्रतिभूतियों की माँग तथा पूर्ति दोनों ही विद्यमान हों। यदि मुद्रा-बाजार में प्रतिभूतियों की माँग ही नहीं है तो केन्द्रीय बैंक द्वारा बेचे जाने पर उन्हें कोई नहीं खरीदेगा। इसी प्रकार यदि मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की पूर्ति ही नहीं है तो केन्द्रीय बैंक द्वारा खरीदे जाने पर प्रतिभूतियों को बेचने वाला ही कोई नहीं होगा।

(ख) खुले बाजार की क्रियाओं से सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोष प्रभावित होने चाहिए—

खुले बाजार की नीति की सफलता की दूसरी शर्त यह है कि इससे सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोष प्रभावित होने चाहिए, अर्थात् यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बेचता है तो सम्बद्ध बैंकों के नकद कोष कम हो जाने चाहिए। परन्तु यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों को बेचने पर भी सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोष कम न हों। उदाहरणार्थ, यदि लोग केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियों का अपने संचित कोषों से खरीदते हैं तो इससे सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोष कम नहीं होंगे। इसी प्रकार यदि देश का अदायगी शेष (balance of payments) अनुकूल है और विदेशों से रुपया आ रहा है तो केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के बेचने पर भी सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों में कमी नहीं होगी। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदता है, तब सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों में वृद्धि होनी चाहिए, परन्तु सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों को खरीदने के बावजूद सम्बद्ध बैंकों के नकद कोषों में वृद्धि न हो। हो सकता है कि इसी बीच लोग मुद्रा का संग्रह करना आरम्भ कर दें। यह भी हो सकता है कि अदायगी शेष प्रतिकूल होने पर देश से पूँजी का निर्यात होने लगे। इस प्रकार खुले बाजार की क्रियाएँ तभी सफल हो सकती हैं जबकि इन क्रियाओं के परिणामस्वरूप सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों में भी परिवर्तन हो।

(ग) सम्बद्ध बैंकों की ऋण-नीति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए—खुले बाजार की नीति की सफलता की तीसरी शर्त यह है कि सम्बद्ध बैंकों की ऋण देने की नीति में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि सम्बद्ध बैंकों की ऋण-नीति में परिवर्तन हो जाता है तो खुले बाजार की नीति सफल नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदकर सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों में वृद्धि कर देता है, ताकि वे अधिक मात्रा में साख का सृजन करें। परन्तु यदि सम्बद्ध बैंक किसी कारणवश अपने ग्राहकों को ऋण देना कम कर देते हैं तो फिर उनके नकद कोषों के बढ़ने पर भी साख का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं हो सकेगा।

(घ) ग्राहकों की ऋण सम्बन्धी माँग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए—खुले बाजार की नीति की सफलता की चौथी शर्त यह है कि ग्राहकों की ऋण लेने की नीति में भी कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि ग्राहकों की ऋण लेने की नीति में कोई परिवर्तन होता है, तो उससे खुले बाजार की नीति सफल नहीं हो सकेगी। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदकर सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों को बढ़ा देता है, ताकि वे अधिक मात्रा में साख का सृजन कर सकें। परन्तु यदि देश की अनिश्चित आर्थिक एवं राजनीतिक दशा के कारण ग्राहक बैंकों से ऋण लेना बन्द अथवा कम कर देते हैं तो ऐसी परिस्थिति में साख की मात्रा को नहीं बढ़ाया जा सकता, हालांकि सम्बद्ध बैंकों के नकद-कोषों में वृद्धि हो चुकी है। इस प्रकार सम्बद्ध बैंकों के पास फालतू धन पड़ा रहेगा और केन्द्रीय बैंक साख विस्तार के अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकेगा। यही कारण है कि मन्दीकाल में केन्द्रीय बैंक भरसक प्रयत्नों के बावजूद साख के निर्माण में वृद्धि नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे समय ग्राहक अनिश्चित वातावरण के कारण ऋण लेना पसन्द नहीं करते।

(ङ) मुद्रा बाजार विकसित एवं सुसंगठित होना चाहिए—खुले बाजार की नीति की सफलता की पाँचवीं शर्त यह है कि देश का मुद्रा बाजार विकसित एवं सुसंगठित होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक तथा सम्बद्ध बैंकों में घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। बिल-बाजार भी सुव्यवस्थित होना चाहिए। जब तक ये शर्तें पूरी नहीं होतीं, तब तक केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की नीति सफल नहीं हो सकती।

(च) केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियाँ बेचने व खरीदने की शक्ति असीमित होनी चाहिए—खुले बाजार की नीति की सफलता की अन्तिम शर्त यह है कि केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियाँ बेचने व खरीदने की शक्ति असीमित होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार प्रतिभूतियाँ खरीदने व बेचने में समर्थ होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि केन्द्रीय बैंक अधिक मात्रा में प्रतिभूतियाँ खरीदना चाहता है, परन्तु ऐसा करने के लिए उसके पास आवश्यक धन का अभाव है तो ऐसी परिस्थिति में वह मुद्रा-बाजार में से इच्छित मात्रा में प्रतिभूतियाँ नहीं खरीद सकेगा और परिणामतः मुद्रा-बाजार में साख का विस्तार नहीं हो सकेगा।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि खुले-बाजार की नीति को सफल बनाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तों को पूरा करना अनिवार्य हो जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन शर्तों के अभाव मे केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करने मे बिलकुल ही असमर्थ होता है। स्मरण रहे कि केन्द्रीय बैंक की शक्ति व साधन इतने विशाल होते है कि वह इन सभी शर्तों के पूरा न होने पर भी कुछ न कुछ मात्रा मे अवश्य ही साख का नियन्त्रण कर सकता है। उदाहरणार्थ भारत मे यद्यपि एक *विकसित एवं सुसगठित मुद्रा-बाजार का अभाव* है, लेकिन फिर भी रिजर्व बैंक कुछ न कुछ मात्रा मे साख का नियन्त्रण अवश्य ही कर सकता है।

सन् 1930 से पूर्व विश्व के कुछ गिने चुने देशो के केन्द्रीय बैको द्वारा ही खुले *बाजार की* नीति अपनायी जाती थी, परन्तु सन् 1930 के बाद लगभग सभी देशो मे केन्द्रीय बैंको को खुले बाजार की क्रियाओ की नीति का अनुकरण करने का *अधिकार दिया गया था। यद्यपि अधिकाश* केन्द्रीय बैंक केवल सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय करते हैं, लेकिन कुछ देशो के केन्द्रीय बैंक (जैसे जापान, आस्ट्रेलिया, डेनमार्क) पूर्णत निजी प्रतिभूतियाँ भी खरीद अथवा बेच सकते है।

खुले बाजार की क्रियाओ का जितना प्रयोग अमरीका एव कनाडा मे होता है उतना विश्व के अन्य किसी देश मे नही होता। इसका मुख्य कारण यह है कि न्यूयार्क का मुद्रा-बाजार बहुत ही विकसित एव सुसगठित है। अन्य देशो मे खुले बाजार की नीति को कोई अधिक सफलता नही मिली है।

(3) बैंक की प्रारक्षित-निधियो के अनुपात मे परिवर्तन (**Changes in the Ratio of Bank's Reserves**)—यह भी साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण उपाय माना जाता है। सर्वप्रथम, प्रो० केन्ज ने इस उपाय का सुझाव रखा था। आजकल लगभग सभी केन्द्रीय बैंको द्वारा साख नियन्त्रण के लिए इस उपाय का उपयोग किया जाता है। जैसा विदित है, सभी सम्बद्ध बैंक अपनी जमाराशियो का एक निश्चित प्रतिशत बैंक के पास प्रारक्षित-निधि (reserve fund) के रूप मे रखते हैं। केन्द्रीय बैंक इन प्रारक्षित-निधियो के अनुपात में समय-समय पर परिवर्तन करता रहता है। यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि साख का सृजन आवश्यकता से अधिक हो रहा है तो सम्बद्ध बैंको की प्रारक्षित निधियो के अनुपात को बढा देता है। इससे सम्बद्ध बैंको को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक मात्रा मे प्रारक्षित निधियाँ रखनी पड़ती है जिससे उनके नकद कोषो मे कमी हो जाती है। परिणामत उनकी साख-सृजन की शक्ति भी कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि साख का सृजन आवश्यकता से कम मात्रा मे हो रहा है तो वह सम्बद्ध बैंको की प्रारक्षित निधियो के अनुपात को कम कर देता है। इससे सम्बद्ध बैंको के पास नकद कोष बढ जाते हैं। परिणामत उनकी साख सृजन की शक्ति भी बढ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक प्रारक्षित निधियो के अनुपात को घटा बढाकर साख सृजन की मात्रा मे परिवर्तन कर सकता है। वास्तव मे बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओ के बाद यह एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। सर्वप्रथम, सन् 1935 मे इस उपाय का उपयोग अमरीका के फेडरल रिजर्व सिस्टम (**Federal Reserve System**) द्वारा किया गया था। इसके उपरान्त अन्य देशो ने भी बडे पैमाने पर साख नियन्त्रण के लिए इस उपाय का उपयोग किया था। चूंकि इस रीति को अपनाने से सभी सम्बद्ध बैंको पर प्रभाव पडता है अत केन्द्रीय बैंक को इसका उपयोग सावधानी से करना चाहिए।

(4) तरल कोषानुपात पद्धति (**Liquidity Ratio System**)—दूसरे विश्व युद्ध के दौरान साख-नियन्त्रण की एक अन्य पद्धति का आविष्कार किया गया था। इसके अधीन, सम्बद्ध बैंको को अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित भाग तरल रूप मे अनिवार्यत रखना पडता है। इस तरल भाग मे नकद-राशि एव कुछ सरकारी प्रतिभूतियाँ होती है। इसका प्रभाव यह होता है कि सम्बद्ध बैंको को अपने निक्षेपो का एक निश्चित भाग नकदी एव सरकारी प्रतिभूतियो मे रखना पडता है। उस सीमा तक उनकी साख-सृजन शक्ति कम हो जाती है। सरकार को इससे यह लाभ होता है कि बैंको द्वारा उसकी प्रतिभूतियाँ अनिवार्य रूप मे खरीदी जाती है।

साख-नियन्त्रण के रूप मे इस पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम सन 1946 मे बेल्जियम द्वारा किया गया था। तदुपरान्त, सन् 1947 एव 1948 मे इसका प्रयोग क्रमश इटली तथा फ्रांस द्वारा किया गया था। इसके बाद समय-समय पर अन्य देशो ने भी इसे अपनाया था। यूरोप म

केन्द्रीय बैंको को इस नीति से पर्याप्त सफलता मिली है। वास्तव में, यह नीति विकासशील देशो के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इससे एक ओर तो सरकार को बैंको से ऋण लेने मे सहायता मिलती है और दूसरी ओर केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंको के तरल कोषो पर समुचित नियन्त्रण भी रख सकता है।

(5) **उपभोक्ता साख का नियमन** (Regulation of Consumer Credit)—सर्वप्रथम इस रीति का प्रयोग दूसरे महायुद्ध के दौरान अमरीका म किया गया था। इस रीति का उपयोग प्राय मुद्रा स्फीति का मुकाबला करने के लिए किया जाता है। जैसा विदित है, मुद्रा स्फीति के समय उपभोग्य वस्तुओ की कीमतें बहुत बढ जाती है। इस रीति का उद्देश्य साख नियन्त्रण द्वारा उपभोग्य वस्तुओ की कीमतो को नीचे लाना होता है। इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओ को वस्तुओ की कीमतो की अदायगी म किस्त साख सम्बन्धी सुविधाओ की कमी कर दी जाती है, अर्थात कीमत चुकाने मे पहले उपभोक्ताओ को जो किस्त-सम्बन्धी सुविधाएँ (instalment facilities) दी जाती थी, उन्ह कम कर दिया जाता है। इससे उपभोक्ताओ की वस्तु सम्बन्धी माँग मे कमी हो जाती है और मुद्रा स्फीति के कुप्रभावो को रोकने म काफी सहायता मिलती है। अमरीका के अतिरिक्त ब्रिटेन कनाडा आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड तथा बेल्जियम आदि देशो मे मुद्रा स्फीति के कुप्रभावो को कम करने के लिए इस रीति का उपयोग किया गया है।

(6) **प्रतिभूति ऋणो (Secured Loans) की सीमान्त आवश्यकताओ मे परिवर्तन करना**—इस रीति का उपयोग भी सर्वप्रथम अमरीका म ही किया गया था। इसके अन्तर्गत, सट्टा-कार्यो को हतोत्साहित करने के लिए साख का नियन्त्रण किया जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि सम्बद्ध बैंको को सट्टा-कार्यो के लिए ऋण प्रदान नही करने चाहिए अथवा कम मात्रा मे करने चाहिए तो ऐसी परिस्थिति मे इन ऋणो के पीछे रखी जाने वाली प्रतिभूतियो के मार्जिन (margin) अथवा अन्तर म वृद्धि कर दी जाती है। दूसरे शब्दो म, यदि कोई व्यक्ति सट्टा उद्देश्य के लिए बैंक से ऋण लेना चाहता है तो उसे अब ऋण लेने के लिए अधिक मात्रा म प्रतिभूतियाँ बैंक के पास रखनी होगी। इसस सट्टा कार्यों के लिए साख का निर्माण स्वत ही हतोत्साहित हो जायगा।

(7) **साख का राशनिंग** (Rationing of Credit)—कभी कभी साख नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक साख का राशनिंग भी कर देना है। जैसा विदित है, केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता होता है और आवश्यकता पडने पर सभी सम्बद्ध बैंक इससे ऋण लेते हैं। अत केन्द्रीय बैंक साख का राशनिंग कर सकने की स्थिति मे होता है। विशेषकर मुद्रा स्फीति के समय जबकि अत्यधिक मात्रा म सम्बद्ध बैंको द्वारा साख का सृजन किया जाता है, तब इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए केन्द्रीय बैंक साख का राशनिंग कर देता है। केन्द्रीय बैंक साख का राशनिंग कई विधियो से कर सकता है—(क) केन्द्रीय बैंक किसी विशेष सम्बद्ध बैंक की पुन भुनाने की सुविधा को पूर्णत समाप्त कर सकता है (ख) केन्द्रीय बैंक सभी बैंको की पुन भुनाने की सुविधा को कम कर सकता है (ग) केन्द्रीय बैंक विभिन्न सम्बद्ध बैंको के लिए साख का कोटा (quota) निश्चित कर सकता है (घ) केन्द्रीय बैंक विभिन्न उद्योगो अथवा व्यवसायो के लिए साख की सीमा निश्चित कर सकता है। इस प्रकार साख का राशनिंग करके केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को नियन्त्रित करने मे सफल हो जाता है परन्तु स्मरण रह कि साख राशनिंग म केन्द्रीय बैंक को कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। उदाहरणार्थ केन्द्रीय बैंक को सभी सम्बद्ध बैंक की साख सम्बन्धी आवश्यकताओ का अनुमान लगाना पडता है। यह कोई आसान काम नहीं होता।

(8) **विज्ञापन एव प्रचार** (Publicity and Propaganda,—यह भी साख नियन्त्रण का एक साधन माना जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक चाहता है कि सम्बद्ध बैंक उसकी साख-सम्बन्धी नीति का सही ढग से अनुसरण करे तो उसे बडे पैमाने पर अपनी नीति का प्रचार तथा विज्ञापन करना पडता है। किसी भी नीति को सफल बनाने के लिए उसके पक्ष म जनमत तैयार करना पडता है और जनमत तैयार करने के लिए विज्ञापन तथा प्रचार अनिवार्य साधन माने जाते हैं। इसीलिए केन्द्रीय बैंक समय समय पर देश की आर्थिक स्थिति के बारे मे विचार व्यक्त करता है और इसके प्रकाशनो (publications) को देश के बैंको तथा अन्य सस्थाओ मे वितरित किया

जाता है ताकि वे केन्द्रीय बैंक के विचारो से अवगत रहे। अमरीका तथा जर्मनी मे इस रीति का केन्द्रीय बैंको द्वारा बडे पैमाने पर उपयोग किया जाता है।

(9) **नैतिक दबाव तथा समझाने-बुझाने की नीति (Moral Persuasion)**—कभी-कभी केन्द्रीय बैंक सम्बन्ध बैंको को समझा-बुझाकर एव नैतिक दबाव डालकर उन्हे इस बात के लिए राजी कर लेता है कि वे उसकी साख-सम्बन्धी नीति का स्वेच्छापूर्वक अनुसरण करें। चूंकि केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार का नेतृत्व करता है और इसके पास विशाल आर्थिक साधन होते है, अतएव सम्बद्ध बैंक इसके द्वारा दिये गये परामर्श की आसानी से उपेक्षा नही कर सकते। उदाहरणार्थ, यदि सम्बद्ध बैंक बडे पैमाने पर सटोरियो (speculators) को ऋण दे रहे हू, परन्तु केन्द्रीय बैंक इसे उचित नही समझता तो वह सम्बद्ध बैंकों को यह परामर्श दे सकता है कि वे सटोरियो को ऋण देना बन्द कर दें अथवा कम कर दें। अब सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक के इस परामर्श की उपेक्षा नही कर सकते। परन्तु इस रीति का उपयोग तभी किया जा सकता है जब केन्द्रीय बैंक को सम्बद्ध बैंको का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो। जिन देशो मे सम्बद्ध बैंकोकी सख्या अधिक होती है, वहा पर यह रीति अधिक कारगर सिद्ध नही होती।

(10) **सीधी कार्यवाही (Direct Action)**—जब सम्बद्ध बैंको पर नैतिक दबाव अथवा समझाने-बुझाने की नीति का कुछ भी असर नही पडता, तब विवश होकर केन्द्रीय बैंक को उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष अथवा सीधी कार्यवाही करनी पडती है। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक असहयोगी बैंको की हुण्डियो का पुन बट्टा करना बन्द कर देता है और उनके कार्यों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देता है। इस प्रकार सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशो की उपेक्षा नही कर सकते। प्राय केन्द्रीय बैंक इस रीति का उपयोग उस समय करता है जबकि उसे साख का सकुचन करना होता है और ऐसा करने मे सम्बद्ध बैंक उसे पर्याप्त सहयोग नही देते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साख नियन्त्रण के कई उपाय हैं। इनमे से कुछ उपाय तो तुरन्त ही सप्रभाविक होते हैं और कुछ का प्रभाव कुछ समय पश्चात् ही दिखाई देता है। किसी केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण की किस रीति को अपनाना चाहिये यह उस देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। परन्तु एक बात स्पष्ट है, साख का नियन्त्रण करने के लिए किसी एक रीति को नही अपनाया जा सकता। साख का प्रभावशाली नियन्त्रण करने के लिए तो विभिन्न रीतियो का उचित सम्मिश्रण ही सही नीति है।

परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख-नियन्त्रण
(Quantitative and Qualitative Credit Control)

साख-नियन्त्रण के विभिन्न उपायो को प्राय दो शीर्षको के अन्तर्गत रखा जाता हे

(क) **परिमाणात्मक साख-नियन्त्रण (Quantitative Credit Control)**—परिमाणात्मक साख नियन्त्रण से अभिप्राय साख की मात्रा पर नियन्त्रण करने से है। यदि सम्बद्ध बैंको द्वारा अत्यधिक मात्रा मे साख का निर्माण किया जा रहा है तो केन्द्रीय बैंक इसकी मात्रा को कम कर सकता है। इसके विपरीत, यदि सम्बद्ध बैंको द्वारा साख का निर्माण कम मात्रा मे किया जा रहा है तो केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को बढा सकता है। इस प्रकार परिमाणात्मक साख-नियन्त्रण का उद्देश्य साख की कुल मात्रा पर नियन्त्रण स्थापित करना होता है। बैंक-दर खुले बाजार की क्रियाएँ, सम्बद्ध बैंको की प्रारक्षित निधियो के अनुपात मे परिवर्तन इत्यादि परिमाणात्मक साख नियन्त्रण के साधन है। परिमाणात्मक साख नियन्त्रण का उपयोग मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा-अवस्फीति को रोकने के लिए किया जाता है।

(ख) **गुणात्मक साख-नियन्त्रण (Qualitative Credit Control)**—परिमाणात्मक साख-नियन्त्रण का एक मुख्य दोष यह है कि यह सभी प्रकार के उद्योगो तथा व्यवसायो पर एक साथ लागू होता है। उदाहरणार्थ यदि केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करता है तो यह सभी उद्योगो तथा व्यवसायो पर लागू होता है। इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक साख का सकुचन करता है तब सभी उद्योग तथा व्यवसाय एक साथ प्रभावित होते है। कभी-कभी सभी उद्योगो तथा व्यवसायो के लिए साख का सकुचन उचित नही होता, अर्थात् कुछ विशेष उद्योगो तथा व्यवसायो के लिए साख के विस्तार की आवश्यकता होती है, जबकि अन्य उद्योगो तथा व्यवसायो के लिए साख को

संकुचित करने की आवश्यकता होती है। गुणात्मक साख नियन्त्रण का उद्देश्य साख की कुल मात्रा पर नियन्त्रण करना नहीं होता, बल्कि कुछ विशेष उद्योग-धन्धों के लिए साख की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है। उदाहरणार्थ, यदि केन्द्रीय बैंक सट्टे को निरुत्साहित करना चाहता है तो वह केवल सटोरियों को दिये जाने वाले ऋणों को ही कम करने का आदेश देगा। अन्य उद्योगों तथा व्यवसायों को पूर्ववत मात्रा में ही साख उपलब्ध होती रहेगी। यह गुणात्मक साख नियन्त्रण का उदाहरण है। इसी प्रकार एक योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था (planned economy) में विभिन्न उद्योगों को विभिन्न प्राथमिकताएँ (priorities) दी जाती हैं और उन्हीं प्राथमिकताओं के अनुसार बैंकों द्वारा उन्हें साख प्रदान की जाती है। उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों को अधिक साख दी जाती है। वास्तव में एक योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में गुणात्मक साख नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है। साख का राशनिंग तथा प्रतिभूति ऋणों की सीमान्त आवश्यकताओं में परिवर्तन इत्यादि गुणात्मक साख नियन्त्रण के साधन हैं।

कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रणों में कौन-सा श्रेष्ठ है। इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। किसी केन्द्रीय बैंक को किस प्रकार के नियन्त्रण का उपयोग करना चाहिये, यह उस देश की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि केन्द्रीय बैंक को मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा अवस्फीति के कुप्रभावों को दूर करना है तो ऐसी परिस्थिति में उसे परिमाणात्मक साख नियन्त्रण का उपयोग करना चाहिए। इसके विपरीत यदि किसी देश को योजनाबद्ध विकास करना है तो ऐसी परिस्थिति में उस देश के केन्द्रीय बैंक को गुणात्मक साख नियन्त्रण का उपयोग करना चाहिए और विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों को उनकी निर्धारित प्राथमिकता के अनुसार साख प्रदान करने की नीति का अनुसरण करना चाहिए। गुणात्मक साख नियन्त्रण को चयनात्मक साख नियन्त्रण (selective credit control) भी कहते हैं। भारत में योजनाबद्ध विकास के लिए चयनात्मक साख नियन्त्रण का ही उपयोग किया जा रहा है।

साख-नियन्त्रण की कठिनाइयाँ
(Difficulties of Credit Control)

साख नियन्त्रण की मुख्य मुख्य कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं

(1) **साख की विभिन्न किस्मों पर नियन्त्रण करने में कठिनाई**—जैसा विदित है साख कई प्रकार की होती है जैसे बैंक साख पुस्तकीय साख, वाणिज्य-साख आदि। केन्द्रीय बैंक तो केवल बैंक साख का ही नियन्त्रण करता है अन्य प्रकार की साख का नहीं। स्मरण रहे कि अन्य प्रकार की साख भी अर्थ-व्यवस्था पर वैसा ही प्रभाव डालती है जैसा कि बैंक साख। परन्तु अन्य प्रकार की साख पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण नहीं होता।

(2) **केन्द्रीय बैंक का सभी बैंकों पर नियन्त्रण नहीं होता**—केन्द्रीय बैंक साख का सफल नियन्त्रण तभी कर सकता है जबकि देश के सभी बैंकों पर इसका पूर्ण नियन्त्रण हो। लेकिन, जैसा विदित है देश के सभी बैंक प्रायः केन्द्रीय बैंक की परिधि में नहीं आते। उदाहरणार्थ भारत में लगभग सभी देशी बैंकर केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण से बाहर हैं। अतः केन्द्रीय बैंक साख का पूर्ण नियन्त्रण नहीं कर सकता।

(3) **सम्बद्ध बैंकों का सहयोग प्राप्त करने में कठिनाई**—कभी कभी सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक को अपना पूर्ण सहयोग प्रदान नहीं करते जिसके फलस्वरूप केन्द्रीय बैंक साख का पूर्ण नियन्त्रण करने में असफल रहता है।

(4) **गैर वित्तीय संस्थाओं का प्रभाव**—प्रत्येक देश के वित्तीय ढाँचे में कुछ गैर वित्तीय संस्थाएँ भी होती हैं जो काफी मात्रा में साख निर्माण को प्रभावित करती हैं, परन्तु इन संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का बिल्कुल नियन्त्रण नहीं होता। अतः केन्द्रीय बैंक सप्रभाविक ढंग से साख का नियन्त्रण करने में असमर्थ रहता है।

(5) **साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण करने में कठिनाई**—केन्द्रीय बैंक को साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण लागू करने में भी कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ यदि केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों को सट्टा कार्यों के लिए ऋण देने की मनाही कर देता है तो यह बिलकुल सम्भव है कि बैंकों के ग्राहक वाणिज्य-कार्यों के लिये ऋण लेकर उनका

सट्टे के लिए उपयोग करना आरम्भ कर दें। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण का उद्देश्य समाप्त हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व
(Ownership of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व तथा प्रबन्ध के विषय मे काफी लम्बे समय से विवाद चला आ रहा है। 19वी शताब्दी मे अधिकाश बैंक निजी स्वामित्व के अन्तर्गत स्थापित किये गये थे। उस समय अधिकाश अर्थशास्त्री केन्द्रीय बैंको के निजी स्वामित्व के पक्ष मे थे। उनका यह कहना था कि केन्द्रीय बैंको पर किसी प्रकार का सरकारी नियन्त्रण नहो होना चाहिए। उनके अनुसार यदि केन्द्रीय बैंको पर सरकार का नियन्त्रण हो जाता है, तब केन्द्रीय बैंक सरकार के हाथो मे कठपुतली बन जायेंगे। अतएव उन्होने व्यक्तिगत हिस्सेदारो (Private Shareholers) के बैंको की सिफारिश की थी। इसके विपरीत, आधुनिक अर्थशास्त्री केन्द्रीय बैंको पर सरकारी स्वामित्व के पक्ष मे हैं। उनका कहना है कि आधुनिक युग मे आर्थिक विषयो मे सरकार का हस्तक्षेप बहुत बढ चुका है और अब सरकार लगभग सभी देशो मे एक निश्चित योजना के अनुसार देश का आर्थिक विकास करती है। अत यह नितान्त आवश्यक है कि देश के केन्द्रीय बैंक पर सरकार का ही स्वामित्व हो। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक देश के आर्थिक विकास को तीव्र करने मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता है।

प्रो० डी कॉक (De Kock) ने स्वामित्व के आधार पर विश्व के केन्द्रीय बैंको को सात श्रेणियो मे विभाजित किया है (क) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी समूची पूँजी सरकार द्वारा प्रस्तुत की जाती है, (ख) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी समस्त पूँजी व्यक्तिगत हिस्सेदारो (Private Shareholders) द्वारा प्रस्तुत की जाती है, (ग) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी समस्त पूँजी व्यापारिक बैंको द्वारा प्रदान की जाती है, (घ) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी सरकार तथा व्यक्तिगत हिस्सेदारो द्वारा प्रदान की जाती है, (ङ) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी सरकार तथा व्यापारिक बैंको द्वारा प्रदान की जाती है, (च) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी सरकार, व्यक्तिगत हिस्सेदारो तथा व्यापारिक बैंको द्वारा दी जाती है, (छ) ऐसे केन्द्रीय बैंक जिनकी पूँजी व्यक्तिगत हिस्सेदारो तथा व्यापारिक बैंको द्वारा दी जाती है। ब्रिटेन, फ्रास, कनाडा तथा भारत के केन्द्रीय बैंक समूचे तौर पर सरकार के स्वामित्व मे है। इसके विपरीत जर्मनी, जापान आदि के केन्द्रीय बैंक व्यक्तिगत हिस्सेदारो के स्वामित्व मे है। अमरीका का फेडरल रिजर्व सिस्टम पूर्णत व्यापारिक बैंको के स्वामित्व मे है। परन्तु स्मरण रहे कि आजकल विभिन्न देशो के केन्द्रीय बैंको पर सरकारी स्वामित्व रखने की प्रवृत्ति दृढ होती जा रही है। अधिकाश देशो मे केन्द्रीय बैंको पर धीरे-धीरे अब सरकार का स्वामित्व होता जा रहा है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यो का वर्णन कीजिए और बताइए कि वह बाजार मे खुले रूप से कार्य करके साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है?** (आगरा, 1964)
[संकेत—प्रथम भाग मे, केन्द्रीय बैंक की परिभाषा देते हुए इसके मुख्य-मुख्य कार्यो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, उदाहरण सहित बताइये कि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओ द्वारा साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है। यहाँ पर सक्षेप मे खुले बाजार की परिसीमाओ का भी उल्लेख कीजिए।]

2. **केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण किस प्रकार करता है? साख का नियन्त्रण करने मे उसे किन-किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है?** (आगरा, 1975)

अथवा

किसी देश मे केन्द्रीय बैंक जिन तरीको से मुद्रा तथा साख पर नियन्त्रण रखता है, उनको पूर्णतया समझाओ। (जीवाजी, ग्वालियर, 1971)
[संकेत—साख नियन्त्रण के उद्देश्यो का सक्षेप मे वर्णन करते हुए यह बताइए कि केन्द्रीय बैंक किन-किन रीतियो द्वारा साख का नियन्त्रण करता है। यहाँ पर साख की विभिन्न

रीतियो की परिसीमाओ का सक्षेप म वर्णन कीजिए। अन्त मे, साख नियन्त्रण की जो मुख्य कठिनाइयाँ है, उनका सक्षेप मे वर्णन कीजिए।]

3 **केन्द्रीय बैंक को मात्रा तथा गुण सम्बन्धी साख-नियन्त्रण करने की विधियो का अन्तर समझाइये। उक्त दोनो विधियो मे कौन सी अधिक उपयोगी है और क्यो ?**

(सागर, 1961)

[सकेत—प्रथम भाग म, परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रण का उदाहरण सहित अन्तर स्पष्ट कीजिए और यह भी बताइए कि इन दोनो प्रकार के नियन्त्रणो को कार्यान्वित करो के लिए किन किन साधनो का उपयोग किया जाता है। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि देश की आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार ही इन दोनो प्रकार के नियन्त्रणो का उपयोग किया जाना चाहिए। यदि देश के समक्ष मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा अवस्फीति की समस्या है तो ऐसी परिस्थिति म केन्द्रीय बैंक को परिमाणात्मक साख-नियन्त्रण का उपयोग करना चाहिए। इसके विपरीत यदि देश के समक्ष योजनाबद्ध आर्थिक विकास की समस्या है तो ऐसी परिस्थिति मे केन्द्रीय बैंक को गुणात्मक साख-नियन्त्रण का उपयोग करना चाहिए।]

4 **केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं ? केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों को फेल होने से किस प्रकार बचाता है ?** (सागर, 1959)

[सकेत—प्रथम भाग मे केन्द्रीय बैंक की परिभाषा देते हुए इसके मुख्य मुख्य कार्यों की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइये कि केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंकों को पुन भुनाने (rediscounting) तथा अन्य प्रकार के ऋणो की सुविधाएँ देकर फेल होने से बचाता है।]

5 **साख नियन्त्रण के अर्थ एव उद्देश्यो को समझाइए। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया किस प्रकार यह कार्य करता है ?** (आगरा 1969)

[सकेत—साख नियन्त्रण से अभिप्राय केन्द्रीय बैंक द्वारा साख की मात्रा पर नियन्त्रण लागू करने से है। साख नियन्त्रण के उद्देश्यो के लिए देखिए 'साख नियन्त्रण के उद्देश्य' नामक उपविभाग। साख नियन्त्रण के लिए रिजर्व बैंक भी लगभग वही उपाय अपनाता है जो अन्य केन्द्रीय बैंको द्वारा अपनाये जाते हैं। देखिए 34 वें अध्याय के उपविभाग 'रिजर्व बैंक द्वारा साख नियमन'।

6 **बैंक-दर नीति श्रेष्ठ है या खुले बाजार की क्रियाओं की नीति।' इस पर एक नोट लिखिए।** (आगरा, 1970)

[सकेत—प्रारम्भ मे, बैंक-दर की तथा खुले बाजार की क्रियाओ की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। तदुपरान्त यह बताइए कि बैंक दर नीति की अपेक्षा खुले बाजार की क्रियाओ की नीति श्रेष्ट है। इसके दो कारण है। कारणो के लिए उक्त अध्याय मे 'खुले बाजार की नीति बनाम बैंक दर नीति' नामक उपविभाग को देखिए।]

14

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष
(International Monetary Fund)

प्रस्तावना—प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त विश्व के विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग (Monetary Co operation) का पूर्ण अभाव था। अधिकाश देशो मे व्यापार सम्बन्धी तीव्र प्रतियोगिता चली आ रही थी। प्रत्येक देश अपने आयातो को न्यूनतम तथा निर्यातो को अधिकतम करने के लिए प्रयत्नशील था। ऐसा करने के लिए बहुत-से देशो ने स्पर्द्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (competitive currency devaluation) का भी सहारा लिया था। इस प्रकार विश्व के अधिकाश देशो मे एक प्रकार का आर्थिक युद्ध चल रहा था। इससे इन देशो के राजनीतिक सम्बन्ध भी बिगड रहे थे। वास्तव मे इन्ही आर्थिक कारणो से ही दूसरा विश्व युद्ध छिडा था। जैसा कि विदित है, दूसरे विश्व युद्ध मे अधिकाश देशो मे बडे पैमाने पर सम्पत्ति का विनाश हुआ था। अतएव विश्व के अधिकाश देश युद्ध समाप्ति से पूर्व इस बात के लिए चिन्तित हो उठे थे कि आगे चलकर कहीं इस भयानक युद्ध की पुनरावृत्ति न हो। इसलिए युद्ध समाप्ति से पूर्व ये देश इस बात पर विचार करने लगे कि किस प्रकार विश्व मे स्थायी शांति (durable peace) स्थापित की जा सकती है। अत दूसरे विश्व युद्ध के अन्तिम दिनो मे अमरीका मे ब्रेटन वुड्स ■ स्थान पर एक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन बुलाया गया जिसमे इस बात पर विचार किया गया कि युद्ध के आर्थिक कारणो को कैसे दूर किया जा सकता है। यह सम्मेलन जुलाई सन् 1944 मे हुआ और 44 मित्र राष्ट्रो ने इस सम्मेलन मे अपने प्रतिनिधि भेजे थे। इस सम्मेलन मे युद्ध के आर्थिक कारणो को दूर करने के लिए एक योजना तैयार की गयी थी। इसे ब्रेटन वुड्स योजना के नाम से पुकारा जाता है। भारत ने भी इस सम्मेलन मे भाग लिया था। इस योजना को दो भागो मे विभाजित किया गया था। पहले भाग के अन्तर्गत एक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था। दूसरे भाग के अन्तर्गत एक अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (सक्षेप मे विश्व बैंक) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष
(International Monetary Fund)

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के निम्नलिखित उद्देश्य है

(1) **अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग**—इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य एक स्थायी सस्था द्वारा विश्व के विभिन्न देशो के बीच मौद्रिक सहयोग स्थापित करना था। जैसा ऊपर कहा गया है, दूसरे विश्व युद्ध का मुख्य कारण विभिन्न देशो मे मौद्रिक सहयोग का अभाव ही था। अत युद्ध की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए अब यह आवश्यक समझा गया कि विश्व के विभिन्न देशो मे पूर्ण मौद्रिक सहयोग हो।

(2) **विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करना**—जैसा ऊपर कहा गया है, दूसरे विश्व युद्ध ■ पूर्व विदेशी विनिमय दरो मे भारी अस्थिरता हुआ करती थी और इसी के कारण विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा करता था। अत इस अस्थिरता को दूर करने के लिए ही अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गयी थी।

(3) **विनिमय नियन्त्रणो को दूर व कम करना**—दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व लगभग सभी देशो मे विनिमय-नियन्त्रण (exchange controls) लगा दिये गये थे। इनके कारण विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अत विदेशी व्यापार पर पडने वाले प्रतिकूल प्रभाव को दूर करने के लिए अब यह आवश्यक समझा गया कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष विनिमय नियन्त्रणो को यथा-सम्भव हटाने अथवा ढीला करने का प्रयत्न करे।

(4) **बहुपक्षीय भुगतान तथा व्यापार प्रणाली की स्थापना करना** — अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का यह भी उद्देश्य है कि द्विपक्षीय समझौतो (bilateral agreements) के स्थान पर बहुपक्षीय भुगतान तथा व्यापार प्रणाली (multi-lateral payments and trade system) की स्थापना मे सहायता प्रदान करे, क्योंकि द्विपक्षीय समझौते विदेशी व्यापार के विस्तार मे प्रायः बाधक होते हैं।

(5) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना**—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य सभी प्रकार की बाधाओं को दूर करके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना है।

(6) **सदस्य राष्ट्रों के सन्तुलित आर्थिक विकास मे सहायता देना**—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो, विशेषकर पिछडे हुए राष्ट्रो के सन्तुलित आर्थिक विकास मे सहायता देता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी सदस्य राष्ट्रो मे रोजगार का ऊँचा स्तर स्थापित करने मे योग देता है।

(7) **अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो के अन्तर को दूर व कम करना**—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो के अदायगी शेषो (balance of payments) मे होने वाले असन्तुलन को दूर व कम करने का भी प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुद्रा-कोष सदस्य राष्ट्रो को विदेशी मुद्राएँ बेचता है तथा उन्हे उधार देता है।

(8) **पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशो मे पूँजी के निवेश में सहायता प्रदान करना** – अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष धनी देशो से निर्धन देशो को पूँजी के निर्यात मे भी सहायता देता है, ताकि इन देशो का आर्थिक विकास सम्भव हो सके।

मुद्रा कोष की पूँजी—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की पूँजी सदस्य देशों के कोटो (quotas) का योगफल (aggregate) होती है। प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का 20 प्रतिशत अथवा अपने स्वर्ण तथा डालर स्टॉक का 10 प्रतिशत स्वर्ण के रूप मे मुद्रा कोष को देना पडता है। अपने कोटे का शेष भाग प्रत्येक सदस्य देश को राष्ट्रीय मुद्रा के रूप मे जमा करना होता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष यदि चाहे तो उस सदस्य की राष्ट्रीय मुद्रा को उसके ही केन्द्रीय बैंक मे जमा रख सकता है। मार्च 1, 1947 को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यो की सख्या 40 थी और उनके कोटो *का योग (अर्थात् कुल पूँजी) 7 5 बिलियन डालर थी।* लेकिन सितम्बर *1976 को* मुद्रा-कोष की सदस्यता बढकर 128 हो गई थी। और उसकी पूँजी की कुल मात्रा (अर्थात् सदस्यो के कोटो का योग) SDR 29 2 मिलियन था (स्मरण रहे, 20 मार्च, 1972 से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सामान्य लेखे (General Account) को SDR'S मे रखा जा रहा है। SDR मूल्य की वह इकाई है जो 0 888671 ग्राम विशुद्ध स्वर्ण के बराबर होती है। लेकिन मई 1972 मे अमरीकी डालर की समता-दर (par value) मे किये गये परिवर्तन के परिणामस्वरूप SDR की एक इकाई अब 1·08571 अमरीकी डालर के बराबर हो गई थी। मई, 1972 से पूर्व SDR की एक इकाई एक अमरीकी डालर के बराबर थी। फरवरी, 1973 मे अमरीकी डालर के अवमूल्यन के फलस्वरूप SDR की एक इकाई का डालर मूल्य और भी बढ गया था।)

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कतिपय केन्द्रीय बैंकों को नामांकित कर रखा है जहाँ पर सदस्य देश मुद्रा कोप के खाते मे अपने कोटे का स्वर्ण जमा कर सकते हैं। इन केन्द्रीय बैंको मे फैडरल रिजर्व बैंक आफ न्यूयार्क, बैंक आफ इगलैण्ड, बैंक आफ फ्रास तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के नाम उल्लेखनीय है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियमो के अनुसार इन केन्द्रीय बैंको मे जमा किया जाने वाला स्वर्ण छडो (bars) के रूप मे होना चाहिये। उनकी शुद्धता (fineness) 0 995 और वजन 400 औंस होना चाहिये। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास जमा किया गया स्वर्ण एव राष्ट्रीय मुद्राएँ कोष की ही सम्पत्ति होती है। कोष इनका प्रयोग उन उद्देश्यो के लिये करता है जिनका उल्लेख इसके सविधान मे किया गया है।

जिन देशो ने ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) सम्मेलन मे भाग लिया था अथवा जिन देशो ने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी, उन्हे कोष का मौलिक सदस्य (original member) माना जाता है। भारत मुद्रा-कोष का मौलिक सदस्य है, क्योंकि भारत ने 31 दिसम्बर, 1945 से पहले ही कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। जो देश इस तिथि के बाद कोष के सदस्य बने, उनका कोटा कोष के मौलिक सदस्यो द्वारा निश्चित किया गया

था। प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद ⅘ बहुमत से मुद्रा-कोष किसी भी देश के कोटे मे परिवर्तन कर सकता है। परन्तु इसके लिए सदस्य देश की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। भारत ने मुद्रा-कोष की सदस्यता को स्वीकार करते समय अपने कोटे का 20 प्रतिशत भाग सोने तथा डालरो और शेष भाग रुपयो मे अदा किया था।

मुद्रा-कोष का प्रबन्ध—मुद्रा कोष का प्रबन्ध चलाने के लिए दो संस्थाएँ होती है, प्रथम, बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors); दूसरे, सचालक मण्डल (Board of Directors)। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मे प्रत्येक सदस्य देश द्वारा एक गवर्नर नियुक्त किया जाता है, जो पाँच वर्ष की अवधि तक काम करता है। सदस्य देश को एक विकल्प गवर्नर (Alternate Governor) नियुक्त करने का भी अधिकार होता है। गवर्नर की अनुपस्थिति मे विकल्प गवर्नर बोर्ड की बैठक मे भाग लेता है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मुद्रा-कोष की सामान्य नीति का निर्धारण करता है। मुद्रा-कोष का दिन प्रतिदिन का कार्य सचालित करने के लिए 20 सदस्यो का एक सचालक मण्डल बनाया गया है। इसके छ सदस्य स्थायी होते हैं और ये सदस्य उन देशो के होते हैं जिनके कोटे सबसे अधिक होते हैं। इस समय अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, जापान और भारत के प्रतिनिधि इस मण्डल के स्थायी सदस्य हैं। 5 सदस्य सुदूर-पूर्व प्रशान्त महासागर क्षेत्र के देशो द्वारा चुने जाते हैं। 1 सदस्य कनाडा द्वारा नियुक्त किया जाता है। 3 सदस्य अफ्रीकी देशो, 3 सदस्य लैटिन अमरीकी देशो तथा शेष 2 सदस्य यूरोपीय देशो द्वारा चुने जाते है।

कोई भी सदस्य देश किसी भी समय लिखित सूचना देकर कोष से अपनी सदस्यता वापस ले सकता है। मुद्रा-कोष सदस्य देश के त्यागपत्र को अस्वीकार नही कर सकता। यदि कोई देश मुद्रा-कोष के नियमो तथा आदेशो का उल्लघन करता है तो कोष उसकी सदस्यता को समाप्त भी कर सकता है।

बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के पास व्यापक अधिकार हैं। वह सदस्य देशो के कोटो के सशोधन, नये सदस्यो के प्रवेश, सचालको के चुनाव तथा सदस्य देशो की मुद्राओ की समता-दरो के बारे मे निर्णय लेता है। मुद्रा-कोष का सचालक मण्डल कोष के वाशिंगटन स्थित कार्यालय पर ही प्राय अपनी बैठको का आयोजन करता है। सचालक मण्डल मे एक प्रबन्ध सचालक (Managing Director) भी होता है जो मुद्रा-कोष का मुख्याधिकारी होता है।

मुद्रा-कोष का कार्यालय तथा सग्रहालय—विधान के अनुसार मुद्रा कोष का प्रधान कार्यालय उस देश मे स्थित होता है जिसकी पूँजी का कोटा अधिकतम होता है। इस समय मुद्रा-कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका मे स्थित है। परन्तु मुद्रा-कोष अपनी शाखाएँ अन्य देशो मे भी खोल सकता है। मुद्रा-कोष की स्वर्ण निधि का 50 प्रतिशत भाग सबसे अधिक कोटे वाले देश मे रखा जाता है तथा 40 प्रतिशत भाग अन्य चार अधिकतम कोटे वाले देशो मे रखा जा सकता है।

समता-दरों का निर्धारण (Determination of Par Values)—जैसा पूर्व कहा गया है, मुद्रा-कोष का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित करना है। अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक सदस्य देश को अपनी अपनी मुद्राओ की कीमतो को स्वर्ण के रूप मे व्यक्त करना पडता है। जब सभी सदस्य देश अपनी-अपनी मुद्राओ की कीमतो को स्वर्ण के रूप मे व्यक्त कर देते है तो कोष के लिए पारस्परिक विनिमय-दरो को निर्धारित करना आसान हो जाता है। इस प्रकार स्वर्ण की सहायता से दो देशो की मुद्राओ के बीच विनिमय की समता-दरें निर्धारित की जा सकती है। परन्तु सदस्य देशो द्वारा सोने का क्रय-विक्रय करने की दृष्टि से मुद्रा-कोष विभिन्न समता-दरो की उच्चतम तथा न्यूनतम सीमाएँ भी निर्धारित कर देता है। इस प्रकार दो देशो के बीच मुद्राओ की विनिमय-दर इन्ही दो सीमाओ के भीतर रहती है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि विभिन्न देशो की समता-दरो मे स्थायी स्थिरता बनी रहती है। यदि मुद्रा कोष समझता है कि दो देशो के बीच भुगतान सन्तुलन (balance of payments) मे आधारमूलक परिवर्तन हुए है तो वह उनकी मुद्राओ की समता दर को बदल सकता है। मुद्रा-कोष के विधान के अनुसार कोई भी सदस्य देश अपनी मुद्रा की पूर्व-निश्चित समता दर मे किसी भी दिशा मे (ऊपर या नीचे) 10 प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता है। ऐसा करने के लिए उसे कोष को

अनुमति प्राप्त करने की आवश्यकता नही होती। लेकिन यदि कोई सदस्य देश अपनी मुद्रा की समता दर मे 10 प्रतिशत से 20 प्रतिशत के बीच किसी भी दिशा मे (ऊपर या नीचे) परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिए मुद्रा कोष की अनुमति लेना अनिवार्य है । यदि कोई सदस्य देश इस प्रकार अपनी देश की मुद्रा की समता-दर मे 10 और 20 प्रतिशत के बीच परिवर्तन के लिए प्रार्थना करता है तो कोष को 72 घण्टे की अवधि मे ही अपना निर्णय करना होता है। यदि कोई सदस्य देश अपनी मुद्रा की समता-दर मे 20 प्रतिशत से भी अधिक परिवर्तन करना चाहता है तो इसके लिए भी उसे कोष की अनुमति प्राप्त करनी पडती है। इस सम्बन्ध मे मुद्रा-कोष अपनी अनुमति तभी प्रदान कर सकता है जबकि कोष के दो-तिहाई सदस्य इसके पक्ष मे हो। इस प्रकार मुद्रा-कोष किसी देश की समता-दरो मे परिवर्तन की अनुमति तभी प्रदान करता है जबकि वह पूर्णत सन्तुष्ट हो कि उस देश की आर्थिक स्थिति मे आधारमूलक अन्तर पड गया है। यदि कोई देश मुद्रा-कोष की आज्ञा के बिना ही अपनी मुद्रा की समता-दर मे परिवर्तन कर देता है तो मुद्रा-कोष को यह अधिकार है कि ऐसे देश को कोष की सदस्यता से पृथक कर दे। इस प्रकार स्पष्ट है कि सदस्य देश बिना मुद्रा-कोष की अनुमति के अपनी समता दरो मे परिवर्तन नहीं कर सकते। *अत अब स्पर्द्धात्मक मुद्रा अवमूल्यन (competitive currency devaluation)* का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

स्मरण रहे, कोई भी सदस्य देश अपनी विनिमय-दर मे परिवर्तन का प्रस्ताव तभी कर सकता है जबकि उसके अदायगी शेष (balance of payments) मे आधारमूलक असन्तुलन (fundamental disequilibrium) हो।

मुद्रा-कोष का उद्देश्य विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करने के साथ-साथ बहुपक्षीय व्यापार (multi-lateral trade) को प्रोत्साहन देना भी है। इसलिए मुद्रा-कोष उन सभी बाधाओ को दूर करने का प्रयत्न करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सीमित करने की दिशा मे कार्यशील होती हैं। अत कोई भी सदस्य देश चालू व्यापारिक सौदो पर कोष की अनुमति के बिना प्रतिबन्ध नही लगा सकता है।

18 दिसम्बर, 1971 के बाद किसी भी सदस्य देश की विनिमय-दर समता-दर (par value) की दोनो दिशाओ मे अधिक व्यापक मार्जिन अर्थात् 2 5 प्रतिशत तक परिवर्तित की जा सकती है। इससे पूर्व यह मार्जिन केवल 1 प्रतिशत ही था अर्थात् किसी सदस्य देश की विनिमय-दर समता-दर की दोनो दिशाओ मे केवल एक प्रतिशत तक ही परिवर्तित की जा सकती थी। इस प्रकार समज्य खूँटी (adjustable peg) की पुरानी प्रणाली के स्थान पर रेंगती हुई खूँटी (crawling peg) की नई प्रणाली की स्थापना कर दी गई है।

सदस्य देशो को मुद्रा-कोष से विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय का अधिकार—मुद्रा-कोष के पास सभी सदस्य देशो की मुद्राएँ होती हैं। अत आवश्यकता पडने पर कोई भी देश किसी अन्य देश की मुद्रा को कोष से खरीद सकता है। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे विदेशी मुद्रा की कीमत स्वर्ण मे अथवा अपनी मुद्रा मे चुकानी पडती है। इस प्रकार के लेन देन के लिए मुद्रा-कोष द्वारा दो शर्तें लगायी गयी हैं। पहली शर्त के अनुसार किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे से 200 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि किसी सदस्य देश का कोटा 100 मिलियन डालर है। विधान के अनुसार ऐसे देश को 25 मिलियन डालर तो सोने के रूप मे तथा 75 मिलियन डालर अपनी मुद्रा के रूप मे कोष को देना पडेगा। यदि यह देश मुद्रा-कोष से अपनी मुद्रा देकर कोई विदेशी मुद्रा लेना चाहता है तब यह देश मुद्रा-कोष से 125 मिलियन डालर से अधिक की विदेशी मुद्रा उधार नही ले सकता। यदि वह इससे अधिक कीमत की विदेशी मुद्रा, कोष से लेता है तो ऐसा करने से उसका कोटा 200 प्रतिशत से भी अधिक हो जायगा जो मुद्रा-कोष के विधान के विरुद्ध है। ऐसे देश को 125 मिलियन डालर की विदेशी मुद्रा देते समय मुद्रा-कोष किसी प्रकार का जोखिम नही उठाता, क्योकि मुद्रा-कोष के पास देश की 225 मिलियन डालर की निधि पडी हुई है। दूसरी शर्त यह है कि कोई भी देश एक वर्ष मे अपने कोटे का अधिक से अधिक 25 प्रतिशत भाग ही विदेशी मुद्रा के रूप मे कोष से ले सकता है। उक्त उदाहरण मे वह देश एक वर्ष मे अधिक से अधिक 25

मिलियन डालर की अपनी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा खरीद सकता है। यह प्रतिबन्ध इसलिए लगाया गया है ताकि मुद्रा-कोष में दुर्लभ मुद्राएँ शीघ्र ही समाप्त न हो जाये। स्मरण रहे कि मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशों पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं कि वे यथासम्भव अपनी स्थिति को सुधारने का स्वय ही प्रयत्न करें। इसलिए मुद्रा-कोष अल्प-मात्रा में तथा अल्प अवधि के लिए ही सदस्य देशों को विदेशी मुद्राएँ देता है।

मुद्रा-कोष अपने ऋणों पर सदस्य देशों से ब्याज भी लेता है। यह ब्याज प्राय $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से लेकर $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत तक होता है। ब्याज के अतिरिक्त, मुद्रा-कोष प्रत्येक ऋण पर $\frac{3}{4}$ प्रतिशत सेवा व्यय (service charge) भी वसूल करता है। ऋण की मात्रा के बढ़ने के साथ साथ ब्याज की दर को भी बढ़ा दिया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि सदस्य देश बिना आवश्यकता अथवा बार बार मुद्रा-कोष से ऋणों की माँग न करें। यदि कोई देश ऋण का शीघ्र भुगतान कर देता है तो उससे लिए जाने वाले ब्याज मे कमी भी कर दी जाती है। ब्याज सदैव स्वर्ण के रूप मे लिया जाता है। मुद्रा कोष द्वारा दिये जाने वाले ऋण प्राय थोड़े समय के लिए ही होते है। मुद्रा कोष इस बात का भी ध्यान रखता है कि सदस्य देश द्वारा लिया गया ऋण उसी उद्देश्य पर व्यय किया जाय जिसके लिए वह दिया गया है।

स्मरण रहे मुद्रा कोष सदस्य देशों को भुगतान-सन्तुलन के घाटे (deficit) को दूर करने के लिये विदेशी मुद्राओं में ऋण देता है बशर्ते कि उनका यह घाटा अस्थायी स्वरूप का हो और उसे शीघ्रातिशीघ्र निरस्त किया जा सकता हो। लेकिन यदि भुगतान-सन्तुलन का यह घाटा सदस्य देश की मुद्रा के अतिमूल्यन (Over valuation) जैसे चिरस्थायी कारणों से होता है तो मुद्रा-कोष उस सदस्य देश को विदेशी मुद्राओं का ऋण नहीं देगा। ऐसी परिस्थिति मे मुद्रा-कोष सदस्य देश को यह परामर्श देगा कि भुगतान सन्तुलन के घाटे को दूर करने हेतु वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दे।

दुर्लभ मुद्राएँ (Scarce Currencies)—कोष के विधान के अन्तर्गत दुर्लभ मुद्राओं के लिए विशेष व्यवस्था की गयी है। दुर्लभ मुद्रा वह होती है जिसकी पूर्ति, माँग की अपेक्षा बहुत कम होती है। जैसा पूर्व कहा गया है मुद्रा-कोष के पास सभी देशों की मुद्रायें रहती हैं और मुद्रा-कोष उन्हे विभिन्न देशों को बेचता है अथवा उधार देता है। जब किसी देश की मुद्रा के लिए अन्य देशों द्वारा अत्यधिक माँग होती है तो मुद्रा कोष इस प्रकार की मुद्रा को उस देश से उधार ले सकता है। यदि वह देश अपनी मुद्रा उधार नहीं देता तो मुद्रा-कोष स्वर्ण देकर उसे खरीद भी सकता है। इस प्रकार मुद्रा कोष उस मुद्रा की बढ़ी हुई माँग को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। परन्तु यदि फिर भी इस मुद्रा की माँग पूर्णत सन्तुष्ट नहीं होती, तब मुद्रा-कोष इस प्रकार की मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर सकता है। जब कोष किसी देश की मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देता है, तब उसे इस प्रकार की मुद्रा का राशनिंग करने का अधिकार स्वत ही मिल जाता है। मुद्रा कोष ऐसी परिस्थिति मे विभिन्न देशों का उस दुर्लभ मुद्रा के लिए कोटा निश्चित कर देता है। तदुपरान्त, उस दुर्लभ मुद्रा की माँग करने वाले देश उस देश विशेष से होने वाले आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने अदायगी शेष (*balance of payments*) मे सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करते है।

जब मुद्रा कोष किसी देश की मुद्रा को दुर्लभ घोषित करता है तो उसे यह भी अधिकार प्राप्त होता है कि वह उस देश को अपनी मुद्रा का पुन मूल्यन (revaluation) करने के लिए कहे। मुद्रा के पुन मूल्यन का परिणाम यह होता है कि उस देश की आन्तरिक लागतें एव कीमतें बढ़ जाती हैं। आयातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात कम हो जाते हैं। इससे दुर्लभ मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है और स्थिति मे सुधार होने लगता है।

लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी देश की मुद्रा दुर्लभ क्यों हो जाती है। इसके कई कारण हो सकते है। उदाहरणार्थ, वह देश अन्य देशों को अपना माल बेचता तो है लेकिन उनसे खरीदता नहीं। अत अन्य देश उसकी मुद्रा का उपार्जन नहीं कर पाते। फलत वह मुद्रा दुर्लभ हो जाती है।

जिस देश के भुगतान सन्तुलन मे स्थायी आधिक्य (permanent surplus) बना रहता है,

वह देश भी अन्तरराष्ट्रीय विनिमय स्थायित्व को उतनी ही हानि पहुँचाता है जितना वह देश जिसके भुगतान सन्तुलन मे चिरस्थायी घाटा बना रहता है। मुद्रा-कोष के अधिनियमो के अनुसार ऐसे देश को विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करने हेतु अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिये।

मुद्रा कोष के साधनो की तरलता (Liquidity of International Monetary Fund Resources) – मुद्रा-कोष यथासम्भव अपने साधनो को तरलतम रूप मे रखने का प्रयत्न करता है। यदि कुछ सदस्य देश अपनी मुद्रा के बदले मे दुर्लभ मुद्रा खरीदते चले जाते हैं तो एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है जबकि कोष का दुर्लभ मुद्रा का स्टॉक पूर्णत समाप्त हो जायगा और उसके पास केवल ऐसी मुद्राएँ ही रह जायेंगी जिनकी माँग न के बराबर होगी। ऐसी परिस्थिति मे मुद्रा-कोष की तरलता समाप्त हो जायगी और मुद्रा कोष अपने उद्देश्यो की पूर्ति मे असफल हो जायगा। अतएव मुद्रा-कोष सदैव यही प्रयत्न करता है कि उसके पास सभी देशो की मुद्राएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध रहे। साधनो की तरलता को बनाये रखने के लिए मुद्रा-कोष के विधान के अन्तर्गत विशेष व्यवस्था की गयी है—(क) कोई भी सदस्य देश सोना देकर, किसी भी देश की मुद्रा को खरीद सकता है। स्मरण रहे कि सोना अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे सबसे अधिक सर्वग्राह्य पदार्थ माना जाता है, (ख) यदि किसी देश की मुद्रा उसके कोटे से अधिक है तो वह देश अपनी मुद्रा को सोने के बदले मे खरीद सकता है, (ग) प्रत्येक सदस्य देश कुछ विशेष परिस्थितियो मे अपनी मुद्रा के एक भाग को सोने तथा परिवर्तनशील मुद्रा के बदले मे पुन मुद्रा-कोष से खरीद सकता है। इन व्यवस्थाओ के कारण मुद्रा-कोष अपने साधनो की तरलता को बनाये रखने मे समर्थ रहता है।

मुद्रा-कोष के लाभ का वितरण—कोष के कुल लाभ मे से 20 प्रतिशत उन ऋणदाता देशो को दिया जाता है जिनकी मुद्रा किसी वर्ष मे कोष के पास उनके कोटे के अनुसार 75 प्रतिशत से कम रहती है। शेष लाभ सदस्य देशो के बीच उनके कोटे के अनुसार वितरित कर दिया जाता है। *स्मरण रहे कि सदस्य देशो मे लाभ का यह वितरण उनकी अपनी-अपनी मुद्राओ मे ही किया जाता है।*

मुद्रा कोष का कार्यक्षेत्र—मुद्रा कोष केवल सदस्य देशो की सरकारो से ही व्यवहार करता है, निजी व्यक्तियो एव सस्थाओ से नही। मुद्रा-कोष किसी सदस्य देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था म किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही कर सकता। इसका उद्देश्य तो केवल अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढावा देना है। यह सदस्य देशो को विदेशी मुद्राओ मे ऋण देकर उनके अदायगी शेष मे सन्तुलन स्थापित करने हेतु सहायता प्रदान करता है। मुद्रा-कोष सदस्य देशो को केवल अल्पकालीन ऋण ही देता है और ये ऋण, जैसा ऊपर कहा गया है अदायगी शेष से होने वाले असन्तुलन को दूर करने के लिए ही दिये जाते हैं।

मुद्रा-कोष के सदस्यो पर प्रतिबन्ध—मुद्रा कोष अपने उद्देश्यो की पूर्ति हेतु सदस्य देशो पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है जो इस प्रकार हैं

(क) सदस्य देशो द्वारा उधार लिये गये ऋण केवल उन्ही उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होगे जिनके लिए वे कोष द्वारा दिये गये है, अर्थात सदस्य देश मुद्रा कोष से प्राप्त किये गये ऋणो का दुरुपयोग नही कर सकते।

(ख) कोई भी सदस्य देश मुद्रा कोष की अनुमति लिए बिना अपनी मौद्रिक नीति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता।

(ग) सभी सदस्य देशो को मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित की गयी दरो पर ही सोने का क्रय-विक्रय करना पड़ता है।

(घ) कोई भी सदस्य देश चालू अन्तरराष्ट्रीय भुगतान के सम्बन्ध में कोष की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगा सकता।

(ङ) प्रत्येक सदस्य देश, विदेशी मुद्राएँ उन्हीं दरो पर खरीद व बेच सकता है जो कोष द्वारा निर्धारित की गयी हैं।

सक्रान्तिकालीन सुविधाएँ (Facilities During the Transitional Period)—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष विदेशी व्यापार एव विदेशी विनिमय पर लगाये गये सभी प्रकार के प्रतिबन्धो

के विरुद्ध है, परन्तु सक्रान्तिकाल मे सदस्य देशो को विनिमय-नियन्त्रण, आयातो पर प्रतिबन्ध आदि लगाने का अधिकार दिया गया है। सक्रान्तिकाल के उपरान्त सदस्य देशो को विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनिमय पर लगाये गये प्रतिबन्धो को हटाना होगा। सक्रान्तिकाल मे सदस्य देशो को विदेशी व्यापार एव विदेशी विनिमय पर प्रतिबन्ध बनाये रखने का अधिकार इसलिए दिया गया है क्योकि इनके अभाव मे इन देशो की अर्थ व्यवस्थाओ मे गम्भीर उथल पुथल होने की सम्भावना थी।

मुद्रा-कोष के कार्य—मुद्रा-कोष के तीन प्रमुख कार्य हैं

(क) मुद्रा कोष सदस्य देशो के अदायगी शेष (balance of payments) मे उत्पन्न होने वाले अल्पकालीन असन्तुलन को दूर व कम करने मे सहायता देता है। मुद्रा-कोष सदस्य देशो को विदेशी मुद्राएँ बेचकर तथा उधार देकर उन्हे अदायगी शेष मे होने वाले असन्तुलन को दूर करने मे योग देता है।

(ख) मुद्रा-कोष सदस्य देशो को अपने अदायगी शेष मे होने वाले दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर करने मे भी योग देता है। मुद्रा-कोष सदस्य देशो की अर्थ व्यवस्थाओ मे आधारमूलक परिवर्तन होने पर उन्हे अपनी मुद्राओ की समता दरें बदलने की अनुमति देता है। इस प्रकार सदस्य देशो के अदायगी शेष मे होने वाले दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर किया जा सकता है।

(ग) मुद्रा-कोष आर्थिक तथा मौद्रिक विषयो पर सदस्य देशो को परामर्श भी देता है, क्योकि अपनी विशेष स्थिति के कारण वह ऐसा करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार मुद्रा-कोष सदस्य देशो की अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

मुद्रा-कोष द्वारा दी गयी टेकनीकल सहायता—वित्तीय सहायता के साथ साथ मुद्रा कोष सदस्य देशो को टेकनीकल सहायता भी देता है। यह सहायता दो प्रकार से दी जाती है प्रथम, मुद्रा कोष सदस्य देशो को अपने विशेषज्ञो (specialists) की सेवाएँ प्रदान करता है। ये विशेषज्ञ उन देशो को उनकी जटिल समस्याओ का समाधान करने मे बहुमूल्य सहायता देते है। वास्तव मे, मुद्रा-कोष के इन विशेषज्ञो ने अल्प-विकसित देशो को मौद्रिक, राजकोषीय एव विनिमय सम्बन्धी नीतियो के निर्माण मे योग दिया है। दूसरे, कभी-कभी मुद्रा-कोष बाहरी विशेषज्ञो (जो कोष की नियमित सेवा मे नही होते) को भी सदस्य देशो की सहायतार्थ भेजता है। ये विशेषज्ञ सदस्य देशो मे आर्थिक परामर्शदाताओ (economic advisers) के कार्य सम्पन्न करते है।

अभी हाल ही मे मुद्रा कोष ने नये विभागो की स्थापना की है—केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग (Central Banking Service Department) तथा राजकोषीय विषय-सम्बन्धी विभाग (Fiscal Affairs Department)। प्रथम विभाग सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंको का सचालन करने हेतु उन्हे विशेषज्ञ-अधिकारियो की सेवाएँ प्रदान करता है। दूसरा विभाग सदस्य देशो को राजकोषीय विषयो मे परामर्श देता है। मुद्रा-कोष ने सदस्य देशो के अधिकारियो को मौद्रिक प्रबन्ध जैसे विषयो मे प्रशिक्षण देने हेतु हाल ही के वर्षों मे कई प्रकार की परियोजनाओ को क्रियान्वित किया है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा स्वर्णमान
(The I M F and the Gold Standard)

कभी कभी यह कहा जाता है कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना एक प्रकार से स्वर्णमान का पुन लौटना है। लेकिन यह एक विवादास्पद विषय है। प्रो० जॉन एच० विलियम (John H William) मुद्रा कोष को परम्परागत स्वर्णमान का सशोधित रूप मानते हैं। इसके विपरीत, लार्ड केन्ज (*Lord Keynes*) का दृढ विश्वास था कि मुद्रा-कोष तथा स्वर्णमान के बीच कुछ भी समानता नही है, बल्कि उन्होने तो स्पष्टत यह कह दिया था कि मुद्रा-कोष स्वर्णमान के बिलकुल विपरीत है।

इसमे सन्देह नही है कि मुद्रा-कोष मे स्वर्णमान की कुछ विशेषताएँ अवश्य ही पायी जाती हैं। यही कारण है कि कभी कभी इसे "स्वर्णमान की छाया" (*Shadow of the Gold Standard*) कहकर सम्बोधित किया जाता है। लेकिन इसके साथ ही साथ स्वर्णमान एव मुद्रा

कोष मे कुछ असमानताएँ भी पायी जाती हैं अथवा यूँ कहिये कि मुद्रा-कोष एवं कागजी मान मे कुछ असमानताएँ भी पायी जाती हैं। प्रो० कुरीहारा (Kurihara) के शब्दो मे इसका (I M F.) विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है, 'यह एक मिश्रित मान है जिसमे स्वर्णमान एवं कागजी मान दोनो की ही विशेषताएँ पायी जाती हैं। मुद्रा-कोष पुराने स्वर्णमान का ही स्थानापन्न है। यही नही यह स्वर्णमान एवं कागजी मान दोनो की ही वैकल्पिक व्यवस्था है। एक ऐसी प्रणाली है जिसमे पूर्णतया स्वतन्त्र विनिमय दरो एवं व्यापक विनिमय नियन्त्रण का सम्मिश्रण पाया पाया जाता है।" लार्ड केन्ज के शब्दो मे, "मुद्रा-कोष अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को सुधारने का महत्त्वपूर्ण प्रयास है।"

मुद्रा-कोष एवं स्वर्णमान मे अनेक समानताएँ पायी जाती हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) **स्वर्ण से सम्बन्ध (Link with Gold)**—स्वर्णमान के अन्तर्गत देश की मुद्रा प्रत्यक्ष रूप मे स्वर्ण से सम्बन्धित होती है और मुद्रा के बाह्य मूल्य को स्वर्ण के रूप मे व्यक्त किया जाता है। मुद्रा-कोष के प्रत्येक सदस्य को भी अपनी मुद्रा के मूल्य को स्वर्ण मे ही परिभाषित करना पडता है और इसी के आधार पर उसकी मुद्रा के बाह्य विनिमय मूल्य को निश्चत किया जाता है।

(2) **स्वर्ण का महत्व (Importance of Gold)**—स्वर्णमान के अन्तर्गत, देश की अर्थ व्यवस्था मे स्वर्ण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसी प्रकार मुद्रा-कोष की व्यवस्था मे भी स्वर्ण को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रथम, प्रत्येक सदस्य देश अपनी मुद्रा के प्रारम्भिक मूल्य को स्वर्ण के रूप मे ही व्यक्त करता है। दूसरे प्रत्येक देश अपने कोटे का 25 प्रतिशत भाग अथवा अपनी कुल स्वर्ण तथा डालर निधि का 10 प्रतिशत भाग (इनमे से जो भी कम हो) मुद्रा-कोष के पास स्वर्ण के रूप मे जमा करना है। तीसरे, प्रत्येक सदस्य देश मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित कीमतो पर ही स्वर्ण का क्रय-विक्रय कर सकता है।

लेकिन मुद्रा-कोष के नवीनतम नियमो के अन्तर्गत स्वर्ण की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को अब समाप्त कर दिया गया है। स्वर्ण की 'अधिकृत कीमत' (Official price) का उन्मूलन कर दिया गया है। कोष द्वारा स्वर्ण निधियो के कुछ अश को सदस्य देशो को लौटाया जा रहा है। सदस्य देशो की मुद्राओ के विनिमय मूल्यो को अब SDRs मे व्यक्त करने का निर्णय लिया गया है।

(3) **बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान प्रणाली (Multilateral Trade and Payments System)**—स्वर्णमान के अन्तर्गत, बहु पक्षीय व्यापार तथा भुगतान प्रणाली कार्यशील होती है। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक देश अलग अलग रूप मे अन्य देशो के साथ अपने भुगतानो का सन्तुलन न करके सभी स्वर्णमान देशो के साथ सयुक्त रूप मे सन्तुलन स्थापित करता है। इसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष भी विभिन्न देशो मे बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान प्रणाली को प्रोत्साहित करता है।

(4) **विनिमय दर स्थिरता (Exchange Rate Stability)**—स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य विभिन्न सदस्य देशो की मुद्राओ की विनिमय दरो मे स्थिरता बनाये रखना था। इसी प्रकार मुद्रा कोष का उद्देश्य भी ठीक ऐसे ही विनिमय दरो मे स्थिरता बनाये रखना है। स्वणमान एवं मुद्रा-कोष के बीच यह एक महत्त्वपूर्ण समानता है। लेकिन इन दोनो के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। स्वर्णमान के अन्तगत विनिमय दरो मे स्थूलता (rigidity) पायी जाती थी। यद्यपि विनिमय दरो की यह स्थूलता अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से वाछनीय थी लेकिन आन्तरिक आर्थिक स्थिरता के दृष्टिकोण से यह स्थूलता अच्छी नही थी। इसके विपरीत, कागजी मान एक ऐसा मान था जिसके अन्तर्गत विनिमय-दरो मे भारी उतार चढाव होते रहते थे। ये उतार-चढाव विनिमय बाजारो म माँग एवं पूर्ति के परिवर्तनो के कारण हुआ करते थे। परिवर्तनशील विनिमय दर आन्तरिक अर्थ व्यवस्था के दृष्टिकोण से तो अच्छी होती है। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए हानिकारक होती है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्वर्णमान एवं कागजी मान जैसी उग्र प्रणालियो का परित्याग करके मध्य मार्ग (middle path) का अनुसरण करता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष इन दोनो प्रणालियो के लाभ तो प्राप्त कर लेता है लेकिन उनक हानियो से साफ बच निकलता है। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के अन्तर्गत विनिमय-दर न तो इतनी स्थैतिक होती है जितनी कि स्वर्णमान के अधीन और न ही इतनी परिवर्तनशील होती है। जितनी कि कागजी मान के अधीन। मुद्रा-कोष के सविधान के अनुसार

कोई भी सदस्य देश भुगतान सन्तुलन मे मूलभूत असतुलन को निरस्त करने हेतु अपनी विनिमय दर मे परिवर्तन कर सकता है। लेकिन विनिमय दर को परिवर्तित करने से पूर्व उस सदस्य देश को मुद्रा-कोष से अनुमति लेनी पडती है। मुद्रा-कोष का उद्देश्य स्थिर एव लचीली विनिमय दरो की प्रणाली को स्थापित करना है। इस प्रणाली मे स्वर्णमान एव कागजी मान दोनो ही पद्धतियो के गुणो का सम्मिश्रण पाया जाता है। इस प्रकार मुद्रा-कोष एव स्वणमान के बीच समानता पायी जाती है क्योकि दोनो का उद्देश्य विनिमय दरो मे स्थिरता बनाये रखना है लेकिन स्वर्णमान की भाँति मुद्रा-कोष पूर्णतया स्थैतिक विनिमय-दरो का समर्थन नही करता।

(5) **मुद्रा के विस्तार एव सकुचन की क्रियाविधि** (Mechanism of Expansion and Contraction of Currency)—मुद्रा-कोष एव स्वर्णमान के बीच एक अन्य समानता भी पायी जाती है। दोनो के अन्तर्गत भुगतान-सन्तुलन मे हुए परिवर्तनो के अनुसार मुद्रा का विस्तार एव सकुचन होता रहता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत यदि किसी देश का किसी अन्य देश से भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होता है तो वह देश (प्रथम देश) स्वर्ण का निर्यात करने लगता है। इससे देश मे मुद्रा का सकुचन हो जाता है और सामान्य कीमत-स्तर मे गिरावट आ जाती है। इसके विपरीत, जिस देश का भुगतान-सन्तुलन अनुकूल होता है, वह देश स्वर्ण का आयात करने लगता है। आयात किये गये स्वर्ण के आधार पर मुद्रा का विस्तार होने लगता है और सामान्य कीमत स्तर मे वृद्धि हो जाती है। मुद्रा कोष के अन्तर्गत भी समायोजन की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही है। जब भी किसी सदस्य देश का भुगतान सन्तुलन किसी अन्य सदस्य देश के साथ प्रतिकूल होता है तो उस देश (प्रथम देश) का केन्द्रीय बैंक मुद्रा-कोष के पास अपनी मुद्रा की समान राशि जमा कराके उससे उतने ही मूल्य की विदेशी मुद्रा खरीद लेता है। इस प्रकार प्राप्त की गई विदेशी मुद्रा को केन्द्रीय बैंक अपने देश के व्यापारिक बैंको को बेचता है और वे सब उस विदेशी मुद्रा को आयातकर्ताओ को बेच देते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया के दौरान व्यापारिक बैंको की नकद राशियाँ (Cash reserves) कम हो जाती है। परिणामत उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इससे सामान्य कीमत स्तर मे गिरावट आ जाती है।

इसके विपरीत, अनुकूल भुगतान सन्तुलन वाला देश अन्य देशो से भुगतान प्राप्त करता है जिससे व्यापारिक बैंको की नकद-राशियाँ बढ जाती हैं। परिणामत देश मे बैंक साख का गुणित विस्तार (multiple expansion) होने लगता है। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि देश के सामान्य कीमत स्तर मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा कोष की यन्त्रावली के अधीन भी, स्वर्णमान की भाँति प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन मुद्रा अवस्फीति (deflation) को और अनुकूल भुगतान-सन्तुलन मुद्रा स्फीति (inflation) को जन्म देता है।

"क्रीडा के नियमो" (rules of the game) के अनुसार स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण का निर्यात करने वाले देश से यह अपेक्षा की जाती थी कि अपने भुगतान सन्तुलन मे 'असन्तुलन' को निरस्त करने हेतु वह मुद्रा-अवस्फीति का आश्रय ले। लेकिन मुद्रा-कोष के अन्तर्गत प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देश के लिए यह आवश्यक नही कि वह मुद्रा अवस्फीति की नीति का अनुसरण करे और न ही ऐसा करने के लिए उस पर कोई दबाव डाला जाता है। मुद्रा कोष सदस्य देशो को स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार अपनी-अपनी घरेलू मौद्रिक नीतियो का निर्माण करने के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन वाला देश आन्तरिक कीमत स्तर की गिरावट को रोकने के लिए सभी सम्भव उपाय करता है। सत्य तो यह है कि मुद्रा कोष के अधीन प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन वाले देश के लिये, स्वर्णमान की भाँति, मुद्रा का सकुचन करना अनिवार्य नही है।

इस प्रकार मुद्रा कोष के अधीन किसी प्रकार के कडे अनुशासन (rigid discipline) पर बल नही दिया जाता जैसा कि स्वर्णमान के अन्तर्गत किया जाता था। इसके विपरीत, मुद्रा-कोष तो अपने सदस्यो को स्थानीय आर्थिक स्थितियो के अनुसार अपनी-अपनी मौद्रिक नीतियो का निर्माण करने की पूरी छूट देता है। इसके साथ ही साथ मुद्रा-कोष के अन्तर्गत पूर्णतया परिवर्तनशील विनिमय दरो से होने वाली हानियो से भी बचा जा सकता है। कागजी मान के अधीन तो विनिमय-दरो के उतार चढावो से देश को अपार क्षति होती है।

(6) विनिमय नियन्त्रण का निषेध (Non imposition of Exchange Control)—स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत कोई भी देश अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के ऊपर किसी प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण लागू नही कर सकता, क्योकि इस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न देशो मे विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Comparative cost principle) के अनुसार होता है। इसी तरह मुद्रा-कोष प्रणाली के अन्तर्गत भी इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि कोई भी सदस्य देश विदेशी व्यापार पर किसी प्रकार का विनिमय-नियन्त्रण लागू न करे। केवल सक्रान्तिकाल मे ही सदस्य देशो को विनिमय-नियन्त्रण लगाने की अनुमति दी गयी है। सक्रान्ति-काल के उपरान्त मुद्रा-कोष के सभी सदस्यो को अपने द्वारा लगाये गये सभी विनिमय-नियन्त्रणो को हटाना होगा।

स्वर्णमान एव मुद्रा-कोष के बीच कुछ असमानताएँ भी पायी जाती थी जो निम्नलिखित हैं·

(1) मुद्रा-कोष के अधीन राष्ट्रीय मुद्राओ की समता-दरो (par values) को स्वर्ण के रूप मे कठोरता से निश्चित नही किया जाता है (अर्थात् वे पूर्णतया अपरिवर्तनीय नही होती) जैसा कि स्वर्णमान के अधीन हुआ करता था। स्वर्णमान के अन्तर्गत राष्ट्रीय मुद्राओ की समता-दरो को स्वर्ण की निश्चित मात्राओ के बराबर निर्धारित किया जाता था। उनमे किसी प्रकार के परिवर्तन की अनुमति नही दी जाती थी। यद्यपि मुद्रा-कोष के अधीन भी समता-दरो को स्वर्ण के रूप मे निश्चित किया जाता है लेकिन फिर भी उनमे किसी प्रकार की कठोरता अथवा स्थूलता नही पायी जाती है। यदि आवश्यक हो तो उनमे परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(2) स्वर्णमान के अधीन स्वर्ण देश मे मुद्रा के विस्तार एव सकुचन का आधार हुआ करता था। यदि स्वर्ण के उत्पादन मे उतार-चढाव होते थे तो उनका प्रभाव मुद्रा के विस्तार अथवा सकुचन पर अवश्य ही पड़ा करता था। लेकिन मुद्रा-कोष के तत्वावधान मे मुद्रा का विस्तार एव सकुचन स्वर्ण पर आधारित नही है। परिणामत स्वर्ण-उत्पादन के उतार-चढावो का देश की मुद्रा पूर्ति पर कुछ भी असर नही पडता है।

(3) स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरो मे पूर्ण स्थूलता (Complete rigidity) पायी जाती है। इसके विपरीत, मुद्रा-कोष के तत्वावधान मे विदेशी विनिमय दरो मे ऐसी कोई स्थूलता अथवा कठोरता नही होती। यदि मुद्रा-कोष को इस बात का विश्वास हो जाय कि सदस्य-देश की आर्थिक स्थिति मे कोई मूलभूत परिवर्तन हुआ है तो वह उस देश की मुद्रा की समता-दर मे परिवर्तन करने की अनुमति दे देता है। अत मुद्रा-कोष की कार्यशीलता मे एक ऐसा लचीलापन पाया जाता है जिसका स्वर्णमान के अन्तर्गत पूर्ण अभाव था।

(4) स्वर्णमान स्वयचलित मान (automatic standard) था। इसको सचालित करने के लिए किसी को कोई सचेत प्रयास नही करना पडता था लेकिन अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के द्वारा मौद्रिक प्रबन्ध हेतु सचेत प्रयास किये जाते हैं।

(5) जैसा पूर्व कहा गया है, स्वर्णमान के अन्तर्गत भुगतान सतुलन मे घाटा होने के कारण जो देश स्वर्ण का निर्यात करता था, उसे विवश होकर मुद्रा अवस्फीति का आश्रय लेना पडता था। मुद्रा-कोष के तत्वावधान मे भुगतान-सन्तुलन मे घाटे वाले किसी भी देश को मुद्रा-अवस्फीति के दुष्परिणामो का सामना करने की आवश्यकता नही होती। मुद्रा-कोष के सविधान मे कोई ऐसी व्यवस्था नही है जिसके अन्तर्गत भुगतान-सन्तुलन मे घाटे वाले किसी सदस्य देश को मुद्रा का सकुचन करने के लिए विवश किया जा सके।

(6) स्वर्णमान के अन्तर्गत, प्रत्येक देश की आन्तरिक आर्थिक स्थिति पर बाह्य तत्वो का प्रभाव पडता है, परन्तु मुद्रा-कोष प्रणाली मे ऐसा नही होता। प्रत्येक सदस्य देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति का निर्धारण करने म पूर्णत स्वतन्त्र होता है। मुद्रा-कोष सदस्य देशो की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करता। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्रा-कोष योजना मे स्वर्णमान के सभी गुण पाये जाते हैं। परन्तु इस योजना मे स्वर्णमान की त्रुटियाँ नही पायी जाती। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा-कोष की स्थापना, वास्तव मे, स्वर्णमान की वापसी नही है, क्योकि स्वर्णमान तथा मुद्रा-कोष योजना मे कुछ अन्तर अवश्य पाये जाते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के लाभ—इसके लाभ निम्नलिखित हैं

(1) **मौद्रिक प्रारक्षित निधि की स्थापना**—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा-कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओ का बडी मात्रा मे स्टॉक एकत्रित हो जाता है। इसी स्टॉक से मुद्रा-कोष सदस्य देशो की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। जब किसी समय किसी देश की मुद्रा की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो मुद्रा कोष इसे दुर्लभ मुद्रा घोषित करके विभिन्न देशो मे इसका राशनिंग कर देता है।

(2) **बहुपक्षीय व्यापार एवं भुगतान प्रणाली की स्थापना**—मुद्रा-कोष की स्थापना से बहुपक्षीय व्यापार तथा भुगतान प्रणाली को बहुत प्रोत्साहन मिला है। यह ठीक है कि सक्रान्ति-काल मे सदस्य देशो को विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रण बनाये रखने की छूट दे दी गयी है, परन्तु यह आशा व्यक्त की गयी है कि सक्रान्तिकाल के समाप्त होते ही सदस्य देश इस प्रकार के प्रतिबन्धो को हटाने का प्रयत्न करेंगे।

(3) **अस्थायी भुगतान सन्तुलन में सुधार**—जैसा हम कह चुके है, मुद्रा-कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओ का पर्याप्त स्टॉक रहता है। आवश्यकता पड़ने पर सदस्य देश मुद्रा कोष से अपनी मुद्राओ के बदले विदेशी मुद्राओ को खरीद सकते हैं और इस प्रकार अपने अदायगी शेष मे होने वाले अल्पकालीन सन्तुलन को दूर कर सकते हैं।

(4) **विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता**—मुद्रा-कोष की स्थापना से विभिन्न देशों की मुद्राओ के बीच विनिमय-दर निर्धारित करने का एक अच्छा साधन उपलब्ध हो गया है। मुद्रा-कोष के कारण विभिन्न देशो की विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता स्थापित हो गयी है। अब विदेशी विनिमय-दरो मे इतने उतार-चढ़ाव नही होते जितने कि मुद्रा-कोष की स्थापना से पूर्व हुआ करते थे। मुद्रा कोष की स्थापना का एक लाभ यह भी हुआ है कि प्रत्येक सदस्य देश अपनी स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाते हुए विदेशी विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रख सकता है। विदेशी विनिमय-दरो की इस स्थिरता के कारण युद्धोत्तर काल मे विदेशी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

(5) **प्रतिस्पर्द्धात्मक मुद्रा-अवमूल्यन पर रोक**—मुद्रा-कोष की स्थापना से पूर्व विभिन्न देशों द्वारा अपनी मुद्राओं का *प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन (competitive currency devaluation)* किया जाता था। प्रत्येक देश का यही प्रयत्न रहता था कि अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके अपने निर्यातो को बढाया जाय। इससे विभिन्न देशो के आर्थिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये थे, परन्तु मुद्रा-कोष की स्थापना के कारण अब स्थिति पूर्णत बदल गयी है। कोई भी सदस्य देश कुछ विशेष परिस्थितियो को छोडकर मुद्रा-कोष की अनुमति लिये बिना अब अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही कर सकता। इस प्रकार मुद्रा-कोष ने प्रतिस्पर्द्धात्मक विनिमय अवमूल्यन पर प्रभाव-पूर्ण रोक लगा दी है।

(6) **देशों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे हस्तक्षेप नहीं किया जाता** मुद्रा-कोष सदस्य देशो की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करता और न ही उनकी आर्थिक तथा मौद्रिक नीतियो को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार आन्तरिक आर्थिक मामलो मे सदस्य देशो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

(7) **स्वर्णमान के लाभों की प्राप्ति**—मुद्रा-कोष की स्थापना से विश्व के देशो को बिना इसकी त्रुटियो के स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त हुए हैं। मुद्रा-कोष ने स्वर्ण को सभी देशों की मुद्राओ का मापक बनाकर विश्व मे एक विशेष प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय स्वर्णमान की स्थापना की है। यह स्वर्णमान पुराने स्वर्णमान की अपेक्षा कम खर्चीला तथा अधिक लोचदार है। इसमे सोने के सिक्को के प्रचलन की आवश्यकता नही है।

मुद्रा-कोष की उपर्युक्त सेवाओ के कारण प्रो० हाम (Halm) ने इसे अन्तरराष्ट्रीय रिजर्व बैंक (International Reserve Bank) कहकर सम्बोधित किया है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की आलोचनाएँ—निम्न आधारो पर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की आलोचनाएँ की जाती हैं -

(1) **मुद्रा-कोष का कार्यक्षेत्र सीमित है**—जैसा कहा गया है, मुद्रा-कोष के विधान के अनुसार यह केवल चालू सौदो से उत्पन्न होने वाले असन्तुलित भुगतानो की समस्या का ही समाधान करता है, अर्थात् इसका सम्बन्ध अदायगी शेष मे होने वाले उन्ही असन्तुलनो (imbalances) से है जो केवल चालू सौदो से ही उत्पन्न होते है। मुद्रा-कोष का युद्ध-ऋणो की अदायगी, पूंजी के आयात-निर्यात तथा अवरुद्ध स्टर्लिंग (blocked sterling) आदि से कोई सम्बन्ध नही है। इनके भुगतान के लिए मुद्रा-कोष सदस्य देशो को किसी भी प्रकार की सहायता नही देता। आलोचको का मत है कि इस प्रकार अपने कार्यक्षेत्र को सीमित करके मुद्रा-कोष ने विश्व की जटिल समस्याओ को हल करने मे अपना योग नही दिया।

(2) **मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रो के कोटे वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किये गये**—मुद्रा कोष की एक आलोचना यह भी की जाती है कि उसके द्वारा विभिन्न देशो के कोटे वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नही किये गये है। आलोचको का कहना है कि मुद्रा-कोष ने ब्रिटेन तथा अमरीका के आर्थिक तथा राजनीतिक स्वार्थों को ध्यान मे रखकर ही कोटे निश्चित किये हैं। इन कोटो के आधार पर अमरीका तथा ब्रिटेन का मुद्रा-कोष पर एक प्रकार से आधिपत्य स्थापित हो गया है और ये दोनो देश मुद्रा-कोष को अपने हितो के लिए ही प्रयुक्त करते हैं।

(3) **मुद्रा-कोष भेदपूर्ण व्यवहार करता है**—*आलोचको का यह भी कहना है कि अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यो मे मुद्रा-कोष विभिन्न देशो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार करता है। मुद्रा कोष पश्चिमी देशो को विशेष रियायते देता है, जबकि पिछडे तथा अल्प-विकसित देशो की उपेक्षा की जाती है। जब पश्चिमी देश मुद्रा-कोष के आदेशो का उल्लघन करते हैं, तब भी उनके विरुद्ध कार्यवाही नही की जाती। सन् 1948 मे फ्रास ने मुद्रा कोष की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) कर दिया था, किन्तु मुद्रा-कोष ने फ्रास के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही नही की थी। अफीका के कुछ नये राष्ट्रो ने मुद्रा-कोष को 'धनिको का क्लब (Rich men's Club) कहकर सम्बोधित किया है। उनका आरोप है कि मुद्रा-कोष केवल ब्रिटेन, अमरीका, पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य धनी राष्ट्रो की इच्छानुसार कार्य करता है और उनके समर्थको को ही आर्थिक सहायता प्रदान करता है। वास्तव मे, यह आरोप निराधार नही है।

(4) **विनिमय-नियन्त्रण हटाने मे असमर्थता**—मुद्रा-कोष की एक असफलता यह भी है कि यह विभिन्न देशो द्वारा लगाये गये विनिमय नियन्त्रणो तथा अन्य प्रकार के प्रतिबन्धो को हटाने मे असमर्थ रहा है। आज भी अमरीका जैसे देश सरक्षण की नीति को अपनाये हुए है। वास्तव मे, विदेशी व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धो तथा विनिमय-नियन्त्रणो को हटाना मुद्रा-कोष का प्रमुख उद्देश्य था। परन्तु दुर्भाग्यवश मुद्रा कोष इन्हे हटाने मे असमर्थ रहा है।

(5) **विनिमय स्थिरता स्थापित करने मे असफलता**—मुद्रा कोष की एक असफलता यह भी है कि यह विभिन्न मुद्राओ के बीच की समता दरो मे स्थिरता बनाये रखने मे असमर्थ रहा है। जैसा पूर्व कहा गया है कुछ देशो ने विशेषकर फ्रास ने मुद्रा-कोष की आज्ञाओ का उल्लघन करते हुए अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन कर दिया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि अपने आदेशो को क्रियान्वित करने की मुद्रा-कोष मे शक्ति नही थी।

(6) **मुद्रा के स्वचलित पुनर्मूल्यन (automatic revaluation) की कोई व्यवस्था नहीं थी**—मुद्रा-कोष के सविधान की एक गम्भीर त्रुटि यह थी कि इसमे उस देश की मुद्रा के स्वचलित पुनर्मूल्यन की कोई व्यवस्था नही थी जिसका भुगतान सन्तुलन निरन्तर अनुकूल बना रहता है। उदाहरणार्थ पश्चिमी जर्मनी एव जापान के भुगतान-सन्तुलनो मे निरन्तर, लगातार आधिक्य (surplus) बना रहता है लेकिन फिर भी ये देश उसी अनुपात मे अपनी मुद्राओ का पुनर्मूल्यन नही करते।

(7) **तरलता समस्या का कोई समाधान नही निकाला गया है**—मुद्रा कोष का एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि अपनी रिजर्व निधियो मे से सदस्य देशो को आवश्यक विदेशी मुद्राएँ उधार देकर अन्तरराष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि की जाय। लेकिन व्यवहार मे ऐसा नही किया जा सका है। अपने सीमित साधनो के कारण मुद्रा-कोष सदस्य देशो की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा

नही कर सका है। इसमे सदेह नही कि सदस्य देशो के कोटो मे आवधिक सशोधन (periodic revision) करके मुद्रा कोष ने अपने साधनो मे वृद्धि करने के प्रयास किये हैं। सन् 1969 के अन्त मे विशेष आहरण अधिकार (special drawing rights) नामक योजना (जिसे कभी-कभी कागजी स्वर्ण की सज्ञा भी दी जाती है।) को क्रियान्वित करके अन्तरराष्ट्रीय तरलता के सुधार की दिशा मे कोष ने महत्वपूर्ण कदम उठाया था। मुद्रा-कोष ने विभिन्न सदस्य देशो के बीच इन SDRs का आवटन भी कर दिया है। लेकिन इसके बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की परिस्थिति मे कोई सुस्पष्ट सुधार नही हुआ है। विगत कुछ वर्षों मे अफ्रीकी एव एशियायी देशो के अधिकाधिक सदस्य बनने से मुद्रा-कोष के सीमित साधनो पर माग-दबाव बढता जा रहा है। सत्य तो यह है कि दुर्लभ मुद्राओ के आवटन मे मुद्रा-कोष सदस्य देशो की सभी आवश्यकताओ को पूरा नही कर सका है।

(8) **गुणित विनिमय दरो (Multiple Exchange rates) का उन्मूलन करने में असफलता**—गुणित विनिमय दरो से अभिप्राय यह है कि कुछ देश विभिन्न प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय सौदो के लिए विभिन्न प्रकार की विनिमय दरो को अपनाते है। इस प्रकार की विनिमय-दरो का उन्मूलन करना मुद्रा-कोष का एक प्रमुख उद्देश्य था। लेकिन उस उद्देश्य की पूर्ति मे मुद्रा कोष बुरी तरह असफल रहा है। उदाहरणार्थ, अगस्त 1971 मे फ्रास ने विनिमय-दरो की द्वि-स्तरीय प्रणाली (Two tier system) को अपनाया था। वास्तविक व्यापारिक सौदो के लिए स्थिर विनिमय दर निश्चित की गयी थी जबकि सट्टात्मक सौदो (speculative transactions) के लिए तैरती हुई विनिमय-दर (freely floating exchange rate) रखी गयी थी।

(9) **मुद्राओ की स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता प्राप्त करने में असमर्थता**—मुद्रा कोष का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि विभिन्न मुद्राओ को एक दूसरे मे स्वतन्त्रता से बदला जा सके लेकिन दुर्भाग्य से इस उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकी है। अमरीकी डालर को छोड कर अन्य कोई ऐसी मुद्रा नही है जो स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य मुद्राओ मे बदली जा सके।

(10) **अगस्त 1971 के मौद्रिक संकट का मुकाबला करने में असमर्थता**—वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सकट तब उत्पन्न हुआ था जब अगस्त, 1971 मे अमरीकी सरकार ने डालरो की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता को निलम्बित कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रमुख यूरोपीय मुद्राएँ विदेशी विनिमय बाजारो मे स्वतन्त्रतापूर्वक 'तैरने" (float) लगी। इस संकट के साथ ही स्थिर विनिमय-दरो का युग समाप्त हो गया था। विभिन्न यूरोपीय मुद्राओ की माग एव पूर्ति की आवश्यकताओ के अनुसार अपने-अपने मूल्य स्वय निर्धारित करने हेतु स्वतन्त्र छोड दिया गया था। लेकिन ये परिवर्तनशील (तैरती हुई) विनिमय दरें मुद्रा-कोष के उद्देश्य के विपरीत है। मुद्रा-कोष का उद्देश्य तो स्थिर विनिमय दरो को बनाये रखना था।

(11) **मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता का वितरण उचित नहीं है**—जैसा पहले कहा गया है मुद्रा कोष के सचालक मण्डल के 20 सदस्य होते हैं। इनमे से 5 सदस्य तो उन देशो के होते हैं जिनके कोटे सबसे अधिक होते हैं और पाँच सदस्यो का सुदूर-पूर्व के अन्य देशो से निर्वाचित किया जाता है। परन्तु सचालक मण्डल के तीन सदस्य लैटिन-अमरीकन देशो से निर्वाचित किये जाते हैं। आलोचको का कहना है कि लैटिन-अमरीकन देशो को आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है। वास्तव मे, ऐसा अमरीका के हितो की रक्षा के लिए ही किया गया है। सम्भवत यही कारण था जिससे सोवियत रूस ने मुद्रा-कोष का सदस्य बनना स्वीकार नही किया था।

(12) **विकासशील देशो को कम प्रतिनिधित्व**—मुद्रा-कोष के 90 प्रतिशत सदस्य विकासशील देश हैं लेकिन उन्हे केवल 33 प्रतिशत वोट-अधिकार (Voting rights) प्राप्त है। इस प्रकार मुद्रा कोष पर विकसित देशो ने ही अपना आधिपत्य जमा रखा है। यही कारण है कि मुद्रा-कोष द्वारा विकासशील देशो की उपेक्षा की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपने अधिकाश उद्देश्यो की पूर्ति मे मुद्रा-कोष सफल नही हुआ है। अत. यह कहना उचित न होगा कि मुद्रा-कोष को केवल आशिक सफलता ही प्राप्त हुई है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की कार्यवाही की समीक्षा (Review of the Operations of the International Monetary Fund) अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना 27 दिसम्बर, 1944 को हुई थी। मार्च 1947 मे मुद्रा-कोष अपनी विनिमय सम्बन्धी कार्यवाही आरम्भ की थी। 30 जून, 1962 तक मुद्रा कोष ने 64 देशो की मुद्राओ की समता दरें निश्चित कर चुका था। मुद्रा-कोष ने समय-समय पर विभिन्न देशो को अपनी मुद्राओ की समता-दरो मे परिवर्तन करने की आज्ञा भी दे दी। सन् 1948 मे फ्रास ने बिना मुद्रा-कोष की अनुमति से अपनी मुद्रा का लगभग 44 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया था। 21 सितम्बर, 1949 से लेकर अप्रैल 1950 तक स्टर्लिंग क्षेत्र के 29 देशो ने मुद्रा-कोष की अनुमति से अपनी-अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया था। जैसा पहले कहा गया है, मुद्रा-कोष सदस्य देशो के व्यापार मे होने वाले अल्पकालीन असन्तुलनो (imbalances) को दूर करने के लिए सहायता देता है। सन् 1946 से 1958 तक मुद्रा कोष ने पश्चिमी यूरोप के देशो को लगभग 115 करोड डालर के मूल्य की विदेशी मुद्राएँ बेची थी। दिसम्बर 1960 मे मुद्रा-कोष ने ग्रेट ब्रिटेन को लगभग 200 करोड के तुल्य विदेशी सहायता प्रदान की थी। मुद्रा-कोष की स्थापना का विदेशी व्यापार पर भी अनुकूल प्रभाव पडा है। कहा जाता है कि सन् 1948 तथा 1961 के बीच विश्व का विदेशी व्यापार लगभग दुगुना हो गया था। परन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा कोष विभिन्न देशो द्वारा विदेशी व्यापार पर लगाये गये सभी प्रतिबन्धो को दूर करने मे समर्थ नही हुआ है। मार्च 1962 से मुद्रा-कोष ने स्वर्ण व्यापार सेवा आरम्भ की है। इसके अन्तर्गत 30 अप्रैल, 1962 तक कोष ने लगभग 108 करोड डालर की कीमत के स्वर्ण का क्रय-विक्रय किया था।

मुद्रा कोष की कार्य-प्रणाली मे सुधार करने के लिए कई प्रकार के सुझाव दिये गये है। स्टाम्प योजना (Stamp Plan) मे सुझाव दिया गया है कि मुद्रा-कोष साख-प्रमाणपत्रो का भी निर्गमन करे। ट्रिफिन योजना (Triffin Plan) मे मुद्रा-कोष को अन्तरराष्ट्रीय अति-केन्द्रीय बैंक (Super Central Bank) बनाने का सुझाव दिया गया है, अर्थात् मुद्रा-कोष विश्व के विभिन्न केन्द्रीय बैंको के केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य करे और अविकसित देशो को आर्थिक विकास हेतु ओवर ड्राफ्ट की सुविधाएं प्रदान करे। बर्नस्टाइन योजना (Bernstein Plan) मे सुझाव दिया गया है कि जिन देशो का अदायगी शेष अनुकूल है, उन्हे अनिवार्य रूप मे मुद्रा-कोष को ऋण देने चाहिए। सन् 1962 मे मुद्रा-कोष ने बर्नस्टाइन योजना को सशोधित रूप मे स्वीकार कर लिया था। अब मुद्रा-कोष को यह अधिकार मिल गया है कि आवश्यकता पडने पर वह विकसित देशो से 600 करोड डालर तक ऋण प्राप्त कर सकता है।

भारत और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष
(India and the International Monetary Fund)

जैसा हम पहले बता चुके है, भारत उन 44 मित्र देशो मे से है, जिन्होने सन् 1944 मे ब्रेटन वुड्स सम्मेलन मे भाग लिया था। इस प्रकार भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का मूल सदस्य है। भारत उन पाँच देशो मे से एक है जिनके कोटे सबसे अधिक हैं। इसी आधार पर भारत को मुद्रा-कोष के सचालक बोर्ड मे स्थायी स्थान दिया गया है।

मुद्रा-कोष के नियमो के अन्तर्गत भारत ने रुपये की समता-कीमत स्वर्ण के रूप मे 0 26861 ग्राम शुद्ध सोना निश्चित की थी और अमरीकी डालरो के रूप मे भारतीय रुपये की समता-कीमत 30 25 सेण्ट के बराबर निर्धारित की गयी थी। परन्तु सितम्बर 1949 मे रुपये के अवमूल्यन के उपरान्त भारतीय रुपये की समता-कीमत मे स्वत ही परिवर्तन हो गया था। भारतीय रुपया स्वर्ण के रूप मे 0 186621 ग्राम विशुद्ध सोना और अमरीकी डालरो के रूप मे 21 सेण्ट के बराबर हो गया था। 6 जून 1966 को भारतीय रुपये का पुन अवमूल्यन किया गया था। अब भारतीय रुपया स्वर्ण के रूप मे 0 118516 ग्राम विशुद्ध सोने और अमरीकी डालरो के रूप मे 13·33 सेण्टो के बराबर हो गया था। सन् 1947 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन करके रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया था कि अपनी मुद्रा-निधि मे स्टर्लिंग के अतिरिक्त अन्य सदस्य देशो की प्रतिभूतियो को भी रख सकता है। इस प्रकार सन्

1947 से भारतीय रुपये की अन्य विदेशी मुद्राओं में बहुपाक्षिक परिवर्तनशीलता (multilateral convertibility) स्थापित हो गयी थी।

भारत सरकार ने अपने अदायगी शेष में होने वाले अल्पकालीन असन्तुलन को दूर करने के लिए समय-समय पर मुद्रा-कोष से विदेशी मुद्राओं का क्रय किया है। सन् 1948 तथा 1949 के बीच भारत में खाद्य पदार्थों का भारी आयात होने के कारण देश का अदायगी शेष बहुत अधिक प्रतिकूल हो गया था। इस सकट का मुकाबला करने के लिए भारत सरकार ने मुद्रा कोष से 100 मिलियन डालर के मूल्य की विदेशी मुद्रा खरीदी थी। सन् 1954 में भारत ने 47 मिलियन डालर और सन् 1955 में 25 मिलियन डालर देकर मुद्रा-कोष से अपनी मुद्रा का पुन क्रय (repurchase) किया था। सन 1956-57 में भारत के विदेशी विनिमय कोष में भारी कमी हो गयी थी। अत इस कमी को दूर करने के लिए फरवरी 1957 में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष से 200 मिलियन डालर की कीमत की विदेशी मुद्रा खरीदी थी। यह राशि भारत सरकार ने तीन किश्तों में प्राप्त की थी। जुलाई 1961 में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष के साथ एक समझौता किया था जिसके अन्तर्गत भारत को 250 मिलियन डालर की विदेशी मुद्राएँ कोष से खरीदने का अधिकार दिया गया था। इस राशि में 110 मिलियन अमरीकन डालर, 60 मिलियन डालर के बराबर पौण्ड्स स्टर्लिंग 45 मिलियन डालर के बराबर पश्चिमी जर्मनी के मार्क्स (Marks), 15 मिलियन डालर के बराबर फ्रांस के फ्रैंक्स (Francs), 15 मिलियन डालर के बराबर इटली की लीरा (Lira) तथा 5 मिलियन डालर के बराबर जापान की येन (Yen) मुद्रा सम्मिलित थी। किन्तु इस ऋण के बावजूद भारत के विदेशी विनिमय-कोष में बराबर कमी होती चली गयी। अत जुलाई 1963 में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष से 100 मिलियन डालर स्टैण्ड बाई क्रेडिट (Stand by Credit) प्राप्त किया। परन्तु सौभाग्यवश भारत के विदेशी व्यापार में अप्रत्याशित सुधार होने के कारण इस ऋण का उपयोग नहीं किया गया था।

मार्च 1965 में अदायगी शेष (balance of payments) की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए मुद्रा कोष ने भारत को 200 मिलियन डालर के मूल्य का एक अन्य ऋण (Stand by Credit) प्रदान किया था। इस ऋण के समझौते के अन्तर्गत, भारत मुद्रा-कोष से आस्ट्रेलियन पौण्ड, कैनेडियन डालर, इटेलियन लीरा, जापानी येन, फ्रांसीसी फ्रांक तथा पश्चिमी जर्मनी मार्क उधार रूप में ले सकता था। दिसम्बर, 1967 में भारत ने मुद्रा-कोष से 90 मिलियन डालर खरीदे थे। यह राशि Decision on Compensatory Financing of Export Fluctuations के अन्तर्गत मुद्रा-कोष से प्राप्त की गयी थी। इसका उद्देश्य भुगतान-सन्तुलन में उत्पन्न हुए घाटे को पूरा करना था। भारत को विशेष आहरण अधिकार योजना के अन्तर्गत विकासात्मक कार्यों के लिए 126 मिलियन डालर की राशि आवंटित की गयी थी। इस योजना का आगे चलकर विस्तृत विवरण दिया जायेगा। जुलाई 1970 तक भारत ने उक्त राशि में से 41 75 मिलियन डालर का उपयोग किया था।

भारत उन 39 गम्भीर रूप से प्रभावित देशों में से था जो सन् 1976 की 'तेल सुविधा' (Oil Facility) के अन्तर्गत ब्याज उपदान खाते में से सहायता प्राप्त करने के अधिकारी थे। मुद्रा-कोष ने 18 देशों को तेल सुविधा के अन्तर्गत 18 3 मिलियन डालर दिये थे। भारत भी इन देशों में से था। भारत को यह सहायता 5 प्रतिशत वार्षिक की दर पर मिली थी।

भारत उन 61 देशों में से है जो विशेष ट्रस्ट कोष (Special Trust Fund) में से वित्तीय सहायता पाने के अधिकारी है। यह कोष मई 1976 में स्थापित किया गया था। इस कोष में स्वर्ण की बिक्री से प्राप्त होने वाले लाभ को जमा किया जायेगा। फिर इस कोष में से उन देशों को सहायता दी जायेगी जो भुगतान-सन्तुलन के घाटे से पीड़ित होंगे। अपने वर्तमान कोटे के आधार पर भारत इस कोष की 25% सहायता प्राप्त करने का हकदार होगा। यह सहायता रियायती ऋणों के रूप में दी जायेगी। इन पर 0 50 प्रतिशत वार्षिक ब्याज दर ली जायेगी। ऋणों की अदायगी ऋण प्राप्ति की तिथि से पाँच वर्षों के भीतर 10 समान अर्ध वार्षिक किस्तों में की जायगी।

सन् 1976 के दौरान मुद्रा-कोष ने स्वर्ण की बिक्री हेतु तीन नीलामों का आयोजन किया था लेकिन 3 7 बिलियन SDRs का लक्ष्य पूरा न हो सका।

मुद्रा कोष के प्रारम्भ से लेकर 31 मार्च, 1974 तक भारत इस कोष से 817·49 करोड रुपये के मूल्य की विदेशी मुद्राएं खरीद चुका था।

भारत को मुद्रा-कोष से लाभ—ये लाभ निम्नलिखित हैं :

(1) **रुपये की स्वतन्त्रता**—जैसा विदित है, मुद्रा-कोष की स्थापना से पूर्व भारतीय रुपया ब्रिटेन के पौण्ड स्टर्लिंग से बंधा हुआ था, परन्तु मुद्रा-कोष के कारण भारत का रुपया अब एक स्वतन्त्र मुद्रा बन गया। अब रुपये का मूल्य पौण्ड्स स्टर्लिंग मे निर्धारित न होकर, स्वर्ण मे निश्चित होने लगा है। इस प्रकार भारतीय रुपये का परिवर्तन किसी भी देश की मुद्रा मे हो सकता है।

(2) **विदेशी मुद्राओं की उपलब्धता**—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, मुद्रा कोष के पास विदेशी मुद्राओ का सदैव भारी स्टॉक रहता है और मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते भारत समय-समय पर आवश्यकतानुसार कोष से विदेशी मुद्राएँ खरीदता रहता है। इससे भारत के आर्थिक विकास को तीव्र करने मे बहुत सहायता मिलती है। मुद्रा-कोष से विदेशी मुद्राएँ खरीद कर भारत विदेशो से मशीनें आदि आयात कर सकता है।

(3) **विश्व बैंक की सदस्यता**—मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते भारत अन्तरराष्ट्रीय-बैंक का सदस्य भी बन सका है। जैसा विदित है, विकास कार्यों के लिए भारत सरकार ने समय समय पर इस बैंक से कई ऋण प्राप्त किये हैं।

(4) **अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का महत्त्व**—मुद्रा कोष मे भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत उन पाँच बड़े देशो मे से है जिनको मुद्रा-कोष के सचालक-मण्डल मे स्थाई स्थान प्राप्त है। अपनी इस स्थिति के आधार पर भारत मुद्रा-कोष की नीति के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। इसी कारण अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक क्षेत्र मे भारत का महत्त्व बढ गया है।

(5) **आर्थिक परामर्श की उपलब्धता**—मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते भारत समय समय पर अपनी आर्थिक समस्याओ के समाधान मे मुद्रा-कोष से परामर्श भी ले सकता है। उदाहरणार्थ, पचवर्षीय योजनाओ के अर्थ-प्रबन्ध के बारे मे मुद्रा-कोष ने समय-समय पर भारत सरकार को बहुमूल्य परामर्श दिया है।

(6) **सङ्कटकाल में सहायता**—मुद्रा कोष ने भारत के अदायगी-शेष मे होने वाली प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करने मे यथासमय सहायता दी है। उदाहरणार्थ, सितम्बर 1965 मे पाकिस्तानी आक्रमण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई वित्तीय कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा-कोष ने तत्काल ही भारत को 20 करोड डालर के मूल्य का ऋण देना स्वीकार कर लिया था।

भारत को मुद्रा-कोष से हानियाँ—कुछ आलोचको का कहना है कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण भारत को कुछ हानियाँ भी हुई हैं

(1) मुद्रा-कोष ने भारतीय पौण्ड-पावने (Sterling Balances) के भुगतान के लिए कोई सुविधा नही दी है। वास्तव मे, दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के उपरान्त इस आलोचना का विशेष महत्त्व था। परन्तु समय के बीतने के साथ साथ अब यह आलोचना निरर्थक हो गयी है। इसका कारण यह है कि अब पौण्ड-पावने की समस्या का कोई विशेष महत्त्व नही रहा है।

(2) दूसरी आलोचना यह की जाती है कि भारत का कोटा उसको प्राप्त होने वाले लाभ के अनुपात मे अधिक रखा गया है। परन्तु इस आलोचना मे भी कोई विशेष सार नही है।

(3) तीसरी आलोचना यह की जाती है कि भारत सरकार ने जनता या विधान-मण्डलो की स्वीकृति के बिना ही मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी।

स्मरण रहे कि उक्त आलोचनाओ का अब कोई विशेष महत्त्व नही है। वास्तव मे, भारत को कोष का सदस्य बनने से कई लाभ प्राप्त हुए हैं।

अन्तरराष्ट्रीय तरलता एवं अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष
(International Liquidity And the I M F)

अन्तरराष्ट्रीय तरलता की समस्या कोई नई समस्या नही है। स्वर्णमान के युग मे भी यह समस्या विद्यमान थी। स्वर्णमान पर आधारित कतिपय देशो के पास भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने हेतु पर्याप्त स्वर्ण निधियाँ नही थी। वास्तव मे, अन्तरराष्ट्रीय तरलता की अपर्याप्ता सन 1930 के बाद स्वर्णमान के पतन का मुख्य कारण थी। सन् 1958 के बाद मुद्रा कोष के सदस्य देशो मे अन्तरराष्ट्रीय तरलता की बिगडती हुई स्थिति के बारे मे काफी चिन्ता व्याप्त थी। सत्य तो यह है कि विगत कुछ वर्षों मे अन्तरराष्ट्रीय तरलता की समस्या बहुत गम्भीर हो गई है।

"अन्तरराष्ट्रीय तरलता' से अभिप्राय उन सभी वित्तीय साधनो एव सुविधाओ से है जो सदस्य देशो के मुद्रा अधिकरणो (monetary authorities) को भुगतान-सन्तुलन के घाटे को पूरा करने हेतु उपलब्ध होती है। अन्तरराष्ट्रीय तरलता के विभिन्न अग (components) इस प्रकार हैं। (क) केन्द्रीय बैंको के पास रखा हुआ स्वर्ण (निजी व्यक्तियो का स्वर्ण इसमे सम्मिलित नही होता।) (ख) केन्द्रीय बैंको के विदेशी मुद्राओ के कोष (ग) विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत मुद्रा-कोष से उपलब्ध होने वाली ऋण सम्बन्धी सुविधाएँ (घ) SWAP तथा अन्य सम्बन्धित साख योजनाओ के अन्तर्गत उपलब्ध होने वाली साख सुविधाएँ (ङ) अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाजार मे देश की ऋण लेने सम्बन्धी क्षमता। "अन्तरराष्ट्रीय तरलता" नामक पद के अन्तर्गत निम्न लिखित मदें सम्मिलित नही की जाती—(i) निजी व्यक्तियो द्वारा रखा गया विदेशी मुद्राओ का स्टॉक (ii) अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक सौदो का वित्तपोषण करने हेतु बैंक साख (iii) निर्यात उद्देश्यो की पूर्ति हेतु आयात निर्यात बैंक (Import Export Bank) जैसी सरकारी सस्थाओ द्वारा दी गई साख (iv) विश्व बैंक अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम एव अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ जसी सस्थाओ द्वारा प्रस्तुत की गई दीर्घकालीन साख। अन्तरराष्ट्रीय तरलता की वर्तमान अपर्याप्तता ी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि सदस्य देशो को आजकल भुगतान-सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाइयो का अधिकाधिक सामना करना पड रहा है। स्वर्ण एव स्वीकार्य विदेशी मुद्राओ के भण्डारो जैसे अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो के साधनो मे इतनी अधिक वृद्धि नही हुई है कि विभिन्न देशो की भुगतान सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा किया जा सके। सन 1964 के बाद तो विश्व की स्वर्ण एव विदेशी मुद्राओ की निधियो मे बहुत ही धीमी दर पर वृद्धि हुई है। सत्य तो यह है कि विश्व की कुल स्वर्ण निधियो मे गिरावट आयी है। सन् 1965 मे इन निधियो की कुल मात्रा 41 8 बिलियन SDR थी लेकिन सन 1971 मे ये गिरकर 36 1 बिलियन SDR ही रह गई थी। लेकिन जहाँ स्वर्ण निधियो मे गिरावट आयी है वहाँ अन्तरराष्ट्रीय साख सौदो की मात्रा मे इसी दौरान बडी तेजी से वृद्धि हुई है। विगत कुछ वर्षों मे माग के बढते हुए दबाव तथा अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक निधियो की गिरावट के कारण कतिपय प्रमुख सदस्य देशो को भी अपनी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने पर विवश होना पडा था। भुगतान सन्तुलन पर पडने वाला दबाव इतना भारी था कि एक समय के सर्व शक्तिमान अमरीकी डालर का 14 महीने से भी कम अवधि मे दो बार अवमूल्यन करना पडा था।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एक ऐसी अन्तरराष्ट्रीय सस्था है जो तरलता से ही व्यवहार करती है। विभिन्न योजनाओ के अन्तर्गत समय समय पर मुद्रा कोष अपने सदस्य देशो को भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने हेतु अन्तरराष्ट्रीय तरलता प्रदान करता है। यह सदस्यो को दो प्रकार की तरलताएँ प्रदान करता है। प्रथम प्रकार की तरलता से अभिप्राय स्वर्ण-ट्रेंचो (gold tranchi) मे सदस्यो के आहरण अधिकारो से है। इसे 'शर्तहीन तरलता" (unconditional liquidity) कहा जाता है। इस शर्तहीन तरलता को सदस्य देश वही दर्जा देते हैं जो किसी अन्य रिजर्व निधि को दिया जाता है। जब कोई देश स्वर्ण ट्रेंची मे से ऋण लेता है तो मुद्रा कोष उस पर कोई शर्त नही लगाता। दूसरे शब्दो मे, स्वर्ण-ट्रेंची मे से ऋण स्वत ही बिना किसी शर्त के दे दिया जाता है। दूसरी प्रकार की तरलता से अभिप्राय साख-ट्रेंचो (credit tranchi) मे से सदस्य देशो के आहरण अधिकारो से है। इसे सशर्त तरलता (conditional liquidity) की सज्ञा

दी जाती है। लेकिन साख-ट्रैंची में से मुद्रा-कोष सदस्य देशों को क्रिया-परीक्षण (performance test) क्रियान्वित किये बिना ऋण नहीं देता। दूसरे शब्दों मे, साख ट्रैंची में से ऋण तभी दिया जाता है जब सदस्य देश उस पर लगाई गई शर्तों का पालन करने का आश्वासन मुद्रा कोष को देते हैं।

मुद्रा कोष द्वारा दी गई शर्तहीन तरलता की मात्रा सशर्त तरलता की तुलना मे कम है। इस समय मुद्रा कोष की शर्तहीन तरलता प्रदान करने की क्षमता 6 बिलियन SDR से ऊपर ही है जब कि सशर्त तरलता की पूर्ति 16 बिलियन SDR से भी अधिक है। हाल ही के वर्षों में सदस्य देशों के कोटों में की गई वृद्धियो के परिणामस्वरूप शर्तहीन एवं सशर्त दोनों ही प्रकार की तरलताओं में विस्तार हुआ है। सितम्बर 1975 में शर्तहीन एवं सशर्त दोनों ही तरलताओं की कुल मात्रा 29 1 बिलियन SDR से भी अधिक थी।

मुद्रा-कोष सदस्य देशो को (stand by credit) के रूप मे वित्तीय सहायता देता है। इस सुविधा का सृजन सन 1952 मे किया गया था। यह सुविधा उन सदस्य देशों के लिए है जिन्हे तत्काल तो मुद्रा-कोष से सहायता की आवश्यकता नहीं लेकिन निकट भविष्य मे सहायता की आवश्यकता पड सकती है। मुद्रा कोष द्वारा (Stand by credit) प्रणाली के अन्तर्गत सदस्य देशों को दी गई वित्तीय सहायता विगत कुछ वर्षों मे पर्याप्त बढी है। मुद्रा कोष सदस्य देशों को एक अन्य योजना के अन्तर्गत भी तरलता प्रदान करता है। इस योजना को GAB (General Arrangement to Borrow) की संज्ञा दी गई है। यह योजना दिसम्बर, 1964 मे चार वर्षों के लिए प्रारम्भ की गई थी। लेकिन उस अवधि के समाप्त होने के बाद भी इसे जारी रखा गया था। इस योजना के अन्तर्गत मुद्रा-कोष को यह अधिकार दिया गया है कि विदेशी मुद्रा सम्बन्धी किसी महान संकट का सामना करने हेतु वह 10 बड़े औद्योगिक देशों से 6 बिलियन SDR के बराबर उनके मुद्राएँ उधार ले सकता है। दिसम्बर 1976 मे विदेशी मुद्रा संकट का सामना करने हेतु इसी योजना के अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन को 3 9 बिलियन डालर का ऋण दिया गया था।

सदस्य देशो को ऋण प्रदान करने हेतु मुद्रा कोष की एक अन्य योजना भी है। इसे "Compensatory Financing of Export Fluctuations Scheme" कहा जाता है। इस योजना के अन्तर्गत मुद्रा-कोष सदस्य देशों को उनके साधारण आहरण अधिकारों के अलावा एक अन्य प्रकार का ऋण देता है। यह ऋण सदस्य देशों को उनके निर्यात उपार्जनो (export earnings) मे कमी से उत्पन्न भुगतान सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए दिया जाता है। इस योजना को सन 1963 मे प्रारम्भ किया गया था। इसके अन्तर्गत भुगतान-सन्तुलन मे चिर-स्थाई घाटे से पीडित कोई भी सदस्य देश अतिरिक्त ऋण के लिये आवेदन कर सकता है लेकिन शर्त यह है कि भुगतान सन्तुलन का घाटा निर्यात उपार्जनो मे उतार चढाव के कारण हुआ हो। इस योजना के अन्तर्गत किसी भी सदस्य देश को उसके कोटे के 25 प्रतिशत से अधिक ऋण नही दिया जा सकता था। बाद मे चलकर सितम्बर 1966 मे किये गये संशोधन के अनुसार इस सीमा को 25 प्रतिशत से बढाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया था।

सन 1976 की समाप्ति पर मुद्रा-कोष द्वारा सदस्य देशो को दिया गया कुल ऋण (बकाया ऋण) 13 5 बिलियन SDRs था। मुद्रा-कोष के समूचे इतिहास मे यह राशि अधिकतम थी। इसी प्रकार सन् 1975 की "तेल सुविधा" (Oil Facility) (जो अब समाप्त हो चुकी है) सदस्य देशो को पर्याप्त ऋण राशि दी गई थी।

विशेष आहरण अधिकार

(Special Drawing Rights)

अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे सुधार करने की आवश्यकता वर्षों से अनुभव की जा रही थी। इस सन्दर्भ मे विभिन्न देशो द्वारा विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये गये थे। वर्षों के बाद विवाद के बाद अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के 10 महत्त्वपूर्ण सदस्यो ने मिलकर एक नयी मौद्रिक योजना का निर्माण किया था। अक्टूबर 1967 मे रियो डी जनीरो (Rio de Janeiro) मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष एव विश्व बैंक का एक संयुक्त सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन ने इस योजना का अनुमोदन किया था। उक्त योजना को अब रियो सन्धि (Rio Agreement) कहा जाने लगा है। 3 अक्टूबर, 1969 को वाशिंगटन (Washington) मे हुई I M F. की बैठक मे रियो सन्धि

को अन्तिम स्वीकृति दे दी गयी थी। 1 जनवरी, 1970 से यह योजना लागू हो गयी थी। इसे विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights) की सज्ञा दी गयी है। विशेष आहरण अधिकारो को कागजी सोना (Paper Gold) भी कहते हैं। अन्तरराष्ट्रीय भुगतानो के असन्तुलनो की समस्या के समाधान मे मुद्रा-कोष द्वारा उठाया गया यह एक अति महत्त्वपूर्ण कदम है। अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के उदविकास मे यह एक ऐतिहासिक कदम है।

कागजी सोना योजना का उद्देश्य नयी अन्तरराष्ट्रीय रिजर्व निधियो (new international reserves) का सृजन करना है। यह तो सर्वविदित ही है कि इस समय अन्तरराष्ट्रीय तरलता (International liquidity) अथवा अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय साधनो का बड़ा अभाव है। माँग अधिक है लेकिन पूर्ति कम। इस योजना का उद्देश्य नयी अन्तरराष्ट्रीय निधियो का सृजन करके वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय तरलता के अभाव को दूर करना है। इस योजना का महत्त्व दूरगामी है क्योकि इसके अन्तर्गत एक नयी अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा का सृजन किया गया है। मुद्रा-कोष के सदस्य इस नयी मुद्रा को स्वीकार करने के लिए वचनबद्ध हैं। इस योजना का विशुद्ध परिणाम यह होगा कि अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय साधनो के लिए विश्व अब केवल स्वर्ण एवं राष्ट्रीय मुद्राओ पर ही निर्भर नही करेगा। इस नवीन मुद्रा का भी अधिकाधिक प्रयोग किया जायगा।

आइए, अब हम विशेष आहरण अधिकार योजना की व्याख्या करें और देखें कि इसके अन्तर्गत सदस्य देशो को कौन-सी नयी सुविधा प्राप्त होगी। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विधान के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश का कोटा निर्धारित कर दिया जाता है। सदस्य देश को इस कोटे का ¼ भाग स्वर्ण अथवा अमरीकी डालरो मे चुकाना पडता है। शेष ¾ भाग राष्ट्रीय मुद्रा मे देना पड़ता है। इस प्रकार मुद्रा-कोष के पास स्वर्ण, अमरीकी डालरो तथा राष्ट्रीय मुद्राओ की निधि रहती है। अब यदि किसी देश के भुगतान-सन्तुलन मे घाटा उत्पन्न हो जाता है तो मुद्रा-कोष के विधान के अन्तर्गत वह अपने आहरण अधिकारो (drawing rights) का उपयोग कर सकता है। अर्थात् वह देश मुद्रा-कोष से किसी विशिष्ट राष्ट्रीय मुद्रा की माँग कर सकता है। जब उसके भुगतान सन्तुलन मे पुन. सन्तुलन स्थापित हो जाता है अर्थात् घाटा दूर हो जाता है तो उसे वह मुद्रा लौटानी पडती है। अत मुद्रा-कोष द्वारा प्रदत्त ये आहरण अधिकार अल्पकालीन ऋणो (short-term loans) की भाँति है। उन्हे लौटाना पड़ता है। कोई भी सदस्य देश अपने कोटे के 25 प्रतिशत तक तो बे-रोकटोक विदेशी मुद्राएँ, कोष से खरीद सकता है। उसके कोटे के इस भाग को gold tranche कहते है। 'tranche' एक फ्रेंच शब्द है जिसका अर्थ है टुकडा अथवा slice। gold tranche तक का उपयोग करने के लिए सदस्य देश को मुद्रा-कोष की अनुमति नही लेनी पडती। यह तो उसका विधान द्वारा प्रदत्त अधिकार है। मुद्रा-कोष सदस्य देश को इससे वचित नही रख सकता। लेकिन यदि कोई सदस्य देश अपने कोटे के 25 प्रतिशत से अधिक (अर्थात् gold tranche से अधिक) के मूल्य की विदेशी मुद्रा की माँग करता है तो उसे मुद्रा कोष से अनुमति लेनी पडती है।

ऊपर हमने वर्तमान कोटा एव आहरण अधिकार प्रणाली की व्याख्या इसलिए की है क्योकि विशेष आहरण अधिकारो की नयी योजना इसी पर आधारित है। मान लीजिए कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष 3 मिलियन डालरो के बराबर *विशेष आहरण अधिकारो (special drawing rights)* का सृजन करता है। तब इस राशि को सदस्य देशो मे उनके अपने अपने कोटो के अनुपात मे वितरित कर दिया जायेगा। जब एक बार सदस्य देशो मे विशेष आहरण अधिकारो (SDR'S) का वितरण कर दिया जाता है तो उन्हे उन अधिकारो के तुल्य विदेशी विनिमय मुद्रा कोष से प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है। विदेशी विनिमय की उस निश्चित राशि का उपयोग करने के लिए सदस्य देश को मुद्रा-कोष से पुन अनुमति नही लेनी पडती। लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सदस्य देश भुगतान-सन्तुलन के घाटे को पूरा करने के लिए ही विशेष आहरण अधिकारों का प्रयोग करेंगे, अन्य किसी उद्देश्य के लिए नही। इस नयी योजना की मुख्य बात यह है कि प्रत्येक देश को अन्य देशो के विशेष आहरण अधिकारो को स्वीकार करना पड़ता है और माँग किये जाने पर उन्हे अपनी मुद्रा देनी पडती है। विशेष आहरण अधिकारो से सम्बन्धित सभी सौदे मुद्रा-कोष के माध्यम से किये जाते हैं।

पाठक यह समझ गये होंगे कि विशेष आहरण अधिकारो का वितरण सदस्य देशो के लिए बडे महत्व का विषय होता है। जब किसी देश को विशेष आहरण अधिकारो (SDR's) का कोटा दे दिया जाता है तो शेष जगत पर उसका एक प्रकार का दावा (claim) स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, वह देश अन्य देशो से वस्तुओ, सेवाओ एव अन्य परिसम्पत्तियो जैसे वास्तविक साधनो का क्रय करने हेतु अपने विशेष आहरण अधिकारो का प्रयोग कर सकता है।

चूंकि नव-सृजित विशेष आहरण अधिकारो का वितरण सदस्य देशो के वर्तमान कोटो के अनुपात मे ही किया गया है, अत इन अधिकारो का अधिकाश भाग पश्चिम के विकसित देशो को ही मिला है। यह उचित नही है। अल्पविकसित देशो की आयात सम्बन्धी आवश्यकताएँ अधिक हैं। उन्हे इन SDR's का अधिकाश मिलना चाहिए था। लेकिन इस योजना मे ऐसा नही किया गया है। फिर भी अल्प-विकसित देशो को इस योजना से कुछ लाभ तो हुआ ही है। आयातो के लिए अब उन्हे अधिक विदेशी मुद्राएँ प्राप्त हो सकेंगी।

जब एक बार मुद्रा-कोष द्वारा SDR's की एक निश्चित राशि का सृजन कर दिया जाता है तो उससे विश्व की अन्तरराष्ट्रीय निधियो (international reserves) मे वृद्धि हो जाती है। जब एक सदस्य देश SDR's के अपने कोटे का प्रयोग करता है तो दूसरा सदस्य, उस राशि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार SDR योजना तभी क्रियान्वित की जा सकती है जबकि मुद्रा कोष के सभी सदस्यो का सहयोग प्राप्त हो। यही कारण है कि नये अतिरिक्त SDR's का सृजन तभी किया जा सकता है जबकि मुद्रा-कोष की कुल वोट शक्ति (total voting power) का 85 प्रतिशत बहुमत इसके पक्ष मे हो।

स्वर्ण और राष्ट्रीय मुद्राएँ तो पहले ही अन्तरराष्ट्रीय निधियो का कार्य कर रही थी। अब रियो सन्धि के अन्तर्गत एक तीसरी प्रकार की अन्तरराष्ट्रीय निधि (international reserve) का आविष्कार हुआ है। यह एक ऐसी निधि है जिसका सृजन सदस्य देशो द्वारा मनचाही मात्रा मे किया जा सकता है। इस प्रकार इतिहास मे प्रथम बार विश्व को एक ऐसी मुद्रा प्राप्त हुई है जिसे सही अर्थो मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा (international money) कहा जा सकता है।

सशोधित नियमो के अन्तर्गत मुद्रा-कोष की क्रियाएँ (operations) दो पृथक खातो के माध्यम से सचालित की जाती है। मुद्रा-कोष के सामान्य सौदो को सामान्य खाते (General Account) के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है (स्मरण रहे, इन सौदो मे सदस्य देशो को बेची जाने वाली विदेशी मुद्राएँ भी सम्मिलित होती हैं।) दूसरे शब्दो मे, सामान्य खाते का सम्बन्ध सदस्य देशो के सामान्य आहरण अधिकारो (general drawing rights) से होता है। लेकिन इस नई योजना को लागू करने हेतु मुद्रा-कोष ने एक नया खाता खोला है। इसे विशेष आहरण खाता (special drawing account) कहते हैं। विशेष आहरण अधिकारो से सम्बन्धित सभी क्रियाएँ इस खाते के माध्यम से सम्पन्न की जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, इस खाते का सम्बन्ध सदस्य देशो के विशेष आहरण अधिकारो से है।

1 जनवरी, 1970 को 3 5 बिलियन SDR का प्रथम आवण्टन (allocation) किया गया था। यह आवण्टन 105 उन सदस्य देशो को किया गया था जो इस योजना मे भाग ले रहे थे। 1 जनवरी, 1970 को 3 बिलियन SDR का दूसरा आवण्टन किया गया था। इस राशि को 110 सदस्य देशो के बीच वितरित किया गया था। इसी प्रकार SDR का तीसरा एव अन्तिम आवण्टन 1 जनवरी, 1972 को किया गया था। यह राशि 112 सदस्य देशो के बीच वितरित की गई थी। SDR का अधिकतम कोटा (अर्थात 2,249 मिलियन SDR) सयुक्त राज्य अमरीका को प्राप्त हुआ था। भारत को केवल 326 34 मिलियन SDR ही प्राप्त हुए थे।

SDR योजना तीन वर्ष से भी अधिक समय तक लागू रही थी। इस अवधि मे 9 5 बिलियन SDR की कुल राशि 112 सदस्य देशो मे वितरित की गई थी। इसमे से 68 सदस्य देशो द्वारा 1 9 बिलियन SDR का वास्तविक प्रयोग किया गया था। बेलजियम, कनाडा, फ्रास, जर्मनी, जापान एव नेदरलैंड SDR के प्रमुख प्राप्तकर्ता थे जबकि ग्रेट ब्रिटेन एव सयुक्त राज्य अमरीका इनके प्रमुख उपयोगकर्ता थे। अल्प विकसित देशो ने भी SDR की इस नई सुविधा का पर्याप्त उपयोग किया था।

SDR के सृजन की मूल अवधि 31 दिसम्बर 1972 को समाप्त हो गई थी। इसके बाद मुद्रा कोष ने न तो *SDR का सृजन किया और न ही इसका आवण्टन किया था* यद्यपि निर्धन सदस्य देशो ने इनके लिए निरन्तर माग की थी क्योकि अन्तरराष्ट्रीय तरलता की कमी को दूर करने का य एक अच्छा साधन थे। लेकिन मुद्रा कोष ने निर्धन देशो की इस उचित माग को सदैव ठुकरा दिया। इसका कारण यह है कि मुद्रा कोष मे धनी देशो का बोलबाला है। धनी देशो के विरोध को व्यक्त करते हुए अमरीकी कोष मन्त्री, श्री साईमन (Simon) ने 4 अक्टूबर 1976 को मुद्रा कोष की मनीला मे हुई बैठक मे कहा था "विकासशील देशो की माँग, वास्तव मे, एक खतरनाक विकल्प है। यदि इस माँग को स्वीकार कर लिया जाय तो मुद्रा कोष एक अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक छापाखाना बन जायेगा। इससे विश्व अर्थव्यवस्था मे स्फीतिक शक्तियो (inflationary forces) को और अधिक बल मिलेगा। यही कारण है कि मुद्रा कोष ने SDR का नवीन सृजन करने से साफ इन्कार कर दिया था। अल्प विकसित देशो की यह भी माँग रही है कि विकास सहायता की मात्रा को भी SDR के आवण्टन से जोड दिया जाय।

डालर सकट एवं अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(Dollar Crisis and The I M F)

वैसे तो अमरीकी डालर की स्थिति विगत कई वर्षो से बिगडती जा रही थी। लेकिन सन 1971 के मध्य मे तो इसने सकट का रूप धारण कर लिया था। अगस्त 1971 मे तो अमरीकी डालर का सकट अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था। वास्तव मे, अमरीकी डालर के सकट के दो मुख्य कारण थे—(i) आन्तरिक, (ii) बाह्य।

(i) विगत कुछ वर्षो से अमरीकी अर्थ-व्यवस्था की दशा बिगडती जा रही थी। उसे स्फीति का घुन लग गया था जो भीतर ही भीतर उसे खाये जा रहा था। इसी स्फीति के कारण अमरीकी कीमतें तेजी से बढती जा रही थी विगत कई वर्षों से अमरीकी कीमतो मे 4 2 प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि हो रही थी। वास्तव मे, अमरीकी कीमतो की यह वृद्धि बहुत गम्भीर थी। इसके प्रतिकूल प्रभाव अमरीकी अर्थ-व्यवस्था पर पड रहे थे। जीवन-निर्वाह लागत प्रतिवर्ष बढती जा रही थी। लेकिन इसके साथ ही साथ दुर्भाग्य से बेरोजगारी भी बडी तेजी से बढ रही थी। उत्पादन कम होता चला जा रहा था और विकास की दर मे भी निरन्तर ह्रास हो रहा था। सत्य तो यह है कि अमरीकी अर्थ व्यवस्था रुग्णावस्था मे थी। अमरीकी कीमतो के लगातार बढने से डालर का आन्तरिक मूल्य काफी गिर चुका था। स्मरण रहे, जब किसी मुद्रा का आन्तरिक मूल्य गिरने लगता है तो उसका बाह्य मूल्य भी स्थिर नही रह सकता।

(ii) विगत कुछ वर्षो से अमरीकी डालर के बाह्य मूल्य मे भी ह्रास हो रहा था। वर्ष-प्रतिवर्ष डालर की बाह्य स्थिति दुर्बल होती जा रही थी। इसका मुख्य कारण अमरीका के भुगतान-सन्तुलन (balance of payments) की प्रतिकूलता थी। वर्ष प्रतिवर्ष अमरीकी भुगतान सन्तुलन का घाटा (deficit) बढता चला जा रहा था। सन् 1970 मे यह घाटा 10,000 मिलियन डालर था। लेकिन सन् 1971 के प्रथम छ महीनो मे यह बढकर 12 000 मिलियन डालर हो गया था। अब प्रश्न यह है कि अमरीकी भुगतान सन्तुलन मे यह घाटा क्यो उत्पन्न हुआ था और वर्ष प्रतिवर्ष इसमे वृद्धि क्यो हो रही थी? वास्तव मे विगत कुछ वर्षों मे *अमरीका के आयात तेजी से बढ रहे थे*। ये आयात अधिकाशत पश्चिमी जर्मनी एव जापान से किये जा रहे थे। इसका कारण यह था कि पश्चिमी जर्मनी एव जापान का माल अमरीका मे अमरीकी माल की तुलना मे सस्ता पडता था। इस प्रकार जहाँ एक ओर अमरीका के आयात बढ रहे थे वहाँ दूसरी ओर अमरीका के निर्यातो मे निरतर कमी हो रही थी। उसका कारण यह था कि निरन्तर स्फीति के परिणाम स्वरूप अमरीकी माल की कीमते तेजी से बढ रही थी। विदेशी बाजारो मे अमरीकी माल जर्मनी एव जापान के माल का मुकाबला करने की स्थिति मे नही था। परिणामत विदेशो मे अमरीकी माल की माँग निरन्तर घटती जा रही थी। ऐसी स्थिति मे अमरीकी भुगतान सन्तुलन मे घाटे का होना अनिवार्य था। इस घाटे का एक अन्य कारण भी था। विगत कुछ वर्षों से विदेशो मे, विशेषकर वियतनाम एव कोरिया मे, अमरीकी सरकार का सैनिक व्यय तेजी से बढ रहा था। यहाँ तक कि ये देश अमरीकी डालरो से पट गये थे। अमरीकी भुगतान सन्तुलन मे उत्पन्न हुए इस गम्भीर

घाटे के ही परिणामस्वरूप डालर की बाह्य स्थिति दुर्बल होती चली गयी। स्वतन्त्र विदेशी मुद्रा-बाजारो मे डालर का मूल्य गिरने लगा। पश्चिमी यूरोप विशेषकर पश्चिमी जर्मनी तथा जापान मे डालरो की बाढ सी आ गयी। इन देशो की मुद्राएँ अपेक्षाकृत दृढ थी। डालरो को इन मुद्राओ मे परिवर्तित करने के सगठित प्रयास किये जाने लगे। इससे डालर की स्थिति और अधिक कमजोर हो गयी। अगस्त 1971 के प्रथम सप्ताह मे तो डालर का सकट अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था। 1 अगस्त 1971, की रात्रि को अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन ने डालर के सकट पर काबू पाने हेतु एक नवीन आर्थिक नीति (New Economic Policy) की घोषणा की थी। इस नीति की मुख्य मुख्य बातें निम्नलिखित हैं

(i) विदेशी कोषागारो एव केन्द्रीय बैंको के लिए डालर की स्वर्ण मे परिवर्तनशीलता का अस्थायी निलम्बन (temporary suspension) किया जाना। इस निलम्बन के साथ ही साथ अन्य देशो के साथ बातचीत द्वारा उनकी मुद्राओ एव डालर के बीच विनिमय की दर मे परिवर्तन करना। लेकिन राष्ट्रपति निक्सन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सरकार द्वारा निर्धारित सोने की कीमत (अर्थात् 35 डालर प्रति औंस) मे कोई परिवर्तन नही किया जायेगा। दूसरे शब्दो मे, अमरीकी राष्ट्रपति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि डालर का अवमूल्यन नही किया जायेगा।

(ii) सभी आयातो पर अमरीकी सरकार द्वारा अस्थायी आधार पर 10 प्रतिशत अधिभार (surcharge) का लगाया जाना।

(iii) तीन महीने की अवधि के लिए सभी कीमतों एव मजदूरियो का उनके तत्कालीन स्तरो पर स्थिरीकरण (freezing) किया जाना। दूसरे शब्दो मे, इस अवधि के दौरान सरकार कीमतो एव मजदूरियो मे किसी प्रकार की वृद्धि की अनुमति नही देगी।

(iv) विदेशो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता मे 10 प्रतिशत की कटौती करना।

राष्ट्रपति श्री निक्सन की उपर्युक्त नवीन आर्थिक नीति का उद्देश्य डालर के आन्तरिक एव बाह्य मूल्य मे सुधार करना था। वैसे तो डालर की दुर्बल आन्तरिक एव बाह्य स्थिति को देखते हुए राष्ट्रपति निक्सन को इसका अवमूल्यन कर देना चाहिए था। लेकिन कहा जाता है कि राजनीतिक कारणो से अमरीकी सरकार ने डालर का अवमूल्यन करना उचित नही समझा। डालर का अवमूल्यन करने के बजाय अमरीकी सरकार ने पश्चिमी जर्मनी, जापान एव सुदृढ मुद्राओ वाले अन्य यूरोपीय देशो पर दबाव डालना शुरू कर दिया कि वे अपनी मुद्राओ का पुनर्मूल्यन (revaluation) करे। लेकिन इन देशो ने अपनी मुद्राओ का पुनर्मूल्यन करने से साफ इन्कार कर दिया था। पश्चिमी जर्मनी एव जापान ने अपनी मुद्राओ को बाजार मे अपना स्तर प्राप्त करने हेतु स्वतन्त्र छोड दिया था। इस प्रकार जापानी येन (Yen) एव जर्मनी मार्क (Mark) के मूल्यो मे खुले बाजार मे उतार-चढाव होते रहे। लेकिन इन मुद्राओ की सामान्य प्रवृत्ति डालर की तुलना मे ऊपर चढने की थी। अमरीकी कार्यवाही के परिणामस्वरूप ब्रेटन वुड्स द्वारा स्थापित मौद्रिक प्रणाली भग हो गयी थी। विशेषकर विकासशील देशो को तो अमरीकी कार्यवाही से बहुत ही आघात पहुँचा था। प्रथम, अनेक विकासशील देशो ने अपनी मुद्राओ के विरुद्ध डालरो को अपनी विदेशी विनिमय राशियो मे रिजर्व के रूप मे रख छोडा था। उदाहरणार्थ, भारत सरकार ने 300 मिलियन डालर अपनी विदेशी विनिमय राशियो मे रखे हुए थे। किन्तु अमरीकी सरकार की उपर्युक्त कार्यवाही के कारण अब यह डालर राशि स्वर्ण मे परिवर्तित नही की जा सकती थी। इसका उपयोग केवल अमरीका से माल खरीदने मे ही किया जा सकता था। दूसरे, विकासशील देशो को दी जाने वाली अमरीकी सहायता मे 10 प्रतिशत की कटौती कर दी गयी थी इससे इन देशो के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की सम्भावना थी। तीसरे, इन देशो द्वारा अमरीका को किये जाने वाले निर्यातो पर 10 प्रतिशत अधिभार लगाये जाने से इनके डालर उपार्जनो (Dollar Earnings) पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडना अनिवार्य था।

डालर का अवमूल्यन 18 दिसम्बर, 1971—इस प्रकार अगस्त, 1971 मे उत्पन्न डालर सकट जारी रहा। लेकिन 18 दिसम्बर 1971 को इस गतिरोध को दूर करने हेतु अमरीका एव 19 अन्य महत्वपूर्ण धनी देशो मे एक सन्धि हुई थी। इस सन्धि को स्मिथसोनियन सन्धि (Smithsonian Agreement) की सज्ञा दी गई थी। इस सन्धि के अन्तर्गत अमरीका ने डालर का 8 57

प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया था। डालर का यह अवमूल्यन स्वर्ण के मूल्य को 35 डालर प्रति औंस से बढ़ाकर 38 डालर प्रति औंस करके किया गया था। इसके अलावा, अमरीका ने आयातो पर लगाये गये 10 प्रतिशत अतिरिक्त अधिभार को वापस ले लिया था। लेकिन इस सन्धि के बावजूद डालर स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही था। इस सन्धि मे अन्य देशो की मुद्राओ के पुनर्मूल्यन (revaluation) की भी व्यवस्था की गई थी। पश्चिमी जर्मनी एव जापान ने अपनी मुद्राओ का पुनर्मूल्यन करने की घोषणा कर दी थी। इस सन्धि मे यह भी व्यवस्था की गयी थी कि विभिन्न मुद्राओ के विदेशी मूल्यो मे 2·25 प्रतिशत तक ऊपर अथवा नीचे की दिशा मे परिवर्तन किये जा सकते हैं। इससे पूर्व ये परिवर्तन केवल 1 प्रतिशत तक की सीमा तक ही हो सकते थे। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने परिवर्तित विनिमय-दरो को स्वीकार कर लिया था।

डालर के उपर्युक्त अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने रुपये का 3 प्रतिशत पुनर्मूल्यन कर दिया था। अब 7 279 भारतीय रुपये एक डालर के बराबर थे। जबकि पहले 7 50 भारतीय रुपये 1 डालर के बराबर हुआ करते थे। इस प्रकार रुपये डालर की नवीन दर में 3 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। यह दर समय समय पर बदल सकती थी अर्थात ऊपर-नीचे जा सकती थी। लेकिन रुपये-स्टर्लिंग की विनिमय दर मे कोई परिवर्तन नही किया गया था। यह यथास्थिर ही रखी गई थी अर्थात् 1 पौण्ड स्टर्लिंग 18 9677 भारतीय रुपयो के बराबर था। ऐसा इसलिए किया गया था ताकि भारतीय निर्यातो एव आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पडे।

लेकिन उपर्युक्त सन्धि के बावजूद भी अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक सकट जारी रहा। अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे सुधार करने हेतु अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 27 जून, 1972 को बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors) की एक तदर्थ समिति (Ad hoc Committee) नियुक्त की थी। इस समिति के 20 सदस्य थे। ये सदस्य विकसित एव अविकसित देशो का प्रतिनिधित्व करते थे। इस समिति को अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के अलावा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार, पूंजी-प्रवाह, निवेश एव विकास सहायता सरीखे विषयो पर भी अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए कहा गया था।

डालर का अवमूल्यन (फरवरी 1973)
(Devaluation of the Dollar)

फरवरी, 1973 मे अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण घटना घटी थी। यह घटना थी अमरीकी डालर का दूसरी बार अवमूल्यन। अमरीकी डालर का यह अवमूल्यन 13 फरवरी, 1973 को किया गया था। स्मरण रहे, डालर का प्रथम अवमूल्यन दिसम्बर 1971 मे किया गया था। उस समय डालर के विदेशी मूल्य मे 8 57 प्रतिशत की कमी की गयी थी। लेकिन दूसरी बार 13 फरवरी, 1973 को डालर के विनिमय मूल्य मे 10 प्रतिशत की कमी की गयी थी। इस प्रकार अमरीकी डालर जो कि किसी समय विश्व की सबसे शक्तिशाली मुद्रा थी, अब एक अवमूल्यित मुद्रा बन कर रह गयी थी। अमरीकी डालर के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप स्वर्ण की सरकारी कीमत जो कि पहले 38 डालर प्रति औंस थी, अब बढकर 42 22 डालर प्रति औंस हो गयी है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आखिर डालर का दूसरी बार अवमूल्यन करने की आवश्यकता क्यो अनुभव की गयी थी। बात दरअसल यह है कि दिसम्बर 1971 मे किये गये डालर के अवमूल्यन से स्थिति मे कोई उल्लेखनीय सुधार नही हो सका था, बल्कि सकट कालान्तर मे और अधिक गहरा होता चला गया था। अमरीकी सरकार अपने देश के भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) मे कोई सुधार न कर सकी। भुगतान सन्तुलन का घाटा (deficit) कम होने के बजाय निरन्तर बढता ही चला गया। इसका मुख्य कारण यह था कि अमरीकी सरकार वियतनाम युद्ध पर बेतहाशा व्यय कर रही थी। यह व्यय कम होने के बजाय प्रतिदिन बढ रहा था। यही नही लैटिन अमरीका, अफ्रीका तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशो मे अपनी मनपसन्द कठपुतली सरकारो के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भी अमरीकी सरकार करोडो डालर व्यय कर रही थी। अत अमरीका के भुगतान सन्तुलन पर इस व्यय का प्रतिकूल प्रभाव पड रहा था। दूसरे, उस समय अमरीका मे मुद्रा-स्फीति जोरो पर थी। वस्तुओ के भाव आकाश को चूम रहे थे।

इससे आयातो को प्रोत्साहन मिल रहा था, लेकिन माल महँगा होने के कारण अमरीका के निर्यात हतोत्साहित हो रहे थे। परिणामत अमरीका का भुगतान सन्तुलन और अधिक प्रतिकूल हो गया था। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाजारो मे डालर पर दबाव निरन्तर बढ रहा था। अन्त मे विवश हो कर अमरीकी सरकार को डालर का 10 प्रतिशत अवमूल्यन करना पडा। इसके अतिरिक्त कोई चारा नही था।

आइए, अब हम यह देखे कि डालर के अवमूल्यन से अमरीकी अर्थ व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडा था। अमरीकी डालर के 10 प्रतिशत अवमूल्यन का तुरन्त प्रभाव यह पडा था कि अमरीका मे आयात किये गये विदेशी माल की कीमतें बढ गई थी। अब अमरीकी उपभोक्ताओ को विदेशी माल के लिए पहले की अपेक्षा अधिक कीमतें चुकानी पडी थी। उनके लिए विदेशी यात्रा महँगी हो गयी थी। विश्व के पर्यटन उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। इसके विपरीत, विश्व के बाजारो मे अमरीकी माल पहले की अपेक्षा सस्ता हो गया था, इससे अमरीकी निर्यातो को प्रोत्साहन मिला था।

डालर के इस अवमूल्यन का एक प्रभाव यह पडा कि यूरोपीय देशो (साझा बाजार के देशो) एव जापान ने अपनी अपनी मुद्राओ को "तैरने" (float) हेतु स्वतन्त्र छोड दिया था। जापान ने तो अपनी मुद्रा येन (Yen) को विनिमय बाजार मे अपना मूल्य स्वय निर्धारित करने हेतु उसी समय खुला छोड दिया था जिस समय डालर का अवमूल्यन किया गया था। यूरोप की साझा बाजार मण्डी के देशो ने भी बाद मे चलकर अपनी अपनी मुद्राओ को "तैरने" हेतु स्वतन्त्र छोड दिया था। इस प्रकार विभिन्न देशो की मुद्राओ के विनिमय मूल्यो मे उतार चढाव होने लगे। विशेषकर जापानी येन तथा जर्मनी मार्क के विनिमय मूल्य तो काफी बढ गये थे। निश्चित विनिमय दरो का युग समाप्त हो गया था। ब्रेटन वुड्स प्रणाली (Bretton Woods System) ठप्प हो गयी थी।

अब हम यह देखेंगे कि अमरीकी डालर के अवमूल्यन का भारतीय रुपये पर क्या प्रभाव पडा था। भारत सरकार ने अन्य देशो की सरकारो की भाँति रुपये को 'तैरने' हेतु स्वतन्त्र छोडने का निर्णय किया था। यद्यपि ब्रिटिश मुद्रा पौण्ड स्टर्लिंग स्वतन्त्र 'तैर' रही थी लेकिन अमरीकी डालर की तुलना मे इसके विदेशी विनिमय मूल्य मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुआ था। अत भारत सरकार ने रुपये को स्टर्लिंग के साथ सम्बद्ध करने का निर्णय किया था। रुपया स्टर्लिंग विनिमय-दर 18 9677 रु० प्रति स्टर्लिंग निर्धारित की गयी थी। यह दर तो पहले से ही प्रचलित थी। वास्तव मे, भारतीय रुपये की विनिमय दर स्मिथसोनियन सन्धि (Smithsonian Agreement) के अन्तर्गत निर्धारित की गयी थी। यद्यपि इसमे 2 5 प्रतिशत का दोनो दिशाओ मे मार्जिन (margin) रखा गया था। 19 दिसम्बर 1974 को भारत सरकार ने रुपये को पाउण्ड स्टर्लिंग के साथ जोडे रखने के नीति को जारी रखने का निर्णय किया था।

चूँकि भारतीय रुपया ब्रिटिश स्टर्लिंग के साथ सम्बद्ध (linked) था और अमरीकी डालर की तुलना मे ब्रिटिश स्टर्लिंग के विनिमय मूल्य मे 3 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, अत भारतीय रुपये के विनिमय मूल्य मे भी इतनी ही वृद्धि हो गयी थी। परिणामत भारतीय वस्तुएँ अमरीकी बाजार मे पहले की अपेक्षा महँगी हो गयी थी। यद्यपि अमरीकी माल भारत मे पहले की तुलना मे तनिक सस्ता हो गया था। इसके विपरीत, जर्मन मार्क, अन्य यूरोपीय मुद्राओ एव जापानी येन की तुलना मे भारतीय रुपये के विनिमय मूल्य मे 5 प्रतिशत की कमी हो गयी थी। इससे भारतीय निर्यातकर्ताओ को तीसरे देशो मे जापानी एव जर्मनी निर्यातकर्ताओ की अपेक्षा कुछ लाभ हुआ था। दूसरे शब्दो मे, तीसरे देशो की मण्डियो मे भारतीय माल जर्मन एव जापानी माल की तुलना मे सस्ता बिकने लगा था।

डालर के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विकासशील देशो के निर्यातो विशेषकर भारत के निर्यातो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। जैसा कि पूर्व कहा गया है, डालर के अवमूल्यन के उपरान्त जर्मनी, कुछ अन्य यूरोपीय देशो एव जापान ने अपनी अपनी मुद्राओ को 'तैरने' हेतु स्वतन्त्र छोड दिया था। इन मुद्राओ की विनिमय-दरो मे दैनिक परिवर्तन होने लगे थे। विनिमय दरो की स्थिरता समाप्त हो गयी थी। *अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया था।*

स्मरण रहे, विनिमय दरो की अस्थिरता एव अनिश्चितता विदेशी व्यापार की प्रगति के लिए घातक होती है। विकासशील देशो को इससे विशेष हानि हुई थी। उनके निर्यातो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। जैसा ऊपर कहा गया है अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे सुधार करने हेतु I M. F ने 20 सदस्यो की एक समिति नियुक्त की थी। इस समिति मे विकसित एव अविकसित दोनो ही प्रकार के देशो के प्रतिनिधि थे। इस समिति की बैठक 30-31 जुलाई, 1973 को वाशिंगटन मे हुई थी। लेकिन इस बैठक मे अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की भावी रूपरेखा के बारे मे कोई समझौता नही हो सका था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट I M F की 24 सितम्बर, 1973 की नैरोबी बैठक (Nairobi Session) मे प्रस्तुत की थी। बैठक मे इस विषय पर विस्तार से बहस हुई थी। लेकिन वहाँ पर कोई सहमति न हो सकी थी।

जून, 1974 की मौद्रिक सधि
(Monetary Agreement of June, 1974)

दो वर्षों के निरन्तर परिश्रम एव विचार विमर्श के उपरान्त 20 सदस्यो वाली समिति (Committee of 20) ने एक नवीन विश्व मौद्रिक प्रणाली की रूपरेखा तैयार की जिसे 23 जून 1974 को I M F ने अपनी अन्तिम स्वीकृति प्रदान कर दी थी। यह प्रणाली अस्थायी थी और तब तक कार्यशील रहेगी जब तक कि कोई स्थायी प्रणाली इसका स्थान नही ले लेती। नई प्रणाली तुरन्त लागू कर दी गई थी। इसकी मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार थी

1 इसके अन्तर्गत स्वर्ण का विमुद्रीकरण कर दिया गया था। मौद्रिक निधियो (monetary reserves) मे स्वर्ण का स्थान S D R's द्वारा ग्रहण कर लिया गया था। दूसरे शब्दो मे, S D R's का अब मौद्रिक निधियो के रूप मे प्रयोग किया जायेगा।

2. इस प्रणाली के लागू होने से पूर्व S D R's का मूल्य स्वर्ण मे निर्धारित होता था। लेकिन अब इसका मूल्य 16 विश्व मुद्राओं के औसत मूल्य पर आधारित होगा। इनमे अमरीकी डालर प्रमुख मुद्रा होगी। यह कुल मूल्य का 33 प्रतिशत होगी।

3 S D R's पर ब्याज की दर को 1 5 प्रतिशत से बढाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया था।

4 जैसा पूर्व कहा गया है विकासशील देशो के प्रतिनिधियो की सदैव यह माँग रही है कि S D R's को विकास सहायता की मात्रा से जोड दिया जाय। दूसरे शब्दो मे, विकासशील देशो को दी जाने वाली विकास सहायता की मात्रा को S D R's के आबण्टन से जोड दिया जाय। लेकिन इस सन्धि मे विकासशील देशो की इस उचित माँग को स्वीकार नही किया गया था। इसका कारण यह है कि विकसित देशो ने विशेषकर पश्चिमी जर्मनी एव अमरीका ने इस माँग का डटकर विरोध किया था। किन्तु उक्त सन्धि मे विकासशील देशो को यह आश्वासन दिया गया था कि उनकी इस माँग पर पुनर्विचार किया जायेगा।

5 इस सन्धि के अन्तर्गत I M F के विकासशील सदस्य देशो को एक नई सुविधा दी गई थी। इसे विस्तारित सुविधा (*Extended Facility*) की सज्ञा दी गई थी। इसके अन्तर्गत अब विकासशील देश I M F से अधिक मात्रा मे दीर्घकालीन ऋण ले सकेंगे। ये ऋण अधिक व्यापक उद्देश्यो के लिये होंगे। इस सन्धि से पूर्व सदस्य देश केवल अल्पकालीन ऋण ही ले सकते थे। लेकिन इस सधि के अन्तर्गत ये ऋण 4 से लेकर 8 वर्ष तक की अवधि मे देय (repayable) होंगे। यद्यपि इन ऋणो पर ब्याज की दर 4 प्रतिशत से बढाकर 5 6 प्रतिशत कर दी गई थी।

6 इस सन्धि का एक अन्य आकर्षण यह था कि इसके अन्तर्गत तेल उपभोक्ता सदस्य देशो को I M F द्वारा 'तेल सुविधा" (Oil Facility) दी गई थी। जैसा कि सर्वविदित है, तेल व तेल पदार्थों की कीमतें तेल-उत्पादक देशो द्वारा अत्यधिक बढा दी गई थी। इसका परिणाम यह हुआ था कि विकासशील तेल उपभोक्ता देशो के भुगतान सतुलनो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। ये देश बढी हुई तेल कीमतो को अपने विदेशी विनिमय साधनो से चुकाने मे असमर्थ थे। अत इन विकासशील देशो की सहायतार्थ I M F इन्हे 7 प्रतिशत ब्याज की दर पर तेल ऋण

देगा । इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु I M. F ने अलग से एक कोष (Fund) स्थापित किया था। इस कोष मे लगभग 3000 मिलियन डालर की धनराशि जमा कर दी गई थी। यह धनराशि ईरान कुवैत, आबूधाबी लिबिया, कनाडा, वेनीजयूला एव सऊदी अरब जैसे तेल उत्पादक देशो द्वारा प्रदान की गई थी। भारत ने भी इस 'तेल-सुविधा" का उपयोग करने का निर्णय किया था।

आलोचना—जून, 1974 की मौद्रिक सन्धि के अन्तर्गत जिस नई मौद्रिक प्रणाली को लागू किया गया था वह निश्चय ही पुरानी प्रणाली पर सुधार थी। इस नई प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसके अधीन स्वर्ण का विमुद्रीकरण कर दिया गया था। मौद्रिक निधियो मे स्वण का स्थान अब S D R's ने ले लिया था। निश्चय ही यह सन्तोष का विषय था। लेकिन यह नई प्रणाली विकासशील देशो की अपेक्षा पश्चिम के विकसित देशो के अधिक पक्ष मे थी। इसकी आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

1 S D Rs का मूल्य निर्धारण करने मे अमरीकी डालर को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया था।

2 S D R's पर ब्याज की दर को 1 5 प्रतिशत से बढाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया था। इससे विकासशील देशो के लिये S D R's की उपयोगिता कम हो गई थी। अब वे अपने भुगतान सन्तुलनो मे सुधार करने हेतु S D R's का अधिक प्रयोग नही कर सकेंगे।

3 यह सही है कि नई मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत विकासशील देशो को ऋण की एक नवीन विस्तारित सुविधा (extended facility) दी गई थी। लेकिन इसकी उपयोगिता भी सीमित थी। प्रथम, यह सशर्त थी। यह सुविधा तभी दी जायेगी जब सम्बन्धित देश I M F को उसके समीक्षण हेतु अपनी अर्थ व्यवस्था तथा अपनी आर्थिक योजनाओ के बारे मे पूर्ण जानकारी दे देगा। इस प्रकार I M F को सदस्य देश की अर्थ व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने का स्वत ही अधिकार प्राप्त हो जाता है। दूसरे, इस प्रकार के ऋणो पर ब्याज की दर ऊँची होगी।

4 यह सही है कि नई मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत विकासशील देशो को 'तेल सुविधा" प्रदान की गई थी। इसके अन्तगत वे तेल का आयात करने हेतु I M F से ऋण ले सकेंगे। लेकिन इन ऋणो पर ब्याज की दर 7 प्रतिशत होगी जो कि विकासशील देशो की क्षमता पर अत्यधिक दबाव डालने वाली थी।

5 नई मौद्रिक प्रणाली मे विकासशील देशो की एक पुरानी एव निरन्तर माँग को ठुकरा दिया गया था। विगत कई वर्षों से ये देश माँग करते चले आ रहे थे कि विकास-सहायता को S D. Rs के आबण्टन से जोड दिया जाय। लेकिन उनकी उपेक्षा कर दी गई थी।

अत नवीन मौद्रिक प्रणाली विकासशील देशो की अपेक्षा विकसित देशो को अधिक लाभान्वित करती थी।

नव अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली, जनवरी 1976 (New International Monetary System, January 1976)—जैसा पूर्व कहा है जून 1974 की मौद्रिक सन्धि के अन्तगत एक अन्तरिम (एव अस्थायी) मौद्रिक प्रणाली स्थापित की गयी थी। यह प्रणाली विशुद्धतय एक अस्थायी प्रणाली थी क्योकि एक स्थायी अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली को निर्मित करने के प्रयास अभी जारी थे। ये प्रयास 8 जनवरी, 1976 को किंगस्टन (Kingston) मे हुए मौद्रिक सम्मेलन मे फलीभूत हुए थे। उस दिन एक नई अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का जन्म हुआ था। पुरानी ब्रेटन वुडस प्रणाली (Bretton Woods System) तो उस समय भग हो गई थी जब 18 दिसम्बर, 1971 को तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने डालर का अवमूल्यन घोषित कर दिया था। इस प्रकार नई प्रणाली को स्थापित करने मे चार वर्ष से भी अधिक का समय लग गया था।

नई मौद्रिक प्रणाली की रूपरेखा एक 20 सदस्यीय अन्तरिम समिति ने तैयार की थी जिस मे धनी एव निर्धन दोनो ही देशो के प्रतिनिधि थे। इस प्रणाली की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं —

1. इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशो की मुद्राओ की विनिमय दरो को तैरने (Floating) के लिए खुला छोड दिया गया था। स्मरण रहे, पुरानी ब्रेटन वुड्स प्रणाली के अन्तर्गत सदस्य देशो की मुद्राओ की विनिमय दरें स्थिर थी। कुछ विशेष परिस्थितियो में ही मुद्रा कोष की अनुमति से मुद्राओ की विनिमय दरो मे परिवर्तन किया जा सकता था। इस प्रकार साधारणतया विनिमय दरें स्थिर ही रहती थी। लेकिन 18 दिसम्बर, 1971 को हुए अमरीकी डालर के अवमूल्यन के पश्चात् विश्व की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण मुद्राएँ अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे खुली 'तैरने' लगी। स्थिर विनिमय दरो का युग समाप्त हो गया था। अब नयी मौद्रिक प्रणाली ने विनिमय दरों के इस प्रकार खुला 'तैरने' की प्रवृत्ति को कानूनी मान्यता दे दी थी। वास्तव मे, विनिमय दरो के विषय पर फ्रास तथा अमरीका के बीच मूलभूत मतभेद था। फ्रास यह चाहता था कि सदस्य देशो की विनिमय दरो मे पूर्व की भाँति स्थिरता बनाये रखी जाय। लेकिन अमरीका का दृष्टिकोण यह था कि विनिमय दरो को 'तैरने' के लिए पूर्ण स्वतन्त्र छोड दिया जाय। इस प्रकार इस विवाद मे अन्तिम विजय अमरीका की हुई थी। अपनी सन् 1975-76 की वार्षिक रिपोर्ट मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने कहा था, 'विश्व अर्थ-व्यवस्था ने स्वय को तैरती हुई' (floating) विनिमय दरो से समायोजित कर लिया है। विश्व निधियो के 73 प्रतिशत भाग पर अधिकार रखने वाले देशो की मुद्राएँ सन् 1975-76 मे तैर रही थी।"

2 इस सम्मेलन मे यह भी निर्णय किया गया था कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्वर्ण निधि का ⅙ भाग (अर्थात 25 मिलियन औंस स्वर्ण) खुले बाजार मे प्रचलित बाजार कीमत पर बेच दिया जाय। (स्मरण रहे, उस समय खुले बाजार मे स्वर्ण की कीमत 140 डालर प्रति औंस थी जब कि मुद्रा-कोष द्वारा निर्धारित कीमत केवल 42 22 डालर प्रति औंस ही थी।) स्वर्ण को खुले बाजार मे बेचने से जो धन प्राप्त होगा, उसे एक पृथक विशेष ट्रस्ट कोष (Special Trust Fund) मे रखा जायेगा। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि स्वर्ण की बिक्री से लगभग 2,500 मिलियन डालर की प्राप्ति होगी। इस धन के अलावा, कतिपय धनी सदस्य देशो से प्राप्त विशेष अशदान भी इस कोष मे डाल दिये जायेंगे। इस प्रकार जो धन एकत्रित होगा उसे निर्धन देशो को आर्थिक सहायता देने हेतु व्यय किया जायेगा। इस धनराशि को 4 वर्षों मे प्रति वर्ष 500 मिलियन डालर की दर पर अल्प विकसित देशो मे वितरित किया जायेगा। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नही है कि मुद्रा कोष के गरीब सदस्य देश विगत कुछ वर्षो से अपने भुगतान सन्तुलनो मे घाटे के कारण अनेक प्रकार की कठिनाइयो का सामना कर रहे थे। उनके भुगतान सन्तुलनो का यह घाटा विगत कुछ वर्षो से तेल की कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि के कारण बहुत बढ गया था। यद्यपि मुद्रा कोष ने इन देशो को राहत देने हेतु "तेल सुविधा सम्बन्धी योजना" के अन्तर्गत तेल-ऋण देने की व्यवस्था की थी लेकिन यह सहायता पर्याप्त नही थी। यही नही, यह "तेल सुविधा" सम्बन्धी योजना केवल 1975 की समाप्ति तक ही थी। इसका आगे नवीनीकरण नही किया गया था। नई मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत निर्धन सदस्य देशो को आर्थिक सहायता अब नव स्थापित विशेष ट्रस्ट कोष से ही दी जायेगी। स्मरण रहे इस कोष मे से आर्थिक सहायता केवल उन्ही सदस्य देशो को दी जायेगी जिनकी आर्थिक प्रति व्यक्ति आय 360 डालर से कम होगी।

3 नई मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की पूंजी मे सदस्य देशो के अभ्याशो (कोटो) (quotas) मे 33 प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई है। अब मुद्रा कोष के 128 सदस्य देशो को 33 प्रतिशत अधिक पूंजी जमा करनी होगी। चूँकि सदस्य देशो की वोट देने की शक्ति उनके कोटो (quotas) से निर्धारित होती है, अत कोष के प्रबन्ध मे भी कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे। कोटा-वृद्धि के कारण सदस्य देशो की मुद्रा-कोष से ऋण लेने की सामर्थ्य मे भी वृद्धि हो जायेगी।

4 नवीन मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की ऋण देने सम्बन्धी सुविधाओ मे 45 प्रतिशत की वृद्धि कर दी जायेगी। इससे विकासशील देशो को लगभग 3500 मिलियन डालर अतिरिक्त धन विकासात्मक कार्यों के लिए उपलब्ध हो सकेगा।

5 कागजी स्वर्ण (Paper Gold) अथवा विशेष आहरण अधिकारो (Special Drawing Rights) को अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की प्रमुख रिजर्व सम्पत्ति (Reserve Asset) घोषित

कर दिया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है क्योकि विगत पाँच वर्षों से S D R's का महत्व दिनो दिन बढता रहा था। स्वय अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने तीन वर्ष से भी अधिक समय तक इनका प्रयोग किया था। अब तो कुछ देश अपनी मुद्राओ की विनियम दरो को S D R's मे व्यक्त करने लगे है। सरकारो द्वारा व्यापारिक सौदो मे भी S D R's का प्रयोग अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। अप्रैल, 1977 से विश्व की बडी-बडी जहाजी कम्पनिया यात्री किरायो एव भाडो को डालरो एव स्टर्लिग के बजाय S D R's मे ही विज्ञापित करेगी।

आलोचना—नवीन अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है

प्रथम, इस प्रणाली का निर्माण करते समय अल्पविकसित देशो को विश्वास मे नही लिया गया था। अल्पविकसित देशो की शिकायत है कि दिसम्बर 1975 मे पेरिस मे हुए शिखर सम्मेलन मे इन देशो के प्रतिनिधियो को आमन्त्रित नही किया गया था। वास्तव मे, नई अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के बारे मे महत्वपूर्ण निर्णय इसी सम्मेलन मे लिये गये थे। लेकिन इस सम्मेलन मे केवल दस विकसित देशो के प्रतिनिधियो (Group of Ten) ने ही भाग लिया था।

दूसरे नई मौद्रिक प्रणाली मे परिवर्तनशील (तैरती हुई) विनिमय दरो की व्यवस्था की गई है। वास्तव मे, यह एक प्रतिगामी कदम (retrograde step) है। पुरानी ब्रेटन वुड्स प्रणाली मे स्थिर विनिमय दरो की व्यवस्था की गई थी। इस से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को व्यापक प्रोत्साहन मिला था। लेकिन अब परिवतनशील विनिमय दरो के कारण विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इसका कारण यह है कि विनिमय दरो की परिवर्तनशीलता के परिणामस्वरूप देश मे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है जो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए घातक सिद्ध होता है।

तीसरे, इस प्रणाली मे विकासशील देशो की कुछ समय से चली आ रही एक माँग को पूर्णत अस्वीकार कर दिया गया है। जैसा कि विदित है विकासशील देश विगत कुछ वर्षों से निरन्तर यह माँग कर रहे थे कि उनको दी जाने वाली विकास सहायता की मात्रा को (S D R's) से जोड दिया जाय। लेकिन नई प्रणाली मे इसके लिए कोई व्यवस्था नही है।

चौथे इस प्रणाली मे विकासशील देशो की एक अन्य माँग को भी ठुकरा दिया गया है। ये देश यह चाहते थे कि मुद्रा-कोष द्वारा S D R's का नवीन सृजन किया जाय और सदस्य राष्ट्रो मे उनका पुन आवण्टन किया जाय। यह आवण्टन करते समय विकासशील देशो को पहले की अपेक्षा अधिक हिस्सा दिया जाय ताकि उनकी बढती हुई तरलता सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा किया जा सके। वस्तुस्थिति यह है कि S.D.R's के सृजन की मूल अवधि 31 दिसम्बर, 1972 को समाप्त हो गई थी। उसके बाद S D R s का कोई नवीन सृजन नही किया गया था यद्यपि अन्तरराष्ट्रीय तरलता के अभाव की स्थिति बराबर बनी हुई थी।

पाँचवें इस प्रणाली के अन्तर्गत 'तेल सुविधा" (Oil Facility) से सम्बन्धित ऋण योजना को समाप्त कर दिया गया है। इस योजना के अन्तर्गत विकासशील देशो को 2 5 प्रतिशत ब्याज दर (प्रारम्भ मे 7% थी) पर तेल खरीदने हेतु ऋण दिये जाते थे। इससे विकासशील देशों को ऊँची तेल कीमतों से कुछ राहत मिल रही थी। लेकिन अब इस योजना को समाप्त कर दिया गया है यद्यपि तेल के भाव अब भी बढे हुए हैं और उनके और अधिक बढने की सम्भावना है।

साराशत नव मौद्रिक प्रणाली विकासशील देशो के दृष्टिकोण से कोई सन्तोषजनक सुधार नही है। सत्य तो यह है कि इसके अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय तरलता के वितरण मे असमता पहले से भी अधिक बढ गई है। नवीन प्रणाली के अधीन स्वर्ण की अधिकृत कीमत (official price) का उन्मूलन कर दिया गया है और अब मुद्रा कोष का स्वर्ण-स्टॉक प्रचलित बाजार कीमत पर बेचा जा रहा है। इस से विश्व के धनी देशो को बहुत लाभ हुआ है क्योकि उनके पास स्वर्ण के विशाल भण्डार हैं। नवीन प्रणाली के अन्तर्गत SDR का नवीन सृजन निषिद्ध कर दिया गया है जबकि SDR के नवीन आबन्टन से विकासशील देशो को बहुत लाभ हो सकता था।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सशोधित नियम—प्रमुख सशोधित नियम निम्नलिखित हैं

1 **कोटे (Quotas)**—नवीनतम सशोधन के अनुसार मुद्रा कोष की पूंजी को 29 2

बिलियन SDR (लगभग 34 बिलियन अमरीकी डालर) से बढ़ाकर 39 0 बिलियन SDR (अथवा 45·6 बिलियन अमरीकी डालर) कर दिया गया है। कोटो का यह सशोधन तीन वर्ष तक लागू रहेगा। उसके उपरान्त समूची परिस्थिति की समीक्षा की जायेगी। इस सशोधन के अनुसार सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी एव फ्रास के कोटे (इसी क्रम मे) अब भी अधिक हैं लेकिन प्रमुख तेल उत्पादक देशो के कोटो को 4 98 प्रतिशत से बढाकर 9 96 प्रतिशत कर दिया गया अर्थात् उनके कोटो को दुगना कर दिया गया है। गैर तेल उत्पादक देशो का सामूहिक कोटा पूर्व स्तर पर ही बना रहेगा। भारत के कोटे को 940 मिलियन SDR से बढाकर 1,145 मिलियन SDR कर दिया गया है। यद्यपि भारत का कोटा बढा दिया गया है लेकिन प्रतिशत के रूप मे इसे 3 22 प्रतिशत से घटाकर 2·93 प्रतिशत कर दिया गया है। यह तनिक विचित्र सा प्रतीत होता है लेकिन भारत एव अन्य गैर तेल उत्पादक देश प्रतिशत भाग की इस कटौती के लिये स्वय ही तैयार हो गये थे ताकि तेल उत्पादक नव-धनिक देशो का कोटा बढाया जा सके।

सशोधित नियमो के अनुसार मुद्रा-कोष के इतिहास मे पहली बार सदस्य देशो को कोटा-वृद्धि का 25 प्रतिशत भाग (जो अब तक स्वर्ण मे देय था) नई प्रणाली के अन्तर्गत SDR, निश्चित मुद्राओ, एव सदस्य देश की अपनी मुद्रा मे देना होगा। कोटा-वृद्धि का शेष 75 प्रतिशत भाग पूर्व की भाति सदस्य देश की अपनी मुद्रा मे देय होगा।

2 **विनिमय दरें**—प्रत्येक सदस्य देश को अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी विनिमय-प्रबन्ध (Exchange arrangement) को अपनाने की छूट होगी, चाहे वह अपनी मुद्रा को स्वतन्त्रता पूर्वक "तैरने" (Float) के लिये छोड दे अथवा उसकी विनिमय दर स्वय निर्धारित कर दे।

परित्यक्त ब्रेटन वुड प्रणाली (जिसे सन् 1945 मे लागू किया गया था) के अन्तर्गत सदस्य देशो को आदेश दिया गया था कि वे अपनी मुद्राओ की समता दरें स्थिर ही रखें। यदि आवश्यक हो तो इन समता दरो मे परिवर्तन कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर ही करें। सदस्य देश अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन तथा पुनर्मूल्यन तभी कर सकते थे जब उनके भुगतान सन्तुलन मे कोई मूलभूत परिवर्तन हो। लेकिन विनिमय प्रबन्ध के विषय मे सदस्य देशो को दी गई स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं है कि वे अपनी मुद्राओ की विनिमय दरो के सम्बन्ध मे हेराफेरी करें अथवा भुगतान सन्तुलन मे होने वाले समायोजनो (Adjustments) को रोके अथवा निर्यातो को बढ़ाने मे अनुचित साधनो का प्रयोग करे। मुद्रा-कोष सदस्य देशो के विनिमय-प्रबन्धो पर दृष्टि रखेगा और इस सन्दर्भ मे आदर्श व्यवहार के मान (Norms) स्थापित करेगा।

यदि मुद्रा कोष के 85 प्रतिशत सदस्य चाहे तो वे 'व्यापक सीमाओ के बीच स्थिर किन्तु समायोज्य समता-दरो वाली प्रणाली" ('stable but adjustible parities within broad margins of fluctuations') को पुन अपना सकते है। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि सदस्य देश किसी अन्य मनचाही प्रणाली को नही अपना सकते बशर्ते यह प्रणाली मुद्रा-कोष के उद्देश्यो के विपरीत न हो।

प्रत्येक सदस्य देश को विनिमय प्रबन्ध के बारे मे दी गई स्वतन्त्रता, वास्तव मे, नई प्रणाली (अथवा नये नियमो) की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

3 **स्वर्ण**—सशोधित नियमो के अन्तगत अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे स्वर्ण की भूमिका को समाप्त कर दिया गया है। नई प्रणाली के अन्तर्गत स्वण की 'अधिकृत कीमत' का उन्मूलन कर दिया गया है। सशोधित नियमो के अनुसार मुद्रा-कोष के स्वर्ण भण्डारो मे से 25 मिलियन औस स्वण सदस्य देशो को लौटा दिया जायगा। इसके अलावा, 25 मिलियन औस स्वण को खुले बाजार म बेचा जायगा। इस प्रकार जो धन प्राप्त होगा उसे विकासशील देशो के हितार्थ प्रयोग में लाया जायेगा। मुद्रा कोष के पास शेष 100 मिलियन स्वर्ण रह जायेगा। इसका निपटारा सदस्य देशो द्वारा 85 प्रतिशत के बहुमत से किया जायेगा। इसे या तो सदस्य देशो को लौटा दिया जायेगा अथवा खुले बाजार म बेच दिया जायेगा।

अनुमान लगाया गया है कि अगले 4 वर्षों म स्वण की बिक्री से मुद्रा कोष को 1 6 बिलियन डालरो की प्राप्ति होगी जिन्हे विशेष ट्रस्ट निधि मे जमा कर दिया जायगा।

4. **विशेष आहरण अधिकार (SDRs)**—मुद्रा-कोष के सदस्य देश इस बात पर सहमत थ

कि SDR's को मुख्य अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक उपकरण के रूप मे मान्यता दी जाय और इसके प्रयोग मे वृद्धि की जाय। सशोधित नियमो ने कुछ सीमा तक SDR's के प्रयोग को व्यापक बना दिया है। इन नियमो मे इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि SDR's की कीमत मे परिवर्तन करने हेतु कितनी वोट शक्ति (voting power) की आवश्यकता है। (स्मरण रहे, इस समय SDR's की कीमत प्रमुख मुद्राओ की टोकरी से जुडी हुई है। लेकिन सदस्य देशो मे SDR's के आवण्टन मे कोई परिवर्तन नही किया जायेगा। इस प्रकार SDR's केवल कागजी मुद्रा की ही भूमिका अदा नही करते, बल्कि साख विपत्रो का भी काम देते है।

5. **अन्य प्रावधान** (Other provisions)—सशोधित नियमो के अन्तर्गत सदस्य देशो ने मुद्रा-कोष को यह वचन दिया है कि जरूरत मन्दसदस्य देशो को ऋण देने हेतु वह उनकी मुद्राओ का उदारता से प्रयोग कर सकता है। इसका उद्देश्य यह है कि मुद्रा-कोष उन तेल उत्पादक देशो की मुद्राओ का अधिक प्रयोग कर सके जिन्हे भुगतान-सन्तुलन मे आधिक्य (Surplus) प्राप्त है।

मुद्राओ की परिवर्तनशीलता से सम्बन्धित नियमो मे कोई परिवर्तन नही किये गये हैं।

6 **समायोजन** (Adjustments)—अतीतकाल मे मुद्रा-कोष के सदस्यो ने मौद्रिक प्रणाली को अधिक लचीला बनाने के प्रयास किये थे। सशोधित नियमो के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रो मे परिवर्तन एव समायोजन करने हेतु द्वार खुले रखे गये हैं। महत्त्वपूर्ण निर्णयो के लिये 85 प्रतिशत बहुमत की आवश्यकता पडेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सयुक्त राज्य अमरीका के पास वीटो का अधिकार बना रहेगा क्योकि इसके पास 20 प्रतिशत वोट-शक्ति है। यूरोपीय आर्थिक समुदाय भी निर्णयो को वीटो कर सकता है बशर्ते कि उसके नौ सदस्य एक जुट होकर कार्य करें।

साराशत नये सशोधित नियमो के दो प्रमुख उद्देश्य थे—(1) अन्तरराष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था मे विदेशी मुद्राओ से सम्बन्धित तरलता को बनाये रखना (ii) विकासशील देशो को वित्तीय सहायता देने की व्यवस्था करना।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना किन मुख्य उद्देश्यों से की गयी थी ? इस कोष से भारत को क्या लाभ हुए हैं ?** (आगरा, 1964)

अथवा

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के उद्देश्यो को सक्षिप्त रूप से समझाइए। (आगरा, 1971)

[**संकेत**—प्रथम भाग मे, मुद्रा-कोष का परिचय देते हुए इसके मुख्य-मुख्य उद्देश्यो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि मुद्रा-कोष की सहायता से भारत को कौन-कौन से लाभ प्राप्त हुए हैं ?]

2 **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यो को समझाइए। इन कार्यों मे इस कोष को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है ?** (आगरा, 1968)

[**संकेत**—प्रथम भाग मे, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सक्षिप्त परिचय देते हुए इसके प्रमुख कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि मुद्रा-कोष को अपने क्षेत्र मे पूर्ण सफलता प्राप्त नही हो सकी है। **प्रथम**, मुद्रा कोष विभिन्न देशो की मुद्राओ की समता दरो मे पूर्ण स्थिरता स्थापित नही कर सका। **दूसरे**, मुद्रा-कोष विभिन्न देशो द्वारा विदेशी व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धो को हटाने मे असमर्थ रहा है। **तीसरे**, मुद्रा-कोष डालर की दुर्लभता की समस्या को हल करने मे भी असफल रहा है।]

3 **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों एव कार्यों का विवेचन कीजिए। यह विदेशी विनिमय दरो मे किस प्रकार स्थायित्व रखता है ?**

[**संकेत**—प्रथम भाग मे मुद्रा कोष के उद्देश्यो एव कार्यो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइये कि सदस्य देशो की मुद्राओ की कीमतो को स्वर्ण के रूप मे व्यक्त कराके मुद्रा-कोष विनिमय-दरो मे स्थायित्व बनाये रखने की चेष्टा करता है।]

4 **मुद्रा-कोष विनिमय दरो मे स्थिरता रखने मे किस प्रकार सहायता करता है ? समझाइये।** (राजस्थान, 1967)

[**संकेत**—यहाँ पर आपको विस्तृत रूप मे यह बताना है कि मुद्रा-कोष सदस्य-देशो की मुद्राओ को खरीद एव बेचकर उनके बीच विनिमय-दरो की स्थिरता बनाये रखता है।]

15

अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक एवं अन्य संस्थाएँ

(International Bank for Reconstruction and Development and Other Institutions)

प्रस्तावना—सन् 1944 में किये गये ब्रेटन वुड्स सम्मेलन ने *अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण* तथा विकास बैंक की भी सिफारिश की थी। सम्मेलन का यह विचार था कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता के लिए अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक भी आवश्यक है। इसलिये इन दोनों संस्थाओं की साथ ही साथ स्थापना की गयी थी। *अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का उद्देश्य* व्यापारिक असन्तुलन को दूर करके विदेशी विनिमय-दरों में स्थिरता स्थापित करना था। *अन्तर-राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (जिसे विश्व बैंक भी कहते हैं) का उद्देश्य पुनर्निर्माण तथा* विकास हेतु युद्ध विनष्ट एवं अल्प विकसित देशों को सहायता देना था। यह सहायता उन्हें दीर्घकालीन ऋणों के रूप में दी जाती है।

विश्व बैंक
(World Bank)

विश्व बैंक के उद्देश्य—इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) **राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास**—जैसा ऊपर कहा गया है, विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध विनष्ट तथा अल्प-विकसित देशों को दीर्घकालीन ऋण देकर उनकी सहायता करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्व बैंक ने समय समय पर युद्ध विनष्ट देशों (उदाहरणार्थ, ब्रिटेन फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड, डेनमार्क आदि) को तथा भारत, पाकिस्तान श्री लंका, बर्मा जैसे, पिछड़े हुए देशों को विकास हेतु ऋणों के रूप में सहायता प्रदान की है।

(2) **पूंजी के निवेश के लिए गारण्टी देना**—विश्व बैंक निजी निवेशकर्ताओं (private investors) को गारण्टी देकर पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशों में पूंजी के निवेश में सहायता देता है। साधारण परिस्थितियों में निजी निवेशकर्ता अपनी पूँजी को विदेशों में लगाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें बहुत जोखिम उठाना पड़ता है, परन्तु जब विश्व बैंक उन्हें गारण्टी दे देता है तब उनके लिए विदेशों में पूंजी का निवेश करना सरल हो जाता है।

(3) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना**—विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य *अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देना है और इस प्रकार सदस्य देशों के लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा* उठाना है।

(4) **शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की परिस्थितियाँ उत्पन्न करना**—विश्व बैंक का चौथा उद्देश्य सदस्य देशों की *युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में बदलना भी है।*

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग देना है।

विश्व बैंक की सदस्यता—जो देश अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य हैं, वे स्वतः ही विश्व बैंक के सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार दोनों संस्थाओं की सदस्यता एक साथ चलती है। जिन देशों ने 31 दिसम्बर, 1945 तक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी, वे

विश्व बैंक के मूल सदस्य माने जाते हैं। जून सन् 1976 मे 128 देश विश्व बैंक के सदस्य थे। यदि कोई देश मुद्रा-कोष की सदस्यता त्याग देता है तो वह विश्व बैंक का सदस्य भी नही रह सकता। यदि कोई देश विश्व बैंक के नियमो का पूर्ण रूप से पालन नही करता तो वह इसका सदस्य नही रह सकता।

विश्व बैंक की पूंजी – विश्व बैंक की प्रारम्भिक स्वीकृत पूंजी 10,000 मिलियन डालर थी। इसे एक लाख के शेयरो मे विभाजित किया गया था और सभी सदस्य देशो ने अपने कोटो के अनुसार इन शेयरो को खरीद रखा था। सदस्य देशो द्वारा प्रदत्त पूंजी (paid-up capital) वास्तव मे 9400 मिलियन डालर थी। प्रत्येक देश सदस्यता प्राप्त करने पर अपने कोटे का 20 प्रतिशत भाग विश्व बैंक को देता है। इसमे से 2 प्रतिशत अवश्य ही स्वर्ण के रूप मे देना पड़ता है और 18 प्रतिशत देश की अपनी मुद्रा मे देना पड़ता है। कोटे का शेष प्रतिशत भाग विश्व बैंक जब चाहे, सदस्य देशो से माँग सकता है। सदस्य देशो के कोटे केवल उनकी जिम्मेदारियो तथा प्रशासकीय अधिकारो की सीमा निर्धारित करते हैं, अर्थात् सदस्य देशो द्वारा प्राप्त किये जाने वाले ऋणो की सीमाएँ उनके कोटो से निर्धारित नही होती। विश्व बैंक की पूंजी को समय-समय पर सदस्य देशो की अनुमति से बढाया गया है। 30 जून, 1975 को विश्व बैंक की कुल अधिकृत पूंजी 27,000 मिलियन डालर थी, लेकिन उसी दिन बैंक के 128 सदस्य देशो द्वारा वास्तविक प्रदत्त पूंजी 26,930 मिलियन डालर थी। विश्व बैंक की कुल प्रदत्त पूंजी मे प्रतिशत के क्रमानुसार 10 देशो के नाम इस प्रकार हैं—सयुक्त राज्य अमरीका (25·34%), ग्रेट ब्रिटेन (10 18%), पश्चिमी जर्मनी (5 34%), फ्रास (5 01), जापान (4 00%), कनाडा (3 69%), भारत (3 52%), चीन (2 94%), नेदरलैंड (2 32%), आस्ट्रेलिया (2 22%)। समय-समय पर बैंक की पूंजी मे वृद्धि करने का एक ही उद्देश्य था। वह था बैंक के साधनो मे वृद्धि करना ताकि वह सदस्य देशो की विकासात्मक योजनाओ का वित्तपोषण करने हेतु अधिकाधिक ऋण दे सके। स्मरण रहे, विश्व बैंक के सभी सदस्य देशो की देयता (Liability) सीमित होती है। यदि विश्व बैंक किसी कारणवश फेल हो जाता है तो सदस्य देशो की देयता उनके शेयरो तक ही सीमित रहेगी।

विश्व बैंक का प्रबन्ध—विश्व बैंक का प्रबन्ध भी ठीक उसी प्रकार चलाया जाता है जिस प्रकार कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का। इसका प्रबन्ध चार प्रकार की सस्थाओ द्वारा चलाया जाता है : **प्रथम**, बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors), **दूसरे**, प्रशासनिक सचालक बोर्ड (Board of Executive Directors), **तीसरे**, सलाहकार समिति (Advisory Committee), और **चौथे**, ऋण समिति (Loan Committee)। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स मे प्रत्येक सदस्य देश एक गवर्नर और एक विकल्प गवर्नर (Alternate Governor) की नियुक्ति करता है। इन दोनो का कार्यकाल पाँच वर्ष तक होता है। प्रत्येक गवर्नर की वोट शक्ति उसकी सरकार के वित्तीय अशदान के अनुपात मे होती है। उदाहरणार्थ, सयुक्त राज्य अमरीका का अशदान 6 473 मिलियन डालर है। अत उसकी वोट-शक्ति कुल वोट-शक्ति का 22 66 प्रतिशत है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स की बैठक वर्ष मे कम से कम एक बार अवश्य ही होती है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स अपने सदस्यो मे से एक को अध्यक्ष चुन लेता है जो वार्षिक सभा की अध्यक्षता करता है। सचालक बोर्ड के 21 सदस्य होते हैं। इनमे से छ सदस्य सबसे अधिक कोटे वाले होते हैं। ये देश हैं—सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रास जापान तथा भारत। शेष सदस्य विश्व बैंक के अन्य देशो से चुने जाते हैं। प्रत्येक सचालक का कार्यक्रम दो वर्ष का होता है। प्रशासनिक सचालक बोर्ड किसी भी व्यक्ति को (जो स्वय गवर्नर अथवा सचालक नही है) अध्यक्ष नियुक्त कर सकता है। वह बोर्ड की सभाओ की अध्यक्षता करता है और साथ ही साथ बैंक का प्रमुख अधिकारी भी होता है। वह सचालक बोर्ड के निर्देशन मे काम करता है और अपने प्रत्येक काय के लिए बोर्ड के प्रति उत्तरदायी होता है। उसी के द्वारा बैंक के अन्य अधिकारियो की नियुक्ति की जाती है और वह उनके कार्यों का निरीक्षण भी करता है। सलाहकार समिति का निर्माण सचालक बोर्ड द्वारा किया जाता है। इसमे कम से कम सात सदस्यो का होना आवश्यक है। ये सदस्य विभिन्न आर्थिक विषयो के विशेषज्ञ होते हैं। किसी भी देश को ऋण देने से पूर्व विश्व बैंक ऋण समिति का परामर्श अवश्य ही लेता है। ऋण समिति भी सचालक बोर्ड द्वारा नियुक्त की जाती है। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स बैंक की सामान्य

नीति का निर्धारण करता है, परन्तु संचालक बोर्ड बैंक के दिन प्रतिदिन के कार्य का संचालन करता है।

विश्व बैंक की कार्य-प्रणाली

विश्व बैंक तीन प्रकार से अपने सदस्य राष्ट्रों को ऋण देता है

(1) **अपने कोष से ऋण देना**—जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का 20 प्रतिशत भाग विश्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है और शेष 80 प्रतिशत विश्व बैंक जब चाहे सदस्य देश से मांग सकता है। इस 20 प्रतिशत में से 2 प्रतिशत सोने तथा 18 प्रतिशत सदस्य देश की मुद्रा में दिया जाता है। विश्व बैंक सदस्य देशों से प्राप्त किये गये सोने का किसी देश को ऋण देने के लिए प्रयोग कर सकता है। लेकिन यदि ऋण किसी सदस्य देश की मुद्रा में देना होता है तो बैंक उस सदस्य देश की पूर्व स्वीकृति अवश्य ही प्राप्त करता है। विश्व बैंक ऋण देने से पूर्व कुछ शर्तों के पूरा किये जाने पर अवश्य ही जोर देता है।

(2) **उधार ली गयी पूंजी में से ऋण देना**—विश्व बैंक किसी सदस्य देश को ऋण देने के लिए किसी अन्य सदस्य देश से पूंजी उधार भी ले सकता है। परन्तु शर्त यह है कि ऋण देने से पूर्व बैंक को उस सदस्य देश की अनुमति अवश्य लेनी पड़ती है। इसी तरह सदस्य देश की आज्ञा लेकर ही बैंक उस उधार ली गयी मुद्रा को सोने में अथवा अन्य मुद्राओं में बदल सकता है।

(3) **गारण्टी देकर ऋण दिलाना**—बैंक किसी सदस्य देश के निजी निवेशकर्ताओं को गारण्टी देकर उनकी पूंजी को किसी अन्य देश को उधार दिला सकता है, परन्तु गारण्टी देने से पूर्व बैंक को दोनों देशों की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है, अर्थात् जिस देश के निवेशकर्ताओं को गारण्टी दी जाती है और जिस देश को ऋण दिया जा रहा है। जब एक बार बैंक ऋण प्रदान करने वाले देश की आज्ञा प्राप्त कर लेता है, तब उस ऋण को किसी भी सदस्य देश की मुद्रा में बदला जा सकता है। विश्व बैंक यथासम्भव यही प्रयत्न करता है कि निजी निवेशकर्ताओं को गारण्टी देकर सदस्य देशों को ऋण दिलाया जाय, अर्थात् बैंक अपने कोषों में से ऋण देने की अपेक्षा निजी निवेशकर्ताओं को गारण्टी देकर ऋण दिलाना अधिक पसन्द करता है। बैंक अपने कोषों में से ऋण तभी देता है जब निजी निवेशकर्ताओं से ऋण उपलब्ध नहीं होता। गारण्टी देने से पूर्व बैंक कुछ शर्तों की पूर्ति पर अवश्य ही जोर देता है। शर्तें इस प्रकार हैं—(क) जब बैंक किसी अन्य देश द्वारा दिये जाने वाले ऋण की गारण्टी करता है, तब वह अपने आप को सन्तुष्ट कर लेता है कि ऋण देने की शर्तें उचित तथा न्यायपूर्ण हैं, (ख) बैंक यह भी देखता है कि जिस योजना के लिए ऋण दिया जा रहा है, वह उचित भी है अथवा नहीं। योजना के औचित्य के बारे में अंतिम निर्णय बैंक का ही होता है, (ग) बैंक अपने आपको इस बात से भी सन्तुष्ट कर लेता है कि ऋणी देश के पास ऋण लौटाने के पर्याप्त साधन भी हैं अथवा नहीं (घ) जिस सदस्य देश को ऋण प्रदान किया जाता है उस देश की सरकार को भी ऋण की गारण्टी देनी होती है।

ऋण देते अथवा दिलाते समय विश्व बैंक निम्नलिखित नियमों का अनुसरण करता है

(i) साधारणत विश्व बैंक सदस्य देश की सरकार अथवा उसके केन्द्रीय बैंक से ही व्यवहार करता है। वह सदस्य देशों की निजी संस्थाओं से व्यवहार नहीं करता। यदि कोई निजी संस्था विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करना चाहती है तो विश्व बैंक ऐसी संस्था को भी ऋण दे सकता है, परन्तु शर्त यह है कि उस देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक मूलधन, ब्याज तथा अन्य व्ययों के भुगतान की गारण्टी देने के लिए तैयार हो।

(ii) विश्व बैंक को यह अधिकार होता है कि वह ऋण की मात्रा तथा गारण्टी सम्बन्धी शर्तों को स्वयं निधारित करे।

(iii) ऋण की राशि ऋणी देश के केन्द्रीय बैंक मे जमा कर दी जाती है और ऋण लेने वाली संस्था अपनी आवश्यकतानुसार उसे वहाँ से निकाल सकती है।

(iv) ऋण देते समय ऋणी देश पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता कि वह ऋण की राशि का ऋण देने वाले देश में ही व्यय करे। दूसरे शब्दों में, ऋणी देश को पूर्ण स्वतंत्रता होती है कि वह ऋण की राशि को किसी भी देश के माल खरीदने के लिए व्यय कर सकता है।

(v) ऋणी देश ऋण की राशि को केवल उसी योजना के सम्बन्ध में व्यय कर सकता है जिसके लिए उसे ऋण प्रदान किया गया है।

(vi) विश्व बैंक किसी भी समय अपनी जारी की हुई पूंजी तथा प्रारक्षित निधि की कुल राशि से अधिक ऋण न तो स्वयं दे सकता है और न ही गारण्टी देकर निजी निवेशकर्ताओं से ऋण दिला सकता है।

(vii) ऋणी देश को ऋण का भुगतान सोने में अथवा उस मुद्रा में करना होता है जिसमें उसने ऋण प्राप्त किया था।

विश्व बैंक सदस्य देशों को कृषि, सिंचाई, बिजली, परिवहन, उद्योग, जलपूर्ति, शिक्षा इत्यादि में विशिष्ट विकास योजनाओं हेतु ऋण देता रहा है। बैंक द्वारा दिये गये अधिकांश ऋणों का उद्देश्य विकासशील देशों में तीव्र आर्थिक विकास की नींव रखना है। विश्व बैंक सदस्य देशों को मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण भी देता है। बैंक सदस्य देशों में चल रही उन परियोजनाओं की प्रगति के बारे में सूचनाएँ प्राप्त करता रहता है जिनका वह वित्तपोषण करता है। बैंक अपने निरीक्षकों को मौके पर ही परियोजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने हेतु ऋणी देशों में भेजता रहता है।

(4) **विश्व बैंक द्वारा टेक्नीकल सहायता का दिया जाना**—विश्व बैंक सदस्य देशों को टेक्नीकल सहायता भी प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में विश्व बैंक समय-समय पर सदस्य देशों में अपने आर्थिक विशेषज्ञों को भेजकर उनका सामान्य पर्यवेक्षण (general survey) कराता है। इसके अतिरिक्त, विश्व बैंक सदस्य देशों को उनकी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में भी सहायता देता है। विश्व बैंक सदस्य देशों के अधिकारियों को विकास योजनाओं के निर्माण तथा उन्हें क्रियान्वित करने के बारे में प्रशिक्षण भी देता है। इस उद्देश्य के लिए विश्व बैंक ने सन् 1956 में आर्थिक विकास संस्थान (Economic Development Institute) की स्थापना की थी। इस संस्थान में सम्बद्ध देशों के अधिकारियों व कर्मचारियों को अल्पकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है।

बैंक द्वारा ब्याज तथा कमीशन की वसूली—बैंक अपने कोषों में से दिये गये ऋणों पर सदस्य देशों से ब्याज की वसूली करता है। विश्व बैंक द्वारा वसूल की जाने वाली ब्याज की दर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाजारों में कार्यशील प्रवृत्तियों के अनुसार समय समय पर बदलती रहती है। अक्तूबर 1976 में यह ब्याज की दर 8.7 प्रतिशत वार्षिक थी। निस्सन्देह, यह ब्याज दर विकासशील देशों के लिए ऊँची है जबकि बैंक के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं जहाँ किसी सदस्य देश ने ऋण लौटाने से इन्कार कर दिया हो। निजी बैंकिंग संस्थाओं को तो ऋण न लौटाने का जोखिम उठाना पड़ता है लेकिन विश्व बैंक को तो ऐसी कोई आशंका नहीं होती। फिर भी इसके द्वारा वसूल की जाने वाली ब्याज दर बाजार प्रवृत्तियों से ही शासित होती है। जिन ऋणों की बैंक गारण्टी करता है उन पर 1 से लेकर $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत कमीशन वसूल करता है। बैंक अपने कमीशन को एक विशेष कोष में जमा कर देता है। इस कोष का उपयोग किसी सदस्य देश द्वारा ऋण का भुगतान न करने पर किया जाता है।

लाभ का विभाजन—अपने लाभ का वितरण करते समय सर्वप्रथम बैंक ऋणदाता देशों को उनकी पूंजी में से दिये गये ऋणों की औसत रकम पर 2 प्रतिशत ब्याज देता है। शेष लाभ को सदस्य देशों में उनकी स्वीकृत पूंजी के अनुपात में उन्हीं की मुद्राओं में बांट देता है।

विश्व बैंक द्वारा किये गये कार्य की समीक्षा—विश्व बैंक द्वारा किये गये कार्य की समीक्षा निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जाती है

(1) **कार्यकारी पूंजी में वृद्धि**—समय समय पर विश्व बैंक ने अपनी कार्यकारी पूंजी में वृद्धि करने के अनेक प्रयत्न किये हैं। इसने विभिन्न समयों पर अमरीका, ब्रिटेन, स्विटजरलैंड आदि देशों में अपनी प्रतिभूतियों तथा बॉण्ड्स को बेचकर अपनी पूंजी को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। विगत 30 वर्षों में विश्व बैंक ने अपनी पूंजी को दुगुने से भी अधिक कर लिया है। इसके अलावा, विश्व बैंक समय समय पर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाजारों से भी ऋण ले रहा है।

(2) **बैंक द्वारा दिये गये ऋण**—विगत 30 वर्षों में (अर्थात् 31 दिसम्बर, 1975 तक) विश्व बैंक ने 110 सदस्य देशों को विभिन्न विकास परियोजनाओं के लिए 29 बिलियन डालर के

ऋण दिये थे। यह ऋण सहायता (प्रतिशतो के रूप मे) विभिन्न मदो पर निम्नवत विभाजित की जा सकती है—बिजली 25%, परिवहन एव सचार 30%, कृषि, जबलात एव मत्स्य पालन 15%, जनसख्या नियन्त्रण, शहरीकरण, पर्यटन, जलपूर्ति एव शिक्षा 30%।

(3) *उत्पादक उद्देश्यो के लिए ऋण देना*—जैसा पूर्व कहा गया है, बैंक सदस्य देशो को केवल उत्पादक उद्देश्यो के लिए ही ऋण देता है। विशेषकर, बैंक बिजली-शक्ति तथा परिवहन के साधनो के विकास के लिए अल्प-विकसित देशो को ऋण प्रदान करता है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश के लिए इन सुविधाओ का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके बिना देश का आर्थिक विकास सम्भव नही हो सकता। सन् 1968-69 से विश्व बैंक ने कृषि-विकास, शिक्षा एव परिवार नियोजन के लिए भी ऋण देना प्रारम्भ कर दिया था।

(4) **टेकनीकल सहायता**—जैसा ऊपर कहा गया है, बैंक ने अपने सदस्य देशो को टेकनीकल सहायता भी प्रदान की है। बैंक सदस्य देशो को टेकनीकल मिशन्स भेजकर वहाँ की आर्थिक स्थिति के बारे मे जानकारी प्राप्त करता है। बैंक सदस्य देशो की आर्थिक समस्याओ को सुलझाने मे भी सहायता देता है।

(5) *अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Commission)*—यह सस्था भी विश्व बैंक के साथ सम्बद्ध है। इसकी स्थापना जुलाई 1956 मे की गई थी। इस सस्था का उद्देश्य सदस्य देशो मे निजी व्यवसायो (private enterprises) को प्रोत्साहित करना है।

(6) **अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ (International Development Association)**—यह सस्था भी अन्तरराष्ट्रीय बैंक से सम्बन्धित है। इसकी स्थापना सितम्बर 1960 मे की गयी थी। इसका उद्देश्य पिछडे तथा अल्प विकसित देशो को आर्थिक सहायता देकर उनका औद्योगिक विकास करना है।

(7) **अल्प-विकसित देशो को ऋण दिलाने के लिए ऋणदाता देशों की बैठको का आयोजन करना**—विश्व बैंक पिछडे तथा अल्प विकसित देशो को आर्थिक सहायता दिलाने के लिए समय-समय पर ऋणदाता देशो की बैठके बुलाता है। हाल ही मे विश्व बैंक ने भारत की सहायतार्थ अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान की बैठक बुलायी थी। भारत सहायता क्लब (Aid India Club) विश्व बैंक द्वारा ही सगठित किया गया है।

(8) **राष्ट्रो के विवादों का निपटारा**—विश्व बैंक सदस्य देशो से पारस्परिक आर्थिक विवादो का निपटारा भी करता है, ताकि अपने झगडे समाप्त करके सदस्य देश आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने मे अपने साधन जुटा सकें। अभी हाल ही मे विश्व बैंक ने भारत और पाकिस्तान के बीच नहरी पानी के विवाद का सफलतापूर्वक निपटारा किया था। इसी प्रकार विश्व बैंक ने संयुक्त अरब गणराज्य (U A R) तथा ब्रिटेन के बीच स्वेज नहर (Suez Canal) से उत्पन्न वित्तीय विवाद तय कराने मे प्रशसनीय भूमिका प्रस्तुत की थी।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि अपने सक्षिप्त जीवनकाल मे विश्व बैंक ने बहुत ही प्रशसनीय काम किया है। विशेषकर, अल्प विकसित तथा पिछडे हुए देशो की आर्थिक सहायता प्रदान करके इसने बड़ा ही सराहनीय काम किया है।

विश्व बैंक का मूल्यांकन

(Evaluation of the World Bank)

विश्व बैंक की कार्यशीलता आलोचनारहित नही है। इसकी निम्न आधारो पर आलोचना की गई है

(1) **अपर्याप्त वित्तीय सहायता**—विश्व बैंक की पूंजी एव अन्य वित्तीय साधन सदस्य देशो की बढती हुई आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही है। बैंक द्वारा विकासशील देशो को दी गई वित्तीय सहायता बहुत ही कम है। अक्टूबर, 1976 मे मनीला मे हुई बैंक की वार्षिक बैठक मे विकासशील देशो के प्रतिनिधियो ने जोरदार माग की थी कि बैंक की पूंजी को बढाकर 34 बिलियन डालर कर दिया जाय। तभी बैंक उनकी वित्तीय आवश्यकताओ को पर्याप्त रूप मे पूरा कर सकता है।

(2) **भेदपूर्ण व्यवहार**—अपने दिन-प्रति-दिन के कार्यों मे विश्व बैंक एशिया एव अफ्रीका के देशो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार करता है। लेकिन पश्चिमी यूरोप के देशो के प्रति बैंक बहुत ही उदार एव दयालु रहा है। सामूहिक रूप मे एशिया एव अफ्रीका के देशो के क्षेत्र, जनसख्या एव अशोषित साधन पश्चिमी यूरोप के देशो की तुलना मे कही अधिक एव विशाल हैं। लेकिन इसके बावजूद भी पश्चिमी यूरोप के देशो को एशिया एव अफ्रीका के देशो की तुलना मे कही अधिक ऋण सहायता प्राप्त हुई है। विश्व बैंक तो एक गैर-राजनीतिक एव गैर-पक्षपाती सस्था है। अत ऋण सहायता देते समय इसे कतिपय देशो के विरुद्ध भेद-भाव नही करना चाहिये। सदस्य देशो को ऋण गुण-दोष के आधारो अथवा विशुद्धत आर्थिक आधारो पर ही दिये जाने चाहिये।

(3) **ऊँची ब्याज एवं कमीशन दरें**—विश्व बैंक पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वह ऋणी देशो (जो अधिकाशत एशिया एव अफ्रीका के विकासशील देश ही हैं) से ऊँची ब्याज एव कमीशन दरें वसूल करता है। विश्व बैंक की यह प्रथा बहुत ही असमतायुक्त, अन्यायपूर्ण एव बैंक-चार्टर के विरुद्ध है। विश्व बैंक कोई लाभ कमाने वाली सस्था नही है। इसका उद्देश्य तो विकासशील देशो को अधिकतम वित्तीय सहायता देना है। इस दृष्टिकोण से विश्व बैंक विकासशील देशो की आशाओ को पूरा नही कर सका है। विश्व बैंक को चाहिये कि वह अपने द्वारा दिये गये उन ऋणो पर ब्याज एव कमीशन की दरो मे स्वेच्छा से ही कटौती कर दे जिनकी गारण्टी ऋणी देशो की सरकारो द्वारा दी जाती है। जब ऋणो की अदायगी की गारण्टी सम्बद्ध सरकारो द्वारा कर दी जाती है तो विश्व बैंक के लिए कोई विशेष जोखिम नहीं रह जाता।

(4) **अदायगी क्षमता पर बल**—विश्व बैंक के विरुद्ध एक अन्य आलोचना यह की जाती है कि किसी सदस्य देश को ऋण देने से पूर्व बैंक इस बात की भली भाँति जाँच करता है कि उस देश के पास ऋण लौटाने की क्षमता भी है अथवा नही। यह एक प्राचीन, परम्परागत बैंकिंग प्रथा है जो आधुनिक समय मे प्रासंगिक प्रतीत नही होती। ऋण-अदायगी की क्षमता तो ऋण देने के बाद उत्पन्न होती है उस से पूर्व नही। जब ऋण से पोषित विकास परियोजना पूर्ण होती है तो अदायगी क्षमता स्वत ही इस प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न हो जाती है। ऋण देने से पूर्व अदायगी-क्षमता का आग्रह करना सदस्य देशो को ऋण लेने से हतोत्साहित करना है। बैंक को तो मात्र यह देखना चाहिए कि ऋण से पोषित होने वाली परियोजना उत्पादक है अथवा नही। यदि परियोजना उत्पादक है तो ऋणी देश की अदायगी-क्षमता इस प्रक्रिया मे स्वत ही सृजित हो जायेगी।

(5) **कृषि आदि के लिये ही ऋण**—विश्व बैंक की एक आलोचना यह भी की जाती है कि यह बैंक अल्पविकसित देशो को ऋण अधिकाशत कृषि एव सम्बन्धित कार्यों के लिये ही देता है। भारी एव मूलभूत उद्योगो के लिये नही। इस आलोचना मे सत्यता का बहुत बड़ा अश पाया जाता है। भारत को जितने भी ऋण दिये गये है, अधिकाशत कृषि, सिंचाई, बिजली एव खनिज उद्योगो के विकास के लिये ही दिये गये हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद विश्व बैंक ने अपने 30 वर्षीय अस्तित्व काल मे सदस्य देशो की उपयोगी सेवाएँ की हैं। बैंक ने अन्तरराष्ट्रीय ऋणो से सम्बन्धित उपर्युक्त अवस्थाओ की स्थापना मे सहायता दी है। यदि कोई देश उपयुक्त शर्तों पर किन्ही अन्य स्रोतो से ऋण ले सकता है तो ऐसे देश को बैंक वित्तीय सहायता नही देता। बैंक तो सदस्य देशो को वित्तीय सहायता तभी देता है जब व उपयुक्त शर्तों पर इसे अन्य स्रोतो से प्राप्त करने मे असमर्थ रहते हैं। बैंक आसान शर्तों पर एव 25 से लेकर 30 वर्ष तक की दीर्घ अवधि के लिये ऋण दे देता है।

विश्व बैंक ने बहुपक्षीय व्यापार एव निवेश प्रणाली (Multilateral trade and investment system) का भी विकास किया है। यह ऋणी देशो को ऋण-राशि कही भी व्यय करने की आज्ञा दे देता है। ऋणी देश को ऋण-राशि किसी विशेष देश मे व्यय करने के लिये बाध्य नही किया जाता।

विश्व बैंक ने ऋणो की नियमित अदायगी पर भी निरन्तर जोर दिया है। बैंक ने ब्याज के समयोचित भुगतान को भी प्रोत्साहित किया है। इसका कारण यह है कि यदि बैंक को कोई वित्तीय होती है तो उसका भार सयुक्त रूप मे सभी सदस्य देशो पर पडता है। बैंक केवल उपयुक्त विश्व स परियोजनाओ के लिये ही ऋण देता है। ऋण देने से पूर्व परियोजना की व्यवहार्यता की

अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल कर लेता है। ऋण तभी दिया जाता है जब परियोजना वित्तीय दृष्टिकोण से सही होती है।

विश्व बैंक ने संसार के विकासशील देशों की मूल्यवान सेवाएँ की हैं। इसने इन देशों को कृषि, सिंचाई, बिजली, परिवहन, उद्योग, शिक्षा इत्यादि के लिये ऋण दिये हैं। बैंक की इस वित्तीय सहायता के परिणामस्वरूप विकासशील देशों ने आर्थिक विकास की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है।

यह सही है कि विश्व बैंक विकासशील देशों की सभी आशाओं को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर पाया है। लेकिन इसकी भूमिका का मूल्यांकन करते समय हमें उन परिसीमाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये जिनके भीतर अब तक यह बैंक कार्यरत रहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि बैंक विभिन्न देशों में आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने में सहायक हुआ है। यह सही है कि बैंक सभी प्रस्तुत परियोजनाओं का वित्तपोषण नहीं कर सका है लेकिन इनमें से अनेक परियोजनाओं के लिये इसने धन दिया है और इन परियोजनाओं के परिपक्व होने पर विकासशील देशों को बहुत लाभ हुआ है। *यदि बैंक के पूँजीगत साधनों में वृद्धि कर दी जाय तो यह संसार के विकासशील देशों को और अधिक वित्तीय सहायता देने की स्थिति में होगा।*

भारत और विश्व बैंक—(क) भारत नवम्बर, 1946 में विश्व बैंक का मूल सदस्य बन गया था। बैंक के प्रशासनिक संचालक मण्डल में भी भारत को स्थायी स्थान दिया गया है। विश्व बैंक ने भारत की पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने में महत्त्वपूर्ण सहायता दी है। विश्व बैंक ने अपने अनेक विशेषज्ञों को भारत भेजा है। ये विशेषज्ञ दो उद्देश्यों से भारत आये थे। **प्रथम**, *भारत की विकासात्मक परियोजनाओं का मूल्यांकन करने के लिये*, **दूसरे**, भारत की अर्थव्यवस्था के विभिन्न खण्डों का सर्वेक्षण करने के लिये बैंक के अनेक अधिकारी भी भारत की यात्रा कर चुके हैं। ये अधिकारी विभिन्न विकास-परियोजनाओं की वित्तीय व्यवहार्यता का अध्ययन एवं उसकी जाँच करने हेतु आये थे। विश्व बैंक ने नई दिल्ली में अपना एक स्थानिक प्रतिनिधि (Resident Representative) नियुक्त कर रखा है। यह अधिकारी देश की विकास-परियोजनाओं के बारे में भारत सरकार से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखता है

भारत विश्व बैंक के प्रमुखतम ऋणियों में से है। अगस्त 1949 से लेकर 30 जून, 1975 तक विश्व बैंक ने भारत को 1536 6 मिलियन डालर के 44 ऋण प्रदान किये थे। इस ऋण-राशि का लगभग 42 प्रतिशत भाग रेलों, सड़कों, बन्दरगाहों एवं हवाई जहाजों के विकास के लिये दिया गया था। बिजली विकास के लिये कुल सहायता का 17·5 प्रतिशत भाग दिया गया था। उद्योग-धन्धों का भाग 38 प्रतिशत तथा कृषि का 0 7 प्रतिशत था। इन ऋणों पर बैंक ने 3·5 प्रतिशत से लेकर 8·9 प्रतिशत वार्षिक तक की ब्याज दर वसूल की थी। जिन परियोजनाओं के लिए विश्व बैंक ने भारत को ऋण दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं।

(1) रेलों की आवश्यक सामग्री एवं कल-पुर्जों के आयात के लिए।
(2) वन-भूमि को कृषि-योग्य बनाने हेतु कृषि-मशीनों के आयात के लिए।
(3) दामोदर घाटी निगम की बिजली परियोजनाओं के लिए।
(4) एयर-इण्डिया निगम द्वारा हवाई जहाज खरीदने के लिए।
(5) *कलकत्ता एवं मद्रास के बन्दरगाहों के विकास के लिए।*
(6) महाराष्ट्र की कोयना बिजली परियोजना के लिए।
(7) टाटा लोहा एवं इस्पात क० तथा इण्डिया लोहा एवं इस्पात कं० के विस्तार के लिए।
(8) ट्राम्बे (Trombay) में बिजलीघर की स्थापना के लिए।
(9) बिजली के तार के निर्माण हेतु आवश्यक सामग्री के आयात के लिए।
(10) आंध्र प्रदेश में कोठागोदाम बिजलीघर के विस्तार के लिए।
(11) निजी खण्ड में कोयला उद्योग के विकास के लिए।
(12) *Industrial Credit and Investment Corporation of India* को वित्तीय सहायता देने के लिए।

इस प्रकार सरकारी खण्ड में यह सहायता रेलवे विकास, बिजली शक्ति विकास, बहु उद्देशीय योजनाओ, बन्दरगाहो के विकास, कृषि विकास तथा हवाई जहाज खरीदने के लिए दी गई है। निजी खण्ड मे यह सहायता कोयला उद्योग के विकास, बिजली के विकास तथा टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के विकास के लिए दी गई है।

(ख) विश्व बैंक ने भारत को टेकनीकल सहायता भी प्रदान की है। विश्व बैंक ने समय समय पर भारत को टेक्नीकल विशेषज्ञो की सेवाएँ प्रदान की हैं। इन विशेषज्ञो ने भारत की योजनाओ का अध्ययन करके उन्हे प्रभावपूर्ण ढग से क्रियान्वित करने के बारे म बहुमूल्य सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

(ग) विश्व बैंक ने भारत पाकिस्तान के नहरी पानी विवाद का भी निबटारा करने म सहायता प्रदान की है। नहरी पानी विकास के लिए बैंक ने दोनो देशो को ऋण भी दिये हैं।

(घ) भारत को अधिक मात्रा म आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए हाल ही म विश्व बैंक ने पाँच प्रमुख देशो की बैठक बुलायी थी जिसमे भारतीय वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओ का अध्ययन किया गया था और ऋणदाता देशो ने भारत को अधिक ऋण देना स्वीकार किया था। वास्तव मे Aid India Consortium का गठन विश्व बैंक के तत्त्वावधान मे ही किया गया है।

इस प्रकार विश्व बैंक ने भारत के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने मे बहुमूल्य योग प्रदान किया है। वास्तव म भारत के लिए विश्व बैंक एक अत्यधिक लाभकारी सस्था सिद्ध हुई है। आशा की जाती है कि भविष्य मे भी विश्व बैंक भारत की निरन्तर सहायता करता रहेगा।

आलोचनाएँ—भारत को विश्व बैंक से समय-समय पर जो आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है उसके बारे मे निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी है

(1) भारत को कम मात्रा मे ऋण मिले हैं कुछ आलोचको का कहना है कि भारत की औद्योगिक तथा विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ को यदि ध्यान मे रखा जाय तो बैंक द्वारा प्रदान की गयी आर्थिक सहायता पर्याप्त प्रतीत नही होती। वास्तव मे, विश्व बैंक ने भारत को उतनी सहायता प्रदान नही की है जितनी कि उसे करनी चाहिए थी। आलोचको का यह भी कहना है कि विश्व बैंक ने एशिया तथा अफ्रीका के देशो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार किया है। इन देशो की अपेक्षा यूरोप के देशो को अधिक मात्रा मे सहायता प्रदान की गयी है।

(2) विश्व बैंक ने भारत को केवल निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही ऋण दिये हैं—आलोचको का यह भी कहना है कि विश्व बैंक ने भारत को सामान्य ऋण (general loans) न देकर निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही ऋण (tied loans) प्रदान किये हैं। वास्तव मे भारत को सामान्य ऋणो की अधिक आवश्यकता है, क्योकि इस प्रकार के ऋणो का सरकार अपनी आवश्यकताओ के अनुसार प्रयोग करने मे स्वतन्त्र होती है। अभी हाल ही मे विश्व बैंक ने आस्ट्रेलिया को एक सामान्य ऋण प्रदान किया है। यदि आस्ट्रेलिया को इस प्रकार का ऋण दिया जा सकता है तो कोई कारण नही कि भारत को ऐसा ऋण क्यो न दिया जाय?

(3) ब्याज की ऊँची दर—बैंक ने जो भारत को ऋण दिये हैं, उन पर इसने काफी ऊँची ब्याज की दर वसूल की है। आलोचको का मत है कि भारत जैसा निर्धन देश इतनी अधिक ब्याज की दर का बोझ सहन करने मे असमर्थ है।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation)

यह निगम विश्व बैंक की एक सम्बद्ध सस्था है। इसकी स्थापना 20 जुलाई, 1956 को की गयी थी। इसकी स्थापना के कारण ये थे—(क) विश्व बैंक के विधान के अनुसार यह बैंक निजी व्यवसायो (private enterprises) को देश की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक की गारण्टी पर ही ऋण दे सकता है। इस कारण निजी व्यवसायो को विश्व बैंक से कोई अधिक सहायता नही मिल सकती थी, (ख) विश्व बैंक केवल निश्चित ब्याज दरो पर ही ऋण देने की व्यवस्था करता है। वह जोखिम पूँजी (risk capital) की व्यवस्था नही करता, अर्थात् विश्व बैंक जोखिमपूर्ण

व्यवसायों में पूंजी नहीं लगा सकता। परन्तु निजी व्यवसायों में तो जोखिम पूंजी की ही आवश्यकता पड़ती है। इसलिए यह अनुभव किया गया है कि निजी व्यवसायों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अलग से एक नयी संस्था स्थापित की जाये।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य—इस निगम का मुख्य उद्देश्य निजी व्यवसायों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें प्रोत्साहित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह निगम निजी व्यवसायों की शेयर पूंजी (Share capital) में भाग लेता है। ऐसा करने के लिए निगम को सदस्य देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की गारण्टी की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह निगम निजी निवेशकर्ताओं (private investors) के साथ मिलकर ही निजी व्यवसायों में पूंजी का निवेश करता है। पूंजी निवेश में निगम प्रायः पिछड़े हुए तथा अल्प-विकसित देशों को प्राथमिकता देता है।

निगम की सदस्यता—जैसा ऊपर कहा गया है, यह निगम विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्था है। इसकी सदस्यता विश्व बैंक से अलग होती है, किन्तु विश्व बैंक के सदस्य ही इसके सदस्य बन सकते हैं। इसके साथ ही यह आवश्यक नहीं कि विश्व बैंक के सभी सदस्य इस निगम के भी सदस्य हों। वास्तव में विश्व बैंक के सदस्यों के लिए इस निगम की सदस्यता ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं। 30 जून, 1975 को इस निगम के सदस्यों की कुल संख्या 100 थी।

निगम की पूंजी—इस निगम ने जुलाई, 1956 में 100 मिलियन डालर की अधिकृत पूंजी से अपना कार्य प्रारम्भ किया था। इसे 1000 डालर मूल्य के 1 लाख शेयरों में विभाजित किया गया था। लेकिन प्रारम्भ में निगम की जारी पूंजी 9 89,60,000 डालर थी। भारत का इसकी पूंजी में चौथा स्थान था। लेकिन निगम की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए इसकी पूंजी को समय-समय पर बढ़ाया गया था। 30 जून, 1975 को निगम की अधिकृत पूंजी को बढ़ाकर 107 33 मिलियन डालर कर दिया गया था। अपने वित्तीय साधनों में वृद्धि करने हेतु इस निगम ने विश्व बैंक से ऋण भी प्राप्त किये हैं। 30 जून 1975 को इस निगम के कुल वित्तीय साधन 700 मिलियन डालर थे।

निगम का प्रबन्ध—जैसा कहा गया है निगम के सदस्य वे देश ही हो सकते हैं जो विश्व बैंक के भी सदस्य हों। निगम का प्रबन्ध भी ठीक उसी प्रकार चलाया जाता है जिस प्रकार कि विश्व बैंक का। इसका भी बोर्ड आफ गवर्नर्स होता है जिसमें प्रत्येक सदस्य देश को स्थान दिया जाता है। यह बोर्ड निगम की सामान्य नीति का निर्धारण करता है। निगम के दिन प्रति-दिन के कार्य को सचालित करने के लिए एक सचालक बोर्ड भी होता है। इस बोर्ड के 21 सदस्य निगम के सदस्य देशों से चुने जाते हैं। इसका अध्यक्ष विश्व बैंक का प्रेसीडेन्ट ही होता है। यद्यपि निगम विश्व बैंक से एक पृथक संस्था है परन्तु इसका नियन्त्रण पूर्णत विश्व बैंक द्वारा ही किया जाता है।

निगम की कार्य प्रणाली के सिद्धान्त—इसकी कार्य प्रणाली के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं

(1) **निजी व्यवसायों में निवेश करना**—यह निगम सदस्य देशों के निजी व्यवसायों को ही सहायता देता है। सरकारी या अर्द्ध सरकारी व्यवसायों को इससे सहायता नहीं मिल सकती। यह निगम ऋण देते समय पिछड़े हुए अल्प विकसित देशों को प्राथमिकता देता है।

(2) **निजी निवेशकर्ताओं के साथ साझेदारी**—यह निगम निजी निवेशकर्ताओं (private investors) के साथ मिलकर भी निजी व्यवसायों में पूंजी लगाता है। पूंजी लगाते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि निगम द्वारा दी गयी पूंजी किसी निजी व्यवसाय के लिए आवश्यक पूंजी की आधी से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(3) **ब्याज की दर का निर्धारण ऋण लेने वाले व्यवसाय के जोखिम पर निर्भर करता है**—ब्याज की दर के बारे में निगम के कई सुदृढ नियम नहीं हैं। निगम ऋण लेने वाले व्यवसाय के जोखिम के अनुसार ही ब्याज की दर तय करता है।

(4) **ऋण की अवधि**—साधारणत निगम 5 से लेकर 15 वर्ष तक की अवधि के लिए निजी व्यवसायों को ऋण प्रदान करता है।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम के निवेश-सम्बन्धी मापदण्ड
(Investment Criteria of the I F C)

निजी व्यवसायों को ऋण देने से पूर्व निगम निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखता है

(i) ऋण लेने वाला व्यवसाय ऐसा हो कि कालान्तर मे वह लाभ कमा सके। वास्तव म लाभदायिकता निगम द्वारा दिये जाने वाले ऋणो का आवश्यक मापदण्ड है।

(ii) ऋण लेने वाला व्यवसाय ऐसा होना चाहिये कि वह देश के आर्थिक विकास म निश्चित योग दे सके।

(iii) अपने चार्टर के अन्तगत निगम किसी एक व्यवसाय मे 20 मिलियन डालर से अधिक की पूंजी निवेशित नही कर सकता।

(iv) निगम किसी निजी व्यवसाय म निवेश तभी कर सकता है जब कुल पूँजी का 50 प्रतिशत से अधिक भाग उस व्यवसाय द्वारा स्वय लगाया जाय।

(v) जहा तक शेयर पूंजी (Share capital) का सम्बन्ध है निगम ऋण लेने वाले व्यवसाय की कुल पूंजी क 25 प्रतिशत से अधिक शेयर (Shares) नही खरीद सकता।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम की वित्तीय कार्यविधि
(Financial Procedure of the I F C)

जैसा पूर्व कहा जा चुका है, निगम सदस्य देशो म केवल निजी व्यवसायो को ही ऋण सुविधाएँ देता है। यह एक ऐसी एजेन्सी है जो निजी औद्योगिक सस्थानो को ऋण-पूंजी (Loan Capital) तथा जोखिम पूंजी (Risk Capital) दोनो ही प्रदान करती है। मूल नियमो के अन्तर्गत निगम निजी औद्योगिक सस्थानो के सामान्य शेयर (Ordinary shares) नही खरीद सकता था। निगम तो इन सस्थानो के केवल ऋण पत्रो (Debentures) अथवा अन्य सिक्यूरिटियो (Securities) को ही खरीद सकता था। यह भी केवल उन्ही परिस्थितियो मे किया जा सकता था जहाँ औद्योगिक सस्थान को उचित शर्तों पर पर्याप्त पूंजी उपलब्ध नही हो सकती थी। लेकिन निगम औद्योगिक सस्थानो के ऋण पत्रो को भी अनिश्चित काल के लिये अपने पास नही रख सकता था। इसके विपरीत निगम इस प्रकार के ऋण पत्रो एव सिक्यूरिटियो को स्थानीय अथवा विदेशी निजी निवेशकर्त्ताओ को बेच कर अपनी पूंजी पुन प्राप्त कर सकता था। लेकिन यह भी किया जाता था जब निगम द्वारा वित्तपोषित परियोजना परिपक्वता की स्थिति मे पहुँच जाती थी। पुरानी सिक्यूरिटियो अथवा ऋण-पत्रो को बेचकर जो पूंजी निगम को प्राप्त होती थी, उसे पुन सदस्य देशो मे किन्ही अन्य परियोजनाओ का वित्तपोषण करने हेतु लगा दिया जाता था। जब निगम अपने पुराने ऋण-पत्रो को बेच देता था तो नये क्रेताओ को यह अधिकार प्राप्त हो जाता था कि वे उन्हे सामान्य शेयरो मे परिवर्तित करवा लें। इस प्रकार निगम कम्पनी प्रवतक (Company Promoter) की भूमिका अदा करता है और सदस्य देशो मे निजी औद्योगिक सस्थानो के विकास को प्रोत्साहित करता है।

निगम अपने कोष से तो जोखिम पूँजी देता ही है। इसके साथ ही साथ निगम निजी औद्योगिक सस्थानो के लाभाथ घरेलू एव विदेशी पूंजी जुटाने का भी प्रयास करता है। निगम नये औद्योगिक सस्थानो को अनुभवी अमला (Experienced staff) प्राप्त करने मे भी सहायता देता है। लेकिन निगम औद्योगिक व्यवसायो के प्रबन्ध मे स्वय कोई भाग नही लेता। निगम अपने द्वारा वित्तपोषित औद्योगिक सस्थानो के सचालक मण्डलो मे प्रतिनिधित्व दिये जाने के लिये आग्रह करता है। निगम द्वारा वित्तपोषित प्रत्येक औद्योगिक सस्थान अपना वार्षिक तुलन पत्र, लाभ हानि विवरण एव सामयिक प्रगति प्रतिवेदन निगम के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये वचनबद्ध होता है। इसी प्रकार औद्योगिक सस्थान के भवन मशीनरी एव प्लॉट का निरीक्षण किसी भी समय निगम के अधिकारियो द्वारा किया जा सकता है।

सन् 1961 के बाद चार्टर मे किये गये सशोधन के अनुसार निगम को अब यह अनुमति दे दी गई है कि वह सदस्य देशो के औद्योगिक सस्थानो की पूंजी के सामान्य शेयर भी खरीद सकता है। इस प्रकार निगम नये औद्योगिक सस्थानो के सामान्य शेयर ही नही खरीदता, बल्कि

उन्हे दीर्घकालीन ऋण भी देता है। इस प्रकार निगम द्वारा खरीदे गये सामान्य शेयरो को आगे चलकर निजी निवेशकर्त्ताओ को बेच दिया जाता है। लेकिन यह तभी किया जाता है जब संस्थान विकास की एक निश्चित अवस्था मे पहुँच जाता है। सामान्य शेयरो की बिक्री से विमुक्त हुए वित्तीय साधनो को निगम द्वारा अन्य नये औद्योगिक संस्थानो मे लगा दिया जाता है। इस प्रकार निगम अपने कोषो को नये-नये संस्थानो मे लगाकर निरन्तर घुमाता (Revolve) रहता है। ऐसा करने मे इसका एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि सदस्य देशो मे अधिक से अधिक औद्योगिक संस्थानो को अधिकतम वित्तीय सहायता प्रदान की जाय।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम के कार्य की समीक्षा—सन् 1956 से लेकर सन 1975 तक इस निगम ने 57 विकासशील देशो के निजी क्षेत्र (Private Sector) से सम्बन्धित विकासात्मक परियोजनाओ के लिये 1262 मिलियन डालर के ऋण प्रदान किये थे। इस ऋण राशि का प्रादेशिक वितरण इस प्रकार था—लैटिन अमरीका 39%, एशिया 28%, अफ्रीका 17% तथा यूरोप 15%। जिन उद्योगो को निगम ने वित्तीय सहायता दी वे इस प्रकार थे कागज, सीमेंट, सूती कपडा, लोहा एव इस्पात, रासायनिक खाद, रसायन, खनिज उद्योग, सार्वजनिक उपयोगिताएँ, पर्यटन, मुद्रण एव प्रकाशन (Printing and Publishing) वह। निगम विकासशील देशो को मुद्रा एव पूँजी बाजारो का विकास करने हेतु भी ऋण दिये थे।

निगम की बढती हुई आवश्यकता को पूरा करने के लिये इसकी पूंजी को भी समय-समय पर बढाया गया था। अक्टूबर 1966 मे निगम के सविधान मे परिवर्तन किया गया था ताकि वह अपने वित्तीय साधनो मे वृद्धि करने के उद्देश्य से विश्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सके।

अक्टूबर, 1966 मे अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम के विधान मे सशोधन किया गया था ताकि निगम विश्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सके। इस सशोधन के अनुसार निगम विश्व बैंक से 400 मिलियन डालर तक उधार ले सकता था। इस सशोधन मे यह भी व्यवस्था की गई थी कि निगम अपनी समूची पूंजी एव प्रारक्षित निधि को निजी उद्योगो के शेयर खरीदने मे लगा सकता था।

भारत ने भी इस निगम से कुछ वित्तीय सहायता प्राप्त की थी। 30 जून, 1975 तक निगम ने भारत मे कुल मिलाकर 51 8 मिलियन डालर का निवेश किया था। यह धनराशि भारत के 11 औद्योगिक व्यवसायो मे लगायी गयी थी जो इस प्रकार थे—इस्पात, डीजल इंजिन, रोलर बीयरिंग, ट्रैक्टरो के कलपुर्जे मोटर गाडियाँ, पम्प, बिजली के तार, रासायनिक खाद, सूती कपडा, मशीनरी उद्योग इत्यादि। वैसे भारत को इस निगम से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ था।

अन्तरराष्ट्रीय वित्त निगम की आलोचनाएँ—इसकी आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(1) **भेदपूर्ण व्यवहार**—इस निगम के विरुद्ध पहली आलोचना यह की जाती है कि यह विभिन्न देशो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार करता है। जैसा ऊपर कहा गया है, इस निगम ने अपनी सहायता का अधिकाश भाग लैटिन अमरीकी देशो को ही दिया है। एशिया तथा अफ्रीका के अल्प-विकसित देशो की उपेक्षा की गयी है। इन देशो को ऋण देते समय भी निगम उन देशो को प्राथमिकता देता है जो अमरीकी गुट के सदस्य है।

(2) **ब्याज की ऊँची दरें**—इस निगम के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह की जाती है कि इसके द्वारा दिये गये ऋणो पर ऊँची ब्याज की दरे वसूल की जाती है। वास्तव मे, इस निगम का उद्देश्य अल्प विकसित देशो की सहायता करने के बजाय लाभ कमाना प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्याज की ऊंची दरे लेकर इस निगम ने अपने मुख्य उद्देश्यो को ही समाप्त कर दिया है।

(3) **इसके द्वारा दिये गये ऋण की शर्तें बहुत कठोर होती हैं** ऋण देते समय निगम प्राय कठोर शर्तें लगा देता है। उदाहरणार्थ, मूलधन तथा ब्याज के भुगतान के बारे मे निगम प्राय यह शर्त लगा देता है कि इन्हे केवल अमरीकी डालरो मे ही वापस किया जाय। स्पष्ट है कि अल्प विकसित देशो के लिए यह बहुत कठिन शर्त है और वे इसे आसानी से पूरा नही कर सकते।

(4) **साधनो की कमी**—निगम के पास साधनो की भी कमी है और यह अल्प-विकसित देशो की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ है। 30 जून, 1975 तक इस निगम ने सदस्य देशो को 1262 मिलियन डालर की ऋण-राशि प्रदान की थी। विकासशील देशो की बढती हुई आवश्यकताओ को देखते हुए यह राशि नितान्त अपर्याप्त थी।

उपर्युक्त आलोचनाओ के बावजूद विकासशील देशो मे निजी व्यवसायो की साख-सम्बन्धी आवश्यक्ताओ की पूर्ति करने हेतु निगम ने विदेशी पूंजी के प्रवाह को प्रोत्साहित किया है। ऐसा करके निगम ने, वास्तव मे, एक सराहनीय एव उपयोगी भूमिका निभायी है। इसके अपने द्वारा दी गई ऋण सहायता तो अधिक नही है लेकिन इसकी मुख्य सफलता इस बात मे निहित है कि इसने विकसित देशो से विकासशील देशो की ओर निजी पूँजी के प्रवाह को प्रोत्साहित किया है।

अन्तरराष्ट्रीय विकास संघ
(International Development Association)

अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना 26 सितम्बर, 1960 को की गयी थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋण देते समय विश्व बैंक ऋणी देशो पर अत्यन्त कठोर शर्तें लगा देता है। इन शर्तों का ऋण लेने वाले देशो के अदायगी शेष (balance of payments) पर अच्छा प्रभाव नही पडता। अत अल्प-विकसित देश विश्व बैंक से ऋण लेने मे हतोत्साहित होते हैं। कालान्तर मे यह अनुभव किया गया कि अल्प-विकसित देशो को आसान शर्तों पर ऋण देने के लिए किसी नयी सस्था की स्थापना की गयी थी।

अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ के उद्देश्य—अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ अल्प विकसित सदस्य देशो को परिवहन, बिजली, सचार, सिंचाई तथा बाढ नियन्त्रण आदि के लिए ऋण प्रदान करता है। सघ सदस्य देशो को मकान निर्माण, पीने के पानी की सप्लाई, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा आदि से सम्बन्धित योजनाओ के लिए भी ऋण प्रदान करता है। वास्तव मे, अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ का मुख्य उद्देश्य *विश्व बैंक के पूरक के रूप मे कार्य करते हुए अविकसित सदस्य* देशो का आर्थिक विकास हेतु सस्ते एव दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। दूसरे शब्दो मे, विकास सघ सदस्य देशो के लिए सुलभ ऋणो (soft loans) की व्यवस्था करता है। सुलभ ऋण वे होते हैं जिन पर ब्याज की कम दर ली जाती है, जो दीर्घकाल के लिए होते हैं तथा जिनका भुगतान ऋणी देश की मुद्रा मे हा स्वीकार कर लिया जाता है।

अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ की पूंजी इस सघ की कुल पूंजी 30 जून, 1975 को 118 8 मिलियन डालर थी। विश्व बैंक के सदस्य अपने शेयर्स (shares) के अनुपात मे ही सघ मे अपना चन्दा जमा करते है। इस समय अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रास, कनाडा तथा भारत के चन्दे क्रमशः *(मिलियन डालरो मे) 332, 136, 100, 80, 40, 40 3* हैं। संघ के सदस्यो को दो श्रेणियो मे विभाजित किया गया है। पहली श्रेणी मे उन 21 देशो को रखा गया है जो आर्थिक दृष्टि से बहुत विकसित हैं। इन देशो को अपना चन्दा सोने तथा परिवर्तनीय मुद्रा मे देना पडता है। इन देशो के चन्दो को उनकी अनुमति के बिना कही भी इस्तेमाल किया जा सकता है। दूसरी श्रेणी मे 93 अल्प-विकसित देशो को रखा गया है। उन्हे अपने चन्दे का 10 प्रतिशत भाग सोने मे और शेष 90 प्रतिशत भाग अपनी मुद्रा मे देना पडता है। इन देशो के चन्दो को उनकी अनुमति के बिना अन्य मुद्राओ मे परिवर्तित नही किया जा सकता है।

सदस्य देशो के चन्दो एव अन्य पूरक साधनो सहित अन्तरराष्ट्रीय विकास संघ की कुल कोष राशि 30 जून, 1975 को 10,773 मिलियन डालर थी। सदस्य देशो के प्रारम्भिक चन्दो के अलावा, सघ धनी देशो से विशेष अशदान (special contribution) भी लेता रहा है। इन्हे पुन पूर्ति (replenishment) की सज्ञा दी गई है। सघ को अब तक चार पुन. पूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। प्रत्येक पुन पूर्ति 3 वर्ष के लिये थी। इन चारो पुन पूर्तियो की धनराशियाँ क्रमशः 750 1200 2442, तथा 4500 मिलियन डालर थी। चौथी पुन पूर्ति की अवधि जुलाई 1977 मे समाप्त हो गई थी। अत उस तिथि से पूर्व ही पाँचवी पुन पूर्ति एकत्रित करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये गये थे।

अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ ने 30 जून, 1975 तक 65 विकासशील देशो को 8,434 मिलियन डालर के 526 ऋण प्रदान किये थे। ये ऋण निर्धन विकासशील देशो को कृषि, जगलात, मछली पालन, उद्योगो, बिजली परिवहन सचार, जलपूर्ति इत्यादि से सम्बन्धित अनेक विकासात्मक परियोजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए दिये गये थे। इसमे सदेह नही कि इन ऋणो की सहायता से विकासशील देशो ने अपनी विकास परियोजनाओ को क्रियान्वित करने हेतु सुदृढ आधार तैयार कर लिया है।

अन्तरराष्ट्रीय विकास संघ का प्रबन्ध—इसकी प्रबन्ध-व्यवस्था उन्ही अधिकारियो के हाथो मे है जो विश्व बैंक का सचालन करते हैं। बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, प्रशासनिक सचालक मण्डल तथा अन्य उच्च अधिकारियो के अतिरिक्त बैंक के नियमित कर्मचारी ही इसकी समूची कार्य-प्रणाली के लिए उत्तरदायी है। यदि आवश्यक हो तो सघ के लिए अलग कर्मचारी एव अधिकारी भी नियुक्त किये जा सकते है।

अन्तरराष्ट्रीय विकास संघ की कार्य-प्रणाली—विकास सघ सदस्य देशो को आर्थिक विकास से सम्बन्धित योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करता है। सघ केवल उन्ही योजनाओ के लिए ऋण प्रदान करता है जिनके लिए अन्यत्र किसी स्रोत से ऋण उपलब्ध नही हो सकते। ऋण देते समय सघ प्राय कठिन शर्तें नही लगाता। सदस्य देशो को यह छूट दी जाती है कि वे अपने ऋणो को अपनी ही मुद्रा मे अशत या पूर्णत लौटा सकते हैं। विकास सघ सदस्य देशो के राजनीतिक मामलो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करता।

अन्तरराष्ट्रीय विकास संघ की सहायता का स्वरूप—(Nature of the I. D A. Assistance)—जैसा पूर्व कहा गया है, सघ सदस्य देशो को "सुलभ ऋण" (soft loan) देता है। लेकिन सघ ऋण-राशि पर 3/4 प्रतिशत का साधारण सा सेवा शुल्क अवश्य ही वसूल करता है। इस शुल्क से सघ प्रशासनात्मक व्यय की पूर्ति करता है। जैसा ऊपर कहा गया है, सघ 50 वर्ष तक के दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। उनकी (ऋणो की) 10 वर्ष की प्रारम्भिक अनुग्रह अवधि (grace period) भी होती है। इन प्रारम्भिक दस वर्षों मे ऋणी देशो को ऋण लौटाने के लिए नही कहा जाता है। उसके उपरान्त, ऋण राशि का 1 प्रतिशत भाग प्रति वर्ष अगले दस वर्षों तक वार्षिक किस्तो मे देय (repayable) होता है। इसके बाद अगले 30 वर्षों मे शेष ऋण-राशि की 3 प्रतिशत वार्षिक की दर से समापन-व्यवस्था (amortisation) कर दी जाती है। सघ जलपूर्ति, सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, शहरी विकास आदि जैसी परियोजनाओ के लिये ऋण देता है। स्मरण रहे, ये परियोजनाएँ किसी देश के आर्थिक विकास मे तत्काल कोई सहायता नही देती। भारत, विकास सघ का सबसे बडा ग्राहक है। इसके बडे आकार, विशाल प्राकृतिक साधनो एव अधिक जनसख्या के कारण सघ ने भारत को अधिकतम सहायता दी है। कहा जाता है कि सघ द्वारा दी गई कुल ऋण-राशि का 40 प्रतिशत भाग भारत को प्राप्त हुआ है। 30 जून, 1975 तक विकास सघ ने भारत को 3441 मिलियन डालर के 71 ऋण प्रदान किये थे। ये ऋण सडक निर्माण, नलकूप सिंचाई नदी घाटी परियोजनाओ, बाढ नियन्त्रण, कोयला तथा कोठागोदाम बिजली परियोजनाओ, रेलो, वाणिज्यिक मोटर गाडियो औद्योगिक मशीनो, ट्रैक्टरो, रासायनिक खाद, कीटाणुनाशक पदार्थों इत्यादि से सम्बन्धित परियोजनाओ को क्रियान्वित करने के लिये दिये गये थे। इसमे कोई सदेह नही है कि यदि भारत को यह ऋण-सहायता न दी जाती तो इस देश मे आर्थिक प्रगति की दर बहुत धीमी होती।

निस्सदेह सन् 1960 मे अपने प्रारम्भ से ही विकासशील देशो को उदार शर्तों पर ऋण सहायता देकर अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ ने उपयोगी भूमिका निभायी है, लेकिन सीमित साधनो के कारण सघ विकासशील देशो को कोई अधिक व्यापक पैमाने पर ऋण-सहायता नही दे सका है। इसमे संदेह नही कि पुन पूर्तियो (replenishments) की ग्रहण कर सघ ने समय-समय पर अपने वित्तीय साधनो मे वृद्धि की है लेकिन तथ्य तो यह कि इन वृद्धियो के बावजूद भी विकासशील देशो की बढती हुई आवश्यकताओ को देखते हुए इसके वित्तीय साधन नितान्त अपर्याप्त हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने अन्तरराष्ट्रीय सघ द्वारा दिये गये ब्याजरहित ऋणो का विरोध किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार के ऋण ऋणी देशो को दुर्लभ पूंजी साधनो का मितव्ययितापूर्ण उपयोग करने मे प्रोत्साहित नही करते। इसके अतिरिक्त, ब्याज रहित ऋण देने की प्रथा उन व्यावसायिक सिद्धान्तो के विरुद्ध है जिनका अनुसरण अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ जैसी ऋण देने वाली एजेन्सियो को करना चाहिए। लेकिन इस तर्क के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ सदस्य देशो को तभी ऋण देता है जब उनकी परियोजनाएँ आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त होती हैं। आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त परियोजनाओ के लिए दी गई ऋण-सहायता क्रियान्वयन अवधि के दौरान ऋण-अदायगी की क्षमता स्वत ही उत्पन्न कर देती है।

विश्व बैंक की तीसरी खिड़की
(Third Window of the World Bank)

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, विश्व बैंक स्वय तो ऋणी देशो को कठोर शर्तों पर ऋण देता है लेकिन इसकी सम्बद्ध सस्था अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ (International Development Association) अत्यन्त आसान शर्तों पर ऋण देने के लिए तैयार रहती है। यह सस्था ऋणो पर या तो ब्याज लेती नही और यदि लेती है तो बहुत ही कम दरो पर। इन दोनो ही सस्थाओं मे विकासशील देशो को जो वित्तीय सहायता मिलती थी वह अत्यन्त अपर्याप्त थी। अत इस सहायता मे वृद्धि करने हेतु विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने मिलकर सन् 1975 मे एक तीसरी खिडकी का उद्घाटन किया था। इस खिडकी से विकासशील देशो को अतिरिक्त ऋण प्रदान किये जायेंगे। ये ऋण विकासशील देशो को जिन शर्तों पर दिये जायेंगे, वे न तो उतनी कठोर होगी जितनी विश्व बैंक की होती हैं और न उतनी आसान होगी जितनी कि अन्तरराष्ट्रीय विकास सघ की होती हैं। ये शर्तें वास्तव मे, मध्यवर्ती (intermediate) होगी। विश्व बैंक की यह तीसरी खिडकी फिलहाल एक वर्ष के लिए ही स्वीकार की गयी है लेकिन आगे चलकर इसकी अवधि को बढाया जा सकता है। इस खिडकी से विकासशील देशो को उनकी विकासात्मक परियोजनाओं के लिए 500 मिलियन से लेकर 1000 मिलियन डालर तक ऋण उपलब्ध हो सकेंगे। इस खिडकी की वित्त-व्यवस्था हेतु अलग से एक विशेष उपदान खाता (Special Subsidy Account) स्थापित कर दिया गया है। इस खाते मे सदस्य देशो से प्राप्त अशदान डाले जायेंगे और उन्ही से ही विकासशील देशो को ऋण दिये जायेंगे। इसी प्रकार अलग से एक ब्याज उपदान खाता (Interest Subsidy Account) भी खोल दिया गया है। इस खाते से ऋणी विकासशील देशो को ऋणो पर ब्याज चुकाने हेतु आर्थिक सहायता दी जायेगी। इस खाते से प्रत्येक ऋण पर 4 प्रतिशत वार्षिक की दर पर ब्याज दिया जायेगा। विश्व बैंक की मानक ब्याजदर (standard interest rate) तथा 4 प्रतिशत के बीच के अन्तर को ही ऋणी देश द्वारा दिया जायेगा। इस प्रकार इस खिडकी से विकासशील देशो को साहाय्य ब्याज (Subsidised interest) पर ऋण दिये जायेंगे। तीसरी खिडकी द्वारा प्रदत्त ऋणो से उन निर्धन देशो को विशेष लाभ होगा जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 375 डालर अथवा इससे कम है। सन् 1986 मे लगभग 39 देशो को तीसरी खिडकी से ऋण उपलब्ध हुए थे। इनमें भारत, पाकिस्तान श्री लका, घाना मिस्र, तनजानिया तथा युगाडा सम्मिलित है। अक्तूबर, 1976 मे मनीला मे हुई विश्व बैंक की वार्षिक बैठक मे विकासशील देशो के प्रतिनिधियो ने यह माग की थी कि तीसरी खिडकी से ऋण देना सन् 1976 के बाद भी जारी रखा जाय।

आर्थिक विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र का विशेष कोष
(U N Special Fund for Economic Development)

इस कोष की स्थापना 1 जनवरी, 1959 को हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य पिछड़े तथा अल्प-विकसित देशो के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा टेकनीकल विकास हेतु सहायता देना है। इस कोष का प्रबन्ध सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा ही सचालित किया जाता है। इसने समय-समय पर निश्चित उद्देश्यो के लिए भारत को ऋण प्रदान किये हैं। सन् 1960 मे इस कोष ने भारत को 83 06 100 डालर की वित्तीय सहायता प्रदान की थी। यह सहायता भारत को विदेशो से मशीनें तथा सयन्त्र खरीदने के लिए दी गयी थी। सन् 1961 मे इस कोष ने भारत को 34 10 300 डालर की वित्तीय सहायता प्रदान की थी। यह सहायता देहरादून मे एक पेट्रोलियम इन्स्टीट्यूट की स्थापना के लिए दी गयी थी। सन् 1962 मे इस कोष ने भारत को बम्बई बन्दरगाह के विकास के लिये भी सहायता प्रदान की थी। सन् 1962 के बाद भी इस कोष ने समय-समय पर भारत को वित्तीय सहायता दी है। यद्यपि इस कोष से भारत को समय समय पर वित्तीय सहायता प्राप्त होती रहती है तथापि इस कोष से भारत को उतनी सहायता नही मिली जितनी कि आशा की जाती थी। वास्तव मे, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इस कोष म साधनो की कमी है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि इसके साधनो को बढाया जाय, ताकि यह कोष अल्प विकसित देशो को अधिक मात्रा मे आर्थिक सहायता प्रदान कर सके। सन् 196
1

से 1969 तक भारत ने इस कोष को 1 61 करोड रुपये की राशि वार्षिक अशदान के रूप मे दी थी। जनवरी 1971 तक इस कोष से भारत को 60 मिलियन डालर की सहायता मिली थी। यह सहायता 59 भारतीय परियोजनाओ के लिए थी।

एशियन विकास बैंक
(Asian Development Bank)

यह एक प्रादेशिक वित्तीय सस्था है जिसकी स्थापना दिसम्बर, 1966 मे सयुक्त राज्य के एशिया एव सुदूर पूर्व आर्थिक आयोग (United Nations Economic Commission for Asia and the Far East अथवा ECAFE) के तत्वावधान मे एशिया के देशो के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने हेतु की गयी थी। इसका मुख्यालय फिलीपाईन की राजधानी मनीला से स्थित है।

बैंक के उद्देश्य—जैसा कि बैंक के चार्टर मे कहा गया है, इस बैंक का मुख्य उद्देश्य एशिया के देशो के आर्थिक विकास को व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से तीव्र गति प्रदान करना है। बैंक इस उद्देश्य की पूर्ति निम्नलिखित गतिविधियो से करता है

(क) उत्पादक उद्देश्यो के लिये निजी एव सरकारी पूंजी को जुटाना,

(ख) अपने वित्तीय साधनो से सदस्य देशो की विकास परियोजनाओं का वित्तपोषण करना,

(ग) सदस्य देशो के प्राकृतिक एव अन्य साधनो का प्रभावी उपयोग करने हेतु उनकी योजनाओ मे समन्वय स्थापित करना,

(घ) विदेशी व्यापार के प्रवाह को प्रोत्साहित करने हेतु सदस्य देशो की अर्थव्यवस्थाओ को एक दूसरे का पूरक बनाना,

(ङ) विकास कार्यक्रमो के निर्माण एव उनके क्रियान्वयन मे सदस्य देशो को तकनीकी सहायता देना।

एशियन बैंक सयुक्त राज्य सगठन (UNO) एव इसकी विभिन्न सस्थाओ एव अन्य अन्तरराष्ट्रीय सगठनो को इस क्षेत्र मे लाभपूर्ण निवेश करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

यह बैंक सदस्य देशो के निजी एव सार्वजनिक खण्डो मे स्थित औद्योगिक सस्थानो को ऋण सहायता देता है। यह ऋण सहायता सदस्य देशो को प्रत्यक्ष ऋणो अथवा बैंक गारण्टी के रूप मे दी जाती है। सामान्यत बैंक सदस्य देशो को ऋण विदेशी मुद्राओ मे ही देता है। इन ऋणो की अदायगी भी प्राय उन्हीं मुद्राओ मे की जाती है जिनमे ये ऋण दिये जाते है।

बैंक की सदस्यता—निम्न प्रकार के देश इसके सदस्य बन सकते हैं (क) ECAFE के सदस्य (ख) ECAFE के सह सदस्य (ग) ECAFE प्रदेश मे स्थित अन्य देश जो सयुक्त राज्य सगठन एव इसकी विशिष्ट एजेन्सियो के सदस्य है। 31 दिसम्बर 1975 को एशियन विकास बैंक के 41 सदस्य थे। इनमे से 27 प्रादेशिक सदस्य एव शेष 14 गैर प्रादेशिक सदस्य थे।

बैंक की पूंजी—बैक की अधिकृत पूंजी 2 985 71 मिलियन डालर है। इसमे से 1091 6 मिलियन डालर स्वीकृत पूंजी (Subscribed Capital) है। यह सदस्य देशो द्वारा स्वीकार कर ली गई है। इनमे से आधी तो प्रदत्त पूंजी (paid up capital) है और शेष आधी किसी भी समय सदस्यो से मागी जा सकती है। प्रदत्त पूंजी पहले ही सदस्य देशो द्वारा पाँच समान वार्षिक किस्तो मे चुका दी गई है। प्रत्येक किस्त का 50 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा परिवर्तनीय मुद्राओ मे दिया गया और शेष 50 प्रतिशत राष्ट्रीय मुद्राओ मे चुकाया गया है। बैंक अपने पूंजी साधनो मे निम्न तरीको से वृद्धि कर सकता है—(क) अधिकृत पूंजी मे वृद्धि करके (ख) बाण्डो एव सिक्यूरिटियो (Bonds and Securities) को जारी करके (ग) सदस्य देशो से विशेष अशदान लेकर। बैंक का बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors) यदि चाहे तो दो तिहाई बहुमत से बैंक की अधिकृत पूंजी मे वृद्धि कर सकता है। यदि कोई सदस्य देश चाहे तो वह अपने चन्दे मे वृद्धि कर सकता है लेकिन शर्त यह है कि ऐसा करने से प्रादेशिक देशो का कुल स्वीकृत पूंजी मे प्रतिशत भाग 60 से कम न हो जाये। बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा बाजार मे बाण्डो एव सिक्यूरिटियो को बेच कर भी अतिरिक्त पूंजी जुटा सकता है। लेकिन किसी देश मे बाण्ड बेचने से पूर्व बैंक को उस देश की सरकार की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है।

बैंक का सगठन—एशियन बैंक का एक बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors), एक सचालक मण्डल (Board of Directors), एक अध्यक्ष, एक उप-अध्यक्ष एवं कर्मचारीगण होते है। प्रत्येक सदस्य-देश एक गवर्नर एवं एक विकल्प गवनर (Alternate Governor) अपनी ओर से नामांकित करता है। बोर्ड आफ गवर्नर्स बैंक का नीति निर्माण करने वाला उच्चतम सगठन है। गवर्नर की अनुपस्थिति मे विकल्प गवनर बोर्ड की बैठक मे उपस्थित होता है। बैंक के समूचे अधिकार बोर्ड आफ गवर्नर्स को सौंपे गये है। यदि बोर्ड आफ गवर्नर्स चाहे, तो अपने अधिकारो को सचालक मण्डल (Board of Direct rs) को हस्तातरित कर सकता है। बोर्ड आफ गवर्नर्स की बैठक मे प्रत्येक सदस्य देश की वोट शक्ति उसके पूंजी अशदान के अनुपात मे निश्चित की गई है। बैंक की सामान्य नीति का निर्माण करने हेतु बोर्ड आफ गवर्नर्स की बैठक वर्ष मे कम से कम एक बार अवश्य ही होती है।

बैंक के सामान्य दिन प्रति दिन के काम काज के परीक्षण का उत्तरदायित्व सचालक मण्डल (Board of Directors) का होता है। इस सचालक मण्डल के 10 सदस्य होते है। इसमे से 7 प्रादेशिक सदस्य देशो तथा 3 गैर प्रादेशिक देशो के प्रतिनिधि होते हैं। सचालक मण्डल उन सभी अधिकारो का प्रयोग करता है जो उसे बोर्ड आफ गवर्नर्स द्वारा सौंपे गये हैं। उदाहरणार्थ, मण्डल ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रो, बैंक के निवेशो उधार-कार्यक्रमो (borrowing programmes), तकनीकी सहायता से सम्बन्धित सभी विषयो पर स्वतन्त्र निर्णय लेता है। प्रत्येक सचालक का कार्यकाल 2 वर्षों का होता है लेकिन 2 अतिरिक्त वर्षों के लिये पुन निर्वाचित हो सकता है।

बैंक का अध्यक्ष सचालक मण्डल द्वारा चुना जाता है। वह ही बोर्ड का अध्यक्ष होता है। वह बोर्ड के सामान्य निर्देशन मे कार्य करता है। वह बैंक के दिन प्रतिदिन के कार्य के लिये बोर्ड के प्रति उत्तरदायी होता है। अध्यक्ष का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है लेकिन पाँच वर्ष की अतिरिक्त अवधि के लिये उसे पुन निर्वाचित किया जा सकता है। बैंक का एक उपाध्यक्ष भी होता है जो प्रबन्ध चलाने मे अध्यक्ष की सहायता करता है।

बैंक की ऋण सम्बन्धी क्रियाएँ (Lending Operations of the Bank)—बैंक की ऋण देने सम्बन्धी क्रियाओ का वर्गीकरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(i) साधारण क्रियाएँ (Ordinary Operations) (ii) विशिष्ट क्रियाएँ (Specialised Operations)। साधारण क्रियाओ से अभिप्राय बैंक की उन ऋण सम्बन्धी क्रियाओ से है जिनका वित्तपोषण बैंक की साधारण पूंजी से किया जाता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत बैंक सदस्य देशो को ऋण दो प्रकार से देता है (i) किसी विशिष्ट विकास परियोजना हेतु ऋण विदेशी मुद्रा के रूप मे दिया जाता है। (ii) ऋण ग्रहण करने वाले देश की राष्ट्रीय मुद्रा मे ऋण दिया जाता है। बैंक सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंको को भी ऋण दे सकता है और वे उस धन को पुन विशिष्ट परियोजनाओ हेतु विशिष्ट संस्थाओ को उधार दे देते हैं।

बैंक की विशिष्ट क्रियाओ से अभिप्राय उन ऋण सम्बन्धी क्रियाओ से है जिनका वित्तपोषण बैंक की विभिन्न विशेष निधियो से किया जाता है। (स्मरण रहे बैंक के पास ऐसी अनेक निधियाँ हैं जैसे तकनीकी सहायता विशेष निधि, कृषि विशेष निधि बहुद्देशीय विशेष निधि इत्यादि। इन विशेष निधियो का निर्माण बैंक की प्रदत्त पूंजी मे से किया गया है। बैंक इन विशेष निधियो मे से सदस्य देशो को उदार शर्तो पर ऋण प्रदान करता है। इन निधियो मे से दिये गये ऋणो पर ब्याज की कम दर वसूल की जाती है। यही नही ये ऋण अधिक दीर्घकाल के लिये भी दिये जाते हैं। बैंक को चार्टर के अन्तर्गत यह अधिकार दिया गया है कि वह अपनी प्रदत्त पूंजी का 10 प्रतिशत भाग विशेष निधियो के निर्माण के लिये लगा सकता है

बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह विशेष निधियो के निर्माण हेतु प्रदाना देशो (donor countries) से विशेष अशदान (Special Contributions) स्वीकार करे। जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है इन विशेष निधियो का, प्रयोग सदस्य देशो की विकास परियोजनाओ का वित्तपोषण करने हेतु किया जाता है। विगत कुछ वर्षों मे बैंक ने विशेष निधियो के लिए सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, नेदरलैंड, आस्ट्रिया, डेनमार्क, फिनलैंड, स्विटजरलैंड

तथा कनाडा जैसे अनेक देशो से विशेष अशदान प्राप्त किये हैं। चार्टर के अन्तर्गत बैंक से अपेक्षा की जाती है कि वह विशेष निधियो को कोष साधारण पूँजी से पृथक रखे।

विशिष्ट विकास परियोजनाओ के लिये दिये गये ऋणो के अलावा, बैंक सदस्य देशो को विभिन्न रूपो मे तकनीकी सहायता भी देता है। यह सहायता सदस्य देशो को विकास परियोजनाओ के निर्माण वित्तपोषण एव क्रियान्वयन करने हेतु दी जाती है। यह सहायता सदस्य देशो को कृषि, उद्योगो परिवहन इत्यादि क्षेत्रो से सम्बन्धित राष्ट्रीय अथवा प्रादेशिक आधार पर नयी नयी सस्थाओ की स्थापना के लिये दी जाती है।

बैंक तकनीकी सहायता मिशनो (technical assistance missions) का आयोजन भी करता है। ये मिशन समय समय पर सदस्य देशो मे जाते हैं और आर्थिक समस्याओ के समाधान मे वहाँ की सरकारो की सहायता करते है।

बैंक की प्रगति—एशियन बैंक ने 1 जनवरी, 1967 से कार्य करना प्रारम्भ किया था। अब यह बैंक अपने अस्तित्व के दस वर्ष पूरे कर चुका है। यह बैंक एशिया के देशो द्वारा अपने आर्थिक विकास को तीव्र करने हेतु किये गये परस्पर सहयोग, अन्योन्याश्रय (interdependence) तथा पूरक प्रयासो का उत्कृष्ट उदाहरण है। 30 जून 1975 तक बैंक ने एशिया के देशो को 228 विकास परियोजनाओ के लिये 2,584 मिलियन डालर के तुल्य ऋण सहायता दी थी। इसमे से 659 मिलियन डालर (अर्थात 26 प्रतिशत) की ऋण सहायता रियायती दरो पर दी गई थी। 2,584 मिलियन डालर की कुल ऋण सहायता का प्रतिशत वितरण निम्नवत था। सार्वजनिक उपयोगिताएँ (Public utilities) 35 13%, कृषि एव कृषि सम्बन्धी उद्योग—22 79% उद्योग-धन्धे—21 98%, यातायात एव सचार—19 03% तथा शिक्षा—1 7% बैंक द्वारा ये ऋण अपने साधारण पूँजी कोष एव विशेष निधियो मे से दिये गये है। एशियन बैंक द्वारा वित्तपोषित विकास परियोजनाओ मे सड़क निर्माण, बन्दरगाह-निर्माण, हवाई अड्डे बिजली तथा जलपूर्ति, कृषि सिंचाई मछली पालन बहुद्देशीय विकास एव निर्माणकारी उद्योगो आदि से सम्बन्धित परियोजनाएँ सम्मिलित है। एशियन बैंक ने सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंको के माध्यम से लघु एव मध्यम श्रेणी के उद्योगो को ऋण सहायता दी है। बैंक ने सदस्य देशो को विकास परियोजनाओ का निर्माण एव कार्यान्वयन करने हेतु समय समय पर अपने तकनीकी विशेषज्ञो को भी भेजा है।

सन 975 के दौरान बैंक ने सदस्य देशो को कुल मिलाकर 660 मिलियन डालर की ऋण सहायता दी थी। इसमे से 494 मिलियन डालर के साधारण ऋण 7 देशो अर्थात फिलीपाइन, दक्षिणी कोरिया, इन्डोनीशिया थाईलैंड पाकिस्तान मलेशिया तथा हागकाग को दिये गये थे जब कि 116 26 मिलियन डालर की धनराशि रियायती ब्याज दरो पर 6 अन्य सदस्य देशो को दी गई थी। भारत ने एशियन बैंक से कोई ऋण नही लिया था।

एशियन बैंक का मूल्याकन—बैंक ने इस प्रदेश मे परस्पर सहयोग एव आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने मे बडी उपयोगी भूमिका निभायी है। यही कारण है कि एशिया के विकासशील देशो ने बैंक की स्थापना का स्वागत किया है। लेकिन कुछ आलोचको ने बैंक के "एशियन स्वरूप" (Asian Character) के प्रति इस आधार पर सदेह व्यक्त किया है कि पश्चिम के विकसित गैर एशियन देशो को भी इस बैंक का सदस्य बनने की छूट दे दी गई है। चूंकि वोट शक्ति सदस्य देशो के पूँजी अशदानो से निर्धारित होती है इसलिए गैर एशियन देश, विशेषकर सयुक्त राज्य अमरीका, इस बैंक पर छाये हुए है। इसका कारण यह है कि अमरीका बैंक के प्रमुख पूँजी अभिदाताओ (Subscribers) मे से एक है। गैर एशियन देशो ने अपनी गन्दी राजनीति को इस बैंक के कार्य कलापो मे घुसेड दिया है। इसके विपरीत कुछ लोगो ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि गैर एशियन पश्चिमी देशो का एशियन बैंक से सहयोग वास्तव मे, इस प्रदेश के व्यापक हितो मे है। ये देश बैंक को अपने अपने मुद्रा बाजारो से पूँजी-साधनो को जुटाने मे सहायता देते है। यही नही, ये देश एशियन प्रदेश के विकासशील देशो को तकनीकी सहायता भी देते हैं। लेकिन एक बात बिल्कुल स्पष्ट है। एशियन बैंक इस प्रदेश के विकासशील देशो को केवल साधारण सी ऋण-सहायता ही दे सकता है जब तक कि इसके वित्तीय साधनो मे पर्याप्त वृद्धि न की जाये।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 संसार के अविकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने मे पुनर्निर्माण एवं विकास के अन्तरराष्ट्रीय बैंक के कार्यों की विवेचना कीजिए। (आगरा, 1969)

[संकेत—यहाँ पर विश्व बैंक के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए इसके मुख्य कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। संक्षेप मे, यह भी बताइए कि इस बैंक ने सदस्य देशों को कितनी और किस प्रकार की सहायता दी है?]

2 अन्तरराष्ट्रीय बैंक के मुख्य कार्य क्या हैं? भारत को इस बैंक से क्या लाभ हुआ है? वर्णन कीजिए। (विक्रम, 1969, आगरा, 1968)

अथवा

विश्व बैंक के मुख्य कार्य क्या हैं? भारत को इस बैंक से क्या लाभ हुए हैं? (आगरा, 1975)

[संकेत—यहाँ पर अन्तरराष्ट्रीय बैंक के मुख्य उद्देश्यों की चर्चा करते हुए इसके प्रमुख कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, विस्तारपूर्वक यह बताइए कि विश्व बैंक से भारत को क्या-क्या लाभ हुए हैं। भारत को कितनी और किस प्रकार की आर्थिक सहायता बैंक से उपलब्ध हुई है?]

3. "दो मौद्रिक संस्थाओं (अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं अन्तरराष्ट्रीय बैंक) की स्थापना वर्तमान युग मे एक दैवी वरदान सिद्ध हुई है।" इस कथन सन्दर्भ मे इन दोनों संस्थाओं के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि भारत उनसे किस सीमा तक लाभान्वित हुआ है? (बिहार, 1959, आगरा, 1972)

[संकेत—यहाँ पर पहले इन दोनो मौद्रिक संस्थाओं से होने वाले लाभो की विवेचना कीजिए और बताइए कि किस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष विभिन्न देशो के बीच विनिमय दरों को स्थिरता प्रदान करने मे सफल हुआ है। यह भी स्पष्ट कीजिए कि अन्तरराष्ट्रीय बैंक द्वारा किस प्रकार अल्प विकसित तथा पिछड़े हुए देशो को आर्थिक सहायता प्रदान की गयी है। तदुपरान्त, इन दोनों संस्थाओं के मुख्य मुख्य उद्देश्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि इन दोनों ही संस्थाओं से भारत काफी बड़ी सीमा तक लाभान्वित हुआ है।]

4 अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा विश्व बैंक के कार्यों मे अन्तर बताइए। (राजस्थान 1968)

[संकेत—अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं विश्व बैंक के कार्यों के लिए यह अध्याय एवं पूर्वगामी अध्याय देखिए। इन दोनों के कार्यों मे मुख्य अन्तर यह है कि मुद्रा कोष तो विनिमय-दरों की स्थिरता बनाये रखने मे सदस्य देशों की सहायता करता है, जबकि विश्व बैंक पिछड़े एवं अल्प-विकसित देशों को आर्थिक विकास हेतु ऋण देता है।]

5 महत्वपूर्ण अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा तथा बैंकिंग संस्थाओं का उल्लेख कीजिए और विकासोन्मुख देशों की आर्थिक प्रगति मे उनके स्थान का विवेचन कीजिए। (आगरा, 1976)

[संकेत—यहाँ पर आप I M F तथा World Bank के कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और स्पष्ट कीजिए कि इन दोनों संस्थाओं ने विकासोन्मुख देशों की आर्थिक प्रगति मे ऋण देकर किस प्रकार उनकी सहायता की है। उपर्युक्त दोनों अध्यायों को देखिये।]

"Each country tends to produce, not necessarily what it can produce more cheaply than another country but those articles which it can produce at the greatest relative advantage, *i e* at lowest comparative cost"

—JACOB VINER

तृतीय खण्ड

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार
(INTERNATIONAL TRADE)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "International trade is only a special case of inter regional trade" —*Bertil Ohlin*
2. "*Balance of trade of a country is the relation, over a period,* between the value of her exports and the value of her imports" —*F Benham*
3. "Balance of payments of a country is a record of its monetary transactions, over a period, with the rest of the world." —*F Benham*
4. 'Free Trade' has been used to denote that system of commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and, therefore neither imposes additional burden on the latter, nor grants any special favour to the former" —*Adam Smith*
5. "*Free trade permits full advantage to be taken out of the* possibilities of geographical specialisation" —*Ellsworth*

16

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

(Why A Separate Theory is Required For International Trade ?)

जैसा स्पष्ट है जब किसी देश मे विभिन्न स्थानो अथवा विभिन्न क्षेत्रो के बीच व्यापार किया जाता है, तब इसे आन्तरिक व्यापार कहते हैं। इसके विपरीत, जब दो अथवा दो से अधिक देशो के बीच व्यापार किया जाता है तब इसे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कहते है। बम्बई और दिल्ली के बीच किया जाने वाला व्यापार आन्तरिक व्यापार है, परन्तु भारत और ब्रिटेन के बीच होने वाला व्यापार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार माना जाता है।

आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे आधारमूलक समानता पायी जाती है। ये दोनो ही प्रकार के व्यापार श्रम-विभाजन (division of labour) तथा विशेषज्ञता (specialisation) पर आधारित हैं। आन्तरिक व्यापार भी श्रम-विभाजन के कारण होता है। जब देश के कुछ भाग कुछ विशेष वस्तुओ के निर्माण मे विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं, तब इनके बीच अवश्य ही व्यापार होता है। उदाहरणार्थ, भारत मे बम्बई नगर ने वस्त्र उद्योग मे और कलकत्ता नगर ने जूट उद्योग मे विशेषज्ञता प्राप्त कर ली है। अत इन दोनो नगरो के बीच व्यापार अनिवार्य हो जाता है। बम्बई के वस्त्र कलकत्ते को भेजे जायेंगे और कलकत्ते का जूट माल (Jute products) बम्बई को भेजा जायगा। इस प्रकार इन दोनो नगरो मे श्रम विभाजन तथा विशेषज्ञता के कारण ही व्यापार होगा। ठीक इसी प्रकार दो देशो के बीच भी श्रम-विभाजन तथा विशेषज्ञता के कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होता है। उदाहरणार्थ भारत ने जूट के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर ली है, जबकि मिस्र ने कपास के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त की है। अत इन दोनो देशो मे अवश्य ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होगा। भारत का जूट मिस्र को और मिस्र की कपास भारत को भेजी जायगी। इस प्रकार भौगोलिक श्रम विभाजन अथवा भौगोलिक विशेषज्ञता के कारण इन दोनो देशो मे अवश्य ही व्यापार होगा। अत हम देखते हैं कि आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे आधार मूलक समानता है। परन्तु इस समानता के होते हुए भी इन दोनो के बीच कुछ अन्तर पाये जाते हैं। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के इन अन्तरो को बहुत महत्त्व दिया था और इन्ही अन्तरो के आधार पर उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या करने हेतु एक पृथक सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। इसे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Theory of Comparative Cost) की सज्ञा दी जाती है।

जैसा ऊपर बताया गया है, आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कुछ अन्तर पाये जाते हैं जो निम्नलिखित है :

(1) **श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता का कम होना**—दो देशो के बीच श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता इतनी अधिक नही होती जितनी कि एक देश के दो विभिन्न भागो मे होती है, अर्थात् देश के भीतर श्रम तथा पूंजी-साधनो की गतिशीलता अधिक होती है। जब किसी देश मे श्रम और पूंजी आसानी से एक भाग से दूसरे भाग को गतिशील होते हैं तब ऐसी परिस्थिति मे देश के विभिन्न भागो मे मजदूरी तथा ब्याज की दरो मे समानता उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागो मे वस्तुओ के उत्पादन व्ययो मे भी समानता स्थापित हो जाती है। परन्तु जैसा बताया गया है, दो देशो के बीच श्रम तथा पूंजी इतनी गतिशील नही होते जितने कि एक देश के दो भागो मे। दो देशो के बीच श्रम की अगतिशीलता (immobility) के कारण हैं, जैसे, भाषा, रीति रिवाज रहन-सहन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो म अन्तर देश प्रेम इत्यादि। इन्ही कारणो से श्रमिक ऊँची मजदूरी मिलने पर भी विदेश को जाना पसन्द नही करते। इसके अलावा, कभी कभी विदेशो मे बाहर से आकर बसने वालो के साथ भेदभाव भी किया जाना है। इससे भी श्रम की गतिशीलता मे बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

श्रम की भाँति पूंजी भी दो देशो के बीच इतनी गतिशील नही होती जितनी कि एक ही देश के दो भागो के बीच होती है। यह ठीक है कि श्रम की अपेक्षा पूंजी अधिक गतिशील होती है, परन्तु पूंजी की अन्तरराष्ट्रीय गतिशीलता आन्तरिक गतिशीलता की अपेक्षा कम होती है। इसका कारण यह है कि पूंजीपति अपनी पूंजी को प्राय अपने ही देश मे लगाना अधिक पसन्द करते हैं, क्योकि विदेशो मे लगायी गयी पूंजी का वे इतनी सुरक्षित नही समझते जितनी कि अपने देश मे लगायी गयी पूंजी को। इसका कारण यह है कि विदेशो मे लगायी गयी पूंजी के राष्ट्रीयकरण की सदैव सम्भावना रहती है।

इस प्रकार दो देशो के बीच श्रम तथा पूंजी की अपेक्षाकृत कम गतिशीलता के कारण एक ही वस्तु का उत्पादन व्यय अलग-अलग हो जाता है, अर्थात एक वस्तु एक देश मे कम लागत पर और दूसरे देश मे अधिक लागत पर तैयार होने लगती है। उत्पादन लागतो (Production Costs) की इस विभिन्नता के कारण दोनो देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार मे यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। आन्तरिक व्यापार म अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता अधिक होती है। परन्तु स्वीडन के अर्थशास्त्री बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) के मतानुसार, "आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे इस प्रकार का कोई अन्तर नही है। उनके अनुसार श्रम तथा पूंजी की अगतिशीलता (immobility) केवल अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे ही उत्पन्न नही होती, बल्कि आन्तरिक व्यापार मे भी पायी जाती है। कभी-कभी देश के विभिन्न भागो मे भी श्रम तथा पूंजी उतने ही अगतिशील (immobile) होते हैं जितने कि दो देशो के बीच। उदाहरणार्थ, कश्मीर मे रहने वाले मजदूर के लिए केरल राज्य म जाना उतना ही कठिन है जितना कि किसी अन्य देश मे जाना। इसलिए श्रम की गतिशीलता अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नही है। वास्तव मे, देश के भीतर भी प्रतियोगिता रहित समूह (non-competing groups) पाये जाते हैं, अर्थात देश के अन्दर भी ऐसे श्रम समूह पाये जाते हैं जिनके बीच प्रतियोगिता का अभाव होता है। इस प्रकार प्रो० बर्टिल ओहलिन के अनुसार आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कोई आधारभूत अन्तर नही है।

(2) **उत्पादन सम्बन्धी स्थितियो में भिन्नता**—विभिन्न देशो मे उत्पादन सम्बन्धी स्थितियाँ भी भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। इनके कई कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक देश टेकनोलोजी (technology) के विषय मे दूसरे देश की अपेक्षा अधिक विकसित हो सकता है। इस प्रकार पहले देश मे दूसरे देश की अपेक्षा उत्पादन लागतें कम होगी। इसके अतिरिक्त, सरकार की आर्थिक नीतियो के कारण भी दो देशो के बीच एक ही वस्तु की उत्पादन लागतें अलग-अलग हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, एक देश की सरकार उस वस्तु के उत्पादन मे उद्योग पतियो को विशेष आर्थिक सहायता प्रदान करती है जबकि दूसरे देश की सरकार उसी वस्तु के उत्पादन पर भारी कर लगाती है। अत इन दोनो देशो मे वस्तु की उत्पादन लागतो मे अवश्य ही अन्तर उत्पन्न हो जायगा। इस अन्तर के कारण ही उन देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार

आरम्भ हो जायगा। इसके विपरीत, एक देश के भीतर उत्पादन सम्बन्धी स्थितियों में कोई विशेष अन्तर उत्पन्न नहीं होता।

(3) प्राकृतिक साधनों तथा भौगोलिक स्थितियों में अन्तर—दो देशो के प्राकृतिक साधनो तथा भौगोलिक स्थितियो मे भी अन्तर होता है। एक देश के प्राकृतिक साधन दूसरे देश के प्राकृतिक साधनो की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक देश मे कच्चे लोहे के विशाल भण्डार पाये जाते हैं, जबकि दूसरे देश मे कच्चे लोहे का पूर्ण अभाव है। इसी प्रकार एक देश की जलवायु स्वास्थ्य के लिए अनुकूल है, जबकि दूसरे देश की जलवायु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। अत प्राकृतिक साधनो तथा भौगोलिक परिस्थितियो की भिन्नता के कारण एक ही वस्तु की उत्पादन लागत दो देशो मे अलग-अलग हो सकती है।

(4) वस्तुओं के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध—प्राय एक ही देश के दो भागो मे होने वाले व्यापार पर प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते और न ही व्यापार पर किसी प्रकार के कर लगाये जाते हैं। इसके विपरीत दो देशो के बीच होने वाले व्यापार पर कई प्रकार के सरकारी प्रतिबन्ध लगाये जाते है। आयातो पर आयात कर तथा कोटा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये जाते है और आवश्यक वस्तुओ के निर्यात पर भी कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। इस प्रकार आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे भारी अन्तर है।

(5) **मुद्रा-प्रणाली में भिन्नता**—चूँकि एक देश के सभी भागो मे एक ही प्रकार की मुद्रा का चलन होता है इसलिए आन्तरिक व्यापार मे भुगतान की किसी प्रकार की कठिनाइयाँ नहीं होती, परन्तु विभिन्न देशो मे विभिन्न प्रकार की मुद्राओ का चलन होता है। इसके कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे विदेशी विनिमय सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कभी कभी तो विदेशी विनिमय की कमी के कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कई बाधाएँ भी पड़ जाती हैं। इसके अलावा, विभिन्न देशो की मौद्रिक नीतियो मे परिवर्तनो के फलस्वरूप उनके कीमत स्तरो मे भी परिवर्तन हो जाते हैं। परिणामत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के उपर्युक्त अन्तरो के कारण ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता अनुभव की गयी है। परन्तु इसके विपरीत बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) का मत यह है कि आन्तरिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कोई आधारमूलक अन्तर नहीं है। वास्तव मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है। अत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार की एक विशिष्ट दशा कैसे कहा जा सकता है?—प्रो बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) तथा उनके अनुयायियो का कहना है कि जिस प्रकार श्रम तथा पूंजी एक देश के बीच अगतिशील (immobile) होते है, ठीक उसी प्रकार श्रम और पूंजी एक देश के विभिन्न हिस्सो के बीच भी अगतिशील होते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि एक बड़े देश से भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि की भिन्नता के कारण श्रमिक प्राय देश के एक भाग से दूसरे भाग को आने मे हिचकिचाते हैं। यह तो ठीक है कि देश के विभिन्न भागो मे दो देशो के बीच की तुलना मे श्रम की गतिशीलता अधिक होती है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि एक देश के विभिन्न भागो मे श्रम की गतिशीलता पूर्ण होती है। इसी प्रकार प्रो० बर्टिल ओहलिन के अनुयायियो का कहना है कि एक देश के विभिन्न क्षेत्रो मे भी उत्पादन सम्बन्धी स्थितियाँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, भारत की विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा भिन्न भिन्न उत्पादन सम्बन्धी नियम बनाये गये हैं जिनके परिणामस्वरूप भारत के विभिन्न राज्यो मे उत्पादन सम्बन्धी स्थितियाँ भिन्न भिन्न पायी जाती हैं। इसी प्रकार एक विस्तृत देश के विभिन्न भागो मे प्राकृतिक साधनो तथा भौगोलिक स्थितियो मे भी अन्तर होते हैं। इसके अतिरिक्त एक बड़े देश के विभिन्न क्षेत्रो में होने वाले व्यापार पर भी आयात निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, भारत मे खाद्यान्नो के व्यापार पर विभिन्न राज्य सरकारो द्वारा तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। इन तर्कों के आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियो का कहना है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कोई आधार-

मूलक अन्तर नहीं है। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त
(Theory of Comparative Costs)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के क्लासीकल सिद्धान्त को तुलनात्मक लागत सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन, सर्वप्रथम सुविख्यात क्लासीकल अर्थशास्त्री, डेविड रिकार्डो (David Ricardo) द्वारा किया गया था। आगे चलकर जे० एस० मिल, कैरनीज (Cairnes) तथा बेस्टेबल (Bastable) जैसे अर्थशास्त्रियो ने इसका विकास किया था। इस सिद्धान्त के वर्तमान प्रतिपादक एफ० डब्ल्यू टाजिग (F W Taussig) तथा हाबरलर (Haberler) हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार कोई देश उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषज्ञता (specialisation) प्राप्त करने की चेष्टा करता है जिनमे उसे जलवायु, प्राकृतिक साधनो लोगों की कार्य दक्षता एव पूंजी साज-सज्जा के कारण तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) प्राप्त होता है। ('तुलनात्मक लाभ' स अभिप्राय उस देश की उस विशिष्ट योग्यता से होता है जिसके कारण वह किसी वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन अन्य देशो की तुलना मे सस्ते दामो पर कर सकता है।) इस सिद्धान्त के अनुसार कोई देश उन्ही वस्तुओं एव सेवाओ के उत्पादन पर अपना ध्यान केंद्रित करता है जिनमे उसे लागत सम्बन्धी लाभ (Cost advantage) होता है। ऐसी वस्तुओ एव सेवाओ का विनिमय वह देश अन्य देशो द्वारा उत्पादित उन वस्तुओ एव सेवाओ से करता है जिनके उत्पादन मे उसे तुलनात्मक लाभ नही होता अथवा जिनके उत्पादन के लिये वह देश स्वय को उपयुक्त नही समझता है। "तुलनात्मक लाभ' की यह धारणा अनेक बातो पर प्रकाश डालती है। उदाहरणार्थ, एक देश अन्य देशो की तुलना मे अनेक वस्तुओ एव सेवाओ का उत्पादन कम लागत पर कर सकता है। लेकिन वह अपने साधन उस वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन पर लगा देगा जिसमे उसको अधिकतम लागत लाभ (Cost advantage) प्राप्त है। लेकिन जिन वस्तुओं एव सेवाओ के उत्पादन मे उसे कम लागत-लाभ प्राप्त है उन्हे वे अन्य देशो के लिये छोड देगा। इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक, डविड रिकार्डो ने बताया था कि ब्रिटेन की तुलना मे पुर्तगाल शराब एव कपडा दोनो ही वस्तुओ का उत्पादन सस्ते दामो पर कर सकता था लेकिन कपडे की तुलना मे शराब के निर्माण मे उसे अधिक लागत लाभ प्राप्त था। अत यह पुर्तगाल के हित मे था कि वह अपने साधन शराब निर्माण मे लगाये और कपडे का उत्पादन ब्रिटेन पर छोड दे। दूसरे शब्दो मे पुर्तगाल ने अपनी शराब का विनिमय ब्रिटेन के कपडे से किया था अत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन मे उपलब्ध यह तुलनात्मक लाभ ही है जिसके कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions of the Theory of Comparative Costs)—इस सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व यह उचित ही होगा कि हम उन मान्यताओ की चर्चा करें जिन पर यह आधारित है। रिकार्डो एव जे० एस० मिल दोनो ने ही इस सिद्धान्त का विकास कतिपय मान्यताओ के आधार पर किया था। वे मान्यताएँ निम्न वत हैं

(i) उत्पादन लागतो से अभिप्राय केवल श्रम लागतो से ही है। श्रम लागतो को श्रम की इकाइयो मे व्यक्त किया गया है। (स्मरण रहे क्लासीकल अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि श्रम ही उत्पादन का एकमात्र साधन है। अत लागतो से अभिप्राय केवल श्रम लागतो से ही होता है।)

(ii) सभी प्रकार के श्रम को समरूप (Homogeneous) माना जाता था।

(iii) वस्तुओ का उत्पादन स्थिर लागत नियम (Law of Constant Costs) के अन्तर्गत होता है। दूसरे शब्दो मे, उत्पादन मे हुए परिवर्तन प्रति इकाई उत्पादन लागत को प्रभावित नही करते।

(iv) एक देश के भीतर तो उत्पादन साधन पूर्णत गतिशील होते हैं लेकिन दो देशो के बीच वे पूर्णत अगतिशील होते हैं।

(v) यह मान लिया जाता है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार केवल वस्तुओ मे ही होता है और सम्बन्धित देशो के बीच पूंजी का आवागमन नही होता है ।

(vi) यह भी मान लिया जाता है कि माल को परिवहन लागतें नही होती ।

(vii) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही होता ।

(viii) सिद्धान्त की व्याख्या करते समय केवल दो वस्तुओ एव दो देशो को ही लिया जाता है ।

उपर्युक्त मान्यताओ को ध्यान मे रखते हुए, आइये, अब हम इस प्रश्न का उत्तर दे कि वे कौन सी बातें हैं जो देशो के बीच वस्तुओ के आवागमन अथवा व्यापार को प्रभावित करती हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशो के बीच वस्तुओ का व्यापार लागत अन्तरो (cost differences) के कारण होता है । ये लागत-अन्तर तीन प्रकार के होते हैं— (क) लागतो के निरपेक्ष अन्तर (Absolute Differences in Costs), (ख) समान अन्तर (Equal Differences), (ग) तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences) ।

(क) लागतो के निरपेक्ष अन्तर *(Absolute Differences in Costs)*— कभी कभी दो देशो के बीच लागतो के निरपेक्ष अन्तर भी उत्पन्न हो जाते हैं । कभी कभी किसी देश को प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त होने के कारण किसी विशेष वस्तु के उत्पादन मे विशेष लाभ होता है अर्थात् उस वस्तु की उत्पादन लागत प्राकृतिक एकाधिकार के कारण बहुत कम हो जाती है, और उस देश के लिए उस वस्तु का निर्यात करना बहुत आसान हो जाता है । उदाहरणार्थ, सन् 1947 से पूर्व भारत को जूट का प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त था और इसी कारण भारत विश्व के सभी देशो को जूट का निर्यात करता था । इसी प्रकार विश्व के अन्य देशो को भी कुछ विशेष वस्तुओ के उत्पादन मे प्राकृतिक एकाधिकार उपलब्ध है, जैसे दक्षिणी अफ्रीका को हीरो के उत्पादन मे प्राकृतिक एकाधिकार प्राप्त है । ऐसी परिस्थितियो मे देशो की उत्पादन लागतो मे निरपेक्ष अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं । इन्हे निम्नलिखित उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

	जूट		कपास
श्रम की एक इकाई से भारत	2 इकाई	या	1 इकाई उत्पन्न कर सकता है ।
श्रम की एक इकाई से मिस्र	1	या	2 इकाई उत्पन्न कर सकता है ।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जूट के उत्पादन मे भारत को प्राकृतिक लाभ प्राप्त है जबकि कपास के उत्पादन मे मिस्र को प्राकृतिक लाभ उपलब्ध है । अब दोनो देश उसी वस्तु के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त करेंगे जिसमे उन्हे प्राकृतिक लाभ उपलब्ध हैं, अर्थात भारत जूट के उत्पादन मे विशेषता प्राप्त करेगा और मिस्र कपास के उत्पादन मे, और दोनो देशो मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार आरम्भ हो जायगा । भारत अपनी जूट को मिस्र मे और मिस्र अपनी कपास को भारत मे भेजेगा । श्रम लागत के आधार पर जूट और कपास का विनिमय अनुपात इस प्रकार निर्धारित होगा

भारत मे कपास की इकाई = जूट की 2 इकाई
मिस्र मे कपास की एक इकाई = जूट की ½ इकाई

भारत और मिस्र के बीच का यह व्यापार उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि भारत को जूट की दो इकाइयो के बदले मे मिस्र से कपास की एक से अधिक इकाई उपलब्ध होती रहेगी । यदि भारत को जूट की दो इकाइयो के बदले मे मिस्र से केवल एक ही इकाई कपास की प्राप्त होती है, तब इन दोनो मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नही हो सकेगा । इसका कारण यह है कि 2 इकाई जूट के बदले मे एक इकाई कपास तो भारत मे ही उपलब्ध हो सकती है । इसलिए 2 इकाई जूट के बदले मे भारत मिस्र से 1 इकाई से अधिक कपास लेने पर ही जोर देगा । इसी प्रकार भारत और मिस्र के बीच यह व्यापार तब तक लाभदायक होगा जब तक कि मिस्र को कपास की 1 इकाई के बदले मे जूट की आधे से अधिक इकाई मिलती रहेगी । यदि मिस्र को 1 इकाई कपास के बदले मे भारत से केवल आधी इकाई जूट की प्राप्त होती है तो ऐसी परिस्थिति मे इन दोनो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जायगा । इसका कारण यह है कि एक इकाई कपास के बदले आधी इकाई जूट की तो मिस्र स्वय ही उत्पन्न कर सकता है । अत

एक इकाई कपास के बदले वह भारत से आधी इकाई से अधिक जूट लेने पर ही जोर देगा। स्मरण रहे, इस उदाहरण मे हमने यह मान लिया है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे परिवहन तथा बीमे का व्यय नही होता है परन्तु यदि परिवहन तथा बीमे के व्यय को जोड दिया जाय तो भी स्थिति मे अन्तर नही पडता, क्योकि इन व्ययो का भारत और मिस्र पर समान प्रभाव पडता है। इस प्रकार इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यदि दो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे निरपेक्ष अन्तर है तो उनमे अवश्य ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होगा और इस व्यापार से दोनो देशो को पारस्परिक लाभ प्राप्त होगा।

(ख) **समान अन्तर (Equal Differences)**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार केवल उसी दशा मे लाभदायक रहता है जबकि दो देशो की उत्पादनो लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होते हैं। इसके विपरीत, जब दो देशो की उत्पादन-लागतो मे समान अन्तर होते है, तब उनमे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नही हो सकता। इसका कारण यह है लागतो मे समान अन्तर होने के फलस्वरूप लाभ की कोई सम्भावना नही रहती। अत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार स्वत ही बन्द हो जाता है। इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

	जूट		कपास
श्रम की एक इकाई से भारत	2 इकाई	या	2 इकाई उत्पन्न कर सकता है
श्रम की एक इकाई से मिस्र	1 इकाई	या	1 इकाई उत्पन्न कर सकता है

उपर्युक्त उदाहरण मे दोनो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे समान अन्तर पाये जाते हैं। जैसा स्पष्ट है, भारत को मिस्र की तुलना मे जूट और कपास दोनो ही के उत्पादन मे कम लागत पडती है। यदि दोनो देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नही होता तो भारत मे जूट और कपास का विनिमय अनुपात (exchange ratio) 1 1 होता और यही अनुपात मिस्र मे भी होता। अब यदि भारत केवल जूट का ही उत्पादन करता है और कपास का मिस्र से आयात करता है तो उसे कोई लाभ नही होगा क्योकि मिस्र मे भी कपास और जूट का विनिमय अनुपात वही है जो भारत मे है अर्थात् भारत को मिस्र से 1 इकाई जूट के बदले 1 इकाई कपास से अधिक नही मिल सकती और 1 इकाई कपास तो भारत को पहले से ही उपलब्ध है। इस प्रकार इस दशा मे भारत का मिस्र से व्यापार करना उल्टे हानिकारक हो सकता है, क्योकि यदि भारत मिस्र की कपास का आयात करता है तो उसे इसका परिवहन तथा बीमा-व्यय भी वहन करना पडेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब दो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे समान अन्तर होते हैं, तब ऐसी परिस्थिति मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से कोई लाभ नही होता।

(ग) **तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences)**—जब दो देशो के बीच उत्पादन लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होते हैं तब ऐसी परिस्थिति मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अवश्य ही होगा क्योकि इस प्रकार के अन्तरो से दोनो देशो को लाभ प्राप्त होगे। इसे निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

	जूट		कपास
एक इकाई श्रम से भारत	2 इकाई	या	1 इकाई उत्पन्न कर सकता है
एक इकाई श्रम से मिस्र	2 इकाई	या	2 इकाई उत्पन्न कर सकता है

अब उपर्युक्त उदाहरण मे भारत और मिस्र के बीच उत्पादन लागतो मे तुलनात्मक अन्तर पाये जाते हैं। अत इन दोनो देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होगा। यदि इन दोनो देशो के बीच व्यापार नही होता, तो दोनो देशो मे जूट और कपास का विनिमय अनुपात इस प्रकार होगा

भारत 1 इकाई जूट = $\frac{1}{2}$ इकाई कपास

मिस्र 1 इकाई जूट = 1 इकाई कपास

अब यदि भारत केवल जूट का ही उत्पादन करता है और मिस्र केवल कपास का, तो दोनो देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होगा और इससे दोनो को ही लाभ प्राप्त होगा। भारत, मिस्र को 1 इकाई जूट भेजकर उसके बदले मे मिस्र के विनिमय अनुपात के आधार पर

1 इकाई कपास प्राप्त कर सकता है और इसी प्रकार मिस्र 1 इकाई कपास को भारत भजकर उसके बदले मे 2 इकाई जूट प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इस व्यापार से दोनो ही देशो को लाभ होता है, क्योंकि यदि इन दोनो देशो के बीच व्यापार नही होता तो भारत 1 इकाई जूट के बदले केवल 1 इकाई कपास ही उत्पन्न कर सकता है। इसी प्रकार यदि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नही होता तो मिस्र 1 इकाई कपास के बदले केवल 1 इकाई जूट ही उत्पन्न कर सकता है। परन्तु अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होने के कारण अब मिस्र 1 इकाई कपास के बदले भारत से 2 इकाई जूट प्राप्त कर सकता है। स्मरण रहे कि मिस्र मे जूट का उत्पादन व्यय ठीक उतना ही है जितना कि भारत मे। परन्तु फिर भी मिस्र को भारत से जूट खरीदने मे अधिक लाभ होता है। अत. उत्पादन-लागतो मे तुलनात्मक अन्तरो के कारण ही स्थायी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सम्भव हो सकता है। इसे अर्थशास्त्र मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs) कहते हैं।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आधुनिक रूप—आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण सुधार किये हैं

(1) *उत्पादन-लागत को मुद्रा के रूप में व्यक्त करना*—क्लासीकल (classical) अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय वस्तुओ की उत्पादन-लागतो का श्रम के रूप में व्यक्त किया करते थे, क्योंकि उनके अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके निर्माण मे लगाये गये श्रम से निश्चित होता था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय वस्तुओ की उत्पादन-लागतो को श्रम के बजाय मुद्रा के रूप मे व्यक्त करना अधिक अच्छा समझते हैं। इसका कारण यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसमे लगाये गये श्रम से ही नहीं, बल्कि उसकी समूची उत्पादन लागत से निर्धारित होता है। अत वस्तुओ की उत्पादन लागतो को मुद्रा के रूप मे प्रकट किया जाता है। कहा जाता है कि एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करता है जिनकी उत्पादन-लागत दूसरे देशो की उत्पादन लागतो की अपेक्षा कम होती है। इसके विपरीत, एक देश उन वस्तुओं का आयात करता है जिनकी उत्पादन-लागत अन्य देशो की तुलना मे अधिक होती है।

(2) *ह्रासमान प्रतिफल तथा वर्द्धमान प्रतिफल नियमो को सम्मिलित करना*—क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या करते समय यह मान लिया था कि वस्तुओ का उत्पादन आनुपातिक प्रतिफल नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है। इसके साथ ही साथ उन्होंने यह भी मान लिया था कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे होने वाले परिवहन-व्यय का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। परन्तु ये दोनो ही मान्यताएँ (assumptions) अवास्तविक हैं। अत आधुनिक अर्थशास्त्री तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की विवेचना करते समय इन दोनो मान्यताओ का परित्याग कर देते हैं, अर्थात् उन्होंने परिवहन-व्यय तथा वर्द्धमान एव ह्रासमान प्रतिफल नियमो की कार्यशीलता के आधार पर ही इस सिद्धान्त की विवेचना की है। जब उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है तब वस्तु की पूर्ति बढाने से प्रति इकाई लागत बढ जाती है जिससे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र सीमित हो जाता है और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार निरुत्साहित होता है। इसके विपरीत, जब उत्पादन वर्द्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है तब वस्तु की पूर्ति की वृद्धि होने से प्रति इकाई लागत कम हो जाती है। इससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे तुलनात्मक लाभ का क्षेत्र बढ जाता है और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

माँग की लोच का प्रभाव—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या करते समय रिकार्डो ने यह बताया था कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कैसे होता है? परन्तु उन्होंने यह नही बताया कि दो देशो के बीच वस्तुओ का विनिमय-अनुपात (exchange ratio) कैसे निश्चित होता है, अर्थात् दो देशो के बीच लाभ का विभाजन कैसे होता है? इस सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियो का विचार है कि दो देशो के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न होने वाले लाभ का विभाजन इस बात पर निर्भर करता है कि एक देश मे दूसरे देश के माल की माग की लोच कितनी है। जिस देश मे दूसरे देश के माल की माँग की लोच अधिक होगी, उसी देश को व्यापार से अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त होगा। जिस देश मे दूसरे देश के माल की माँग की लोच अधिक

होगी उस देश के लिए व्यापार की शर्तें भी अधिक अनुकूल होगी। इसके विपरीत, जिस देश मे दूसरे देश की वस्तु की माँग की लोच कम होगी उस देश के लिए व्यापार की शर्तें कम अनुकूल होगी, और उसे अपेक्षाकृत कम लाभ होगा। उदाहरणार्थ, यदि ब्रिटेन मे भारतीय चाय की माँग की लोच अधिक है, तो ब्रिटेन को अधिक लाभ होगा और व्यापार की शर्तें भी उसके अनुकूल होगी। इस प्रकार यदि भारत मे ब्रिटिश मशीनरी की माँग की लोच कम है, तो भारत को कम लाभ होगा और व्यापार की शर्तें भी उसके प्रतिकूल होगी।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है कि दो देशो के बीच वस्तुओ की उत्पादन-लागतो मे अन्तर होता है। उत्पादन-लागतो के ये अन्तर तीन प्रकार के होते है—(क) निरपेक्ष अन्तर, (ख) तुलनात्मक अन्तर, (ग) समान अन्तर। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार केवल पहली तथा दूसरी अवस्थाओ मे ही हो सकता है। तीसरी अवस्था मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना नही होती, क्योकि इस अवस्था मे विभिन्न देशो को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से कुछ भी लाभ प्राप्त नही होता है।

(क) निरपेक्ष अन्तर (Absolute Differences)—निम्न उदाहरण द्वारा हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि दो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे निरपेक्ष अन्तर होने पर उनके बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कैसे होता है

प्रति कुन्तल उत्पादन लागत (रुपयो मे)

	जूट	कपास
भारत	10	15
मिस्र	15	10

भारत मे एक कुन्तल कपास का विनिमय $1\frac{1}{2}$ कुन्तल जूट से होगा और मिस्र मे 1 कुन्तल जट का विनिमय $1\frac{1}{2}$ कुन्तल कपास मे होगा। इस प्रकार भारत मे जूट और कपास का विनिमय-अनुपात 2   3 होगा और मिस्र मे 3   2 होगा। इस उदाहरण मे भारत को जूट के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ प्राप्त है और मिस्र को कपास के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ उपलब्ध है। अत भारत अपने सभी साधनो को जूट के उत्पादन मे लगा देगा क्योकि ऐसा करने मे ही उसे लाभ है। इसलिए भारत जूट के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर लेगा और कपास का मिस्र से आयात करेगा। मिस्र के साथ व्यापार करके उसे 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{2}{3}$ कुन्तल से अधिक कपास उपलब्ध होती है। यदि वह कपास को स्वय उत्पन्न करता है तब 1 कुन्तल जूट के बदल मे उसे केवल $\frac{2}{3}$ कुन्तल कपास मिलती है। इस प्रकार उसे मिस्र से कपास आयात करने मे लाभ होता है। इसी प्रकार मिस्र के लिए कपास का उत्पादन अधिक लाभदायक है, क्योकि वह भी भारत से 1 कुन्तल कपास के बदले मे $\frac{2}{3}$ कुन्तल से अधिक जूट प्राप्त कर सकता है। यदि मिस्र स्वय जूट का उत्पादन करता है तो उसे 1 कुन्तल कपास के बदले मे केवल $\frac{2}{3}$ कुन्तल जूट प्राप्त होता है। इस प्रकार मिस्र को भारत से जूट का आयात करने मे लाभ होता है। भारत को, वास्तव मे, 1 कुन्तल जट के बदले मे मिस्र से कितनी कपास मिलेगी और मिस्र को एक कुन्तल कपास के बदले मे भारत से कितनी जूट मिलेगी? यह दो बातो पर निर्भर करता है—(अ) वस्तुओ के परिवहन पर व्यय कितना होता है, (ब) भारत और मिस्र मे क्रमश कपास और जूट की पारस्परिक माँग की लोच कितनी है। जब तक भारत को 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{2}{3}$ कुन्तल से अधिक कपास उपलब्ध होती है तब तक भारत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए इच्छुक रहेगा। इसी प्रकार जब तक मिस्र को 1 कुन्तल कपास के बदले मे $\frac{2}{3}$ कुन्तल से अधिक जूट उपलब्ध होती है तब तक वह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का इच्छुक रहेगा, क्योकि कपास और जूट के इस विनिमय अनुपात पर उसे लाभ प्राप्त होता है।

(ख) तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences)—निम्न उदाहरण द्वारा हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि दो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे तुलनात्मक अन्तर होने पर उनके बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कैसे होता है

प्रति कुन्तल उत्पादन-लागत (रुपयो मे)

	जूट	कपास
भारत	8	16
मिस्र	7	6

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मिस्र जूट तथा कपास दोनो का ही भारत की तुलना मे कम लागत पर उत्पादन कर सकता है। परन्तु मिस्र को कपास के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ अधिक है। इसके विपरीत, भारत मे मिस्र की तुलना मे दोनो ही वस्तुओ की उत्पादन-लागत अधिक है। परन्तु जूट के उत्पादन मे उसकी तुलनात्मक हानि कम है। इस प्रकार भारत मे 1 कुन्तल जूट $= \frac{1}{2}$ कुन्तल कपास और मिस्र मे 1 कुन्तल जूट $= \frac{7}{6}$ कुन्तल कपास। भारत के लिए जूट उत्पादन मे विशेषज्ञता (specialisation) प्राप्त करना अधिक लाभदायक होगा और मिस्र के लिए कपास मे विशेषज्ञता प्राप्त करना अधिक लाभदायक रहेगा। जब तक भारत को 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{1}{2}$ कुन्तल से अधिक कपास मिलती है, तब तक उसे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से लाभ होता रहेगा। इसी प्रकार जब तक मिस्र को 1 कुन्तल कपास के बदले मे $\frac{7}{6}$ कुन्तल से अधिक जूट मिलती रहेगी तब तक उसे भी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से लाभ प्राप्त होता रहेगा। दोनो देशो के बीच जूट और कपास का विनिमय-अनुपात कही पर इन दोनो अनुपातो के बीच निर्धारित होगा, अर्थात् 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{7}{6}$ कुन्तल के बीच मे ही कपास मिलेगी। जूट और कपास के इस विनिमय अनुपात पर तीन बातो का प्रभाव पड़ता है—(क) परिवहन व्यय, (ख) पारस्परिक माँग की तुलनात्मक लोच, (ग) उत्पादन के नियम की प्रकृति अर्थात् उत्पादन किस नियम के अन्तर्गत होता है। यदि उत्पादन वर्द्धमान प्रतिफल नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत होता है तो इससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे होने वाला लाभ बढ़ जाता है। इसका कारण यह है कि वर्द्धमान प्रतिफल नियम की कार्यशीलता के कारण सीमान्त उत्पादन लागत घटती जाती है। यदि उत्पादन आनुपातिक प्रतिफल नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है तो इससे व्यापार की लाभदायकता पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता, क्योकि उत्पादन के बढ़ने पर सीमान्त उत्पादन लागत स्थिर रहती है। यदि उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल नियम (Law of Diminishing Returns) के अन्तर्गत होता है तो उत्पादन के बढ़ने से सीमान्त उत्पादन लागत भी बढ़ जाती है। परिणामत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ भी कम हो जाता है। यहाँ तक कि एक ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है जबकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से बिलकुल ही लाभ नही होता।

(ग) समान अन्तर (Equal Differences)—उपर्युक्त दोनो उदाहरणो से स्पष्ट है कि उत्पादन-लागतो मे निरपेक्ष तथा तुलनात्मक अन्तरो के परिणामस्वरूप अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होता है। इन दोनो प्रकार के अन्तरो से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार लाभदायक बन जाता है। अत दोनो ही देशो को पारस्परिक व्यापार से लाभ होता है। अब हम निम्न उदाहरण से यह बताने की चेष्टा करेंगे कि उत्पादन-लागतो मे समान अन्तरो के कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार क्यो नहीं होता

प्रति कुन्तल उत्पादन-लागत (रुपयो मे)

	जूट	कपास
भारत	5	20
मिस्र	10	40

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत को मिस्र की तुलना मे जूट और कपास दोनो के ही उत्पादन मे श्रेष्ठता प्राप्त है क्योकि दोनो की ही उत्पादन लागतें मिस्र की तुलना मे कम है। भारत मे जूट और कपास का विनिमय अनुपात इस प्रकार होगा, 1 कुन्तल कपास = 4 कुन्तल जूट। इसी प्रकार मिस्र मे भी कपास और जूट का यही अनुपात रहेगा, अर्थात् 1 कुन्तल कपास = 4 कुन्तल जूट। यदि भारत कापस और जूट दोनो का ही उत्पादन करता है तो 1 कुन्तल कपास के बदले उसे 4 कुन्तल जूट प्राप्त होती है अब यदि भारत केवल जूट का ही उत्पादन करता है और कपास का मिस्र से आयात करता है तो भी उसे 1 कुन्तल कपास के बदले 4 कुन्तल जूट देनी

पडेगी। यदि भारत केवल कपास का ही उत्पादन करके जूट मिस्र से आयात करता है तो भी उसे 1 कुन्तल कपास के बदले मे 4 कुन्तल जूट ही उपलब्ध होती है। अत इस दशा मे अन्तर राष्ट्रीय व्यापार से भारत को कुछ भी लाभ नही होता। यही बात मिस्र के बारे मे भी कही जा सकती है। उसे भी भारत को जूट अथवा कपास भेजकर कोई लाभ नही होता। अत स्पष्ट है कि जब दो देशो के बीच उत्पादन-लागतो मे समान अन्तर होते हैं, तब अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नही हो सकता।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे होने वाले लाभ को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Influencing Profit Accruing from International Trade)

प्रो० टॉजिग (Tausig) के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से किसी देश को होने वाला लाभ दो बातो पर निर्भर रहता है—(क) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की शर्तें, (ख) निर्यात की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यक्षमता।

(क) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की शर्तें—इनसे अभिप्राय उस अनुपात से होता है जिसके अनुसार दो देशो मे उत्पादित वस्तुओ का आपस मे विनिमय होता है। यदि हम भारत और मिस्र का दूसरा उदाहरण (तुलनात्मक अन्तर वाला) लेते है और यह मानकर चलते है कि दोनो देशो के बीच व्यापार नही होता तो ऐसी दशा मे भारत मे 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{1}{2}$ कुन्तल कपास प्राप्त होती है। यदि इन देशो मे व्यापार होता है तो भारत को 1 कुन्तल जूट के बदले मे $\frac{7}{8}$ कुन्तल कपास प्राप्त होती है। इस प्रकार भारत का लाभ $\frac{7}{8}-\frac{1}{2}=\frac{3}{8}$ कुन्तल कपास होगी। इसी प्रकार मिस्र मे यदि देश के भीतर कपास और जूट का विनिमय अनुपात $1 : \frac{7}{8}$ है, परन्तु भारत से 1 कुन्तल कपास के बदले म 2 कुन्तल जूट मिल सकता है तो इस व्यापार से, मिस्र को $2-\frac{7}{8}=\frac{9}{8}$ कुन्तल जूट का लाभ होगा। परन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, यह विनिमय अनुपात दोनो देशो मे एक दूसरे की उपज की पारस्परिक माँग की लोच पर निर्भर करता है। अत दोनो देशो की माँग की आग्रहपूर्णता अथवा तीव्रता (urgency) के अनुसार व्यापार की शर्तों मे भी परिवर्तन होते रहते है। उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसकी वस्तुओ की माँग विदेशो मे सबसे अधिक होती है और जिसमे दूसरे देशो के निर्यातो की माँग अपेक्षाकृत कम होती है। उस देश को सबसे कम लाभ होता है जिसकी दूसरे देशो की वस्तुओ की माँग बहुत अधिक होती है।

(ख) निर्यात की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यक्षमता—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लाभ पर दूसरा प्रभाव निर्यात की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले श्रम की कार्यक्षमता का पडता है। वास्तव मे, दो देशो के बीच उत्पादन लागतो के अन्तर का मुख्य कारण श्रम की कार्यक्षमता ही होता है। श्रम की कार्यक्षमता मे वृद्धि के परिणामस्वरूप तुलनात्मक लागतो का अन्तर बढ जाता है और इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। जिस देश के श्रमिको की कार्यक्षमता का स्तर ऊँचा होता है उसके निर्यातो की माँग भी अधिक होती है। उस देश म श्रमिको की नकद तथा वास्तविक मजदूरियाँ ऊँची होती है और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से ऐसे देश को अधिक लाभ होता है क्योकि वह अपनी निर्यात की वस्तुओ का अधिक उत्पादन करके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार द्वारा अधिक मात्रा मे अन्य देशो से वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है।

किसी देश का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न होने वाला लाभ उसकी मौद्रिक आय को अवश्य ही प्रभावित करता है। यदि उस देश का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से लाभ बढता है तो उसकी मौद्रिक आय भी बढ जाती है। दूसरे शब्दो मे, किसी देश की मौद्रिक आय बहुत मात्रा मे उस देश के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न होने वाले लाभ पर निर्भर करती है। जिस देश की वस्तुओ की माँग विदेशो मे अधिक होती है, उस देश की मौद्रिक आय भी ऊँची होती है। इसका कारण यह है कि निर्यात-उद्योग उन्नत हो जाते हैं और मजदूरो को अधिक मजदूरी प्राप्त होने लगती है।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तथा प्रतियोगिता-रहित समूह
(International Trade and Non Competing Groups)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की विवेचना करते समय हमने यह

मान लिया था कि देश के विभिन्न भागो मे श्रम पूर्णत गतिशील होता है। परिणामत श्रमिको के मजदूरी-स्तरमे समानता स्थापित हो जाती है । परन्तु, जैसा प्रो० बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) ने बताया है, देशके विभिन्न भागो मे श्रम का पूर्णरूप से गतिशील होना आवश्यक नही है। विभिन्न कारणो से देश के भीतर भी श्रम की गतिशीलता पूर्ण नही होती। ऐसी परिस्थिति मे एक श्रमिक वर्ग की मजदूरी दूसरे श्रमिक वर्ग की मजदूरी से कम अथवा अधिक हो सकती है और देश को कम मजदूरी वाले श्रमिक वर्ग द्वारा निर्मित वस्तुओ मे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। परिणामत वह देश इस प्रकार की वस्तुओ का निर्यात करने लगेगा। इसके विपरीत, यदि देश मे श्रम की गतिशीलता पूर्ण है अथवा श्रमिको मे प्रतियोगिता-रहित समूहो का अभाव है तब देश को उपर्युक्त तुलनात्मक लाभ उपलब्ध नही होगा और वह अन्य देशो को वस्तुओ का निर्यात भी नही कर सकेगा। यदि दो देशो मे मजदूरो के प्रतियोगिता-रहित समूह पाये जाते हैं और दोनो ही देशो मे इन समूहो की स्थिति समान है तो इससे उनके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि दो देशो मे पाये जाने वाले प्रतियोगिता-रहित समूहो मे अन्तर है तो इससे उनके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार विभिन्न देशो मे पाये जाने वाले प्रतियोगिता-रहित समूहो का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर कुछ न कुछ अवश्य ही प्रभाव पड़ता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Comparative Costs Theory)—अभी हाल ही के वर्षों तक सभी अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त को मान्यता देते थे और कहा जाता था कि यह सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की अविकृत अथवा प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त को गगाजल की भांति,पवित्र समझा जाता था। यह सिद्धान्त वास्तव मे उतना ही सही एव निर्विवाद समझा जाता था जितना कि उत्पत्ति ह्रास नियम। लेकिन इस सब के बावजूद इस सिद्धान्त की नीव कमजोर एव अस्थिर थी विगत कुछ वर्षों मे बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) तथा फ्रंक ग्राहम (Frank Graham) जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं

(1) श्रम लागतों की मान्यता (Assumption of Constant Costs) इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचना यह की जाती है कि यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त (labour theory of value) पर आधारित है। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने वस्तुओ के आन्तरिक विनिमय की व्याख्या श्रम लागतो के माध्यम से की थी। इसी सिद्धान्त को आधार मानते हुए उन्होंने वस्तुओ के अन्तरराष्ट्रीय विनिमय की व्याख्या भी श्रम लागतो के रूप मे कर डाली थी। इस प्रकार तुलनात्मक लागत-सिद्धान्त पूर्णत मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित था। लेकिन श्रम के मूल्य सिद्धान्त को 19वी शताब्दी मे ही अस्वीकार कर दिया गया था। प्रथम श्रम समरूप नही होता है, बल्कि इसके कई वर्ग एव श्रेणियां होती हैं जिनका प्रयोग उत्पादन मे किया जाता है। दूसरे, श्रम के अलावा उत्पादन के अन्य साधन जैसे—भूमि, पूंजी, साहस भी होते है जिनका प्रयोग उत्पादन म किया जाता है। इन्ही दो कारणो से मूल्य के श्रम सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया था। इस प्रकार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आधार ही गलत था। यह श्रम लागतो पर ही आधारित था जो कि वास्तविकता के विरुद्ध है। वास्तव मे, मौद्रिक लागतें ही माननीय होती हैं और उन्हे ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार बनाया जाना चाहिये।

(2) निश्चित अनुपातो की मान्यता (Assumption of Fixed Proportions)—चूंकि यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर निर्मित किया गया था, अत इसे एक अन्य मान्यता की आवश्यकता थी। वह यह थी कि उत्पादन के सभी साधनो को एक निश्चित अनुपात मे मिलाया जाता है। अब यह मान्यता पूर्णत गलत एव अयथार्थ थी। वास्तविक जीवन मे विभिन्न उत्पादन साधनो को अनेक प्रकार के अनुपातो (wide variation in proportions) मे मिलाया जाता है, किसी एक निश्चित् अनुपात मे नही। निश्चित् अनुपातो की इस मान्यता के कारण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितियो पर लागू नहीं होता है।

(3) स्थिर लागतो की मान्यता (Assumption of Constant Costs)—क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार स्थिर लागत नियम सभी उद्योगो मे कार्यशील होता है। परिणामत

किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो को प्रति इकाई स्थिर लागत पर प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यह मान्यता भी पूर्णत गलत एव अयथार्थ है। उत्पादन मे अधिकाशत उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा लागत वृद्धि नियम कार्यशील होता है। एक निश्चित् बिन्दु के उपरान्त प्रत्येक उद्योग मे वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो को प्रति इकाई बढती हुई लागत पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

(4) **उत्पादन साधनो की आन्तरिक गतिशीलता तथा बाह्य अगतिशीलता की मान्यता (Assumption of Internal Mobility and External Immobility)**—इस सिद्धान्त की एक अन्य त्रुटि भी है। यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि देश के भीतर उत्पादन साधन पूर्णत गतिशील होते है जबकि दो देशो के बीच वे पूर्णत अगतिशील होते हैं। यह मान्यता अवास्तविक एव तथ्यो के विपरीत है। उत्पादन के साधन (श्रम हो अथवा पूजी) देश के भीतर कभी भी पूर्णत गतिशील नही होते। विभिन्न उद्योगो एव क्षेत्रो म मजदूरियो एव ब्याज की दरो मे भिन्नता का पाया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। देश मे प्रतियोगिता रहित समूहो (Non Competing Groups) का पाया जाना उपर्युक्त मान्यता को पूर्णत गलत सिद्ध कर देता है। पूँजी भी एक उद्योग से दूसरे उद्योग की ओर इतनी सरलता से गतिशील नही होती है। दूसरी ओर, दो देशो के बीच उत्पादन साधन इतने अगतिशील नही होते जितना कि यह सिद्धान्त मान लेता है। श्रम एव पूँजी के विभिन्न देशो के बीच व्यापक आवागमन के इतिहास मे अनेक उदाहरण पाये जाते है।

(5) **परिवहन लागतो की उपेक्षा (Neglect of Transport Costs)**—एक अन्य कठिनाई यह है कि यह सिद्धान्त परिवहन लागतो की पूर्ण उपेक्षा कर डालता है मानो कि वे है ही नही। यह मान्यता गलत एव अयथार्थ है। उत्पादन के अनेक क्षेत्र ऐसे है कि जहाँ पर परिवहन लागतें उत्पादन लागतो से भी अधिक ऊँची होती है। दो देशो के बीच किसी वस्तु का व्यापार तब तक नही हो सकता जब तक कि दोनो देशो की उत्पादन लागतो का अन्तर वस्तु के परिवहन व्यय से अधिक नही बैठता। अतएव परिवहन लागतो की उपेक्षा नही की जा सकती। कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह मानकर कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है कि परिवहन लागतें उत्पादन लागतो मे सम्मिलित रहती हैं। लेकिन इससे समस्या का समाधान नही होता है। वास्तव मे परिवहन लागतें इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। कुछ समय पूर्व जर्मनी कोयले का प्रमुख निर्यातकर्ता था लेकिन फिर भी ब्रिटेन के निकट स्थित कुछ जर्मन बन्दरगाह उस देश से कोयले का आयात किया करते थे क्योकि उनको ब्रिटेन का कोयला सस्ता पडता था। यह एक ऐसा उदाहरण है जहाँ 'तुलनात्मक लाभ' की तुलना म परिवहन लागतें अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई थी। अत परिवहन लागतो की उपेक्षा करना क्लासीकल अर्थशास्त्रियो की भारी भूल थी। लेकिन यदि परिवहन लागतो का हम अपने विश्लेषण म सम्मिलित भी कर लें तो भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे कोई विशेष अन्तर नही पडेगा। परिवहन लागतो को सम्मिलित करने से दोनो देशो के बीच व्यापार की शर्तें तनिक सकुचित हो जायेगी।

(6) **सिद्धान्त की अयथार्थता (Unrealistic Nature of the Theory)**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त कुछ अयथार्थ सा प्रतीत होता है। कभी कभी कुछ विशेष परिस्थितियो मे देश का वास्तविक उत्पादन तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से मेल नही खाता। दूसरे शब्दो मे, देश उन वस्तुओ का उत्पादन भी करने लगता है जिनमे उसे कोई तुलनात्मक लाभ प्राप्त नही होता। कभी कभी तो ऐसा होता है कि देश उन वस्तुओ का भी उत्पादन करने लगता है जिनका वह सस्ते दामो पर विदेशो से आयात कर सकने की स्थिति मे होता है। राष्ट्रीय आत्म निर्भरता (autarchy) के इस युग मे प्रत्येक देश सैनिक एव सामरिक कारणो (strategic reasons) से महत्त्वपूर्ण वस्तुओ के उत्पादन मे आत्म निर्भर बनने का प्रयास करता है। आज के युग मे राष्ट्रीय उत्पादन तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से बहुत कम मेल खाता है। तुलनात्मक लागत का यह सिद्धान्त अतीतकाल मे चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यो न रहा हो आज के युग मे तो यह राष्ट्रीय उत्पादन का मुख्य निर्धारक नही रहा है।

(7) **पूर्ण विशेषज्ञता सम्भव नहीं होती (Complete Specialisation Impossible)**—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की इस कारण भी आलोचना की गई है कि क्लासीकल अर्थशास्त्रियो

की मान्यताओ के आधार पर भी पूर्ण श्रम-विभाजन एव विशेषज्ञता सम्भव नही हो सकते । इसकी व्याख्या हम दो देशो का उदाहरण लेकर कर सकते हैं। इनमे से एक बडा देश है तथा दूसरा छोटे आकार का देश है । चूंकि दूसरा देश छोटे आकार का है, अत उसके साधन सीमित है । यह देश केवल एक ही वस्तु के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है । अत यह देश अपने सभी साधन उस वस्तु के उत्पादन मे लगा देगा । लेकिन इसके बावजूद इसका उस वस्तु का उत्पादन अपनी तथा दूसरे देश की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त नही होगा। इसके विपरीत, बडे आकार वाले देश को दोनो वस्तुओ का उत्पादन करना पड़ेगा । दूसरे शब्दो मे, यह देश उस वस्तु का भी उत्पादन करेगा जिसमे इसको तुलनात्मक लाभ प्राप्त नही है । इसका कारण यह है कि छोटे आकार वाला देश अपने सीमित साधनो के फलस्वरूप उस वस्तु का इतनी अधिक मात्रा मे उत्पादन नही कर सकेगा कि उससे दोनो देशो की आवश्यकताएं पूरी हो सके ।

आइये, हम दो देशो (भारत एव श्रीलका) का उदाहरण ले । श्रीलका बहुत ही छोटा देश है । आइये, यह भी मान ले कि श्रीलका को रबड (rubber) मे और भारत को जूट मे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है । यह स्वाभाविक ही है कि श्रीलका अपने सभी साधन रबड के उत्पादन मे लगायेगा । चूंकि श्रीलका के साधन सीमित है, इसलिए वह रबड का इतना अधिक उत्पादन नही कर सकेगा कि दोनो देशो की आवश्यकताएं पूरी हो जायें । अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के उपरान्त श्रीलका रबड की कुछ मात्रा भारत को निर्यात कर देगा क्योकि उसको भारत से आयात किये गये जूट का भुगतान करना है लेकिन इससे भारत की रबड सम्बन्धी माँग पूरी नही हो सकेगी । अत भारत को जूट तथा रबड दोनो वस्तुओ का उत्पादन करना पडेगा । इस प्रकार बडा देश होने के नाते भारत केवल जूट के उत्पादन मे ही विशेषज्ञता प्राप्त नही करेगा । इसके दो कारण हैं । प्रथम, श्रीलका भारत की रबड सम्बन्धी माँग को पूर्णत सन्तुष्ट नही कर सकता । दूसरे, भारत यदि केवल जूट का ही उत्पादन करता है तो श्रीलका उसके जूट के समूचे उत्पादन को नही खरीद सकेगा । अत यह स्पष्ट है कि बडे आकार वाला देश केवल उस वस्तु के उत्पादन मे ही विशेषज्ञता प्राप्त नही कर सकता जिसमे उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो । उसे दूसरी वस्तु का उत्पादन भी करना होगा क्योकि छोटा देश उसकी समूची माँग को अपने सीमित साधनो के कारण पूरा नही कर सकता । इस प्रकार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तभी सही बैठता है जब हम यह मानकर चलें कि दोनो देशो का आकार अथवा उनके साधन समान हैं । अब यह मान्यता व्यवहार मे सही नही उतरती । अत पूर्ण विशेषज्ञता सम्भव नही है । इसी कारण इस सिद्धान्त को अयथार्थ माना जाता है ।

(8) **सिद्धान्त का बेढगापन (Clumsiness of the theory)**—प्रो० बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) ने इस सिद्धान्त को 'भद्दा' (cumbersome) एव 'अयथार्थ' कहकर इसकी भर्त्सना की है । उनके अनुसार, "यह सिद्धान्त स्पष्ट एव सीधे मार्ग को न अपनाकर एक कुटिल एव परोक्ष रास्ते का अनुसरण करता है ।" इस सिद्धान्त की मुख्य त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त दोनो देशो के बीच पाये जाने वाले लागत अन्तरो को समग्र रूप मे नही लेता है । उदाहरणार्थ, मजदूरियो के अलावा लागतो की अन्य मदें भी तो होती है । कच्चा माल, ब्याज, परिवहन व्यय लागतो की अन्य मदें है । यह सिद्धान्त लागतो की इन मदो की तो उपेक्षा करता है और समूचा ध्यान मजदूरी-लागतो पर ही केन्द्रित कर देता है । प्रो० बर्टिल ओहलिन इस सिद्धान्त को भद्दा एव अयथार्थ ही नही, बल्कि खतरनाक भी मानते है । यह सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या प्रारम्भ करते समय दो देशो एव दो वस्तुओ को ही लेता है लेकिन इस व्याख्या से निकले निष्कर्षो को ऐसी परिस्थितियो पर लागू किया जाता है जिनमे अनेक देश अनेक वस्तुओ मे व्यापार करते हैं ।

साराशत यह सिद्धान्त भद्दा, दु साध्य, एव अयथार्थ है । इसके निष्कर्ष गलत ही नही, बल्कि खतरनाक भी हैं । यही कारण है कि प्रो० बैरट व्हेल (Barret Whale) ने कहा है, "हमे तो स्वीडन के सुविख्यात अर्थशास्त्री, बर्टिल ओहलिन का अनुसरण करते हुए अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को मूल्य की आधुनिक धारणाओ पर ही निर्मित करना चाहिये ।"

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लाभ
(Advantages of International Trade)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं

(1) **भौगोलिक अथवा प्रादेशिक श्रम विभाजन**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप दो देशो के बीच भौगोलिक अथवा प्रादेशिक श्रम विभाजन सम्भव होता है। दोनों देश ऐसी वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं जिनमे उन्हे प्राकृतिक लाभ होता है, अर्थात् प्रत्येक देश उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करने लगता है जिनमे उसकी लागत न्यूनतम होती है। परिणामत विश्व के सभी देशो मे उत्पादन अनुकूलतम परिस्थितियो मे होने लगता है और इससे समूची मानव जाति के कल्याण मे वृद्धि होती है।

(2) **उपभोक्ताओ को वस्तुओं का सस्तो कीमतों पर मिलना**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का दूसरा लाभ यह है कि इससे उपभोक्ताओ को सस्ते मूल्यो पर वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। इसका कारण यह है कि वे वस्तुएँ उन देशो से खरीद सकते है जहाँ उनकी कीमतें न्यूनतम होती हैं। इससे उपभोक्ताओ के उपभोग स्तर मे सुधार होता है। इसके अतिरिक्त, विदेशी व्यापार के माध्यम से उपभोक्ता ऐसी वस्तुओ को भी प्राप्त कर सकते हैं जो उनके अपने देश मे उत्पन्न नही की जा सकतीं।

(3) **आर्थिक सकट का सामना करने मे सहायता**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण कोई भी देश आर्थिक सकट का आसानी से सामना कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश मे अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो वह देश, विदेशो से अन्न आयात करके अकाल का सामना कर सकता है।

(4) **वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतो मे समानता की प्रवृत्ति**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण सभी देशो मे समान वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो मे समानता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इससे सभी देशो को लाभ होता है।

(5) **उत्पादन रीतियों मे सुधार**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण देश के उद्योगपतियों को सदैव विदेशी प्रतियोगिता का भय रहता है। अत विदेशी प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए वे सदैव वैज्ञानिक उत्पादन विधियो की सहायता से उत्पादन-लागतो मे कमी करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसमे देश की समूची अर्थ-व्यवस्था को लाभ होता है।

(6) **एकाधिकारों पर रोक (Check on Monopolies)**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण देश मे एकाधिकारी व्यवसाय पनप नही सकते, क्योंकि उन्हें सदैव विदेशी प्रतियोगिता का खतरा बना रहता है। इस प्रकार विदेशी व्यापार के फलस्वरूप एकाधिकार की प्रवृत्ति को ठेस पहुँचती है।

(7) **कच्ची सामग्री की उपलब्धता**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से विभिन्न देश अन्य देशो से कच्चे माल का आयात कर सकते हैं और इस प्रकार उनके औद्योगीकरण मे सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन मे प्राय कच्चे माल की कमी है लेकिन फिर भी औद्योगिक दृष्टि से ब्रिटेन एक अत्यन्त विकसित देश है क्योंकि ब्रिटेन कच्चे माल का आयात अन्य देशो से कर लेता है।

(8) **अन्तरराष्ट्रीय सहयोग तथा सांस्कृतिक विकास**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण विश्व के देशो मे अच्छे सम्बन्ध स्थापित होते हैं जिससे अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहन मिलता है और देशो का सास्कृतिक विकास सम्भव हो जाता है।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
(Disadvantages of International Trade)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ निम्नलिखित हैं

(1) **कच्ची सामग्री की समाप्ति**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण कुछ देशो की कच्ची सामग्री, विशेषत खनिज-पदार्थ शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं और आगे चलकर ऐसे देशो को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पडता है। उदाहरणार्थ, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण ही भारत

के मैंगनीज और अभ्रक खनिज-पदार्थों मे बहुत कमी हो गयी है। सन् 1947 से पूर्व इन दोनों पदार्थों का ब्रिटेन को वे रोकटोक निर्यात किया जाता था।

(2) विदेशी प्रतियोगिता का प्रतिकूल प्रभाव—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण देशी उद्योगो के लिए विदेशी प्रतियोगिता का खतरा उत्पन्न हो जाता है। कभी कभी तो विदेशी प्रतियोगिता के कारण देशी उद्योगो को बहुत हानि होती है। उदाहरणार्थ, 19वी शताब्दी मे ब्रिटिश प्रतियोगिता के कारण बहुत से भारतीय उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये थे।

(3) राशिपातन का भय (Fear of Dumping)—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से कभी कभी विकसित देशो द्वारा पिछडे हुए देशो मे वस्तुओ का राशिपातन किया जाता है, अर्थात् विकसित देश पिछडे हुए देशो मे अपने माल को बहुत ही कम मूल्य पर बेचना शुरू कर देते हैं। कभी कभी तो वे अपने माल को उत्पादन लागत से भी कम मूल्य पर बेचते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के राशिपातन से देशी उद्योगो पर बडा घातक प्रभाव पडता है और शीघ्र ही वे ठप्प हो जाते हैं। जब एक बार देशी उद्योग धन्धे समाप्त हो जाते हैं तो विदेशी उद्योगपतियो द्वारा पुन अपने माल का मूल्य बढा दिया जाता है।

(4) देश का एकांगी विकास—जैसा ऊपर बताया गया है, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भौगोलिक श्रम विभाजन अथवा विशेषज्ञता के आधार पर किया जाता है, अर्थात् प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करता है जिनमे उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार देश मे सभी उद्योग धन्धो का विकास न होकर केवल कुछ ही उद्योग धन्धो का विकास सम्भव होता है। इस प्रकार के एकांगी विकास से देश के कई साधन बेकार ही पडे रहते हैं।

(5) विदेशो पर निर्भरता—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप एक देश दूसरे देश पर कुछ आवश्यक वस्तुओ के लिए निर्भर रहने लगता है। परन्तु यह निर्भरता सदैव अच्छी नही होती, विशेषकर युद्ध के समय तो इस प्रकार की निर्भरता अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

(6) उपभोक्ताओ की आदतों पर प्रतिकूल प्रभाव—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण कभी कभी देश के उपभोक्ताओ पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ, 19वी शताब्दी मे चीन के लोग अफीम खाने के आदी हो गये थे, यद्यपि चीन मे अफीम का उत्पादन बिलकुल नही होता था।

(7) देश में आवश्यक वस्तुओ की कमी—कभी-कभी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण देश के भीतर कुछ आवश्यक वस्तुओ की कमी उत्पन्न हो जाती है, क्योकि ऐसी वस्तुओ का बडे पैमाने पर निर्यात किया जाता है।

(8) कृषि प्रधान देशो को हानि—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण कृषि-प्रधान देशो को औद्योगिक देशो की तुलना मे हानि उठानी पडती है। इसका कारण यह है कि कृषि-प्रधान देश उन वस्तुओ का निर्यात करता है जिनका उत्पादन बढती लागत नियम (Law of Increasing Costs) के अन्तर्गत होता है और बदले मे उन वस्तुओ को प्राप्त करता है जिनका उत्पादन घटती लागत नियम (Law of Decreasing Costs) के अन्तगत होता है।

(9) अन्तरराष्ट्रीय द्वेष तथा संघर्ष—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण कभी-कभी विश्व के देशो मे द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है और उनमे आर्थिक संघर्ष आरम्भ हो जाते हैं जो बाद मे चलकर युद्ध का भयानक रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ सन् 1930 की महान मन्दी के उपरान्त विभिन्न देशो मे तीव्र प्रतियोगिता होने के कारण उनके आपसी सम्बन्ध बहुत बिगड गये थे।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अलग सिद्धान्त की क्यों आवश्यकता है ? समझाइये।

(आगरा, 1962)

[संकेत—यहाँ पर आन्तरिक व्यापार तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के बीच पाये जाने वाले अन्तरो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और बताइये कि इन्ही के कारण अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता पडती है।]

2. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। (आगरा, 1976)

[संकेत—यहाँ पर दो काल्पनिक देशों का उदाहरण देकर स्पष्ट करिए कि उनके बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तभी हो सकता है, जबकि उनकी उत्पादन-लागतों में निरपेक्ष तथा तुलनात्मक अन्तर हो।]

3. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किन परिस्थितियों में विदेशी व्यापार का दो देशों के बीच उदय हो सकता है? विनिमय से किस देश को अधिक लाभ होता है? इसे निर्धारित करने वाले घटक कौन से हैं? (इलाहाबाद, 1959)

[संकेत—प्रथम भाग में यह बताइए कि दो देशों के बीच विदेशी व्यापार उस परिस्थिति में आरम्भ होता है, जबकि उनकी उत्पादन-लागतों में निरपेक्ष अथवा तुलनात्मक अन्तर हो। दूसरे भाग में, यह बतलाइए कि विदेशी व्यापार से उत्पन्न होने वाला लाभ दो देशों के बीच दो घटकों से प्रभावित होता है—व्यापार की शर्तें, (ख) श्रम की कार्य-कुशलता।]

4. अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लाभ और हानियों का विवेचन कीजिए। (राजस्थान, 1968)

[संकेत—यहाँ पर अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ तथा हानियों की विवेचना कीजिए।]

5. अन्तरराष्ट्रीय व्यापार क्यों और किन दशाओं में सम्भव है? (आगरा, 1969)

[संकेत—दो देशों के बीच अन्तरराष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है, क्योंकि उन्हें इससे लाभ होता है। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तभी होता है जब दोनों देशों की उत्पादन-लागतों में निरपेक्ष तथा तुलनात्मक अन्तर हो। देखिये, उपर्युक्त अध्याय।]

6. "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अन्तरक्षेत्रीय व्यापार की केवल एक विशिष्ट अवस्था ही है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए। (आगरा, 1974)

[संकेत—यह कथन प्रो० बर्टिल ओहलिन का है। उनका कहना है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। विस्तृत विवरण हेतु उपर्युक्त अध्याय में "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार की एक विशिष्ट दशा कैसे कहा जाता है?" नामक उपशीर्षक को देखिए।]

17

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धांत
(Modern Theory of International Trade)

"अन्तर-प्रादेशिक व्यापार का तत्कालीन कारण यह है कि आन्तरिक बाजार की अपेक्षा विदेशी बाजारों से वस्तुओं को अधिक सस्ते दामों पर खरीदा जा सकता है।"

—बर्टिल ओहलिन

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के क्लासीकल सिद्धान्त (अथवा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त) को प्रमुखतया इस आधार पर अस्वीकार कर दिया है कि यह सिद्धान्त मूल्य के प्राचीन एवं अप्रचलित श्रम सिद्धान्त पर निर्मित किया गया था। आधुनिक अर्थशास्त्री बर्टिल ओहलिन के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त से अधिकाधिक प्रभावित हुए हैं। उनके अनुसार यह सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की अधिक प्रत्यक्ष, अधिक युक्तिसंगत, एवं अधिक यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करता है। आज-कल इस सिद्धान्त को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त कहा जाता है।[1] बर्टिल ओहलिन का यह सिद्धान्त मूल्य के उस सिद्धान्त का विस्तार है जिसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार कर रखा है। मूल्य के इस सिद्धान्त को कभी-कभी सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त (general equilibrium theory) अथवा परस्पर निर्भरता सिद्धान्त भी कहा जाता है। जैसा कि सुविदित है, वालरस, परेटो तथा कैसलज (Cassels) जैसे अर्थशास्त्रियों ने एकाकी बाजार (single market) में मूल्य अथवा कीमत-सम्बन्धी की व्याख्या करने हेतु इस सिद्धान्त का विकास किया था। स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बर्टिल ओहलिन ने सामान्य सन्तुलन को विस्तृत करके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र पर भी लागू कर दिया है। जैसा कि पूर्व कहा जाता है, मूल रूप में तो यह सिद्धान्त केवल एकाकी बाजार पर ही लागू होता है लेकिन बर्टिल ओहलिन ने इस सिद्धान्त को सफलतापूर्वक विभिन्न प्रदेशों के बीच होने वाले अथवा विभिन्न देशों के बीच होने वाले व्यापार पर भी लागू कर दिया है।

क्या अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के एक विशिष्ट सिद्धान्त की आवश्यकता है ?
(Do We Need a Special Theory of International Trade ?)

बर्टिल ओहलिन ने अपने निश्चयात्मक कथन में यह स्पष्ट कर दिया था कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या करने के लिए किसी पृथक सिद्धान्त की कतई आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार, "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तो अन्तर-प्रादेशिक व्यापार की ही एक विशेष अवस्था है। ('International trade is but a special case of inter-local or inter-regional trade") उन्होंने अन्तर-प्रादेशिक व्यापार पर लागू होने वाले विश्लेषण को बिना किसी बड़े परिवर्तन

---

1 अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का एक आधुनिक विवरण जर्मन अर्थशास्त्री हाबरलर (Haberler) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अपने विश्लेषण को अवसर लागतों (Opportunity Costs) के रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि प्रो० ओहलिन की भाँति वह भी सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त को आधार बनाते हैं, लेकिन उनका विश्लेषण ओहलिन के विश्लेषण से कम व्यापक है।

अथवा सशोधन के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू कर दिया है। वास्तव मे, अन्तर प्रादेशिक व्यापार एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे मूलभूत समानता पाई जाती है। बर्टिल ओहलिन ने दृढता-पूर्वक उन सभी तर्कों का प्रतिवाद किया है जो क्लासीकल अर्थशास्त्रियो द्वारा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए एक प्रथक सिद्धान्त के समर्थन मे प्रस्तुत किये गये थे।

(1) क्लासीकल अर्थश स्त्रियो द्वारा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के पक्ष मे दिया गया पहला तर्क यह था कि उत्पादन के साधन देश के भीतर तो पूर्णतया गतिशील होते हैं लेकिन विभिन्न देशो के बीच वे पूर्णतया अगतिशील होते हैं। इस प्रकार उत्पादन-साधनो की अन्तरराष्ट्रीय अगतिशीलता को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रथक सिद्धान्त का मुख्य आधार बना दिया गया था। लेकिन बर्टिल ओहलिन ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उत्पादन साधनो की अगति-शीलता अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तक ही सीमित नही होती, बल्कि यह अगतिशीलता तो आन्तरिक अथवा अन्तर-प्रादेशिक व्यापार मे भी पाई जाती है। सत्य तो यह है कि एक ही देश के विभिन्न भागो के बीच भी उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील नहीं होते। उदाहरणार्थ, एक कश्मीरी श्रमिक के लिए केरल को जाना उतना ही कठिन है जितना कि किसी विदेश को प्रवजन करना। यदि देश के भीतर उत्पादन साधन पूर्णतया गतिशील होते तो मजदूरियो एव ब्याज की दरो मे इतनी अधिक भिन्नतायें नही पाई जाती। वास्तव मे, किसी देश मे प्रतियोगिता रहित समूहो (Non Competing Groups) का होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि देश के भीतर भी उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील नही होते। देश का आकार जितना अधिक बड़ा होगा, उतनी ही विभिन्न उद्योगो एव विभिन्न क्षेत्रो मे मजदूरियो एव ब्याज दरो की भिन्नतायें अधिक होगी। इसके अतिरिक्त बर्टिल ओहलिन ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उत्पादन के साधन विभिन्न देशो के बीच पूर्णतया अगतिशील नही होते। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये जहाँ लाखो मजदूर यूरोप छोड़कर विश्व के अन्य देशो मे जा बसे थे। इसी प्रकार लाखो भारतीय भारत छोड़कर बर्मा, श्रीलका, इण्डोनेशिया, एव दक्षिणी अफीका जसे देशो मे जा बसे हैं। इसी प्रकार पूँजी का भी विभिन्न देशो के बीच व्यापक पैमाने पर आवागमन हुआ है।

(2) क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रथक सिद्धान्त का निर्माण इस आधार पर भी किया था कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार प्रस्तुत करता है लेकिन बर्टिल ओहलिन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर ही नही बल्कि आन्तरिक अथवा अन्तर-प्रादेशिक व्यापार भी लागू होता है। बर्टिल ओहलिन ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सभी प्रकार के व्यापार का आधार है। यहाँ तक कि आन्तरिक व्यापार भी तुलनात्मक लाभ के कारण ही होता है। किसी देश के विभिन्न क्षेत्र उन वस्तुओ का ही उत्पादन करते है जिनमे उनको तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। बर्टिल ओहलिन के शब्दो मे "विश्व के विभिन्न प्रदेश एव राष्ट्र उन उद्योगो म विशेषज्ञता प्राप्त कर एक दूसरे से उसी आधार पर व्यापार करते हैं जिस पर निजी व्यक्ति विशेषज्ञता प्राप्त करने के बाद एक दूसरे से व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही कुछ विशेष प्रकार के काम के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति अच्छा माली बन सकता है तो दूसरा एक श्रेष्ठ अध्यापक हो सकता है जबकि तीसरा एक कुशल चिकित्सक सिद्ध होता है। यदि सभी व्यक्ति समान योग्यता के होते तो भी विशेषज्ञता प्राप्त करने से उनका लाभ होना। इस प्रकार तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर ही नही, बल्कि आन्तरिक अथवा अन्तर-प्रादेशिक व्यापार, यहाँ तक कि व्यक्तिगत विशेषज्ञता पर भी लागू होता है। अत बर्टिल ओहलिन के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त को विकसित करने का कोई औचित्य नही है।

(3) क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के एक पृथक सिद्धान्त के समर्थन मे यह तक भी प्रस्तुत किया था कि विश्व के विभिन्न देशो मे भिन्न भिन्न प्रकार की मुद्रा प्रणालियाँ प्रचलित हैं और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार विभिन्न प्रकार की विनिमय दरो के माध्यम से ही होता है। विनिमय दरो की इन भिन्नताओ के कारण विभिन्न देशो मे वस्तुओ की कीमतो मे अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन प्रो० बर्टिल ओहलिन ने क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के इस तर्क का खण्डन किया

है। उनके अनुसार दो मुद्राओ की विनिमय दर दो देशो के बीच पाई जाने वाली लागत कीमत सरचनाओ (Cost-price structure) से सम्बन्धित होती है। विनिमय दर किसी मुद्रा की बाह्य क्रय-शक्ति को व्यक्त करती है और मुद्रा की बाह्य क्रय-शक्ति को उसकी आन्तरिक क्रय-शक्ति से पृथक नही किया जा सकता। वास्तव मे, किसी मुद्रा की बाह्य क्रय-शक्ति उसकी आन्तरिक क्रय-शक्ति का ही प्रतिबिम्ब (reflection) होती है। अत. अन्तर-प्रादेशिक एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के बीच कोई मूल-भूत अन्तर नही किया जा सकता है। इस प्रकार प्रो० बर्टिल ओहलिन का सुनिश्चित विचार है कि सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त (जो अन्तर-प्रादेशिक व्यापार की व्याख्या करता है) को बिना किसी बडे सशोधन के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या करने हेतु प्रयोग मे लाया जा सकता है। अन्तर-प्रादेशिक व्यापार प्रमुखतया लागतो एव कीमतो के अन्तर के कारण ही होता है। इसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भी दो देशो के बीच लागतो एव कीमतो के अन्तर के कारण होता है। अत. अन्तर प्रादेशिक एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के बीच कोई मूल-भूत अन्तर नही है। इस सन्दर्भ मे क्षेत्र अथवा प्रदेश के विस्तार का प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नही रखता। यही कारण है कि प्रो० बर्टिल ओहलिन ने सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त का प्रयोग अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की समस्याओ का विश्लेषण करने के लिए किया है। आइये, अब हम मूल्य के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या करें।

मूल्य का सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त
(General Equilibrium Theory of Value)

जैसा कि सुविदित है, किसी वस्तु की कीमत उसकी माँग एव पूर्ति से निर्धारित होती है। किसी तैयार शुदा वस्तु की माँग तीन तत्त्वो पर निर्भर करती है (क) उपभोक्ताओ की आवश्यकताएँ एव प्राथमिकताएँ (ख) उपभोक्ताओं की आय जो आगे चलकर दो अन्य तत्त्वो पर निर्भर करती है—(1) उत्पादन साधनो के स्वामित्व की शर्तें। (2) उत्पादन-साधनो की कीमतें। (ग) अन्य वस्तुओ की कीमतें। इसी प्रकार किसी तैयार शुदा वस्तु की पूर्ति उसकी उत्पादन लागत (अथवा उत्पादन साधनो की कीमतो) तथा उत्पादन की भौतिक एव तकनीकी अवस्थाओ पर निर्भर करती है। किसी वस्तु की प्रति इकाई लागत निम्नवत् तरीके से निकाली जाती है। वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने हेतु उत्पादन-साधन की कीमत को उस साधन की आवश्यक मात्रा से गुणा करने पर उस वस्तु की प्रति इकाई लागत निकाली जा सकती है। किसी वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने हेतु किसी साधन की आवश्यक मात्रा आगे चलकर सभी साधनो की कीमतो पर भी निर्भर करती है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न उत्पादन साधनो की कीमतें इस बात का निर्धारण करती है कि उत्पादन हेतु विभिन्न साधनो को किस अनुपात मे एक दूसरे से मिलाया गया है। इसके साथ ही साथ किसी वस्तु की उत्पादन लागत फर्म (Firm) द्वारा प्रयोग मे लाई गई उत्पादन तकनीक से भी निर्धारित होती है।

सन्तुलन बिन्दु पर वस्तु की माँग एव पूर्ति एक दूसरे के बराबर होती है। यही नही, सन्तुलन बिन्दु पर वस्तु की कीमत भी उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है। (स्मरण रहे कि उत्पादन लागत मे सामान्य लाभ भी सम्मिलित रहता है)। जैसा कि ऊपर कहा गया है, किसी वस्तु की उत्पादन-लागत मे उन सभी साधनो की कीमतें सम्मिलित होती हैं जिनका उपयोग उस वस्तु के उत्पादन मे किया जाता है।

आइये, अब हम उत्पादन साधनो की उन कीमतो की व्याख्या करें जो किसी वस्तु की उत्पादन लागत मे सम्मिलित होती हैं। उत्पादन-साधनो की कीमतें उनकी माँग एव पूर्ति से निर्धारित होती हैं। इन साधनो की माँग अन्तत तैयार शुदा वस्तु की माँग पर निर्भर करती है क्योकि ये साधन उस वस्तु के उत्पादन मे प्रविष्ट होते हैं। तैयार शुदा वस्तु की माँग जितनी अधिक होगी उतनी ही इन साधनो की माँग भी अधिक होगी। किसी साधन की कुल माँग से अभिप्राय उस साधन की उन मात्राओ के योग से है जिनका प्रयोग विभिन्न उद्योग धन्धो मे होता है। किसी उद्योग मे किसी साधन की लगाई गई मात्रा तैयार शुदा वस्तु की इकाइयों की सख्या एव उनमे उस साधन की प्रयुक्त मात्रा के गुणनफल के बराबर होती है। किसी तैयार शुदा उपभोक्ता वस्तु की माँग आशिक रूप मे उपभोक्ताओ की आय पर निर्भर करती है और उपभोक्ताओ की आय

आगे चलकर उत्पादन साधनो को उनकी सेवाओ के लिए चुकायी गई कीमतो पर निर्भर करती है। इसी प्रकार उत्पादन साधनो की पूर्ति उनकी सेवाओ के बदले उपलब्ध होने वाली कीमतो पर निर्भर करती है। इस प्रकार उपर्युक्त परिस्थिति मे सभी मात्राएँ—तैयार शुदा वस्तुओ की कीमतें उपभोक्ताओ की आय, तैयार शुदा वस्तु की माँग एव पूर्ति तथा उत्पादन साधनो की माँग व पूर्ति —ये सभी मात्राएँ परस्पर एक दूसरे मे सम्बन्धित हैं। प्रो० एल्सवर्थ (Ellsworth) के शब्दो मे, 'ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुओ की कीमतें, उत्पादन साधनो की कीमतें, उपभोक्ताओ की आय, तैयार शुदा वस्तुओ की माग, तथा उत्पादन साधनो की माग एव पूर्ति—ये सभी एक प्रकार का जटिल समूह है। इसकी सभी मात्राएँ एक दूसरे पर निर्भर ही नही, बल्कि एक दूसरे से सम्बन्धित भी हैं। ये एक दूसरे को निर्धारित भी करती हैं। इस परिस्थिति मे सम्मिलित किसी भी मात्रा को कारणात्मक प्राथमिकता (causal priority) नही दी जा सकती। प्रत्येक मात्रा एक साथ अन्य मात्राओ पर अपना प्रभाव डालती हैं।" कीमतो की इस व्याख्या को ही मूल्य के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त की सज्ञा दी गई है। सामान्य सन्तुलन के अर्थ को एक सादृश्य प्रस्तुत करके प्रो० एल्सवर्थ ने स्पष्ट कर दिया है। उन्ही के शब्दो मे "सौर जगत एव कीमत-प्रणाली मे बहुत समानता पाई जाती है। दोनो ही एक ऐसे परस्पर निर्धारित सन्तुलन को प्रस्तुत करते हैं जिसमे प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु पर निर्भर करती है। इस सौर जगत मे प्रत्येक नक्षत्र की स्थिति एव गति सूर्य तथा अन्य नक्षत्रो की स्थिति एव गति पर निर्भर करती है। किसी भी नक्षत्र की गतिशीलता को तब तक सही-सही निर्धारित नही किया जा सकता जब तक कि इस जटिल परिस्थिति मे सम्मिलित प्रत्येक तत्त्व पहले से ही ज्ञात न हो। सत्य तो यह है कि इस परिस्थिति मे सम्मिलित सभी तत्त्व एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। इस सन्दर्भ मे डा० मार्शल ने भी एक सादृश्य प्रस्तुत किया है। उन्होंने एक ऐसे कटोरदान का उदाहरण दिया है जिसमे इस्पात की गेंदें भरी हुई हैं। इस कटोरदान मे प्रत्येक इस्पात गेंद की स्थिति अन्य सभी गेंदो की स्थिति से निर्धारित होती है।"[1]

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of International Trade)

प्रो० बर्टिल ओहलिन ने निम्नलिखित मान्यताओ के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का निर्माण किया है—

(1) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार केवल दो प्रदेशो के बीच ही होता है।

(2) देशो के भीतर तो उत्पादन साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं लेकिन दोनो देशो के मध्य वे पूर्णतया अगतिशील होते हैं।

(3) दोनो देशो के बीच वस्तुओ के आवागमन पर कोई प्रतिबन्ध नही होता है।

(4) परिवहन लागतें नही होती हैं।

(5) वस्तु-सम्बन्धी सौदो पर ही ध्यान दिया जाता है और इस सन्दर्भ मे निर्यातो का मूल्य आयातो के मूल्य के समतुल्य होता है।

(6) दोनो प्रदेशो मे उत्पादन साधनो के बीच किसी प्रकार का गुणात्मक अन्तर नही पाया जाता है।

(7) प्रत्येक प्रदेश की अपनी पृथक कागजी मुद्रा प्रणाली होती है जो बाह्य, वित्तीय तत्त्वो से प्रभावित नही होती।

बर्टिल ओहलिन ने व्यक्तिगत विशेषज्ञता एव अन्तर प्रादेशिक विशेषज्ञता के बीच पाई जाने वाली समानता पर बल दिया है। व्यक्तिगत विशेषज्ञता आशिक रूप मे व्यक्तिगत योग्यताओ एव अभिवृत्तियो के अन्तरो के कारण होती है। साधारणतया व्यक्ति आर्थिक क्रियाओ के विभिन्न क्षेत्रो मे अपनी अपनी अभिवृत्तियो के अनुसार विशेषज्ञता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। कुछ व्यक्ति दक्ष शिल्पी (technicians) बनते हैं। कुछ श्रेष्ठ प्रशासनिक (executives) बनते हैं और कुछ

---

[1] P T Ellsworth, *International Economics* (1947), p. 93

बढ़िया अध्यापक बनते हैं। यदि सभी व्यक्ति अपनी-अपनी अभिवृत्तियों के अनुसार पेशों को अपनायें तो व्यक्तिगत आय एवं कुल सामाजिक आय दोनों ही में अधिकतम वृद्धि होगी। इसी प्रकार विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों में भी उत्पादन-साधनों एवं अन्य प्राकृतिक साधनों को लेकर भिन्नतायें पाई जाती है। कुछ प्रदेशों में उपजाऊ भूमियों का बाहुल्य होता है जबकि कुछ अन्य प्रदेशों में खाना एवं जंगलात के व्यापक क्षेत्र पाये जाते हैं। कुछ ऐसे प्रदेश भी होते हैं जिनमें श्रम एवं पूँजी की बहुतायत होती है। यह प्रत्येक भौगोलिक प्रदेश के हित में ही होगा कि वह उन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करे जिनके लिए उसके प्राकृतिक साधन उपयुक्त हों। इस प्रकार प्रत्येक प्रदेश अपने प्राकृतिक साधनों एवं अन्य साधनों के अनुसार ही वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करता है। तब वह प्रदेश अपने माल का विनिमय अन्य प्रदेशों की उन वस्तुओं से करता है जिनमें उनको विशेषज्ञता प्राप्त होती है। बर्टिल ओहलिन के अनुसार उत्पादन-साधनों की भिन्नता ही अन्तर-प्रादेशिक व्यापार एवं विशेषज्ञता का कारण होती है। यह विनिमय बिलकुल वैसे ही होता है जैसा कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच व्यक्तिगत योग्यताओं एवं अभिवृत्तियों के कारण विनिमय होता है। उत्पादन-साधनों की भिन्नता के कारण विभिन्न देशों की वस्तु कीमतों में अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं और आगे चलकर कीमतों के ये अन्तर ही अन्तर-प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का कारण बनते हैं। प्रो० एल्सवर्थ (Ellsworth) के शब्दों में, 'वस्तुओं में अन्तर प्रादेशिक व्यापार का तत्काली कारण कीमतों में पाये जाने वाले अन्तर हैं। दूसरे शब्दों में अन्तर प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार कीमतों के कारण ही होता है।"[1]

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विभिन्न देशों में सापेक्ष कीमतों के अन्तर कैसे उत्पन्न होते हैं। बात दर असल यह है कि सापेक्ष वस्तु-कीमतों के अन्तर दोनों प्रदेशों में सम्बन्धित वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर करते हैं। किसी वस्तु की माँग दो बातों पर निर्भर करती है। (क) उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ एवं प्राथमिकताएँ (ख) उपभोक्ताओं की आय। यह आगे चलकर उत्पादन साधनों के स्वामित्व की अवस्थाओं से निर्धारित होती है। इसी प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति भी दो बातों पर निर्भर करती है (क) उत्पादन साधनों की पूर्ति (ख) उत्पादन की तकनीकी अवस्थाएँ। बर्टिल ओहलिन के अनुसार उत्पादन की तकनीकी अवस्थाएँ तो सभी जगह एक जैसी होती हैं। अतः इस तत्व को सरलता से अपने विश्लेषण से बाहर रखा जा सकता है। परिणामतः सापेक्ष वस्तु-कीमतों के अन्तर अन्ततः दो तत्वों पर निर्भर करते हैं अर्थात् उत्पादन साधनों की माँग एवं पूर्ति। दोनों प्रदेशों में सभी वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें एक समान होंगी

(1) यदि वस्तुओं की माँग को निर्धारित करने वाली शर्तें दोनों प्रदेशों में एक समान हैं अथवा उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ एवं उनकी आय दोनों प्रदेशों में एक समान है।

(2) यदि दोनों प्रदेशों में उत्पादन के साधन समान अनुपात में उपलब्ध होते हैं।

(3) यदि साधनों की पूर्ति में पाये जाने वाले अन्तर उनकी माँग-सम्बन्धी अवस्थाओं में पाये जाने वाले अन्तरों से पूर्णतया तटस्थ हो जाते हैं।

दोनों प्रदेशों में साधारणतया उपर्युक्त शर्तें वास्तविक व्यवहार में पूरी नहीं होतीं। अतः साधनों की माँग एवं पूर्ति में निश्चय ही अन्तर पाये जायेंगे। इन्हीं अन्तरों के कारण साधनों की कीमतों में भिन्नताएँ उत्पन्न हो जायेंगी और उन्हीं भिन्नताओं के कारण अन्ततः सापेक्ष वस्तु कीमतों में भी अन्तर उत्पन्न हो जायेंगे। अतः साधनों की कीमतों में पाये जाने वाले अन्तरों के कारण ही सापेक्ष वस्तु-कीमतों में अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। (स्मरण रहे कि साधनों की कीमतों में जो अन्तर पाये जाते हैं, वे दोनों प्रदेशों में उन साधनों की सापेक्ष दुर्लभताओं (relative scarcities) के कारण ही होते हैं।) बर्टिल ओहलिन के मुख्य निष्कर्ष का सारांश निम्न वत् है

(1) दो भौगोलिक प्रदेशों में सापेक्ष वस्तु-कीमतों के अन्तरों के कारण ही अन्तर प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होता है।

1 P T Ellsworth, *International Economics*, p 88

(2) दो प्रदेशो अथवा दो देशो मे सापेक्ष वस्तु-कीमतो के अन्तर उत्पादन साधनो की सापेक्ष दुर्लभताओ के कारण होते हैं।

यदि किसी प्रदेश मे भूमि का बाहुल्य है लेकिन श्रम तथा पूँजी की कमी है तो ऐसे प्रदेश मे भूमि सस्ती होगी, जबकि श्रम एव पूँजी सापेक्षतया मँहगे होगे। ऐसे प्रदेश मे उन्ही वस्तुओ का उत्पादन किया जायेगा जिनके लिए भूमि की अधिक मात्रा लेकिन श्रम एव पूँजी की कम मात्राओ की आवश्यकता पडती है। उदाहरणार्थ, ऐसे प्रदेश मे गेहू, ऊन तथा माँस इत्यादि वस्तुएँ सस्ती होगी। आस्ट्रेलिया इस प्रकार के प्रदेश का बढिया उदाहरण प्रस्तुत करता है। आस्ट्रेलिया मे भूमि तो प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है जबकि श्रम एव पूँजी सापेक्षतया दुर्लभ है। इसके विपरीत, यदि किसी प्रदेश मे पूँजी प्रचुर मात्रा मे पायी जाती है लेकिन भूमि का अभाव है तो ऐसे प्रदेश मे पूँजी सस्ती होगी जबकि भूमि सापेक्षतया मँहगी होगी। ऐसे प्रदेश मे अधिकाशत उन वस्तुओ का उत्पादन किया जायेगा जिनमे पूँजी की अधिक आवश्यकता पडती है। ग्रेट ब्रिटेन इस प्रकार के प्रदेश का बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत करता है। पूंजी की प्रचुरता के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने पूंजी-प्रधान उद्योगो मे विशेषज्ञता प्राप्त की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सापेक्ष वस्तु-कीमतो के अन्तर ही अन्तर-प्रादेशिक एव अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार प्रस्तुत करते हैं। सापेक्ष वस्तु-कीमतो के अन्तर अन्तत दोनो प्रदेशो के उत्पादन-साधनो की सापेक्ष दुर्लभताओ के अन्तरो पर निर्भर करते हैं। यह मानते हुए कि अन्तर-प्रादेशिक व्यापार पहले से ही दिया हुआ (given) है, आइये अब हम उन सिद्धान्तो का विश्लेषण करें जो दो प्रदेशो के बीच व्यापार की शर्तों को निर्धारित करते हैं। उत्पादन-साधनो की भिन्नता का अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि दोनो प्रदेशो मे कुछ वस्तुएँ एक दूसरे की तुलना मे सस्ती होती हैं। लेकिन उत्पादन साधनो की इस भिन्नता से ही हमे यह पता नही चलेगा कि दोनो प्रदेशो के बीच किन-किन विशिष्ट वस्तुओ का व्यापार होगा। यह जानने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रदेश के क्रेतागण देशी एव विदेशी वस्तुओ की कीमतो की तुलना करने की स्थिति मे हो। दोनो प्रदेशो की कीमतो की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो मे एक ही मुद्रा का प्रयोग किया जाता हो। लेकिन यदि ऐसा नही है और दोनो प्रदेशो मे अलग अलग मुद्राओ का प्रयोग किया जाता है तो फिर इन दोनो मुद्राओ का सम्बन्ध एक दूसरे से विनिमय-दर के माध्यम से स्थापित किया जाना चाहिए।

आइये, अब हम यह मानलें कि भारत और बगला देश दो ऐसे प्रदेश हैं जिनमे एक ही मुद्रा का प्रयोग होता है। यदि इन दोनो के बीच कोई व्यापारिक सम्बन्ध नही है तो विभिन्न वस्तुओ की कीमते उनकी अपनी अपनी आन्तरिक माँगो एव पूर्तियो के अनुसार निर्धारित होगी। लेकिन यदि इन दोनो प्रदेशो के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते है तो इससे एक प्रदेश की माँग का प्रभाव दूसरे प्रदेश की कीमत-प्रणाली पर निश्चय ही पडेगा। सापेक्षतया सस्ते साधनो द्वारा निर्मित वस्तुओ की घरेलू माँग मे उन्ही वस्तुओ की विदेशी माँग को भी जोडा जायेगा। इसके साथ साथ सापेक्षतया अधिक खर्चीले साधनो की वस्तुओ की घरेलू माँग दूसरे प्रदेश को स्थानान्तरित हो जायेगी। दोनो प्रदेशो मे परस्पर माँगो के कारण साधनो की सापेक्ष कीमतो मे अन्तर उत्पन्न हो जायेगा। परिणामत दोनो प्रदेशो मे सापेक्ष वस्तु-कीमतें भिन्न भिन्न हो जायेंगी। इससे दोनो प्रदेशो के बीच व्यापार का आधार उत्पन्न हो जायेगा। सतुलन की स्थिति स्थापित हो जायेगी और दोनो प्रदेशो के बीच समान मूल्य की वस्तुओ का आदान प्रदान होगा।

अब हम यह मान लेते हैं कि भारत और बगला देश दोनो की अलग-अलग एव स्वतन्त्र कागजी मुद्रा प्रणालियाँ है। अतः इन दोनो मुद्राओ के बीच निश्चय ही कोई न कोई विनिमय दर स्थापित होगी। वास्तव मे यह विनिमय दर एक ऐसा माध्यम प्रस्तुत करेगी जिससे दोनो प्रदेशो की परस्पर मागे उनकी कीमतो पर प्रभाव डालेंगी। अत विनिमय दर एक अतिरिक्त तत्व प्रस्तुत करेगी जिसका प्रभाव दोनो देशो के बीच होने वाले व्यापार पर निश्चय ही पडेगा। दोनो प्रदेशो मे पाये जाने वाले साधनो के कीमत-अन्तर विनिमय-दर के माध्यम से वस्तु कीमतो के निपेक्ष अन्तरो मे परिवर्तित हो जायेगे। इस प्रकार विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो के कारण साधन-कीमतो मे भी परिवर्तन होगे और साधन-कीमतो के ये परिवर्तन आगे चलकर वस्तु-कीमतो मे

अन्तरों का कारण बनेंगे। इस प्रकार अन्तर-प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर विनिमय-दर का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इसे निम्न सारिणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

सारिणी

विनिमय दर एवं साधन कीमतें

(Exchange Rate and Factor Prices)

उत्पादन साधन	साधन कीमतें बंगला देश टकों में	साधन कीमतें भारतीय रुपयों में	भारत में साधन कीमत जबकि विनिमय-दर एक बंगला देशी टका =दो भारतीय रुपये	भारत में साधन कीमत जब विनिमय-दर एक बंगला देशी टका=तीन भारतीय रुपये
1	2	3	4	5
A	एक टका	0 30	0 60	0 90
B	,,	0 40	0 80	1 20
C	,,	0 50	1 00	1 50
D		0·60	1 20	1 80
E		0 70	1 40	2 10
F	,,	0 80	1 60	2·40

स्तम्भ न 1 में हमने दोनो देशो मे पाये जाने वाले A, B C D, E, F उत्पादन-साधनो को व्यक्त किया है। स्तम्भ न० 2 तथा 3 दोनो देशो मे इन साधनो की कीमतो को प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि सारिणी से स्पष्ट है दोनो देशों मे साधनो की कीमतें भिन्न हैं। बगला देश मे विभिन्न साधनो की कीमतें समान है अर्थात् प्रत्येक साधन की कीमत एक टका के बराबर है। इसके विपरीत, भारत मे विभिन्न साधनो की कीमत अलग-अलग हैं। भारत मे साधन A सबसे सस्ता है जबकि F सबसे महगा है लेकिन व्यापार के लिए साधनो का *सापेक्ष सस्तापन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता* जितना कि समान मौद्रिक इकाई के रूप मे उनका निर्पेक्ष सस्तापन होता है। यह दोनो देशो के बीच विनिमय दर पर निर्भर करता है। स्तम्भ न० 4 एव 5 भारत मे साधन कीमतो को बगला देश की टका मुद्रा के रूप मे व्यक्त करते है। आइये हम अपना ध्यान स्तम्भ न० 4 पर केन्द्रित करें। साधन A तथा B बगला देश की अपेक्षा भारत मे सस्ते हैं। लेकिन साधन D E F बगला देश की अपेक्षा भारत मे मँहगे हैं। इस प्रकार जब दोनो देशो के बीच विनिमय दर एक बगला देश टका= दो भारतीय रुपये होती है तो प्रथम दो साधन भारत मे सस्ते पडते है और अंतिम तीन साधन भारत मे मँहगे पडते हैं। आइये अब हम मान लें कि दोनो देशो के बीच विनिमय की दर है एक बगला देश टका=तीन भारतीय रुपये (स्तम्भ न० 5 को देखिए) अब इस परिस्थिति मे A साधन बग्ला देश की अपेक्षा भारत मे सस्ता है लेकिन अन्य सभी साधन बगला देश की तुलना मे भारत मे मँहगे पडते हैं। ऐसी परिस्थिति मे भारत उन वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त करेगा जिसमे सस्ते साधन अथवा A का प्रयोग अधिक पैमाने पर किया जाता है। इसके विपरीत बगला देश उन वस्तुओ का उत्पादन करेगा जिनके लिए B, C, D E, F साधनो की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार *सस्ते साधनो से निर्मित वस्तुएँ निर्यात बन जाती हैं जबकि मँहगे साधनो* द्वारा निर्मित वस्तुएँ दूसरे देश से आयात की जाती हैं। इस प्रकार विनिमय दर प्रदर्शित करती है कि दोनो देशो मे कौन से साधन सस्ते तथा कौन से मँहगे हैं। विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप दोनो देशो मे साधनो एव वस्तुओ की कीमतें अलग अलग होगी लेकिन स्मरण रहे कि विनिमय दर की अपनी कोई स्वतन्त्र भूमिका नही होती। दूसरे शब्दो मे, विनिमय दर अन्तर-प्रादेशिक *अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार एव कीमतो का अन्तिम निर्धारक* नही होती। सत्य तो यह है कि विनिमय-दर एक प्रकार का माध्यम होती है। यह तो दोनो देशो की परस्पर माँगो से स्वय निर्धारित होती है। यदि साधनो की पूर्ति एव उनकी घरेलू माँग तथा दोनों देशो की एक दूसरे की वस्तुओ की माँग पहले से ही दी हुई (given) है तो उनके बीच विनिमय दर ऐसी होगी जो आयातो और निर्यातो के मूल्यो मे समानता स्थापित करदे।

आइये, अब हम यह मान लें कि बंगला देश और भारत के बीच विनिमय दर, बंगला देश एक टका=दो भारतीय रुपये पर निश्चित होती है। यह स्पष्ट ही है इस विनिमय दर पर बंगला देश की अपेक्षा A तथा B साधन भारत में सस्ते पड़ते हैं। अतः भारत उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनमें इन दोनों साधनों का उपयोग किया जाता है। भारत में A तथा B साधनों के तुलनात्मक सस्तेपन के कारण इन वस्तुओं का उत्पादन बंगला देश की अपेक्षा भारत में सस्ते दामों पर होगा। इसके विपरीत, बंगला देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनमें D, E तथा F का प्रयोग होता है क्योंकि ये साधन भारत की अपेक्षा बंगला देश में सस्ते पड़ते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि ये वस्तुएं भारत की अपेक्षा बंगला देश में सस्ती होंगी। इस उदाहरण में बंगला देश द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तुएँ भारत की अपेक्षा संख्या में अधिक होंगी क्योंकि बंगला देश को D, E तथा F साधनों में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है जबकि भारत को केवल A तथा B में ही यह तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। परिणामतः भारतीय लोग बंगला देश से अधिक मात्रा में वस्तुएं खरीदेंगे लेकिन बंगला देश के लोग भारत से इतनी अधिक मात्रा में वस्तुएँ नहीं खरीदेंगे क्योंकि भारत को केवल दो ही साधनों में तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। परिणामतः भारतीयों की बंगला देश की मुद्रा की माँग काफी बढ़ जायेगी क्योंकि उन्हें बंगला देश से इच्छित वस्तुओं का आयात करने के लिए अधिक मात्रा में बंगला देश की मुद्रा की आवश्यकता होगी। लेकिन भारतीयों के पास बंगला देश की मुद्रा की पूर्ति कम ही होगी क्योंकि भारत द्वारा बंगला देश को भेजे गये निर्यातों की मात्रा कम ही रहती है। अतः विनिमय दर बंगला देश के अनुकूल हो जायेगी। अब एक बंगला देशी टका अधिक भारतीय रुपयों के बराबर होगा। मान लीजिए अब एक बंगला देशी टका भारत के तीन रुपयों के बराबर हो जाता है जबकि पहले वह दो रुपयों के तुल्य ही था। यदि भारतीयों की बंगला देश के माल की माँग और अधिक बढ़ती है तो विनिमय दर और अधिक बढ़ जायेगी और बढ़ती ही चली जायेगी जब तक कि वह एक ऐसे स्तर पर नहीं पहुँच जाती जहाँ पर आयातों का मूल्य निर्यातों के बिलकुल समान हो जाता है।

इस प्रकार अन्तर प्रादेशिक व्यापार का मूल कारण दोनों प्रदेशों के बीच उत्पादन-साधनों की पूर्तियों में पाये जाने वाले अन्तर ही होते हैं। विभिन्न प्रदेशों में उत्पादन साधनों की भिन्नताओं के कारण ही अन्तर-प्रादेशिक व्यापार एवं विशेषज्ञता का प्रारम्भ होता है। कतिपय उत्पादन साधनों की सापेक्ष प्रचुरता से अभिप्राय केवल उन साधनों के सस्तेपन से ही नहीं है बल्कि उन वस्तुओं के सस्तेपन से भी होता है जिनके उत्पादन में इन सस्ते साधनों का बड़े पैमाने पर प्रयोग होता है। इस प्रकार अन्तर-प्रादेशिक व्यापार निरपेक्ष कीमत अन्तरों (absolute price differences) के कारण ही होता है। जैसे ही दोनों प्रदेशों के बीच विनिमय दर स्थापित हो जाती है, प्रत्येक प्रदेश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेता है जिनके लिए उसके प्राकृतिक साधन उपयुक्त होते हैं। आगे चलकर यह प्रदेश उन वस्तुओं का विनिमय दूसरे प्रदेश की उन वस्तुओं से करता है जिनके उत्पादन में उस प्रदेश को तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों प्रदेशों में उत्पादन साधनों की सापेक्ष दुर्लभतायें (relative scarcities) ही अन्तर प्रादेशिक व्यापार का मूल कारण होती हैं। प्रो॰ बर्टिल ओहलिन के शब्दों में 'अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत प्रचुर साधनों का विनिमय दुर्लभ साधनों से किया जाता है।'[1]

सिद्धान्त का परिष्कार (Refinement of the Theory)—अन्तर प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के मूल कारण की व्याख्या करने के उपरान्त बर्टिल ओहलिन ने अपने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में कुछ सुधार एवं परिष्कार भी किये थे।

(1) प्रारम्भ में, उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के मूल कारण की व्याख्या दो देशों अथवा दो प्रदेशों को लेकर की थी। लेकिन उनका दावा है कि उनका यह सिद्धान्त दो से अधिक प्रदेशों अथवा देशों पर भी लागू होता है। उनके कथनानुसार यदि इस सिद्धान्त को दो से अधिक देशों अथवा प्रदेशों

---

1 P T Ellsworth, *International Economics*, p 101

पर भी लागू किया जाय तो इससे सिद्धान्त के मुख्य निष्कर्षों मे कोई अन्तर नही पड़ता। बस, सिद्धान्त की व्याख्या तनिक जटिल हो जाती है।

(2) उन्होने बडे पैमान के उत्पादन की बचतो को भी अपने सिद्धान्त मे सम्मिलित किया है और उनका यह दावा है कि इन बचतो को सिद्धान्त मे सम्मिलित करने से अन्तर-प्रादेशिक व्यापार के लिये एक अतिरिक्त आधार उत्पन्न हो जाता है। बडे पैमाने की बचतें दो प्रदेशो के बीच कीमत अन्तरो को सृजित ही नही करती, बल्कि उनको बढा भी देती हैं। इसमे अन्तर प्रादेशिक व्यापार को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

(3) प्रारम्भ मे, बर्टिल ओहलिन ने अपने सिद्धान्त का निर्माण इस आधार पर किया था कि उत्पादन-साधनो म गुणात्मक भिन्नताएँ (qualitative differences) नही पायी जाती लेकिन बाद मे चलकर उन्होने इस मान्यता का परित्याग कर दिया था। अब उन्होन मान लिया था कि उत्पादन के तीन साधनो जैसे भूमि, श्रम एव पूँजी मे गुणात्मक अन्तर पाये जाते हैं लेकिन उनका यह कहना था कि उत्पादन साधनो के उपर्युक्त गुणात्मक अन्तरो को मान्यता देने पर भी उनके सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नही पडता। उनका यह कहना था कि अन्तर प्रादेशिक तुलनाओ के लिए इन साधनो को सरलतापूर्वक विभिन्न वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(4) प्रो० ओहलिन के इस सिद्धान्त का प्रारम्भिक विवरण इस मान्यता पर आधारित था कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे परिवहन-लागतें नही होती। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विश्लेषण को सरल बनाने के दृष्टि से ही उन्होने यह मान लिया था कि परिवहन लागत नही होती। आगे चलकर ओहलिन ने इस मान्यता का परित्याग कर दिया था और परिवहन लागतो का अपने विश्लेषण मे सम्मिलित कर लिया था। लेकिन परिवहन लागतो को विश्लेषण मे सम्मिलित करने पर भी अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा था। परिवहन-लागतें दो प्रदेशो के बीच पाये जाने वाले कीमत-अन्तरो म कमी कर देती हैं। अत उनके कारण अन्तर-प्रादेशिक अथवा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कमी हो जाती है।

(5) बर्टिल ओहलिन ने अपने सिद्धान्त मे साधनो की अन्तर प्रादेशिक गतिशीलता मे पायी जाने वाली बाधाओ की भी व्याख्या की है और उन्होंने यह बतलाया है कि किस प्रकार उत्पादन साधनो का आवागमन वस्तुओ के आवागमन का स्थान ले सकता है।

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव
(Effects of International Trade)

बर्टिल ओहलिन का ही अनुकरण करते हुए अब हम अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कुछ महत्वपूर्ण प्रभावो की व्याख्या करेंगे।

(1) **वस्तु कीमतों की समानता (Equality of Commodity Prices)**—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पडता है कि इसके परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे वस्तुओ की कीमतो मे समानता स्थापित हो जाती है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओ का स्थानान्तरण प्रचुरता वाले क्षेत्रो से दुर्लभता वाले क्षेत्रों की ओर होता है। परिणामत प्रचुरता वाले क्षेत्रो मे कीमतो की वृद्धि होती है जबकि दुर्लभता वाले क्षेत्रो म कीमतो की कमी होती है। इससे विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे वस्तुओ की कीमतो मे समानता स्थापित हो जाती है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नही है कि विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे वस्तु कीमतो की पूर्ण समानता स्थापित हो जाती है। इसका कारण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह मे आयात-करो एव परिवहन लागतो जैसी अनेक बाधायें होती हैं।

(2) **साधन कीमतों की समानता (Equality of Factor Prices)** —अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का एक अन्य प्रभाव यह पडता है कि इससे विश्व के सभी प्रदेशो के साधन-कीमतो की समानता उत्पन्न हो जाती है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप प्रदेश मे दुर्लभ साधनो की माँग घट जाती है क्योंकि जिन वस्तुओ के उत्पादन मे उन साधनो का प्रयोग होता है, उन्हें देश के भीतर उत्पादित न करके विदेशों से आयात किया जाता है। परिणामत इन साधनो की कीमतें गिर जाती हैं। इसके विपरीत, उस प्रदेश मे प्रचुर साधनो की माँग बढ जाती है क्योंकि इन साधनो का

प्रयोग घरेलू बाजार हेतु वस्तुओ का उत्पादन करने मे ही नही, बल्कि विदेशी बाजारो हेतु उत्पादन के लिए भी किया जाता है। परिणामत इन साधनो की कीमतें बढ जाती है। ऐसी ही प्रक्रिया दूसरे प्रदेश मे भी कार्यशील होती है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनो प्रदेशो मे साधनो की कीमतो मे समानता स्थापित हो जाती है।

लेकिन साधन कीमतो मे पूर्ण समानता दो कारणो से स्थापित नही हो सकती। प्रथम, कतिपय कारणो से किसी एक साधन की मॉग एव पूर्ति के बीच पूर्ण समन्वय स्थापित करना सम्भव नही होता है। उदाहरणार्थ, श्रम की मॉग एव पूर्ति मे कतिपय स्थानीय कारणो से सामजस्य स्थापित नही किया जा सकता। मान लीजिए कि किसी देश मे श्रम का बाहुल्य है लेकिन श्रम की यह प्रचुरता देश के किसी एक विशेष क्षेत्र मे केन्द्रित है। अब ऐसे क्षेत्र मे श्रमिको की मजदूरियाँ तब तक नही बढेंगी जब तक श्रम का उपयोग करने वाले उद्योगो को उस विशिष्ट क्षेत्र मे स्थापित नही किया जाता। दूसरे शब्दो मे, यदि मजदूरियो मे वृद्धि करनी है और उन्हे अन्य श्रम-अभाव वाले क्षेत्रो की मजदूरियो के समतुल्य बनाना है तो श्रम की मॉग को उस विशिष्ट क्षेत्र मे ही केन्द्रित करना होगा। दूसरे, यदि साधन-कीमतो मे कुछ समानता स्थापित हो जाती है तो वह अधिक समय तक टिक नही सकेगी। यदि सभी देशो मे साधन कीमतें एक समान हो जाती हैं तो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का आधार ही समाप्त हो जायेगा। स्मरण रहे, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तभी होता है जब विभिन्न देशो की साधन-कीमतो मे अन्तर पाये जाते हैं। साधन-कीमतो के ये अन्तर यदि समाप्त हो जाते है तो अन्तरराष्ट्रीय व्यापार भी ठप्प हो जायेगा। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की इस समाप्ति के परिणामस्वरूप दोनो प्रदेशो मे प्राकृतिक साधनो की मूल विषमतायें पुन उत्पन्न हो जायेंगी।

(3) **अन्तरराष्ट्रीय विशेषज्ञता के लाभ** (Advantages of International Specialisation) अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप श्रम विभाजन अथवा विशेषज्ञता उत्पन्न हो जाती है। उत्पादन-साधनो का समुचित उपयोग होता है तथा वास्तविक उत्पादन मे अधिकतम वृद्धि होती है। प्रत्येक प्रदेश अपने उत्पादन साधनो का अत्यन्त दक्षता से उपयोग करता है। प्रत्येक प्रदेश अपने साधनो का उन वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयोग करता है जिनके लिए वे उपयुक्त होते हैं। इस प्रकार उत्पादित की गई वस्तुओ का वह प्रदेश अन्य प्रदेशो की उन वस्तुओ से विनिमय करता है जहाँ वे वस्तुएँ सस्ते दामो पर उपलब्ध होती हैं। अत भौगोलिक विशेषज्ञता के परिणामस्वरूप सभी देश अपने उत्पादन मे अधिकतम वृद्धि करके लाभ उठाते हैं।

(4) **मॉग की मात्रा एवं इसके स्वरूप पर प्रभाव** (Effect on the Volume and Nature of Demand)—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार वस्तुओ की मॉग को दो प्रकार से प्रभावित करता है। प्रथम, यह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे भाग लेने वाले प्रदेशो के निवासियो की आय मे वृद्धि करके मॉग की मात्रा को बढाता है। दूसरे, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशो के बीच सम्पर्क स्थापित करके मॉग के स्वरूप को ही बदल देता है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अभाव मे लोगो की मॉग केवल उन वस्तुओ तक ही सीमित रहती है जो घरेलू बाजार मे उपलब्ध होती है। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप लोगो की आकाक्षाओ एव उनके आस्वादो मे परिवर्तन हो जाते है और वे उन वस्तुओ की भी मॉग करने लगते हैं जिनका आयात केवल विदेशो से ही किया जा सकता है। प्रो० एल्सवर्थ (Ellsworth) के शब्दो मे "यदि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार न होता तो अमरीकियो का राष्ट्रीय पेय कॉफी के बजाय पोस्टम होता। यदि सिनेमा फिल्मो का आयात न होता तो ब्रिटेन-वासी होलीवुड के विभिन्न दृश्यो का आनन्द न उठा पाते"।[1]

(5) **आधुनिक उद्योगवाद** (Modern Industrialism)—अन्तरराष्ट्रीय व्यापार वह मूल शक्ति है जिसने विश्व मे उद्योगवाद को प्रोत्साहित किया है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के अभाव मे आधुनिक औद्योगिक समाज की स्थापना नही हो सकती थी। व्यापक बाजार प्रस्तुत करके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार ने विशालस्तरीय उत्पादन एव यन्त्रीकरण को सम्भव बनाया है। इसने उद्योग

---

1 P. T. Ellsworth, *International Economics*, p. 121.

धन्धो मे तकनीकी आविष्कारो को भी प्रोत्साहित किया है। यही नही, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार ने मानव के हितार्थ खनिज साधनो का उपयोग करने मे भी सहायता दी है। इसके परिणामस्वरूप कृषि एव उद्योग धन्धो मे लगे श्रमिको की कार्यदक्षता मे भी सुधार हुआ है। वास्तव मे, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के बिना वर्तमान औद्योगिक समाज मध्ययुगीन (mediaeval) ही होता।

अन्तर प्रादेशिक साधनों एवं वस्तुओं का आवागमन
(Inter-regional Factor and Commodity Movements)

उत्पादन के विभिन्न साधनो मे भूमि सबसे अधिक अगतिशील है लेकिन श्रम एव पूँजी इतने अगतिशील नही होते जितनी कि भूमि। श्रम एव पूँजी एक स्थान से दूसरे स्थान, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तथा एक उद्योग से दूसरे उद्योग को स्थानान्तरित होते रहते है। लेकिन श्रम एव पूँजी की यह गतिशीलता किसी भी अर्थ मे पूर्ण नही होती। वास्तव मे श्रम के आवागमन में कई प्रकार की बाधायें होती है। सत्य तो यह है कि व्यवसायो एव स्थानो को बदलने के प्रति श्रम की मनोवैज्ञानिक अरुचि होती है। सामाजिक, सास्कृतिक एव भाषा सम्बन्धी तत्व श्रम की गतिशीलता को अवरुद्ध करते हैं। लेकिन श्रम की गतिशीलता के मार्ग मे सबसे गम्भीर बाधा तो आवागमन पर होने वाला वित्तीय व्यय होता है। श्रम की भांति पूँजी भी पूर्णतया गतिशील नही होती। पूँजी की गतिशीलता मे भी मुख्य बाधा मनोवैज्ञानिक ही होती है। साधारणत पूंजीपति दूरस्थ स्थानो मे अथवा विदेशो मे अपनी पूँजी लगाने के अनिच्छुक होते हैं क्योकि वे किसी प्रकार का जोखिम नहीं उठाना चाहते। वास्तव मे, विदेशो मे पूँजी लगाना जोखिमपूर्ण होता है क्योकि वहाँ इस बात की सदैव सम्भावना रहती है कि कही उसका राष्ट्रीयकरण न कर दिया जाय अथवा उसे जब्त न कर लिया जाय।

लेकिन उपर्युक्त बाधाओ के बावजूद भी श्रम एव पूँजी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर स्थानान्तरित होते रहते है। इसका मुख्य कारण मजदूरियों तथा ब्याज दरो मे अन्तरो का होना है। श्रम एव पूँजी कम पारिश्रमिक वाले क्षेत्रो से ऊँचे पारिश्रमिक वाले क्षेत्रो को स्थानान्तरित होते है। दूसरे शब्दो मे, श्रम एव पूंजी उस क्षेत्र से (जहाँ उनकी पूर्ति अधिक होती है) उस दूसरे क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होते है (जहाँ उनकी पूर्ति दुर्लभ होती है)। इस अन्तर-प्रादेशिक गतिशीलता के परिणामस्वरूप साधनो की कीमतो मे समानता स्थापित हो जाती है।

अब हम साधनो के आवागमन (Movements) एव वस्तुओ के आवागमन के परस्पर सम्बन्ध की विवेचना करेंगे। वस्तुओ का आवागमन (अथवा व्यापार) साधनो के आवागमन को अनावश्यक बना देता है। व्यापार की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही वस्तुओ एव साधनो की कीमतो में समानता अधिक होगी। साधनो की कीमतो मे जितनी समानता अधिक होगी, उतना ही उनका आवागमन कम होगा। इस प्रकार वस्तुओ का आवागमन साधनों के आवागमन का स्थान ले लेता है। यह तो चित्र का एक ही पहलू है लेकिन इसका दूसरा पहलू भी उतना ही सही है। साधनो का आवागमन भी कभी कभी वस्तुओ के आवागमन का स्थान ग्रहण कर लेता है। यदि प्राकृतिक साधनो मे अन्तर-प्रादेशिक भिन्नतायें पायी जाती है तो दो प्रदेशो के बीच साधन-कीमतो मे निश्चय ही अन्तर होंगे। साधन कीमतो के अन्तरो के परिणामस्वरूप दोनो प्रदेशोके बीच उनका आवागमन होगा। साधनो के इस आवागमन के परिणामस्वरूप उनकी कीमतो मे समानता स्थापित हो जायेगी। साधन कीमतो मे समानता होने के परिणामस्वरूप वस्तु-कीमतो मे भी समानता स्थापित हो जायेगी। वस्तु कीमतो की इस समानता से अन्तर-प्रादेशिक व्यापार की मात्रा स्वत ही घट जायेगी। इस प्रकार साधनों का आवागमन, वस्तुओ के आवागमन के स्थान को ग्रहण कर लेगा। सक्षेप मे, वस्तुओ का आवागमन तथा साधनो का आवागमन एक दूसरे के स्थानापन्न है।

परीक्षा प्रश्न एवं उनके संक्षिप्त संकेत

1 "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार अन्तर-स्थानीय अथवा अन्तर-प्रादेशिक व्यापार की ही विशेष अवस्था है।"(बर्टिल ओहलिन) विवेचना कीजिए।

"International trade is but a special caseof inter-local or inter-regional trade." (Bertil Ohlin), Discuss.

[संकेत—क्लासीकल अर्थशास्त्री अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के एक पृथक सिद्धान्त का विकास करने क पक्ष मे थे । लेकिन बर्टिल ओहलिन उनसे सहमत नही थे । ओहलिन के अनुसार जो विश्लेषण अन्तर-प्रादेशिक व्यापार पर लागू होता है उसी मे थोडा सशोधन करके उस अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू किया जा सकता है । यहाँ पर आप उन सभी तर्कों को प्रस्तुत कीजिए जो क्लासीकल अथशास्त्रियो ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त के पक्ष मे दिये थ । आप यह भी बतलायें कि ओहलिन ने उन तर्कों का खण्डन किस प्रकार किया था।]

2 मूल्य के सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

[संकेत—यहाँ पर आप एकाकी बाजार को लेकर मूल्य के सामान्य सतुलन सिद्धान्त की विवेचना कीजिए । (उपर्युक्त अध्याय को देखिये) ।]

3 बर्टिल ओहलिन के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

[संकेत—मूल्य के सामान्य सतुलन सिद्धान्त की संक्षिप्त चर्चा करते हुए आप यह स्पष्ट कीजिए कि बर्टिल ओहलिन ने किस प्रकार इस सिद्धान्त को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया था । उनके अनुसार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का मूल कारण विभिन्न प्रदेशो मे उत्पादन साधनो की पूर्ति मे पायी जाने वाली भिन्नतायें होती है । (उपर्युक्त अध्याय को देखिये) ।]

4 वस्तुओ का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार उत्पादन साधनो के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन का स्थानापन्न होता है । विवेचना कीजिए ।

[संकेत—वस्तुओ के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे जब वृद्धि होती है तो उससे वस्तु कीमतो एव साधन कीमतो मे समानता स्थापित हो जाती है । इससे उत्पादन साधनो का अन्तरराष्ट्रीय आवागमन अनावश्यक हो जाता है । (देखिये उपर्युक्त अध्याय) ।]

18

भुगतान का सन्तुलन
(Balance of Payments)

भुगतान-सन्तुलन या अदायगी शेष (*balance of payments*) तथा व्यापार-सन्तुलन (balance of trade) में अन्तर है। **व्यापार-सन्तुलन किसी देश के आयातों तथा निर्यातों के अन्तर की ओर संकेत करता है।** जब किसी देश के निर्यात उसके आयातों की तुलना में अधिक होते हैं, तब उसका व्यापार सन्तुलन अनुकूल (favourable) होता है। इसके विपरीत जब किसी *देश के आयात उसके निर्यातों की अपेक्षा अधिक होते हैं तब उसका व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल* (unfavourable) होता है। परन्तु भुगतान सन्तुलन, व्यापार-सन्तुलन से भिन्न होता है। **भुगतान-सन्तुलन में व्यापार-सन्तुलन के अतिरिक्त और भी कई मदें सम्मिलित की जाती हैं।** इसका कारण यह है कि दो देशों के बीच वस्तुओं के आयात निर्यात के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के लेन-देन होते हैं, ***इसलिए भुगतान सन्तुलन में व्यापार-सन्तुलन के अतिरिक्त बीमा, जहाजी भाड़े, बैंक शुल्क, पूंजी एवं ब्याज का हस्तान्तरण तथा अन्य सेवाओं के पुरस्कारों को भी*** सम्मिलित किया जाता है। व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन के अन्तर को समझने के लिए प्रत्यक्ष व्यापार (direct trade) तथा अप्रत्यक्ष व्यापार (indirect trade) के अन्तर को समझना भी आवश्यक है। **प्रत्यक्ष व्यापार में उन आयातों तथा निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित किया जाता है।** इस प्रकार की मदों को विदेशी व्यापार की दृश्य मदें (visible items) कहते हैं। **अप्रत्यक्ष व्यापार में वे आयात तथा निर्यात सम्मिलित होते हैं जिन्हें बन्दरगाहों पर लेखांकित नहीं किया जाता है।** इस प्रकार की मदों को विदेशी व्यापार की अदृश्य मदें (invisible items) कहते हैं। **व्यापार-सन्तुलन में केवल विदेशी व्यापार की दृश्य मदों को ही सम्मिलित किया जाता है जबकि भुगतान सन्तुलन में दृश्य तथा अदृश्य दोनों प्रकार की मदों को सम्मिलित किया जाता है।** इस प्रकार भुगतान-सन्तुलन व्यापार-सन्तुलन की तुलना में अधिक विस्तृत धारणा है। भुगतान-*सन्तुलन को कभी कभी खाते का सन्तुलन (balance of account) तथा अन्तरराष्ट्रीय ऋण का* सन्तुलन (balance of international indebtedness) भी कहा जाता है। व्यापार सन्तुलन की भांति भुगतान-सन्तुलन भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो सकता है।

व्यापार सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन का सापेक्षिक महत्त्व—*व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान सन्तुलन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।* वास्तव में, किसी देश की आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस देश के भुगतान-सन्तुलन का अध्ययन किया जाता है, व्यापार सन्तुलन का नहीं। व्यापार-सन्तुलन तो भ्रमपूर्ण होता है। उससे देश की आर्थिक स्थिति के बारे में सही-सही जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व ब्रिटेन के प्रति भारत का व्यापार सन्तुलन बहुत अनुकूल हुआ करता था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत एक समृद्धशाली देश था। इसके विपरीत ब्रिटेन का भारत के प्रति व्यापार-सन्तुलन बहुत प्रतिकूल हुआ करता था, यद्यपि ब्रिटेन एक अत्यन्त विकसित तथा समृद्धशाली देश था। इस प्रकार किसी देश के व्यापार सन्तुलन के अध्ययन से ही उस देश की आर्थिक स्थिति के बारे में सही जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। सही जानकारी प्राप्त करने के लिए तो हमें उस देश के भुगतान सन्तुलन का

अध्ययन करना होगा। दूसरे विश्वयुद्ध से पूर्व ब्रिटेन के प्रति भारत का भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हुआ करता था। भुगतान-सन्तुलन की यह प्रतिकूलता इस बात का स्पष्ट प्रमाण थी कि भारत आर्थिक दृष्टि से एक बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था। भारत ब्रिटेन से वस्तुओ के अतिरिक्त कई प्रकार की सेवाओ का भी आयात किया करता था। जैसा ऊपर बताया गया है, इस प्रकार की सेवाओ का बन्दरगाहो पर लेखांकन नही होता। इन सेवाओ का मूल्य चुकाने के लिए भारत को बड़े पैमाने पर ब्रिटेन को वस्तुओ का निर्यात करना पड़ता था। इसके विपरीत, ब्रिटेन का भारत के प्रति भुगतान सन्तुलन बहुत ही अनुकूल था, क्योंकि ब्रिटेन भारत को बैंकिंग, बीमा, जहाज सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करता था और इन सेवाओ के बदले वह भारत से वस्तुएँ प्राप्त करता था। इस प्रकार हम देखते है कि भुगतान-सन्तुलन के अध्ययन से ही किसी देश की वास्तविक स्थिति का पता चलता है। भारत के पिछड़ेपन के कारण इसका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल था और ब्रिटेन के अत्यन्त विकसित होने के कारण उसका भुगतान-सन्तुलन अनुकूल था। अत भुगतान सन्तुलन की अनुकूलता या प्रतिकूलता से ही देश की आर्थिक स्थिति के बारे मे आभास होता है।

भुगतान-सन्तुलन की मदें

(Items of Balance of Payments)

भुगतान सन्तुलन की गणना करते समय देश के सभी विकलनो (ऋण) (debits) तथा सभी समाकलनो (credits) को सम्मलित किया जाता है। किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रदर्शित करने के लिए एक विवरण (statement) तैयार किया जाता है। इसके बायी ओर सभी प्रकार के निर्यातो (दृश्य एव अदृश्य दोनो प्रकार के निर्यातो) तथा उनके मूल्यो का विस्तारपूर्वक ब्यौरा दिया जाता है और दायी ओर सभी आयातो (दृश्य तथा अदृश्य दोनो प्रकार के आयातो) तथा उनके मूल्यो का विस्तारपूर्वक ब्यौरा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार बायी ओर के विवरण के मूल्यो का योग वह राशि होती है जो उस देश को विदेशो से प्राप्त होती है और दायी ओर के विवरण के मूल्यो का योग वह राशि होती है जिसे वह देश विदेशो को देता है। बायी ओर की राशि तथा दायी ओर की राशि के अन्तर से भुगतान-सन्तुलन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यदि बायी ओर की राशि दायी ओर की राशि से अधिक है तो भुगतान सन्तुलन अनुकूल होगा। इसके विपरीत, यदि दायी ओर की राशि बायी ओर की राशि से अधिक है तो भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल होगा। भुगतान सन्तुलन के विवरण का एक नमूना निम्न प्रकार है

भुगतान सन्तुलन का विवरण (रुपयो मे)

	लेन या निर्यात (Credits)		देन या आयात (Debits)
1	वस्तुओ का निर्यात	1	वस्तुओ का आयात
2	सेवाओ के निर्यात से विदेशो से प्राप्त होने वाली आय	2	सेवाओ के आयात का विदेशो को भुगतान
	(क) व्यापारिक कम्पनियो द्वारा की गयी सेवाएँ		(क) व्यापारिक कम्पनियो द्वारा की गयी सेवाएँ
	(ख) विशेषज्ञो की सेवाएँ		(ख) विशेषज्ञो की सेवाएँ
	(ग) यात्रियो की सेवाएँ		(ग) यात्रियो की सेवाएँ
3	विदेशी ऋण तथा पूंजी से प्राप्त आय, मूलधन, ब्याज तथा लाभ	3	विदेशी ऋण तथा पूंजी का भुगतान, मूलधन, ब्याज तथा लाभ
4	विदेशी सरकारो द्वारा देश मे किया गया व्यय	4	सरकार का विदेशों मे किया गया व्यय
5.	लोगो के आवसन से प्राप्त होने वाला धन	5	लोगो के उत्प्रवास के कारण विदेशो को जाने वाला धन
6	विदेशो से प्राप्त दण्ड, दान, क्षतिपूर्ति आदि	6.	विदेशो को दिया गया दण्ड, दान, क्षति पूर्ति आदि

अब हम उपर्युक्त विवरण मे सम्मिलित की गयी विभिन्न मदो का अध्ययन करेंगे :

(1) **वस्तुओ का आयात-निर्यात**—किसी देश के निर्यातो तथा आयातो का उसके भुगतान सन्तुलन पर गहरा प्रभाव पडता है। इन आयातो तथा निर्यातो मे केवल वस्तुएँ ही नही, बल्कि सोना-चाँदी आदि भी सम्मिलित हैं।

(2) **सेवाएँ**– जैसा विदित, है कुछ देश अन्य देशो को वस्तुओ का निर्यात करने के अतिरिक्त उनके लिए अनेक प्रकार की सेवाएं भी करते हैं और इन सेवाओ के बदले उनसे मूल्य प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की सेवाएँ अदृश्य आयात-निर्यात मे सम्मिलित की जाती हैं। मुख्यत . ये सेवाएँ दो प्रकार की होती हैं (क) **व्यापारिक कम्पनियों द्वारा की गयी सेवाएँ**—किसी देश की व्यापारिक कम्पनियां, बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा जहाजी कम्पनियां, जब किसी अन्य देश के लिए सेवाएँ करती हैं तब इनको इन सेवाओ के बदले शुल्क या कमीशन प्राप्त होता है। जिस देश द्वारा इस प्रकार की सेवाएँ की जाती हैं, उसके लिये अदृश्य निर्यात (invisible exports) हैं और जो देश इन सेवाओ को प्राप्त करता है, उसके लिये ये अदृश्य आयात (invisible imports) है, (ख) **विशेषज्ञों की सेवाएँ**—कभी-कभी एक देश दूसरे देश को अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ भी प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, अमरीका, ब्रिटेन, भारत को समय-समय पर अपने तकनीकी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान करते रहते हैं। इन विशेषज्ञो को उनकी सेवाओ के बदले वेतन चुकाये जाते हैं। जो देश इन विशेषज्ञो की सेवाएँ प्रदान करता है उसके लिये इनकी सेवाएँ अदृश्य निर्यात होती हैं और जिस देश को इनकी सेवाएँ प्राप्त होती हैं, उसके लिये ये अदृश्य आयात होते हैं।

(3) **ऋण व ब्याज का लेन-देन**—कभी-कभी कुछ देश अन्य देशो को अल्पकाल एव दीर्घ काल के लिये ऋण भी देते है। जब एक देश दूसरे देश को ऋण की रकम भेजता है, तब उसके लिये वह अदृश्य आयात होता है। जिस देश को ऋण दिया जाता है उसके लिये वह अदृश्य निर्यात के समान होता है। उसी प्रकार जब ऋण या इसके ब्याज का भुगतान किया जाता है तब ऋण या ब्याज को चुकाने वाला देश ऋणी देश और उसको प्राप्त करने वाला देश ऋण दाता के समान होता है।

(4) **सरकारो का व्यय**—प्रत्येक देश की सरकार दूसरे देशो मे अपने दूतावासो पर कुछ व्यय करती है। इसी प्रकार एक विजेता देश विजित देश से अपनी क्षतिपूर्ति (reparations) वसूल करता है। कभी-कभी दो देशो की सरकारो मे रकमो का लेन-देन भी होता है। इस स्थिति मे जो ऋणदाता (creditor) होता है उसके लिये यह राशि अदृश्य आयात और जो देश ऋणी होता है उसके लिए यह राशि अदृश्य निर्यात के समान होती है।

(5) **लोगों का आवसन-उत्प्रवास**—जब एक देश मे रहने वाला व्यक्ति किसी दूसरे देश मे जाकर बस जाता है तब वह अपने साथ अपना धन तथा जमाराशि ले जाता है। जिस देश से वह व्यक्ति जाता है, उसके लिये यह अदृश्य आयात के समान और जिस देश को धन जाता है उसके लिए यह राशि अदृश्य निर्यात के समान है।

(6) **विदेशो से प्राप्त दण्ड, दान तथा क्षति पूर्ति आदि**—कभी-कभी एक देश दूसरे देश से दण्ड, क्षतिपूर्ति अथवा दान के रूप मे कुछ रकम वसूल करता है। इससे भी उस देश के भुगतान-सन्तुलन पर प्रभाव पड़ता है।

भुगतान-सन्तुलन में असमानता तथा उसके उपचार
(Disequilibrium in Balance of Payments and Its Remedies)

कभी कभी किसी देश के भुगतान-सन्तुलन मे कुछ कारणो से असमानता उत्पन्न हो जाती है तथा इस असमता के कारण उस देश की आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अत: भुगतान-सन्तुलन को इस असमानता को दूर करने के लिए उस देश द्वारा कई प्रकार के उपाय किये जाते है। स्वर्णमान के अन्तर्गत, भुगतान-सन्तुलन की असमानता स्वत ही स्वर्ण के आयात-निर्यात से दूर हो जाया करती थी, परन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे भुगतान सन्तुलन की यह असमानता स्वत ही दूर नही होती, बल्कि इसको दूर करने के लिए सरकार द्वारा सक्रिय कदम उठाये जाते हैं। ये इस प्रकार हैं :

(1) **निर्यातों को प्रोत्साहन देना**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उस देश के निर्यातों को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय। निर्यातों को दो तरीकों से प्रोत्साहित किया जा सकता है (क) **निर्यात करों में कमी**—निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए उन पर लगे करों में भारी कमी कर देनी चाहिये, ताकि विदेशों को ये निर्यात सस्ते पड़ें और वे अधिक से अधिक मात्रा में इन्हें खरीद सकें। (ख) **देश के उद्योगों को आर्थिक सहायता देना**—निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि देश के निर्यात-उद्योगों को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान की जाय, ताकि वे अपनी उत्पादन-लागतों को कम करके विदेशी उद्योगों का मुकाबला कर सकें।

(2) **आयातों में कमी करना**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिये देश के आयातों में कमी करना नितान्त आवश्यक होता है। किसी देश के आयातों को निम्नलिखित उपायों से कम किया जा सकता है —

(i) **नये आयात-कर लगाना तथा पुराने आयात-करों में वृद्धि करना**—आयातों को कम करने के लिये उन पर कर लगाये जाने चाहिये और जिन आयातों पर पहले से ही कर लगे हुए हैं, उनमें वृद्धि कर देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के आयात देश के लिए महँगे हो जाते हैं। परिणामतः उनकी माँग कम हो जाती है।

(ii) **आयात कोटा प्रणाली (Import Quota System)**—देश के आयातों को कोटा प्रणाली द्वारा भी कम किया जा सकता है। इस प्रणाली के भी कई रूप हैं

(क) **लाइसेन्स कोटा प्रणाली (Licence Quota System)**—इसके अन्तर्गत, आयातकर्ताओं को वस्तुएँ आयात करने के लिये लाइसेन्स प्राप्त करने पड़ते हैं, और ये लाइसेन्स सरकार द्वारा देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही दिये जाते हैं।

(ख) **एक-पक्षीय कोटा प्रणाली (Unilateral Quota System)**—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश अपने आयातों पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देता है (1) **विश्व कोटा (Global Quota)**—इसके अन्तर्गत सरकार प्रत्येक आयात की जाने वाली वस्तु का कोटा निश्चित कर देती है। इससे अधिक मात्रा में वस्तु का आयात नहीं किया जा सकता, परन्तु इस मात्रा तक वस्तु का आयात किसी भी देश से किया जा सकता है। (2) **विभाजित कोटा (Allocated Quota)**—इसके अन्तर्गत सरकार न केवल आयात की जाने वाली वस्तु का कोटा ही निश्चित करती है बल्कि यह भी तय कर देती है कि उस कोटे का कितना-कितना भाग विभिन्न देशों से मँगाया जा सकता है।

(iii) **द्विपक्षीय कोटा प्रणाली (Bilateral Quota System)**—इसके अन्तर्गत, आयात की जाने वाली वस्तु का अधिकतम कोटा सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और इस मात्रा तक के आयात पर रियायती दर पर आयात-कर वसूल किया जाता है, परन्तु यदि आयातकर्ता इस कोटे से अधिक मात्रा में वस्तु का आयात करना चाहते हैं, तब उन्हें आयात पर दण्ड के रूप में ऊँचा आयात-कर चुकाना पड़ता है।

(3) **मुद्रा-अवमूल्यन (Currency Devaluation)**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिये कभी कभी मुद्रा-अवमूल्यन का भी सहारा लिया जाता है। मुद्रा अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रय शक्ति को कम करने से है, अर्थात् विदेशी मुद्रा के रूप में देश की मुद्रा का मूल्य कम कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के निर्यात सस्ते हो जाने के कारण प्रोत्साहित होने लगते हैं। इसके विपरीत, मुद्रा-अवमूल्यन से देश के आयात महँगे होकर हतोत्साहित होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में कम कर दिया जाता है तो विदेशों में उस देश की मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में, विदेशों से आयात किया गया माल महँगा पड़ता है और इसी कारण देश के आयात हतोत्साहित होने लगते हैं। इसके विपरीत, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्राओं की अवमूल्यित मुद्रा के रूप में क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। परिणामतः विदेशी लोग उस देश से अधिक मात्रा में वस्तुओं का आयात करने लगते हैं। इससे उस देश के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। सितम्बर 1949 में भारत ने अपने भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर

करने के लिए रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। अवमूल्यन से पूर्व भारतीय रुपये का डालर मूल्य 30·25 सेण्ट था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय रुपया 21 सेण्ट के बराबर हो गया था। भारतीय रुपये के इस अवमूल्यन से भारत के निर्यातों को प्रोत्साहन मिला था। इसका कारण यह था कि अवमूल्यन से पूर्व एक अमरीकी व्यापारी को 30 सेण्ट खर्च करने पर एक रुपया मिलता था। अवमूल्यन के पश्चात् अब केवल 21 सेण्ट के बदले में ही अमरीकी व्यापारी को एक रुपया मिलने लगा। परिणामत भारतीय माल अमरीका मे सस्ता हो गया। इसके विपरीत, अवमूल्यन से पूर्व एक भारतीय व्यापारी को 1 रुपये के बदले मे 30 सेण्ट उपलब्ध होते थे, परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् उसे 1 रुपये के बदले मे केवल 21 सेण्ट ही मिलने लगे। इससे अमरीकी माल भारत मे महँगा हो गया। इस प्रकार मुद्रा अवमूल्यन से देश के आयातों मे कमी होती है और निर्यातो मे वृद्धि होती है, जिसके परिणामस्वरूप भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता कम हो जाती है। स्मरण रहे 6 जून, 1966 को भारतीय रुपये का पुन अवमूल्यन कर दिया गया था। इसका उद्देश्य भारत के भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करना था। अब एक भारतीय रुपया 13 अमरीकी सेण्टो के बराबर हो गया था।

(4) **विनिमय-ह्रास (Exchange Depreciation)**—यह उपाय मुद्रा अवमूल्यन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसके अन्तर्गत भी विदेशी विनिमय की दर मे कमी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप आयात निरुत्साहित तथा निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। परिणामत भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता मे कमी हो जाती है। परन्तु मुद्रा-अवमूल्यन तथा विनिमय-ह्रास मे दो अन्तर भी हैं—(क) मुद्रा-अवमूल्यन देश की सरकार द्वारा कानून के अन्तर्गत किया जाता है। इसके विपरीत, विनिमय ह्रास सरकार द्वारा नही किया जाता, बल्कि देश की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होता है, (ख) मुद्रा अवमूल्यन के अन्तर्गत न केवल विदेशी मुद्रा के रूप मे देशी मुद्रा का मूल्य कम कर दिया जाता है बल्कि देश मे प्रचलित स्वर्ण सिक्को के स्वर्ण अनुपात को भी कम कर दिया जाता है। इसके विपरीत, विनिमय ह्रास मे स्वर्ण के प्रचलित सिक्को के स्वर्ण अनुपात को कम नही किया जा सकता।

(5) **मुद्रा-सकुचन (Money Contraction)**—भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए यदि कोई देश मुद्रा अवमूल्यन को उचित नहीं समझता तो ऐसी परिस्थिति मे वह अपनी मुद्रा का संकुचन करके भुगतान-सन्तुलन की असमता को दूर कर सकता है। जैसा विदित है, मुद्रा सकुचन के परिणामस्वरूप देश में वस्तुओं तथा सेवाओ की कीमतें कम हो जाती हैं। इससे देश के निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार भुगतान-सन्तुलन मे समता स्थापित करने में सहायता मिलती है। परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि भुगतान सन्तुलन की असमता को दूर करने के लिए मुद्रा सकुचन कोई अच्छा उपाय नही है। इसका कारण यह बताया जाता है कि यदि देश के कीमत स्तर को मुद्रा-सकुचन द्वारा जान-बूझकर नीचे गिराया जाता है तो इससे देश मे आर्थिक सकट का खतरा उत्पन्न हो जाता है। कीमतों मे भारी गिरावट के कारण उत्पादकों को हानि होने लगती है। अन्तत. वे अपने व्यवसायों को बन्द करने पर विवश हो जाते हैं। अत. भुगतान-सन्तुलन की असमता को दूर करने के लिए मुद्रा-सकुचन की रीति का बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए।

(6) **विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control)**—कभी-कभी सरकार अन्य रीतियों की तुलना मे विनिमय नियन्त्रण को प्राथमिकता देती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा-अवमूल्यन से देश के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है। इसी प्रकार मुद्रा सकुचन से आर्थिक सकट का खतरा उत्पन्न हो जाता है। यदि देश के आयातो को विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाकर कम करने का प्रयत्न किया जाय तो इससे दूसरे देशो मे भी बदले की भावना (spirit of retaliation) उत्पन्न हो जाती है और वे भी उस देश के माल पर प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर देते हैं। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए सरकारें भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए प्राय: विनिमय नियन्त्रण का आश्रय लेती हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश के निर्यातकर्ताओ को अपने द्वारा कमायी गयी समूची विदेशी विनिमय सरकार के हवाले करनी पड़ती है। सरकार उनको इसके बदले मे देशी मुद्रा देती है। इसी प्रकार आयातकर्ताओ को विदेशी मुद्रा सरकार द्वारा ही दी जाती है। अत विदेशी विनिमय (foreign exchange) पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होता है

और इस नियन्त्रण की सहायता से सरकार देश के आयातो मे कटौती कर सकती है। उदाहरणार्थ, सरकार केवल उन्ही आयातो के लिए आयातकर्ताओ को विदेशी विनिमय देती है जो देश की अर्थ व्यवस्था के लिए आवश्यक होते हैं। इस प्रकार अनावश्यक आयातो को समाप्त किया जा सकता है।

(7) **विदेशो से ऋण**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करने के लिए विदेशी बैंको अथवा विदेशी सरकारो से दीर्घकालीन ऋण भी प्राप्त किये जा सकते हैं। चूंकि इन ऋणो का भुगतान दीर्घकाल में किया जाता है इसलिये वर्तमान में भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को विदेशी मुद्रा की सहायता से दूर अथवा कम किया जा सकता है। इन ऋणो की भुगतान तिथि आने तक देश की सरकार आवश्यक कदम उठाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार लेती है और उचित समय पर उन्हे (ऋणो को) चुका देने मे समर्थ हो जाती है।

(8) **विदेशी निवेश को प्रोत्साहन**—भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करने के लिए एक अन्य उपाय का भी आश्रय लिया जाता है। देश की सरकार विदेशी पूंजीपतियो को आवश्यक रियायतें देकर उन्हे देश मे पूंजी का निवेश (investment) करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इससे देश को अतिरिक्त विदेशी मुद्रा उपलब्ध हो जाती है जिससे वह भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम कर सकता है। लेकिन इस रीति को अपनाते समय सरकार इस बात का विशेष ध्यान रखती है कि विदेशी पूंजीपति कही देश की अर्थ व्यवस्था पर हावी न हो जायें।

(9) **विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन**—देश की सरकार विदेशी पर्यटको एवं यात्रियो को अधिकाधिक सुविधाएँ देकर उन्हे देश की यात्रा के लिए प्रोत्साहित करती है। इससे देश की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी आय मे वृद्धि होती है और भुगतान-सन्तुलन की समस्या का समाधान करने मे सहायता मिलती है।

सक्षेप मे, उपर्युक्त रीतियो द्वारा भुगतान सन्तुलन की असमता को दूर अथवा कम किया जा सकता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त सकेत

1 **व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान सन्तुलन मे क्या अन्तर है? प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को किस प्रकार सुधारा जा सकता है?** (विक्रम, 1967, आगरा, 1975)

अथवा

(अ) व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन में क्या अन्तर है?

(ब) प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन को ठीक करने की क्या-क्या रीतियाँ हैं? (आगरा, 1970)

[**सकेत**—प्रथम भाग मे, व्यापार-सन्तुलन तथा भुगतान-सन्तुलन का अन्तर स्पष्ट करते हुए भुगतान सन्तुलन के मुख्य अंशो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइये कि भुगतान-सन्तुलन की विपरीत दशा को सुधारने के लिए कई प्रकार के उपायो का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे आयातो मे कटौती, निर्यातो मे वृद्धि, मुद्रा-अवमूल्यन, विनिमय-ह्रास मुद्रा सकुचन, तथा विनिमय नियन्त्रण।]

2. **किसी देश के व्यापाराधिक्य तथा शोधनाधिक्य को स्पष्ट करके बताओ। क्या इन दोनों मे पारस्परिक सम्बन्ध है?** (नागपुर, 1960)

[**संकेत**—प्रथम भाग मे, व्यापाराधिक्य (व्यापार-सन्तुलन) तथा शोधनाधिक्य (भुगतान-सन्तुलन) के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि इन दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वास्तव मे, व्यापाराधिक्य शोधनाधिक्य का ही एक भाग होगा है।]

3. **'पक्ष' एवं 'विपक्ष' व्यापार-सन्तुलन में विस्तारपूर्वक भिन्नता समझाइए।** (आगरा, 1971)

[**सकेत**—किसी देश का व्यापार-सन्तुलन तब 'पक्ष' मे होता है जब उसके निर्यात, आयातो की अपेक्षा अधिक होते हैं। इसके विपरीत, जब देश के आयात, निर्यातो की अपेक्षा अधिक होते हैं तो व्यापार-सन्तुलन 'विपक्ष' मे होता है।]

19

मुक्त व्यापार बनाम संरक्षण
(Free Trade *Vs* Protection)

मुक्त व्यापार तथा संरक्षण में अन्तर
(Difference Between Free Trade and Protection)

मुक्त व्यापार से अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय बिना किसी रोकटोक के किया जाता है। इस प्रकार के मुक्त व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान प्रदान पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। इसके विपरीत, **संरक्षण से अभिप्राय सरकार की उस नीति से है जिसके अन्तर्गत गृह उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिए आयात व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं।** इस प्रकार संरक्षण की नीति के अन्तर्गत दो देशों के बीच वस्तुओं तथा सेवाओं का आदान-प्रदान स्वतन्त्र नहीं रहता है। संरक्षण नीति का अनुसरण करने वाले देशों द्वारा वस्तुओं के आयात पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, वस्तुओं के आयात पर भारी आयात-कर लगा दिये जाते हैं अथवा वस्तुओं के आयात को कोटा-प्रणाली द्वारा हतोत्साहित किया जाता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि मुक्त व्यापार नीति के अन्तर्गत वस्तुओं के आयात पर बिलकुल ही आयात-कर नहीं लगाये जाते। मुक्त व्यापार के अन्तर्गत भी वस्तुओं के आयात पर कर लगाये जा सकते है, परन्तु इस प्रकार के कर आय की दृष्टि से ही लगाये जाते हैं, संरक्षण की दृष्टि से नहीं।

मुक्त व्यापार के पक्ष में दिये गये तर्क
(Arguments in Favour of Free Trade)

क्लासीकल अर्थशास्त्री मुक्त व्यापार के समर्थक थे। उन्होंने मुक्त व्यापार के पक्ष में कई प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये थे। मुख्य मुख्य तर्क इस प्रकार हैं

(1) **उत्पादन के साधनों का समुचित उपयोग**—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत देश के उत्पादन के साधनों का समुचित उपयोग सम्भव हो सकता है। इसका कारण यह है कि मुक्त व्यापार के अधीन प्रत्येक देश उस वस्तु का उत्पादन करता है जिसमें उसे प्राकृतिक लाभ होता है। चूंकि उत्पादन तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर किया जाता है, इसलिए मुक्त व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपने प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करने में समर्थ हो जाता है।

(2) **भौगोलिक श्रम-विभाजन**—चूंकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन में उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होता है, इसलिए इससे भौगोलिक श्रम विभाजन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और विभिन्न देशों को श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त होते हैं।

(3) **उपभोक्ताओं को लाभ**—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत देशी उद्योगपतियों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। अन वे अपनी वस्तुओं की उत्पादन लागतों को कम

करके सस्ते दामों पर बेचते हैं। इसके अतिरिक्त चूँकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत आयातित (imported) वस्तुओं पर कर नहीं लगते, इस कारण भी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि नहीं होती। अत व्यापार के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को वस्तुएँ कम दामों पर उपलब्ध होती है।

(4) **बाजारों का विस्तृत होना**—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के बाजार विस्तृत हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते। अत वस्तुएँ दूरस्थ देशों में भी बेची जा सकती हैं। बाजारों के विस्तृत होने पर उत्पादकों को उत्पादन का पैमाना बढ़ाने के भी अवसर मिलते हैं। इससे न केवल उत्पादन लागतों में कमी होती है बल्कि उपभोक्ताओं को भी उपभोग सम्बन्धी वस्तुएँ सस्ते दामों पर मिलती हैं।

(5) **एकाधिकारी संघों पर रोक**—चूँकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है, इसलिए वे एकाधिकारी संघों (monopolistic combines) की स्थापना नहीं कर सकते। इसके विपरीत, संरक्षणात्मक नीति के अन्तर्गत विदेशी प्रतियोगिता के अभाव के कारण देशी उद्योगपति आपस में मिलकर एकाधिकारी संघ बना लेते हैं जिनके द्वारा उपभोक्ताओं तथा श्रमिकों का शोषण किया जाता है।

(6) **उत्पादन-रीतियों में सुधार**—चूँकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत देशी उद्योगपतियों को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है इसलिए वे उत्पादन रीतियों में सुधार करके अपनी उत्पादन लागतों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी वह विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने के लिए अपने उद्योग धन्धों का युक्तिकरण (rationalisation) भी कर देते हैं। इससे उपभोक्ताओं को विशेष लाभ होता है।

(7) **विभिन्न राष्ट्रों के बीच परस्पर सहयोग एवं सद्भावना**—जैसा स्पष्ट है, मुक्त व्यापार के अन्तर्गत विभिन्न देश एक-दूसरे पर निर्भर रहने लगते हैं जिससे उनमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जाता है। परिणामत उनके बीच सहयोग एवं सद्भावना बढ़ती है।

निष्कर्ष – उपर्युक्त लाभों के कारण ही क्लासीकल अर्थशास्त्रियों ने मुक्त व्यापार की नीति का समर्थन किया था। परन्तु आजकल आर्थिक राष्ट्रीयतावाद (Economic Nationalism) तथा नियोजित अर्थ-व्यवस्था (planned economy) के कारण मुक्त व्यापार की नीति का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही रह गया है। इसका व्यावहारिक महत्त्व अब समाप्त हो चुका है। इस समय शायद ही कोई ऐसा देश हो जो मुक्त व्यापार की नीति का अनुसरण करता हो।

संरक्षण की नीति
(Policy of Protection)

सर्वप्रथम सन 1791 में एक अमरीकी अर्थशास्त्री एलेक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) ने देश के आर्थिक विकास हेतु संरक्षण के सिद्धान्त का सुझाव प्रस्तुत किया था। हैमिल्टन के बाद एक अन्य अमरीकी अर्थशास्त्री हैनरी केयरे (Henry Carey) ने भी संरक्षण की नीति का समर्थन किया था। 19वीं शताब्दी में अमरीकी सरकार ने संरक्षण की नीति को स्वीकार भी कर लिया था। परन्तु यूरोप में जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederic List) ने सर्वप्रथम संरक्षण की नीति का सुझाव दिया था और उसके बाद अन्य जर्मन अर्थशास्त्रियों ने फ्रेडरिक लिस्ट के इस सुझाव का समर्थन किया था। प्रथम विश्व युद्ध तक तो संसार के अधिकांश देशों ने मुक्त व्यापार की नीति का ही अनुसरण किया था, परन्तु इस युद्ध के बाद लगभग सभी देशों ने मुक्त व्यापार की नीति को त्यागकर संरक्षणात्मक नीति को अपनाया था।

संरक्षण के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Protection)

(1) **शिशु-उद्योग तर्क (Infant Industry Argument)**—इस तर्क को सर्वप्रथम एलेक्जेन्डर हैमिल्टन द्वारा प्रस्तुत किया गया था। बाद में चलकर जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट ने इसका समर्थन किया था। आजकल संरक्षण के पक्ष में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तर्क माना जाता है। इस तर्क के अनुसार देश के शिशु-उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से अवश्य ही

सरक्षण दिया जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि देश का कोई भी शिशु-उद्योग विदेशो के सुव्यवस्थित एव सुसस्थापित उद्योगो का मुकाबला नही कर सकता। जिस प्रकार एक शिशु एक तरुण व्यक्ति का सामना नही कर सकता, उसी प्रकार किसी देश का शिशु उद्योग विदेशो के विकसित उद्योगो का मुकाबला नही कर सकता। अत देश के शिशु-उद्योगो को विदेशो के विकसित उद्योगो से अवश्य ही सरक्षण मिलना चाहिए। सरक्षण की इस नीति को इन शब्दो मे बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त किया गया है 'शिशु का पालन करो बालक की रक्षा करो और युवक को स्वतन्त्र कर दो'। (Nurse the baby, protect the child and free the adult)

परन्तु कुछ लेखको द्वारा शिशु उद्योग तर्क की आलोचना की गयी है

(क) शिशु उद्योग को पहचानना कठिन है—आलोचको का कहना है कि कभी-कभी शिशु-उद्योग की पहचानना ही कठिन हो जाता है। ऐसी परिस्थिति मे उसे सरक्षण देने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(ख) सरक्षण मे स्थायी होने की प्रवृत्ति निहित होती है—जब किसी शिशु उद्योग को सरक्षण दिया जाता है, तब उसके विकसित हो जाने पर सरक्षण हटाना कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि इसी बीच उद्योग मे निहित स्वार्थ (vested interests) उत्पन्न हो जाते हैं जो सरक्षण के हटाये जाने का विरोध करते हैं।

(ग) अन्य उद्योग भी सरक्षण की माँग करते हैं—जब किसी शिशु उद्योग को सरक्षण दिया जाता है तब अन्य शिशु उद्योग भी सरक्षण की माँग करने लगते है। इस परिस्थिति मे सभी शिशु-उद्योगो की माँग को स्वीकार करना सरकार के लिए कठिन हो जाता है।

(घ) उपभोक्ताओ को हानि—सरक्षण के परिणामस्वरूप उपभोक्ताओ को वस्तुओ के अधिक मूल्य चुकाने पडते है। इसके साथ ही उन्हे माल घटिया किस्म का मिलता है।

(2) उद्योगो मे विविधता का तर्क (Diversification of Industries Argument)—यह तर्क जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इस तर्क के अनुसार प्रत्येक देश को यथासम्भव सभी वस्तुओ मे आत्मनिर्भर होना चाहिए, क्योकि जो देश आत्मनिर्भर नही होता उसे युद्ध के समय बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। जैसा विदित है युद्ध के समय विदेशी व्यापार लगभग समाप्त हो जाता है और जो देश आत्मनिर्भर नही होता उनके लिए अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अत यह नितान्त आवश्यक है कि सभी उद्योगो के सन्तुलित विकास द्वारा देश को आत्मनिर्भर बनाया जाय। दूसरे शब्दो मे, देश के सभी उद्योगो को सन्तुलित रूप मे विकसित करना आवश्यक है। अब सरक्षण की नीति का अनुसरण किये बिना किसी भी देश का सन्तुलित विकास सम्भव नही हो सकता है।

कुछ लेखको ने इस तर्क की आलोचना भी की है। उनके अनुसार यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो देश श्रम विभाजन तथा विशेषज्ञता (specialisation) के सभी लाभो से वचित हो जायगा।

(3) स्वदेशी बाजार का तर्क (Home Market Argument)—कभी कभी सरक्षण नीति का समर्थन स्वदेशी बाजार के तर्क के आधार पर भी किया जाता है। इस तर्क के अनुसार जब सरकार सरक्षण-कर लगाकर विदेशी माल का आयात कम कर देती है तब देश के बाजारो मे केवल देशी उद्योगो द्वारा निर्मित वस्तुओ की ही बिक्री होती है। परिणामत देशी उद्योगो मे रोजगार की मात्रा बढ जाती है। रोजगार के बढ जाने के फलस्वरूप देशी उद्योगो की वस्तुओ की और भी अधिक बिक्री होने लगती है। इस प्रकार देशी बाजार का विकास हो जाता है। परन्तु कुछ लेखको ने इस तर्क की आलोचना की है। उनके कथनानुसार यदि किसी देश के आयातो को कम कर दिया जाता है तो उस देश के निर्यात भी कम हुए बिना नही रह सकते।

(4) आधार-उद्योग तर्क (Basic Industries Argument)—आधुनिक काल मे सरक्षण के लिए यह एक महत्वपूर्ण तर्क समझा जाता है। किसी भी देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए आधार उद्योगो का होना नितान्त आवश्यक होता है क्योकि इन उद्योगो के बिना देश का आर्थिक विकास स्वयचालित (automatic) नही हो सकता। आधार-उद्योगो से अभिप्राय ऐसे उद्योगो से है जिन पर अन्य उद्योग निर्भर करते हैं, जैसे लोहा इस्पात उद्योग। अब ऐसे उद्योग धन्धो के विकास के

लिए सरक्षण नीति अत्यन्त आवश्यक होती है। इसका कारण यह है कि सरक्षण के बिना आधार-उद्योगो का विकास सम्भव नही हो सकता।

(5) **रोजगार सम्बन्धी तर्क (Employment Argument)**—इस तर्क के अनुसार सरक्षण नीति को अपनाने स देश मे रोजगार की मात्रा को बढाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सरक्षण की नीति के परिणामस्वरूप देश मे नये-नये उद्योगो की स्थापना होती है और अधिकाधिक मात्रा मे लोगो को रोजगार के अवसर प्राप्त होते है। अत देश की बेरोजगारी की समस्या को हल करने मे सरक्षण नीति एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है।

परन्तु आलोचको ने इस तर्क को दोषपूर्ण बताया है। उनके अनुसार सरक्षणात्मक नीति को अपनाने से देश मे रोजगार की मात्रा मे वृद्धि नही होनी। उनके मत के अनुसार यह तो सम्भव है कि सरक्षित उद्योग मे रोजगार की मात्रा बढ जाय, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि देश मे रोजगार की कुल मात्रा बढ जाती है। इसका कारण यह बताया जाता है कि जब किसी देश के आयातो को सरक्षण नीति द्वारा कम कर दिया जाता है, तब धीरे धीरे उस देश के निर्यात भी कम होने शुरू हो जाते हैं। इससे निर्यात-उद्योगो मे रोजगार की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार सरक्षणात्मक नीति से सरक्षित उद्योगो मे तो रोजगार की मात्रा बढ जाती है, परन्तु निर्यात उद्योगो मे रोजगार की मात्रा कम हो जाती है। अत सरक्षणात्मक नीति से देश की रोजगार की कुल मात्रा मे कोई विशेष वृद्धि नही होती है।

प्रो० केन्ज (Keynes) ने सरक्षण नीति से उत्पन्न बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए दो सुझाव प्रस्तुत किये है—(क) सरक्षण-नीति के साथ ही साथ देश की सरकार विदेशियो को देश की वस्तुओ को खरीदने के लिए ऋण प्रदान करे, ताकि इन ऋणो से विदेशी लोग अधिकाधिक मात्रा मे देश की वस्तुओ को खरीद सकें। इससे निर्यात-उद्योगो मे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नही होगी (ख) प्रो० केन्ज ने यह भी कहा है कि सरक्षण-करो से प्राप्त होने वाली आय निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता के रूप मे दे देनी चाहिए ताकि ये उद्योग अपनी उत्पादन लागतो को कम करके विदेशो मे अधिक मात्रा म अपना माल बेच सकें। प्रो० केन्ज के अनुसार यदि इन दोनो सुझावो को क्रियान्वित किया जाय तो सरक्षणात्मक नीति को अपनाने से देश मे रोजगार की मात्रा को बढाया जा सकता है।

परन्तु कुछ लेखको ने प्रो० केन्ज के उपर्युक्त सुझावो की आलोचना की है। प्रथम, विदेशियो को ऋण देने के लिए रुपया कहाँ से आयेगा? दूसरे यदि कोई देश आयातो पर सरक्षण कर लगाकर उन्ह कम कर देता है तो फिर विदेशी लोग ऋण की अदायगी कसे करेंगे? तीसरे, यदि कोई देश निर्यात-उद्योगो को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित करता है तो अन्य देश भी प्रतिकार की भावना (spirit of retaliation) से प्रेरित होकर अपने निर्यात-उद्योगो को आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर देंगे। इम प्रकार प्रो० केन्ज द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सुझाव कोई अधिक व्यावहारिक प्रतीत नही होते।

(6) **राष्ट्र ■ प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग तर्क**—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत देश के प्राकृतिक साधनो का अपव्ययपूर्ण (wasteful) ढङ्ग से उपयोग किया जाता है। इसका कारण यह है कि जब कोई देश किसी एक वस्तु के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर लेता है, तब इस उद्योग के उपयोग मे आने वाले साधनो का तेजी के साथ प्रयोग होने लगता है और एक समय ऐसा आ जाता है जबकि इन साधनो का भण्डार ही समाप्त हो जाता है। परन्तु सरक्षणात्मक नीति के अन्तर्गत इस प्रकार का कोई भय नही रहता और देश के प्राकृतिक साधनो का समुचित उपयोग किया जा सकता है।

(7) **बेकार साधन तर्क (Idle Resources Argument)**—मुक्त व्यापार के अन्तर्गत केवल उन्ही साधनो का प्रयोग होता है जो तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के आधार पर स्थापित किये गये उद्योगो के काम मे आते हैं। इस प्रकार शेष साधन बिलकुल बेकार पडे रहते हैं और इनसे सम्बन्धित उद्योगो का विकास नही होता।

(8) **मजदूरी तर्क (Wages Argument)**—एक कम मजदूरी वाले देश मे वस्तुओ की उत्पादन लागत एक ऊँची मजदूरी वाले देश की तुलना मे कम होती है। अत कम मजदूरी वाला

देश ऊंची मजदूरी वाले देश को वस्तुओ का निर्यात करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऊंची मजदूरी वाले देश मे उद्योग-धन्धे धीरे-धीरे बन्द होने लगते है और देश मे बेरोजगारी फैल जाती है। अतः ऊंची मजदूरी वाले देश को अपने उद्योगो की रक्षा हेतु सरंक्षणात्मक नीति को अपनाना पडता है। संयुक्त राज्य अमरीका ने इसी तर्क के आधार पर अपने उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण दे रखा है। उदाहरणार्थ, अमरीका ने भारत से आने वाले कपडे पर बहुत ही ऊँचा आयात-कर लगा रखा है, ताकि भारतीय प्रतियोगिता के कारण अमरीकी कपडा उद्योग को हानि न हो।

परन्तु कुछ आलोचको के अनुसार यह तर्क अत्यन्त दोषपूर्ण प्रतीत होता है। उनके अनुसार यदि किसी देश मे मजदूरो को ऊँची मजदूरी दी जाती है तो उस देश मे मजदूरो की कार्यकुशलता एव उत्पादकता का स्तर भी ऊँचा होता है। अत. ऐसे देश को कम मजदूरी वाले देश की प्रतियोगिता से भयभीत होने का कोई कारण नही है।

(9) **द्रव्य को घर मे ही रखने का तर्क (To Keep Money at Home Argument)**—कहा जाता है कि यह तर्क, सर्वप्रथम, अमरीका के प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) द्वारा 19 वी शताब्दी मे प्रस्तुत किया गया था। इस तर्क के अनुसार जब कोई देश, विदेशो से माल का आयात करता है तब भुगतान के रूप मे उसका द्रव्य विदेशो को चला जाता है, तब यदि वह देश सरक्षणात्मक नीति की सहायता से माल का उत्पादन अपने यहाँ करता है, तब उस देश का द्रव्य विदेशो को नही जायगा और परिणामत. उसे किसी प्रकार की हानि नही होगी। परन्तु आलोचको ने इस सिद्धान्त को दोषपूर्ण बताया है। उनके अनुसार विदेशो से सस्ती वस्तुएँ आयात करके आर्थिक सन्तुष्टि मे वृद्धि की जा सकती है। उनका यह भी कहना है कि यदि कोई देश विदेशो से माल का आयात कम कर देता है, तब ऐसी परिस्थिति मे उसके निर्यात भी निश्चय ही कम हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे द्रव्य के देश से बाहर चले जाने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, क्योकि अन्तत आयातो और निर्यातो का सन्तुलन अवश्य ही हुआ करता है।

(10) **लागतो की समानता का तर्क (Equalisation of Costs Argument)**—इस तर्क के अनुसार देश की बनी महँगी वस्तुओ और विदेश की बनी सस्ती वस्तुओ की लागतो के अन्तर को आयात कर लगाकर समाप्त कर देना चाहिए ताकि देशी उद्योगो को प्रोत्साहन मिल सके और वे स्वदेशी बाजार मे अपनी वस्तुओ को बिना किसी कठिनाई के बेच सकें। इस प्रकार देशी तथा विदेशी उद्योगपतियो को बाजार मे अपना-अपना माल बेचने के समान अवसर प्राप्त हो सकेंगे। परन्तु आलोचको ने इस तर्क को दोषपूर्ण बताया है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो अकुशल देशी उद्योगो को अधिक सरक्षण देना पडेगा, क्योकि ऐसा करने से ही तुलनात्मक लागतो को बराबर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि तुलनात्मक लागतो के अन्तर को ऊँचे आयात-कर लगाकर समाप्त कर दिया जाता है तो इससे विदेशी व्यापार ही समाप्त हो जायगा।

(11) ***संरक्षित-उद्योगों मे उत्पादन-वृद्धि तर्क* (Increase in Production of Protected Industries Argument)**—इस तर्क के अनुसार किसी उद्योग को सरक्षण देने से उसके उत्पादन मे काफी वृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ, दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व जर्मनी ने कृषि को सरक्षण देकर कुछ ही समय मे कृषि-उत्पादन की काफी मात्रा मे बढा लिया था। परन्तु आलोचको का कहना है कि कुछ सरक्षित उद्योगो के विस्तार से यह सिद्ध नही होता कि कुल राष्ट्रीय आय अथवा कुल उत्पादन मे वृद्धि होगी। इसका कारण यह बताया जाता है कि देश के कुछ उद्योगो को सरक्षण देने से निर्यात-उद्योगो पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है क्योकि आयातो के कम हो जाने से निर्यात भी कम हो जाते हैं।

(12) **व्यापार-सन्तुलन मे सुधार तर्क (Improvement in Balance of Trade Argument)**—कभी-कभी सरक्षण-नीति का इस आधार पर भी समर्थन किया जाता है कि इसकी सहायता से देश के व्यापार-सन्तुलन मे सुधार किया जा सकता है। मुद्रा-स्फीति के समय तो इस तर्क का महत्त्व और भी बढ जाता है, क्योकि ऐसे समय आन्तरिक कीमत-स्तर के ऊँचे होने के

कारण देश के आयात बढ जाते है और निर्यात कम हो जाते हैं। यदि ऊँचे आयात-करो द्वारा आयातो को कम कर दिया जाय तो व्यापार-सन्तुलन मे निश्चय ही सुधार हो सकता है।

(13) राशिपातन तर्क (Dumping Argument)—कभी-कभी विदेशी उद्योगपति किसी अल्प विकसित एव पिछडे हुए देश मे अपने माल का राशिपातन करना आरम्भ कर देते हैं, अर्थात् वे अपने माल को अपनी लागत स भी कम मूल्य पर बेचना शुरू कर देते हैं। इसका कारण यह होता है कि विदेशी उद्योगपति उस देश के उद्योग-धन्धो को नष्ट करना चाहते हैं और इसीलिए अपनी लागत स भी कम मूल्य पर अपन माल को उस देश मे बेचते हैं। जब उस देश के उद्योग-धन्धे इस प्रकार अनुचित प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप नष्ट हो जाते हैं तब विदेशी उद्योगपति अपने माल का मूल्य पुन बढा देते हैं। इस प्रकार विदेशियो द्वारा किया गया राशिपातन देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है। ऐसी परिस्थिति मे उस देश की सरकार को भारी सरक्षण कर लगाकर देशी उद्योगो की रक्षा करनी चाहिए। वास्तव मे, सरक्षण नीति के समर्थन मे दिया गया यह तर्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यहां पर कठिनाई यह है कि सरकार के लिए राशिपातन की जानकारी प्राप्त करना कठिन हो जाता है क्योकि इस प्रकार की समाज-विरोधी क्रिया प्राय लुक छिपकर की जाती है।

(14) सरकारी आय सम्बन्धी तर्क (Government Revenue Argument)—सरक्षण नीति का मुख्य उद्देश्य ऊँचे आयात कर लगाकर देशी उद्योग-धन्धो को सरक्षण देना होता है परन्तु जब सरकार आयातो पर सरक्षण-कर लगाती है तब उसे इस मद से कुछ न कुछ आय भी अवश्य ही प्राप्त होती है। अत कुछ लेखको ने इसी आधार पर सरक्षण-नीति का समर्थन किया है। परन्तु यह कोई महत्वपूर्ण तर्क नही माना जा सकता, क्योकि सरक्षण नीति का उद्देश्य सरकार के लिए आय कमाना नही होना बल्कि देशी उद्योग धन्धो को सरक्षण प्रदान करना होना है। यदि सरक्षण कर बहुत ऊँचे हैं तो इससे आयातो मे भारी कमी होने के परिणामस्वरूप सरकार की आय बहुत कम हो जाती है। अत इस तर्क का कोई विशेष महत्त्व नही है।

(15) राष्ट्रीय स्वावलम्बता तर्क (National Self-sufficiency Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रत्यक देश को यथासम्भव सभी वस्तुओ के बारे मे आत्मनिर्भर होना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि कोई देश पूर्णत आत्मनिभर नही है तो युद्ध के समय उसे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, क्योकि ऐसे समय मे विदेशो स आवश्यक वस्तुओ का आयात करना बहुत कठिन होना है। परन्तु कुछ लेखको ने इस तर्क की कडी आलोचना की है। उनके अनुसार यदि विश्व के सभी देश आत्मनिर्भर हो जाते हैं तो इससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार ही समाप्त हो जायगा। इनके अतिरिक्त आलोचको का यह भी कहना है कि सभी देशो के लिए पूर्णत आत्म निर्भर होना कठिन ही नही बल्कि असम्भव भी है।

(16) राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क (National Defence Argument)—इस तर्क के अनुसार देश की स्वतन्त्रता एव सुरक्षा को बनाये रखने के लिए रक्षा उद्योगो (Defence Industries) का विकास अत्यन्त आवश्यक है। अत ऐसे उद्योगो के विकास के लिए सरकार को अवश्य ही सरक्षण नीति का आश्रय लेना चाहिए। वास्तव मे सरक्षण नीति के समर्थन मे दिया गया यह तर्क बहुत महत्वपूर्ण है। कोई भी देश सुरक्षा के विषय मे किसी प्रकार का कोई जोखिम (risk) नही उठा सकता। अत प्रत्येक देश को सरक्षण-नीति की सहायता से रक्षा सम्बन्धी उद्योगो का समुचित विकास करना चाहिए।

(17) सौदा शक्ति तर्क (Bargaining Power Argument)—इस तर्क के अनुसार यदि कोई देश सरक्षण नीति को अपनाता है तो इससे उसकी विदेशो से व्यापार के सम्बन्ध मे सौदा करने की शक्ति बढ जाती है और वह अपने निर्यातो के लिए विदेशो से अधिक अनुकूल शर्तें (more favourable terms) प्राप्त कर सकता है।

(18) राष्ट्रीय भावना की जागृति का तर्क—इस तर्क के अनुसार सरक्षण-नीति अपनाने से राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो जाती है और लोग यथासम्भव देश मे बनी हुई वस्तुओ का ही उपभोग करने लगते है। इससे देशी उद्योग धन्धो को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

संरक्षण के विपक्ष मे तर्क
(Arguments Against Protection)

(1) **प्राकृतिक साधनो का आर्थिक प्रयोग सम्भव नहीं होता**—जैसा विदित है, मुक्त व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के आधार पर ही उत्पादन करता है, अर्थात् प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करता है जिनमे उसे प्राकृतिक लाभ होता है। परिणामत प्रत्येक देश प्रादेशिक श्रम विभाजन के आधार पर उत्पादन करता है और उसे प्रादेशिक श्रम विभाजन सम्बन्धी सभी बचते उपलब्ध होती है। परन्तु सरक्षण-नीति के अन्तर्गत देश का उत्पादन प्रादेशिक श्रम-विभाजन के आधार पर नही होता, अर्थात् देश ऐसी वस्तुओ का भी उत्पादन करने लगता है जिनमे उसे प्राकृतिक लाभ उपलब्ध नही होता। स्पष्ट है कि इस प्रकार देश के प्राकृतिक साधनो का प्रयोग आर्थिक ढग से नही किया जा सकता।

(2) **अकुशल तथा दुर्बल उद्योगो को प्रोत्साहन**—सरक्षण-नीति के कारण देश के अकुशल एव दुर्बल उद्योगो को प्रोत्साहन मिल जाता है। मुक्त व्यापार के अन्तर्गत ऐसे उद्योगो के लिए कोई स्थान नही होता और वे स्वत ही बन्द हो जाते है परन्तु सरक्षण-नीति के अन्तर्गत इस प्रकार के उद्योग-धन्धे भी चलते रहते है जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था पर अनावश्यक बोझ पडता है।

(3) **एकाधिकारी सघो की स्थापना**—सरक्षण-नीति के कारण विदेशी प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप देशी उद्योगपतियो को एकाधिकारी सघ बनाने के अवसर मिल जाते है। इस प्रकार एकाधिकारी सघ उपभोक्ताओ तथा श्रमिको का शोषण करते हैं।

(4) **उपभोक्ताओ को हानि**—सरक्षण-नीति के कारण उपभोक्ताओ को हानि सहन करनी पडती है क्योकि उन्हे वस्तुओ के अधिक दाम चुकाने पडते है। विदेशी प्रतियोगिता के अभाव के कारण देशी उद्योगपति वस्तुओ के दाम बढा देते हैं। इस प्रकार सरक्षण-नीति के फलस्वरूप उपभोक्ताओ पर आर्थिक बोझ पडता है।

(5) **सरक्षण मे स्थायी होने की प्रवृत्ति**—जब एक बार किसी उद्योग को सरक्षण प्रदान कर दिया जाता है तो फिर इसके विकसित हो जाने पर भी सरक्षण को वापस लेना बहुत कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि सरक्षण काल मे उद्योग मे कई प्रकार के निहित स्वार्थ (vested interests) उत्पन्न हो जाते है जो सदैव इस बात का प्रयत्न करते हैं कि सरकार सरक्षण को वापस न ले। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये अनुचित साधनो का प्रयोग भी करते हैं।

(6) **उद्योगों की कार्यकुशलता मे कमी**—सरक्षण नीति के कारण देशी उद्योग धन्धो की कार्यकुशलता का स्तर गिर जाता है। इसका कारण यह है कि विदेशी प्रतियोगिता के अभाव के कारण उद्योगपतियो मे शिथिलता आ जाती है और वे औद्योगिक कार्यकुशलता के स्तर को बढाने का प्रयत्न नही करते।

(7) ***सरक्षण से राष्ट्रीय आय के वितरण मे असमानता***—*सरक्षण नीति के कारण राष्ट्रीय* आय का वितरण असमान हो जाता है। इसका कारण यह है कि सरक्षण के कारण वस्तुओ की कीमते बढ जाती हैं जिससे उपभोक्ताओ पर अनावश्यक दबाव पडता है। उपभोक्ता प्राय निर्धन वर्ग के ही होते हैं। इसके अतिरिक्त सरक्षण नीति के फलस्वरूप देशी उद्योगपतियो को भारी लाभ प्राप्त होते है। इस प्रकार सरक्षण नीति राष्ट्रीय आय के वितरण मे असमानता को बढा देती है।

(7) **विदेशी व्यापार मे कमी**—सरक्षण नीति के फलस्वरूप विदेशी व्यापार मे कमी हो जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोई देश अपने आयातो पर सरक्षण-कर लगाकर उन्हे कम कर देता है तब उसके निर्यात भी कम हुए बिना नही रह सकते, क्योकि अन्य देश भी सरक्षण नीति का अनुकरण करते हुए अपने आयातो पर सरक्षण कर लगा देते हैं। इस प्रकार सरक्षण के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का ह्रास होता है।

(9) **राष्ट्रो मे मनमुटाव**—सरक्षण-नीति के कारण विश्व के देशों मे मनमुटाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कभी-कभी बडे गम्भीर परिणाम होते हैं। इसका कारण यह है कि जब कोई देश अपने आयातो पर सरक्षण-कर लगाकर उन्हें कम करने का प्रयत्न करता है तब

प्रतिकार की भावना से प्रेरित होकर उस देश के निर्यातो पर सरक्षण कर लगा देता है। इससे देशो के आपसी सम्बन्ध बिगड जाते हैं।

(10) राजनीतिक भ्रष्टाचार—सरक्षण नीति देश मे राजनीतिक भ्रष्टाचार को जन्म देती है। बडे बडे उद्योगपति सरकारी नेताओ तथा अधिकारियो को रिश्वत देकर अपने उद्योगो के लिए सरक्षण प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका इस प्रकार के राजनीतिक भ्रष्टाचार का ज्वलन्त उदाहरण है।

निष्कर्ष—सरक्षण के उपर्युक्त लाभो व दोषो का अध्ययन करने से पता चलता है कि दोषो की अपेक्षा इसके लाभ अधिक हैं। यही कारण है कि आज विश्व के लगभग सभी देशो द्वारा मुक्त व्यापार का परित्याग करके सरक्षण की नीति को अपना लिया गया है। अल्प-विकसित तथा पिछडे हुए देशो के लिए तो सरक्षण नीति और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसके बिना वे अपने आर्थिक विकास की गति तीव्र नही कर सकते।

सरक्षण की रीतियाँ
(Methods of Protection)

देशी उद्योगो को निम्नलिखित रीतियो द्वारा सरक्षण दिया जा सकता है

(1) व्यापारिक निषेध (Commercial Prohibition)—कभी-कभी सरकार देशी उद्योग धन्धो को सरक्षण देने के लिए विदेशी वस्तुओ का पूर्ण निषेध कर देती है। परन्तु साधारणत इस रीति का प्रयोग नही किया जाता, क्योकि इसके परिणाम काफी गम्भीर होते हैं।

(2) सरक्षण प्रशुल्क (Protective Duties)—इसके अन्तर्गत, सरकार आयातो पर कर लगाकर उन्हे मँहगा कर देती है जिससे उनकी माँग स्वत ही कम हो जाती है। निर्यात-करो की अपेक्षा आयात कर अधिक प्रचलित हैं क्योकि इनसे देशी उद्योगो को प्रोत्साहन भी मिलता है। आयात कर दो प्रकार के हो सकते हैं—जब आयात-कर सरकार द्वारा आय कमाने की दृष्टि से लगाये जाते हैं तब इन्हे राजस्व-कर (revenue duty) कहा जाता है। परन्तु जब आयात-कर देशी उद्योगो को सरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से लगाये जाते हैं, तब इन्हे सरक्षण कर कहा जाता है। स्पष्ट है कि सरक्षण नीति के अन्तगत सरक्षण-कर ही लगाये जाते हैं, सरक्षण-कर भी दो प्रकार के होते हैं (i) यथामूल्य-कर (Ad Valorem Duty)—जब आयात-कर वस्तु के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है तब इसे यथामूल्य कर कहते हैं (ii) परिमाण-कर (Specific Duty)—जब आयात कर वस्तु की तोल अथवा नाप के अनुसार लगाया जाता है, तब इसे परिमाण-कर कहते हैं।

(3) कोटा प्रणाली (Quota System)—वास्तव म यह सरक्षण की सबसे प्रभावपूर्ण रीति मानी जाती है। कोटा प्रणाली के अन्तर्गत सरकार विभिन्न वस्तुओ के अधिकतम कोटे निश्चित कर देती है। आयातकर्ता इन कोटो से अधिक मात्रा मे वस्तुओ का आयात नही कर सकते। कभी-कभी प्रत्येक आयातित वस्तु के कोटे को विभिन्न देशो मे विभाजित कर दिया जाता है। कोटा प्रणाली से आयातो को कम करके देशी उद्योगो को सरक्षण दिया जा सकता है।

(4) लाइसेन्स प्रणाली (Licence System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी वस्तुओ का आयात केवल लाइसेन्स शुदा आयातकर्ताओ द्वारा ही किया जा सकता है। इससे भी सरकार विदेशी वस्तुओ के आयात को नियन्त्रित कर सकती है क्योकि इसके अन्तर्गत विदेशी वस्तुओ का आयात सभी प्रकार के व्यापारियो द्वारा नही किया जा सकता।

(5) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—इसके अन्तर्गत, प्रत्येक आयातकर्ता को विदेशी माल का मूल्य चुकाने के लिए सरकार से विदेशी मुद्रा प्राप्त करनी पडती है। यदि सरकार विदेशी मुद्रा की बिक्री पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण कर लेती है तो इससे आयातो मे स्वत ही कमी हो जाती है।

(6) राजकीय व्यापार—कभी कभी सरकार विदेशी व्यापार को अपने हाथो मे ले लेती है। ऐसी परिस्थिति मे सरकार के लिए आयातो को कम करना और भी सरल हो जाता है।

(7) मुद्रा-अवमूल्यन (Devaluation)—देश की मुद्रा का अवमूल्यन करके भी आयातो

को कम किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि मुद्रा के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के आयात महँगे हो जाते है और निर्यात सस्ते। इस प्रकार आयातो में स्वत ही कमी हो जाती है।

(8) **भेदपूर्ण परिवहन-दरें (Discriminatory Transport Charges)** – कभी-कभी सरकार आयातित वस्तुओ पर ऊँची परिवहन-दरे लेकर भी इन्हे निरुत्साहित करती है। इससे विदेशी माल देशी मण्डियो मे मँहगा हो जाता है और उसकी माँग स्वत ही कम हो जाती है।

(6) **सरकारी आर्थिक सहायता** – कभी- कभी सरकार देश के निर्यातो को बढावा देने के लिए निर्यात-उद्योगो को कई प्रकार की आर्थिक सहायता देती है। इसका परिणाम यह होता है कि निर्यात-उद्योगो की उत्पादन लागतें कम हो जाती हैं और विदेशो मे वे अपना माल सस्ती दरो पर बेचने मे समर्थ हो जाते हैं।

(10) **विदेशी माल का बहिष्कार** —कभी-कभी राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करके विदेशी माल का बहिष्कार (boycott) कर दिया जाता है। इससे स्वदशी उद्योगो को स्वाभाविक सरक्षण मिल जाता है। भारत मे भी स्वदेशी आन्दोलन के कारण उद्योग-धन्धो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण मिला था।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **सरक्षण के पक्ष में तर्कों की विवेचना करो। उसके विपक्ष में कौन से तर्क हैं ?**
(आगरा, 1960, राजस्थान, 1968)

अथवा

संरक्षण की नीति के पक्ष एव विपक्ष मे तर्कों का परीक्षण कीजिये (आगरा, 1976)

[संकेत—प्रथम भाग में, सरक्षण के पक्ष मे प्रस्तुत किये गये तर्कों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, सरक्षण के विपक्ष मे दिये गये तर्कों की चर्चा कीजिए।]

2 **किसी उद्योग को सरक्षण प्रदान करने के विभिन्न ढगो का वर्णन कीजिये।** (बिहार, 1955)
[संकेत यहाँ पर सरक्षण की रीतियो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिये।]

3. **किन परिस्थितियों मे मुक्त व्यापार नीति के स्थान पर सरक्षण की नीति को अपनाना चाहिए। उदाहरण सहित समझाइये।** (विक्रम, 1969)
[संकेत—यहाँ पर आप सरक्षण-नीति के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्कों की विवेचना करिए]

4 **स्वतन्त्र व्यापार तथा सरक्षण का अन्तर स्पष्ट कीजिए।** (आगरा, 1974)
[संकेत—प्रारम्भ मे, स्वतन्त्र (मुक्त) व्यापार तथा सरक्षण का अन्तर स्पष्ट कीजिए। (देखिए उपर्युक्त अध्याय)। तदुपरान्त, स्वतन्त्र व्यापार तथा सरक्षण के पक्ष एव विपक्ष मे दिये गये तर्कों को सक्षेप मे प्रस्तुत कीजिए।]

20

भारत की तट-कर नीति
(India's Tariff Policy)

किसी देश के आयातो व निर्यातो पर लगाये जाने वाले करो से सम्बन्धित नीति को तट कर नीति कहते है। तट कर नीति के अन्तर्गत निर्यातो की अपेक्षा आयातो पर अधिक कर लगाये जाते है। आयात करा के लगाने के दो उद्देश्य हो सकते है—(क) सरकार के लिए आय प्राप्त करना (ख) गृह उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता स सरक्षण देना।

भारत की दूसरे युद्ध से पूर्व की तट-कर नीति
(India s Tariff Policy Before Second World War)

प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक भारत सरकार की नीति मुक्त व्यापार (free trade) की नीति थी। परन्तु विश्व युद्ध के उपरान्त इस नीति मे परिवर्तन कर दिया गया था। सन 1916 मे औद्योगिक आयोग (Industrial Commission) ने सुझाव दिया था कि भारत सरकार को देश के औद्योगिक विकास मे सक्रिय भाग लेना चाहिए। सन् 1919 के राजनीतिक सुधारो के अन्तर्गत तय हुआ था कि ब्रिटिश सरकार भारत के राजकोषीय मामलो मे यथासम्भव हस्तक्षेप नही करेगी। इस प्रकार भारत को राजकोषीय मामलो मे एक प्रकार से स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी थी। आगे चलकर इसे राजकोषीय स्वतन्त्रता की परम्परा (Fiscal Autonomy Convention) के नाम से सम्बोधित किया गया था। इस परम्परा के अन्तगत भारत सरकार को अपनी तट कर नीति का निर्धारण करने मे स्वतन्त्रता मिल गयी थी। इस स्वतन्त्रता का लाभ उठाते हुए भारत सरकार ने सन 1921 मे एक तट कर आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति की थी। इस आयोग की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति (Policy of Discriminating Protection) को अपनाया था।

सन 1921 के तट कर आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित है

देश के औद्योगिक विकास का तीव्र करने के लिए आयोग ने विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति को अपनाने की सिफारिश की थी। विवेकपूर्ण सरक्षण नीति से अभिप्राय यह था कि सभी उद्योगो को बिना सोचे समझे सरक्षण नहीं देना चाहिए बल्कि सरक्षण केवल उन्ही उद्योगो को दिया जाना चाहिए जो तीन शर्तों को पूरा करते हो

(क) सरक्षण चाहने वाले उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक साधन उपलब्ध होने चाहिए।

(ख) उद्योग ऐसा होना चाहिए कि जिसका विकास बिना सरक्षण के सम्भव नही है परन्तु जिसक विकास देश के हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(ग) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो अन्त मे बिना सरक्षण के विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

तट-कर आयोग ने उपर्युक्त तीनो शर्तों के अतिरिक्त कुछ अन्य शर्तों का भी सुझाव दिया था जिनमे से मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं —(क) आधारमूलक उद्योगो (basic industries) एव

राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योगो को अवश्य ही सरक्षण दिया जाना चाहिए, (ख) जो उद्योग-धन्धे बडे पैमाने पर उत्पादन करते है उन्हे भी सरक्षण दिया जाना चाहिए, (ग) उद्योग ऐसा होना चाहिए कि वह निश्चित समय मे देश की समूची आवश्यकताओ की पूर्ति कर सके।

सन् 1923 मे भारत सरकार ने तट कर आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया था और सन् 1924 मे प्रथम तट-कर बोर्ड (Tariff Board) की स्थापना की गयी थी। इस बोर्ड को सरक्षण चाहने वाले उद्योगो के दावो की जाँच करने के लिए कहा जाता था।

विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति की उपलब्धियाँ (Achievements of Discriminating Protection) इस नीति के परिणामस्वरूप देश के अनेक उद्योग-धन्धो को काफी लाभ पहुँचा है। इस नीति की मुख्य-मुख्य उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं

(1) **बड़े उद्योगों का विकास**—इस नीति के परिणामस्वरूप देश के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला था। इसके अन्तर्गत, लोहा एव इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग एव कृत्रिम रेशम उद्योग आदि को सरकार द्वारा सरक्षण दिया गया था। इस सरक्षण के कारण ही इन उद्योगो का तेजी के साथ विकास हुआ था।

(2) **सहायक उद्योगों का विकास**—इस नीति के अन्तर्गत उपर्युक्त उद्योगो के अतिरिक्त कई प्रकार के सहायक उद्योगो को भी विकसित होने के अवसर मिले थे। उदाहरणार्थ, टिन प्लेट, तार, कृषि-औजार इन्जीनियरिंग सेलुलोज (Cellulose) आदि।

(3) **रोजगार मे वृद्धि**—सरक्षण-नीति के फलस्वरूप देश मे रोजगार की मात्रा मे भी वृद्धि हुई थी। सन् 1931 मे देश के कारखानो मे काम करने वाले श्रमिको की कुल सख्या 1 4 मिलियन थी। सन 1956 मे यह बढकर 2 8 मिलियन हो गयी।

(4) **मन्दी के प्रभाव से मुक्ति**—जैसा विदित है सन 1930 मे विश्वव्यापी मन्दी आयी थी और इसके परिणामस्वरूप सभी देशो पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। भारत के अरक्षित उद्योग-धन्धे (non protected industries) भी इससे न बच सके। परन्तु भारत के सरक्षित उद्योग-धन्धे सरक्षण की नीति के फलस्वरूप मन्दी के प्रभाव से लगभग अछूते ही रहे थे।

(5) **कृषि का व्यापारीकरण** (Commercialisation of Agriculture)—सरक्षण-नीति के परिणामस्वरूप भारतीय कृषि के व्यापारीकरण की प्रवृत्ति को भी बल मिला था। सूती कपडा एव चीनी उद्योग को सरक्षण दिये जाने के परिणामस्वरूप इन उद्योगो की कच्चे माल की माँग मे तीव्र वृद्धि हुई थी। परिणामत भारतीय किसानो द्वारा गन्ने एव कपास की फसलो को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति की आलोचना (Criticism of Discriminating Protection)—यद्यपि इस नीति से देश के कुछ उद्योग-धन्धो को विशेष लाभ हुआ, तथापि यह नीति पूर्णत दोष मुक्त नही थी। इसके मुख्य मुख्य दोष निम्नलिखित हैं

(क) **त्रिशर्ती सूत्र की आलोचना** (Criticism of the Triple Formula)—तट-कर आयोग द्वारा बताये गये त्रिशर्ती सूत्र की आलोचना की गयी है। आलोचको का कहना है कि इस सूत्र की पहली दो शर्तें आपस मे मेल नही खाती। प्रथम शर्त के अनुसार सरक्षण चाहने वाले उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। दूसरी शर्त के अनुसार सरक्षण चाहने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिए कि वह बिना सरक्षण की सहायता के विकसित न हो सके। दूसरी शर्त को केवल वही उद्योग पूरा कर सकता है जो प्रथम शर्त को पूरा न करता हो। दूसरे शब्दो मे यदि किसी उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं तो सरक्षण के बिना ही वह अपना विकास कर सकता है।

(ख) **सरक्षण की कड़ी शर्तें**—आलोचको का कहना है कि सरक्षण प्रदान करने के लिए निश्चित की गई शर्तें बहुत कठिन थी। बहुत कम उद्योग-धन्धे ऐसे होते हैं जो इन तीनो शर्तों को पूरा कर सकते हैं। यदि कोई उद्योग इन तीनो शर्तों को पूरा कर लेता है तो फिर उसे सरक्षण की आवश्यकता ही नहीं रहती।

(ग) **नये उद्योगों को सरक्षण का आश्वासन नहीं दिया जाता था**—विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति

के अन्तर्गत सरक्षण केवल उन्ही उद्योगो को दिया जाता था जो पहले से ही विद्यमान होते थे। नये उद्योगो को सरक्षण का आश्वासन देने की इस नीति मे कोई व्यवस्था नही थी। स्पष्ट है कि जब तक किसी नये उद्योग को सरक्षण का आश्वासन नही दिया जाता तब तक उसकी स्थापना का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

(घ) अस्थायी तट-कर बोर्ड—इस नीति के अन्तर्गत स्थापित किये गये तट-कर बोर्ड अस्थायी हुआ करते थे, अर्थात् जब कोई उद्योग सरक्षण के लिए आवेदन पत्र देता था तो उस पर विचार करने के लिए सरकार तट-कर बोर्ड नियुक्त किया करती थी। जब बोर्ड उस आवेदन पत्र पर अपनी सिफारिशें सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर देता था उसी समय से उस बोर्ड का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता था। इस प्रकार प्रत्येक सरक्षण चाहने वाले उद्योग के लिए अलग से तट-कर बोर्ड नियुक्त किया जाता था। तट-कर बोर्डों के अस्थायी होने के कारण तट-कर नीति मे निरन्तरता का अभाव (lack of continuity) रहता था।

(ङ) सरकार का असहानुभूतिपूर्ण रवैया—आलोचको का यह भी कहना है कि इस नीति के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार का भारतीय उद्योगो के प्रति रवैया सहानुभूतिपूर्ण नही था। जब कभी कोई उद्योग सरक्षण के लिए आवेदन-पत्र देता था, उस पर विचार करने मे ही सरकार काफी समय लगा देती थी। कई बार तो ऐसा हुआ कि समय पर सरक्षण न मिलने के कारण उद्योगो का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता था। कभी-कभी सरकार तट कर बोर्ड के सिफारिश करने पर भी उद्योगो को सरक्षण नही देती थी।

(च) सरक्षण-नीति से पर्याप्त औद्योगिक विकास न हो सका—आलोचको का यह भी कहना है कि विवेकपूर्ण सरक्षण-नीति के अन्तर्गत देश का पर्याप्त औद्योगिक विकास नही हो सका था। उसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि इस नीति की शर्तें बहुत कडी थी और साधारणत उद्योग धन्धे इन्हे पूरा करने मे असमर्थ हुआ करते थे।

युद्ध एवं युद्धोत्तरकाल में तट-कर नीति
(War and Post war Tariff Policy)

दूसरे विश्व युद्ध के छिड जाने पर भारत के आयात बहुत कम हो गये और देशी उद्योगो के लिए विदेशी प्रतियोगिता का खतरा लगभग समाप्त हो गया था। अत युद्ध के दौरान भारतीय उद्योग धन्धो को अपना विस्तार करने का सुनहरी अवसर प्राप्त हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उद्योग धन्धो का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए सन 1940 मे यह आश्वासन दिया था कि युद्ध के पश्चात् तत्कालीन उद्योग धन्धो तथा युद्ध के दौरान स्थापित किये गये नये उद्योग धन्धो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण दिया जायगा। सन् 1945 मे इस आश्वासन को कार्यरूप देते हुए एक अस्थायी तट-कर बोर्ड की स्थापना की गयी थी। इस बोर्ड की अवधि दो वर्ष की थी। इस बोर्ड का मुख्य कार्य सरक्षण चाहने वाले भारतीय उद्योग-धन्धो के दावो की जाँच करना था। अत इस बोर्ड ने मार्च 1945 से अगस्त 1947 तक लगभग 42 उद्योगो के दावो की जाँच की थी। अगस्त 1947 मे देश के स्वतन्त्र होने पर आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन हो गया, इसलिए अक्टूबर 1947 मे भारत सरकार ने इस तट-कर बोर्ड की अवधि तीन वर्ष के लिए और बढा दी। इस तट-कर बोर्ड को पहले कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौप दिये गये थे। इसी बीच भारत सरकार देश के लिए किसी स्थायी तट-कर नीति को अपनाने के बारे मे सोच-विचार करने लगी थी।

भारत की नवीन तट-कर नीति
(India's New Tariff Policy)

सन् 1948 की औद्योगिक नीति मे भारत सरकार ने देशी उद्योग-धन्धो को यह आश्वासन दिया था कि वह अनुचित विदेशी प्रतियोगिता से उनको सरक्षण प्रदान करेगी। अत 20 अप्रैल, 1949 को भारत सरकार ने श्री टी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता मे एक तट कर आयोग की नियुक्ति की जिसकी रिपोर्ट जुलाई 1950 मे प्रकाशित हुई थी। इस आयोग ने सरक्षण-नीति की आवश्यकता के महत्त्व को स्वीकार किया था। इसकी मुख्य मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं

(1) सामरिक (strategic) तथा राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो को किसी भी मूल्य पर

सरक्षण दिया जाना चाहिये क्योंकि इन उद्योगो का विकास देश के लिए नितान्त आवश्यक है। अत सरकार को इन उद्योगो के विकास के लिये सभी प्रकार की सहायता देनी चाहिए।

(2) आधारभूत उद्योग-धन्धो (basic industries) को भी सरक्षण दिया जाना चाहिए। इन उद्योगो को दिये जाने वाले सरक्षण की मात्रा एव स्वरूप का निर्णय तट-कर अधिकरण द्वारा किया जाना चाहिये। इस प्रकार के उद्योग-धन्धो की समय-समय पर जाँच-पड़ताल भी की जानी चाहिये।

(3) अन्य उद्योगो को सरक्षण देने के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सिद्धान्तो पर विचार किया जाना चाहिये

(क) उद्योग को सरक्षण देते समय उसकी सम्भावित लागत को ध्यान मे रखना चाहिए।

(ख) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उद्योगो को सरक्षण अथवा आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता पर विचार किया जाना चाहिए।

(ग) उद्योग से प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लाभो का विचार करके सरक्षण की सम्भावित लागत का पता लगाना चाहिए।

(घ) जिन उद्योगो को योजना के अन्तर्गत उच्च स्थान दिया गया है, उन्हें अवश्य ही सरक्षण मिलना चाहिए।

(ङ) आधारभूत उद्योगो के सहायक उद्योगो को भी सरक्षण मिलना चाहिए।

सरक्षण के सम्बन्ध मे तट कर आयोग ने कुछ अन्य शर्तों का भी उल्लेख किया था जो इस प्रकार हैं

(1) सरक्षण देते समय कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धता पर जोर नही देना चाहिए, अर्थात् यदि किसी उद्योग को कच्चा माल स्थानीय स्तर पर उपलब्ध नही है तो इसी आधार पर उसे सरक्षण से वचित नही रखना चाहिए।

(2) सरक्षण देते समय उद्योग पर यह शर्त भी नहीं लगानी चाहिये कि वह विकसित होने पर देश की समूची माँग को पूरा करने की सामर्थ्य रखता हो।

(3) सरक्षित उद्योगो द्वारा तैयार किये गये माल या कच्चे माल के रूप मे प्रयोग करने वाले उद्योगो को, क्षतिपूरक सरक्षण (compensating protection) दिया जाना चाहिए।

(4) ऐसे नये उद्योगो को जिनके विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे बहुत बडी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, उन्हे अवश्य ही सरक्षण मिलना चाहिए।

(5) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कृषि-पदार्थों को भी सरक्षण दिया जाना चाहिए, परन्तु ऐसे पदार्थों को केवल अल्प काल के लिए ही सरक्षण दिया जाना चाहिए।

(6) सरक्षित उद्योगो पर यथासम्भव सरकार को उत्पादन कर (excise duties) नही लगाने चाहिए।

(7) सरक्षण करों से प्राप्त होने वाली आय के कुछ अश को प्रतिवर्ष एक विकास कोष (Development Fund) मे जमा करना चाहिए और इस कोष का उपयोग कुछ विशेष प्रकार के उद्योग धन्धो को आर्थिक सहायता देने के लिए करना चाहिए।

(8) साधारणत उद्योग धन्धो को दीर्घकाल के लिए सरक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे नियोजित ढग से अपना विकास कर सकें।

(9) सरकार द्वारा सरक्षित उद्योगो के प्रयोग मे आने वाले कच्चे माल के मूल्यो का निर्धारण भी किया जाना चाहिए ताकि ऐसे उद्योगो को नियन्त्रित मूल्यो पर कच्चा माल उपलब्ध हो सकें।

(10) सरकार को यथासम्भव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति विदेशी माल की तुलना मे स्वदेशी माल को प्राथमिकता देनी चाहिए ताकि स्वदेशी उद्योगो को प्रोत्साहन मिल सके।

उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा की दृष्टि से तट-कर आयोग ने सरक्षित उद्योगो के लिए कुछ विशेष दायित्वो (obligations) का भी उल्लेख किया था जो इस प्रकार हैं—(क) सरक्षित

उद्योगों को अपने उत्पादन का पैमाना निरन्तर बढ़ाते रहना चाहिए, (ख) संरक्षित उद्योगों को उत्पादित वस्तुओं की मात्रा गुण एवं मूल्य निश्चित करते समय सदैव उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखना चाहिए (ग) संरक्षित उद्योगों को नवीनतम एवं दिनाप्त उत्पादन पद्धतियों एवं मशीनों का प्रयोग करके अपनी लागतों को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए, (घ) संरक्षित उद्योगों को अपने कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं उत्पादन सम्बन्धी अनुसन्धान की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, (ङ) संरक्षित उद्योगों को यथासम्भव स्थानीय कच्चे माल का ही प्रयोग करना चाहिये, (च) संरक्षित उद्योगों द्वारा समाज विरोधी रीतियों को नहीं अपनाया जाना चाहिए।

भारत सरकार ने तट कर आयोग की लगभग सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली और उन्हें कार्यरूप देने के लिए सन 1952 में एक स्थायी तटकर आयोग (Tariff Commission) नियुक्त किया गया। इस आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गये थे। गत 24 वर्षों में इस आयोग ने बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। जिन उद्योगों को इस आयोग द्वारा संरक्षण देने की सिफारिश की गयी थी उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—साइकिल एल्यूमीनियम कास्टिक सोडा, सूती कपड़ा उद्योग की मशीनें रंग बिजली की मोटरें दियासलाई, रेशम, मोटर गाड़ी, शीट ग्लास (sheet glass), बाल बीयरिंग, बिजली ट्रांसफॉर्मर, स्पार्क प्लग इत्यादि। इस प्रकार प्रशुल्क आयोग की उक्त कार्यवाही के कारण भारत के औद्योगिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

सन 1965 66 में तट कर आयोग की सिफारिश पर भारत सरकार ने दियासलाई उद्योग से संरक्षण वापस ले लिया था। भारत सरकार ने शीट ग्लास, बिजली मोटरों, अलौह धातुओं, बिजली ट्रांसफॉर्मरों तथा बाल बीयरिंग उद्योगों से भी संरक्षण वापस ले लिया, यद्यपि तट-कर आयोग ने उन्हें संरक्षण जारी रखने की सिफारिश की थी। इसी वर्ष तट-कर आयोग के कार्यों एवं संरक्षण नीति की समीक्षा करने के लिये डा० बी० के० आर० बी० राव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई थी। इसी प्रकार श्री एस० सुब्रामन्यम की अध्यक्षता में तट कर संशोधन समिति (Tariff Revision Committee) भी नियुक्त की गयी थी। भारत सरकार ने इस समिति द्वारा प्रस्तुत लगभग सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया है। सन् 1967 68 में तट-कर आयोग ने रंग निर्माण उद्योग (dyestuff industry) को 31 दिसम्बर, 1968 तक संरक्षण जारी रखने की सिफारिश की थी। भारत सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया था।

वर्तमान संरक्षण नीति की समीक्षा—भारत सरकार की वर्तमान संरक्षण-नीति पुरानी संरक्षण नीति की अपेक्षा अधिक उदार है और जैसा ऊपर कहा गया है, इससे भारत के औद्योगिक विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला है। **प्रथम**, वर्तमान तट-कर आयोग पुराने तट-कर बोर्डों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुआ है। पुराने तट-कर बोर्ड अस्थायी होने के कारण उद्योग धन्धों के लिए कोई अधिक सेवा नहीं कर सकते थे, परन्तु वर्तमान आयोग स्थायी आधार पर स्थापित किया गया है। अतएव यह उद्योग धन्धों के लिए अधिक उपयोगी सेवा कर सकता है। इसके अतिरिक्त आयोग के स्थायी होने के कारण संरक्षण-नीति में भी निरन्तरता (continuity) उत्पन्न हो गयी है।[1] **दूसरे**, उद्योग को संरक्षण देते समय यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशेष शर्त को पूरा करे। यदि उद्योग देश के हित में है तो उसे संरक्षण अवश्य ही दिया जाता है। **तीसरे**, आधारभूत उद्योगों को संरक्षण देने के लिए कोई भी शर्त नहीं है। उन्हें तो बिना किसी शर्त को पूरा किये ही संरक्षण उपलब्ध हो सकता है। **चौथे** युद्धोत्तरकाल में उद्योग धन्धों को केवल तीन वर्षों के लिए ही संरक्षण दिया जाता था। परन्तु अब इस प्रकार की समय सीमा उचित नहीं समझी जाती। संरक्षण की समयावधि (time limit) का निर्धारण करने में तट कर आयोग पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है और वह उद्योग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही इस बात का निर्णय करता है। **पाँचवें** पुरानी नीति के अन्तर्गत तट-कर बोर्ड द्वारा प्रस्तुत की गयी सिफारिशों पर कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कोई निश्चित समय-सीमा नहीं थी जिसके परिणामस्वरूप सरकार द्वारा निर्णय लेने में प्राय बहुत देर हो जाया करती थी। परन्तु अब नयी नीति के अन्तर्गत सरकार को तीन महीनों के अन्दर ही आयोग की सिफारिशों पर अपना निर्णय देना पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी नीति पुरानी नीति की तुलना में अधिक उदार, सुनिश्चित एवं औद्योगिक विकास के अनुकूल है।

[1] सन् 1976 से इस आयोग को भारत सरकार द्वारा समाप्त कर दिया गया था।

भारत की व्यापारिक नीति
(India's Commercial Policy)

भारत की व्यापारिक नीति का अध्ययन हम दो शीर्षको के अन्तर्गत करेंगे—(क) शाही अधिमान नीति, (ख) द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते।

(क) शाही अधिमान नीति (Policy of Imperial Preference)—भारत ने शाही अधिमान नीति काफी लम्बे समय से अपना रखी है। शाही अधिमान से अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देश एक दूसरे के माल को प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें देते है। दूसरे शब्दों मे, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य देश एक-दूसरे के आयातो पर कम आयात प्रशुल्क वसूल करते है। इस तरह शाही अधिमान का उद्देश्य ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल देशो के बीच व्यापार को प्रोत्साहन देना है।

सर्वप्रथम, सन् 1897 मे कनाडा ने इस नीति को अपनाया था और उसने ब्रिटिश माल को प्रशुल्क करो से पूर्णत छूट दी थी। परन्तु इसके बदले ब्रिटेन ने कनाडा को किसी प्रकार की सुविधाएँ नही दी थी। सन् 1902 मे एक औपनिवेशक सम्मेलन (Colonial Conference) हुआ जिसमें शाही अधिमान नीति का समर्थन किया गया तथा साम्राज्य के उपनिवेशो से सिफारिश की गयी कि वे इस नीति को अपनायें। इसके पश्चात् सन् 1917 मे शाही युद्ध सम्मेलन तथा सन् 1923 मे शाही आर्थिक सम्मेलन ने भी इस नीति का समर्थन किया था। इसके फलस्वरूप साम्राज्य के लगभग 26 देशो ने इस नीति को अपनाया था। परन्तु सन 1932 मे ओटावा (Ottawa) मे हुए शाही आर्थिक सम्मेलन मे इसको अन्तिम स्वीकृति प्रदान की गयी जिसके परिणामस्वरूप और अधिक देशो ने इस नीति को अपनाया था। इस सम्मेलन में ही भारत तथा ब्रिटेन ने ओटावा समझौते (Ottawa Agreement) पर हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन तथा भारत ने अपने अपने आयातो पर एक दूसरे को प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें देना स्वीकार किया था।

जैसा ऊपर कहा गया है सन् 1932 में भारत ने शाही अधिमान नीति को अपनाना स्वीकार कर लिया था परन्तु उससे पूर्व भारत सरकार सदैव शाही अधिमान नीति का विरोध करती रही थी। सन् 1903 मे सर्वप्रथम जब इस नीति को अपनाने का प्रश्न उत्पन्न हुआ था तब भारत सरकार ने इसका कड़ा विरोध किया था। सन् 1917 मे यह प्रश्न पुन उठाया गया, परन्तु फिर भी भारत सरकार ने इसे अपनाने से इन्कार कर दिया था। सन् 1921 मे भारत सरकार ने इस विषय पर तट कर आयोग को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए कहा था। तट कर आयोग ने बहुत सोच विचार के बाद भारत सरकार से सिफारिश की कि वह शाही अधिमान नीति को तभी स्वीकार करे जब निम्नलिखित शर्तें पूरी की जायें। दूसरे शब्दो मे, तट-कर आयोग ने सशर्त शाही अधिमान नीति (Policy of Conditional Imperial Preference) का समर्थन किया था। इसकी शर्तें इस प्रकार थी—(अ) किसी वस्तु के सम्बन्ध मे प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें देने से पूर्व भारतीय ससद की स्वीकृति प्राप्त की जाय, (ब) प्रशुल्क सम्बन्धी सुविधाओ के दिए जाने से भारतीय उद्योगो को दिये गये सरक्षण मे किसी प्रकार की कमी न हो, (स) प्रशुल्क सम्बन्धी सुविधाएँ देने से देश को किसी प्रकार की हानि नही होनी चाहिए, (द) ब्रिटेन के सम्बन्ध मे यह अधिमान ऐच्छिक हो परन्तु अन्य देशो के लिए परस्पर आधार पर हो।

परन्तु भारत सरकार ने तट-कर आयोग की उपर्युक्त सिफारिशो को स्वीकार नही किया और जैसा ऊपर कहा गया है सन् 1932 मे बिना किसी शर्त के शाही अधिमान नीति को अपना लिया था। शाही अधिमान नीति कुछ समय पूर्व भारत की व्यापारिक नीति का एक महत्वपूर्ण अग थी। किन्तु आजकल उसे शाही अधिमान न कह कर राष्ट्रमण्डलीय अधिमान (Common Wealth Preference) कहा जाता है। इस नीति के अन्तर्गत भारत सरकार ने राष्ट्रमण्डलीय देशो को कई प्रकार की प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें प्रदान की थीं और बदले मे उनसे भी इस प्रकार की रियायतें प्राप्त की थी। कुछ लोगो का विचार है कि भारत सरकार को अब इस नीति का परित्याग कर देना चाहिए, परन्तु भारत सरकार का यह मत है कि इस समय भारत को इस नीति से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हो रहा है। यदि भविष्य मे किसी समय भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप बदल जाता है अर्थात् राष्ट्रमण्डलीय देशो के साथ भारत का व्यापार कम हो जाता है तो ऐसी परिस्थिति मे भारत इस नीति का परित्याग करने मे नही हिचकिचायेगा।

जैसा कि सुविदित है, 1 जनवरी 1973 को ब्रिटेन यूरोपीय साझा मण्डी का सदस्य बन गया था। उसी दिन ब्रिटिश सरकार ने भारत सरकार को नोटिस देकर सन् 1932 के ओटावा समझौते को समाप्त कर दिया था। 31 जनवरी 1973 से भारतीय माल को ब्रिटिश बाजार में मिलने वाली सभी प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें ब्रिटेन द्वारा वापस ले ली गयी थीं। इस तिथि के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारतीय माल पर ऊँचे तट-कर लगाने प्रारम्भ कर दिए थे। इससे भारतीय निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए ब्रिटेन ने भारत के हितों की बलि दे दी थी।

(ख) द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements)—जब दो देशों के बीच अल्पकाल के लिए कोई व्यापारिक समझौता किया जाता है तो इसे द्विपक्षीय समझौता कहते हैं। अल्पकाल से यहाँ पर अभिप्राय एक वर्ष या उससे कम अवधि का है। जब समझौते की अवधि समाप्त हो जाती है तब समझौते की अवधि को बढ़ा दिया जाता है अथवा उसके स्थान पर नया समझौता कर लिया जाता है। इस प्रकार द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते सदैव अस्थायी होते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के समझौते से विश्व के देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार में अड़चनें उत्पन्न हो जाती हैं और विदेशी व्यापार की मात्रा कम हो जाती है। अतः इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौतों को विश्व व्यापार के हितों में नहीं समझा जाता। परन्तु जिन देशों के बीच इस प्रकार का समझौता किया जाता है उनके व्यापार में अवश्य ही वृद्धि होती है।

सन् 1947 के बाद भारत ने अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते किये है, जैसे भारत व चेकोस्लोवाकिया, भारत व यूगोस्लाविया भारत व पोलैंड, भारत व बल्गारिया, भारत व रूमानिया, भारत व रूस, भारत व नार्वे, भारत व स्वीडन भारत व इराक, भारत व पश्चिमी जर्मनी, भारत व पाकिस्तान, भारत व यू०ए०आर०, भारत व सूडान भारत व श्रीलंका। सन् 1965 66 में भारत तथा रूस के बीच एक नया पंच वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ था। इसके अन्तर्गत भारत तथा रूस के बीच होने वाले व्यापार को सन् 1979 तक दुगना कर दिया जाना था। इस प्रकार दोनों देशों के बीच होने वाले व्यापार के मूल्य को 75 करोड़ रु० से बढ़ाकर 150 करोड़ रु० कर दिया जायगा। 31 मार्च 1966 को भारत के लगभग 31 देशों के साथ इस प्रकार के समझौते थे। इन समझौतों से भारत के विदेशी व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन 1967 68 में भारत यू० ए० आर० (U A R) एवं यूगोस्लाविया (Yugoslavia) के बीच त्रिपक्षीय व्यापारिक समझौता हुआ था। इसी बीच ब्राजील, मंगोलिया एवं फिलीपीन्स के साथ नये व्यापारिक समझौते किये गये थे। सन् 1968-69 में उत्तरी कोरिया, बल्गारिया पूर्वी जर्मनी पोलैंड तथा रूमानिया के साथ नये व्यापारिक समझौते किये गये थे। सन् 1971 72 में बंगला देश (ढाका) में भारतीय उच्च आयोग की देखरेख में एक वाणिज्य कार्यालय स्थापित किया गया था।

सन् 1974 75 में भारत ने बंगला देश, बर्मा, पाकिस्तान, कोरिया, उत्तरी वियतनाम, कुवैत रूस बल्गारिया रूमानिया इत्यादि देशों से द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते किये थे।

राज्य व्यापार निगम
(State Trading Corporation)

राज्य व्यापार निगम की स्थापना मई 1956 में की गयी थी। इसकी अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रु० है। यह पूर्णत भारत सरकार के स्वामित्व में है। इसका मुख्य उद्देश्य समाजवादी देशों के साथ भारत के व्यापार को प्रोत्साहित करना है। अत यह निगम इन देशों को भारतीय माल निर्यात करता है और भारत के उद्योगों के लिए उसके कच्चे माल का आयात करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि निगम केवल समाजवादी देशों के साथ ही व्यापार करता है। निगम ने गैर-समाजवादी देशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। निगम भारत के परम्परागत एवं गैर-परम्परागत निर्यातों को बढ़ाने की चेष्टा करता है। इसने कुछ देशों के साथ वस्तु विनिमय सौदे (barter deals) भी किये हैं जिनके अन्तर्गत कुछ आवश्यक कच्चे माल का विदेशों से आयात किया गया है। निगम भारत के लघु उद्योगों के माल के लिए भी विदेशों में नये बाजारों की खोज करता है। सन् 1974-75 में इस निगम ने लगभग 794

करोड़ रु० के मूल्य का व्यापार किया था। इसके द्वारा जिन वस्तुओ का निर्यात किया गया है, वे इस प्रकार हैं सूती एव ऊनी कपडा, रासायनिक पदार्थ, जूते, कच्ची अफीम, फलो का रस, लेमानग्रास तेल, रेलो का सामान, इजीनियरिंग वस्तुएँ इत्यादि। इसके द्वारा आयात की गयी वस्तुएँ इस प्रकार थी . भारी मशीने एव इजीनियरिंग पदार्थ, औद्योगिक कच्चा माल, रासायनिक पदार्थ, सोयाबीन का तेल, अखबारी कागज, कच्ची ऊन इत्यादि, जहाँ तक निर्यातो का सम्बन्ध है, राज्य व्यापार निगम ने बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। इस समय 41 देशो से यह निगम 108 निर्यात-वस्तुओ मे व्यापार कर रहा है। यहाँ तक कि रूस, थाईलैण्ड, श्रीलका, बर्मा एव दक्षिणी कोरिया जैसे देशो को रेलो का सामान निर्यात करने मे भी इसने बहुमूल्य सहायता दी है। सन् *1967 68 मे निगम ने रूस से 200 और दक्षिणी कोरिया से 1100 मालगाडी के डिब्बो के* आर्डर प्राप्त किये थे। विश्व बाजारो मे व्यापार-सम्बन्धी प्रवृत्तियो से सम्पर्क बनाये रखने हेतु *निगम ने बगकोक, बेरूत, बुडापेस्ट, काहिरा, कोलम्बो, पूर्वी बर्लिन, लागोस, मोण्ट्रीयाल, मास्को* नेरोबी प्राग, रोटरडम एव तेहरान मे अपने कार्यालय स्थापित कर रखे हैं। यह निगम भारत के सार्वजनिक क्षेत्र मे एक सफल सरकारी उपक्रम का ज्वलन्त उदाहरण है। सन् 1975-76 मे निगम द्वारा किये गये निर्यातो का कुल मूल्य 760 करोड रु० था जबकि सन् 1974-75 मे 559 करोड रु० के निर्यात किये गये थे। यह सुधार विशेषत चीनी, चमडा, सीमेंट, तिलहन, नमक इत्यादि का अधिक निर्यात करने से हुआ था। इसी प्रकार सन् 1975-76 मे निगम द्वारा किये गये आयातो का कुल मूल्य 217 करोड रु० था जबकि सन् 1974-75 मे 232 करोड रु० के आयात किये गये थे। इस प्रकार सन् 1975 76 मे आयातो के मूल्य मे 6 प्रतिशत की कमी हुई थी। विगत 16 वर्षों मे इस निगम ने सरकार को लगभग 59 7 करोड रुपये आयकर एव लाभाश के रूप मे दिये गये हैं। इसकी रिजर्व निधि लगभग 13 4 करोड रुपये है।

राज्य व्यापार निगम का एक सहायक (subsidiary) निगम भी है। इसे हस्तशिल्प एव हाथकर्घा उत्पादन निर्यात निगम (Handicrafts and Handlooms Export Corporation) कहा जाता है। इसका उद्देश्य हस्तशिल्प एव हाथकर्घा उद्योगो के माल के निर्यात को प्रोत्साहित करना है। सन् 1975-76 मे इस निगम द्वारा किये गये निर्यातो का कुल मूल्य 10 करोड रुपये था।

अप्रैल 1963 मे भारत सरकार ने देश के विदेशी व्यापार को बढाने हेतु एक अन्य निगम की स्थापना की थी। इसे खनिज एव धातु व्यापार निगम (Minerals and Metals Trading Corporation) का नाम दिया गया था। यह निगम भी पूर्णत भारत सरकार के स्वामित्व मे है। इसकी अधिकृत पूँजी 5 करोड रु० है। इस निगम के दो उद्देश्य हैं—प्रथम, विदेशो को कच्चे खनिज पदार्थों (*mineral ores*) का *निर्यात करना तथा उनसे धातुओ का आयात करना*। दूसरे, भारतीय निर्यातो का विविधीकरण (diversification) करने हेतु कच्चे खनिज पदार्थों के लिए नये नये *विदेशी बाजारो की खोज करना। इस समय निगम लगभग एकाधिकारात्मक आधार पर कच्चे* लोहे का निर्यात कर रहा है। इसके द्वारा निर्यात किये जाने वाले अन्य खनिज पदार्थ हैं—कोयला, बॉक्साइट (bauxite), फैरो-मेंगनीज (ferro-manganese) इत्यादि। सन् 1975-76 मे इस निगम ने 168 करोड रु० के निर्यात किये थे जबकि सन् 1974-75 मे निर्यातो का कुल मूल्य 138 करोड रु० ही था। इसके द्वारा आयात किये जाने वाले मुख्य पदार्थ हैं—इस्पात, ताँबा, टिन, जस्ता, निकिल (nickle), प्लाटीनम (Platinum)। सन् 1975-76 मे निगम द्वारा किये गये आयातो का कुल मूल्य 539 करोड रु० था जब कि सन् 1974-75 मे आयातो का कुल मूल्य 496 करोड रु० था।

हवाना चार्टर
(Havana Charter)

दूसरे विश्व युद्ध के कारण विभिन्न देशो को काफी आर्थिक हानियाँ उठानी पडी थी। अत युद्ध के बाद सभी देशो ने यह अनुभव किया कि आर्थिक उन्नति के लिए अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य को लेकर ब्रेटन वुड्स मे एक सम्मेलन किया गया था। इस सम्मेलन मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को बढाने के लिए कई प्रकार के सुझाव प्रस्तुत

किये गये थे। इन्ही सुझावो के आधार पर एक चार्टर बनाया गया और स्वीकृति हेतु इसे विभिन्न देशो को भेजा गया था। अन्त मे, मार्च 1948 मे हवाना मे एक विधान बनाया गया जो हवाना चार्टर के नाम से आगे चलकर प्रसिद्ध हुआ। इस चार्टर पर 56 देशो ने अपनी सहमति प्रकट की थी। भारत भी उनमे से एक देश था।

हवाना चार्टर का उद्देश्य अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे पडने वाली अडचनो एवं बाधाओ को दूर करके उसे बढावा देना है। अत इस चार्टर के अन्तर्गत सभी देशो से यह अपील की गयी थी कि वे अपने विदेशी व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धो को दूर अथवा कम करें। इस प्रकार हवाना चार्टर ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को बढाने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

व्यापार तथा प्रशुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौता
(General Agreement on Trade and Tariffs)

अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सरक्षण सम्बन्धी प्रतिबन्धो को हटाने के लिए अमरीका तथा 23 अन्य देशो ने मिलकर एक समझौता किया था। इस समझौते के अन्तर्गत यह निश्चित किया गया कि यदि कोई देश किसी दूसरे देश को प्रशुल्क सम्बन्धी रियायत देता है तो वह रियायत सभी देशो को देनी पडेगी। दूसरे शब्दो मे, कोई सदस्य देश अन्य देशो के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार नही कर सकता। इस समझौते के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे—(क) सदस्य देशो मे व्यापार सम्बन्धी भेद भाव को हटाकर मित्रता की भावना उत्पन्न करना, (ख) अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार पर लगाये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिबन्धो को दूर व कम करना, (ग) अन्तर राष्ट्रीय व्यापार को बढावा देने के लिए अन्य कदम उठाना।

प्रारम्भ मे इस समझौते पर 23 सदस्य देशो ने हस्ताक्षर किये थे परन्तु आगे चलकर सदस्यो की सख्या 39 हो गयी थी। इस समझौते के अन्तर्गत विभिन्न देशो के बीच 147 द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते किये गये थे। इनके अन्तर्गत, विभिन्न देशो ने एक दूसरे को प्रशुल्क सम्बन्धी रियायतें प्रदान की थीं। ब्रिटेन, अमरीका आदि देशो ने भी आयात-प्रशुल्को मे कुछ कमी की थी। अत इस प्रकार इस सामान्य समझौते के कारण विभिन्न देशो ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धो मे कमी करके इसे बढावा दिया। जुलाई 1948 मे भारत ने भी इस समझौते के अन्तर्गत विभिन्न देशो को प्रशुल्क सम्बन्धी छूट देनी स्वीकार की। भारत को कुछ वस्तुओ पर प्रशुल्क सम्बन्धी छूट मिली है—सूती कपडा, जूट का सामान, नारियल की चटाइयाँ, मसाले, चमडे का सामान, काजू, कालीन, अभ्रक आदि। इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने इन देशो के साथ व्यापारिक समझौते भी किये हैं— अमरीका, कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, क्यूबा, इटली, स्वीडन, फिनलैण्ड, सीरिया, लेबनान आदि।

विभिन्न देशो के बीच व्यापारिक बातचीत हेतु 1 मई, 1964 को जेनेवा मे GATT द्वारा एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसे Kennedy Round of Negotiations कहा जाता है। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य आपसी बातचीत द्वारा तट-करो (tariff duties) मे कमी करके अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को बढावा देना है। 30 जून, 1967 को सदस्य देशो द्वारा एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये थे। इसके अनुसार औद्योगिक वस्तुओ के आयात पर तट-कर (Custom duty) लगभग 30 प्रतिशत कम कर दिया गया था। इसके साथ ही साथ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह मे उपस्थित बाधाओ को दूर अथवा कम करने के प्रयास भी किये जाने थे। उपर्युक्त सन्धि के अन्तर्गत अमरीका, ब्रिटेन तथा कुछ अन्य पश्चिमी देशो ने 1 जनवरी, 1968 से विकासशील देशो से आयातित माल पर लगाये जाने वाले तट-करो मे कटौती कर दी थी। सन 1968-69 मे GATT के प्रयासो के परिणामस्वरूप व्यापारिक नीतियो का कुछ और अधिक उदारीकरण (liberalisation) हुआ था। विकसित देशो द्वारा विकासशील देशो को कुछ और रियायतें दी गयी, यद्यपि ये रियायतें अधिक नही थीं। GATT का 26 वाँ अधिवेशन फरवरी, 1970 मे जेनेवा मे हुआ था। इस अधिवेशन मे विकासशील देशो की व्यापारिक स्थिति मे सुधार करने हेतु अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये थे, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन द्वारा 15 अगस्त, 1971 को घोषित नवीन आर्थिक नीति ने GATT के सभी प्रयासो पर पानी फेर दिया है। इसके अन्तर्गत, अमरीकी सरकार ने विकासशील देशो से आयात किये गये माल पर 10

प्रतिशत अतिरिक्त आयात कर लगा दिया था। यही नहीं, विकासशील देशो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता मे भी 10 प्रतिशत की कटौती कर दी गयी थी।

सन् 1974-75 मे GATT के अन्तर्गत भारत ने सयुक्त राज्य अमरीका, तथा आस्ट्रिया यूरोपीय साझा मण्डी के देशो से नये दिपक्षीय समझौते किये थे। इनके अधीन इन देशो ने भारत से आयात किये जाने वाले सूती कपडे के कोटो मे वृद्धि कर दी थी।

सयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन
(U N Conference on Trade and Development)

यह सम्मेलन 23 मार्च से 16 जून, 1964 तक जेनेवा मे हुआ था। इसका आयोजन सयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक एव सामाजिक परिषद (U N Economic and Social Council) द्वारा किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना तथा विकासशील देशो की विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु व्यापारिक उपायो का सुझाव देना था। अत इस सम्मेलन मे यह विचार किया गया कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह मे उपस्थित बाधाओ एव अडचनो को कैसे दूर किया जाय और विकासशील देशो के निर्यातो को कैसे प्रोत्साहित किया जाय। विचार विमर्श के उपरान्त अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने हेतु कई सामान्य एव विशिष्ट सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया था। इस सम्मेलन ने एक व्यापार एव विकास बोर्ड (Trade and Development Board) की स्थायी आधार पर स्थापना भी की थी। यह बोर्ड सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थायी मशीनरी के रूप मे काम करता रहेगा। इस बोर्ड के लिए 65 सदस्य सम्मेलन द्वारा चुने गये थे। भारत भी इस बोर्ड का सदस्य है।

लेकिन खेद का विषय है कि इस सम्मेलन की सिफारिशो के बावजूद विकसित देशो की सरकारो ने अविकसित देशो के निर्यातो को प्रोत्साहन देने हेतु अपने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धो को अधिक ढीला नही किया है।

दूसरा सयुक्त राष्ट्र व्यापार एव विकास सम्मेलन (UNCTAD) फरवरी, मार्च 1968 मे नयी दिल्ली मे हुआ था। लेकिन इसमे भी अल्प-विकसित देशो को व्यापार-सम्बन्धी कोई विशेष-रियायतें नही मिली। वास्तव मे, यह सम्मेलन विफल ही रहा। अल्प विकसित देशो को इस सम्मेलन से घोर निराशा ही हुई थी। इस सम्मेलन ने थोडी बहुत जो सिफारिशें की हैं, विकसित देश उन्हे क्रियान्वित करने मे आना कानी कर रहे हैं। विकसित देशो के इस रवैये से सम्मेलन के महामन्त्री डॉ० रॉल प्रेबिश (Raul Prebisch) इतने निराश हुए कि उन्होने सितम्बर 1968 मे अपने पद से त्यागपत्र ही दे दिया था। लेकिन विकसित देशो पर इसका भी कुछ प्रभाव नही पडा है। वास्तव मे, विकसित देशो का यह स्वार्थपूर्ण रवैया बहुत ही खेदजनक है। सत्य तो यह है कि विकसित देश अपने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धो को ढीला करके विकासशील देशो की सहायता नही करना चाहते।

सयुक्त राष्ट्र व्यापार एव विकास का तीसरा सम्मेलन (UNCTAD III) अप्रैल 1972 मे चिली की राजधानी सान्तियागो (Santiago) मे आयोजित किया गया था। लेकिन इस सम्मेलन से भी कोई विशेष परिणाम न निकले। विकासशील देशो के प्रति विकसित देशो का रवैया यथापूर्व असहानुभूतिक एव निराशाजनक ही रहा।

सयुक्त राष्ट्र व्यापार एव विकास का चौथा सम्मेलन मई 1976 मे नैरोबी (Nairobi) मे हुआ था। इस सम्मेलन मे मुख्यत एकीकृत वस्तु-कार्यक्रम (integrated commodities programme) पर विचार विमर्श हुआ था। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य यह था कि विकासशील देशो द्वारा निर्यात किये जाने वाले कुछ कच्चे पदार्थो का भण्डार (stock piling) कर लिया जाये। इस भण्डार का वित्तपोषण (finance) करने हेतु विशेष कोष स्थापित किया जाय। इस मे 3 बिलियन अमरीकी डालरो की धनराशि जमा की जाये। यह धनराशि विकसित तथा विकासशील दोनो प्रकार के देशो द्वारा प्रदान की जाय। इस कोष की धनराशि का प्रयोग कच्चे पदार्थों का भण्डार करने के लिये किया जाय। इस भण्डार का उद्देश्य कच्चे माल की अन्तरराष्ट्रीय कीमतो मे होने वाले भारी उतार-चढाव को रोकना था। (स्मरण रहे इन्ही उतार-चढाव के कारण विकासशील देशो को बहुत हानि होती है।) इस विषय पर UNCTAD द्वारा एक प्रस्ताव

पारित किया गया था। इस प्रस्ताव के अनुसार फरवरी, 1978 तक विकसित एव विकासशील देशों के बीच वस्तु भण्डार-निर्माण के विषय पर वार्ताएँ चलेंगी। तदुपरान्त कोई ठोस निर्णय लिया जा सकेगा।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त संकेत

1 **विवेचनात्मक सरक्षण के अर्थ को समझाइए। क्या यह एक पिछड़े हुए देश को औद्योगिक प्रगति के लिए सहायता प्रदान कर सकता है?** (सागर 1962, आगरा, 1972)

[सकेत—प्रथम भाग मे विवेचनात्मक सरक्षण का अर्थ बताते हुए इसकी व्याख्या कीजिए और स्पष्टत बताइए कि पुरानी सरक्षण नीति के अन्तर्गत भारतीय उद्योगो को सरक्षण देते समय किन किन शर्तों पर जोर दिया जाता था? दूसरे भाग मे, यह बताइए कि एक पिछड़े हुए देश की औद्योगिक प्रगति के लिए विवेचनात्मक सरक्षण की नीति नितान्त अपर्याप्त सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध मे भारत का ही उदाहरण प्रस्तुत कीजिए और बताइए कि दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व इसी नीति के परिणामस्वरूप देश का पर्याप्त औद्योगिक विकास नही हो सका था। इसका कारण यह था कि यह नीति उदार, सुनिश्चित एव औद्योगिक विकास के अनुकूल नही थी।]

2 **भारतीय प्रशुल्क आयोग (1949 50) की मुख्य सिफारिशो की विवेचना कीजिए।** (सागर, 1960)

[सकेत—यहाँ पर भारतीय प्रशुल्क आयोग की मुख्य सिफारिशों की तीन उपशीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना कीजिए—(क) प्रतिरक्षा एव आधारमूलक उद्योगो के सम्बन्ध मे सिफारिशें (ख) अन्य उद्योगो के सम्बन्ध मे सिफारिशें, (ग) सरक्षित उद्योगो पर डाले गये दायित्वा के सम्बन्ध मे सिफारिशें। अन्त मे, यह निष्कर्ष निकालिए कि भारतीय प्रशुल्क आयोग की उपर्युक्त सिफारिशें देश के औद्योगिक विकास के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं। स्मरण रहे कि भारत सरकार ने इन सभी सिफारिशो को पूर्ण रूप मे स्वीकार कर लिया था।]

3 **भारत मे विवेकपूर्ण सरक्षण की नीति की असफलताओ की विवेचना कीजिए।** (सागर, बी० कॉम० 1972)

[सकेत—यहाँ पर पहले विवेकपूर्ण सरक्षण का अर्थ बताते हुए इसकी मुख्य मुख्य विशेषताओ का वर्णन कीजिए। तदुपरान्त, इस नीति की सफलताओ की विवेचना कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि इसके कारण इस मात्रा तक देश का औद्योगिक विकास सम्भव हो सका था। साथ ही यह भी स्पष्ट कीजिए कि यह नीति कोई अधिक उदार एव कारगर सिद्ध नही हुई थी।]

4 **निम्न पर लघु टिप्पणियाँ लिखिए**

(क) शाही अधिमान नीति,

(ख) द्विपक्षीय व्यापार समझौते।

[सकेत—प्रथम भाग मे शाही अधिमान नीति का इतिहास बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि यह भारत को व्यापारिक नीति का एक महत्वपूर्ण अग रही है और इससे भारत को लाभ प्राप्त हुए हैं। दूसरे भाग मे, द्विपक्षीय व्यापार समझौते का अर्थ समझाते हुए इसकी उपयोगिता की व्याख्या कीजिए और बताइए कि भारत सरकार ने किन किन देशों के साथ इस प्रकार के समझौते किये हैं।]

21

भारत का विदेशी व्यापार
(India's Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास को हम चार भागो मे विभाजित कर सकते है

(1) दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व विदेशी व्यापार—प्राचीनकाल मे विश्व के विभिन्न देशो के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हुआ करते थे। भारत उस समय विदेशो को सूती कपडा, धातु के बर्तन गरम मसाले हाथी के दाँत आदि वस्तुओ का निर्यात किया करता था और बदले मे शराब सोना घोडे इत्यादि का आयात किया करता था। मुगलकाल मे भारत के समुद्री व्यापार मे कुछ कमी हो गयी परन्तु इस काल मे भारत यूरोप व चीन के साथ व्यापार करता रहा। मुगलो के बाद भारत मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) का आधिपत्य स्थापित हुआ था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत से सूती कपड़े तथा मलमल का ब्रिटेन को निर्यात किया करती थी। परन्तु ब्रिटेन मे औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् भारत के इस व्यापार का स्वरूप बदल गया था। इसका कारण यह था कि अब ब्रिटेन ने भारतीय वस्तुओ के आयात पर भारी कर लगाने शुरू कर दिये थे। इसके परिणामस्वरूप अब भारत ब्रिटेन को तैयार माल के स्थान पर कच्चे माल का निर्यात करने लगा। 20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के विदेशी व्यापार मे आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि रेलो के बन जाने से माल के आवागमन में काफी सुविधा हो गयी थी। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के छिड जाने के कारण भारत के विदेशी व्यापार मे कमी हो गई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्ध के कारण व्यापार के लिए समुद्री जहाज उपलब्ध नही थे। प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त हो जाने पर भारत के विदेशी व्यापार मे पुन वृद्धि हुई परन्तु भारत की निर्यात उस मात्रा मे नही बढ सके जिसमे कि आयातो की वृद्धि हुई थी। इसका मुख्य कारण भारत के विदेशी विनिमय-दर की प्रतिकूलता थी। सन् 1929 मे महामन्दी (great depression) के कारण भारत के विदेशी व्यापार मे अत्यधिक कमी हो गयी थी। इसका कारण यह था कि मन्दी के कारण तैयार माल की अपेक्षा कच्चे माल की कीमतो मे अधिक कमी हुई थी। परिणामत आयातो की तुलना मे भारत के निर्यात बहुत कम हो गये थे। सन् 1934 के बाद महामन्दी का प्रभाव धीरे धीरे कम होने के कारण भारत के विदेशी व्यापार मे कुछ थोडी बहुत वृद्धि होने लगी थी।

(2) दूसरे विश्व युद्ध के दौरान (1939 44) विदेशी व्यापार— दूसरे विश्व युद्ध के शुरू हो जाने के दो वर्षो तक भारत के आयात एव निर्यात दोनो मे ही वृद्धि हुई और इस प्रकार भारत का कुल विदेशी व्यापार बढ गया। परन्तु सन 1942-43 मे निर्यातो एव आयातो मे भारी कमी हुई। सन 1943 44 मे भी स्थिति मे कोई विशेष सुधार नही हुआ था। सन् 1944-45 मे निर्यात तथा आयात दोनो ही बढ गये, परन्तु निर्यातो की तुलना मे आयात अधिक मात्रा मे बढे थे। समूचे युद्धकाल मे ब्रिटेन के प्रति भारत का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल रहा था। भारत के युद्ध-कालीन विदेशी व्यापार की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(क) युद्ध के छिड जाने से शत्रु देशो (जर्मनी, इटली, और जापान) से भारत का व्यापार बिलकुल बन्द हो गया, (ख) दक्षिणी पूर्वी एशिया के जिन देशो पर जापान ने अधिकार कर लिया था, उनके साथ भी भारत का व्यापार समाप्त हो गया, (ग) युद्धकाल मे भारत का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल ही रहा, (घ) युद्धकाल मे भारत के आयातो एव निर्यातो पर सरकार द्वारा कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये, (ङ) व्यापार सन्तुलन की अत्यधिक अनुकूलता के कारण युद्धकाल मे भारत ने बडी मात्रा मे पौण्ड पावने (sterling balances) अर्जित कर लिये थे। इसका कारण यह था कि भारत द्वारा विदेशो को सप्लाई किये गये माल का भुगतान प्राय स्टर्लिंग (sterling) मे ही किया जाता था। इस प्रकार भारत ने बडी मात्रा मे पौण्ड पावने एकत्रित कर लिये, किन्तु भारतीय निर्यातकर्ताओ को उनके माल का भुगतान भारतीय मुद्रा मे ही किया जाता था। इसी कारण भारत सरकार ने बडी मात्रा मे पौण्ड पावने की प्रतिभूति (security) के आधार पर मुद्रा का निर्गमन किया जिससे देश मे मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न हो गई, (च) युद्धकाल मे साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) की स्थापना के फलस्वरूप भारत के लिए अमरीका से माल खरीदना कठिन हो गया था। इसका कारण यह था कि भारत को अमरीका से अपने माल के बदले जो डालर प्राप्त होते थे वे सभी के सभी कोष मे जमा कर दिये जाते थे और अपनी आवश्यकताओ के लिए भारत को डालर के कोष से डालर प्राप्त करने पडते थे, परन्तु डालर कोष भारत को उसकी आवश्यकताओ के अनुसार डालर नही दिया करता था। इस कारण भारत को अमरीका से माल आयात करने मे कठिनाई होती थी।

(3) **युद्धोत्तरकाल (1945-50) में विदेशी व्यापार**—युद्धोत्तरकाल मे भारत के आयातो मे तीव्र वृद्धि हुई, परन्तु निर्यातो मे कमी हो गयी जिसके फलस्वरूप भारत का व्यापार-सन्तुलन बहुत ही प्रतिकूल हो गया था। स्मरण रहे कि युद्धकाल मे भारत का व्यापार-सन्तुलन बहुत अनुकूल रहा था। युद्धोत्तरकाल मे भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार रही हैं—(क) युद्धोत्तरकाल मे भारत के विदेशी व्यापार मे अत्यधिक वृद्धि हुई। सन् 1945 मे भारत का कुल विदेशी व्यापार 461 करोड रुपये के मूल्य का था। सन् 1950 मे यह बढकर 966 करोड रुपये के मूल्य का हो गया, (ख) सन् 1945 मे सर्वप्रथम भारत का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हुआ था। तब से लेकर आज तक यह प्रतिकूल ही है, (ग) युद्धकाल मे भारत सरकार ने आयातो पर कडे प्रतिबन्ध लगा रखे थे जिनके परिणामस्वरूप देश मे उपभोग्य वस्तुओ की बहुत कमी हो गयी थी, परन्तु युद्धोत्तरकाल मे भारत सरकार ने इन प्रतिबन्धो को ढीला कर दिया जिसके परिणामस्वरूप आयातो मे बहुत वृद्धि हुई और व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो गया, (घ) सन् 1947 मे विभाजन के फलस्वरूप देश मे खाद्यान्नो तथा जूट और कपास की बहुत कमी हो गयी थी। अत इन्हे विदेशो से आयात करना आवश्यक हो गया था, (ङ) व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सरकार ने कई प्रकार के उपायो का आश्रय लिया, परन्तु इसके बावजूद व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता मे कमी न हो सकी, (च) सितम्बर 1949 मे विदेशी व्यापार की बढती हुई प्रतिकूलता से विवश होकर भारत सरकार ने रुपये का डालर के रूप मे अवमूल्यन (devaluation) कर दिया था। वास्तव मे, पहले ब्रिटेन ने पौंड का डालर के रूप मे अवमूल्यन किया था। भारत ने भी ब्रिटेन का अनुकरण करते हुए रुपये का डालर के रूप मे 30 5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया था। परिणामत भारत के निर्यातो मे वृद्धि हुई और आयातो मे कमी। इससे व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता मे कमी हो गयी। परन्तु अवमूल्यन का यह प्रभाव क्षणिक ही सिद्ध हुआ था।

(4) **योजना काल (1950-74) मे विदेशी व्यापार**—इस अवधि को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है (क) प्रथम व द्वितीय योजनाकाल, (ख) तृतीय योजनाकाल, (ग) चतुर्थ योजनाकाल।

(क) प्रथम व द्वितीय योजनाकाल—प्रथम व द्वितीय पचवर्षीय योजनाओ का भारत के विदेशी व्यापार पर गहरा प्रभाव पडा था। प्रथम योजनाकाल मे भारत के कुल आयात 3,620 करोड रुपये और कुल निर्यात 3,045 करोड रुपये के हुए थे। इस प्रकार आयातो का वार्षिक औसत 724 करोड रुपये और निर्यातो का वार्षिक औसत 609 करोड रुपये था। प्रथम योजना-

काल मे भारत का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल ही रहा। दूसरे योजनाकाल मे भारत के कुल आयात 5,360 करोड रुपये और निर्यात 3,070 करोड रुपये के हुए थे। इस प्रकार आयातो का वार्षिक औसत 1,072 करोड रुपये और निर्यातो का वार्षिक औसत 614 करोड रुपये था। परिणामत: दूसरे योजनाकाल मे भारत का व्यापार-सन्तुलन पहले योजनाकाल की तुलना मे और भी अधिक प्रतिकूल हो गया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि दूसरे योजनाकाल मे विकास सम्बन्धी योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर मशीनो, पुर्जो तथा कच्चे माल का आयात किया गया था परन्तु इस अवधि मे भारत के निर्यातो में कोई विशेष वृद्धि नही की जा सकी थी। यद्यपि दूसरे योजनाकाल मे निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने कई प्रकार के कदम उठाये थे।

(ख) **तृतीय योजनाकाल**—तृतीय योजनाकाल मे भारत के कुल आयात 6,208 करोड रु० और निर्यात 3,812 करोड रु० के हुए थे। इस प्रकार आयातो का वार्षिक औसत 1,241 करोड रु० और निर्यातो का वार्षिक औसत 762 करोड रु० था। फलत तृतीय योजनाकाल मे भारत का भुगतान-सन्तुलन (balance of payments) दूसरे योजनाकाल से भी अधिक प्रतिकूल हो गया था। इसका मुख्य कारण यह था कि तीसरी योजना मे विकास-सम्बन्धी परियोजनाओ को क्रियान्वित करने हेतु मशीनो, कल पुर्जों एव कच्चे माल का बडे पैमाने पर आयात किया गया था। लेकिन निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि नही की जा सकी थी।

(ग) **चतुर्थ योजनाकाल**—चौथी पचवर्षीय योजना मे आयातो का मूल्य (अवमूल्यनोत्तर कीमतो मे) 9,730 करोड रु० आँका गया था जबकि निर्यातो के मूल्य का अनुमान (अवमूल्यनोत्तर कीमतो मे) 8,300 करोड रु० लगाया गया था। इस प्रकार चौथी योजना मे भी भारत का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल ही रहा था।

योजनाकाल मे भारत के विदेशी व्यापार की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार है—(क) **कुल व्यापार मे वृद्धि**—सन् 1950 से भारत के विदेशी व्यापार मे निरन्तर वृद्धि होती रही है, (ख) **व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता**—सन् 1950-51 से ही भारत के व्यापार-सन्तुलन मे प्रतिकूलता चली आ रही है। समय के साथ-साथ व्यापार-सन्तुलन की इस प्रतिकूलता मे निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम, भारत को खाद्य-सकट का मुकाबला करने के लिए बडे पैमाने पर विदेशो से खाद्यान्नो का आयात करना पड रहा है। दूसरे, विकास सम्बन्धी योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए विदेशो से बडे पैमाने पर पूँजीगत माल (capital equipment) का आयात किया जा रहा है, (ग) **कच्चे माल एवं पूँजीगत माल के आयात में वृद्धि**—योजनाकाल मे उपभोग्य वस्तुओ के आयात मे तो कोई विशेष वृद्धि नही हुई है, परन्तु कच्चे माल एवं पूँजीगत माल के आयात मे बहुत वृद्धि हुई है। इसका कारण देश मे तेजी से होने वाला औद्योगिक विकास है, (घ) **निर्यातों को प्रोत्साहन**—व्यापार सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम करने के लिए सरकार ने निर्यातो को सभी सम्भव तरीको से प्रोत्साहन दिया है। परन्तु इनके बावजूद योजनाकाल मे देश के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि नही हो सकी, (ङ) **भारत के आयात मुख्यत अमरीका से और निर्यात मुख्यत ब्रिटेन को हुए**—योजनाकाल मे भारत के आयात मुख्यतः अमरीका से ही हुए, क्योकि पूँजीगत माल की खरीद करने के लिए अमरीका सर्वोत्तम स्थान है। इसमे सन्देह नही कि भारत ने रूस, पश्चिमी जर्मनी, जापान आदि देशो से भी पूँजीगत माल का आयात किया है, परन्तु जहाँ तक भारत के आयातो का सम्बन्ध है, अमरीका का स्थान सर्वोच्च है। इसके विपरीत, भारत के निर्यात मुख्यत ब्रिटेन को ही हुए हैं।

भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ
(Characteristics of India's Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता है।** भारत के पडोसी देशो से अभी व्यापार विकसित नही हो सका है। परिणामत भारत का 68 प्रतिशत विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता है।

(2) **भारत का विदेशी व्यापार विशेषकर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के बन्दरगाहों द्वारा होता है।** इस कारण इन बन्दरगाहो पर काफी दवाव रहता है। इसको दूर करने के लिए अब भारत सरकार काडला, कोचीन और विशाखापटनम के बन्दरगाहो का विकास कर रही है।

(3) **भारत के विदेशी व्यापार का अधिकाश लाभ आज भी विदेशियों को प्राप्त हो रहा है।** आयात-निर्यात करने वाली फर्में, जहाजी कम्पनियां, विनिमय बैंक तथा बीमा कम्पनियां लगभग सभी विदेशियो के हाथो मे हैं, यद्यपि अब धीरे-धीरे इनका भारतीयकरण हो रहा है।

(4) **भारत के विदेशी व्यापार मे ग्रेट ब्रिटेन का विशेष स्थान रहा है।** परन्तु गत कुछ वर्षो से अमरीका, पूर्वी यूरोप तथा जापान आदि का भाग बढ रहा है। धीरे धीरे ग्रेट ब्रिटेन का भाग भारत के विदेशी व्यापार मे कम होता जा रहा है।

(5) **भारत के आयातो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुऐं सम्मिलित हैं।** परन्तु इनमे मशीनो, खाद्यान्नो कपास, पेट्रोल आदि का विशेष स्थान है।

(6) **भारत के प्रमुख निर्यात चाय, सूती कपडा तथा जूट का सामान है।** परन्तु इनसे प्राप्त होने वाली आय बहुत अस्थिर होती है। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओ की माँग अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियो पर निर्भर करती है। यदि किसी वर्ष इन तीन वस्तुओ की माँग घट जाती है तो देश के विदेशी व्यापार को बडा धक्का लगता है।

(7) **भारत के आयातों मे कच्चे माल और निर्यातो मे तैयार माल का महत्व बढ रहा है।** दूसरे विश्व-युद्ध से पूर्व भारत के कुल निर्यातो का लगभग 75 प्रतिशत भाग कच्चा माल होता था। भारत उस समय कपास, तिलहन के बीज अभ्रक, मैंगनीज आदि बाहर भेजा करता था। इसके विपरीत, भारत के कुल आयातो का लगभग 75 प्रतिशत माल तैयार माल होता था और उस समय भारत सूती कपडा, मशीने चीनी आदि वस्तुओ को बाहर से आयात किया करता था। परन्तु युद्ध तथा युद्धोत्तरकाल मे भारत के विदेशी व्यापार म आधारभूलक परिवर्तन हुए हैं। अब भारत के आयातो मे कच्चे माल का और निर्यातो मे तैयार माल का महत्त्व धीरे धीरे बढ रहा है। यह प्रवृत्ति भारत के तेजी से होने वाले औद्योगीकरण का परिणाम है। अब भारत कपास और जूट आदि कच्चे माल का आयात करता है और सूती कपडा, चीनी, कपडा सीने वाली मशीनें, साइकिलें व बिजली के सामान आदि का निर्यात करता है।

(8) **भारत के विदेशी व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल है।** भारत के विभाजन के बाद से व्यापार-सन्तुलन भारत के प्रतिकूल रहने लगा है जिसके परिणामस्वरूप देश के समक्ष विदेशी विनिमय के अभाव की समस्या उत्पन्न हो गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पचवर्षीय योजनाओ के कारण भारत मे कच्चे माल तथा मशीनो आदि का आयात काफी बढ गया है। परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी भारत के निर्यात आवश्यक मात्रा मे नही बढ सके है। परिणामत व्यापार सन्तुलन भारत के विपक्ष मे हो गया है। यह समस्या आने वाले कई वर्षों तक भारत के सम्मुख रहेगी।

(9) **भारत का प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार अभी कम है।** विगत कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार का मूल्य काफी बढा है परन्तु फिर भी ग्रेट ब्रिटेन व अमरीका जैसे देशो की तुलना मे भारत क प्रति व्यक्ति विदेशी व्यापार का मूल्य कम है।

भारत के प्रमुख आयात[1]

(India's Chief Imports)

भारत के प्रमुख आयात निम्न प्रकार हैं

(1) **मशीनें**—दुर्भाग्य से भारत मे मशीनें बनाने वाला उद्योग अभी विकसित नही हो सका है। इस कारण प्रतिवर्ष भारत को बडे पैमाने पर मशीनो का आयात करना पडता है। विगत कुछ वर्षों मे पचवर्षीय-योजनाओ के कारण भारत मे बडी सख्या मे मशीनो का आयात हुआ है।

---

1 आयात सम्बन्धी आँकड़े रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित "Report on Currency and Finance, 1975-76 से लिये गये हैं।

हमें अपने दुलर्भ विदेशी विनिमय का बड़ा भाग मशीनो के आयात पर व्यय करना पड़ता है। भारत अधिकाश मशीने ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका, पश्चिमी जर्मनी, रूस, जापान तथा पूर्वी यूरोप के देशो से आयात करता है। सन् 1974-75 मे भारत ने मशीनो के आयात पर लगभग 670 करोड रुपये व्यय किये थे।

(2) **लोहा व इस्पात**—विगत कुछ वर्षों मे भारत के तेजी से होने वाले औद्योगीकरण के कारण देश मे लोहे व इस्पात की माँग बहुत बढ गयी है। यद्यपि हाल ही मे सरकारी क्षेत्र मे तीन नये इस्पात के कारखाने लगाये गये हैं और निजी क्षेत्र के कारखानो का भी उत्पादन बढाया गया है तथापि भारत अभी इस्पात मे स्वावलम्बी नही हो सका है और हमे बराबर विदेशो से इस्पात का आयात करना पड रहा है। इस समय भारत ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका तथा पश्चिमी जर्मनी से इस्पात का आयात कर रहा है। सन् 1974-75 मे भारत ने 417 करोड रुपये का इस्पात विदेशो से आयात किया था।

(3) **पेट्रोल**—दुर्भाग्य से, भारत पेट्रोल जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु मे आत्मनिर्भर नही है। भारत के पेट्रोल का घरेलू उत्पादन देश की केवल 8 प्रतिशत आवश्यकताओ को ही पूरा कर सकता है शेष 92 प्रतिशत आवश्यकताओ के लिए हमे विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। वास्तव मे, यह हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की त्रुटि है। प्रतिवर्ष भारत को कुवैत, ईरान, इराक व सऊदी अरब से बडे पैमाने पर पेट्रोल का आयात करना पडता है। विगत कुछ वर्षों मे भारत मे तेल साफ करने के कारखाने खोले गये हैं। परन्तु कूड आयल (crude oil) का आयात तो फिर भी करना ही पडता है। सडक परिवहन के विकास से भारत मे पेट्रोल की माँग और भी बढ गयी है। सन् 1974-75 मे भारत ने विदेशो से 1157 करोड रुपये का पेट्रोल तथा पेट्रोल से बना सामान खरीदा था।

(4) **खाद्यान्न**—सन् 1947 के बाद प्रतिवर्ष भारत मे विदेशो से खाद्यान्नो का आयात किया गया है। सन् 1951-52 मे तो खाद्यान्नो का आयात 228 करोड रुपये के लगभग पहुँच गया था। परन्तु प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खाद्य उत्पादन मे काफी वृद्धि हुई थी जिसके परिणामस्वरूप खाद्यान्नो का आयात कम हो गया था। सन् 1955-56 मे यह घटकर केवल 17 5 करोड रुपये का ही रह गया था। दूसरी पचवर्षीय योजना मे खाद्यान्नो की माँग बढ जाने से पुन इनका आयात करना पडा था। अमरीका के पी० एल० 480 के अन्तर्गत अब भारत प्रतिवर्ष अमरीका से गेहूँ और चावल का आयात कर रहा है। कनाडा से भी गेहूँ का आयात होता है और बर्मा से चावल मँगाये जाते है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया से भी खाद्यान्नो का आयात किया गया है। सन् 1974-75 मे भारत ने 763 76 करोड रुपये के खाद्यान्नो का आयात किया था।

(5) **कपास**—भारत मे बढिया किस्म की लम्बे रेशे वाली कपास की कमी है। अत. इसे अमरीका, सयुक्त अरब गणराज्य, सूडान तथा पाकिस्तान से आयात किया जाता है। विभाजन से पूर्व यही कपास भारत विदेशो को निर्यात किया करता था, लेकिन विभाजन के परिणामस्वरूप बढिया किस्म की कपास पैदा करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान मे चले गये। भारत मे जो कपास पैदा होती है, वह अधिकतर मोटे रेशे वाली होती है। जबकि उच्च कोटि का कपडा तैयार करने के लिए बढिया किस्म की कपास की आवश्यकता पडती है। सन् 1974-75 म भारत ने 27 करोड़ रुपये की कपास का आयात किया था।

(6) **जूट**—विभाजन के पश्चात जूट की भी भारत मे बहुत कमी हो गयी थी, क्योकि जूट पैदा करने वाला अधिकाश क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया था। इसलिए भारत को पाकिस्तान से जूट का आयात करना पडा था। परन्तु भारत सरकार ने जूट का घरेलू उत्पादन बढाकर इस कमी को अब लगभग दूर कर दिया है। सन् 1974-75 मे भारत ने 4 करोड रुपये के मूल्य का जूट बाहर से आयात किया था।

सन् 1974-75 मे भारत के कुल आयात 4518·78 करोड रु० के थे जबकि सन् 1973-74

---

[1] निर्यात सम्बन्धी आँकडे "Report on Currency and Finance, 1975-76" से लिये गये हैं।

मे इनका मूल्य 2 925,37 करोड रुपये था। इस प्रकार सन् 1974-75 मे भारत के आयातो मे 1593 21 करोड रु० की वृद्धि हो गई थी।

भारत के प्रमुख निर्यात
(India's Chief Exports)

भारत के प्रमुख निर्यात इस प्रकार हैं

(1) **जूट का सामान**—भारत के निर्यात व्यापार मे जूट के सामान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जूट का सामान प्राय टाट, बोरे, गलीचे, सुतली आदि के रूप मे तैयार किया जाता है। विभाजन से पूर्व भारत के पास जूट का एकाधिकार हुआ करता था, परन्तु विभाजन के उपरान्त यह एकाधिकार समाप्त हो गया। इस समय जूट के व्यापार मे बगला देश भारत का निकट प्रतिद्वन्दी है और बगला देश से भारत को कडी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है। जूट के निर्यात से भारत को विदेशी विनिमय समस्या को हल करने मे काफी सहायता मिलती है, क्योकि भारत का अधिकाश जूट का सामान अमरीका को भेजा जाता है जिसके बदले मे भारत को डालर उप लब्ध होते हैं। अमरीका के अतिरिक्त जूट का सामान ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, सयुक्त अरब गणराज्य आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि विश्व के अनेक देशो को निर्यात किया जाता है। सन् 1974 75 मे भारत ने 296 करोड रुपये का जूट का सामान विदेशो को भेजा था।

(2) **चाय**—जूट की भाँति भारत के निर्यात व्यापार मे चाय का भी महत्वपूर्ण स्थान है और इसके निर्यात से भारत काफी बडी मात्रा मे विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है। चाय का अधिकाश निर्यात ग्रेट ब्रिटेन को किया जाता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि चाय के कुल निर्यात का दो तिहाई ग्रेट ब्रिटेन को और एक तिहाई अमरीका कनाडा, सयुक्त अरब गणराज्य व सूडान आदि देशो को भेजा जाता है। यद्यपि चाय का एक महत्वपूर्ण उत्पादक भारत ही है तथापि इसे लका और चीन से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडता है। सन् 1974 75 मे भारत ने 222 करोड रुपये की चाय का निर्यात किया था।

(3) **सूती कपडा**—भारत के निर्यात व्यापार मे सूती कपडे का महत्व है। एक समय समय था जबकि भारत सूती कपडा ब्रिटेन से आयात किया करता था, परन्तु आज वही भारत सूती कपडा ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात करता है। ग्रेट ब्रिटेन के अतिरिक्त, सूती कपडा बर्मा, मलेशिया, लका आस्ट्रलिया तथा मध्य पूर्व के अनेक देशो को भेजा जाता है। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान तथा उसके बाद भारत ने पडौसी देशो की मण्डियो मे बडे पैमाने पर सूती कपडा निर्यात किया था। परन्तु दुर्भाग्य से विगत कुछ वर्षो मे सूती कपडे के विषय मे भारत की स्थिति कुछ कमजोर पड गयी है। चीन जापान तथा ब्रिटेन अब धीरे धीरे इन मण्डियो मे पुन प्रविष्ट होने का प्रयत्न कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप अब भारत के सूती कपडे के निर्यात मे कुछ कमी होती जा रही है। भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति को बढाने के लिए कई कदम उठाये गये हैं ताकि भारत इन मण्डियो मे अपनी खोई हुई स्थिति को पुनः प्राप्त कर ले। सन् 1974-75 मे भारत ने 215 करोड रुपये का सूती कपडा विदेशो को निर्यात किया था।

(4) **कच्चा लोहा**—सौभाग्य से कच्चे लोहे का भण्डार भारत मे विश्व मे सबसे अधिक है। अपनी आवश्यकताओ को पूरा कर लेने के बाद भी भारत बडे पैमाने पर कच्चे लोहे का निर्यात करने की स्थिति मे है। कच्चे लोहे का अधिकाश निर्यात इस समय जापान को किया जा रहा है। सन् 1974 75 मे भारत ने 161 करोड रुपये का कच्चा लोहा विदेशो को निर्यात किया था।

(5) **अभ्रक (Mica)**—भारत विश्व का एक महत्त्वपूर्ण अभ्रक उत्पन्न करने वाला देश है। विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 80 प्रतिशत अभ्रक भारत मे ही होता है। अभ्रक का निर्यात अधिकाशत अमरीका, ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी को किया जाता है सन् 1974-75 मे भारत ने 18 करोड रुपये के अभ्रक का निर्यात किया था।

(6) **मैंगनीज (Manganese)**—भारत मैगनीज का भी एक महत्त्वपूर्ण उत्पादक है। इस समय भारत अपने कुल उत्पादन का $\frac{4}{5}$ भाग विदेशो को निर्यात कर देता है। सन् 1974-75 मे भारत ने 17 करोड रुपये का मैंगनीज विदेशो को निर्यात किया था।

(7) **तम्बाकू**—भारतीय तम्बाकू ग्रेट ब्रिटेन, जापान, स्वीडन तथा हॉलैण्ड आदि देशों को निर्यात की जाती है। सन् 1974-75 में लगभग 80 करोड रुपये की निर्मित तम्बाकू विदेशों को भेजी गयी थी। इसमें से लगभग 15 करोड रुपये की तम्बाकू तो अकेले ग्रेट ब्रिटेन को ही निर्यात की गयी थी।

(8) **चमड़ा तथा चमड़े का सामान**—चूँकि भारत विश्व में अधिक पशु संख्या वाला देश है, इसलिए यहाँ पर प्रतिवर्ष बहुत बडे पैमाने पर खालों का उत्पादन होता है। भारत चमडा तथा चमडे की बनी हुई वस्तुएँ अमरीका, जर्मनी, फ्रांस तथा हॉलैण्ड को निर्यात करता है। सन् 1974-75 में भारत ने लगभग 145 करोड रुपये का चमडा व चमडे का सामान विदेशों को निर्यात किया था।

(9) **वनस्पति तेल**—दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व भारत प्राय तिलहनों के बजाय तेल निर्यात किया करता था, परन्तु अब तेल की मिलों का विस्तार हो जाने से भारत तिलहनों के बजाय तेल का निर्यात करता है। भारत से प्राय मूँगफली, अलसी व अण्डी का तेल बर्मा, फ्रांस, इटली बेल्जियम आदि देशों को निर्यात किया जाता है। सन् 1974-75 में भारत ने लगभग 34 करोड रुपये का तेल विदेशों को निर्यात किया था।

(10) **विविध वस्तुएँ**—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त, भारत से कुछ अन्य प्रकार की वस्तुओं का भी निर्यात किया जाता है, जैसे काली मिर्च, लाख, बिजली के पंखे, कपडा सीने की मशीनें, साइकिलें तथा अन्य इंजीनियरिंग वस्तुएँ आदि।

सन् 1974-75 में भारत के कुल निर्यात 3328·83 करोड रु० के थे जबकि सन् 1973-74 में उनका मूल्य 2523 40 करोड रु० ही था। इस प्रकार सन् 1974-75 में भारत के निर्यातों में लगभग 805 43 करोड रु० की वृद्धि हुई थी। इसके दो मुख्य कारण थे—प्रथम, इस वर्ष निर्यात-वृद्धि के लिए भारत सरकार ने विशेष कदम उठाये थे। दूसरे, कुछ महत्वपूर्ण निर्यात वस्तुओं जैसे चाय, कॉफी, तम्बाकू एवं लोहा-इस्पात की पूर्ति-स्थिति (supply position) में भी सुधार हुआ था। सन् 1974-75 में खाडी के देशों को किये जाने वाले निर्यातों में विशेष वृद्धि हुई थी।

व्यापार की दिशा
(Direction of Trade)

20वीं शताब्दी के आरम्भ से भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन तथा उसके साम्राज्य के देशों का भाग घटना आरम्भ हुआ था। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व इन देशों का भारत के विदेशी व्यापार में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान था। परन्तु दूसरे विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन तथा उसके साम्राज्य के देशों का भारत के विदेशी व्यापार में भाग निरन्तर कम होता चला गया और गैर साम्राज्य देशों का भाग बढता चला गया। भारत के विदेशी व्यापार की यह प्रवृत्ति इस समय भी कार्यशील है। अमरीका, जापान तथा पूर्वी यूरोप के देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अधिक सुदृढ होते जा रहे हैं।

भारत के निर्यात व्यापार में अधिक विविधता पायी जाती है। भारतीय निर्यातों का अधिकांश भाग ब्रिटेन तथा अमरीका को ही जाता है किन्तु विगत कुछ वर्षों में पूर्वी यूरोपीय देशों के साथ भी भारत का निर्यात व्यापार बढ रहा है। इसी प्रकार नव स्वतन्त्र अफ्रीकी देशों के साथ भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ होते जा रहे हैं। भारत के निर्यातों में रूस का तीसरा स्थान है।

भारत के आयात सबसे अधिक अमरीका से आते हैं, ब्रिटेन का दूसरा नम्बर है। पश्चिमी जर्मनी तथा जापान तीसरे व चौथे नम्बर पर है। परन्तु विगत कुछ वर्षों में द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों के कारण रूस एवं पूर्वी यूरोपीय देशों से भारत के आयात बढ गये हैं।

सन् 1975-76 में भारत के आयात व्यापार में संयुक्त राज्य अमरीका तथा यूरोपीय साझा बाजार के देशों (E C M Countries) का प्रतिशत भाग 32 से बढकर 44 हो गया था। इसका मुख्य कारण यह था कि इस वर्ष भारत ने इन देशों से अधिक आयात किये थे,

विशेषकर अमरीका से बड़े पैमाने पर खाद्यान्नो का आयात किया था। लेकिन भारत के निर्यातो मे इन देशो का प्रतिशत भाग 35 से घट कर 33 ही रह गया था।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि अब भारत का ब्रिटेन के साथ व्यापार-सन्तुलन अनुकूल (favourable) हो गया है जबकि वर्षों से यह प्रतिकूल था अर्थात अब भारत ब्रिटेन को निर्यात अधिक करता है लेकिन उससे आयात कम करता है। सन् 1975 76 मे ब्रिटेन के साथ भारत के भुगतान सन्तुलन म 75 करोड रु० की बचत हुई थी। सन् 1975-76 मे अफ्रीकी देशो के साथ भारत का भुगतान सन्तुलन अनुकूल था और भारत को 103 करोड रु० की बचत (surplus) हुई थी। इसी प्रकार पूर्वी यूरोपीय देशो के साथ भी भारत के भुगतान सन्तुलन मे 64 करोड रु० का आधिक्य (surplus) था। लेकिन सयुक्त राज्य अमरीका एव यूरोपीय साझा बाजार के देशो के साथ भारत के भुगतान सन्तुलन का घाटा सन् 1975-76 मे 903 करोड रु० था जबकि सन 1974-75 मे यह घाटा केवल 273 करोड रु० का ही था।

विदेशी विनिमय संकट
(Foreign Exchange Crisis)

विगत कई वर्षों मे भारत मे विदेशी विनिमय सकट चला आ रहा है। इसका मुख्य कारण भारत के विदेशी व्यापार के सन्तुलन का प्रतिकूल होना है। जैसा पूर्व कहा गया है, युद्धोत्तर काल से ही भारत का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल चला आ रहा है। इसका कारण यह है कि विगत कुछ वर्षों मे पचवर्षीय योजनाओ के लक्ष्यो की पूर्ति करने के लिए हमे बडे पैमाने पर विदेशो से पूँजीगत माल का आयात करना पड रहा है। इसके अतिरिक्त, कुछ उद्योगो के लिए कच्चे माल का भी आयात करना पडता है। विगत कुछ वर्षों से भारत की खाद्य समस्या ने भी विकट रूप धारण कर रखा है और प्रतिवर्ष भारत को बडे पैमाने पर खाद्यान्नो का आयात करना पड रहा है। इसके विपरीत, भारत के निर्यात उसी अनुपात मे नही बढ सके जिसमे आयात बढ़े हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत की निर्यात क्षमता सीमित है। इसके अतिरिक्त, भारत प्राय कच्चे माल का ही निर्यात करता है जिसे एक निश्चित सीमा के आगे नही बढाया जा सकता। अत भारत का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल हो गया है और आयातो का मूल्य चुकाने के लिए भारत को बडे पैमाने पर विदेशी विनिमय की आवश्यकता पडती है, परन्तु निर्यातो के कम होने के कारण भारत पर्याप्त मात्रा मे विदेशी विनिमय अर्जित नही कर पाता। इसलिए इस समय भारत मे विदेशी विनिमय सकट चल रहा है और इस सकट का देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड रहा है। भारत सरकार ने विदेशी विनिमय सकट का सामना करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैंक तथा अनेक विदेशी सरकारो से ऋण प्राप्त किये हैं इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने आयातो मे भी कमी करने का प्रयत्न किया है, विशेषकर अनावश्यक आयातो को तो बिलकुल ही समाप्त कर दिया गया है। साथ ही साथ भारत सरकार ने निर्यातो को प्रोत्साहित करने के लिए भी कई प्रकार के कदम उठाये हैं। परन्तु इन सबके बावजद विदेशी विनिमय सकट जारी है।

सन 1965 66 मे भारत के भुगतान-सन्तुलन मे लगभग 449 करोड रुपये का घाटा था। अत विदेशी विनिमय सकट को दूर करने के लिए 6 जून 1966 को भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था (स्मरण रहे भारतीय रुपये का प्रथम अवमूल्यन सितम्बर 1949 मे हुआ था) किन्तु अवमूल्यन के बावजूद भारत के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि नही हो सकी है। सरकार द्वारा उठाया गया यह कदम भारत के विदेशी विनिमय सकट को दूर करने मे पूर्णत असफल रहा है।

सन् 1966-67 मे तो विदेशी विनिमय की स्थिति बहुत ही कठिन हो गयी थी। लेकिन सन 1967-68 मे इसमे थोडा सुधार हुआ था। विदेशी ऋणो मे थोडी राहत, विदेशी सहायता का अधिक उपयोग निर्यातो मे वृद्धि और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा दी गयी अधिक सहायता इत्यादि स्थिति मे सुधार के मुख्य कारण थे। भारत की विदेशी विनिमय निधि (foreign exchange reserves) जो सन् 1966-67 मे 478 44 करोड रु० के मूल्य की थी, सन् 1967-68 मे बढकर 538 55 करोड रु० की हो गयी। सन् 1968 69 मे विदेशी विनिमय निधि की स्थिति मे और अधिक सुधार हुआ। अब यह बढकर 576 70 करोड रु० के मूल्य की हो गयी।

सन् 1969-70 मे भी स्थिति मे सुधार जारी रहा। विदेशी विनिमय निधि बढ़कर 821 06 करोड रुपये हो गयी थी। लेकिन सन् 1970 71 मे पुन इसमे गिरावट आयी और यह निधि गिरकर 732 34 करोड रुपये के बराबर हो गयी। सन् 1971-72 मे यह निधि बढ़कर 848 68 करोड रु० हो गयी थी। सन् 1972-73 मे इस निधि मे थोडी गिरावट आयी थी। यह निधि अब घटकर 846 55 करोड रु० रह गई। सन् 1974-75 मे यह निधि बढ़कर 969 24 करोड रुपये हो गई थी। सन् 1975 76 मे भारत की विदेशी विनिमय निधि मे और सुधार हुआ था और यह बढ़कर 1877 03 करोड रु० के मूल्य के बराबर हो गई थी। इस निधि मे 182 53 करोड रुपये का स्वर्ण, 202 8 करोड रु० के SDR तथा 1491 70 करोड रु० की विदेशी मुद्राएँ थी। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि इस वर्ष विदेशो मे रहने वाले भारतीयो ने अधिकाधिक मात्रा मे स्वदेश मे रहने वाले सगे सम्बन्धियो को धन भेजा था। पहिले यह धन तस्करी के माध्यम से भारत आया करता था। लेकिन भारत द्वारा तस्करी का उन्मूलन किये जाने के उपरान्त यह धन अब बैंको के माध्यम से भेजा जाने लगा है।

भारत की आयात नीति
(India's Import Policy)

इस समय भारत सरकार की आयात नीति की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—देश के औद्योगिक विकास के लिए मशीनो, औजारो तथा अन्य साज-सामान के आयात मे वृद्धि की जा रही है और इसके साथ ही कच्चे माल के आयात को भी बढाया जा रहा है। विदेशी विनिमय की कमी को दूर करने के लिए भारत सरकार ने विदेशी सरकारो से आर्थिक सहायता भी ली है। भारत सरकार यथासम्भव यह प्रयत्न कर रही है कि कम आवश्यक वस्तुओ का आयात न्यूनतम कर दिया जाय ताकि देश के विदेशी विनिमय साधनो पर अधिक दबाव न पडे। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने उपभोग्य वस्तुओ के आयात पर ऊँचे सीमा कर (customs duties) लगा रखे हैं ताकि उनका आयात निरुत्साहित किया जा सके। इसी प्रकार कुछ अन्य वस्तुओ के कोटे भी निश्चित कर दिये गये हैं। साथ ही साथ सरकार ने लाइसेन्स प्रणाली को भी जारी कर दिया है। ऐसा करने मे सरकार का उद्देश्य यह है कि आयातों को यथासम्भव कम किया जाय ताकि विदेशी व्यापार का सन्तुलन अधिक प्रतिकूल न हो।

जैसा पूर्व कहा गया है 6 जून, 1966 को भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। इसके फलस्वरूप सरकार को अपनी आयात नीति मे भी थोडा परिवर्तन करना पडा था। रुपये के अवमूल्यन के उपरान्त विश्व बैंक ने भारत सरकार को 900 मिलियन डालर की अबद्ध सहायता (untied aid) देने का वचन दिया था। (अबद्ध सहायता से अभिप्राय उस वित्तीय सहायता ■ है जिसे सरकार अपनी आवश्यकतानुसार किसी भी उद्देश्य पर व्यय कर सकती है।) विश्व बैंक के अबद्ध सहायता सम्बन्धी इस आश्वासन पर भारत सरकार ने अपनी आयात-नीति को उदार कर दिया था। इसे Policy of Import Liberalisation कहा जाता है। इस नीति का मुख्य उद्देश्य देश म उत्पादन बढाने हेतु कुछ उद्योगो को कच्चा माल, कल पुर्जे एव मशीनें आदि आयात करने मे सहायता देना था। इस उदार नीति के अन्तर्गत देश के 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो के कच्चे माल, कल पुर्जों एव मशीनो का आयात करने के लिए विशेष लाइसेन्स दिये गये थे। लेकिन इस उदार नीति का भारत के उत्पादन-स्तर पर अभी तक कोई विशेष प्रभाव नही पडा है अर्थात उत्पादन की मात्रा मे कोई विशेष वृद्धि नही हो सकी है।

सन् 1967 68 मे घोषित सरकार की आयात नीति का मुख्य उद्देश्य उत्पादन मे वृद्धि करना था। अत सन् 1966 67 मे घोषित 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो को आगे चलकर भी प्राथमिकता देने का निश्चय किया गया। इन उद्योगो की आयात सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए सरकार ने लाइसेन्स प्रणाली को और भी अधिक सरल बना दिया। सन 1968 69 मे जिस आयात-नीति की घोषणा की गयी थी उसमे प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगो को कच्चे माल एव पुर्जो आदि के आयात के लिए और अधिक सुविधाएँ दी गयी थी। सन् 1970-71 की घोषित आयात नीति मे आयातो को और कम करने पर विशेष बल दिया गया था। इस नीति के अन्तर्गत आयात व्यापार मे राज्यीय एजेन्सियो की भूमिका को और अधिक व्यापक बना दिया गया था। सन् 1975-76 के लिए घोषित आयात नीति के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे (क) देश में

औद्योगिक उत्पादन को बढाना (ख) गैर जरूरी आयातो को समाप्त करना और आयात प्रति स्थापन कार्यक्रम (Import Substitution Programme) को प्रोत्साहन देना (ग) कच्चे माल का आयात करने हेतु लाइसेन्सो को शीघ्रता से जारी करना। सन् 1976-77 के लिये घोषित आयात नीति के अन्तर्गत देश मे औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु कच्चे माल के आयात को और अधिक उदार बना दिया गया था।

समय समय पर सरकार की आयात-नीति की आलोचना की जाती है—(क) आयात-नीति मे इतने जल्दी-जल्दी परिवर्तन किये जाते है कि देश मे व्यापारिक अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया है। इससे व्यापारियो एव उपभोक्ताओ, दोनो को ही हानि हो रही है, (ख) सरकार द्वारा जारी की गयी लाइसेन्स एव कोटा प्रणाली के कारण देश मे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिला है, (ग) सरकार की आयात-नीति विदेशी विनिमय की उपलब्धता पर ही निर्भर करती है, देश की औद्योगिक आवश्यकताओ पर नही। इसके कारण कभी-कभी तो अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति के लिए भी विदेशी विनिमय उपलब्ध नही होता।

भारत की निर्यात नीति
(India's Export Policy)

जैसा ऊपर कहा गया है, विगत कुछ वर्षों मे भारत के निर्यात लगभग स्थिर-से रहे हैं जबकि आयातो मे काफी वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार का सन्तुलन अधिक मात्रा मे प्रतिकूल हो गया है और विदेशी विनिमय की एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी है। इस समस्या का समाधान करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के निर्यातो को अधिकतम मात्रा मे बढाया जाय। निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने विगत कुछ वर्षों में अनेक कदम उठाये हैं जिनमे से मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं

(1) विभिन्न वस्तुओ के निर्यात को बढाने के लिए सरकार ने निर्यात प्रोत्साहन परिषदें (Export Promotion Councils) स्थापित की हैं। ये परिषदें निर्यातो को बढाने हेतु सरकार के सम्मुख सुझाव रखती हैं। इन परिषदो के कारण रेशम, रेयन तम्बाकू, मसाले, इजीनियरिंग की वस्तुएँ, खेल का सामान आदि को कुछ प्रोत्साहन मिला है।

(2) निर्यातकर्ताओ के जोखिम को कम करने के लिए सरकार द्वारा निर्यात जोखिम बीमा निगम (Export Risk Insurance Corporation) की स्थापना की गयी है।

(3) समय-समय पर भारत सरकार ने विदेशों मे व्यापारिक मेलो तथा प्रदर्शनियो का आयोजन किया है। इससे विदेशियो को भारतीय माल के बारे मे जानकारी प्राप्त होती है।

(4) निर्यात-वस्तुओ पर लगाये गये अधिकाश निर्यात-कर समाप्त कर दिये गये हैं। इन वस्तुओ को परिवहन सम्बन्धी सुविधाओ मे प्राथमिकता भी दी गयी है।

(5) विगत कुछ वर्षों से भारत सरकार ने राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation) बना रखा है जो सोवियत यूनियन तथा पूर्वी यूरोप के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढाने का प्रयत्न करता है। इस निगम ने कुछ वस्तुओ के निर्यात को बढाने मे सराहनीय काम किया है।

(6) निर्यात-वस्तुओ को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने इन पर लगाये गये उत्पादन-करो मे छूट दे दी है और निर्यात-वस्तुओ के निर्माण मे इस्तेमाल होने वाली वस्तुओ पर दिये गये तट कर या उत्पादन-कर को वापस कर देने का भी निश्चय किया है। उसका उद्देश्य निर्यात-वस्तुओ की उत्पादन लागत को कम करना है।

(7) निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा वित्त निगम निर्यातकर्ताओ को अल्पकालीन व मध्यकालीन साख सुविधाये भी प्रदान करते हैं।

परन्तु उपर्युक्त प्रयत्नो के बावजूद भारत के निर्यातो मे कोई उल्लेखनीय वृद्धि नही हो सकी है।

6 जून, 1966 को भारत सरकार ने निर्यातो को बढाने तथा देश के विदेशी विनिमय सकट को दूर करने के लिए रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। इसके साथ ही साथ सभी तत्कालीन

निर्यात-प्रोत्साहन परियोजनाएँ (export incentive schemes) समाप्त कर दी गयी अर्थात् सरकार अपनी ओर से निर्यातकर्ताओं को निर्यात वृद्धि हेतु जो विशेष उपदान (Special Subsidies) दिया करती थी, उन्हे समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, जिन निर्यातों को अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं थी, उन पर निर्यात-कर लगा दिये गये।

किन्तु, जैसा सर्वविदित है, रुपये के अवमूल्यन के बावजूद भारतीय निर्यातों मे कोई विशेष वृद्धि न हो सकी। *विवश होकर अगस्त 1966 मे ही भारतीय सरकार को निर्यात-वृद्धि हेतु अपनी निर्यात-प्रोत्साहन परियोजनाओं को (जिनका दो महीने पूर्व परित्याग कर दिया गया था) पुन लागू करना पड़ा और जिन वस्तुओ पर निर्यात-कर लगा दिये गये थे, उन्हे हटाना पड़ा।* सरकार की अवमूल्यन-नीति की असफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

सन् 1967-68 मे भारत सरकार ने कई निर्यात-वस्तुओ पर लगने वाले करो मे कमी कर दी थी। उदाहरणार्थ, चाय और जूट के सामान पर निर्यात-कर कम कर दिये गये थे। चमड़े पर निर्यात-कर पूर्णत समाप्त कर दिया गया। कुछ चुनी हुई गैर परम्परागत (non-traditional) निर्यात-वस्तुओ पर दिये जाने वाले नकद उपदानो (cash subsidies) मे वृद्धि कर दी गयी। सन् 1968-69 मे *भारत सरकार ने निर्यातो को और अधिक प्रोत्साहित करने हेतु कच्चे लोहे, चाय, अभ्रक, जूट पर लगने वाले निर्यात-करो मे और अधिक कमी कर दी थी। इसके साथ ही साथी सूती थैलो, ऊन, धातु के डिब्बो मे बन्द चाय, आदि पर तो निर्यात-कर पूर्णत समाप्त कर दिये गये थे।* दिसम्बर 1969 मे निर्यातो की वृद्धि-दर मे होने वाली कमी को दूर करने हेतु भारत सरकार ने एक सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त कार्यक्रम बनाया था। इसके अन्तर्गत, सूती कपड़े इजीनियरिंग वस्तुओ, जूट के सामान, मशीनी औजारो, तैयारशुदा कपड़ो तथा कृत्रिम वस्त्रो के निर्यातो को अधिकतम बढ़ाने के प्रयास किये गये थे। इनमे सरकार को कुछ सफलता भी मिली थी।

सन् 1975-76 के लिये घोषित निर्यात नीति के अन्तर्गत अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे जूट वस्तुओ की प्रतियोगितात्मक स्थिति (Competitive Position) को सुदृढ बनाने हेतु उन पर *लगाये जाने वाले निर्यात करो का पूर्ण उन्मूलन कर दिया गया था।* इजीनियरी एव अन्य वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से निर्यात नीति मे कई कदम घोषित किये गये थे। उदाहरणार्थ, इजीनियरी वस्तुओ, रासायनिक पदार्थों, तैयार शुदा कपड़ो, जूट पदार्थों, चमड़े के सामान, गलीचो, मछली के उत्पादो आदि के निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु उन पर नकद क्षति-पूर्ति योजना (Cash Compensatory Scheme) लागू कर दी गई थी। इसके विपरीत, चीनी, प्याज, आलू, सोडा ऐश (Soda Ash) जैसे पदार्थों के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था क्योकि घरेलू बाजार मे इनकी कमी हो गई थी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **भारत के विदेशी व्यापार पर सक्षेप मे एक निबन्ध लिखिए।**

   [सकेत—यहाँ भारत के विदेशी व्यापार का सक्षिप्त परिचय देते हुए भारत के मुख्य निर्यातो एव आयातों का उल्लेख कीजिए। भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य मुख्य विशेषताओ का भी वर्णन कीजिए और सक्षेप मे भारत की आयात तथा निर्यात नीति की चर्चा भी कीजिए।]

2. **हमारे निर्यात व्यापार की मुख्य मदें क्या-क्या हैं? वर्तमान समय मे निर्यातों को प्रोत्साहित करने का महत्त्व क्या है?**

   [सकेत—प्रथम भाग मे, भारत के मुख्य निर्यातो का आँकड़ो सहित वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि वर्तमान समय मे निर्यातो को प्रोत्साहित करने से देश के व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता को कम करने मे सहायता मिलती है।]

3. **भारत के निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिए आप किन उपायो की सिफारिश करेंगे?**
   (विक्रम, 1963, सागर, 1962)

   [सकेत—यहाँ पर निर्यातो को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन सभी

उपायो की चर्चा कीजिए जो भारत सरकार द्वारा निर्यातो को बढाने के लिए अपनाये गये हैं ।]

4 **भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों को बताइए। आप प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन को ठीक करने के लिए क्या सुझाव देंगे ?** (मगध, 1963)

[सकेत—प्रथम भाग मे, भारत के विदेशी व्यापार मे होने वाली वर्तमान प्रवृत्तियो की विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइये कि आयातो को कम तथा निर्यातो को बढाकर भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकलता को कम किया जा सकता है।]

5 **भारत के विदेशी व्यापार की विशेषताओ को सक्षिप्त रूप से समझाइए।** (आगरा, 1971)

[सकेत—उपर्युक्त अध्याय मे भारत के विदेशी व्यापार की 9 विशेषताओ का वर्णन किया गया है। उन्हे यहाँ पर प्रस्तुत कीजिए।]

"The prices of currencies in terms of each other are called foreign exchange rates."

—R. S. SAYERS

चतुर्थ खण्ड

विदेशी विनिमय

(FOREIGN EXCHANGE)

विदेशी विनिमय सम्बन्धी कुछ स्मरणीय उद्धरण

1. "Foreign Exchange is the Art and Science of International Money Exchanging." —*Hartley Withers*

2. "The mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard." —*Thomas*

3. "The relative values of national currencies, especially when they are not on Gold Standard, in the long run, are determined by their relative purchasing powers of goods and services." —*G D H Cole*

4. "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing power of these currencies." —*Gustav Cassel*

5. "The exchange rates should normally reflect the relation between the internal purchasing powers of the various national currency units." —*Barret Whale*

6. "Exchange Control the means of dealing with balance of payments difficulties———disregards market forces and substitutes for them the arbitrary decisions of government officials. Imports and other international payments are no longer determined by international price comparisons but by considerations of national need." —*P T Ellsworth*

22
विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय का अर्थ
(Meaning of Foreign Exchange)

''विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग प्राय दो अर्थों मे किया जाता है—(क) विस्तृत अर्थ, (ख) सकुचित अर्थ ।

(क) विस्तृत अर्थ—कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस समूची प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा दो देश अपनी देयताओ (*liabilities*) का भुगतान करते हैं। यहाँ पर 'विदेशी विनिमय' शब्द का अर्थ बहुत ही विस्तृत लगाया गया है। इसके अनुसार, वे सभी संस्थाएँ जो विदेशी भुगतानो मे सहायता करती है वे सभी रीतियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान किये जाते हैं, वे सभी उपाय जिनका विदेशी भुगतानो के लिए उपयोग किया जाता है तथा वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे परिवर्तित किया जाता है, ये सभी विदेशी विनिमय मे सम्मिलित किये जा सकते है। इस प्रकार कुछ अर्थशास्त्रियो के अनुसार 'विदेशी विनिमय' शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक होता है।

(ख) सकुचित अर्थ—कुछ अर्थशास्त्रियो के द्वारा 'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थ मे भी किया जाता है। उनके अनुसार विदेशी विनिमय का अर्थ विदेशी मुद्राओ का क्रय विक्रय होता है। कुछ अर्थशास्त्री विदेशी विनिमय से अभिप्राय विनिमय-दर से निकालते हैं, अर्थात् उस दर से जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा मे बदली जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'विदेशी विनिमय' शब्द के सही अर्थ के बारे मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। परन्तु, वास्तव मे, विदेशी विनिमय उस पद्धति को कहते है जिसके द्वारा विभिन्न राष्ट्र अपनी अन्तरराष्ट्रीय देयताओ का भुगतान करते हैं। अत विदेशी विनिमय के अन्तर्गत उन यन्त्रो, साधनो एव उपायो को सम्मिलित किया जा सकता है जिनकी सहायता से दो राष्ट्रो के बीच विदेशी भुगतानो का निपटारा किया जाता है।

विदेशी विनिमय की समस्या
(Problem of Foreign Exchange)

जैसा हम जानते हैं, प्रत्येक राष्ट्र की अपनी-अपनी मुद्रा होती है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलना आवश्यक हो जाता है क्योकि प्रत्येक देश अपने निर्यात किये गये माल का भुगतान, यथासम्भव, अपने देश की मुद्रा मे ही चाहता है। उदाहरणार्थ यदि कोई अमरीकी निर्यातकर्ता भारत को माल का निर्यात करता है तो वह अपने माल का भुगतान डालर के रूप म ही लेना पसन्द करता है। अत भारतीय व्यापारी को आयात किये गये माल का भुगतान डालरो मे ही करना पडता है, रुपयो मे नही। इसलिए भारतीय व्यापारी रुपयो को डालरो मे बदलता है। बस यही विदेशी विनिमय की समस्या है। स्वर्णमान

के अन्तर्गत विदेशी विनिमय की समस्या इतनी जटिल नहीं हुआ करती थी जितनी आजकल है। इसका कारण यह है कि स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी देश का आयातकर्ता आयात किये गये माल का भुगतान दूसरे देश को स्वर्ण के रूप में भी कर सकता था। परन्तु आजकल अन्तरराष्ट्रीय भुगतान स्वर्ण के रूप में नहीं किये जाते क्योंकि कोई भी देश अपने स्वर्णकोष का अन्तरराष्ट्रीय भुगतानों के लिए प्रयोग नहीं करना चाहता। इसके अतिरिक्त, स्वर्ण के रूप में अन्तरराष्ट्रीय भुगतान करना खर्चीला भी होता है, क्योंकि स्वर्ण को एक देश से दूसरे देश को भेजने में काफी खर्च करना पड़ता है। इसीलिए आजकल भुगतान कार्यों में स्वर्ण का प्रयोग लगभग बन्द हो गया है। परिणामत आज अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के सौदों के लिए एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना पड़ता है।

विदेशी भुगतान की रीतियाँ
(*Methods of Foreign Payments*)

एक देश दूसरे देश को तीन मुख्य रीतियों से भुगतान कर सकता है :

(1) **वस्तुओं का निर्यात** - यदि कोई देश किसी अन्य देश से माल आयात करता है, तब वह उसका भुगतान उस देश को अपने माल का निर्यात करके कर सकता है, परन्तु यह रीति अत्यन्त दोषपूर्ण है। प्रथम, यह सम्भव हो सकता है कि दूसरा देश अपने माल के बदले पहले देश का माल लेना पसन्द न करे क्योंकि दूसरा देश उस माल का उत्पादन सम्भवत स्वय ही करता है। अत वह पहले देश से अपने माल के बदले में उसका माल लेने से इन्कार कर देता है। दूसरे, इस प्रकार के व्यापार में वस्तु विनिमय प्रणाली की वे सभी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जो दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं की अदला-बदली के फलस्वरूप हुआ करती हैं।

(2) **स्वर्ण का निर्यात**—विदेशी माल का भुगतान स्वर्ण का निर्यात करके भी किया जा सकता है, परन्तु यह प्रणाली भी दोषपूर्ण है, क्योंकि एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण का निर्यात करने पर भी बहुत खर्च पड़ता है। इसके अतिरिक्त, एक देश द्वारा दूसरे देश को स्वर्ण का भेजना असुविधाजनक भी होता है, क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अनगिनत सौदे होते रहते हैं। प्रत्येक सौदे के लिए एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण का निर्यात करना अत्यन्त असुविधाजनक होता है।

(3) **विदेशी विनिमय बिलों द्वारा भुगतान करना**—वास्तव में, आजकल अधिकाश अन्तरराष्ट्रीय भुगतान विदेशी विनिमय बिलों द्वारा किये जाते हैं। इस रीति के अन्तर्गत, एक देश का व्यापारी विनिमय बिलों द्वारा दूसरे देश के व्यापारी को माल का भुगतान कर सकता है। ये विनिमय बिल मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं—(क) विनिमय विपत्र अथवा बिल ऑफ एक्सचेंज (Bills of Exchange), (ख) बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft), (ग) टेलीग्राफ ट्रासफर्स (Telegraph Transfers)।

(क) **विनिमय विपत्र अथवा बिल ऑफ एक्सचेंज**—जैसा ऊपर कहा गया है, आजकल अधिकाश अन्तरराष्ट्रीय भुगतान विनिमय विपत्रों द्वारा किये जाते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि भारत का मोहन ब्रिटेन के मैक्लेगन को 100 रुपये के मूल्य का माल निर्यात करता है। अब ब्रिटेन के मैक्लेगन को भारत के मोहन को 100 रुपये का भुगतान करना है। इसके लिए मोहन, मैक्लेगन पर 100 रुपये के मूल्य का स्टर्लिंग के रूप में विनिमय विपत्र जारी करेगा। मैक्लेगन उस बिल पर अपनी स्वीकृति देकर उसे पुन मोहन को लौटा देगा। स्मरण रहे कि विनिमय विपत्र प्राय तीन महीने की अवधि के होते हैं। मोहन तीन महीने के बाद मैक्लेगन को विनिमय बिल प्रस्तुत करके अपने माल का भुगतान प्राप्त कर सकता है। परन्तु मोहन तीन महीने तक प्रतीक्षा नहीं करेगा और बिल पर मैक्लेगन की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के बाद वह इसे किसी विनिमय बैंक के पास ले जाकर डिस्काउण्ट (discount) करा लेगा। विनिमय बैंक उस बिल को अपनी ब्रिटेन स्थित शाखा को भेज देगा, जो तीन महीने के बाद मैक्लेगन से बिल का भुगतान प्राप्त कर लेगा। परन्तु इसी बीच मान लीजिए कि ब्रिटेन का सैण्डर्सन भारत के सोहन को 100 रुपये के मूल्य का माल निर्यात करता है। अब सैण्डर्सन, सोहन पर 100 रुपये के मूल्य का विनिमय बिल जारी करेगा और स्वीकृति हेतु उसे सोहन के पास भेज देगा। सोहन उसे स्वीकार करके पुन सैण्डर्सन के पास लौटा देगा। सैण्डर्सन तीन महीने

के बाद पुनः उस बिल को सोहन को भुगतान हेतु प्रस्तुत करेगा। अब सोहन विनिमय बैंक से 100 रुपये के मूल्य के स्टर्लिंग खरीदकर सैण्डर्सन को भेज देगा। परन्तु यह भी हो सकता है कि विनिमय बैंक सोहन से रुपया लेकर उसके बदले मैक्लेगन द्वारा स्वीकार किया गया विनिमय बिल उसे बेच दे। सोहन वही बिल सैण्डर्सन को भेज देगा और सैण्डर्सन उस बिल को बैंक से डिस्काउण्ट करा लेगा। जब निश्चित अवधि के बाद बिल परिपक्व हो जायगा तब बैंक उसे मैक्लेगन को प्रस्तुत करके उसका भुगतान प्राप्त कर लेगा। एक ही बिल से दो देशों में ऋणों का भुगतान हो जायगा। इस प्रकार विनिमय बिलों की सहायता से स्वर्ण के निर्यातों को रोका जा सकता है।

(ख) बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Draft)—यह अन्तरराष्ट्रीय भुगतान करने का दूसरा मुख्य साधन है। यह आन्तरिक ड्राफ्ट की ही भाँति होता है। जब कोई आयातकर्ता अपने माल का विदेशी मुद्रा के रूप में भुगतान करना चाहता है तब वह किसी विनिमय बैंक को देशी मुद्रा देकर उसके बदले में बैंकर्स ड्राफ्ट प्राप्त कर लेता है। यह बैंकर्स ड्राफ्ट विदेशी मुद्रा के रूप में ही जारी किया जाता है। इस ड्राफ्ट को लेकर आयातकर्ता विदेशी निर्यातकर्ता को भेज देता है और वह बैंक की अपने देश में स्थित शाखा से उसे भुना लेता है। इस प्रकार बैंकर्स ड्राफ्ट एक बैंक से उसकी विदेशी शाखा के लिए एक प्रकार का आदेश होता है कि ड्राफ्ट के वाहक को अथवा उसमें नामांकित व्यक्ति को माँग करने पर अमुक मात्रा में मुद्रा चुका दे।

(ग) टेलीग्राफ ट्रांसफर्स (Telegraph Transfers)—यह विदेशी भुगतान करने का तीसरा महत्वपूर्ण साधन है। प्रायः बैंकर्स ड्राफ्ट को एक देश से दूसरे देश को भेजने में काफी समय लगता है। यदि विदेशी निर्यातकर्ताओं को माल का भुगतान शीघ्र ही करना है तो ऐसी दशा में देश का आयातकर्ता उसे टेलीग्राफिक ट्रांसफर द्वारा भुगतान कर देता है। इसके अन्तर्गत, विदेशी निर्यातकर्ता को रकम का भुगतान तार द्वारा कर दिया जाता है। टेलीग्राफिक ट्रांसफर भी ड्राफ्ट की भाँति बैंक द्वारा जारी किये जाते हैं। आयातकर्त्ता बैंक को देशी मुद्रा देकर विदेशी मुद्रा में जारी किया गया टेलीग्राफिक ट्रांसफर प्राप्त कर लेता है। टेलीग्राफिक ट्रांसफर बैंक द्वारा अपनी शाखा को तार के माध्यम द्वारा दिया गया आदेश होता है कि वह अमुक रकम, अमुक व्यक्ति को तुरन्त ही चुका दे।

विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति
(Demand and Supply of Foreign Currency)

विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति कैसे उत्पन्न होती है? विदेशी मुद्रा की माँग उन लोगों द्वारा की जाती है जो विदेशों से माल का आयात करते हैं, क्योंकि उन्हें आयात किये गये माल का भुगतान विदेशी मुद्रा में ही करना होता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी पूँजी विदेशों में लगाना चाहता है तो भी उसे विदेशी मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। अतः विदेशी मुद्रा की माँग उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशों से वस्तुओं एवं सेवाओं का आयात करते हैं अथवा विदेशों में अपनी पूँजी का विनियोग करना चाहते हैं। इसी प्रकार विदेशी मुद्रा की पूर्ति उन लोगों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो विदेशों को अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात करते हैं अथवा पूँजी का आयात करते हैं। इस प्रकार किसी भी समय विदेशी मुद्रा का मूल्य (अर्थात् विनिमय-दर) विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति से निश्चित होता है।

विनिमय की दर
(Rate of Exchange)

विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में प्रायः 'विनिमय-दर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि विनिमय-दर से अभिप्राय क्या होता है? वास्तव में, **विनिमय-दर से अभिप्राय उस दर से होता है जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है। इस प्रकार विनिमय-दर दो देशों की मुद्राओं के विनिमय अनुपात को व्यक्त करती है।** उदाहरणार्थ, भारत का एक रुपया ब्रिटेन के 0.0556 पौण्ड के बराबर है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत के एक रुपये के बदले ब्रिटेन के 0.0556 पौण्ड उपलब्ध हो सकते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति से निश्चित होता है, ठीक उसी प्रकार विदेशी मुद्रा का मूल्य, अर्थात् विनिमय-दर

उसकी माँग तथा पूर्ति से निश्चित होती है। स्पष्ट है कि विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे हुए परिवर्तनो का उसके मूल्य पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। वास्तव मे, विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे हुए परिवर्तनो के कारण ही विनिमय दर बदलती रहती है। स्मरण रहे कि देश की विनिमय दर सदैव स्थिर नही रहती, बल्कि समय-समय पर विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के कारण बदलती रहती है।

इसे निम्न रेखाकृति द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस रेखाकृति मे विदेशी मुद्रा की माँग एव पूर्ति को अ ब रेखा के सहारे प्रदर्शित किया गया है और विनिमय दर को अ स रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है। म म रेखा विदेशी मुद्रा की माँग तथा प प रेखा इसकी पूर्ति को दिखाती है। ये दोनो रेखायें एक दूसरे को क बिन्दु पर काटती हैं। क ख अथवा ग अ विनिमय की दर है। अब मान लीजिए कि विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है। रेखाकृति मे इस बढी हुई माँग को $म_1$ $म_1$ रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है (लेकिन विदेशी मुद्रा की पूर्ति मे कोई वृद्धि नही होती)। विनिमय दर निश्चय ही बढ जायेगी। रेखाकृति मे बढी हुई विनिमय दर को $क_2$ $ख_2$ अथवा $ग_2$ अ द्वारा दिखाया गया है। अब मान लीजिए कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है लेकिन इसकी माँग यथास्थिर रहती है। रेखाकृति मे बढी हुई पूर्ति को $प_1$ $प_1$ द्वारा व्यक्त किया गया है। जैसा स्पष्ट है, विनिमय दर गिरकर $क_1$ $ख_1$ अथवा $ग_1$ अ के बराबर हो जाती है।

विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति
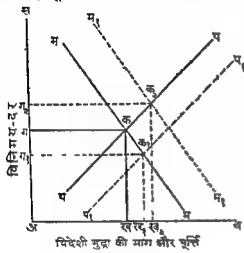
अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है (लेकिन इसकी पूर्ति यथास्थिर रहती है) तो विनिमय दर भी बढ जाती है। इसके विपरीत जब विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है (लेकिन इसकी माँग यथास्थिर रहती है) तो विनिमय दर गिर जाती है।

विनिमय की समता
(Parity of Exchange)

जैसा ऊपर बताया गया है विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति से निश्चित होती है। जब विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति के बिलकुल बराबर होती है तब विनिमय की दर मे समता (Parity) होती है। इसे विनिमय की समता कहते हैं। परन्तु वास्तविक जीवन मे विदेशी मुद्रा की माँग बहुत कम अवसरो पर ही उसकी पूर्ति के बराबर होती है। इस प्रकार विनिमय की दर म बहुत कम ही समानता रहती है। विनिमय की दर या तो समता दर से ऊपर या इससे नीचे रहती है। उदाहरणार्थ जब विदेशी मुद्रा की माग उसकी पूर्ति की तुलना मे अधिक होती है तब विनिमय दर समता दर से ऊपर चली जाती है अर्थात विदेशी मुद्रा का मूल्य देशी मुद्रा के रूप मे बढ जाता है। इसके विपरीत, जब विदेशी मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की तुलना मे अधिक होती है तब विनिमय दर समता दर से नीचे गिर जाती है, अर्थात् विदेशी मुद्रा का मूल्य देशी मुद्रा के रूप मे गिर जाता है। इस प्रकार वास्तविक विनिमय दर बहुत कम अवसरो पर समता-दर के बराबर होती है।

परन्तु अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विनिमय दर किस सीमा तक समता दर के ऊपर उठ सकती है अथवा नीचे गिर सकती है? विनिमय दर मे समता दर के नीचे या ऊपर घटने बढने की कुछ सीमायें होती हैं। ये सीमायें विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न होती हैं। परन्तु यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि समता दर स्वय भी विभिन्न परिस्थितियो म भिन्न भिन्न प्रकार से निर्धारित होती है। दूसरे शब्दो मे विभिन्न देशो मे समता दर मुद्रामान पद्धतियो के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से निर्धारित की जाती है। विनिमय दर के निर्धारण की समस्या का

अध्ययन हम चार भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे कर सकते हैं—(क) जब दो देश स्वर्णमान अथवा रजतमान पर आधारित होते है, (ख) जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा देश रजतमान पर आधारित होता है, (ग) जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रामान पर आधारित होता है, (घ) जब दोनो देश अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रामान पर आधारित होते हैं।

(क) जब दो देश स्वर्णमान अथवा रजतमान पर आधारित होते हैं—पहले हम यह देखेंगे कि जब दो देश स्वर्णमान पर आधारित होते हैं तब उनके बीच विनिमय-दर कैसे निर्धारित होती है ? जैसा विदित है, जब कोई देश स्वर्णमान पर आधारित होता है तब उसका प्रामाणिक सिक्का या तो सोने का बना हुआ होता है या उसके मूल्य को सोने के रूप मे व्यक्त किया जाता है। इसके साथ ही *स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात एव निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता*, अर्थात् सोने का आयात एव निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब दो देश स्वर्णमान पर आधारित होते हैं तब उनकी मुद्राओ के बीच विनिमय-दर कैसे निर्धारित होती है ? यह समझने के लिए 'टक समता' (Mint Par of Exchange) शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है, क्योकि स्वर्णमान पर आधारित दो देशो की मुद्राओ की विनिमय दर 'टक-समता' पर ही निर्भर करती है। 'टक-समता' से अभिप्राय मुद्रा विनिमय की टकसाली दर से है। जैसा ऊपर बताया गया है, स्वर्णमान पर आधारित देश का प्रामाणिक सिक्का या तो स्वर्ण का बना हुआ होता है या उसका मूल्य स्वर्ण के रूप मे व्यक्त किया जाता है। टक समता के अन्तर्गत दो देशो के प्रामाणिक सिक्को मे निहित स्वर्ण की समानता स्थापित कर ली जाती है। दूसरे शब्दो मे, **टक समता वह दर है जो दो देशों के प्रामाणिक सिक्को मे स्वर्ण की समानता स्थापित करती है।** प्रो० टॉमस के शब्दो मे टक समता वह अनुपात है *जो एक धातुमान पर आधारित दो देशो की प्रामाणिक मौद्रिक इकाइयो के वैधानिक धातु साम्य* से प्रकट होता है।' उदाहरणार्थ प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व ब्रिटेन और अमरीका के बीच टक-समता 1 पौण्ड=4 866 डालर थी। इसका अभिप्राय यह है कि 1 पौण्ड मे सोने की धातु इतनी ही थी जितनी कि 4 866 डालरो मे। उस समय डालर और पौण्ड दोनो ही स्वर्ण के बने हुए होते थे या उनका मूल्य स्वर्ण के रूप मे व्यक्त किया जाता था। इस प्रकार 1 डालर मे 23 22 ग्रेन विशुद्ध सोना हुआ करता था जबकि 1 पौण्ड मे 113·0016 ग्रेन विशुद्ध सोना होता था। अत पौण्ड और डालर की टक-समता 1 पौण्ड=4 866 डालर थी।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि ब्रिटेन और अमरीका के बीच वास्तविक विनिमय-दर भी 1 पौण्ड=4 866 डालर थी। यह तो केवल दो देशो के बीच की टक समता ही थी। दो देशो की वास्तविक विनिमय-दर तो इससे अधिक अथवा कम हुआ करती थी। विनिमय-दर तो दोनो देशो के व्यापार-सन्तुलन द्वारा निश्चित हुआ करती थी। इसमे समय समय पर व्यापार सन्तुलन *की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के अनुसार परिवर्तन हुआ करते थे, परन्तु इसमे होने वाले ये* परिवर्तन दो निश्चित सीमाओ के भीतर ही हुआ करते थे। इन सीमाओ को स्वर्ण बिन्दु या स्वर्णाङ्क (gold points) कहते हैं ऊपर वाला स्वर्ण बिन्दु (upper gold point) और नीचे वाला स्वर्ण-बिन्दु (lower gold point)। जैसा ऊपर कहा गया है, इन दोनो देशो के बीच विनिमय-दर इन दोनो स्वर्ण-बिन्दुओ के बीच रहा करती थी। दूसरे शब्दो मे, इन दोनो की विनिमय-दर स्वर्ण बिन्दुओ का उल्लघन नही करती थी।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये स्वर्ण-बिन्दु क्या थे और इनका निर्धारण कैसे किया जाता था ? जैसा कहा गया है, ये स्वर्ण-बिन्दु दो सीमाओ को निर्धारित करते थे और ब्रिटेन व अमरीका के बीच की विनिमय दर इन सीमाओ के बीच मे ही रहा करती थी। ऊपर वाले स्वर्ण-बिन्दु का निर्धारण टक-समता मे एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण भेजने पर होने वाले व्यय को जोडकर किया जाता था। जैसा ऊपर कहा गया है, स्वर्णमान के अन्तर्गत किसी देश से स्वर्ण का निर्यात बिना किसी रोकटोक के किया जा सकता है और एक देश से दूसरे देश को स्वर्ण के भेजने पर कुछ व्यय अवश्य ही होता है। यदि स्वर्ण को भेजने पर होने वाले व्यय को टक समता मे जोड दिया जाय तो ऊपर वाला स्वर्ण बिन्दु निश्चित किया जा सकता है। मान लीजिए कि 1 पौण्ड के मूल्य के स्वर्ण को ब्रिटेन से अमरीका भेजने पर 020 सेण्ट का व्यय होता है।

अब यदि इस व्यय को टक-समता मे जोड दिया जाय तो ऊपर वाला स्वर्ण-बिन्दु 1 पौण्ड= 4 866 + 020 = 4 886 डालर होगा। इसी प्रकार जब टक समता मे से स्वर्ण भेजने का व्यय घटा दिया जाता है तब नीचे वाला स्वर्ण-बिन्दु निश्चित हो जाता है, अर्थात् 1 पौण्ड= 4 866— 020 = 4 846 डालर। इस प्रकार ब्रिटेन और अमरीका की विनिमय-दर इन दोनो स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही रहा करती थी, अर्थात् एक पौण्ड की विनिमय-दर 4 866 डालर से अधिक नही हो सकती थी और न ही 1 पौण्ड की विनिमय-दर 4 846 डालर से कम हो सकती थी।

अब मान लीजिए कि अमरीका का व्यापार-सन्तुलन (balance of trade) प्रतिकूल हो जाता है। इससे अमरीका मे पौण्ड्स की माँग बढ जायेगी और इसके परिणामस्वरूप डालरो के रूप मे पौण्ड का मूल्य भी बढ जायगा, अर्थात् अब 1 पौण्ड 4·866 डालरो के बराबर नहीं रहेगा, बल्कि अब 1 पौण्ड प्राप्त करने के लिए अमरीकियो को 4 866 डालरो से अधिक देना पडेगा। दूसरे शब्दो मे, पौण्ड का डालर मूल्य बढ जायगा परन्तु पौण्ड का डालर मूल्य 4 886, डालर से अधिक नही हो सकता, क्योकि यह दोनो के बीच ऊपर वाला स्वर्ण बिन्दु है। मान लीजिए कि पौण्ड का मूल्य 4 896 डालर हो जाता है। तब ऐसी परिस्थिति मे अमरीकी आयातकर्ता आयात किये गये माल का भुगतान पौण्ड मे न करके, स्वर्ण के रूप मे करना पसन्द करेंगे। इसका कारण यह है कि 1 पौण्ड के मूल्य के बराबर का स्वर्ण ब्रिटेन को भेजने पर उनका कुल व्यय 4 886 डालर होता है। अत उन्हे ब्रिटेन को भुगतान पौण्ड्स की अपेक्षा स्वर्ण के रूप मे करना अधिक बचतपूर्ण रहेगा। इस प्रकार खुले बाजार मे पौण्ड की माँग कम हो जायगी। परिणामत पौण्ड का मूल्य अवश्य ही गिरेगा। दूसरे शब्दो मे, पौण्ड का मूल्य अधिक समय तक 4·886 डालरो से अधिक नही रह सकता।

अब मान लीजिए कि ब्रिटेन का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। परिणामत ब्रिटेन के आयातकर्त्ता को आयात किये गये माल का भुगतान करने के लिए डालरो की आवश्यकता पडेगी। चूँकि ब्रिटेन का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल है, इसलिए अमरीकी डालरो की माँग बढ जायगी। इस बढी हुई माँग के कारण डालर का विदेशी मूल्य (पौण्ड के रूप मे मूल्य) भी बढ जायगा। दूसरे शब्दो मे ब्रिटेन और अमरीका के बीच की विनिमय-दर गिर जायेगी परन्तु यह 1 पौण्ड = 4 846 डालर से कम नही गिरेगी। इसका कारण यह है कि 1 पौण्ड=4·846 डालर नीचे वाला स्वर्ण बिन्दु (lower gold point) है। यदि वास्तविक विनिमय दर 1 पौण्ड=4 846 डालरो से कम हो जाती है तो ऐसी परिस्थिति मे ब्रिटिश आयातकर्ता अपने आयातो का भुगतान डालरो मे करने के बजाय स्वर्ण के रूप मे करना अधिक पसन्द करेंगे। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से उन्हे कम लागत बैठती है। मान लीजिए कि पौण्ड का मूल्य 4 846 डालर से भी कम हो जाता है (अर्थात् 4 836 डालर हो जाता है)। तब ऐसी परिस्थिति मे ब्रिटिश आयातकर्ता अपने आयातित माल का भुगतान स्वर्ण के रूप मे करना चाहेंगे। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से उन्हे 1 पौण्ड मूल्य के स्वर्ण के बदले मे 4·846 डालर प्राप्त हो सकते हैं जबकि खुले बाजार मे 1 पौण्ड के बदले केवल 4 836 डालर ही प्राप्त होते हैं। यदि ब्रिटिश आयातकर्ता अपने आयातो का भुगतान स्वर्ण के रूप मे करना आरम्भ कर देते है तो डालरो की माँग कम हो जायगी। परिणामत उनका विदेशी मूल्य (पौण्ड्स के रूप मे) अवश्य ही कम हो जायगा, अर्थात् ब्रिटेन और अमरीका के बीच की विनिमय-दर अवश्य ही ऊपर को उठेगी।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रिटेन और अमरीका की विनिमय-दर 1 पौण्ड = 4 886 डालर से अधिक नही हो सकती, और न ही यह 1 पौण्ड 4 846 डालर से कम ही हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, विनिमय दर का उतार-चढाव इन दोनो स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही होगा, अर्थात् विनिमय दर इन दोनो सीमाओ का उल्लघन नही करेगी। परन्तु यदि दोनो देशो के बीच मोन के आयात अथवा निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं तो ऐसी परिस्थिति मे विनिमय-दर स्वर्ण बिन्दुओ का उल्लघन कर सकती है। उदाहरणार्थ, यदि अमरीका स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देता है और इसका व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल है तो ऐसी दशा मे विनिमय दर ऊपर वाले स्वर्ण-बिन्दु से भी ऊपर चली जायगी। इसका कारण यह है कि अमरीका ने स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। स्वर्ण का निर्यात न होने के कारण

पौण्ड की माँग अत्यधिक बढ़ती चली जायगी। अन्त मे, विनिमय-दर ऊपर वाले स्वर्ण बिन्दु का भी उल्लघन कर देगी। अत विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दुओ के बीच उसी स्थिति मे ही रहती है जबकि दोनो देशो द्वारा स्वर्ण के आयात व निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया जाता। परन्तु याद रहे कि स्वर्णमान पर आधारित देशो के बीच स्वर्ण-बिन्दु भी स्थायी नही होते, बल्कि उनमे भी समय समय पर परिवर्तन सम्भव हो सकते है। उदाहरणार्थ, यदि स्वर्ण को एक देश से दूसरे देश को भेजने पर किये गये व्यय मे परिवर्तन होता है तो ऐसी दशा मे स्वर्ण-बिन्दुओ मे भी अवश्य परिवर्तन होंगे।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विनिमय-दर दोनो स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही रहेगी। इनका उल्लघन नहीं करेगी अर्थात् न तो यह ऊपर वाले स्वर्ण बिन्दु से ऊपर जायगी और न ही नीचे वाले स्वर्ण बिन्दु से नीचे गिरेगी। यदि किसी समय विनिमय दर इन सीमाओ का (किसी भी दशा में) उल्लंघन करती है तो शीघ्र ही स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा असन्तुलन की यह परिस्थिति स्वत ही दूर हो जायगी अर्थात् विनिमय-दर पुन इन स्वर्ण-बिन्दुओं के बीच आ जायगी।

प्रस्तुत रेखाकृति द्वारा स्वर्ण बिन्दुओ एव विनिमय-दर को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

इस रेखाकृति मे क ख रेखा टक-समता को व्यक्त करती है। च छ ऊपर वाले स्वर्ण-बिन्दु तथा ग घ नीचे वाले स्वर्ण-बिन्दु को प्रगट करती है। ब द बाजार विनिमय-दर को प्रदर्शित करती है। ऊपर वाला स्वर्ण-बिन्दु = 4 886 डालर है जबकि नीचे वाला स्वर्ण-बिन्दु 4 846 डालर है। जैसा रेखाकृति से स्पष्ट है, ब द अथवा बाजार विनिमय-दर दोनो स्वर्ण-बिन्दुओ के भीतरी ही रहती है। इनका उल्लघन नही करती।

यदि दो देश रजतमान पर आधारित हैं तो उनके बीच की विनिमय-दर भी ठीक उसी प्रकार निश्चित होगी जिस प्रकार स्वर्णमान पर आधारित दो देशो के बीच होती है।

(ख) जब एक देश स्वर्णमान पर तथा दूसरा देश रजतमान पर आधारित होता है—जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा देश रजतमान पर आधारित होता है तब उनके बीच विनिमय-दर निश्चित करने के लिए पहले हमे यह ज्ञात करना चाहिए कि स्वर्णमान वाले देश के प्रामाणिक सिक्के मे कितना विशुद्ध सोना है और रजतमान वाले देश के प्रमाणिक सिक्के मे कितनी विशुद्ध चाँदी है। तदुपरान्त, यह जानना चाहिए कि चाँदी का स्वर्ण मे क्या मूल्य है? वास्तव मे, यह जानना कठिन नही होता क्योकि रजतमान वाले देश की सरकार द्वारा चाँदी का स्वर्णमान-मूल्य निश्चित कर दिया जाता है। इसके बाद दोनो देशो के प्रामाणिक सिक्को मे जितना विशुद्ध स्वर्ण होता है उसकी तुलना करते हुए दोनो मुद्राओ की टक समता निकाल ली जाती है। टक समता निकाल लेने के उपरान्त दोनों देशो के बीच की विनिमय-दर को निर्धारित करना आसान हो जाता है।

सन 1898 तक भारत और ब्रिटेन के बीच विनिमय-दर इसी प्रकार निर्धारित की जाती थी। भारत के टक-विधान के अनुसार उस समय भारतीय रुपये मे 165 ग्रेन विशुद्ध चाँदी हुआ करती थी। उस समय के मूल्य के अनुसार 165 ग्रेन शुद्ध चाँदी का स्वर्ण मूल्य 7 53344 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण था और ब्रिटेन के 1 पौण्ड मे उस समय 113 0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण हुआ करता था। इस प्रकार जब 7 53344 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण 1 रुपये के बराबर हुआ करता था, इसी हिसाब से 113 0016 ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण 15 रुपये के बराबर हो जाता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस समय ब्रिटेन का 1 पौण्ड भारत के 15 रुपयो के बराबर हुआ करता था। दूसरे शब्दो मे,
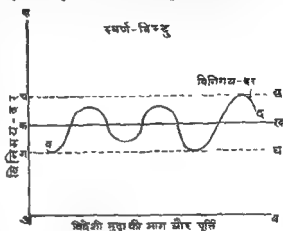
भारत का 1 रुपया ब्रिटेन के 1 शिलिंग 4 पेंस के बराबर था। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन के बीच टक-समता 1 रुपया = 1 शिलिंग 4 पेंस हुआ करती थी।

परन्तु स्मरण रहे कि भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय दर टक समता से भिन्न भी हो सकती थी और होती थी, अर्थात् भारत और ब्रिटेन की वास्तविक विनिमय-दर 1 रुपया = 1 शिलिंग 4 पेंस से अधिक व कम भी हो सकती थी। परन्तु विनिमय-दर मे होने वाले उतार-चढ़ाव स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही हुआ करते थे। किसी भी समय भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय-दर स्वर्ण बिन्दुओ का उल्लघन नही करती थी।

(ग) जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा देश अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रामान पर आधारित होता है जब एक देश स्वर्णमान पर आधारित होता है और दूसरा देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित होता है तब इन दोनो देशो के बीच टक-समता इस बात से निर्धारित होती है कि दोनो देशो की मुद्राएँ कितना कितना स्वर्ण खरीद सकती हैं। स्वर्णमान वाले देश मे तो मुद्रा का स्वर्ण मूल्य वहा की सरकार द्वारा घोषित कर दिया जाता है। परन्तु अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान वाले देश मे मुद्रा का यह स्वर्ण-मूल्य बाजार की परिस्थितियो के अनुसार बदलता रहता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस दशा मे दोनो देशो की वास्तविक विनिमय-दर मे कितना उतार चढ़ाव हो सकता है। जैसा हम देख चुके है, उपर्युक्त दोनो परिस्थितियो मे विनिमय-दर दो स्वर्ण बिन्दुओ द्वारा सीमित होती थी, अर्थात् विनिमय दर मे होने वाले उतार-चढ़ाव स्वर्ण-बिन्दुओ के भीतर ही हुआ करते थे। परन्तु यहाँ पर ऐसा सम्भव नही हो सकता, क्योंकि एक देश स्वर्णमान पर आधारित होता है और दूसरा देश कागजी मुद्रामान पर। अत इन दोनो देशो के बीच स्वर्ण बिन्दुओ का निर्धारण सम्भव नही हो सकता। यह अवश्य है कि स्वर्णमान वाले देश के लिए ऊपर वाला स्वर्ण-बिन्दु अथवा स्वर्ण निर्यात बिन्दु निश्चित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि स्वर्णमान वाले देश से सोने का निर्यात बिना किसी रोकटोक के किया जा सकता है। इस देश मे जब कभी विनिमय दर स्वर्ण को दूसरे देशो को भेजने की लागत से अधिक हो जाती है तब ऐसी परिस्थिति मे इस देश के व्यापारियो को आयात किये गये माल का भुगतान विदेशी मुद्रा मे करने के बजाय स्वर्ण के रूप मे करना अधिक लाभदायक होता है। इस प्रकार स्वर्णमान वाले देश म विनिमय की दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से ऊँची नही हो सकती। चूँकि दूसरा देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित होता है इसलिए उस देश से स्वर्ण का निर्यात नहीं किया जा सकता जिसके फलस्वरूप उस देश के लिए विनिमय की दर के गिरने की कोई न्यूनतम सीमा नही होती। इस प्रकार कागजी मुद्रामान वाले देश मे विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तन उस देश म विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति पर निर्भर करते हैं। परन्तु उस देश की विनिमय दर कितनी घटेगी अथवा बढ़ेगी, इसके लिए कोई निश्चित सीमाएँ नही होती। जिस प्रकार स्वर्णमान वाले देश म विनिमय की दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से अधिक नही हो सकती ठीक उसी प्रकार कागजी मुद्रामान वाले देश के लिए विनिमय की दर स्वर्ण आयात बिन्दु से कम नही हो सकती। परन्तु कागजी मुद्रामान वाले देश के लिए स्वर्ण-निर्यात बिन्दु नहीं हुआ करता। इसका कारण यह है कि इस देश की कागजी मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से नही होता। परिणामत इस देश से स्वर्ण का निर्यात भी किया जा सकता है।

इस प्रकार जब दो देशो म से किसी एक देश म स्वर्णमान होता है और दूसरे देश मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान होता है तब स्वर्णमान वाले देश मे विनिमय की दर मे वृद्धि स्वर्ण-निर्यात बिन्दु से अधिक नही हो सकती परन्तु विनिमय की दर मे कमी की कोई निम्नतम सीमा नही होती। इसके विपरीत कागजी मुद्रामान वाले देश म विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तनों की कोई सीमाएँ नही होती अर्थात इसकी विनिमय दर किसी भी मात्रा म घट-बढ़ सकती है।

(घ) जब दोनो देश अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रामान पर आधारित होते हैं—जब दो देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित होते हैं, तब इन दोनो के बीच की विनिमय दर स्वर्णबिन्दुओ से शासित नही होती। इसका कारण यह है कि दोनो देशो की मुद्राएँ किसी भी धातु से सम्बन्धित नही होतीं। अत इन दोनो देशो के बीच की विनिमय दर विदेशी मुद्रा की माँग

एव पूर्ति से निश्चित होती है। इनकी विनिमय-दर पर दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति का गहरा प्रभाव पडता है। यदि दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति मे परिवर्तन होते है, तो इनसे विनिमय-दर पर भी प्रभाव पडता है। अतः इस प्रकार के देशो के बीच की विनिमय-दर को निश्चित करने के लिए दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति का अनुमान लगाना पडता है। दूसरे शब्दो मे, अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित देशो की विनिमय-दर उनकी क्रय-शक्ति समता (purchasing power parity) द्वारा *निर्धारित होती है*। इसे *हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर* सकते है। मान लीजिए कि भारत और ब्रिटेन दोनो मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का प्रचलन है। भारत मे वस्तुओ के एक समूह को खरीदने के लिए एक रुपया व्यय करना पडता है और इन्ही वस्तुओ के समूह को खरीदने के लिए ब्रिटेन मे 1 शिलिंग 6 पेंस खर्च करने पडते हैं। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन मे विनिमय की दर 1 रुपया=1 शिलिंग 6 पेंस होगी। इस दर पर भारत मे 1 रुपया व्यय करके ब्रिटेन मे 1 शिलिंग 6 पेंस का भुगतान किया जा सकता है। अब जब दो देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित होते है, तब उनके बीच की विनिमय-दर टक-समता से निश्चित न होकर, कागजी मुद्राओ की क्रय-शक्ति समता से निश्चित होती है। यह क्रय शक्ति समता टक-समता की भाँति स्थिर नही होती, बल्कि दोनो देशो के कीमत-स्तरो मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप समय-समय पर बदलती रहती है।

जब दो देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित होते हैं तब उनके बीच की विनिमय-दर दीर्घकाल मे उनकी मुद्राओ की क्रय-शक्ति की समता से निर्धारित होती है। परन्तु अल्पकाल मे उन दोनो के बीच की विनिमय-दर क्रय शक्ति समता से कम अथवा अधिक हो सकती है, यद्यपि दोनो देशो के कीमत-स्तरो मे कोई परिवर्तन नही हुआ है अथवा दोनो देशो की क्रय-शक्ति समता पूर्ववत ही है। दूसरे शब्दो मे, अल्पकाल मे दोनो देशो के बीच की विनिमय-दर किन्ही आर्थिक कारणो से क्रय-शक्ति समता से ऊपर अथवा नीचे हो सकती है। परन्तु दीर्घकाल मे विनिमय की दर क्रय-शक्ति समता के बराबर होने की ही प्रवृत्ति रखती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि किन्ही कारणो से भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय-दर 1 रुपया=1 शिलिंग 6 पेंस से बदलकर 1 रुपया=1 शिलिंग 9 पेंस हो जाती है यद्यपि दोनो मुद्राओ की क्रय-शक्ति समता पूर्ववत ही है। इस परिस्थिति मे 1 रुपये के बदले म 1 शिलिंग 9 पेंस लेना भारतीय व्यापारियो के लिए अधिक लाभदायक हो जायगा और भारतीय व्यापारी ब्रिटेन से अधिक मात्रा मे माल खरीदना आरम्भ कर देंगे। इसका कारण यह है कि पहले वे 1 रुपये के बदले मे ब्रिटेन से 1 शिलिंग 6 पेंस के मूल्य का माल खरीद सकते थे लेकिन अब 1 रुपये से वे ब्रिटेन से 1 शिलिंग 9 पेंस के मूल्य का माल खरीद सकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि ब्रिटेन से भारत को माल का निर्यात बढ जायगा और भारत मे शिलिंग की माँग इस की पूर्ति से अधिक हो जायगी। इससे विनिमय की दर मे भी कमी होगी। अन्ततः यह दर कम होकर 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही पुन स्थिर हो जायगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान वाले देशो मे विनिमय की दर मे दीर्घकाल मे इन दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय-शक्ति समता के बराबर निश्चित हो जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दूसरे शब्दो मे, अल्पकाल मे इन दोनो के बीच की विनिमय-दर भले ही क्रय-शक्ति समता के ऊपर अथवा नीचे हो सकती है, परन्तु दीर्घकाल मे इन दोनो देशों के बीच की विनिमय-दर अवश्य ही क्रय शक्ति समता के बराबर होगी।

अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान वाले देश मे विनिमय की दर पर मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा-अवस्फीति का बहुत ही गहरा प्रभाव पडता है। इसका कारण यह है कि मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा-अवस्फीति के होने से देश के कीमत-स्तर मे परिवर्तन हो जाता है। परिणामत दो देशो के बीच की विनिमय-दर मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि भारत और ब्रिटेन मे क्रय-शक्ति समता के आधार पर विनिमय की दर 1 रु०=1 शिलिंग पेंस निश्चित हुई है। अब मान लीजिए कि दोनो देशो मे मुद्रा स्फीति के कारण कीमत-स्तर दुगुने हो जाते हैं, अर्थात् दोनो ही देशो मे मुद्रा की क्रय-शक्ति आधी रह जाती है तब ऐसी परिस्थिति मे भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय-दर पर कुछ भी प्रभाव नही पडेगा, अर्थात् दोनो देशो के बीच की विनिमय-दर 1 रुपया=1 शिलिंग 6 पेंस ही रहेगी। अब मान

लीजिए कि भारत मे कीमत-स्तर यथास्थिर रहता है, परन्तु ब्रिटेन मे मुद्रा स्फीति के कारण कीमत-स्तर तीन गुना बढ जाता है या ब्रिटिश मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{3}$ रह जाता है तब ऐसी परिस्थिति मे भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय दर 1 रुपया=4 शिलिंग 6 पेंस हो जायगी। इसका कारण स्पष्ट है। चूँकि ब्रिटिश मुद्रा का मूल्य एक-तिहाई रह गया है, इसलिए अब 1 शिलिंग 6 पेंस ही 1 रुपये के बराबर नही हो सकते। दूसरे शब्दो मे, अब 1 शिलिंग 6 पेंस$\times$3=4 शि० 6 पेंस ही 1 रुपये के बराबर होगे। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय दर 1 रुपया=4 शिलिंग 6 पेंस हो जायगी, क्योंकि यही दर दोनों देशो की क्रय-शक्ति समता है।

अब मान लीजिए कि भारत मे भी मुद्रा स्फीति के कारण देश का कीमत-स्तर दुगुना बढ जाता है, अर्थात् भारतीय रुपये का मूल्य $\frac{1}{2}$ रह जाता है। परन्तु ब्रिटेन का कीमत-स्तर जैसा हम ऊपर देख चुके हैं तीन गुना बढ जाता है, अर्थात् ब्रिटिश मुद्रा का मूल्य $\frac{1}{3}$ रह जाता है। तब ऐसी परिस्थिति मे भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय-दर कैसे निश्चित होगी? स्पष्ट है कि भारत के 2 रुपये ब्रिटेन के 4 शिलिंग 6 पेंस के बराबर होंगे। दूसरे शब्दो मे, भारत का 1 रुपया ब्रिटेन के 2 शिलिंग 3 पेंस के बराबर होगा। इस प्रकार दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्ति मे समानता स्थापित करके ही उनके बीच की विनिमय दर को निश्चित किया जा सकता है। दोनो देशो की मुद्राओं की क्रय शक्ति मे होने वाले परिवर्तनो अथवा दोनो देशो के कीमत स्तरो मे होने वाले परिवर्तनो को हम सूचकाको (Index Numbers) द्वारा नाप सकते हैं। इस प्रकार अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान वाले देशो के बीच की विनिमय-दर को सूचकाको की सहायता से निश्चित किया जा सकता है। इसे एक उदाहरण द्वारा हम स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए भारत और ब्रिटेन के सूचकाक बढकर क्रमश 200 और 300 हो जाते हैं, अर्थात् भारत का कीमत स्तर दुगुना हो गया है जबकि ब्रिटेन का कीमत-स्तर तिगुना हो गया है। ऐसी परिस्थिति मे भारतीय रुपये का मूल्य घटकर $\frac{1}{2}$ और ब्रिटेन की मुद्रा का मूल्य घटकर $\frac{1}{3}$ हो जाता है। ऐसी

दशा मे 1 रुपया $=\frac{18\times3}{2}=2$ शिलिंग 3 पेंस, क्योकि भारत और ब्रिटेन की मुद्राओ के

अवमूल्यन का अनुपात 2 3 है। अत प्रो० गस्टव कसैल (Gustav Cassel) के शब्दो मे, "जब दो देशो की मुद्राओ का अवमूल्यन होता है, तब इनकी विनिमय की पूर्ववत समता को दोनो देशो की मुद्रा स्फीति के अनुपात से गुणा करने पर इन दोनो देशो की क्रय शक्ति समता निकाली जा सकती है। इस प्रकार निकाली गयी क्रय शक्ति समता के आधार पर दोनो देशों के बीच की विनिमय दर को निर्धारित किया जा सकता है।

स्वर्णमान तथा कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय-दर के निर्धारण मे अन्तर

यदि दो देश धातुमान (स्वर्णमान) पर आधारित हैं और अन्य दो देश परिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित हैं, तब इन दोनो परिस्थितियो मे विनिमय की दर निश्चित करने मे कई विभिन्नताएँ पायी जायेंगी। ये इस प्रकार हैं

(क) धातुमान (स्वर्णमान) के अन्तर्गत दो देशो के बीच विनिमय-दर टक-समता से निश्चित होती है। परन्तु अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत दो देशो के बीच की विनिमय दर उनकी मुद्राओ की क्रय शक्ति समता से निर्धारित होती है।

(ख) धातुमान (स्वर्णमान) के अन्तर्गत दो देशो के बीच की विनिमय-दर मुद्रा की स्वर्ण मे क्रय-शक्ति से निश्चित होती है, परन्तु कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत दो देशो के बीच की विनिमय-दर मुद्रा की वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे क्रय शक्ति से निर्धारित होती है।

(ग) धातुमान (स्वर्णमान) के अन्तर्गत दो देशो के बीच की टक-समता प्राय स्थिर होती है, परन्तु कागजी मुद्रामान के अन्तगत दो देशो के बीच की क्रय शक्ति समता स्थिर न होकर, समय-समय पर कीमत-स्तरो मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप बदलती रहती है।

(घ) धातुमान (स्वर्णमान) के अन्तर्गत दो देशो के बीच की विनिमय-दर मे परिवर्तन स्वर्ण बिन्दुओ के भीतर ही होते रहते हैं (उनका उल्लघन नही करते), परन्तु कागजी मुद्रामान के

अन्तर्गत दो देशों के बीच की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता से ऊपर व नीचे होती रहती है। धातुमान की भाँति कागजी मुद्रा के अन्तर्गत दो देशों के बीच स्वर्ण-बिन्दुओं जैसी कोई सीमाएँ नहीं होतीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धातुमान देशों में और कागजी मुद्रामान देशों में विनिमय-दर के निर्धारण में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर पाये जाते हैं।

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्वीडन के सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो० गस्टव कसैल (Gustav Cassel) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।[1] प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व यूरोप के लगभग सभी बड़े-बड़े देश स्वर्णमान पर ही आधारित थे। अतः उस समय दो देशों के बीच की विनिमय दर स्वर्ण-बिन्दुओं द्वारा ही शासित हुआ करती थी। परन्तु प्रथम विश्व युद्ध के दौरान लगभग सभी देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था और उसके स्थान पर अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान को अपनाया था। इस नये मान के अन्तर्गत दो देशों के बीच स्वर्ण बिन्दुओं को निर्धारित करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता था, क्योंकि दोनों देशों की मुद्राएँ किसी प्रकार की धातु से सम्बन्धित नहीं थीं। अतः अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित दो देशों के बीच की विनिमय-दर को निर्धारित करना कठिन हो गया था। प्रो० गस्टव कसैल ने इसी कठिनाई को दूर करने के लिए क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार दो अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान वाले देशों में विनिमय की दर उन दोनों देशों के कीमत-स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा निर्धारित की जाती है। इस प्रकार कीमत-स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर निर्धारित की जाने वाली विनिमय-दर को क्रय शक्ति समता (Purchasing Power Parity) कहा जाता है। इस सिद्धान्त की परिभाषाएँ विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा इस प्रकार की गयी हैं :

प्रो० गस्टव कसैल के अनुसार, "दो मुद्राओं के बीच की विनिमय-दर अवश्य ही उनकी आन्तरिक क्रय-शक्ति के भागफल पर निर्भर करती है।"[2]

प्रो० जी० डी० एच० कोल (Cole) के शब्दों में, "उन देशों की मुद्राओं का पारस्परिक मूल्य, जो स्वर्णमान पर आधारित नहीं है, दीर्घकाल में विशेषकर उनकी वस्तुओं तथा सेवाओं की क्रय शक्ति से निश्चित होता है।"[3]

प्रो० एस० ई० टॉमस (S E Thomas) ने इस सिद्धान्त की परिभाषा इन शब्दों में की है, "एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा के रूप में किसी विशेष समय पर बाजार की माँग और पूर्ति की परिस्थितियों द्वारा निश्चित होता है। दीर्घकाल में यह मूल्य उन दोनों देशों की मुद्राओं के सापेक्ष मूल्य द्वारा निश्चित होता है, जैसा उन देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति अपने अपने देशों की मुद्राओं तथा सेवाओं के रूप में होती है। दूसरे शब्दों में, विनिमय-दर में उसी बिन्दु

---

1 कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् 1802 में जॉन व्हीटले (John Wheatley) द्वारा किया गया था। तदुपरान्त, सन् 1810 में विलियम ब्लेक (William Blake) ने इसका स्पष्टीकरण किया था। डेविड रिकार्डो (David Ricardo) ने इसे पुनः प्रस्तुत किया था। आगे चलकर प्रथम विश्व युद्ध के दौरान प्रो० गस्टव कसैल ने इसका विकास किया था।

2 "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of these currencies." —*Gustav Cassel*

3 "The relative values of national currencies, especially when they are not on Gold Standard, in the long run, are determined by their relative purchasing powers in terms of goods and services." —*G D H Cole*

पर स्थिर होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्ति बराबर होती है। इस बिन्दु का ही क्रय-शक्ति समता कहते है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय दर उनकी मुद्राओ की क्रय-शक्ति की समता से निर्धारित होती है। परन्तु ऐसा केवल दीर्घकाल मे ही होता है। अल्पकाल मे ऐसे दो देशो के बीच की विनिमय दर क्रय-शक्ति समता से अधिक अथवा कम हो सकती है। परन्तु दीर्घकाल मे इन देशो के बीच की विनिमय दर क्रय शक्ति समता से ही निर्धारित होती है। स्मरण रहे कि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित दो देशो के बीच की क्रय-शक्ति सदा के लिए स्थिर नही होती, बल्कि समय-समय पर दोनो देशो के कीमत स्तरो मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप बदलती रहती है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अपरिवर्तनीय मुद्रामान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय-दर किस प्रकार क्रय शक्ति समता द्वारा निर्धारित होती है (चौथी परिस्थिति) अतः वहाँ पर उसकी पुन व्याख्या की आवश्यकता नही है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनाएँ—इस सिद्धान्त की समय-समय पर अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं। इन्ही के कारण इस सिद्धान्त को सन्तोषजनक नही माना जाता। इस सिद्धान्त की मुख्य मुख्य आलोचनाएँ निम्न प्रकार है

(1) **दोनो देशों की मुद्राओ की क्रय-शक्ति को सही सही नापना कठिन है।** जैसा ऊपर बताया जा चुका है इस सिद्धान्त के अन्तर्गत दो देशो के बीच की विनिमय-दर उनकी मुद्राओ की क्रय-शक्ति समता द्वारा निर्धारित की जाती है और दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्तियो को कीमत-सूचकाको (Price Index Numbers) द्वारा निश्चित किया जाता है। आलोचको के अनुसार इस प्रकार के सूचकाको मे तीन मुख्य दोष पाये जाते हैं—(क) **सूचकाक सदैव भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं।** वे वर्तमान अथवा भविष्य के बारे मे पूर्णत विश्वसनीय अनुमान प्रस्तुत नही करते। इसलिए वर्तमान तथा भावी विनिमय-दर का निर्धारण केवल अनुमानजनक ही रहता है। अत व्यावहारिक जीवन मे इस सिद्धान्त का महत्व ही समाप्त हो जाता है, (ख) **कीमत सूचकांक का दूसरा दोष यह है कि इनमे ऐसी वस्तुओ की कीमतों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जिनका अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है।** प्रत्येक देश मे कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है जिनका उत्पादन एव उपभोग देश के भीतर ही किया जाता है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से उनका कुछ भी सम्बन्ध नही होता। वास्तव मे, विदेशी विनिमय-दरो के उचित निर्धारण के लिए तो केवल उन्ही वस्तुओ की कीमतो को ही सूचकाको मे सम्मिलित किया जाना चाहिए जिनका आयात निर्यात होता है। चूंकि कीमत-सूचकाको मे सभी प्रकार की वस्तुओ की कीमतो को सम्मिलित लिया जाता है इसलिए उनके आधार पर निश्चित की गयी विनिमय दर वास्तविक विनिमय-दर नही कही जा सकती। इसके अतिरिक्त यदि हम केवल उन्ही वस्तुओ की कीमतो को सूचकाकों में सम्मिलित करते हैं जिनका विदेशी व्यापार से सम्बन्ध होता है तो भी कठिनाई दूर नहीं होती। इसका कारण यह है कि अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओ की कीमतें सभी देशो मे लगभग समान ही होती है। यदि उनकी कीमतो मे परिवर्तन होता भी है तो बहुत कम मात्रा मे। परिणामत विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तनो को सही-सही ज्ञात करना कठिन हो जाता है, (ग) **कीमत सूचकाकों का तीसरा दोष यह है कि दोनो देशो के कीमत-सूचकाकों मे एक ही प्रकार की वस्तुओं**

---

1 "While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run that value is determined by the relative value of the two currencies as indicated by their relative purchasing powers over goods and services (in their respective countries) In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies This point is called the Purchasing Power Parity" —*S E Thomas*

का समावेश नही होता, बल्कि दोनो देशो के सूचकाकों मे अलग-अलग वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। इससे दोनो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्तियो मे समता स्थापित करना कठिन हो जाता है।

(2) **यह सिद्धान्त परिवहन-व्यय की उपेक्षा करता है** इस सिद्धान्त मे वस्तुओ के परिवहन व्यय (transport charges) की उपेक्षा की गयी है। किन्तु जैसा प्रो० जेकब वीनर (Jacob Viner) ने बताया है, एक देश मे वस्तुओ की कीमतें बढ़ सकती हैं तथा दूसरे देश में गिर सकती हैं। यदि एक दिशा मे परिवहन-व्यय बढ जाता है तो दूसरी दिशा का गिर जाता है। प्रो० पीगू ने भी कहा है कि यदि एक दिशा मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं तो दो देशो के बीच की क्रय शक्ति समता स्वत ही भग हो जायगी। प्रो० एंजल (Angel) के मतानुसार, परिवहन-व्यय के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार के तत्त्व हैं (जैसे विज्ञापन व्यय आदि) जो क्रय शक्ति समता को भग करते हैं।

(3) **यह सिद्धान्त वस्तुओं के गुणो की भी उपेक्षा करता है** यह सिद्धान्त दो देशो मे उन वस्तुओ के गुणो (qualities) की भी उपेक्षा करता है जिनकी कीमतो की तुलना की जाती है। यह आवश्यक नही कि दो देशो मे वस्तुओ के गुण एक जैसे हो। कभी-कभी तो वस्तुओ का मानकीकरण (standardisation) तक नही होता। इस प्रकार यदि हम चाहें तो भी वस्तुओ के गुणो की तुलना नही की जा सकती।

(4) **यह सिद्धान्त भुगतान-सन्तुलन को प्रभावित करने वाले तत्त्वो का अध्ययन नहीं करता**—आलोचको के अनुसार यह सिद्धान्त अनेक ऐसे तत्त्वो की उपेक्षा करता है जो भुगतान के सन्तुलन को प्रभावित करके विनिमय दर मे परिवर्तन कर देते हैं। यह सिद्धान्त तो केवल उन्ही तत्त्वो का अध्ययन करता है जो देश के आन्तरिक कीमत स्तर को प्रभावित करते हैं। वास्तव मे, बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो देश के आन्तरिक कीमत स्तर को तो प्रभावित नही करते, परन्तु देश के भुगतान सन्तुलन को अवश्य ही प्रभावित करते हैं और परिणामत विनिमय-दर मे परिवर्तन कर देते है। उदाहरणार्थ दो देशो के बीच पूँजी का आवागमन उनके भुगतान सन्तुलन को तो प्रभावित करता है, परन्तु उनके आन्तरिक कीमत-स्तरो पर कोई विशेष प्रभाव नही डालता। जैसा विदित है पूँजी के आवागमन के फलस्वरूप देश का भुगतान सन्तुलन अवश्य ही प्रभावित होता है और परिणामत विनिमय-दर भी बिना प्रभावित हुए नही रह सकती। किन्तु क्रय शक्ति समता सिद्धान्त इस प्रकार के तत्त्वो की उपेक्षा कर देता है। जैसा ऊपर कहा गया है, यह सिद्धान्त तो केवल उन्ही तत्त्वो की व्याख्या करता है जो देश के आन्तरिक कीमत स्तर को प्रभावित करके विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। अत हम कह सकते हैं कि यह सिद्धान्त अधूरा है, क्योंकि यह विनिमय दर को प्रभावित करने वाले सभी प्रकार के तत्त्वो का अध्ययन नही करता।

(5) **विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तनो का कीमत स्तर पर भी प्रभाव पड़ता है**—इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशो के आन्तरिक कीमतो-स्तरो मे होने वाले परिवर्तन उनके बीच की विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। परन्तु आलोचको का कहना है कि दो देशो के बीच की विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तन उनके आन्तरिक कीमत-स्तरो को भी प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि भारत और ब्रिटेन के बीच की विनिमय दर 1 रुपया=1 शिलिंग 6 पेंस से बढकर 1 रुपया=2 शिलिंग हो जाती है। दूसरे शब्दो मे भारत और ब्रिटेन की विनिमय-दर बढ जाती है। अब मान लीजिए कि ब्रिटेन, भारत से कच्चे माल का आयात करता है, परन्तु दोनो देशो के बीच की विनिमय-दर के बढ जाने से भारत का कच्चा माल अब ब्रिटेन को महँगा पडेगा। इसका कारण यह है कि पहले ब्रिटेन का आयातकर्ता 1 शिलिंग 6 पेंस व्यय करके भारत से 1 रुपये के मूल्य का माल आयात कर सकता था परन्तु अब 1 रुपये के मूल्य का माल आयात करने के लिए उसे 2 शिलिंग व्यय करने पड़ेंगे। परिणामत भारत का कच्चा माल ब्रिटेन मे महँगा हो जायेगा। जिन उद्योग धन्धो मे इस कच्चे माल का उपयोग किया जाता है उनके तैयार-शुदा माल की कीमतें भी बढ जायेंगी। इस प्रकार विनिमय-दर के बढ जाने से ब्रिटेन के आन्तरिक कीमत-स्तर मे भी वृद्धि हो जाती है। अतएव यह कहना गलत नही है कि विनिमय दर के परिवर्तनो से आन्तरिक कीमत स्तरो मे भी परिवर्तन हो जाते हैं।

(6) **यह सिद्धान्त सामान्य अनुभव से मेल नहीं खाता**—आलोचको के अनुसार व्यवहार

मे ऐसा कोई भी उदाहरण नही मिलता जिससे यह पता चले कि दो देशो के बीच विनिमय की दर क्रय शक्ति समता सिद्धान्त द्वारा निश्चित होती है। चूँकि सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त से मेल नही खाता, इसलिए आलोचको का कहना है कि वास्तविक जीवन मे इस सिद्धान्त का कुछ भी महत्त्व नही है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए कि अमरीका और भारत मे आपसी व्यापार होता है। अमरीका एक सुविकसित देश होने के नाते भारत पर किसी भी विशेष वस्तु के लिए निर्भर नही करता, परन्तु भारत एक अविकसित देश होने के कारण अमरीका पर बहुत सी वस्तुओ के लिए निर्भर करता है। अमरीका अपनी सुदृढ आर्थिक स्थिति का लाभ उठाते हुए भारत से आने वाले आयातो पर भारी कर लगा देता है अथवा उनका निषेध (prohibition) कर देता है। परिणामत अमरीका के आयात बहुत कम हो जाते हैं, परन्तु भारत अमरीका से अपने आयातो का कम करने की परिस्थिति मे नही है। परिणामत भारत की अमरीकी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ जायगी और उसे अमरीकी मुद्रा की एक इकाई के बदले अपनी मुद्रा की अधिक इकाइयाँ देनी पड़ेंगी। इस प्रकार विनिमय दर अमरीका के पक्ष तथा भारत के विपक्ष मे हो जायगी। दूसरे शब्दो मे, अमरीकी मुद्रा का विदेशी मूल्य बढ जायगा, यद्यपि अमरीका के आन्तरिक कीमत स्तर मे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार किसी देश की मुद्रा का विदेशी मूल्य उस देश के आन्तरिक कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो से ही प्रभावित होता है। अब इस उदाहरण मे, अमरीकी मुद्रा का विदेशी मूल्य अमरीका के आन्तरिक कीमत स्तर मे बिना किसी परिवर्तन के ही बढ गया है। अत आलोचको का मत है कि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त सामान्य अनुभव से मेल नही खाता, अर्थात् व्यवहार मे विनिमय दर इस सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित नही होती।

(7) **यह सिद्धान्त मुद्राओ के प्रति माँग की विवेचना नही करता**—दो देशो के बीच की विनिमय दर के निर्धारण के बारे मे यह सिद्धान्त पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत नही करता। वास्तव मे विनिमय-दर की समस्या कीमत निर्धारण की समस्या की भाँति है। जिस प्रकार देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत उसकी माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है, ठीक उसी तरह देश की मुद्रा की बाह्य कीमत अथवा उसकी विनिमय दर भी विदेशी विनिमय बाजार मे उसकी माँग व पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। विनिमय दर का सन्तोषजनक सिद्धान्त तो वह ही समझा जा सकता है जो दो देशो की मुद्राओ की पारस्परिक माँग और पूर्ति की समुचित विवेचना करे। परन्तु क्रय शक्ति समता सिद्धान्त तो दो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्ति सम्बन्धी विवेचना ही करता है उनके प्रति माँग की विवेचना नही करता। इस प्रकार इस सिद्धान्त द्वारा विनिमय दर निर्धारण के सम्बन्ध मे की गयी विवेचना अधूरी ही मानी जा सकती है।

(8) **यह सिद्धान्त विनिमय-दर को पहले से ही मानकर चलता है**—इस सिद्धान्त की एक अन्य त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त विनिमय दर को पहले से ही मानकर चलता है उसके निर्धारण की व्याख्या नही करता। जैसा विदित है दो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्ति की समता को दिखाने से पूर्व किसी एक विनिमय दर को मान लिया जाता है, क्योकि इस प्रकार की विनिमय दर के बिना दो दे ो की मुद्राओ की क्रय शक्तियो की समता व्यक्त करना सम्भव ही नही है। इस प्रकार यह सिद्धान्त तो केवल यही बताता है कि एक दी हुई विनिमय दर पर दो देशो की मुद्राओ की क्रय शक्तियो मे होने वाले परिवर्तनो का क्या प्रभाव पडता है?

(9) **यह सिद्धान्त माँग की लोच सम्बन्धी गलत मान्यता पर आधारित है**—क्रय शक्ति समता सिद्धान्त माँग की लोच सम्बन्धी गलत मान्यता के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि किसी देश की वस्तुओ के सम्बन्ध मे विदेशो की माँग इकाई के बराबर होती है। दूसरे शब्दो मे, जिस अनुपात मे वस्तुओ की कीमतें बढती हैं उसी अनुपात मे उनकी माँग कम हो जाती है अथवा जिस अनुपात मे कीमतें घटती हैं उसी अनुपात मे उनकी माँग बढ जाती है। परन्तु यह मान्यता सत्य नही है। वास्तव मे विदेशो मे वस्तुओं की माँग कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो के अनुपात मे ही नही घटती बढती। दूसरे शब्दो म माँग की लोच इकाई से अधिक व कम हो सकती है।

(10) **यह सिद्धान्त केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति को ही व्याख्या करता है**—आलोचकों का

कहना है कि यह सिद्धान्त केवल यही बताता है कि दीर्घकाल मे दो देशो के बीच की विनिमय-दर क्रय-शक्ति समता के आधार पर निर्धारित होती है। परन्तु यह सिद्धान्त हमे यह नही बताता कि अल्पकाल मे दो देशो के बीच विनिमय दर किस प्रकार निश्चित होती है। वास्तव मे, अल्पकाल मे दो देशो के बीच की विनिमय-दर अनेक प्रकार के तत्वो से प्रभावित होती है। परन्तु यह सिद्धान्त उन सभी तत्वो की उपेक्षा कर देता है। अतएव इस दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को सन्तोषजनक नही माना जा सकता।

निष्कर्ष—जैसा हमने ऊपर देखा है, इस सिद्धान्त मे कई प्रकार के दोष पाये जाते हैं। परन्तु इसके बावजूद यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। **प्रथम**, यह सिद्धान्त हमे स्पष्टत बताता है कि अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर किस प्रकार निश्चित होती है। इस सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश के आन्तरिक कीमत स्तर और उसकी विनिमय की दर मे गहरा सम्बन्ध होता है। अत दो देशो के बीच विनिमय दर निश्चित करते समय क्रय-शक्ति समता की उपेक्षा नही की जा सकती। **द्वितीय**, यह सिद्धान्त सभी प्रकार के मुद्रामानो अथवा मुद्राओ पर क्रियाशील होता है। **तीसरे**, इस सिद्धान्त से यह भी पता चल जाता है कि किसी विशेष समय पर व्यापार की दशा कैसी होगी और भुगतान-सन्तुलन का स्वरूप क्या होगा। **चौथे**, इस सिद्धान्त की सहायता से यह भी पता चल जाता है कि देश की मुद्रा के अव-मूल्यन (depreciation) तथा अधिमूल्यन (appreciation) से देश की विनिमय-दर तथा उसके विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पडा है? इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त एक उपयोगी सिद्धान्त है। दो देशो के बीच विनिमय-दर निर्धारित करते समय उनकी मुद्राओ की क्रय शक्ति समता की उपेक्षा नही की जा सकती। अल्पकाल मे दो देशो के बीच की विनिमय-दर भले ही क्रय-शक्ति समता से कम अथवा अधिक हो, परन्तु दीर्घकाल मे विनिमय-दर मे क्रय शक्ति समता के आसपास निश्चित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

विदेशी विनिमय का भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त
(The Equilibrium Theory of Foreign Exchanges)

इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश दूसरे देश को उतना ही देता है जितना कि वह दूसरे देश से प्राप्त करता है। जैसा प्राय कहा जाता है, आयात ही निर्यातो का भुगतान करते हैं (imports pay for the exports)। इसका अभिप्राय यह है कि दीर्घकाल मे प्रत्येक देश की आय (receipts) तथा भुगतान (payments) मे समानता की प्रवृत्ति पायी जाती है। उदाहरणार्थ, यदि भारत और ब्रिटेन मे व्यापार होता है, तब साम्य की अवस्था मे भारत ब्रिटेन से व्यापार तब ही करेगा क्योकि उसे अपने आयातो के लिए उतना ही देना पडे जितना कि वह ब्रिटेन से अपने निर्यातो द्वारा प्राप्त करता है। इसी तथ्य को विदेशी विनिमय का भुगतान-सन्तुलन सिद्धान्त कहते है। किन्तु स्मरण रहे कि किसी देश के आयातो और निर्यातो के बीच की यह समानता केवल दीर्घकाल मे ही पायी जाती है। अल्पकाल मे ही आयातो तथा निर्यातो की पूर्ण समानता का होना आवश्यक नही, अर्थात् अल्पकाल मे किसी देश के आयात उसके निर्यातो से अधिक अथवा कम हो सकते है, परन्तु दीर्घकाल मे उस देश के आयातो तथा निर्यातो मे समानता का होना अनिवार्य ही है।

परन्तु इस सिद्धान्त मे एक त्रुटि पायी जाती है, जब तक हमे दोनो देशो के बीच की विनिमय दर की जानकारी ही नही हैं तब तक हम उन दोनो देशो की आय (receipts) तथा भुगतानो (payments) का अनुमान कैसे लगा सकते हैं, अर्थात् दोनो देशो के बीच की विनिमय-दर की जानकारी के अभाव मे उन देशो के आयातो एव निर्यातो के मूल्यो मे समानता के बारे मे निश्चित रूप से कहना कठिन हो जाता है। परन्तु जब हमे इन देशो के बीच की विनिमय दर का ज्ञान हो जाता है, तब हमारे लिए उनके आयातो और निर्यातो की समानता के बारे मे निश्चित रूप से कहना सरल हो जाता है। **जिस विनिमय दर पर दोनों देशो के आयातो और निर्यातों का मूल्य समान होता है उसे विनिमय की साम्य दर (Equilibrium Rate of Exchange) कहा जाता है।** यदि इन देशो मे से किसी एक देश के आयात और निर्यात के मूल्य के बराबर नहीं हैं तब

इसे हम असन्तुलन की अवस्था कहेगे । ऐसी परिस्थिति मे उस देश को अपने आयातो व निर्यातो मे आवश्यक परिवर्तन करके उनमे समानता स्थापित करनी चाहिए ।

अत इस सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल मे किसी देश की विनिमय-दर उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ पर उस देश के आयातो का मूल्य उसके निर्यातो के मूल्य के बराबर होता है । इसी कारण यह कहा जाता है कि आयात, निर्यात का भुगतान करते हैं ।

विनिमय-दर में उतार चढ़ाव
(Fluctuations in The Rate of Exchange)

जैसा विदित है, दो देशो के बीच की विनिमय-दर मे बहुधा उतार-चढाव होते रहते हैं । इस प्रकार के उतार-चढाव न केवल स्वर्णमान वाले, बल्कि कागजी मुद्रामान वाले देशो के बीच भी होते रहते हैं । जैसा हम देख चुके हैं स्वर्णमान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर टक समता के ऊपर अथवा नीचे होती है । इसी प्रकार कागजी मुद्रामान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर क्रय शक्ति समता से कम अथवा अधिक हो सकती है । परन्तु स्मरण रहे कि दीर्घकाल मे दो देशो के बीच की विनिमय-दर मे स्थिरता पाई जाती है, जबकि अल्पकाल मे दो देशा के बीच की विनिमय दर मे अत्यधिक उतार-चढाव होते रहते हैं । दूसरे शब्दो मे, अल्पकाल मे विनिमय की दर स्वर्णमान के अन्तर्गत टक-समता से और कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत क्रय-शक्ति की समता से ऊपर अथवा नीचे होती रहती है । विनिमय-दर मे होने वाले इस प्रकार के उतार-चढाव से देश की अर्थ-व्यवस्था मे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और देश के विदेशी व्यापार पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है । अत हम विनिमय दर मे होते वाले उतार-चढाव के कारणो की सविस्तार व्याख्या करेंगे ।

(1) विदेशी मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन—विदेशी मुद्राओ की माँग एव पूर्ति परिवर्तनो का विनिमय-दर पर सबसे अधिक प्रभाव पडता है । यदि विदेशी विनिमय की माँग उसकी पूर्ति से कम अथवा अधिक होती है तो इससे विनिमय-दर मे अवश्य ही परिवर्तन होते हैं । चूकि अल्पकाल मे विदेशी मुद्राओ की माँग तथा पूर्ति मे असन्तुलन की सम्भावना अधिक रहती है, इसलिए अल्पकाल मे विनिमय दरो के परिवर्तन बडे पैमाने पर होते रहते हैं । विदेशी मुद्राओ की माग एवं पूर्ति पर निम्नलिखित तत्वो का प्रभाव पडता है -

(क) व्यापार की परिस्थितियाँ (Trade Conditions)—विदेशी मुद्राओ की माँग व पूर्ति के दर देश के आयातो तथा निर्यातो का प्रभाव पडता है । यदि देश के निर्यात, आयातो की अपेक्षा अधिक हैं तो विदेशो मे उस देश की मुद्रा की माँग बढ जायगी । इसके विपरीत, उस देश मे विदेशी मुद्राओ की माँग कम हो जायगी । परिणामत विनिमय-दर देश के पक्ष मे हो जायगी । इसके विपरीत, यदि देश के आयात, निर्यातो से अधिक हैं तो इससे विदेशी मुद्राओ की माँग बढ जायगी और विदेशो मे उस देश की मुद्रा की माँग कम हो जायगी । परिणामत विनिमय-दर देश के विपक्ष मे हो जायगी ।

(ख) स्टॉक एक्सचेंज सम्बन्धी प्रभाव (Stock Exchange Influences)—स्टॉक एक्सचेंज पर कई पर किये गये विभिन्न सौदो का विनिमय-दर पर प्रभाव पडता है । स्टॉक एक्सचेंज पर कई प्रकार के सौदे किय जाते हैं । उदाहरणार्थ, स्टॉक एव शेयर्स तथा प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय, ऋणो का लेन-देन आदि ।

(i) स्टॉक शेयर्स तथा प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय—जब देशवासी विदेशो मे स्टॉक शेयर्स तथा प्रतिभूतियो को खरीदते हैं तब उन्हे इनकी कीमत विदेशी विक्रेताओ को उनकी मुद्राओ मे ही चुकानी पडती है । इससे देश मे विदेशी मुद्राओ की माँग बढ जाती है और विनिमय-दर देश के विपक्ष मे हो जाती है । इसके विपरीत यदि देशवासी विदेशियो को स्टॉक, शेयर्स तथा प्रतिभूतियाँ बेचते हैं, तब विदेशियो को इनकी कीमतें देश की मुद्रा मे चुकानी पडती हैं । इससे विदेशो मे उस देश की मुद्रा की माँग बढ जाती है । परिणामत विनिमय-दर देश के पक्ष मे हो जाती है ।

(ii) ऋणों का लेन-देन—यदि देशवासी विदेशो से ऋण प्राप्त करते हैं तब ऐसी परिस्थिति मे विदेशो मे उस देश की मुद्रा को माँग बढ जाती है । परिणामत विनिमय-दर उस देश के पक्ष मे हो जाती है । इसके विपरीत, यदि देशवासी विदेशियो को ऋण देते हैं तो इससे

उनकी विदेशी मुद्राओं की माँग बढ़ जाती है। परिणामतः विनिमय-दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इस प्रकार जब स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों (operations) के फलस्वरूप मुद्रा देश से विदेशों को जाती है तब विनिमय की दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, जब स्टॉक एक्सचेंज व्यवहारों के परिणामस्वरूप मुद्रा विदेशों से देश में आती है, तब विनिमय की दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(2) बैंकिंग सम्बन्धी प्रभाव (Banking Influences)—विनिमय-दरों पर बैंकिंग-नीति का भी प्रभाव पड़ता है। इसकी हम तीन उपशीर्षकों के अन्तर्गत व्याख्या कर सकते हैं :

(क) बैंक-दर—जब देश का केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर में परिवर्तन करता है तब इससे विनिमय-दर भी प्रभावित होती है। यदि केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर को बढ़ा देता है तो ऊँची ब्याज की दर कमाने के प्रलोभन से विदेशी लोग उस देश में अपनी पूँजी भेजना शुरू कर देते हैं। इससे विदेशी विनिमय बाजार में देशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामतः विनिमय-दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय बैंक बैंक-दर को घटा देता है तब विदेशी लोग उस देश से अपनी पूँजी को वापस मँगाना शुरू कर देते हैं। इससे विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामतः विनिमय-दर देश के विपक्ष में हो जाती है।

(ख) साख पत्रों का जारी किया जाना—विनिमय बैंकों द्वारा जारी किये गये साख-पत्रों की मात्रा का भी देश की विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है। जब कोई विनिमय बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा अथवा किसी विदेशी बैंक पर बैंकर्स ड्राफ्ट अथवा अन्य प्रकार के साख-पत्र जारी करता है, तब इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विनिमय-दर देश के विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, जब विदेशी बैंक देश के बैंकों के ऊपर साख-पत्र जारी करते हैं, तब इससे देशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामतः विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(ग) मध्यस्थों की क्रियाएँ (Arbitrage Operations)—जब प्रतिभूतियाँ संसार के व्यापारिक केन्द्रों में सट्टे-लाभ (speculative gains) के लिए खरीदी अथवा बेची जाती हैं, तब इन क्रियाओं को मध्यस्थों की क्रियाएँ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, सटोरिये विश्व के विभिन्न केन्द्रों में विदेशी मुद्राओं के मूल्यों में अन्तर होने पर इसके क्रय-विक्रय द्वारा लाभ कमाते हैं। इस प्रकार की क्रियाओं का भी विनिमय की दर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, न्यूयार्क में आज डालर का मूल्य 21 सेण्ट प्रति रुपया है, जबकि बम्बई में डालर का मूल्य 20 सेण्ट प्रति रुपया है। यदि कोई व्यक्ति तार द्वारा न्यूयार्क से 1 रुपये के बदले 21 सेण्ट खरीदकर तुरन्त ही उन्हें बम्बई में 20 सेण्ट प्रति रुपया की दर पर बेच देता है तब उसे 1 सेण्ट प्रति रुपया का लाभ होता है। इस क्रिया से न्यूयार्क में डालर की माँग इसकी पूर्ति से अधिक और बम्बई में डालर की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जाती है। परिणामतः न्यूयार्क में 1 रुपये के बदले में कम सेण्ट और बम्बई में 1 रुपये के बदले में अधिक सेण्ट मिलने लगेंगे, अर्थात् न्यूयार्क में रुपये का डालर मूल्य कम और बम्बई में रुपये का डालर मूल्य अधिक हो जायगा। इस प्रकार भारत में विनिमय की दर अधिक और अमेरिका में विनिमय की दर कम हो जायगी। अन्ततः न्यूयार्क और बम्बई में विनिमय की दरों का अन्तर समाप्त हो जायगा। इस प्रकार मध्यस्थों की क्रियाओं के परिणामस्वरूप विनिमय दरों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं।

(3) मुद्रा-सम्बन्धी परिस्थितियाँ (Currency Conditions)—मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियों का भी विनिमय की दर पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(क) मुद्रा-स्फीति—जब किसी देश में मुद्रा-स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब विदेशी पूँजी ऐसे देश से बाहर जाने लगती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप देशी मुद्रा की क्रय-शक्ति कम होने लगती है और विदेशी पूँजीपति इससे भयभीत होकर अपनी पूँजी को वापस मँगाने लगते हैं। इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विनिमय दर देश के विपक्ष में हो जाती है।

(ख) मुद्रा-अवस्फीति—जब किसी देश में किसी कारण मुद्रा-अवस्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब विदेशी लोग उस देश की मुद्रा का लाभ कमाने के लालच में खरीदना शुरू कर देते हैं जिससे उस देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामतः विनिमय-दर उस देश

के पक्ष मे हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा-सम्बन्धी परिस्थितियो का विनिमय-दरो पर गहरा प्रभाव पडता है।

(4) **राजनीतिक परिस्थितियाँ (Political Conditions)**—राजनीतिक परिस्थितियो का भी विनिमय की दर पर बहुत प्रभाव पडता है। इसकी व्याख्या हम निम्न शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते हैं

(क) सरक्षणात्मक नीति—यदि देश की सरकार उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए सरक्षणात्मक नीति को अपनाती है तो इससे देश की विनिमय-दर पर अवश्य ही प्रभाव पडता है। इसका कारण यह है कि सरक्षण नीति के परिणामस्वरूप देश के आयात हतोत्साहित होते हैं और देश का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल हो जाता है। विदेशी मुद्रा की माँग कम हो जाती है और परिणामत विनिमय की दर देश के पक्ष मे हो जाती है।

(ख) विनिमय नियन्त्रण—जब देश की सरकार विनिमय नियन्त्रण की नीति अपना लेती है तब इससे भी देश की विनिमय-दर पर प्रभाव पडता है। इसका कारण यह है कि विनिमय नियन्त्रण के परिणामस्वरूप देश के आयातो मे कमी हो जाती है, विदेशी मुद्रा की माँग कम हो जाती है और परिणामत विनिमय दर देश के पक्ष मे हो जाती है।

(ग) देश की वित्तीय नीति—यदि देश की सरकार अपने बजट मे घाटे की अर्थ-व्यवस्था (deficit financing) की नीति अपनाती है तो इससे देश मे मुद्रा-स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी। मुद्रा का मूल्य गिर जायगा। विदेशी पूँजी देश से बाहर जाने लगेगी और परिणामत विनिमय की दर देश के विपक्ष मे हो जायगी।

(घ) देश मे शान्ति व सुरक्षा—यदि किसी देश मे पूर्णरूप से शान्ति व सुरक्षा है तो देशी पूँजी स्वत ही उस देश की ओर आकर्षित होगी। इससे विदेशो मे देशी मुद्रा की माँग बढ जायगी और परिणामत विनिमय-दर देश के पक्ष मे हो जायगी।

विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव की सीमायें
(Limits of Fluctuations in the Rate of Exchange)

जैसा हम ऊपर देख चुके है विदेशी मुद्रा की माँग एव पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप विनिमय-दर म परिवर्तन होते रहते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तनो की कुछ सीमाएँ भी हैं अथवा नही? स्पष्ट है कि विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तन कुछ दी हुई परिस्थितियो के अन्तर्गत कुछ निश्चित सीमाओ के भीतर ही होते हैं

(क) स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तनो की सीमाएँ—जब दो देश स्वर्णमान पर आधारित होते है, तब उनके बीच विनिमय-दर स्वर्ण बिन्दुओ से शासित होती है। दूसरे शब्दो मे, उनके बीच की विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दुओ के भीतर ही रहती है। यह न तो स्वर्ण-निर्यात बिन्दु से ऊपर और न ही स्वर्ण-आयात बिन्दु से नीचे ही जा सकती है, अर्थात् दोनो स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही रहती है। इन स्वर्ण-बिन्दुओ का निर्धारण कैसे किया जाता है यह पहले ही बताया जा चुका है। टक-समता मे स्वर्ण के परिवहन-व्यय को जोड देने से स्वर्ण निर्यात बिन्दु प्राप्त किया जा सकता है और टक समता से स्वर्ण के परिवहन व्यय को घटा देने से स्वर्ण-आयात बिन्दु प्राप्त किया जा सकता है।

(ख) अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तनो की सीमाएँ—यदि दो देशो मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान है, तब इनके बीच विनिमय की दर मे क्रय शक्ति समता के आस-पास निश्चित हो जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि यहाँ पर विनिमय की दर मे होने वाले परिवर्तनो की कोई निश्चित सीमा नही होती, अर्थात् कागजी मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय की दर मे किसी भी मात्रा मे उतार-चढाव हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि स्वर्णमान देशो की भाँति यहाँ पर स्वर्ण बिन्दुओ का अभाव होता है। अत विनिमय-दर मे किसी भी मात्रा मे उतार-चढाव सम्भव हो सकते हैं।

विनिमय दरों के उतार-चढाव को रोकने के उपाय—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं,

विनिमय दरो में उतार चढाव पर कई प्रकार के तत्वो का प्रभाव पडता है। इस सब बातो का अध्ययन करने के पश्चात यह निश्चय करना सरल हो जाता है कि विनिमय-दरो मे इस प्रकार के होने वाले उतार-चढाव को कैसे रोका जाय ? जैसा स्पष्ट है, विनिमय दर की स्थिरता देश के व्यापार-सन्तुलन पर निर्भर करती है। अत वे सभी उपाय किये जाने चाहिए जिनसे देश के व्यापार-असन्तुलन (trade imbalance) को दूर किया जा सके। उदाहरणार्थ, आयात कर, विनिमय नियन्त्रण, मुद्रा ह्रास, मुद्रा-अवमूल्यन आदि इस दिशा मे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, बैंक-दर मे समुचित परिवर्तन करके भी विनिमय-दर की स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

अनुकूल अथवा प्रतिकूल विनिमय की दर
(Favourable or Unfavourable Rate of Exchange)

विदेशी विनिमय मे प्राय 'अनुकूल विनिमय-दर' तथा 'प्रतिकूल विनिमय-दर' शब्दो का प्रयोग किया जाता है। अब हम देखेंगे कि अनुकूल विनिमय दर तथा प्रतिकूल विनिमय दर से क्या अभिप्राय है ? यह जानने से पहले हमे इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि विनिमय की दर को किस देश की मुद्रा मे व्यक्त किया जा रहा है। क्या यह विनिमय-दर स्वदेश की मुद्रा मे व्यक्त की जा रही है अथवा विदेश की मुद्रा मे प्रकट की जा रही है ?

(क) विनिमय दर को देश को मुद्रा मे व्यक्त करना—जब किसी देश की विनिमय दर स्वदेश की मुद्रा मे ही व्यक्त की जाती है तब नीची विनिमय दर स्वदेश के पक्ष मे होती है और ऊँची विनिमय दर देश के विपक्ष मे होती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि पौण्ड का मूल्य रुपयो मे प्रकट किया जा रहा है और विनिमय दर 1 पौण्ड=21 रुपये है। अब यदि विनिमय की दर कम हो जाती है, अर्थात् यह घटकर 1 पौण्ड=20 रुपये हो जाती है तब यह भारत के अनुकूल है परन्तु ब्रिटेन के प्रतिकूल है। इसका कारण यह है कि अब ब्रिटेन मे 1 पौण्ड के मूल्य की वस्तुएँ खरीदने के लिए भारतीय व्यापारी को केवल 20 रुपये ही देने पडेंगे। इसके विपरीत, यह दर ब्रिटेन के प्रतिकूल है। इसका कारण यह है कि ब्रिटेन के व्यापारी को अब 20 रुपये के मूल्य की वस्तुओ को खरीदने के लिए 1 पौण्ड चुकाना पडेगा जबकि पहले वह 21 रुपये के मूल्य की वस्तुओ के लिए ही 1 पौण्ड चुकाया करता था। इसी तरह यदि विनिमय दर बढकर 1 पौण्ड=22 रुपये हो जाती है तब यह भारत के लिए प्रतिकूल और ब्रिटेन के लिए अनुकूल हो जायगी। इसका कारण यह है कि अब भारतीय व्यापारी को 1 पौण्ड के मूल्य की वस्तुओ को खरीदने के लिए 22 रुपये चुकाने पडेंगे, जबकि पहले वह इसके लिए 21 रुपये ही चुकाया करता था। इसके विपरीत यह दर ब्रिटेन के अनुकूल है। इसका कारण यह है कि अब ब्रिटेन के व्यापारी को 1 पौण्ड देकर भारत से 22 रुपये के मूल्य की वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती हैं, जबकि पहले उसे 1 पौण्ड के बदले मे केवल 21 रुपये के मूल्य की वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। इस प्रकार **जब विनिमय की दर स्वदेश की मुद्रा मे प्रकट की जाती है, तब गिरती हुई दर उस देश के पक्ष में और ऊपरी चढती हुई दर उस देश के विपक्ष मे होती है।**

(ख) विनिमय की दर को विदेशी मुद्रा मे व्यक्त करना जब किसी देश मे विनिमय की दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है तब बढती हुई विनिमय की दर उस देश के पक्ष मे होती है और घटती हुई दर उस देश के विपक्ष मे होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि भारत और अमरीका के बीच की विनिमय-दर 1 रुपया=13 सेण्ट है। अब यदि यह विनिमय दर 1 रुपया=14 सेण्ट हो जाती है तो यह नयी दर भारत के पक्ष मे होगी और अमरीका के विपक्ष मे। इसका कारण यह है कि अब भारतीय व्यापारी 1 रुपया व्यय करके अमरीका से 14 सेण्ट के मूल्य की वस्तुएँ खरीद सकता है, जबकि पहले वह केवल 13 सेण्ट के मूल्य की वस्तुएँ ही खरीद सकता था। इस तरह यह बढी हुई विनिमय दर भारत के पक्ष में है, परन्तु अमरीका के विपक्ष में है। इसका कारण यह है कि अमरीकी व्यापारी को भारत से 1 रुपये के मूल्य की वस्तुएँ खरीदने के लिए 14 सेण्ट खर्च करने पडेंगे, जबकि पहले वह केवल 13 सेण्ट ही व्यय किया करता था। अब मान लीजिए कि भारत और अमरीका के बीच की यह विनिमय-दर 1 रुपया=12 सेण्ट हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि अब भारतीय व्यापारी

को 1 रुपया व्यय करने पर अमरीका से केवल 12 सेण्ट के मूल्य की ही वस्तुएँ उपलब्ध होंगी, जबकि पहले उसे 13 सेण्ट के मूल्य की वस्तुएँ प्राप्त होती थी। इस तरह यह विनिमय-दर भारत के विपक्ष मे है, किन्तु अमरीका के पक्ष मे है। इसका कारण यह है कि अब अमरीकी व्यापारी केवल 12 सेण्ट व्यय करके भारत मे 1 रुपये के मूल्य की वस्तुएँ खरीद सकता है जबकि पहले उसे इसके लिए 13 सेण्ट व्यय करने पडते थे। अत जब विनिमय की दर विदेशी मुद्रा मे व्यक्त की जाती है, तब ऊँची विनिमय की दर देश के पक्ष मे होती है और नीची विनिमय दर देश के विपक्ष मे होती है।

अग्रिम विनिमय
(Forward Exchange)

प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोप के विभिन्न देशो मे अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का प्रचलन आरम्भ हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप सभी देशों की विनिमय-दरो मे भारी उतार-चढाव हुए थे। जैसा पहले बताया जा चुका है, अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय दरो मे होने वाले उतार-चढावो की कोई सीमा नही होती। अत यूरोपीय देशो के द्वारा अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान अपनाये जाने के परिणामस्वरूप उनकी विनिमय दरो मे भारी उतार-चढाव होने लगे थे। इसके फलस्वरूप इन देशो की अर्थ-व्यवस्था मे बहुत बडे पैमाने पर अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया था जिससे इनके विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। इस प्रकार की अनिश्चितता मे निहित जोखिम (risk) से बचने के लिए इन देशो ने अग्रिम विनिमय की विधि अपनायी थी।

विनिमय दर की अनिश्चितता के कारण व्यापारियो को कितनी हानि हो सकती है, इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि कोई भारतीय व्यापारी किसी ब्रिटिश व्यापारी को 100 पौण्ड के मूल्य की वस्तुओ का आर्डर देता है। जिस समय भारतीय व्यापारी माल का आर्डर देता है मान लीजिए उस समय ब्रिटेन और भारत के बीच की विनिमय दर 1 पौण्ड=21 रुपये है। दूसरे शब्दो मे, भारतीय व्यापारी को माल के बदले भारतीय मुद्रा मे 2100 रुपये चुकाने पडेंगे। अब मान लीजिए कि भारत मे माल पहुँचने से पूर्व ही ब्रिटेन और भारत की विनिमय-दर 1 पौण्ड=23 रुपये हो जाती है। अब इस दशा मे भारतीय व्यापारी को उसी माल के लिए 200 रुपये अधिक चुकाने पडेंगे और इस प्रकार उसका सम्भावित लाभ हानि मे बदल सकता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दो देशो के बीच की विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो का प्रभाव कितना हानिकारक हो सकता है। जैसा पूर्व कहा गया है, विनिमय-दर के परिवर्तनो के हानिकारक प्रभावो से बचने के लिए ही अग्रिम विनिमय की विधि अपनायी जाती है। उसी उदाहरण को लेते हुए अब मान लीजिए कि भारतीय व्यापारी हैंज रक्षण (hedging) द्वारा विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तनो से अपने आपको सुरक्षित कर लेता है। दूसरे शब्दो मे, जब वह ब्रिटिश निर्यातकर्ता को 100 पौण्ड के मूल्य के माल का आर्डर देता है तब उसी समय ही वह किसी अन्य व्यक्ति अथवा बैंक से एक अग्रिम सौदा (future transaction) भी कर लेता है। इस सौदे के अन्तर्गत, वह व्यक्ति अथवा बैंक उसे एक निश्चित दर पर भविष्य मे पौण्ड मुद्रा सप्लाई करने का वायदा करता है। यदि दोनो पार्टियो मे तय की गयी विनिमय की दर 1 पौण्ड=21 रुपये है, तो उस व्यक्ति अथवा बैंक को निश्चित तिथि पर भारतीय व्यापारी को इसी दर पर पौण्ड-मुद्रा सप्लाई करनी पडेगी। इस प्रकार अग्रिम विनिमय रीति द्वारा भारतीय व्यापारी अपने आपको विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तनो के हानिकारक प्रभावो से सुरक्षित कर लेता है।

विदेशी विनिमय बाजार मे क्रियाशील सटोरिये (Speculators) भी आपस मे इस प्रकार के सौदे कर लेते हैं। मान लीजिए कि मोहन तीन महीने के बाद सोहन को 1 पौण्ड=21 रुपये की दर पर पौण्ड बेचना स्वीकार कर लेता है। अब यदि तीन महीने के बाद विदेशी विनिमय बाजार की दर 1 पौण्ड=22 रुपये हो जाती है इससे मोहन को हानि होगी और सोहन को लाभ। इसका कारण स्पष्ट है बाजार मे 22 रुपये के बदले मे 1 पौण्ड उपलब्ध होता है जबकि सोहन को केवल 21 रुपये के बदले मे ही 1 पौण्ड मिल जाता है। इस प्रकार जब भविष्य मे विनिमय दर ऊँची हो जाती है, तब बेचने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है

और खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को लाभ होता है। अब मान लीजिए कि विदेशी विनिमय बाजार की दर 1 पौण्ड 20 रुपये हो जाती है। अब ऐसी परिस्थिति मे खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि और बेचने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को लाभ होता है। इसका कारण स्पष्ट है। सोहन को 1 पौण्ड खरीदने के लिए 21 रुपये मोहन को चुकाने पडते है, जबकि खुले बाजार मे उसे केवल 20 रुपये के बदले मे ही 1 पौण्ड उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार अग्रिम विनिमय के अन्तर्गत एक पक्ष को लाभ और दूसरे को हानि होती है। परन्तु दोनो ही दशाओ मे आयातकर्त्ता व्यापारी विनिमय-दर मे होने वाले परिवर्तनो के हानिकारक प्रभावो से मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार भविष्य में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का कार्य अग्रिम विनिमय कहलाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे इसका बहुत महत्व है। प्रथम, अग्रिम विनिमय के कारण आयातकर्ता एव निर्यातकर्ता विनिमय दर मे होने वाले परिवर्तनो से उत्पन्न अनिश्चितता के कुप्रभावो से मुक्त हो जाते हैं। द्वितीय, अग्रिम विनिमय के कारण विनिमय-दर मे होने वाले उतार-चढाव भी कम हो जाते है। उदाहरणार्थ यदि भविष्य मे विनिमय-दर की ऊपर जाने की सम्भावना होती है तो अग्रिम विनिमय बाजार मे वर्तमान मे ही अग्रिम सौदो की सख्या बढ जाती है। इसके फलस्वरूप वर्तमान विनिमय दर भी ऊँची हो जाती है और भविष्य मे विनिमय-दर अधिक ऊँची नही हो पाती। इस प्रकार विनिमय दर मे होने वाले उतार-चढाव काफी मात्रा मे नियन्त्रित हो जाते हैं।

वर्तमान विनिमय दर तथा भावी विनिमय दर मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जैसा स्पष्ट है, भावी विनिमय दर सदैव वर्तमान विनिमय-दर पर निर्भर रहती है। विनिमय व्यवसायी (exchange operators) विदेशी विनिमय खरीदते और बेचते समय देश के भीतर तथा विदेश मे अल्पकालीन ऋणो के ब्याज की तुलना करते है। यदि विदेश मे अल्पकालीन ऋण पर ब्याज की दर देश की तुलना मे अधिक है तो अग्रिम विनिमय वर्तमान से कटौती पर बेची जाती है। इसके विपरीत, यदि विदेश मे देश की तुलना मे ब्याज की दर कम है तो अग्रिम विनिमय लाभ पर बेची जाती है। इसके अलावा, अग्रिम दर इस बात पर भी निर्भर करती है कि भविष्य मे व्यापारियो का विदेशी मुद्रा सम्बन्धी अनुमान क्या है। दूसरे शब्दो मे, विदेशी मुद्रा की सम्भावित माँग एव पूर्ति कितनी है?

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **विदेशी विनिमय दर कैसे निश्चित की जाती है? समझाइए।** (आगरा 1962 विक्रम 1969)

[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर मे यह बताइए कि स्वर्णमान पर आधारित देशो दो के बीच *विनिमय की दर स्वर्ण बिन्दुओ के बीच व्यापार सन्तुलन से निश्चित होती है परन्तु अपरि*वर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर क्रय शक्ति समता से निर्धारित होती है।]

2 **विनिमय की टकसाली समानता-दर से आप क्या तात्पर्य समझते हैं? स्वर्ण-बिन्दुओ का इसके अन्तर्गत क्या स्थान है?** (आगरा, 1960)

[संकेत—प्रथम भाग मे टकसाली समानता दर की परिभाषा उदाहरण सहित प्रस्तुत कीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइए कि स्वर्णमान पर आधारित दो देशो के बीच विनिमय की दर स्वर्ण बिन्दुओ के बीच उनके व्यापार सन्तुलन से निश्चित होती है। इस प्रकार स्वर्ण बिन्दु वे सीमाएँ प्रस्तुत करते हैं जिनका उल्लघन विनिमय-दर सामान्यत नही कर सकती।]

3 **आयात निर्यातो का भुगतान करते हैं।' विवेचना कीजिए।** (आगरा 1962)

[संकेत—यहाँ पर विदेशी विनिमय के भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की सविस्तार व्याख्या कीजिए।]

4. विनिमय-दर क्या है ? विदेशी विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है ? (आगरा, 1967)

विदेशी विनिमय-दरों में उतार-चढ़ाव के क्या कारण होते हैं ? इन उच्चावचनों को किस प्रकार रोका जा सकता है ? (इन्दौर, 1968)

[संकेत—विनिमय दर वह दर होती है जिस पर एक मुद्रा को दूसरी मुद्रा में बदला जाता है। दूसरे भाग में, विनिमय-दर में होने वाले उतार-चढावों के मुख्य कारणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए और अन्तत निष्कर्ष निकालिए कि विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ही विदेशी विनिमय-दरों में परिवर्तन होते हैं। विदेशी विनिमय-दरों के उच्चावचनों को रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि देश के व्यापार-असन्तुलन को दूर किया जाये। देखिए उपर्युक्त अध्याय में उपशीर्षक "विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव को रोकने के उपाय।"]

5. विनिमय-दरों में परिवर्तन की सीमाएँ कौन-सी होती हैं ? ये सीमाएँ कैसे निर्धारित होती हैं ? क्या विनिमय-दर कभी सीमाओं के परे जा सकती है ? (सागर, 1960)

[संकेत—प्रथम भाग में, यह बताइए कि स्वर्णमान पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय-दर में होने वाले परिवर्तन स्वर्ण-बिन्दुओं से सीमित होते हैं। दूसरे भाग में, यह बताइए कि टक-समता में स्वर्ण के परिवहन-व्यय को जोड व घटाकर स्वर्ण बिन्दुओं को प्राप्त किया जाता है। तीसरे भाग में, यह बताइए कि विनिमय-दर स्वर्ण-बिन्दुओं का भी उल्लघन कर सकती है, यदि दोनों देशों द्वारा स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं।]

6. यह बताइए कि दो देशों में विनिमय-दर किस प्रकार निर्धारित होती है जबकि दोनों में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रचलित हो ? (राजस्थान, 1968)

अथवा

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। (मेरठ, 1975)

[संकेत—यहाँ पर आपको क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना सहित व्याख्या करनी है।]

23
विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ—विस्तृत तथा संकुचित
(Meaning of Exchange Control)

स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था मे देशवासी जितनी मात्रा मे चाहें, विदेशी विनिमय खरीद व बेच सकते है परन्तु नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था मे उन्हें इस प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नही होती। इसका कारण यह है कि नियन्त्रित अर्थ व्यवस्था मे सरकार विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय पर नियन्त्रण लगा देती है। **इस प्रकार जब सरकार देश के विदेशी विनिमय उपार्जनो** (*foreign* **exchange earnings) का कुछ निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रयोग करती है, तो इसे विनिमय नियन्त्रण कहते हैं।** विनिमय नियन्त्रण के प्राय दो अर्थ लगाये जाते हैं—विस्तृत अर्थ मे विनिमय नियन्त्रण से अभिप्राय सरकारी अधिकारियो द्वारा किये गये उन सभी प्रकार के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेपो से होता है जो विनिमय दरो अथवा उनसे सम्बन्धित व्यवसाय को प्रभावित करने के लिए किये जाते हैं। इस प्रकार विस्तृत रूप मे विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय विदेशी व्यापार मे किये गये सभी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेपो से होता है। इसके अन्तर्गत, विनिमय दरो का नियन्त्रण, पूंजी का आवागमन, समानीकरण कोषो का संचालन तथा व्यापारिक एवं समाशोधन समझौते सम्मिलित किये जाते है परन्तु साधारणत विनिमय नियन्त्रण का संकुचित अर्थ ही लगाया जाता है। **इसके अनुसार विनिमय नियन्त्रण से अभिप्राय केवल उन प्रतिबन्धो से होता है जो विदेशी विनिमय के सम्बन्ध मे लगाये जाते हैं।** दूसरे शब्दो मे, संकुचित अर्थ के अनुसार विनिमय नियन्त्रण केवल *उन्ही प्रतिबन्धो से सम्बन्धित है जो विनिमय दर के सम्बन्ध मे ही लगाये जाते हैं।*

विनिमय नियन्त्रण का विकास
(Evolution of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का विकास सर्वप्रथम जर्मनी मे हुआ था। जैसा विदित है, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी की मार्क मुद्रा की विनिमय-दर बहुत नीचे गिर गयी थी। तब जर्मन सरकार ने विनिमय नियन्त्रण की सहायता से जर्मनी की विनिमय-दर को स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न किया था। इसके उपरान्त सन् 1931 मे लगभग सभी महत्त्वपूर्ण यूरोपीय देशो द्वारा स्वर्णमान का परित्याग किये जाने पर उनकी विनिमय-दरो मे भारी उतार-चढाव हुए थे। अत उन्हे भी इसी प्रकार के उतार-चढाव को रोकने के लिए *विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का आश्रय* लेना पडा था। दूसरे विश्व युद्ध मे तो इस प्रणाली का और भी बडे पैमाने पर उपयोग किया गया था। *चूंकि आजकल लगभग सभी देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर* आधारित हैं, इसलिए विनिमय-दर मे होने वाले भारी परिवर्तनो को रोकने के लिए लगभग सभी देशो द्वारा विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपना लिया गया है। इस समय शायद ही कोई देश होगा जिसने किसी न किसी रूप मे विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को नही अपनाया है।

विनिमय नियन्त्रण की विशेषताएं
(Characteristics of Exchange Control)

इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) इस प्रणाली के अन्तर्गत सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवहारो (foreign exchange operations) का केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका सचालन प्राय देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है।

(2) देश के निर्यातकर्ताओ द्वारा जितनी भी विदेशी मुद्रा कमाई जाती है, वह सारी की सारी केन्द्रीय बैंक को सौप दी जाती है। केन्द्रीय बैंक उस विदेशी मुद्रा के बदले मे निर्यातकर्ताओ को देशी मुद्रा मे भुगतान कर देता है।

(3) देश के आयातकर्ताओ को विदेशी निर्यातकर्ताओ के माल का भुगतान करने के लिए केन्द्रीय बैंक से देशी मुद्रा के बदले मे विदेशी मुद्रा निश्चित दर पर बेची जाती है।

(4) विदेशी मुद्रा के दुलभ होने पर उसके वितरण के बारे में सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्राथमिकताएँ (Priorities) निर्धारित कर दी जाती हैं। दूसरे शब्दो मे केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ के आयात के लिए ही केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा देने को तैयार होता है।

(5) विनिमय नियन्त्रण के परिणामस्वरूप देश के आयात स्वत ही सीमित हो जाते हैं। परिणामत व्यापार सन्तुलन अनुकूल हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। विदेशी मुद्रा की दुर्लभता के कारण केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ के आयात के लिए ही व्यापारियो को विदेशी मुद्रा दी जाती है।

(6) इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण प्रणाली के अन्तर्गत समूचे विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकार का एकाधिकार हो जाता है।

सरकारी हस्तक्षेप तथा विनिमय नियन्त्रण मे अन्तर
(Difference Between Government Interference and Exchange Control)

यदि किसी निश्चित विनिमय-दर को स्थापित करने अथवा बनाये रखने के लिए सरकार विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करती है, तो इसे सरकारी हस्तक्षेप कहा जा सकता है। इस दशा मे निजी व्यापारियो को विदेशी मुद्रा खरीदने व बेचने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। उदाहरणार्थ, सन 1930 के बाद ब्रिटेन ने विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य ब्रिटेन और विदेशो के बीच निश्चित विनिमय-दर बनाये रखना था। अत इसे हम सरकारी हस्तक्षेप कह सकते हैं। परन्तु विनिमय नियन्त्रण शब्द का प्रयोग अधिक विस्तृत अर्थ मे किया जाता है। **इसके अन्तर्गत, समूचे विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकार का एकाधिकार हो जाता है। निजी व्यापारियो को विदेशी विनिमय खरीदने व बेचने की स्वतन्त्रता नहीं रहती।**

विनिमय नियन्त्रण भी दो प्रकार का होता है—पूर्ण (full) अथवा आशिक (partial)। पूर्ण विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सभी विदेशी मुद्राओ के क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते है। इसके विपरीत, आशिक विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत किसी एक अथवा कुछ चुनी हुई विदेशी मुद्राओ के क्रय विक्रय पर ही प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। साधारण विनिमय नियन्त्रण पूर्ण न होकर, आशिक ही हुआ करता है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य
(Objectives of Exchange Control)

इसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) **अधिमूल्यन (Over-valuation)**— कभी कभी कोई देश अपनी मुद्रा का विदेशी मूल्य (अथवा विनिमय-दर) उसके साम्य-मूल्य (equilibrium value) से ऊँचा निश्चित करना चाहता

है अर्थात् वह देश अपनी मुद्रा की विनिमय-दर स्वतन्त्र बाजार (free market) में स्थापित होने वाली दर से भी ऊँची रखना चाहता है। इसके लिए उसे *विनिमय नियन्त्रण* का आश्रय लेना पड़ता है।

विनिमय-दर ऊँची रखने के दो मुख्य कारण हो सकते हैं। प्रथम, यदि कोई अविकसित देश अपने औद्योगिक विकास हेतु विदेशों से बड़े पैमाने पर मशीनों, कल-पुर्जों एवं कच्चे माल का आयात करना चाहता है तो साधारणतः वह अपनी मुद्रा की विनिमय-दर ऊँची रखना पसन्द करेगा। ऐसा करने से उसे आयात किया गया माल सस्ता पड़ता है क्योंकि अपनी मुद्रा में उसे कम राशि चुकानी पड़ती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि भारत तथा अमरीका के बीच विनिमय दर 1 रु० = 13 सेण्ट है। अब भारत अपनी विनिमय-दर को बढ़ाकर 1 रु० = 30 सेण्ट कर देता है तो निश्चय ही भारत को अमरीकी माल सस्ता पड़ेगा। अब भारतीय आयातकर्ता 1 रु० व्यय करके अमरीका में 30 सेण्ट की वस्तुएँ खरीद सकता है जबकि पहले वह 1 रु० के बदले केवल 13 सेण्ट का माल ही खरीद सकता था। दूसरे, यदि कोई देश किसी अन्य देश का ऋणी है और उसे अब वह ऋण चुकाना है तो ऊँची विनिमय-दर उसे लाभदायक रहेगी। विनिमय-दर ऊँची होने के परिणामस्वरूप ऋणी देश को विदेशी ऋण का भुगतान करने में अपनी मुद्रा कम मात्रा में देनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि भारत अमरीका का ऋणी है और अब उसे अमरीका को अपने ऋण का भुगतान करना है। यदि भारत अपनी विनिमय-दर को 1 रु० = 13 सेण्ट से बढ़ाकर 1 रु० = 30 सेण्ट कर देता है तो इससे भारत पर अमरीकी ऋण का बोझ कम हो जायगा क्योंकि अब भारत को अपनी मुद्रा के रूप में कम राशि चुकानी पड़ेगी। पहले भारत एक रुपया देकर केवल 13 सेण्ट का ऋण ही चुकाता था लेकिन अब उसी एक रुपये से भारत 30 सेण्ट का ऋण चुका सकता है।

किन्तु स्मरण रहे कि मुद्रा अधिमूल्यन में एक बड़ा दोष भी पाया जाता है। इससे देश के आयात सस्ते होने के कारण बढ़ जाते हैं लेकिन निर्यात मँहगे होने के कारण कम हो जाते हैं। परिणामतः देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है। अतः अधिमूल्यन की यह नीति केवल कुछ समय के लिए ही उपयोगी सिद्ध होती है। सन् 1949 में पाकिस्तान ने अन्य देशों के साथ अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को नहीं घटाया था, बल्कि उसे ऊँचे स्तर पर ही रहने दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पाकिस्तान का भुगतान-सन्तुलन प्रतिकूल हो गया और अन्ततः विवश होकर उसे सन् 1955 में अपनी मुद्रा की विनिमय-दर को घटाना पड़ा था।

(2) अधोमूल्यन (Under-valuation)—कभी-कभी कोई देश अपनी मुद्रा का विदेशी मूल्य (अथवा विनिमय-दर) उसके साम्य मूल्य (equilibrium value) से कम निर्धारित करता है अर्थात् वह देश अपनी मुद्रा की विनिमय-दर स्वतन्त्र बाजार में स्थापित होने वाली दर से कम रखता है। नीची विनिमय दर का परिणाम यह होता है कि उस देश के निर्यात अन्य देशों में सस्ते पड़ते हैं और अन्य देशों से आयात महँगे पड़ते हैं। इससे उस देश का भुगतान सन्तुलन उसके पक्ष में हो जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि भारत अमरीका के साथ अपनी विनिमय-दर 1 रु० = 13 सेण्ट से घटाकर 1 रु० = 10 सेण्ट कर देता है। इससे भारतीय निर्यात अमरीका में सस्ते हो जायेंगे क्योंकि अब अमरीकी आयातकर्ता 10 सेण्ट व्यय करके भारत से उतना ही माल खरीद सकता है जितना कि पहले वह 13 सेण्टों से खरीदा करता था। इसके विपरीत, विनिमय-दर घटने से अब अमरीकी आयात भारत के लिए महँगे हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि पहले तो भारतीय आयातकर्ता 1 रु० व्यय करके 13 सेण्ट का माल अमरीका से खरीद सकता था। अब वह 1 रु० से केवल 10 सेण्ट का माल ही खरीद सकता है। वास्तव में, अधोमूल्यन की नीति उस छोटे आकार के देश के लिए ही उपयुक्त रहती है जिसके निर्यात उसके स्वयं के लिए तो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन विश्व के व्यापार में उनका अनुपात कम है। उदाहरणार्थ, डेनमार्क, न्यूजीलैण्ड एवं फिनलैण्ड जैसे देशों के लिए यह नीति उपयुक्त हो सकती है।

यह ठीक है कि मुद्रा-अधोमूल्यन से देश भुगतान-सन्तुलन को अपने पक्ष में कर लेता है लेकिन ऐसा वह अन्य देशों को हानि पहुँचाकर ही करता है। अतः यह नीति नैतिकता के विरुद्ध है। कभी कभी तो अन्य देश भी अपनी अपनी मुद्राओं का अधोमूल्यन करके उस देश को समुचित उत्तर दे देते हैं। वास्तव में, मुद्रा-अधोमूल्यन एक ऐसा खेल है जिसमें सभी छोटे-बड़े देश भाग

ले सकते हैं। यदि सभी देशों से मुद्रा-अधोमूल्यन के लिए दौड़ शुरू हो जाती है तो अन्त में किसी को भी लाभ नहीं होता। प्रो० हाम (Halm) ने इसे "खतरनाक नीति" कहकर सम्बोधित किया है।

(3) विनिमय-दर में स्थिरता लाना—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रामान पर आधारित दो देशों के बीच विनिमय-दर में भारी उतार चढ़ाव होते रहते हैं। अतः इन्हें रोकने के लिए सरकार विनिमय नियन्त्रण नीति का प्रयोग करती है। इसके अन्तर्गत, विनिमय नियन्त्रण की सहायता से सरकार विनिमय की दर को किसी निश्चित स्तर पर स्थित कर देती है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) हैं जिन्हें ग्रेट ब्रिटेन अमरीका तथा फ्रांस द्वारा स्वर्णमान के परित्याग के उपरान्त स्थापित किया गया था। इन कोषों का मुख्य उद्देश्य विनिमय-दर में होने वाले भारी उतार-चढ़ाव को रोकना था। वर्तमान युग में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I. M. F.) इस महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करता है।

(4) पूँजी के निर्यात को रोकना—कभी-कभी किन्हीं कारणों से देश की पूँजी विदेशों को जाने लगती है जिससे देश की अर्थ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः पूँजी के निर्यात को रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण का उपयोग किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में सरकार विदेशी मुद्रा की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा देती है। इस प्रकार विदेशी मुद्रा की कमी के कारण देशी पूँजी का निर्यात स्वतः ही रुक जाता है।

(5) व्यापार के असन्तुलन को दूर करना—कभी-कभी सरकार द्वारा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने पर भी व्यापार का असन्तुलन दूर नहीं होता। अतः ऐसी परिस्थिति में विनिमय नियन्त्रण का उपयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि विनिमय नियन्त्रण से देश के आयात स्वतः ही हतोत्साहित हो जाते हैं क्योंकि उनका भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा सुलभ नहीं होती। परिणामतः व्यापार का असन्तुलन दूर अथवा कम हो जाता है।

(6) सरकार की आय को बढ़ाना—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार की आय को बढ़ाना भी हो सकता है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्रा की क्रय तथा विक्रय दरों में अन्तर रखकर पर्याप्त लाभ कमा सकती है। दूसरे शब्दों में, सरकार विदेशी मुद्रा सस्ती दर पर खरीदकर उसे ऊँची दर पर बेचती है और अपने लिए लाभ कमाती है। लेकिन विनिमय नियन्त्रण का यह कोई महत्वपूर्ण उद्देश्य नहीं है।

(7) गृह उद्योगों को प्रोत्साहन देना—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य गृह उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण देना भी हो सकता है। विनिमय नियन्त्रण की सहायता से सरकार विदेशी माल के आयात को सीमित करके देशी उद्योगों को विकसित होने का अवसर प्रदान करती है।

(8) व्यापारिक भेद भाव की नीति को सफल बनाना—विनिमय नियन्त्रण की सहायता से सरकार कुछ देशों के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध सुदृढ़ कर सकती है। ऐसे देशों के साथ होने वाले व्यापार के लिए सरकार अधिक अनुकूल विनिमय-दरें निश्चित करती है ताकि उनके व्यापार का विस्तार हो सके।

(9) वस्तु-निषेध—विनिमय नियन्त्रण की सहायता से सरकार कुछ वस्तुओं का विदेशों से आयात पूर्णतः निषिद्ध (prohibit) भी कर सकती है क्योंकि विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत इस प्रकार की वस्तुओं के भुगतान के लिए सरकार विदेशी मुद्रा ही नहीं देती।

(10) विदेशी मुद्रा की प्राप्ति—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त करना भी हो सकता है। यदि किसी देश में विदेशी मुद्रा का अभाव है, तब ऐसी परिस्थिति में सरकार उसे केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ आयात करने के लिए ही उपयोग में लाती है। इसके अतिरिक्त, सरकार आयातकर्ताओं द्वारा कमाई गयी विदेशी मुद्रा को भी अपने कब्जे में कर लेती है।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ
(Methods of Exchange Control)

वैसे तो विनिमय नियन्त्रण की अनेक रीतियाँ हैं[1] परन्तु हम यहाँ पर केवल प्रमुख रीतियों की ही विवेचना करेंगे। विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ साधारणत दो प्रकार की होती हैं—(1) एकपक्षीय रीतियाँ, (2) द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय रीतियाँ।

(1) **एकपक्षीय रीतियाँ (Unilateral Methods)**—विनिमय नियन्त्रण का एकपक्षीय रीतियों से अभिप्राय उन पद्धतियों से है जिन्हें कोई भी देश अन्य देशों से समझौते किये बिना ही अपना लेता है। स्पष्ट है कि ऐसी रीतियों का प्रभाव मूलत उसी देश की विदेशी विनिमय स्थिति पर पड़ता है जिसके द्वारा ये अपनायी जाती है। इस श्रेणी मे सम्मिलित की जाने वाली प्रमुख रीतियाँ इस प्रकार हैं

(i) **बैंक दर का नियमन (Regulation of Bank Rate)**—किसी देश की बैंक-दर मे कमी अथवा वृद्धि करके उस देश की विनिमय दर को नियन्त्रित किया जा सकता है। जब किसी देश की बैंक दर मे वृद्धि कर दी जाती है, तब उस देश मे ब्याज की अन्य दरो मे भी स्वत ही वृद्धि हो जाती है। परिणामत बढ़ी हुई बैंक दर से विदेशी पूँजी देश की ओर आकर्षित होने लगती है। इससे विदेशो मे देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामत देश की विनिमय दर मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, जब किसी देश मे बैंक-दर मे कमी कर दी जाती है तब उस देश मे ब्याज की अन्य दरो मे भी स्वत ही कमी हो जाती है। इससे विदेशी पूँजी का उस देश मे आना कम हो जाता है और जो विदेशी पूँजी पहले से ही देश मे लगी होती है, वह भी अब बाहर जाने लगती है। इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परिणामत देश की विनिमय-दर मे कमी हो जाती है। इस प्रकार बैंक-दर मे कमी अथवा वृद्धि करके देश की विनिमय-दर को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(ii) **विदेशी व्यापार का नियमन (Regulation of Foreign Trade)**—जैसा विदित है, किसी भी देश की विनिमय दर उस देश के आयातो एव निर्यातो द्वारा बहुत प्रभावित होती है। कभी कभी विदेशी व्यापार का नियमन करके भी विनिमय दर को नियन्त्रित किया जाता है। यदि देश का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल है तो ऐसी दशा मे सरकार आयातो को नियन्त्रित करके विनिमय दर को नियमित करने का प्रयत्न करती है। आयातो को नियन्त्रित करने के कई तरीके हैं। उदाहरणार्थ, भारी आयात-कर लगाना, लाइसेन्स प्रणाली का उपयोग करना आयातो के कोटे निश्चित करना आदि। इस प्रकार इन रीतियो द्वारा आयातो की मात्रा को कम किया जा सकता है। इसके साथ ही साथ व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बनाने के लिए निर्यातो को प्रोत्साहन देना भी आवश्यक होता है। सरकार देशी उद्योगो को आर्थिक सहायता देकर निर्यातो को प्रोत्साहित कर सकती है। इस प्रकार आयातो को कम तथा निर्यातो को बढाकर सरकार व्यापार-सन्तुलन को अनुकूल बना सकती है और इसकी सहायता से विनिमय दर को नियन्त्रित कर सकती है। परन्तु स्मरण रहे कि भारी आयात-कर एव अन्य प्रतिबन्ध लगाकर विनिमय दर को लम्बे समय तक नियन्त्रित नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यदि कोई देश दीर्घकाल मे भी आयातो पर भारी आयात कर लगाये रखता है तो ऐसी दशा मे अन्य देशो मे उस देश के विरुद्ध अवश्य ही प्रतिक्रिया होगी और वे भी उस देश के निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर देंगे।

(iii) **विदेशी विनिमय का राशनिंग (Rationing of Foreign Exchange)**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार विदेशी मुद्रा का स्वतन्त्र क्रय विक्रय समाप्त कर देती है। सभी निर्यात-कर्ताओं को यह आदेश दे दिया जाता है कि अपने निर्यातो के बदले मे प्राप्त हुई विदेशी मुद्रा को देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप दें। इसके बदले मे केन्द्रीय बैंक उनको देशी मुद्रा दे देता है। इसके साथ ही साथ सरकार विदेशी मुद्रा का राशनिंग भी कर देती है। इसके अन्तर्गत, सरकार केवल लाइसेन्स शुदा आयातकर्ताओ को ही अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ के आयात के लिए विदेशी

1 प्रो० पॉल इनजिग (Paul Einzig) के अनुसार विनिमय-नियन्त्रण की 41 रीतियाँ हैं।

मुद्रा प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में, सरकार आयातों के लिए एक प्राथमिकता क्रम (order of priorities) निर्धारित कर देती है और उसी क्रम के अनुसार आयातकर्ताओं को विदेशी मुद्रा प्रदान की जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था में विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के आयात करने के लिए विदेशी मुद्रा नहीं दी जाती। इस प्रकार इस प्रणाली से आयातों की मात्रा को कम करके भुगतान-असन्तुलन को ठीक किया जा सकता है।

(iv) विनिमय उद्बन्धन (Exchange Pegging)—कभी-कभी सरकार अपने देश की विनिमय-दर को उसके सामान्य स्तर से बहुत ऊँचे अथवा बहुत नीचे स्तर पर निश्चित कर देती है। ऐसी क्रिया को विनिमय उद्बन्धन अथवा विनिमय कीलन कहते हैं। जब सरकार विनिमय दर को सामान्य स्तर से ऊँचे स्तर पर निश्चित कर देती है, तब इसे "विनिमय-दर को ऊँचा टाँकना" (pegging up) कहते हैं। इसके विपरीत, जब सरकार विनिमय-दर को उसके सामान्य स्तर से नीचे स्तर पर निश्चित कर देती है, तब इसे "विनिमय दर को नीचे अटकाना" (pegging down) कहते हैं। विनिमय उद्बन्धन की पद्धति का उपयोग सामान्यतः युद्धकाल में किया जाता है। इसका कारण यह होता है कि युद्धकाल में विनिमय-दरों में भारी उतार चढ़ाव होते रहते हैं। अतः उन्हें रोकने के लिए सरकार विनिमय उद्बन्धन रीति का आश्रय लेती है। जैसा विदित है युद्धकाल में प्रायः प्रत्येक देश को मुद्रा-स्फीति का सामना करना पड़ता है। इससे मुद्रा का आन्तरिक मूल्य स्वतः ही नीचे गिर जाता है। परन्तु सरकार इस दशा में मुद्रा के बाह्य मूल्य (external value) को गिरने नहीं देना चाहती है। इसलिए वह विनिमय उद्बन्धन का सहारा लेती है।

आजकल विनिमय उद्बन्धन, विनिमय नियन्त्रण का एक मुख्य साधन माना जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन द्वारा इस रीति का उपयोग किया गया था। ब्रिटेन की सरकार ने स्टर्लिंग के मूल्य को 4.765 डालर निश्चित कर दिया था और उसे इस दर से कम नहीं होने दिया था। भारत में भी सन् 1927 से रुपये का स्टर्लिंग में मूल्य 1 शिलिंग 6 पेंस प्रति रुपये की दर से निश्चित किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भी भारत सरकार ने रुपये की स्टर्लिंग में विनिमय-दर 1 रुपया = 1 शिलिंग 6 पेंस रखी थी।

(v) विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund)—इसे कभी-कभी विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) भी कहते हैं। इस कोष का उद्देश्य देश की विनिमय दर में होने वाले उच्चावचनों (fluctuations) पर रोक लगाना है। सन् 1931 में स्वर्णमान के परित्याग के उपरान्त ब्रिटेन की विनिमय-दर में भारी उतार चढ़ाव हुए थे जिनसे ब्रिटेन के विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। अतः ब्रिटिश सरकार ने विनिमय-दर के इन उच्चावचनों को रोकने के लिए सन् 1932 में एक विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना की थी। ब्रिटेन के पश्चात फ्रांस, स्विट्जरलैण्ड, अमरीका तथा अन्य देशों ने भी इस प्रकार के कोषों का निर्माण किया था। चूँकि ब्रिटेन द्वारा स्थापित किया गया यह कोष एक प्रकार से आदर्श कोष था, इसलिए हम इसकी मुख्य मुख्य विशेषताओं का ही अध्ययन करेंगे :

(अ) इस कोष का उद्देश्य मुद्राओं को खरीदकर अथवा बेचकर ब्रिटेन की विनिमय-दर में स्थिरता स्थापित करना था।

(आ) ब्रिटेन ने इस कोष की स्थापना 1,500 लाख पौण्ड से की थी। बाद में चलकर सन 1937 में यह रकम बढ़ाकर 5,500 लाख पौण्ड कर दी गयी थी। इस कोष के साधनों में नकदी के अलावा सोना तथा ब्रिटिश सरकार के ट्रेजरी बिल भी सम्मिलित थे।

(इ) इस कोष के संचालन का उत्तरदायित्व ब्रिटिश ट्रेजरी (British Treasury) को सौंपा गया था यद्यपि बैंक ऑफ इंगलैण्ड ट्रेजरी के एजेण्ट के रूप में इसका संचालन किया करता था।

(ई) यह कोष ब्रिटेन की विनिमय दर को निम्न प्रकार से स्थिर रखने का प्रयत्न किया करता था। जब स्टर्लिंग की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जाती थी और परिणामतः ब्रिटेन की विनिमय-दर बढ़ने लगती थी तब कोष अपने साधनों की सहायता से विदेशी मुद्रा खरीदना आरम्भ

कर देता था। इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती थी और परिणामत ब्रिटेन की विनिमय-दर *बढ़ने से रुक जाती थी।* परन्तु इस तरह कोष द्वारा विदेशो मे जितनी भी विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी, वह सारी की सारी वहाँ के बैंको मे जमा कर दी जाती थी। इसी प्रकार जब स्टर्लिंग की पूर्ति इसकी माँग से अधिक हो जाती थी और परिणामत ब्रिटेन की विनिमय-दर गिरने लगती थी, तब ऐसी दशा मे कोष विदेशी बैंको मे जमा की गयी अपनी निधि से विदेशो से स्टर्लिंग खरीदना आरम्भ कर देता था। इससे विदेशो मे स्टर्लिंग की माँग बढ जाती थी और परिणामत *स्टर्लिंग की विनिमय दर गिरनी बन्द हो जाती थी।* इस प्रकार यह कोष स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय द्वारा ब्रिटेन की विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने मे सहायता दिया करता था।

(उ) इस कोष का उपयोग ब्रिटेन की विनिमय-दर मे केवल अल्पकालीन उच्चावचनो को दूर करने के लिए ही *किया जाता था।* इस कोष का उद्देश्य *ब्रिटेन की विनिमय-दर मे होने वाली* दीर्घकालीन प्रवृत्तियों मे हस्तक्षेप करना नही था। दूसरे शब्दो मे इस कोष का उद्देश्य तो उन अल्पकालीन कारणो को दूर करना था जिनसे ब्रिटेन की विनिमय दर मे उच्चावचन हुआ करते थे। उदाहरणार्थ, कभी-कभी विदेशी पूँजीपति बिना पर्याप्त नोटिस दिये ब्रिटेन से अपनी पूँजी वापस मँगा लिया करते थे। इससे ब्रिटेन की विनिमय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पडता था। इस प्रकार *कोष का उद्देश्य विनिमय दर मे होने वाली दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को न रोककर,* केवल अल्पकालीन उच्चावचनो को ही नियन्त्रित करना था।

(ऊ) इस कोष की समूची कार्यप्रणाली को गुप्त रखा जाता था ताकि इसकी जानकारी से समाज विरोधी तत्व अनुचित लाभ न उठा सकें।

इस प्रकार इस कोष की सहायता से ब्रिटिश सरकार विनिमय-दर मे होने वाले उच्चावचनो को सीमित रखने मे सफल हुई थी।

(vi) **अवरुद्ध खाते** *(Blocked Accounts)*—जैसा विदित है प्रत्येक देश मे कुछ न कुछ विदेशी पूँजी अवश्य ही लगी होती है। जब किसी देश के सामने विदेशी मुद्राओ की दुर्लभता की कठिन समस्या उत्पन्न हो जाती है, तब वह विदेशी पूँजी के निर्यात अथवा विदेशों को भेजे जाने वाले भुगतानो पर प्रतिबन्ध लगा देता है। प्राय इस प्रकार का कदम युद्धकाल मे एव सकट के समय ही उठाया जाता है। इसके अन्तर्गत, सरकार देश मे विदेशियो के बैंकिंग खातो पर प्रतिबन्ध लगा देती है, अर्थात् विदेशी लोग अपने खातो से धन नही निकाल सकते। कभी कभी तो विदेशियो के खातो मे पडी समूची धनराशि को एक अवरुद्ध खाते मे अलग जमा कर दिया *जाता है और एक निश्चित अवधि तक उस खाते मे से धन नही निकाला जा सकता,* अर्थात् एक निश्चित अवधि के लिए विदेशी लोग अवरुद्ध खातो मे से धनराशि निकालकर अपने देशो को नही ले जा सकते। परन्तु कभी कभी सरकार उन्हे यह अधिकार दे देती है कि वे अवरुद्ध खातो मे स धनराशि निकालकर देश मे ही व्यय कर लें। इस प्रकार विदेशियो को अवरुद्ध खातो मे से पूँजी निकालकर विदेशो को ले जाने की अनुमति नही दी जाती। इसका कारण स्पष्ट है। यदि *विदेशियों को अपने खातों में से पूँजी निकालकर विदेशों को ले जाने की अनुमति दे दी जाय तो* इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ जायगी और परिणामतः विनिमय-दर देश के विपक्ष मे हो जायगी। इसलिए सरकार विदेशियो को अवरुद्ध खाते मे से पूँजी निकालने की अनुमति नही देती। चूँकि विदेशियो को अपने खातो मे से पूँजी निकालने का अधिकार नही होता, इसलिए वे विवश होकर सरकार की अनुमति से देश मे ही माल खरीदकर अपना भुगतान ले लेते हैं। कभी कभी वे मुद्रा को देश मे कम मूल्य पर बेच देते हैं। साधारणत. जब विदेशियो के खातो को बन्द कर दिया जाता है तब इससे विदेशी मुद्रा मे चोर बाजारी शुरू हो जाती है। इसे अर्थशास्त्र मे ब्लैकबोर्स (Black Bourse) कहते हैं।

सर्वप्रथम, जर्मनी ने सन् 1939 से पूर्व अवरुद्ध खातो की पद्धति को अपनाया था। हिटलर ने *अधिकाश यहूदियो* को देश से निकालकर उनकी समूची सम्पत्ति को अवरुद्ध खातो मे डाल दिया था। सन् 1940 मे ब्रिटेन ने भी विदेशियो की स्टर्लिंग सम्पत्ति को अवरुद्ध खातो मे डाल दिया था। परन्तु ब्रिटेन ने विदेशियो को यह अधिकार दे दिया था कि यदि वे चाहे तो अपनी अवरुद्ध सम्पत्ति को किन्ही अन्य विदेशियो को बेच सकते हैं।

(vii) **बहुमुखी विनिमय-दरें (Multiple Exchange Rates)**—जब कोई देश विभिन्न वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के लिए विभिन्न विनिमय दरें निर्धारित करता है तो इसे बहुमुखी दर-पद्धति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, देश एक विनिमय दर न अपनाकर, बहुत-सी विनिमय-दरों को अपनाता है। ये दरें आयातों, निर्यातों, पूँजी आगमन एवं निर्गमन आदि के लिए भिन्न-भिन्न होती हैं। इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य आयातों को कम करके तथा निर्यातों को बढ़ाकर देश के लिए अधिकतम विदेशी मुद्रा कमाना है। विनिमय दर के समूचे क्रम को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि आयात सस्ते पड़ें और निर्यातों से देश को अधिकतम आय प्राप्त हो।

इस पद्धति को सर्वप्रथम सन् 1930 की महामन्दी के दौरान लैटिन अमरीका में अपनाया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य वहाँ के चिरकालीन भुगतान असन्तुलन को दूर करना था। इसके बाद जर्मनी ने भी इसे अपनाया था। जर्मनी ने तो अपनी मार्क (Mark) मुद्रा की कई किस्में निकाली थीं। उदाहरणार्थ, रजिस्टर्ड मार्क, हेण्डल मार्क (*Handel Mark*), यात्री मार्क (*Travel Mark*), ब्लाक मार्क, सोण्डर मार्क (*Sonder Mark*) इत्यादि। मार्क की ये विभिन्न किस्में लन्दन के विनिमय बाजार में विभिन्न दरों पर बिकती थीं। बाद में चलकर अर्जेण्टाइना, ब्राजील, चिली, पीरू, आदि देशों ने भी इसे अपना लिया था। एक अविकसित देश भी अपने भुगतान सन्तुलन को ठीक बनाये रखने के लिए इस पद्धति का आश्रय ले सकता है।

वास्तव में, बहुमुखी दर प्रणाली एक जटिल प्रणाली है। विभिन्न विनिमय-दरों का निर्धारण करते समय देश के उत्पादन, आयातों तथा निर्यातों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रणाली को सचालित करने के लिए योग्य एवं कुशल अधिकारियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। इसकी सचालन सम्बन्धी कठिनाइयों से परेशान होकर कुछ देशों ने इसका परित्याग कर दिया था।

(2) **द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय रीतियाँ (Bilateral or Multilateral Methods)**—जब दो अथवा दो से अधिक देश मिलकर विनिमय की दर नियन्त्रित करने की कुछ रीतियों को अपनाते हैं और उनका प्रभाव दो या दो से अधिक देशों पर पड़ता है, तब इन्हें क्रमशः द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय रीतियाँ कहते हैं। प्रमुख रीतियाँ इस प्रकार हैं

(i) **भुगतान समझौते (Payment Agreements)**—भुगतान समझौतों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(अ) भुगतान समझौता प्रायः दो राष्ट्रों के बीच किया जाता है। इनमें से एक ऋणी तथा दूसरा ऋणदाता राष्ट्र होता है, (ब) इस समझौते में ऋणदाता राष्ट्र को मूलधन तथा ब्याज चुकाने की व्यवस्था की जाती है, (स) इसके अन्तर्गत ऋणदाता देशों को ऋणी देशों से आने वाले आयातों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने की छूट नहीं होती। इसका कारण यह है कि यदि ऋणदाता देश ऋणी देश से आने वाले आयातों पर प्रतिबन्ध लगा देता है तो ऋणी देश अपने पुराने ऋणों को चुकाने में असमर्थ हो जाता है। अतः ऋणदाता देश को ऋणी देश के आयातों को यथासम्भव किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के बिना ही स्वीकार करना चाहिए, (द) इसके विपरीत, ऋणी देश को ऋणदाता देश से आने वाले आयातों को यथासम्भव कम रखना चाहिए और ऋणदाता देश को भेजे जाने वाले निर्यातों को यथासम्भव अधिक बढ़ाना चाहिए। इसका कारण यह है कि केवल ऐसा करने से ही ऋणी देश के लिए अपने पुराने ऋणों को चुकाना सम्भव हो सकता है। अतएव ऋणी देश को विदेशी विनिमय का राशनिंग करके आयातों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बहुत से देशों ने इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौते किये थे। इस प्रकार भुगतान समझौतों के द्वारा विदेशी विनिमय का नियन्त्रित वितरण एवं राशनिंग करके विनिमय-दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोका जा सकता है।

(ii) **समाशोधन समझौते (Clearing Agreements)**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत दो देश समझौते द्वारा समाशोधन खातों की व्यवस्था करते हैं और उन्हीं के माध्यम से आयातों तथा निर्यातों का भुगतान करते हैं। समाशोधन समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक देश में आयातकर्ता विदेशी निर्यातकर्ता को आयात किये गये माल का भुगतान विदेशी मुद्रा में नहीं करता, बल्कि उसका भुगतान देशी मुद्रा में ही समाशोधन खाते में जमा करा देता है। इसी प्रकार देश के निर्यातकर्ता को भी निर्यात किये गये माल का भुगतान विदेशी मुद्रा में नहीं, बल्कि देशी मुद्रा में ही समाशोधन खाते से प्राप्त होता है। इस प्रकार समाशोधन समझौते के अन्तर्गत आयातकर्ताओं एवं निर्यात

कर्ताओं को विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब दोनों देशों के आयातों और निर्यातों का मूल्य बराबर होता है तब किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि समाशोधन समझौता करने वाले दोनों ही देशों के आयात-निर्यात बराबर ही हों। ऐसी परिस्थिति में समाशोधन समझौते में ही यह निश्चित कर लिया जाता है कि भुगतानावशेष को किस ढङ्ग से चुकाया जायेगा। साधारणतः भुगतानावशेष को एक देश द्वारा दूसरे देश को स्वर्ण के रूप में ही चुकाया जाता है। उदाहरणार्थ, सन् 1952 में इटली और अर्जेण्टाइना के बीच इसी प्रकार का समझौता हुआ था।

(iii) **विलम्बकालीन हस्तान्तरण** (Transfer Moratoria)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत आयात किये गये माल का मूल्य अथवा पूंजी पर ब्याज का भुगतान तुरन्त न करके, कुछ समय के बाद किया जाता है। इसे विलम्बकालीन हस्तान्तरण कहते हैं। आयातकर्ताओं एवं ऋणियों को अपने विदेशी दायित्वों (foreign obligations) का भुगतान किसी अधिकृत बैंक में देशी मुद्रा के रूप में ही करना पड़ता है। विलम्बकालीन अवधि के उपरान्त यह बैंक आयातकर्ताओं तथा ऋणियों के दायित्वों का भुगतान विदेशी मुद्रा में कर देता है। विलम्बकालीन हस्तान्तरण का उद्देश्य किसी देश को अपनी विदेशी विनिमय समस्या को हल करने के लिए पर्याप्त समय प्रदान करना है। जब उस देश की विदेशी परिस्थिति में सुधार हो जाता है, तब आयातकर्ताओं एवं ऋणियों के दायित्वों का विदेशी मुद्रा में अधिकृत बैंक द्वारा भुगतान कर दिया जाता है, कभी-कभी विलम्बकालीन भुगतान लागू करने वाले देश की सरकार विदेशियों को देश में ही अपनी पूंजी किसी निश्चित प्रकार के प्रयोग में लाने की अनुमति दे देती है।

(iv) **यथास्थिर समझौता** (Standstill Agreement)—सन् 1931 की महान मन्दी के पश्चात् जर्मनी ने यथास्थिर समझौता पद्धति का अनुसरण किया था। इस पद्धति की मुख्य-मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—(क) इस समझौते के अन्तर्गत दो देशों के बीच पूंजी के आने-जाने पर रोक लगा दी जाती है। इसके अलावा, विदेशी व्यापारियों को माल के भुगतान एकदम न करके धीरे-धीरे किश्तों में किये जाते हैं, (ख) इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में बदल दिया जाता है। इसका उद्देश्य ऋणी देश को अपने ऋणों का भुगतान करने के लिए अधिक समय प्रदान करना होता है। इस समझौते के अन्तर्गत ऋणी देश को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है, और जब तक उसकी आर्थिक स्थिति नहीं सुधर जाती तब तक पूंजी के आने-जाने पर रोक लगाकर विनिमय की दर को नियन्त्रित कर दिया जाता है।

(v) **क्षतिपूर्ति समझौता** (Compensation Agreement)—यह एक प्रकार से वस्तु विनिमय समझौता (barter agreement) होता है जिसमें मुद्रा के भुगतान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक देश द्वारा किये गये आयात उसके निर्यातों के मूल्य के बराबर होते हैं। दूसरे शब्दों में, आयातकर्ता देश को अपने आयातों के मूल्य के ही बराबर निर्यातकर्ता देश को माल निर्यात करना पड़ता है। परिणामतः दोनों देशों के भुगतान (payments) एक दूसरे से रद्द (cancel) हो जाते हैं। विदेशी मुद्रा की समस्या ही उत्पन्न नहीं होती।

लेकिन इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौते से कुछ हानियाँ भी होती हैं। इससे अन्तरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन की व्यवस्था को धक्का लगता है। दूसरे, इससे गृह-उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से अनुचित संरक्षण मिलता है।

विनिमय नियन्त्रण के दोष
(Defects of Exchange Control)

यद्यपि विनिमय नियन्त्रण प्रणाली से विभिन्न देशों को अपनी विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याओं को हल करने का उत्तम साधन उपलब्ध होता है तथापि इस प्रणाली में निम्नलिखित त्रुटियाँ भी पायी जाती हैं :

(1) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का संकुचन**—विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपना लेने से देश का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार संकुचित हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। चूंकि विनिमय नियन्त्रण के फलस्वरूप आयात सीमित हो जाते हैं, इसलिए निर्यात भी कम हुए बिना नहीं रह

सकते। परिणामत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे कमी हो जाती है और देश इसके लाभो से वंचित रह जाता है।

(2) **तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की उपेक्षा**—विनिमय नियन्त्रण प्रणाली के अन्तर्गत देश का अन्तरराष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार नही किया जा सकता। जैसा विदित है स्वतन्त्र व्यापार नीति के अन्तर्गत प्रत्येक देश केवल उसी वस्तु के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त करने की चेष्टा करता है जिसमे उसे अधिकतम प्राकृतिक लाभ होता है। इस प्रकार सभी देश कुछ निश्चित वस्तुओ के उत्पादन मे ही अपने साधनो को लगाते हैं। इससे उत्पादन लागतो मे स्वत ही कमी हो जाती है और उपभोक्ताओ को आर्थिक लाभ होता है, परन्तु विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपनाने से तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है और देश ऐसे उद्योगो को विकसित करने लगता है जिनमे उसे प्राकृतिक लाभ प्राप्त नही होता।

(3) **प्रणाली का खर्चीलापन**—विनिमय नियन्त्रण प्रणाली, वास्तव मे, एक अत्यन्त खर्चीली प्रणाली होती है और इसे सुचारु ढङ्ग से लागू करने के लिए बड़े पैमाने पर नौकरशाही की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी तो नौकरशाही की अयोग्यता, अकुशलता एवं असावधानीपूर्वक निर्णयो से देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(4) **भ्रष्टाचार का स्रोत**—विनिमय नियन्त्रण प्रणाली के परिणामस्वरूप देशो मे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। व्यापारी लोग दुर्लभ विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए सरकारी अधिकारियो एव कर्मचारियो को रिश्वत देते हैं।

विनिमय नियन्त्रण के उपर्युक्त दोषो के कारण प्रत्येक देश को इसे अपनाने से पूर्व इस समस्या पर सावधानी से विचार करना चाहिए। वास्तव मे, विनिमय नियन्त्रण प्रणाली विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयो को कम करने के बजाय उन्हे और अधिक बढ़ा देती है। इसी कारण अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, सदस्य देशो द्वारा लगाये गये विनिमय नियन्त्रणो का दृढता के साथ विरोध करता है। परन्तु इसके बावजूद इस समय अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के लगभग सभी सदस्यो ने विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपना रखा है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि विनिमय नियन्त्रण प्रणाली प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था का अविच्छिन्न अङ्ग बन गयी है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control In India)

भारत मे विनिमय नियन्त्रण दूसरे विश्व युद्ध के दौरान ही क्रियान्वित किया गया था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत मे किसी प्रकार का विनिमय नियन्त्रण नही अपनाया गया था। यही कारण था कि प्रथम विश्व युद्ध काल मे भारत की विदेशी विनिमय-दर 1 रुपया = 1 शिलिंग 4 पेंस से बढ़कर 2 शिलिंग 11 पेंस तक बढ़ गयी थी। इससे देश मे सट्टे की प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन मिला था और देश के विदेशी व्यापार पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। इसी कारण दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारत सरकार ने विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को अपना लिया था। डिफेन्स ऑफ इण्डिया रूल्स (Defence of India Rules) के अन्तर्गत भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को विनिमय नियन्त्रण लागू करने का अधिकार दे दिया था। इसी के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को सुचारु ढङ्ग से लागू करने के लिए विनिमय नियन्त्रण विभाग की स्थापना की थी और 4 सितम्बर, 1939 को रिजर्व बैंक ने अपनी विनिमय नियन्त्रण नीति की स्पष्ट घोषणा की थी। इस नीति के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने कुछ चुने हुए भारतीय बैंको को विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवहार करने की स्वीकृति प्रदान की थी, अर्थात् विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय केवल उन्ही बैंको द्वारा किया जा सकता था। परन्तु इन बैंको को इस प्रकार का व्यवसाय करने के लिए रिजर्व बैंक से अनिवार्य रूप मे अनुमति लेनी पड़ती थी।

सन् 1947 मे पुरानी विनिमय नियन्त्रण नीति का परित्याग कर दिया गया और इसके स्थान पर एक नयी विनिमय नियन्त्रण नीति अपनायी गयी थी। इस नीति के अन्तर्गत भी रिजर्व बैंक ने कुछ चुने हुए भारतीय बैंको को विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय सम्बन्धी अधिकार दिये थे। विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को रिजर्व बैंक से परमिट लेना पड़ता था और इसी

परमिट के आधार पर ही भारतीय बैंको से विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती थी। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक केवल अत्यन्त आवश्यक कार्यो के लिए ही विदेशी विनिमय का परमिट दिया करता था। कुछ दुर्लभ मुद्राओ के सम्बन्ध मे तो परमिट बहुत कठिनाई से ही उपलब्ध होते थे। उदाहरणार्थ, डालर मुद्रा खरीदने के लिए रिजर्व बैंक आसानी से परमिट नही देता था, परन्तु स्टर्लिंग मुद्रा के बारे मे रिजर्व बैंक की नीति इतनी कडी नही थी। भारत मे रहने वाला प्रत्येक विदेशी अपनी आय मे से 150 पौण्ड प्रति मास तक अपने परिवार के व्यय के लिए बाहर भेज सकता था। परन्तु डालर मुद्रा के बारे मे विदेशियो को इस प्रकार की सुविधा नही दी जाती थी। अत जब किसी फर्म को विदेशियो की सेवाएँ प्राप्त करनी होती हैं तब उसे रिजर्व बैंक से पूर्व अनुमति प्राप्त करनी पडती है। परन्तु स्वदेश लौटने वाले विदेशियो को अपनी बचतें, प्रॉवीडेण्ट फण्ड तथा निजी सम्पत्ति को बेचकर प्राप्त की जाने वाली राशि को अपने देश की मुद्रा मे ले जाने की छूट दे दी गयी है। लेकिन यहाँ भी एक उच्चतम सीमा निश्चित कर दी गई है। कोई भी विदेशी 5,000 पौण्ड की राशि से अधिक विदेशी मुद्रा बाहर नही ले जा सकता। इसके विपरीत, विदेशी शेयरहोल्डरो को अपने अशो (shares) पर लाभाश तथा विदेशी जमाकर्ताओ को अपनी ब्याज की राशि को बाहर भेजने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार भारत मे काम करने वाली विदेशी फर्में भी अपने वार्षिक लाभ को बाहर भेजने मे स्वतन्त्र हैं। परन्तु जिन वस्तुओ का आयात खुले लाइसेन्स के अन्तर्गत नही किया जा सकता उन्हे आयात करने से पूर्व व्यापारियो को सरकार से आयात लाइसेन्स लेना अनिवार्य है अन्यथा उन्हे विदेशी माल का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा नही दी जाती। इसी तरह स्टर्लिंग क्षेत्र को छोडकर विश्व के अन्य क्षेत्रो मे पूँजी का निर्यात केवल विशेष परिस्थितियो मे ही सम्भव हो सकता है। इसके साथ ही साथ भारतीय निर्यातकर्ताओ को अपने निर्यात किये गये माल के बदले मे प्राप्त हुई विदेशी मुद्रा को तुरन्त रिजर्व बैंक के पास जमा करना होता है और रिजर्व बैंक उन्हे इसके बदले मे देशी मुद्रा प्रदान करता है।

सन् 1965-66 मे रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण को कुछ ढीला कर दिया था · प्रथम, व्यावसायिक उद्देश्यो के लिए विदेशो को जाने वाले व्यापारियो को अब सीमित मात्रा मे विदेशी मुद्रा दी जाने लगी थी। दूसरे, उच्च शिक्षा के लिए विदेशो को जाने वाले छात्रो को भी पहले की अपेक्षा अधिक विदेशी मुद्रा दी जाने लगी थी। तीसरे, अधिकृत बैंको को पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे विदेशो से अल्पकालीन ऋण की आज्ञा प्रदान की गयी। चौथे, अक्टूबर 1965 मे विदेशी मुद्रा के प्रवाह को भारत मे प्रोत्साहित करने हेतु एक नयी योजना लागू की गयी। इसे राष्ट्रीय सुरक्षा हस्तान्तरण योजना (National Defence Remittance Scheme) कहते है। इसके अन्तर्गत, उन भारतीय नागरिको को जो विदेशो मे रहने वाले अपने मित्रो एव सम्बन्धियो से उपहारो एवं पारिवारिक व्यय के रूप मे परिवर्तनीय विदेशी मुद्रा प्राप्त करते हैं; भारत सरकार द्वारा उन्हे उनकी विदेशी मुद्रा के 60% तक आयात लाइसेन्स (import licences) दिये जायेंगे। दूसरे शब्दो मे, उन्हे विदेशी मुद्रा के बदले भारतीय मुद्रा तो दी ही जायगी, लेकिन उसके अतिरिक्त उन्हे उनकी विदेशी मुद्रा की मात्रा के 60% तक आयात लाइसेन्स भी दिये जायेंगे। वे चाहे तो आयात लाइसेन्सो को अन्य व्यक्तियो के नाम हस्तान्तरित भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार प्राप्त की गयी विदेशी मुद्रा पर भारतीय आय-कर भी नही लगेगा। अत इस योजना का मुख्य उद्देश्य भारत मे विदेशी मुद्रा के प्रवाह को प्रोत्साहित करना था।

सन् 1967-68 के दौरान भारत सरकार द्वारा विनिमय नियन्त्रण मे कुछ परिवर्तन किये गये थे। विदेशो को जाने वाले भारतीय छात्रो को दी जाने वाली विदेशी मुद्रा सम्बन्धी नियमो को तनिक शिथिल कर दिया गया। पहले की अपेक्षा उन्हे अधिक विदेशी मुद्रा दी जाने लगी। लेकिन विदेशो मे जाकर बसने वाले भारतीयो पर विदेशी मुद्रा सम्बन्धी नियमो को और अधिक कडाई से लागू किया गया। ब्रिटिश पौण्ड के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक ने स्टर्लिंग मुद्रा की क्रय एव विक्रय दरो मे समुचित सशोधन कर दिया। सन 1968-69 मे निर्यातो को प्रोत्साहित करने हेतु भारतीय-निर्यातकर्ताओ को विदेशी विनिमय सम्बन्धी कुछ सुविधाएँ देने की घोषणा की गई थी। सन् 1969-70 मे भारतीय छात्रो को विदेशो मे अध्ययन करने हेतु दी जाने वाली विदेशी मुद्रा सम्बन्धी नियमो को और अधिक उदार बना दिया था।

जनवरी 1,1974 को सरकार द्वारा पारित Foreign Exchange Act, 1973 को लागू कर दिया गया। इस नये कानून ने पुराने कानून Foreign Exchange Regulation Act, 1947 का स्थान लिया था। नये कानून के अन्तर्गत विनिमय से सम्बन्धित सरकारी मशीनरी को सुदृढ कर दिया गया ताकि सरकारी नियमो की अवहेलना न की जा सके। विदेशी विनिमय से सम्बन्धित सरकारी नियमो का उल्लघन करने पर दण्ड की व्यवस्था भी की गयी थी।

सन् 1974-75 मे विनिमय नियन्त्रण के क्षेत्र मे विदेशो से भारत की ओर आभ्यान्तिक विप्रेषणाओ (inward remittances) को प्रोत्साहित करने हेतु अनेक कदम उठाये गये थे। विदेशो मे बसे भारतीयो को भारत मे धन प्रेषित करने हेतु कई प्रकार की रियायतें दी गई थी। इन सब का उद्देश्य भारत की विदेशी मुद्राओ की निधि मे वृद्धि करना था। सन् 1975 76 मे भारत की विदेशी विनिमय निधि मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। इस वर्ष यह निधि बढकर 1877 03 करोड रु० के बराबर हो गई थी जबकि सन् 1974-75 मे यह केवल 969 24 करोड रुपये के मूल्य की ही थी।

सन् 1975-76 मे भारत सरकार ने विदेशो मे बसे भारतीयो को भारतीय बैंको मे विदेशी मुद्राओ मे खाते खोलने की अनुमति दे दी थी। इन खातो पर आकर्षक ब्याज दिया जाता है जो आयकर से मुक्त होता है। खातेदार जब चाहे, खाता बन्द कर विदेशी मुद्रा मे ही अपने धन को पुन प्राप्त कर सकते हैं। विदेशो मे बसे भारतीयो को देश के औद्योगिक विकास मे धन लगाने हेतु कई प्रकार की रियायतें भी दी गई थी। इन्ही सुविधाओ एव रियायतो के परिणामस्वरूप ही भारत की विदेशी विनिमय विधि मे सन् 1975-76 मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 विनिमय नियन्त्रण के क्या उद्देश्य हैं? विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को समझाइए। (आगरा, 1968)

अथवा

विनिमय नियन्त्रण से क्या अभिप्राय है? विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो की व्याख्या कीजिए। (आगरा, 1975)

[संकेत—प्रथम भाग मे, विनिमय नियन्त्रण का अर्थ बताते हुए इसके मुख्य उद्देश्यो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, विनिमय नियन्त्रण की मुख्य-मुख्य रीतियो का वर्णन कीजिए।]

2 विनिमय नियन्त्रण क्यों आवश्यक है? भारत मे विनिमय नियन्त्रण कैसे किया जाता है? (विक्रम, 1971)

अथवा

विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण क्यों आवश्यक है? भारत मे विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण करने हेतु उपायों की सक्षेप मे विवेचना कीजिए। (आगरा, 1969)

[संकेत—प्रथम भाग मे, यह बताइए कि विदेशी विनिमय की दुर्लभता की समस्या को हल करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता पडती है। दूसरे भाग मे, भारत सरकार द्वारा अपनाये गये विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी उपायो की सक्षेप मे विवेचना कीजिए।]

3 भारत के विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यो और कार्यों पर एक टिप्पणी लिखिए। (विक्रम, 1969)

[संकेत—भारत मे विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य इस प्रकार हैं—(i) दुर्लभ विदेशी मुद्राओ का बचतपूर्ण उपयोग करना, (ii) व्यापार के असन्तुलन को दूर करना, (iii) विदेशी मुद्राओ की प्राप्ति करना (iv) गृह उद्योगो को प्रोत्साहन देना। विनिमय नियन्त्रण के कार्यों के लिए 'भारत मे विनिमय नियन्त्रण'' नामक शीर्षक देखिए।]

4 विनिमय नियन्त्रण क्या है? भारत मे विदेशी विनिमय सकट की विद्यमानता के कौन-कौन से कारण हैं?

[संकेत—जब सरकार देश के विदेशी विनिमय उपार्जनों को कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग करती है तो इसे विनिमय नियन्त्रण कहते हैं। विदेशी विनिमय संकट के कारणों के लिए अध्याय 20 को देखिए।]

5. **विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता और उद्देश्यों को समझाइए।** *(राजस्थान, 1972)*

[*संकेत—विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता* इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि देश के भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता के कारण विनिमय-दर में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। जिस प्रकार कीमत वृद्धि को रोकने हेतु सरकार उस पर नियन्त्रण लगा देती है, ठीक उसी प्रकार विनिमय-दर में वृद्धि रोकने के लिए सरकार विनिमय नियन्त्रण की नीति का अनुसरण करती है। विनिमय-दर के उद्देश्यों के लिए उपर्युक्त अध्याय देखिए।]

"The advice of the I M F to the Government of India to devalue the Rupee must have been based on false premises '

—SIR ROY HARROD

पंचम खण्ड

भारतीय मुद्रा एवं बैंकिंग का इतिहास एवं समस्याएँ

(HISTORY AND PROBLEMS OF INDIAN CURRENCY AND BANKING)

24

भारतीय मुद्रा तथा विनिमय का इतिहास (I)

(History of Indian Currency and Exchange—1)

(From 1835 to 1925)

सन् 1835 से पूर्व का इतिहास—प्राचीन समय मे भी भारत मे धात्विक सिक्को का प्रयोग किया जाता था। इतिहासकार हमे बताते हैं कि हिन्दू काल मे सोने तथा चाँदी के सिक्को का निर्माण किया जाता था। मुगल काल मे भी सोने और चाँदी के सिक्को का प्रचलन जारी रहा और सिक्को की निर्माण-विधि मे कई प्रकार के सुधार किये गये। कहा जाता है कि अकबर के शासनकाल मे भारत मे सोने की मुहर तथा चाँदी के रुपये का प्रचलन हुआ करता था। इनके साथ ही ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे। इसे उस समय 'दाम' कहकर पुकारा जाता था। इन तीन प्रकार के सिक्को के आपसी परिवर्तन के लिए शासन द्वारा कोई कानूनी अनुपात निश्चित नही किया गया था। मुगल शासन के पतन के उपरान्त भारत मे कई प्रकार के छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे और इन सभी राज्यो ने अपने अलग-अलग सिक्के प्रचलित किये थे। परिणामतः देश के व्यापार मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी, क्योकि इन भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्को को एक-दूसरे मे बदलने की कोई कानूनी व्यवस्था नही थी। कहा जाता है कि जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) ने भारतीय शासन को अपने हाथो मे लिया था उस समय देश के विभिन्न भागो मे 994 प्रकार के विभिन्न वजन व शुद्धता वाले सोने तथा चाँदी के सिक्को का प्रचलन था। इनका आपस मे परिवर्तन वजन व शुद्धता के आधार पर साहूकारो द्वारा किया जाता था। इस तरह देश मे मुद्रा-सम्बन्धी एक प्रकार की अराजकता थी। सैद्धान्तिक रूप मे हम कह सकते हैं कि सन् 1835 से पूर्व भारत मे एक प्रकार का द्विधातुमान प्रचलित था, क्योकि उस समय भारत मे सोने तथा चाँदी के सिक्के एक साथ प्रचलन मे थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुद्रा-प्रणाली की इस अराजकता को दूर करने के लिए अपनी ओर से निश्चित वजन व शुद्धता के सोने तथा चाँदी के सिक्को को जारी किया था। कम्पनी ने इन दोनो प्रकार के सिक्को के बीच का आपसी अनुपात कानूनी आधार पर निर्धारित कर दिया था। लेकिन इसके बावजूद इन धातुओ के बाजारी मूल्यो मे अत्यधिक उतार-चढ़ाव होने के कारण यह अनुपात अधिक समय तक न टिक सका। सन् 1818 मे कम्पनी ने मद्रास प्रेसीडेण्सी मे सोने के सिक्के के स्थान पर चाँदी के रुपये के सिक्के का प्रचलन किया। इसे मद्रास प्रेसीडेण्सी का प्रामाणिक सिक्का करार दिया गया था। इस सिक्के मे 180 ग्रेन चाँदी थी और इसकी शुद्धता $\frac{11}{12}$ थी। यद्यपि कम्पनी ने इस रुपये को प्रामाणिक सिक्का घोषित किया था, लेकिन लोगो की सुविधा के लिए सोने के सिक्को को भी इसने कानूनी रूप देना स्वीकार कर लिया था। रुपये और सोने के सिक्को की विनिमय-दर भी निश्चित कर दी गयी थी। इन सिक्को का आपसी विनिमय इसी दर पर ही किया जाता था। सन् 1823 मे सरकार ने यह व्यवस्था बम्बई प्रेसीडेण्सी मे भी लागू कर दी थी। सन् 1835 मे समूचे देश मे मुद्रा-प्रणाली मे एकरूपता लाने के लिए एक करेंसी एक्ट (Currency Act) बना दिया गया था। इसके अन्तर्गत, चाँदी के रुपये को देश की एकमात्र कानूनी ग्राह्य मुद्रा घोषित कर दिया गया था। इसके साथ ही रुपये की ढलाई

स्वतन्त्र रखी गयी थी। यद्यपि अब सोने का सिक्का कानूनी ग्राह्य तो नही रहा परन्तु करेंसी एक्ट के अन्तर्गत सरकार को इसकी ढलाई का अधिकार दिया गया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन् 1835 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत भारत मे रजतमान (Silver Standard) की स्थापना हुई थी।

भारत में रजतमान (सन् 1835 से 1898 तक)—जैसा ऊपर बताया गया है, सन् 1835 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत भारत मे रजतमान की स्थापना की गयी थी। इस मान की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी—(क) इस कानून के अन्तर्गत सरकारी टकसालो मे रुपये की ढलाई स्वतन्त्र एवं अपरिमित हुआ करती थी। (ख) चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था और इसकी शुद्धता $\frac{11}{12}$ थी। दूसरे शब्दो मे, रुपये मे 11 हिस्से शुद्ध चाँदी और 1 हिस्सा खोट मिलायी जाती थी। इस प्रकार रुपये मे पूर्णत शुद्ध चाँदी का वजन केवल 165 ग्रेन ही था। (ग) रुपये को असीमित विधिग्राह्य करार दे दिया गया था। (घ) सरकारी टकसालो मे सोने के सिक्को की ढलाई तो हो सकती थी परन्तु वे कानूनी ग्राह्य नहीं रहे थे। सन् 1841 मे लोगो की माँग पर सरकार ने सोने की मुहरो को सरकारी भुगतानो के रूप मे खजानो मे 15 : 1 के अनुपात मे स्वीकार करना आरम्भ कर दिया था।

भारत में रजतमान का पतन (Fall of Silver Standard in India)—सन् 1871 तक भारत मे रजतमान ठीक प्रकार प्रचलित रहा। परन्तु सन् 1871 के पश्चात इसे बनाये रखने मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्न हो गयी। इन कठिनाइयो का मुख्य कारण चाँदी के मूल्य मे होने वाली भारी गिरावट थी। सन् 1871 के बाद चाँदी के अन्तरराष्ट्रीय मूल्य मे भारी कमी होने लगी। इसके कई कारण थे प्रथम, कई देशो मे चाँदी की नयी-नयी खानो की खोज के परिणामस्वरूप विश्व मे चाँदी की पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी। द्वितीय, यूरोप के कुछ देशों मे चाँदी का विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया था। इससे भी चाँदी की पूर्ति मे वृद्धि हो गयी थी। तृतीय, यूरोप के कुछ देशो ने द्विधातुमान का परित्याग करके चाँदी के सिक्को को प्रचलन से बाहर निकाल दिया था। इससे भी चाँदी की पूर्ति मे वृद्धि हो गयी थी। चौथे, यद्यपि चाँदी की विश्वपूर्ति मे तो वृद्धि होती जा रही थी परन्तु इसकी विश्व माँग तेजी के साथ निरन्तर गिरती जा रही थी। इन्ही कारणो से चाँदी के मूल्य मे भारी कमी हो गयी थी। परिणामत भारत मे बडे पैमाने पर चाँदी का आयात किया गया था। इसके परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा की पूर्ति बढ गयी क्योकि विदेशो से आयात की गयी चाँदी ही बढी हुई मुद्रा का आधार बनी। इस प्रकार देश मे मुद्रा स्फीति की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी और आन्तरिक कीमत-स्तर तेजी के साथ ऊपर चढने लगा। इसके साथ ही साथ भारतीय रुपये के बाह्य मूल्य मे तेजी से कमी होने लगी अर्थात् भारत की विनिमय दर तेजी के साथ नीचे गिरने लगी। इससे देश के विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा। भारत सरकार के गृह व्ययो (Home Charges) का भार बढ गया और ब्रिटिश अफसरो के वेतन आदि चुकाने के लिए भारत सरकार को भारी कठिनाई होने लगी। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश सरकारी अधिकारियो के वेतन ब्रिटिश मुद्रा स्टर्लिंग मे निश्चित किये जाते थे। विनिमय दर गिर जाने के कारण अब भारत सरकार को इन्हे चुकाने के लिए अधिक मात्रा मे रुपयो की आवश्यकता पड़ने लगी। सरकार का व्यय बढ जाने से बजट मे असन्तुलन उत्पन्न हो गया जिसे दूर करने के लिए सरकार को अतिरिक्त कर लगाने पड़े। इस प्रकार सन् 1871 के बाद जब सरकार को रजतमान बनाये रखने मे अत्यधिक कठिनाइयों का अनुभव होने लगा तब उसने भारतीय मुद्रा-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए सन् 1892 मे लार्ड हरशेल (Lord Herschell) की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की।

हरशेल कमेटी की सिफारिशें—हरशेल कमेटी की सिफारिशें निम्नलिखित थी :

(क) सोने और चाँदी के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई (Free Coinage) बन्द कर देनी चाहिए।

(ख) सोने के सिक्को का प्रचलन बन्द कर देना चाहिए। कमेटी का विचार था कि सोने के सिक्को के बिना भी देश मे स्वर्णमान को स्थापित किया जा सकता है।

(ग) रुपये की विदेशी विनिमय-दर को 1 शिलिंग 4 पेंस पर निश्चित किया जाय। कमेटी

के अनुसार 1 शिलिंग 6 पेंस की विनिमय-दर को अपनाने से देश के आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी। कमेटी ने यह सुझाव दिया कि इसी दर पर (अर्थात् 1 शिलिंग 4 पेंस) पर सरकारी खजानों में सोने के सिक्के भुगतान के रूप में स्वीकार किये जाने चाहिए।

सरकार का निर्णय—हरशेल कमेटी की उपर्युक्त सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए सरकार ने सन् 1893 में एक नया करेंसी कानून बनाया। इसकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार थीं (क) सोने व चाँदी के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी गयी। परन्तु सरकार को स्वयं देश की आवश्यकताओं के अनुसार चाँदी के रुपये जारी करने का अधिकार दिया गया। सोने व चाँदी के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई को बन्द करने का उद्देश्य रुपये की विदेशी विनिमय-दर को ऊँचे स्तर पर बनाये रखना था। इस प्रकार रुपया एक प्रतीक सिक्का बन गया क्योंकि एक ओर इसकी ढलाई सीमित कर दी और दूसरी ओर इसका अंकित मूल्य इसके धातु-मूल्य से अधिक रखा गया। (ख) सरकार ने सोने के सिक्कों के बदले में 1 शिलिंग 4 पेंस की दर पर चाँदी के रुपये जनता को देने की व्यवस्था भी कर दी। रुपये की विदेशी विनिमय-दर भी इसी स्तर पर निश्चित कर दी गयी। (ग) सरकार ने जनता से करों के भुगतान के रूप में सोने के सिक्कों को 15 रुपये की दर पर स्वीकार करना आरम्भ कर दिया। (घ) सरकार ने कलकत्ता व बम्बई की टकसालों को कागजी मुद्रा के निर्गमन का अधिकार दे दिया और इसके साथ ही यह व्यवस्था भी कर दी कि 1 शिलिंग 4 पेंस की दर पर कागजी नोट स्वर्ण के बदले में दिये जा सकते थे।

सन् 1893 के करेंसी एक्ट के परिणामस्वरूप रुपये की विनिमय-दर चाँदी के मूल्यों में होने वाले सामयिक परिवर्तनों से मुक्त हो गयी। चाँदी का मूल्यमान के रूप में प्रयोग बन्द हो गया लेकिन इसका प्रयोग मुद्रा की मुख्य धातु के रूप में ही बना रहा। रुपये की विदेशी विनिमय-दर बढ़ गयी, इससे भारत में विदेशी पूँजी का आयात प्रोत्साहित हुआ। परन्तु चाँदी का आयात हतोत्साहित हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन् 1893 के करेंसी एक्ट के परिणामस्वरूप भारत में एक अपूर्ण द्विधातुमान की स्थापना हो गयी, क्योंकि इसके अन्तर्गत दोनों प्रकार के सिक्कों का प्रचलन था।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard in India)—यद्यपि सन् 1893 में रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 4 पेंस निश्चित की गयी थी परन्तु कुछ कारणों से यह दर स्थायी न रह सकी। सन् 1894 में भारत की विनिमय दर में गिरावट आनी शुरू हो गयी और घटते घटते 1 शिलिंग 1 पेंस पर पहुँच गयी। रुपये की विनिमय दर को बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने मुद्रा-अवस्फीति (Currency Deflation) की नीति को अपनाया था। इसके परिणामस्वरूप भारत के व्यापारियों को बहुत असुविधा हुई और उन्होंने सरकार को मुद्रा-व्यवस्था में सुधार करने के लिए सुझाव दिया। परिणामतः भारत सरकार ने देश में स्वर्णमान की स्थापना तथा विनिमय की दर को स्थिर रखने के लिए ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की। सन् 1898 में भारत की समूची मुद्रा-व्यवस्था का अध्ययन करने तथा उसमें सुधार करने हेतु एक कमेटी नियुक्त की गयी। सर हेनरी फाउलर (Sir Henry Fowler) इस कमेटी के अध्यक्ष थे। फाउलर कमेटी की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं

(1) रुपये की विनिमय-दर को 1 शिलिंग 4 पेंस की दर पर निश्चित कर दिया जाय। इसी दर पर सरकार को सोने के सिक्कों के बदले में जनता को रुपये देने चाहिए। परन्तु रुपयों के बदले में सोने के सिक्के देने के लिए सरकार को विवश नहीं किया जाना चाहिए।

(2) ब्रिटिश सावरन (British Sovereign) को भारत में असीमित वैध सिक्का घोषित कर दिया जाना चाहिए। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन दोनों में ही सावरन का प्रचलन होना चाहिए। सावरन को 15 रुपये प्रति सावरन की दर से रुपयों में बदलने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) चाँदी के रुपये को असीमित वैध सिक्का घोषित किया जाना चाहिए। परन्तु रुपये की ढलाई स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिए। इसके साथ ही साथ आन्तरिक लेन देन के लिए चाँदी का रुपया सोने में परिवर्तनशील नहीं होना चाहिए।

(4) रुपयों के सिक्कों की ढलाई से होने वाले लाभ को एक अलग कोष में स्वर्ण के रूप

मे रखना चाहिए। कमेटी ने इसे स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve) का नाम दिया था। इस कोष का प्रयोग रुपयो को सावरन मे बदलने के लिए किया जाना चाहिए।

(5) यदि भारत का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो विदेशी भुगतान करने के लिए आयातकर्ताओ को सरकार द्वारा रुपयो के बदले स्वर्ण के देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस प्रकार अपनी उपर्युक्त सिफारिशो से फाउलर कमेटी देश मे स्वर्ण मुद्रामान (Gold Currency Standard) का निर्माण करना चाहती थी।

सरकार की कार्यवाही—सरकार ने फाउलर कमेटी की लगभग सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और इन्हे क्रियान्वित करने के लिए सन् 1899 मे एक नया करेंसी कानून पास किया। उसकी मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार थी (क) सावरन तथा अर्द्ध सावरन (Half-Sovereign) को विधिग्राह्य मुद्रा घोषित कर दिया गया। इनके साथ ही चाँदी के रुपयो को भी असीमित वैध मुद्रा करार दे दिया गया। (ख) रुपये की ढलाई से प्राप्त होने वाले लाभ को अलग से एक स्वर्णमान कोष मे रखने की व्यवस्था की गयी (ग) चूँकि ब्रिटिश सरकार ने भारत मे शाही टकसाल की शाखा खोलने का विरोध किया था, इसलिए भारत मे सोने के सिक्को को अर्थात् सावरन एवं अर्द्ध-सावरन को ढालने की योजना रद्द कर दी गयी। इस प्रकार सन् 1899 के करेंसी कानून के अन्तर्गत देश मे स्वर्णमान के बजाय स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हो गयी। परन्तु स्मरण रहे कि फाउलर कमेटी ने भारत मे स्वर्ण विनिमय मान की नहीं, बल्कि स्वर्ण मुद्रामान की सिफारिश की थी।

स्वर्ण विनिमय मान की मुख्य-मुख्य बातें—ये निम्नलिखित हैं

(1) देश मे आन्तरिक लेन-देन के लिए चाँदी के रुपयो तथा कागजी मुद्रा का प्रचलन था। चाँदी का रुपया केवल प्रतीक सिक्का ही था। इसके अलावा, चलन मे अन्य भी कई प्रकार के छोटे छोटे सिक्के थे परन्तु वे सीमित विधि ग्राह्य ही थे। विदेशी भुगतानो के लिए चाँदी के रुपये को सोने या स्टर्लिंग मे 1 शिलिंग 4 पेंस की दर पर बदला जा सकता था। परन्तु आन्तरिक लेन देन के लिए रुपये को सोने मे नही बदला जा सकता था। देश मे सीमित मात्रा मे ब्रिटिश सावरन का भी प्रचलन हुआ करता था।

(2) रुपये का अधिकतम स्वर्ण मूल्य या स्टर्लिंग मूल्य $16\frac{1}{8}$ पेंस तथा न्यूनतम मूल्य $15\frac{29}{32}$ पेंस निर्धारित कर दिया गया था। जब कभी भारत की विनिमय-दर 1 शिलिंग 4 पेंस से बढ जाती थी तब ऐसी परिस्थिति मे सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State) काउन्सिल बिल्स (Council Bills) को 1 शिलिंग $4\frac{1}{8}$ पेंस प्रति रुपये की दर पर असीमित मात्रा मे बेचना शुरू कर देता था। इससे विनिमय-दर मे होने वाली वृद्धि पर स्वत ही रोक लग जाती थी। इसका कारण स्पष्ट था। यदि विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस से ऊपर उठने लगती थी तो ब्रिटिश आयातकर्ता भारतीय निर्यातकर्ताओ को उनके माल का भुगतान खुले बाजार मे से भारतीय मुद्रा न खरीदकर, काउन्सिल बिलो के रूप मे किया करते थे। इस प्रकार जब विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस से कम होने लगती थी, तब ऐसी परिस्थिति मे भारत सरकार रिवर्स काउन्सिल बिल्स (Reverse Council Bills) को 1 शिलिंग $3\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर पर बेचना शुरू कर देती थी। इससे खुले बाजार मे विनिमय-दर की गिरावट स्वत ही रुक जाती थी। इसका कारण स्पष्ट था। अब भारतीय आयातकर्ता ब्रिटिश निर्यातकर्ताओ को आयात किये गये माल का भुगतान खुले बाजार मे से ब्रिटिश मुद्रा न खरीदकर, रिवर्स काउन्सिल बिल्स के रूप मे करने लगते थे। इससे ब्रिटिश मुद्रा की खुले बाजार मे माँग गिर जाती थी और इसके मूल्य मे होने वाली वृद्धि स्वत ही रुक जाती थी।

(3) स्वर्ण विनिमय मान को सफलतापूर्वक चलाने के लिए दो कोष स्थापित किये गये थे—रुपयो का कोष (Rupee Fund) जो भारत मे रखा गया था एवं स्टर्लिंग का कोष (Sterling Fund) जो ब्रिटेन मे रखा गया था। इन कोषो की सहायता से विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखा जाता था। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा जारी किये गये काउन्सिल बिलो का भुगतान भारत से रुपयो के कोष से किया जाता था। इसके विपरीत, भारत सरकार द्वारा

जारी किये गये रिवर्स काउन्सिल बिलो का भुगतान ब्रिटेन मे रखे गये स्टर्लिंग कोष से किया जाता था।

स्वर्ण विनिमय मान से भारत को दो प्रमुख लाभ हुआ करते थे **प्रथम**, लन्दन मे सेक्रेटरी ऑफ स्टेट काउन्सिल बिलो को बेचकर गृह-व्ययो (Home Charges) को पूरा करने के लिए पर्याप्त धनराशि प्राप्त कर लिया करता था। इस प्रकार गृह-व्ययो के लिए भारत सरकार को मूल्यवान धातुओ को लन्दन भेजने की आवश्यकता नही रहती थी। **दूसरे**, स्वर्ण विनिमय मान के फलस्वरूप भारत की विदेशी विनिमय दर को 1 शिलिंग 4 पेंस पर स्थिर बनाये रखना सम्भव हो गया था। विदेशी विनिमय दर की इस स्थिरता के कारण भारत के विदेशी व्यापार पर अच्छा प्रभाव पडा था।

परन्तु स्वर्ण विनिमय मान के उपर्युक्त लाभो के साथ साथ इस प्रणाली मे कुछ त्रुटियाँ भी पायी जाती थी। यह सत्य है कि स्वर्ण विनिमय मान के कारण भारत की विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता स्थापित हो गयी थी। *परन्तु इसके साथ ही साथ भारत के आन्तरिक कीमत स्तर मे स्थिरता स्थापित नही की जा सकी थी।* आन्तरिक कीमत स्तर की इस अस्थिरता के कारण देश के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पडा था। इसके अतिरिक्त, स्वर्ण विनिमय मान एक स्वचालित मान (Automatic Standard) नही था, बल्कि इसका सचालन करने के लिए सरकार को बार बार देश की मुद्रा व्यवस्था मे हस्तक्षेप करना पडता था।

चेम्बरलेन कमीशन की सिफारिशें (Recommendations of the Chamberlain Commission)—चूंकि भारत मे स्वर्ण विनिमय मान के सचालन के सम्बन्ध मे कटु आलोचना की जा रही थी, इसीलिए *अप्रैल 1912 मे भारत सरकार ने देश की समूची मुद्रा-व्यवस्था का अध्ययन* करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था। जोसफ चेम्बरलेन (Joseph Chamberlain) इस कमीशन के अध्यक्ष थे। इसी कमीशन ने भारत की मुद्रा व्यवस्था एव स्वर्ण विनिमय मान की क्रियाशीलता का विस्तृत अध्ययन करने के उपरान्त निम्नलिखित सिफारिशें की थी

(क) भारत सरकार को स्वर्ण विनिमय मान जारी रखना चाहिए। भारत के लिए स्वर्ण मुद्रामान उपयुक्त नही है क्योकि भारतीयो मे स्वर्ण मुद्रा को सचित (Hoard) करने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

(ख) भारत मे स्वर्ण मुद्रा ढालने के लिए एक अलग टकसाल की आवश्यकता नही है। कमीशन ने यह सिफारिश की कि बम्बई की टकसाल मे ही सीमित मात्रा मे सोने के सिक्को को ढाला जा सकता है।

(ग) स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve) की कोई उच्चतम सीमा नही होनी चाहिए और इस कोष को लन्दन मे ही रहने देना चाहिए।

(घ) कागजी मुद्रा प्रणाली मे अधिक लोच उत्पन्न करने के लिए कागजी नोटो के अरक्षित भाग (fiduciary portion) को 14 करोड रुपये से बढाकर 20 करोड रुपये कर देना चाहिए।

(ङ) भारत सरकार को यह आश्वासन देना चाहिए कि वह 1 शिलिंग $3\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपये की दर से भविष्य मे भी रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचती रहेगी।

चेम्बरलेन कमीशन की उपर्युक्त सिफारिशें फरवरी 1914 मे प्रकाशित कर दी गई थी। चूंकि जुलाई 1914 मे प्रथम विश्व युद्ध छिड गया था, इसलिए भारत सरकार कमीशन की उपयुक्त सिफारिशो को क्रियान्वित न कर सकी।

भारतीय मुद्रा प्रणाली पर प्रथम विश्व युद्ध का प्रभाव—युद्ध के छिड जाने के उपरान्त भारत की मुद्रा प्रणाली पर बहुत बुरा प्रभाव पडा था। इसका सक्षिप्त ब्योरा इस प्रकार है

(1) *युद्ध के छिड जाने से साधारण जनता मे भय की लहर दौड गयी तथा व्यापार और* वाणिज्य पर अनिश्चितता का वातावरण छा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो ने सेविंग्स बैंक्स खातो मे से अधिकाधिक मात्रा मे धन निकालना आरम्भ कर दिया।

इसके साथ ही साथ साधारण जनता मे सोने व चाँदी के सिक्को का सचय करने की प्रवृत्ति भी बढ गयी थी। लोगो ने कागजी नोटो को भी बडे पैमाने पर सोने व चाँदी के सिक्को मे परिवर्तित करने के प्रयत्न किये थे।

(2) युद्ध के छिड़ने के उपरान्त भारत की विदेशी विनिमय दर गिरने लगी थी।

उपर्युक्त परिस्थिति का सामना करने के लिए सरकार ने 5 अगस्त, 1914 को निजी व्यक्तियो को सोना देना बन्द कर दिया था। विनिमय-दर की गिरावट को रोकने के लिए भारत सरकार ने बड़े पैमाने पर रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचने शुरू कर दिये। 6 अगस्त, 1914 से 28 जनवरी, 1915 तक भारत सरकार ने लगभग 87 लाख पौण्ड मूल्य के रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचे थे। इन उपायो से कुछ समय के लिए साधारण जनता का मुद्रा-प्रणाली मे विश्वास पुन उत्पन्न हो गया था।

परन्तु सन् 1916 मे मुद्रामान के सचालन मे पुन कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगी। इसका कारण यह था कि सन् 1916 के पश्चात् भारत का व्यापार-सन्तुलन बहुत अनुकूल हो गया था। भारत के निर्यात बहुत बढ गये थे परन्तु आयातो मे बहुत कमी हो गयी थी। परिणामत. व्यापार-सन्तुलन भारत के अनुकूल हो गया था। अनुकूल व्यापार-सन्तुलन के फलस्वरूप ब्रिटिश मुद्रा बाजार मे भारतीय मुद्रा की माँग बहुत बढ गयी थी जिसके परिणामस्वरूप इसका विदेशी मूल्य भी बढ गया था। भारतीय रुपये की विनिमय-दर को अधिक बढने से रोकने के लिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट (Secretary of State) ने काउन्सिल बिल्स को बेचना शुरू कर दिया। परन्तु भारतीय मुद्रा की माँग इतनी बढ गयी थी कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट भी काउन्सिल बिल्स द्वारा उसे पूरा न कर सका। इसका कारण यह था कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट की काउन्सिल बिल्स बेचने की सामर्थ्य इस बात पर निर्भर करती थी कि वह भारत सरकार द्वारा रुपयो की मात्रा बढाने के लिए कितनी चाँदी उसे सप्लाई कर सकता था। परन्तु युद्धकाल मे चाँदी की माँग में निरन्तर वृद्धि के फल-स्वरूप इसके मूल्य मे काफी वृद्धि हो गयी थी। सन् 1915 मे चाँदी का मूल्य प्रति औंस $27\frac{1}{2}$ पेंस था। सितम्बर 1917 मे यह बढकर 55 पेंस हो गया। चाँदी के मूल्य मे वृद्धि के कारण अब सेक्रेटरी आफ स्टेट को काउन्सिल बिल्स पुरानी विनिमय-दर अर्थात् 1 शिलिंग 4 पेंस पर बेचना कठिन हो गया था। अत उसे चाँदी के मूल्य मे वृद्धि के साथ ही साथ काउन्सिल बिलो की दर मे भी उसी अनुपात मे वृद्धि करनी पडी। इसका कारण स्पष्ट है। चूंकि चाँदी के मूल्य मे वृद्धि के फलस्वरूप रुपयो को ढालने की लागत बढ गयी थी, इसीलिए सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के लिए पुरानी विनिमय दर पर काउन्सिल बिल्स बेचना सम्भव नही रहा था। परिणामत स्वर्ण विनिमय मान भंग हो गया था।

युद्धकालीन स्थिति का सामना करने के लिए जिन उपायो का आश्रय लिया गया था, वे इस प्रकार थे—(क) 3 सितम्बर, 1917 से निजी व्यक्तियो द्वारा चाँदी का आयात बन्द कर दिया गया। अब चाँदी का आयात करने का अधिकार केवल सरकार को ही था। इसके साथ ही चाँदी के सिक्को का निर्यात भी बन्द कर दिया गया। (ख) चाँदी की बढती हुई माँग को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने बडे पैमाने पर अमरीका से चाँदी का क्रय किया था। सन् 1918 मे भारत सरकार ने अमरीका से 200 मिलियन औंस चाँदी खरीदी थी। (ग) 27 जून 1917 से सोने चाँदी के सिक्को को पिघलाना गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। (घ) 29 जून, 1917 को घोषणा की गयी कि देश मे आयात किया गया समूचा स्वर्ण सरकार को अनिवार्य रूप से बेचना होगा। इसी स्वर्ण के आधार पर सरकार ने कागजी नोटो का निर्गमन किया। परिणामत कागजी नोटो की मात्रा मे बहुत वृद्धि हो गयी। (ङ) मुद्रा की मात्रा को बढाने के लिए सोने के सिक्को की ढलाई शुरू कर दी गई। (च) सरकार ने 1 रुपये व $2\frac{1}{2}$ रुपये के नये नोटो का निर्गमन किया। इसके साथ ही साथ दो, चार, आठ आने के निकिल के सिक्को को भी जारी किया गया। (छ) आरक्षित कागजी मुद्रा के निर्गमन मे भी वृद्धि कर दी गयी ताकि देश की बढती हुई मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा किया जा सके।

बैबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिशें (Recommendations of the Babington Smith Committee)—प्रथम विश्व युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी व्यापार-सन्तुलन भारत के अनुकूल ही रहा, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन मे भारतीय रुपये की माँग बराबर बढती गयी। अत रुपये की विनिमय-दर मे भी बराबर वृद्धि होती गयी। इसके साथ ही साथ चाँदी के मूल्य मे भी वृद्धि जारी रही और सरकार द्वारा कागजी नोटो को चाँदी के सिक्को मे बदलना बराबर कठिन होता चला गया। इस प्रकार देश की सम्पूर्ण स्थिति की जाँच करने के लिए

मई सन् 1919 मे सर हेनरी बैबिंगटन स्मिथ (Sir Henry Babington Smith) की अध्यक्षता मे एक कमेटी नियुक्त की गयी। इस कमेटी की मुख्य-मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी

(1) देश मे चाँदी का रुपया असीमित विधिग्राह्य बना रहना चाहिए और इसके वजन व शुद्धता मे कोई परिवर्तन नही किया जाना चाहिये।

(2) रुपये की विदेशी विनिमय-दर स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण मे 2 शिलिंग की दर पर निश्चित की जानी चाहिए अर्थात् 1 सावरन=10 रुपये होना चाहिए। यदि भारत की विनिमय दर 2 शिलिंग स्वर्ण से नीचे गिर जाय तो ऐसी दशा मे भारत सरकार को रिवर्स काउन्सिल बिल्स बेचने चाहिए। कमेटी के अनुसार रुपये की ऊँची विनिमय-दर निश्चित करने से देश को बहुत-से लाभो की आशा थी—(क) ऊँची विनिमय दर से आन्तरिक कीमत-स्तर के बढ़ने की प्रवृत्ति रुक जायगी। (ख) खाद्य पदार्थों एव कच्चे माल के निर्यात से भारत को ऊँचा मूल्य मिल सकेगा। (ग) ऊँची विनिमय-दर से भारत के निर्यातो पर किसी प्रकार के प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना नही थी, क्योंकि उस समय यूरोप के देशो मे भारतीय माल की माँग काफी तीव्र थी। (घ) ऊँची विनिमय-दर से गृह-व्ययो (Home Charges) मे कमी होने की आशा थी। इन सभी लाभो को ध्यान मे रखते हुए ही कमेटी ने रुपये की विनिमय-दर स्वर्ण मे 2 शिलिंग पर निश्चित करने की सिफारिश की थी। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कमेटी के एक भारतीय सदस्य डी० एम० दलाल (D M Dalal) ने अपने पृथक स्मृति पत्र मे भारतीय रुपये की पुरानी दर 1 शिलिंग 4 पेंस को ही जारी रखने की सिफारिश की थी।

(3) विदेशी भुगतानो के लिए सरकार को एक कोष मे अधिक से अधिक मात्रा मे स्वर्ण जमा करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े तो भारत मे सावरनो की ढलाई सीमित मात्रा मे की जानी चाहिए। परन्तु सरकार सावरनो के बदले मे रुपये देने के लिए बाध्य नही होनी चाहिए। सोने-चाँदी के आयात-निर्यात पर सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिये जाने चाहिए।

(4) रुपयों की ढलाई से होने वाले लाभ को पहले की तरह स्वर्णमान कोष मे जमा करना चाहिए। इस कोष का 50 प्रतिशत भाग भारत मे ही रखा जाना चाहिए।

(5) आरक्षित कागजी मुद्रा की मात्रा पहले की भाँति 120 करोड़ रुपये निश्चित की जानी चाहिए। कागजी मुद्रा की मात्रा का 40 प्रतिशत भाग धातु कोष के रूप मे होना चाहिए। कागजी मुद्रा-कोष का सोना चाँदी भारत मे ही रखा जाना चाहिए।

(6) काउन्सिल बिल्स तथा रिवर्स काउन्सिल बिल्स की व्यवस्था जारी रहनी चाहिए। इस प्रकार बैबिंगटन स्मिथ कमेटी ने स्वर्ण विनिमय मान को जारी रखने की ही सिफारिश की थी।

सरकार की कार्यवाही—सरकार ने कमेटी की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और फरवरी 1920 मे रुपये की विनिमय दर 2 शिलिंग स्वर्ण (2 S Gold) घोषित कर दी गयी। परन्तु रुपये की विनिमय-दर 2 शिलिंग स्वर्ण निश्चित कर देने के उपरान्त भारत मे रिवर्स काउन्सिल बिल्स की माँग बहुत बढ़ गई थी। इसका कारण यह था कि इस ऊँची दर पर भारतीय व्यापारियो के लिए ब्रिटेन से माल का आयात करना बहुत लाभदायक हो गया था। परिणामत ब्रिटेन से भारत के आयात अधिकाधिक मात्रा मे बढ़ते चले गये। सरकार ने रिवर्स काउन्सिल बिल्स की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए भरसक प्रयत्न किये यद्यपि उसको ऐसा करने मे भारी हानि सहन करनी पड़ी। परन्तु रिवर्स काउन्सिल बिल्स की माँग इतनी बढ़ गई थी कि अन्तत भारत सरकार ने उसे पूरा करने मे अपनी असमर्थता प्रकट कर दी और इस प्रकार रुपये की विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था। दूसरे शब्दो मे, अब सरकार ने रुपये की विनिमय दर को नियन्त्रित करने का प्रयत्न ही छोड़ दिया और विनिमय दर धीरे-धीरे और नीचे गिरती चली गयी। परिणामत सरकारी दर और बाजारी दर मे अन्तर उत्पन्न हो गया। इससे भारतीय व्यापारियो को अत्यधिक हानि सहनी पड़ी। परन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न रह सकी। धीरे धीरे रुपये की विनिमय दर मे सुधार होना शुरू हुआ। अक्टूबर 1924 को रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस स्टर्लिंग या 1 शिलिंग 4 पेंस स्वर्ण हो गयी थी। जैसा विदित है अप्रैल 1925 मे ब्रिटेन ने पुन स्वर्णमान को अपना लिया था। इससे स्टर्लिंग और स्वर्ण का मूल्य

एक समान हो गया, अर्थात् 1 शिलिंग 6 पेंस स्टर्लिंग अब 1 शिलिंग 6 पेंस स्वर्ण के बराबर हो गया था। इस प्रकार भारतीय रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर स्थिर हो गयी थी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **प्रथम महायुद्ध से पूर्व भारत में स्वर्ण विनिमय मान के कार्यवाहन का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।** (आगरा, 1957)

   [संकेत—यहाँ पर यह बताइए कि फाउलर कमेटी ने भारत के लिए स्वर्ण मुद्रामान की सिफारिश की थी परन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण यह स्वर्ण मुद्रामान, स्वर्ण विनिमय मान में परिवर्तित हो गया था। तदुपरान्त, स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएँ बताते हुए इसकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालिए। स्वर्ण विनिमय मान की त्रुटियों का भी वर्णन कीजिए।]

2. **स्वर्ण विनिमय मान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। उन परिस्थितियों को बताइए जिनके कारण इसे अपनाया गया था। प्रथम महायुद्ध के समय इसके टूटने के कारणों पर प्रकाश डालिए।** *(राजस्थान, 1952)*

   [संकेत – प्रथम भाग में, स्वर्ण विनिमय मान की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग में, यह बताइए कि फाउलर कमेटी ने भारत के लिए स्वर्ण मुद्रामान की सिफारिश की थी। चूँकि ब्रिटिश सरकार ने शाही टकसाल की शाखा खोलने की अनुमति नहीं दी थी, इसलिए भारत में सोने के सिक्के ढलवाने की योजना रद्द कर दी गयी। परिणामत यह स्वर्ण मुद्रामान के बजाय स्वर्ण विनिमय मान हो गया था। तीसरे भाग में, यह बताइए कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान स्वर्ण विनिमय मान के टूटने का मुख्य कारण चाँदी के मूल्य में होने वाली भारी वृद्धि था।]

25

भारतीय मुद्रा तथा विनिमय का इतिहास (2)

(History of Indian Currency and Exchange-2)

(From 1925 to 1939)

जैसा पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है, सन् 1920 मे भारत सरकार ने रुपये की विनिमय-दर को 2 शिलिंग स्वर्ण पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह प्रयत्न सफल न हो सका क्योकि सरकार रिवर्स कार्उन्सिल बिलो की बढी हुई मांग को पूरा करने मे असमर्थ रही थी। अन्त मे, सरकार ने रुपये की विनिमय-दर को स्वतन्त्र छोड दिया और यह अब विदेशी विनिमय की मांग व पूर्ति की शक्तियो से निर्धारित होने लगी। अनेक उतार-चढाव के उपरान्त सन् 1925 मे भारत की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर स्थिर हो गयी थी। अब सरकार को भारतीय मुद्रा व्यवस्था की नयी स्थिति की जांच करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अत अगस्त 1925 मे हिल्टन यग (Hilton Young) की अध्यक्षता मे एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन को तीन बातो का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया गया था—(क) स्वर्ण विनिमय मान की कार्य प्रणाली की जांच करना तथा देश मे किसी उचित एव स्थिर मुद्रा प्रणाली की सिफारिश करना। (ख) मुद्रा एव बैंकिंग पद्धति मे समन्वय स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करना तथा भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के बारे मे सुझाव देना। (ग) भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर के बारे मे सुझाव प्रस्तुत करना।

हिल्टन यग कमीशन ने भारत की तत्कालीन मुद्रा प्रणाली मे निम्नलिखित दोषो की ओर ध्यान आकर्षित किया था :

(1) मुद्रा-प्रणाली की जटिलता—भारत की मुद्रा-प्रणाली अत्यन्त जटिल थी और साधारण व्यक्ति इसे समझने मे असमर्थ थे। यह प्रणाली प्राय चाँदी के अन्तरराष्ट्रीय मूल्य पर ही निर्भर करती थी। यदि किसी समय चाँदी के मूल्य मे परिवर्तन हो जाता था तो इससे मुद्रा व्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाती थी।

(2) लोच का अभाव (Lack of Elasticity)—इस व्यवस्था मे लोच का अभाव हुआ करता था। इसका कारण यह था कि देश की मौद्रिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा का विस्तार व सकुचन नही होता था।

(3) कोषों का दुहराव (Duplication of Reserves)—इस प्रणाली को चलाये रखने के लिए आवश्यक रूप मे दो कोषो की आवश्यकता पडती थी। कागजी मुद्रा-कोष (Paper Currency Reserve) भारत मे और स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve) लन्दन मे रखा जाता था। इस प्रकार इन कोषो मे बहुत बडी मात्रा मे सोना बेकार पडा रहता था। इसके अलावा, इन कोषो के उपयोग के बारे मे बनाये गये नियमो मे भी समय समय पर परिवर्तन किये जाते थे।

(4) स्वयचालकता का अभाव (Lack of Automaticity)—इस प्रणाली मे स्वय चालकता का भी अभाव हुआ करता था। इसे चालू रखने के लिए सरकार का हस्तक्षेप करना पडता था।

(5) मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण का विभाजित उत्तरदायित्व—इस प्रणाली के अन्तर्गत साख तथा मुद्रा पर दो अलग-अलग एजेन्सियो का नियन्त्रण हुआ करता था। मुद्रा की मात्रा को सरकार नियन्त्रित किया करती थी, किन्तु साख की मात्रा का नियमन इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) द्वारा किया जाता था। इस प्रकार इस विभाजित उत्तरदायित्व के फलस्वरूप रुपये के मूल्य मे स्थिरता स्थापित करना कठिन हो गया था।

(6) ब्रिटेन पर निर्भरता—इस प्रणाली को चालू रखने के लिए भारत को ब्रिटेन पर निर्भर रहना पडता था। इसका कारण यह था कि भारतीय मुद्रा सोने से सम्बन्धित न होकर, स्टर्लिंग के साथ जुडी हुई थी। अत ब्रिटेन मे होने वाले आर्थिक परिवर्तनो का भारत की अर्थ व्यवस्था पर भी प्रभाव पडता था।

इन्ही कारणो से स्वर्ण-विनिमय मान प्रणाली भारत के लिए अनुपयुक्त समझी गयी थी।

मुद्रामान के सम्बन्ध मे हिल्टन यग कमीशन की सिफारिशें—हिल्टन यग कमीशन ने भारत के लिए निश्चित एव स्थिर मुद्रा प्रणाली की सिफारिश करने हेतु विभिन्न प्रकार के मुद्रामानों का अध्ययन किया था।

(1) **स्वर्ण विनिमय मान** (Gold Exchange Standard)—यद्यपि स्वर्ण विनिमय मान भारत मे काफी समय तक प्रचलित रहा था किन्तु हिल्टन यग कमीशन ने इसे अपनाने की सिफारिश नही की थी। इसका कारण यह था कि स्वर्ण विनिमय मान प्रणाली मे, जैसा ऊपर बताया गया है अनेक प्रकार के दोष पाये जाते थे। अत कमीशन ने यह मत व्यक्त किया था कि भारत को स्वर्ण विनिमय मान किसी भी दशा मे नही अपनाना चाहिए।

(2) **स्टर्लिंग विनिमय मान** (Sterling Exchange Standard)—इस मान के अन्तर्गत देश की मुद्रा को ब्रिटेन की मुद्रा स्टर्लिंग के साथ जोड दिया गया था। अर्थात् मुद्राधिकरण रुपयों के बदले मे स्टर्लिंग और स्टर्लिंग के बदले मे रुपये बेचता था। परन्तु हिल्टन यग कमीशन ने इस मान को भारत के लिए अनुपयुक्त बताया। इसके दो मुख्य कारण थे—प्रथम, स्टर्लिंग विनिमय मान मे भी वे सभी दोष पाये जाते थे जो स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होते थे। दूसरे इस मान के अन्तर्गत भारत की मुद्रा-प्रणाली ब्रिटेन पर पूर्णत निर्भर होने लगती थी। अतएव हिल्टन यग कमीशन ने स्टर्लिंग विनिमय मान को भी अस्वीकार कर दिया था।

(3) **स्वर्ण विनिमय मान** (Gold Currency Standard)—श्री एच० डैनिंग (H Denning) जो उस समय भारत के उच्च मुद्राधिकारी थे, ने हिल्टन यग कमीशन के सामने स्वर्ण मुद्रामान की योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अन्तर्गत 10 वर्ष की अवधि मे पूर्णरूप से स्वर्ण सिक्कों को चलन मे लाने का सुझाव प्रस्तुत किया गया था। यह भी सुझाव दिया गया था कि रुपये की विनिमय-दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर निर्धारित किया जाय। इसके अतिरिक्त कागजी मुद्रा का प्रबन्ध इम्पीरियल बैंक को सौंप दिया जाय। परन्तु हिल्टन यग कमीशन ने श्री डैनिंग की इस योजना को अस्वीकार कर दिया क्योकि कमीशन के अनुसार इसमे दो मुख्य दोष निहित थे प्रथम निर्धन देश होने के नाते स्वर्ण मुद्रामान को क्रियान्वित करने के लिए भारत के पास पर्याप्त मात्रा मे सोना नही था। दूसरे, इस मान के अपनाये जाने पर सोने के मूल्य बढने तथा चाँदी के मूल्य के घटने की सम्भावना थी। इससे भारतीयो को काफी आर्थिक हानि हो सकती थी।

(4) **स्वर्ण मात्रामान** (Gold Bullion Standard)—हिल्टन यग कमीशन ने भारत की तत्कालीन स्वर्ण विनिमय मान पद्धति को समाप्त करके इसके स्थान पर स्वर्ण मात्रामान अपनाने की सिफारिश की थी। इसका उद्देश्य भारतीय मुद्रा तथा सोने मे वास्तविक एव प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना था। इस मुद्रामान की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थी—(क) सोने के सिक्को अर्थात् सावरनो तथा अर्द्ध-सावरनो को प्रचलन से हटा दिया जायगा। (ख) प्रचलन मे केवल चाँदी का रुपया तथा कागजी नोट ही रहेंगे। (ग) देश मे भारत सरकार द्वारा एक रुपये के नोट दुबारा जारी किये जायेंगे। ये पूर्णत विधिग्राह्य होगे। परन्तु इन्हें रुपये के सिक्कों में बदला नही जा सकेगा। इसके अतिरिक्त, उस समय प्रचलित सभी प्रकार के नोट कानूनी ग्राह्य मुद्रा म परिवर्तनीय रहेगे। (घ) मुद्रा के मूल्य मे स्थायित्व लाने के लिए कागजी मुद्रा को सोने मे परिवर्तनीय रखा जायगा। भारत सरकार निश्चित दर पर किसी भी सीमा तक 400 औंस अथवा

1065 तोले वाली सोने की सलाखो को बेचने व खरीदने की व्यवस्था करेगी (ड) कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि तत्कालीन निश्चित आरक्षित नोट निर्गमन प्रणाली (Fixed Fiduciary System) को हटाकर इसके स्थान पर आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) को अपनाया जाना चाहिए। उस समय तक स्वर्णमान कोष तथा कागजी मुद्रा कोष अलग अलग रखे जाते थे। कमीशन ने यह सुझाव दिया कि इन दोनो को मिलाकर एक कोष बना देना चाहिए और इस कोष मे स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ 40 प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए तथा शेष 60 प्रतिशत भाग भारत सरकार की रुपयो की प्रतिभूतियो (Rupee Securities) एव व्यापारिक बिलो के रूप मे होना चाहिए।

हिल्टन यग कमीशन के एकमात्र भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कमीशन के इस सुझाव का विरोध किया कि भारत मे स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर स्वण मात्रामान की स्थापना की जाय। उन्होने भारत के लिए स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्ण मुद्रामान की स्थापना का सुझाव दिया था। उनका यह मत था कि भारत मे सोने के सिक्को का वास्तविक प्रचलन करना आवश्यक है। परन्तु जैसा आगे चलकर बताया जायगा भारत सरकार ने सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के मत को ठुकराकर कमीशन की बहुमतीय सिफारिश को ही स्वीकार किया था।

विनिमय दर के सम्बन्ध मे हिल्टन यग कमीशन की सिफारिशें—*हिल्टन यग कमीशन ने* यह सिफारिश की थी कि भारतीय रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस निर्धारित की जाय परन्तु कमीशन की उपर्युक्त सिफारिश के परिणामस्वरूप भारत मे उस समय एक भारी विवाद उत्पन्न हो गया था। भारत सरकार तथा उनके समर्थक 1 शिलिंग 6 पेंस के पक्ष मे थे जबकि भारतीय व्यापारी, उद्योगपति, व्यवसायी तथा राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री (*Nationalist Economists*) 1 शिलिंग 4 पेंस के पक्ष मे थे। यह विवाद काफी समय तक भारत मे प्रचलित रहा।

1 शिलिंग 6 पेंस के पक्ष मे प्रस्तुत किये गये तर्क (Arguments in Favour of 1s-6d)—सन 1927 मे भारत सरकार के वित्तमन्त्री सर बेसिल ब्लैकेट (Sir Basil Blackett) ने 1 शिलिंग 6 पेंस की दर के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये थे

(1) **1 शिलिंग 6 पेंस भारत की स्वाभाविक एव प्राकृतिक दर थी**—सर बेसिल ब्लैकेट का कहना था कि 1 शिलिंग 6 पेंस भारत की स्वाभाविक एव प्राकृतिक दर थी, क्योकि सन् 1925 से ही रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर स्थिर रही थी। अतएव इस दर को बनाये रखना देश के हित मे था। इस दर पर भारतीय कीमतो का विश्व कीमतो से समन्वय हो चुका था। ऐसी परिस्थिति मे रुपये की विनिमय दर को 1 शिलिंग 4 पेंस पर निर्धारित करने का परिणाम यह होता है कि भारतीय कीमतें अन्य देशो की कीमतो की तुलना मे नीचे गिर जाती और उन्हे विश्व के स्तर पर उठाने के लिए भारत सरकार को मुद्रा स्फीति की नीति अपनानी पडती। इससे भारतीय मजदूरो एव उपभोक्ताओ को बहुत क्षति उठानी पडती।

(2) 1 शिलिंग 6 पेंस पर देश की अर्थ व्यवस्था मे समायोजन (adjustment) **हो चुका था**—1 शिलिंग 6 पेंस की दर के पक्ष मे दूसरा तर्क यह दिया गया था कि इस दर पर भारतीय अर्थ व्यवस्था का समायोजन हो चुका था। दूसरे शब्दो मे, मजदूरियाँ, कीमतें तथा लागतें इसी दर के अनुसार निश्चित हो चुकी थी। यदि इस दर को बदल दिया जाता तो इससे देश का आर्थिक सन्तुलन नष्ट हो जाता। मुद्रा बाजार मे अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता और देश मे लगभग 12 प्रतिशत की कीमत-वृद्धि हो जाती। उससे मजदूरो की असल मजदूरी कम हो जाती और देश मे औद्योगिक अशान्ति फैल जाती।

(3) **1 शिलिंग 6 पेंस पर सरकारी बजट सन्तुलित हो चुके थे**—1 शिलिंग 6 पेंस की दर के पक्ष मे तीसरा तर्क यह दिया गया कि विगत कई वर्षों से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के बजट 1 शिलिंग 6 पेंस के आधार पर बनाये जाते रहे थे। यदि इस दर को बदल दिया जाता तो इससे सरकारी बजटो का सन्तुलन भग होने की आशका थी और सरकार को बजट सम्बन्धी घाटो को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा मे कर लगाने पडते। इससे देश की साख पर बुरा प्रभाव पडता।

(4) **1 शिलिंग 6 पेंस पर भारत की देयताओ मे कमी हो गयी**—1 शिलिंग 6 पेंस के पक्ष मे चौथा तर्क यह प्रस्तुत किया गया कि इससे भारत की ब्रिटेन के प्रति देयताओ (Liabilities) मे कमी हो जायगी। इसके विपरीत, यदि रुपये की दर 1 शिलिंग 4 पेंस निश्चित की जाती तो इससे भारत की देयताओ मे 12 प्रतिशत की वृद्धि हो जाती।

1 शिलिंग 6 पेंस के विपक्ष मे तर्क—हिल्टन यग कमीशन के एकमात्र भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास एव अन्य औद्योगिक तथा व्यापारिक सघो ने 1 शिलिंग 6 पेंस की दर का तीव्र विरोध किया था और इसके स्थान पर 1 शिलिंग 4 पेंस की दर निश्चित करने का समर्थन किया था। 1 शिलिंग 4 पेंस की विनिमय दर के पक्ष मे अथवा 1 शिलिंग 6 पेंस के विपक्ष मे दिये गये तर्क इस प्रकार थे।

(1) **1 शिलिंग 6 पेंस भारत की प्राचीन दर नहीं थी**—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का कहना था कि 1 शिलिंग 6 पेंस भारत की प्राचीन एव परम्परागत दर नही थी। यह तो केवल सन् 1925 से ही स्थिर हुई थी जबकि उससे पहले लगभग 20 वर्ष तक 1 शिलिंग 4 पेंस की दर ही प्रचलित रही थी। अत 1 शिलिंग 6 पेंस की दर को प्राकृतिक एव स्वाभाविक दर नही कहा जा सकता था।

(2) **सन् 1914 तथा सन् 1926 के कीमत-स्तरो मे समानता**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया गया था कि भारत मे सन् 1926 का कीमत स्तर सन् 1914 के कीमत स्तर के बराबर ही था। इस प्रकार सन् 1926 मे रुपये की विनिमय दर वही होनी चाहिए थी जो सन् 1914 मे थी। स्मरण रहे कि सन 1914 मे रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 4 पेंस थी। इसके अलावा, यह भी कहा गया था कि प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त लगभग सभी देशो ने युद्धपूर्व की विनिमय दर से ऊँची दर निश्चित करना उचित नही समझा था। तब भारत युद्धपूर्व की विनिमय-दर से ऊँची विनिमय-दर क्यो निश्चित करे।

(3) **1 शिलिंग 6 पेंस की दर के कारण भारत के आयातों को प्रोत्साहन मिलेगा जिसके परिणामस्वरूप स्वदेशी उद्योगो को हानि उठानी पडेगी**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरुद्ध तीसरा तर्क यह दिया गया था कि इससे भारत मे आयात किया गया माल सस्ता हो जायगा और इसके परिणाम स्वरूप भारतीय उद्योगो को विदेशो की कडी प्रतियोगिता का मुकाबला करना कठिन हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति मे सरकार द्वारा अपनायी गयी विवेकात्मक सरक्षण नीति निरर्थक हो जायगी और देश का औद्योगिक विकास रुक जायगा।

(4) **1 शिलिंग 6 पेंस की दर से देश के निर्यातों मे कमी हो जायगी**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरुद्ध चौथा तर्क यह दिया गया था कि इससे भारत के निर्यात कम हो जायेंगे और परिणामत भारतीय किसानो एव उत्पादको को आर्थिक हानि उठानी पडेगी जबकि ब्रिटेन के आयातकर्ताओ को इससे लाभ होगा। इस प्रकार 1 शिलिंग 6 पेंस की दर पर भारत का व्यापार-सन्तुलन प्रतिकूल हो जायगा।

(5) **1 शिलिंग 6 पेंस से सोने के निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरुद्ध यह भी कहा गया कि इस प्रकार ऊँची दर को स्थिर बनाये रखने के लिए सोने का निर्यात करना आवश्यक हो जायगा। परिणामत देश के स्वर्ण-कोषो मे कमी होने की सम्भावना थी। इस प्रकार भारत जो प्राचीन समय से ही सोने का आयात करता चला आ रहा था, सोने का निर्यातक बन जायेगा।

(6) **1 शिलिंग 6 पेंस से मुद्रा अवस्फीति की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरोध मे यह भी कहा गया था कि ऊँची दर को स्थिर बनाये रखने के लिए देश मे पर्याप्त मात्रा मे मुद्रा का सकुचन करना पडेगा। इससे किसानो, ऋणियो तथा मजदूरो पर अनिवार्य रूप मे बुरा प्रभाव पडेगा और देश की आर्थिक प्रगति धीमी पड जायगी।

(7) **1 शिलिंग 6 पेंस एक अवास्तविक दर थी**—1 शिलिंग 6 पेंस के विरुद्ध यह तर्क भी दिया गया कि यह दर कृत्रिम एव अवास्तविक थी क्योकि इसको स्थिर बनाये रखने के लिए सरकार को बहुत बडे पैमाने पर हस्तक्षेप करना पडता था। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा गया कि चूँकि 1 शिलिंग 6 पेंस की दर केवल दो वर्ष तक ही प्रचलित रही थी, इसलिए देश का कीमत-

स्तर, लागतें, ब्याज व मजदूरियाँ इसके साथ सन्तुलित नहीं हो सकती थी। इस प्रकार 1 शिलिंग 4 पेंस की पुरानी दर को पुन: अपनाने पर देश की अर्थ-व्यवस्था मे किसी प्रकार का असन्तुलन उत्पन्न होने की सम्भावना नही थी।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि 1 शिलिंग 4 पेंस की विनिमय-दर ही भारत के आर्थिक हितो के अनुकूल थी। परन्तु भारत सरकार ने सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास के उपर्युक्त तर्कों को अस्वीकार कर दिया और मार्च 1927 मे करेंसी एक्ट के अन्तर्गत देश मे 1 शिलिंग 6 पेंस की विनिमय-दर को ही क्रियान्वित किया।

मुद्रा तथा साख नियन्त्रण सम्बन्धी सिफारिशें—हिल्टन यंग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे तत्कालीन मुद्रा तथा साख-नियन्त्रण सम्बन्धी व्यवस्था को बहुत ही असन्तोषजनक बताया था। उसका कहना था कि मुद्रा तथा साख का नियन्त्रण एक ही एजेन्सी द्वारा किया जाना चाहिए। परन्तु उस समय मुद्रा का नियन्त्रण भारत सरकार के हाथो मे और साख नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक के हाथो मे था। इसके कारण मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीतियो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नही था। यही कारण था कि विनिमय की दर मे स्थिरता स्थापित करना कठिन हो गया था। अत हिल्टन यंग कमीशन का यह सुझाव था कि मुद्रा तथा साख सम्बन्धी नीतियो मे समन्वय स्थापित करने हेतु भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। कमीशन ने इसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रखने का प्रस्ताव किया था और यह भी सुझाव दिया था कि मुद्रा तथा साख सम्बन्धी कार्य इस प्रस्तावित बैंक को सौंप दिये जायँ। परन्तु सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कमीशन के इस सुझाव का भी विरोध किया और कहा कि देश मे एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता नही थी। उनका यह विचार था कि तत्कालीन इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य सौंपे जा सकते थे।

हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही—जैसा ऊपर कहा गया है, भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की बहुमतीय रिपोर्ट (Majority Report) को स्वीकार कर लिया और उसे कार्यरूप देने के लिए मार्च 1927 मे एक करेंसी एक्ट पास किया। यह एक्ट 1 अप्रैल 1927 से लागू हुआ। इस एक्ट की मुख्य मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी (क) भारतीय रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस निश्चित कर दी गयी। (ख) भारत सरकार ने 21 रुपये 3 आने 10 पाई प्रति तोला के हिसाब से किसी भी सीमा तक 40 तोले अथवा 15 औंस से अधिक की सोने की सलाखें खरीदने और कागजी मुद्रा के बदले 21 रुपये 2 आने 10 पाई प्रति तोला के हिसाब से कम से कम 1065 तोले अथवा 400 औंस सोना 1 शिलिंग $5\frac{49}{64}$ पेंस की दर पर लन्दन मे तुरन्त भुगतान के लिए स्टर्लिंग बेचने की व्यवस्था की। (ग) भारत सरकार ने सावरनों एवं अर्द्ध-सावरनों को प्रचलन से हटा दिया, परन्तु इन्हे सरकारी खजानो मे 13 रुपये 5 आने 4 पाई प्रति सावरन की दर पर खरीदने की व्यवस्था की। चूंकि रिजर्व बैंक की स्थापना के सम्बन्ध मे देश मे तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया था, इसलिये हिल्टन यंग कमीशन की इस सिफारिश को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया।

जैसा पूर्व कहा गया है, हिल्टन यंग कमीशन ने भारत मे स्वर्ण मात्रामान (Gold Bullion Standard) स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु सन् 1927 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत देश मे स्वर्ण मात्रामान के स्थान पर स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) की स्थापना हो गयी थी। इसका कारण यह था कि सन् 1927 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत कागजी मुद्रा के बदले मे भारत सरकार के लिए सोना देना अनिवार्य नहीं था। भारत सरकार कागजी मुद्रा के बदले मे सोना अथवा स्टर्लिंग दे सकती थी। चूंकि व्यवहार मे भारत सरकार ने कागजी मुद्रा के बदले मे सोना नही दिया, अतएव इस कानून के अन्तर्गत भारत मे स्वर्ण मात्रामान स्थापित नही किया जा सका, यद्यपि हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण मात्रामान की ही सिफारिश की थी। इस प्रकार सन् 1927 के कानून के परिणामस्वरूप भारत मे उस स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हो गयी जिसे कमीशन ने दोषयुक्त कहकर अस्वीकार कर दिया था।

स्टर्लिंग विनिमय मान (सन् 1931 से सन् 1947 तक)—जैसा ऊपर कहा गया है, सन् 1927 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत भारत मे स्वर्ण मात्रामान के बजाय स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हो गई थी। इसका कारण यह था कि व्यवहार मे सरकार ने कागजी मुद्रा

के बदले मे सोना देने के बजाय स्टर्लिंग देना स्वीकार किया था। इस प्रकार देश का मुद्रामान वास्तव मे स्टर्लिंग विनिमय मान हो गया था, यद्यपि कानून के अन्तर्गत यह अब भी स्वर्ण मानामान ही कहलाता था। परन्तु 21 सितम्बर 1931 को भारत का मुद्रामान सैद्धान्तिक रूप मे भी स्टर्लिंग विनिमय मान हो गया था। अर्थात् इस तिथि के उपरान्त भारत का मुद्रामान सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक रूप मे स्टर्लिंग विनिमय मान हो गया था। जैसा विदित है, 21 सितम्बर, 1931 को ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था। परिणामत स्टर्लिंग का सोने से सम्बन्ध टूट गया था और स्टर्लिंग अब सोने मे परिवर्तनशील नही रहा था। चूंकि भारतीय रुपया भी स्टर्लिंग के साथ सम्बन्धित था, इसलिए 21 सितम्बर 1931 के बाद भारतीय रुपये का सोने से सम्बन्ध पूर्णत टूट गया था। 21 सितम्बर 1931 से पहले भारतीय रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित था और स्टर्लिंग सोने मे परिवर्तनशील था। परन्तु 21 सितम्बर 1931 के बाद भारतीय रुपये का भी सोने के साथ सम्बन्ध पूर्णत टूट गया। अतएव भारत सरकार ने सन् 1927 के करेंसी एक्ट की उस व्यवस्था को स्थगित कर दिया जिसके अन्तर्गत सरकार रुपये के बदले में सोना दे सकती थी। इस प्रकार 21 सितम्बर, 1931 के बाद भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से 1 शिलिंग 6 पेंस की दर पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया था तब से गया था विधिवत रूप से मे भारत स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हो गयी थी

स्टर्लिंग विनिमय मान के पक्ष मे तर्क सितम्बर 1931 मे जब भारतीय रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित कर दिया गया था तब इसके परिणामस्वरूप भारत मे एक भारी विवाद शुरू हो गया। कुछ लोगो ने भारत सरकार की इस कार्यवाही की कटु आलोचना की और इस प्रकार रुपये-स्टर्लिंग का गठबन्धन (Rupee Sterling Link) तीव्र विवाद का विषय बन गया था। भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान के पक्ष मे जो तर्क दिये गये थे, वे इस प्रकार थे

(1) **भारतीय रुपये की विनिमय-दर मे स्थिरता**—रुपये स्टर्लिंग के गठबन्धन (Rupee Sterling Link) के समर्थन मे पहला तर्क यह प्रस्तुत किया गया कि इससे भारतीय रुपये की विनिमय-दर मे होने वाले उच्चावचनो को रोकना सम्भव हो सका था। स्टर्लिंग विनिमय मान के समर्थको के अनुसार यदि रुपये को स्टर्लिंग के साथ न जोडा जाता अथवा इसे स्वतंत्र छोड दिया जाता तो इसकी विनिमय-दर मे भारी उतार-चढाव होते जिनसे भारत के विदेशी व्यापार को अपार क्षति पहुँचती।

(2) **रुपये के अवमूल्यन से होने वाला लाभ**—21 सितम्बर, 1931 को ब्रिटेन के द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने पर स्टर्लिंग मुद्रा का स्वर्णमान वाले देशो की मुद्राओ के रूप मे अवमूल्यन हो गया था अर्थात् स्टर्लिंग मुद्रा का विदेशी मूल्य धीरे-धीरे कम होने लगा था। चूंकि भारतीय रुपया स्टर्लिंग से जुडा हुआ था, इसलिए स्टर्लिंग के साथ-साथ भारतीय रुपये का भी अवमूल्यन होना शुरू हो गया था। भारतीय रुपये के इस अवमूल्यन से देश के विदेशी व्यापार को बहुत लाभ हुआ और भारत के निर्यात अधिक मात्रा मे बढ गये।

(3) **गृह व्ययो (Home Charges) के भुगतान मे लाभ**—जैसा विदित है, उस समय प्रतिवर्ष भारत एक बहुत बडी धनराशि ब्रिटेन को गृह-खर्चों के रूप मे भेजा करता था। यह राशि स्टर्लिंग के रूप मे ब्रिटेन को भेजी जाती थी। रुपये स्टर्लिंग के गठबन्धन से इसका भुगतान देश के लिए सुविधाजनक हो गया।

स्टर्लिंग विनिमय मान के विपक्ष मे तर्क—ये इस प्रकार थे।

(1) **स्वर्ण मान वाले देशों से आयातो की कीमतों मे वृद्धि**—जैसा ऊपर कहा गया है, ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने पर स्टर्लिंग मुद्रा का 30 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया था। परिणामत भारतीय रुपये का भी इसी अनुपात मे अवमूल्यन हो गया था। इसके कारण स्वर्णमान वाले देशो से आयात किया गया माल भारत के लिए महगा हो गया था। अब भारत को ऐसे माल पर पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य चुकाना पडता था।

(2) **ब्रिटेन के आर्थिक परिवर्तनों का भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर कुप्रभाव**—रुपये स्टर्लिंग के गठबन्धन के फलस्वरूप ब्रिटेन मे होने वाले आर्थिक परिवर्तनो का भी भारतीय अर्थ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडने लगा। ब्रिटेन की कीमतो मे होने वाले परिवर्तनो का भारतीय कीमतों पर भी प्रभाव पडने लगा। दूसरे शब्दो मे, भारत की जो थोडी बहुत आर्थिक स्वतन्त्रता थी, वह भी अब

समाप्त हो गयी और भारत पूरी तरह से ब्रिटेन की राजनीतिक तथा आर्थिक दासता के शिकंजे मे फँस गया।

(3) सोने का निर्यात—रुपये-स्टर्लिंग के गठबन्धन का सबसे भयानक परिणाम यह निकला कि इसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर भारत से सोने का निर्यात होने लगा। इसका कारण यह था कि स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो गया था (अर्थात् सोने की कीमतें बढ गयी थी) और भारत से सोने के निर्यात को प्रोत्साहन मिलने लगा था।

स्टर्लिंग विनिमय मान के परिणाम (सन् 1931 से सन् 1939 ई० तक)—जैसा ऊपर कहा गया है—सितम्बर 1931 मे भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना हो गयी थी। सितम्बर 1931 से लेकर सितम्बर 1939 तक (अर्थात् दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व) भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थीं

1. **सोने का निर्यात (Gold Exports)**—सितम्बर 1931 से पहले भारत बड़े पैमाने पर विदेशो से सोने का आयात किया करता था। परन्तु सितम्बर 1931 के बाद भारत बड़े पैमाने पर सोने का निर्यात करने लगा था। कहा जाता है कि सन् 1931 से लेकर सन् 1939 तक भारत ने लगभग 362 करोड़ रुपये के मूल्य के सोने का विदेशो को निर्यात किया था। वास्तव मे, भारत के आर्थिक इतिहास मे यह एक अभूतपूर्व घटना थी, क्योंकि शताब्दियो से भारत सोने का आयात करता चला आ रहा था। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सन् 1931 के बाद भारत से इतने बड़े पैमाने पर सोने का निर्यात क्यो किया गया था ? इसके कारण निम्नलिखित हैं

(क) देश मे महामन्दी का प्रभाव—जैसा विदित है, सन् 1930 म समूचे विश्व मे मन्दी छा गयी थी परन्तु इस मन्दी के कारण औद्योगिक देशों की अपेक्षा कृषि प्रधान देशो को अधिक हानि हुई थी। इसका कारण यह था कि मन्दी के कारण औद्योगिक वस्तुओ की कीमतें कृषि पदार्थों की अपेक्षा कम गिरी थी। अतएव भारत जैसे देश का व्यापार सन्तुलन बहुत कम अनुकूल रह गया था क्योंकि भारत के आयातो का मूल्य इतना नही घटा था जितना कि भारत के निर्यातो का, अत भारत की विनिमय-दर को स्थिर बनाये रखने के लिये निर्यातो के मूल्य की इस कमी को सोने के निर्यात द्वारा पूरा किया गया था।

(ख) रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन—जैसा ऊपर कहा गया है—रुपये स्टर्लिंग के गठबन्धन के फलस्वरूप भारतीय रुपये का स्वर्ण के रूप मे मूल्य कम हो गया, अर्थात भारतीय सोने की कीमत बढ गयी थी। अतएव भारतीयो ने सोने की इस बढी हुई कीमत का लाभ उठाने हेतु बड़े पैमाने पर सोने को बेचना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि कुछ व्यक्तियो न अपने आभूषणो तक को बेच डाला।

(ग) साधारण जनता की दयनीय स्थिति—महामन्दी के कारण भारत की साधारण जनता की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी। विशेषकर किसानो तथा व्यापारियो को बहुत आर्थिक क्षति उठानी पडी थी। बहुतो ने अपने संचित सोने को बेचकर आर्थिक सकट का सामना किया था।

सोने के निर्यात के पक्ष मे तर्क—सन् 1931 मे सोने के निर्यातो के कारण देश मे भारी विवाद उत्पन्न हो गया था। कांग्रेस एव राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियो ने स्वर्ण के निर्यात का तीव्र विरोध किया और सरकार को सोने का निर्यात बन्द करने के लिए कहा गया परन्तु सरकार उस समय सोने के निर्यात को बन्द करने के पक्ष मे नही थी। सरकार ने सोने के निर्यात के समर्थन मे कई तर्क प्रस्तुत किये। इनमे से मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं

(क) किसानो के कष्ट का निवारण—सोने के निर्यात के पक्ष मे प्रस्तुत किया गया पहला तर्क यह था कि यदि सोने के निर्यात को रोक दिया जाता तो इससे गरीब किसानो को बहुत कष्ट होता, क्योंकि ऐसी परिस्थिति मे वे अपने आभूषणो को ऊँचे मूल्यो पर बेचने मे असमर्थ हो जाते। वास्तव मे, सोने के निर्यात से किसानो को आर्थिक सकट का सामना करने मे बहुत सहायता मिली थी।

(ख) अन्य लोगों को लाभ—सोने के निर्यात से किसानो के अलावा अन्य वर्गों को भी लाभ हुआ था, क्योंकि उन्होंने भी अपने संचित सोने को ऊँचे मूल्यो पर बेचा था।

(ग) देश का आर्थिक विकास—बेकार पड़े सोने को बहुत से व्यक्तियो ने ऊँचे मूल्यो पर बेचकर धन को उद्योग धन्धो मे लगाया जिससे देश के आर्थिक विकास मे सहायता मिली थी।

(घ) विदेशी व्यापार में वृद्धि—सोने के निर्यात के फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार में अधिक वृद्धि हुई क्योंकि इसके कारण भारत विदेशों से अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीदने में समर्थ हो सका।

(ङ) स्टर्लिंग देयताओं के भुगतान में आसानी—सोने के निर्यात के कारण देश की स्टर्लिंग मुद्रा की पूर्ति निरन्तर बढ़ती गयी। परिणामतः भारत को अपने स्टर्लिंग दायित्वों (Sterling obligations) का भुगतान करने में आसानी हो गयी।

(च) विनिमय-दर में स्थिरता—यदि देश से सोने का निर्यात न होता तो व्यापार सन्तुलन भारत के विपक्ष में हो जाता। स्टर्लिंग की माँग बढ़ जाती और रुपये की विनिमय-दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर स्थिर बनाये रखना कठिन हो जाता।

अतएव इन तर्कों के आधार पर भारत सरकार ने देश से सोने के निर्यात का समर्थन किया था।

सोने के निर्यात के विपक्ष में तर्क — इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये गये

(क) संचित सोने का देश से बाहर चला जाना—जैसा ऊपर कहा गया है, शताब्दियों से भारत सोने का आयात करता चला आ रहा था, परन्तु सन् 1931 में अपने इतिहास में पहली बार भारत ने सोने का निर्यात करना शुरू कर दिया। इससे देश के स्वर्ण-कोषों में कमी हो गयी और भारत के लिए भविष्य में स्वर्ण मुद्रामान को अपनाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया।

(ख) स्वर्ण निर्यात की नीति एक विचित्र नीति थी भारत सरकार की स्वर्ण निर्यात नीति कुछ विचित्र सी प्रतीत होती थी, क्योंकि भारत एक ऐसे समय पर सोने का निर्यात कर रहा था जबकि विश्व के अन्य देश अपने सोने के कोषों को बढ़ाने की फिराक में थे।

2 **चाँदी का निर्यात** (Silver Exports)—सोने के निर्यात के साथ ही साथ सन् 1931 के बाद भारत से चाँदी का निर्यात भी शुरू हो गया था। सन् 1931 से लेकर सन् 1939 तक चाँदी का यह निर्यात निरन्तर चलता रहा। चाँदी के निर्यात के मुख्य कारण इस प्रकार थे

(क) विदेशों में चाँदी का ऊँचा मूल्य—भारत में चाँदी के निर्यात का मुख्य कारण यह था कि सन् 1931 के उपरान्त विदेशों में चाँदी के भाव बहुत बढ़ गये थे क्योंकि उस समय अमरीका बड़े पैमाने पर चाँदी की खरीद कर रहा था। अतः चाँदी के मूल्य की इस वृद्धि ने भारत से चाँदी के निर्यात को बहुत प्रोत्साहित किया था।

(ख) कागजी नोटों की चाँदी के सिक्कों में अपरिवर्तनशीलता—भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए कागजी नोटों की चाँदी के सिक्कों में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी थी। अतएव अब भारत सरकार को कागजी मुद्रा के पीछे चाँदी कोष रखने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। इसलिए भारत सरकार ने चाँदी को बेचना शुरू कर दिया था।

(ग) चाँदी की खरीद के सम्बन्ध में अन्तरराष्ट्रीय समझौता—जुलाई 1933 में अमरीका, मैक्सिको, कनाडा, पीरू तथा आस्ट्रेलिया में एक अन्तरराष्ट्रीय समझौता हुआ था जिसके अन्तर्गत इन देशों की सरकारों ने बड़े पैमाने पर चाँदी खरीदने का निर्णय किया था। इस समझौते के परिणामस्वरूप चाँदी के विश्व मूल्य में और अधिक वृद्धि हो गयी थी। इसने भारत से चाँदी के निर्यात को और भी अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया था।

चाँदी के निर्यात के परिणाम—सन् 1931 के बाद भारत से बड़े पैमाने पर चाँदी का निर्यात होने से देश को अपार क्षति हुई थी। देश के चाँदी कोष बहुत कम हो गये थे। यहाँ तक कि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भारत सरकार को सिक्कों की ढलाई के लिए चाँदी का अभाव अनुभव होने लगा। अन्ततः उसे विवश होकर विदेशों से पुनः चाँदी खरीदनी पड़ी।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना—हिल्टन यंग कमीशन ने एक केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की सिफारिश की थी। चूँकि इस समय जनता ने इसका विरोध किया था, इसलिए भारत सरकार ने इस प्रश्न को स्थगित कर दिया था। सन् 1931 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने रिजर्व बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। परिणामतः अगस्त 1934 में भारत सरकार ने एक कानून पास करके रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना कर दी थी। 1 अप्रैल 1935 को रिजर्व बैंक ने

अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। रिजर्व बैंक की स्थापना से भारत की मुद्रा व्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जो इस प्रकार हैं (क) इस कानून के अन्तर्गत नोट जारी करने का पूर्ण एकाधिकार रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। (ख) रिजर्व बैंक की स्थापना से मुद्रा तथा साख का नियन्त्रण एक ही केन्द्रीय संस्था के हाथों में केन्द्रित हो गया। जैसा विदित है, रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व मुद्रा का नियन्त्रण सरकार के हाथों में था तथा साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक के हाथों में था। मुद्रा तथा साख का यह विभाजित उत्तरदायित्व भारतीय मुद्रा प्रणाली का एक बहुत बड़ा दोष था परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना से अब यह दोष दूर हो गया। (ग) भारत में रखे जाने वाले विभिन्न कोषों का केन्द्रीयकरण कर दिया गया। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व कागजी मुद्रा कोष (*Paper Currency Reserve*) तथा स्वर्णमान कोष (Gold Standard Reserve) अलग अलग हुआ करते थे। परन्तु अब दोनों को मिलाकर एक नये कोष का निर्माण किया गया। इसी प्रकार सभी बैंकिंग संस्थाओं के समस्त कोष रिजर्व बैंक में केन्द्रित हो गये। (घ) रिजर्व बैंक, बैंकों के बैंक एवं सरकारी बैंक के रूप में कार्य करने लगा। (ङ) रिजर्व बैंक पर भारतीय रुपये की विनिमय-दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर स्थिर रखने की जिम्मेदारी डाली गयी। परिणामतः रिजर्व बैंक 1 शिलिंग $6\frac{3}{16}$ पेंस की दर पर स्टर्लिंग बेचता था और 1 शिलिंग $5\frac{49}{64}$ पेंस प्रति रुपये की दर पर स्टर्लिंग खरीदता था।

क्या भारत की मुद्रा प्रणाली का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार ही हुआ था ?—जैसा पहले कहा जा चुका है, भारत सरकार ने सन् 1927 का करेंसी एक्ट पास करके हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था।

(क) सन् 1927 के कानून के अन्तर्गत सैद्धान्तिक रूप में स्वर्ण मात्रामान की स्थापना कर दी गयी थी। (ख) हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने सन् 1933 में रिजर्व बैंक की स्थापना करके मुद्रा तथा साख का नियन्त्रण उसे सौंप दिया था। (ग) कमीशन की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने रुपये का विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर निश्चित कर दी थी। इस प्रकार भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की सभी महत्वपूर्ण सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था परन्तु इसके बावजूद भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार ठीक ढंग से न हो सका। इसके दो मुख्य कारण थे

(1) **रुपये तथा सोने के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अभाव**—जैसा ऊपर कहा गया है हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये तथा स्वर्ण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की थी अर्थात रुपये को प्रत्यक्ष रूप में बदलने की सिफारिश की थी। इस प्रकार कमीशन का उद्देश्य भारत में स्वर्ण मात्रामान (Gold Bullion Standard) स्थापित करना था। परन्तु सन् 1927 के करेंसी एक्ट के अन्तर्गत सरकार ने कागजी मुद्रा के बदले में स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग देना स्वीकार किया था। दूसरे शब्दों में सरकार कागज मुद्रा के बदले में केवल स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग देने के लिए *स्वतन्त्र थी परन्तु व्यवहार में सरकार ने कागजी मुद्रा के बदले में केवल स्टर्लिंग देना ही स्वीकार* किया था। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) की स्थापना हो गयी यद्यपि कानून के अन्तर्गत भारत का मुद्रामान स्वर्ण मात्रामान ही था। स्मरण रहे यह वही स्टर्लिंग विनिमय मान था जिसे असन्तोषजनक बताकर कमीशन ने रद्द कर दिया था। स्पष्ट है कि भारत की मुद्रा प्रणाली का विकास कमीशन की सिफारिशों के अनुसार न हो सका।

(2) **रुपये की विनिमय दर में परिवर्तनशीलता का अभाव**—हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस पर निश्चित करने की सिफारिश की थी और भारत सरकार ने भी इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया था। परन्तु कमीशन ने इस प्रकार का कोई सुझाव नहीं दिया था कि यह विनिमय-दर सभी प्रकार की परिस्थितियों में 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही स्थिर रखी जाय। इसके विपरीत भारत सरकार ने स्टर्लिंग के मूल्य-ह्रास (Depreciation) के उपरान्त भी रुपये की विनिमय-दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही बनाये रखा। स्पष्ट है कि भारत सरकार की यह कार्यवाही हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के विरुद्ध थी। स्टर्लिंग के मूल्य ह्रास के फलस्वरूप भारत सरकार को रुपये की विनिमय दर में परिवर्तन कर देना चाहिए

था। परन्तु भारत सरकार ने अनेक प्रकार के उपाय करके रुपये की विनिमय दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही बनाये रखा। इससे देश को अपार आर्थिक क्षति हुई। अत हम यह कह सकते हैं कि भारतीय मुद्रा प्रणाली का विकास हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशो के अनुसार नहीं हुआ था।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. सन् 1927-39 के बीच भारतीय मुद्रा प्रणाली की मुख्य घटनाओ का वर्णन करिए। (आगरा, 1960)

[संकेत—यहाँ पर पहले हिल्टन यंग कमीशन की मुख्य सिफारिशो का संक्षेप मे वर्णन करिए। तदुपरान्त, यह बताइए कि भारत सरकार ने कमीशन की सिफारिशो को पूर्णरूप मे स्वीकार न करके, भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान की स्थापना की थी। स्टर्लिंग विनिमय मान की विशेषताओ का वर्णन करते हुए इसके पक्ष एवं विपक्ष मे दिये गये तर्कों की चर्चा कीजिए। इसके बाद यह बताइए कि स्टर्लिंग विनिमय मान के परिणामस्वरूप किस प्रकार सन् 1931 के बाद भारत से बड़े पैमाने पर सोने का निर्यात आरम्भ हुआ था। सोने के निर्यात के पक्ष एवं विपक्ष मे दिये गये तर्कों की भी चर्चा कीजिए। इसके साथ ही यह भी बताइए कि सन् 1931 के बाद किस प्रकार भारत से चाँदी का निर्यात शुरू हुआ था। अन्त मे, यह बताइये कि कमीशन की सिफारिशो को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने 1 अप्रैल, 1935 को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की थी।]

2. किन-किन कारणों के आधार पर हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये की 18 पेंस अनुपात की सिफारिश की थी? (नागपुर, 1959)

[संकेत— यहाँ पर 1 शिलिंग 6 पेंस की दर के पक्ष मे दिये गये प्रमुख तर्कों की विवेचना कीजिए।]

3. सन 1931 मे रुपये को स्टर्लिंग से क्यो सम्बन्धित किया गया था? उसके परिणाम क्या हुए थे? (जबलपुर, 1958)

[संकेत—प्रथम भाग मे, यह बताइए कि सितम्बर 1931 मे ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का परित्याग करने पर भारतीय रुपये को स्टर्लिंग के साथ जोड दिया गया था। यहाँ पर रुपये स्टर्लिंग के गठबन्धन के पक्ष मे दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि रुपये स्टर्लिंग गठबन्धन से बड़े पैमाने पर भारत से सोने का निर्यात शुरू हो गया था।]

4. 20वीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी मे भारत से विदेशो को जो सोना निर्यात किया गया उसका कारण बताओ। क्या यह इतने बड़े पैमाने पर सोना निर्यात होने देना ठीक था। (विक्रम, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, यह बताइए कि सोने के निर्यात का मुख्य कारण रुपये-स्टर्लिंग का गठबन्धन था। दूसरे भाग मे यह बताइए कि सोने का यह निर्यात भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिए ठीक नहीं था।]

26

भारतीय मुद्रा तथा विनिमय का इतिहास (3)

(History of Indian Currency and Exchange—3)

(From 1939 to 1976)

दूसरे विश्व युद्धसे पूर्व भारतीय मुद्रा-प्रणाली की व्यवस्थ—दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व भारतीय मुद्रा-प्रणाली की व्यवस्था इस प्रकार की थी—(क) देश मे स्टर्लिंग विनिमय मान था। भारतीय रुपये का स्वर्ण से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही था। (ख) रिजर्व बैंक 1 शिलिंग $6\frac{3}{16}$ पैंस की दर पर स्टर्लिंग खरीदता था और 1 शिलिंग $5\frac{49}{64}$ पैंस पर स्टर्लिंग बेचा करता था। (ग) आन्तरिक मुद्रा मे चाँदी का रुपया तथा अठन्नियां असीमित वैध मुद्रा थी। कागजी मुद्रा का भी बड़े पैमाने पर प्रचलन था। इसके अलावा, प्रचलन मे छोटे-छोटे सिक्के भी थे जो केवल 1 रुपये तक विधिग्राह्य थे। दूसरे विश्व युद्ध के छिड़ जाने से भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा था।

दूसरे विश्व युद्ध का भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर प्रभाव—इसका अध्ययन हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं

(क) कागजी मुद्रा को रुपये के सिक्को मे बदलने की भारी माँग—युद्ध के छिड़ने पर भारतीय जनता मे भय की लहर दौड़ गयी और देश की मुद्रा प्रणाली मे उसका विश्वास कम हो गया था। युद्ध छिड़ते ही लोगो ने बड़े पैमाने पर रुपयो के सिक्को को संचित (Hoard) करना शुरू कर दिया। इसके साथ ही साथ लोगो ने कागजी नोटो को भी सिक्को मे बदलना शुरू कर दिया। युद्ध के कारण लोग इतने भयभीत हो गये थे कि उन्होने डाकखानो एव बैंको से भी रुपया निकालना आरम्भ कर दिया था। बहुत से लोगो ने तो डर के मारे सरकारी प्रतिभूतियो को भी बेच डाला था। मई 1940 मे फ्रांस के पतन के बाद तो स्थिति और भी गम्भीर हो गयी थी और लोगो ने धड़ाधड़ कागजी मुद्रा को सिक्को मे बदलना शुरू कर दिया था। इससे सिक्को की माँग बहुत बढ़ गई और सरकार इस माँग को पूरा करने मे असमर्थता अनुभव करने लगी। सरकार के लिए इतनी तेजी से सिक्को को ढालना सम्भव नही था। अत 25 जून, 1940 को सरकार ने एक आदेश जारी किया जिसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति अपनी निजी एव व्यावसायिक आवश्यकताओ से अधिक मात्रा मे सिक्को को जमा नही कर सकता था।

(ख) एक रुपये और दो रुपये के नोटो का निर्गमन—रुपयो की कमी को दूर करने के लिए 25 जुलाई 1940 को सरकार ने एक आदेश जारी किया। इसके अन्तर्गत, एक रुपये के नोटो का निर्गमन किया गया था। ये नोट असीमित विधिग्राह्य थे परन्तु चाँदी के रुपयो मे नही बदले जा सकते थे। इस आदेश के अन्तर्गत, एक रुपये के नोट को वही कानूनी दर्जा दिया गया जो एक रुपये के सिक्को को दिया गया था। इस प्रकार एक रुपये का नोट सभी उद्देश्यो के लिए चाँदी के एक रुपये के बराबर समझा जाने लगा। फलत अन्य नोट अर्थात् पाँच तथा दस रुपये के नोट भी एक रुपये के नोट मे परिवर्तनीय घोषित कर दिये गये। फरवरी 1943 मे मुद्रा की कमी को दूर करने के लिए दो-दो रुपये के नोटो का निर्गमन भी किया गया था।

(ग) सिक्कों में चांदी की मात्रा में कमी—दूसरे विश्व युद्ध के दौरान सिक्कों की बढ़ी हुई माँग के कारण भारत सरकार को चाँदी की अत्यधिक कमी अनुभव होने लगी। अतएव चाँदी की इस कमी को दूर करने के लिए सरकार ने चाँदी के सिक्को की शुद्धता में भी कमी कर दी। सन् 1940 मे सरकार ने रुपये, अठन्नी, व चवन्नी की शुद्धता को $\frac{11}{12}$ से घटाकर $\frac{1}{2}$ कर दिया था। इसी प्रकार चाँदी के उपयोग मे बचत करने के लिए सरकार ने निकिल तथा अन्य घटिया धातुओ के बने सिक्को का भी प्रचलन शुरू कर दिया था।

(घ) पुराने चांदी के सिक्कों का विमुद्रीकरण – चाँदी के उपयोग मे बचत करने हेतु भारत सरकार ने चाँदी के पुराने सिक्को को प्रचलन से वापस ले लिया और उनके स्थान पर कम चाँदी वाले सिक्को को प्रचलित किया। इस उद्देश्य से सरकार ने महारानी विक्टोरिया, एडवर्ड सप्तम, जॉर्ज पंचम एवं जार्ज षष्टम की छाप वाले रुपयो एवं अठन्नियो को प्रचलन से वापस ले लिया और इनके स्थान पर कम चाँदी वाले सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ कर दिया। स्मरण रहे कि पुराने सिक्को की शुद्धता $\frac{11}{12}$ थी। परन्तु इनके स्थान पर प्रचलित किये गये सिक्को की शुद्धता केवल $\frac{1}{2}$ ही थी।

(ङ) छोटी रेजगारी का टंकण (Coinage of Small Coins) – दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भारत मे छोटी रेजगारी की बहुत कमी हो गयी थी। इसका कारण यह था कि व्यापारिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए रेजगारी की माँग बहुत बढ़ गयी थी। परन्तु इसकी पूर्ति को उसी अनुपात म नहीं बढ़ाया जा सका था। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1942-43 मे देश मे छोटी रेजगारी की बहुत कमी उत्पन्न हो गयी थी। यहाँ तक कि लोगो को रेजगारी के स्थान पर डाकखानो के टिकटों का प्रयोग करना पड़ा था। 17 अप्रैल, 1943 को भारत सरकार ने एक आदेश जारी करके आवश्यकता से अधिक मात्रा मे रेजगारी एकत्रित करना जुर्म घोषित कर दिया और उसी वर्ष पैसे का वजन 75 ग्रेन से कम करके 30 ग्रेन कर दिया गया। नया पैसा पुराने पैसे की अपेक्षा बहुत हल्का था और उसके बीच मे एक छेद भी था, परन्तु बाद मे चलकर इस पैसे का प्रयोग गैर-मौद्रिक उद्देश्यो के लिए होने लगा जिसके कारण इसकी माँग और अधिक बढ़ गयी। इसके साथ ही साथ भारत सरकार ने छोटी रेजगारी की पूर्ति को बढ़ाने के लिए निकिल पीतल के अधन्ने (half annas) भी जारी किये। छोटी रेजगारी की पूर्ति को बढ़ाने के लिए लाहौर मे एक नयी टकसाल स्थापित की गयी। सन् 1944 के बाद रेजगारी की कमी धीरे-धीरे दूर हो गयी

(च) मुद्रा एवं साख का विस्तार दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भारत मे मुद्रा एवं साख की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हुई थी। इसके दो मुख्य कारण थे—(अ) भारत सरकार के रक्षा व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी थी और उसे पूरा करने के लिए सरकार को मुद्रा प्रसार का आश्रय लेना पड़ा था। (आ) युद्ध के दौरान भारत ने बड़े पैमाने पर ब्रिटेन तथा अन्य मित्र राष्ट्रो को वस्तुओ का निर्यात किया था परन्तु इन वस्तुओ का भुगतान रुपयों मे नहीं, बल्कि स्टर्लिंग में किया गया था। ये स्टर्लिंग ब्रिटेन मे जमा होते रहे और इन्हीं के आधार पर रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कागजी मुद्रा का निर्गमन किया था। परिणामत भारत मे कागजी मुद्रा की पूर्ति अत्यधिक बढ़ गयी। युद्ध से पूर्व भारत मे कागजी मुद्रा की मात्रा लगभग 182 करोड रुपये थी परन्तु सन् 1945 मे यह बढ़ कर 1,159 करोड रुपये हो गयी। इस प्रकार युद्धकाल मे कागजी मुद्रा का भारी विस्तार किया गया था। मुद्रा के साथ-साथ साख की मात्रा मे भी काफी प्रसार हुआ था। यह भी लगभग तीन गुना बढ़ा दी गई थी। मुद्रा एवं साख के इस विस्तार के कारण देश का कीमत-स्तर बहुत ऊंचा हो गया था।

दूसरे विश्व युद्ध का विदेशी विनिमय पर प्रभाव—*युद्ध के छिड़ जाने पर* विदेशी विनिमय साधनो को नियमित तथा नियंत्रित करना आवश्यक हो गया था। अत 4 सितम्बर, 1939 को भारत सरकार ने विनिमय नियन्त्रण की नीति को अपना लिया था। इस नीति के अन्तर्गत विनिमय सम्बन्धी सभी अधिकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिये गये थे। रिजर्व बैंक ने इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए अलग से एक नया विभाग स्थापित किया जिसे विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) का नाम दिया गया। इसी विभाग द्वारा

विनिमय नियन्त्रण का कार्य सम्पन्न किया गया। युद्धकाल मे विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी जो विभिन्न उपाय अपनाये गये वे इस प्रकार हैं

1 विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर प्रतिबन्ध—विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर युद्ध-काल मे कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये थे। उनमे से मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं

(क) रिजर्व बैंक ने एक आदेश जारी करके विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करने का अधिकार कुछ सुविख्यात भारतीय बैंको को दे दिया अर्थात् विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदे केवल इन्ही बैंको द्वारा किये जा सकते थे। इन बैंको को बाकायदा रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना पडता था। रिजर्व बैंक इनके विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य की देखरेख भी करता था।

(ख) विनिमय नियन्त्रण के कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए समूचे ब्रिटिश साम्राज्य को एक पृथक मुद्रा इकाई (Currency Unit) घोषित किया गया और इसे स्टर्लिंग क्षेत्र (Sterling Area) का नाम दिया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो की मुद्राओ के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया था। इसका कारण यह था कि स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो की मुद्राओ के बारे मे भारत को कोई कठिनाई नही थी, अर्थात् ये मुद्राएँ भारत के लिए सुलभ थीं। परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशो की मुद्राओं को प्राप्त करने मे बहुत कठिनाई होती थी। अतएव ऐसी मुद्राओ को दुर्लभ मुद्राएं (Hard Currencies) घोषित कर दिया गया। इनमे अमरीका, स्विट्जरलैंड, बेल्जियम और हॉलैण्ड की मुद्राएँ सम्मिलित थी। इस प्रकार की मुद्राएँ केवल अत्यन्त आवश्यक उद्देश्यो के लिए ही दी जाती थी।

(ग) मार्च 1940 मे जारी किये गये एक आदेश के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने भारत के निर्यातकर्ताओ को यह आज्ञा दी कि वे अपने निर्यातो के बदले मे प्राप्त की गयी दुर्लभ मुद्राओ का प्रयोग केवल रिजर्व बैंक की स्वीकृति से ही करें।

(घ) रिजर्व बैंक ने यह भी आदेश दिया कि इसकी स्वीकृति के बिना कोई भी भारतीय नागरिक विदेशियो से न तो प्रतिभूतियो को खरीद सकता था और न ही उनका निर्यात कर सकता था। इस आदेश का उद्देश्य भी विदेशी विनिमय के दुरुपयोग को रोकना था।

(ङ) विनिमय नियन्त्रण की इस नीति के अन्तर्गत रुपये की विनिमय-दर को 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही स्थिर रखा गया था।

2 आयात नियन्त्रण (Import Control)—दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ होते ही भारत सरकार ने आयात नियन्त्रण कार्यान्वित कर दिया। इसके तीन उद्देश्य थे—प्रथम, दुर्लभ मुद्राओ का समुचित उपयोग करना। द्वितीय, आयातो मे उन वस्तुओ को प्राथमिकता देना जिनका युद्ध के सचालन से सम्बन्ध होता था। तृतीय, व्यापार-सन्तुलन की प्रतिकूलता को रोकना। इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने आयातो के लाइसेंस की पद्धति अपनायी थी। इसके अन्तर्गत, कोई भी व्यापारी स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशो से बिना लाइसेंस प्राप्त किये किसी वस्तु का आयात नही कर सकता था। रिजर्व बैंक केवल उन्ही व्यापारियो को दुर्लभ मुद्राएँ बेचता था जो लाइसेंसशुदा हुआ करते थे। सन् 1940 मे भारत सरकार ने अत्यन्त आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ को स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो से आयात करने की अनुमति दे दी परन्तु विलासिताओ के आयात पर कड़ा नियन्त्रण जारी रखा गया।

3. निर्यात-नियन्त्रण *(Export Control)*—युद्धकाल मे भारत सरकार ने निर्यातो पर भी नियन्त्रण लगा दिया था। इस निर्यात नियन्त्रण के तीन मुख्य उद्देश्य थे—प्रथम, निर्यातो के बदले मे प्राप्त की गयी विदेशी मुद्रा विदेशो मे ही न रह जाय अर्थात् उसे भारत मे लाया जाय। द्वितीय निर्यातो का अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त किया जाय। तृतीय निर्यातो के बदले मे प्राप्त होने वाली दुर्लभ मुद्रा को साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) मे जमा कर दिया जाय। अत इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने निर्यात-नियन्त्रण की नीति अपनायी थी। निर्यातो से जो भी विदेशी मुद्राएं प्राप्त होती थी उन्हे साम्राज्य डालर कोष मे जमा कर दिया जाता था और उनके बदले मे भारत को स्टर्लिंग मे भुगतान कर दिया जाता था, किन्तु ये स्टर्लिंग भी ब्रिटेन मे भारत द्वारा खोले गये खाते मे ही जमा किये जाते थे।

4 अन्य प्रकार के नियन्त्रण—विदेशी विनिमय नियन्त्रण को प्रभावपूर्ण ढङ्ग से क्रियान्वित करने हेतु कुछ अन्य उपाय भी अपनाये गये थे, जो इस प्रकार हैं -

(क) मुद्रा के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—नवम्बर 1940 मे एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना भारतीय सिक्को तथा नोटो का विदेशो को निर्यात बन्द कर दिया गया था। इसी प्रकार सितम्बर 1943 मे एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत यह घोषणा की गयी कि भारतीय, अफगानी, ईरानी तथा लंका की मुद्रा को छोडकर अन्य किसी भी देश की मुद्रा का भारत मे आयात नही किया जा सकता था। जनवरी 1944 से तो भारतीय मुद्रा को छोडकर अन्य सभी प्रकार की मुद्राओ के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। मुद्रा के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि भारतीय मुद्रा शत्रु-देशो के हाथ न लगे और न ही शत्रु देशो की मुद्रा भारत मे आ सके।

(ख) विदेशी कम्पनियों द्वारा स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के देशों को भुगतान करने पर प्रतिबन्ध— अक्टूबर 1941 मे एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत यह व्यवस्था कर दी गयी कि कोई भी विदेशी कम्पनी अपने लाभ (Profit) को स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशो को रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना नही भेज सकती थी।

(ग) सोने का आयात निर्यात—युद्धकाल मे सोने के आयात-निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गये और बिना लाइसेंस के सोने का आयात-निर्यात नही किया जा सकता था।

(घ) शत्रु देशों की भारतीय बैंकों मे जमाराशि पर प्रतिबन्ध—28 जुलाई, 1941 को जारी किये गये एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत शत्रु-देशो की कम्पनियो द्वारा भारतीय बैंको मे जमा की गयी राशियो के भुगतान पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

युद्धोत्तरकाल मे भारतीय मुद्रा-प्रणाली (सन् 1945-76)—युद्धोत्तर काल मे मुद्रा प्रणाली की मुख्य मुख्य घटनाएँ इस प्रकार थी

(1) रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध-विच्छेद (Rupee Sterling De-link)—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, मार्च 1947 मे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I M F) की स्थापना हो गयी थी। भारत इस कोष का सदस्य बन गया था और इसी नाते भारत सरकार ने रुपये का मूल्य स्वर्ण मे घोषित किया था। दूसरे शब्दो मे, भारतीय रुपये का स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध टूट गया था। अत रिजर्व बैंक ने निश्चित दरो पर असीमित मात्रा मे स्टर्लिंग खरीदना व बेचना बन्द कर दिया था भारत सरकार ने रुपये का मूल्य स्वतन्त्र रूप मे 0 268601 ग्राम शुद्ध सोना रखा था। अत मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार करने के उपरान्त भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान समाप्त हो गया और उसके स्थान पर स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard) की स्थापना हो गयी। इस प्रकार भारतीय रुपया स्टर्लिंग की दासता से मुक्त हो गया। अब भारतीय रुपये का सम्बन्ध अन्य सभी प्रकार की मुद्राओ से प्रत्यक्ष रूप मे स्थापित हो गया था।

(2) ऊँचे मूल्य के नोटो का विमुद्रीकरण—देश मे बढती हुई चोर-बाजारी एव सट्टे की प्रवृत्ति को रोकने के लिए जनवरी 1947 मे सरकार ने एक आदेश जारी करके 500, 1000, 10000 रुपये के नोटो का विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया था। अर्थात् ये नोट अब वैध मुद्रा नही रहे थे। सरकार ने यह कदम इसलिए उठाया क्योंकि चोर-बाजार का अधिकांश धन इन्ही बडे मूल्य के नोटो मे छिपाकर रखा गया था। परन्तु इस कार्यवाही से सरकार को कोई विशेष सफलता नही मिल सकी। (स्मरण रहे कि अब इन नोटो को पुन जारी कर दिया गया है।)

(3) भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Indian Rupee)—जैसा विदित है, 18 सितम्बर, 1949 को ब्रिटेन ने पौण्ड का डालर मूल्य (Dollar Value) 30 5 प्रतिशत कम कर दिया था जिसके कारण अब पौण्ड का मूल्य 4·03 डालर से घटकर 2 8 डालर ही रह गया था। ब्रिटेन ने पौण्ड का यह अवमूल्यन अपने भुगतान-सन्तुलन मे अनुभव की जाने वाली कठिनाई को दूर करने के लिए किया था। ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए 19 सितम्बर, 1949 को भारत सरकार ने भी रुपये का उसी अनुपात मे डालर मूल्य कम कर दिया था। अवमूल्यन से पूर्व भारतीय रुपये का डालर मूल्य 30 225 सेण्ट हुआ करता था। परन्तु अवमूल्यन के उपरान्त

यह घटकर केवल 21 सेण्ट ही रह गया था। भारत सरकार ने भी रुपये का अवमूल्यन भुगतान-सन्तुलन मे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया था। भारतीय रुपये के इस अवमूल्यन के परिणामो का आगे चलकर विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जायगा। जैसा पूर्व कहा जा चुका है, 6 जून 1966 को भारतीय रुपये का पुन अवमूल्यन किया गया था। स्वर्ण के रूप मे रुपये का नया सम मूल्य (New Par Value) 0 118517 ग्राम सोने के बराबर निश्चित किया गया जबकि पुराना सम मूल्य 0 186621 ग्राम सोने के बराबर था। इस प्रकार स्वर्ण के रूप मे रुपये का 36 5 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया था। इस अवमूल्यन के परिणामस्वरूप रुपये की डालर के साथ विनिमय-दर इस प्रकार निर्धारित की गयी—1 डालर=7 50 भारतीय रुपये, जबकि पुरानी विनिमय-दर 1 डालर=4 76 भारतीय रुपये थी। भारतीय रुपये के इस अवमूल्यन का आगे चलकर विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जायगा।

(4) **भारत में दशमिक प्रणाली** (*Decimal System in India*)—1 अप्रैल 1957 को भारत सरकार ने दशमिक प्रणाली अपना ली थी। इससे हिसाब-किताब मे बहुत सुविधा हो गयी है।

(5) **मुद्रा पूर्ति का विस्तार** (Expansion of Money Supply)—जैसा कि सुविदित है, भारत सरकार ने 1 अप्रैल 1951 को देश की आर्थिक प्रगति की दर मे वृद्धि करने हेतु पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत आर्थिक आयोजन की नीति को अपनाया था। इन पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत कृषि उद्योगो, खनिज उद्योगो, परिवहन एव सचार मे भारी निवेश करने की व्यवस्था की गयी थी। अतिरिक्त साधनों की प्राप्ति हेतु भारत सरकार ने विभिन्न योजनाओ के अन्तगत घाटे की अर्थव्यवस्था (deficit financing) की थी। इससे मुद्रा पूर्ति के चलार्थ अग (Currency Component) मे विस्तार हुआ था। इसके साथ ही साथ औद्योगिक एव व्यापारिक क्षेत्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु बैंक साख का भी अत्यधिक विस्तार किया गया था। इस प्रकार सन 1947 के बाद मुद्रा पूर्ति ने दोनो अगो मे (अर्थात चलार्थ एव साख मे) उल्लेखनीय विस्तार हुआ था। इस भारी विस्तार का आन्तरिक कीमत-स्तर पर प्रभाव पडना अनिवार्य ही था। परिणाम यह हुआ कि देश मे गम्भीर मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो गयी। कीमतो मे निरन्तर वृद्धि होने लगी। यदि 26 जून, 1975 को घोषित आपात-स्थिति के पूर्व एव उसके उपरान्त भारत सरकार ने एक सुदृढ एव प्रभावी मुद्रा-स्फीति-विरोधी नीति न अपनायी होती तो देश की वही दुर्दशा हुई होती जो पश्चिम मे चिल्ली, इटली एव ब्रिटेन की हुई थी। भारत सरकार की इस स्फीति विरोधी नीति के ठोस परिणाम निकले थे। स्फीतिक दबावो पर काबू पा लिया गया था और बढती हुई कीमतो पर रोक लगा दी गयी थी।

यद्यपि कीमत स्तर मे होने वाली वृद्धि को रोक दिया गया था लेकिन फिर भी मुद्रा-स्फीति के विस्तार मे कोई कमी नहीं हुई थी। मुद्रा स्फीति का यह विस्तार भारतीय अर्थव्यवस्था की बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए किया गया था। सन् 1975-76 के दौरान मुद्रा पूर्ति मे 11 7 प्रतिशत का विस्तार हुआ था जबकि सन् 1974-75 मे यह विस्तार केवल [illegible] 4 प्रतिशत ही था। दूसरे शब्दो मे, सन 1975 76 मे सन् 1974-75 की तुलना मे दुगुनी दर पर मुद्रा पूर्ति का विस्तार हुआ था। लेकिन यह विस्तार कोई चिन्ता का विषय नहीं था क्योकि इसी दौरान देश के कुल उत्पादन मे 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

सन् 1975-76 मे मुद्रा पूर्ति का विस्तार चलार्थ विस्तार (Currency expansion) के कारण इतना नही था जितना कि बैंक साख के विस्तार के कारण था। बैंको द्वारा व्यापारिक खण्ड को दी जाने वाली साख मे विवेचनीय वृद्धि हुई थी लेकिन इसके साथ ही साथ देश के उत्पादन मे विशेषकर कृषि-उत्पादन मे, पर्याप्त वृद्धि हुई थी। यही कारण था कि बढी हुई मुद्रा-पूर्ति के परिणामस्वरूप कीमतो मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई थी। इस दौरान कीमतो मे लगभग स्थिरता ही बनी रही थी।

सन् 1975-76 मे मुद्रा-पूर्ति मे होने वाले विस्तार का एक अन्य कारण भी था। इस वर्ष भारत मे विदेशी मुद्रा का प्रवाह बढ गया था क्योंकि विदेशो मे रहने वाले भारतीयो ने इस अवधि

मे अधिक धनराशि प्रेषित की थी। विदेशी मुद्रा की इन प्राप्तियो (receipts) के कारण भारत सरकार को मुद्रा पूर्ति मे वृद्धि करने के लिए विवश होना पडा था।

इस अवधि मे भारत सरकार द्वारा कोई अधिक बडे पैमाने पर घाटे की अर्थव्यवस्था नहीं की गयी थी। भारत सरकार ने वित्तीय प्रबन्ध मे सुधार करके, अतिरिक्त साधन जुटाकर, अधिक बाजार ऋण लेकर एव अल्प बचतो मे पर्याप्त वृद्धि करके रिजर्व बैंक पर अपनी निर्भरता मे पर्याप्त कमी कर ली थी। सन् 1974 75 की अपेक्षा सन् 1975-76 मे रिजर्व बैंक द्वारा भारत सरकार को दिये गये ऋण मे कमी हुई थी।

सन् 1976 77 मे मुद्रा-पूर्ति का विस्तार बराबर जारी रहा था। 22 अक्तूबर, 1976 तक मुद्रा-पूर्ति मे 9 7 प्रतिशत (अथवा 1,224 करोड रु०) की वृद्धि हुई थी। सन् 1975 76 मे इसी अवधि मे किये गये मुद्रा विस्तार से यह दुगना था। मुद्रा-पूर्ति का यह भारी विस्तार कई कारणों से हुआ था। प्रथम, इस अवधि मे बैंको द्वारा अधिक खाद्य-साख (food credit) दी गयी थी। दूसरे, विदेशो मे रहने वाले भारतीयो ने इस अवधि मे अधिक धनराशि भारत को प्रेषित की थी। *विदेशी मुद्रा के इन प्रेषणो (remittances) के विरुद्ध भारत सरकार को देश की मुद्रा पूर्ति मे* वृद्धि करनी पडी थी। मुद्रा पूर्ति के इस तीव्र विस्तार का अनिवार्य परिणाम यह निकला कि कीमतो मे भारी वृद्धि हो गयी। मार्च, 1976 से लेकर अक्तूबर, 1976 के बीच कीमत स्तर में 11 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। स्फीतिक शक्तियो के इस प्रबलीकरण से भारत सरकार चिन्तित हो उठी थी। उसने रिजर्व बैंक को आदेश दिया था कि बढती हुई कीमतो का मुकाबला करने के लिए साख सम्बन्धी प्रतिबन्धो को और अधिक कडा कर दिया जाय।

(6) **नये सिक्को का निर्गमन** (Issue of New Coins)—सन् 1965 66 मे भारत सरकार द्वारा 1 पैसे तथा 2 पैसे के नये सिक्के जारी किये गये थे। 1 जुलाई, 1967 को रिजर्व बैंक द्वारा 5 पैसे का नया सिक्का जारी किया गया। यह सिक्का पुराने सिक्के से हल्का है। इसी प्रकार 17 अप्रैल, 1967 को रिजर्व बैंक ने 2, 5, 10 और 100 रुपये के नोट जारी किये थे। ये नोट पुराने नोटो की अपेक्षा आकार मे छोटे हैं। अक्टूबर 1969 मे गाँधी शताब्दी के अवसर पर 10 रु०, 1 रु०, 50 पैसे एव 20 पैसे के सस्मरणात्मक सिक्के जारी किये गये थे। इसी प्रकार 1, 2, 5, 10 तथा 100 रु० के गाँधी चित्र सहित नोट निर्गमित किये गये थे। 1969 70 मे छोटे सिक्को के परिचलन मे तनिक सी वृद्धि हुई थी। लेकिन सन् 1970 71 मे समूचे देश मे छोटे सिक्को की बहुत कमी अनुभव की गई थी। इसका मुख्य कारण समाज विरोधी तत्वो द्वारा छोटे सिक्को को गलाकर उनका गैर मौद्रिक उपयोग करना था। छोटे सिक्कों के अभाव को दूर करने हेतु सरकार ने वतमान टकसालो मे इनका उत्पादन बढा दिया गया है।

(7) **युद्धोत्तरकाल मे भारतीय विदेशी विनिमय**—जैसा पूर्व कहा गया है दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भारत सरकार ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनायी थी। युद्ध के समाप्त होने पर भी इस नीति को जारी रखा गया और मार्च 1947 मे विनिमय नियन्त्रण अधिनियम पास करके इसे स्थायी आधार प्रदान किया गया। इस अधिनियम की मुख्य मुख्य विशेषताएँ "विनिमय नियन्त्रण' सम्बन्धी अध्याय मे विस्तारपूर्वक दी जा चुकी हैं। अतएव उन्हे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही है। स्मरण रहे कि भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होने के नाते कोष की अनुमति के बिना रुपये की विदेशी विनिमय दर मे परिवर्तन नहीं कर सकता। इस प्रकार भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस अथवा 0 750 पौण्ड पर ही 6 जून, 1966 तक स्थिर रही। किन्तु 6 जून, 1966 को अवमूल्यन के उपरान्त यह घटकर 0 0476 पौण्ड ही रह गयी थी। 18 नवम्बर 1967 को ब्रिटिश पौण्ड के अवमूल्यन के फल स्वरूप यह दर बढकर अब 0 0555 हो गयी थी। फरवरी, 1973 में डालर के दूसरे अवमूल्यन के बाद भारत सरकार ने रुपये को पाउँड स्टलिंग से सम्बद्ध कर दिया था। उस समय रुपया-स्टलिंग

[1] दिसम्बर, 1971 मे अमरीकी सरकार ने डालर का 7 9 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया था। इस पर भारत सरकार ने भारतीय रुपये का 3 प्रतिशत पुनर्मूल्यन कर दिया। परिणामत अब 7 279 भारतीय रुपये एक अमरीकी डालर के बराबर हैं।

दर 18·9677 रु० प्रति स्टर्लिंग निर्धारित की गई थी जो आज भी (1977) मे प्रचलित है। लेकिन रुपया—डालर विनिमय दर मे परिवर्तन होते रहते हैं।

रुपये स्टर्लिंग का गठबन्धन (Rupee-Sterling Link) – फरवरी, 1973 मे किये गये अमरीकी डालर के अवमूल्यन के पश्चात भारत सरकार ने अन्य देशो की सरकारो की भाँति रुपये को विदेशी मुद्रा बाजार मे 'तैरने' (float) हेतु स्वतन्त्र छोड दिया था। यद्यपि ब्रिटिश पाऊँड स्टर्लिंग भी विदेशी मुद्रा बाजार मे 'तैर' रहा था लेकिन अमरीकी डालर की तुलना मे इसके विनिमय मूल्य मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। अतएव भारत सरकार ने फरवरी, 1973 मे रुपये को ब्रिटिश पाऊँड स्टर्लिंग के साथ जोडने का निर्णय किया था। रुपये स्टर्लिंग की विनिमय-दर 18 9677 भारतीय रु०=1 पाऊँड स्टर्लिंग पर निश्चित की गयी थी। वास्तव मे, स्मिथसोनियन सन्धि (Smithsonian Agreement) के अन्तर्गत भी भारतीय रुपये की पाऊँड-स्टर्लिंग से यही विनिमय दर निर्धारित की गई थी। इस विनिमय दर को 2 5 प्रतिशत तक ऊपर अथवा नीचे की दिशा मे बदला जा सकता था।

रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध विच्छेद एव भारतीय रुपये का मुद्राओ की टोकरी से गठबन्धन, 24 सितम्बर 1975 (Rupee Sterling Delink and the Tie up of the Indian Rupee with a Basket of Currencies 24th September, 1975)—24 सितम्बर, 1975 को भारत सरकार ने रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद करने का निर्णय किया और तुरन्त ही इस निर्णय पर अमल शुरू हो गया था। इस निर्णय के अनुसार भारतीय रुपये की विनिमय दर को निर्धारित करने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया पर डाला गया था। रुपये की विनिमय-दर निर्धारित करते समय रिजर्व बैंक को कुछ चयनित देशो (Selected Countries) की मुद्राओ की विनिमय-दरो मे हुए परिवर्तनो को ध्यान मे रखना जरूरी था अर्थात रुपये की विनिमय दर को विदेशी मुद्राओ की टोकरी से जोड दिया गया था। भारत सरकार द्वारा यह कदम रुपये के विदेशी मूल्य मे स्थायित्व स्थापित करने के दृष्टिकोण से उठाया गया था।

जैसा पूर्व कहा गया है, स्मिथसोनियन सन्धि के अन्तर्गत फरवरी, 1973 मे रुपये को पाऊँड स्टर्लिंग से जोड दिया गया था। उस समय तक यह दिया गया था कि रुपये के स्टर्लिंग से गठबन्धन के परिणामस्वरूप भारतीय निर्यात उद्योगो की प्रतियोगात्मक शक्ति (Competitive Power) को बनाये रखा जा सकेगा (स्मरण रहे, उस समय बढती हुई कीमतो के कारण इस प्रतियोगात्मक शक्ति मे ह्रास हो रहा था।) लेकिन सन् 1973 के पश्चात अन्य मुद्राओ की तुलना मे पाऊँड स्टर्लिंग के विदेशी मूल्य म निरन्तर ह्रास हुआ था। भारत सरकार के उपर्युक्त निर्णय से तीन महीने पूर्व अमरीकी डालर की तुलना मे स्टर्लिंग के विदेशी मूल्य मे 10 प्रतिशत की कमी हो चुकी थी। अत भारतीय रुपये का भी परोक्ष रूप मे उतना ही (अर्थात् 10 प्रतिशत) अवमूल्यन हो गया था। यही कारण है कि जून 1975 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रुपये के विदेशी मूल्य मे सीमान्त पुनर्मूल्यन करने पर विवश हो गया था। यह पुनर्मूल्यन 2 25 प्रतिशत की सीमा के भीतर ही था। उस समय कुछ दिशाओ से जोरदार माँग की गयी थी कि रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाये। तक यह दिया गया था कि स्टर्लिंग के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय रुपये का जो अवमूल्यन हो रहा था उससे देश को कोई विशेष लाभ नही था। इसके विपरीत, आयातो की कीमतो मे वृद्धि के फलस्वरूप देश को हानि हो रही थी।

इस सन्दर्भ मे ही रुपये स्टर्लिंग के विच्छेद का विचार प्रस्तुत किया गया था। साथ ही यह सुझाव दिया गया कि रुपये को कतिपय ऐसे देशो की मुद्राओ के साथ जोड दिया जाय जो भारत के विदेशी व्यापार मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।

भारत सरकार ने स्टर्लिंग से रुपये का सम्बन्ध तोडने के साथ साथ यह भी घोषणा कर दी थी कि भारतीय रुपये की विनिमय-दर प्रति दिन कतिपय विदेशी मुद्राओ की विनिमय-दरो मे हुए परिवर्तनो को ध्यान मे रखकर निर्धारित की जायेगी। कुछ कारणो से भारत सरकार ने उन विदेशी मुद्राओ के नाम नही बतलाये थे जिनके आधार पर भारतीय रुपये की विनिमय दर निश्चित की जानी थी। लेकिन ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि विदेशी मुद्राओ की इस टोकरी मे अन्य मुद्राओ के अलावा पाऊँड स्टर्लिंग, अमरीकी डालर, जर्मन मार्क और जापानी येन सम्मिलित

थी। भारत सरकार के उक्त निर्णय के अन्तर्गत रिजर्व बैंक विश्व की प्रमुख मुद्राओं को खरीदने एव बेचने की दरें प्रतिदिन प्रकाशित करता है।

लेकिन पाऊँड स्टर्लिंग को "हस्तक्षेप की मुद्रा" (currency of intervention) के रूप मे जारी रखने का निर्णय किया गया था। इसके साथ ही भारत सरकार ने रुपये-स्टर्लिंग विनिमय दर को 18·31 रु० प्रति पाऊँड स्टर्लिंग पर निर्धारित कर दिया था। 24 सितम्बर, 1975 को रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध विच्छेद एव भारतीय रुपये का मुद्राओ की टोकरी से किया गया गठ-बन्धन, वास्तव मे, भारत सरकार का सही निर्णय था। भारतीय रुपये को किसी अन्य मुद्रा से जोड़ना अथवा विदेशी विनिमय बाजार मे उसे "तैरने" (float) हेतु खुला छोड देना भारत के व्यापक हितो मे नही था। अत. भारत सरकार का निर्णय देश के हितो के अनुरूप ही था। इसका कारण यह था कि उस समय विश्व के विदेशी विनिमय बाजारो मे भारी उथल-पुथल हो रही थी। यहाँ तक कि भारतीय रुपये को विशेष आहरण अधिकारो (अथवा S. D. Rs) से जोडना भी देशहित मे नही था। भारत के विदेशी व्यापार का स्वरूप उन तेल-निर्यातक देशों के विदेशी व्यापार से भिन्न था जिन्होने अपनी-अपनी मुद्राओ को S. D. Rs. से जोड रखा था।

भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन
(Revaluation of the Indian Rupee)

25 सितम्बर, 1975 से लेकर 29 सितम्बर, 1976 तक की एक वर्ष की अवधि मे रुपये का भारत सरकार द्वारा आठ बार पुनर्मूल्यन किया गया था। इसे निम्न सारणी द्वारा व्यक्त किया गया है

सारणी 1

तिथि	मध्य दर (रुपये प्रति स्टर्लिंग)	पुनर्मूल्यन (प्रतिशत)
25 सितम्बर, 1975	18 31	....
5 दिसम्बर, 1975	18 13	1 0
[illegible] मार्च, 1976	17 75	2 1
11 मार्च, 1976	17·25	2·8
3 अप्रैल, 1976	16 90	2 0
23 अप्रैल, 1976	16 50	2 3
29 मई, 1976	16 00	3 01
21 सितम्बर, 1976	15·40	3 8
29 सितम्बर, 1976	14·70	4·5

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि एक वर्ष की अवधि मे पाऊंड-स्टर्लिंग के साथ भारतीय रुपये का 19 7 प्रतिशत पुनर्मूल्यन हुआ था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि इसी दौरान ब्रिटेन मे 13 प्रतिशत वार्षिक की मुद्रा-स्फीति की दर के कारण पाऊंड स्टर्लिंग एक बीमार मुद्रा बन चुकी थी। इसी अवधि के दौरान अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे भी भारतीय रुपये की स्थिति मे उल्लेखनीय सुधार हुआ था। पाऊंड स्टर्लिंग के साथ रुपये के पुनर्मूल्यन से आयातित वस्तुओं की कीमतो मे तनिक सी कमी हुई थी। इसी कारण देश के आन्तरिक कीमत-स्तर मे थोडी सी स्थिरता आयी थी। आयात सस्ते हो गये थे लेकिन सौभाग्य से रुपये के पुनर्मूल्यन ने भारतीय निर्यातो की प्रतियोगितात्मक शक्ति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही डाला था। सत्य तो यह है कि भारत की निर्यात-स्थिति मे पहले की अपेक्षा कुछ सुधार हुआ था।

भारतीय रुपये की सुधरी हुई स्थिति को निम्न सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

सारणी 2

(प्रति 100 रु० विदेशी मुद्रा की इकाइयाँ)

विदेशी मुद्रा का नाम	24 सितम्बर 1975	29 सितम्बर, 1976
पाऊंड स्टर्लिंग	5 39	6 83
अमरीका डालर	11·02	11·18
जर्मन मार्क	29 48	27 52
जापानी येन	3 347	3 214

भारत की तेजी से सुधरती आर्थिक स्थिति अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे रुपये की स्थिति को और अधिक सुदृढ़ बना देगी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पाऊंड स्टर्लिंग भारत की "हस्तक्षेप मुद्रा" है। भारतीय रुपये का बाह्य मूल्य पाऊंड स्टर्लिंग के रूप मे व्यक्त किया जा रहा है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने भारतीय रुपये के पाऊंड स्टर्लिंग से इस विशेष सम्बन्ध का विरोध किया है। उनका कहना है कि यदि रुपये का पाऊंड स्टर्लिंग से यह विशेष सम्बन्ध जारी रहता है (अथवा पाऊंड स्टर्लिंग 'हस्तक्षेप' मुद्रा' बना रहता है) तो समय-समय पर रुपये का पुनर्मूल्यन करना पड़ेगा (स्मरण रहे, एक वर्ष की उपर्युक्त अवधि मे भारतीय रुपये का आठ बार पुनर्मूल्यन किया गया था।) इसके अतिरिक्त, पाऊंड स्टर्लिंग की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसका भविष्य कोई अधिक उज्ज्वल प्रतीत नही होता। अत भविष्य मे भारतीय रुपये के और अधिक पुनर्मूल्यन करने से देशके निर्यातो पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। अत यह सुझाव दिया गया है कि पाऊंड स्टर्लिंग को भारत की 'हस्तक्षेप मुद्रा" न माना जाय और भारतीय रुपये का इसके साथ विशेष सम्बन्ध तुरन्त समाप्त कर दिया जाये।

इसके विपरीत, कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि भारतीय रुपये का पाऊंड स्टर्लिंग के साथ विशेष सम्बन्ध बनाये रखा जाय। इससे कई लाभ हैं। प्रथम, पाऊंड स्टर्लिंग के साथ भारतीय रुपये का गठबन्धन परम्परागत, ऐतिहासिक है। निरन्तरता के हित मे इस सम्बन्ध को बनाये रखा जाये। दूसरे, लन्दन का मौद्रिक बाजार विश्व का सबसे अधिक सगठित एव कुशल बाजार है। विश्व के इस महत्वपूर्ण वित्तीय केन्द्र के साथ सम्पर्क बनाये रखना स्वय भारत के ही हित में है। तीसरे, भारत की निर्यात-आय का बहुत बडा भाग पाऊंड स्टर्लिंग के रूप मे ही प्राप्त होता है। अत पाऊंड स्टर्लिंग को भारत की "हस्तक्षेप मुद्रा" बनाये रखने मे ही देश का हित है क्योकि लन्दन बाजार मे विदेशी मुद्रा को परिवर्तित करने की लागत कम बैठती है।

इन परिस्थितियो मे भारत की वर्तमान विनिमय दर प्रणाली ही उपयुक्त प्रतीत होती है। इस समय भारतीय रुपये का गठबन्धन उन देशो की मुद्राओ की टोकरी (basket of currencies) से किया गया है जिनका भारत के विदेशी व्यापार मे प्रमुख स्थान है। पाऊंड स्टर्लिंग भारत की "हस्तक्षेप मुद्रा" है। वास्तव मे, यह वर्तमान प्रणाली भारत के लिये सर्वोत्तम प्रणाली है। इससे देश को अनेक लाभ हुए हैं।

(8) विनिमय निधि मे वृद्धि (Swelling Exchange Reserves)—सन् 1976-77 मे भारत के विदेशी विनिमय साधनो मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी। दिसम्बर, 1976 मे भारत की विदेशी विनिमय निधि मे, 2 286 करोड रु० के तुल्य विदेशी मुद्राएँ थी जो कि एक रेकार्ड था। सन् 1975 की तुलना मे यह राशि तीन गुना अधिक थी। वास्तव मे, भारत के इतिहास मे यह एक अभूतपूर्व घटना थी क्योकि विगत दो दशको से भारत विदेशी मुद्रा के अभाव से बुरी तरह पीडित था। देश की विदेशी विनिमय निधि के इस अप्रत्याशित प्रसार के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) सन् 1976-77 मे आन्तरिक एव विदेशी बाजारो मे भारतीय रुपये के मूल्य मे उल्लेखनीय सुधार हुआ था। इसके ही कारण विदेशी विनिमय निधि मे वृद्धि हुई थी। इस वर्ष देश मे रेकार्ड खाद्य उत्पादन हुआ था। औद्योगिक उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी। इसके

साथ ही साथ भारत सरकार ने कुछ प्रभावी स्फीति-विरोधी कदम भी उठाए थे। इन सबका परिणाम यह हुआ था कि भारतीय रुपये के आन्तरिक मूल्य मे वृद्धि हो गई थी। इसका प्रभाव रुपये के विदेशी मूल्य पर भी पडा था। इस अवधि मे रुपया पाउँड स्टर्लिंग की तुलना मे पर्याप्त सुदृढ हो गया था। अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे रुपये की सुदृढ स्थिति के कारण देश की विदेशी विनिमय निधि मे वृद्धि हो गयी थी।

(ii) इस अवधि मे भारत की निर्यात आय मे आकस्मिक वृद्धि हो गई थी। भारत के निर्यातो का मूल्य उच्चतम सीमा अर्थात 3,943 करोड रु० पर पहुँच चुका था। कच्चे लोहे, अल्युमिनियम, इस्पात एव अन्य गैर परम्परागत वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहित करने हेतु व्यापक कार्यक्रम बनाये गये थे।

(iii) इस अवधि मे पहले से प्राप्त की गई विदेशी सहायता का अधिक गहन उपयोग किया गया था जिससे देश की विदेशी विनिमय निधि पर पडने वाला बोझ कम हो गया था। इससे भुगतान-सन्तुलन की स्थिति मे उल्लेखनीय सुधार हुआ था।

(iv) इस अवधि मे (अर्थात (1976 77) मे विदेशो मे रहने वाले भारतीयो ने पहले से कही अधिक धनराशि अपने सगे सम्बन्धियो को भारत मे भेजी थी। वास्तव मे, इस मद म अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी। तीन वर्ष पूर्व यह राशि प्रति वर्ष 200 करोड रु० के लगभग थी लेकिन सन् 1976 77 मे यह बढकर 600 करोड रु० हो गई थी। इसका मुख्य कारण यह था कि इस अवधि मे भारत सरकार ने तस्करो (Smugglers) के विरुद्ध कडी कारवाई की थी जिससे तस्कर व्यापार बहुत कम हो गया था और विदेशी मुद्रा का प्रवाह बढ गया था। इसके अलावा, विदेशो मे रहने वाले भारतीयो को प्रोत्साहित किया गया था कि वे अधिकाधिक धनराशि भारत को भेजें।

अब यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन मूल्यवान विदेशी विनिमय साधनो का उपयोग बडी सावधानी से किया जाये। गैर-जरूरी उपभोक्ता वस्तुओ का आयात करने म इनका अपव्यय न किया जाय। जहाँ तक सम्भव हो इनका उपयोग कच्चे माल एव मशीनो आदि का आयात करने मे किया जाय ताकि देश के औद्योगिक विकास म सहायता मिले।

साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool)—दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मौद्रिक क्षेत्र मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना घटी थी। वह साम्राज्य डालर कोष की स्थापना थी। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व लगभग सभी देश अपने विदेशी विनिमय कोषो को स्टर्लिंग के रूप मे लन्दन मे रखा करते थे। इसका कारण यह था कि उस समय लन्दन विश्व का एक महत्त्वपूर्ण वित्तीय केन्द्र (financial centre) हुआ करता था और इसी नाते ब्रिटेन की स्टर्लिंग मुद्रा विश्व की सभी मुद्राओ मे पूर्णत परिवर्तनशील हुआ करती थी। इसी कारण विश्व के अधिकाश देश अपने विदेशी विनिमय कोष लन्दन मे ही रखना पसन्द करते थे। परन्तु युद्ध के छिडने के बाद कुछ कठिनाइया' उत्पन्न हो गयी और स्टर्लिंग मुद्रा की अन्य मुद्राओ म स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता समाप्त हो गयी। इसका मुख्य कारण डालर जैसी कुछ मुद्राओ की भारी कमी का होना था जिसके परिणामस्वरूप स्टर्लिंग को डालर मे परिवर्तित करना कठिन हो गया था। इस प्रकार स्टर्लिंग को डालर एव अन्य दुलभ मुद्राओ मे परिवर्तित करने की कठिनाई को दूर करने तथा दुलभ मुद्राओ का समुचित उपयोग करने के लिए सन 1939 मे साम्राज्य डालर कोष की लन्दन मे स्थापना की गयी थी। ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशो ने इस कोष का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया था।

इस कोष का प्रबन्ध एव सचालन बैंक ऑफ इगलैण्ड तथा ब्रिटिश ट्रेजरी द्वारा किया जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशो को अपने निर्यातो के बदले मे प्राप्त हुई विदेशी मुद्राएँ इस कोष मे जमा करनी पडती थी और उनके बदले मे उनको स्टर्लिंग मे भुगतान किया जाता था। उदाहरणार्थ, यदि भारत अमरीका को कुछ माल भेजता था तो उसका अमरीकी डालरो म प्राप्त होने वाला भुगतान भारत को साम्राज्य डालर कोष मे जमा करना पडता था और उसके बदले भारत को स्टर्लिंग के रूप मे भुगतान कर दिया जाता था। इस प्रकार साम्राज्य के सभी देशो द्वारा अर्जित किया गया विदेशी विनिमय साम्राज्य डालर कोष मे जमा कर दिया जाता था। यदि साम्राज्य के देशो को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु दुलभ मुद्राओ की आवश्यकता पडती

थी तो वे इस प्रकार की मुद्राएँ साम्राज्य डालर कोष से प्राप्त कर सकते थे। चूँकि इस कोष में सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्रा डालर थी, इसलिए इसको साम्राज्य डालर कोष का नाम दिया गया था। परन्तु स्मरण रहे कि डालरों के उपयोग के सम्बन्ध में विभिन्न देशों का कोई कोटा निश्चित नहीं किया गया था अर्थात् सदस्य देश कोष में से दुर्लभ मुद्राएँ अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ले सकते थे। परन्तु इन दुर्लभ मुद्राओं का अपव्यय नहीं किया जाता था। केवल अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए ही साम्राज्य डालर कोष से दुर्लभ मुद्राएँ प्राप्त की जाती थी। इस प्रकार साम्राज्य डालर कोष का मुख्य उद्देश्य युद्ध के सफल संचालन के लिए दुर्लभ मुद्राओं का किफायतपूर्ण उपयोग करना था।

जैसा ऊपर कहा गया है सन् 1939 में भारत भी इस कोष का महत्त्वपूर्ण सदस्य बन गया था। सन् 1939 से लेकर सन् 1946 तक भारत ने लगभग 450 करोड़ रुपये के मूल्य का विदेशी विनिमय इस कोष में जमा किया था और लगभग 240 करोड़ रुपये के मूल्य के डालर तथा लगभग 51 करोड़ रुपये के मूल्य की अन्य दुर्लभ मुद्राओं को इस कोष में से निकाला था। आलोचकों द्वारा कहा जाता है कि साम्राज्य डालर कोष के साधनों का उपयोग अधिकांशतः ब्रिटेन के हित में ही किया गया था। भारत को इस कोष में से उसका उचित हिस्सा नहीं मिल सका था। इस प्रकार समग्र रूप में भारत को साम्राज्य डालर कोष की सदस्यता से लाभ के स्थान पर हानि अधिक हुई थी। अतः सन् 1947 में भारत इस कोष से अलग हो गया। अब भारत अपने डालर उपार्जनों (Dollar Earnings) को व्यय करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **द्वितीय महायुद्ध का भारतीय मुद्रा प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ा? वर्णन कीजिए।** (सागर, 1957)

[**संकेत**—यहाँ पर यह बताइए कि दूसरे महायुद्ध का भारत की मुद्रा प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ा था? युद्धकाल में मौद्रिक क्षेत्र में होने वाली मुख्य-मुख्य घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए और संक्षेप में यह भी बताइए कि भारत सरकार द्वारा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए क्या क्या कदम उठाये गये थे]

2. **भारतीय मुद्रा तथा चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद के काल में होने वाली प्रमुख घटनाओं की विवेचना कीजिए।** (आगरा, 1962)

अथवा

सन् 1947 से सन् 1960 के बीच की भारतीय मुद्रा व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (आगरा, 1964)

[**संकेत**—युद्धोत्तरकाल में मौद्रिक क्षेत्र में होने वाली प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार थीं—रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध विच्छेद, बड़े मूल्य के नोटों का विमुद्रीकरण, भारतीय रुपये का अवमूल्यन, दशमिक प्रणाली का अपनाया जाना, घाटे की अर्थ-व्यवस्था, मुद्रा स्फीति इत्यादि। इन सबका यहाँ पर विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।]

3. **भारत की वर्तमान चलन प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।** (नागपुर, 1958, इन्दौर, 1968)

अथवा

भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली की संक्षेप में विवेचना कीजिए। (राजस्थान, 1971)

[संकेत—यहाँ पर यह बताइए कि भारत की वर्तमान चलन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं (क) देश में स्वर्ण समतामान प्रणाली का होना। (ख) आन्तरिक मुद्रा में रुपये के सिक्कों, छोटे सिक्कों तथा कागजी नोटों का होना। (ग) भारतीय रुपये का स्वर्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना। (घ) अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता। (ङ) विनिमय नियन्त्रण की क्रियाशीलता इत्यादि।]

27

भारतीय रुपये का अवमूल्यन (1)

(Devaluation of the Indian Rupee-1)

अवमूल्यन का अर्थ

अवमूल्यन से अभिप्राय देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य कम कर देने से होता है, अर्थात् विदेशी मुद्राओं के रूप में देश की मुद्रा का मूल्य जानबूझकर कम कर दिया जाता है। परिणामत देश की मुद्रा की क्रय शक्ति विदेशी मुद्राओं के रूप में कम हो जाती है। इससे देश के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि अवमूल्यन करने वाले देश की वस्तुएँ उन सभी देशों में सस्ती हो जाती हैं जिनकी मुद्राओं का अवमूल्यन नहीं किया जाता। इसके साथ ही साथ अवमूल्यन करने वाले देश के आयातों में कमी हो जाती है, क्योंकि उस देश में विदेशी माल महँगा हो जाता है। सक्षेप में अवमूल्यन से देश के निर्यात बढ जाते हैं किन्तु आयात कम हो जाते हैं। परिणामत देश का भुगतान-असन्तुलन दूर हो जाता है।

मुद्रा अवमूल्यन के परिणामस्वरूप साधारणत देश के निर्यात क्यों बढ जाते हैं और आयात क्यों कम हो जाते हैं इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए भारत अमरीका के साथ विनिमय दर 1 रु० = 13 सेण्ट से घटाकर 1 रु० = 10 सेण्ट कर देता है। इससे भारतीय निर्यात अमरीका में सस्ते हो जायेंगे क्योंकि अब अमरीकी आयातकर्ता 10 सेण्ट व्यय करके भारत से उतना ही माल खरीद सकता है जितना कि पहले वह 13 सेण्टों से खरीदा करता था। इसके विपरीत, विनिमय दर घटने से अब अमरीकी आयात भारत के लिए महँगे हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि पहले तो भारतीय आयातकर्ता 1 रु० व्यय करके 13 सेण्ट का माल अमरीका से खरीद सकता था। अब वह 1 रु० से केवल 10 सेण्ट का माल ही खरीद सकता है। इस प्रकार देश के भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करने के लिए मुद्रा-अवमूल्यन का प्रयोग साधारणत लाभदायक सिद्ध होता है।

यह ठीक है कि मुद्रा अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात बढ़ जाते हैं। लेकिन अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के निर्यातों में जिस मात्रा में वृद्धि होती है वह उस देश के द्वारा निर्यात किये गये माल की विदेशी माँग की लोच पर निभर करता है। अर्थात् यह इस बात पर निर्भर करता है कि विदेशियों की उस देश की माल के प्रति माँग बेलोच है अथवा लोचपूर्ण है। यदि विदेशियों की माँग बेलोच है तब तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप उस देश के निर्यात नहीं बढ सकेंगे अथवा कम मात्रा में बढ सकेंगे। इसके विपरीत, यदि माँग लोचपूर्ण है तो अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के निर्यात अधिक मात्रा में बढ सकेंगे।

वास्तव में, मुद्रा-अवमूल्यन के दो प्रभाव हो सकते हैं (1) ऋणात्मक प्रभाव (negative effect), (2) धनात्मक प्रभाव (positive effect)। यदि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यात विनिमय दर में की गयी कमी से कम अनुपात में बढ़ते है, तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक होता है। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा का 10 प्रतिशत अवमूल्यन करने पर निर्यात केवल 5 प्रतिशत ही बढ़ते हैं, तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक होगा। इसके विपरीत, यदि अवमूल्यन

के फलस्वरूप देश के निर्यात विनिमय-दर मे की गयी कमी से अधिक अनुपात मे बढ़ते हैं तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होगा। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा का 10 प्रतिशत अवमूल्यन करने पर निर्यात 15 प्रतिशत बढ़ जाते हैं तो निश्चय ही अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होगा। मुद्रा-अवमूल्यन के धनात्मक एवं ऋणात्मक प्रभावों को इस रेखाकृति द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।
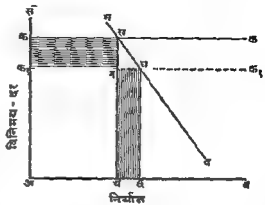
निर्यात

उपरोक्त रेखाकृति में, अवमूल्यन से पूर्व विनिमय-दर क अ है, निर्यात अ च हैं और निर्यातों का कुल मूल्य अ च ख क है। अवमूल्यन के फलस्वरूप अब विनिमय दर $क_1$ अ हो गयी है, निर्यात बढ़कर अ छ हो गये हैं और निर्यातों का कुल मूल्य अ छ घ $क_1$ हो गया है। यदि क $क_1$ ग ख आयत का क्षेत्रफल ग च छ घ आयत के क्षेत्रफल से कम है तो अवमूल्यन का प्रभाव धनात्मक होगा। इसके विपरीत, यदि क $क_1$ ग ख आयत का क्षेत्रफल ग च छ घ आयत के क्षेत्रफल से अधिक है तो अवमूल्यन का प्रभाव ऋणात्मक होगा।

अवमूल्यन के उद्देश्य

अवमूल्यन के दो मुख्य उद्देश्य हो सकते हैं

(1) **भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम करना**—यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन लम्बे समय से प्रतिकूल चला आ रहा है तो ऐसी परिस्थिति मे उस देश के लिए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने के सिवाय और कोई चारा नही है। अवमूल्यन से वह देश अपने आयातों को कम कर सकता है और निर्यातो को बढ़ा सकता है तथा इस प्रकार भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता को दूर अथवा कम कर सकता है।

(2) **राशिपातन पर रोक**—जब किसी देश मे कोई दूसरा देश अपना माल उत्पादन लागत से भी कम मूल्य पर बेचता है तब इसे राशिपातन (Dumping) कहते हैं। राशिपातन का उद्देश्य एक देश के द्वारा दूसरे देश के उद्योग धन्धो को नष्ट करना होता है। अतएव जिस देश में राशिपातन किया जा रहा है उस देश के लिए इसे रोकना अत्यन्त आवश्यक होता है। राशिपातन को प्राय देश की मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा रोका जाता है। जैसा ऊपर कहा गया है—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के आयात महँगे हो जाते हैं और इस प्रकार राशिपातन स्वत ही समाप्त हो जाता है।

अवमूल्यन की परिसीमाएँ
(Limitations of Devaluation)

अवमूल्यन की नीति की परिसीमाएँ निम्नलिखित हैं

(1) किसी देश द्वारा अपनायी गयी अवमूल्यन की नीति तभी सफल हो सकती है जबकि अन्य देश इस नीति का आश्रय न लें। दूसरे शब्दो मे, यदि कोई देश अवमूल्यन की नीति अपनाता है परन्तु उसकी देखा देखी अन्य देश भी अवमूल्यन की नीति अपना लेते हैं तब ऐसी परिस्थितियों मे उस देश को कोई लाभ नही होगा। इसका कारण स्पष्ट है। इस दशा मे, चूँकि अन्य देशो की मुद्राओ का भी अवमूल्यन हो जाता है, इसलिए उस देश को विशेष लाभ नही हो सकता।

(2) किसी देश द्वारा अपनायी गयी अवमूल्यन की नीति उसी परिस्थिति मे सफल हो सकती है जबकि निर्यात-वस्तुओ (Export Commodities) की कीमतें [illegible] पूर्व की कीमतो से अधिक न हो। उदाहरणार्थ, यदि अवमूल्यन के बाद निर्यात-वस्तुओ की कीमतें उत्पादकों

द्वारा बढ़ा दी जाती हैं तो ऐसी परिस्थिति मे देश के निर्यातो मे कोई वृद्धि नही हो सकेगी और इस प्रकार अवमूल्यन का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

(3) अवमूल्यन से अन्य देशो का उस देश की मुद्रा मे से विश्वास उठ जाता है अथवा कम हो जाता है। अन्य देश उस देश से अपने आयातो को इस आशा मे स्थगित करते चले जाते हैं कि आगे चलकर उस मुद्रा का और अधिक अवमूल्यन होगा। इस प्रकार उस देश के निर्यातों पर अवमूल्यन का प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है।

सन् 1949 मे स्टर्लिंग का अवमूल्यन
(Devaluation of the Sterling in 1949)

ब्रिटेन के चासलर ऑफ एक्सचेकर (Chancellor of Exchequer) सर स्टैफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ने 18 सितम्बर 1949 को ब्रिटिश स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने की घोषणा की थी। इस घोषणा के अनुसार स्टर्लिंग का डालर मूल्य 30 5 प्रतिशत घटा दिया गया था। परिणामत स्टर्लिंग का डालर मूल्य 4 03 डालर से घटाकर 2 80 डालर निश्चित कर दिया गया था। ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए अन्य कई देशो ने उसी अनुपात मे अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन कर दिया था। इन देशो के नाम इस प्रकार हैं—आस्ट्रेलिया, बर्मा, लका, दक्षिणी अफ्रीका, भारत डेनमार्क, नीदरलैण्ड, आइसलैण्ड, नार्वे मिस्र तथा यूनान।

स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण—स्टर्लिंग का अवमूल्यन निम्नलिखित दो कारणो से किया गया था :

(1) **अमरीका से आयातो मे वृद्धि**—दूसरे विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन तथा अन्य देशो मे बडे पैमाने पर विनाश (destruction) हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप युद्धोत्तरकाल मे इन देशो मे पूंजीगत माल की बहुत कमी हो गयी थी। अत इन देशो ने युद्ध के उपरान्त अमरीका से बडे पैमाने पर पूंजीगत वस्तुओ का आयात किया था।

(2) **अमरीका को निर्यातो मे कमी**—युद्धोत्तरकाल मे स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के अमरीका को निर्यात बहुत कम हो गये थे। इसके दो कारण थे—प्रथम, युद्ध के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो की उत्पादन शक्ति बहुत कम हो गयी थी। अत ये देश अमरीका को अधिक माल भेजने की स्थिति मे नही थे। दूसरे युद्धकाल मे अमरीका की उत्पादन शक्ति मे महान वृद्धि हुई थी। फलत अमरीका अपनी कच्चे माल सम्बन्धी लगभग सभी आवश्यकताओ को स्वय पूरा करने मे समर्थ हो गया था। इन कारणो से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के अमरीका को निर्यात कम हो गये थे।

इस प्रकार एक ओर तो स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के अमरीका से आयात बढ गये थे और दूसरी ओर इन देशो से अमरीका को निर्यात कम हो गये थे। इस प्रकार इन देशो के लिए डालर सकट (Dollar Crisis) उत्पन्न हो गया था। जबकि समूचे स्टर्लिंग क्षेत्र का डालर घाटा सन् 1946 मे 226 मिलियन पौण्ड था तब सन् 1947 मे यह घाटा बढकर 1024 मिलियन पौण्ड हो गया था। सन 1949 मे तो यह डालर सकट और भी भीषण हो गया था। कुछ समय तक तो ग्रेट ब्रिटेन इस डालर सकट को अमरीका से ऋण लेकर टालता रहा परन्तु एक स्थिति ऐसी आ गयी जब उसके लिए अमरीका से ऋण लेकर भी भुगतान की प्रतिकूलता को कम करना असम्भव-सा हो गया था। परिणामत 18 सितम्बर, 1949 को ब्रिटिश सरकार ने पौण्ड का अवमूल्यन करने का निश्चय किया था।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन

जैसा ऊपर कहा गया है, ब्रिटिश सरकार ने 18 सितम्बर, 1949 को स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया था। ब्रिटेन का अनुकरण करते हुए 24 घण्टे बाद अर्थात् 19 सितम्बर, 1949 को भारत सरकार ने भी रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी थी। भारत सरकार ने भी रुपये का उसी अनुपात मे अवमूल्यन किया जिसमे ब्रिटेन ने स्टर्लिंग का किया था। यही कारण है कि अवमूल्यन के पश्चात् भी रुपये का स्टर्लिंग मूल्य 1 शिलिंग 6 पेंस पर ही स्थिर रहा। अवमूल्यन के पश्चात भारतीय रुपया जो पहले 30 225 अमरीकी सेण्ट के बराबर हुआ करता था, अब घटाकर 21 सेण्ट के बराबर कर दिया गया। भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य भी 0 268601 ग्राम से घटाकर

0·18662 ग्राम कर दिया गया था। अवमूल्यन से पूर्व अमरीका का 1 डालर भारत के 3 रुपये 31 पैसे के बराबर हुआ करता था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् यही डालर 4 रुपये 76 पैसे के बराबर हो गया था।

भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण—स्टर्लिंग के अवमूल्यन के समय भारतीय रुपया एक स्वतन्त्र मुद्रा थी, अर्थात् स्टर्लिंग से इसका कोई वैधानिक सम्बन्ध नही था। अतएव स्टर्लिंग के अवमूल्यन के साथ भारतीय रुपये का अवमूल्यन करना अनिवार्य नही था। परन्तु फिर भी भारत सरकार ने ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

(1) **भारत की स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता**—यद्यपि 8 अप्रैल, 1947 को भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट चुका था तथापि भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य माना जाता था। 18 सितम्बर, 1949 को जब स्टर्लिंग क्षेत्र के लगभग सभी सदस्यों ने अपनी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया था तब परिस्थितिवश भारत को भी इन देशो का अनुसरण करना आवश्यक हो गया था।

(2) **भारत का डालर संकट**—ब्रिटेन की भाँति भारत भी बुरी तरह से डालर संकट से पीड़ित था। युद्धोत्तरकाल मे अमरीका के प्रति भारत का भुगतान-सन्तुलन बराबर विपक्ष में चला आ रहा था। इसका कारण यह था कि युद्धोत्तरकाल मे अमरीका से भारत के आयातों मे भारी वृद्धि हुई थी जबकि निर्यात उसी मात्रा मे नही बढ़ाये जा सके थे। परिणामत भारत का भुगतान सन्तुलन विपक्ष मे हो गया था और भारत के सामने डालर संकट की समस्या उत्पन्न हो गयी थी। सन् 1949 मे डालर संकट ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया था। भारत सरकार ने इस संकट का सामना करने के लिए कई कदम उठाये थे। उदाहरणार्थ, भारत सरकार ने स्टर्लिंग-निधि से कुछ स्टर्लिंग को डालरो मे परिवर्तित करने का प्रयत्न किया, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष से रुपयो के बदले मे डालर खरीदे, विश्व बैंक से डालर ऋण प्राप्त किये और अमरीका से भी विभिन्न समझौतो के अन्तर्गत डालर सहायता प्राप्त की। परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद भारत का डालर घाटा बराबर चलता रहा। अतः भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि अवमूल्यन के बिना डालर घाटे को कम करना सम्भव नही था। इसीलिए भारत सरकार ने 19 सितम्बर, 1949 को रुपये का अवमूल्यन करने का निश्चय किया था।

(3) **भारत का स्टर्लिंग क्षेत्र व्यापार**—उस समय भारत का लगभग 75 प्रतिशत विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो से था। इसलिए यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो ऐसी परिस्थिति मे स्टर्लिंग क्षेत्र के इन देशो मे भारत का माल महँगा हो जाता। परिणामत भारत के विदेशी व्यापार में कमी हो जाती।

(4) **भारत का अमरीका से व्यापार**—यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो अवमूल्यन करने वाले स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के माल की तुलना से भारतीय माल अमरीका के लिए महँगा हो जाता। इससे भारत के अमरीका को जाने वाले निर्यातो मे और भी कमी हो जाती।

(5) **भारत के स्टर्लिंग पावनो के मूल्य मे कमी**—उस समय भारत की स्टर्लिंग निधि मे लगभग 1,733 करोड रुपये की राशि थी। यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो इस स्टर्लिंग-निधि का मूल्य कम हो जाता। इसका कारण यह था कि ब्रिटेन ने तो स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया था और यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो रुपये की विनिमय दर 1 शिलिंग 6 पेंस से ऊपर चली जाती। परिणामतः भारत के स्टर्लिंग पावने का मूल्य कम हो जाता।

(6) **भारत का कीमत-स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा**—सन् 1949 मे भारत मे अत्यधिक मुद्रा स्फीति के कारण देश का कीमत-स्तर अन्य देशो की अपेक्षा ऊँचा था। यदि भारत रुपये का अवमूल्यन नही करता तो भारत की वस्तुएँ अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे अवमूल्यन करने वाले देशो की वस्तुओ से प्रतियोगिता नही कर सकती थी। अतएव अन्तरराष्ट्रीय बाजारो को भारतीय माल के लिए सुरक्षित रखने हेतु रुपये का अवमूल्यन करना अनिवार्य हो गया था।

रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव—रुपये के अवमूल्यन के प्रभाव इस प्रकार थे :

(1) **भुगतान-सन्तुलन की अनुकूलता**—रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत के भुगतान-सन्तुलन मे प्रतिकूलता के स्थान पर अनुकूलता हो गयी। जबकि सन् 1949 मे भारत के कुल निर्यातो का मूल्य लगभग 525 करोड रुपये था तब सन् 1950 मे वह बढकर 540 करोड रुपये हो गया। इसी प्रकार, जबकि सन् 1949 मे भारत के कुल आयातो का मूल्य लगभग 628 करोड रुपये था तब सन् 1950 मे वह घटकर लगभग 500 करोड रुपये हो गया। इसी प्रकार, जबकि सन् 1949 मे भारत के भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता लगभग 196 करोड रुपये थी, तब सन् 1950 मे इसकी अनुकूलता लगभग 92 करोड रुपये के बराबर हो गयी। सन् 1949 मे स्टर्लिंग क्षेत्र से भारत का कुल घाटा 46 करोड रुपये का था, परन्तु सन् 1950 मे यह घाटा लगभग 60 करोड रुपये की बचत मे परिवर्तित हो गया। इसी तरह सन् 1949 मे अमरीका से भारत के व्यापार-सन्तुलन का घाटा 56 करोड रुपये का था; परन्तु सन् 1950 मे यह घाटा 29 करोड रुपये की बचत मे परिवर्तित हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के भुगतान-सन्तुलन की प्रतिकूलता मे पर्याप्त सुधार हो सका। (परन्तु स्मरण रहे कि भुगतान,सन्तुलन की प्रतिकूलता का उक्त सुधार पूर्णत' अवमूल्यन के कारण ही नहीं हुआ था। कुछ अन्य कारण भी कार्यशील थे।)

(2) **कीमत-स्तर मे वृद्धि**—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के कीमत-स्तर मे काफी वृद्धि हुई। डालर क्षेत्र से आयात किये गये माल की कीमतें अवमूल्यन के कारण लगभग 44 प्रतिशत बढ गयी। इसी के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र से आने वाले माल और देश मे उत्पादित माल की कीमतें भी बढ गयी। इसके अतिरिक्त, भारत के बढ़े हुए निर्यातो के कारण भी देश मे आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो गया था। परिणामत भारत के कीमत स्तर मे और भी अधिक वृद्धि हुई थी।

(3) **औद्योगिक उत्पादन की कमी**—रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप देश के औद्योगिक उत्पादन मे भारी कमी हो गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत की भाँति पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन करने से इन्कार कर दिया था। परिणामत पाकिस्तान से आयात की जाने वाली कपास तथा जूट की कीमतें बढ गयी थीं। इससे देश मे कपडा एव जूट उद्योग के लिए सकट उत्पन्न हो गया था। पाकिस्तान द्वारा अपने रुपये का अवमूल्यन न करने के कारण भारत-पाकिस्तान व्यापार लगभग ठप्प हो गया था। इसके परिणामस्वरूप कपडा एव जूट के उद्योगो के उत्पादन मे भारी कमी हो गयी थी।

(4) **देश के आर्थिक विकास मे अडचनें**—रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप अमरीका से आयात किया गया माल भारत के लिए बहुत महगा हो गया था। भारत अमरीका से मुख्यत मशीनो आदि का आयात किया करता था। अवमूल्यन के कारण भारत के लिए अमरीकी मशीनें पहले की अपेक्षा महँगी हो गयी जिसके परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास मे बाधाएँ उपस्थित हो गयी।

(5) **स्टर्लिंग पावनो के डालर भाग के मूल्य मे कमी**- रुपये के अवमूल्यन के कारण भारत के स्टर्लिंग पावनो का वह भाग जो डालरो मे परिवर्तनीय था, उसका मूल्य लगभग 30 5 प्रतिशत कम हो गया और इस प्रकार भारत को यह आर्थिक क्षति सहन करनी पडी।

(6) **डालर ऋणों के भार मे वृद्धि**—भारत ने अमरीका तथा विश्व बैंक से जो डालर ऋण ले रखे थे, रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप उनका बोझा बढ गया। इसका कारण यह था कि डालर ऋणो का भुगतान करने के लिए अब पहले से अधिक रुपयो की आवश्यकता पडती थी। अवमूल्यन से पहले 1 रुपया लगभग 31 सेण्ट के बराबर था, जबकि अवमूल्यन के उपरान्त यह केवल 21 सेण्ट के बराबर ही रह गया था। इस प्रकार भारत द्वारा लिये गये डालर ऋणो का बोझ लगभग 30 5 प्रतिशत बढ गया था।

(7) **भारतीयों के जीवन-स्तर पर बुरा प्रभाव पडा**—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के लोगो के जीवन-स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पडा इसका कारण यह था। कि रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश मे जीवन-निर्वाह-लागत (Cost of Living) बढ गयी थी। प्रथम, अमरीका से आयात किये गये खाद्य-पदार्थों की कीमतो मे लगभग 40 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी। दूसरे अवमूल्यन के परिणामस्वरूप सरकार ने उपभोग्य वस्तुओं के आयात पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध

लगा दिये थे जिसके फलस्वरूप देश मे उपभोग्य वस्तुओं का भारी अभाव हो गया था। तीसरे, पाकिस्तान से आयात की गयी कपास का मूल्य बढ जाने से सूती कपडे की कीमतो में अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी। इस प्रकार देश मे जीवन निर्वाह-लागत अधिक मात्रा मे बढ गयी थी। परन्तु श्रमिको एव वेतन-भोगी वर्गों की मजदूरियाँ तथा वेतन उसी अनुपात मे नहीं बढे जिसमे जीवन-निर्वाह-लागत बढी थी। परिणामत देश की अधिकाश जनता के जीवन-स्तर पर अवमूल्यन का बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पडा था।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि रुपये के अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत की अर्थ व्यवस्था पर कुछ प्रभाव अच्छे पडे और कुछ बुरे। परन्तु अवमूल्यन के कारण पडने वाले अच्छे प्रभाव प्राय अल्पकालिक ही सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ, रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत के भुगतान-सन्तुलन मे होने वाली अनुकूलता चिरकालीन सिद्ध न हो सकी और कुछ ही समय बाद भारत का भुगतान सन्तुलन पुन प्रतिकूल हो गया था।

अवमूल्यन की नीति को अधिक कारगर बनाने के लिए सरकारी उपाय

अवमूल्यन की नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने हेतु भारत सरकार ने 5 अक्टूबर, 1949 को एक अष्टसूत्री योजना (Eight Point Programme) की घोषणा की थी। इसकी मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार थी :

(1) **कीमत-स्तर मे कमी**—इस योजना का मुख्य उद्देश्य आवश्यक वस्तुओं, खाद्य पदार्थों तथा अन्य तैयार शुदा माल की कीमतो में 10 प्रतिशत कमी करना था।

(2) **निवेश को प्रोत्साहन**—इस योजना का दूसरा उद्देश्य राष्ट्रीय बचतो को प्रोत्साहन देकर निवेश (investment) की मात्रा मे वृद्धि करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार किया जाना था।

(3) **विदेशी विनिमय उपार्जनो (Earnings) में वृद्धि**—इस योजना का तीसरा उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्रो को निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर अधिक निर्यात कर लगाना था, ताकि उनसे अधिक से अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय उपार्जित की जा सके

(4) **आयातों मे कमी**—इस योजना का चौथा उद्देश्य यह था कि आयातो मे अधिकतम मात्रा मे कमी की जाय ताकि विदेशी विनिमय कम से कम मात्रा मे खर्च हो।

(5) **सरकारी व्यय मे बचत**—इस योजना का पाँचवाँ उद्देश्य केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के व्यय में अधिक से अधिक बचत करना था।

(6) **खाद्य सुविधाओ का नियन्त्रण**—इस योजना का छठवाँ उद्देश्य कीमतो मे सट्टे की प्रवृत्ति को रोकना था। अतएव इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शासकीय एव वैधानिक उपाय अपनाकर खाद्य सुविधाओ का नियन्त्रण करना था।

(7) **करों के ऐच्छिक भुगतान की व्यवस्था** इस योजना के अन्तर्गत उन उद्योगपतियों को आयकर के भुगतान मे कुछ विशेष रियायतें दी गयी जिन्होने अपने लाभो (*profits*) को छिपा कर युद्ध काल में आयकर की चोरी की थी। इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य छिपी हुई आय को बाहर निकालकर देश के औद्योगिक विकास मे लगाना था।

(8) **अधिमूल्यित मुद्रा वाले देशों से कच्चे माल का आयात**—इस योजना का अन्तिम उद्देश्य यह था कि अधिमूल्यित मुद्रा वाले देशों से कच्चे माल का आयात करके इसके मूल्यो मे कमी करने का प्रयत्न किया जाय।

इस प्रकार सरकार की उक्त अष्टसूत्री-योजना के दो मुख्य उद्देश्य थे : एक ओर तो इस योजना का उद्देश्य रुपये के अवमूल्यन से आन्तरिक कीमत स्तर की वृद्धि पर नियन्त्रण लगाना और दूसरी ओर इस योजना का उद्देश्य देश मे उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि करना था। परन्तु स्मरण रहे कि सरकार की यह अष्टसूत्री-योजना पर्याप्त रूप मे सफल न हो सकी।

रुपये का पुनर्मूल्यन
(Revaluation of the Rupee)

सितम्बर 1949 मे रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के कीमत-स्तर मे बहुत

वृद्धि हो गयी और इस बढ़ते हुए कीमत-स्तर को नियन्त्रित करने हेतु 5 अक्टूबर, 1949 को भारत सरकार ने अष्टसूत्री योजना की घोषणा भी की थी। परन्तु ऊपर जैसा कहा गया है, सरकार की इस योजना को कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी और कीमत-स्तर निरन्तर बढ़ता ही चला गया। परिणामत अवमूल्यन के लगभग एक वर्ष पश्चात् ही भारत मे रुपये के पुनर्मूल्यन की चर्चा शुरू हो गयी। फरवरी 1951 मे भारत पाक रुपये की समता स्वीकार कर ली गयी थी। इसके बाद तो रुपये के पुनर्मूल्यन की माँग और भी तीव्र हो गयी। जुलाई 1951 मे डॉ० जॉन मथाई (Dr John Mathai) ने एक प्रसिद्ध लेख मे यह मत व्यक्त किया था कि भारत को रुपये का पुनर्मूल्यन कर देना चाहिए अर्थात् रुपये की विनिमय-दर मे वृद्धि कर देनी चाहिए। उन्होंने इसका मुख्य कारण यह बताया था कि सरकार के भरसक प्रयत्नो के बावजूद देश मे मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण स्थापित नही किया जा सका था। अतएव मुद्रा-स्फीति को प्रभावपूर्ण ढङ्ग से नियन्त्रित करने के लिए रुपये के पुनर्मूल्यन के सिवाय अब देश के लिए कोई चारा नही था। डॉ० मथाई के इस लेख के उपरान्त तो रुपये के पुनर्मूल्यन के प्रश्न पर देश मे एक भारी वाद-विवाद छिड़ गया।

अप्रल 1951 मे भारत के तत्कालीन वित्तमन्त्री डॉ० सी० डी० देशमुख (Dr C D. Deshmukh) ने अन्तिम रूप मे यह घोषणा कर दी कि भारत सरकार किसी भी दशा मे रुपये का पुनर्मूल्यन करने के लिए तैयार नही थी। उन्होंने बताया कि उस समय भारत को विदेशी विनिमय की बहुत अधिक आवश्यकता थी। चूँकि भारत विदेशी मुद्रा आयातों को कम और निर्यातों को बढ़ाकर ही कमा सकता था, इसलिए रुपये का पुनर्मूल्यन करना उचित नही था। 31 जुलाई 1955 को पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। इसके बाद रुपये के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता लगभग समाप्त सी हो गयी और पुनर्मूल्यन का यह विवाद अन्तिम रूप मे शान्त हो गया।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 सितम्बर 1949 मे किन कारणो से भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ था ? इस अवमूल्यन से भारतीय आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा ? स्पष्ट समझाइए।
(आगरा, बी० कॉम० 1961)

अथवा

वे कौन-से कारण थे जिन्होंने 1949 मे रुपये का अवमूल्यन करने के लिए सरकार को विवश किया था ? इसके आर्थिक परिणामों पर प्रकाश डालिये।
(जीवाजी, ग्वालियर, 1971)

[संकेत—प्रथम भाग मे, अवमूल्यन का संक्षेप मे अर्थ समझाते हुए बताइए कि सितम्बर 1949 मे भारत ने किन कारणो से रुपये का अवमूल्यन किया था। इस सम्बन्ध मे स्टर्लिंग के अवमूल्यन की भी संक्षेप मे चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि रुपये के अवमूल्यन से भारत की अर्थ व्यवस्था पर क्या-क्या प्रभाव पडे थे।]
(विक्रम, 1969)

2 अवमूल्यन के आर्थिक प्रभाव क्या हैं ?

[संकेत—अवमूल्यन का अर्थ बताने के पश्चात् आप इसके ऋणात्मक एवं धनात्मक प्रभावो को विस्तृत रूप मे प्रस्तुत कीजिए। इस सन्दर्भ मे आपको जून 1966 मे किये गये भारतीय रुपये के अवमूल्यन के प्रभावो को भी संक्षेप मे प्रस्तुत करना है। देखिए, अध्याय 28]

28

भारतीय रुपये का अवमूल्यन (१)

(Devaluation of the Indian Rupee-2)

जैसा पिछले अध्याय मे कहा गया है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात पहली बार भारतीय रुपये का अवमूल्यन 19 सितम्बर, 1949 को किया गया था। लगभग 17 वर्ष पश्चात 6 जून, 1966 को भारतीय रुपये का पुन अवमूल्यन कर दिया गया। इसकी सूचना 5 जून की मध्यरात्रि को तत्कालीन वित्तमन्त्री श्री शचीन्द्र चौधरी द्वारा एक विशेष रेडियो प्रसारण मे दी गयी और कुछ ही घण्टे बाद 6 जून रात के 2 बजे सरकार का यह निर्णय लागू कर दिया गया। सरकार की इस घोषणा के अनुसार भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य पुन. निर्धारित किया गया। स्वर्ण के रूप मे रुपये का नया मूल्य (new par value) 0·118517 ग्राम सोने के बराबर निश्चित किया गया, जबकि रुपये का पुराना सम मूल्य 0·186621 ग्राम सोने के बराबर था। इस प्रकार स्वर्ण के रूप मे रुपये का 36·5 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया। इस अवमूल्यन के परिणामस्वरूप रुपये की डालर के साथ विनिमय-दर इस प्रकार निर्धारित की गयी—1 अमरीकी डालर=7·50 भारतीय रुपये,[1] जबकि पुरानी विनिमय-दर थी - 1 अमरीकी डालर=4 76 भारतीय रुपये। इसी तरह रुपये की पौण्ड स्टर्लिंग के साथ नयी विनिमय-दर 1 ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिंग=21 भारतीय रुपये निर्धारित की गयी जबकि पुरानी विनिमय-दर थी—1 ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिंग=13·33 भारतीय रुपये था। लेकिन 18 नवम्बर, 1967 को ब्रिटेन द्वारा पौण्ड का 14·3 प्रतिशत अवमूल्यन किये जाने के पश्चात अब भारतीय रुपये की पौण्ड स्टर्लिंग के साथ नयी विनिमय-दर निश्चित की गयी है। 1 ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिंग 18 भारतीय रुपयों के बराबर है। रूसी रूबल (Rouble) के साथ भारतीय रुपये की नयी विनिमय-दर 1 रूबल=8·33 रुपये निर्धारित हुई जबकि पुरानी दर 1 रूबल=5 22 रुपये थी। स्वर्ण के रूप मे तो भारतीय रुपये का अवमूल्यन 36·1 प्रतिशत ही हुआ था लेकिन विदेशी मुद्राओ के रूप मे रुपये का मूल्य 57 प्रतिशत गिर गया था। कहा जाता है कि प्रारम्भ मे विश्व बैंक ने भारतीय रुपये का विदेशी मूल्य 75 प्रतिशत कम करने की सिफारिश की थी लेकिन बाद मे वह 57 प्रतिशत अवमूल्यन से ही सहमत हो गया था।

वास्तव मे, विश्व बैंक तो सन् 1965 से ही भारत सरकार पर यह दबाव डाल रहा था कि वह रुपये का यथाशीघ्र अवमूल्यन कर दे। सन् 1965 मे विश्व बैंक के बेल-मिशन (Bell Mission) ने अपनी रिपोर्ट बैंक को प्रस्तुत करते समय इस बात पर जोर दिया था कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था तब तक आगे नही बढ सकती जब तक कि रुपये का अवमूल्यन नही किया जाता। इसी आधार पर विश्व बैंक निरन्तर भारत सरकार पर दबाव डालता रहा कि रुपये का अवमूल्यन यथाशीघ्र कर दिया जाय लेकिन भारत के भूतपूर्व वित्तमन्त्री श्री कृष्णमाचारी ने सदैव इसका विरोध किया और रुपये का अवमूल्यन नही होने दिया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता

---

[1] दिसम्बर, 1971 में अमरीकी सरकार ने डालर का 7 9 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया था। इस पर भारत सरकार ने भारतीय रुपये का 3 प्रतिशत पुनर्मूल्यन कर दिया। परिणामतः अब 7·.79 रुपये एक अमरीकी डालर के बराबर हैं।

है कि विश्व बैंक ने भी इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और आलोचकों के अनुसार बैंक ने यह शर्त लगा दी कि जब तक भारत सरकार रुपये का अवमूल्यन नहीं करती तब तक भारत को विदेशी सहायता नहीं दी जायगी। अन्त में भारत सरकार ने विवश होकर बैंक के प्रस्ताव को मान ही लिया यद्यपि रुपये का अवमूल्यन भारत के व्यापक हितों में नहीं था। मार्च 1966 में प्रकाशित की गयी भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट में तो स्पष्टत स्वीकार किया गया था कि रुपये का अवमूल्यन भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिये हानिकारक सिद्ध होगा। अन्तिम समय तक भारत सरकार के मन्त्री एव प्रवक्तागण यही कहते रहे कि रुपये के अवमूल्यन का सरकार का कोई इरादा नहीं है। यहाँ तक कि यह विषय सरकार के विचाराधीन भी नहीं है। लेकिन 6 जून को की गयी सरकारी घोषणा से देशवासी चकित रह गये यद्यपि विदेशों में अवमूल्यन के बारे में चर्चा सन् 1965 से ही हो रही थी। इससे स्पष्ट है कि सरकार का उक्त निर्णय विदेशी दबाव के ही कारण हुआ था।

रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते समय वित्तमन्त्री ने सरकार के कुछ अन्य निर्णयों से भी देशवासियों को अवगत कराया। प्रथम, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप आयातित खाद्यान्नों, मिट्टी का तेल, रासायनिक खाद, डीजल तेल आदि आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को नहीं बढ़ने दिया जायगा। वैसे तो अवमूल्यन के कारण इन वस्तुओं की कीमतें बढ़ जानी चाहिए लेकिन सरकार यही प्रयास करेगी कि इनकी कीमतें यथासम्भव अवमूल्यन पूर्व स्तर पर ही बनी रहें। इसके लिए सरकार अपनी ओर से उपदान (subsidies) देगी। दूसरे, सभी तत्कालीन निर्यात प्रोत्साहन परियोजनाएँ (export incentive schemes) समाप्त कर दी जायेंगी, अर्थात् अब सरकार अपनी ओर से निर्यातकर्त्ताओं को निर्यात वृद्धि हेतु उपदान देना बन्द कर देगी क्योंकि अब इनकी आवश्यकता नहीं रही। तीसरे, कुछ निर्यातों पर (जिन्हें अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं थी) निर्यात-कर (export duties) लगा दिये जायेंगे। चौथे, आयातों पर लगाये गये प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया जायगा और उनके प्रति सरकारी नीति को उदार बना दिया जायगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आयात करों (import duties) में भी संशोधन किये जायेंगे।

रुपये का अवमूल्यन क्यों किया गया ?—वित्त मन्त्री ने अपने रेडियो ब्रॉडकास्ट में अवमूल्यन के कारणों पर भी प्रकाश डाला था। प्रथम, सरकार के अनथक प्रयासों के बावजूद देश के निर्यातों में वृद्धि नहीं हो रही थी। यद्यपि सरकार निर्यात-वृद्धि हेतु करोड़ों रुपये उपदानों (subsidies) पर व्यय कर रही थी तथापि निर्यात स्तर में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो रही थी। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीय निर्यातों की कीमतें अन्तरराष्ट्रीय कीमतों से ऊँची थीं और सरकारी उपदानों के बावजूद भारतीय निर्यात विदेशी बाजारों में अन्य देशों की वस्तुओं का मुकाबला नहीं कर पा रहे थे। इसके विपरीत, भारी आयात-करों के बावजूद विदेशी माल भारत में भारतीय माल की तुलना में सस्ता बिक रहा था। फलत आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम (import substitution programme) को क्रियान्वित करने में भारी कठिनाई अनुभव की जा रही थी। दूसरे, आयातों पर पड़े प्रतिबन्धों के कारण भारत के कतिपय उद्योगों को आवश्यक मात्रा में कच्चा माल एव कल पुर्जे उपलब्ध नहीं हो रहे थे, जिसके कारण इन उद्योगों का उत्पादन बहुत गिर चुका था। इनमें से कुछ उद्योग तो पूर्णतः ठप्प हो चुके थे और शेष अपनी पूर्ण क्षमता तक उत्पादन नहीं कर रहे थे। इससे देश के औद्योगिक उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था। तीसरे भारत के भुगतान सन्तुलन (balance of payments) के निरन्तर कई वर्षों तक प्रतिकूल रहने के फलस्वरूप देश की विदेशी मुद्रा निधि (foreign exchange reserves) में भारी गिरावट आ चुकी थी। दूसरी पचवर्षीय योजना के आरम्भ में इस निधि में लगभग 785 करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा थी लकिन मार्च 1966 में यह गिरकर केवल 184 रुपये के बराबर रह गयी। चौथे, विगत 10 वर्षों में रुपये के आन्तरिक मूल्य में भारी गिरावट आयी थी क्योंकि इस अवधि में कीमत-स्तर में लगभग 80 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। यद्यपि रुपये के आन्तरिक मूल्य में इतनी गिरावट आयी थी लेकिन इसका बाह्य मूल्य विगत दस वर्षों में अपरिवर्तित ही रहा था। रुपये के आन्तरिक एव बाह्य मूल्य के इस अन्तर के कारण ही बड़े पैमाने पर देश में तस्कर व्यापार (smuggling) हो रहा था जिससे सरकार को प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की विदेशी मुद्रा की हानि हो रही थी। पाँचवे, भारत में विदेशी निवेशकर्ता (foreign investors) अभाव की स्थिति से

लाभ उठाकर भारी मुनाफे कमा रहे थे और अतिमूल्यित रुपये (over valued rupee) के कारण बडे पैमाने पर उन मुनाफो को विदेशो मे भेज रहे थे। इससे देश की विदेशी मुद्रा-निधि पर अनुचित दबाव पड रहा था। छठे, विगत कुछ वर्षों से भारत के अदृश्य उपार्जनो (invisible earnings) मे भारी गिरावट आ चुकी थी। वित्तमन्त्री के अनुसार उपरोक्त कारणो से स्थिति को यथास्थिर बनाये रखना सम्भव नहीं था। अत रुपये का अवमूल्यन अनिवार्य हो गया था।

अवमूल्यन के पक्ष मे तर्क (Arguments for Devaluation)—सरकार की ओर से अवमूल्यन के समर्थन मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये थे —

(1) **निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन**—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारतीय निवेशकर्ताओ के लिए निर्यात उद्योगो (export industries) का आकर्षण बढ जायगा अर्थात पहले की अपेक्षा भारतीय निवेशकर्ता निर्यात उद्योगो मे अधिक पूंजी लगाना पसन्द करेंगे। इससे निर्यात उद्योगो मे उत्पादन बढ जायगा और निर्यात को बढाने मे सहायता मिलेगी।

इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के उपरान्त गैर निर्यात उद्योगो (non-export industries) मे कीमतो के बढने की और भी अधिक सम्भावना है। अत भारतीय निवेशकर्ताओ के लिए गैर-निर्यात उद्योगो का आकर्षण और भी बढ जायगा। घरेलू बाजार मे उन्हे किसी भी देश से प्रतियोगिता का सामना नही करना पडता जबकि अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे उन्हे विभिन्न देशो से स्पर्द्धा का मुकाबला करना पडता है। इस प्रकार अन्तरराष्ट्रीय बाजारो की तुलना मे घरेलू बाजार को वे अब भी वरीयता (preference) देंगे अर्थात गैर निर्यात उद्योगो का आकर्षण उनके लिए बराबर बना रहेगा और निर्यात उद्योगो मे उत्पादन के बढने की कोई विशेष सम्भावना नही होगी।

(2) **आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम को बढावा**—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश मे आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम (import substitution programme) को क्रियान्वित करने मे बहुमूल्य सहायता मिलेगी। जैसा विदित है इस समय भारत सरकार ने एक आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम बना रखा है। इससे अभिप्राय यह है कि विदेशो से मशीनें एव कल पुर्जे आयात करने के बजाय देश मे ही उनका उत्पादन किया जाय। सरकार का कहना है कि अब तक यह कार्यक्रम देश मे अधिक प्रगति नही कर पाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारी आयात करो के बावजूद विदेशी मशीनें भारतीय मशीनो की तुलना मे सस्ती पडती हैं। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी मशीनें और अधिक मँहगी हो जायेंगी और भारतीय मशीनें सुगमता से उनका मुकाबला कर सकेंगी। फलत आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम को सरलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकेगा।

किन्तु इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति तो अन्य तरीकों से भी की जा सकती थी। इसके लिए अवमूल्यन जैसे क्रान्तिकारी कदम की क्या आवश्यकता थी? आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए सरकार विदेशी मशीनो पर और अधिक भारी कर लगाकर उनकी कीमतो को बढा सकती थी। कुछ विशेष प्रकार की मशीनो का आयात पूर्णत बन्द भी किया जा सकता था, यदि सरकार का उद्देश्य वैसी भारतीय मशीनो को प्रोत्साहन देना था। कहने का तात्पर्य यह है कि आयात प्रतिस्थापन के लिए अवमूल्यन कोई अनिवार्य औषधि नही थी।

(3) **भारतीय रुपये का मूल्य यथार्थ हो जायगा**—इससे भारतीय रुपये को अपना यथार्थ मूल्य (realistic value) प्राप्त करने मे सहायता मिलेगी। सरकार के कथनानुसार बाह्य क्षेत्र मे भारतीय रुपये का मूल्य यथार्थ नही था। अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे भारतीय रुपया सरकार द्वारा निर्धारित दर से कही कम कीमत पर बिक रहा था। दूसरे शब्दो मे, रुपये की सरकार द्वारा निर्धारित कीमत वास्तविक नही थी। सरकार का दावा है कि अवमूल्यन से भारतीय रुपये का मूल्य अपने सही वास्तविक स्तर पर पहुँच जायगा।

इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था एक नियोजित अर्थ व्यवस्था (Planned Economy) है। नियोजित अर्थ व्यवस्था मे कीमत पूर्णत माँग एव पूर्ति की शक्तियो की दया पर नही छोडी जा सकती हैं। उन्हे भी नियोजित करना पडता है। मुद्राओ की विनिमय-दर भी एक प्रकार की कीमत ही होती है। अन्य कीमतो की भाँति उसे भी बाजारी शक्तियो पर

नही छोडा जा सकता । यदि रुपये के बाह्य मूल्य को बाजारी शक्तियो के आधार पर ही निर्धारित करना है तो फिर देश के आन्तरिक कीमत स्तर का सरकारी नियन्त्रण रखने की बात क्यो की जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था मे मुद्रा के बाह्य मूल्य को बाजारी-शक्तियो द्वारा निर्धारित नही होने दिया जाता । इसके विपरीत, देश का आयोजना आयोग (Planning Commission) देशी मुद्रा का बाह्य मूल्य इस ढग से निर्धारित करता है कि उससे अर्थ-व्यवस्था को अधिकतम लाभ होता है ।

(4) **देश का उत्पादन बढेगा**—सरकार का दावा है कि अवमूल्यन से देश का औद्योगिक उत्पादन बढ़ेगा और स्फीति का मुकाबला करने मे बहुमूल्य सहायता मिलेगी । कहा जाता है कि इस समय देश मे अनेक उद्योग ऐसे हैं जो कच्चे माल एव कल पुर्जो के अभाव के कारण अपनी पूर्ण क्षमता तक उत्पादन नही कर पा रहे हैं । कुछ उद्योग तो ऐसे हैं जिनमे उत्पादन कार्य पूर्णत ठप्प हो चुका है । अवमूल्यन के परिणामस्वरूप ये उद्योग-धन्धे विदेशो से कच्चा माल, कल पुर्जो आदि का सरलतापूर्वक आयात कर सकेंगे । इस तरह औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि हो सकेगी । इनमे से कुछ उद्योग तो विदेशो को भी माल निर्यात करते है । इससे निर्यातो को भी प्रोत्साहन मिलेगा ।

लेकिन इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि कच्चे माल एव कल पुर्जो का आयात तो बिना अवमूल्यन के भी प्रोत्साहित किया जा सकता है । यदि ऐसी वस्तुओ के आयात पर सरकार आयात-कर हटा देती है अथवा कम कर देती है और आयातकर्ताओ को माल आयात करने हेतु पर्याप्त विदेशी मुद्रा मुहय्या करती है तो निश्चय ही इन वस्तुओ के आयात मे वृद्धि की जा सकती है । इसके लिए अवमूल्यन जैसे दूरगामी कदम उठाने की क्या आवश्यकता है ।

(5) **भारत मे विदेशी पूंजी का प्रवाह बढेगा**—सरकार के कथनानुसार अवमूल्यन का एक अन्य लाभ यह होगा कि इसके फलस्वरूप विदेशो से भारत की ओर प्रेषणाएँ (remittances) प्रोत्साहित होगी और भारत से विदेशो की ओर प्रेषणाएँ निरुत्साहित होगी । अर्थात विदेशो से भारत की ओर पूंजी का प्रवाह बढेगा लेकिन भारत से पूंजी का बहिर्गमन हतोत्साहित होगा । विदेशी पूजीपतियो के लिए भारत मे पूंजी लगाना लाभदायक हो जायगा और पहले की अपेक्षा वे भारत मे अधिक पूंजी लगा सकेंगे । इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । अवमूल्यन से पूर्व एक अमरीकी निवेशकर्ता 1 डालर से भारत मे 4 76 रु० की पूंजी लगा सकता था । अब अवमूल्यन के फलस्वरूप उसी एक डालर से वह भारत मे 7 50 रु० की पूंजी लगा सकेगा । दूसरे शब्दो मे, विदेशी निवेशकर्ताओ की पूंजी का रुपया मूल्य (rupee value) बढ जायगा । इससे आकर्षित होकर वे भारत मे अधिकाधिक मात्रा मे पूंजी लगायेंगे ।

लेकिन हमारा विगत अनुभव हमे बताता है कि विदेशी पूंजीपति केवल अवमूल्यन के तत्कालिक लाभ से प्रभावित होकर पूंजी नही लगाते, बल्कि वे अन्य कई प्रकार की रियायतो की भी माँग करते हैं । इसके अलावा यह भी एक विचारणीय विषय है कि भारत जैसी नियोजित अर्थ व्यवस्था मे विदेशी पूँजी को अन्धाधुन्ध निमन्त्रण देना कहाँ तक उचित है । सरकार की ओर से यह भी कहा गया है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत से विदेशो को जाने वाली प्रेषणाएँ (remittances) निरुत्साहित होगी । विदेशी पूंजीपतियो द्वारा भारत मे कमाये गये मुनाफो को बाहर भेजने की विदेशी मुद्रा के रूप मे लागत पहले की अपेक्षा कम हो जायगी । इससे देश के विदेशी मुद्रा के रूप मे साधनो पर कम भार पडेगा । इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । अवमूल्यन से पूर्व विदेशी पूजीपतियो को 1 डालर प्राप्त करने के लिए 4 76 रुपये देने पडते थे । अब अवमूल्यन के फलस्वरूप उसी 1 डालर को प्राप्त करने के लिए उसे 7 50 रुपये चुकाने पड़ेंगे । इस प्रकार देश के विदेशी मुद्रा साधनो पर तो भार कम हो जायगा लेकिन विदेशियो को अपने मुनाफो को विदेशी मुद्रा मे बदलने के लिए अधिक रुपये चुकाने होंगे । सरकार की ओर से कहा गया है कि इससे विदेशो को जाने वाली प्रेषणाएँ निरुत्साहित होगी और विदेशियो द्वारा कमाये गये मुनाफो का देश मे पुन निवेश कर दिया जायगा ।

लेकिन इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के बावजूद विदेशी पूंजीपति अपने मुनाफो को स्वदेश भेजना बन्द अथवा कम नही करेंगे और मुनाफो को विदेशी मुद्रा मे

बदलने की बढ़ी हुई रुपया लागत (rupee cost) को वे अपने माल के दाम बढ़ाकर पूरा कर लेंगे। अत सरकार के उक्त तर्क मे कोई अधिक सार प्रतीत नही होता है।

(6) *पर्यटन उद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा*—सरकार द्वारा अवमूल्यन के समर्थन मे यह भी कहा गया है कि इसके फलस्वरूप भारत के पर्यटन उद्योग (tourist industry) को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा अर्थात् पहले की अपेक्षा अब अधिक सख्या मे पर्यटक भारत आना पसन्द करेंगे। इससे भारत के विदेशी मुद्रा उपार्जनों (foreign exchange earnings) मे वृद्धि हो जायगी। इसमे सन्देह नही कि अवमूल्यन से हमारे विदेशी मुद्रा उपार्जनो मे अवश्य ही कुछ वृद्धि होगी लेकिन इस सम्बन्ध मे किसी अधिक वृद्धि की आशा नही की जा सकती। इसके दो कारण हैं प्रथम, जहाँ तक समुद्री जहाजों एव हवाई जहाजो के भाड़ो का सम्बन्ध है, वे तो विदेशी पर्यटक साधारणत अपने देश की कम्पनियो को अपनी मुद्रा मे ही चुकाते हैं। इससे भारत को कोई लाभ नही होता। यदि अधिक सख्या मे भारत आकर विदेशी पर्यटक अधिक व्यय करते हैं तो इससे निश्चय ही भारत के विदेशी मुद्रा-उपार्जनो मे वृद्धि होगी। लेकिन, जैसा विदित है सन 1965 से भारत स्थित अमरीकी दूतावास ने अमरीकी पर्यटकों को डालरो के बदले भारतीय मुद्रा देने की व्यवस्था कर ली है। अमरीकी पर्यटको को भारतीय मुद्रा पी० एल० 480 लेखे (P L 480 Fund) मे से दी जा रही है। इस प्रकार भारत सरकार उन डालरो से वचित हो गयी है जो वास्तव मे उसे मिलने चाहिए थे। अत जैसा ऊपर कहा गया है, अवमूल्यन से भारत के विदेशी मुद्रा उपार्जनो मे पर्यटन के कारण कोई विशेष वृद्धि होने वाली नही है।

(7) *तस्कर व्यापार कम हो जायगा*—अवमूल्यन के समर्थन मे एक तर्क यह प्रस्तुत किया गया है कि इससे तस्करी (smuggling) एव अन्य गैर कानूनी तथा समाज विरोधी कार्यवाहियो (illegal and anti social practices) मे कमी होगी। अवमूल्यन से पूर्व समाज विरोधी तत्वो द्वारा ये कार्यवाहियाँ बडे पैमाने पर देश मे की जा रही थी। उदाहरणार्थ, सोने घडियो कैमरो, ट्रांजिस्टरो आदि का तस्कर व्यापार बडे पैमाने पर प्रचलित था। यात्री चैको (travellers cheques) को चोर बाजार मे ऊँचे दामो पर बेचा जाता था। व्यवसायियो द्वारा आयातो का बीजक मूल्य अधिक और निर्यातो का कम लगाया जाता था (There was over-invoicing of imports and under invoicing of exports)। सरकार का दावा है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप इन गैर-कानूनी कार्यवाहियो मे कमी हो जायगी क्योकि रुपये के अवमूल्यन के पश्चात समाज-विरोधी तत्वो को इनके लिए विशेष आकर्षण नही रहेगा।

लेकिन इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के उपरान्त भी कुछ भारतीय कीमतो एव अन्तरराष्ट्रीय कीमतो मे अन्तर बना रहेगा अर्थात भारतीय कीमतें अन्तरराष्ट्रीय कीमतो की तुलना मे ऊँची रहेगी। उदाहरणार्थ सोने की भारतीय कीमत अन्तरराष्ट्रीय कीमत से निश्चय ही ऊँची रहेगी। इसी प्रकार जिन वस्तुओ का आयात सरकार द्वारा पूर्णत निषिद्ध (prohibited) कर दिया गया है, उनकी कीमत भी अन्तरराष्ट्रीय कीमतो से ऊँची रहेगी। अत तस्करी को पूर्णत समाप्त नही किया जा सकता और फिर तस्करी का उन्मूलन करने के लिए मुद्रा अवमूल्यन का सहारा लेना बुद्धिमत्ता नही है।

(8) *विदेशी मुद्रा-उपार्जनो मे वृद्धि*—अवमूल्यन के पक्ष मे सरकार द्वारा यह भी कहा जा रहा है कि इसके परिणामस्वरूप भारत के विदेशी मुद्रा-उपार्जनो मे वृद्धि होगी तथा देश की विदेशी मुद्रा-निधि (foreign exchange reserves) सुदृढ हो जायगी। इससे देश के वतमान प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन मे निश्चय ही सुधार होगा। इसमे सन्देह नही कि मुद्रा अवमूल्यन से साधारणत देश के निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है और उसके परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा उपार्जनो मे वृद्धि होती है। लेकिन जैसा आगे चलकर बताया जायगा, अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि होने की सम्भावना नही है। अत यह आशा करना कि अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत की विदेशी मुद्रा-निधि सुदृढ हो जायगी, बेकार है।

(9) *निर्यात उपदान समाप्त करने से सरकार को करोडो रुपये की बचत होगी*—जैसा ऊपर बताया गया है, रुपये के अवमूल्यन के पश्चात भारत सरकार ने सभी निर्यात प्रोत्साहन

परियोजनाओ (export incentive schemes) को समाप्त कर दिया है। भारत सरकार प्रतिवर्ष इन परियोजनाओ पर करोडो रुपये व्यय कर रही थी। इस रुपये से निर्यातकर्ताओ को उपदान (subsidies) दिये जा रहे थे। इन परियोजनाओ के समाप्त किये जाने पर अब भारत सरकार को करोडो रुपयो की बचत हो गयी थी। इससे सरकार के कथनानुसार, बजट पर पडने वाला वित्तीय भार (financial burden) कम हो जायगा।

किन्तु इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के बावजूद सरकार को कुछ वस्तुओ के निर्यात पर उपदान देने पडेगे। वास्तव मे, अवमूल्यन के दो महीने बाद ही भारत सरकार ने कुछ वस्तुओ के निर्यात पर पुन उपदान देने आरम्भ कर दिये थे।

(10) **अवमूल्यन से अन्य देश लाभान्वित हुए हैं**—अपने अवमूल्यन सम्बन्धी निर्णय का समर्थन करने के लिए सरकार ने दो अन्य देशो अर्थात् फ्रास एव युगोस्लाविया के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। वित्तमन्त्री के अनुसार इन दोनो देशो ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (I M F.) के परामर्श पर, अपनी-अपनी मुद्राओ का अवमूल्यन कर दिया था। दोनो को ही मुद्रा-अवमूल्यन से लाभ हुआ और उनकी अर्थ व्यवस्थाएँ निरन्तर आगे बढती चली गयी हैं। इसमे सन्देह नही कि फ्रान्स तथा युगोस्लाविया दोनो को ही मुद्रा-अवमूल्यन से आर्थिक लाभ हुआ है। लेकिन भारत जैसे पिछडे हुए एव अर्द्ध विकसित देश पर इन विकसित देशो का उदाहरण लागू करना उचित नही। भारत पर तो इण्डोनेशिया का उदाहरण सम्भवत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि भारत एव इण्डोनेशिया दोनो ही अर्द्ध-विकसित देश हैं और दोनो की अर्थ-व्यवस्थाओ मे काफी समानता भी पायी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व इण्डोनेशिया मे मुद्रा अवमूल्यन किया गया था लेकिन इससे वहाँ पर जो विनाशकारी परिणाम दृष्टिगोचर हुए, उनसे सभी परिचित हैं। मुद्रा-अवमूल्यन से इण्डोनेशिया मे सरपट स्फीति (galloping inflation) फूट पडी और देश की आर्थिक दशा निरन्तर गिरती चली गयी। सन् 1952 मे इण्डोनेशिया एव अमरीका के बीच की मुद्रा की दर 1 अमरीकी डालर=31 72 इण्डोनीशी रुपये थी। यही विनिमय दर सन् 1965 मे 1 अमरीकी डालर—10,000 इण्डोनेशी रुपये हो गयी थी। इससे स्पष्ट है कि मुद्रा-अवमूल्यन के लिए इण्डोनेशिया को कितनी भारी कीमत चुकानी पडी थी।

अवमूल्यन के विपक्ष में तर्क (Arguments Against Devaluation)—अवमूल्यन के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

(1) **निर्यातों में विशेष वृद्धि की सम्भावना नहीं है**—आलोचको के अनुसार रुपये के अवमूल्यन से देश के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि होने वाली नही है। जैसा ऊपर कहा गया है, अवमूल्यन का मुख्य उद्देश्य देश के निर्यातो मे वृद्धि करना है। यदि इस उद्देश्य की पूर्ति नही होती तो अवमूल्यन बेकार सिद्ध होगा। वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भविष्य मे देश के निर्यातो मे किसी विशेष वृद्धि के होने की सम्भावना नही है। प्रथम, हमारे परम्परागत निर्यात (traditional exports) तो पहले ही अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच चुके हैं, अवमूल्यन के फलस्वरूप उनके और अधिक बढने की कम सम्भावना है। हाँ, अवमूल्यन से देश के नये निर्यातो की माँग मे वृद्धि की कुछ सम्भावना अवश्य ही है। लेकिन यहाँ पर कठिनाई यह है कि निर्यात करने हेतु इन वस्तुओ का स्टॉक हमारे पास सीमित है अर्थात् हम इन वस्तुओ की बढी हुई माँग को सन्तुष्ट करने मे असमर्थ हैं। यदि हम इन वस्तुओ को घरेलू उपभोग (domestic consumption) मे से निकालकर विदेशो को निर्यात करते हैं तो इससे देश की आन्तरिक स्फीतिक समस्या और भी गम्भीर हो जायगी अर्थात् घरेलू बाजार मे इन वस्तुओ की कीमतें और भी अधिक बढ जायेंगी।

दूसरे, जसा कि भारत सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय की सन् 1966-66 की वार्षिक रिपोर्ट मे बताया गया है, सन् 1965 मे भारत के निर्यातो का कुल मूल्य 807 5 करोड रुपये था। इसमें 82 8 प्रतिशत (अर्थात् 666 6 करोड रुपये के मूल्य के) निर्यात ऐसे थे जिन्हे अन्तरराष्ट्रीय बाजारो मे अन्तरराष्ट्रीय कीमतो पर ही बेचा गया था। दूसरे शब्दों मे, इन निर्यातो पर सरकार की ओर से कुछ भी उपदान नही दिये गये और बिना सरकारी सहायता के ही इन

निर्यातो ने विदेशी वस्तुओ का मुकाबला किया था। केवल 17 2 प्रतिशत (अर्थात् 140 9 करोड रुपये के मूल्य के) निर्यातो को ही सरकारी उपदान देने की आवश्यकता पडी थी क्योकि इन वस्तुओ की आन्तरिक कीमतें अन्तरराष्ट्रीय कीमतो से 30 से लेकर 80 प्रतिशत ऊँची थी। रुपये के अवमूल्यन से इन निर्यातो को तो निश्चय ही प्रोत्साहन मिलेगा लेकिन शेष 82·8 प्रतिशत निर्यातो पर विदेशी मुद्रा के रूप मे देश को हानि सहन करनी होगी। इस हानि से बचने के लिए यदि इन वस्तुओ के निर्यात पर सरकार निर्यात-कर लगाती है तो विदेशी आयातकर्ता इसे पसन्द नही करेंगे और खुलकर इनका विरोध करेंगे। जैसा ऊपर कहा गया है, अवमूल्यन का निर्णय करते समय सरकार ने परम्परागत निर्यातो पर निर्यात-कर लगा दिये हैं लेकिन अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे इसकी अच्छी प्रतिक्रिया नही हुई है।

तीसरे, हमारे निर्यातो मे कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके निर्माण मे विदेशी कच्चे माल का उपयोग किया जाता है। अवमूल्यन के फलस्वरूप निश्चय ही इन वस्तुओ की लागतो मे वृद्धि होगी और इनकी कीमतें बढ जायेंगी। इससे इन वस्तुओ का निर्यात बढाने मे कठिनाई होगी। इस प्रकार समग्र रूप मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत के निर्यातो मे कोई विशेष वृद्धि होने की सम्भावना नही है। कुछ आलोचको के अनुसार अवमूल्यन के कारण भारत के वर्तमान निर्यातो को उनके पूर्व स्तर पर बनाये रखना भी कठिन होगा। उस समय, जैसा ऊपर कहा गया है, भारत के वर्तमान निर्यातों का कुल मूल्य लगभग 800 करोड रुपये था। अवमूल्यन के पश्चात इसी स्तर को बनाने रखने के लिए देश को अपने निर्यातो मे लगभग 50 प्रतिशत की वृद्धि करनी होगी। चूंकि निर्यातो को 50 प्रतिशत तक बढाना सरल कार्य नही है, इसलिए आलोचको के कथनानुसार भारत के वर्तमान विदेशी मुद्रा उपार्जनो (foreign exchange earnings) मे गम्भीर कमी उत्पन्न हो जायगी।

(2) *आयातित माल की कीमतें बढ जायेंगी*—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप विदेशो से किये गये आयातित माल की कीमते बढ जायेंगी। इस समय भारत विदेशो से कच्चा माल, कल-पुर्जे एव मशीनो का आयात कर रहा है। अनुमान लगाया गया है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप इन वस्तुओ की कीमते लगभग 34 से 38 प्रतिशत तक बढ जायेंगी। इससे देश की अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडेगा। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अवमूल्यन से पूर्व अमरीका से 1 डालर के मूल्य की वस्तु का आयात करने पर भारतीय आयातकर्ता को 4 76 रुपये देने पडते थे। अब अवमूल्यन के पश्चात् उसी वस्तु के लिए भारतीय आयातकर्ता को 7 50 रुपये देने पडेंगे। इसी प्रकार ब्रिटेन से 1 पौण्ड स्टर्लिंग का माल आयात करने पर भारतीय आयातकर्ता को अवमूल्यन से पूर्व 13 33 रुपये चुकाने पडते थे। अब उसी वस्तु के लिए आयातकर्ता को 22 रुपये देने पडेंगे। इस प्रकार भारत मे सभी प्रकार के विदेशी माल की कीमते 34 से लेकर 38 प्रतिशत तक बढ जायेंगी।

इस सन्दर्भ मे भारत के तत्कालीन वित्तमन्त्री श्री शचीन्द चौधरी का कहना है कि विदेशी माल की कीमते तो निश्चय ही बढेंगी, लेकिन ये कीमतें उस अनुपात मे नही बढेंगी जिसमे रुपये का अवमूल्यन किया गया है अर्थात् विदेशी वस्तुओ की कीमत वृद्धि रुपये के अवमूल्यन के अनुपात से कम होगी। उनका तर्क यह था कि विदेशी माल की वर्तमान कीमतें दुर्लभता के कारण पहले ही इतनी ऊँची है कि उनके और अधिक बढने की सम्भावना नही है। विदेशी माल की आयातित लागत (imported cost) तो निश्चय ही बढ जायगी लेकिन आयातकर्ता अपने वर्तमान अत्यधिक मुनाफो को कम करके उसे तटस्थ कर देंगे। इस प्रकार उपभोक्ताओं पर कोई विशेष प्रतिकूल प्रभाव नही पडेगा। दूसरे शब्दो मे, आयातकर्ता अपने वर्तमान मुनाफो को कम करके आयातित माल की कीमतो मे अधिक वृद्धि नही होने देंगे। वित्तमन्त्री के इस तर्क मे कुछ भी सार प्रतीत नही होता। आयातकर्ताओ से यह आशा करना कि वे अपने मुनाफो को कम करके कीमतो को बढने नही देंगे, वास्तविकता के विपरीत है। बल्कि डर तो इस बात का है कि आयातकर्ता अभाव की स्थिति का लाभ उठाते हुए कही विदेशी माल की कीमतो को रुपये के अवमूल्यन के अनुपात से भी अधिक न बढा दें।

(3) **घरेलू कीमत-स्तर में वृद्धि होगी**—*अवमूल्यन के परिणामस्वरूप घरेलू कीमत-स्तर* मे निश्चय ही वृद्धि हो जायगी। जैसा ऊपर कहा गया है, अवमूल्यन के कारण विदेशी माल की कीमतें बढ जायेंगी। विदेशो से आयातित कच्चे माल, कल-पुर्जो तथा मशीनो आदि की कीमतो मे वृद्धि होने के परिणामस्वरूप भारत मे निर्मित माल की उत्पादन लागत भी बढ जायगी। परिणामत भारतीय माल की कीमतें बढ़े बिना नही रह सकती। इसके अलावा, विदेशो से आयात की जाने वाली कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका छोटे पैमाने पर उत्पादन भारत मे भी किया जा रहा है। अवमूल्यन के फलस्वरूप चूंकि विदेशी माल की कीमतें बढ जायेंगी, अत इस प्रकार भारतीय *माल की कीमतें भी बढ़े बिना नहीं रह सकतीं। इसके साथ ही साथ अवमूल्यन के परिणाम*-स्वरूप आन्तरिक कीमते (internal prices) आयात-कीमतो (import prices) की देखादेखी बढ जाया करती हैं। अर्थशास्त्र की भाषा मे इसे कीमतो की सहानुभूतिक वृद्धि (sympathetic rise in prices) कहते हैं। अत यह तो निश्चित ही है कि *अवमूल्यन के परिणामस्वरूप घरेलू* कीमत स्तर मे वृद्धि हो जायगी। इससे बँधी आय वाले वर्गों (fixed income groups) पर बुरा प्रभाव पडेगा। वे तो पहले ही ऊँची कीमतो के कारण पीडित हैं। अवमूल्यन से उनकी मुसीबतें और बढ जायेंगी और उनका जीवन स्तर और नीचे गिर जायगा। यह सत्य है कि सरकार ने खाद्यान्नो, मिट्टी का तेल, कपडे एव कुछ अन्य वस्तुओ की कीमतो को स्थिर रखने का निश्चय किया है। इसके लिए सरकार अपने बजट मे से उपदान (Subsidies) देगी, लेकिन प्रश्न तो यह है कि इन उपदानो का भार भी तो अन्तत जनता पर ही पडेगा। सरकार इस प्रकार के उपदान भी तो *लोगो पर कर लगाकर ही दे सकेगी। फिर, इन गिनी-चुनी वस्तुओ की कीमतो को स्थिर रखकर* भी सरकार घरेलू कीमत-स्तर को बढने से नही रोक सकती।

(4) **भारत पर विदेशी ऋण का भार बढ जायगा**—जैसा विदित है, भारत सरकार ने विगत 15 वर्षों मे विदेशो से भारी मात्रा मे ऋण लिये हैं, अवमूल्यन के परिणामस्वरूप इन ऋणो का भार अत्यधिक बढ जायगा। 31 मार्च, 1966 को भारत का कुल विदेशी ऋण लगभग 2 629 18 करोड रुपये था। एक विश्वसनीय अनुमान के अनुसार अवमूल्यन के कारण भारत का यह विदेशी ऋण अब बढकर 4,000 करोड रुपये हो जायगा। केवल यही नहीं, इस ऋण पर प्रतिवर्ष चुकाया जाने *वाला ब्याज भी इसी अनुपात मे बढ जायगा। कुछ आलोचको का कहना है* कि कालान्तर मे यह भार इतना बढ जायगा कि इसे चुकाना सरकार की क्षमता से बाहर हो जायगा और अन्त मे, विवश होकर सरकार को अपना दिवालियापन घोषित करना पडेगा।

(5) **चौथी पचवर्षीय योजना पर प्रतिकूल प्रभाव**—*अवमूल्यन के फलस्वरूप* देश की चौथी पचवर्षीय योजना पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। जैसा ऊपर बताया गया है, अवमूल्यन के परिणाम-स्वरूप विदेशी मशीनो की कीमते बढ जायेंगी। हमारी चौथी पचवर्षीय योजना मे अनेक ऐसी *परियोजनाएँ (projects) सम्मिलित हैं जिनको क्रियान्वित करने मे बड़े पैमाने पर विदेशी मशीनो* की आवश्यकता पडेगी। इन मशीनो की कीमतो के बढ जाने से चौथी पचवर्षीय योजना की वित्तीय लागत निश्चय ही बढ जायगी। योजना आयोग के अनुसार चौथी योजना की कुल लागत 21,500 करोड रुपये से बढकर 24,500 करोड रुपये हो जायगी। सम्भवत देश 3,000 करोड रुपये के इस अतिरिक्त भार को वहन न कर सकेगा। यदि सरकार चौथी योजना की कुल लागत (21, 500 करोड) को ही स्वीकार करने का निर्णय करती है तो निश्चय ही योजना के भौतिक लक्ष्यो (physical targets) मे कटौती करनी पडेगी। यदि इस प्रकार योजना के भौतिक लक्ष्यों मे कमी कर दी जाती है तो देश के लिए, वास्तव मे, यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी। इससे देश की आर्थिक प्रगति की दर जो पहले ही बहुत कम है और अधिक नीचे गिर जायगी।

(6) **भारत की साख को धक्का लगेगा**—अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशो मे भारत की साख को आघात पहुँचेगा। कुछ समय पूर्व विदेशो मे भारत की साख ऊँची हुआ करती थी और भारतीय रुपया अपनी स्थिरता (stability) के लिए सुविख्यात था। लेकिन अवमूल्यन ने भारत के इस सुन्दर चित्र को अब मिट्टी मे मिला दिया है। वास्तव मे, विदेशी दबाव मे आकर भारत सरकार ने एक ऐसा कदम उठाया है जिसके विनाशकारी परिणाम आगे चलकर दृष्टि-गोचर होंगे।

(7) घाटे की अर्थ व्यवस्था को बढ़ावा मिलेगा—अवमूल्यन का एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि इससे घाटे की अर्थ-व्यवस्था (deficit financing) को प्रोत्साहन मिलेगा। अर्थात् सरकार को और अधिक मात्रा में नोट छापने पड़ेंगे। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप सरकारी व्यय में भारी वृद्धि हो जायगी। प्रथम, कतिपय वस्तुओं के उत्पादन एवं आयात पर सरकार को उपदान (subsidies) देने होंगे। दूसरे, देश में बढ़ती हुई महँगाई के कारण सरकार के प्रशासनिक व्यय में वृद्धि होगी। लेकिन, इसके विपरीत, सरकारी आय में वृद्धि होने की कोई सम्भावना नहीं है। कराधान तो पहले ही अपनी उच्चतम सीमा तक पहुँच चुका है। आन्तरिक ऋणों का क्षेत्र भी सीमित है। अतः सरकार को विवश होकर नोट ही छापने पड़ेंगे। इससे देश की आन्तरिक स्फीतिक समस्या और भी गम्भीर हो जायगी और सरपट स्फीति के फूट पड़ने का खतरा पैदा हो जायगा।

(8) भारत स्थित पी० एल० 480 अमरीकी निधि बढ़ जायगी—जैसा विदित है, अमरीका से आयात किये गये खाद्यान्नों की कीमत पी० एल० 480 सन्धि के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा रुपयों में दी जाती है। इन भुगतानों को अलग से एक विशेष निधि में जमा कर दिया जाता है जिसे पी० एल० 480 निधि (P. L. 480 Fund) कहते हैं। इस समय इस निधि में अरबों रुपये अमरीकी सरकार के नाम जमा हैं। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत सरकार को अमरीकी खाद्यान्नों के लिए अब 57 प्रतिशत अधिक रुपया इस निधि में जमा करना होगा, क्योंकि 1 डालर को चुकाने के लिए भारत सरकार को 4·76 रुपयों के बजाय अब 7·50 रुपये देने होंगे। इस प्रकार भारत की अर्थ व्यवस्था पर पी० एल० 480 निधि का बोझ और भी बढ़ जायगा। कुछ क्षेत्रों में यह आशंका प्रकट की जा रही है कि इस निधि का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए भी किया जा सकता है।

(9) अवमूल्यन से आयातकर्ताओं, उद्योगपतियों एवं व्यापारियों को आकस्मिक लाभ हुए हैं—अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के कुछ वर्गों जैसे आयातकर्ताओं, उद्योगपतियों एवं व्यापारियों को अप्रत्याशित एवं आकस्मिक लाभ (unexpected and windfall profits) हुए हैं। इन वर्गों के पास पहले से ही विदेशी वस्तुओं के स्टॉक मौजूद थे। अवमूल्यन की घोषणा के साथ ही इनके पास पड़े स्टॉक की कीमतें 57 प्रतिशत बढ़ गयीं और एक ही रात में इन्हें करोड़ों रुपये का लाभ हो गया। सरकार की करनी देखिए कि जो वर्ग पहले ही समृद्ध थे, अवमूल्यन से और अधिक सम्पन्न हो गये हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय धन का वितरण जो पहले ही असमान था और अधिक असमान हो गया है। इसकी कोई आशा नहीं कि विशेष लाभ कर (Gain Tax) लगाकर सरकार इन वर्गों के अप्रत्याशित एवं अनर्जित (unearned) लाभ को समाप्त कर देगी।

(10) क्या रुपये के बाह्य मूल्य को विशुद्ध आर्थिक आधारों पर निर्धारित करना उचित था?—ऊपर कहा जा चुका है कि नियोजित अर्थ व्यवस्था (planned economy) में कीमतों को विशुद्ध आर्थिक आधारों (pure economic considerations) अर्थात् माँग एवं पूर्ति की शक्तियों के आधार पर निर्धारित करना उचित नहीं होता। यदि नियोजित अर्थ व्यवस्था में भी माँग एवं पूर्ति के आधार पर कीमतों को निश्चित करना है तो फिर नियोजन (planning) की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। क्यों न गैर नियोजित अर्थव्यवस्था को ही अपना लिया जाय? कहने का तात्पर्य यह है कि नियोजित अर्थ व्यवस्था में विदेशी विनिमय दर (जो एक प्रकार से हमारी मुद्रा की विदेशी कीमत है) को माँग एवं पूर्ति के आधार पर नहीं, बल्कि देश के व्यापक हितों के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण से भारतीय रुपये का अवमूल्यन अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। यह निश्चय ही देश के व्यापक हितों के विपरीत है।

(11) क्या रुपये का अवमूल्यन आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम में सहायक होगा?—रुपये का अवमूल्यन करने में सरकार का मुख्य तर्क यही रहा है कि इससे देश के आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम (import substitution programme) में सहायता मिलेगी अर्थात् आयातित माल के स्थान पर देशी माल का अधिकाधिक प्रयोग किया जा सकेगा। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी माल (अर्थात् मशीनें एवं कल पुर्जे) महँगा हो जायगा जिससे देश में भारतीय माल के उत्पादन को

प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार विदेशी मशीनो के स्थान पर देशी मशीनो का प्रयोग सम्भव हो सकेगा। लेकिन इसके प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि अवमूल्यन के उपरान्त भी भारतवासियो का विदेशी माल के प्रति मोह ज्यो का त्यो बना रहेगा अर्थात् विदेशी माल के महँगे होने के बावजूद लोग उसे ही वरीयता (preference) देते रहेंगे। भारत के सम्पन्न एव समृद्ध कुछ वर्ग आज विदेशी माल के लिए जान देते हैं और विदेशी उपभोग वस्तुओ के लिए कुछ भी कीमत चुकाने के लिए तैयार रहते हैं। कारण यह है कि उनके पास असीमित मात्रा मे ब्लैक का धन (black money) है। इसी प्रकार हमारे बडे बडे उद्योगपति भी स्वदेश निर्मित मशीनो की अपेक्षा विदेशी मशीनो को ही वरीयता देते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के दुर्गापुर के स्थान पर एक खनिज मशीनें (mining machinery) तैयार करने वाला सरकारी कारखाना स्थापित किया गया है और इस समय इसमे उत्पादन भी हो रहा है। लेकिन हमारे खनिजपति इस कारखाने की मशीनो की तुलना मे अमरीकी मशीनो को अधिक पसन्द करते हैं, यद्यपि अमरीकी मशीनो के लिए उन्हे अधिक कीमतें चुकानी पडती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक देश के कुछ वर्गों के पास असीमित मात्रा मे ब्लैक का धन विद्यमान है, आयात-प्रतिस्थापन कार्यक्रम को सरलतापूर्वक क्रियान्वित नही किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत सरकार का अवमूल्यन सम्बन्धी निर्णय, वास्तव मे देश के व्यापक हितो के विपरीत ही है। इसके प्रतिकूल परिणाम आगे चलकर दृष्टिगोचर होंगे। भारत मे लगभग सभी सुविख्यात अर्थशास्त्रियो ने इसका विरोध किया है। डॉ० पी० सी० लोकनाथन के अनुसार, रुपये का अवमूल्यन देश की अर्थ व्यवस्था के हित मे नही है। इससे स्फीतिक प्रवृत्तियो को और अधिक बढावा मिलेगा तथा जीवन-निर्वाह लागत पहले की अपेक्षा और बढ जायगी। प्रो० ए० के० दास गुप्ता ने कहा है कि इससे हमारी चौथी पचवर्षीय योजना का वास्तविक आकार (real size) घट जायगा। डॉ० ज्ञानचन्द्र ने सरकार के अवमूल्यन सम्बन्धी निर्णय को 'खतरनाक जुए (dangerous gamble) की सज्ञा दी है। डॉ० डी० के० रागनेकर के अनुसार, भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन अमरीकी सरकार एव विश्व बैंक के दबाव के अन्तर्गत किया है। भारत के प्रमुख अर्थशास्त्रियो मे से सम्भवत डॉ० बी० आर० शिनोई ही ऐसे अर्थशास्त्री है जिन्होंने रुपये के अवमूल्यन का स्वागत किया है। उनके अनुसार रुपये का अवमूल्यन तो बहुत पहले ही कर दिया जाना चाहिए था। डॉ० शिनोई ने स्पष्टत कहा है कि रुपये का घोषित अवमूल्यन अब भी पर्याप्त नही है। उनका कहना है कि भारतीय रुपये मे अब भी अति मूल्यन (over valuation) का थोडा अश शेष है अर्थात् रुपये का थोडा और अवमूल्यन करने की आवश्यकता है। डॉ० शिनोई के उक्त मत से हमे कोई आश्चर्य नही है क्योंकि वह तो विगत कई वर्षों से निरन्तर रुपये के अवमूल्यन का समर्थन करते चले आ रहे हैं।

भारत सरकार की अवमूल्यनोपरान्त नीति (Post Devaluation Policy of the Govt of India)—रुपये का अवमूल्यन करते समय भारत सरकार ने देशवासियों को यह आश्वासन दिया था कि वह किसी भी स्थिति मे मूल्य रेखा (Price line) को और उपर नही चढने देगी। अपने इस दृढ सकल्प को मूर्तरूप देने हेतु भारत सरकार ने कीमत-वृद्धि को रोकने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठाये हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) खाद्यान्नो, मिट्टी का तेल, डीजल तेल, पेट्रोल, रासायनिक खाद जैसी आवश्यक वस्तुओ की कीमतो को नही बढने दिया जायगा। इनकी कीमतो को नियन्त्रण मे रखने के लिए सरकार उपदान (subsidies) देगी और उत्पादन शुल्को (excise duties) मे भी फेर-बदल करेगी।

(2) चोर-बाजारियो, जखीरेबाजो एवं अन्य समाज-विरोधी तत्त्वो से निबटने के लिए सरकार कडी कार्यवाही करेगी।

(3) आवश्यक वस्तु अधिनियम (Essential Commodities Act) का सशोधन करके सरकार दैनिक उपयोग की वस्तुओ की कीमतो को नियन्त्रित करने के लिए अधिक व्यापक अधिकार ग्रहण करेगी। केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारो को अतिरिक्त अधिकार (additional

powers) सौंपे हैं जिनके अन्तर्गत उत्पादन, पूर्ति एवं कीमतों के बारे में आदेश जारी किये जा सकते हैं। जिला अधिकारियों को आदेश दिये गये हैं कि जखीरेबाजों एवं मुनाफाखोरों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करें।

(4) केन्द्र में एक नागरिक पूर्ति-कमिश्नर (Civil Supply Commissioner) की नियुक्ति की गयी है। उसका मुख्य कार्य आवश्यक वस्तुओं की कीमतों पर निगाह रखना है। उसे यह भी अधिकार दिया गया है कि वह कारखानों से प्रत्यक्षत आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति प्राप्त करके उन्हें अभावग्रस्त क्षेत्रों में भेज सकता है।

(5) आवश्यक वस्तुओं की कीमतों पर दृष्टि रखने एवं उनके उचित वितरण की व्यवस्था करने के लिए केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की एक उपसमिति स्थापित की गयी है जो आवश्यक विषयों पर तत्काल निर्णय ले सकती है।

(6) मूल्य रेखा को बढ़ने से रोकने के लिए सरकार ने उपभोग्य वस्तुओं के निर्माताओं का भी सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया है। इन निर्माताओं से कहा गया है कि वे अपने माल के थोक एवं खुदरा भाव निश्चित करें। व्यापारियों से कहा गया है कि अपनी संस्थाओं में उचित स्थान पर मूल्य प्रदर्शित करेंगे। आवश्यक वस्तु अधिनियम के अन्तर्गत सरकार कतिपय वस्तुओं की कीमतें भी निर्धारित करेगी।

(7) सरकार ने समूचे देश में बड़े पैमाने पर उपभोक्ता भण्डार (Consumer Stores) खोलने की भी योजना बनायी है। योजना के अन्तर्गत थोक सहकारी उपभोक्ता भण्डारों (Whole-sale Co operative Consumer Stores) की संख्या 300 से बढ़ाकर 700 और खुदरा भण्डारों (retail stores) की संख्या 7,000 से बढ़ाकर 20 000 की जायगी। यह भी निर्णय किया गया था कि सन् 1966 में ये भण्डार देश के 20 प्रतिशत खुदरा व्यापार को अपने हाथ में ले लेंगे। इससे व्यापारियों के प्रति उपभोक्ताओं की प्रतिरोधक शक्ति (consumer resistance) बढ़ जायगी और वे व्यापारियों के हथकण्डों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला कर सकेंगे।

(8) उपभोक्ताओं को मूल्य सम्बन्धी जानकारी देने हेतु ऑल इण्डिया रेडियो के सभी क्षेत्रीय स्टेशन प्रतिदिन पाँच मिनट के लिए एक विशेष बुलेटिन प्रसारित करते जिसमें बाजार सम्बन्धी प्रवृत्तियों (Market trends) पर टिप्पणी प्रस्तुत की जायगी।

(9) कीमतों का बढ़ना से रोकने के लिए आवश्यक वस्तुओं का विदेशों से आयात भी किया जायगा। उदाहरणार्थ मिट्टी के तेल, रुई एवं वनस्पति का आयात करने के प्रबन्ध कर लिये गये हैं।

(10) देश के 59 प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों (priority industries) में उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से उनके लिए आवश्यक कच्चे माल कलपुर्जों एवं मशीनों के आयात को पहले की अपेक्षा अधिक उदार (liberal) बना दिया गया है। ये उद्योग निर्यात वृद्धि में भी सहायक होंगे।

(11) कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि करने के लिए बड़े पैमाने पर रासायनिक खाद कीटनाशक औषधियों, गन्धक एवं फॉस्फेट (phosphate) आदि के आयात का भी प्रबन्ध कर लिया गया है।

(12) कच्चे माल कलपुर्जों एवं आवश्यक मशीनों पर लगे आयात करों में भी कुछ कमी कर दी गयी है। इससे देश में विद्यमान औद्योगिक उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग सम्भव हो सकेगा।

(13) विदेशों में अध्ययन कर रहे भारतीय छात्रों को अवमूल्यन के दुष्परिणामों से बचाने के लिए समुचित ऋण योजना (loan scheme) बनायी गयी है। इस योजना के अन्तर्गत, इन छात्रों को सरकार की ओर से आसान शर्तों पर ऋण दिये जायेंगे। इसी प्रकार, सरकार की ओर से दी जाने वाली छात्रवृत्तियों में भी समानुपातिक वृद्धि कर दी जायगी।

अवमूल्यन के प्रभाव (Effects of Devaluation)—जैसा स्पष्ट है, सरकार की अवमूल्यनोत्तर नीति के तीन मुख्य उद्देश्य थे प्रथम, कीमत वृद्धि रोकना, दूसरे कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना, तीसरे निर्यातों को अधिकतम मात्रा में बढ़ाना। अवमूल्यन व

हुए कोई अधिक समय नहीं हुआ है। अतः यह कहना कठिन है कि उक्त तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में सरकार को कितनी सफलता मिलेगी। लेकिन उपलब्ध संकेतों के अनुसार सरकार को अपने इन उद्देश्यों में सफलता प्राप्त होने की कम आशा दिखायी देती है।

जहाँ तक कीमत वृद्धि को रोकने का प्रश्न है, सरकार इस उद्देश्य में बुरी तरह असफल रही है। अवमूल्यन के उपरान्त देश के कीमत स्तर में 15 से लेकर 20 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है और कीमत-वृद्धि का यह क्रम अब भी जारी है। सरकार द्वारा की गयी अवमूल्यनोपरान्त कार्यवाही का कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। जीवन-निर्वाह-लागत में और अधिक वृद्धि हुई है।

अवमूल्यनोपरान्त नीति का दूसरा उद्देश्य भी बुरी तरह असफल रहा है। सरकार ने कच्चे माल, कल-पुर्जों एवं मशीनों के आयात को उदार बनाकर देश में औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया है। लेकिन इसमें भी सरकार को असफलता का मुँह ताकना पड़ा है। अवमूल्यनोत्तर-काल में औद्योगिक उत्पादन में उल्टे कमी हुई है। नये निवेशों (investments) की दर में भी कमी हुई है। यह सत्य है कि अवमूल्यन के उपरान्त सरकार ने उद्योगपतियों को कच्चे माल, कल-पुर्जों एवं मशीनों के आयात हेतु उदारता से लाइसेन्स दिये हैं, लेकिन इन लाइसेन्सों का प्रयोग ही कब हुआ है? भारतीय उद्योगपति तो अभाव की स्थिति को बनाये रखने में ही अपना हित समझते हैं। इसी से उन्हें अधिक मुनाफे कमाने के अवसर मिलते हैं। जहाँ तक कृषि-उत्पादन का सम्बन्ध है, उसमें भी सूखा के कारण भारी गिरावट आयी है।

सरकार अवमूल्यन के अपने तीसरे उद्देश्य में भी सफल नहीं हो सकी है। सरकार को आशा थी कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप देश के निर्यातों में वृद्धि होगी। लेकिन, दुर्भाग्यवश, सरकार की यह आशा भी पूरी न हो सकी। अवमूल्यन का उद्देश्य विशेषकर देश के गैर-परम्परागत (non-traditional) निर्यातों (उदाहरणार्थ, रासायनिक पदार्थों एवं इंजीनियरिंग वस्तुओं आदि), को बढ़ाना था किन्तु नवीनतम उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार इस प्रकार के निर्यातों में वृद्धि होने के बजाय उल्टे कमी हुई है। देश के कुछ निर्यातों में निश्चय कमी हुई है। सन् 1966 में भारत के निर्यातों का कुल मूल्य 1,582 मिलियन डालर था जो सन् 1965 की अपेक्षा 10 प्रतिशत कम था। हाँ, देश के कुछ निर्यातों को अवमूल्यन से निश्चय ही प्रोत्साहन मिला है। इनमें मछली, कच्ची खालें, चमड़ा, काजू, कच्चा लोहा, मेंगनीज, लोहा एवं इस्पात, रासायनिक पदार्थ इत्यादि सम्मिलित हैं।

स्मरण रहे, अवमूल्यन करते समय सरकार ने निर्यातकर्ताओं को उस समय दिये जाने वाले उपदानों (subsidies) को पूर्णतः समाप्त कर दिया था और कहा था कि इससे सरकार को करोड़ों रुपयों की बचत होगी। लेकिन अवमूल्यन किये जाने के दो महीने बाद ही सरकार को कुछ निर्यातों के सम्बन्ध में ये उपदान पुनः आरम्भ करने पड़े क्योंकि इन उपदानों के बिना निर्यातों में वृद्धि करना कठिन हो रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अवमूल्यन के मुख्य उद्देश्य (अर्थात् निर्यात-वृद्धि) में सरकार को सफलता नहीं मिली है।

लेकिन अवमूल्यन का सबसे बुरा प्रभाव तो भारत के पूर्वी यूरोपीय देशों से होने वाले व्यापार पर पड़ा है। अवमूल्यन के परिणामस्वरूप इस व्यापार को भारी आघात पहुँचा है। इन देशों के साथ व्यापार करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी हैं।

भारत के कुछ अर्थशास्त्री तो अवमूल्यन से उत्पन्न होने वाले प्रतिकूल प्रभावों को आज भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। डॉ० शिनोई के अनुसार, रुपये के अवमूल्यन से यदि कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं तो इसलिए हुई हैं क्योंकि रुपये का अवमूल्यन पूर्ण नहीं था अर्थात् रुपये का जितना अवमूल्यन किया जाना चाहिए था, उतना नहीं किया गया। उनके कथनानुसार रुपये का यदि और अधिक अवमूल्यन किया जाता तो वर्तमान कठिनाइयाँ उत्पन्न न होतीं। सम्भवतः विश्व बैंक का भी यही विचार प्रतीत होता है। लेकिन हम इस विचार से कदापि सहमत नहीं हैं। रुपये के अवमूल्यन से पहले ही हमारी अर्थ व्यवस्था को क्षति पहुँची है। रुपये का अतिरिक्त अवमूल्यन करने से हमारी सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था चौपट हो जायेगी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए भारत के वित्तमन्त्री ने 21 नवम्बर, 1967 को अधिकृत घोषणा की थी कि ब्रिटिश पौण्ड-स्टर्लिंग के अवमूल्यन के बावजूद भारतीय रुपये का और अधिक अवमूल्यन नहीं किया जायगा।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 भारतीय रुपये के सन् 1966 के अवमूल्यन के कारणों की पूर्ण व्याख्या कीजिए। इसके प्रमुख अपेक्षित लाभ क्या थे ? (आगरा, 1967)

अथवा

जून 1966 में किन परिस्थितियोंवश भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ ? इसके आर्थिक प्रभावों को समझाइए। (राजस्थान, 1968)

[संकेत—प्रथम भाग में यह बताइए कि देश के भुगतान सन्तुलन की चिरकालीन प्रतिकूलता ने भारत सरकार को रुपये का अवमूल्यन करने के लिए बाध्य कर दिया था। विश्व बैंक ने भी भारत सरकार पर अवमूल्यन के लिए बहुत जोर दिया था। दूसरे भाग में, अवमूल्यन के पक्ष में दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिए।]

2 'अवमूल्यन' क्या है ? उसके लाभ एवं हानियाँ समझाइए। हाल ही में हुए पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन को लक्ष्य में रखते हुए क्या आपके विचार में भारतीय रुपये का भी अवमूल्यन करना चाहिए ? (इन्दौर, 1968)

[संकेत—इस प्रश्न के प्रथम एवं द्वितीय भाग के लिए अध्याय 27 का प्रारम्भिक भाग देखिए। हमारे विचार में भारतीय रुपये का और अधिक अवमूल्यन करना देश के हित में न होगा। पहले ही दो बार भारतीय रुपये का अवमूल्यन हो चुका है—सितम्बर, 1949 और जून 1966 में। जून 1966 में रुपये का जो अवमूल्यन किया गया था उससे देश को लाभ कम और हानि अधिक हुई है। फिर अब तो धीरे धीरे भारत के व्यापार सन्तुलन में सुधार हो रहा है। अतः रुपये के और अधिक अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं है।]

3 "रुपये का अवमूल्यन भारत में असफल सिद्ध हुआ है।" व्याख्या सहित स्पष्ट कीजिए। (आगरा, 1974)

[संकेत—उक्त उद्धरण भारतीय रुपये के 6 जून, 1966 को किये गये अवमूल्यन से सम्बन्धित है। इस अवमूल्यन की चर्चा करते हुए इसके पक्ष विपक्ष में दिये गये तर्कों को संक्षेप में प्रस्तुत कीजिए। अन्त में, यह निष्कर्ष निकालिए कि भारतीय रुपये का अवमूल्यन अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल सिद्ध हुआ है। देखिये "अवमूल्यन के प्रभाव"]

29

भारत की कागजी मुद्रा-प्रणाली का इतिहास

(History of the Paper Currency System of India)

भारतीय कागजी मुद्रा के इतिहास को निम्नलिखित अवधियो (Periods) मे विभाजित किया जा सकता है .

(1) प्रेसीडैन्सी बैंको द्वारा मुद्रा का निर्गमन (सन् 1806 से 1861 तक),

(2) भारत सरकार द्वारा कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1861 से 1934 तक),

(3) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा आनुपातिक कोष प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1934 से 1956 तक),

(4) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा न्यूनतम मुद्रा-कोष प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1956 से अब तक)।

1 प्रेसीडैन्सी बैंको द्वारा कागजी मुद्रा का निर्गमन
(सन् 1806 से 1861 तक)

सन् 1806 से पूर्व भारत मे कागजी मुद्रा का प्रचलन नही हुआ करता था। सन् 1806 मे बैंक ऑफ बगाल की स्थापना की गयी और एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत इस बैंक ने कागजी नोटो का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया। तदुपरान्त, सन् 1840 मे बैंक ऑफ बम्बई तथा सन् 1843 मे बैंक ऑफ मद्रास को भी कागजी मुद्रा जारी करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार सन् 1861 तक भारत मे कागजी मुद्रा का निर्गमन तीन प्रेसीडैन्सी बैंको द्वारा ही किया जाता था।

इन बैंको द्वारा नोटो के वाहको की माँग पर भुगतान करना आवश्यक होता था परन्तु उनके द्वारा जारी किये गय नोटो का प्रचलन साधारणतः कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास मे नगरो तक ही सीमित था। सरकार ने प्रत्येक प्रेसीडैन्सी बैंक के लिए नोट जारी करने की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी थी और कोई भी बैंक उस सीमा से अधिक नोट जारी नही कर सकता था। प्रत्येक प्रसीडैन्सी बैंक को अपने द्वारा जारी किये नोटो के मूल्य का एक चौथाई भाग धातु सिक्को के रुप मे रखना पडता था। सरकार इन बैंको के प्रबन्ध पर अपना नियन्त्रण रखती थी। प्रेसीडैन्सी बैंको द्वारा नोट जारी करने की यह प्रथा सन् 1861 तक प्रचलित रही थी।

2 सरकार द्वारा कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1861 से 1934 तक)

सन् 1861 मे भारत सरकार न प्रेसीडैन्सी बैंको से नोट जारी करने का अधिकार वापस ले लिया और स्वय नोटो का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया था। इस उद्देश्य के लिए सन् 1861 मे एक कागजी मुद्रा कानून पारित किया गया। इसकी मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार थी—(क) इस कानून के अन्तर्गत सरकार ने 10, 20, 50, 100, 500, 1000 तथा 10,000 रुपये के नोट प्रचलित किये थे। (ख) आरम्भ मे, सरकार ने समूचे देश को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन निर्गमन-क्षेत्रो (issue circles) मे विभाजित कर दिया था और प्रत्येक निर्गमन क्षेत्र से जारी

किये गये नोट केवल उसी क्षेत्र के भीतर ही विधिग्राह्य हुआ करते थे। परन्तु सन् 1910 में भारत सरकार ने निर्गमन क्षेत्रों की संख्या बढ़ाकर 7 कर दी थी। प्रत्येक क्षेत्र से जारी किये गये नोट केवल उसी क्षेत्र में ही विधिग्राह्य होते थे। इसके साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में इन नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की व्यवस्था की गयी थी। परन्तु जहाँ तक सरकारी भुगतानों को चुकाने का सम्बन्ध था, किसी भी क्षेत्र के नोटों में सरकार को भुगतान किया जा सकता था। (ग) सन् 1903 में 5 रुपये का नोट देश के सभी क्षेत्रों में असीमित विधिग्राह्य घोषित कर दिया गया। तदुपरान्त, सन् 1910 में 10 तथा 50 रुपये के नोटों और सन् 1911 में 100 रुपये के नोटों को समूचे देश में असीमित विधिग्राह्य घोषित कर दिया गया। (घ) भारत सरकार ने निश्चित विश्वास आश्रित निर्गमन प्रणाली (fixed fiduciary system) के आधार पर ही कागजी मुद्रा का निर्गमन किया था। 7 करोड़ रुपये के मूल्य तक के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे। परन्तु इससे अधिक के प्रत्येक नोट के पीछे रुपये के सिक्कों, धातुओं तथा भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों (rupee securities) की शत-प्रतिशत आड़ रखना अनिवार्य था। आगे चलकर विश्वास आश्रित निर्गमन (fiduciary issue) की मात्रा को 7 करोड़ से बढ़ाकर 20 करोड़ रुपये कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, भारत सरकार 20 करोड़ रुपये के मूल्य तक के नोट बिना धातु निधि रखे जारी कर सकती थी। परन्तु इसके ऊपर जितनी भी कागजी मुद्रा जारी की जाती थी, उसके पीछे शत प्रतिशत धातु की आड़ रखना आवश्यक था। भारत सरकार को यह अधिकार था कि वह धातु निधि का एक भाग सोने में रखे। इसी अधिकार का उपयोग करते हुए भारत सरकार ने धातु निधि के स्वर्ण भाग को लन्दन में रखने का निर्णय किया परन्तु रुपये के सिक्कों को धातु निधि के रूप में ही रखा गया।

निश्चित विश्वास-आश्रित निर्गमन प्रणाली के गुण—इस अवधि में भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी निश्चित विश्वास आश्रित निर्गमन प्रणाली में तीन बड़े गुण पाये जाते थे। प्रथम, इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा की सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी थी। चूंकि कागजी मुद्रा के एक निश्चित भाग को छोड़कर शेष के पीछे शत-प्रतिशत धातु निधि की आड़ थी, इसलिए इस प्रणाली में किसी प्रकार की असुरक्षा का प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। द्वितीय, इस प्रणाली के अन्तर्गत अति निर्गमन (over issue) का कोई भय नहीं था, क्योंकि पर्याप्त धातु निधि रखे बिना कागजी मुद्रा का निर्गमन नहीं हो सकता था। अतः इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति की कोई सम्भावना नहीं थी। तीसरे चूंकि इस प्रणाली के अनुसार कागजी मुद्रा के पीछे पर्याप्त मात्रा में धातु निधि रखी जाती थी, इसलिए समूची कागजी मुद्रा धातु सिक्कों में परिवर्तनशील थी।

निश्चित विश्वास आश्रित निर्गमन प्रणाली के दोष—उक्त निश्चित विश्वास आश्रित निर्गमन प्रणाली में कुछ दोष भी पाये जाते थे—प्रथम, इस प्रणाली में स्वयंचालकता का अभाव था और समय समय पर विश्वास आश्रित निर्गमन की मात्रा में सरकार को परिवर्तन करने पड़ते थे। दूसरे, इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार को अपनी धातु निधि कोषागारों में बन्द करके रखनी पड़ती थी। इस प्रकार बहुत बड़े पैमाने पर सरकारी कोषों में धातुएँ बेकार पड़ी रहती थीं जबकि उन्हें अन्य लाभपूर्ण प्रयोगों में लगाया जा सकता था। तीसरे, इसके अन्तर्गत धातु निधि का अंश बहुत अधिक हुआ करता था और उसका अधिकांश भाग लन्दन में ही रखा जाता था। चौथे, इस प्रणाली में लोच का भी अभाव हुआ करता था और मुद्रा की मात्रा को व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलना कठिन था।

प्रथम विश्व युद्ध तथा भारतीय कागजी मुद्रा-प्रणाली—प्रथम विश्व युद्ध का भारत की कागजी मुद्रा प्रणाली पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। युद्ध के छिड़ते ही भारत की साधारण जनता का कागजी नोटों में से विश्वास उठ गया और बड़े पैमाने पर कागजी नोट सिक्कों में बदलने के लिए सरकारी खजानों में प्रस्तुत किये गये। इसी काल में रुपये के सिक्कों के अभाव को दूर करने के लिए सरकार ने एक तथा दो रुपये के नोट जारी किये। ये नोट रुपये के सिक्कों में परिवर्तनशील नहीं थे।

करेंसी एक्ट, सन् 1923—प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् बैबिंगटन स्मिथ कमेटी (Babington Smith Committee) ने भारत की समूची मुद्रा-प्रणाली की जाँच की थी। इस कमेटी के अनुसार भारत की कागजी मुद्रा प्रणाली में लोच का भारी अभाव था। अतएव कमेटी ने कागजी

मुद्रा प्रणाली के इस दोष को दूर करने के लिए कई प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किये थे। इन्हीं सुझावों के आधार पर सन् 1923 मे एक करेंसी कानून पारित किया गया। इस कानून की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार थीं (क) कागजी मुद्रा के पीछे रखी जाने वाली निधि का कम से कम 50 प्रतिशत भाग धातुओ के रूप मे होना चाहिए। (ख) निधि का शेष भाग 20 करोड रुपये की प्रतिभूतियो के रूप मे भारत मे रखा जा सकता था और इससे ऊपर की निधि को अल्पकालीन प्रतिभूतियो के रूप मे लन्दन मे रखा जा सकता था। (ग) इस कानून के अन्तर्गत सरकार को यह *अधिकार दिया गया था कि 5 करोड रुपये की कीमत तक के नोट वह विनिमय बिलो की आड पर* निकाल सकती थी। (घ) सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लन्दन मे 50 लाख पौण्ड के मूल्य से अधिक का सोना नही रख सकता था।

सन् 1921 मे तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) की स्थापना की गयी और इस बैंक को ही विनिमय बिलो की आड पर मुद्रा के निर्गमन का अधिकार दिया गया।

हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशे—हिल्टन यंग कमीशन ने भी कागजी मुद्रा प्रणाली मे सुधार करने हेतु कुछ सुझाव सरकार के सम्मुख रखे थे प्रथम, सरकार को एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करके उसे नोट निर्गमन का एकाधिकार दे देना चाहिए। दूसरे, सरकार की कागजी मुद्रा निधि (Paper Currency Reserve) तथा स्वर्णमान निधि (Gold Standard Reserve) को मिलाकर एक कागजी मुद्रा कोष का निर्माण करना चाहिए। तीसरे, देश के केन्द्रीय बैंक को आनुपातिक कोष निर्गमन प्रणाली (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट जारी करने चाहिए। भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की उक्त सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और उन्हे क्रियान्वित भी किया था।

3. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1934 से 1956 तक)

1 अप्रैल, 1935 से नोट निर्गमन का कार्य रिजर्व बैंक ने अपने हाथो मे ले लिया और आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के आधार पर नोटो का प्रकाशन आरम्भ कर दिया था। इस प्रणाली की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार थी—(क) भारत मे नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए रिजर्व बैंक ने एक नोट निर्गमन विभाग (Issue Department) की स्थापना की थी। (ख) भारत सरकार ने स्वर्णमान कोष और कागजी मुद्रा कोष—दोनो को मिलाकर रिजर्व बैंक के सुपुर्द कर दिया था। (ग) रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये गये नोट असीमित विधिग्राह्य होते थे तथा भारत सरकार अपनी ओर से उनकी परिवर्तनशीलता की गारण्टी दिया करती थी। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान, जैसा ऊपर कहा गया है—एक रुपये तथा दो रुपये के नोटो का भी निर्गमन किया गया था। परन्तु एक रुपये का नोट आरम्भ से ही अपरिवर्तनशील था। (घ) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के अन्तर्गत ही नोटो का प्रकाशन किया करता था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् 1934 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के लिए यह आवश्यक था कि वह जितने रुपयो के नोट जारी करे, उनके कुल मूल्य का 40 प्रतिशत भाग सोने, सोने के सिक्को, विदेशी प्रतिभूतियो एवं विदेशी मुद्राओ के रूप मे रखे। (परन्तु यहाँ पर शर्त यह थी कि कुल निधि मे कम से कम 40 करोड रुपयो के सोने के सिक्के या सोना अवश्य ही होना चाहिए और इस स्वर्ण-निधि का $\frac{17}{20}$ भाग भारत मे ही रहना चाहिए।) कागजी मुद्रा के शेष 60 प्रतिशत भाग के पीछे भारत सरकार को अपनी प्रतिभूतियाँ, स्वीकृत हुण्डियाँ, विनिमय बिल तथा चाँदी व चाँदी के सिक्के रखने चाहिए। इस सम्बन्ध मे कानून मे यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी कि भारत सरकार की प्रतिभूतियो की मात्रा कुल कागजी मुद्रा निधि के 25 प्रतिशत या 50 करोड रुपये की कीमत से अधिक नहीं होनी चाहिए, परन्तु असाधारण परिस्थितियों मे राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति से भारत सरकार की प्रतिभूतियो मे 10 करोड रुपये की वृद्धि की जा सकती थी। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे यह भी व्यवस्था की गयी थी कि विशेष परिस्थितियो मे नोट निर्गमन सम्बन्धी नियमो मे रिजर्व बैंक को ढील दी जा सकती थी, परन्तु ऐसा करने लिए राष्ट्रपति से पूर्व आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, यदि रिजर्व बैंक निश्चित निर्गमन के ऊपर कागजी मुद्रा जारी करना चाहता था तो

ऐसी दशा में उसे सरकार को एक विशेष प्रकार का कर चुकाना पड़ता था। इस कर की दर निश्चित निर्गमन के ऊपर नोटों में की जाने वाली प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती जाती थी। इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत भारत में बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली को अपना लिया गया था।

आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के गुण—यह प्रणाली भारत में सन् 1935 से 1956 तक प्रचलित रही थी। इस प्रणाली के मुख्य-मुख्य गुण इस प्रकार थे :—

(1) **लोचकता (Elasticity)**—इस प्रणाली में लोचकता का गुण पाया जाता था क्योंकि इसके अधीन विदेशी प्रतिभूतियों स्वीकृत विनिमय-बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ रखकर कागजी मुद्रा का निर्गमन किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, कागजी मुद्रा के एक निश्चित भाग को जारी करने के लिए धातु निधि की आवश्यकता नहीं थी।

(2) **बचतपूर्ण (Economical)**—यह प्रणाली इस अर्थ में बचतपूर्ण थी कि इसके अन्तर्गत बहुत अधिक मात्रा में सोने व चाँदी को कोष में बन्द करके नहीं रखना पड़ता था अर्थात् सोने-चाँदी जैसी धातुओं को अन्य लाभपूर्ण उपयोगों में लगाया जा सकता था।

(3) **संकटकालीन परिस्थितियों के लिए उपयुक्तता**—यह प्रणाली संकटकालीन परिस्थितियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त थी क्योंकि इसके अन्तर्गत कुछ विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से नोट निर्गमन सम्बन्धी नियमों में ढील भी दी जा सकती थी। इस प्रकार इस प्रणाली में कठोरता (rigidity) का दोष नहीं पाया जाता था।

आनुपातिक कोष निधि प्रणाली के दोष—इस प्रणाली के मुख्य मुख्य दोष इस प्रकार थे —

(1) **नोटों के अत्यधिक निर्गमन का भय**—इस प्रणाली का एक बड़ा दोष यह था कि इसमें नोटों के आवश्यकता से अधिक मात्रा में जारी किये जाने का सदैव भय रहता था। वास्तव में, दूसरे विश्व युद्ध के दौरान इसी प्रणाली के कारण कागजी नोटों की अत्यधिक निकासी हुई थी और देश में मुद्रा-स्फीति का प्रादुर्भाव हुआ था।

(2) **परिवर्तनशीलता का अभाव**—चूँकि इस प्रणाली के अन्तर्गत रुपया स्टर्लिंग के साथ जुड़ा हुआ था और स्टर्लिंग स्वयं सोने चाँदी में परिवर्तनशील नहीं था, इसलिए भारतीय कागजी मुद्रा भी अपरिवर्तनशील थी।

(3) **स्वयचालकता का अभाव (Lack of Automaticity)**—वास्तव में, यह प्रणाली एक कृत्रिम एवं प्रबन्धित (Managed) प्रणाली थी और इसे सचालित करने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता था। इसमें स्वयचालकता का पूर्ण अभाव था। इसके अन्तर्गत कागजी मुद्रा की मात्रा में देश की व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन करना कठिन था।

(4) **आन्तरिक कीमत-स्तर में स्थिरता का अभाव**—इस प्रणाली के अन्तर्गत रुपये के विदेशी मूल्य में तो स्थिरता बनी रही परन्तु रुपये के आन्तरिक मूल्य में भारी गिरावट आयी थी। दूसरे शब्दों में, यह प्रणाली आन्तरिक कीमत स्तर में स्थिरता बनाये रखने में असमर्थ रही।

(5) **लोच का अभाव (Lack of Elasticity)**—इस प्रणाली में समुचित लोचकता का भी अभाव था। इसके अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा तथा देश की आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, अर्थात् इस प्रणाली में देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने का गुण नहीं पाया जाता था। यह प्रणाली आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक ओर देश की मुद्रा और दूसरी ओर देश की आर्थिक आवश्कताओं के बीच किसी प्रकार का समन्वय नहीं रहता था। अतएव आर्थिक विकास की दृष्टि से यह प्रणाली सन्तोषजनक नहीं थी।

4 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा न्यूनतम मुद्रा-कोष प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा का निर्गमन (सन् 1956 से अब तक)

सन् 1956 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया जिसके अनुसार आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली (Proportional Reserve System) के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) को अपना लिया गया था। आनुपातिक कोष-निधि

प्रणाली के अधीन यह आवश्यक था कि रिजर्व बैंक जितने रुपये के कागजी नोट जारी करे, उनके कुल मूल्य का 40 प्रतिशत भाग सोने व चाँदी के सिक्कों तथा विदेशी प्रतिभूतियों एवं विदेशी मुद्राओं के रूप में रखे तथा शेष 60 प्रतिशत भाग सरकार की प्रतिभूतियों, स्वीकृत विनिमय-बिलों, हुण्डियों तथा चाँदी व चाँदी के सिक्कों के रूप में रखे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान तो रिजर्व बैंक की यह व्यवस्था सुचारु ढंग से कार्य करती रही, परन्तु दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में इस व्यवस्था के कारण भारत सरकार के लिए कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयी। जैसा विदित है, दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार को आर्थिक विकास हेतु बहुत बड़े निवेश (Investments) करने थे और भारत सरकार के पास इन निवेशों के लिए पर्याप्त धन-राशि नहीं थी। अतएव भारत सरकार इस वित्तीय कठिनाई को और अधिक नोट छापकर दूर करना चाहती थी। परन्तु रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की नोट सम्बन्धी उक्त व्यवस्था भारत सरकार के इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक सिद्ध हो रही थी। इसका कारण यह था कि तत्कालीन नोट निर्गमन सम्बन्धी व्यवस्था के अन्तर्गत नोट जारी करने से पूर्व रिजर्व बैंक के पास पर्याप्त धातु-निधि का होना आवश्यक था। चूँकि रिजर्व बैंक के पास धातु निधि असीमित मात्रा में नहीं थी, इसलिए वह अधिक मात्रा में नोट छापने में असमर्थ था। इसके अतिरिक्त, तत्कालीन नोट निर्गमन सम्बन्धी व्यवस्था के अन्तर्गत विदेशी विनिमय साधनों का एक बहुत बड़ा भाग कागजी मुद्रा-कोष के रूप में बेकार पड़ा रहता था जबकि सरकार इसका विदेशों से पूँजीगत माल आयात करने के लिए प्रयोग कर सकती थी। इस प्रकार तत्कालीन व्यवस्था देश के आर्थिक विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर रही थी। इन्हीं कारणों से सन 1956 में कानून में संशोधन करके आनुपातिक कोष-निधि प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली को अपनाया गया था।

न्यूनतम कोष प्रणाली (*Minimum Reserve System*) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक के लिए कागजी मुद्रा के पीछे 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा 115 करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य कर दिया गया था। इस प्रकार अब रिजर्व बैंक को समूची कागजी मुद्रा के पीछे 515 करोड़ रुपये की धन राशि रखनी पड़ती थी। इस प्रणाली के लागू किये जाने से पूर्व रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अपनी स्वर्ण निधि का मूल्यांकन 21 रुपये 13 आना 10 पाई प्रति तोला की दर से किया करता था और इस प्रकार इसकी स्वर्ण निधि का कुल मूल्य 40 01 करोड़ रुपये हुआ करता था, परन्तु अब रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अपनी स्वर्ण-निधि का मूल्यांकन 62 50 रुपये प्रति तोला के हिसाब से करना आरम्भ कर दिया। इसका कारण यह था कि 62 50 रुपये प्रति तोला का मूल्य अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के द्वारा निर्धारित किया गया था। इस नये मूल्य पर स्वर्ण का मूल्यांकन करने से रिजर्व बैंक की स्वर्ण निधि 115 करोड़ रुपये के बराबर हो गयी थी। इसी कारण सन् 1956 में रिजर्व बैंक की स्वर्ण निधि की न्यूनतम सीमा 40 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 115 करोड़ रुपये कर दी गयी थी।

सन् 1957 का संशोधन—अक्टूबर 1957 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में पुन संशोधन किया गया। इस संशोधन का उद्देश्य दूसरी पंचवर्षीय योजना काल की विदेशी-विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना था। दूसरी पंचवर्षीय योजना काल में बड़े पैमाने पर पूँजीगत माल का आयात होने के फलस्वरूप विदेशी विनिमय का भारी अभाव उत्पन्न हो गया था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के विदेशी विनिमय कोष (Foreign Exchange Reserves) तेजी से घटते जा रहे थे। अत. विदेशी विनिमय के संकट का सामना करने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में सन् 1957 में पुन संशोधन करना पड़ा। इस संशोधन के अन्तर्गत नोटों के पीछे रखे जाने वाले सोने, सोने के सिक्कों तथा विदेशी प्रतिभूतियों के मूल्य को 515 करोड़ रुपये से घटाकर 200 करोड़ रुपये कर दिया गया और यह व्यवस्था की गयी कि किसी भी समय कागजी मुद्रा के पीछे रखी जाने वाली आड़ की कीमत 200 करोड़ रुपये से कम नहीं हो सकेगी। इस 200 करोड़ रुपये की राशि में 115 करोड़ रुपये का सोना तथा 85 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखने की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार सन 1957 के संशोधन के अनुसार कागजी मुद्रा के पीछे रखे जाने वाले सोने का मूल्य तो 115 करोड़ रुपये ही रहा परन्तु विदेशी प्रतिभूतियों के मूल्य को घटाकर 85 करोड़ रुपये कर दिया गया था। कानून में यह भी व्यवस्था कर दी गयी कि केन्द्रीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति से विदेशी प्रतिभूतियों के मूल्य में और भी कमी की जा सकती है।

वर्तमान स्थिति—सन् 1975-76 मे कागजी मुद्रा की कुल पूर्ति 6,572·62 करोड रु० के तुल्य थी। इस मुद्रा के पीछे लगभग 182·53 करोड रु० का स्वर्ण अथवा स्वर्ण के सिक्के, लगभग 271·74 करोड रु० के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ, 12·90 करोड रु० के रुपयो के सिक्के तथा 6,105·45 करोड रुपये की भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैंक द्वारा आड (Cover) के रूप में रखी गयी थी।[1]

न्यूनतम कोष प्रणाली के गुण—इसके गुण निम्नलिखित हैं :

(1) **लोचकता**—इस प्रणाली मे लोचकता का गुण पाया जाता है। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक केवल 200 करोड रुपये की निधि रखकर (इसमे से कम से कम 115 करोड रुपये का सोना तथा 85 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए) मनचाही मात्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन कर सकता है। चूंकि इस प्रणाली के अधीन कागजी मुद्रा की मात्रा तथा उसके पीछे रखी जाने वाली निधि मे कोई वैधानिक सम्बन्ध नही होता, इसलिए रिजर्व बैंक व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन कर सकता है।

(2) **विदेशी विनिमय के उपयोग मे बचत**—आनुपातिक कोष प्रणाली के अन्तर्गत जारी की गयी मुद्रा के पीछे बहुत बडी मात्रा मे विदेशी प्रतिभूतियाँ रखी जाती थी, परन्तु वर्तमान न्यूनतम कोष प्रणाली के अधीन 85 करोड रुपये के मूल्य की ही विदेशी प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं। इस प्रकार विदेशी विनिमय को आवश्यक रूप मे सरकारी कोषो मे बन्द करके नही रखा जाता, बल्कि आर्थिक विकास हेतु उसका लाभपूर्ण उपयोग किया जाता है।

(3) **स्वर्ण के उपयोग मे बचत**—आनुपातिक कोष प्रणाली के अन्तर्गत बहुत बडी मात्रा मे कागजी मुद्रा के पीछे सोना रखा जाता था परन्तु वर्तमान न्यूनतम कोष प्रणाली के अधीन इतनी बडी मात्रा मे कागजी मुद्रा के पीछे स्वर्ण रखने की आवश्यकता नही है।

(4) **आर्थिक विकास के लिए उपयुक्तता**—न्यूनतम कोष प्रणाली देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से करने के लिए भी उपयुक्त सिद्ध हुई है क्योंकि इसके अन्तर्गत आर्थिक विकास हेतु मनचाही मात्रा मे कागजी मुद्रा का निर्गमन किया जा सकता है। वास्तव मे, दूसरी तथा तीसरी पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने मे इस प्रणाली ने बहुमूल्य योग प्रदान किया है।

(5) **सकटकाल मे निधि सम्बन्धी नियमो मे ढील**—जैसा पूर्व कहा जा चुका है, इस प्रणाली के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था कर दी गयी है कि सकट के समय नोट निर्गमन सम्बन्धी नियमो म राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ढील की जा सकती है, इससे देश की मुद्रा-प्रणाली अत्यन्त लोचपूर्ण बन गयी है और किसी भी परिस्थिति का सफलतापूर्वक सामना कर सकती है।

(6) **रुपये की विनिमय दर में स्थिरता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत यद्यपि रुपये के आन्तरिक मूल्य मे भारी गिरावट हुई है, परन्तु रुपये के विदेशी मूल्य मे लगभग स्थिरता सी रही है।

(7) **जनता का विश्वास**—यद्यपि वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत कागजी मुद्रा को सोने-चाँदी मे बदला नही जा सकता, लेकिन फिर भी एक न्यूनतम निधि की व्यवस्था होने के कारण साधारण जनता का इस मुद्रा मे विश्वास बना रहता है।

न्यूनतम कोष प्रणाली के दोष—इस प्रणाली के दोष इस प्रकार हैं

(1) **मुद्रा स्फीति का प्रादुर्भाव**—इस प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि इसके कारण विगत कुछ वर्षो मे देश मे मुद्रा स्फीति का प्रादुर्भाव हुआ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस प्रणाली के अन्तर्गत 200 करोड रुपये के मूल्य की निधि रखकर रिजर्व बैंक मनचाही मात्रा में कागजी मुद्रा का निर्गमन कर सकता है। रिजर्व बैंक ने विगत कुछ वर्षो मे इस व्यवस्था का पूर्ण उपयोग किया है जिसके फलस्वरूप देश मे एक भयानक प्रकार की मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो गयी है।

---

[1] 31 जनवरी, 1969 तक रिजर्व बैंक मे पडे हुए स्वर्ण का मूल्य 53 58 रु० प्रति 10 ग्राम की दर पर आँका जाता था। लेकिन बैंक इस तिथि के बाद स्वर्ण का मूल्य 84 39 रु० प्रति 10 ग्राम आँका जाने लगा।

(*Report on Currency and Finance* 1975-76, Volume II, p. 50)

(2) **आन्तरिक मूल्य स्तर में अस्थिरता**—यद्यपि इस प्रणाली ने रुपये के बाह्य मूल्य में तो कुछ स्थिरता बनाये रखी है परन्तु यह प्रणाली रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता बनाये रखने में पूर्णत. असफल रही है। (स्मरण रहे कि 6 जून, 1966 को भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य मे कमी कर दी गयी थी) यहां तक कि विगत कुछ वर्षों मे रुपये के आन्तरिक मूल्य मे निरन्तर कमी हुई है और सरकार के भरसक प्रयत्नो के बावजूद रुपये के आन्तरिक मूल्य को स्थिर बनाये रखना सम्भव नही हो सका है। दिसम्बर सन् 1974 मे तो रुपये का आन्तरिक मूल्य गिर कर 27·4 पैसे ही रह गया था।

(3) **जनता का अविश्वास**—इस प्रणाली के अन्तर्गत, चूंकि कागजी मुद्रा के पीछे रखी जाने वाली निधि बहुत कम होती है, इसलिए कागजी मुद्रा मे साधारण जनता का विश्वास प्राप्त करना कठिन होता है और सकटकाल मे इसके टूट जाने की सदैव सम्भावना रहती है।

इस समय न्यूनतम कोष प्रणाली के सम्बन्ध मे भारत के अर्थशास्त्रियो मे भारी विवाद चल रहा है। कुछ अर्थशास्त्रियो ने (जिनमे डॉ० वी० के० आर० वी० राव भी हैं) इस पद्धति का बहुत समर्थन किया है। उनके अनुसार इस पद्धति से देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से करने मे बहुत सहायता मिली है। अतएव इस प्रणाली को जारी रखना चाहिए। इसके विपरीत, कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो ने इस प्रणाली की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि यह प्रणाली देश के लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हो सकती है, क्योकि इसमे मुद्रा-स्फीति की सम्भावना सदैव सन्निहित रहती है। वास्तव मे, विगत कुछ वर्षों मे होने वाली मुद्रा-स्फीति ने स्पष्टत. सिद्ध कर दिया है कि अर्थशास्त्रियो के उपरोक्त भय निराधार नही है। इसके साथ ही इस प्रणाली के कारण भारत की अन्तरराष्ट्रीय साख पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **आजकल भारत में प्रचलित नोट निर्गमन प्रणाली के बारे में सविस्तार लिखिए। इस प्रणाली के गुण तथा दोष क्या-क्या हैं ?**

   [संकेत—प्रथम भाग मे, भारत की वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली अर्थात् न्यूनतम कोष प्रणाली की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, इस प्रणाली के मुख्य गुणो एव दोषो की विवेचना कीजिए।]

2. **भारत में सन 1956 मे नोट जारी करने की विधि आनुपातिक कोष प्रणाली से बदलकर निश्चित न्यूनतम प्रणाली क्यो की गयी थी ? भारतीय मुद्रा पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?**

   [संकेत—प्रथम भाग मे, यह बताइए कि पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए ही न्यूनतम कोष प्रणाली को अपनाया गया था। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि इसके कारण देश मे मुद्रा-स्फीति का प्रादुर्भाव हुआ है।]

30

भारतीय बैंकिंग का इतिहास एवं समस्याएँ
(History and Problems of Indian Banking)

भारतीय बैंकिंग का इतिहास

भारतीय बैंकिंग के इतिहास को निम्नलिखित भागो मे विभाजित किया जा सकता है :

1 प्रथम अवधि (सन् 1806 तक) – ब्रिटिश शासनकाल से पूर्व भारत मे बैंकिंग का कोई अधिक विकास नही हुआ था । बैंकिंग कार्य प्राय महाजनो एव साहूकारो द्वारा सम्पन्न किया जाता था । परन्तु ब्रिटिश शासनकाल मे इन महाजनो एव साहूकारो के व्यवसाय मे बहुत कमी हो गयी थी । इसका मुख्य कारण है कि यह लोग अग्रेजी भाषा एव ब्रिटिश बैंकिंग प्रणाली से परिचित नही थे । इनके स्थान पर धीरे-धीरे भारत मे आधुनिक बैंकिंग का विकास होने लगा । 18वी शताब्दी मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) ने बम्बई तथा कलकत्ता मे कुछ एजेन्सी-गृहो (Agency Houses) की स्थापना की थी । ये एजेन्सी-गृह आधुनिक बैंको की भाँति कार्य किया करते थे । इनके मुख्य कार्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सैनिक आवश्यकताओ के लिए रुपया उधार देना, कृषि उपज की बिक्री के लिए ऋण देना, कागजी मुद्रा का निर्गमन करना तथा लोगो से निक्षेप (Deposits) स्वीकार करना था । इन गृहो के पास प्राय अपनी पूँजी नही हुआ करती थी । ये अपने बैंकिंग कार्य के लिए अग्रेज अधिकारियों एवं व्यक्तियो से निक्षेप स्वीकार किया करते थे । अपने द्वारा दिये गये ऋणो पर ये एजेन्सी-गृह 10 से 12 प्रतिशत तक ब्याज लिया करते थे । इस प्रकार सन् 1806 से पूर्व भारत मे बैंको का कार्य इन एजेन्सी गृहो द्वारा ही किया जाता था ।

2 दूसरी अवधि (सन् 1806 से 1860 तक)—सन् 1813 मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वाणिज्य अधिकार समाप्त हो गये थे । परिणामत एजेन्सी-गृहो का भी पतन होना आरम्भ हो गया था । इसके बाद तीन प्रेसीडेन्सी बैंको की स्थापना की गयी । सन् 1806 मे बैंक ऑफ बगाल, सन् 1840 मे बैंक ऑफ बम्बे तथा सन् 1843 मे बैंक ऑफ मद्रास की स्थापना की गयी । ये तीनों बैंक निजी शेयर होल्डरों के बैंक थे । इनके अधिकांश शेयर विदेशियो के हाथ मे थे । परन्तु इन तीनो बैंको की शेयर पूँजी मे सरकार का भी कुछ हिस्सा था और इसी नाते सरकार इन बैंको पर अपना नियन्त्रण रखती थी । साधारणत इन बैंको के उच्च अधिकारी भारतीय सिविल सर्विस (Indian Civil Service) के सदस्य हो हुआ करते थे । सन् 1862 से पूर्व इन बैंको को नोट जारी करने का भी अधिकार हुआ करता था, परन्तु इस वर्ष के बाद भारत सरकार ने यह अधिकार उनसे वापस ले लिया । सरकारी बैंक होने के नाते सरकार द्वारा इनके कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे । उदाहरणार्थ, ये बैंक अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं दे सकते थे और न ही ये 6 महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण दे सकते थे । इन्हे विदेशी बिलो का क्रय विक्रय करने की भी आज्ञा नही थी । आगे चलकर सन् 1921 मे इन तीनो बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (Imperial Bank of India) की स्थापना की गयी और 1 जुलाई, 1955 को राष्ट्रीयकरण के उपरान्त इसका नाम बदलकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) रख दिया गया था ।

3 तीसरी अवधि (सन् 1860 से 1913 तक)—सन् 1860 मे भारत सरकार ने एक बैंकिंग कानून पास किया। इसके अन्तर्गत, बैंको का सीमित देयता (Limited Liability) के आधार पर सगठन किया जा सकता था। इस कानून के कारण भारत मे मिश्रित पूँजी वाले बैंको (Joint Stock Banks) की स्थापना मे बहुत सहायता मिली थी। परिणामत देश मे अनेक मिश्रित पूँजी बैंक स्थापित हो गये। इस अवधि मे जिन महत्त्वपूर्ण बैंको की स्थापना हुई, उनके नाम इस प्रकार हैं इलाहाबाद बैंक (1865), एलाइन्स बैंक ऑफ शिमला (1881), दि पंजाब नेशनल बैंक (1894), पीपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया (1901)। यद्यपि भारत मे सन् 1900 तक बैंकिंग की विशेष प्रगति नही हो सकी थी परन्तु सन् 1906 के बाद बैंकिंग का देश मे बडे पैमाने पर विस्तार हुआ। विशेषकर उत्तरी भारत मे नये बैंको का एक जाल-सा बिछ गया था। इसका मुख्य कारण देश मे स्वदेशी आन्दोलन (Swadeshi Movement) का आरम्भ किया जाना था। इस आन्दोलन के कारण लोगो ने अंग्रेजो बैंको का बहिष्कार करके भारतीय बैंको के साथ व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया था। इससे भारतीय बैंको को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस अवधि मे स्थापित होने वाले मुख्य मुख्य बैंको के नाम इस प्रकार हैं। दि सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, दि बैंक आफ बडोदा, दि बैंक ऑफ इण्डिया तथा दि बैंक ऑफ मैसूर। इस प्रकार स्वदेशी आन्दोलन के कारण भारत मे इस अवधि मे अनेक छोटे और बडे बैंक स्थापित हो गये थे।

4 चौथी अवधि (सन् 1913 से 1939 तक)—इस अवधि की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं

(क) सन् 1913 17 का काल भारत मे बैंकिंग सकट (Banking Crisis) का काल माना जाता है। इस बैंकिंग सकट के मुख्य कारण इस प्रकार थे

(1) जैसा ऊपर कहा गया है, स्वदेशी आन्दोलन के कारण देश मे अनेक छोटे-छोटे बैंक स्थापित हो गये थे जो अपने दैनिक कार्य मे बैंकिंग के आधारभूत सिद्धान्तो की ही अवहेलना किया करते थे।

(2) उस समय भारतीय मुद्रा-बाजार (Indian Money Market) ठीक ढग से सगठित नही हुआ करता था और न ही मुद्रा एव साख-प्रणाली लोचपूर्ण हुआ करती थी। परिणामत सकट के समय बैंक एक दूसरे से सहायता प्राप्त करने मे असमर्थ रहते थे।

(3) उस समय देश मे केन्द्रीय बैंक का अभाव था जिसके कारण व्यापारिक बैंक सकट के समय वित्तीय सहायता प्राप्त नही कर सकते थे।

(4) प्रथम विश्व युद्ध व प्रारम्भिक काल मे भारतीय मुद्रा-बाजार मे सरकार की नीतियो के फलस्वरूप मुद्रा की बहुत कमी हो गयी थी जबकि व्यावसायिक विस्तार (business expansion) के कारण मुद्रा की माँग मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी। परिणामत ब्याज की दरें बढने लगी और बैंको ने अधिक लाभ कमाने के प्रलोभन मे अपने निक्षेपो (जमाराशियो) के पीछे अपर्याप्त नकद-कोष (cash reserves) रखने आरम्भ कर दिये थे। इन अपर्याप्त नकद कोषो के कारण ही वे सकट के समय निक्षेपधारियो (Depositors) की माँग को सन्तुष्ट करने मे असमर्थ रहे। अत इस अवधि मे बीसियो बैंक अपर्याप्त नकद-कोषो के कारण फेल हो गये थे। बैंको की इस सामान्य असफलता (General Failure) के कारण निम्नलिखित हैं

(1) बैंको द्वारा बैंकिंग सिद्धान्तो की अवहेलना—जैसा ऊपर कहा गया है, स्वदेशी आन्दोलन के कारण देश मे अनेक छोटे-छोटे एव दुर्बल बैंक स्थापित हो गये थे। इनमे से अधिकाश बैंक बैंकिंग के आधारभूत सिद्धान्तो तक की अवहेलना किया करते थे और यही इनकी असफलता का मुख्य कारण था।

(2) बैंकों द्वारा धोखेबाजी—इन बैंको के डायरेक्टर प्राय धोखेबाजी की नीति अपनाया करते थे। वे प्राय बैंक की चुकती पूँजी (Paid up Capital) को बढा-चढाकर दिखाया करते थे। उनका हिसाब किताब भी ठीक ढग से नही रखा जाता था और न ही उनका सही ढग से ऑडिट (audit) किया जाता था। इससे साधारण जनता का बैंकिंग म से विश्वास उठ गया था।

(3) अयोग्य तथा अनुभवहीन सचालकों का होना—इन बैंको के सचालक एव प्रबन्धक

प्राय अयोग्य एव अनुभवहीन व्यक्ति हुआ करते थे जिनको बैंकिंग कार्य प्रणाली के बारे मे पर्याप्त जानकारी नही होती थी। इसके अतिरिक्त, बैंको के शेयर होल्डर भी प्राय बैंकिंग कार्य-प्रणाली से अपरिचित होते थे और न ही वे बैंको के प्रबन्ध मे अधिक रुचि रखा करते थे। परिणामत बैंको के सम्बन्ध मे बहुत गडबडी रहा करती थी, जिससे उनकी साख पर बहुत बुरा प्रभाव पडता था।

(4) बैंकों के सचालक एव प्रबन्धक बैंकों की पूँजी को उन्हीं व्यवसायों मे लगाया करते थे जिनसे वे स्वय सम्बन्धित होते थे प्राय सचालक एव प्रबन्धक बैंको की पूँजी को उन व्यवसायो मे ही लगाते थे जिनमे उनका हिस्सा हुआ करता था या जिनसे वे सम्बन्धित होते थे। इस प्रकार वे बैंको से ऋण लेकर अपने व्यक्तिगत हितो की पूर्ति करते थे। जब किसी कारणवश उनके व्यवसाय फेल हो जाते थे, तब उनका पूर्ण बोझा बैंको के जमाकर्ताओ पर डाल दिया जाता था।

(5) अल्पकालीन जमाराशियो को दीर्घकालीन एवं जोखिमपूर्ण व्यवसायो मे लगाना—उस समय इन बैंको के निक्षेप प्राय अल्पकाल के लिए ही हुआ करते थे, परन्तु बैंको के सचालक एव प्रबन्धक इन अल्पकालीन निक्षेपो को दीर्घकालीन एव जोखिमपूर्ण व्यवसायो मे लगा दिया करते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि इस प्रकार के व्यवसायो से उन्हे अधिक ब्याज उपलब्ध होता था। इस प्रकार अधिक ब्याज के लालच मे वे बैंको की सुरक्षा (Security) की बलि दे दिया करते थे क्योंकि सकट के समय इस प्रकार के उद्योगो में लगाये गये धन को वापस लेना सम्भव नही होता था। परिणामत तरल परिसम्पत्ति (Liquid Assets) के अभाव के कारण बहुत-से बैंक फेल हो जाया करते थे। उदाहरणार्थ, पीपिल्स बैंक ऑफ इण्डिया (People's Bank of India) इसी कारण फेल हो गया था।

(6) नकद-कोषो का कम प्रतिशत (Low Percentage of Cash Reserves)—अधिकाश छोटे-छोटे बैंक अधिक लाभ कमाने हेतु अपनी जमाराशियो को अधिक से अधिक मात्रा मे व्यापारियो को ऋण के रूप मे दे दिया करते थे और अपने पास बहुत ही कम मात्रा मे नकद कोष रखा करते थे। कहा जाता है कि इस काल मे अधिकाश बैंको का नकद-कोष उनकी कुल देयताओ (Total Liabilities) के 11 प्रतिशत से भी कम हुआ करता था। परिणामत सकट के समय नकद-कोषो की अपर्याप्तता के कारण ये बैंक फेल हो जाया करते थे।

(7) बैंको द्वारा सट्टा व्यवसाय (Speculative Business)—उस समय अधिकाश छोटे-छोटे बैंक अधिक लाभ कमाने के लालच म अपना धन सट्टा व्यवसाय मे लगा दिया करते थे। कभी कभी उन्हे सट्टे से बहुत हानि हुआ करती थी जिसके फलस्वरूप वे दिवालिया हो जाते थे। उदाहरणार्थ, इण्डियन स्पीशी बैंक (Indian Specie Bank) की असफलता का मुख्य कारण सोने-चाँदी मे सट्टा ही था।

(8) पूँजी तथा जमाराशियो मे से लाभ का वितरण— अधिकाश छोटे छोटे बैंक पर्याप्त व्यवसाय न होने के कारण अधिक लाभ कमा सकने मे असमर्थ रहते थे। परन्तु मुद्रा-बाजार म अपनी साख बनाये रखने के लिए व अपनी पूँजी तथा जमाराशि मे से ऊँचे लाभाशो (high dividends) का शेयर होल्डरो म वितरण किया करते थे। वास्तव मे ऐसा करना उनके लिए बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ, क्योकि इससे धीरे धीरे उनकी पूँजी मे ह्रास होना आरम्भ हो गया और कालान्तर मे वे अपने दायित्वो (liabilities) का भुगतान करने मे असमर्थ होने के कारण फेल हो गये। उदाहरणार्थ, इण्डियन स्पीशी बैंक ने अपनी पूंजी मे से बहुत बडी मात्रा मे धन निकालकर शेयरहोल्डरो मे लाभांश के रूप मे बांट दिया था और यही उसकी विफलता का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

(9) केन्द्रीय बैंक का अभाव—उस समय देश मे कोई केन्द्रीय बैंक नहीं हुआ करता था। अत जब कोई व्यापारिक बैंक सकट मे फँस जाता था तो उसे आर्थिक सहायता देकर बचाने वाला कोई नही होता था। ऐसे समय पर सरकार का रवैया भी प्राय तटस्थता का ही हुआ करता था। फलत सामयिक सहायता के अभाव मे बहुत से छोटे छोटे बैंक फेल हो जाया करते थे।

(10) बैंकिंग विधान का अभाव—इस अवधि मे व्यापारिक बैंको को सही ढग से नियन्त्रित

करने हेतु कोई सुनिश्चित बैंक कानून भी नहीं हुआ करता था। परिणामत अधिकांश बैंको की अवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी और इसी कारण ही वे फेल हो जाया करते थे।

(11) झूठी अफवाहें – कभी-कभी बैंक अपनी त्रुटियों के कारण नहीं, बल्कि झूठी अफवाहों के कारण फेल हो जाते थे। उदाहरणार्थ, एलायन्स बैंक ऑफ शिमला झूठी अफवाहों के कारण ही फेल हुआ, यद्यपि इसकी वित्तीय स्थिति पूर्णत सन्तोषजनक थी। इसी प्रकार बैंक ऑफ अपर इण्डिया के ऊपर इसलिए सकट आया क्योंकि पीपिल्स बैंक के फेल हो जाने पर साधारण जनता मे इसके बारे मे गलत, बेबुनियाद अफवाहें फैल गयी थी।

(ख) प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ काल मे तो बैंकिंग सकट जारी रहा। बैंकिंग मे सामान्य अविश्वास के कारण साधारण जनता न बैंको से अपनी जमाराशियाँ वापस लेनी आरम्भ कर दी। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, लोगो का बैंकिंग मे पुन विश्वास जमता गया। देश मे प्रचलित मुद्रा स्फीति के कारण लोगो के पास अधिक धन एकत्रित होने लगा। परिणामत बैंको की जमाराशियाँ बढने लगी। कुछ नये बैंक भी स्थापित हो गये।

(ग) सन् 1921 मे तीनो प्रेसीडैन्सी बैंको (Presidency Banks) को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी। बाद मे चलकर सन् 1955 मे इस बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और इसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India) का नाम दिया गया।

(घ) सन 1929 मे भारत सरकार ने बैंकिंग प्रणाली की जाँच करने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति की थी। इस समिति ने देश की बैंकिंग व्यवस्था मे सुधार करने हेतु सरकार के सम्मुख कई महत्वपूर्ण सुझाव रखे थे।

(ङ) इस अवधि मे भारतीय बैंकिंग का विकास अत्यन्त असन्तुलित ढग से हुआ था। देश के कुछ प्रान्तो (जैसे पजाब उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र गुजरात) मे तो बैंको की बाढ सी आ गयी जबकि देश के अन्य भागो (जैसे बिहार उडीसा, मध्य प्रदेश) मे बैंकिंग का उचित ढग से विकास नहीं हो सका। देशी रियासतो मे बैंकिंग का बिलकुल ही अभाव रहा।

5 **पाँचवीं अवधि (सन 1939 से 1946 तक)**—यह अवधि भारतीय बैंकिंग के विस्तार की अवधि (period of expansion) थी। इस काल मे बैंकिंग का बडे पैमाने पर विस्तार हुआ। बैंकिंग सकट पूर्णत समाप्त हो गया। इस काल मे भारतीय बैंकिंग के विस्तार के कई कारण थे। देश मे प्रचलित मुद्रा स्फीति के कारण लोगो के पास अधिक धन आ गया था। फलत सभी बैंको के निक्षेप (deposits) बढ गये थे। इसी अवधि मे व्यापार एव उद्योग धन्धो मे विस्तार के कारण बैंक ऋणो की माँग बढ गयी थी जिसे सन्तुष्ट करने के लिए रिजर्व बैंक ने उदार साख नीति का अनुसरण किया और बैंको को अधिकाधिक मात्रा मे जरूरतमन्द व्यापारियो को ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इस अवधि मे बैंकिंग पर पडने वाले प्रभावो का निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है

(क) बैंकों के निक्षेपो मे महान वृद्धि—दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भिक काल मे तो बैंको पर प्रतिकूल प्रभाव पडा था। युद्ध के प्रारम्भ होते ही साधारण जनता ने बडे पैमाने पर बैंको से अपना रुपया निकालना आरम्भ कर दिया था। परन्तु धीरे धीरे कालान्तर मे जनता का बैंको मे पुन विश्वास स्थापित हो गया और लोगो ने बैंको से निकाला हुआ रुपया फिर से जमा करना आरम्भ कर दिया। जैसा ऊपर कहा गया है मुद्रा-स्फीति के कारण लोगो के पास अधिक धन आने लगा और परिणामत बैंको की जमाराशियाँ तेजी के साथ बढने लगी। युद्ध के अन्तिम दिनो मे तो बैंको की जमाराशियो मे बहुत वृद्धि हुई थी।

(ख) पुराने बैंको द्वारा नये नये स्थानों पर शाखाओं की स्थापना—युद्धकाल मे बढती हुई आर्थिक समृद्धि का लाभ उठाने के लिए पुराने बैंको ने नयी-नयी शाखाओ की स्थापना की। इस प्रकार इस काल मे लगभग प्रत्येक बैंक की शाखाओ मे वृद्धि हुई थी।

(ग) नये-नये बैंको की स्थापना—इस काल मे पुराने बैंको का ही विस्तार नहीं हुआ। बल्कि अनेक नये नये बैंको की भी स्थापना हुई थी। उदाहरणार्थ, भारत बैंक, यूनाइटेड कार्मशियल बैंक, हिन्दुस्थान कार्मशियल बैंक आदि कुछ ऐसे बैंक थे जिनकी स्थापना युद्धकाल मे हुई थी।

(घ) **बैंकिंग का असन्तुलित विकास**—युद्धकाल में भारतीय बैंकिंग का विस्तार तो हुआ परन्तु सन्तुलित एवं आयोजित ढंग से नही हो सका। बैंको की नयी शाखाएँ प्राय उन्ही नगरो मे खोली गयी जहाँ पहले ही अन्य बैंको की शाखाएँ विद्यमान थी। परिणामत बैंको की आपसी प्रतियोगिता पहले की अपेक्षा बहुत बढ गयी। परन्तु युद्धकालीन बैंकिंग विकास से ग्रामीण क्षेत्रो को कोई विशेष लाभ नही हुआ, क्योकि जैसा ऊपर कहा गया है, बैंको की अधिकांश शाखाएँ शहरो में ही खोली गयी थीं।

(ङ) **बैंकों की निवेश-नीति मे परिवर्तन**—युद्धकाल में बैंको की निवेश-नीति (Investment Policy) मे कुछ आधारभूलक परिवर्तन हुए थे। प्रथम, सभी बैंको ने सरकारी प्रतिभूतियो मे पहले की अपेक्षा अधिक धन लगाना आरम्भ कर दिया था। युद्ध से पूर्व भारत के अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) अपने निवेश योग्य धन का लगभग 54 प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाया करते थे, परन्तु युद्धकाल मे उन्होंने इसे बढाकर 61 प्रतिशत कर दिया था। द्वितीय, भारतीय बैंको ने पहले की अपेक्षा अधिक नकद-कोष (cash reserves) रखने आरम्भ कर दिये थे। युद्ध से पूर्व वे अपने निक्षेपो का लगभग 11 प्रतिशत नकद कोषो के रूप मे रखा करते थे परन्तु अब उन्होने इसे बढाकर 25% कर दिया था। वास्तव मे, बैंको की निवेश नीति मे होने वाले ये दोनो परिवर्तन जमाकर्ताओ की दृष्टि से वाछनीय थे क्योकि इनके फलस्वरूप उनके निक्षेप बैंको मे अधिक सुरक्षित हो गये थे।

युद्धकालीन बैंकिंग विकास के दोष—यह सत्य है कि युद्धकाल मे भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का तेजी के साथ विकास हुआ था परन्तु यह विकास पूर्णत दोषरहित नहीं था। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित हैं

(1) **बैंकिंग का विकास किसी पूर्व-योजना के आधार पर नहीं किया गया था**—जैसा पूर्व कहा गया है युद्धकाल मे बैंकिंग का द्रुतगति से विकास हुआ था परन्तु यह विकास किसी पूर्व निश्चित योजना के आधार पर नही किया गया था। नये बैंको की शाखाएँ प्राय उन्ही स्थानो पर खोली गयी थी जहाँ पहले से ही पर्याप्त सख्या मे बैंको की शाखाएँ थीं। ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे नगरो और कस्बो की पूर्ण उपेक्षा की गयी थी। परिणामत युद्धकालीन बैंकिंग विकास अत्यन्त अव्यवस्थित एव असन्तुलित ढग से हुआ था।

(2) **नये बैंकों की स्थापना प्रायः देश के प्रमुख उद्योगपतियो द्वारा की गयी थी**—जैसा ऊपर कहा गया है, युद्धकाल मे कई नये बैंको की स्थापना हुई किन्तु ये नये बैंक अधिकाशत देश के प्रमुख उद्योगपतियों द्वारा ही स्थापित किये गये थे। उदाहरणार्थ, भारत बैंक डालमिया, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक बिड़ला, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक सिंहानिया द्वारा स्थापित किये गये थे। वास्तव में, युद्धकालीन बैंकिंग विकास की यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय हितो के विपरीत थी क्योकि इन बैंको मे जमा धन का राष्ट्र के हितो मे नही, बल्कि उद्योगपतियो के हितो मे प्रयोग किया जाता था।

(3) **बैंको द्वारा अपने लाभो (Profits) का अनुचित उपयोग**—युद्धकालीन आर्थिक समृद्धि के कारण सभी बैंकों ने अभूतपूर्व लाभ कमाये थे परन्तु दुर्भाग्यवश इन लाभों का बैंको द्वारा सही उपयोग नही किया गया था। साधारणत बैंको को इन लाभो का उपयोग अपनी प्रारक्षित निधियो को सुदृढ बनाने के लिए करना चाहिए था परन्तु उन्होंने ऐसा नही किया। उन्होंने इन लाभों को अपने शेयरहोल्डरो (Shareholders) मे ऊँचे लाभाशों (High dividends) के रूप मे वितरित करना अधिक अच्छा समझा। अत इस अदूरदर्शिता के कारण उन्होंने अपनी प्रारक्षित निधियों (Reserve Funds) को सुदृढ बनाने का यह स्वर्ण अवसर खो दिया।

(4) **योग्य एव कार्यकुशल कर्मचारियो तथा अधिकारियो का अभाव**—युद्धकाल मे बैंकिंग के अत्यधिक विस्तार के कारण योग्य तथा कार्यकुशल कर्मचारियो और अधिकारियो का बहुत अभाव हो गया था। बडे बडे बैंको ने ऊँचे वेतनो का प्रलोभन देकर छोटे छोटे बैंको के कर्मचारियो तथा अधिकारियो को अपने यहाँ खीच लिया था। परिणामत छोटे बैंको मे कार्यकुशलता का स्तर बहुत नीचे गिर गया था।

(5) **बैंकों द्वारा सट्टा-कार्यों मे धन लगाना**—युद्धकाल मे विभिन्न बैंको ने अपने लाभ को अधिक बढाने हेतु अपने अतिरिक्त धन को सट्टा-कार्यों मे लगाना आरम्भ कर दिया था। वास्तव

मे, यह एक अत्यन्त जोखिमपूर्ण प्रवृत्ति थी जिसको रोकने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा कोई विशेष कार्यवाही नही की गयी थी।

(6) **बैंकों द्वारा खातो मे हेर फेर**—कुछ छोटे-छोटे बैंको ने अपनी वास्तविक स्थिति को रिजर्व बैंक से छिपाने के लिए अपने खातो मे हेर-फेर भी किया जो स्वस्थ बैंकिंग के मूलभूत सिद्धान्तो के विरुद्ध था।

उपरोक्त दोषो के कारण युद्धकाल मे भी बैंको की असफलता (failure) का क्रम निरन्तर जारी रहा। कई बैंक फेल हुए किन्तु फेलशुदा बैंको की सख्या सन् 1913-39 अवधि की अपेक्षा कम थी।

6 छठी अवधि (सन् 1947 से अब तक)—इस अवधि की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार है

(क) सन् 1947 के विभाजन के परिणामस्वरूप देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पडा था। पजाब तथा बगाल का विभाजन होने के फलस्वरूप वहाँ के बैंको को भी शरणार्थियो की भाँति भारत मे शरण लेनी पडी थी। परिणामत बहुत से बैंक फेल हो गये जिससे उनके जमाकर्ताओ को भारी क्षति हुई। जो बैंक विभाजन के आघात से बच गये, उन्हे भी बहुत हानि उठानी पडी। उनकी बहुत सी पूँजी परिसम्पत्ति पाकिस्तान मे ही रह गयी। विभाजन के प्रतिकूल प्रभावो से बैंको को बचाने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने एक नयी योजना चालू की। इस योजना के अन्तर्गत असूचित बैंको (Non scheduled Banks) को स्वीकृति प्रतिभूतियो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण लेने की सुविधा प्रदान की गयी। इसके अतिरिक्त, शरणार्थी बैंको (Refugee Banks) के पुनर्वास के लिए भारत सरकार ने एक करोड रुपये की सहायता प्रदान की थी। इसके साथ ही एक सरकारी आदेश के अन्तर्गत दिल्ली तथा पूर्वी पजाब मे स्थित बैंको के विरुद्ध तीन महीने तक कोई कानूनी कार्यवाही नही की जा सकती थी। इस प्रकार इस योजना से कई शरणार्थी बैंको को फेल होने से बचा लिया गया था।

(ख) सन् 1947 मे विभाजन के तुरन्त बाद बैंको की जमाराशियो मे बहुत कमी हो गयी थी और इसके साथ ही साथ बैंको से ऋणो की माँग बहुत बढ गयी थी परन्तु धीरे धीरे उद्योगो तथा व्यापार के विकास के कारण बैंको की जमाराशियो मे वृद्धि होनी आरम्भ हो गयी।

भारतीय बैंकिंग की नवीन प्रवृत्तियाँ

इस अवधि मे भारतीय बैंकिंग मे होने वाली मुख्य मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं

(1) **रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण**—इस अवधि की एक महत्वपूर्ण घटना रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण थी। रिजर्व बैंक को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए 1 जनवरी 1949 को भारत सरकार ने इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया और उस समय यह आशा की गयी कि रिजर्व बैंक देश के आर्थिक विकास मे पहले की अपेक्षा अधिक सहयोग दे सकेगा। वास्तव मे, राष्ट्रीयकरण के उपरान्त यह आशा पर्याप्त रूप मे पूरी भी हुई है।

(2) **सन् 1949 का बैंकिंग नियमन अधिनियम** (Banking Regulation Act 1949)—भारतीय बैंकिंग का समुचित नियमन करने के लिए मार्च 1949 मे एक बैंकिंग नियमन कानून पास किया गया। इस कानून के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको का निरीक्षण करने के लिए रिजर्व बैंक को अधिक व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। रिजर्व बैंक अब किसी भी समय किसी भी अनुसूचित बैंक के हिसाब किताब की जाँच पडताल कर सकता था। इसके अतिरिक्त इस कानून के अधीन कोई भी अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना नयी शाखाएं नही खोल सकता था। इस कानून मे बैंको के जमाकर्ताओ के हितो की रक्षा करने के लिए भी विशेष व्यवस्था की गयी थी। आगे चलकर सन् 1963 मे इस एक्ट का सशोधन किया गया था।

(3) **विलीनीकरण को प्रोत्साहन** (Encouragement to Amalgamation) —इस अवधि मे भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक ने बैंको के विलीनीकरण का विशेष प्रोत्साहन दिया था। विलीनीकरण से अभिप्राय बैंको के एक दूसरे से विलय अथवा मिल जाने से होता है। जब दो अथवा दो से अधिक छोटे बैंक आपस मे मिल जाते हैं तब इनका व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता है और नये बैंक का निर्माण हो जाता है।-इसे बैंको का विलीनीकरण कहते हैं।

विलीनीकरण से एक ओर तो बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और दूसरी ओर बैंकों की कार्यकुशलता का स्तर बढ़ जाता है। इसी दृष्टिकोण से भारत सरकार एवं रिजर्व बैंक छोटे मोटे बैंकों के विलीनीकरण का समर्थन करते हैं। इसी नीति के अनुसार सन् 1950 में बंगाल के चार बैंकों (कोमिला बैंकिंग कारपोरेशन कोमिला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा दि बंगाल सेन्ट्रल बैंक) को मिलाकर एक नये बैंक, दि यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया (The Union Bank of India) की स्थापना की गयी थी। इसी प्रकार मार्च 1951 में भारत बैंक को पंजाब नेशनल बैंक में मिला दिया गया था। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की पुनर्संगठन योजना के अन्तर्गत ऐसे दस बैंकों को, जो देशी रियासतों के अधिकार में थे, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में मिला दिया गया था।

(4) **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण**—1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उसे स्टेट बैंक आफ इण्डिया के नाम से एक नये आधार पर पुन संगठित किया गया। इस बैंक का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में नयी शाखाएँ खोलना था। इसके अतिरिक्त, यह बैंक सहकारी बैंकों के विकास में भी विशेष सहायता देता है। सन् 1955 के बाद अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे छोटे कस्बों में नयी शाखाएँ खोली हैं जिससे बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

(5) **बैंकिंग प्रशिक्षण का प्रबन्ध**—विगत कुछ वर्षों में रिजर्व बैंक ने बैंकों के कर्मचारियों एवं अधिकारियों के समुचित प्रशिक्षण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इण्डियन इन्स्टीटयूट ऑफ बैंकर्स (Indian Institute of Bankers) के कार्यक्षेत्र को विस्तृत कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के सरक्षण में एक प्रशिक्षण कालेज स्थापित किया गया है जहाँ बैंकों के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को बैंकिंग के सिद्धान्तों एवं व्यवहार में विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है।

(6) **व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण**—19 जुलाई, 1969 को भारत के प्रमुख 14 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। इसका विस्तृत विवरण आगे चलकर इसी अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय बैंकिंग की वर्तमान स्थिति—सन 1975 76 में भारत में भारतीय व्यापारिक अनुसूचित बैंकों (Indian Commercial Scheduled Banks) की कुल सख्या 68 थी, जबकि सन् 1960 61 में यह सख्या 74 थी। विगत कुछ वर्षों से इन अनुसूचित बैंकों की सख्या बराबर घटती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ छोटे अनुसूचित बैंकों का बड़े अनुसूचित बैंकों में विलय होता रहा है। इसी प्रकार विगत कुछ वर्षों से असूचित व्यापारिक बैंकों (Non-scheduled Commercial Banks) की सख्या भी बराबर घटती जा रही है। सन् 1955-56 में इन बकों की कुल सख्या 378 थी। सन 1974-75 में यह घटकर केवल 7 ही रह गयी थी। इनकी सख्या में कमी का मुख्य कारण यह है कि बहुत से असूचित बैंकों का अनुसूचित बैंकों में विलय कर दिया गया है।

सन 1975-76 में भारत के भारतीय व्यापारिक अनुसूचित बैंकों के कुल निक्षेप (total deposits) 13 169 35 करोड रुपये थे। इनमे से 5 441 90 करोड रुपये माँग निक्षेप (demand deposits) थे और 7 727 45 करोड रुपये समय निक्षेप (time deposits) थे। इसी वर्ष में इन बैंकों का नकद कोष निक्षेप अनुपात (cash deposits ratio) 6 56 प्रतिशत था।[1]

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोष—सन 1949 के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट का मुख्य उद्देश्य भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों को दूर कर उसे सुदृढ़ आधार पर विकसित करना था। इस कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को अनुसूचित बैंकों पर नियन्त्रण सम्बन्धी अधिक व्यापक अधिकार दिये गये थे। परिणामत इस कानून से भारतीय बैंकिंग के उचित विकास में महत्वपूर्ण योग मिला है परन्तु ऐसा होते हुए भी भारतीय बैंकिंग प्रणाली में अनेक दोष पाये जाते हैं। भारतीय बैंकिंग के मुख्य मुख्य दोष इस प्रकार हैं

1 Reserve Bank of India Bulletin, July 1976, S 490

(1) **बैंकिंग-सुविधाओं की अपर्याप्तता (Inadequacy of Banking Facilities)**—यद्यपि विगत कुछ वर्षों में भारत में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार हुआ है, लेकिन फिर भी वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। भारत के आकार एवं जनसंख्या को देखते हुए भारतीय बैंकों की वर्तमान संख्या पर्याप्त नहीं है। 30 जून, 1976 को भारत में बैंकिंग कार्यालयों की कुल संख्या केवल 21,220 थी।[1] आज भी भारत में अनेक स्थान हैं जहाँ पर बैंकिंग सुविधाओं का लगभग पूर्ण अभाव है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि देश में बैंकिंग सुविधाओं का और अधिक विस्तार किया जाय।

(2) **भारतीय बैंकों का वर्तमान विकास असमान एवं असन्तुलित है**—यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षों में भारत में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार हुआ है। नये नये बैंक स्थापित हुए हैं तथा पुराने बैंकों का विस्तार हुआ है। परन्तु, दुर्भाग्यवश, बैंकों की नयी शाखाएँ अधिकांशतः उन्हीं बड़े-बड़े व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्रों में खोली गयी हैं जहाँ बैंकिंग सुविधाएँ पहले ही पर्याप्त रूप में उपलब्ध थीं। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे कस्बों को बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। यह सत्य है कि सन् 1955 के बाद स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने कुछ छोटे छोटे नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में नयी-नयी शाखाएँ खोली हैं, परन्तु इसके बावजूद स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। आज भी सैकड़ों छोटे छोटे नगर एवं कस्बे ऐसे हैं जहाँ पर बैंकिंग सुविधाओं का पूर्ण अभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय बैंकिंग का वर्तमान विकास अत्यन्त असमान एवं असन्तुलित है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने तथा कृषि-साख की व्यवस्था करने के लिए इन क्षेत्रों में बैंकिंग का शीघ्रातिशीघ्र विस्तार किया जाय।

(3) **बैंकों की कार्यशील पूँजी की कमी**—भारतीय बैंकिंग प्रणाली का एक अन्य दोष यह है कि भारतीय बैंकों की कार्यशील पूँजी अन्य देशों के बैंकों की अपेक्षा बहुत कम है। सन् 1975-76 के अन्त में भारत में केवल 96 ऐसे बैंक थे जिनकी चुकती पूँजी (paid-up capital) 5 लाख रुपये से अधिक थी। इस प्रकार भारतीय बैंकों के निक्षेप भी अन्य देशों के बैंकों की तुलना में बहुत कम हैं। जबकि अमरीका में प्रति व्यक्ति निक्षेप 2,923 रुपये हैं तब भारत में यह केवल 23 रुपये ही है। अतः इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय बैंकों की कार्यशील पूँजी कितनी कम है।

(4) **भारतीय बैंकों में समन्वय का अभाव**—जैसा विदित है, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दो मुख्य भाग हैं—संगठित भाग (Organised Sector) तथा असंगठित भाग (Unorganised Sector)। संगठित भाग में स्टेट बैंक आफ इण्डिया, व्यापारिक बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंक हैं। असंगठित भाग में साहूकार, महाजन एवं देशी बैंकर्स हैं। दुर्भाग्यवश बैंकिंग व्यवस्था के इन दोनों भागों के बीच किसी भी प्रकार का सम्पर्क एवं सम्बन्ध नहीं है। अतः उनके कार्यों में किसी प्रकार के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

(5) **भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में विशिष्ट बैंकों (Specialised Banks) का अभाव**—भारतीय बैंकिंग प्रणाली का एक प्रमुख दोष यह है कि इसमें सम्मिलित बैंक अधिकांशतः व्यापारिक बैंक ही हैं। औद्योगिक, कृषि, सेविंग्स एवं विदेशी विनिमय बैंकों का लगभग पूर्ण अभाव है। वास्तव में, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की यह एक भारी त्रुटि है। उदाहरणार्थ, कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है और भारत की लगभग 50 प्रतिशत राष्ट्रीय आय कृषि से ही उत्पन्न होती है लेकिन इसके बावजूद भारत के मिश्रित पूँजी बैंक कृषि की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं के केवल 4 प्रतिशत भाग को ही सन्तुष्ट कर पाते हैं। इसी प्रकार भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध (Finance) करने के लिए भारतीय बैंकों का लगभग पूर्ण अभाव है।

(6) **भारत में बिल-बाजार का अभाव (Lack of Bill Market in India)**—किसी भी देश के मुद्रा बाजार के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ पर बिल बाजार का समुचित विकास हो, परन्तु, दुर्भाग्यवश, भारत में रिजर्व बैंक के भरसक प्रयत्नों के बावजूद अभी तक देश में बिल-

1 *Annual Report and Trend and Progress of Banking in India, 1975-76,* p 48.

बाजार का समुचित विकास नहीं हो सका है। परिणामत भारतीय व्यापारी एव उद्योगपति सस्ती साख की सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं।

(7) रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति प्रभावपूर्ण नहीं है—जैसा ऊपर कहा गया है, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दो भाग हैं—असंगठित तथा संगठित। बैंकिंग व्यवस्था के असंगठित भाग पर रिजर्व बैंक का बिलकुल ही नियन्त्रण नहीं है। संगठित भाग पर भी रिजर्व बैंक का नियन्त्रण पूर्ण नहीं है। परिणामत रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति प्रभावपूर्ण नहीं है। दूसरे देशों मे, केन्द्रीय बैंक, बैंकिंग व्यवस्था के सभी भागो पर अपना प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। परिणामत उनकी साख-नियन्त्रण नीति भी सफल रहती है। परन्तु भारतीय मुद्रा बाजार के बारे मे ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(8) भारतीय बैंक अपर्याप्त जमानत पर ऋण देते हैं—भारतीय बैंकों की ऋण सम्बन्धी नीति विशुद्ध बैंकिंग सिद्धान्तो पर आधारित नहीं होती। अधिकांश भारतीय बैंक अपर्याप्त जमानत के आधार पर ऐसी कम्पनियों एव संस्थाओ को ऋण देते हैं जिनमे बैंक के डायरेक्टरों का किसी न किसी रूप मे स्वार्थ निहित होता है। परिणामत बैंकों की वित्तीय-स्थिति दुर्बल हो जाती है।

(9) भारतीय बैंक अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण दे देते हैं—कुछ भारतीय बैंक अपने ग्राहकों को अचल सम्पत्ति के आधार पर भी ऋण दे देते हैं। वास्तव मे, इस प्रकार के ऋण बैंकों के लिए अत्यन्त जोखिमपूर्ण (Risky) सिद्ध हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अचल सम्पत्ति का मूल्यांकन एव स्वामित्व निर्धारण जटिल समस्याएँ हैं। इसके अतिरिक्त, ऋणी द्वारा ऋण का भुगतान न करने की स्थिति मे अचल सम्पत्ति को बाजार मे बेचना भी असुविधाजनक होता है।

(10) कुछ भारतीय बैंक बड़े बड़े उद्योगपतियों के साथ अनुचित रूप से सम्बन्धित हैं—भारत के कुछ सिमित पूँजी बैंको पर देश के बड़े बड़े उद्योगपति एव व्यवसायी छाये हुए हैं। अधिकांश बैंकों के डायरेक्टर देश के बड़े बड़े उद्योगपति एव व्यवसायी ही हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये बैंक प्राय अपनी पूँजी को उन्ही उद्योगों एव व्यवसायो मे लगाते हैं जिनमे इनके डायरेक्टरों के स्वार्थ निहित होते हैं। वास्तव मे, भारतीय बैंकिंग के लिए यह खतरनाक परिस्थिति है जिसके परिणाम बैंकिंग व्यवस्था के लिए अत्यन्त गम्भीर सिद्ध हो सकते हैं। लेकिन जुलाई, 1969 मे 14 बड़े व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त स्थिति मे कुछ सुधार हुआ है।

(11) बैंकों द्वारा भ्रामक स्थिति-विवरण प्रस्तुत किया जाना—भारत के कुछ बैंक अपनी वास्तविक वित्तीय स्थिति को छिपाने के लिए रिजर्व बैंक को गलत स्थिति विवरण (Statement of Affairs) प्रस्तुत कर देते हैं जिससे रिजर्व बैंक को इनके बारे मे सही मूल्यांकन करने मे कठिनाई होती है।

(12) देश मे छोटे छोटे अनेक बैंकों का होना—कुछ बैंकों को छोड़कर भारत के अधिकांश बैंक छोटे आकार के हैं। वास्तव मे, छोटे-छोटे बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था के लिए खतरा बन सकते हैं क्योंकि मन्दीकाल मे ये बैंक प्रायः असफल हो जाते हैं और इनकी असफलता के कारण दूसरे बैंकों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

(13) भारतीय बैंकों की कार्यकुशलता का निम्न-स्तर—भारत के अधिकांश बैंकों मे कार्यकुशलता का स्तर बहुत निम्न है। इसका मुख्य कारण कुशल, योग्य एव अनुभवी कर्मचारियों तथा अधिकारियों का अभाव है।

सन् 1949 मे बैंकिंग नियमन अधिनियम पास किये जाने के बाद भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के उपरोक्त दोषों मे कुछ सुधार हुआ है, परन्तु अब भी सुधार की बहुत गुंजाइश है। अत यह नितान्त आवश्यक है कि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया उक्त कानून के अन्तर्गत मिले अपने अधिकारों का कड़ाई के साथ प्रयोग करे ताकि बैंकिंग व्यवस्था के दोषों एव त्रुटियों को शीघ्रातिशीघ्र दूर किया जा सके।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के सुधार के लिए सुझाव—भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं:

(1) **बैंकों की संख्या में वृद्धि की जाय**—देश के उन भागों में जहाँ पर बैंकिंग सुविधाओं का अभाव है—नये-नये बैंकों की स्थापना की जाय अथवा पुराने बैंकों की नयी-नयी शाखाएँ स्थापित की जायें ताकि देश के सभी क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकें। इसी से ही देश में बचतों को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(2) **बैंकिंग का सन्तुलित विकास किया जाय**—इससे अभिप्राय यह है कि बैंकों की नयी नयी शाखाओं को केवल उन्हीं स्थानों पर खोला जाय जहाँ पर पहले ही बैंकों की शाखाएं नहीं हैं, अर्थात् बैंकों की नयी शाखाओं को ग्रामीण क्षेत्रों में एवं छोटे-छोटे कस्बों में स्थापित किया जाय। इससे एक ओर तो इन स्थानों पर बैंकिंग सुविधाएँ हो सकेंगी और दूसरी ओर बैंकों की आपसी प्रतियोगिता का नियमन (Regulation) भी हो सकेगा।

(3) **बैंकों के वित्तीय साधनों में वृद्धि की जाय**—भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का सुधार करने के लिए यह भी सुझाव दिया गया है कि बैंकों के वित्तीय साधनों में वृद्धि की जाय ताकि वे देश के आर्थिक विकास में अधिक सक्रिय भाग ले सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् 1949 के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि जो बैंक एक से अधिक राज्यों में व्यवसाय करता है उसकी चुकती पूँजी (Paid up Capital) एवं प्रारक्षित निधि (Reserve Fund) 5 लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए। यदि किसी बैंक की शाखाएँ बम्बई एवं कलकत्ता में भी हैं तब उसकी चुकती पूँजी एवं प्रारक्षित निधि 10 लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, बैंकों को छोटे-छोटे कस्बों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में नयी नयी शाखाएँ खोलकर अपने निक्षेपों (Deposits) को बढ़ाना चाहिए। ऐसा करने से बैंकों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) में स्वतः ही वृद्धि हो जायगी।

(4) **बैंकों की ऋण नीति में सुधार किया जाय**—भारतीय बैंकों को अपने निक्षेपों का केवल उचित भाग ही व्यापारियों एवं व्यवसायियों को ऋण के रूप में देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बैंकों को अपनी क्षमता से अधिक ऋण नहीं देने चाहिए, अन्यथा उनकी वित्तीय स्थिति दुर्बल हो जाने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त, बैंकों को निजी व्यक्तियों को ऋण देने से पूर्व उनकी साख की भली भांति जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिए। सन्देहात्मक साख वाले व्यक्तियों को तो किसी भी दशा में ऋण नहीं देना चाहिए। इसके अलावा बैंकों को अपर्याप्त जमानत के आधार पर भी ऋण नहीं देने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उनकी वित्तीय स्थिति जोखिमपूर्ण हो सकती है। अचल सम्पत्ति के आधार पर तो बैंकों को किसी भी दशा में ऋण नहीं देने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उनकी वित्तीय स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

(5) **बैंकों की निवेश नीति (Investment Policy) में सुधार**—बैंकों को यथासम्भव अपनी निवेश नीति में भी सुधार करना चाहिए और ऐसी कम्पनियों के शेयरों में पूँजी नहीं लगानी चाहिए जिनमें उनके सचालकों के स्वार्थ निहित हों। बैंकों को चाहिए कि वे अपने धन को यथासम्भव सरकारी प्रतिभूतियों एवं ऋणपत्रों (Government Securities) में ही अधिक मात्रा में लगायें क्योंकि ऐसा करने से एक ओर तो बैंकों की परिसम्पत्तियों (Assets) में तरलता (Liquidity) बढ़ जायगी और दूसरी ओर उनके निवेश (Investment) भी सुरक्षित रहेंगे।

(6) **बैंकों को पर्याप्त नकद कोष रखने चाहिए**—सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था के विकास के लिए बैंकों को समुचित मात्रा में अपने पास नकद कोष रखने चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने जमाकर्ताओं की माँग को पूरा कर सकें। यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय बैंकों को अपने माँग तथा समय निक्षेपों का कम से कम 20 प्रतिशत भाग नकद कोषों के रूप में रखना चाहिए। इससे जनता का बैंकों में विश्वास अधिक बढ़ जायगा।

(7) **लाभांश वितरण के सम्बन्ध में सुझाव**—बैंकिंग व्यवस्था के स्वस्थ विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि बैंकों की प्रारक्षित निधियों (reserve funds) को सुदृढ़ बनाया जाय। अतः बैंकों को चाहिए कि वे अपने सम्पूर्ण लाभ को शेयरहोल्डरों में वितरित न कर दें, बल्कि उसका कुछ भाग प्रारक्षित निधियों में भी डालते चले जायें ताकि कालान्तर में उनकी प्रारक्षित निधियाँ सुदृढ़ हो जायें और संकटकाल में बैंक उनका उपयोग कर सकें। दुर्भाग्यवश, भारतीय

बैंक विशेषकर असूचित बैंक अपने लाभ का अधिकांश भाग शेयरहोल्डरों में ही बाँट देते थे। परिणामत उनकी प्रारक्षित निधियों में वृद्धि नहीं हो पाती थी। इसीलिए सन् 1949 के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि प्रत्येक बैंक को अपने सम्पूर्ण लाभ का 20 प्रतिशत भाग प्रारक्षित निधि में अनिवार्य रूप से उस समय तक रखते चले जाना होगा, जब तक कि प्रारक्षित निधि बैंक की चुकती पूंजी के बराबर नहीं हो जाती। परन्तु बैंकिंग विशेषज्ञों का विचार है कि अपने सम्पूर्ण लाभ का केवल 20 प्रतिशत भाग ही प्रारक्षित निधि में डालने से किसी बैंक को सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए बल्कि जहाँ तक हो सके अपने लाभ का अधिकतम भाग प्रारक्षित निधि में डालना चाहिए, ताकि कालान्तर में बैंक की वित्तीय-स्थिति सुदृढ होती चली जाय।

(8) **बैंकों के प्रबन्ध में सुधार**—यह भी सुझाव दिया गया कि बैंकों के दिन-प्रतिदिन के प्रबन्ध में भी आवश्यक सुधार किये जायें। इसके लिए बैंकों में योग्य, कुशल, प्रशिक्षित एवं अनुभवी कर्मचारियों एव अधिकारियों की नियुक्ति की जाय ताकि बैंकों की कार्यकुशलता के स्तर में सुधार हो सके। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सचालकों द्वारा बैंक के कार्यों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा जाय।

(9) **छोटे बैंकों का विलीनीकरण (Amalgamation of Banks)**—छोटी छोटी एवं गैर-आर्थिक बैंकिंग इकाइयों को मिलाकर बड़े बड़े बैंकों की स्थापना की जाय। इससे बैंकों की आपसी प्रतियोगिता दूर की जा सकती है और कार्यकुशलता के स्तर को भी बढाया जा सकता है।

(10) **बैंकिंग व्यवस्था के विभिन्न अंगों में समन्वय स्थापित किया जाय**—जैसा विदित है, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दो मुख्य भाग हैं—सगठित तथा असगठित। दुर्भाग्यवश, इस समय इन भागों में सम्पर्क एव सहयोग का पूर्ण अभाव है। परिणामत बैंकिंग विकास के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं। अत भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन दोनों भागों के बीच समुचित समन्वय स्थापित किया जाय।

(11) **बैंकिंग कार्यविधि में सुधार किया जाय**—भारतीय बैंकों को यथासम्भव अपनी कार्यविधि में भी सुधार करना चाहिए। जहाँ तक हो सके बैंकिंग सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से समूची अर्थ व्यवस्था खतरे में पड़ सकती है।

बैंकिंग आयोग की रिपोर्ट (Report of the Banking Commission)—भारत की बैंकिंग प्रणाली की जाँच करने हेतु 29 फरवरी, 1969 को भारत सरकार ने श्री आर० जी० सरैया (R G Saraiya) की अध्यक्षता में एक बैंकिंग आयोग (Banking Commission) की नियुक्ति की थी। इस आयोग को व्यापारिक बैंकों की वर्तमान सरचना की जाँच के लिए कहा गया था। इसे यह भी कहा गया था कि इन बैंकों की कार्यशीलता में सुधार करने हेतु समुचित सुझाव प्रस्तुत किये जायें। मार्च 1969 में इस आयोग ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1 फरवरी, 1972 को प्रस्तुत कर दी थी। इसकी मुख्य मुख्य सिफारिशों का सम्बन्ध व्यापारिक एव सहकारी बैंकों के पुनर्निर्माण, उनके कार्यक्षेत्र में विस्तार एव उनकी कार्यकुशलता के स्तर में सुधार करने से था। इसके अलावा, बैंकिंग आयोग ने साख नियोजन (credit planning), गैर बैंकिंग वित्तीय सस्थाओ, देशी बैंकरो, प्रबन्ध विकास, प्रशिक्षण एव बैंकों में भरती के बारे में भी अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की हैं। सन् 1973 74 में भारत सरकार ने बैंकिंग आयोग की कतिपय सिफारिशों पर अपना निर्णय भी दे दिया था। 24 जुलाई, 1976 को भारत सरकार ने 5 सदस्यीय दूसरा बैंकिंग आयोग भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री मनुभाई शाह की अध्यक्षता में स्थापित किया था। इस आयोग को यह कहा गया था कि वह देश के सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के पुनर्गठन पर विचार कर अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत करे।

भारतीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Indian Banks)

इस समय भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बहुत ही विवादग्रस्त हो चुका है। जैसा विदित है, देश की अर्थ-व्यवस्था में बैंकिंग का बहुत महत्त्व होता है। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि बैंकिंग जैसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय को निजी व्यक्तियों के हाथों में नहीं छोड देना

चाहिए, अर्थात् बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। इसके विपरीत, कुछ अन्य व्यक्तियों का यह मत है कि बैंकिंग व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक नहीं है, बल्कि उसे निजी व्यक्तियों के हाथों में रखना ही उचित है। इस प्रकार यह प्रश्न इस समय अत्यन्त विवादग्रस्त बन गया है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क—ये इस प्रकार हैं :

(1) राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग साख का उपयोग राष्ट्रहित में होगा—जैसा विदित है, बैंक साख का महत्त्वपूर्ण स्रोत होते हैं अर्थात् ये बड़े पैमाने पर साख का सृजन करते हैं। यदि बैंकों को निजी व्यक्तियों के हाथ में ही रखा जाय तो इससे उनके द्वारा सृजित साख का उपयोग राष्ट्रहित में नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की सृजित साख का उपयोग निजी व्यक्ति अपने ही हित में करेंगे। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि बैंकिंग साख का उपयोग राष्ट्रीय हित में किया जाय तो इसके लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य प्रतीत होता है।

(2) राष्ट्रीयकरण से देश की अर्थ-व्यवस्था को व्यापार-चक्रों (Trade Cycles) से बचाया जा सकता है—जैसा विदित है, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रायः व्यापार-चक्र क्रियाशील रहते हैं। इनके फलस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में कभी मन्दी आती है और कभी तेजी। इस प्रकार के आर्थिक उच्चावचनों से देश की अर्थ-व्यवस्था को अपार हानि होती है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि देश की अर्थ-व्यवस्था के स्वस्थ विकास हेतु व्यापार-चक्रों पर उचित नियन्त्रण किया जाय। इसके लिए यह जरूरी हो जाता है कि बैंकों द्वारा सृजित की गयी साख की मात्रा पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा जाय और यह तभी सम्भव हो सकता है जब बैंकों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय।

(3) राष्ट्रीयकरण से बैंकों की आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी—जैसा विदित है, इस समय भारतीय बैंकों में बड़े पैमाने पर अपव्ययपूर्ण प्रतियोगिता (Wasteful Competition) हो रही है जिसमें किसी पक्ष को भी किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं होता। यदि सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय तो इस प्रकार की अपव्ययपूर्ण प्रतियोगिता स्वतः ही समाप्त हो जायगी।

(4) राष्ट्रीयकरण से बैंकों की कार्यकुशलता का स्तर ऊँचा होगा—निजी बैंकों की तुलना में सरकारी बैंक अपने विस्तृत आर्थिक साधनों के कारण कुशल, प्रशिक्षित एवं अनुभवी कर्मचारियों को आकर्षित करने में अधिक सफल रहते हैं। परिणामतः सरकारी बैंकों में कार्यकुशलता का स्तर स्वतः ही ऊँचा हो जाता है।

(5) राष्ट्रीयकरण से देश में बचतों को प्रोत्साहन मिलेगा—जैसा हम जानते हैं, साधारण जनता का निजी बैंकों की अपेक्षा सरकारी बैंकों में अधिक विश्वास होता है। इसलिए यदि देश में सभी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय तो साधारण जनता अपने धन को निःसंकोच बैंकों में जमा करने के लिए तैयार हो जायगी। इससे लोगों में बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अलावा, केवल सरकार ही छोटे-छोटे कस्बों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों की शाखाएँ खोलने की स्थिति में है, क्योंकि निजी बैंक साधारणतः ऐसे स्थानों पर शाखाएँ खोलना लाभपूर्ण नहीं समझते। परन्तु सरकार अपने विस्तृत आर्थिक साधनों के कारण छोटे-छोटे स्थानों पर भी बैंकिंग शाखाएँ खोल सकने में समर्थ होती है। परिणामतः राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा देश की बचतों को एकत्रित कर आर्थिक विकास के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

(6) राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग लाभों का उपयोग लोकहित में किया जा सकता है—यदि बैंक निजी प्रबन्ध में ही रहते हैं तो उनके द्वारा कमाये गये लाभों का उपयोग निजी हित में ही होगा, परन्तु यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है तो ऐसी परिस्थिति में उनके द्वारा कमाये गये लाभ निजी हित में नहीं बल्कि लोकहित में इस्तेमाल किये जायेंगे।

(7) राष्ट्रीयकरण से देश में विशिष्ट बैंकों का विकास सम्भव हो सकेगा—जैसा पूर्व कहा गया है, इस समय भारत में विशिष्ट बैंकों (Specialised Banks) का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ, इस समय भारत में कृषि, औद्योगिक एवं विदेशी विनिमय बैंकों का लगभग अभाव है। यदि समूची बैंकिंग व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है तो ऐसी परिस्थिति में सरकार इस प्रकार के विशिष्ट बैंकों का विकास करने के लिए अवश्य ही विशेष प्रयत्न करेगी।

(8) समाजवादी समाज की स्थापना के लिए भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना अनिवार्य है—जैसा हम जानते हैं, भारत सरकार का उद्देश्य देश में समाजवादी समाज (Socialist Society) की स्थापना करना है। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंको का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि यदि बैंको को निजी हाथो मे ही छोड़ दिया जाय तो इससे समाजवादी समाज की स्थापना मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जायेंगी, क्योंकि निजी बैंक सरकारी उद्योगो को साख सम्बन्धी समुचित सहायता देने मे आनाकानी करेंगे।

(9) देश मे आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक प्रतीत होता है—जैसा विदित है, भारत सरकार देश के तीव्र आर्थिक विकास हेतु पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित कर रही है। स्पष्ट है कि इन योजनाओ की सफलता के लिए बडी मात्रा मे धन जुटाने की आवश्यकता है। यदि देश मे सभी बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है तो इससे भारत सरकार को पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने मे बहुत बडी आर्थिक सहायता मिल सकती है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे तर्क—ये इस प्रकार हैं

(1) राष्ट्रीयकरण से बैंको में कार्यकुशलता का स्तर गिर जायगा—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे सबसे बडा तर्क यह दिया जाता है कि इससे बैंकिंग व्यवस्था मे कार्यक्षमता का स्तर नीचे गिर जायगा। इस सम्बन्ध मे सरकारी उद्योगो एव व्यवसायो का उदाहरण दिया जाता है, जहाँ पर राष्ट्रीयकरण के उपरान्त कार्यकुशलता के स्तर मे ह्रास हुआ है। इस सन्दर्भ मे विशेषकर जीवन बीमा निगम (L I C) का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है और कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण के उपरान्त जीवन बीमा व्यवसाय मे अकुशलता (Inefficiency), विलम्बता (Red tapism) एव अपव्ययता (Wastage) बढ गयी है।

(2) बैंको का राष्ट्रीयकरण इस समय व्यावहारिक नहीं है—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इस समय देश मे योग्य, कुशल, अनुभवी एव ईमानदार बैंक कर्मचारियो तथा अधिकारियो का बहुत अभाव है। ऐसी परिस्थिति मे यदि बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है तो वह अन्तत सफल नही हो सकेगा।

(3) राष्ट्रीयकरण से निजी व्यक्तियों एव संस्थाओ की वित्तीय गोपनीयता भग हो जायगी—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि इससे निजी व्यक्तियो एव सस्थानो की वित्तीय गोपनीयता (Financial Secrecy) समाप्त हो जायगी, जिसके परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र के औद्योगिक विकास मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी।

(4) राष्ट्रीयकरण से निजी क्षेत्र के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे दिया गया चौथा तर्क यह है कि अभी देश की अर्थ व्यवस्था मे निजी क्षेत्र (Private Sector) को समाप्त नही किया गया है, बल्कि उसके विकास के लिए विशेष व्यवस्था की गयी है। ऐसी परिस्थिति मे बैंको का राष्ट्रीयकरण निजी क्षेत्र के विकास के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीयकृत बैंक प्राय निजी व्यवसायो को ऋण देने मे आनाकानी करते हैं।

(5) चूँकि अभी बैंकिंग का पूर्ण विकास नहीं हुआ है इसलिए बैंको के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता—राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे दिया गया अन्तिम तर्क यह कि अभी भारत मे बैंकिंग का पूर्ण विकास नही हो सका है और जब तक किसी उद्योग एव व्यवसाय का पूर्ण विकास नही हो जाता, तब तक उसका राष्ट्रीयकरण करना लाभदायक नही हो सकता। अत ऐसी परिस्थिति मे बैंको का राष्ट्रीयकरण देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

जैसा हमने ऊपर देखा है, बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष एव विपक्ष मे विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये गये हैं। यदि हम उनका सावधानी से अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे दिये गय तर्क विपक्ष के तर्को की तुलना मे अधिक शक्तिशाली हैं और इस समय भारत मे सभी बैंको का राष्ट्रीयकरण करना उपयुक्त ही होगा।

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण
(Social Control on Banks)

लेकिन ऐसा होते हुए भी भारत सरकार ने सन् 1968 मे बैंको का राष्ट्रीयकरण न करने का निर्णय किया था। राष्ट्रीयकरण के स्थान पर भारत सरकार ने बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण लागू करने का निश्चय किया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने ससद मे एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसे बाद मे चलकर पारित कर दिया गया था। इस कानून के मुख्य प्राविधान इस प्रकार था :

(1) रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंको के सचालक मण्डलो (Boards of Directors) का पुनर्गठन कर सकता था।

(2) रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंक के पूर्णकालीन अध्यक्षो (Full-time Chairmen) की नियुक्ति कर सकता था। नियुक्ति करते समय रिजर्व बैंक इस बात का ध्यान रखता था कि व्यापारिक बैंको के अध्यक्ष एव मुख्य अधिकारी पेशेवर बैंकर्स (professional bankers) ही हो।

(3) सचालक मण्डलो का पुनर्गठन करते समय रिजर्व बैंक इस बात का भी ध्यान रखता था कि लघु उद्योगो एव कृषि से सम्बन्धित सभी हितो को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाय। सचालक मण्डल के कम से कम दो सदस्य तो ऐसे होने चाहिए जिनका कृषि, लघु उद्योगो एव सहकारिता सस्थाओ से निकट का सम्पर्क हो।

(4) इस कानून के अन्तर्गत बैंक किसी भी सचालक को अथवा उसके द्वारा सचालित किसी व्यावसायिक सस्थान (business firm) को बैंक द्वारा ऋण तथा अग्रिम (loans and advances) नही दिये जा सकते थे।

(5) इस कानून के अन्तर्गत प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो एव व्यवसायो के बीच साख के समुचित वितरण की भी व्यवस्था की गयी थी। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय साख परिषद (National Credit Council) की स्थापना की थी। भारत के वित्तमन्त्री इसके अध्यक्ष थे। समय समय पर इस परिषद की बैठके होती थी। इस परिषद द्वारा व्यापारिक बैंको को प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो एव व्यवसायो के बीच साख वितरण सम्बन्धी निर्देश दिये जाते थे।

(6) इस कानून मे यह भी व्यवस्था की गयी थी कि यदि कोई व्यापारिक बैंक उक्त सामाजिक नियन्त्रण की अवहेलना करता था तो सरकार ऐसे बैंको को मुआवजा देकर अपने अधिकार मे ले सकती थी।

उक्त सामाजिक नियन्त्रण व्यापारिक बैंको पर लगभग 1 वर्ष तक लागू रहा था। लेकिन बैंको की कार्यशीलता पर इसका कोई विशेष प्रभाव नही पडा था। इस कानून के बावजूद बैंको मे यथास्थिति (status quo) ही बनी रही। इस सन्दर्भ मे रिजर्व बैंक ने भी एक मूक दर्शक की ही भूमिका प्रस्तुत की थी। प्राथमिकता प्राप्त उद्योगो एव कृषि को फिर भी पर्याप्त मात्रा मे ऋण-सुविधाएँ उपलब्ध न हो सकी। बैंको का सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी कानून पूर्णतया असफल रहा। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण यह है कि इंडियन आयरन एव स्टील कम्पनी पर कब्जा करने के लिए भारत का एक प्रमुख उद्योगपति एक बडे व्यापारिक बैंक से 10 करोड रुपये का ऋण लेने मे सफल हो गया था। रिजर्व बैंक को इसकी जानकारी थी लेकिन उसने कोई हस्तक्षेप नही किया। उसने बैंक को केवल यही परामर्श दिया था कि उस उद्योगपति को और अधिक धन न दिया जाय। एक ओर तो छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे एव किसान साख के लिए तरस रहे थे और दूसरी ओर एक ही व्यक्ति 10 करोड की मोटी धनराशि लेने मे सफल हो गया था।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Banks)

जैसा ऊपर बताया गया है, बैंको के सामाजिक नियन्त्रण की नीति असफल सिद्ध हुई थी। बैंको की कार्यशीलता पर इसका कोई विशेष प्रभाव न पडा। बैंको पर अब भी निहित-स्वार्थ के

व्यक्तियों का प्रभुत्व जारी रहा। अत 19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया। बाद मे चलकर 9 अगस्त, 1969 को इसी आशय का एक कानून ससद द्वारा पारित कर दिया गया। इस कानून के अन्तर्गत भारत के 14 प्रमुख व्यापारिक बैंको को सरकार ने अपने स्वामित्व एव प्रबन्ध मे ले लिया था। इन बैंको के शेयरहोल्डरो को इसके बदले मुआवजा (Compensation) देने की व्यवस्था भी कर दी गयी थी। ये 14 भारतीय बैंक इस प्रकार हैं

1 सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया
2 बैंक ऑफ इण्डिया
3 पजाब,नेशनल बैंक
4 बैंक ऑफ बड़ोदा
5 यूनाइटेड कॉमिशयल बैंक
6 कनारा बैंक
7 यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया
8 देना बैंक
9 यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया
10 इलाहाबाद बैंक
11 सिण्डीकेट बैंक
12 इण्डियन ओवरसीज बैंक
13 इण्डियन बैंक
14 बैंक ऑफ महाराष्ट्र

18 जुलाई 1969 को उपर्युक्त 14 बैंको के कुल निक्षेप (total deposits) 3,051 करोड रुपये थे। यदि इनमे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एव उसके सहायक बैंको के निक्षेपो को भी जोड़ दिया जाय (जो 1, 509 करोड रुपये थे) तो कुल मिलाकर 4,560 करोड रुपये हो जाते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त 14 बैंको के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप बैंकिंग उद्योग मे सार्वजनिक खण्ड का भाग 27 प्रतिशत से बढकर 85 प्रतिशत हो गया था।

राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित उपर्युक्त बैंकिंग कानून के अन्तर्गत छोटे-छोटे भारतीय बैंको एव विदेशी बैंको का सरकार ने राष्ट्रीयकरण नही किया है। अब 51 ऐसे अनुसूचित भारतीय बैंक हैं जो निजी खण्ड मे कार्य करते रहेगे। समूचे बैंकिंग व्यवसाय का लगभग ½ भाग इन बैंको के हाथ मे है। इसी प्रकार विदेशी बैंक भी देश की अर्थ व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। उनके पास भी लगभग 400 करोड रुपये के निक्षेप हैं। लेकिन उपर्युक्त कानून से इन बैंको को मुक्त ही रखा गया है। अत 19 जुलाई, 1969 को बैंको का जो राष्ट्रीयकरण हुआ था वह आंशिक राष्ट्रीयकरण ही था पूर्ण नही। आंशिक मद्यनिषेध की भाँति, बैंको का आंशिक राष्ट्रीयकरण भी कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करेगा। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि शेष भारतीय बैंको को भी जीवनक्षम इकाइयो (viable units) मे सगठित करके सरकारी स्वामित्व एव प्रबन्ध के अन्तर्गत लाया जाय।

राष्ट्रीयकरण के सम्भावित परिणाम (*Probable Consequences of Nationalisation*) —बैंको के राष्ट्रीयकरण को लेकर देश के कुछ वर्गों द्वारा बहुत हो हल्ला किया गया था। यहाँ तक कि इस कानून को सर्वोच्च न्यायालय मे चुनौती दी गयी थी। वास्तव मे, ये लोग इन निहित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके हितो पर कानून ने कुठाराघात किया है। ये निहित-स्वार्थ इन बैंको पर छाये हुए थे और इनकी जमाराशियो का उपयोग अपने हितो मे कर रहे थे। लेकिन जनसाधारण ने बैंको के राष्ट्रीयकरण का स्वागत किया है। भारत सरकार ने बैंको का राष्ट्रीयकरण करके कोई अनुचित बात नही की है। अनेक ऐसे पूंजीवादी देश हैं जिन्होने अपनी बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण कर रखा है। फ्रास ने चार बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण किया है। इटली ने पाँच बडे बैंको मे से चार को सार्वजनिक खण्ड मे स्थान दिया है। इसी प्रकार स्वीडन ने भी दो बड़े बैंको का राष्ट्रीयकरण कर रखा है।

बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्भावित परिणाम निम्नलिखित हैं

(1) बैंको मे अधिक विश्वास (Greater Confidence in Banks)—बैंको के राष्ट्रीयकरण का एक अच्छा परिणाम यह निकलेगा कि इससे लोगो का बैंको मे विश्वास बढ जायेगा। लोगो के निक्षेपो के पीछे सरकार की शत-प्रतिशत गारण्टी होगी। बैंको के फेल होने का अब प्रश्न ही पैदा नहीं होना। स्मरण रहे अतीतकाल मे भारत मे बीसियो बैंक फेल हो चुके हैं जिनसे जनसाधारण को बहुत हानि हुई है। अब ऐसा कोई डर नहीं है। जमाकर्ताओ की जमाराशियाँ पूर्णतया सुरक्षित हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीयकरण के तुरन्त बाद बैंको की जमाराशियो मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

(2) बचतो मे वृद्धि (Increase in Saving)—राष्ट्रीयकरण के उपरान्त अब बैंको की शाखाएँ अधिकाशत छोटे छोटे नगरो, कस्बो एव ग्रामीण क्षेत्रो मे खोली जायेंगी जिसके परिणाम स्वरूप जमाराशियो के रूप मे अधिक धन एकत्रित किया जा सकेगा। बैंको के साधनो मे वृद्धि होगी जिन्हें वे देश के आर्थिक विकास म लगा सकेंगे। स्मरण रहे, निजी व्यापारिक बैंक छोटे-छोट कस्बो एव ग्रामीण क्षेत्रो म शाखाएँ स्थापित करने म हिचकिचाते थे।

(3) बैंकिग सुविधाओ का विस्तार (Expansion of Banking Facilities)—राष्ट्रीयकृत बैंको का शाखा विस्तार नीति क परिणामस्वरूप पिछड़े हुए क्षेत्रो, ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे छोटे कस्बो को नव बैंकिग सुविधाएँ उपलब्ध होन लगेंगी। इससे लोगो की बैंकिंग आदतें बनेंगी और देश क आर्थिक विकास मे सहायता मिलेगी।

(4) पचवर्षीय योजनाओ के लिए अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे (More Resources Shall be Available for the Five year Plans)—भारत की पचवर्षीय योजनाओ की असफलता का एक कारण यह है कि उन्हे क्रियान्वित करन के लिए सरकार को पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध नही होते थे। लकिन यह कठिनाई कुछ सीमा तक दूर हो जायेगी। जैसा ऊपर कहा गया है बैंको के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त सरकार का जनता के लगभग 3,051 करोड रुपये के निक्षेप प्राप्त हो गये हैं। इन निक्षेपो क कुछ भाग को निश्चय ही पचवर्षीय योजनाओ के क्रियान्वयन पर व्यय किया जा सकता है।

(5) बैंकों की ऋण-नीति को पचवर्षीय योजनाओ के उद्देश्यो के अनुरूप बनाया जा सकता है (The Loan Policy of Banks can be formulated in accordance with the objectives of Five year Plans)—राष्ट्रीयकृत बैंको की ऋण नीति पचवर्षीय योजनाओ के अनुरूप होगी। इसस योजनाओ को क्रियान्वित करने म सहायता मिलेगी। अब तक बैंको क अधिकाश ऋण बडे बडे व्यावस ायिक घरानो एव बडे बडे उद्योगपतियो को मिला करते थे। छोटे छोटे व्यापारी उद्योगपति, किसान एव स्वनियोजित व्यक्ति (self employed persons) ऋणो के लिए तरसते रहते थे। उनकी कोई पूछ नही थी, विशेषकर किसानो को तो इन बैंको से न के बराबर ऋण मिलते थे। राष्ट्रीयकरण क उपरान्त इन वर्गों को अधिक ऋण मिलने लगेंगे। किसानो को अब ऋणो के लिए साहूकारो के पास नही जाना पडेगा। आशा की जाती है कि बैंको के राष्ट्रीयकरण म ग्रामीण क्षेत्रो मे हरित क्रान्ति (Green Revolution) को बल मिलगा। बैंक ऋणो की सहायता से किसान अच्छे बीज, रासायनिक खाद एव पम्पिग-सैट आदि खरीद सकेंगे।

(6) क्षेत्रीय असमानताएँ कम हो जायेंगी (Regional Inequalities will be minimised)—इस समय भारत मे बडी-बडी क्षेत्रीय असमानताएँ पायी जाती हैं जो राष्ट्रीय एकता मे बाधक सिद्ध होती हैं। भारत के कुछ क्षेत्र तो आर्थिक दृष्टि से काफी आगे बढ चुके हैं और कुछ आज भी मध्यकालीन युग मे चल रहे हैं। इन भयकर क्षेत्रीय असमानताओ से देश की एकता एव अखण्डता को आघात पहुँचता है। राष्ट्रीयकरण के उपरान्त अब आशा की जाने लगी है कि य बैंक पिछडे हुए क्षेत्रो के आर्थिक विकास की ओर अधिक ध्यान देंगे और उन्हे विशेष ऋण सम्बन्धी सुविधाएँ देने लगेंगे।

(7) एकाधिकार एव धन के केन्द्रीयकरण को बुराइयों मे कमी होगी (The Evils of Monopoly and Concentration of Wealth shall be Reduced) विगत कुछ वर्षो से

भारत में एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पनप रही है। अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब हो रहे हैं। इस कुप्रवृत्ति को निजी बैंकों ने बहुत प्रोत्साहित किया है। ये बैंक उन वर्गों एवं व्यक्तियों को ऋण देते थे जो पहले से ही समृद्ध एवं सम्पन्न थे। इससे आर्थिक केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन मिल रहा था। चन्द मुट्ठी-भर लोग देश की सम्पत्ति पर काबिज हो रहे थे। लेकिन अब बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कारण इस कुप्रवृत्ति पर रोक लगेगी। बैंक ऋण छोटे-छोटे वर्गों के व्यक्तियों को भी मिलेंगे। भारत के सुविख्यात अर्थशास्त्री, प्रो० के० एन० राज (K N Raj) के अनुसार बैंक राष्ट्रीयकरण आर्थिक दुर्लक्ष्य का निवारण करेगा। (Bank Nationalisation will serve as corrective to economic misdirection.)

(8) **बैंकों की समाज-विरोधी एवं राष्ट्र विरोधी क्रियाओं का अन्त होगा** (Anti social and *anti-national activities of Banks will come to an end*) *—समय समय पर विभिन्न जाँच आयोगों ने इस बात पर जोर दिया है कि किस प्रकार बड़े-बड़े उद्योगपतियों एवं व्यापारियों की समाज विरोधी एवं राष्ट्र-विरोधी क्रियाओं में निजी बैंकों ने उनकी सहायता की है।* विवियन बोस आयोग ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। लेकिन राष्ट्रीयकृत बैंक अब इन क्रियाओं की पुनरावृत्ति नहीं होने देंगे। वे लोगों की जमाराशियों की समुचित ढंग से रक्षा करेंगे।

(9) **सट्टे एवं सचयन पर रोक लगेगी** (Speculation and Hoarding shall be *Curbed*)*—राष्ट्रीयकरण से पूर्व निजी बैंक व्यापारी वर्ग को बड़ी उदारता से ऋण दिया करते थे।* व्यापारी वर्ग इन ऋणों का प्रायः दुरुपयोग किया करता था। इन ऋणों का सट्टे के लिए प्रयोग किया जाता था। *बैंकों को इसकी पूरी जानकारी रहती थी लेकिन फिर भी वे सट्टे को निरुत्साहित करने का कोई प्रयास नहीं करते थे।* स्मरण रहे व्यापारियों की इस सट्टा प्रवृत्ति से कीमतों में *अनावश्यक वृद्धि होती थी। यही नहीं, ये बैंक व्यापारियों को आवश्यक वस्तुओं का सचयन करने* के लिए भी ऋण देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि आवश्यक वस्तुएँ बाजार में न जाकर गोदामों में बन्द रहती थी। इससे कीमतों में अनावश्यक वृद्धि होती थी। बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने से अब व्यापारियों को सट्टे एवं सचयन के लिए ऋण न मिल सकेंगे और कीमत-वृद्धि का कम से कम एक कारण समाप्त हो जायगा।

(10) **करों का अपवचन रोका जा सकेगा** (Tax evasion will be Checked)*—राष्ट्रीयकृत बैंकों से आय-कर एवं बिक्री-कर अधिकारियों को लोगों के खातों के बारे में जानकारी* मिलती रहेगी। अतः अब करों के अपवचन को कुछ सीमा तक रोका जा सकेगा। यही नहीं काले धन (Black Money) *की खोज करने में भी सहायता मिलेगी। अतः हम समझते हैं कि* कुल मिलाकर बैंकों के राष्ट्रीयकरण से अच्छे परिणाम ही निकलेंगे और देश की समूची अर्थ-व्यवस्था को इससे लाभ होगा।

लेकिन आने वाले वर्षों में सरकार को गैर-राष्ट्रीयकृत बैंकों एवं विदेशी बैंकों पर सतर्क दृष्टि रखनी होगी। इस बात की बहुत सम्भावना है कि धनिक वर्ग के लोग अपना धन राष्ट्रीयकृत बैंकों से निकालकर गैर राष्ट्रीयकृत बैंकों एवं विदेशी बैंकों में भर देंगे। यदि ऐसा होता है तो सरकार को इन बैंकों को भी अपने अधिकार एवं स्वामित्व में ले लेना चाहिए। अच्छा तो यही रहता कि सरकार सभी व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर देती। इसका परिणाम यह होता कि देश की समूची साख सरचना (entire credit structure) सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में आ जाती।

सरकार की नयी बैंकिंग नीति (New Banking Policy of the Government)—30 सितम्बर, 1969 को नयी दिल्ली में 14 राष्ट्रीयकृत बैंकों के सरक्षक अध्यक्षों की बैठक का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत सरकार की नव बैंकिंग नीति पर प्रकाश डाला था। इस नीति की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं

(1) *राष्ट्रीयकृत बैंक अब छोटे छोटे व्यक्तियों, छोटे छोटे किसानों, व्यापारियों,* उपक्रमियों एवं स्वनियोजित व्यक्तियों को अधिकाधिक ऋण सुविधाएँ देंगे। इस प्रकार के ऋणों की अदायगी की गारण्टी सरकार देगी। अतः जमाकर्ताओं के हितों को कोई खतरा नहीं होगा।

(2) राष्ट्रीयकृत बैंक बड़े बड़े उद्योगों को भी ऋण देते रहेंगे लेकिन उनकी केवल *यथार्थ आवश्यकताएँ* ही पूरी की जायेंगी। इसके साथ-साथ यह भी जरूरी है कि इस प्रकार के उद्योग ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन कर रहे हों जो समाज के लिये उपयोगी हैं।

(3) राष्ट्रीयकृत बैंक समाज-विरोधी उद्देश्यों के लिए व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को अब ऋण न देंगे। यदि कोई फर्म अथवा व्यक्ति कम्पनियों के शेयरों अथवा आवश्यक वस्तुओं का सचयन करता है तो उसे बैंक ऋण उपलब्ध नहीं हो सकेंगे।

(4) राष्ट्रीयकृत बैंकों के वित्तीय साधनों का अधिकाधिक भाग अब सार्वजनिक अथवा सरकारी उपक्रमों (public enterprises) को दिया जायेगा।

(5) राष्ट्रीयकृत बैंक अब अपने साधनों का अधिकाधिक भाग पिछड़े एवं अल्प-विकसित क्षेत्रों में लगायेंगे ताकि इन क्षेत्रों का द्रुतगति से आर्थिक विकास हो सके।

(6) सरकारी खजानों से सम्बन्धित काम का समुचित भाग राष्ट्रीयकृत बैंकों को दिया जायेगा। अब तक यह काम स्टेट बैंक के अधिकार के क्षेत्र में ही था।

(7) राष्ट्रीयकृत बैंक अपनी कार्य प्रणाली का समन्वय विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं (Specialised financial institutions) को क्रियाओं से करेंगे ताकि उद्योग-धन्धों की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन साख आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

(8) राष्ट्रीयकृत बैंक अपने स्टाफ के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास करेंगे।

(9) सरकारी नीति के व्यापक चोखटे के भीतर प्रत्येक बैंक को कुशलतापूर्वक अपना कार्य करने की स्वतन्त्रता होगी।

नयी नीति को क्रियान्वित करते समय सरकार को सतर्क रहना चाहिए। इस बात की सम्भावना है कि सरकार की नयी नीति के अन्तर्गत साख सुविधाओं का लाभ उठाने हेतु बड़े बड़े व्यवसायी कहीं छोटे व्यवसायियों का रूप धारण न कर लें।

राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रगति (Progress of Nationalised Banks)—30 जून, 1975 को 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुए पूरे 6 वर्ष हो चुके थे। इन 6 वर्षों की अवधि में बैंकिंग क्रियाओं में अभूतपूर्व विस्तार हुआ था। बैंकों की जमाराशियों में बड़ी तीव्र वृद्धि हुई थी। बैंक साख के वितरण में भी मूलभूत परिवर्तन हुआ था। अब बैंक ऋण अर्थ व्यवस्था के उन खण्डों को भी मिलने लगे हैं जो कि पहले बैंकों की परिधि से बाहर थे।

(1) 30 जून, 1969 (बैंकों के राष्ट्रीयकरण से पूर्व) को भारत में व्यापारिक बैंकों के कार्यालयों की कुल संख्या 8262 थी। लेकिन 30 जून, 1975 को यह संख्या बढ़कर 18,730 हो गई थी। अर्थात् बैंक कार्यालयों की संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई थी। नये कार्यालयों का 46.5 प्रतिशत भाग ऐसे क्षेत्रों में खोला गया था जहाँ बैंकिंग सुविधाओं का पूर्ण अभाव था अथवा बैंकों की संख्या अपर्याप्त थी।

(2) सन् 1969-75 की अवधि में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमाराशियों में लगभग 8,994 करोड़ रु० की वृद्धि हुई थी। जून 1975 में बैंकों की कुल जमाराशियाँ 10 000 करोड़ रु० से भी अधिक हो गई थी। सन् 1969-75 की अवधि में बैंकों की जमाराशियों की औसत वार्षिक चक्रवृद्धि दर 17 9 प्रतिशत थी जबकि राष्ट्रीयकरण से पूर्व की अवधि में यह दर केवल 14 3 प्रतिशत ही थी।

(3) सन 1969-75 की अवधि में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के अग्रिमों एवं निवेशों (advances and investments) में दुगने से भी अधिक वृद्धि हुई थी। जून, 1975 में बैंक साख (Bank Credit) 9 769 करोड़ रु० हो गई थी जबकि जून 1969 में यह केवल 3599 करोड़ रु० ही थी। इस प्रकार 6 वर्ष की अवधि में बैंक-साख में 6,170 करोड़ रु० की वृद्धि हुई थी।

(4) राष्ट्रीयकरण के उपरान्त प्राथमिकता प्राप्त खण्डों (priority sectors) को पहले की अपेक्षा अधिक साख प्राप्त होने लगी है। इसे अग्र सारणी में प्रदर्शित किया गया है

सारणी[1]

बैंकिंग की प्रगति—चयनित सूचकांक

	19 जुलाई 1969	30 जून, 1975
बैंकिंग कार्यालयों की कुल संख्या	8321	18,730
(क) ग्रामीण केन्द्रों में	1860	6,886
(ख) अर्द्ध शहरी केन्द्रों में	3344	5,569
(ग) शहरी केन्द्रों में	1450	3,267
(घ) बड़े-बड़े नगरों में	1661	3,088
प्रति बैंकिंग कार्यालय जनसंख्या	65,000	27,000
प्राथमिकता प्राप्त खण्डों (priority sectors) को दिये गये ऋण (करोड़ रुपयों में)		
कृषि प्रत्यक्ष वित्त (Direct Finance)	41 75	430
अप्रत्यक्ष वित्त (Indirect Finance)	129 35	193
छोटे उद्योग-धन्धे	239 3	625
सड़क एवं जल परिवाहक	6 89	131
फुटकर व्यापार एवं अल्प व्यवसाय	19 37	118
पेशेवर एवं स्वनियोजित व्यक्ति	1 91	38
शिक्षा	0 80	5
कुल	439 37	1540
बैंक साख में प्राथमिकता प्राप्त खण्डों का भाग (प्रतिशत)	14 9	28·2

सन् 1969 75 की अवधि में राष्ट्रीयकृत बैंकों की मुख्य उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं

(1) **बैंक-शाखाओं का विस्तार** (Expansion of Bank Branches)—इस अवधि में बैंक शाखाओं का बड़ी तेजी से विस्तार हुआ है। स्टेट बैंक सहित इन बैंकों ने अनेक नयी शाखाएँ खोली हैं। 19 जुलाई 1969 को भारत में बैंकिंग कार्यालयों की कुल संख्या 8321 थी लेकिन 30 जून, 1975 को यह बढ़कर 18,730 हो गयी थी। अधिकांश नयी शाखाएँ ग्रामीण केन्द्रों में खोली गयी थीं (देखिए उपर्युक्त सारणी)। अतः इस शाखा विस्तार कार्यक्रम से ग्रामीण क्षेत्रों को विशेष लाभ पहुँचा है। अब उन्हें भी बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध होने लगी हैं।

(2) **उपेक्षित वर्गों को वित्तीय सहायता** (Financial Aid to the Neglected Sections)—राष्ट्रीयकरण से पूर्व बैंक अपने अधिकांश ऋण बड़े-बड़े व्यवसायियों, उद्योगपतियों, माल-संग्राहकों (hoarders) को ही दिया करते थे। किसानों, लघु उद्योगपतियों, फुटकर व्यापारियों, सड़क परिवाहकों (road transporters), छोटे-छोटे दुकानदारों एवं स्वनियोजित व्यक्तियों (self employed persons) की उपेक्षा की जाती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि इन वर्गों के पास जमानत देने के लिए पर्याप्त परिसम्पत्ति (assets) नहीं होती थी। अतः बैंक इन्हें ऋण देने में आनाकानी किया करते थे। यद्यपि इन वर्गों में कल्पनाशक्ति अनुभव एवं उपक्रम का अभाव नहीं था लेकिन फिर भी वित्तीय साधनों की कमी के कारण ये अधिक प्रगति नहीं कर पाते थे। बैंक इन वर्गों की उचित वित्तीय आवश्यकताओं की भी उपेक्षा कर देते थे। लेकिन राष्ट्रीयकरण के उपरान्त इन वर्गों के प्रति बैंकों की नीति में परिवर्तन हुआ है। यद्यपि राष्ट्रीकरण के बाद भी बैंक-साख का अधिकांश भाग अर्थ-व्यवस्था के संगठित खण्ड (organised sector) को ही मिला है लेकिन फिर भी किसानों, लघु उद्योगपतियों, छोटे-छोटे व्यवसायियों, सड़क परिवाहकों आदि जैसे असंगठित एवं दुर्बल वर्गों को पहले की अपेक्षा अधिक ऋण मिले हैं। 19 जुलाई, 1969 को इन बैंकों द्वारा कुल 171 10 करोड़ रु० किसानों को ऋण के रूप में दिये गये थे लेकिन

---

1 (*Source Annual Report and Trend and Progress of Banking in India* 1975 76, p 49 (Issued by the Reserve Bank of India)

30 जून, 1975 को यह राशि बढ़कर 623 करोड़ रु० हो गयी थी। इसी प्रकार छोटे एवं घरेलू उद्योगों को भी पहले की अपेक्षा अधिक ऋण दिये गये थे। 19 जुलाई, 1969 को ये बैंक इन उद्योगों को 239.90 करोड़ रु० के ऋण दे रहे थे लेकिन 30 जून, 1975 को यह राशि बढ़कर 625 करोड़ रु० हो गयी थी। इसी प्रकार अन्य उपेक्षित वर्गों (जैसे फुटकर व्यापारियों, सड़क परिवाहकों स्वनियोजित व्यक्तियों) को भी अधिक ऋण दिये गये थे। 19 जुलाई, 1969 को ये बैंक इन प्राथमिकता-प्राप्त खण्डों को अपनी कुल साख का 14.9 प्रतिशत ऋणों के रूप में देते थे लेकिन 30 जून 1975 को यह प्रतिशत बढ़कर 28.2 हो गया था। इस प्रकार बैंकों के राष्ट्रीयकरण से इन वर्गों के लिए आशा की एक नयी किरण दृष्टिगोचर हुई है। राष्ट्रीयकृत बैंकों को चाहिए कि वे इस आशा को वास्तविकता में बदल दें। जून, 1972 में भारत सरकार ने एक योजना तैयार की जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीयकृत बैंक समाज के कमजोर वर्गों को रियायती दर पर ऋण दे सकेंगे। यह रियायती दर 4 प्रतिशत होगी। यह रियायत परिगणित जातियों के व्यक्तियों, छोटे छोटे कारीगरों, दर्जियों, रिक्शा वालों, जूता-निर्माताओं को दी जायगी। 31 मार्च, 1976 को रियायती ब्याज दरों की योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीयकृत बैंकों ने कमजोर वर्गों के व्यक्तियों को 24.58 करोड़ रुपये के ऋण दिये थे।

(3) **बैंकिंग विकास हेतु जिलों का सर्वेक्षण** (**District Surveys for the Purpose of Banking Development**)—देश के विभिन्न भागों में बैंकिंग का क्रमबद्ध एवं समन्वित विकास करने हेतु रिजर्व बैंक ने एक नयी योजना बनायी है। इसे 'नेता बैंक योजना' (*Lead Bank* **Scheme**) की संज्ञा दी गयी है। इस योजना के अन्तर्गत देश के 338 जिलों को विभिन्न बैंकों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक जिला एक बैंक को सौंपा गया है। उस बैंक को Lead Bank कहा जाता है। उस बैंक का कर्त्तव्य यह है कि बैंकिंग विकास के दृष्टिकोण से वह उस जिले के साधनों एवं उसकी सम्भावनाओं का विस्तृत सर्वेक्षण करे। उसी सर्वेक्षण के आधार पर उस जिले का बाद में बैंकिंग विकास किया जायेगा। लगभग सभी जिलों के सर्वेक्षण-प्रतिवेदन तैयार हो चुके हैं।

ऊपर हमने बैंक राष्ट्रीयकरण की उपलब्धियों का वर्णन किया है। लेकिन 6 वर्षों की अवधि में राष्ट्रीकृत बैंकों की कुछ असफलतायें भी दृष्टिगोचर हुई हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। ये इस प्रकार हैं

(1) **पर्याप्त जमाराशियाँ जुटा पाने में असफलता** (**Failure to Mobilise Adequate Deposits**)—यद्यपि 6 वर्ष की अवधि में बैंक शाखाओं का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है लेकिन बैंकों की जमाराशियां उसी अनुपात में नहीं बढ़ी हैं। इस प्रकार नयी जमाराशियों को जुटाने में राष्ट्रीयकृत बैंकों का रेकार्ड (record) सन्तोषजनक नहीं है। लेकिन इसके लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों को पूर्णतया दोषी नहीं ठहराया जा सकता। निस्सन्देह, इस अवधि में बैंक-साख (bank credit) का बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ था। लेकिन इस बैंक-साख का अधिकांश भाग अर्थ व्यवस्था के कतिपय ऐसे खण्डों (sectors) को दिया गया था जो बैंकिंग के अभ्यस्त नहीं थे। अर्थात जिन्हें बैंकिंग आदतें (banking habits) नहीं थी। परिणामत नव सृजित साख लौटकर पुन बैंकों के पास उसी मात्रा में न आ सकी। लेकिन कालान्तर में बैंकिंग आदतों का विकास होने पर यह त्रुटि स्वत ही समाप्त हो जायगी। अत आवश्यकता इस बात की है कि नयी जमाराशियाँ जुटाने हेतु ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक संख्या में नयी शाखाएँ खोली जायें और इसके साथ ही साथ बैंकिंग आदतों को ग्रहण करने के लिए जनमत को उचित ढंग से प्रशिक्षित किया जाय। केवल ऐसा करके ही जमाराशियों को बढ़ाया जा सकता है। भारत में जमाराशियों की अपर्याप्तता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस समय वे हमारी राष्ट्रीय आय का केवल 14 प्रतिशत हा हैं जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में यह प्रतिशत 41 है और जापान में 69 है। हमारा प्रतिशत तो ईरान एवं श्रीलंका जैसे देशों से भी कम है। अत भारत में जमाराशियाँ बढ़ाने की अभी काफी बड़ी गुंजाइश है और राष्ट्रीयकृत बैंकों को इस दिशा में विशेष प्रयास करने चाहिए।

(2) **पर्याप्त एवं प्रशिक्षित बैंक-अमला जुटा पाने में असफलता** (**Failure to Provide Bank staff**)—यद्यपि बैंक शाखाओं का विस्तार तो बड़े पैमाने पर हुआ है लेकिन इन नयी शाखाओं में प्रशिक्षित एवं कार्यकुशल अमले की पर्याप्त व्यवस्था नहीं की जा सकी है। यह तो

स्पष्ट ही है कि पर्याप्त एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों के बिना बैंकों का कार्य सुचारु ढंग से सचालित नहीं किया जा सकता। बैंक अमल की समस्या इस समय बैंकों के लिए एक गम्भीर समस्या बन गयी है। प्रशिक्षित अमला शहरों को छोड़कर ग्रामीण अथवा अर्द्ध ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं जाना चाहता। लेकिन यह एक ऐसी समस्या नहीं है जिसका कि समाधान नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयकृत बैंकों को चाहिए कि अपने कार्यालयों में वे यथासम्भव स्थानीय युवकों को ही भरती करें और उन्हें समुचित प्रशिक्षण देने के बाद उसी स्थान पर नियुक्त करें। इससे दो लाभ होंगे स्थानीय व्यक्तियों एवं स्थितियों की जानकारी होने के कारण ये युवक बैंकों को अधिक जमाराशियाँ दिलाने में सहायक हो सकेंगे। दूसरे, इससे ग्रामीण एवं अर्द्ध ग्रामीण क्षेत्रों में पायी जाने वाली बेरोजगारी की समस्या भी हल हो सकेगी।

(3) **कीमत वृद्धि को रोकने में असफलता (Failure to Check Rise in the Price Level)**—आलोचकों द्वारा यह आरोप लगाया गया है कि राष्ट्रीयकृत बैंक कीमत वृद्धि को रोकने में असमर्थ रहे हैं। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि हाल में हुई कीमत वृद्धि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप ही हुई है। हमारे विचार में राष्ट्रीकृत बैंकों पर यह आरोप लगाना उचित नहीं है। यह सही है कि राष्ट्रीयकरण के उपरान्त बैंकों ने साख का विस्तार किया है। लेकिन इसके लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह वृद्धि तो अनिवार्य ही थी। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का एक मूल उद्देश्य कि विशेष सुविधा प्राप्त वर्गों (under-privileged sections) की वित्तीय सहायता करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति बैंक साख का विस्तार करके ही की जा सकती थी। अतः राष्ट्रीयकृत बैंकों को यह साख विस्तार करना पड़ा। लेकिन यह साख विस्तार रिजर्व बैंक की देखरेख में ही किया गया था। सम्भव है कि इस साख-विस्तार से कीमत स्तर पर कुछ प्रभाव पड़ा हो। लेकिन यह कहना असत्य है कि कीमत-स्तर में हुई समूची वृद्धि इस साख विस्तार के कारण ही हुई थी। कीमत-वृद्धि का यह एक साधारण कारण हो सकता है। लेकिन इस कीमत-वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि देश का औद्योगिक उत्पादन बढ़ती हुई माँग की तुलना में पिछड़ गया था। बाजार में अभाव की स्थिति (scarcity) उत्पन्न हो गयी थी। माँग अधिक और पूर्ति कम थी। अतः कीमत स्तर में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था।

(4) **प्राथमिकता प्राप्त खण्डों की उपेक्षा** 19 जुलाई 1969 के तुरन्त बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों ने प्राथमिकता प्राप्त खण्डों (उदाहरणार्थ छोटे किसानों व्यापारियों उद्योगपतियों सड़क परिवाहकों) को उदार मात्रा में एवं आसान शर्तों पर ऋण देने आरम्भ कर दिये थे। लेकिन दो वर्ष के बाद राष्ट्रीयकृत बैंकों का यह उत्साह ठंडा पड़ गया था। एक बार वे पुन अपने पुराने तौर-तरीकों पर लौट आये थे। अब उन्होंने पुन बड़े-बड़े व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को विशाल मात्रा में ऋण एवं पेशगियाँ देना आरम्भ कर दिया। वास्तव में, यह एक अस्वस्थ प्रवृत्ति है जिस पर शीघ्र रोक लगायी जानी चाहिए अन्यथा राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य ही पराजित हो जायगा। बात दरअसल यह है कि राष्ट्रीयकरण के उपरान्त बैंकों के प्रबन्ध एवं सगठनात्मक ढाँचे में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किये गये हैं। वही पुराना ढर्रा चल रहा है और परम्परागत घिसी पिटी रीतियों का अनुसरण किया जा रहा है।

(5) **जमाराशियों के लिए युद्ध (War for Deposits)**—राष्ट्रीयकृत बैंकों में प्रचलित एक अन्य अस्वस्थ प्रवृत्ति यह है कि लोगों की जमाराशियों को आकर्षित करने हेतु उनमें आपसी होड़ लगी है। छोटे छोटे नगरों एवं कस्बों में शाखाएँ खोलकर जमाराशियाँ जुटाने के बजाय वे बड़े बड़े नगरों में कतिपय बड़ी बड़ी पार्टियों की जमाराशियों को प्राप्त करने हेतु आपस में प्रतियोगिता कर रहे हैं। यहाँ तक कि जमाराशियाँ प्राप्त करने के लिए वे बड़ी बड़ी पार्टियों को निर्धारित ब्याज दरों से भी अधिक ब्याज देते हैं। ये ब्याज दरें काउंटर के नीचे लुकछिप कर कमीशन के रूप में जमाकर्ताओं को दी जाती हैं जिससे काले धन का सृजन होता है। रिजर्व बैंक इस कुप्रथा से भली भाँति परिचित है लेकिन इसे रोकने के लिए उसने अभी तक कोई कार्यवाही नहीं की है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उपर्युक्त तुलन पत्र (balance sheet) कोई अधिक उत्साहजनक

तो नही है। लेकिन 5 वर्षं की अल्प-अवधि के अनुभव के आधार पर किसी प्रकार का अन्तिम निर्णय देना हमारे लिए न तो उचित और नही न्याय सगत होगा।

फरवरी, 1972 मे प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट मे बैंकिंग आयोग ने सिफारिश की थी कि राष्ट्रीयकृत बैंको को शीघ्र ही 2 अथवा 3 अखिल भारतीय बैंको (All India Banks) तथा 5 अथवा 6 प्रादेशिक बैंको (Regional Banks) मे पुनर्गठन किया जाय। बडे-बडे नगरो मे तो अखिल भारतीय बैंको तथा प्रादेशिक बैंको दोनो को ही शाखाएँ खोलने का अधिकार होना चाहिए। बैंकिंग आयोग स्टेट बैंक मे परिवर्तन करने के पक्ष मे नही था। राष्ट्रीय बैंको द्वारा खोली जाने वाली नयी शाखाओ मे ढील नही आनी चाहिए। जहाँ राष्ट्रीयकृत बैंको की शाखाएँ अधिक हैं वहाँ युक्तिकरण की प्रक्रिया द्वारा सख्या मे कमी की जानी चाहिए।

जमा बीमा निगम
(Deposit Insurance Corporation)

ऊपर हम देख चुके है कि समय समय पर भारत मे बैंक फेल होते रहे हैं। सन् 1913 मे तो बैंको को बडे पैमाने पर असफलता का सामना करना पडा था। सन् 1947 के बाद भी बैंको का फेल होना पूर्णत बन्द नही हुआ था। उदाहरणार्थ जून 1960 मे महाराष्ट्र का लक्ष्मी बैंक (Lakshmi Bank) तथा अगस्त 1960 मे केरल का प्लाई सेंण्ट्रल बैंक (Palai Central Bank) फेल हो गये थे। इन बैंको के फेल हो जाने से जनता के विश्वास को भारी धक्का लगा और बहुत से लोगों ने डर के मारे बैंको से अपने निक्षेप निकालने आरम्भ कर दिये थे। इस स्थिति का सामना करने एव छोटे तथा मध्यम-वर्ग के जमाकर्ताओ के हितो को सुरक्षित करने के लिए 1 जनवरी, 1962 को भारत सरकार ने जमा बीमा निगम की स्थापना की थी।

निगम की अधिकृत एव चुकती-पूंजी 1 5 करोड रुपये थी। यह राशि निगम को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रदान की गयी थी। 1 जनवरी 1975 को निगम की चुकती पूंजी को 1 5 करोड से बढाकर 2 करोड रु० कर दिया गया था। निगम चाहे तो रिजर्व बैंक से 5 करोड रुपये तक ऋण ले सकता है। रिजर्व बैंक का गवर्नर इस निगम का अध्यक्ष होता है। निगम के प्रबन्ध के लिए 5 सदस्यो का एक सचालक बोर्ड नियुक्त किया गया है। दिसम्बर 1968 के जमा बीमा निगम कानून मे ससद द्वारा एक सशोधन किया गया था। इसके अनुसार निगम की अधिकृत पूंजी को 1 करोड रु० से बढाकर 5 करोड रु० कर देने की व्यवस्था की गयी है। इसके साथ ही सचालकों की सख्या 5 से बढाकर 8 कर दी गयी है। यही नही, इस सशोधन के अनुसार जमा बीमा योजना को अब राज्यीय एव केन्द्रीय सहकारी बैंको एव बडी-बडी प्राथमिक गैर कृषि सहकारी समितियो पर भी लागू कर दिया गया है। दूसरे शब्दो मे, जमा बीमा योजना अब इन सस्थाओ की जमाराशियो पर भी लागू होगी।

देश के सभी व्यापारिक एव अन्य बैंको के लिए इस निगम का सदस्य बनना अनिवार्य है। निगम ने प्रत्येक बैंक मे जमाकर्त्ता की जमाराशि (deposit) के बीमे की सीमा 20 000 रुपये निश्चित की है। दूसरे शब्दो मे यद्यपि कोई बैंक फेल हो जाता है तो उसके सभी जमाकर्ताओ की 20,000 रुपये तक की सीमा की जमाराशि सुरक्षित रहती है। (लेकिन 1 जुलाई, 1976 से पूर्व यह जमाराशि 10 000 रु० ही हुआ करती थी।) इस प्रकार स्पष्ट है कि जमा बीमा निगम की स्थापना से छोटे एव अन्य मध्यम श्रेणी के जमाकर्ताओ के निक्षेप (deposits) सुरक्षित हो गये हैं। परन्तु स्मरण रहे कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो, विदेशी सरकारो तथा बैंकिंग कम्पनियो की जमाराशियो पर यह योजना लागू नही होती। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से जमा बीमा निगम को बीमे की सीमा मे वृद्धि करने का पूर्ण अधिकार है। इस समय सदस्य बैंको से निगम प्रति 100 रुपये के लिए 4 पैसे प्रतिवर्ष बीमा शुल्क (Premium) के रूप मे वसूल करता है। परन्तु निगम को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह चाहे तो इस शुल्क को बढाकर 15 पैसे प्रतिवर्ष प्रति 100 रुपये कर सकता है। यदि कोई सदस्य बैंक अपने प्रीमियम (अथवा बीमा शुल्क) का भुगतान नही करता तो निगम उससे 8 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज भी वसूल कर सकता है। जमा बीमा निगम की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि

रिजर्व बैंक सदस्य बैंको के कार्यों का प्रभावपूर्ण निरीक्षण करे और उन्हे किसी प्रकार की वित्तीय अनियमितताएँ करने के अवसर न दे।

30 जून 1976 को निगम के सदस्य बैंको की संख्या 79 थी। निगम ने सन् 1962 से लेकर 30 जून, 1975 तक 14 बैंको से सम्बन्धित 113 04 लाख रुपये के दावे (claims) स्वीकार किये थे।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **भारत मे संयुक्त स्कन्ध अधिकोषो के विकास पर प्रकाश डालिए और यह बताइए कि पिछले कुछ वर्षों मे उन्होने देश की आर्थिक स्थिति की उन्नति के लिए क्या किया है ?** *(आगरा, बी० कॉम०, 1963)*

[संकेत—प्रथम भाग मे, भारत के संयुक्त स्कन्ध अधिकोषो (अथवा मिश्रित पूँजी बैंको) के इतिहास का संक्षेप मे वर्णन कीजिए और स्पष्टत बताइए कि भारतीय बैंकिंग किन-किन स्थितियो मे से होकर गुजरो है। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि भारतीय बैंको ने देश की आर्थिक प्रगति मे बहुत बडा योग दिया है। उन्होने न केवल निजी उद्योगो एव व्यवसायो को ऋणो के रूप मे पूँजी प्रदान की है, बल्कि सरकार की पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाने के लिए भी बडे पैमाने पर सरकारी प्रतिभूतियो मे धन लगाया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि भारतीय बैंकिंग इस समय पूर्णत दोषमुक्त है। वास्तव मे, भारतीय बैंकिंग मे इस समय भी कई प्रकार के दोष पाये जाते हैं। यदि भारतीय बैंकिंग को देश के आर्थिक विकास मे अधिक सक्रिय भूमिका प्रस्तुत करनी है तो इन दोषो एव त्रुटियो को शीघ्रातिशीघ्र दूर करना चाहिए।]

3. **भारतीय बैंकिंग के मुख्य दोष क्या हैं ? सुधार के उपाय बताइए।** (गोरखपुर, 1960)

[संकेत—प्रथम भाग मे भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के मुख्य दोषो एवं त्रुटियो की विस्तार-पूर्वक व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि किस प्रकार इन दोषो एव त्रुटियो के कारण भारतीय बैंकिंग के विकास म बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि उक्त दोषो एव त्रुटियो को दूर करने के लिए समय-समय पर कौन-कौनसे सुझाव दिये गये हैं।]

3 **भारत मे बैंको का राष्ट्रीयकरण एक भूल है।" इसका विश्लेषण कीजिए।** (आगरा 1970)

[संकेत—यहाँ पर आपको बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे दिये गये तर्कों को प्रस्तुत करना है। इसके लिए उपर्युक्त अध्याय को देखिए।]

4 **भारत मे बड़े व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण क्यों हुआ ? इन बैंको के राष्ट्रीयकरण का आर्थिक प्रभाव बताइये।** (विक्रम, 1971)

अथवा

भारत के 14 प्रमुख व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया था ? बैंको के इस राष्ट्रीयकरण से देश को क्या-क्या लाभ प्राप्त हुए हैं ? *(आगरा, 1975)*

[संकेत—भारत के बडे-बडे व्यापारिक बैंको का राष्ट्रीयकरण इसलिए किया गया है क्योंकि उनमे अनेक दोष एव त्रुटियाँ पायी जाती थी। यहाँ पर आप उपर्युक्त अध्याय मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे दिये गये तर्कों को प्रस्तुत कीजिए। दूसरे भाग के लिए आप उपर्युक्त अध्याय के राष्ट्रीयकृत बैंको की प्रगति" नामक उपविभाग को देखिए।]

31

भारतीय मुद्रा बाजार
(Indian Money Market)

मुद्रा-बाजार का अर्थ

जिस प्रकार किसी वस्तु का बाजार होता है, ठीक उसी तरह मुद्रा का भी बाजार होता है। जिस तरह वस्तु बाजार मे वस्तु के क्रेता एव विक्रेता दोनो ही होते हैं, ठीक उसी तरह मुद्रा-बाजार मे भी मुद्रा के क्रेता एव विक्रेता दोनो ही होते हैं। मुद्रा के क्रेताओ से अभिप्राय उन ऋणियो, व्यवसायियो एव उद्योगपतियो से है जो उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेते हैं। मुद्रा के विक्रेताओ से अभिप्राय उन व्यक्तियो एव ऋणदाताओ से है जो अपने धन को जरूरतमन्द व्यक्तियो एव सस्थाओ को ऋण के रूप मे देते हैं। जिस प्रकार वस्तु बाजार मे वस्तु का निश्चित मूल्य होता है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-बाजार मे मुद्रा का भी निश्चित मूल्य होता है। उसे ब्याज की दर कहा जाता है। जिस प्रकार वस्तु का मूल्य वस्तु के क्रेताओ द्वारा चुकाया जाता है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य (अर्थात ब्याज) ऋणियो द्वारा दिया जाता है। मुद्रा का मूल्य अथवा ब्याज भी ठीक उसी प्रकार निर्धारित होता है जिस प्रकार कि वस्तु का मूल्य। दूसरे शब्दो मे, ब्याज की दर वस्तु के मूल्य की भाँति माँग तथा पूर्ति की शक्तियो द्वारा निश्चित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-बाजार एव मुद्रा बाजार मे पूर्ण समानता पायी जाती है। मुद्रा बाजार की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—*मुद्रा बाजार से अभिप्राय उस सपूर्ण क्षेत्र से होता है जहाँ पर मुद्रा के क्रेताओ एव विक्रेताओं का एक दूसरे के साथ सम्पर्क होता है। मुद्रा-बाजार मे मुद्रा क्रेताओं एव विक्रेताओ की पारस्परिक प्रतियोगिता के आधार पर ही पूँजी की माँग एव पूर्ति के सन्तुलन से ब्याज की दर निर्धारित होती है।*

कभी कभी मुद्रा बाजार (Money market) तथा पूँजी-बाजार (Capital market) मे भेद किया जाता है। विस्तृत अर्थ मे मुद्रा बाजार एव पूँजी-बाजार मे कोई विशेष अन्तर नही होता। परन्तु सकुचित अर्थ मे मुद्रा बाजार तथा पूँजी बाजार मे अन्तर किया जाता है। मुद्रा बाजार मे मुद्रा का केवल अल्पकालीन लेन देन ही होता है अर्थात् मुद्रा-बाजार मे ऋणो का आदान-प्रदान केवल अल्पकाल के लिए ही होता है। इसके विपरीत पूँजी-बाजार मे मुद्रा का लेन देन दीर्घकाल के लिए होता है। दूसरे शब्दो मे पूँजी बाजार मे ऋण प्राय लम्बे समय के लिये दिये व लिये जाते है। इस प्रकार मुद्रा बाजार तथा पूँजी बाजार मे कोई आधारभूत अन्तर नही होता।

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था के लिए एक सुसगठित एव सुव्यवस्थित मुद्रा-बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योकि इसके बिना देश की अर्थ व्यवस्था को सुचारु ढग से नही चलाया जा सकता। मुद्रा बाजार के दो प्रमुख कार्य होते हैं—प्रथम मुद्रा-बाजार के माध्यम से विभिन्न वर्गों के उत्पादको, व्यवसायियो एव उद्योगपतियो को अपनी उत्पादन सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऋण उपलब्ध होते हैं। सरकार भी अपनी ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ को मुद्रा बाजार के माध्यम से ही पूरा करती है। दूसरे, मुद्रा-बाजार के माध्यम

से ही देश की मुद्रा की माँग तथा पूर्ति मे समुचित समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा बाजार मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में समायोजन (Adjustment) स्थापित करके मुद्रा इकाई के मूल्य मे स्थिरता ला सकता है।

भारतीय मुद्रा-बाजार

भारतीय मुद्रा बाजार के अग (Constituents of Indian Money Market)—भारतीय मुद्रा-बाजार को मुख्यत दो भागो म विभाजित किया जा सकता है—प्रथम सगठित अथवा आधुनिक भाग (Organised or Modern Sector), दूसरे, असगठित अथवा स्वदेशी भाग (Unorganised or Indigenous Sector)। भारतीय बैंकिग व्यवस्था के सगठित अथवा आधुनिक भाग मे ये बैंक सम्मिलित किये जाते हैं—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, मिश्रित पूँजी बैंक (अनुसूचित एव असूचित) सहकारी बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंक। मुद्रा-बाजार के असगठित भाग म साहूकार, महाजन, मारवाडी, सर्राफ तथा शाह आदि सम्मिलित किये जाते हैं। भारतीय मुद्रा-बाजार के इन दोनो भागो का विस्तृत वर्णन आग चलकर किया जायगा। इन दोनो भागो के कार्यक्षेत्र अलग अलग हैं और इनमे किसी प्रकार का सम्पर्क एव सहयोग नही है। भारतीय मुद्रा-बाजार के सगठित भाग पर तो रिजर्व बैंक का लगभग पूर्ण नियन्त्रण है। परन्तु भारतीय मुद्रा-बाजार के असगठित तथा स्वदेशी भाग पर रिजर्व बैंक का बिलकुल भी नियन्त्रण नही है। भारत मे व्यावसायिक साख का अधिकाश भाग स्वदेशी बैंकरो द्वारा ही प्रदान किया जाता है परन्तु इसके बावजूद उन पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नही है। वास्तव मे, यह बहुत ही विचित्र स्थिति है।

भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताएँ—ये इस प्रकार हैं

(1) जैसा ऊपर कहा गया है भारतीय मुद्रा बाजार के दो भाग हैं—सगठित एव असगठित। इन दोनो म किसी प्रकार का सम्पर्क एव सहयोग नही है। परिणामत इन दोनो भागो म प्रचलित ब्याज की दरो मे बडी विभिन्नता पायी जाती है।

(2) भारतीय मुद्रा-बाजार के सगठित भाग मे बडे-बडे मिश्रित पूँजी बैंको के अतिरिक्त अर्द्ध सरकारी वित्तीय सस्थाएँ भी पायी जाती हैं। मुख्यत ये सस्थाएँ उद्योग-धन्धो को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं।

(3) भारतीय मुद्रा-बाजार की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर विकसित बिल-बाजार का लगभग पूर्ण अभाव है। विगत कुछ वर्षों मे रिजर्व बैंक के भरसक प्रयत्नो के बावजूद देश मे अभी तक बिल बाजार का विकास सम्भव नही हो सका है। वास्तव मे भारतीय मुद्रा बाजार के विकास मे यह एक बडी बाधा है।

(4) भारतीय मुद्रा बाजार के असगठित भाग पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही है। वास्तव मे, देशी बैंकरो को अपना काय सम्पन्न करने मे पूर्ण छूट दे दी गयी है। इस भाग के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणो मे कोई स्पष्ट भेद नही किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस भाग मे ब्याज की दरो मे भी भारी विभिन्नता पायी जाती है।

(5) भारतीय मुद्रा बाजार मे बट्टा-गृहो (Discount Couses) का पूर्ण अभाव है। इसका मुख्य कारण भारतीय मुद्रा-बाजार मे व्यापारिक बिलो का लगभग पूर्ण अभाव है।

(6) भारतीय मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण अग अन्त बैंक (inter bank) मुद्रा बाजार है। दूसरे शब्दो मे मुद्रा बाजार के विभिन्न सदस्य आवश्यकता पडने पर एक दूसरे से ऋण ले सकते हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष—ये इस प्रकार हैं

(1) **मुद्रा बाजार के सदस्यों मे सगठन एव सहयोग का अभाव**—(क) भारतीय मुद्रा बाजार, जैसा ऊपर कहा गया है दो मुख्य भागो मे बँटा हुआ है—सगठित एव असगठित। सगठित भाग मे रिजर्व बैंक स्टेट बैंक मिश्रित पूँजी बैंक सहकारी बैंक एव विदेशी विनिमय बैंक आदि पाये जाते हैं। असगठित भाग मे साहूकारो, महाजनो सर्राफो आदि को सम्मिलित किया जाता है। दुर्भाग्यवश, मुद्रा बाजार के इन दो अगो के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क एव सहयोग

नही है। कभी-कभी तो इन दोनो मे अपव्ययपूर्ण प्रतियोगिता भी होती है वास्तव मे, यह स्थिति देश की आर्थिक व्यवस्था के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

(ख) मुद्रा-बाजार के प्रत्येक भाग के सदस्यो मे भी आपसी प्रतियोगिता होती है। जैसा ऊपर कहा गया है—भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के सगठित एव असगठित अंगो मे ही प्रतियोगिता नही होती, बल्कि इन दोनो अंगो के सदस्यो के बीच भी भारी प्रतियोगिता होती रहती है। उदाहरणार्थ, सगठित भाग के विभिन्न सदस्यो के बीच मे भी प्रतियोगिता होती रहती है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा मिश्रित पूंजी बैंक एक दूसरे को अपना प्रतियोगी समझते हैं। इस प्रकार बैंकिंग व्यवस्था के असगठित भाग के विभिन्न सदस्यो मे भी आपसी प्रतियोगिता होती रहती है। इस अपव्ययपूर्ण प्रतियोगिता के कारण समूची बैंकिंग व्यवस्था को हानि होती है।

(ग) भारत मे इस समय कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार नही है। इसके विपरीत, भारतीय मुद्रा-बाजार छोटे-छोटे एव स्थानीय टुकडो मे बँटा हुआ है। उदाहरणार्थ, बम्बई, कलकत्ता एव मद्रास के मुद्रा-बाजारो का छोटे छोटे नगरो के मुद्रा-बाजारो से कोई विशेष सम्पर्क नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि परस्पर सगठन एव सहयोग का अभाव भारतीय मुद्रा-बाजार की एक भारी त्रुटि है।

(2) **मुद्रा बाजार मे ब्याज-दरों की विभिन्नता**— परस्पर सहयोग एव सगठन के अभाव के कारण भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न भागो मे ब्याज की दरो मे भारी विभिन्नता पायी जाती है। बैंकिंग व्यवस्था के सगठित भाग मे प्रचलित ब्याज की दरें असगठित भाग मे प्रचलित ब्याज की दरो से भिन्न होती हैं। केवल यही नही, ब्याज की दरो मे स्थानीय विभिन्नता भी पायी जाती है। बडे बडे व्यापारिक एव औद्योगिक केन्द्रो मे प्रचलित ब्याज की दरें छोटे-छोटे नगरो एवं कस्बो मे प्रचलित ब्याज की दरो से भिन्न होती हैं। ब्याज की दरो की यह विभिन्नता मौसमी (seasonal) भी होती है। वर्ष के कुछ महीनो मे ब्याज की दर बढ जाती है और अन्य महीनो मे गिर जाती है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा-बाजार मे ब्याज की दरो मे भारी विभिन्नता पायी जाती है। पश्चिमी देशो के मुद्रा-बाजारो मे ब्याज को दरो मे इतनी विभिन्नता नही पायी जाती जितनी कि भारतीय मुद्रा-बाजार मे पायी जाती है। इसके अतिरिक्त, भारतीय मुद्रा-बाजार मे विभिन्न ब्याज-दरो मे आपस मे कोई सम्बन्ध नही होता और न ही बैंक दर का इन पर कोई विशेष प्रभाव ही पडता है। वास्तव मे, यह भारतीय मुद्रा-बाजार के पिछडेपन का स्पष्ट प्रमाण है। ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे विकसित देशो मे बैंक-दर एव ब्याज की अन्य दरों मे एक निश्चित सम्बन्ध होता है और सभी ब्याज की दरें अन्ततः बैंक दर पर ही निर्भर रहती हैं, परन्तु भारतीय मुद्रा-बाजार के बारे मे ऐसा नही कहा जा सकता है।

(3) **सगठित बिल-बाजार का अभाव**—किसी भी देश की बैंकिंग व्यवस्था के सुगम सचालन के लिए वहाँ पर एक सुव्यवस्थित बिल बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। परन्तु भारत मे अभी तक बिल बाजार का पूर्ण विकास सम्भव नही हो सका है यद्यपि विगत कुछ वर्षों मे इस दिशा मे रिजर्व बैंक ने भरसक प्रयत्न किये है। चूंकि भारत मे सगठित बिल-बाजार का अभाव है, इसलिए भारतीय मुद्रा-बाजार उत्तम एव सगठित ढग से कार्य नही कर सकता। यह सत्य है कि प्राचीन काल से ही भारत में हुण्डियो का उपयोग होता चला आया है, परन्तु फिर भी भारतीय व्यापार मे हुण्डियो का उपयोग इतना नही होता जितना कि होना चाहिए। भारतीय व्यापारियों के अधिकाश सौदे नकदी के रूप मे ही किये जाते हैं। परिणामत मुद्रा-बाजार मे हुण्डियो का अभाव ही रहता है। यही कारण है कि भारतीय बैंक अपनी कुल जमा का केवल 3 प्रतिशत से 6 प्रतिशत भाग ही हुण्डियो मे लगाते हैं। भारत मे बिल-बाजार का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारियो एव व्यवसायियो द्वारा बडे पैमाने पर हुण्डियो का उपयोग किया जाय और रिजर्व बैंक भी अधिकाधिक मात्रा मे सदस्य बैंको को पुन कटौती (Re-discounting) की सुविधाएं प्रदान करे। विगत 10 वर्षों मे रिजर्व बैंक भारत मे बिल-बाजार का विकास करने के प्रयत्न करता रहा है। परन्तु इसके बावजूद अभी तक भारत मे बिल-बाजार पूर्णतः विकसित नहीं हो सका है।

(4) **मुद्रा की मौसमी कमी और ब्याज की दरों मे परिवर्तन**—भारतीय मुद्रा-बाजार की एक त्रुटि यह भी है कि इसमे कुछ विशेष समयों पर मुद्रा की कमी हो जाती है, अर्थात् पूर्ति की

अपेक्षा मुद्रा की माँग अधिक हो जाती है। नवम्बर से जून तक फसलों की कटाई एवं उनके विपणन (Marketing) के कारण मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। परन्तु उसकी पूर्ति में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती। परिणामत इस अवधि में ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं। बाजार में मुद्रा का सामान्य अभाव उत्पन्न हो जाता है जिससे व्यापारियों को बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत, जुलाई से अक्टूबर तक मुद्रा की माँग में कमी हो जाती है। परिणामत ब्याज की दरों में भी कमी हो जाती है। इस प्रकार भारत में मुद्रा की पूर्ति प्राय बेलोच ही रहती है। वास्तव में, मुद्रा की इस बेलोच पूर्ति के कारण देश के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यद्यपि रिजर्व बैंक व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न समयों पर मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन करता रहता है, परन्तु फिर भी मुद्रा की मौसमी कमी एवं ब्याज की दरों में होने वाले उच्चावचनों (Fluctuations) को पूर्णत दूर नहीं किया जा सकता है।

(5) **मुद्रा-बाजार में पूँजी का अभाव**—भारतीय मुद्रा-बाजार में प्राय धन का अभाव ही रहता है। बाजार में उपलब्ध मुद्रा पूर्ति व्यापार एवं उद्योग-धन्धों की धन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में अपर्याप्त रहती है। इसके कई कारण हैं—प्रथम, भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है। परिणामत प्रति व्यक्ति आय भी कम है। इससे कारण भारतीयों की बचत करने की शक्ति कम है। दूसरे, भारत में अब भी ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे-छोटे कस्बों में बैंकिंग सुविधाओं का लगभग अभाव है जिसके कारण बचतों को पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिलता। तीसरे, बैंकों के समय-समय पर फेल होने के कारण साधारण जनता का उनमें विश्वास अधिक सुदृढ नहीं है। चौथे, साधारण जनता में विशेषकर ग्रामीण जनता में अब भी धन का संचय (hoarding) करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ग्रामीण लोग प्राय अपनी बचतों को भूमि में गाड़ देते हैं अथवा उनसे आभूषण आदि खरीद लेते हैं। इन सभी कारणों से भारत में पूँजी-निर्माण (Capital Formation) उचित मात्रा में नहीं होता। परिणामत मुद्रा-बाजार में धन का सामान्य अभाव पाया जाता है।

(6) **बैंकिंग सुविधाओं की अपर्याप्तता के कारण भारतीय मुद्रा बाजार पूर्णत विकसित नहीं हो सका है**—जैसा पूर्व कहा गया है भारत में अब भी ग्रामीण क्षेत्रों एवं छोटे छोटे कस्बों में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव पाया जाता है। यह सत्य है कि युद्धोत्तर काल में बैंकिंग शाखाओं में वृद्धि हुई है परन्तु ये नयी शाखाएँ अधिकांशत बड़े बड़े व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्रों में ही खोली गयी हैं। जैसा स्पष्ट है—बैंकिंग के विकास के बिना मुद्रा-बाजार का विकास भी सम्भव नहीं हो सकता। बैंकिंग सुविधाओं की सामान्य कमी के कारण बचतों को भी आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता और न उपलब्ध बचतों का उत्पादक ढंग से उपयोग ही किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा बाजार के पिछड़ेपन का मुख्य कारण बैंकिंग सुविधाओं की अपर्याप्तता ही है।

(7) ***मुद्रा बाजार में देशी बैंकरों एवं महाजनों की अधिकता***—जैसा हम पहले कह चुके हैं, भारतीय मुद्रा-बाजार में देशी बैंकरों तथा महाजनों का महत्वपूर्ण स्थान है। संगठित भाग (Organised Sector) की अपेक्षा देशी बैंकर एवं महाजन व्यापारियों एवं व्यवसायियों को अधिक मात्रा में साख प्रदान करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में तो देशी बैंकरों एवं महाजनों का लगभग पूर्ण एकाधिकार है। परन्तु ऐसा होते हुए भी देशी बैंकरों अथवा महाजनों पर रिजर्व बैंक द्वारा किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं किया जाता है। यही कारण है कि स्वदेशी बैंकर्स एवं महाजन समय-समय पर मुद्रा-बाजार में गड़बड़ी पैदा कर देते हैं। स्पष्ट है कि भारतीय मुद्रा-बाजार के समुचित विकास के लिए देशी बैंकरों एवं महाजनों की कार्यवाहियों पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य ही करना पड़ेगा।

(8) **मुद्रा-बाजार में विशिष्ट संस्थाओं का अभाव**—भारत के मुद्रा-बाजार का एक दोष यही भी है कि इसमें विशिष्ट बैंकिंग संस्थाओं (Specialised Banking Institutions) का लगभग पूर्ण अभाव है। उदाहरणार्थ भारत के मुद्रा बाजार में औद्योगिक बैंकों, बट्टा गृहों (Discount Houses), कृषि-बैंकों एवं विदेशी विनिमय बैंकों का अभाव है। इन विशिष्ट बैंकिंग संस्थाओं के अभाव के फलस्वरूप भारतीय उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों को बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता है।

मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करने के सुझाव—यह सत्य है कि रिजर्व बैंक एवं स्टेट बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद मुद्रा-बाजार की दशा में उल्लेखनीय सुधार हुआ है परन्तु अभी भी सुधार की बहुत गुंजाइश है। मुद्रा बाजार के दोषों एवं त्रुटियों को दूर करने के लिए जो विभिन्न प्रकार के सुझाव दिये गये हैं वे इस प्रकार हैं

(1) **देशी बैंकरों पर नियन्त्रण किया जाय**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय मुद्रा-बाजार में स्वदेशी बैंकरों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है लेकिन ऐसा होते हुए भी इस समय इन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। स्पष्ट है कि जब तक देशी बैंकरों पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा जाता तब तक भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों को दूर करना अत्यन्त कठिन है। अतः यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय मुद्रा बाजार के समुचित विकास के लिए देशी बैंकरों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जाय। इस सम्बन्ध में विगत वर्षों में रिजर्व बैंक ने कुछ प्रयत्न भी किये हैं। परन्तु देशी बैंकरों की हठधर्मी के कारण ये प्रयत्न विफल हो गये हैं।

(2) **हुण्डियों का मानकीकरण किया जाय**—इस समय भारतीय मुद्रा बाजार में प्रचलित हुण्डियों में एकरूपता एवं मानकीकरण (Standardisation) का पूर्ण अभाव है। ये हुण्डियाँ प्रायः क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, इनके रूप तथा लेखन विधियों में भी भारी अन्तर पाये जाते हैं। परिणामतः इन हुण्डियों के आधार पर अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि अखिल भारतीय बाजार की स्थापना के लिए भारत में प्रचलित हुण्डियों की भाषा तथा लेखन-विधि में समानता लायी जाय।

(3) **सगठित बिल-बाजार का विकास किया जाय**—किसी भी देश के मुद्रा बाजार का समुचित विकास संगठित बिल-बाजार के बिना सम्भव नहीं हो सकता। वास्तव में, भारतीय मुद्रा-बाजार के पिछड़ेपन का मुख्य कारण संगठित बिल बाजार का अभाव ही है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतीय बैंकों द्वारा बिलों को पुनः भुनाने की सुविधाओं का विस्तार किया जाय। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता है।

(4) **धन-हस्तान्तरण की सुविधाओं को बढ़ाया जाय** एक अच्छे मुद्रा-बाजार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश के प्रमुख व्यापारिक, औद्योगिक एवं वित्तीय केन्द्रों में धन हस्तान्तरण की सस्ती सुविधाएँ प्रदान की जायें। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक ने मिश्रित पूँजी बैंकों को पर्याप्त सुविधाएँ दे रखी हैं परन्तु ये सुविधाएँ इस समय स्वदेशी बैंकरों एवं महाजनों को उपलब्ध नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि धन हस्तान्तरण की सस्ती सुविधाएँ स्वदेशी बैंकरों एवं महाजनों को भी उपलब्ध करायी जायें।

(5) **समाशोधन गृहों की सख्या में वृद्धि तथा उनका पुनर्संगठन**—जैसा विदित है, भारत में इस समय समाशोधन-गृहों (Clearing Houses) की सख्या बहुत कम है और जो समाशोधन-गृह इस समय काम कर रहे हैं उनकी कार्य प्रणाली भी अत्यन्त दोषपूर्ण है। भारतीय मुद्रा-बाजार के समुचित विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश में समाशोधन गृहों की सख्या बढ़ायी जाय और उनकी कार्य प्रणाली में भी आवश्यक सुधार किये जायें।

(6) **लाइसेंसशुदा गोदामों की स्थापना** भारतीय मुद्रा बाजार के सुधार के लिए यह भी सुझाव दिया गया है कि भारत में, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, लाइसेन्सशुदा गोदामों (Licensed Warehouses) की स्थापना की जाय ताकि किसान अपना अतिरिक्त माल इन गोदामों में जमा करा सकें। इन गोदामों में जमा किये गये माल की उन्हें रसीद मिल सकेगी जिसके आधार पर वे बैंकों से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षों में भारत सरकार एवं राज्य सरकारों ने गोदाम निगम (Warehousing Corporations) स्थापित किये हैं और इनके द्वारा विभिन्न स्थानों पर गोदाम बनाये गये हैं परन्तु गोदामों की सख्या आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत ही कम है। अतः इस दिशा में और सक्रिय कदम उठाने की आवश्यकता है।

(7) **ब्याज की दरों की विभिन्नता को दूर किया जाय**—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न भागों में ब्याज-दरों की बड़ी विभिन्नता पायी जाती है। वास्तव में, यह मुद्रा बाजार के समुचित विकास में एक बड़ी बाधा उपस्थित करती है। इसलिए सुझाव

दिया गया है कि रिजर्व बैंक उचित मौद्रिक एवं साख उपायों को अपनाकर ब्याज-दरों की प्रचलित विभिन्नता यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न करे।

सन् 1949 में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के पारित किये जाने के उपरान्त भारतीय मुद्रा बाजार में उल्लेखनीय सुधार हुआ है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारतीय मुद्रा-बाजार पूर्णत: दोषमुक्त हो गया है। अब भी भारत के मुद्रा-बाजार में उपरोक्त दोष एवं त्रुटियाँ पायी जाती हैं।

भारत में बिल-बाजार
(Bill Market in India)

किसी देश के बिल-बाजार से अभिप्राय उस क्षेत्र में होता है जिसमें बिलों के क्रेता एवं विक्रेता पाये जाते हैं। जैसा ऊपर हम देख चुके हैं किसी देश के मुद्रा बाजार के समुचित विकास के लिए संगठित बिल-बाजार का होना अत्यन्त आवश्यक होता है, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश में अभी तक बिल बाजार का पर्याप्त विकास नहीं हो सका है।

भारत के बिल-बाजार के दोषों एवं त्रुटियों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले यह देखें कि बिल बाजार की कार्य-प्रणाली क्या होती है? जैसा विदित है बिलों का उपयोग प्राय: व्यापारियों द्वारा किया जाता है। जब कोई व्यापारी अपने माल को किसी अन्य व्यापारी को बेचना है तब वह अपने माल का मूल्य नकदी में तुरन्त प्राप्त नहीं करता, बल्कि माल खरीदने वाले व्यापारी को भुगतान करने के लिए कुछ समय देता है। माल बेचने वाला व्यापारी खरीदने वाले व्यापारी पर हुण्डी लिखता है। माल खरीदने वाला व्यापारी उस हुण्डी को स्वीकार करने के उपरान्त उसे माल बेचने वाले व्यापारी को लौटा देता है। क्रेता व्यापारी द्वारा स्वीकृति दिये जाने के उपरान्त हुण्डी एक कानूनी प्रलेख (Legal Document) का रूप धारण कर लेती है और क्रेता व्यापारी माल के मूल्य की अदायगी करने के लिए वचनबद्ध हो जाता है। तदुपरान्त यदि माल बेचने वाले व्यापारी को तुरन्त नकदी की आवश्यकता पड़ जाती है तो वह उस हुण्डी को किसी बैंक में ले जाकर उसे भुना सकता है। इसे बट्टा या डिस्काउंटिंग (Discounting) कहते हैं।

स्पष्ट है कि बिल-बाजार से व्यापारियों एवं व्यवसायियों को बहुत सुविधा रहती है। हुण्डी प्रथा के कारण क्रेता-व्यापारी को खरीदे हुए माल का तुरन्त भुगतान नहीं करना पड़ता। वह केवल अपने ऊपर लिखी गयी हुण्डी को स्वीकार करके विक्रेता व्यापारी से भुगतान के लिए कुछ समय प्राप्त कर लेता है। हुण्डी प्रथा से विक्रेता-व्यापारी को बहुत सुविधा रहती है। वह जिस समय चाहे स्वीकृत हुण्डी को बैंक में से भुनाकर नकदी प्राप्त कर सकता है। बैंकों के लिए भी बिल बाजार बहुत महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वे अपनी अतिरिक्त धनराशि (Surplus funds) को अल्पकाल के लिए बिलों में निवेश (invest) कर सकते हैं। बिल-बाजार का इतना महत्व होते हुए भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व भारत में इसके विकास की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था यद्यपि सन् 1929 में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में सरकार से जोरदार शब्दों में इसकी सिफारिश की थी। परन्तु तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने इस सिफारिश को कार्यरूप में परिणत नहीं किया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त सन् 1952 में ही रिज़र्व बैंक ने बिल बाजार के विकास की ओर कुछ ध्यान देना आरम्भ किया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक योजना भी बनायी थी।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार सम्बन्धी योजना—रिजर्व बैंक ने 16 जनवरी 1952 को अपना बिल बाजार योजना को कार्यरूप दिया था। इससे पूर्व रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को स्वीकृत एवं सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ही ऋण प्रदान किया करता था। परन्तु सन् 1952 की योजना के अन्तर्गत अनुसूचित बैंक मुद्दती प्रतिज्ञा-पत्रों (Usance Promissory Notes) के आधार पर रिजर्व बैंक से माँग-ऋण (demand loans) प्राप्त कर सकते थे। परन्तु स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक इन प्रतिज्ञा पत्रों का पुन बट्टा (rediscounting) नहीं करता था, बल्कि उन्हें केवल जमानत के रूप में ही स्वीकार करता था। इन प्रतिज्ञा-पत्रों की एक आवश्यक शर्त यह थी कि ये 90 दिन के भीतर परिपक्व (mature) होने वाले हों अर्थात् 90 दिनों से

अधिक की अवधि में परिपक्व होने वाले प्रतिज्ञा-पत्रों पर रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को मांग-ऋण देने के लिए तैयार नहीं था और न ही रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को इस योजना के अन्तर्गत दर्शनी बिलों (*Demand Bills*) के आधार पर ऋण देने के लिए तैयार था। यदि कोई बैंक दर्शनी बिलों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण लेना चाहता था तो उसे पहले दर्शनी बिलों को 90 दिन के भीतर परिपक्व होने वाले समय बिलों (Time Bills) में परिवर्तित कराना पड़ता था।

भारत के बिल बाजार के विकास को प्रोत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक अपने ऋणों पर बैंक-दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम दर लिया करता था। इसके अतिरिक्त दर्शनी बिलों को समय-बिलों में परिवर्तित कराने के फलस्वरूप अनुसूचित बैंकों पर स्टाम्प ड्यूटी (*Stamp duty*) का जो भार पड़ता था उसका आधा भाग स्वयं रिजर्व बैंक वहन किया करता था। 1 मार्च, 1956 तक रिजर्व बैंक बिलों के आधार पर व्यापारिक बैंकों को बैंक दर से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कम दर पर ऋण देता रहा किन्तु इस तिथि के बाद यह दर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गयी और आगे चलकर 21 नवम्बर 1956 को इसे बैंक दर के बराबर ही कर दिया गया। अर्थात् यह दर अब $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी गयी। 1■ मई, 1957 को बैंक दर $3\frac{1}{2}$ से बढ़ाकर 4 प्रतिशत कर दी गयी और इसके साथ-साथ अनुसूचित बैंकों के लिए ऋण की दर में भी इतनी ही वृद्धि कर दी गयी। परन्तु स्टाम्प ड्यूटी $\frac{1}{2}$ प्रतिशत रह जाने से समय-बिलों पर लिये जाने वाले ऋणों की वास्तविक दर $4\frac{1}{2}$ हो गयी। आगे चलकर सन् 1965-66 में इस दर को 6 प्रतिशत कर दिया गया था। 22 जुलाई, 1974 को रिजर्व बैंक ने इस दर को बढ़ाकर 9 प्रतिशत कर दिया था।

रिजर्व बैंक ने जनवरी 1952 में बिल-बाजार की योजना को क्रियान्वित करते समय इसे केवल उन अनुसूचित बैंकों तक ही सीमित रखा था जिनकी जमा राशियाँ (deposits) 10 करोड़ रुपये या इससे अधिक थीं। तदुपरान्त जून 1953 में इस योजना को 5 करोड़ रुपये या इससे अधिक जमाराशि वाले बैंकों पर लागू किया गया। जुलाई 1954 में इस योजना के अन्तर्गत उन सभी अनुसूचित बैंकों को सम्मिलित कर लिया गया जिनके पास बैंकिंग का कार्य करने के लाइसेन्स थे। दूसरे शब्दों में, *अब जमाराशि की शर्त पूर्णत समाप्त कर दी गयी है*। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने किसी बैंक द्वारा लिये जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा को भी 25 लाख रुपये से घटाकर 10 लाख रुपये कर दिया ताकि अधिक से अधिक मात्रा में सदस्य बैंक इस योजना का लाभ उठा सकें। अक्टूबर 1958 में रिजर्व बैंक ने निर्यात बिलों (Export Bills) को भी इस योजना के क्षेत्र में सम्मिलित कर दिया ताकि अनुसूचित बैंक निर्यातकर्ताओं को अधिक से अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान कर सकें। सितम्बर 1962 में रिजर्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके क्रय-विक्रय एवं पुन बट्टे के लिए निर्यात बिलों की अवधि 180 दिन तक बढ़ा दी गयी थी। इसके अतिरिक्त मार्च 1963 में निर्यात बिल साख योजना (Export Bills Credit Scheme) लागू की गयी थी। इसके अन्तर्गत अनुसूचित बैंक अपने अधिकार में रखे हुए निर्यात-बिलों की घोषणा कर देते हैं और रिजर्व बैंक को प्रतिज्ञा-पत्र लिख देते हैं। इस प्रतिज्ञा-पत्र के आधार पर रिजर्व बैंक उन्हें ऋण दे देता है। इस प्रकार अनुसूचित बैंक निर्यात बिलों की राशि केवल घोषणा करने पर ही रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकते हैं।

बिल-बाजार योजना की सफलता—*रिजर्व बैंक द्वारा क्रियान्वित उक्त बिल-बाजार योजना* को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। इस योजना के अन्तर्गत बैंकों के ग्राहक नकद साख प्रणाली (Cash Credit System) के लाभों के साथ साथ विनिमय बिलों के आधार पर भी ऋण प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह योजना अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक से पुन बट्टा (Rediscounting) की सुविधा के स्थान पर मांग-ऋण एवं अग्रिम धन देने की सुविधा प्रदान करती है। वास्तव में, बैंकों के लिए यह योजना अधिक लाभदायक सिद्ध हुई है क्योंकि इस योजना के अन्तर्गत बैंकों को ब्याज की बचत हो जाती है। इसका कारण यह है कि इस योजना के अन्तर्गत विनिमय बिलों के आधार पर बैंक अपनी आवश्यकतानुसार ही रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करते हैं जबकि पुन बट्टा व्यवस्था के अन्तर्गत उन्हें विनिमय बिलों की सम्पूर्ण राशि पर बट्टा दर देनी पड़ती है। इस प्रकार अनुसूचित बैंकों को ब्याज की बचत हो जाती है। इस योजना की सफलता इस तथ्य से व्यक्त हो जाती है कि सन् 1951-52 में रिजर्व बैंक ने बिल-बाजार योजना के अन्तर्गत 81.45 करोड़ रुपये के ऋण अनुसूचित बैंकों को दिये थे।

बिल-बाजार योजना की आलोचना—इस योजना की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं

(1) इस योजना का सबसे बडा दोष यह है कि इसके अन्तर्गत देश मे सगठित बिल-बाजार का पूर्ण विकास नही हो सका है। इसका कारण यह है कि इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को विनिमय बिलो के आधार पर माँग-ऋण एव अग्रिम धन ही प्रदान करता है, विनिमय बिलों का पुन बट्टा नही करता। इस प्रकार सगठित बिल-बाजार के मुख्य उद्देश्य को ही इस योजना मे समाप्त कर दिया गया है।

(2) इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को दर्शनी बिलो के आधार पर ऋण प्रदान नही करता है वल्कि ऋण प्राप्त करने के लिए अनुसूचित बैंको को अपने दर्शनी बिलो को मुद्दती बिलो मे परिवर्तित करना पडता है। वास्तव मे, यह अनुसूचित बैंको के लिए बहुत ही असुविधाजनक होता है। इसके अलावा, ऐसा करने मे अनुसूचित बैंको को स्टाम्प ड्यूटी का अतिरिक्त भार भी वहन करना पडता है।

(3) इस योजना मे स्वदेशी बैंकरो को कोई स्थान नहीं दिया गया है, यद्यपि देश की बैंकिंग व्यवस्था मे उनका विशेष महत्व है। दूसरे शब्दो मे, रिजर्व बैंक विनिमय बिलो के आधार पर स्वदेशी बैंकरो को ऋण एव अग्रिम धन देने के लिए तैयार नही है। इस प्रकार देश की बैंकिंग व्यवस्था का बहुत बडा भाग इस योजना की परिधि से बाहर रह जाता है।

देश मे बिल बाजार का विकास करने हेतु नवम्बर, 1970 मे रिजर्व बैंक ने एक नई योजना लागू की थी। इसे बिल पुन बट्टा योजना (Bill Re discounting Scheme 1970) कहा गया था। इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक उन विनिमय बिलो का पुन बट्टा करने के लिये सहमत हो गया था जो सरकारी विभागो को माल सप्लाई करने से उत्पन्न होते थे। इस योजना की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थी (i) राष्ट्रीयकृत बैंको सहित सभी लाइसेंस शुदा बैंक रिजर्व बैंक से विनिमय बिलो का पुन बट्टा करवाने के अधिकारी थे। (ii) विनिमय बिल यथार्थ अथवा प्रामाणिक (genuine) होना चाहिये। दूसरे शब्दो मे, विनिमय बिल वास्तविक बिक्री सौदे पर आधारित होना चाहिये। विनिमय-बिल साधारणत 90 दिन से अधिक की अवधि का नही होना चाहिये। (iv) विनिमय बिल पर कम से कम दो विश्वसनीय हस्ताक्षर होने चाहिये, (v) पुन बट्टा हेतु रिजर्व बैंक के समक्ष प्रस्तुत प्रत्येक विनिमय बिल की राशि 5000 रु० से कम नही होनी चाहिये। (vi) किसी एक समय पर रिजर्व बैंक के समक्ष प्रस्तुत विनिमय बिलो की कुल राशि 50,000 रु० से कम नही होनी चाहिये।

अनुसूचित बैंको से कहा गया है कि इस योजना के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाओ का अधिकाधिक प्रयोग करें और अपने द्वारा बट्टाकृत बिलो (Discounted Bills) का रिजर्व बैंक से पुन बट्टा करायें। यह हर्ष की बात है कि इस योजना के अधीन अनुसूचित बैंको ने अपने बट्टाकृत बिलो का अधिकाधिक पुन बट्टा कराया है। सन् 1971 72 के व्यस्त मौसम मे अनुसूचित बैंको ने इस योजना से विशेष लाभ उठाया था। 30 जून 1971 को बैंको के पुन बट्टाकृत बिलो का मूल्य 10 करोड रु० था लेकिन सितम्बर 1971 मे यह बढकर 25 करोड रु० हो गया था। जून 1974 मे पुन बट्टाकृत बिलो की कुल राशि बढकर 274 करोड रु० हो गई थी। लेकिन जून, 1975 मे यह राशि घटकर 132 करोड रु० ही रह गई थी। इस वर्ष मे रिजर्व बैंक की नीति बिलो मे पुन बट्टाकरण योजना के अन्तर्गत कम धन लगाने की थी। कारण यह था कि रिजर्व बैंक देश मे फैली मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने हेतु साख सकुचन की नीति का अनुसरण कर रहा था। इसी कारण पुन बट्टा योजना को आघात पहुँचा था।

सन् 1974 75 के दौरान बिलो की पुन बट्टाकरण योजना के अन्तर्गत दो महत्त्वपूर्ण कदम रिजर्व बैंक द्वारा उठाये गये थे। प्रथम अनुसूचित व्यापारिक बैंक अब अपने प्रमाणयुक्त विनिमय बिलो का पुन बट्टा (rediscounting) रिजर्व बैंक के अलावा निम्नलिखित सस्थाओ से भी करा सकते थे—अन्य व्यापारिक बैंक, जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया,

जनरल इंश्यूरेंस कारपोरेशन, इण्डस्ट्रियल क्रैडिट एण्ड इन्वेस्टमेण्ट कारपोरेशन ऑफ इण्डिया (Industrial Credit and Investment Corporation of India), द्वितीय 1 अप्रैल 1975 से बिलो की पुन बट्टा सुविधाएँ रिजर्व बैंक के अहमदाबाद के कार्यालय से भी दी जाने लगी थी।

अपनी साख संकुचन नीति (credit squeeze policy) को क्रियान्वित करने हेतु 11 सितम्बर, 1976 को रिजर्व बैंक ने घोषणा की थी कि प्रथम नवम्बर, 1976 से अनुसूचित बैंको का मूल पुन बट्टा कोटा (basic rediscount quota) निश्चित कर दिया गया है। यह कोटा अनुसूचित बैंको द्वारा 25 सितम्बर 1976 को खरीदे गये अथवा बट्टाकृत विनिमय बिलो के कुल मूल्य का 10 प्रतिशत था। रिजर्व बैंक ने यह कदम देश मे पुन उभरती हुई मुद्रा स्फीति पर रोक लगाने हेतु उठाया था।

भारत में सगठित बिल-बाजार के अभाव के कारण—विगत 12 वर्षों मे रिजर्व बैंक के भरसक प्रयत्नो के बावजूद अभी तक भारत म बिल-बाजार का पूर्ण विकास सम्भव नही हो सका है। इसके मुख्य मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) भारतीय बैंको द्वारा प्रथम श्रेणी की सरकारी प्रतिभूतियों को प्राथमिकता का दिया जाना—चूँकि बैंकिंग व्यवस्था मे जनता का सुदृढ विश्वास नही है, इसलिए भारतीय बैंको को प्राय बडे पैमाने पर जमाकर्ताओ की माँग को सन्तुष्ट करने के लिए नकद कोष रखने पडते हैं। अत अपनी परिसम्पत्तियो (assets) को तरल (liquid) रूप मे रखने के लिए भारतीय बैंक विनिमय बिलो की अपेक्षा प्रथम श्रेणी की सरकारी प्रतिभूतियो मे अपना धन लगाना अधिक पसन्द करते हैं। इससे उन्हे दो लाभ होते हैं—प्रथम उनकी परिसम्पत्तियाँ तरल रूप मे रहती हैं। दूसरे, जनता का बैंको मे विश्वास सुदृढ होता है। अत भारतीय बैंक विनिमय बिलो मे धन लगाना अधिक पसन्द नही करते। इसी कारण भारतीय बिल बाजार का विकास सम्भव नहीं हो सका है।

(2) विनिमय-बिलो को पुन भुनाने की कठिनाई—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक विनिमय बिलो का पुन बट्टा (re-discounting) करने का कार्य किया करता था। चूकि इम्पीरियल बैंक स्वय एक व्यापारिक बैंक था और अन्य बैंको से प्रतयोगिता करता था, इसलिए अधिकाश व्यापारिक बैंक इम्पीरियल बैंक से अपने बिलों का पुन बट्टा कराने मे सकोच किया करते थे। परन्तु 1 अप्रैल 1935 को रिजर्व बैंक की स्थापना के परिणामस्वरूप भारतीय बैंको की यह कठिनाई दूर हो गयी। लेकिन फिर भी भारत मे सगठित बिल-बाजार का विकास सम्भव नही हो सका। इसके दो मुख्य कारण थे—प्रथम रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को स्वीकृत प्रतिभूतियो (Approved Securities) के आधार पर ही ऋण देना पसन्द करता था। रिजर्व बैंक इन बैंको को विनिमय बिलो का पुन बट्टा कराने के लिए प्रोत्साहित नही करता था। दूसरे, भारत मे विनिमय बिलो का भी बहुत अभाव था। इसका मुख्य कारण यह था कि लाइसेन्स शुदा गोदामो के अभाव के कारण कृषि बिलो की सख्या बहुत कम हुआ करती थी।

(3) स्वीकृति गृहों का अभाव—*भारत मे बिल-बाजार के विकसित न होने का एक कारण* यह भी है कि यहाँ पश्चिमी देशो की भाँति निर्गम एव स्वीकृति-गृहो (Issue and Acceptance Houses) का पूर्ण अभाव है। पश्चिमी देशों मे इन सस्थाओ द्वारा विनिमय बिलों को स्वीकार किया जाता है और ऐसे स्वीकृत बिलो का व्यापारिक बैंक पुन बट्टा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के बिलो का पुन बट्टा करने मे उन्हें किसी भी प्रकार का जोखिम नही उठाना पडता है, परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, भारत मे इस प्रकार की सस्थाओं का पूर्ण अभाव है जिसके फलस्वरूप व्यापारिक बैंक विनिमय बिलों का पुन बट्टा करने मे सकोच करते हैं।

(4) विनिमय बिलों की विविधता (Diversity of Exchange Bills)—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं—भारत में प्रचलित विनिमय बिलो अथवा हुण्डियो में बहुत विभिन्नता पायी जाती है। उनकी भाषा एवं लेखन विधियों मे भारी अन्तर पाये जाते हैं। परिणामत एक अखिल भारतीय बिल बाजार का विकास सम्भव नही हो सका है।

(5) **व्यापारिक एवं अर्थ-बिलों में अन्तर का अभाव**—चूँकि भारत में व्यापारिक एवं अर्थ-बिलों (Commercial and Accommodation Bills) में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं होता, इसलिए साधारणत. बैंक बिलों को भुनाने मे हिचकिचाते हैं। बैंकों को व्यापारिक बिलों को भुनाने में तो कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि ये बिल वास्तविक, व्यापारिक सौदों के आधार पर लिखे जाते हैं। परन्तु अर्थ-बिलों को भुनाने मे बैंकों को आपत्ति होती है क्योंकि इस प्रकार के बिल वास्तविक व्यापारिक सौदों पर आधारित नहीं होते। ये बिल तो केवल ऋण प्राप्त करने के उद्देश्य से ही लिखे जाते हैं। इन दोनों प्रकार के बिलों मे स्पष्ट अन्तर के अभाव के कारण बैंक प्रायः सभी बिलों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परिणामत. संगठित बिल-बाजार के विकास में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

(6) **बैंक प्राय नकद ऋणों को प्राथमिकता देते हैं**—बैंक साधारणत. विनिमय-बिलों का बट्टा करने की अपेक्षा अपने ग्राहकों को नकद ऋण देना अधिक अच्छा समझते हैं। इसका कारण यह है कि नकद ऋणों को तो बैंक अपने ग्राहकों से किसी भी समय वापस ले सकते हैं। परन्तु विनिमय-बिलों के बट्टे (डिस्काउण्टिंग) मे लगाये गये धन को बैंक आवश्यकतानुसार वापस नहीं ले सकते। इसलिए विनिमय-बिलों के बट्टे (डिस्काउण्टिंग) की तुलना मे बैंक अपने ग्राहकों को नकद ऋण देना अधिक पसन्द करते हैं।

(7) **भारी स्टाम्प ड्यूटी (*Heavy Stamp Duty*)**—*भारत मे मुद्दती विनिमय-बिलों के अभाव का एक कारण यह है कि इस प्रकार के बिलों पर सरकार की ओर से भारी स्टाम्प ड्यूटी लगायी जाती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि देश के विभिन्न भागों मे स्टाम्प ड्यूटी ½ प्रतिशत से 4 प्रतिशत तक होती है। इस भारी स्टाम्प ड्यूटी के कारण विनिमय-बिलों का प्रयोग स्वत ही निरुत्साहित हो जाता है।*

(8) **कोषागार बिपत्रों का निर्गमन**—(Issue of Treasury Bills)—भारत मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोषागार बिपत्रों का निर्गमन करती हैं। ये बिपत्र अल्पकालीन अवधि के होते हैं और प्राय. 33 से 90 दिन मे परिपक्व हो जाते हैं। भारतीय बैंक अपने अतिरिक्त धन को विनिमय-बिलों की अपेक्षा कोषागार बिपत्रों मे लगाना अधिक अच्छा समझते हैं। इसके दो कारण हैं—प्रथम, कोषागार बिपत्र अत्यन्त सुरक्षित होते हैं और उनके पीछे सरकार की समूची साख होती है। दूसरे, ये बिपत्र बहुत ही सरल होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बैंक इन्हे बाजार मे बेचकर नकदी प्राप्त कर सकते हैं।

बिल-बाजार में सुधार करने हेतु किये गये सुझाव—भारत मे बिल बाजार के अभाव को दूर करने के लिये सन् 1929 मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये थे :

(1) *केन्द्रीय बैंक की स्थापना—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने बिल-बाजार का विकास करने के लिए भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर बहुत जोर दिया था और इसी सिफारिश के आधार पर ही सन् 1935 मे रिजर्व बैंक की स्थापना की गयी थी, परन्तु दुर्भाग्यवश, लगभग 17 वर्ष तक रिजर्व बैंक ने बिल-बाजार के संगठन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। जनवरी 1952 मे ही रिजर्व बैंक ने अपनी बिल-बाजार योजना को कार्यरूप मे परिणत किया था।*

(2) **स्टाम्प ड्यूटी में कमी होनी चाहिए**—जैसा उपर कहा गया है, भारी स्टाम्प ड्यूटी के कारण ही भारत मे मुद्दती विनिमय-बिलों का प्रयोग लोकप्रिय नहीं हो सका है। इसीलिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने भारत सरकार को स्टाम्प ड्यूटी मे कमी करने का सुझाव दिया था। *सन् 1940 मे स्टाम्प ड्यूटी मे कुछ कमी भी कर दी गयी थी,* परन्तु इसके बावजूद स्टाम्प ड्यूटी के भार में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। वास्तव मे, भारी स्टाम्प ड्यूटी बिल बाजार के विकास मे भारी बाधा उपस्थित कर रही है।

(3) **बट्टा-दर में कमी होनी चाहिए**—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी का यह भी विचार था कि भारत मे बिलों का अधिक प्रचलन न होने का मुख्य कारण ऊँची बट्टा-दर रही है। अतः बिल बाजार को विकसित करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि बट्टा-दर मे पर्याप्त कमी की जाय।

(4) **स्वीकृति-गृहों की स्थापना**—देश में बिल-बाजार का समुचित विकास करने के लिए यह भी आवश्यक है कि बड़ी सख्या में देश के विभिन्न भागों में स्वीकृति-गृह (Acceptance Houses) खोले जायें। जैसा ऊपर कहा गया है—भारतीय बैंक बिलो का बट्टा करने में इसलिए हिचकिचाते है क्योंकि उन्हे बिलो के पक्षो (parties) के बारे में सही एवं विश्वसनीय जानकारी नही होती। स्वीकृति-गृह बैंको को व्यापारियों को आर्थिक स्थिति के बारे में सूचना देकर विनिमय-बिलो के प्रयोग को अधिक प्रचलित बना सकते हैं।

(5) **समाशोधन-गृहों की स्थापना**—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी का यह भी विचार था कि विनिमय-बिलो का भुगतान सुविधाजनक बनाने के लिए देश में समाशोधन-गृहो की स्थापना की जाय और ये समाशोधन-गृह बिलो का भी ठीक उसी प्रकार भुगतान कराने में सहायता दें जिस तरह कि ये चैको के भुगतान में देते है।

(6) **बिलो एवं हुण्डियों का मानकीकरण**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भारत में बिलो तथा हुण्डियो मे भारी विभिन्नता पायी जाती है। इनकी भाषाएँ एवं लेखन-विधियाँ अलग-अलग होती हैं। इसी कारण इनका प्रयोग लोकप्रिय नही हो सका है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने यह सुझाव दिया था कि बिल बाजार का सगठित विकास करने के लिए भारत में प्रचलित सभी प्रकार के बिलो एवं हुण्डियो का मानकीकरण (Standardisation) कर दिया जाय।

(7) **खडी फसलो के आधार पर लिखे गये बिलो की स्वीकृति**—यह भी सुझाव दिया गया है कि खडी फसलो के आधार पर लिखे गये बिलो को स्वीकार किया जाय और उनकी जमानत पर बैंको द्वारा ऋण देने की व्यवस्था की जाय। इससे कृषि बिलो को प्रोत्साहन मिलेगा।

(8) **अन्य सुझाव**—बिल-बाजार के विकास के लिए समय-समय पर कुछ अन्य सुझाव भी दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं

(क) **स्वदेशी बैंकरों की हुण्डियो के प्रयोग को बढ़ाया जाय**—बिल बाजार के विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि स्वदेशी बैंकरो की हुण्डियो का प्रयोग भी अन्य बिलो की तरह बढ़ाया जाय, क्योंकि वे भी भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण भाग है।

(ख) **लाइसेन्सशुदा गोदामो की स्थापना की जाय**—देश के विभिन्न क्षेत्रो में लाइसेन्सशुदा गोदामो की स्थापना से बिलो के प्रयोग को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा, क्योंकि तब कृषि-बिल गोदामो मे रखे गये माल के आधार पर लिखे जायेंगे।

(ग) **दर्शनी बिलो को मुद्दती बिलो मे बदलने हेतु स्टाम्प ड्यूटी मे कमी की जाय**—जैसा ऊपर कहा गया है इस समय रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को केवल मुद्दती बिलो के आधार पर ही ऋण देता है, दर्शनी बिलो के आधार पर नहीं। इसलिए बैंको को रिजर्व बैंक से ऋण लेने हेतु अपने दर्शनी बिलो को मुद्दती बिलो म बदलना पड़ता है। ऐसा करने के लिए उन्हे विशेष स्टाम्प ड्यूटी चुकानी पड़ती है जिसके फलस्वरूप वे ऋण लेने से निरुत्साहित होते हैं। अत सरकार को बिलो के परिवर्तन पर से स्टाम्प ड्यूटी हटा देनी चाहिए।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. भारतीय मुद्रा-बाजार की विशेषताओ का वर्णन कीजिए और इसके दोषों पर दृष्टिपात करिए। (आगरा 1960)

   अथवा

   भारतीय मुद्रा बाजार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (इन्दौर, 1968)

   [संकेत—प्रथम भाग मे, मुद्रा बाजार का अर्थ बताते हुए भारतीय मुद्रा-बाजार की मुख्य-मुख्य विशेषताओ का सविस्तार वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे, भारतीय मुद्रा-बाजार के दोषो एवं त्रुटियो की चर्चा कीजिए।]

2. भारतीय मुद्रा-बाजार की त्रुटियाँ क्या हैं? इन्हे दूर करने के लिए कोई निश्चित सुझाव दीजिए। (गोरखपुर, 1961)

अथवा

भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख दोषों की विवेचना कीजिए। उचित सुधारों या सुझाव भी दीजिए। (आगरा, 1968)

[संकेत– प्रथम भाग में, भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य दोषों एवं त्रुटियों का सविस्तार वर्णन कीजिए। दूसरे भाग में, मुद्रा बाजार के दोषों एवं त्रुटियों को दूर करने हेतु जो सुझाव दिये जाते हैं, उनकी चर्चा कीजिए।]

3 भारत में बिल बाजार के न होने के क्या कारण हैं? जनवरी 1952 से इस सम्बन्ध में क्या किया गया है? (आगरा, बी० काम०, 1962)

अथवा

निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए

भारत का हुण्डी बाजार। (आगरा, 1966)

[संकेत—प्रथम भाग में, भारत में संगठित बिल बाजार के अभाव के मुख्य मुख्य कारणों की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि भारत में बिल बाजार का विकास करने हेतु जनवरी 1952 में, रिजर्व बैंक ने अपनी बिल-बाजार योजना को लागू कर दिया था। यहाँ पर रिजर्व बैंक की बिल-बाजार योजना का सविस्तार वर्णन कीजिए और बताइए कि इस योजना को कितनी सफलता प्राप्त हुई है। इसके साथ ही साथ इस योजना की आलोचनाओं की भी चर्चा कीजिए।]

4. 'मुद्रा बाजार' की परिभाषा दीजिए। क्या भारत में एक सुविकसित मुद्रा बाजार है? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क प्रस्तुत कीजिए। (मेरठ, 1975)

[संकेत—मुद्रा बाजार की परिभाषा के लिये उपर्युक्त अध्याय के प्रारम्भ में 'मुद्रा बाजार का अर्थ' नामक शीर्षक को देखिए। दूसरे भाग में, यह बताइये कि भारत का मुद्रा बाजार सुविकसित नहीं है। इसमें कई प्रकार के दोष एवं त्रुटियाँ पायी जाती हैं। देखिए उपर्युक्त अध्याय।]

32

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

प्रस्तावना

सन 1934 से पूर्व भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए समय समय पर कई प्रयत्न किये गये थे। परन्तु ये प्रयत्न सफल नही हो सके। सन् 1921 मे भारत सरकार ने देश मे केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने के लिए इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) की स्थापना की थी। परन्तु केन्द्रीय बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक कोई अधिक सफल नही हो सका था। सन् 1925 मे हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) को इस विषय पर अपना मत व्यक्त करने के लिये कहा गया था। इस कमीशन ने देश मे एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए बडे जोरदार शब्दो मे सिफारिश की थी। कमीशन के अनुसार, देश मे मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण को दो अलग अलग सस्थाओ मे रखना उचित नही था। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक की स्थापना स पूर्व भारत सरकार मुद्रा का और इम्पीरियल बैंक साख का नियन्त्रण किया करते थे। हिल्टन यग कमीशन के मतानुसार मुद्रा एव साख पर यह दोहरा नियन्त्रण (Double Control) देश की मुद्रा प्रणाली के लिए उचित नही था। इसलिए कमीशन ने सरकार से सिफारिश की थी कि साख एव मुद्रा का नियन्त्रण एक केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाय। इसी कारण कमीशन ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की सिफारिश की थी। भारत सरकार ने कमीशन की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्कालीन विधानसभा मे एक बिल भी प्रस्तुत किया। परन्तु विधानसभा के सदस्यो मे अत्यधिक मतभेद होने के कारण इस बिल को स्वीकार नही किया जा सका। परिणामत भारत सरकार ने कुछ समय के लिए इस सम्बन्ध मे कार्यवाही करना स्थगित कर दिया। परन्तु सन् 1929 मे केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) ने पुन जोरदार शब्दो मे रिजर्व बैंक की स्थापना की सिफारिश की थी। परिणामत सन् 1934 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास कर दिया गया और 1 अप्रैल, 1935 से रिजर्व बैंक ने अपना काम करना प्रारम्भ कर दिया था।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना क्यो की गयी थी ?

रिजर्व बैंक की स्थापना के कारण निम्नलिखित थे

(1) मुद्रा एव साख नीति मे समन्वय—जैसा ऊपर कहा गया है, रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व मुद्रा का निगमन भारत सरकार द्वारा और साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक द्वारा किया जाता था। इस प्रकार मुद्रा एव साख पर दोहरा नियन्त्रण था। इसके कारण मुद्रा एव साख की पूर्ति को देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार समन्वित करना बहुत कठिन हो गया था। इसके अतिरिक्त, मुद्रा एव साख पर इस प्रकार का दोहरा नियन्त्रण देश की मुद्रा एव बैंकिंग प्रणाली के समुचित विकास के हित मे भी नही था। इसलिए यह अनुभव किया गया कि

देश मे एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय जो मुद्रा एवं साख मे उचित समन्वय स्थापित कर सके।

(2) **रुपये के आन्तरिक एव बाह्य मूल्य में स्थिरता**—यह भी अनुभव किया गया कि रुपये के आन्तरिक एव बाह्य मूल्य मे केन्द्रीय बैंक के बिना स्थिरता (Stability) स्थापित करना सम्भव नही था। रुपये के मूल्य मे स्थिरता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि साख एव मुद्रा पर एक ही सस्था का नियन्त्रण हो ताकि देश की मुद्रा-पूर्ति का विस्तार एव सकुचन व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार किया जा सके।

(3) **बैंकों के नकद कोषों का केन्द्रीयकरण**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व सभी बैंक अपने नकद कोष अलग रखा करते थे। परिणामतः इससे बैंकिंग व्यवस्था मे जनता का विश्वास उत्पन्न नही होता था और न ही बैंकिंग प्रणाली मे दृढता आ पाती थी। अत यह अनुभव किया गया कि सभी बैंको के नकद कोषो के केन्द्रीयकरण के लिए अलग से एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय।

(4) **बैंकिंग का समुचित विकास**—रिजर्व बैंक की स्थापना का एक कारण यह भी था कि देश की बैंकिंग व्यवस्था का समुचित विकास केन्द्रीय बैंक की सहायता के बिना सम्भव नही था क्योकि यह बैंक ही अन्य बैंको के लिए मार्गदर्शक का कार्य कर सकता था।

(5) **मुद्रा-बाजार का सगठन**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व भारत के मुद्रा-बाजार का सगठन अत्यन्त दोषपूर्ण था। मुद्रा-बाजार के विभिन्न भागो मे किसी प्रकार का सहयोग एव समन्वय नही हुआ करता था। मुद्रा-बाजार के इस दोष को दूर करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना अत्यन्त आवश्यक समझी गयी।

(6) **कृषि साख की व्यवस्था**—भारत एक कृषि-प्रधान देश है, परन्तु ऐसा होते हुए भी रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व कृषि-साख के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं हुआ करती थी। अत यह अनुभव किया गया कि कृषि-साख की व्यवस्था के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय।

(7) **विदेशो से मौद्रिक सम्पर्क**—विदेशो से मौद्रिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। इसलिए रिजर्व बैंक की स्थापना का उचित समझा गया था।

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक में क्यों नहीं परिवर्तित किया गया ?

रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व कुछ व्यक्तियो का यह मत था कि तत्कालीन इम्पीरियल-बैंक को ही केन्द्रीय बैंक मे परिवर्तित किया जाय, अर्थात एक नये केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता नही थी। उनका कहना था कि इम्पीरियल बैंक पहले ही केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्य सम्पन्न कर रहा था और उसे बिना किसी कठिनाई के एक पूर्ण केन्द्रीय बैंक मे परिवर्तित किया जा सकता था, परन्तु भारत सरकार इस विचार से सहमत नही थी और उसने देश मे एक बिलकुल नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना करना ही उचित समझा था। इसके दो मुख्य कारण थे—प्रथम, इम्पीरियल बैंक एक व्यापारिक बैंक था और अन्य व्यापारिक बैंको से प्रतियोगिता किया करता था। अन्य व्यापारिक बैंक भी इसे अपना प्रतियोगी समझते थे और इसी कारण उन्हें इम्पीरियल बैंक म विश्वास नही था। वे प्राय इम्पीरियल बैंक से अपने बिलो का पुन बट्टा कराने मे भी सकोच किया करते थे। दूसरे, यदि इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बना दिया जाता तो ऐसी परिस्थिति मे इम्पीरियल बैंक को व्यापारिक बैंकिंग का कार्य अनिवार्य रूप से त्यागना पडता, क्योकि कोई भी केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकिंग का कार्य नही कर सकता था। यह केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्तो के विपरीत था। इम्पीरियल बैंक उस समय अपने व्यापारिक बैंकिंग को किसी भी दशा मे त्यागने के लिए तैयार नही थी। क्योकि इससे उसे बहुत लाभ हो रहा था।

रिजर्व बैंक की वर्तमान व्यवस्था

इसकी हम निम्नलिखित उपशीर्षको के अन्तर्गत विवेचना कर सकते है ·

(1) **पूंजी**—रिजर्व बैंक की वर्तमान पूंजी 5 करोड रुपये है। इसे 100-100 रुपये वाले 5 लाख शेयरो मे विभाजित किया गया है। इस समय रिजर्व बैंक के सभी शेयरो को भारत

सरकार ने खरीद रखा है अर्थात् रिजर्व बैंक अब एक सरकारी संस्था है। परन्तु जब रिजर्व बैंक सन् 1935 में स्थापित किया गया था उस समय यह निजी शेयरहोल्डरों का बैंक (Private Shareholder's Bank) था। इसकी पूंजी उस समय भी 5 करोड रुपये थी और इसे 100-100 रुपये वाले 5 लाख शेयरों में विभाजित किया गया था। परन्तु 1 जनवरी, 1949 को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। इसके अन्तर्गत, भारत सरकार ने निजी शेयरहोल्डरों के सभी शेयर स्वयं खरीद लिये थे। प्रत्येक 100 रुपये वाले एक शेयर के लिए भारत सरकार ने 118 62 रुपये मूल्य के रूप में दिये थे।

(2) **प्रबन्ध**—रिजर्व बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालक बोर्ड (Central Board of Directors) द्वारा किया जाता है। इस बोर्ड के 20 सदस्य हैं। ये इस प्रकार होते हैं : (क) **एक गवर्नर और चार उप-गवर्नर्स** (One Governor and four Deputy Governors)—इन पांचों की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा पांच वर्ष की अवधि के लिए की जाती है और इनके वेतन केन्द्रीय संचालक बोर्ड द्वारा भारत सरकार के परामर्श से तय किये जाते हैं। (ख) **स्थानीय बोर्डों** (Local Boards) **में से मनोनीत चार संचालक**—केन्द्रीय संचालक बोर्ड के अलावा रिजर्व बैंक के 4 स्थानीय बोर्ड भी हैं। ये बम्बई, कलकत्ता मद्रास तथा नयी दिल्ली में स्थित हैं। इन चारों बोर्डों में से भारत सरकार एक एक संचालक केन्द्रीय बोर्ड के लिए मनोनीत करती है। इन संचालकों की अवधि भी पांच वर्ष की होती है। परन्तु यदि सरकार चाहे तो पांच वर्ष के बाद उन्हें पुन मनोनीत कर सकती है। (ग) **दस अन्य संचालक**—केन्द्रीय संचालक बोर्ड के दस अन्य संचालक भी भारत सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। इनकी अवधि 4 वर्ष की होती है। (घ) **एक सरकारी अधिकारी**—भारत सरकार केन्द्रीय संचालक बोर्ड में अपनी ओर से एक सरकारी अधिकारी भी नियुक्त करती है। यह सरकारी अधिकारी किसी भी अवधि तक कार्य कर सकता है, परन्तु इसे बोर्ड की बैठकों में मतदान का अधिकार नहीं होता।

केन्द्रीय संचालक बोर्ड की वर्ष में कम से कम छह बैठकें होना अनिवार्य है और प्रत्येक तीन महीने के बाद कम से कम एक बैठक तो अवश्य ही होनी चाहिए। रिजर्व बैंक का गवर्नर जब आवश्यक समझे, केन्द्रीय संचालक बोर्ड की बैठकें बुला सकता है। जैसा ऊपर बताया गया है—केन्द्रीय संचालक बोर्ड को परामर्श देने के लिए चार स्थानीय बोर्ड भी नियुक्त किये गये हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में कम से कम 4 सदस्य होते हैं और इनकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा चार वर्ष की अवधि के लिए की जाती है। भारत सरकार स्थानीय बोर्डों के सदस्यों की नियुक्ति इस ढंग से करती है कि सभी आर्थिक हितों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जा सके। स्थानीय बोर्ड, केन्द्रीय बोर्ड को न केवल परामर्श ही देते हैं, बल्कि केन्द्रीय बोर्ड द्वारा सौंपे गये कार्यों को भी करते हैं।

रिजर्व बैंक का गवर्नर बैंक का उच्चतम अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए चार उप-गवर्नर्स भी नियुक्त किये जाते हैं। प्रत्येक उप गवर्नर को कोई विशेष कार्य सौंपा जाता है और वह उसके लिए पूर्णतः उत्तरदायी होता है।

(3) **बैंक के कार्यालय**—रिजर्व बैंक का मुख्य कार्यालय बम्बई में स्थित है। परन्तु अपने कार्य को सुचारु ढंग से सम्पन्न करने के लिए इसने नयी दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास बंगलौर, कानपुर, अहमदाबाद, हैदराबाद पटना तथा नागपुर में अपने स्थानीय कार्यालय भी खोल रखे हैं। केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक किसी भी स्थान पर अपनी शाखा खोल सकता है। जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक के स्थानीय कार्यालय नहीं हैं, वहाँ पर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया इसके अभिकर्ता (agent) के रूप में कार्य करता है। रिजर्व बैंक के विनिमय-नियन्त्रण विभाग के क्षेत्रीय कार्यालय नयी दिल्ली, कानपुर, कलकत्ता तथा मद्रास में स्थित हैं।

(4) **रिजर्व बैंक के विभाग** (Departments of the Reserve Bank)—इस समय रिजर्व बैंक के 10 विभाग हैं। ये इस प्रकार हैं

(1) **निर्गमन विभाग** (Issue Department)—इस विभाग का मुख्य कार्य मुद्रा का निर्गमन करना है। अत यह विभाग नासिक प्रेस (Nasik Press) में छापे गये नोटों का सरकारी

खजानो मे वितरण करता है और उसका हिसाब किताब रखता है। इस विभाग की शाखाएँ कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, नागपुर, कानपुर, बगलौर, हैदराबाद, पटना तथा नयी दिल्ली मे स्थित हैं।

(2) **बैंकिंग विभाग (Banking Department)**—यह विभाग 1 जुलाई, 1935 को स्थापित किया गया था। इस विभाग के दो मुख्य कार्य हैं—**प्रथम**, यह विभाग सरकारी लेन-देन (Govt Transactions) तथा सरकारी ऋणो (Public Debts) की व्यवस्था करता है। इसके साथ ही साथ यह सरकारी धन का स्थानान्तरण भी करता है। **द्वितीय**, यह विभाग अनुसूचित बैंको के नकद-कोष भी अपने पास जमा रखता है और आवश्यकता पडने पर उन्हे आर्थिक सहायता भी देता है। इसके साथ ही अनुसूचित बैंको की सहायतार्थ यह विभाग समाशोधन-गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है।

(3) **बैंकिंग विकास विभाग (Department of Banking Development)**—यह विभाग सन् 1950 मे स्थापित किया गया था। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य छोटे छोटे कस्बो एव ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार करना है। इसके साथ ही यह विभाग ग्रामीण बचतो को भी प्रोत्साहित करने का प्रयत्न करता है। अनुसूचित बैंको के अधिकारियो को बैंकिंग प्रशिक्षण देना भी इसी विभाग का उत्तरदायित्व है।

(4) **बैंकिंग क्रियाओं का विभाग (Department of Banking Operations)**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं—रिजर्व बैंक एक्ट, 1934 तथा बैंकिंग कम्पनीज एक्ट 1949 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंकिंग व्यवस्था के नियन्त्रण एवं नियमन के लिए व्यापक अधिकार दिये गये हैं। अत यह विभाग अनुसूचित बैंको का समय समय पर निरीक्षण करता है और उनके द्वारा भेजे गये स्थिति विवरणो की जाँच करता है। नये बैंक खोलने के लिए लाइसेन्स देता है तथा पुराने बैंकों को नयी शाखाओ की स्थापना से सम्बन्धित आवेदन पत्रो पर विचार करता है। कोई भी अनुसूचित बैंक इस विभाग की पूर्व अनुमति के बिना अपनी पूँजी मे वृद्धि नही कर सकता और न ही इस विभाग की स्वीकृति के बिना विभिन्न बैंको का एकीकरण (Amalgamation) ही किया जा सकता है। यह विभाग अनुसूचित बैंको के दिन प्रतिदिन के बैंकिंग कार्य मे अपनी ओर से परामर्श भी दे सकता है।

(5) **कृषि-साख विभाग (Agricultural Credit Department)**—इस विभाग का मुख्य कार्य कृषि साख से सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन और उनके सम्बन्ध मे विशेषज्ञो की सहायता से अनुसन्धान (research) करना है। यह विभाग रिजर्व बैंक की कृषि-साख सम्बन्धी नीति का निर्माण भी करता है और आवश्यकता पडने पर भारत सरकार, राज्य सरकारो तथा राज्य सहकारी बैंकों को कृषि-साख सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान करता है। यह विभाग समय-समय पर कृषि-साख के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्टों को भी प्रकाशित करता है।

(6) **विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department)**—इस विभाग की स्थापना दूसरे विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने पर सितम्बर 1939 मे की गयी थी। सन् 1947 मे भारत सरकार द्वारा विदेशी विनिमय नियन्त्रण एक्ट पास किया गया था। इस एक्ट के अन्तर्गत इस विभाग को विदेशी विनिमय के सम्बन्ध मे बहुत व्यापक अधिकार दिये गये थे। इस समय भारत मे समस्त विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय इसी विभाग द्वारा किया जाता है।

(7) **औद्योगिक वित्त-विभाग (Industrial Finance Department)**—इस विभाग की स्थापना सितम्बर 1957 मे की गयी थी। इसका मुख्य उद्देश्य देश मे छोटे छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगो को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इसके साथ ही यह विभाग राज्य वित्त निगमो को भी परामर्श देता है।

(8) **गैर-बैंकिंग कम्पनीज विभाग (Non-Banking Companies Department)**—इस नये विभाग की स्थापना मार्च 1966 मे कलकत्ता मे की गयी थी। यह विभाग गैर-बैंकिंग कम्पनियो एव वित्तीय संस्थाओ की देखभाल करता है।

(9) **कानून विभाग (Legal Department)**—इस विभाग की स्थापना सन् 1951 मे की गयी थी। इसका मुख्य उद्देश्य रिजर्व बैंक के विभिन्न विभागो को कानूनी विषयो पर परामर्श देना है। यह विभाग समय-समय पर जारी किये जाने वाले आदेशो एव विज्ञप्तियो को भी तैयार

करता है। यह विभाग बैंकिंग से सम्बन्धित सभी कानूनो के उचित क्रियान्वयन के बारे मे भी रिजर्व बैंक को परामर्श देता है।

(10) शोध एवं अंक विभाग (Department of Research and Statistics)—इस विभाग का मुख्य कार्य मुद्रा, साख, वित्त, उत्पादन आदि से सम्बन्धित समस्याओ के बारे मे खोज करना है। इसके अलावा, यह विभाग अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो के बारे मे आँकडो को भी एकत्रित करता है और उन्हें समय समय पर सरकार की सहायतार्थ प्रकाशित करता है। इस प्रकार यह विभाग सरकार की आर्थिक एवं वित्तीय नीतियो के निर्माण मे बहुमूल्य योग देता है। आवश्यकता पडने पर भारत सरकार इस विभाग से आर्थिक परामर्श भी ले सकती है।

रिजर्व बैंक के मुख्य कार्य
(Main Functions of the Reserve Bank)

देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक कई प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है। इन कार्यों को मुख्यत दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य। द्वितीय, साधारण बैंकिंग कार्य।

केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य (Central Banking Functions of the Reserve Bank)—ये इस प्रकार हैं

(1) **रिजर्व बैंक कागजी मुद्रा का निर्गमन करता है**—रिजर्व बैंक को देश मे कागजी मुद्रा का निर्गमन करने का पूर्ण एकाधिकार है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए, रिजर्व बैंक ने जैसा ऊपर कहा गया है—एक पृथक विभाग स्थापित कर रखा है जिसे नोट निर्गमन विभाग कहते हैं। इस विभाग की लेनदारी तथा देनदारी बैंकिंग विभाग से बिलकुल अलग रखी जाती है और इसका स्थिति विवरण (Statement of Affairs) भी प्रति सप्ताह अलग से प्रकाशित किया जाता है।

(क) जनता का कागजी मुद्रा मे विश्वास बनाये रखने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे कागजी नोटो के पीछे प्रारक्षित निधि (Reserve Fund) रखने की व्यवस्था की गयी है। सन् 1956 तक रिजर्व बैंक कागजी मुद्रा का निर्गमन आनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर किया करता था। इस प्रणाली के अनुसार रिजर्व बैंक को कागजी नोटो के कुल मूल्य का कम से कम 40 प्रतिशत भाग सोने के सिक्कों तथा विदेशी प्रतिभूतियो के रूप मे रखना पडता था और इस सोने का मूल्यांकन 21 रुपये 13 आने 10 पाई प्रति तोला की दर पर करना पडता था। नोटो के कुल मूल्य का शेष 60 प्रतिशत भाग रुपयो, भारत सरकार की प्रतिभूतियो तथा स्वीकृत व्यापारिक बिलो के रूप मे रखना पडता था।

(ख) परन्तु सन् 1956 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे किये गये एक सशोधन के अनुसार बैंक द्वारा आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) का परित्याग कर दिया गया और इसके स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) को अपना लिया गया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटो के कुल मूल्य के पीछे कम से कम 400 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा 115 करोड रुपये का सोना तथा सोने के सिक्के रखना अनिवार्य था। इस सशोधन से पूर्व रिजर्व बैंक अपने स्वर्ण कोष का मूल्यांकन 21 रुपये 13 आने 10 पाई प्रति तोला की दर से किया करता था। परन्तु इस सशोधन के बाद स्वर्ण कोष का मूल्यांकन 62 रुपये 8 आना प्रति तोला के हिसाब से किया जाने लगा। इसका कारण यह था कि भारत ने अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष मे रुपये का स्वर्ण मूल्य इसी दर के आधार पर तय किया था। परिणामत रिजर्व बैंक के स्वर्ण कोष का मूल्य जो पहले 40 करोड रुपये हुआ करता था, अब बढकर 115 करोड रुपये हो गया।

(ग) 31 अक्टूबर, 1957 को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे पुन सशोधन किया गया। इसके अन्तर्गत, कागजी मुद्रा के पीछे रखी जाने वाली आड (Cover) अर्थात् सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियो की न्यूनतम मात्रा 200 करोड रुपये निश्चित कर दी गयी। किसी भी समय यह आड 200 करोड रुपये से कम नहीं हो सकती थी। इसके अलावा, इस आड मे सोने के सिक्कों का मूल्य कम से कम 115 करोड रुपये होना अनिवार्य था। इस प्रकार

सन् 1957 के संशोधन के अनुसार विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा को 400 करोड रुपये से घटा कर 85 करोड रुपये कर दिया गया था। इस संशोधन के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी कि संकटकाल मे भारत सरकार की पूर्व अनुमति से रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियो की मात्रा 85 करोड रुपये से भी कम कर सकता था और आवश्यकता पडने पर इन्हे पूर्णत समाप्त भी कर सकता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरानी आनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर अब बैंक द्वारा न्यूनतम कोष प्रणाली अपना ली गयी है। इससे भारत की वर्तमान कागजी मुद्रा प्रणाली मे अधिक लोच उत्पन्न हो गयी है। वास्तव मे, विकास की गति को अधिक तीव्र करने हेतु यह प्रणाली अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होती है।

सन् 1975-76 मे रिजर्व बैंक की नोट-निर्गमन स्थिति इस प्रकार थी। रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोटो का कुल मूल्य 6,572 62 करोड रुपये था। इसके पीछे रखी गयी आड इस प्रकार थी। सोना एव सोने के सिक्के—182 53 करोड रुपये, विदेशी प्रतिभूतियाँ—271·74 करोड रुपये, रुपये के सिक्के—12 90 करोड रुपये, भारत सरकार की रुपया सिक्यूरिटियाँ (Rupee Securities of the Govt of India)—6,105 45 करोड रुपये।

(2) रिजर्व बैंक सरकार का बैंकर है—रिजर्व बैंक का दूसरा मुख्य कार्य यह है कि यह भारत सरकार एव राज्य सरकारो का बैंकर है और इसी नाते इन सरकारो के समस्त बैंकिंग कार्य रिजर्व बैंक द्वारा ही किये जाते हैं।

(क) रिजर्व बैंक सरकारो धन प्राप्त करता है तथा इसका भुगतान करता है—रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारो की ओर से धन वसूल करता है और उनके आदेशानुसार इसका भुगतान भी करता है। परन्तु स्मरण रहे कि सरकारी जमाराशियो (Govt Deposits) पर रिजर्व बैंक ब्याज नही देता। 29 अगस्त, 1975 को रिजर्व बैंक के पास केन्द्रीय सरकार के 52 28 करोड और राज्य सरकारो के 10 91 करोड रुपये जमाराशियो के रूप मे जमा थे।

(ख) रिजर्व बैंक सार्वजनिक ऋणो की व्यवस्था करता है—भारत सरकार एव राज्य सरकारें रिजर्व बैंक के माध्यम से ही लोगो से ऋण प्राप्त करती हैं। रिजर्व बैंक इस कार्य के लिए भारत सरकार एव राज्य सरकारो के अभिकर्ता (agent) के रूप मे काम करता है। यह उनके सार्वजनिक ऋणो का बाकायदा हिसाब किताब रखता है। उनसे सम्बन्धित ब्याज व असल का समय-समय पर भुगतान भी करता है। रिजर्व बैंक भारत सरकार एव राज्य सरकारो को अल्पकालीन ऋण भी देता है, परन्तु यह 90 दिन के भीतर देय (repayable) होता है, अर्थात् रिजर्व बैंक सरकार को तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए ऋण नहीं दे सकता। 29 अगस्त, 1975 को रिजर्व बैंक ने राज्य सरकारो को 163 79 करोड रुपये के ऋण दे रखे थे। लेकिन इसी तिथि को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक से कुछ भी ऋण नही ले रखा था।

(ग) सरकारी कोषों का स्थानान्तरण—सरकार का बैंकर होने के नाते रिजर्व बैंक सरकारी कोषो का स्थानान्तरण भी करता रहता है।

(घ) विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना—रिजर्व बैंक भारत सरकार एव राज्य सरकारो के लिए विदेशी विनिमय की भी व्यवस्था करता है।

(ङ) सरकारों को आर्थिक परामर्श देना—रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा अन्य सरकारो को मुद्रा, साख तथा अन्य आर्थिक समस्याओ के सम्बन्ध मे समय-समय पर परामर्श भी देता रहता है जिससे इन सरकारो को आर्थिक नीतियो के निर्माण मे बहुत सहायता मिलती है।

उपर्युक्त सेवाओ के लिए रिजर्व बैंक भारत सरकार एव राज्य सरकारो से कोई शुल्क वसूल नही करता, क्योंकि उसके पास सभी सरकारो की बहुत बडी जमाराशियाँ पडी रहती है जिन पर वह कुछ भी ब्याज नही चुकाता।

(4) रिजर्व बैंक बैंकों का बैंकर है—केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक बैंको का बैंकर है और इस सम्बन्ध मे आवश्यकता पडने पर अनुसूचित बैंको को आर्थिक सहायता भी प्रदान करता है।

(क) रिजर्व बैंक अन्तिम ऋणदाता है (Reserve Bank as the Lender of the Last Resort)—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1934 के अन्तर्गत प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी

माँग-देयताओं (Demand Liabilities) का 5 प्रतिशत तथा समय-देयताओं (Time Liabilities) का 2 प्रतिशत भाग नकद-कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पड़ता था। परन्तु बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, 1949 के अन्तर्गत यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि अनुसूचित बैंकों की भांति अनुसूचित बैंकों (Non-scheduled Banks) को भी रिजर्व बैंक के पास चालू खातों में नकद-कोष रखने पड़ेंगे। सन 1956 में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में किये गये एक संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दे सकता था कि वे अपनी माँग-देयताओं का 20 प्रतिशत भाग तथा समय-देयताओं का 8 प्रतिशत भाग उसके पास नकद कोष के रूप में जमा रखें। सितम्बर 1962 में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में किये गये एक अन्य संशोधन के अन्तर्गत अब अनुसूचित बैंकों को अपनी कुल माँग देयताओं तथा समय-देयताओं का केवल 3 प्रतिशत भाग ही रिज़र्व बैंक के पास जमा रखना अनिवार्य था, परन्तु रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया था कि यदि वह चाहे तो इस प्रतिशत को 3 से बढ़ाकर 15 कर सकता था। 14 अगस्त, 1973 को इस प्रतिशत को बढ़ाकर 7% कर दिया गया था लेकिन 29 जून 1974 को इसे पुनः घटा कर 5% कर दिया गया था। इस प्रकार उपरोक्त विभिन्न संशोधनों का उद्देश्य रिजर्व बैंक के पास अनुसूचित बैंकों के नकद कोषों का केन्द्रीयकरण करना था और आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक इन्हीं केन्द्रीकृत नकद-कोषों के आधार पर अनुसूचित बैंकों को आर्थिक सहायता दे सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई बैंक किसी संकट में फँस जाता है तो ऐसी परिस्थिति में उसे रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता माँगने का पूर्ण अधिकार है और रिजर्व बैंक भी अन्तिम ऋणदाता के रूप में उसे सहायता देने से इन्कार नहीं कर सकता। सन् 1975 76 में रिजर्व बैंक ने अनुसूचित व्यापारिक बैंकों को लगभग 798 43 करोड़ रुपये के ऋण दे रखे थे।

(ख) रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों की साख-नीति का नियन्त्रण करता है—केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों द्वारा सृजित की गयी साख पर नियन्त्रण रखता है और विभिन्न उपायों द्वारा समय समय पर उसका नियमन करता रहता है। उदाहरणार्थ बैंक-दर, खुले बाजार की क्रियाओं तथा अन्य उपायों द्वारा रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों की साख-नीतियों को प्रभावित एवं नियमित करता रहता है।

(ग) रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों का सामान्य नियन्त्रण करता है—अनुसूचित बैंकों का नियन्त्रण करने हेतु सन् 1949 के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बहुत व्यापक अधिकार दिए गये हैं। रिजर्व बैंक जब चाहे किसी भी अनुसूचित बैंक का निरीक्षण कर सकता है। यदि किसी बैंक की कार्यविधि में त्रुटियाँ पायी जाती हैं तो वह उन्हें दूर करने के सुझाव दे सकता है। रिजर्व बैंक नये बैंकों की स्थापना के लिए लाइसेन्स भी प्रदान करता है। कोई भी नया बैंक रिजर्व बैंक के लाइसेन्स के बिना स्थापित नहीं किया जा सकता और न ही रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना पुराने बैंक नये स्थानों पर शाखाएँ ही स्थापित कर सकते हैं। इसी प्रकार रिजर्व बैंक की स्वीकृति के बिना बैंकों का एकीकरण भी नहीं हो सकता। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार है कि यदि वह किसी बैंक की आर्थिक स्थिति को दुर्बल समझता है तो वह उस कार्य बन्द करने के लिए आदेश दे। किसी बैंक को अपना निस्तारण (Liquidation) करने के लिए भी रिजर्व बैंक से आदेश लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों से उनके वार्षिक स्थिति विवरणों की माँग भी कर सकता है और संकट के समय उन्हें आर्थिक परामर्श भी दे सकता है। इसके साथ ही साथ रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों के लिए समाशोधन-गृह का कार्य भी करता है।

(4) रिजर्व बैंक रुपये की विनिमय-दर में स्थिरता बनाये रखता है—रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य रुपये की विनिमय-दर में स्थिरता बनाये रखना भी है। इसके लिए रिजर्व बैंक आरम्भ से ही निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करता रहा है। सितम्बर 1939 में दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ होते ही रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण विभाग की स्थापना कर दी थी और सभी विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य इस विभाग द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। सन् 1947 में विदेशी विनिमय नियन्त्रण एक्ट के अन्तर्गत इस विभाग को और भी अधिक व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे। 1 मार्च, 1947 को भारत अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन गया था। इसके पूर्व रिजर्व बैंक का विदेशी विनिमय विभाग 1 शिलिंग 6 पेंस की दर पर स्टर्लिंग का क्रय विक्रय किया करता था, परन्तु 1 मार्च 1947 को भारत के अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष के

सदस्य बन जाने पर भारतीय रुपये का स्टलिंग से वैधानिक सम्बन्ध टूट गया। सितम्बर 1949 तक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्वीकृति से रिजर्व बैंक ने भारतीय रुपये का स्वर्ण-मूल्य 0·268691 ग्राम बनाये रखा। परन्तु सितम्बर 1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया और इसका स्वर्ण-मूल्य घटाकर 0·186621 ग्राम कर दिया गया था। ऐसा करने से भारतीय रुपये के स्टलिंग मूल्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। रुपये का स्टलिंग मूल्य पहले की भाँति 1 शिलिंग 6 पेंस ही बना रहा। इसका कारण यह था कि भारतीय रुपये का भी उसी अनुपात में अवमूल्यन किया गया था जिसमें सितम्बर 1949 में स्टलिंग का हुआ था। 6 जून, 1966 को भारतीय रुपये का पुन अवमूल्यन कर दिया। अब रुपये का स्वर्ण मूल्य घटकर 0·118517 ग्राम सोने के बराबर हो गया। फरवरी, 1973 में डालर के अवमूल्यन के उपरान्त भारतीय रुपये को स्टलिंग के साथ 18·9677 रु० प्रति स्टलिंग की दर पर सम्बद्ध कर दिया गया था। लेकिन 24 सितम्बर, 1975 को भारत सरकार ने रुपये का स्टलिंग से सम्बन्ध तोड दिया था। इसके स्थान पर भारतीय रुपये को विदेशी मुद्राओं की एक टोकरी (*Basket of Currencies*) से जोड दिया गया था। अब भारतीय रुपये की विनिमय-दर इन विदेशी मुद्राओं की कीमतों में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है। इस समय रिजर्व बैंक स्टलिंग के अतिरिक्त उन सभी देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है जो कि अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य हैं। परन्तु रिजर्व बैंक इन सभी विदेशी मुद्राओं को उन दरों पर खरीदता व बेचता है जो समय-समय पर भारत सरकार तय करती है।

(5) **रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण करता है**—केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों द्वारा निर्मित की गयी साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ तथा अन्य उपायों का आश्रय लेता है।

(6) **रिजर्व बैंक कृषि-साख की व्यवस्था करता है**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ से ही एक कृषि-साख विभाग की स्थापना कर दी थी। इस विभाग का मुख्य कार्य कृषि साख से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में अनुसन्धान करना है। इसके अतिरिक्त, यह विभाग कृषि साख का विकास करने के लिए भारत सरकार राज्य सरकारों एवं सहकारी बैंकों को समय समय पर परामर्श भी देता है। यह विभाग भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को देश के विभिन्न क्षेत्रों में गोदाम की स्थापना करने में भी सहायता एवं सहयोग प्रदान करता है।

(7) **रिजर्व बैंक समाशोधन गृह का कार्य करता है**—देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों के लिए समाशोधन-गृह के कार्य भी सम्पन्न करता है। इस प्रकार की सुविधाएँ देकर रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों में रुपये के स्थानान्तरण को सुविधाजनक बनाता है।

(8) **रिजर्व बैंक आर्थिक आँकडे एकत्रित एवं प्रकाशित करता है**—रिजर्व बैंक मुद्रा साख, बैंकिंग, वित्त, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन आदि से सम्बन्धित आँकडे एकत्रित करता है और उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को रिपोर्टों के रूप में प्रकाशित भी करता है। रिजर्व बैंक द्वारा *प्रकाशित आर्थिक आँकडे देश की आर्थिक समस्याओं को समझने में बहुमूल्य सहायता प्रदान करते हैं।*

रिजर्व बैंक के साधारण बैंकिंग कार्य (Ordinary Banking Functions of the Reserve Bank)—रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त कुछ साधारण बैंकिंग कार्य भी सम्पन्न करता है। ये इस प्रकार हैं

(क) **निक्षेप स्वीकार करना**—रिजर्व बैंक भारत सरकार, राज्य सरकारों एवं निजी व्यक्तियों से निक्षेप स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है। परन्तु इस प्रकार के निक्षेपों पर रिजर्व बैंक कुछ भी ब्याज नहीं देता।

(ख) **व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों का क्रय विक्रय करना**—रिजर्व बैंक भारत में लिखे गये व्यापारिक एवं वाणिज्यिक बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय करता है और उनकी पुन कटौती (Re discounting) भी करता है। परन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार के बिल अधिक से अधिक 90 दिनों में परिपक्व (Mature) होने चाहिए। दूसरे शब्दों में, 90 दिनों से अधिक अवधि वाले बिलों को रिजर्व बैंक स्वीकार नहीं करता। इस समय पुन बट्टा की दर 9 प्रतिशत है।

(ग) **कृषि-बिलो का क्रय-विक्रय करना**—रिजर्व बैंक भारत मे लिखे गये कृषि बिलो का भी क्रय विक्रय तथा पुन कटौती करता है। परन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार के कृषि बिल अधिक से अधिक 15 महीनो की अवधि मे परिपक्व होने चाहिए। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक कृषि बिलो के बारे मे समय सम्बन्धी विशेष रियायत देता है। वाणिज्यिक एव व्यापारिक बिलो की परिपक्वता 90 दिनो के भीतर ही होनी चाहिए। परन्तु कृषि बिलो की परिपक्वता के लिए रिजर्व बैंक 15 महीनो की अवधि तक देने को तैयार रहता है।

(घ) **ऋण प्रदान करना (Ways & Means Advances)**—रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारो को दिन-प्रतिदिन का काम चलाने के लिए ऋण भी देता है, परन्तु यह ऋण किसी भी दशा मे 90 दिन से अधिक की अवधि के लिए नही दिया जा सकता। इसके साथ ही इस प्रकार का ऋण स्वीकृत प्रतिभूतियो, सोने, चाँदी तथा बिलो व प्रतिज्ञा पत्रो की जमानत पर ही दिया जा सकता है अर्थात् बिना जमानत के रिजर्व बैंक सरकार को भी ऋण नही दे सकता।

(ङ) **ऋण लेना**—रिजर्व बैंक, यदि चाहे तो भारत मे किसी भी अनुसूचित बैंक से अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक से ऋण ले सकता है। परन्तु शर्त यह है कि यह ऋण 30 दिन की अवधि से अधिक समय के लिए नही होना चाहिए। इसके साथ ही इस प्रकार का ऋण रिजर्व बैंक की शेयर पूँजी से भी अधिक नहीं होना चाहिए।

(च) **विदेशी केन्द्रीय बैंको मे खाता खोलने का अधिकार**—रिजर्व बैंक अपने काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय बैंक तथा अन्य विदेशी केन्द्रीय बैंको मे अपना खाता खोल सकता है और विदेशों मे अपने अभिकर्ता बैंको की भी नियुक्ति कर सकता है।

(छ) **विविध कार्य** रिज० बैंक कई प्रकार के विविध कार्यों को भी सम्पन्न करता है। यह सोने, चाँदी, हीरे, जवाहरात एव प्रतिभूतियो को अपनी अभिरक्षा (Custody) मे सुरक्षित रख सकता है। इसे सोने, चाँदी व सोने के सिक्का को खरीदने व बेचने का भी अधिकार है। रिजर्व बैंक, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की प्रतिभूतियो को खरीद व बेच सकता है और अनुसूचित बैंको से कम से कम 1 लाख रुपये के स्टर्लिंग का क्रय विक्रय भी कर सकता है।

रिजर्व बैंक के निषिद्ध कार्य (Prohibitions for the Reserve Bank)—देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये है। इन प्रतिबन्धो के दो मुख्य उद्देश्य हैं—प्रथम रिजर्व बैंक सदस्य बैंको के साथ प्रतियोगिता न कर सके। दूसरे, रिजर्व बैंक अपनी परिसम्पत्तियो (Assets) को पूर्णत सुरक्षित रख सके। रिजर्व बैंक के कुछ निषिद्ध कार्य इस प्रकार हैं

(क) रिजर्व बैंक किसी व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग मे किसी तरह का भाग नही ले सकता और न ही वह इस प्रकार के व्यापार, वाणिज्य एव उद्योग धन्धो को प्रत्यक्ष रूप मे किसी प्रकार की आर्थिक सहायता दे सकता है।

(ख) रिजर्व बैंक न तो अपने शेयर खरीद सकता है और न ही यह अन्य किसी बैंक एव व्यापारिक फर्म के शेयरो को ही खरीद सकता है। रिजर्व बैंक इस प्रकार के शेयरों की जमानत पर किसी को ऋण भी नही दे सकता है।

(ग) रिजर्व बैंक अपने लिए (कार्यालयो को छोड़कर) किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति को नही खरीद सकता और न ही इस प्रकार की सम्पत्ति के आधार पर ऋण ही दे सकता है।

(घ) रिजर्व बैंक किसी भी दशा मे बिना किसी जमानत के किसी भी पार्टी को ऋण नही दे सकता है।

(ङ रिजर्व बैंक अपने निक्षेपो पर किसी भी प्रकार का ब्याज नही दे सकता है।

रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा का नियमन (Regulation of Currency by the Reserve Bank)—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, रिजर्व बैंक को देश में कागजी मुद्रा के निर्गमन का पूर्ण एकाधिकार है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए आरम्भ से ही रिजर्व बैंक ने एक पृथक नोट-निर्गमन विभाग (Issue Department) की स्थापना कर दी थी। सन् 1956 तक रिजर्व बैंक अनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर नोटो का निर्गमन करता रहा। परन्तु सन् 1956 में

आनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली की स्थापना की गयी थी। इस प्रणाली के अनुसार रिजर्व बैंक की कागजी मुद्रा के पीछे कम से कम 200 करोड रुपये की आड अवश्य ही रखनी पडती है। इसमे से 115 करोड रुपये का सोना अथवा सोने के सिक्के होने चाहिए और शेष 85 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ होनी चाहिए। स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक की वर्तमान कागजी मुद्रा प्रणाली अत्यन्त लोचदार है, क्योकि इसके अन्तर्गत केवल 200 करोड रुपये की आड रखकर रिजर्व बैंक असीमित मात्रा मे नोट जारी कर सकता है। रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि सकटकाल मे यदि वह चाहे तो 85 करोड रुपये की विदेशी प्रतिभूतियो को भी कम अथवा पूर्णत समाप्त कर सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक की कागजी मुद्रा-प्रणाली भारत जैसे एक विकासशील देश के लिए बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत कागजी नोटो के पीछे अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय को रखने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, विदेशी विनिमय कोषो का विदेशो से माल आयात करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक द्वारा साख नियमन
(Regulation of Credit by the Reserve Bank)

केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को देश मे साख का नियन्त्रण करने का अधिकार भी दिया गया है। साख का देश हित मे नियन्त्रण करने हेतु रिजर्व बैंक निम्नलिखित उपायो को अपनाता है

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, बैंक दर से अभिप्राय उस दर से होता है जिस पर पर केन्द्रीय बैंक विनिमय बिलो को खरीदता है अथवा उनको पुन भुनाता है या जिस दर पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंको को स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण प्रदान करता है। किसी देश मे साख का बैंक-दर के माध्यम से प्रभावपूर्ण नियन्त्रण करने के लिए तीन शर्तों का पूरा किया जाना आवश्यक होता है—(क) देश की बैंकिंग सस्थाएँ पुन कटौती के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहनी चाहिए। (ख) देश की बैंकिंग सस्थाएँ सकटकाल का सामना करने के लिए केन्द्रीय बैंक पर निभर होनी चाहिए। (ग) देश की बैंकिंग सस्थाओ के पास पर्याप्त मात्रा मे साख-पत्र होने चाहिए जिन्हें वे केन्द्रीय बैंक से पुन कटौती कराने के लिए तैयार हों। दुर्भाग्यवश, भारत मे ये तीनो शर्तें पूरी तरह से सन्तुष्ट नही होतीं। यही कारण है कि भारत मे रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति साख का नियन्त्रण करने में अधिक सफल नही हो सकी है।

(क) रिजर्व बैंक ने अपना कार्य 1 अप्रैल, 1935 को आरम्भ किया था। उस समय इसकी बैंक दर 3½ प्रतिशत थी। परन्तु 15 नवम्बर 1935 को इसे घटाकर 3 प्रतिशत कर दिया गया था। सन् 1951 तक रिजर्व बैंक की बैंक-दर 3 प्रतिशत पर ही स्थिर रही। दूसरे शब्दो मे, इस अवधि मे रिजर्व बैंक ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) का ही अनुसरण किया था। इस नीति के फलस्वरूप देश मे साख का असाधारण रूप से विस्तार हुआ, व्यापारिक क्षेत्रों में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला और देश के भुगतान सन्तुलन मे घाटा उत्पन्न हो गया। सन 1935 से 1951 की अवधि मे रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकी। इसके कई कारण थे—(क) अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक से अधिक सहायता लेने के इच्छुक नहीं थे। (2) युद्ध और युद्धोत्तर काल मे अनुसूचित बैंको की आर्थिक स्थिति मे बहुत सुधार हो हो गया था। अत उन्हे रिजर्व बैंक से ऋण लेने की कोई विशेष आवश्यकता भी नही थी। (3) अनुसूचित बैंक विनिमय बिलो को अपेक्षा कोषागार विपत्रो (Treasury Bills) मे अपना धन लगाना अधिक अच्छा समझते थे क्योंकि इस प्रकार के विपत्रों मे सुरक्षा एव तरलता के दोनो गुण पाये जाते थे। इस प्रकार सन् 1935 से 1951 तक की अवधि मे रिजर्व बैंक को अपनी बैंक-दर नीति मे कोई विशेष सफलता नही मिल सकी।

(ख) 15 नवम्बर, 1951 को रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक दर को 3 प्रतिशत से बढाकर 3½ प्रतिशत कर दिया था। इसका मुख्य उद्देश्य देश मे साख की मात्रा को सकुचित करना था। इसी वर्ष रिजर्व बैंक ने यह भी तय किया था कि साधारणत अनुसूचित बैंको से वह उनकी मौसमी

आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदेगा बल्कि उन्हें अपनी प्रचलित बैंक-दर पर सरकारी प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण दिया करेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुसूचित बैंको को दिये जाने वाले ऋणो मे भारी कमी हो गयी। अत. सन् 1951-57 की अवधि मे रिजर्व बैंक को अपनी बैंक दर नीति मे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई।

(ग) 15 मई 1957 को रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर को 3½ प्रतिशत से बढाकर 4 प्रतिशत कर दिया और आगे चलकर 2 जनवरी, 1963 को इसे 4 प्रतिशत से बढाकर 4½ प्रतिशत कर दिया। इसका मुख्य उद्देश्य उस समय प्रचलित मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित एव नियमित करना था। बढती हुई मुद्रा-स्फीति को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से रोकने के लिए 26 सितम्बर, 1964 तथा 17 फरवरी, 1965 को बैंक-दर बढाकर क्रमश 5 प्रतिशत तथा 6 प्रतिशत कर दी गयी थी। सन् 1971-72 मे बैंक-दर 6 प्रतिशत पर ही स्थिर रही। 30 मई, 1973 को रिजर्व बैंक ने बैंक-दर को बढाकर 7 प्रतिशत कर दिया था। 23 जुलाई, 1974 को बैंक-दर को और अधिक बढाकर 9 प्रतिशत कर दिया गया था। इस प्रकार सन् 1957 के उपरान्त रिजर्व बैंक ने सुलभ मुद्रा के स्थान पर दुर्लभ मुद्रा की नीति (Dear Money Policy) का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया था। ऐसा करके रिजर्व बैंक ने उचित ही कदम उठाया था, क्योकि मुद्रा-स्फीति का सामना करने के लिए दुर्लभ मुद्रा नीति एक अत्यन्त प्रभावशाली अस्त्र सिद्ध होती है। इससे देश मे बचतो को प्रोत्साहन मिलता है और विदेशी पूँजी भी आकर्षित होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन् 1951 से पूर्व रिजर्व बैंक की बैंक-दर नीति अधिक सफल नही हो सकी थी, परन्तु सन् 1951 के बाद रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावपूर्ण हो गयी थी।

इस समय बैंक-दर 9 प्रतिशत है। यह दर पर्याप्त ऊँची है। इस ऊँची बैंक दर को दृष्टिगत रखते हुए अनुसूचित व्यापारिक बैंक औद्योगिक एव व्यापारिक क्षेत्रो को दिये जाने वाले ऋणो पर 16 5 से लेकर 17 5% की ब्याज दर वसूल कर रहे है। यह ऊँची दर अर्थव्यवस्था मे स्फीतिक प्रवृत्तियो पर रोक लगाने हेतु वसूल की जा रही है। वास्तव मे, यह ऊँची ब्याज दर रिजर्व बैंक की साख-सकुचन नीति के अनुरूप ही है।

इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक ने अनुसूचित व्यापारिक बैंको को 2 जुलाई, 1976 को यह आदेश भी दे दिया था कि नियमोल्लघी ऋणियों (erring borrowers) से वे दण्डात्मक ब्याज (penal interest) वसूल करें। ये दण्डात्मक ब्याज दरें सामान्य ब्याज दरो से 1 से लेकर 2 5 प्रतिशत अधिक निश्चित की गई थी। लेकिन निम्न आय-वर्गों के ऋणियो अर्थात् किसानो, कृषि-मजदूरो, शिल्पियो इत्यादि को दण्डात्मक ब्याज दरो से छूट दे दी गयी थी।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ** (Open Market Operations)—देश मे साख नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की क्रियाओ सम्बन्धी नीति को भी अपनाया जाता है। खुले बाजार की क्रियाओ से अभिप्राय खुले बाजार मे केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों, प्रथम श्रेणी के बिलो एव प्रतिज्ञा-पत्रो के क्रय-विक्रय से होता है। दूसरे शब्दो मे, साख की मात्रा को नियन्त्रित करने के लिए देश का केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता है। अन्य केन्द्रीय बैंको की भाँति रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण करने के लिए भारतीय मुद्रा-बाजार मे समय समय पर केन्द्रीय एव राज्य सरकारों की प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता है। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाएँ केवल सीमित मात्रा मे ही हुआ करती थी। उस समय इन क्रियाओ का मुख्य उद्देश्य मुद्रा-बाजार मे होने वाली मौसमी कमी को दूर करना था। युद्धकाल मे भी खुले बाजार की क्रियाओ मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई किन्तु युद्धोत्तर-काल मे साख की मात्रा का नियमन करने हेतु रिजर्व बैंक द्वारा बडे पैमाने पर खुले बाजार की क्रियाओ को अपनाया गया था। अब भी रिजर्व बैंक समय-समय पर मुद्रा-बाजार की परिस्थितियो के अनुसार प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करता रहता है। सन् 1970 71 मे रिजर्व बैंक ने 84 करोड रु० के मूल्य की प्रतिभूतियो को बेचा था।

(3) **नकद-कोषों के अनुपात मे परिवर्तन**—रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको के नकद-कोषो के अनुपात म परिवर्तन करके भी साख का नियन्त्रण करता है। सन् 1934 के रिजर्व बैंक ऑफ

इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिजर्व बैंक के पास अपनी काल-देयताओं का 2 प्रतिशत तथा माँग-देयताओं का 5 प्रतिशत नकद-कोषों व रूप मे रखना पड़ेगा । सन् 1949 के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत यही व्यवस्था असूचित बकों पर भी लागू कर दी गयी थी। उन्हे अपनी देयताओ का निश्चित प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता था। सन् 1956 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे किये गये एक सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह काल-देयताओ का प्रतिशत 2 से बढ़ाकर 8 तथा मांग-देयताओ का प्रतिशत 5 से बढ़ाकर 20 तक कर सकता था। सितम्बर, 1962 म बैंकिंग कम्पनीज एक्ट मे किये गये एक अन्य सशोधन के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको को अपनी मांग एव काल देयताओ का केवल 3 प्रतिशत भाग ही रिजर्व बैंक के पास नकद-कोष के रूप मे रखना होता है । परन्तु इस सशोधन के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दे दिया गया है कि वह यदि चाहे तो इस प्रतिशत को 3 से बढ़ाकर 15 तक कर सकता है। 14 अगस्त, 1973 को इस प्रतिशत को बढ़ाकर 7 कर दिया गया था लेकिन 29, जून, 1974 को इसे पुन घटाकर 5% कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह न्यूनतम प्रतिशत के अलावा अनुसूचित बैंको को कुछ और नकद-कोष जमा करने के लिए भी आदेश दे सकता है। रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण के उद्देश्य से नकद कोषो मे परिवर्तन करने की नीति का समय-समय पर उपयोग भी किया है। रिजर्व बैंक ने न्यूनतम कोष के अलावा अनुसूचित बैंको को अतिरिक्त नकद कोष जमा करने के लिए भी आदेश दिये हैं। इस प्रकार नकद कोष सम्बन्धी परिवर्तन की नीति को रिजर्व बैंक ने समय समय पर साख का नियन्त्रण करने के लिए अपनाया है।

रिजर्व बैंक ने कानूनी नकद कोष रीति को सन् 1976-77 मे भी दृढ़तापूर्वक अपनाया था। यह इसकी साख सकुचन नीति का प्रमुख अग था। तीव्र मौद्रिक प्रसार के वस्तु कीमतो पर पड़ने वाले दबाव को कम करने हेतु रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंको की लगभग 160 करोड़ रु० की धनराशि अवरुद्ध (impound) कर दी थी। 13 नवम्बर, 1970 से लागू एक आदेश के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको से कहा गया था कि अब वे अपनी कुल माँग एव समय देयताओ का 6 प्रतिशत भाग नकद कोषो के रूप मे रखें। इससे पूर्व उन्हे अपनी कुल देयताओ का केवल 5 प्रतिशत भाग ही नकदी के रूप मे रखना पड़ता था। सितम्बर 4, 1976 से पूर्व तो यह प्रतिशत 4 ही था। इस प्रकार 10 सप्ताहो से भी कम अवधि मे नकद कोष अनुपात को 4 से बढ़ाकर 6 प्रतिशत कर दिया गया था। अत रिजर्व बैंक ने अपनी स्फीति विरोधी नीति के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको की लगभग 300 करोड़ रु० की धनराशि को अवरुद्ध कर दिया था। 13 जनवरी, 1977 को तो रिजर्व बैंक ने अपनी स्फीति विरोधी नीति के अधीन एक अत्यन्त कठोर कदम उठाने की घोषणा की थी। इसके अनुसार 14 जनवरी, 1977 एव 1 अप्रैल 1977 के बीच अनुसूचित बैंको को प्राप्त होने वाली नवीन जमाराशियो का 10 प्रतिशत भाग पूर्णत अवरुद्ध कर दिया गया था। लेकिन इन जमाराशियो पर रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को 5 5 प्रतिशत वार्षिक ब्याज देने पर सहमत हो गया था।

(4) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)—चयनात्मक साख नियन्त्रण से अभिप्राय उस साख नियन्त्रण से है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक केवल कुछ निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही सदस्य बैंको को साख प्रदान करने के लिए आदेश देता है। दूसरे शब्दो मे चयनात्मक साख के नियन्त्रण के अन्तर्गत देश के सदस्य बैंक सभी प्रकार के उद्देश्यो के लिए व्यवसायियो को साख प्रदान नही करते। इसके विपरीत वे केवल कुछ निश्चित उद्देश्यो क लिए ही साख प्रदान करते हैं। वास्तव मे, एक नियोजित विकासशील अर्थ व्यवस्था मे चयनात्मक साख नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है, क्योकि ऐसी अर्थ- व्यवस्था मे कुछ उद्देश्यो को प्राथमिकता दी जाती है। अत ऐसे उद्देश्यों के लिए देश के सदस्य बैंको को उदार मात्रा मे साख देने के लिए कहा जाता है। देश का केन्द्रीय बैंक अनावश्यक एव अवांछनीय व्यवसायो के लिए सदस्य बैंको को साख देने की मनाही कर सकता है।

अन्य केन्द्रीय बैंको की भाँति रिजर्व बैंक भी विगत कुछ वर्षों से चयनात्मक साख नियन्त्रण का प्रयोग कर रहा है। उदाहरणार्थ, सन् 1956 मे भारत मे सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बहुत

प्रोत्साहन मिला था और इसी सट्टेबाजी के कारण देश के कीमत-स्तर में अत्यधिक वृद्धि हुई थी। अतः कीमत-वृद्धि को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दिया था कि वह सट्टेबाजी के लिए व्यवसायियों को साख प्रदान न करें। इसी तरह समय-समय पर भारतीय व्यवसायियों द्वारा खाद्य पदार्थों का संग्रह किये जाने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। इसको रोकने के लिए भी रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को आदेश दे रखे हैं कि वे खाद्य-पदार्थों की आड़ पर व्यापारियों को कम से कम मात्रा में ऋण एवं अग्रिम धन प्रदान करें। यदि वे खाद्य-पदार्थों के आधार पर ऋण देते भी हैं तो इसके लिए उन्हें ऋण देते समय आवश्यक सीमा (margin requirement) में वृद्धि कर देनी चाहिए। इसी प्रकार समय समय पर रिजर्व बैंक ने अन्य वस्तुओं के संग्रह को रोकने के लिए भी अनुसूचित बैंकों को इनकी आड़ पर कम मात्रा में ऋण देने के लिए आदेश दिये हैं। सन् 1971-72 में चीनी, गुड़ एवं खाडसारी के भावों में तेजी आयी थी। कीमतों की इस वृद्धि को रोकने एवं इन वस्तुओं के संग्रह को निरुत्साहित करने के लिए रिजर्व बैंक ने इन वस्तुओं के विरुद्ध दी जाने वाली पेशगियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। इन वस्तुओं के विरुद्ध दी जाने वाली पेशगियों पर 65 प्रतिशत मार्जिन (margin) रखने आदेश दिये गये थे। साथ ही ब्याज की न्यूनतम सीमा 12 प्रतिशत निर्धारित की गयी थी।

भारत में कार्यशील वर्तमान स्फीतिक प्रवृत्तियों के संदर्भ में चयनात्मक साख नियन्त्रण रीति का उपयोग रिजर्व बैंक द्वारा अधिकाधिक किया जा रहा है। 8 जुलाई, 1976 को कपास के विरुद्ध दिये जाने वाले ऋणों से सम्बन्धित मार्जिन (margins) बढ़ा दिये गये थे। 12 जनवरी, 1977 को तो रिजर्व बैंक ने सभी प्रकार की वस्तुओं के विरुद्ध दिये जाने वाले ऋणों से सम्बन्धित मार्जिनों में 10 प्रतिशत की सामान्य वृद्धि कर दी थी। वास्तव में, यह बहुत ही कठोर कदम था।

(5) नैतिक प्रभाव की नीति—उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक अन्य केन्द्रीय बैंकों की भाँति, साख का नियन्त्रण करने के लिए सदस्य बैंकों पर अपने नैतिक प्रभाव का उपयोग भी करता है। दूसरे शब्दों में, रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को समझा-बुझाकर अपनी निश्चित नीति का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक समय समय पर अनुसूचित बैंकों के प्रतिनिधियों की सभाएँ बुलाता है तथा उन्हें अपनी निश्चित नीति का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करता है। इसके अलावा रिजर्व बैंक समय समय पर अनुसूचित बैंकों को पत्र भेजकर भी उन्हें साख की मात्रा को नियमित करने का सुझाव देता रहता है। उदाहरणार्थ सितम्बर 1949 में रुपये के अवमूल्यन के बाद रिजर्व बैंक के गवर्नर ने देश के सभी प्रमुख बैंकों की मीटिंग बुलायी थी और उनसे अनुरोध किया था कि वे यथासम्भव सट्टे के लिए व्यवसायियों को साख प्रदान न करें।

रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति के अप्रभावी होने के मुख्य कारण—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, रिजर्व बैंक को अपनी साख नियन्त्रण नीति में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) स्वदेशी बैंकरों पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण का अभाव—भारत की बैंकिंग व्यवस्था में स्वदेशी बैंकरों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में देश की साख की अधिकांश पूर्ति स्वदेशी बैंकरों द्वारा ही की जाती है लेकिन इसके बावजूद रिजर्व बैंक का स्वदेशी बैंकरों पर बिलकुल नियन्त्रण नहीं है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा-बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि से बाहर ही रह जाता है। यही कारण है कि अपनी साख नियन्त्रण नीति में उसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(2) देश में सुसंगठित मुद्रा-बाजार का अभाव—जैसा हम पहले कह चुके हैं भारतीय मुद्रा बाजार का संगठन अत्यन्त दोषपूर्ण है। इसके मुख्य दो भागों के बीच सम्पर्क एवं सहयोग का लगभग पूर्ण अभाव है। इसी कारण इसमें ब्याज की दरों में भारी भिन्नता पायी जाती है। इसके अलावा, मुद्रा-बाजार की प्रचलित ब्याज की दरों के साथ बैंक दर का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। परिणामतः बाजार की दरें बैंक दर में हुए परिवर्तनों के साथ ही साथ उसी अनुपात नहीं बदलतीं और इस प्रकार रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति निष्प्रभाव (ineffective) ही रह जाती है।

(3) देश मे सुसंगठित बिल-बाजार का अभाव—जैसा कि हम पूर्व देख चुके है भारत म अभी बिल-बाजार का पूर्ण सगठन नही हो सका है। परिणामत भारतीय मुद्रा बाजार मे अच्छे बिलो का अभाव पाया जाता है। इसी कारण पुन कटौती की व्यवस्था अधिक लोकप्रिय नही हो सकी है। वास्तव मे यह बैंक दर के अप्रभावी होने का मुख्य कारण है

(4) बैंको के पास नकद-कोषो की बहुतायत—युद्ध और युद्धोत्तरकाल मे मुद्रा-स्फीति के कारण भारतीय बैंको की जमाराशियो मे भारी वृद्धि हुई है। रिजर्व बैंक के पास निश्चित अनुपात मे नकद-कोष रखने के उपरान्त भी बैंको के पास इतनी अधिक मात्रा मे जमाराशियाँ बनी रहती हैं कि इनकी सहायता से वे मनचाही मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते हैं। दूसरे शब्दो मे अनुसूचित बैंको को ऋण आदि के लिए रिजर्व बैंक पर निर्भर नही रहना पडता। अतएव ऐसी परिस्थिति मे रिजर्व बैंक की बैंक-दर नीति अधिक सफल नही हो सकती।

(5) भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे लोच का अभाव—केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि देश की अर्थ व्यवस्था मे पर्याप्त मात्रा मे लोच होनी चाहिए ताकि बैंक दर म किये गये परिवर्तनो के साथ कीमतो मजदूरियो तथा ब्याज की दरो मे भी परिवर्तन हो सके। **दुर्भाग्यवश** भारतीय अर्थ व्यवस्था मे लोच का लगभग अभाव सा ही है, जिसके फलस्वरूप बैंक दर मे किये गये परिवर्तनो के साथ कीमतो मजदूरियो तथा ब्याज की दरो मे आनुपातिक परिवर्तन नही होते। यही कारण है कि रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावपूर्ण नही हो सकी है।

साख नियन्त्रण नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा किये गये उपाय· अपनी साख नियन्त्रण नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने समय-समय पर कुछ उपाय किये है जिनमे से मुख्य मुख्य निम्नलिखित है

(1) इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण सन 1955 से पूर्व इम्पीरियल बैंक की साख नीति रिजर्व बैंक की घोषित साख नीति के ठीक अनुकूल नही हुआ करती थी क्योकि इम्पीरियल बैंक एक अत्यन्त साधन-सम्पन्न बैंक था और इसकी साख-नीति रिजर्व बैंक की साख-नीति से मेल नही खाती थी इसलिये अपनी साख नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का सुझाव प्रस्तुत किया था जो कि सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार रिजर्व बैंक की सफलता के मार्ग मे स्थित एक बड़ी बाधा को इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण द्वारा दूर कर दिया गया।

(2) अनुसूचित बैंको के नकद कोषों के अनुपात मे वृद्धि— जैसा हम पूर्व कह चुके है, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट 1934 के अन्तर्गत प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी माँग-देयताओ का 5 प्रतिशत तथा काल देयताओ का 2 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास नकद-कोष के रूप मे जमा करना पडता था। सन् 1956 मे अपनी साख नियन्त्रण नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंको के नकद कोषो मे वृद्धि के सुझाव को स्वीकार कर लिया। सितम्बर 1962 मे रिजर्व बैंक ने बैंको की कुल देयताओ का और अधिक भाग अपने पास नकद कोषो के रूप मे रखने का अधिकार प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार साख नियन्त्रण नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने समय समय पर अनुसूचित बैंको द्वारा रखे गये नकद कोषो के अनुपात मे वृद्धि की है।

(3) चयनात्मक साख नियन्त्रण नीति—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं अपनी साख नियन्त्रण नीति को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने चयनात्मक साख प्रणाली का भी आश्रय लिया है। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को यह आदेश दे सकता है कि वे किन किन व्यवसायो के लिए ऋण दे सकते है और किन-किन व्यवसायो के लिए नही। इस प्रणाली के अनुसार रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को यह भी आदेश दे सकता है कि वे विभिन्न प्रकार के व्यवसायो के लिए दिये गये ऋणो पर क्या क्या सीमाएँ (margins) निर्धारित करें और उन पर कितनी कितना ब्याज की दरें वसूल करें। वास्तव मे चयनात्मक साख नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति का एक शक्तिशाली अस्त्र होता है। परन्तु भारत मे रिजर्व बैंक की चयनात्मक साख नियन्त्रण नीति को कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुई क्योकि अनुसूचित बैंक

और व्यवसायी मिलकर कई तरीको से रिजर्व बैंक की इस नीति को निष्प्रभावी बना देते हैं। लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि रिजर्व बैंक की चयनात्मक साख नियन्त्रण नीति के परिणामस्वरूप सट्टेबाजी की प्रवृत्ति निरुत्साहित हुई है और व्यापारियो द्वारा कुछ आवश्यक वस्तुओं के संग्रह (hoarding) को रोकने मे सहायता मिली है।

(4) **बैंक-दर मे वृद्धि**—देश की अर्थ-व्यवस्था मे साख का समुचित नियन्त्रण करने हेतु रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अपनी बैंक-दर मे वृद्धि की है। जब रिजर्व बैंक का प्रारम्भ हुआ था तो उस समय रिजर्व बैंक की बैंक दर 3 प्रतिशत थी, परन्तु समय समय पर साख की मात्रा का सकुचन करने के लिए बैंक-दर मे वृद्धि की गयी है। 17 फरवरी, 1965 को रिजर्व बैंक की बैंक-दर 6 प्रतिशत थी। सन् 1966-67 मे भी बैंक-दर 6 प्रतिशत पर ही स्थिर रही। लेकिन 2 मार्च, 1968 को रिजर्व बैंक ने इसे घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया था। सन् 1971-72 मे बैंक-दर 6 प्रतिशत पर ही स्थिर रही। 30 मई, 1973 को रिजर्व बैंक ने बैंक-दर को बढाकर 7 प्रतिशत कर दिया था। 23 जुलाई 1974 को बैंक-दर को और अधिक बढाकर 9 प्रतिशत कर दिया गया था।

(5) **बिल-बाजार योजना का क्रियान्वयन**—16 जनवरी, 1952 को बिलो के प्रयोग को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने अपनी बिल-बाजार योजना को क्रियान्वित किया था। इस योजना के परिणामस्वरूप भारतीय मुद्रा-बाजार मे बिलो की सख्या मे कुछ वृद्धि हो गयी है जिसके कारण रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण बन गयी है।

(6) **रिजर्व बैंक द्वारा साख सम्बन्धी सूचनाओ का आदान प्रदान**—कुछ समय पूर्व भारतीय बैंक अपने ग्राहको को दी जाने वाली साख की सूचना अन्य बैंको को नही दिया करते थे जिसका परिणाम यह होता था कि चालाक व्यवसायी विभिन्न बैंकिंग सस्थाओ से कुल मिलाकर अपनी क्षमता से अधिक ऋण ले लिया करते थे। इस त्रुटि को दूर करने के लिये सन् 1962-63 से रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंको को साख सूचनाएँ देना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार की सूचनाओ की सहायता से अनसूचित बैंको को साख का समुचित नियन्त्रण करने मे बड़ी सहायता मिलती है।

रिजर्व बैंक और स्वदेशी बैंकर्स

यद्यपि स्वदेशी बैंकर्स भारतीय मुद्रा-बाजार के महत्वपूर्ण अंग हैं तथापि उनके कार्यों पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नही है। परिणामत रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति अधिक कारगर सिद्ध नही हो सकती है। सन 1934 मे रिजर्व बैंक के निर्माणकर्ताओ ने इस बात को भलीभांति अनुभव किया था कि अपनी साख नियन्त्रण नीति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रिजर्व बैंक को शीघ्रातिशीघ्र स्वदेशी बैंकरो पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे यह वैधानिक व्यवस्था कर दी गयी थी कि अपनी स्थापना के 3 वर्षों के भीतर रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरो पर अपना नियन्त्रण लागू करने सम्बन्धी रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध मे सन् 1937 मे रिजर्व बैंक ने एक योजना भी बनायी थी। इस योजना के अन्तर्गत स्वदेशी बैंकरो के कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे। परन्तु इनके साथ ही रिजर्व बैंक की ओर से उन्हे कुछ सुविधाएँ भी प्रदान की गयी। दुर्भाग्यवश स्वदेशी बैंकरो ने इन योजना को स्वीकार नही किया। सन् 1938 मे रिजर्व बैंक ने स्वदेशी बैंकरों को सगठित बैंकिंग व्यवस्था मे लाने का पुन प्रयास किया था किन्तु उसे भी अधिक सफलता न मिल सकी। सन 1941 मे स्वदेशी बैंकरो को बैंकिंग व्यवस्था मे सम्मिलित करने के लिए दूसरी योजना बनायी गयी। परन्तु दुर्भाग्यवश स्वदेशी बैंकरो ने इसे भी अस्वीकार कर दिया था। इसके बाद रिजर्व बैंक द्वारा कोई अन्य प्रयास नही किया गया है। वर्तमान स्थिति यह है कि स्वदेशी बैंकर्स आज भी रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि से बाहर है। वास्तव मे, रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति की असफलता का मुख्य कारण यही है।

रिजर्व बैंक और अनुसूचित बैंक

(Reserve Bank and Scheduled Banks)

भारत मे व्यापारिक बैंको को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जाता है—(क) अनुसूचित

बैंक, (ख) असूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)। अनुसूचित बैंक वे बैंक हैं जिन्हे रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट की दूसरी सारणी में सम्मिलित कर लिया गया है। अनुसूचित बैंक केवल वही बैंक हो सकता है जो निम्नलिखित शर्तों को पूरा करता हो

(1) उसकी चुकती-पूंजी (paid up capital) तथा प्रारक्षित निधि (reserves) 5 लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए।

(2) उसकी कार्य प्रणाली जमाकर्ताओं के हितों के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार, यदि किसी बैंक की चुकती पूंजी एवं प्रारक्षित निधि 5 लाख रुपयों से कम है अथवा उसका निस्तारण (liquidation) हो जाता है अथवा यह बैंकिंग व्यवसाय करना बन्द कर देता है अथवा उसकी नीति जमाकर्ताओं के हितों के विपरीत सिद्ध होती है तो ऐसी परिस्थिति में रिज़र्व बैंक उस बैंक का नाम द्वितीय सारणी से निकाल सकता है।

अनुसूचित बैंको को अपनी जमाराशियों का एक निश्चित भाग रिज़र्व बैंक के पास नकद-कोष के रूप में रखना पड़ता है। यदि कोई अनुसूचित बैंक इस नियम की अवहेलना करता है तो रिज़र्व बैंक दण्डनीय ब्याज (Penalty interest) वसूल कर सकता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक अनुसूचित बैंक को रिज़र्व बैंक तथा भारत सरकार को अपना साप्ताहिक विवरण-पत्र (weekly statement) भेजना पड़ता है। इस विवरण-पत्र में बैंक की वित्तीय स्थिति के बारे में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की जाती है।

रिज़र्व बैंक अनुसूचित बैंको को निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान करता है

(1) अनुसूचित बैंक रिज़र्व बैंक से स्वीकृत व्यापारिक बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों की पुन कटौती करा सकते हैं।

(2) अनुसूचित बैंक रिज़र्व बैंक से सरकारी प्रतिभूतियों, बिलों तथा सोने चाँदी के आधार पर ऋण प्राप्त कर सकते हैं।

(3) रिज़र्व बैंक अनुसूचित बैंको को समाशोधन-गृह (Clearing House) की सुविधाएँ प्रदान करता है।

(4) रिज़र्व बैंक अनुसूचित बैंको को सस्ती दरो पर स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएँ (Remittance Facilities) प्रदान करता है।

(5) रिज़र्व बैंक संकट के समय अनुसूचित बैंको को उपयुक्त परामर्श एवं आर्थिक सहायता भी देता है।

रिज़र्व बैंक तथा असूचित बैंक (Reserve Bank and Non-Scheduled Banks)—असूचित बैंक वे बैंक हैं जिन्हे रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की दूसरी सारणी में सम्मिलित नहीं किया गया है। असूचित बैंक प्राय छोटे-छोटे स्थानीय-बैंक होते हैं जिनकी चुकती-पूंजी एवं प्रारक्षित निधि 5 लाख रुपये से कम होती है। साधारणत. इस प्रकार के बैंको का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित होता है। परन्तु इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को इन बैंको के साथ भी अपना सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है। रिज़र्व बैंक स्वीकृत असूचित बैंको (approved non scheduled banks) को स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएँ (Remittance Facilities) भी प्रदान करता है। इन बैंको को बैंकिंग नियम अधिनियम 1949 के अन्तर्गत अपना मासिक विवरण (monthly statement) रिज़र्व बैंक को अनिवार्य रूप से भेजना पड़ता है। इन्हे भी अपनी जमाराशियों का एक निश्चित भाग रिज़र्व बैंक के पास नकद-कोष के रूप में रखना पड़ता है।

रिज़र्व बैंक तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया
(Reserve Bank and State Bank of India)

जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गयी थी। राष्ट्रीयकरण से पूर्व रिज़र्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक के बीच हुए एक समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक रिज़र्व बैंक के एजेण्ट का काम करता

था। 1 जुलाई 1955 के बाद भी स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया उन सभी स्थानों पर रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप में कार्य करता है जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखाएं नहीं हैं।

रिजर्व बैंक और कृषि-वित्त
(Reserve Bank and Agricultural Finance)

चूंकि कृषि भारत का प्रमुख धन्धा है, अतः रिजर्व बैंक ने कृषि-वित्त के लिए विशेष व्यवस्था कर रखी है। प्रारम्भ से ही कृषि वित्त के विकास हेतु रिजर्व बैंक ने कृषि-साख विभाग की स्थापना कर दी थी। इस विभाग का मुख्य कार्य कृषि-वित्त से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन एवं अनुसन्धान करना है।

रिजर्व बैंक ने दो राष्ट्रीय कोषों की स्थापना की है

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष [National Agricultural Credit (Long-Term Operations) Fund] 3 फरवरी, 1956 को स्थापित किया गया था।

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] को 30 जून 1956 को स्थापित किया गया था। दोनों ही कोषों की स्थापना देश में कृषि-वित्त की पूर्ति को बढ़ाने के लिए की गई थी।

स्मरण रहे, रिजर्व बैंक किसानों को कृषि-साख प्रत्यक्षतः नहीं देता। रिजर्व बैंक प्रथमतः ऋण सहकारी संस्थाओं को देता है और वे आगे चलकर ये ऋण किसानों को देते हैं। राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष की स्थापना 10 करोड़ रुपये की मूल राशि से की गई थी। रिजर्व बैंक ने भी 5 करोड़ रु० का अपना प्रथम वार्षिक अशदान दिया था। राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायीकरण) कोष की स्थापना 1 करोड़ रु० की मूल राशि से की गई थी। राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष का उद्देश्य राज्य सरकारों को निम्नलिखित उद्देश्यों हेतु ऋण देना है—(i) सहकारी बैंकों एवं प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की शेयर पूँजी में भाग लेना—(ii) कृषि-उद्देश्यों के लिए राज्य सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण देना (iii) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों (debentures) को खरीदना एवं उन्हें दीर्घकालीन ऋण देना।

इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायीकरण) कोष का उद्देश्य राज्य सहकारी बैंकों को निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए मध्यमकालीन ऋण देना है (i) सूखा एवं बाढ़ आदि के समय किसानों के अल्पकालीन ऋणों को मध्यमकालीन ऋणों में परिवर्तित करने के लिए (ii) कृषि कार्यों का वित्तपोषण करने के लिए।

30 जून, 1975 को राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष में कुल धनराशि 334 करोड़ रु० के तुल्य थी। इसी प्रकार इसी तिथि को राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष में 140 करोड़ रुपये की धनराशि थी। रिजर्व बैंक ने विगत 15 वर्षों में राज्य सरकारों को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष में से पर्याप्त बड़े ऋण दिये हैं। ये ऋण उन्हें सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी में भाग लेने के लिए दिये गये थे। सन् 1960 61 में इन ऋणों की कुल राशि 3 23 करोड़ रुपये थी लेकिन सन् 1974-75 में यह बढ़कर 8 37 करोड़ रु० हो गयी थी। इस कोष में से रियायती दरों पर मौसमी कृषि सम्बन्धी कार्यों एवं फसलों के विपणन का वित्तपोषण करने हेतु राज्य सहकारी बैंकों को अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण भी दिये गये हैं। अल्पकालीन ऋण बैंक-दर से 2 प्रतिशत कम की रियायती दर पर दिये गये थे जबकि मध्यमकालीन ऋण बैंक दर से 1½ प्रतिशत कम दर पर प्रदान किये गये थे। सन् 1960-61 में रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों को दिये गये अल्पकालीन ऋणों की कुल राशि 110 6 करोड़ रुपये थी लेकिन सन् 1974-75 में यह बढ़कर 489 52 करोड़ रु० हो गयी थी। इसी प्रकार राज्य सहकारी बैंकों को दिये गये मध्यमकालीन ऋणों की राशि सन् 1960 61 में 4 68 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1974-75 में 9·87 करोड़ रुपये हो गयी थी। कपास की बिक्री का वित्तपोषण करने के लिए भी रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को अल्पकालीन ऋण देता रहा है। सन् 1974 75 में रासायनिक खाद की खरीद एवं उसके वितरण के लिए भी रिजर्व बैंक ने 28·20 करोड़ रुपये स्वीकार किये थे।

रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष मे से राज्य सहकारी बैंको को मध्यमकालीन ऋण इस उद्देश्य के लिए दिये हैं कि सूखा-ग्रस्त क्षेत्रो मे वे अपने द्वारा दिये गये अल्पकालीन ऋणो को मध्यमकालीन ऋणो मे परिवर्तित कर सके। सन् 1965 66 म इस कोष से दिये गये मध्यमकालीन ऋणो की कुल राशि 4 82 करोड रु० थी जो सन् 1974-75 मे बढकर 81 32 करोड रु० हो गयी थी।

कृषि-उद्दश्यो के लिए दिये गये अल्पकालीन एव मध्यमकालीन ऋणो के अतिरिक्त, रिजर्व बैंक विगत वर्षों म केन्द्रीय भूमि विकास बैंको को दीर्घकालीन ऋण भी देता रहा है। रिजर्व बैंक उनके द्वारा जारी किये गये ऋण पत्रो (debentures) को खरीदता रहा है। 30 जून, 1975 को रिजर्व बैंक ने इन ऋण-पत्रो मे 11 करोड रु० की धनराशि लगा रखी थी।

सन 1963 म रिजर्व बैंक ने अपने तत्वावधान मे कृषि पुनर्वित्त निगम स्थापित किया था। इस अब कृषि पुनर्वित्त एव विकास निगम (Agricultural Refinance and Development Corporation) कहा जाता है। इस निगम का उद्देश्य कृषि लघु सिचाई पशुपालन, मुर्गीपालन, मछलीपालन, दुग्ध डेरियो आदि के त्वरित विकास हेतु मध्यमकालीन एव दीर्घकालीन ऋण देना है। निगम इस प्रकार के ऋण या तो प्रत्यक्षत और या पुनर्वित्त के माध्यम स प्रदान करता है। इस निगम की प्रदत्त-पूंजी 5 करोड रु० है। रिजर्व बैंक केन्द्रीय भूमि विकास बैंक, राज्य सहकारी बैंक अनुसूचित बैंक जीवन बीमा निगम इसके अशधारी (Shareholders) हैं। रिजर्व बैंक न सन 1974 75 मे 40 करोड रु० एव 1975 76 मे 60 करोड रु० के दीर्घकालीन ऋण इस निगम का दिये थ।

रिजर्व बैंक ने दो अन्य एजेन्सियो को स्थापित करने मे भी पहल की थी—(i) सीमान्त किसान एव कृषि श्रम एजेन्सी (The Marginal Farmers and Agricultural Labour or MFAL) (ii) लघु किसान विकास एजेन्सी (The Small Farmers Development Agency SFDA)। ये दोनो ही एजेन्सियाँ छोटे किसानो, भूमिहीन श्रमिको एव ग्रामीण समाज के अन्य कमजोर वर्गों को ऋण-सुविधाएँ देती हैं।

इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंको को भी प्रोत्साहित करता है कि कृषि विकास की परियोजनाओं का वित्तपोषण करने म वे सक्रिय भाग ले। रिजर्व बैंक ने इन बैंको को इस बात के लिए भी राजी कर लिया है कि वे केन्द्रीय भूमि विकास बैंको के ऋण पत्रो मे धन लगायें। सन् 1970 म रिजर्व बैंक ने एक योजना निकाली थी जिसके अन्तर्गत देश के 11 राज्यो मे व्यापारिक बैंको को आदेश दिया गया था कि वे प्रारम्भिक कृषि साख समितियो को ऋण दे। 31 दिसम्बर 1975 को इस योजना मे 22 व्यापारिक बैंक भाग ले रहे थे और उन्ह सन् 1975 की खरीफ फसल के लिए 12 6 करोड रु० और सन 1975 76 की रबी फसल के लिए 2 4 करोड रु० के अल्पकालीन ऋण 1813 समितियो को दिये थे। इन बैंको ने 31 दिसम्बर, 1975 तक 70 9 लाख रु० के मध्यमकालीन ऋण भी दिये थे।

रिजर्व बैंक तथा औद्योगिक वित्त
(Reserve Bank and Industrial Finance)

रिजर्व बैंक ने सन् 1957 मे एक पृथक औद्योगिक वित्त विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग का मुख्य काय देश म दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने मे सहायता देना है। अतएव इस विभाग ने दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करने वाली सस्थाओ की स्थापना मे बहुमूल्य सहयोग दिया है। औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना म रिजर्व बैंक ने आर्थिक एव सगठनात्मक दोनो ही प्रकार की सहायता दी है। सन् 1975-76 मे इसकी प्रदत्त पूंजी 10 करोड रुपये थी। इसमे रिजर्व बैंक का पर्याप्त अशदान था। रिजर्व बैंक इस निगम को नीति सम्बन्धी विषयो पर भी परामर्श देता है। रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त निगम को अल्पकालीन मध्यकालीन एव दीर्घकालीन तीनो ही प्रकार के ऋण दे सकता है। सन् 1975-76 मे इस निगम ने उद्योग धन्धो को 221 98 करोड रु० ऋण एव पेशगियो के रूप मे दे रखे थे।

इसके अलावा, रिजर्व बैंक ने विभिन्न राज्यो मे स्थापित किये गये राज्य वित्त निगमो (State Finance Corporations) की शेयर पूंजी मे भी भाग लिया है। सन् 1974 75 मे

इन निगमो की कुल चुकती पूंजी 29·07 करोड रु० थी। इन निगमो की चुकती-पूंजी मे रिजर्व बैंक ने लगभग 2 43 करोड रुपये लगाये हैं। रिजर्व बैंक इन निगमो को अल्पकालीन, मध्यमकालीन एव दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान करता है। सन् 1974-75 मे रिजर्व बैंक ने इन निगमो को 9 8 करोड रु० के ऋण दे रखे थे। इस समय इन निगमो की सख्या 18 है। सन् 1974-75 मे इन्होने उद्योग-धन्धो को 275 83 करोड रुपये की वित्तीय सहायता दी थी।

उपर्युक्त निगमो के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने पुर्नवित्त निगम (Refinance Corporation) तथा औद्योगिक साख एव निवेश निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना मे भी महत्वपूर्ण योग दिया है। इन दोनो निगमो ने अपने वित्तीय साधनो मे वृद्धि करने के लिए समय-समय पर रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता प्राप्त की है। 1 सितम्बर 1964 को पुर्नवित्त निगम का औद्योगिक विकास बैंक मे विलय कर दिया गया था। औद्योगिक साख एव निवेश निगम की स्थापना, जनवरी 1955 मे हुई थी। सन् 1975-76 मे इसकी प्रदत्त पूंजी 15 करोड रुपये थी। इसका उद्देश्य निजी खण्ड मे उद्योग-धन्धो को ऋण देना है। सन् 1975-76 मे इसने उद्योग धन्धो को 242 करोड रु० के ऋण दे रखे थे। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको को उदार साख सुविधाएं देकर उन्हे छोटे-छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योग-धन्धो को वित्तीय सहायता देने के लिए भी प्रोत्साहित करता है। 1 जुलाई, 1960 को भारत सरकार ने एक साख गारण्टी परियोजना (Credit Guarantee Scheme) लागू की थी। इसका उद्देश्य लघु-उद्योगो को ऋण देने वाली सस्थाओ को सम्भावित हानि के विरुद्ध गारण्टी देना है, ताकि लघु-उद्योगो को अधिकाधिक मात्रा मे साख उपलब्ध हो सके। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक के प्रबन्ध मे ही भारत सरकार की ओर से एक साख गारण्टी सगठन बनाया गया था। 30 जून, 1976 को साख गारण्टी योजना मे भाग लेने वाले बैंको की सख्या 233 थी। 30 जून 1975 को इस संगठन द्वारा दी गयी गारण्टियो का कुल मूल्य 1726 करोड रु० था। लेकिन 30 जून, 1976 को यह बढकर 1950 करोड रु० हो गया था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि छोटे-छोटे उद्योगो को दी जाने वाली सस्थागत साख (institutional credit) के प्रवाह मे निरन्तर वृद्धि हुई है।

जुलाई 1964 मे भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) की स्थापना की गयी थी। इस बैंक की कुल प्रारम्भिक पूंजी (जो 10 करोड रुपये थी) की व्यवस्था रिजर्व बैंक द्वारा ही की गयी थी। सन् 1975-76 मे इसकी चुकती-पूंजी 50 करोड रु० थी। इस बैंक का उद्देश्य भी देश के औद्योगिक विकास मे सहायता देना है। यह बैंक औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली अन्य एजेन्सियो के कार्यों का समन्वय भी करता है। 1 सितम्बर 1964 को पुर्नवित्त निगम का इस बैंक मे विलय (merge) कर दिया गया था। 16 फरवरी, 1976 को औद्योगिक विकास बैंक का रिजर्व बैंक से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था। इसे भारत सरकार के स्वामित्व मे एक स्वायत्त शासी (autonomous) निगम बना दिया गया था। इस बैंक द्वारा उद्योग धन्धो को दी गयी कुल ऋण-सहायता सन् 1975 76 मे 411 26 करोड रु० थी।

इसके अतिरिक्त, सन् 1964 65 मे रिजर्व बैंक अधिनियम मे सशोधन द्वारा देश के बडे उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए एक विशेष कोष स्थापित किया गया था जिसका नाम राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष (National Industrial Credit Long Term Fund) रखा गया था। इस कोष मे रिजर्व बैंक ने 15 करोड रुपये डालने की व्यवस्था की थी। इस कोष का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास बैंक को ऋण देना है। 30 जून, 1975 को इस कोष स दिये गये ऋणो की कुल राशि 264 64 करोड रु० थी।

फरवरी 1963 मे यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया (Unit Trust of India) की स्थापना की गयी थी। इसकी प्रारम्भिक पूंजी 2 5 करोड रुपये थी। यह समूची पूंजी रिजर्व बैंक ने दी थी। 16 फरवरी, 1976 से पूर्व यह ट्रस्ट रिजर्व बैंक से सम्बन्धित था। लेकिन इस तिथि से इसका सम्बन्ध भारत के औद्योगिक विकास बैंक से जोड दिया गया था। इसकी 2 5 करोड रु० की प्रारम्भिक पूंजी औद्योगिक विकास बैंक को सौप दी गई है। यह ट्रस्ट दस-दस रुपये के यूनिट बेचकर निवेशकर्ताओ के विभिन्न वर्गों मे बचतो को प्रोत्साहित करता है। इस प्रकार लोगो से एकत्रित धन-राशि को यह ट्रस्ट उद्योग-धन्धो मे लगाता है। यह ट्रस्ट न केवल यूनिटो को बेचता है बल्कि एक

निश्चित कीमत पर उन्हे खरीद भी लेता है। सन् 1974-75 मे ट्रस्ट ने 16 7 करोड़ रुपये के यूनिट बेचे थे जबकि पूर्वगामी वर्ष मे यह राशि 30 3 करोड़ रु० थी। इस वर्ष ट्रस्ट ने यूनिट धारियो को 8 6 प्रतिशत लाभांश की घोषणा की थी। सन् 1974-75 म U T I को काफी बडे आघात का सामना करना पड़ा था। Units की बिक्री मे कमी का मुख्य कारण यह था कि बैंको की ब्याज दरो मे वृद्धि के कारण Units के आकर्षण मे कमी हो गई थी। निम्न एव मध्यम वर्गों मे बचतो को प्रोत्साहित करने हेतु ट्रस्ट ने 1 जुलाई 1969 को एक नयी योजना लागू की थी, इसे ऐच्छिक बचत योजना (Voluntary Saving Plan) कहते हैं। इस योजना के अन्तगत निम्न एव मध्यम वर्ग के लोग अपनी सुविधानुसार छोटी छोटी राशियाँ यूनिट खरीदने मे लगा सकते हैं।

लेकिन 1975-76 मे ट्रस्ट की वित्तीय स्थिति मे पर्याप्त सुधार हुआ था। यूनिटो की बिक्री मे वृद्धि हुई थी। इस सुधार का मुख्य कारण यह था कि भारत सरकार ने यूनिट धारियो को यूनिटो मे लगायी गयी पूंजी पर आय कर एव सम्पत्ति कर से कुछ छूट देने की घोषणा की थी। 30 जून, 1975 को औद्योगिक, वित्तीय एव सार्वजनिक उपयोगिताओ सम्बन्धी व्यवसायो को इस ट्रस्ट ने 170 करोड़ रु० के ऋण दे रखे थे।

रिजर्व बैंक की सफलताएँ
(Achievements of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक की स्थापना लगभग 42 वर्ष पहले हुई थी। इस अवधि मे रिजर्व बैंक ने अपने कार्यक्षेत्र मे कुछ सफलताएँ प्राप्त की हैं जो इस प्रकार हैं

(1) **सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy)**—रिजर्व बैंक ने अपने जीवनकाल मे यथासम्भव सुलभ मुद्रा नीति अपनाने का ही प्रयत्न किया है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व बैंक दर को घटाकर 3 प्रतिशत कर दिया गया था। सन् 1951 तक रिजर्व बैंक की बैंक दर 3 प्रतिशत पर ही स्थिर रही थी। वास्तव मे इस सुलभ मुद्रा नीति से देश की अर्थ व्यवस्था को बहुत लाभ हुआ है। परन्तु सन 1951 मे मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए बैंक दर को $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया गया था। आगे चलकर समय-समय पर बैंक-दर मे वृद्धि की गयी है। इस समय (1977) रिजर्व बैंक की बैंक-दर 9 प्रतिशत है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए यह दर ऊँची नही कही जा सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रिजर्व बैंक ने विगत 42 वर्षों मे यथासम्भव सुलभ मुद्रा नीति का ही अनुसरण किया है।

(2) **नोट निर्गमन नीति (Note issue Policy)**—सन् 1935 से लेकर सन् 1956 तक रिजर्व बैंक ने आनुपातिक नोट निगमन प्रणाली के आधार पर कागजी मुद्रा का निर्गमन किया था और इस प्रकार कागजी नोटो के पीछे पर्याप्त धातु कोष बनाये रखा परन्तु सन 1956 मे रिजर्व बैंक ने आनुपातिक निर्गमन प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष निधि प्रणाली को अपना लिया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की कागजी मुद्रा मे पर्याप्त मात्रा मे लोच (elasticity) उत्पन्न हो गयी है। वास्तव मे यह प्रणाली भारत जैसे विकासशील देश के लिए अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई है।

(3) **स्फीति नियन्त्रण नीति (Inflation Control Policy)**—विगत कई वर्षों से देश मे प्रचलित मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित एव नियमित करने के लिए भी रिजर्व बैंक ने समय समय पर कई कदम उठाये हैं। इसने विशेषकर चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) प्रणाली द्वारा देश के कीमत स्तर को नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि रिजर्व बैंक को मुद्रा स्फीति का सामना करने में कोई विशेष सफलता नही मिली है। परन्तु यदि रिजर्व बैंक न होता तो मुद्रा स्फीति सम्बन्धी परिस्थिति और भी अधिक भयानक हो सकती थी।

(4) **ब्याज की दरो मे स्थिरता**—रिजर्व बैंक ने देश की व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार साख का विस्तार एव सकुचन करके ब्याज की दरो मे स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। यह सत्य है कि भारतीय मुद्रा बाजार मे आज भी ब्याज की दरो मे सामयिक परिवर्तन होते रहते है परन्तु इन परिवर्तनो का अनुपात पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गया है। इसका

श्रेय रिजर्व बैंक को ही है। लेकिन जुलाई सन् 1974 म देश की असाधारण स्फीतिक स्थिति को देखते हुए ब्याज की दरों मे असाधारण वृद्धि कर दी गई थी।

(5) **सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था** -सरकार का अभिकर्ता (agent) होने के नाते रिजर्व बैंक ने सार्वजनिक ऋण का बहुत ही अच्छा एव सराहनीय प्रबन्ध किया है। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक ने समय समय पर अल्पकालीन ऋण देकर सरकार को वित्तीय कठिनाइयो से भी बचाया है।

(6) **रिजर्व बैंक ने बैंको का बैंक होने के नाते भी सराहनीय कार्य किया है**—रिजर्व बैंक बैंको का अन्तिम ऋणदाता है और सकट के समय उन्हे ऋण एव अग्रिमो के रूप मे सहायता भी प्रदान करता है। रिजर्व बैंक ने कई बैंको को सकट के समय फेल होने से बचाया है।

(7) **औद्योगिक वित्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक ने छोटे व बडे उद्योगो के लिए वित्त की व्यवस्था करने की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त निगम राज्य वित्त निगमो एव औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना मे सगठनात्मक एव आर्थिक सहायता प्रदान की है। इस तरह रिजर्व बैंक ने भारतीय मुद्रा-बाजार की एक भारी त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न किया है।

(8) **कृषि वित्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक ने अपने कृषि साख विभाग के माध्यम से कृषि साख के लिए विशेष व्यवस्था कराने का प्रयत्न किया है और इस कार्य मे इसे पर्याप्त सफलता भी मिली है। वास्तव मे रिजर्व बैंक ने विभिन्न राज्यो मे सहकारिता आन्दोलन को पुनर्गठित एव सुदृढ करने म महत्वपूर्ण योग दिया है।

(9) **धन के स्थानान्तरण की सस्ती सुविधाएँ**—रिजर्व बैंक ने सरकार अनुसूचित बैंको एव सहकारी बैंको को धन का स्थानान्तरण करने सम्बन्धी सस्ती सुविधाएँ प्रदान की हैं। रिजर्व बैंक की सहायता से सदस्य बैंक बहुत कम व्यय पर रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकते है।

(10) **साख नियन्त्रण नीति** रिजर्व बैंक ने विभिन्न उपायो को अपनाकर देश मे साख की मात्रा का नियन्त्रण एव नियमन करने का प्रयत्न किया है और इस सम्बन्ध मे इसे कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। विशेषकर रिजर्व बैंक के चयनात्मक साख नियन्त्रण के कारण कृषि पदार्थो मे किये जाने वाले सट्टे पर रोक लगी है और अन्य आवश्यक वस्तुओ की कीमतो को नियन्त्रित करने मे भी कुछ सहायता मिली है।

(11 **रुपये के बाह्य मूल्य मे स्थिरता**—विगत 42 वर्षों मे रिजर्व बैंक रुपये के बाह्य मूल्य मे स्थिरता स्थापित करने मे पर्याप्त सफल हुआ है। जैसा विदित है भारतीय रुपये का स्टर्लिंग मूल्य विगत कई वर्षों से 1 शिलिंग 6 पेंस की दर पर स्थिर रहा है। इसका श्रेय भी रिजर्व बैंक को ही है। लेकिन जैसा पूर्व कहा गया है 6 जून 1966 को भारत सरकार ने अपनी ओर से निर्णय करके रुपये के बाह्य मूल्य को घटा दिया था।

(12) **बैंकिंग का विकास** रिजर्व बैंक ने देश म बैंकिंग का समुचित विकास करने मे भी बहुमूल्य सहायता दी है। रिजर्व बैंक ने कानून के अन्तर्गत दिये गये अपने अधिकारो का उचित उपयोग करके देश म एक सुव्यवस्थित एव सुदृढ बैंकिंग व्यवस्था की नीव रखी है। इसने दुर्बल एव गैर आर्थिक बैंको के एकीकरण (amalgamation) को प्रोत्साहित करके बैंकिंग व्यवस्था को और अधिक सुदृढ बनाने का प्रयत्न किया है।

(13) **बिल बाजार की स्थापना**—सन 1952 म रिजर्व बैंक ने अपनी बिल-बाजार योजना को क्रियान्वित करके देश मे एक सुसगठित बिल बाजार की स्थापना करने का प्रयत्न किया था और इसमे इसे आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

(14) **समाशोधन व्यवस्था**—रिजर्व बैंक ने देश के लगभग 82 केन्द्रो मे समाशोधन व्यवस्था (clearing arrangements) की है। इससे बैंको द्वारा लेन देन बहुत सरल एव सुविधाजनक हो गया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक देश म चैकों के प्रयोग को लोकप्रिय बनाने म सफल हुआ है।

(15) **आर्थिक आंकड़ों का संग्रह एवं प्रकाशन**—रिजर्व बैंक ने मुद्रा, साख, बैंकिंग, सहकारिता, कृषि एवं औद्योगिक-उत्पादन से सम्बन्धित आंकड़ों एवं तथ्यों का संकलन करके समय-समय पर रिपोर्टों के रूप में उनका प्रकाशन किया है। वास्तव में रिजर्व बैंक का यह कार्य देश की आर्थिक समस्याओं को समझने एवं उनका समाधान करने में बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ
(Failures of the Reserve Bank)

ये इस प्रकार है

(1) **मुद्रा बाजार में समन्वय का अभाव**—रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी असफलता यह है कि यह मुद्रा बाजार के दो मुख्य अंगों के बीच समन्वय एवं एकीकरण स्थापित करने में असफल रहा है। स्वदेशी बैंकर आज भी रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि से बाहर हैं। वास्तव में, स्वदेशी बैंकरों की वर्तमान पृथकत्व की स्थिति भारत में बैंकिंग व्यवस्था के समुचित विकास के हित में नहीं है।

(2) **ब्याज की दरों में समानता का अभाव**—मुद्रा बाजार में समन्वय एवं एकीकरण के अभाव के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में आज भी ब्याज की दरों में भारी भिन्नता पायी जाती है। मुद्रा-बाजार के संगठित भाग से बाहर स्वदेशी बैंकर साहूकार एवं महाजन लोग बहुत ऊँची-ऊँची दरों पर ऋण देते हैं और बैंक दर का इनकी ब्याज-दरों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में, यह रिजर्व बैंक की भारी असफलता ही मानी जा सकती है।

(3) **बिल-बाजार के विकास में असफलता**—यह सत्य है कि सन् 1952 में रिजर्व बैंक ने देश में बिल बाजार का विकास करने हेतु अपनी योजना को क्रियान्वित किया था। परन्तु इसके बावजूद भारत में बिल-बाजार का समुचित विकास नहीं हो सका है। आज भी मुद्रा-बाजार में अच्छे एवं कटौती-योग्य बिलों (Discountable Bills) का भारी अभाव पाया जाता है।

(4) **कृषि-साख का अपर्याप्त विकास**—यद्यपि रिजर्व बैंक ने कृषि-साख में विस्तार के लिए अनेक कदम उठाये हैं, लेकिन फिर भी देश में कृषि साख की समुचित एवं पर्याप्त व्यवस्था नहीं की जा सकी है। किसानों को आज भी उचित दरों पर तथा पर्याप्त मात्रा में कृषि कार्यों के लिए साख उपलब्ध नहीं होती।

(5) **बैंकिंग सुविधाओं की अपर्याप्तता**—यद्यपि विगत कुछ वर्षों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार हुआ है और कई स्थानों पर बैंकों की शाखाएँ खोली गयी हैं लेकिन फिर भी देश के आकार एवं जनसंख्या को देखते हुए वर्तमान बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त नहीं हैं। आज भी देश में बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ पर बैंकों का पूर्ण अभाव है। रिजर्व बैंक इस कमी को पूर्णतः दूर करने में सफल नहीं हो सका है।

(6) **रुपये के आन्तरिक मूल्य में अस्थिरता**—रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी असफलता तो रुपये के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता का अभाव है। विगत कई वर्षों से निरन्तर मुद्रा स्फीति के परिणामस्वरूप देश के कीमत स्तर में भारी वृद्धि अथवा रुपये के आन्तरिक मूल्य में भारी कमी हुई है। इस मुद्रा स्फीति का देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। यद्यपि रिजर्व बैंक ने कई प्रकार के स्फीति विरोधी उपाय (Anti-inflationary Measures) अपनाये हैं, लेकिन इनके बावजूद स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है और रुपये का आन्तरिक मूल्य निरन्तर गिरता जा रहा है।

(7) **भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उचित भाग दिलाने में असफलता**—यद्यपि विगत कुछ वर्षों से भारतीय मिश्रित पूँजी बैंक विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रविष्ट होने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु अभी तक उन्हें इस दिशा में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। पहले की भाँति विदेशी विनिमय व्यवसाय में आज भी विदेशी बैंकों का लगभग पूर्ण एकाधिकार है। रिजर्व बैंक इस एकाधिकार को समाप्त करने तथा भारतीय बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका उचित भाग दिलाने में लगभग असफल ही रहा है।

(8) **बैंकिंग संकटों से बैंकों को बचाने में असफलता**—जब रिजर्व बैंक की स्थापना हुई थी तो उस समय यह आशा की गयी थी कि रिजर्व बैंक, बैंकों को समय-समय पर आने वाले बैंकिंग सकटों से बचाने का प्रयत्न करेगा, परन्तु दुर्भाग्यवश, यह आशा पूरी न हो सकी। रिजर्व बैंक की स्थापना के तुरन्त बाद ही ट्रावनकोर नेशनल और क्विलन बैंक (Travancore National and Quilon Bank) फेल हो गया था। रिजर्व बैंक उसे फेल होने से न बचा सका। सन् 1939 से 1946 के बीच लगभग 444 छोटे बड़े बैंक फेल हुए और रिजर्व बैंक उन्हें बचाने मे असमर्थ ही रहा। उस समय रिजर्व बैंक का तर्क यह था कि अपर्याप्त अधिकारों के कारण वह बैंकिंग सकट के समय बैंको को असफल होने से नही बचा सकता था। बैंकिंग कम्पनीज एक्ट, 1949 के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक को निरीक्षण सम्बन्धी व्यापक अधिकार दिये गये, परन्तु इसके बावजूद भी वह हाल के वर्षों मे प्लाई बैंक (Palai Bank) तथा लक्ष्मी बैंक को फेल होने से न बचा सका।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

3. रिजर्व बैंक के मुख्य कार्यों पर प्रकाश डालिए।

(राजस्थान, *1971* इलाहाबाद, *1956*, इन्दौर, *1968*, मेरठ, *1975*)

अथवा

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों का पूरी तरह वर्णन कीजिए। आज के दिन भारत में बैंक-दर क्या है ? (राजस्थान, 1969)

[संकेत—यहाँ पर रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों तथा साधारण कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों की व्याख्या करते समय यह भी बताइए कि रिजर्व बैंक किन किन उपायो द्वारा देश मे साख का नियन्त्रण करता है और इस दिशा मे उसे कितनी सफलता प्राप्त हुई है। आज भारत मे बैंक-दर 9% है।]

2. स्थापना के समय से आज तक रिजर्व बैंक के कार्यवाहन की आलोचना कीजिए।

(राजस्थान, बी० कॉम०, 1955)

अथवा

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की कार्यशीलता का मूल्यांकन कीजिए। (आगरा, पू, 1975)

[संकेत—यहाँ पर विगत 42 वर्षो मे रिजर्व बैंक द्वारा किये गये कार्यों का वर्णन करते हुए इसकी मुख्य-मुख्य असफलताओ का उल्लेख कीजिए।]

3 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया मुद्रा व साख की पूर्ति का नियमन किस प्रकार करता है ?

(विक्रम, बी० कॉम०, 1960)

अथवा

भारत मे रिजर्व बैंक द्वारा प्रयुक्त मुद्रा एवं साख नियन्त्रण के विभिन्न तरीको का विवरण दीजिए। (राजस्थान, 1967)

[संकेत—यहाँ पर पहले यह बताइए कि इस समय रिजर्व बैंक न्यूनतम कोष प्रणाली के आधार पर मुद्रा का निर्गमन करता है। इस प्रणाली की मुख्य-मुख्य बातों को विस्तारपूर्वक लिखिए। तदुपरान्त यह बताइये कि रिजर्व बैंक देश मे साख की मात्रा का नियन्त्रण किन-किन उपायों द्वारा करता है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्पष्ट कीजिए कि साख के नियमन मे रिजर्व बैंक को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है।]

4 भारत की बैंकिंग प्रणाली मे रिजर्व बैंक का क्या स्थान है ? वह देश मे साख की मात्रा का नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (विक्रम, बी० कॉम० 1958)

अथवा

भारतीय बैंकिंग प्रणाली मे रिजर्व बैंक का स्थान निर्धारित कीजिए। (विक्रम, 1971)

[संकेत—प्रथम भाग मे, यह बताइए कि रिजर्व बैंक भारत की बैंकिंग प्रणाली मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्बन्ध मे, संक्षेप मे, रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों एवं साधारण

कार्यों की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, उन सभी उपायो का उल्लेख कीजिए जिनके द्वारा रिजर्व बैंक साख की मात्रा का नियन्त्रण करता है।]

5 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कृषि-साख समस्या को सुलझाने मे क्या सहायता दी है ?

(आगरा, बी॰ कॉम॰, 1962)

[सकेत—यहाँ पर रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग द्वारा किये गये कार्यों की विवेचना कीजिए और बताइए कि किस प्रकार रिजर्व बैंक साख के विषय मे सहकारी सस्थाओं को रियायतें देता है ?]

6 अनुसूचित बैंक क्या हैं ? भारतीय रिजर्व बैंक इन बैंकों को किस प्रकार सहायता पहुँचाता है और उन पर कैसे नियन्त्रण करता है ? (नागपुर, 1955)

[सकेत—यहाँ पर अनुसूचित बैंक की परिभाषा देते हुए यह स्पष्ट करिए कि किस प्रकार रिजर्व बैंक ऋणो के रूप म उन्हे सहायता देता है तथा कैसे उनके कार्यों पर नियन्त्रण रखता है ?]

7 रिजर्व बैंक देश की साख-नीति पर किन तरीको से नियन्त्रण करता है ? समझाइए।

(आगरा, 1968)

[सकेत—देखिए प्रश्न 3 और 4। यहाँ पर आपको रिजर्व बैंक द्वारा अपनाये गये पाँच उपायों की व्याख्या करनी है। यह भी स्पष्ट करना है कि साख-नियन्त्रण में रिजर्व बैंक कहाँ तक सफल हुआ है ?]

8. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के क्या कार्य हैं ? यह सयुक्त पूँजी वाले बैंकों पर किस प्रकार नियन्त्रण करता है ? (विक्रम, 1969)

[सकेत—प्रथम भाग के लिए प्रश्न 1 के उत्तर को देखिए। दूसरे भाग मे आप यह बताइए कि सयुक्त पूँजी वाले बैंको पर रिजर्व बैंक कई प्रकार से नियन्त्रण करता है—प्रथम, सयुक्त पूँजी वाले बैंक को रिजर्व बैंक के पास नकद-कोष रखने पड़ते हैं। दूसरे, रिजर्व बैंक सयुक्त पूँजी वाले बैंको की साख नीतियो पर नियन्त्रण रखता है। तीसरे, रिजर्व बैंक इन बैंको से निरन्तर इनके कार्यों के बारे मे जानकारी प्राप्त करता रहता है। चौथे, रिजर्व बैंक जब चाहे इन बैंको का निरीक्षण कर सकता है।

विकास करने के लिए भी कोई विशेष प्रयत्न नही किया था। यह बैंक पुन कटौती (Re discounting) की अपेक्षा नकद-ऋणो (Cash loans) को प्राथमिकता दिया करता था। परिणामत देश मे बिल बाजार का समुचित विकास सम्भव नही हो सका था।

(5) **केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों मे असफलता**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न किये गये केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों मे भी इसे कोई विशेष सफलता नही मिल सकी थी। इसलिए उस समय भारत मे एक नये केन्द्रीय बैंक की स्थापना का समर्थन किया जाता था।

इम्पीरियल बैंक के उपर्युक्त दोषो एव त्रुटियो के कारण ही समय समय पर इसके राष्ट्रीयकरण की माँग की गयी थी। सन 1949 मे भारत सरकार ने ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) को इम्पीरियल बैंक के प्रस्तावित राष्ट्रीयकरण के विषय पर अपना मत व्यक्त करने के लिए कहा था। समिति ने इम्पीरियल बैंक की कार्य-प्रणाली मे पाये जाने वाले अनेक दोषो एव त्रुटियो के बावजूद इसका राष्ट्रीयकरण करना उचित नही समझा था। अगस्त 1951 मे रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (All India Rural Credit Survey Committee) की नियुक्ति की थी। इसके अध्यक्ष श्री ए० डी० गोरवाला (A D Gorwala) थे। इस समिति की रिपोर्ट दिसम्बर 1954 मे प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट मे गोरवाला समिति ने इम्पीरियल बैंक की कार्यविधि की कड़ी आलोचना की थी। समिति का यह कहना था कि इम्पीरियल बैंक ने ग्रामीण क्षेत्रो मे पर्याप्त शाखाएं नही खोली थी जिनके परिणामस्वरूप कृषि साख का समुचित विकास नही हो सका था। गोरवाला समिति ने सुझाव दिया कि शेयर पूंजी (Share Capital) को बढाकर तथा अन्य राज्य सम्बन्धित बैंको (State Associated Banks) का इनके साथ एकीकरण करके इम्पीरियल बैंको का विस्तार किया जाना चाहिए। उन्होने यह भी सुझाव दिया कि इम्पीरियल बैंक का नाम बदलकर स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रखा जाना चाहिए। (परन्तु स्मरण रहे कि गोरवाला समिति ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का सुझाव नही दिया था।) भारत सरकार ने गोरवाला समिति की सिफारिशो को स्वीकार करते हुए अप्रैल 1955 मे लोकसभा मे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बिल प्रस्तुत किया था। इसके स्वीकृत हो जाने पर 1 जुलाई 1955 को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना कार्य विधिवत शुरू कर दिया था।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के प्रमुख उद्देश्य

ये इस प्रकार हैं

(1) **ग्रामीण साख व्यवस्था मे सरकार की साझेदारी**—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का मुख्य उद्देश्य सहकारी साख व्यवस्था मे सरकार की साझेदारी स्थापित करना है। अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्टेट बैंक राज्य सरकारो को ऋण देने के लिए भी तैयार रहता है।

(2) **लाइसेन्सशुदा गोदामो की स्थापना मे सहायता देना**—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश के विभिन्न भागो मे लाइसेन्सशुदा गोदामो एव बिक्री समितियो की स्थापना मे आर्थिक सहायता देता है।

(3) **छोटे उद्योगो को आर्थिक सहायता देना**—स्टेट बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि देश मे स्थापित किये गये छोटे छोटे उद्योगो को ऋणो के रूप मे आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(4) **बचतो को प्रोत्साहित करना**—स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे छोटे कस्बो मे शाखाएँ स्थापित करके बचतो को प्रोत्साहित करता है ताकि इन्हे एकत्रित करके देश के औद्योगिक विकास मे लगाया जाय।

(5) **धनराशि के स्थानान्तरण की सुविधाएँ देना**—स्टेट बैंक विभिन्न साख संस्थाओं को धन के स्थानान्तरण की सस्ती सुविधाएँ देकर बैंकिंग के विकास मे समुचित सहायता देता है।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

इसका हम निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं

(1) **पूंजी**— स्टेट बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) 20 करोड रुपये हैं। इसे 100-100 रुपये वाले 20 लाख शेयरों में विभाजित किया गया है। स्टेट बैंक का जारी पूंजी (Issued Capital) 5 62 करोड रुपये है। स्टेट बैंक को यह अधिकार है कि वह भारत सरकार की पूर्व अनुमति लिये बिना अपनी जारी पूंजी को 12 5 करोड रुपये तक बढा सकता है। स्टेट बैंक की पूंजी मे 55 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक का है और शेष 45 प्रतिशत भाग निजी शेयर-होल्डरो का है। किन्तु कोई भी निजी शेयर-होल्डर स्टेट बैंक के 200 से अधिक शेयर्स नही खरीद सकता।

(2) **प्रबन्ध** स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया का प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक बोर्ड (Central Board of Directors) के हाथो मे है। इस बोर्ड के 20 सदस्य हैं। इनमे 1 अध्यक्ष (Chairman) 1 उपाध्यक्ष (Vice Chairman), 2 प्रबन्ध-सचालक (Managing Directors) तथा 16 सचालक (Directors) है। इन सचालको मे से 6 सचालक निजी शेयर होल्डरो (Private Shareholders) द्वारा चुने जाते है, 8 सचालक भारत सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के परामर्श से नियुक्त किये जाते हैं शेष 2 सचालक सहकारिता तथा ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के विशेषज्ञ होते हैं। इनमे से 1 सचालक भारत सरकार द्वारा और दूसरा रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त किया जाता है। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा प्रबन्ध सचालक अधिक से अधिक 5 वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं। परन्तु नियुक्त किये गये तथा निर्वाचित सचालको की कार्य अवधि 4 वर्ष की होती है यद्यपि उन्हे दुबारा भी नियुक्त अथवा चुना जा सकता है। केन्द्रीय सचालक बोर्ड के अतिरिक्त, बम्बई, कलकत्ता मद्रास, नयी दिल्ली, कानपुर, हैदराबाद, अहमदाबाद, भोपाल तथा पटना के 9 स्थानीय बोर्ड (Local Boards) भी हैं। ये समय-समय पर केन्द्रीय सचालक बोर्ड को परामर्श देते हैं।

(3) **स्टेट बैंक के कार्यालय**—स्टेट बैंक का प्रधान कार्यालय बम्बई मे स्थित है। इसके 9 स्थानीय प्रमुख कार्यालय बम्बई, कलकत्ता मद्रास, नयी दिल्ली कानपुर हैदराबाद, अहमदाबाद, भोपाल तथा पटना मे हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि 5 साल की अवधि मे अर्थात् 30 जून 1960 तक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश के ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे-छोटे कस्बो मे 400 नयी शाखाएँ खोलेगा। स्टेट बैंक ने समय स पूर्व ही नयी शाखाओ के इस लक्ष्य को पूरा कर लिया था। 30 जून 1975 को बैंक के कार्यालयो की सख्या 3475 थी।

(4) **स्टेट बैंक के कार्य** (Functions of the State Bank)—इन्हे हम तीन उप शीर्षको मे विभाजित कर सकते हैं

(क) *केन्द्रीय बैंकिंग कार्य* (Central Banking Functions) —*यद्यपि स्टेट बैंक देश का केन्द्रीय बैंक नही है तथापि यह उन सभी स्थानो पर केन्द्रीय बैंक का ही कार्य करता है जहाँ पर रिजर्व बैंक की अपनी शाखाएँ नहीं हैं। इस नाते स्टेट बैंक दो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है— (अ) स्टेट बैंक सरकार के बैंक के रूप में कार्य करता है।* यह जनता से सरकार की ओर से धन वसूल करता है और सरकार के आदेशानुसार इसका भुगतान भी करता है। यह *सरकार द्वारा लिये जाने वाले सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था भी करता है। (आ) यह बैंको के बैंक के रूप में भी कार्य करता है।* यह व्यापारिक बैंको से निक्षेप स्वीकार करता है और आवश्यकता पडने पर उन्हें ऋण भी प्रदान करता है। यह व्यापारिक बैंको के बिलों की पुन कटौनी करता है और रिजर्व बैंक की ओर से समाशोधन गृह का काय भी करता है। इसके अतिरिक्त, स्टेट बैंक व्यापारिक बैंको को धन की स्थान्तरण सम्बन्धी सस्ती सुविधाएँ भी प्रदान करता है।

(ख) *साधारण बैंकिंग कार्य* (Ordinary Banking Functions)—इसके साधारण बैंकिंग *कार्य इस प्रकार हैं*

(अ) **जनता से निक्षेप स्वीकार करना**—अन्य व्यापारिक बैंको की भाँति स्टेट बैंक साधारण जनता से विभिन्न प्रकार के निक्षेप स्वीकार करता है। 10 दिसम्बर, 1976 को स्टेट बैंक के कुल निक्षेप 4 044 करोड रुपये थे। इनमे से 1609 करोड माँग निक्षेप (Demand Deposits) तथा 2,435 करोड रुपये समय-निक्षेप (Time Deposits) थे।

(अ) प्रतिभूतियों में निवेश करना—अन्य व्यापारिक बैंकों की भांति स्टेट बैंक अपने अतिरिक्त धन को भारत सरकार की प्रतिभूतियों, राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों, रेलवे प्रतिभूतियों, अन्य कॉरपोरेशनों की प्रतिभूतियों तथा कोषागार-विपत्रों (Treasury Bills) में लगाता है। 10 दिसम्बर, 1976 को स्टेट बैंक का प्रतिभूतियों में किया गया कुल निवेश 990 करोड रुपये था।

(इ) व्यवसायियों को ऋण आदि देना—स्टेट बैंक सरकारी प्रतिभूतियों, विनिमय-बिलों तथा स्वीकृत प्रतिज्ञा पत्रों, माल के अधिकार-पत्रों (Title Deeds) के आधार पर भी व्यवसायियों को ऋण प्रदान करता है। 10 दिसम्बर, 1976 को स्टेट बैंक ने व्यवसायियों को लगभग 2,889 करोड रुपये के ऋण दे रखे थे।

(ई) अन्य कार्य—स्टेट बैंक के अन्य कार्य इस प्रकार हैं—सोने-चांदी के सिक्के खरीदना व बेचना, लोगों की बहुमूल्य वस्तुओं को अपने अभिरक्षण (Custody) में रखना, ग्राहकों के लिए साख प्रमाणपत्र जारी करना, अपनी शाखाओं तथा सम्बन्धित बैंकों पर ड्राफ्ट आदि जारी करना, तार द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना, विशेष परिस्थितियों में सहकारी बैंकों के एजेण्ट के रूप में कार्य करना, बैंकिंग कम्पनियों के निस्तारक के रूप में कार्य करना तथा रिजर्व बैंक द्वारा सौंपे गये अन्य कार्यों को सम्पन्न करना। स्टेट बैंक लघु उद्योगों एवं सहकारी समितियों को विशेष ऋण सुविधाएँ देता है।

(ग) स्टेट बैंक के निषिद्ध कार्य (Prohibited Businesses of the State Bank) – स्टेट बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत कुछ ऐसे कार्य भी हैं जिन्हें स्टेट बैंक नहीं कर सकता

(1) स्टेट बैंक शेयरों के आधार पर 6 महीने की अवधि से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकता, परन्तु सन् 1957 में किये गये एक संशोधन के अनुसार स्टेट बैंक उद्योग धन्धों को उनकी सम्पत्ति के आधार पर 7 वर्ष की अवधि के लिए ऋण प्रदान कर सकता है।

(2) स्टेट बैंक अपने कार्यालयों के अतिरिक्त किसी प्रकार की अचल सम्पत्ति नहीं खरीद सकता।

(3) स्टेट बैंक ऐसे बिलों की पुनः कटौती नहीं कर सकता अथवा उनके आधार पर ऋण नहीं दे सकता जिनकी परिपक्वता की अवधि (Period of Maturity) 6 महीने से अधिक की होती है। परन्तु रिजर्व बैंक की भांति स्टेट बैंक कृषि बिलों को विशेष रियायत प्रदान करता है। कृषि-बिलों की परिपक्वता की अवधि 15 महीने तक की हो सकती है।

(4) स्टेट बैंक उन बिलों की पुनः कटौती नहीं कर सकता जिन पर कम से कम दो अच्छे हस्ताक्षर न हों।

(5) स्टेट बैंक किसी व्यक्ति अथवा फर्म को पूर्व निश्चित सीमा से अधिक न तो ऋण दे सकता है और न ही उनके बिलों की पुनः कटौती ही कर सकता है।

(घ) सहायताकारी बैंक (Subsidiary Banks) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया से सम्बद्ध 7 सहायताकारी बैंक भी हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एवं जयपुर, स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद, स्टेट बैंक ऑफ मैसूर, स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, स्टेट बैंक ऑफ ट्रावनकोर, स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर। 30 जून, 1975 को इन बैंकों के कार्यालयों की संख्या 1739 थी। इनकी चुकती-पूंजी एवं प्रारक्षण निधियाँ 8·42 करोड रुपये थी। इनके कुल निक्षेप 471 करोड रुपये थे तथा इनके द्वारा दिये गये ऋण 378 करोड रुपये थे।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की सफलताएँ

(Achievements of the State Bank of India)

(1) बैंकिंग सुविधाओं का विकास—विगत कुछ वर्षों में देश में बैंकिंग सुविधाओं के विकास का अधिकांश श्रेय स्टेट बैंक को ही है। जैसा पूर्व हम कह चुके हैं—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में यह व्यवस्था की गई थी कि स्टेट बैंक 5 वर्ष की अवधि में अर्थात् 30 जून, 1960 तक पिछड़े हुए एवं अविकसित ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी 400 नयी शाखाएँ स्थापित करेगा।

स्टेट बैंक ने समय से पूर्व ही अपने इस लक्ष्य को पूरा कर लिया था। 30 जून, 1960 के उपरान्त स्टेट बैंक ने नयी शाखाओं को खोलने का एक दूसरा कार्यक्रम क्रियान्वित किया। इस पंचवर्षीय कार्यक्रम के अन्तर्गत स्टेट बैंक को 145 तथा उसके सहायक बैंकों को 155 नयी शाखाएँ खोलनी थीं। बाद में इस लक्ष्य को क्रमशः 151 और 221 कर दिया गया था। 30 जून, 1965 तक स्टेट बैंक के द्वारा 114 शाखाएँ तथा सहायक बैंकों द्वारा 190 शाखाएँ खोली गयी थीं। इसके बाद स्टेट बैंक ने नयी शाखाएँ खोलने का तीसरा कार्यक्रम क्रियान्वित किया। इसके अन्तर्गत, दिसम्बर 1968 तक 319 शाखाएँ खोली जानी थीं। 30 जून 1975 को स्टेट बैंकों की शाखाओं की संख्या 3475 और सहायक बैंकों की शाखाओं की संख्या 1739 हो चुकी थी। इस प्रकार स्टेट बैंक ग्रुप की शाखाओं की कुल संख्या 5214 थी। शाखाओं के दृष्टिकोण से स्टेट बैंक विश्व का सबसे बड़ा बैंक है। यह ब्रिटेन के बारकले बैंक (Barclay Bank) से भी बड़ा है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में नयी नयी शाखाएँ खोलकर स्टेट बैंक ने देश की अमूल्य सेवा की है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बचतों को प्रोत्साहन मिला है तथा कृषि एवं उद्योगों के विकास में सहायता प्राप्त हुई है।

(2) **ग्रामीण साख की व्यवस्था**—*स्टेट बैंक ने ग्रामीण साख के लिए विशेष व्यवस्था की है। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करता है*

(क) स्टेट बैंक सहकारी बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण एवं अग्रिम प्रदान करता है। इस प्रकार के ऋणों पर स्टेट बैंक अधिक से अधिक 3 प्रतिशत ब्याज ही लेता है। इस तरह स्टेट बैंक भारतीय कृषि के लिए रियायती दरों पर वित्तीय सहायता प्रदान करता है।

(ख) स्टेट बैंक सरकार द्वारा गारण्टी दिये जाने पर सहकारी बैंकों से सम्बन्धित साख समितियों को भी ऋण प्रदान करता है।

(ग) *स्टेट बैंक बिक्री एवं निर्माण (Sale and Processing) सहकारी समितियों को प्रत्यक्ष रूप से ऋण देता है यदि वह इस बात से सन्तुष्ट हो जाय कि सहकारी बैंक इस प्रकार की समितियों को सस्ती दर पर ऋण देने में असमर्थ है।*

(घ) स्टेट बैंक सहकारी चीनी मिलों (Co operative Sugar Mills) तथा सहकारी कपास ओटने वाली समितियों (Co operative Cotton Ginning Societies) को भी उनके माल के आधार पर ऋण देता है।

(ङ) स्टेट बैंक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों (Central Land Mortgage Banks) के ऋण-पत्रों (debentures) में पूंजी लगाता है और आवश्यकता पड़ने पर इनके ऋण पत्रों के आधार पर ऋण भी देता है। इस प्रकार स्टेट बैंक कृषि के लिए न केवल अल्पकालीन बल्कि दीर्घकालीन साख की भी व्यवस्था करता है।

(च) स्टेट बैंक भारत सरकार एवं राज्य सरकारों को लाइसेन्सयुक्त गोदाम स्थापित करने में भी सहायता देता है। इसके अलावा इन गोदामों में रखी गयी कृषि उपज के आधार पर बैंक किसानों को ऋण भी देता है।

(छ) *स्टेट बैंक सहकारी वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से प्रारम्भिक सहकारी उपभोक्ता भण्डारों (Primary Consumer Co operative Stores) को भी ऋण देता है। इसके अलावा यह बैंक औद्योगिक सहकारी समितियों को भी ऋण सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है।*

(ज) स्टेट बैंक सहकारी वित्तीय संस्थाओं को धन के स्थानान्तरण की निःशुल्क सुविधाएँ प्रदान करता है।

30 सितम्बर, 1974 को स्टेट बैंक ने लगभग 2 1 लाख किसानों को लगभग 153 करोड़ रु० के ऋण दे रखे थे।

(3) **छोटे छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता**—*स्टेट बैंक छोटे छोटे उद्योग धन्धों को भी वार्षिक सहायता प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में भारत सरकार राज्य सरकारों, सहकारी बैंकों तथा राज्य वित्त निगमों के सहयोग से सन् 1956 में इसने एक योजना लागू की थी। इस योजना*

के अन्तर्गत स्टेट बैंक छोटे-छोटे उद्योगो को उदार शर्तों पर ऋण एव अग्रिम प्रदान करता है। जैसा हम पूर्व कह चुके है, सन् 957 मे किये गये एक सशोधन के अनुसार स्टेट बैंक उद्योग धन्धो की अचल सम्पत्ति के आधार पर 7 वर्ष तक की अवधि के लिए ऋण दे सकता है। इस प्रकार स्टेट बैंक छोटे-छोटे उद्योगो को समय सम्बन्धी विशेष रियायतें देने के लिए भी तैयार रहता है। इसके अतिरिक्त, स्टेट बैंक वित्तीय सस्थाओ के शेयरो एव ऋण-पत्रो मे भी पूँजी लगा सकता है। जुलाई, 1960 मे भारत सरकार ने छोटे-छोटे उद्योगो की सहायतार्थ एक साख गारण्टी योजना (Credit Guarantee Scheme) बनायी थी। इस योजना के अ तर्गत सरकार द्वारा गारण्टी दिये जाने पर व्यापारिक बैंक छोटे-छोटे उद्योगो को ऋण देते हैं। स्टेट बैंक ने भी इस योजना के अन्तर्गत छोटे-छोटे उद्योगो को पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा मे ऋण प्रदान किये हैं। स्टेट बैंक ने राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Scale Industries Corporation) से एक समझौता कर रखा है, जिसके अन्तर्गत स्टेट बैंक छोटे-छोटे उद्योगो को कच्चा माल खरीदने के लिए ऋण प्रदान करता है।

स्टेट बैंक द्वारा सन् 1962 मे एक नयी साख योजना आरम्भ की गयी थी। इसे किस्त साख योजना (Instalment Credit Scheme) कहा जाता है। इसका उद्देश्य लघु एव मध्यम श्रेणी के उद्योगो को उत्पादन-कार्य के लिए उधार देना है। उद्योगो की ऋण-राशि का भुगतान सुविधाजनक किस्तो मे करने की भी सुविधा दी गयी है।

30 सितम्बर, 1974 को स्टेट बैंक ने छोटे-छोटे उद्योगो से सम्बन्धित 34,000 सस्थाओं को लगभग 338 करोड़ रुपये के ऋण दे रखे थे।

अभी हाल ही मे स्टेट बैंक ने अपनी ओर से समाज के कमजोर वर्गों के लाभार्थ नई सेवाएँ प्रस्तुत की थी। इसने जनजातियो के सदस्यो (tribals) हरिजनो, कैदियो, विकलाग कर्मियो, अनाथो अपगो, कुष्टरोगियो, गन्दी बस्तियो मे रहने वालो एवं अन्य अक्षम व्यक्तियो को आर्थिक परामर्श सहित वित्तीय सहायता प्रदान की थी।

(4) **विदेशी विनिमय व्यवस्था**— स्टेट बैंक विश्व की 20 महत्त्वपूर्ण मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है जिससे विदेशी भुगतान मे बहुत सहायता प्राप्त होती है। स्टेट बैंक विश्व के सभी देशो के लिए यात्री-चैक (Traveller's Cheques) जारी करता है। निर्यात प्रोत्साहन योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक निर्यातकर्ताओ को सुविधाजनक ऋण भी देता है।

(5) **सरल स्थानान्तरण की सुविधाएँ**—स्टेट बैंक अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों को सप्ताह मे दो बार निःशुल्क स्थानान्तरण सुविधाएँ प्रदान करता है। इससे इन बैंको को विशेष लाभ हुआ है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि स्टेट बैंक ने अपने सक्षिप्त जीवनकाल मे भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के लिए बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। इसने कृषि एव छोटे-छोटे उद्योग-धन्धो की विशेष सहायता की है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के कार्यों की विवेचना कीजिए।** (आगरा बी० कॉम०, 1962)

   अथवा

   स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के आर्थिक महत्त्व को समझाइए। (विक्रम, 1968)

   [संकेत यहाँ पर स्टेट बैंक का सक्षिप्त इतिहास देते हुए इसके केन्द्रीय बैंकिंग एव साधारण बैंकिंग कार्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

2. **इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के रूप में क्यों परिवर्तित किया गया था? स्टेट बैंक के अतिरिक्त दायित्वों एव कार्यों की विवेचना कीजिए। क्या आप इस ओर कुछ सुधार के सुझाव दे सकते हैं?** (मगध 196 , आगरा, 1966)

   [संकेत— प्रथम भाग मे यह बताइए कि पुराने इम्पीरियल बैंक मे पाये जाने वाले दोषो एव त्रुटियो के कारण ही इसे स्टेट बैंक से रूप मे परिवर्तित किया गया था। यहाँ पर उन दोषो एव त्रुटियो का सक्षेप मे उल्लेख भी कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि

देश मे बैंकिंग का समुचित विकास करना, कृषि के लिए साख की विशेष व्यवस्था करना तथा छोटे-छोटे उद्योग धन्धो के लिए वित्त की व्यवस्था करना—स्टेट बैंक के अतिरिक्त दायित्व हैं। तीसरे भाग मे, स्टेट बैंक की कार्यविधि से सम्बन्धित सुधार के सुझाव प्रस्तुत कीजिए।]

3 स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के उद्देश्यो की विवेचना कीजिए और बताइए कि कहाँ तक और किस प्रकार—(क) छोटे उद्योग-धन्धों, (ख) कृषि, (ग) सहकारी समितियों के सम्बन्ध में ये उद्देश्य पूरे किये गये हैं ? (राजस्थान, बी० कॉम०, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, स्टेट बैंक की स्थापना के मुख्य-मुख्य उद्देश्यो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे, विस्तारपूर्वक बताइए कि स्टेट बैंक कृषि, छोटे उद्योग-धन्धो तथा सहकारी समितियो की किन-किन तरीको से सहायता करता है। अन्त मे, यह निष्कर्ष निकालिये कि अपने संक्षिप्त जीवनकाल मे स्टेट बैंक ने इनके लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की है।]

34
भारत में व्यापारिक बैंक
(Commercial Banks in India)

व्यापारिक बैंक क्या है ?

भारत मे व्यापारिक बैंको से अभिप्राय उन बैंको स है जिनकी स्थापना इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट (Indian Companies Act) के अन्तर्गत की गयी है। इन्हे कभी कभी मिश्रित पूँजी बैंक (Joint Stock Banks) भी कहा जाता है। यद्यपि इन्हे ऐसा कहना उचित प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि स्टेट बैंक तथा विनिमय बैंक (Exchange Banks) भी मिश्रित पूँजी बैंक हैं किन्तु इन्हें व्यापारिक बैंको की श्रेणी मे नही रखा जाता है। स्टेट बैंक एक पृथक् एक्ट के अन्तर्गत स्थापित किया गया है। चूंकि इसकी स्थापना इंण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत नही की गयी है, इसलिए इसे व्यापारिक बैंक नही कहा जा सकता। इसी प्रकार चूंकि विनिमय बैंक मुख्यत विदेशी व्यापार का ही अर्थ-प्रबन्ध (Finance) करते हैं इसलिए उन्हे भी व्यापारिक बैंको की श्रेणी मे सम्मिलित नही किया जाता है। अत व्यापारिक बैंको से अभिप्राय उ ही बैंको से है जिनकी स्थापना इण्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत की गयी है और जो सभी साधारण बैंकिंग कार्य सम्पन्न करते हैं। भारत के महत्त्वपूर्ण व्यापारिक बैंको के कुछ नाम इस प्रकार हैं— बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बड़ोदा, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, पजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद बैंक, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक इत्यादि।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

भारत मे व्यापारिक बैंको को प्राय दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है - (क) अनुसूचित बैंक, (ख) असूचित बैंक।

(क) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks)—जसा हम पूर्व बता चुके है—अनुसूचित बैंक उन बैंको को कहते है जिनको रिजर्व बैंक ने अपनी दूसरी सारिणी (Second Schedule) मे सम्मिलित कर रखा है। रिजर्व बैंक केवल उन्ही को दूसरी सारिणी मे सम्मिलित करता है जो निम्नलिखित शर्तें पूरी करते है

(1) इन बैंको की चुकती-पूँजी (Paid-up Capital) तथा प्रारक्षित निधि (Re erve Fund) मिलाकर कम से कम 5 लाख रुपये के बराबर होनी चाहिए।

(2) इन बैंको को अपनी माँग-देयताओ (demand-liabilities) एव काल देयताओ (time-liabilities) का 3 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास नकद कोष के रूप मे जमा करना पड़ता है। रिजर्व बैंक यदि चाहे तो इस प्रतिशत को 3 से बढ़ाकर 16 तक कर सकता है।

(3) इन बैंको को प्रति सप्ताह अपना स्थिति-विवरण रिजर्व बैंक को भेजना पड़ता है।

(4) इन बैंको को रिजर्व बैंक कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्रदान करता है। उदाहरणार्थ ये बैंक स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण ले सकते हैं अथवा अपनी हुण्डियो को रिजर्व बैंक से पुन कटौती करा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, रिजर्व बैंक उन्हे धन स्थानान्तरण सम्बन्धी सस्ती सुविधाएँ (cheap remittance facilities) भी प्रदान करता है।

(ख) असूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)—असूचित बैंक उन बैंकों को कहते हैं जिन्हे रिजर्व बैंक अपनी दूसरी सारिणी मे सम्मिलित नही करता। इन बैंकों की चुकती पूंजी एवं प्रारक्षित निधि 5 लाख रुपये से कम होती है। इन बैंकों पर रिजर्व बैंक का कोई विशेष नियन्त्रण नहीं होता, यद्यपि इन्हे भी प्रति माह अपना स्थिति विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि ये अपने निक्षेपों का निश्चित प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास अथवा अपने पास नकद-कोष मे रखे।

व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति

सन् 1975-76 मे भारतीय अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या 68 थी जबकि सन् 1950 51 मे इनकी संख्या 93 थी। इस कमी का प्रमुख कारण बैंकों का एकीकरण (amalgamation) है। विगत कुछ वर्षों मे भारतीय बैंको मे विलीनीकरण अथवा एकीकरण की प्रवृत्ति कार्यशील रही है। छोटे छोटे एवं दुर्बल बैंको का बड़े-बड़े बैंको के साथ एकीकरण हुआ है। सन् 1975-76 मे अनुसूचित बैंकों के कुल निक्षेप 13,169 35 करोड़ रुपये थे। इनमे से 5441 9 करोड़ मांग-निक्षेप तथा 7727 45 करोड रु० समय-निक्षेप थे। इनके नकद-कोष 863·33 करोड रुपये थे। इस प्रकार इनका नकद-निक्षेप अनुपात (cash deposit ratio) 6 56 था।[1]

असूचित बैंको की कुल संख्या सन् 1974 75 मे 7 थी जबकि सन् 1955-56 मे इनकी कुल संख्या 378 थी। इस कमी का मुख्य कारण इन बैंको का एकीकरण है। सन् 1974-75 मे इनकी चुकती-पूंजी एवं प्रारक्षित निधि 20 83 करोड़ रुपये थी। इनके कुल निक्षेप 19 29 करोड़ रुपये थे। इनमें से 7 60 करोड मांग-निक्षेप तथा 11 69 करोड़ रुपये समय-निक्षेप थे। इनके नकद कोष 74 लाख रुपये थे। इस प्रकार इनका नकद-निक्षेप अनुपात 3 8 प्रतिशत था।[2]

व्यापारिक बैंकों के कार्य

ये इस प्रकार है

(1) जनता से जमा पर रुपया प्राप्त करना—व्यापारिक बैंको का यह एक प्रमुख कार्य है। भारतीय बैंक लोगो से विभिन्न प्रकार के खातो मे निक्षेप स्वीकार करते हैं। जैसे – निश्चित-कालीन खाता, चालू खाता तथा सेविंग्स बैंक खाता इत्यादि।

(2) ऋण प्रदान करना—ये बैंक अपने अतिरिक्त धन को व्यवसायियों एवं उत्पादको को विभिन्न प्रकार की जमानतो के आधार पर उधार देते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि ये बैंक अचल सम्पत्ति के आधार पर रुपया उधार नहीं देते क्योंकि ऐसा करना उनके लिए जोखिमपूर्ण (Risky) होता है। ये बैंक व्यक्तिगत जमानत (Personal security) पर भी रुपया उधार नहीं देते क्योंकि ऐसा करने से उनकी वित्तीय स्थिति खतरे मे पड सकती है। भारत मे इस प्रकार की संस्थाएँ नहीं हैं जो व्यापारिक बैंको को उनके ग्राहको की आर्थिक स्थिति के बारे मे सही-सही सूचना दे सकें। व्यापारिक बैंक अपना अतिरिक्त धन अधिकांशत व्यापारियो को ही अल्पकालीन ऋणों के रूप मे दे देते है। इसके दो मुख्य कारण हैं—प्रथम, चूंकि व्यापारिक बैंकों के निक्षेप अल्पकालीन होते हैं इसलिए वे इनको दीर्घकाल के लिए उद्योगपतियों को नहीं दे सकते। दूसरे, व्यापारियों को दिये गये ऋणों पर उन्हे अपेक्षाकृत ऊँची ब्याज-दर प्राप्त होती है। अत साधारणत: व्यापारिक बैंक उद्योग धन्धों की अपेक्षा व्यापार एवं व्यवसाय को ही ऋण देना अधिक पसन्द करते हैं। चूंकि इस समय भारत के कतिपय उद्योगों को कुछ वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है, अत देश मे कार्यरत कुछ अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक ने आदेश दिया है कि कुछ सीमा तक वे इन उद्योगों की कार्यशील पूंजी की आवश्यकताओं को ऋण देकर पूरा करें। इन उद्योगों मे जूट, सूती कपडा चीनी एवं कागज उद्योग सम्मिलित हैं।

(3) एजेण्ट के रूप मे कार्य—ये बैंक अपने ग्राहको के एजेण्ट के रूप में भी कार्य करते है। ये उनकी ओर से धन प्राप्त करते हैं और उनके आदेशानुसार उसका भुगतान भी करते हैं। इसके अतिरिक्त ये अपने ग्राहकों की ओर से शेयरों एवं प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय भी करते हैं। ग्राहकों के लिए यात्री चैक (Travellers Cheques) भी जारी करते है।

---

1 Reserve Bank of India Bulletin, July, 1976
2 *Ibid*, p 5646

(4) **लॉकर्स सम्बन्धी सुविधाएँ**—अधिकांश व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को लॉकर्स सम्बन्धी सुविधाएं भी प्रदान करते है। इसके लिए वे उनसे थोड़ा शुल्क अवश्य लेते हैं।

(5) **धन का स्थानान्तरण**—ये बैंक अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए धन स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं। ये अपनी शाखाओं अथवा अन्य बैंकों पर ड्राफ्ट भी जारी करते है।

व्यापारिक बैंकिंग की वर्तमान प्रवृत्तियां

(Present Trends in Commercial Banks)

विगत कुछ वर्षों मे भारत के व्यापारिक बैंकों ने पर्याप्त प्रगति की है। इनकी वर्तमान प्रवृत्तियां निम्नलिखित है

(1) **निक्षेपो मे वृद्धि (Increase in Deposits)**—विगत कुछ वर्षों मे भारतीय व्यापारिक बैंकों के निक्षेपों म भारी वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 मे अनुसूचित बैंकों के कुल निक्षेप 880 6 करोड रुपये थे जबकि सन् 1975-76 मे ये बढ़कर 13,169 35 करोड रुपये हो गये थे। इसका मुख्य कारण देश मे मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि का होना है। यद्यपि अनुसूचित बैंकों के निक्षेपों मे वृद्धि हुई है लेकिन असूचित बैंकों के निक्षेपों मे बराबर कमी होती चली आ रही है। असूचित बैंकों के कुल निक्षेप सन् 1955 56 मे 67 61 करोड रुपये थे लेकिन सन् 1975-76 मे यह घटकर 19 29 करोड रुपये ही रह गये थे। इसका मुख्य कारण यह है कि इन वर्षों मे अनेक छोटे छोटे बैंक बन्द हो गये अथवा बड़े अनुसूचित बैंकों मे विलीन हो गये थे।

(2) **अग्रिमो मे वृद्धि (Increase in Advances)**—विगत कुछ वर्षों मे व्यापारिक बैंकों के अग्रिमों मे बहुत वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 मे अनुसूचित बैंकों के अग्रिमों की कुल मात्रा 546 93 करोड रुपये थी। सन् 1975 76 मे यह बढकर 10 189 39 करोड रुपये हो गयी थी। सन् 1950-51 मे ये बैंक अपने कुल निक्षेपो का 62 1 प्रतिशत अग्रिमो मे लगा रहे थे। सन् 1975-76 मे यह प्रतिशत बढ़कर 77 37 हो गया था। जुलाई 1969 मे 14 बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त कृषको एव छोटे-छोटे उद्योगपतियो को दिये जाने वाले अग्रिमो म भी वृद्धि हुई है।

(3) **निवेशो में वृद्धि (Increase in Investments)**—विगत कुछ वर्षों मे व्यापारिक बैंकों के निवेशो मे भी वृद्धि हुई है। सन 1955-56 मे व्यापारिक बैंको ने लगभग 359 9 करोड रुपये सरकारी प्रतिभूतियो म लगाये थे। सन् 1975-76 मे यह राशि बढकर 2 971 33 करोड रुपये हो गयी थी। यद्यपि निवेशों की मात्रा मे वृद्धि हुई है लेकिन निवेश निक्षेप अनुपात पहले की अपेक्षा कम हो गया है। सन् 1955-56 मे ये बैंक अपने कुल निक्षेपों का 34 5 प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियो मे लगाया करते थे। सन् 1975-76 मे यह अनुपात गिरकर 22 56 प्रतिशत ही रह गया था

(4) ***चुकती-पूँजी एव प्रारक्षित निधि के निक्षेपो से अनुपात मे कमी*** **(*Fall in the* Ratio of Paid up Capital and Reserves to Deposits)**—बैंकिंग विकास के प्रारम्भिक काल मे चुकती-पूंजी एव प्रारक्षित निधि का निक्षेपो से अनुपात ऊँचा होता है। इसका कारण स्पष्ट है। जनता मे अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करने हेतु बैंको को अधिक चुकती पूंजी एव प्रारक्षित निधि रखनी पडती है। प्रारम्भिक काल मे प्रत्येक बैंक का यह लक्ष्य रहता है कि वह अपनी चुकती पूँजी के बराबर ही प्रारक्षित निधि निर्मित करे। अत प्रारम्भिक अवस्था मे चुकती पूँजी एव प्रारक्षित निधि का निक्षेपो से अनुपात ऊँचा रहता है। लेकिन कालान्तर मे जनता मे बैंको के प्रति विश्वास उत्पन्न होने के फलस्वरूप यह अनुपात धीरे धीरे घटता जाता है। भारत मे भी बिलकुल ऐसा ही हुआ है। भारतीय बैंको की चुकती-पूँजी एव प्रारक्षित निधि मे निक्षेपो के अनुपात मे निरन्तर कमी हुई है जो इस बात की पुष्टि करती है कि भारतीय जनता का बैंको म धीरे धीरे विश्वास जम रहा है।

सन् 1950 51 मे अनुसूचित बैंको की चुकती पूंजी एव प्रारक्षित निधि का निक्षेपों से अनुपात 9 प्रतिशत था, लेकिन सन 1975 76 मे गिरकर यह 3 प्रतिशत ही रह गया था।

साधारणत व्यापारिक बैंक अपने अग्रिम व्यापारियों को ही देते हैं, परन्तु विगत कुछ वर्षों से इन्होंने अपने अग्रिमों का कुछ भाग छोटे व मध्यम श्रेणी के उद्योगपतियों को भी देना आरम्भ कर दिया है।

(5) **शाखाओं की संख्या में विस्तार**—विगत कुछ वर्षों में अनुसूचित बैंकों की शाखाओं में बहुत विस्तार हुआ है। यद्यपि असूचित बैंकों की शाखाएँ कम हुई हैं। 30 जून, 1976 को अनुसूचित बैंकों की शाखाओं की कुल संख्या 21 220 थी। इन बैंकों ने अपनी नयी शाखाएँ छोटे-नगरों एवं कस्बों में भी खोलना आरम्भ कर दिया है।

(6) नकद-कोषों के अनुपात में कमी (Fall in the Proportion of Cash Reserves)—यद्यपि अनुसूचित बैंकों की शाखाओं का विस्तार हुआ है और परिणामत इनके निक्षेपों में भी वृद्धि हुई है तथापि विगत कुछ वर्षों में इनके नकद कोषों के अनुपात में कुछ कमी हुई है। सन् 1950-51 में इन बैंकों के नकद कोषों का अनुपात लगभग 10.6 प्रतिशत था जबकि सन् 1975-76 में यह गिरकर 6 56 प्रतिशत ही रह गया था। वास्तव में, इन बैंकों के नकद कोषों के अनुपात में उक्त कमी किसी भी दृष्टि से वाछनीय नहीं कही जा सकती। स्वस्थ बैंकिंग विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का अनुपात अपेक्षाकृत ऊँचा होना चाहिए। भारत जैसे देश में जहाँ लोगों में बैंकिंग आदत अभी सुदृढ़ नहीं है, नकद-कोषों का कम अनुपात उनके लिए सकट का कारण बन सकता है।

(7) **छोटे बैंकों का बड़े बड़े बैंकों में विलीनीकरण**—विगत कुछ वर्षों में छोटे बैंकों की बड़े बैंकों में विलीनीकरण की प्रवृत्ति देखने में आयी है। छोटे-छोटे एव गैर आर्थिक बैंक अधिकाधिक बड़े-बड़े बैंकों में मिलते जा रहे हैं। वास्तव में यह भारतीय बैंकिंग के समुचित विकास के लिए एक अत्यन्त वाछनीय प्रवृत्ति है, क्योंकि इनके कारण देश में बैंकों का आकार बढ़ जायगा और वे बैंकिंग सकट का दृढता से मुकाबला कर सकेंगे।

(8) **परस्पर प्रतियोगिता में कमी**—कुछ वर्ष पहले व्यापारिक बैंकों में निक्षेपों को आकर्षित करने के लिए आपस में कड़ी प्रतियोगिता हुआ करती थी। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक बैंक निक्षेप प्राप्त करने के लिए ऊँची से ऊँची ब्याज दरें देने को तैयार हो जाता था। इससे बैंकों में प्रतियोगिता बढ़ जाने से बैंकिंग के विकास को आघात पहुँचता था, किन्तु विगत कुछ वर्षों में व्यापारिक बैंकों की इस प्रतियोगिता में बहुत कमी हुई है। अब बड़े बड़े बैंकों ने आपस में समझौता करके इस प्रतियोगिता को कम करने का प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम, यह समझौता 1 अक्टूबर 1958 को हुआ था। इसके अन्तर्गत, बड़े-बड़े बैंकों ने निक्षेपों पर दी जाने वाली ब्याज की दरों को निश्चित कर दिया था। कोई भी बैंक इन निश्चित दरों से अधिक दरें ग्राहकों को नहीं दे सकता था।

(9) ब्याज की दरों में वृद्धि विगत कुछ वर्षों में व्यापारिक बैंकों की ब्याज की दरों में आशातीत वृद्धि हुई है। यह वृद्धि निश्चितकालीन एवं सेविंग्स दोनों ही प्रकार के निक्षेपों में हुई है। इसका कारण यह है कि पचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप मुद्रा बाजार में ऋणों की माँग बढ़ गयी है। इस माँग की पूर्ति के लिए बैंकों को अधिक निक्षेप आकर्षित करने हेतु ब्याज की दरें बढ़ानी पड़ी हैं। 23 जुलाई, 1974 से तो ब्याज की दरों में असाधारण वृद्धि की गई थी।

(10) बैंकों के आय-व्यय में वृद्धि (Increase in Income Expenditure of Banks)—विगत कुछ वर्षों में बैंकों के निक्षेपों ऋणों निवेशों एवं शाखाओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप उनकी आय एवं व्यय में निरन्तर वृद्धि हुई है।

(11) *बैंकों पर रिजर्व बैंक का अधिक नियन्त्रण*—विगत कुछ वर्षों में बैंकिंग कम्पनीज एक्ट तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण एवं नियमन करने सम्बन्धी व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। परिणामत अब रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित एवं नियमित करने में समर्थ हो गया है।

व्यापारिक बैंकों के दोष एवं कठिनाइयाँ

इस प्रकार व्यापारिक बैंकों में कई प्रकार के दोष एवं त्रुटियाँ पायी जाती हैं। इसके

अतिरिक्त उन्हे विभिन्न प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। वास्तव मे, ये दोप एव कठिनाइयां इन बैंको की मन्द गति का मुख्य कारण हैं। पहले हम इन बैंको के दोषो एव त्रुटियो का अध्ययन करेंगे।

व्यापारिक बैंकों के दोष—ये निम्नलिखित हैं

(1) **बैंकिंग का असन्तुलित विकास**—व्यापारिक बैंको की मन्द गति का मुख्य कारण वर्तमान बैंकिंग का असन्तुलित विकास है। देश के कुछ भाग ऐसे हैं जैसे पजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल आदि जहां पर बैंको का अत्यधिक विकास हुआ है, परन्तु देश के कुछ अन्य भाग भी हैं जहां पर बैंको का पर्याप्त विकास नही हो सका है। इसके अलावा, युद्ध और युद्धोत्तर-काल मे व्यापारिक बैंको ने अपनी शाखाएँ प्राय उन बडे बडे औद्योगिक एव व्यापारिक केन्द्रो मे ही स्थापित की है जहां पर पहले ही अन्य बैंको की शाखाएँ विद्यमान थी। इस प्रकार बैंको की परस्पर प्रतियोगिता मे वृद्धि हुई है जिससे बैंकिंग के स्वस्थ विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। लेकिन जुलाई 1969 मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के उपरान्त अब बैंक अपनी शाखाएँ छोटे छोटे नगरो एव कस्बो मे भी खोल रहे हैं।

(2) **पूँजी का अभाव**—अधिकाश व्यापारिक बैंको की चुकती पूँजी एव प्रारक्षित निधि इतनी अपर्याप्त है कि वे अपने व्यवसाय को लाभपूर्ण तरीके से नही चला सकते।

(3) **विनियोग की त्रुटिपूर्ण नीति**—अधिकाश व्यापारिक बैंको ने अपने अतिरिक्त धन का बहुत बडा भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे लगा रखा है क्योंकि इनमे लगाया गया धन सुरक्षित एव तरल होता है। साधारणत इन बैंको ने विनिमय-बिलो व हुण्डियो की उपेक्षा की है, अर्थात् इनमे अपेक्षाकृत कम धन लगाया है। फलत देश मे एक सुसगठित बिल बाजार का विकास सम्भव नही हो सका है।

*(4) **व्यक्तिगत साख पर ऋणों का अभाव**—पश्चिमी देशों के बैंकों की भाँति भारतीय बैंक प्राय अपने ग्राहकों को व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं देते। परिणामत देश में साख सुविधाओं का उचित विस्तार नहीं हो पाता और व्यापारिक बैंकों की प्रगति भी अवरुद्ध ही रहती है।*

(5) **लाभांश की ऊँची दरें**—अधिकाश व्यापारिक बैंक लाभाश वितरण की उचित नीति का अनुसरण नहीं करते। वे प्राय अपनी प्रारक्षित निधि को सुदृढ बनाने के स्थान पर ऊँची दर पर शेयर-होल्डरो मे लाभाश वितरित कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी प्रारक्षित निधि को सुदृढ नहीं बना सकते हैं और तनिक-से सकट आने पर ही फेल हो जाते हैं। वास्तव म, यह व्यापारिक बैंको की एक भारी त्रुटि मानी जाती है और देश की समूची बैंकिंग व्यवस्था के लिए खतरा बन सकती है।

(6) **अयोग्य एव अनुभवहीन सचालक**—व्यापारिक बैंको के सचालक प्राय अयोग्य एव *अनुभवहीन व्यक्ति होते हैं और वे बैंकिंग के सुदृढ सिद्धान्तो का अनुसरण नहीं करते। उदाहरणार्थ* व्यापारिक बैंको के सचालक प्राय सट्टा व्यापार मे बैंको के धन को लगाकर अधिकतम लाभ कमाने की फिराक मे रहते हैं। फलत बैंक सकट मे पड जाते हैं और जनता का उनमे से विश्वास उठ जाता है।

(7) **अकुशल बैंक कर्मचारी**—व्यापारिक बैंको के कर्मचारी एव अधिकारी बैंकिंग कार्य मे प्राय अकुशल ही होते हैं। इसका कारण यह है कि नियुक्ति से पूर्व उन्हे वैज्ञानिक आधार पर बैंकिंग के सिद्धान्तो म प्रशिक्षण नही दिया जाता। परिणामत इन बैंको मे कार्य-कुशलता का स्तर प्राय निम्न श्रेणी का ही होता है।

(8) **बैंको की परस्पर प्रतिस्पर्द्धा**—ये बैंक निक्षपो को अधिकाधिक मात्रा मे आकर्षित करने के लिए ऊँची से ऊँची ब्याज की दरें देने के लिए तैयार रहते है। इससे बैंको मे अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है जो देश मे बैंकिंग के समुचित विकास के लिए हानिकारक होती है।

(9) **बैंको की असफलताएं**—*जैसा हम पिछले अध्याय* मे देख चुके हैं भारत मे विगत 60 वर्षों मे बहुत-से बैंक फेल हुए हैं और उनके फेल होने का यह क्रम अभी निरन्तर जारी है।

परिणामत साधारण जनता का बैंको मे से विश्वास उठ जाता है और वे अपनी बचतें बैंको मे रखना पसन्द नही करते। यही कारण है कि भारत मे प्रति व्यक्ति निक्षेप अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है।

(10) **अंग्रेजी भाषा का प्रयोग**—भारतीय बैंक अपना काय प्राय अंग्रेजी भाषा मे ही करते हैं। चूंकि भारत मे अंग्रेजी भाषा जानने वाले व्यक्तियो की सख्या कम है, इसलिए बैंकिंग के विकास मे बाधाएँ उपस्थित होती है।

(11) **यूरोपीय प्रणाली का प्रयोग**—भारतीय बैंको ने बिना किसी प्रकार का सशोधन किये यूरोपीय प्रणाली को अपना लिया है। उन्होंने इस प्रणाली को भारतीय परिस्थितियो के अनुसार विकसित करने का प्रयत्न ही नही किया। इसके अतिरिक्त, भारतीय बैंको मे स्वदेशी बैंकरो की कार्य-प्रणाली की लोच का भी अभाव है।

व्यापारिक बैंको की कठिनाइयाँ—ये निम्नलिखित हैं

(1) **निक्षेपो की अपर्याप्तता**—भारतीय बैंको के निक्षेप पश्चिमी देशो क बैंको के निक्षेपो की तुलना मे बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत मे प्रति-व्यक्ति औसत आय बहुत कम है। परिणामत बचत की राशि बहुत ही कम होती है।

(2) **साधारण जनता मे बैंकिंग आदत का अभाव**—भारत मे साधारण जनता मे बैंकिंग की आदत का भी अभाव है जिसके परिणामस्वरूप गाँवो मे अधिकाश व्यक्ति अपनी बचतो को बैंको मे जमा करने के स्थान पर भूमि मे गाड देना अधिक पसन्द करते हैं।

(3) **सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति**—दुर्भाग्यवश, भारतीय बैंको के समुचित विकास मे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने कोई सहयोग नही दिया है। इन बैंको को सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ की जमाराशियाँ प्राप्त नही होती। अत सरकार की इस उपेक्षापूर्ण नीति के कारण इनका विकास अवरुद्ध हो रहता है।

(4) **विनिमय बैंको की प्रतिस्पर्द्धा**—भारतीय बैंको को विदेशी विनिमय बैंको की प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पडता है। विगत कुछ वर्षो से विनिमय बैंको ने देश के भीतरी भागो मे भी अपनी शाखाएँ स्थापित कर दी है। चूंकि विदेशी बैंको के साधन भारतीय बैंको की अपेक्षा अधिक होते हैं, इसलिए भारतीय बैंक उनका मुकाबला नही कर सकते।

व्यापारिक बैंकिंग मे सुधार के सुझाव

भारतीय बैंको की कार्य-प्रणाली एव व्यवस्था मे सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये है

(1) **सरकार की नीति सहानुभूतिपूर्ण होनी चाहिए**—केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो को अपनी उपेक्षापूर्ण नीति का परित्याग करके व्यापारिक बैंको की सहायता करनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह इन बैंको को वही सुविधाएँ प्रदान करे जो सरकारी बैंको को दी जाती हैं। सरकार का यह भी चाहिए कि सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ को आदेश दे कि वे अपनी जमाराशियो का कुछ भाग इन बैंको को भी प्रदान करें। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं—इस समय सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी सस्थाओ के निक्षेप प्राय स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया मे ही रखे जाते हैं। इस नीति मे परिवर्तन होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, व्यापारिक बैंको तथा स्टेट बैंक के बीच सरकार को किसी प्रकार का भेदभाव नही करना चाहिए।

(2) **नयी शाखाओं की स्थापना मे प्रोत्साहन** रिजर्व बैंक को छोटे-छोटे नगरो एव कस्बो मे शाखाएँ खोलने के लिए व्यापारिक बैंको को समुचित सहायता एव प्रोत्साहन देना चाहिए ताकि इन बैंको के निक्षेपो म वृद्धि की जा सके।

(3) **विनिमय बैंको पर रोक**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, व्यापारिक बैंको को विनिमय बैंको की अनुचित प्रतियोगिता (Unfair Competition) का सामना करना पडता है। अत यह नितान्त आवश्यक है कि विनिमय बैंको की अनुचित कार्यवाहियो पर रोक लगायी जाय और उन्हें यथासम्भव अपना कार्यक्षेत्र आयात-निर्यात व्यापार तक ही सीमित रखने के लिए कहा जाय।

(4) **बैंको की आपसी प्रतियोगिता को दूर किया जाय**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, बैंकिग विकास के मार्ग में इस समय बैंको की आपसी प्रतियोगिता एक मुख्य बाधा है। बैंको को आपसी समझौते द्वारा इस प्रतियोगिता को दूर अथवा कम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(5) **बैंको का एकीकरण**—देश की बैंकिग व्यवस्था के समुचित विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि छोटे एवं गैर-आर्थिक बैंको को बडे-बडे अनुसूचित बैंको से मिला दिया जाय। इससे देश की बैंकिग व्यवस्था को सुदृढ करने में बहुत सहायता मिल सकती है क्योंकि छोटे-छोटे एवं गैर-आर्थिक बैंक, बैंकिग प्रणाली के लिए संकट का कारण बन सकते हैं।

(6) **अनुसूचित तथा असूचित बैंको मे सहयोग**—इस समय, दुर्भाग्यवश, अनुसूचित तथा *असूचित बैंको मे सम्पर्क एवं सहयोग का लगभग पूर्ण अभाव है। परिणामत मुद्रा बाजार में ब्याज* दरो की भारी भिन्नता पाई जाती है। इसे दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार के बैंकों में घनिष्ठतम सम्पर्क स्थापित किया जाय।

(7) **प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति**—बैंको की वर्तमान त्रुटियों को दूर करने तथा कार्यकुशलता का स्तर ऊँचा करने के लिए नितान्त आवश्यक है कि बैंको मे प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियो एवं अधिकारियो की नियुक्तियाँ की जायें। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि बैंक कर्मचारियों के लिए वेतनों तथा सेवाओं की आवश्यक शर्तों मे सुधार किये जायें।

(8) **बैंकिग कार्य प्रणाली मे सुधार** बैंको को यथासम्भव अपनी कार्यविधि मे भी सुधार *करना चाहिए। बैंकिग कार्य मे अँग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं का उपयोग करना चाहिए* और हिसाब किताब रखने की रीतियो मे सुधार होना चाहिए। बैंको को यथासम्भव अपनी प्रारक्षित निधि को सुदृढ बनाने का प्रयास करना चाहिए।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंक
(Regional Rural Banks)

आपातकालीन स्थिति की घोषणा के उपरान्त 1 जुलाई 1975 को प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 20 सूत्रीय कार्यक्रम राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत किया था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में आसान शर्तों पर भूमिहीन किसानों एवं श्रमिकों को ऋण देने की व्यवस्था थी। इसको *क्रियान्वित करने हेतु भारत सरकार ने समूचे देश मे प्रादेशिक ग्रामीण बैंक स्थापित करने का* निर्णय किया था। इन बैंकों के दो प्रमुख उद्देश्य हैं प्रथम कृषि व्यापार वाणिज्य, उद्योगों तथा अन्य उत्पादक कार्यों के लिए वित्त व्यवस्था करके ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास करना। द्वितीय, छोटे छोटे साहसियो शिल्पकारो कृषि श्रमिको तथा छोटे एवं अन्य सीमान्त किसानों के लिए साख एवं *अन्य सुविधाएँ प्रदान करना। इन प्रादेशिक ग्रामीण बैंको की स्थापना करने हेतु* 26 सितम्बर, 1975 को राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी किया था जिसका शीर्षक था The Regional Rural Bank Ordinance 1975 इस अध्यादेश के अनुसार प्रत्येक ग्रामीण बैंक की अधिकृत पूंजी 1 करोड रु० थी लेकिन जारी अथवा प्रदत्त पूँजी (issue or paid up capital) केवल 25 लाख रुपये ही थी। इन बैंको की शेयर पूंजी इस प्रकार एकत्रित की जाती थी केन्द्रीय सरकार 50 प्रतिशत *सम्बन्धित राज्य सरकार 15 प्रतिशत तथा प्रायोजक व्यापारिक बैंक (Sponsoring Commercial* Bank) 35 प्रतिशत।

प्रत्येक प्रादेशिक ग्रामीण बैंक सरकार द्वारा निर्धारित स्थानीय सीमाओं के भीतर ही कार्य करता है इसका प्रबन्ध 9 सदस्यीय संचालक मण्डल द्वारा चलाया जाता है। संचालक मण्डल का अध्यक्ष सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। प्रबन्ध चलाते समय संचालक मण्डल व्यावसायिक सिद्धान्तों एवं समय समय पर दिये गये सरकारी आदेशों से शासित होता है। सभी प्रादेशिक ग्रामीण बैंको को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट की दूसरी सारणी मे सम्मिलित कर दिया गया है। इस एक्ट मे किये गये संशोधनों के अन्तर्गत रिजर्व बैंक इन बैंको को राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष मे से ऋण एवं पेशगियाँ देता है। रिजर्व बैंक की ओर से इन बैंकों को एक रियायत भी दी गई है। *अन्य अनुसूचित बैंको को* अपनी कुल जमाराशियो का 33 प्रतिशत तरल सम्पत्तियो के रूप मे रखना पडता है जबकि प्रादेशिक ग्रामीण बैंको के लिए यह प्रतिशत केवल 25 ही है। इसी प्रकार अनुसूचित बैंको को अपनी कुल माँग एवं समय देय-

ताओं का 6 प्रतिशत नकदी के रूप में रखना पड़ता है जबकि प्रादेशिक ग्रामीण बैंक अपनी देयताओं का केवल 3 प्रतिशत भाग ही नकदी में रखते हैं। यही नहीं, प्रादेशिक ग्रामीण बैंक द्वारा कमाये गये ब्याज पर आय कर भी नहीं लगता।

प्रारम्भ में तो केवल पाँच बैंक ही स्थापित किये गये थे। इनकी स्थापना 2 अक्टूबर, 1975 को मुरादाबाद तथा गोरखपुर (उत्तर प्रदेश), भिवानी (हरियाणा), जयपुर (राजस्थान) तथा मालदा (पश्चिमी बंगाल) में की गई थी। ये प्रादेशिक बैंक क्रमश: सिण्डीकेट बैंक, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक तथा यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रायोजित किये गये थे। ये नये प्रादेशिक बैंक मूलतः अनुसूचित वाणिज्य बैंक ही हैं लेकिन फिर भी वर्तमान वाणिज्यिक बैंकों एवं इन बैंकों में कुछ अन्तर पाये जाते हैं :

(क) इनकी क्रियाएँ (Operations) एक निश्चित प्रदेश तक ही सीमित होती हैं। प्रदेश में एक अथवा अधिक जिले सम्मिलित होते हैं।

(ख) ये बैंक ऋण एवं अग्रिम विशेषकर छोटे तथा सीमान्त किसानों, कृषि श्रमिकों, ग्रामीण शिल्पकारों तथा व्यापार एवं अन्य उत्पादक धन्धों में लगे हुए छोटे साहसियों को देते हैं।

(ग) इन बैंकों द्वारा ऋणों पर वसूल की जाने वाली ब्याज की दरें सहकारी समितियों की ब्याज-दरों से अधिक नहीं होतीं।

(घ) इन बैंकों के कर्मचारियों के वेतनमान केन्द्रीय सरकार द्वारा अलग से निर्धारित किये जाते हैं। ये वेतनमान राज्य सरकारों के कर्मचारियों के समतुल्य होते हैं।

9 जनवरी 1976 को भारत सरकार ने प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की संख्या को 50 से बढ़ाकर 60 करने का निर्णय लिया था। सरकार यह चाहती थी कि छोटे एवं सीमान्त किसानों, ग्रामीण शिल्पियों भूमिहीन श्रमिकों जैसे समाज के कमजोर वर्गों को सस्ती दरों पर ऋण उपलब्ध कराये जायें। इसका कारण यह था कि इन वर्गों को सहकारी समितियों एवं व्यापारिक बैंकों से पर्याप्त साख उपलब्ध नहीं हो रही थी।

30 नवम्बर, 1976 तक 33 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक स्थापित हो चुके थे। इन्होंने 372 शाखाएँ खोल रखी थीं। इनकी कुल जमाराशियाँ 4.65 करोड़ रु० थी। इन्होंने 77,400 खातों में 6.11 करोड़ रु० के ऋण दे रखे थे।

इन बैंकों का उद्देश्य ग्रामीण समाज में बैंकिंग आदतों को प्रोत्साहित करना एवं लोगों की बचतों को जुटा कर देश के आर्थिक विकास में सहायता देना है। आशा की जाती है कि कालान्तर में ये बैंक निजी साहूकारों का स्थान ले लेंगे।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. भारतीय सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की कमियाँ तथा कठिनाइयाँ क्या हैं? इनके सुधार के सुझाव दीजिए। (आगरा, बी० कॉम, 1964)

   [संकेत—प्रथम भाग में व्यापारिक बैंकों के दोषों एवं कठिनाइयों की विस्तृत विवेचना कीजिए, दूसरे भाग में यह बताइए कि इन दोषों एवं कठिनाइयों को कैसे दूर किया जा सकता है?]

2. भारतीय व्यावसायिक बैंकों के वर्तमान कार्यों पर प्रकाश डालिए। (आगरा, 1969)

   [संकेत—भारतीय व्यावसायिक बैंक लगभग वे सभी कार्य सम्पन्न करते हैं जो एक सम्मिलित पूँजीवाला बैंक करता है देखिए 'व्यापारिक बैंकों के कार्य' नामक उपविभाग। इस सन्दर्भ में भारतीय व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति पर भी प्रकाश डालिए।]

3. व्यापारिक बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। उद्योगों को यह किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? (विक्रम, 1968)

   [संकेत—प्रथम भाग के लिए उपर्युक्त अध्याय को देखिए। दूसरे भाग में, यह बताइए कि व्यापारिक बैंक उद्योग-धन्धों को कार्यकारी पूँजी हेतु अल्पकालीन ऋण दे सकते हैं। लेकिन स्मरण रहे, व्यापारिक बैंक उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण देने की स्थिति में नहीं हैं क्योंकि उनकी अपनी जमाराशियाँ अल्पकालीन होती हैं।]

35

भारत में विदेशी विनिमय बैंक
(Foreign Exchange Banks in India)

विदेशी विनिमय बैंक क्या हैं ?

विदेशी विनिमय बैंकों से अभिप्राय उन बैंकों से है जो विदेशी विनिमय का कार्य करते हैं अथवा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं। भारत में विदेशी विनिमय बैंकों का इस समय महत्वपूर्ण स्थान है। इन बैंकों का प्रारम्भ 19 वीं शताब्दी में हुआ था जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन्हें कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की थीं। तब से लेकर आज तक विदेशी विनिमय बैंकों का भारत के विदेशी व्यापार में लगभग एकाधिकारात्मक स्थान (monopolistic position) चला आ रहा है। सन् 1947 से पूर्व भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रविष्ट होने के प्रयत्न किये थे किन्तु उन्हें सफलता प्राप्त न हो सकी। उदाहरणार्थ, सर्वप्रथम सन् 1920 में एलाइन्स बैंक ऑफ शिमला (Alliance Bank of Simla) ने इस क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ करने का प्रयास किया था किन्तु इसे सफलता प्राप्त न हो सकी। इसी प्रकार सन् 1935 में सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया (Central Bank of India) ने भी इस व्यवसाय में प्रविष्ट होने का असफल प्रयास किया था। *भारतीय बैंकों की इस असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :*

(1) **पूँजी का अभाव**—विदेशी बैंकों की तुलना में भारतीय बैंकों की कार्यकारी पूँजी (Working Capital) बहुत कम थी। *परिणामतः भारतीय बैंक अपनी पूँजी की अपर्याप्तता के कारण विदेशी बैंकों का मुकाबला नहीं कर सकते हैं।*

(2) **शाखाओं की कमी**—विदेशी बैंकों की शाखाएँ लगभग सभी देशों में थीं किन्तु भारतीय बैंकों की शाखाएँ ब्रिटेन को छोड़कर और कहीं नहीं थीं। *अतः भारतीय बैंक विदेशी विनिमय बैंकों का मुकाबला नहीं कर सकते थे।*

(3) *सरकार की ओर से सुविधाएँ*—सन् 1947 से पूर्व भारत सरकार विदेशी विनिमय बैंकों को सभी प्रकार की सुविधाएँ दिया करती थी। किन्तु, दुर्भाग्यवश, ये सुविधाएं भारतीय बैंकों को उपलब्ध नहीं थीं। इसके विपरीत, कभी-कभी विदेशी सरकारें उनके मार्ग में जान-बूझकर बाधाएँ पैदा कर दिया करती थीं। यहाँ तक कि भारतीय बैंकों को भारत सरकार से भी समुचित सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती थीं।

(4) **विदेशी व्यापार पर विदेशियों का आधिपत्य**—सन् 1947 से पूर्व भारत के विदेशी व्यापार पर विदेशी व्यापारियों का ही आधिपत्य था और वे केवल विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा ही अपने व्यापार की वित्तीय व्यवस्था (finance) कराया करते थे। इस प्रकार भारतीय बैंकों को इस व्यवस्था में प्रविष्ट होने के अवसर नहीं दिये जाते थे।

(5) **योग्य तथा कुशल कर्मचारियों का अभाव**—विदेशी बैंकों की तुलना में भारतीय बैंकों के कर्मचारी एवं अधिकारी कम योग्य तथा अकुशल होते थे। परिणामतः विदेशी बैंकों की कार्य कुशलता का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा हुआ करता था।

विदेशी विनिमय बैंकों के कार्य
(Functions of Foreign Exchange Banks)

इसके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं

(1) आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध (Financing Import Trade)— विदेशी विनिमय बैंक भारत के आयात व्यापार का बड़े पैमाने पर अर्थ प्रबन्ध करते हैं। बैंक आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध कैसे करते है इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि भारतीय आयातकर्ता की लन्दन मे अपनी एजेन्सी है और वह ब्रिटेन से माल का आयात करता है। इस दशा मे ब्रिटिश निर्यातकर्ता भारतीय आयातकर्ता पर विनिमय बिल लिखेगा और इसे आयातकर्ता की लन्दन स्थित एजेन्सी से स्वीकार कराके लन्दन के किसी विनिमय बैंक से उसकी *कटौती (discount) करा लेगा। इस प्रकार ब्रिटिश निर्यातकर्ता को अपने माल का मूल्य स्टर्लिंग* के रूप मे ब्रिटेन मे ही प्राप्त हो जायगा। अब लन्दन मे कटौती करने वाला विनिमय बैंक उस बिल को जहाजी रसीद समुद्री-बीमा तथा बीजक आदि प्रलेखो सहित भारत मे स्थित अपनी शाखा को भेज देगा। बैंक की भारत स्थित शाखा 60 दिन की अवधि समाप्त होने पर उस बिल को आयातकर्ता के सम्मुख प्रस्तुत करके उसकी राशि प्राप्त कर लेगी और उसे अपने लन्दन कार्यालय मे भेज देगी।

अब मान लीजिए कि भारतीय आयातकर्ता की लन्दन मे अपनी एजेन्सी नही है लेकिन फिर भी वह ब्रिटेन से माल का आयात करता है। इस दशा मे ब्रिटेन का निर्यातकर्ता भारतीय आयातकर्ता पर विनिमय बिल लिखेगा और उसके साथ ही जहाजी रसीद समुद्री-बीमा रसीद तथा बीजक आदि जोड़कर लन्दन के किसी विनिमय बैंक से कटौती करा लेगा। लन्दन का यह बैंक तब इसे अपनी भारत स्थित शाखा मे भेज देगा। भारत स्थित शाखा उस बिल को अधिकार पत्रो (Title Deeds) सहित *भारतीय आयातकर्ता* के सम्मुख प्रस्तुत करेगी। यदि बिल शोधन-बिल (Document on Payment) है तब बैंक आयातकर्ता को बिल की स्वीकृति प्राप्त करने के बाद अधिकार पत्र सौंप देगा और जब बिल की परिपक्वता-अवधि (period of maturity) *समाप्त हो जायगी, तब उस बिल को आयातकर्ता के सम्मुख पुन प्रस्तुत करके उसकी रकम वसूल* कर लेगा। स्मरण रहे कि उक्त दोनो ही अवस्थाओ मे विनिमय-बिल स्टर्लिंग मुद्रा मे लिखे जायेंगे।

(2) निर्यात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध (Financing Export Trade)- विदेशी विनिमय बैंक निर्यात व्यापार का *अर्थ-प्रबन्ध* भी बड़े पैमाने पर करते हैं। यह प्राय विनिमय-बिलो की स्वीकृति तथा कटौती द्वारा किया जाता है। इस सम्बन्ध मे विदेशी विनिमय बैंको की कार्यविधि को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—मान लीजिए कि कोई भारतीय फर्म ब्रिटेन *की किसी फर्म को माल का निर्यात करती है। तब वह ब्रिटिश फर्म पर अथवा उसके आदेश पर* किसी बैंक पर विनिमय बिल लिखेगी और उस बिल को जहाजी रसीद, बीमा रसीद तथा बीजक सहित किसी विनिमय बैंक के माध्यम से ब्रिटिश फर्म को भेजेगी। विनिमय बैंक उस बिल पर *ब्रिटिश आयातकर्ता फर्म की स्वीकृति प्राप्त करेगा। यदि भारतीय फर्म का विनिमय बैंक को यह* आदेश है कि वह ब्रिटिश आयातकर्ता को जहाजी कम्पनी की रसीद केवल उसी परिस्थिति मे दे जबकि ब्रिटिश आयातकर्ता उस बिल का पूर्ण भुगतान कर दे, तब ऐसे बिल को शोधन बिल *(Document on Payment or D P) कहा जाता है। इसके विपरीत यदि भारतीय फर्म* विनिमय बैंक को यह आदेश देती है कि वह केवल बिल पर ब्रिटिश आयातकर्ता की स्वीकृति प्राप्त करके जहाजी रसीद उसे सौप दे, तब बिल को स्वीकृति-बिल (Document on Acceptance) *कहा जाता है। स्वीकृत बिल साधारणत तीन महीनो मे शोधनीय (payable) होता है। भारत* के अधिकांश निर्यात व्यापार का अर्थ प्रबन्ध प्रायः स्वीकृत बिलो द्वारा ही किया जाता है। जब ब्रिटिश आयातकर्ता बिल को स्वीकार करके विनिमय बैंक को लौटा देता है तब बैंक उस स्वीकृत बिल को अपनी *भारत स्थित शाखा को भेज देता है और वह उसे भारतीय निर्यातकर्ता को लौटा* देती है। भारतीय निर्यातकर्ता उस बिल को तब तक अपने पास रखता है जब तक वह परिपक्व (Mature) नही हो जाता। जब वह परिपक्व हो जाता है तो भारतीय निर्यातकर्ता उसे पुन

विनिमय बैंक के माध्यम से ब्रिटिश आयातकर्ता को भुगतान प्राप्त करने हेतु भेज देता है, परन्तु साधारणत भारतीय व्यापारी बिल के परिपक्व होने की प्रतीक्षा नहीं करता। वह उसे विनिमय बैंक से भुना (Discount) लेता है और विनिमय बैंक उस बिल को परिपक्व होने तक अपने पास रखता है। जब यह बिल परिपक्व हो जाता है तब विनिमय बैंक अपनी लन्दन स्थित शाखा द्वारा उस बिल की राशि ब्रिटिश आयातकर्ता से वसूल कर लेता है। इस प्रकार विनिमय बैंक भारतीय निर्यातकर्ता को बिल की राशि रुपयो मे दे देता है और बिल के परिपक्व होने पर उसकी राशि स्टर्लिंग मे ब्रिटिश आयातकर्ता से प्राप्त कर लेता है।

(3) **आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध (Financing Internal Trade)**—विदेशी विनिमय बैंक केवल विदेशी व्यापार का ही अर्थ-प्रबन्ध नहीं करते, बल्कि विगत कई वर्षों से उन्होने भारत के आन्तरिक व्यापार का भी अर्थ-प्रबन्ध करना आरम्भ कर दिया है। ये बैंक देश मे बन्दरगाहो से भीतरी नगरो और भीतरी नगरो से बन्दरगाहों तक माल के लाने-ले जाने मे आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिकाश विनिमय बैंको ने देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रो मे अपनी शाखाएँ खोल रखी है। इस प्रकार ये बैंक न केवल विदेशी व्यापार बल्कि आन्तरिक व्यापार का भी अर्थ-प्रबन्ध करते हैं, चूंकि इनके पास इस कार्य के लिए पर्याप्त साधन होते हैं, इसलिए ये आन्तरिक व्यापार मे भारतीय व्यापारिक बैंको से कड़ी प्रतियोगिता करते हैं। इस प्रतियोगिता से भारतीय व्यापारिक बैंको के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस समय देश के कुछ भागो मे किये जाने वाले आन्तरिक व्यापार पर इन बैंको का लगभग पूर्ण एकाधिकार है। जैसे कानपुर के चमडे के व्यापार तथा पश्चिमी बगाल के जूट के व्यापार पर विदेशी विनिमय बैंक बुरी तरह से छाये हुए हैं।

(4) **साधारण बैंकिंग कार्य (Ordinary Banking Functions)**—कुछ विदेशी विनिमय बैंक साधारण बैंकिंग कार्य भी सम्पन्न करते हैं। वे लोगो से निक्षेप स्वीकार करते हैं, व्यापारियो को ऋण अथवा ओवरड्राफ्ट (Overdraft) सम्बन्धी सुविधायें देते हैं, देशी एव विदेशी बिलो की कटौती करते हैं। धन के स्थानान्तरण की सुविधायें प्रदान करते हैं तथा अपने ग्राहकों की ओर से उनके एजेन्ट के रूप मे कार्य करते हैं। चूंकि इन बैंको की साख एव प्रतिष्ठा ऊँची होती है, इसलिए लोगो का उनमे अधिक विश्वास होता है। परिणामत वे अपेक्षाकृत कम ब्याज की दरो पर निक्षेप आकर्षित करने में समर्थ हो जाते हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों की वर्तमान परिस्थिति

इस समय भारत मे 14 विदेशी विनिमय बैंक कार्य कर रहे हैं। कुछ प्रमुख विदेशी विनिमय बैंको के नाम इस प्रकार है—चार्टर्ड बैंक (Chartered Bank), मरकेनटाइल बैंक (Mercantile Bank), ईस्टर्न बैंक (Eastern Bank) हागकाग एण्ड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन (Hongkong and Shanghai Banking Corporation), नेशनल एण्ड ग्रिण्डले बैंक (National and Grindlay Bank), फर्स्ट नेशनल सिटी बैंक (First National City Bank), बैंक ऑफ अमरीका (Bank of America), बैंक ऑफ टोकियो (Bank of Tokyo), बैंक नेशनल डी पेरिस (Banque National de Paris), एलजीमेन बैंक ऑफ नेदरलैण्ड (Algemen Bank of Netherland), ब्रिटिश बैंक ऑफ दि मिडिल ईस्ट (British Bank of the Middle East) मितसुई बैंक (Mitsui Bank) इत्यादि। इनमे से कुछ बैंक बहुत लम्बे समय से भारत मे कार्य करते आ रहे है। कुछ तो भारत के प्रमुख मिश्रित पूँजी बैंको की स्थापना से पहले ही देश मे कार्य कर रहे थे। इन्होंने भारत मे वर्तमान बैंकिंग प्रणाली की नीव रखी थी। भारत मे इन्होने बैंकिंग आदत का विकास किया है तथा देश के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, विदेशी व्यापार मे आज भी विनिमय बैंको का लगभग पूर्ण एकाधिकार है। रिजर्व बैंक के एक अध्ययन के अनुसार आयात बिलो मे इन बैंको का भाग लगभग 90 प्रतिशत है और निर्यात बिलो मे इनका भाग लगभग 70 प्रतिशत है। विदेशी विनिमय बैंको की सफलता के मुख्य कारण इस प्रकार है

(1) **दीर्घकाल से कार्य**—विदेशी विनिमय बैंक भारत मे बहुत लम्बे समय से बैंकिंग कार्य

करते आ रहे हैं। अतः इनकी जड़ें अधिक मजबूत हो चुकी हैं। इनकी साख तथा प्रतिष्ठा बहुत ऊँची है। साधारणतः जनता का इनमे अधिक विश्वास होता है।

(2) **विशाल साधन**—विदेशी विनिमय बैंको के वित्तीय साधन भारतीय बैंको की तुलना मे कही अधिक हैं। इसका कारण स्पष्ट है। इन बैंको का विदेशो के मुद्रा-बाजारो से प्रत्यक्ष सम्पर्क रहता है जिसकी सहायता से ये अपने वित्तीय साधनो को बहुत बडी मात्रा मे बढा सकते हैं।

(3) **भारत में विदेशी व्यापार पर विदेशियो का आधिपत्य**—सन् 1947 से पूर्व भारत के आयात-निर्यात व्यापार पर विदेशी व्यापारियो का आधिपत्य हुआ करता था और वे अपना विदेशी विनिमय व्यवसाय इन्ही बैंको को दिया करते थे। परिणामत भारतीय बैंको को विकसित होने का अवसर ही नही मिलता था। सन् 1947 के बाद भारत के विदेशी व्यापार मे भारतीय व्यापारियो का भाग बढ गया है लेकिन फिर भी विदेशी विनिमय बैंको की स्थिति मे कोई आधार-मूलक परिवर्तन नही हुआ है। इसका कारण यह है कि भारतीय व्यापारी भी विदेशी व्यापार सम्बन्धी बैंकिंग व्यवसाय मे विदेशी बैंको को ही प्राथमिकता देते हैं।

(4) **बैंको का कुशल प्रबन्ध**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, भारतीय बैंको की तुलना मे विदेशी विनिमय बैंको की कार्यकुशलता का स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा होता है। परिणामत साधारण जनता का भारतीय बैंको की तुलना मे विदेशी बैंको मे अधिक विश्वास होता है।

(5) **नियन्त्रण का अभाव**—सन् 1947 से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने इन बैंको पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही लगाया था, बल्कि उन्हे कई प्रकार की सुविधाएँ दी जाती थी जो भारतीय बैंकों को उपलब्ध नही होती थी। फलत इन बैंको की स्थिति भारतीय बैंकों की तुलना मे अधिक सुदृढ रहती थी।

विदेशी विनिमय बैंको की सख्या मे बहुत कम परिवर्तन हुआ है। सन् 1960-61 मे इनकी सख्या 15 थी। सन् 1975-76 मे यह सख्या 14 हो गई थी। लेकिन इनके निक्षेपो मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् 1960-61 मे इन बैंको के कुल निक्षेप 217 85 करोड रुपये थे लेकिन सन् 1975-76 मे बढकर 853 46 करोड रुपये हो गये थे। इन बैंको के निक्षेप-नकदी अनुपात मे अधिकाशत ह्रास ही हुआ है। सन् 1960-61 मे यह अनुपात 5 59 प्रतिशत था लेकिन सन् 1975-76 मे यह बढकर 6 16 प्रतिशत हो गया था। इन बैंको के अग्रिमो एवं ऋणो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। सन् 1960-61 मे इनके ऋण एव अग्रिम 233 95 करोड रुपये थे लेकिन सन् 1975-76 मे ये बढकर 628 06 करोड रुपये हो गये थे।

विदेशी विनिमय बैंको के दोष

इनके दोष निम्नलिखित हैं

(1) **भारतीय व्यापारिक बैंकों से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा**—विदेशी विनिमय बैंक भारतीय बैंको से अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। अपने विशाल वित्तीय साधनो का लाभ उठाते हुए वे भारतीय जनता से कम ब्याज की दरो पर निक्षेप प्राप्त करने मे समर्थ हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, ये बैंक स्वय को विदेशी व्यापार तक ही सीमित नही रखते, बल्कि आन्तरिक व्यापार मे भी भारतीय बैंको से प्रतियोगिता करते हैं।

(2) **भारतीय जमाकर्ताओ के हितो की उपेक्षा**—सन् 1947 से पूर्व समुचित सरकारी नियन्त्रण के अभाव मे ये बैंक भारतीय जमाकर्ताओ के हितो की उपेक्षा किया करते थे, परन्तु सन् 1949 के बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत इन पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जमाकर्ताओ के हित अब इतने असुरक्षित नही हैं जितने कि पहले हुआ करते थे।

(3) **विदेशों मे नीति-निर्धारण**—इन बैंको के प्रधान कार्यालय विदेशो मे स्थित होते हैं। अत इनकी नीतियो का निर्धारण भी विदेशो मे ही किया जाता है। इस प्रकार इन बैंकों के नीति-निर्धारण मे भारतीयो का कुछ भी भाग नही होता। इसके अलावा, इन बैंको की नीतियो का निर्धारण भारतीय हितो को सामने रखकर नही किया जाता।

(4) **बैंकिंग नीति तथा कार्यों में गोपनीयता**—सन् 1949 के बैंकिंग नियमन अधिनियम से पूर्व इन बैंकों की आधारमूलक नीतियाँ एवं बैंकिंग कार्य अत्यन्त गोपनीय रखे जाते थे। यहाँ तक कि इनके हिसाब-किताब का भारत में अंकेक्षण (Auditing) तक नहीं होता था और न ही इनका वार्षिक स्थिति-विवरण प्रकाशित किया जाता था। परन्तु बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत अब यह दोष लगभग समाप्त कर दिया गया है।

(5) **भारत में नकद-कोषों का कम अनुपात रखना**—विदेशी विनिमय बैंक अपने निक्षेपों का एक बहुत ही कम प्रतिशत नकद-कोषों के रूप में भारत में रखते हैं। ये अपनी साख एवं प्रतिष्ठा के कारण इतना कम प्रतिशत बनाये रखने में भी सफल हो जाते हैं।

(6) **भारतीय आयातकर्ताओं को शोधन-बिल स्वीकार करने के लिए विवश करना**—ये बैंक भारतीय निर्यातकर्ताओं को तो स्वीकृत-बिलों (Document on Acceptance) के आधार पर माल का निर्यात करने के लिए विवश करते हैं, परन्तु भारतीय आयातकर्ताओं को विदेशों के माल का आयात शोधन-बिलों (Document on Payment) के आधार पर करने के लिए कहते हैं। वास्तव में, इनकी यह नीति न्यायसंगत नहीं है।

(7) **भारतीय व्यापारियों की आर्थिक स्थिति के बारे में झूठी सूचनाएँ देना**—इन बैंकों के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि ये भारतीय व्यापारिक फर्मों की आर्थिक स्थिति के बारे में विदेशी व्यापारियों को गलत सूचनाएँ देते हैं। इस प्रकार भारतीय व्यापारिक फर्मों की प्रतिष्ठा एवं साख पर इन बैंकों के कारण प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(8) **विदेशी बीमा एवं जहाजी कम्पनियों को प्रोत्साहन देना**—ये बैंक प्रायः विदेशी बीमा एवं जहाजी कम्पनियों को ही प्रोत्साहित करते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय व्यापारियों पर अनुचित दबाव डाला करते हैं कि वे विदेशी कम्पनियों की ही सेवाओं को प्राथमिकता दें। इस प्रकार इन बैंकों के कारण भारतीय बीमा तथा जहाजी कम्पनियों को हानि उठानी पड़ती है।

(9) **भारतीय व्यापारियों से अनुचित दण्ड वसूल करना**—विदेशी विनिमय बैंकों की यह आलोचना भी की जाती है कि ये भारतीय व्यापारियों द्वारा प्रसंविदा की शर्तों की अवहेलना किये जाने पर उनसे भारी आर्थिक दण्ड वसूल करते हैं। वास्तव में, ये बैंक भारतीय व्यापारियों के साथ कई प्रकार का अनुचित भेदभाव करते हैं।

(10) **भारतीय पूँजी का विदेशों में उपयोग करना**—ये बैंक प्रायः भारतीय पूँजी को एकत्रित करके विदेशों में औद्योगिक तथा अन्य प्रतिभूतियों में लगाया करते थे। इस प्रकार इन बैंकों की नीतियाँ भारत विरोधी थीं।

(11) **भारतीयों को उच्च पदों का न देना**—ये बैंक भारतीयों को प्रायः ऊँचे पदों से वंचित रखा करते थे। परिणामतः भारतीय कर्मचारी विदेशी विनिमय व्यवसाय में उचित प्रशिक्षण प्राप्त करने में असमर्थ रहते थे। इसके अलावा, ये बैंक भारतीय कर्मचारियों के साथ पक्षपात का व्यवहार किया करते थे। परन्तु विगत कुछ वर्षों से सरकारी दबाव के कारण इन्होंने ऊँचे पदों का कुछ भारतीयकरण करना आरम्भ कर दिया है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत विदेशी विनिमय बैंकों पर लगाये गये प्रतिबन्ध

विदेशी विनिमय बैंकों के उपर्युक्त दोषों के ही कारण बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत इन पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं

(1) **रिजर्व बैंक के पास पर्याप्त धनराशि जमा करना**—प्रत्येक विदेशी विनिमय बैंक को 15 लाख रुपये की चुकती पूँजी तथा प्रारक्षित निधि रिजर्व बैंक के पास जमा रखना अनिवार्य है। यदि बैंक का व्यवसाय बम्बई तथा कलकत्ता जैसे बड़े नगरों में भी होता है तब उसे 20 लाख रुपये की चुकती-पूँजी तथा प्रारक्षित निधि रिजर्व बैंक के पास जमा करनी पड़ती है। इन बैंकों को यह छूट दी गयी है कि उक्त धनराशि वे रिजर्व बैंक के पास नकदी अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रख सकते हैं।

36

भारत में देशी बैंकर्स

(Indigenous Bankers in India)

देशी बैंकर की परिभाषा

जैसा हम पूर्व देख चुके हैं—भारतीय मुद्रा बाजार मे देशी बैंकरों तथा महाजनो का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार देशी बैंकर अथवा बैंक वह व्यक्ति अथवा निजी फर्म होती है जो निक्षेपो को स्वीकार करने हुण्डियो का व्यवसाय करने अथवा ऋणो को देने का कार्य करती है। देशी बैंकरो को भारत के विभिन्न राज्यो मे विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। पजाब मे इन्हे महाजन उत्तर प्रदेश मे साहूकार मारवाड मे सेठ महाराष्ट्र मे सर्राफ तथा मद्रास मे चेट्टी कहा जाता है। देशी बैंकर भारत मे प्राचीन समय से बैंकिंग कार्य करते आ रहे हैं। इनका कार्यक्षेत्र मुख्यत ग्रामीण क्षेत्रो, छोटे छोटे नगरो तथा कस्बो तक ही सीमित रहता है, यद्यपि देशी बैंकर्स बडे बडे औद्योगिक एव व्यापारिक केन्द्रो मे भी पाये जाते हैं। देशी बैंकरो का मुख्य कार्य कृषि आन्तरिक व्यापार तथा छोटे उद्योग-धन्धो की वित्तीय व्यवस्था करना है।

देशी बैंकर तथा साहूकार मे अन्तर

ये इस प्रकार हैं

(1) देशी बैंकर न केवल ऋण ही देता है, बल्कि अपने ग्राहको से निक्षेप भी स्वीकार करता है। इसके विपरीत, साहूकार ग्राहको को केवल ऋण ही देता है, उनसे निक्षेप स्वीकार नही करता है।

(2) देशी बैंकर मुख्यत व्यापार एव उद्योग धन्धो के लिए ऋण देता है जबकि साहूकार कृषि एव उपभोग्य उद्देश्यो (Consumption Purposes) के लिए ऋण देता है।

(3) देशी बैंकर साहूकार की अपेक्षा कम ब्याज की दर पर ऋण देता है।

(4) देशी बैंकर मुख्यत बैंकिंग कार्य ही करता है जबकि साहूकार ऋण देने के अलावा दुकानदारी अथवा व्यापार भी करता है।

देशी बैंकरो के कार्य (Functions of Indigenous Bankers)—देशी बैंकरो के कार्यों को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(क) बैंकिंग कार्य, (ख) गैर बैंकिंग कार्य।

(क) बैंकिंग कार्य (Banking Functions) – देशी बैंकरो के बैंकिंग कार्य निम्नलिखित हैं

(1) **निक्षेप स्वीकार करना**—देशी बैंकर अपने ग्राहको से निक्षेप भी स्वीकार करते हैं। ये निक्षेप दो प्रकार के होते हैं—*प्रथम*, वे निक्षेप जो *माँग पर देय* (*Payable on Demand*) होते है। **दूसरे** वे निक्षेप जो एक निश्चित्त अवधि के बाद देय होते हैं। साधारणत देशी बैंकर व्यापारिक बैको की अपेक्षा निक्षेपो पर ऊँची ब्याज की दर देते है किन्तु उनके निक्षेपो को चैको द्वारा नही निकाला जा सकता है।

(2) **ऋणों का देना**— वास्तव में यह देशी बैंकरों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। देशी बैंकर लगभग सभी प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देते हैं। साधारणतः वे भूमि, फसल, सोना, चाँदी के आधार पर ऋण देते हैं। वे कभी कभी अपने ग्राहकों को वस्तुओं के रूप में भी ऋण देते हैं और उसे वस्तुओं के रूप में ही वसूल करते हैं। उदाहरणार्थ, ये कभी कभी कारीगरों को कच्चा माल उधार देते हैं और तैयारशुदा माल उनसे लेते हैं। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में देशी बैंकरों की कुछ बड़ी बड़ी फर्में उद्योगपतियों को भी उचित प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देती हैं। देशी बैंकर *व्यक्तिगत जमानत (Personal Security)* पर भी ऋण देने के लिए तैयार हो जाते हैं यद्यपि ऐसे ऋणों पर वे ऊँची ब्याज की दर लेते हैं। साधारणतः अच्छी प्रतिभूतियों के आधार पर दिये गये ऋण के लिए वे 6 प्रतिशत से लेकर 1[illegible] प्रतिशत तक ब्याज वसूल करते हैं किन्तु घटिया अथवा अपर्याप्त प्रतिभूतियों के आधार पर दिये गये ऋण पर वे कभी-कभी 50 प्रतिशत तक ब्याज लेते हैं।

देशी बैंकरों की उधार देने की विधियाँ इस प्रकार हैं

(अ) **प्रतिज्ञा-पत्र के आधार पर ऋण**—साधारणतः देशी बैंकर प्रतिज्ञा पत्र के आधार पर ही ऋण देते हैं। वे ऋणी से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा लेते हैं जिसमें ऋणी एक निश्चित अवधि के बाद मूलधन को ब्याज सहित लौटाने का वायदा करता है। इस प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋणी के अलावा दो अन्य व्यक्तियों के जमानती हस्ताक्षर भी करा लिये जाते हैं।

(आ) **रसीद के आधार पर ऋण**—इसमें देशी बैंकर प्रतिज्ञा पत्र के स्थान पर ऋण लेने वाले व्यक्ति से केवल एक रसीद ही लिखवाता है। उसी रसीद में ब्याज की दर भी लिख दी जाती है। वास्तव में, यह ऋण देने का बहुत ही सरल तरीका है।

(इ) **तमस्सुक के आधार पर ऋण**—कभी कभी देशी बैंकर ऋणी से तमस्सुक अथवा दस्तावेज लिखवा लेते हैं। ये दस्तावेज स्टाम्प के कागजों पर लिखे जाते हैं। इसमें ऋणी मूलधन को निश्चित ब्याज की दर पर निश्चित अवधि के उपरान्त लौटाने का वचन देता है।

(ई) **टिकट बही**—इसके अन्तर्गत ऋण की रकम बैंकर की बही में लिख दी जाती है और उसके सामने सरकारी टिकट पर ऋणी के हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं। इसमें ब्याज की दर तथा ऋण लौटाने की अवधि का उल्लेख नहीं किया जाता है। ये दोनों ऋणी तथा ऋणदाता में आपसी बातचीत द्वारा तय कर लिये जाते हैं। स्मरण रहे कि इस प्रकार के ऋणों को न्यायालय भी मान्यता [illegible] है।

(उ) **किस्त प्रणाली**—किस्त प्रणाली के अन्तर्गत ऋणी मूलधन तथा ब्याज को निश्चित किस्तों में चुकाने का वचन देता है। पहली किस्त ऋण देते समय ही ऋण की राशि में से काट ली जाती है

(ऊ) **हाथ उधार**—इसमें बिना किसी लिखित पत्र के ऋणदाता ऋणी को उधार दे देते हैं। कभी कभी उधार लेने वाला व्यक्ति ऋण को लौटाने की शपथ भी लेता है। परन्तु इस प्रकार के उधार में किसी प्रकार की लिखा पढ़ी नहीं होती। स्पष्ट है कि इस प्रकार का उधार केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाता है जिनमें ऋणदाता का विश्वास होता है।

(ए) **गिरवी**—इसमें ऋणदाता सोना चाँदी, जेवरात तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं के आधार पर ऋण को ऋण देता है। दूसरे शब्दों में ऋणदाता इन वस्तुओं की आड़ रखकर ही ऋणी को ऋण प्रदान करता है। स्मरण रहे कि ऋणदाता प्रतिभूति के रूप में रखी गयी वस्तु का पूर्ण मूल्य ऋण के रूप में नहीं देता बल्कि अपनी सुरक्षा हेतु कुछ मार्जिन (margin) अवश्य रख लेता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई ऋणी जेवरात की जमानत पर ऋण लेना चाहता है तो ऋणदाता जेवरात के पूर्ण मूल्य को उसे ऋण के रूप में नहीं देगा बल्कि जेवरात के मूल्य का $\frac{2}{3}$ या $\frac{3}{4}$ ऋण के रूप में प्रदान करेगा।

(ऐ) **रहन**—इसके अन्तर्गत, ऋणदाता भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति को अपने पास रखकर ऋणी को ऋण देता है। स्मरण रहे, यहाँ पर भी ऋणदाता अपनी सुरक्षा हेतु अचल सम्पत्ति

के मूल्य मे कुछ मार्जिन अवश्य ही रख लेता है। गिरवी तथा रहन मे अन्तर केवल इतना होता है कि गिरवी चल सम्पत्ति से और रहन अचल सम्पत्ति से सम्बन्धित होता है।

(ओ) जिन्स के रूप मे ऋण —गाँव का साहूकार कभी कभी किसानो को जिन्स के रूप मे भी ऋण देता है, अर्थात् वह मुद्रा के रूप मे न देकर अनाज के रूप मे उन्हे ऋण देता है। इस प्रकार के ऋण किसानो द्वारा फसल तैयार हो जाने पर लौटा दिये जाते हैं। साधारणत मूल ऋण का सवाया अथवा ड्योढा साहूकार को लौटाया जाता है।

(3) **हुण्डियो का व्यवसाय**—देशी बैंकर उपर्युक्त दो कार्यों के अतिरिक्त हुण्डियो का व्यवसाय भी करते हैं। वे हुण्डियां लिखते हैं तथा उनका क्रय-विक्रय करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे व्यापारियो को हुण्डियो की कटौती (Discount) भी करते हैं। वास्तव मे देशी बैंकरो का हुण्डी व्यवसाय इनके लिए बहुत ही लाभपूर्ण होता है।

(ख) **गैर बैंकिंग कार्य (Non Banking Functions)** इनके गैर बैंकिंग कार्य इस प्रकार हैं

(1) **दुकानदारी**—अधिकाश देशी बैंकर उपरोक्त बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त व्यापार एव दुकानदारी भी करते हैं। कुछ बैंकरो का व्यापार तथा दुकानदारी इनके बैंकिंग कार्यो से भी अधिक लाभपूर्ण होता है। इस प्रकार अधिकाश देशी बैंकर बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग कार्यो को एक साथ करते है।

(2) **व्यापारिक फर्मो के एजेण्ट के रूप मे कार्य**—कभी-कभी देशी बैंकर साधारण व्यापार के साथ साथ बड़ी बड़ी फर्मो के एजेण्ट के रूप मे भी कार्य करते हैं वे उनका माल बेचते है और उसके लिए उनसे निश्चित कमीशन प्राप्त करते हैं।

देशी बैंकरो की पूंजी—देशी बैंकर साधारणत अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यो एव रिश्तेदारो की पूंजी स भी काम चलाते हैं। परन्तु कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर वे व्यापारिक बैंको से भी उचित प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण प्राप्त करते हैं। व्यापारिक बैंक ऊँची साख एव प्रतिष्ठा वाले देशी बैंकरो को ऋण देने के लिए सदैव तैयार रहते है। वे इन्हे न केवल ऋण ही देते है बल्कि इनकी हुण्डियो की कटौती भी करते हैं। वे इन्हे सस्ती दरो पर धन स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान करते है।

देशी बैंकरो की कार्य-प्रणाली के दोष एवं त्रुटियाँ

(1) **बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यवसायो का सम्मिश्रण**—जैसा ऊपर कहा गया है, देशी बैंकर साधारणत बैंकिंग तथा गैर-बैंकिंग व्यवसायो को एक साथ चलाते हैं। वास्तव मे, यह प्रथा बैंकिंग के समुचित सिद्धान्तो के विपरीत है। एक अच्छे बैंकर को किसी भी दशा मे गैर-बैंकिंग व्यवसाय नही करना चाहिए क्योकि ऐसा करने से उसके बैंकिंग व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कभी कभी तो इससे बैंकर को अपने बैंकिंग व्यवसाय मे बहुत हानि हो जाती हैं।

(2) **पूंजी का अभाव**—देशी बैंकरो के पास पूंजी की कमी रहती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी पूंजी सीमित होती है और अन्य स्रोतो से उन्हे पर्याप्त मात्रा मे पूंजी उपलब्ध नही होती। परिणामत उनका बैंकिंग व्यवसाय सीमित ही रहता है।

(3) **बैंकिंग सिद्धान्तो की अवहेलना**—देशी बैंकर साधारणत समुचित बैंकिंग सिद्धान्तो का परिपालन नही करते हैं और अक्सर अपर्याप्त एव घटिया किस्म की प्रतिभूतियो के आधार पर भी ऋण दे देते है। इसके अलावा वे प्राय अचल सम्पत्ति के आधार पर भी ऋण देना स्वीकार कर लेते हैं जो समुचित बैंकिंग सिद्धान्तो के बिलकुल विपरीत है। यही नही, देशी बैंकर कभी-कभी व्यक्तिगत जमानत पर भी उधार दे देते हैं। । इससे उन्हे कभी-कभी बहुत हानि उठानी पड़ती है।

(4) **कार्यविधि मे असमानता**—देशी बैंकरो की कार्यविधियो मे भारी अन्तर पाया जाता है। परिणामत इनके बैंकिंग कार्यों का निरीक्षण एव अंकेक्षण (auditing) करना बहुत कठिन होता है।

(5) **हिसाब-किताब की गोपनीयता**—देशी बैंकर अपने बैंकिंग कार्य सम्बन्धी हिसाब-किताब को अत्यन्त गोपनीय रखते हैं। वे न तो हिसाब किताब का अंकेक्षण कराते हैं और न ही अपने वार्षिक विवरण-पत्रों को प्रकाशित करते है। इस प्रकार रिजर्व बैंक को उनकी वित्तीय स्थिति के बारे मे बिलकुल भी जानकारी नही होती है।

(6) **परस्पर प्रतियोगिता**—सगठित बैंकों की भाँति देशी बैंकरो मे कडी प्रतियोगिता रहती है जिससे व्यवसाय के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(7) **ऊँची ब्याज की दरें**—साधारणत देशी बैंकर ऋण देते समय अपने ग्राहको से सगठित बैंको की तुलना मे बहुत ऊँची ब्याज दरें वसूल करते हैं।

(8) **धोखाधडी**—छोटे छोटे देशी बैंकर एव साहूकार बैंकिंग व्यवसाय मे धोखाधडी करने भी बाज नही आते। इनमे ग्राहको का लूटने की कई प्रकार की कुप्रथाएँ प्रचलित है। उदाहरणार्थ ऋण राशि मे से अनुचित कटौतियाँ करना, ऋण की मात्रा को बढाकर लिखना, ऋण प्राप्ति की रसीद न देना आदि।

देशी बैंकरो की कार्य-प्रणाली मे सुधार करने के सुझाव

इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं

(1) **देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करना**—प्रथम सुझाव यह दिया गया है कि देशी बैंकरो को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित किया जाय। इसके फलस्वरूप देशी बैंकरो के दोष एव त्रुटियाँ स्वत ही समाप्त हो जायेगी और वे सगठित आधार पर बैंकिंग व्यवसाय करने लगेंगे। इसके अलावा, रिजर्व बैंक से सम्बन्धित होने के नाते उन्हे सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने लगेंगी जो इस समय अनुसूचित बैंको को दी जाती हैं अर्थात वे भी रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकेंगे और अपने बिलो की पुन कटौती करा सकेंगे।

(2) **देशी बैंकरो का बैंकिंग व्यवसाय उनके गैर-बैंकिंग व्यवसाय से पृथक करना**—यह भी सुझाव दिया गया है कि देशी बैंकरो को या तो अपने गैर बैंकिंग व्यवसाय समाप्त कर देने चाहिए और यदि यह सम्भव न हो तो उन्हे अपने बैंकिंग व्यवसाय को गैर बैंकिंग व्यवसाय से बिलकुल अलग कर देना चाहिए। इससे उनकी कार्य प्रणाली मे आवश्यक सुधार करने मे बहुत सहायता मिलेगी।

(3) **उनके बैंकिंग कार्य को आधुनिक आधार पर सगठित करना**—तीसरा सुझाव यह दिया गया है कि देशी बैंकरो को अपना बैंकिंग कार्य आधुनिक प्रणाली के आधार पर सगठित करना चाहिए। उन्हे अपनी प्राचीन एव परम्परागत कार्य प्रणाली का पूर्णत परित्याग कर देना चाहिए। उन्हे अपने हिसाब-किताब को वैज्ञानिक आधार पर रखना चाहिए और समय समय पर उनका अंकेक्षण कराना चाहिए।

(4) **उन्हे असीमित देयता के आधार पर सगठित करना**—चौथा सुझाव यह दिया गया है कि देशी बैंकरो को असीमित देयता (Unlimited Liability) के आधार पर सगठित किया जाना चाहिए क्योंकि इसी प्रणाली के अन्तर्गत वे अपने उत्तरदायित्व को अनुभव करेंगे और जोखिमपूर्ण कार्यों से बचने का प्रयत्न करेंगे।

(5) **उनकी आपसी प्रतियोगिता को समाप्त करना**—इस सम्बन्ध मे पाँचवा सुझाव यह दिया गया है कि देशी बैंकरो की आपसी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए उनके सघ बना दिये जायें अर्थात् छोटे छोटे देशी बैंकरो का विलय करके बडी बडी बैंकिंग फर्में स्थापित की जायें।

(6) **धोखाधडी की रोकथाम करना**—देशी बैंकरो की साख एव प्रतिष्ठा को ऊँचा करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनके द्वारा किये गये धोखाधडी के व्यवहार पर कानून बना कर उचित नियन्त्रण किया जाय।

यदि उपर्युक्त सुझावों को कार्यरूप मे परिणत किया जाय तो देशी बैंकरो की कार्य प्रणाली मे आवश्यक सुधार किये जा सकते हैं और उन्हे देश की बैंकिंग प्रणाली का सम्मानित अग बनाया जा सकता है।

देशी बैंकरों को संगठित बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित करने की योजनाएँ

जैसा हम पूर्व कह चुके हैं—रिजर्व बैंक के निर्माणकर्ताओं ने रिजर्व बैंक एक्ट में ही यह व्यवस्था कर दी थी कि रिजर्व बैंक शीघ्रातिशीघ्र देशी बैंकरों को देश की संगठित बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित करने का प्रयत्न करेगा। इसी आदेशानुसार सन् 1937 में रिजर्व बैंक ने एक योजना बनायी थी जिसके अन्तर्गत कुछ निश्चित शर्तों को पूरा करने पर देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में सम्मिलित किया जा सकता था। ये शर्तें इस प्रकार थी :

(क) न्यूनतम व्यवसाय—केवल उसी बैंकर को रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में सम्मिलित किया जा सकता था जिसका व्यवसाय कम से कम 2 लाख रुपये का था और जो उसे 5 वर्ष की अवधि में 5 लाख रुपये के बराबर करने को तैयार था।

(ख) गैर-बैंकिंग व्यवसाय की समाप्ति—प्रत्येक ऐसे देशी बैंकर के लिए अपना गैर-बैंकिंग व्यवसाय पूर्णतः समाप्त करना आवश्यक था।

(ग) निरीक्षण एवं अंकेक्षण—प्रत्येक ऐसे देशी बैंकर को अपने हिसाब-किताब का अंकेक्षण कराना अनिवार्य था। इसके अलावा, उसे समय समय पर रिजर्व बैंक के अधिकारियों द्वारा अपने बैंकिंग कार्य का निरीक्षण कराना जरूरी था।

(घ) आवश्यक विवरण प्रस्तुत करना—प्रत्येक ऐसे देशी बैंकर के लिए यह भी आवश्यक था कि वह समय समय पर अपने बैंकिंग कार्य से सम्बन्धित स्थिति-विवरण रिजर्व बैंक को भेजता रहे और निश्चित समयों पर उनका प्रकाशन भी करता रहे।

(ङ) संघों का निर्माण—जो देशी बैंकर रिजर्व बैंकर से सुविधाएँ प्राप्त करने के इच्छुक थे उनके लिए यह आवश्यक था कि वे अपने आपको संघों में संगठित करें।

इन शर्तों के साथ ही साथ रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को वे सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की जो अन्य अनुसूचित बैंकों को उपलब्ध थीं। परन्तु इसके बावजूद भी देशी बैंकरों ने रिजर्व बैंक की उक्त योजना को स्वीकार नहीं किया। इसके तीन कारण थे—प्रथम, देशी बैंकर अपना गैर-बैंकिंग व्यवसाय अर्थात् व्यापार, दुकानदारी इत्यादि छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। दूसरे वे अपने हिसाब किताब का भी रिजर्व बैंक द्वारा निरीक्षण कराने के विरुद्ध थे। तीसरे चूँकि उन्हें व्यापारिक बैंकों से पहले ही पर्याप्त आर्थिक सहायता मिल रही थी, इसलिए उन्हें रिजर्व बैंक की योजना में कोई विशेष आकर्षण नहीं था। अतः उन्होंने रिजर्व बैंक की योजना को अस्वीकार कर दिया था।

तदुपरान्त, सन् 1938 में रिजर्व बैंक ने अपनी योजना की शर्तों को और अधिक सरल बना दिया, लेकिन इसके बावजूद देशी बैंकरों ने उसे स्वीकार नहीं किया। सन् 1941 में रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को संगठित बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित करने हेतु दूसरी योजना बनायी थी। परन्तु, दुर्भाग्य से, देशी बैंकरों ने इसे भी अस्वीकार कर दिया था। इसके उपरान्त, सन् 1969 में राष्ट्रीयकरण के बाद रिजर्व बैंक ने एक बार फिर इस दिशा में प्रयत्न किया लेकिन पहले की भाँति यह भी विफल हो गया। वर्तमान परिस्थिति यह है कि देशी बैंकर आज भी रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि से बाहर हैं। सन् 1949 का बैंकिंग कम्पनीज एक्ट उन पर लागू नहीं होता। भारत की बैंकिंग व्यवस्था में देशी बैंकरों का पृथक अस्तित्व बना हुआ है। वास्तव में, भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की यह एक भारी त्रुटि है। इसी के कारण ही रिजर्व बैंक साख को प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित नहीं कर सकता। अतः आवश्यकता इस बात की है कि देशी बैंकरों को संगठित बैंकिंग प्रणाली में सम्मिलित करने का एक और प्रयास किया जाय।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए बैंकिंग आयोग ने फरवरी, 1972 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी कि देशी बैंकरों पर व्यापारिक बैंकों के माध्यम से नियन्त्रण स्थापित किया जाय। आयोग के अनुसार भारत की बैंकिंग व्यवस्था में देशी बैंकर महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। वे व्यापार एवं उद्योगों में लगे छोटे-छोटे एवं मध्यम श्रेणी के व्यवसायियों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उनकी कार्य प्रणाली अत्यन्त लचीली है। वे औपचारिकताओं पर अधिक जोर नहीं देते। उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए बैंकिंग आयोग

ने सिफारिश की थी कि उन्हें भारत की संगठित बैंकिंग प्रणाली के भीतर लाया जाय और उन्हें व्यापारिक बैंकों द्वारा बट्टे की सुविधाएँ प्रदान की जायें। लेकिन ये सुविधाएँ प्राप्त करने हेतु उन्हें निम्नलिखित शर्तें पूरी करनी होंगी

(i) वे बैंकिंग तक ही अपने आपको सीमित रखें। व्यापार करना छोड़ दें, (ii) वे अपने बैंकिंग व्यवसाय में कम से एक लाख रुपये की पूँजी लगायें, (iii) अपने हिसाब किताब को नियमित ढंग से रखें और उसका अंकेक्षण (auditing) करायें, (iv) अपने व्यवसाय का वार्षिक विवरण रिजर्व बैंक को प्रस्तुत करें, (v) अपने आपको एक संघ में संगठित करें।

बैंकिंग आयोग ने यह स्वीकार किया था कि देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न तो आवश्यक है और न ही व्यावहारिक। रिजर्व बैंक को चाहिए कि व्यापारिक बैंकों के माध्यम से ही उन पर नियन्त्रण लागू करे।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **देशी बैंकरों पर एक निबन्ध लिखिए और उनकी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालिए। उनके दोषों को दूर करने के लिए आपके क्या सुझाव हैं?** (राजस्थान, 1958)

   [संकेत—प्रथम भाग में, देशी बैंकरों की परिभाषा देते हुए उनकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालिए। तदुपरान्त, यह बताइए कि उनकी कार्य-प्रणाली में कौन-कौन से दोष एवं त्रुटियाँ पायी जाती हैं। इसके साथ ही यह बताइये कि उनके दोषों एवं त्रुटियों को दूर करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि उन्हें रिजर्व बैंक से सम्बन्धित कर दिया जाय। इससे एक ओर तो रिजर्व बैंक उन पर नियन्त्रण रख सकेगा और दूसरी ओर उन्हें वे सब सुविधाएँ उपलब्ध होने लगेंगी जो अन्य बैंकों को मिलती हैं।]

2. **देशी बैंकिंग प्रणाली को समाप्त करने के बजाय उसका सुधार करना अधिक अच्छा है। इसकी विवेचना कीजिए।** (विक्रम, 1964)

   [संकेत—यहाँ पर पहले देशी बैंकिंग प्रणाली द्वारा सम्पन्न किये गये कार्यों की विस्तृत विवेचना कीजिए। तदुपरान्त इस प्रणाली के दोषों एवं त्रुटियों पर प्रकाश डालिए। दूसरे भाग में यह बताइए कि इस प्रणाली को समाप्त करना देश के हित में नहीं होगा क्योंकि इस समय यह प्रणाली देश की बैंकिंग व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर रही है। लगभग 80 प्रतिशत वित्त की पूर्ति इसी प्रणाली द्वारा की जा रही है। अतः इस प्रणाली में आवश्यक सुधार करके इसे बैंकिंग व्यवस्था का अभिन्न अंग बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह बताइए कि इस प्रणाली में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक के साथ जोड़ दिया जाय। इससे इस प्रणाली के दोष एवं त्रुटियाँ स्वतः ही दूर हो जायेंगी।]

3. **भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य अंग क्या हैं? व्यापार एवं उद्योगों की वित्त व्यवस्था करने में उनका क्या महत्त्व है?** (जीवाजी, ग्वालियर, 1971)

   [संकेत—भारतीय मुद्रा बाजार को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, संगठित अथवा आधुनिक भाग। दूसरे असंगठित अथवा स्वदेशी भाग। प्रथम भाग में, रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंक, विदेशी विनिमय बैंक, सरकारी वित्तीय एजेन्सियाँ, तथा सहकारी बैंक हैं। रिजर्व बैंक तथा सहकारी बैंकों को छोड़कर ये सभी बैंक व्यापार एवं उद्योग धन्धों की वित्त व्यवस्था करते हैं। असंगठित भाग में साहूकार, महाजन, सर्राफ इत्यादि मुख्यतः छोटे छोटे व्यापारियों एवं लघु उद्योगों की वित्त व्यवस्था करते हैं।]

37

भारत में बैंकिंग विधान

(Banking Legislation in India)

जैसा विदित है, सभी देशों में अब अबन्ध-नीति (Laissez Faire) के दिन लद गये हैं। सभी देशों में अब सरकारें आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करती हैं। बैंकिंग भी इसका अपवाद नहीं है। यही कारण है कि लगभग सभी देशों में सरकार कानून द्वारा बैंकिंग प्रणाली में हस्तक्षेप करती है। भारत जैसे देश में तो बैंकिंग प्रणाली में सरकार का हस्तक्षेप और भी आवश्यक हो जाता है। इसके कई कारण है

(1) **बैंकों का अधिक संख्या में फेल होना** जैसा हम देख चुके हैं, भारत में समय समय पर अनेक बैंक फेल हुए हैं और बैंकों के फेल होने का यह क्रम अब भी जारी है। स्पष्ट है कि बैंकों के फेल होने से जनता के विश्वास को आघात पहुँचता है और बैंकिंग विकास के मार्ग में कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। अतः बैंकों को फेल होने से बचाने तथा बैंकिंग के स्वस्थ विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सरकार कानून द्वारा बैंकिंग क्षेत्र में हस्तक्षेप करे और बैंकों के प्रबन्ध एवं सचालन में आवश्यक सुधार करे।

(2) **बैंकिंग का असन्तुलित विकास होना**—जैसा हम देख चुके हैं—दुर्भाग्य से भारत में बैंकों का विकास सन्तुलित ढङ्ग से नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, विभिन्न बैंकों की शाखाएँ बिना किसी योजना के अविवेकपूर्ण ढङ्ग से खोली गयी हैं। परिणामतः बैंकों में आपसी प्रतिस्पर्धा बहुत बढ़ गयी है। जहाँ बड़े बड़े औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्रों में बैंकों की बहुत-सी शाखाएँ हैं, वहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में एवं छोटे-छोटे कस्बों में बैंकिंग सुविधाओं का लगभग पूर्णतः अभाव है। अतः वर्तमान स्थिति को सुधारने एवं बैंकिंग का सन्तुलित विकास करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि कानून द्वारा सरकार बैंकिंग क्षेत्र में हस्तक्षेप करे।

(3) **स्वदेशी बैंकर्स तथा संगठित बैंकिंग में समन्वय का अभाव**—जैसा हम देख चुके है, भारत में स्वदेशी बैंकरों तथा व्यापारिक बैंकों में सहयोग एवं समन्वय का पूर्ण अभाव है जिसके फलस्वरूप देश के बैंकिंग विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और साख का नियन्त्रण भी प्रभावपूर्ण ढङ्ग से नहीं हो पाता। अतएव इन दोनों भागों (sections) में समुचित समन्वय स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि कानून द्वारा सरकार बैंकिंग क्षेत्र में हस्तक्षेप करे।

भारत में बैंकिंग विधान का इतिहास

सन् 1913 से पूर्व भारत में बैंकों को नियन्त्रित करने के लिए कोई विशेष कानून नहीं हुआ करता था। उस समय केवल एक ही कानून था जो अप्रत्यक्ष रूप से बैंकिंग पर थोड़ा-बहुत नियन्त्रण करता था। वह था सन् 1881 का निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेण्ट्स एक्ट (Negotiable Instruments Act)। परन्तु सन् 1905 में बैंकिंग सङ्कट ने स्पष्ट कर दिया था कि उक्त कानून बैंकिंग का नियन्त्रण करने में असमर्थ था। परिणामतः सन् 1913 में इण्डियन कम्पनीज एक्ट (Indian Companies Act) में बैंकिंग कम्पनियों से सम्बन्धित अलग से व्यवस्था कर दी गयी थी। परन्तु यह क़ानून भी बैंकिंग को प्रभावपूर्ण ढङ्ग से नियन्त्रित करने में असफल सिद्ध हुआ था। इस

कानून के बावजूद देश मे अनेक बैंक फेल हुए थे। इसके बाद सन् 1934 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पारित किया गया। इस कानून के अन्तगत बैंको के नियन्त्रण हेतु रिजर्व बैंक को कई प्रकार के अधिकार दिये गये थे परन्तु इससे भी स्थिति मे कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। सन् 1936 मे इण्डियन कम्पनीज एक्ट मे पुन सशोधन किया गया लेकिन इसके बावजूद बैंकिंग व्यवस्था म कोई विशेष सुधार नही हो सका और बैंको के सचालको के कुप्रबन्ध के कारण बैंक बरावर फेल होते रहते थे। सन् 1939 म रिजर्व बैंक ने सरकार के सामने यह सुझाव रखा कि स्थिति मे सुधार करने के लिए इण्डियन कम्पनीज एक्ट से अलग एक बैंकिंग कानून बनाया जाय। परन्तु दूसरे विश्व युद्ध के छिड जाने के कारण भारत सरकार इस दिशा मे कोई कदम नही उठा सकी। सन् 1943 44 मे सरकार ने इण्डियन कम्पनीज एक्ट म पुन सशोधन किया और इसके अन्तर्गत बैंको का नियन्त्रण करने हेतु रिजर्व बैंक को और अधिक अधिकार सौपे गये। सन् 1946 मे भारत सरकार ने एक अध्यादेश (Ordinance) जारी करके रिजर्व बैंक को बहुत ही व्यापक अधिकार दे दिये। इस अध्यादेश के अन्तर्गत रिजर्व बैंक किसी भी बैंक का किसी समय निरीक्षण कर सकता था। यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक के आदेशो का पालन नही करता था तो रिजर्व बैंक को उसे अनुसूचित बैंको की सूची से निकालने का पूर्ण अधिकार था। सन 1949 मे सरकार ने यह अनुभव किया कि देश मे बैंकिंग के स्वस्थ विकास के लिए एक नये एव स्वतन्त्र बैंकिंग कानून की आवश्यकता थी। अत मार्च 1949 मे बैंकिंग कम्पनीज एक्ट (Banking Companies Act) पारित किया गया। इस समय भारतीय बैंकिंग प्रणाली का नियन्त्रण एव नियमन रिजर्व बैंक द्वारा इसी कानून के अन्तर्गत किया जा रहा है। कानून मे समय-समय पर आवश्यकतानुसार सशोधन भी किये गये हैं। सितम्बर 1965 मे किये गये एक सशोधन के अनुसार अब इस कानून का नाम बदलकर बैंकिंग नियमन अधिनियम (Banking Regulation Act) कर दिया गया है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949
(Banking Regulation Act 1949)

अब हम इस कानून का विस्तृत अध्ययन करेंगे

(1) बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 के उद्देश्य—इस कानून के पारित होने से पूर्व भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे कई प्रकार के दोष एव त्रुटियाँ पायी जाती थी। मुख्य मुख्य दोष एव त्रुटियाँ इस प्रकार थी

(क) भारतीय बैंक कभी-कभी अपर्याप्त जमानत पर ऋण दिया करते थे जो उनके लिए आगे चलकर सकट का कारण बन सकते थे। इसी प्रकार कुछ बैंक अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर भी ऋण दिया करते थे। यह प्रथा भी सुदृढ बैंकिंग सिद्धान्तो के विपरीत थी।

(ख) भारतीय बैंक प्राय उन व्यवसायो एव फर्मों को ऋण दे दिया करते थे जिनमे उनके सचालको के स्वार्थ निहित होते थे।

(ग) भारतीय बैंक अपनी शाखाये बिना सोचे-समझे खोल दिया करते थे जिससे उनकी आपसी प्रतियोगिता बढ जाती थी।

(घ) भारतीय बैंक अपना स्थिति-विवरण बनाते समय अपनी वास्तविक आर्थिक स्थिति छिपाने का प्रयत्न किया करते थे।

अत बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 का मुख्य उद्देश्य बैंकिंग प्रणाली मे पाये जाने वाले दोषो एव त्रुटियों को दूर करना था।

(2) बैंक की परिभाषा—बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 मे बैंक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—बैंक उस कहते हैं जिसमे जनता को उधार देने के लिए अथवा निवेश करने के लिए निक्षप स्वीकार किये जायें तथा उन निक्षेपो को चैकों ड्राफ्टो, आदेशो व अन्य तरीको से निकाला जा सके तथा उन्हें माँग पर चकाया जा सके। इस कानून के अन्तर्गत कोई भी कम्पनी बैंकिंग व्यवसाय तब तक नही कर सकती जब तक कि वह अपने नाम के सामने बैंकर अथवा बैंकिंग शब्द का प्रयोग न करे। इस प्रकार इस कानून के अन्तर्गत बैंक वह कम्पनी है जो बैंकिंग नियमन अधिनियम के अनुसार स्थापित की गयी है तथा बैंकिंग व्यवसाय करती है।

(3) **बकों का व्यवसाय**—इस कानून मे दो सूचियाँ दी गयी हैं—प्रथम सूची में, उन सभी व्यवसायों की चर्चा की गयी है जो बैंक द्वारा किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, निक्षेप स्वीकार करना, ऋण प्रदान करना, हुण्डियों को भुनाना, विदेशी विनिमय-बिलों का क्रय-विक्रय करना, सोने-चाँदी को खरीदना व बेचना, साख प्रमाण पत्रों को जारी करना, बहुमूल्य वस्तुओं को अपने अभिरक्षण (Custody) मे सुरक्षित रखना, शेयरों व अन्य प्रकार की प्रतिभूतियों को खरीदना व बेचना, ग्राहकों की ओर से एजेन्ट के रूप मे कार्य करना। दूसरी सूची मे, उन सभी व्यवसायों का उल्लेख किया गया है जो बैंक द्वारा नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ, बैंकिंग के सिवाय अन्य कोई व्यापार वे नहीं कर सकते। अपने कार्यालय की बिल्डिंग के सिवाय वे किसी अचल सम्पत्ति को 7 वर्ष से अधिक समय तक रिजर्व बैंक की पूर्व-अनुमति के बिना नहीं रख सकते। कोई बैंक अपनी सहायक कम्पनी स्थापित नहीं कर सकता। कोई बैंक किसी अन्य कम्पनी की चुकती-पूँजी के 20 प्रतिशत से अधिक अथवा अपनी स्वय की चुकती-पूंजी के 30 प्रतिशत से अधिक रकम के शेयर्स नहीं खरीद सकता।

बैंकों का प्रबन्ध—इस कानून के अन्तर्गत कोई भी बैंक प्रबन्ध के लिए मैनेजिंग एजेन्ट्स (Managing Agents) नियुक्त नहीं कर सकता और न ही बैंक किसी ऐसे व्यक्ति को सचालक नियुक्त कर सकता है जो किसी अन्य बैंक का भी सचालक हो। इस कानून मे सचालकों की योग्यताओं का भी उल्लेख किया गया है। सन् 1956 मे किये गये एक सशोधन के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह बैंकों के उच्च पदाधिकारियों एव सचालकों की नियुक्ति, उनके वेतन तथा सेवा की शर्तें निश्चित करे।

बैंकों की चुकती पूँजी तथा प्रारक्षित निधि (Paid-up Capital and Reserves of the Banks)—बैंकिंग नियमन अधिनियम मे इस सम्बन्ध मे भी विस्तृत व्यवस्था की गयी है। यदि किसी भारतीय बैंक की शाखाएँ कलकत्ते या बम्बई या दोनों शहरों मे हैं तब उनकी पूँजी तथा प्रारक्षित निधि मिलाकर कम से कम 10 लाख रुपये होनी चाहिए। यदि किसी भारतीय बैंक की सभी शाखाएँ एक राज्य म स्थित है परन्तु कुछ शाखाएँ बम्बई तथा कलकत्ते मे भी हैं तब उस बैंक की चुकती-पूंजी तथा प्रारक्षित निधि-मिलाकर कम से कम 5 लाख रुपये होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक विदेशी बैंक की चुकती पूँजी एव प्रारक्षित निधि मिलाकर कम से कम 15 लाख रुपये होनी चाहिए। यदि उनकी शाखाएँ बम्बई या कलकत्ते मे भी हैं तब उनकी चुकती-पूँजी एव प्रारक्षित निधि मिलाकर कम से कम 20 लाख रुपये होनी चाहिए। विदेशी बैंकों के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हे यह राशि रिजर्व बैंक मे जमा करानी पड़ती है। यदि बैंक फेल हो जाता है तो रिजर्व बैंक इस जमा की गयी राशि का उपयोग भारतीयों के निक्षेपों का भुगतान करने के लिए कर सकता है।

बैंकों की पूँजी तथा मतदान के अधिकार—इस कानून के अन्तर्गत किसी बैंक की स्वीकृत-पूंजी (Subscribed Capital) उसकी अधिकृत-पूँजी (Authorised Capital) के आधे से कम नहीं हो सकती और इसी प्रकार चुकती-पूंजी (Paid-up Capital) उसकी स्वीकृत-पूंजी (Subscribed Capital) के आधे से कम नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त कोई भी बैंक रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना अपनी पूँजी को नहीं बढा सकता। प्रत्येक शेयर-होल्डर को उसके द्वारा दी गयी पूँजी के अनुपात मे ही मतदान का अधिकार दिया जाता है परन्तु इस कानून के अन्तर्गत किसी भी शेयर-होल्डर को कुल मतदान के 1 प्रतिशत से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होता।

बैंकों के लाभ-वितरण पर प्रतिबन्ध—सितम्बर 1962 के बैंकिंग नियमन सशोधन अधिनियम के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपने लाभ का कम से कम 10 प्रतिशत भाग प्रतिवर्ष अनिवार्य रूप मे प्रारक्षित निधि मे जमा करना पड़ता है और यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि बैंक की प्रारक्षित निधि उसकी चुकती पूंजी के बराबर नहीं हो जाती। इस सशोधन के अन्तर्गत विदेशी बैंकों को भी अनिवार्य रूप मे अपनी भारतीय शाखाओं के वार्षिक लाभ का 20 प्रतिशत भाग प्रतिवर्ष रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है।

बैंक के नकद-कोष—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1934 के अन्तर्गत प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी माँग-देयताओं का 5 प्रतिशत भाग और समय-देयताओं

का 2 प्रतिशत भाग नकद-कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता था। किन्तु सन् 1956 में रिजर्व बैंक एक्ट में किये गये एक संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह समय-देयताओं का प्रतिशत 2 से बढ़ाकर 8 तक तथा माँग देयताओं का प्रतिशत 5 से बढ़ाकर 20 तक कर सकता था। सितम्बर 1962 के बैंकिंग नियमन संशोधन अधिनियम के अनुसार अनुसूचित बैंकों को अपनी माँग तथा समय-देयताओं का केवल 3 प्रतिशत भाग ही रिजर्व बैंक के पास जमा करना पड़ता है। परन्तु रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह परिस्थितियों के अनुसार इस प्रतिशत को 3 से बढ़ा कर 15 तक निश्चित कर सकता है। इसके अलावा, रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि यदि वह चाहे तो अनुसूचित बैंकों को निश्चित नकद-कोषों के अतिरिक्त और अधिक धनराशि जमा करने के लिए भी आदेश दे सकता है। इसी प्रकार बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 के अन्तर्गत असूचित बैंकों को भी अनुसूचित बैंकों की भाँति रिजर्व बैंक के पास एक चालू खाते में निश्चित अनुपात में नकद-कोष जमा करने पड़ते हैं परन्तु इन बैंकों को यह छूट दी गयी है कि यदि वे चाहें तो नकद कोष को रिजर्व बैंक के पास जमा करने के बजाय अपने ही पास रख सकते हैं।

बैंकों की परिसम्पत्ति (Assets of Banks)—इस कानून (बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949) के अन्तर्गत बैंकों की परिसम्पत्ति में तरलता बनाये रखने के लिये भी व्यवस्था की गयी है। इसके अनुसार प्रत्येक अनुसूचित तथा असूचित बैंक को अपनी समय देयताओं तथा माँग-देयताओं का कम से कम 20 प्रतिशत भाग तरल सम्पत्ति (Liquid Assets) के रूप में रखना अनिवार्य है। यहाँ पर तरल सम्पत्ति से अभिप्राय नकदी, सोना-चाँदी, स्वीकृत प्रतिभूतियाँ तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के पास जमा की गयी राशियों से है। इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह है कि अपने ग्राहकों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में तरल सम्पत्ति होनी चाहिए। इसी प्रकार विदेशी बैंकों को भी अपनी समय तथा माँग-देयताओं का कम से कम 75 प्रतिशत भाग तरल सम्पत्ति के रूप में भारत में रखना अनिवार्य कर दिया गया है।

ऋणों पर प्रतिबन्ध—बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 के अन्तर्गत बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों पर भी कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं, **प्रथम** कोई भी बैंक अपने शेयरों की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता। **दूसरे** कोई भी बैंक बिना पर्याप्त जमानत के अपने संचालकों को ऋण नहीं दे सकता। **तीसरे** कोई भी बैंक किसी ऐसी फर्म अथवा कम्पनी को ऋण नहीं दे सकता जिसमें उसका कोई संचालक अथवा शेयर होल्डर ऋण की प्राप्ति के लिए जमानतदार हो। **चौथे** रिजर्व बैंक यदि चाहे तो किसी भी बैंक को आरक्षित ऋण (Unsecured Loans) देने से मना कर सकता है। प्रत्येक बैंक को प्रतिमाह आरक्षित ऋणों का एक विवरण रिजर्व बैंक के पास भेजना पड़ता है। पाँचवें, इस कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह यदि चाहे तो किसी भी बैंक को ऋण नीति सम्बन्धी आदेश दे सकता है।

बैंकों का एकीकरण—(Amalgamation of Banks) इस कानून (बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949) के अन्तर्गत बैंकों के एकीकरण की व्यवस्था भी कर दी गयी है। जब कोई बैंक किसी दूसरे बैंक के साथ मिलना चाहता है तब उस बैंक को सभी शेयरहोल्डरों की बैठक बुलाकर बैंक के एकीकरण की योजना उसके समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती है। यदि शेयर-होल्डर बहुमत से योजना को स्वीकार कर लेते है तो इसे रिजर्व बैंक के पास भेज दिया जाता है। रिजर्व बैंक की स्वीकृति प्राप्त होने पर एकीकरण की योजना क्रियान्वित की जा सकती है। इसके विपरीत, यदि बैंक का कोई शेयर-होल्डर एकीकरण योजना के विरुद्ध अपना मत देता है तो उसको यह अधिकार हो जाता है कि वह बैंक से अपना शेयर वापस ले ले और बैंक को उसकी उचित क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है।

बैंकों की शाखाएँ—इस कानून (बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना कोई भी बैंक किसी भी स्थान पर देश में अथवा विदेश में अपनी शाखा नहीं खोल सकता और न ही किसी शाखा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकता है। इसका उद्देश्य बैंकों में होने वाली परस्पर प्रतियोगिता को रोकना है।

बैंको का लाइसेंस (Licensing of Banks)—इस कानून के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को बैंकिंग कार्य करने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना अनिवार्य है। रिजर्व बैंक निम्न शर्तें पूरी करने पर ही लाइसेंस प्रदान करता है

(1) बैंक की वित्तीय स्थिति सतोषजनक होनी चाहिए अर्थात् जमाकर्ताओ की जमा-राशि माँग करने पर वापस करने की स्थिति मे होना चाहिए।

(2) बैंक का प्रबन्ध एव सचालन उसके जमाकर्ताओ के हित मे किया जाना चाहिए।

(3) बैंक को रिजर्व बैंक द्वारा बनाये गये सभी नियमो का पालन करना चाहिए।

यदि कोई बैंक उपर्युक्त शर्तों को पूरा नहीं करता तो रिजर्व बैंक उसका लाइसेंस रद्द कर सकता है।

सामयिक सूचनायें (Periodical Returns)—इस कानून के अन्तर्गत प्रत्येक बैंक को अनिवार्य रूप मे अपने बैंकिंग कार्य के बारे मे रिजर्व बैंक को सामयिक सूचनाएँ देनी पडती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक किसी बैंक को आदेश देकर किसी भी सम्बन्धित विषय के बारे मे उससे सूचना प्राप्त कर सकता है।

बैंको का निरीक्षण—रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी बैंक के हिसाब-किताब का निरीक्षण कर सकता है। यदि रिजर्व बैंक उसकी कार्य-प्रणाली से सन्तुष्ट नही है तो वह उसे सुधार सम्बन्धी आदेश दे सकता है।

बैंकों का निस्तारण—(Liquidation of Banks)—इस कानून के अन्तर्गत यदि कोई बैंक अपने ऋणो का भुगतान करने मे असमर्थ हो जाता है तो रिजर्व बैंक की प्रार्थना पर न्यायालय इस बैंक के निस्तारण की आज्ञा दे सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई बैंक अपने किसी कार्यालय पर जमाकर्ताओ की माँग को दो दिन तक स्वीकार नही करता तो ऐसे बैंक को अपने ऋणो के भुगतान के अयोग्य समझ लिया जाता है। तब रिजर्व बैंक न्यायालय से उस बैंक के निस्तारण के लिए प्रार्थना करता है। जब रिजर्व बैंक किसी बैंक के निस्तारण के लिए प्रार्थना करता है तब न्यायालय रिजर्व बैंक को ही उस बैंक का सरकारी निस्तारक (Official Liquidator) नियुक्त कर देता है।

इस कानून के लागू होने से पूर्व भारतीय बैंको मे ऐच्छिक निस्तारण (Voluntary Liquidation) की प्रवृत्ति पायी जाती थी अर्थात् कुछ विपरीत परिस्थितियो के उत्पन्न होने पर जमाकर्ताओ के हितो की परवाह न करते हुए बैंक स्वेच्छा से ही निस्तारण कर लिया करते थे। परन्तु इस कानून के अन्तर्गत अब वे ऐसा नही कर सकते। कोई भी बैंक रिजर्व बैंक के सम्मुख अपनी ऋण भुगतान सम्बन्धी अयोग्यता प्रमाणित किये बिना निस्तारण नही कर सकता। दूसरे शब्दो मे अब किसी भी बैंक का ऐच्छिक निस्तारण नही हो सकता।

बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अधिकार—जैसा हम ऊपर देख चुके है बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनेक अधिकार दिये गये हैं। अब हम उनका विस्तृत अध्ययन करेंगे

(1) **बैंकों को लाइसेंस देना**—कोई भी बैंक तब तक बैंकिंग व्यवसाय नहीं कर सकता जब तक कि वह रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त नही कर लेता। इस प्रकार का लाइसेंस पुराने तथा नये सभी बैंको को लेना पडता है। रिजर्व बैंक यह लाइसेंस तभी देता है जब बैंक द्वारा कुछ निश्चित शर्तों को पूरा किया जाता है। इन शर्तों का विवरण हम पहले ही दे चुके हैं। यह व्यवस्था विदेशी बैंको पर भी लागू होती है।

(2) **शाखाओं की स्थापना के बारे में स्वीकृति देना**- इस कानून के अन्तर्गत कोई भी बैंक देश अथवा विदेश मे रिजर्व बैंक से पूर्व स्वीकृति लिये बिना नयी शाखा नही खोल सकता और न ही पुरानी शाखाओं का स्थानान्तरण ही कर सकता है। अपनी स्वीकृति देने से पूर्व रिजर्व बैंक स्थिति का निरीक्षण करके अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है कि नये स्थान पर बैंक की शाखा की आवश्यकता है अथवा नही।

(3) **ऋण-नीति को निर्धारित करने का अधिकार**—इस कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंको की ऋण-नीति को निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार है। यदि रिजर्व बैंक अनुभव करता है कि किसी बैंक की ऋण-नीति जमाकर्ताओं के हित मे नही है तो रिजर्व बैंक उस बैंक को अपनी ऋण-नीति मे परिवर्तन करने का आदेश दे सकता है। रिजर्व बैंक उस बैंक को यह भी आदेश दे सकता है कि वे किन-किन व्यवसायो को ऋण दे, प्रतिभूति की कितनी सीमा (margin) निश्चित करे तथा ब्याज की कितनी दर वसूल करे।

(4) **बैंको का निरीक्षण करने का अधिकार**—यदि किसी बैंक का कार्य सन्तोषजनक नही है तो रिजर्व बैंक उस बैंक के हिसाब-किताब की जाँच पड़ताल कर सकता है और उसे अपनी कार्य-प्रणाली मे सुधार करने के लिए आदेश दे सकता है। यदि रिजर्व बैंक समझता है कि उस बैंक का अस्तित्व देश के हित मे नही है तो वह उस बैंक को कार्य बन्द करने के लिए भी आदेश दे सकता है अथवा उसे जमाकर्ताओं से धन प्राप्त करने के लिए रोक सकता है।

(5) **बैंको के एकीकरण को स्वीकार करने का अधिकार** - इस कानून के अन्तर्गत कोई भी न्यायालय तब तक बैंको के एकीकरण की योजना को स्वीकार नही कर सकता जब तक कि वह योजना रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकार न की गई हो। रिजर्व बैंक को बैंको के एकीकरण की योजना को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार है।

(6) **बैंको से विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार**—रिजर्व बैंक को सदस्य बैंको से उनके बैंकिंग कार्य के बारे मे सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार है। रिजर्व बैंक उनसे माँग अथवा समय देयताओ, आरक्षित ऋणो अथवा उनकी सम्पत्ति के बारे मे सूचनाएँ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की सूचनाओ से रिजर्व बैंक को इस बात की जानकारी होती रहती है कि सदस्य बैंक उसके बनाये गये नियमो का पालन कर रहे हैं अथवा नही।

(7) **बैंको के निस्तारण करने का अधिकार**—जब कोई बैंक अपने ऋणो का भुगतान करने मे असमर्थ हो जाता है तब रिजर्व बैंक न्यायालय को उस बैंक के निस्तारण के लिए प्रार्थना करता है और कानून के अन्तर्गत न्यायालय रिजर्व बैंक को ही उस बैंक का सरकारी निस्तारक नियुक्त कर देता है। इसी प्रकार कोई भी बैंक रिजर्व बैंक के सम्मुख अपने ऋणो का भुगतान करने की अयोग्यता को सिद्ध किये बिना अपना निस्तारण नही कर सकता।

(8) **बैंको को परामर्श देने का अधिकार**—इस कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी समय किसी भी बैंक को उसके बैंकिंग कार्य से सम्बन्धित समस्याओ के बारे मे परामर्श दे सकता है और सम्बन्धित बैंक रिजर्व बैंक द्वारा दिये गये परामर्श की उपेक्षा नही कर सकता।

अन्य अधिकार—रिजर्व बैंक को दिये गये अधिकार इस प्रकार हैं :

(1) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को सदा के लिए अथवा कुछ निश्चित काल के लिए उक्त कानून की व्यवस्थाओ से मुक्त करने की सिफारिश केन्द्रीय सरकार से कर सकता है।

(2) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को 10 वर्ष से अधिक समय के लिए अचल सम्पत्ति रखने की स्वीकृति दे सकता है।

(3) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को चुकती पूँजी तथा प्रारक्षित निधि सम्बन्धी व्यवस्था से कुछ समय के लिए छूट दे सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत बैंको के नियन्त्रण, नियमन एवं निरीक्षण करने हेतु रिजर्व बैंक को बहुत ही व्यापक अधिकार दिये गये हैं।

भारतीय बैंकिंग विधान में दोष

यद्यपि बैंकिंग नियमन अधिनियम के क्रियान्वित किये जाने पर भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के अनेक दोष दूर अथवा कम हो गये हैं, लेकिन इसका यह अभिप्राय नही कि बैंकिंग विधान इस समय पूर्णत दोषमुक्त है। भारतीय बैंकिंग विधान के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :

(1) **देशी बैंकरों पर नियन्त्रण का अभाव**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, देशी बैंकर देश की लगभग 80 प्रतिशत साख की पूर्ति करते हैं किन्तु इसके बावजूद उन पर रिजर्व बैंक का

बिलकुल ही नियन्त्रण नही है। वास्तव मे, देशी बैंकरो पर बैंकिंग नियमन अधिनियम लागू ही नही होता है। इस प्रकार भारतीय बैंकिंग व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि से बाहर ही रह जाता है। परिणामत रिजर्व बैंक की साख-नियन्त्रण नीति सफल नहीं हो सकती।

(2) सहकारी बैंको पर नियन्त्रण का अभाव—बैंकिंग नियमन अधिनियम केवल व्यापारिक बैंको पर ही लागू होता है सहकारी बैंको पर नही। वास्तव मे, यह *न्यायसगत नही है* क्योकि विगत कुछ वर्षो से सहकारी बैंको का व्यापार धीरे धीरे बढ रहा है और उन्होने व्यापारिक बैंको से प्रतियोगिता करना भी आरम्भ कर दिया है। अत न्याय की दृष्टि से यह *अत्यन्त आवश्यक* है कि भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम सहकारी बैंको पर भी लागू किया जाय।

(3) परिसम्पत्तियो की तरलता के सम्बन्ध मे समुचित नियन्त्रण का अभाव——कुछ आलोचको का कहना है कि वर्तमान बैंकिंग विधान बैंको की परिसम्पत्तियो (Assets) की तरलता पर अधिक ओर नहीं देता। परिणामत बैंको की परिसम्पत्तियो मे पर्याप्त तरलता नही पायी जाती और इसके कारण बैंक कभी कभी *जमाकर्ताओ की माँग को पूरा* करने मे असमर्थ हो जाते है। अत ऐसी परिस्थितियो मे बैंकिंग विधान मे परिसम्पत्तियो की तरलता के सम्बन्ध मे समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(4) नगरों मे बैको के केन्द्रीयकरण को रोकने मे असमर्थता वर्तमान बैंकिंग विधान की त्रुटि यह भी है कि यह नगरो मे बैंको के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकने मे असमर्थ रहा है। जहाँ बडे-बडे औद्योगिक एव व्यापारिक केन्द्रो मे बैंकिंग सुविधाओ की अधिकता है वहाँ ग्रामीण क्षेत्रो एव छोटे छोटे कस्बो मे बैंकिंग सुविधाओ का लगभग पूर्ण अभाव है।

यह सत्य है कि भारतीय बैंकिंग विधान मे अब भी कुछ दोष एव त्रुटियाँ पायी जाती हैं परन्तु इससे इन्कार नही किया जा सकता कि बैंकिंग व्यवस्था के कुछ दोष व त्रुटियाँ दूर अथवा कम हो गयी हैं। *उदाहरणार्थ अब भारतीय बैंक अचल सम्पत्ति अथवा व्यक्तिगत जमानत के आधार पर* ऋण देने के लिए तैयार नही होते और न ही वे अपर्याप्त जमानत पर उन फर्मो अथवा कम्पनियो को ऋण देने के लिये तैयार रहते हैं *जिनमे उनके सचालको अथवा प्रबन्धको के स्वार्थ निहित होते हैं।* इसके साथ ही अब भारतीय बैंको ने समुचित प्रारक्षित निधियो के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया है और लाभ का वितरण करने से पूर्व उसका एक निश्चित भाग प्रारक्षित निधि मे डालने पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार उक्त कानून से जमाकर्ताओ के हितो की रक्षा हुई है और साथ ही साथ बैंको को आर्थिक सकटो से कुछ राहत मिली है।

सन् 1963 का बैंकिंग नियम (विविध उपबन्ध) अधिनियम
[Banking Laws (Miscellaneous Provisions) Act 1963]

चूँकि इस अधिनियम के *अन्तर्गत तीन अन्य कानूनो* मे सशोधन किये गये हैं इसलिए यह अधिनियम बडे महत्व का है। इस अधिनियम की मुख्य मुख्य बातें इस प्रकार हैं

(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन (Amendment of the *Reserve* Bank of India Act)—सन 1963 के अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे कुछ सशोधन कर दिये गये हैं। इन सशोधनो के अनुसार गैर-बैंकिंग एव वित्तीय सस्थाओ Non Banking and Financial Institutions) को भी रिजर्व बैंक के नियन्त्रण की परिधि मे सम्मिलित कर दिया गया है। गैर बैंकिंग सस्थाएँ वे संस्थाएँ मानी गयी है जो लोगो से निक्षेप स्वीकार करती हैं परन्तु ऋण प्रदान नही करती। इसके विपरीत वित्तीय सस्थाएँ वे मानी गयी हैं जो निक्षेप तो स्वीकार नही करती किन्तु कुछ निश्चित प्रतिभूतियो के आधार पर व्यापारियो उद्योगपतियो एव व्यवसायियो को ऋण प्रदान करती हैं। जैसा ऊपर कहा गया है इन कानून के अन्तर्गत इस प्रकार की गैर बैंकिंग एव वित्तीय सस्थाओ पर भी रिजर्व बैंक नियन्त्रण कर सकता है। प्रथम रिजर्व बैंक गैर बैंकिंग सस्थाओ से उनके निक्षेपो के बारे मे सूचनाएँ प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार रिजर्व बैंक वित्तीय सस्थाओ से भी उनके ऋणो एव अग्रिमो के बारे मे जानकारी प्राप्त कर सकता है। दूसरे इस कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक गैर बैंकिंग एव वित्तीय सस्थाओ के हिसाब किताब की जाँच पडताल भी कर सकता है। तीसरे, रिजर्व बैंक इस प्रकार की सस्थाओ को उनके व्यवसाय के सम्बन्ध मे आदेश दे सकता है। 7 जनवरी 1966 को रिजर्व बैंक ने

गैर-बैंकिंग कम्पनियों को आदेश दिया था कि वे "माँग पर देय-निक्षेपों" (Deposits repayable on Demand) को जनता से स्वीकार न करें।

(2) **बैंकिंग नियमन अधिनियम में संशोधन** (Amendment in the Banking Regulation Act) – सन् 1963 के अधिनियम के अन्तर्गत बैंकिंग नियमन अधिनियम में भी कुछ संशोधन कर दिये गये हैं। इनके अनुसार व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक के अधिकारों को और अधिक व्यापक बना दिया गया है। **प्रथम,** इस कानून के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों द्वारा अपने संचालकों को दिये जाने वाले अरक्षित ऋणों (unsecured loans) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। **दूसरे,** व्यापारिक बैंकों के किसी भी शेयर होल्डर को कुल मतदान के 1 प्रतिशत से अधिक मत देने का अधिकार नहीं है। **तीसरे,** रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के किसी भी संचालक अथवा पदाधिकारी को उसके पद से हटा सकता है। **चौथे,** रिजर्व बैंक को किसी बैंक के संचालक बोर्ड में अपनी ओर से अधिक से अधिक 5 अतिरिक्त संचालक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है।

(3) **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन** (Amendment in the State Bank of India Act)—इस संशोधन के अनुसार अब स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के सहायक बैंकों के शेयर-होल्डरों के मत देने के अधिकार दूसरे बैंकों के समान कर दिये गये हैं।

इस प्रकार सन् 1963 के अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को भारत की बैंकिंग, मौद्रिक, तथा वित्तीय प्रणाली को नियमित एवं नियन्त्रित करने हेतु अत्यन्त व्यापक अधिकार दिये गये हैं।

सन् 1965 का बैंकिंग नियम अधिनियम (Banking Laws Act of 965)—यह अधिनियम 1 मार्च 1966 को लागू किया गया था। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक अधिनियम तथा बैंकिंग नियमन अधिनियम के कुछ उपबन्धों को राज्य सहकारी बैंकों (State Co operative Banks) पर लागू किया गया था। इस अधिनियम के अनुसार राज्य सहकारी बैंकों को भी रिजर्व बैंक की दूसरी सारणी में सम्मिलित किया जा सकता है। उन्हें वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध होंगी जो अनुसूचित बैंकों को प्राप्त है। इसी प्रकार बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1944 के कुछ महत्वपूर्ण उपबन्ध राज्य सहकारी बैंकों पर भी लागू किये गये हैं। दूसरे शब्दों में इन बैंकों पर भी रिजर्व बैंक लगभग वही नियन्त्रण लागू कर सकता है जो अनुसूचित बैंकों पर लगाया जाता है।

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण (Social Control on Banks)—सन् 1968 में भारत सरकार ने सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी कानून व्यापारिक बैंकों पर लागू किया था। इस कानून का विस्तृत वर्णन अध्याय 31 में प्रस्तुत किया गया है।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Banks)—19 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया था। इसे Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Ordinance 1969 कहा गया था। इसके अन्तर्गत 14 प्रमुख भारतीय अनुसूचित बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। (स्मरण रहे इनमें से प्रत्येक बैंक की जमाराशियाँ 50 करोड़ अथवा उससे अधिक थी।) विदेशी बैंकों को अध्यादेश के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त कर दिया गया था। आगे चलकर उपर्युक्त अध्यादेश को Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Act, 1969 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था। यह कानून 19 जुलाई, 1969 से ही लागू मान लिया गया था।

उपर्युक्त कानून में बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं "अर्थ व्यवस्था की चोटियों पर नियन्त्रण करना (to control the heights of the economy), और उसकी विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से पूरा करना।" राष्ट्रीयकृत बैंकों का तात्कालिक कार्य यह है कि वे व्यापक पैमाने पर नयी नयी जमाराशियों को जुटायें और सभी प्रकार के उत्पादक धन्धों के लिए उदार ऋण दें। अर्थ व्यवस्था के दुर्बल खण्डों (Weak Sectors) को तो विशेष आसान शर्तों पर ऋण दिये जायें। ऋण देते समय ऋणी के सामाजिक स्तर (social status) पर अधिक ध्यान न दिया जाये। यदि ऋणी कोई उत्पादक धन्धा चला रहा है तो उसे ऋण दिया जाना चाहिए, चाहे उसका सामाजिक स्तर निम्न ही क्यों न हो। इस कानून के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक की देखभाल का कार्य परिरक्षक (Custodian) को सौंप

दिया गया था। राष्ट्रीयकरण से पूर्व चले आ रहे प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक के अध्यक्ष को ही परिरक्षक नियुक्त किया गया था। अध्यक्ष को प्राप्त सभी अधिकार परिरक्षक को हस्तातरित कर दिय गये थे। उपर्युक्त कानून के अन्तर्गत नीति सम्बन्धी विषयो पर भारत सरकार रिजर्व बैंक से परामर्श करने के उपरान्त इन राष्ट्रीयकृत बैंको को निर्देश जारी कर सकती है। प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक का एक सचालक मण्डल (Board of Directors) होगा। उसमे जमाकर्ताओ, उस बैंक के कर्मचारियो, किसानो शिल्पकारो एव श्रमिको के प्रतिनिधि होगे।

उपर्युक्त कानून के पारित किये जाने के बाद इसकी वैधता को चुनौती देने हेतु सर्वोच्च न्यायालय मे रिट याचिकाएँ (writ petitions) दायर की गयी। कानून के कतिपय प्रावधानो को क्रियान्वित करने के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय ने रोधनादेश (stay order) जारी कर दिया था। 10 फरवरी, 1970 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपना ऐतिहासिक निर्णय प्रस्तुत किया। न्यायालय ने दो आधारो पर सरकारी कानून को अवैध घोषित कर दिया था। प्रथम, 14 राष्ट्रीयकृत बैंको के विरुद्ध भेदभाव किया गया है क्योकि राष्ट्रीयकरण के उपरान्त इन बैंकिंग कम्पनियो को बैंकिंग कार्य पुन करने से रोक दिया गया है जबकि अन्य बैंको पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया था। दूसरे, सरकार द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति (compensation) से सम्बन्धित जो सिद्धान्त एव रीतियाँ कानून मे सम्मिलित की गयी थी वे अवैध थी। इन्ही दो कारणो से कानून को अवैध घोषित कर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कानून को अवैध घोषित किये जाने का परिणाम यह हुआ कि वे 14 बैंक अराष्ट्रीयकृत (denationalised) हो गये। 14 फरवरी 1970 को भारत सरकार ने एक नया अध्यादेश जारी किया। इसे Banking Companies (*Acquisition and Transfer of Undertakings*) Ordinance 1970 की सज्ञा दी गयी थी। इसके अन्तर्गत 14 बैंको का पुन राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बाद मे चल कर इस अध्यादेश के स्थान पर Banking Companies (Acquisition and Transfer of Undertakings) Act 1970 पारित किया गया था। 31 मार्च 1970 को इसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त हुई और 19 जुलाई 1969 से ही इसे प्रभावी मान लिया गया। इस नये कानून के *अन्तर्गत 14 निजी बैंको पर पुन बैंकिंग व्यवसाय करने पर कोई रोक नही लगायी गयी है।* दूसरे, इन बैंको को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति को इस कानून की दूसरी अनुसूची मे व्यक्त किया गया है। इस कानून मे यह भी व्यवस्था कर दी गई है कि यदि कोई बैंकिंग कम्पनी क्षतिपूर्ति के लिए सरकार को प्रार्थना पत्र देती है तो उसे यह क्षतिपूर्ति 60 दिन के भीतर ही दे दी जायगी। क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित तीन विकल्प इन बैंकिंग कम्पनियो के समक्ष रखे गये थे। (i) वे क्षतिपूर्ति नकदी (cash) के रूप मे ले सकती थी। (ii) *वे क्षतिपूर्ति केन्द्रीय सरकार के 10 वर्षीय ऋणपत्रो के* रूप मे ले सकती थी। इन ऋण पत्रो पर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक ब्याज देय थी। (iii) वे क्षतिपूर्ति केन्द्रीय सरकार के 30 वर्षीय ऋणपत्रो के रूप मे भी ले सकती थी। इन पर $5\frac{1}{2}$ प्रतिशत वार्षिक ब्याज देय थी। बैंकिंग कम्पनियों को यह भी छूट दी गयी थी कि वे क्षतिपूर्ति अशत नकदी और अशत ऋणपत्रो के रूप मे ले सकती थी। दो बैंकिंग कम्पनियो ने तो अपनी समूची क्षतिपूर्ति नकदी मे वसूल की थी। *शेष 12 कम्पनियो ने यह क्षतिपूर्ति अशत नकदी व अशत ऋणपत्रो के* रूप मे प्राप्त की थी।

नये कानून के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को यह भी अधिकार दिया गया है कि इन 14 बैंको के लिए यह अलग अलग सचालक मण्डल नियुक्त कर सकती है। प्रत्येक सचालक मण्डल मे सात से अधिक सचालक नही होगे। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए 18 जुलाई 1970 को भारत सरकार ने इन 14 बैंको के लिए अलग-अलग सचालक मण्डल नियुक्त कर दिये थे।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट मे सशोधन (**Amendment of the Reserve Bank** *of India Act 1974*)—*13 दिसम्बर 1974 को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (सशोधन) एक्ट,* 1974 को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई थी। उसी तिथि से यह सशोधित कानून लागू हो गया था। इसके अन्तर्गत —

(क) अनुसूचित बैंको एव राज्य सहकारी बैंको को पुन वित्त सुविधाएँ (Refinance Facilities) देने के रिजर्व बैंक के अधिकारो को और अधिक व्यापक बना दिया गया था।

(ख) कानून द्वारा स्थापित निगमो (कृषि पुन वित्त निगम एव भारतीय औद्योगिक विकास बैंक) की आर से बाण्डो (Bonds) को जारी करने हेतु रिजर्व बैंक को एजेण्ट के रूप मे नियुक्त किया गया था।

(ग) रिजर्व बैंक के निगमन विभाग (Issue Department) मे नोटो के विरुद्ध रखी जाने वाली विदेशी प्रतिभूतियों की सूची मे वृद्धि कर दी गई थी अर्थात् अब अतिरिक्त विदेशी प्रतिभूतियाँ भी नोटो की आड (Cover) मे रखी जा सकती थी।

(घ) जनता से जमाराशियाँ प्राप्त करने वाली गैर-बैंकिंग कम्पनियो पर रिजर्व बैंक के नियन्त्रण को और अधिक व्यापक बना दिया गया था।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त सकेत

1 भारत मे मिश्रित पूँजी बैंको के लिए हाल मे ही बनाये गये बैंकिंग विधानो का परीक्षण कीजिए। (बिहार बी० कॉम० 1960)

अथवा

भारत मे सन 1948 के बाद बैंकिंग के क्षेत्र मे होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को उनके उद्देश्य तथा मुख्य विशेषताओ सहित बताइए। (आगरा बी० कॉम० 1960)

[सकेत यहाँ पर बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 एव बैंकिंग एक्ट (विविध उपबन्ध, 1963) की विभिन्न व्यवस्थाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।]

"The adventure of full employment in a free society is not like the directed flight of an aircraft on a beam It is a voyage among shifting and dangerous currents All that can be done is to see that the craft is well found, and that the pilot has all the necessary controls and instruments to guide his use of them"

—*WILLIAM H BEVERIDGE*

षष्ठम् खण्ड

रोजगार एवं राष्ट्रीय आय
(EMPLOYMENT AND NATIONAL INCOME)

कुछ स्मरणीय उद्धरण

•

1 "Every supply creates its own demand" —*J B Say*

2 "To Keynes, the waste of economic resources through unemployment *seemed nonsensical He concentrated more of his energies on the* solution of this problem than any other" —*Seymour E Harris*

3 *full employment is the point beyond which* output proves inelastic in response to a further increase in effective demand" —*Dudley Dillard*

4 "The labour and capital of a country, acting upon its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial, including services of all kinds And net income on account of foreign investments must be added in This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend" —*Alfred Marshall*

5 '*National dividend is that part of the objective income of the* community, including of course, income derived from abroad, which can be *measured in money*" —*A C Pigou*

6 'National dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environments" —*Irving Fisher*

38

बचत एवं निवेश
(Saving and Investment)

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी की समस्या अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। किन्तु क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने इस समस्या को कोई विशेष महत्व नही दिया था। उनके अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी की समस्या कोई,विशेष महत्व की समस्या नही होती और कालान्तर मे यह समस्या अपने आप ही हल हो जाती है। अत इस सम्बन्ध मे सरकार को किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नही है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार पूँजीवाद के अन्तर्गत बेरोजगारी की समस्या अपने आप हल नही हो सकती। इसके विपरीत, इसका समाधान करने के लिए पूँजीवाद का उन्मूलन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स के कथनानुसार बेरोजगारी की समस्या को समाजवाद की स्थापना द्वारा ही हल किया जा सकता है। प्रो० जे० एम० केन्ज ((J. M Keynes) के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण माँग (effective Demand) पर निर्भर रहता है। जितनी प्रभावपूर्ण माँग अधिक होती है, उतना ही रोजगार का स्तर ऊँचा होता है। अत प्रो० केन्ज ने बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने के लिए प्रभावपूर्ण माँग की वृद्धि पर जोर दिया है। प्रो० केन्ज के अनुसार किसी देश मे प्रभावपूर्ण माँग उस देश के उपभोग एवं निवेश की मात्रा पर निर्भर करती है। इस प्रकार प्रो० केन्ज ने प्रभावपूर्ण माँग के सदर्भ मे बचत एव निवेश के अध्ययन को विशेष महत्व दिया है। प्रो० केन्ज ने अपने महान ग्रन्थ "जनरल थ्योरी" (General Theory) मे बचत तथा निवेश को विशेष प्रकार से परिभाषित किया है। अब हम प्रो० केन्ज द्वारा बचत तथा निवेश की दी गयी परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे।

बचत की परिभाषा
(Definition of Saving)

केंजियन दृष्टि से बचत का अर्थ बहुत ही साधारण है। कुल आय मे से उपभोग व्यय को निकाल देने पर जो कुछ शेष बच रहता है उसे बचत कहते हैं अथवा उपभोग वस्तुओ पर किये गये व्यय तथा आय के अन्तर को बचत कहते हैं। बचत की यह परिभाषा व्यक्ति एव समुदाय दोनो पर लागू होती है। व्यक्तिगत बचत का अर्थ यह है कि व्यक्ति की आय उसके उपभोग-व्यय से अधिक हो। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति की वार्षिक आय 2,000 रुपये है और उसका कुल उपभोग-व्यय 1,800 रुपये है तो उसकी वार्षिक बचत 200 रुपये होगी। इसी प्रकार किसी समुदाय अथवा राष्ट्र की बचत का अर्थ उसकी कुल आय तथा उपभोग व्यय के अन्तर से होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामुदायिक बचत मे पूर्ण समानता होती है। सामुदायिक बचत (Communal Saving) व्यक्तिगत बचतो का एक समूह मात्र होती है और प्रथम दृष्टि मे यह प्रतीत होता है कि समस्त व्यक्तियो की बचत मे वृद्धि अन्तत: सामुदायिक बचत की वृद्धि का कारण बनती है। वास्तव मे, क्लासीकल अर्थशास्त्रियो का यही विश्वास था। उनका यह दृढ विश्वास था

औसतन 5 लाख रुपये की लागत का स्टॉक है अपने स्टॉक को 10 लाख रुपये तक बढ़ा देता है तो हम कह सकते हैं कि उसने अपने निवेश को दुगुना कर दिया है। इस प्रकार का निवेश वास्तविक निवेश कहा जायगा क्योंकि अपने निवेश का दुगुना करके उसने माल की नयी माँग उत्पन्न कर ली है। माल की यह माँग श्रम तथा अन्य साधनों को अधिक रोजगार प्रदान करके पूरी की जायगी। इसके विपरीत, यदि एक व्यापारी अपने स्टॉक को पहले की अपेक्षा आधा कर देता है तो कहा जायगा कि उसने विनिवेश (disinvestment) किया है जिसके फलस्वरूप श्रम तथा अन्य साधनों की माँग कम हो जायगी। परिणामत उनके (साधनों के) रोजगार के अवसर भी कम हो जायेंगे।

कभी-कभी निवेश एव उपभोग मे स्पष्ट अन्तर कर सकने मे कठिनाई होती है। वास्तव मे, कुछ मदें ऐसी होती हैं जिनको हम सरलता से निवेश और उपभोग दोनो के वर्ग मे रख सकते हैं। उदाहरणार्थ, कारखानो, घरों तथा दफ्तरों का निर्माण स्पष्ट रूप से निवेश होता है जबकि भोजन तथा वस्त्र आदि की वस्तुएँ उपभोग के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। किन्तु मोटरगाड़ियों, प्रशीतकों (refrigerators) तथा टेलीविजन सैटों (Television Sets) आदि जैसी कुछ ऐसी टिकाऊ उपभोग वस्तुएँ होती हैं जिनका वर्गीकरण करना सरल नहीं होता।

बचत एवं निवेश में अन्तर

(Distinction Between Saving and Investment)

ऊपर हम बचत एव निवेश दोनो शब्दों की व्याख्या कर चुके हैं। अब हम इन दोनों के अन्तर को भी समझने का प्रयास करना चाहिए। बचत प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों पर निर्भर रहती है। किन्तु निवेश राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों पर केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही निर्भर रहता है। बचत एव राष्ट्रीय आय मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के फलस्वरूप बचत मे केवल तनिक-सी वृद्धि होती है और बचत की वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे भी तनिक सी वृद्धि होती है। सत्य तो यह है कि राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों के फलस्वरूप बचत मे इतना कम परिवर्तन होता है कि अल्पकाल मे इसको स्थिर मान लेना ही उचित है। किन्तु इसके विपरीत, राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों द्वारा निवेश केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित होता है। जब विभिन्न व्यक्तियों की आमदनियाँ बढ़ती हैं तो उनसे उनका उपभोग थोड़ा-सा बढ़ सकता है जिसके फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। परिणामत उपभोग वस्तुओं के उद्योगों के लिए अधिक निवेश की आवश्यकता उत्पन्न होती है। जनसंख्या की वृद्धि, टेक्नोलोजीकल प्रगति, अनुकूल अवसर आदि अन्य कतिपय तत्त्वों के कारण भी निवेश प्रभावित होता है। इन तत्त्वों मे परिवर्तनों के फलस्वरूप निवेश भी परिवर्तित होता है। इस प्रकार निवेश की अपेक्षा बचत अधिक स्थिर रहती है। निवेश की अस्थिरता के कारण ही व्यापार मे उतार-चढ़ाव और आर्थिक सकट आते रहते हैं।

बचत एवं निवेश की समानता

(Equality of Saving and Investment)

आय के विश्लेषण के लिए प्रो० केन्ज की बचत एव निवेश की क्रियाएँ (functions) उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि कीमतों के विश्लेषण मे डा० मार्शल द्वारा प्रतिपादित पूर्ति एव माँग वक्र। वास्तव मे, बचत एव निवेश प्रो० केन्ज के रोजगार के सिद्धान्त के दो मुख्य स्तम्भ हैं। सन्तुलन की दशा के लिए दोनों की समता आवश्यक है। प्रो० केन्ज की 'जनरल थ्यौरी' (General Theory) मे कुल निवेश सदैव कुल बचतों के बराबर रहा है। राष्ट्रीय आय का कोई भी स्तर इस समता के बिना टिक नहीं सकता। इस प्रकार प्रो० केन्ज बचत एव निवेश की समता पर बहुत जोर देते थे। क्लासीकल अर्थशास्त्रियों का भी यही विश्वास था कि बचत एव निवेश दोनों बराबर होते हैं। किन्तु क्लासीकल अर्थशास्त्रियों एव प्रो० केन्ज के मध्य कुछ अन्तर भी थ। प्रथम, क्लासीकल अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि बचत एवं निवेश की समता ब्याज की दर के कारण उत्पन्न होती है। यदि किसी समय बचत एव निवेश असमान भी हो जावे हैं तो ब्याज की दर मे परिवर्तन कर देने से शीघ्र ही इन दोनों के बीच समानता स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के मतानुसार ब्याज की दर एक ऐसा संयन्त्र (mechanism) है,

जो बचत एवं निवेश के बीच समानता बनाये रखता है। परन्तु इस सन्दर्भ में प्रो॰ केन्ज के विचार क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के विचारो के बिलकुल विपरीत थे। उनका मत यह था कि बचत एवं निवेश की समता ब्याज की दर से नही, बल्कि राष्ट्रीय आय के परिवर्तनो से स्थापित होती है अथवा राष्ट्रीय आय ही बचत एवं निवेश मे समता स्थापित करने वाला सयन्त्र है। दूसरे, क्लासीकल अर्थशास्त्री यह मानते थे कि बचत एवं निवेश की समता पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर ही सम्भव होती है। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नही थी, क्योंकि वे पूर्ण रोजगार की विद्यमानता को अर्थ-व्यवस्था की एक सामान्य दशा मानते थे। किन्तु प्रो॰ केन्ज क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के उक्त विचार से सहमत नही थे। उनका कथन था कि बचत एवं निवेश पूर्ण रोजगार से कम बिन्दु पर भी सामान्यत एक दूसरे के बराबर रह सकते हैं।

जैसा विदित है, बचतकर्ता एवं निवेशकर्ता (investors) साधारणतया भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते है और एक-दूसरे से परामर्श किये बिना ही वे अपने बचत एवं निवेश सम्बन्धी निर्णय लेते हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी समाज मे बचत एवं निवेश एक दूसरे के बराबर होते हैं। निश्चय ही यह कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। अभी हम देखेंगे कि बचत एवं निवेश मे यह समानता किस प्रकार स्थापित होती है। जैसा हम जानते हैं, श्रम के कार्य के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन (National Output) अथवा राष्ट्रीय आय (National Income) की उत्पत्ति होती है। ये दोनो धारणाएँ एक ही होती हैं। ये एक-दूसरे के बिलकुल बराबर होती हैं। राष्ट्रीय उत्पादन मे दो प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन सम्मिलित होता है—(क) उपभोग की वस्तुएँ (Consumption Goods) (ख) निवेश की वस्तुएँ (Investment Goods)। अब हम राष्ट्रीय उत्पादन को O, उपभोग की वस्तुओ को C और निवेश की वस्तुओ का I मानकर चलेगे। तब हमारा समीकरण $O=C+I$ होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय आय को भी दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(क) उपभोग (ख) बचत अर्थात आय का एक भाग उपभोग पर व्यय किया जाता है और शेष भाग बचा लिया जाता है। अब हम राष्ट्रीय आय को Y, उपभोग को C और बचत को S मान लेते हैं। अब समीकरण $Y=C+S$ होगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि $O=Y$। इस प्रकार $C+S=C+I$ होगा। C दोनो ओर उभयनिष्ठ है। अत $I=S$

बचत एवं निवेश की समानता को अन्य प्रकार से भी स्थापित किया जा सकता है। चूंकि उपभोग्य वस्तुओ के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर व्यय किये गये द्रव्य को निवेश कहते हैं, अत निवेश राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय उपभोग के अन्तर के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस प्रकार निवेश को I आय को Y, और उपभोग को C मान लेने पर परिणाम $I=Y-C$ होगा। इसके विपरीत, आय और उपभोग के अन्तर को बचत कहते हैं। इसलिए $S=Y-C$ अथवा $I=S$ ही होगा।

अब हमे इस बात पर विचार करना है कि क्रियात्मक रूप मे बचत और निवेश मे समानता किस प्रकार स्थापित होती है। इसे स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि बचत और निवेश मे समानता राष्ट्रीय आय के परिवर्तनो द्वारा स्थापित की जाती है। जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है आय के परिवर्तन सन्तुलन सयन्त्र (Equilibrating Mechanism) का कार्य करते हैं। प्रो॰ केन्ज के अनुसार निवेश बचत को उसी मात्रा मे बढा देता है जिसमे कि वह स्वय बढता है। अब प्रश्न यह है कि जब आरम्भ मे निवेश बढता है तो इससे क्या परिणाम निकलता है। निवेश की वृद्धि के परिणामस्वरूप पूंजीगत उद्योगो (Capital Goods Industries) मे उत्पादन बढ जाता है और उनमे अधिक सख्या मे श्रमिक लगाने पडते हैं। उनकी आय बढती है और स्वभावत वे उपभोग्य वस्तुओ पर अधिक व्यय करते हैं जिसका प्रभाव यह होता है कि उपभोग उद्योगो (Consumer Goops Industries) मे रोजगार की मात्रा बढ जाती है और लोगो की आय मे सर्वांगीण (all round) वृद्धि होती है जिससे वे अधिक बचत कर सकते हैं। इस प्रकार बढी हुई बचत अन्तत बढे हुए निवेश के ही बराबर हो जाती है। इसी प्रकार से दूसरा प्रश्न यह है कि यदि निवेश कम हो जाय तो फिर क्या होगा? निवेश की कमी का परिणाम यह होगा कि पूंजीगत उद्योगो का उत्पादन घट जायगा, रोजगार कम होगा, उपभोग उद्योगो के माल की मांग घट जायगी, सभी उद्योगो मे उत्पादन का ह्रास हो जायगा लोगो की आय गिर जायगी और उनके साथ ही उनकी बचत-शक्ति भी घट जायगी। अन्तत बचतें घटे हुए निवेश के बराबर हो जायेंगी।

यहां तक तो हम मानकर चले हैं कि निवेश के परिवर्तन उद्यमियो के निर्णयो के

प्रत्यक्ष परिणाम होते है और ऐसे परिवर्तनो के पश्चात् तुरन्त ही बचतो मे भी उतने ही परिवर्तन हो जाते हैं। किन्तु कभी-कभी निवेश के परिवर्तन ऐच्छिक नही होते अर्थात् वे उद्यमियो के निर्णय के कारण न होकर, अनैच्छिक ही होते है । उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यापारी का स्टॉक मन्दी के कारण इकट्ठा हो जाता है और इच्छा के विरुद्ध उसका निवेश भी बढ जाता है तो निवेश की इस प्रकार की वृद्धि अनैच्छिक कहलायेगी। परन्तु इस परिस्थिति मे भी बचत निवेश की मात्रा के अनुसार ही बढ़ेगी। वास्तव मे ये दोनो ही प्रक्रियाएँ एक-दूसरे के साथ-साथ चलती रहती हैं। अब प्रश्न यह है कि बचते समान सीमा तक कैसे बढती हैं ? यह स्पष्ट है कि जब उपभोक्ता व्यय नही करते तो बचत होती है। अत निवेश के अनैच्छिक परिवर्तन के साथ ही बचत मे भी ऐसा ही परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त सकेत

1 बचत और विनियोग से क्या अभिप्राय है ? इनके परस्पर सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

[सकेत—प्रथम भाग मे, बचत एव विनियोग (निवेश) की परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए उदाहरण सहित उनकी व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइए कि किस प्रकार प्रो० केन्ज के अनुसार बचत एव विनियोग एक-दूसरे के बराबर होते हैं।]

2 समाज के विनियोग तथा आय के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। (आगरा, 1964)

[सकेत—यहाँ पर यह बताइए कि विनियोग से आय उत्पन्न होती है और बचायी हुई आय से विनियोग किया जाता है अर्थात् जब आय, उपभोग व्यय से अधिक होती है तो वह बचत का रूप धारण करके विनियोग मे सहायता देती है।]

3 "एक व्यक्ति बचत कर सकता है लेकिन राष्ट्र नहीं।" इस कथन को विस्तारपूर्वक समझाइए। (आगरा, 1971)

[सकेत —उपर्युक्त उद्धरण मे बचत के प्रति केन्ज के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। केन्ज के अनुसार एक व्यक्ति तो बचत कर सकता है किन्तु राष्ट्र बचत नही कर सकता। इसका कारण यह है कि जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो वह ऐसा दूसरो की बचत-शक्ति को कम करके ही करता है। जब कोई व्यक्ति बचत करता है अथवा व्यय मे कमी करता है तो वह दूसरो की आय मे कमी कर देता है। इस प्रकार उनकी बचत करने की शक्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। उपर्युक्त अध्याय मे 'बचत की परिभाषा' नामक उपशीर्षक को देखिए।]

39

पूर्ण रोजगार की समस्या
(Problem of Full Employment)

बेरोजगारी पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था शान्तिपूर्ण समयो मे सभी व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करने मे असमर्थ रहती है। इसके विपरीत, समाजवादी अर्थ व्यवस्था शान्तिपूर्ण समयो मे भी सभी व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करती है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था तो केवल युद्ध के समय ही पूर्ण रोजगार प्रदान कर सकती है। अत इस दृष्टिकोण से समाजवादी अर्थ-व्यवस्था श्रेष्ठ प्रतीत होती है। बेरोजगारी के कारण श्रम तथा समाज के अन्य उत्पादक साधनो का पूर्ण उपयोग सम्भव नही होता। इस प्रकार बेरोजगारी से समूचे समाज को हानि होती है।

बेरोजगारी का अर्थ

बेरोजगारी से अभिप्राय उस परिस्थिति से है जिसमे देश के स्वस्थ योग्य क्षमतावान तथा उपयुक्त व्यक्ति मजदूरी की प्रचलित दरो पर अपनी इच्छानुसार काम प्राप्त करने मे असमर्थ रहते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियो को बेरोजगार नही माना जा सकता जिनमे कोई शारीरिक त्रुटि अथवा दोष पाया जाता है। उदाहरणार्थ अगहीनता (disability) के कारण यदि किसी व्यक्ति को काम उपलब्ध नही होता तो ऐसे व्यक्ति को बेरोजगार नही कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अथवा आलस्य के कारण काम नही करना चाहता जबकि उसके लिए काम उपलब्ध है तो ऐसा व्यक्ति भी बेरोजगार नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ साधु सन्यासियो को हम बेरोजगार नही कह सकते क्योकि काम उपलब्ध होने पर भी वे इसे करना स्वीकार नही करते।

बेरोजगारी के भेद
(Types of Unemployment)

बेरोजगारी के विभिन्न रूप होते हैं जो निम्नलिखित है

(1) **अस्थायी बेरोजगारी** (Casual Unemployment)—जैसा विदित है, श्रम की माँग व्युत्पादित माँग (*derived demand*) होती है अर्थात श्रम की माँग उत्पादन की मात्रा पर निर्भर रहती है। यदि उत्पादन की मात्रा बढ जाती है तो उसके साथ श्रम की माँग भी बढ जाती है। इसके विपरीत जब उत्पादन की मात्रा घट जाती है तो श्रम की माँग भी उसके साथ घट जाती है। कभी कभी उद्योग धन्धो मे उत्पादन की मात्रा अस्थायी तौर पर कम हो जाती है। परिणामत उनमे लगे हुए श्रमिको की सख्या म कमी हो जाती है अर्थात वे बेरोजगार हो जाते हैं किन्तु इस प्रकार की बेरोजगारी स्थायी नही होती। उत्पादन की मात्रा मे पुन वृद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ, कभी कभी निर्यातो की मात्रा मे अस्थायी कमी के कारण निर्यात-उद्योगो मे बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है किन्तु इस प्रकार की बेरोजगारी अस्थायी ही होती है।

(2) **मौसमी बेरोजगारी** (Seasonal Unemployment)—जैसा विदित है, कृषि एव कुछ उद्योग धन्धे मौसमी स्वरूप के होते हैं। अत ऐसे व्यवसायो मे लगे हुए श्रम की माँग भी

मौसमी होती है, अर्थात् श्रम की माग किसी विशेष मौसम मे ही उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, चीनी उद्योग मौसमी उद्योग है। चीनी के कारखाने केवल एक विशेष मौसम मे ही कार्य करते हैं और उस मौसम की समाप्ति पर इन कारखानो मे काम बन्द हो जाता है। परिणामतः मजदूर बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार की बेरोजगारी को मौसमी बेरोजगारी कहा जाता है। मौसमी बेरोजगारी को दूर करने के लिए कुछ ऐसे गौण उद्योगो (Subsidiary Industries) का विकास किया जाना चाहिए जिनमे बेरोजगार मजदूरो को मन्दी-काल मे रोजगार मिल सके।

(3) शैल्पिक बेरोजगारी (Technological Unemployment)—आधुनिक उद्योग-धन्धे प्राय प्रावैगिक (dynamic) होते हैं। उनमे समय-समय पर नये-नये आविष्कार होते रहते हैं। पुरानी मशीनो के स्थान पर नयी मशीनो का उपयोग होता रहता है। उत्पादन की विधियो मे भी सुधार होते रहते हैं। जब उद्योग-धन्धो मे इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं तब इन परिवर्तनो के परिणामस्वरूप कुछ मजदूर बेकार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, कारखानो मे नयी नयी मशीनों के लगने से मजदूरो की छँटनी होगी ही। इस प्रकार शैल्पिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप हुई बेरोजगारी को शैल्पिक बेरोजगारी कहते हैं।

(4) सघर्षक बेरोजगारी (Frictional Unemployment)—संघर्षक बेरोजगारी से अभिप्राय उस परिस्थिति से होता है जब श्रम-बाजार की अपूर्णताओ (*Imperfections of the Labour Market*) के कारण मजदूरो को कुछ समय के लिए काम उपलब्ध नहीं होता। सघर्षक बेरोजगारी के कई कारण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कच्चे माल का अभाव, मशीनो का टूट जाना नयी उत्पादन-विधियो का अपनाया जाना। जब कच्चे माल के अभाव के कारण कारखाने बन्द कर दिये जाते हैं और परिणामत मजदूर बेकार हो जाते हैं तो इस प्रकार की बेरोजगारी को सघर्षक बेरोजगारी कहा जाता है। इस प्रकार की बेरोजगारी कारखानो मे नयी उत्पादन-विधियो को लागू करने से भी उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि मजदूरो को नयी उत्पादन-विधियो को सीखने मे कुछ समय अवश्य ही लगता है। अत कुछ समय के लिए वे बेकार हो जाते हैं। स्मरण रहे कि सघर्षक बेरोजगारी पूँजीवादी एव समाजवादी दोनो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ मे पायी जाती है। सर विलियम वैवरेज (Sir William Beveridge) के अनुसार प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था मे कम से कम 3 प्रतिशत सघर्षक बेरोजगारी तो होगी ही है। उनका कहना है कि सघर्षक बेरोजगारी को पूर्णत समाप्त नहीं किया जा सकता, यद्यपि इसको कम अवश्य ही किया जा सकता है। यदि मजदूरो को पर्याप्त मात्रा मे नयी उत्पादन-विधियो को सीखने की प्रशिक्षण सुविधाएँ दी जायें अथवा उनके लिए पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की व्यवस्था की जाय तो निश्चय ही सघर्षक बेरोजगारी मे कमी की जा सकती है।

(5) स्वैच्छिक बेरोजगारी (Voluntary Unemployment)—स्वैच्छिक बेरोजगारी उस समय होती है जब मजदूर प्रचलित मजदूरी अथवा प्रचलित मजदूरी से कुछ कम मजदूरी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। उदाहरणार्थ यदि मजदूर मजदूरी की प्रचलित दर से सन्तुष्ट न होकर हड़ताल कर देते हैं तो इस प्रकार की बेरोजगारी को स्वैच्छिक बेरोजगारी ही कहा जायगा। इसका कारण यह है कि मजदूरों को प्रचलित दर पर काम तो उपलब्ध है परन्तु वे उस प्रचलित दर से सन्तुष्ट नहीं हैं और स्वेच्छा से ही बेरोजगार रहना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा अथवा आलस्य के कारण बेकार रहना पसन्द करता है तो वह भी स्वैच्छिक बेरोजगारी का ही उदाहरण होगा। साधु सन्यासी स्वेच्छा से ही बेकार रहते है।

(6) अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary Unemployment) क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार अनैच्छिक बेरोजगारी सम्भव ही नहीं हो सकती क्योंकि उनका यह दृढ विश्वास था कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है। परन्तु प्रो० केन्ज उनके इस विचार से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे अनैच्छिक बेरोजगारी लगभग सदैव विद्यमान रहती है। प्रो० केन्ज के अनुसार अनैच्छिक बेरोजगार व्यक्ति वह है जो प्रचलित वास्तविक मजदूरी दर से कम वास्तविक मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार है चाहे वह कम मौद्रिक मजदूरी स्वीकार करने के लिए तैयार न हो। प्राय बेरोजगार व्यक्ति मजदूरी की प्रचलित दर से कम मजदूरी पर काम प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं परन्तु

उन्हे सफलता प्राप्त नही होती। इस प्रकार अनैच्छिक बेरोजगारी मजदूरो की इच्छा के कारण नही बल्कि काम के अभाव के कारण होती है। प्रो० केन्ज के अनुसार अनैच्छिक बेरोजगारी प्रभावपूर्ण मॉग (Effective Demand) की कमी के कारण होती है। अत इसको दूर करने के लिए प्रभावपूर्ण मॉग मे वृद्धि करने हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि उपभोग तथा निवेश की मात्रा को यथासम्भव बढाया जाय।

(7) **चक्रीय बेरोजगारी** (Cyclical Unemployment)—जैसा विदित है, पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे सदैव व्यापार-चक्र (Trade Cycle) क्रियाशील रहता है। फलत. व्यापार मे समय-समय पर उतार-चढाव होते रहते हैं। कभी तेजी (Boom) आती है और कभी मन्दी (Slump)। जब तेजी के उपरान्त मन्दी आती है तो कीमतें गिरने लगती हैं। परिणामत. उत्पादन मे कमी हो जाती है और रोजगार की मात्रा घट जाती है। इस प्रकार की बेरोजगारी को चक्रीय बेरोजगारी कहा जाता है। उदाहरणार्थ, सन् 1931 मे महामन्दी के कारण विभिन्न देशो मे जो बेरोजगारी उत्पन्न हुई थी उसे चक्रीय बेरोजगारी कहा जा सकता है। चक्रीय बेरोजगारी को दूर करने की सर्वोत्तम विधि यह है कि व्यापार चक्र की क्रियाशीलता को प्रभावपूर्ण ढग से नियन्त्रित किया जाय। प्रो० केन्ज ने व्यापार चक्र को नियन्त्रित करने के लिए मौद्रिक (Monetary) एव राजकोषीय (Fiscal) उपायो का सुझाव दिया था।

बेरोजगारी के सिद्धान्त

बेरोजगारी के सम्बन्ध मे हम तीन मुख्य सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे

(1) **बेरोजगारी का क्लासीकल सिद्धान्त** (The Classical Theory of Unemployment)—क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे स्थायी आधार पर बेरोजगारी हो ही नही सकती। इन अर्थशास्त्रियो का दृढ विश्वास था कि पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था मे सामान्यत पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है और यदि किसी समय बेरोजगारी हो भी जाती है तो वह विशुद्धत अस्थायी स्वरूप की ही होती है और कुछ समय पश्चात् वह स्वत ही दूर हो जाती है। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के उक्त सिद्धान्त का आधार जे० बी० से (J B Say) का बाजारो का नियम (Law of Markets) था। जे० बी० से एक फ्रासीसी अर्थशास्त्री थे। उनके नियम के अनुसार सामान्य अति-उत्पादन (General Over-production) अथवा सामान्य बेरोजगारी की दशाएँ हो ही नही सकती। जे० बी० से के कथनानुसार, "पूर्ति स्वत ही अपनी मॉग को उत्पन्न करती है" (Supply creates its own demand)। उनका कथन है कि उत्पादन ही माल के लिए बाजार का सृजन करता है। 'से' के अनुसार मॉग का मुख्य स्रोत उत्पादन के विभिन्न साधनो को प्राप्त होने वाली आय होती है। यह आय उत्पादन-प्रक्रिया से स्वत ही उत्पन्न होती है। जब कभी उत्पादन की कोई नवीन प्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है और उसके परिणामस्वरूप एक निश्चित मात्रा मे उत्पादन उपलब्ध होता है तो उत्पादन के साथ ही साथ वस्तु *की मॉग इसलिए बढती है कि उत्पादन मे लगे हुए साधनो को पारिश्रमिक मिलता है।* दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक उत्पादन की मात्रा के परिणामस्वरूप देश के परिचलन (Circulation) मे उतनी ही मात्रा की क्रय शक्ति भी प्रविष्ट हो जाती है। फलत जितना माल तैयार होता है, वह स्वत. *ही बिक जाता है। इस प्रकार अतिरिक्त अथवा अति उत्पादन का प्रश्न ही पैदा नही होता।* उदाहरणार्थ एक मोटरकार के निर्माण के परिणामस्वरूप मजदूरी, लाभ आदि के रूप मे इतनी क्रय-शक्ति परिचलन मे आ जाती है कि अन्तत मोटरकार स्वत ही बिक जाती है। इस प्रकार जे० बी० से के अनुसार किसी भी वस्तु का अति उत्पादन नही हो सकता। जे० बी० से यह तो मानते हैं कि किसी वस्तु विशेष की पूर्ति अस्थायी रूप मे किसी विशेष उद्यमी की गलत गणनाओ (Calculations) के कारण मॉग से अधिक हो सकती है, किन्तु जे० बी० से के अनुसार सामान्य अति-उत्पादन सम्भव नही है।

जे० बी० से के इसी नियम के आधार पर क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने कहा था कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे सामान्य बेरोजगारी नही हो सकती। उनके अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे कुछ संघर्षक बेरोजगारी तो हो सकती है परन्तु वह विशुद्धत अस्थायी होती है। अत क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे सामान्य अनैच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

इसके बावजूद यदि किसी पूंजीवादी देश मे किसी समय बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है तो क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार इसका उत्तरदायित्व स्वय मजदूरो पर ही होता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि मजदूरो के सघ (Trade Unions) अपनी सौदा-शक्ति के कारण कारखानेदारो को श्रम की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity of Labour) से अधिक मजदूरी देने के लिए विवश कर देते हैं। साधारणत कोई भी कारखानेदार मजदूरो को उनकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी देने के लिए तैयार नही होता। यदि उसे सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी देने के लिए विवश किया जाता है तो कुछ समय पश्चात् वह अपने कारखाने को ही बन्द कर देता है। परिणामत मजदूरो मे बेरोजगारी फैल जाती है। इस प्रकार क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे प्रचलित अनैच्छिक बेरोजगारी के लिए मजदूर स्वय ही उत्तरदायी होते हैं। यदि वे अपनी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार ही मजदूरी स्वीकार कर लें तो क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के कथनानुसार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे अनैच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। अत क्लासीकल अर्थशास्त्रियो का यह निष्कर्ष था कि श्रमिक सघ वस्तुत बेकार सस्थाएं होती है। परन्तु जैसा हम आगे चलकर देखेंगे प्रो० केन्ज ने इस विचारधारा का सफलतापूर्वक खण्डन किया है।

(2) **प्रो० केन्ज का बेरोजगारी का सिद्धान्त (Prof. Keynes' Theory of Unemployment)**—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के अनुसार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था मे अनैच्छिक बेरोजगारी का मुख्य कारण श्रमिक-सघो द्वारा ऊँची मजदूरी की माँग करना है। यदि श्रमिक सघ ऊँची मजदूरी की माँग न करें अथवा मजदूरी दर मे कटौती को स्वीकार कर लें तो बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न ही नही हो सकती।

प्रो० केन्ज ने क्लासीकल अर्थशास्त्रियो के इस दृष्टिकोण का दो मुख्य आधारो पर तीव्र विरोध किया है। प्रथम प्रो० केन्ज ने मजदूरी-कटौती की नीति को सैद्धान्तिक आधार पर अनुचित बताया है। प्रो० केन्ज के कथनानुसार पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था म प्रचलित अनैच्छिक बेरोजगारी ऊँची मजदूरियो के कारण नही, बल्कि प्रभावपूर्ण माँग की कमी के कारण होती है। अत रोजगार की मात्रा को बढाने के लिए मजदूरियो म कटौती करने के बजाय प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि की जानी चाहिए। प्रो० केन्ज के अनुसार यदि मजदूरियो मे कटौती कर दी जाती है तो इससे मजदूरो की आय स्वत ही कम हो जायेगी। परिणामत उनकी क्रय करने की शक्ति भी कम हो जायगी। यदि मजदूरो की क्रय शक्ति कम हो जाती है तो प्रभावपूर्ण माँग मे कमी अनिवार्य हो जायेगी। अन्तत रोजगार की मात्रा भी घट जायगी। इस प्रकार प्रो० केन्ज के अनुसार, बेरोजगारी की समस्या का समाधान मजदूरियो मे कटौती करना नही है। इसके विपरीत रोजगार की मात्रा को बढाने के लिए समुदाय की प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि करना आवश्यक है। दूसरे प्रो० केन्ज ने व्यावहारिक आधार पर भी मजदूरी कटौती का विरोध किया है। उनके अनुसार सभी देशो मे श्रमिक-सघ स्थापित हो चुके हैं तथा उन्हे अब इस अवस्था मे समाप्त कर देना किसी भी दृष्टिकोण से व्यावहारिक नही है। इसी प्रकार लगभग सभी देशो मे न्यूनतम मजदूरी नियम (Minimum Wage Laws) बनाये जा चुके है। इन नियमो को समाप्त कर देना भी व्यावहारिक नीति नही है।

इस प्रकार प्रो० केन्ज मजदूरी कटौती के कट्टर विरोधी थे। उनका दृढ विश्वास था कि मजदूरी कटौती से बेरोजगारी की समस्या का समाधान नही हो सकता। इस समस्या का समाधान करने के लिए तो समुदाय की प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि की जानी चाहिए। जैसा प्रो० केन्ज ने बताया है किसी समुदाय की प्रभावपूर्ण माँग उसके उपभोग एव निवेश की मात्राओ पर निर्भर करती है। इस प्रकार यदि किसी देश मे रोजगार की मात्रा मे वृद्धि करनी है तो स्पष्टत ऐसे देश को अपने उपभोग और निवेश की मात्राओ मे वृद्धि करनी होगी। चूंकि अल्पकाल मे उपभोग की मात्रा लगभग स्थिर रहती है, इसलिए प्रो० केन्ज के अनुसार रोजगार की मात्रा को बढाने के लिए निवेश वृद्धि पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योकि इससे ही रोजगार के अवसरो मे वृद्धि की जा सकती है।

(3) **कार्ल मार्क्स का बेरोजगारी सिद्धान्त (Karl Marx's Theory of Unemployment)**—कार्ल मार्क्स ने अपने पूंजीवादी सचय के सामान्य नियम (General Law of Capita

list Accumulation) की विवेचना करते हुए स्पष्टत कहा है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी एक प्रकार से अनिवार्य ही होती है। दूसरे शब्दो मे, बेरोजगारी पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का आवश्यक लक्षण है। कार्ल मार्क्स के अनुसार बेरोजगारी की मात्रा पूंजीवाद के विकास के स्तर पर निर्भर रहती है। पूंजीवाद जितना अधिक विकसित होता चला जाता है, बेरोजगारी की मात्रा भी उतनी ही अधिक बढती चली जाती है।

कार्ल मार्क्स के कथनानुसार पूंजी सचय (Capital Accumulation) मे वृद्धि के साथ ही साथ परिवर्तनीय पूंजी (Variable Capital) एव स्थिर-पूंजी (Constant Capital) दोनो मे ही वृद्धि होती है किन्तु परिवर्तनीय-पूंजी उस अनुपात मे नही बढती जिसमे स्थिर पूंजी बढती है, अर्थात् कालान्तर मे स्थिर पूंजी की तुलना मे परिवर्तनीय पूंजी पीछे रह जाती है। इसका कारण यह है कि वैज्ञानिक आविष्कारो के फलस्वरूप उत्पादन की शैल्पिक विधियो मे सुधार होते रहते हैं। नयी नयी मशीनो का प्रयोग होता रहता है। परिणामत परिवर्तनीय पूंजी स्थिर-पूंजी से प्रतिस्थापित होती रहती है। परिवर्तनीय पूंजी के पिछड जाने के कारण ही पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बेरोजगारी उत्पन्न होती है। स्मरण रहे, कार्ल मार्क्स के अनुसार परिवर्तनीय पूंजी मे से ही मज्दूरो को मजदूरियां चुकायी जाती है, जबकि स्थिर-पूंजी का प्रयोग मशीनो आदि के क्रय मे किया जाता है। इस प्रकार जब कालान्तर मे परिवर्तनीय पूंजी का अनुपात स्थिर-पूंजी की तुलना मे गिर जाता है तो बेरोजगारी स्वत ही उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण स्पष्ट है, परिवर्तनीय-पूंजी के अनुपात मे ह्रास के परिणामस्वरूप मजदूरो को रोजगार के अवसर उस मात्रा मे उपलब्ध नही होते जिसमे पहले हुआ करते थे। फलत मजदूरो मे बडे पैमाने पर बेरोजगारी फैल जाती है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स का दृढ विश्वास था कि पूंजीवाद के कारण ही बेरोजगारी उत्पन्न होती है। अत बेरोजगारी की इस समस्या का समाधान करने के लिए पूंजीवाद का उन्मूलन आवश्यक हो जाता है।

पूर्ण रोजगार का अर्थ—जैसा हम पूर्व कह चुके है, बेरोजगारी पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का सबसे बडा अभिशाप है। इसके कारण देश के साधनो का समुचित उपयोग नही हो सकता। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे बडी सख्या मे मजदूर सदैव बेरोजगार रहते हैं। उदाहरणार्थ, अमरीका जैसे समृद्ध पूंजीवादी देश मे भी बडे पैमाने पर बेरोजगारी पायी जाती है। बेरोजगारी के कारण न केवल मजदूरो को आर्थिक क्षति ही होती है, बल्कि उनका नैतिक स्तर भी गिर जाता है। यही कारण है कि आजकल लगभग सभी देशो की सरकारो ने पूर्ण रोजगार की नीति को अपना लक्ष्य बना रखा है। पूंजीवादी देशो मे सरकारें यथासम्भव पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करने का प्रयत्न करती रहती हैं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पूर्ण रोजगार से अभिप्राय क्या है? पूर्ण रोजगार से अभिप्राय उस दशा से नही होता जिसमे देश के सभी स्वस्थ योग्य एव क्षमतावान व्यक्तियो को रोजगार मिल जाता है। पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नही कि देश के सभी नागरिको को काम मिलने लगे। पूर्ण रोजगार का अभिप्राय देश मे अनैच्छिक बेरोजगारी के अभाव से होता है। अर्थात् पूर्ण रोजगार वाले समाज मे अनैच्छिक बेरोजगारी नही होनी चाहिए। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है—पूर्ण रोजगार का अर्थ यह नही है कि सभी देशवासियो को रोजगार मिल जाय। इसके विपरीत, पूर्ण रोजगार की अवस्था मे भी कुछ अश तक बेरोजगारी विद्यमान रहती है। उदाहरणार्थ, पूर्ण रोजगार की अवस्था मे भी स्वैच्छिक बेरोजगारी (Voluntary Unemployment) सम्भव हो सकती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक देश मे कुछ न कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो स्वेच्छा अथवा आलस्य के कारण प्रचलित मजदूरी की दरो पर काम करना पसन्द नही करते। इसी प्रकार पूर्ण रोजगार की अवस्था मे कुछ अश तक सघर्षक बेरोजगारी (Frictional Unemployment) भी सम्भव हो सकती है। जैसा सर विलियम बैवरेज (Sir William Beveridge) ने कहा है—प्रत्येक अर्थ व्यवस्था मे 3 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक सघर्षक बेरोजगारी अवश्य ही होती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार से अभिप्राय देशवासियो के शत प्रतिशत रोजगार से नही है अर्थात् पूर्ण रोजगार वाले समाज मे भी 95 से लेकर 97 प्रतिशत लोगो को ही रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं। स्मरण रहे कि पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था केवल युद्धकाल मे ही पूर्ण रोजगार प्रदान

कर सकती है। शान्तिपूर्ण समयो मे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार प्रदान करने मे प्राय असमर्थ ही रहती है।

≡ पूर्ण रोजगार की नीति
(Policy of Full Employment)

जैसा हम ऊपर कह चुके है, आजकल प्रत्येक सरकार ने पूर्ण रोजगार को अपना लक्ष्य बना रखा है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे पूर्ण रोजगार की दशा को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्रो० केन्ज के अनुसार रोजगार का स्तर देश की प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करता है। अत यदि देश की प्रभावपूर्ण मांग मे वृद्धि कर दी जाय तो रोजगार का स्तर स्वत ही बढ जायगा। अब प्रश्न यह है कि देश की प्रभावपूर्ण मांग मे वृद्धि कैसे की जाय? प्रो० केन्ज के अनुसार प्रभावपूर्ण मांग मे वृद्धि करने के दो मुख्य उपाय हैं—प्रथम देश के उपभोग को प्रोत्साहित किया जाय। दूसरे देश के निवेश की मात्रा मे वृद्धि की जाय।

(1) **देश के उपभोग को प्रोत्साहित किया जाय**—प्रो० केन्ज के अनुसार उपभोग को प्रोत्साहित करने की सर्वोत्तम विधि यह है कि देश की उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) को बढाया जाय। जैसा विदित है, अमीरो की अपेक्षा गरीबो की उपभोग प्रवृत्ति ऊंची होती है। इसका कारण स्पष्ट है। अमीरो की लगभग सभी आवश्यक आवश्यकताएँ पहले से ही सन्तुष्ट होती है। अत यदि अमीरो की आय मे वृद्धि होती है तो वे उसे उपभोग पर व्यय न करके बचाना अधिक पसन्द करते हैं। इस प्रकार, अमीरो की उपभोग प्रवृत्ति कम होती है। इसके विपरीत, गरीबो की बहुत सी आवश्यकताएँ प्राय असन्तुष्ट ही रहती हैं। यदि उनकी आय मे थोडी-सी वृद्धि हो जाती है तो वे तुरन्त ही उसे उपभोग-पदार्थों पर व्यय कर देते हैं। इस प्रकार, अमीरो की अपेक्षा गरीबो की उपभोग प्रवृत्ति अधिक ऊंची होती है। यदि देश के उपभोग स्तर मे वृद्धि करनी है तो इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि गरीबो की आय मे वृद्धि की जाय। इसके लिए प्रो० केन्ज ने यह सुझाव दिया है कि अमीरो पर भारी आयकर लगाया जाय और इस प्रकार प्राप्त की गयी आय को सरकार द्वारा गरीबो के कल्याण हेतु व्यय किया जाय। उदाहरणार्थ, सरकार गरीबो के लिए सस्ते अनाज, सस्ते मकान, नि शुल्क शिक्षा एव डॉक्टरी सहायता की व्यवस्था कर सकती है। इसी प्रकार प्रो० केन्ज ने यह भी सुझाव दिया था कि उपभोग के स्तर को उठाने के लिए सरकार गरीबो पर लगाये गये परोक्ष करो (Indirect Taxes) मे कमी करे। इनके साथ ही प्रो० केन्ज ने यह सुझाव दिया था कि मन्दी-काल मे सरकार बेरोजगार-मजदूरो को बेरोजगारी भत्ते (Unemployment Allowances) प्रदान करे ताकि वे अपने उपभोग स्तर को पूर्ववत्त बनाये रख सकें। स्मरण रहे कि प्रो० केन्ज ने उपभोग को प्रोत्साहित करने हेतु राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर कोई अधिक जोर नही दिया था, क्योकि वह स्वय पूंजीवाद के समर्थक थे और किसी भी दशा मे इसे समाप्त नही करना चाहते थे। वह तो केवल पूंजीवाद मे आवश्यक सुधार ही करना चाहते थे।

(2) **देश के निवेश की मात्रा मे वृद्धि की जाय**—जैसा प्रो० केन्ज ने कहा है देश की प्रभावपूर्ण मांग को बढाने की दूसरी विधि यह है कि निवेश की मात्रा मे आवश्यक वृद्धि की जाय। चूंकि अल्पकाल मे उपभोग की मात्रा लगभग स्थिर ही रहती है, इसलिए रोजगार की वृद्धि के लिए प्रो० केन्ज ने उपभोग वृद्धि की अपेक्षा निवेश वृद्धि पर अधिक जोर दिया था। जैसा विदित है, निवेश दो प्रकार का होता है—(क) निजी निवेश (Private Investment) (ख) सरकारी निवेश (Public Investment)। प्रो० केन्ज के अनुसार रोजगार वृद्धि के लिए इन दोनो प्रकार के निवेश मे वृद्धि करना आवश्यक है। पहले हम देखेंगे कि निजी निवेश मे कैसे वृद्धि की जा सकती है।

(क) निजी निवेश मे वृद्धि—प्रो० केन्ज के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे निजी निवेश की मात्रा दो बातो पर निर्भर रहती है प्रथम पूंजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital), दूसरे ब्याज की दर। निजी निवेशकर्ता निवेश करने से पूर्व इन दोनो की तुलना कर लेते है अर्थात् वे निवेश उसी दशा मे करते हैं जब कि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर की तुलना मे अधिक होती है। यदि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज-दर से कम

होती है तो ऐसी परिस्थिति मे निजी निवेशकर्ता निवेश करना पसन्द नही करेंगे, क्योकि ऐसा करने से उन्हे हानि उठानी पडती है। अत निजी निवेश के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर से ऊँची होनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि या तो पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को बढा दिया जाय और यदि यह सम्भव न हो तो ब्याज की दर को कम कर दिया जाय। चूँकि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को बढाना किसी के हाथ मे नही होता, इसलिए निजी निवेश को बढावा देने के लिए प्रो० केन्ज ने निम्नलिखित उपायो की सिफारिश की है

(1) **सुलभ मुद्रा नीति** (Cheap Money Policy)—निजी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए सुलभ मुद्रा नीति का सुझाव दिया गया है। इससे अभिप्राय यह कि ब्याज दर को केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप द्वारा कम कर दिया जाय। ब्याज-दर के कम हो जाने से उद्यमियो को नये-नये निवेश करने मे स्वत ही प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार, देश की निवेश दर बढ जायगी। नये नये कारखाने स्थापित होगे और मजदूरो को रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त होने लगेंगे।

(2) **कराधान मे कमी**—निवेश की मात्रा को बढाने का दूसरा सुझाव यह दिया गया है कि उद्यमियो पर लगाये गये प्रत्यक्ष करो (direct taxes) मे कमी कर दी जाय। उदाहरणार्थ, आयकर की दर मे कमी कर दी जाय। इससे उद्यमियो को अधिक मात्रा मे निवेश करने का स्वत ही प्रोत्साहन मिलेगा।

(3) **एकाधिकार विरोधी नीति** (Anti-Monopoly Policy) निजी निवेश की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए एकाधिकार विरोधी नीति के अनुसरण का भी सुझाव दिया गया है। जैसा विदित है, एकाधिकारी व्यवसाय प्राय नये-नये उद्यमियो को क्षेत्र मे प्रविष्ट नही होने देते तथा उनके मार्ग मे तरह तरह की बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अत निवेश-वृद्धि के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सरकार एकाधिकारी व्यवसायो की इस प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करे।

(4) **विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करना**—देश मे निवेश की मात्रा को बढाने के लिए यह भी आवश्यक है कि विदेशो से पूँजी को आमन्त्रित किया जाय। विदेशी पूँजी के निवेश का रोजगार के स्तर पर लगभग वही प्रभाव पडता है जो घरेलू पूँजी के निवेश का होता है, अर्थात् विदेशी पूँजी भी रोजगार के स्तर को बढाने मे सहायक सिद्ध होती है। परन्तु विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करते समय देश के हितो की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

(ख) **सरकारी निवेश मे वृद्धि**—जैसा हम जानते है, मन्दी काल मे उद्यमियो मे प्राय निराशा की लहर दौड जाती है। इस निराशापूर्ण मनोवृत्ति के कारण वे ऐसे समय नये व्यवसायो मे अपनी पूँजी लगाना पसन्द नही करते। कभी कभी तो ब्याज की दर मे कमी कर देने से भी निजी निवेश प्रोत्साहित नही होता। जैसी अंग्रेजी मे कहावत है घोडे को आप पानी की ओर ले जा सकते हैं परन्तु उसे पीने के लिए विवश नही कर सकते (You can take a horse to water but cannot make him drink)। इसी प्रकार, सरकार ब्याज की दर तो कम कर सकती है किन्तु उद्यमियो को अधिक निवश करने के लिए विवश नही कर सकती। सन् 1931 की महान मन्दी के दौरान यह देखा गया था कि बहुत से देशो मे ब्याज की दर मे अत्यधिक कमी के बावजूद निजी निवेश मे कोई विशेष वृद्धि नही हो सकी थी। अत ऐसी परिस्थिति मे रोजगार की मात्रा बढाने के लिए सरकारी निवेश का आश्रय लेना पडता है। इसीलिए प्रो० केन्ज ने मन्दी काल मे जहाँ निजी निवेश को प्रोत्साहन देने का समर्थन किया था, वहाँ साथ ही साथ उन्होने सरकारी निवेश की भी जोरदार शब्दो मे वकालत की थी। वास्तव मे, मन्दी काल मे सरकारी निवेश एक प्रकार से अनिवार्य हो जाता है। रोजगार की मात्रा को बढाने के लिए निजी निवेश पर ही पूर्णत निर्भर नही रहा जा सकता। इसी कारण प्रो० केंज ने मन्दी के समय सरकारी निवेश का समर्थन किया था। उनके कथनानुसार मन्दी के समय सरकार को बडे पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण कार्यों (Public Works) को हाथ म लेना चाहिए। ऐसे समय सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों का एक व्यापक कार्यक्रम क्रियान्वित करना चाहिए। उदाहरणार्थ, ऐसे समय सडको, नहरो, पार्कों, स्कूलो, अस्पतालो एव मकानो का बडे पैमाने पर सरकार द्वारा स्वय निर्माण किया जाना चाहिए। इससे बेरोजगार मजदूरो का रोजगार

के नये-नये अवसर उपलब्ध होंगे। उनके हाथ मे क्रय-शक्ति बढ़ेगी। परिणामत प्रभावपूर्ण माँग मे वृद्धि होगी और गुणक (Multiplier) की क्रियाशीलता के कारण रोजगार की मात्रा म वृद्धि हो जायगी। प्रो० केन्ज ने यह सुझाव दिया था कि ऐसे समय के लिए सरकार को सार्वजनिक निर्माण-कार्यों की पहले से ही योजना तैयार रखनी चाहिए और जैसे ही मन्दी के सकेत मिलें, वैसे ही इस योजना को क्रियान्वित कर देना चाहिए। इससे बेरोजगारी की मात्रा को नियन्त्रित करने मे बड़ी सहायता मिल सकती है।

परन्तु सरकार द्वारा निवेश करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि केवल उन्ही उद्योगो मे निवेश किया जाय जिनमे निजी उद्योगपति धन लगाने मे सकोच करते हैं। दूसरे शब्दों मे, सरकार को किसी भी दशा मे निजी उद्योगपतियो से प्रतियोगिता नही करनी चाहिए, क्योंकि यदि सरकार निजी उद्योगपतियो से प्रतियोगिता करती है तो इससे रोजगार-वृद्धि का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मन्दी काल मे सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के लिए वित्त कहाँ से प्राप्त किया जाय? वास्तव मे, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। स्पष्ट है कि ऐसे समय सरकार को सन्तुलित बजट नीति (Balanced Budget Policy) का अनुसरण नही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि जब देश की अर्थ-व्यवस्था स्वय असन्तुलित दशा मे हो तो ऐसी परिस्थिति मे सरकार के लिए सन्तुलित बजट नीति का अनुसरण करना उचित नही होगा। अत ऐसे समय तो सरकार को असन्तुलित बजट नीति (Unbalanced Budget Policy) का अनुसरण करना चाहिए, अर्थात् सरकार को घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Budgeting) क्रियान्वित करनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे, सरकार का बजट घाटे का बजट (Deficit Budget) होना चाहिए। सरकार को अपनी आय की तुलना मे व्यय अधिक करना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि बजट के इस घाटे को पूरा कैसे किया जाय? स्पष्ट है कि बजट के घाटे को निजी उद्यमियो पर नये-नये कर लगाकर पूरा नही करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से निजी निवेश पर बुरा प्रभाव पड सकता है और उसके परिणामस्वरूप रोजगार की मात्रा बढ़ने के बजाय घट सकती है। इसलिए बजट के घाटे को नये कर लगाकर पूरा करना उचित न होगा। प्रो० केन्ज का सुझाव यह था कि बजट सम्बन्धी घाटे को पूरा करने के लिए लोगो से ऋण लिया जाय। लेकिन ऋण लेते समय भी इस बात का ध्यान रखा जाय कि ऋण उन लोगो से न लिया जाय जो अपने धन को स्वय ही उत्पादन की वृद्धि मे लगाना चाहते हैं। इस प्रकार लोगो से ऋण लेकर रोजगार की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए सरकारी निवेश को बढाया जा सकता है। सक्षेप मे, प्रो० केन्ज के अनुसार रोजगार की मात्रा मे वृद्धि करने के लिए उपभोग एव निवेश दोनो मे ही वृद्धि करनी चाहिए।

परन्तु प्रो० केन्ज द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त कार्यक्रम रोजगार की मात्रा बढाने मे तभी सफल हो सकता है जबकि श्रमिको मे पूर्ण गतिशीलता पायी जाय। यदि श्रमिको मे पूर्ण गतिशीलता का अभाव है अर्थात् वे एक स्थान से दूसरे स्थान को अथवा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को जाने मे सकोच करते हैं तो ऐसी परिस्थिति मे प्रो० केन्ज के उपर्युक्त कार्यक्रम के द्वारा पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त नही किया जा सकता। अत ऐसे समय सरकार को श्रमिको की गतिशीलता मे वृद्धि करने के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए। उदाहरणार्थ, सरकार रोजगार कार्यालय (Employment Offices) खोलकर मजदूरो की गतिशीलता को बढा सकती है। इसके अतिरिक्त, मजदूरो को अधिकाधिक प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाएँ देकर भी सरकार उनकी गतिशीलता मे सुधार कर सकती है।

पूर्ण रोजगार नीति की आलोचना

यद्यपि प्रो० केन्ज की उपर्युक्त पूर्ण रोजगार नीति के विरुद्ध कुछ कह सकना कठिन है लेकिन फिर भी कुछ रूढ़िवादी अर्थशास्त्रियो ने निम्नलिखित आधारो पर इसकी आलोचना की है

(1) मुद्रा स्फीति का भय—आलोचको का कहना है कि प्रो० केन्ज की उक्त पूर्ण रोजगार नीति को क्रियान्वित करने से देश मे मुद्रा स्फीति की दशा उत्पन्न हो सकती है। इसका कारण यह बताया गया है कि देश के मुद्राधिकरण (Monetary Authority) द्वारा ब्याज की दर को

कम करने के लिए मुद्रा की मात्रा में विस्तार करना आवश्यक हो जाता है। प्रो० केन्ज ने मन्दी काल में स्वयं ही मुद्रा की मात्रा में विस्तार करने का सुझाव दिया था। चूँकि अब स्वर्णमान टूट चुका है और लगभग सभी देशों में कागजी मुद्रामान क्रियाशील है, इसलिए मुद्रा की मात्रा में विस्तार करने से अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आलोचकों के अनुसार मुद्रा स्फीति का यह भय काल्पनिक नहीं है।

(2) **सार्वजनिक ऋण के भार में वृद्धि**—प्रो० केन्ज की उक्त पूर्ण रोजगार नीति के विरुद्ध आलोचकों की दूसरी आपत्ति यह है कि इसके कारण देश के सार्वजनिक ऋण के भार में अत्यधिक वृद्धि हो जायगी और आने वाली पीढ़ियों पर इसका अनुचित बोझ पड़ेगा। जैसा हम देख चुके हैं, सार्वजनिक निर्माण कार्यों की योजना को क्रियान्वित करने के लिए प्रो० केन्ज ने सार्वजनिक ऋण लेने का सुझाव प्रस्तुत किया है। उससे निश्चय ही सार्वजनिक ऋण की मात्रा में वृद्धि हो जायगी। परन्तु इस आलोचना के प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि यदि सार्वजनिक ऋण उत्पादक उद्देश्यों के लिए लिया जाता है तो उसमें कोई बुराई नहीं है। यदि सरकार द्वारा लिये गये ऋण से सार्वजनिक कार्यों का निर्माण किया जाता है तो इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। इससे एक ओर तो देश की सम्पत्ति में वृद्धि होती है और दूसरी ओर रोजगार की मात्रा बढ़ जाती है। देश की इस अतिरिक्त सम्पत्ति में से उत्पन्न होने वाली आय का सार्वजनिक ऋणों पर दिये जाने वाले ब्याज के लिए प्रयोग किया जा सकता है। अतः उत्पादक सार्वजनिक ऋण (productive public debt) का भावी पीढ़ियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता है।

(3) **सुलभ मुद्रा नीति की प्रभावपूर्णता**—आलोचकों का कहना है कि मन्दी काल में प्रो० केन्ज द्वारा सुझायी गयी सुलभ मुद्रा नीति प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं होती। दूसरे शब्दों में, ब्याज की दर को कम कर देने से भी निजी निवेश में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं मन्दी के समय निराशापूर्ण वातावरण के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज-दर से भी नीचे गिर जाती है। यहाँ तक कि कभी-कभी यह शून्य के बराबर हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में ब्याज की दर में अत्यधिक कमी करने पर भी निजी निवेश प्रोत्साहित नहीं होता। वास्तव में, सन् 1930 में अमरीका में ऐसा ही हुआ था। सरकार द्वारा ब्याज की दर में अत्यधिक कमी कर देने के बावजूद निजी निवेश में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो सकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि आलोचकों के इस तर्क में अवश्य ही कुछ सार है किन्तु स्मरण रहे कि प्रो० केन्ज ने मन्दी का सामना करने एवं रोजगार की मात्रा में वृद्धि करने के कार्यक्रम में सुलभ मुद्रा नीति को कोई विशेष महत्व नहीं दिया था, बल्कि कालान्तर में तो वह इसके प्रति कुछ उदासीन भी हो गये थे।

(4) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन**—आलोचकों का यह भी कहना है कि प्रो० केन्ज की उक्त पूर्ण रोजगार नीति को क्रियान्वित करने से लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवश्य ही हनन होगा। जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, पूर्ण रोजगार की नीति को क्रियान्वित करने के लिए आर्थिक क्षेत्र में सरकार को बड़े पैमाने पर हस्तक्षेप करना पड़ता है। सरकार न केवल विभिन्न तरीकों से निजी निवेश को प्रोत्साहित करती है बल्कि रोजगार की मात्रा में वृद्धि करने के लिए स्वयं निवेश के क्षेत्र में भी उतर आती है। कभी कभी तो मन्दी का सामना करने के लिए सरकार को नियमित रूप में आर्थिक नियोजन करना पड़ता है। इससे निश्चय ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता थोड़ी सीमित हो जाती है। परन्तु प्रश्न यह है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को थोड़ा सीमित करने से यदि रोजगार की मात्रा में वृद्धि का जा सकती है तो इसमें बुरी बात क्या है? और फिर जैसा प्रो० केन्ज ने स्पष्ट कहा था कि मन्दी-काल में सरकार को केवल उन्हीं उद्योगों में निवेश करना चाहिए जिनमें निजी उद्योगपति धन लगाना नहीं चाहते, अर्थात सरकार को किसी भी दशा में निजी उद्योगपतियों से प्रतियोगिता नहीं करनी चाहिए। अतएव आलोचकों के इस तर्क में कोई विशेष सार नहीं है।

भारत में रोजगार की समस्या

भारत आर्थिक दृष्टि से एक अल्प विकसित एवं पिछड़ा हुआ देश है। भारत के प्राकृतिक साधनों का अभी समुचित विकास सम्भव नहीं हो सका है, किन्तु इसके साथ ही देश की जन-

सख्या बडी तेजी के साथ बढती जा रही है। फलत इस समय देश मे बेरोजगारी की समस्या ने भीषण रूप धारण कर रखा है। वास्तव मे, बेरोजगारी इस समय देश की सबसे गम्भीर समस्या बन गयी है।

यद्यपि बेरोजगारी की समस्या भारत के लिए इतनी गम्भीर है, लेकिन फिर भी इसके बारे मे सही-सही एव विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध नही है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस समय देश मे बेरोजगार व्यक्तियो के बारे मे विश्वसनीय आँकडो का लगभग पूर्ण अभाव है। शहरी बेरोजगारी (Urban Unemployment) के बारे म तो फिर भी कुछ थोडी-बहुत जानकारी उपलब्ध है क्योकि शहरो मे सरकार द्वारा रोजगार क दफ्तर स्थापित किये गये है और उनके माध्यम से शहरी बेरोजगारी के बारे मे थोडे बहुत आँकडे उपलब्ध हो जाते हैं। लेकिन ग्रामीण बेरोजगारी (Rural Unemployment) के बारे मे तो हमे बिलकुल ही जानकारी नही है, क्योकि इससे सम्बन्धित आँकडे उपलब्ध नही हैं और न ही सरकार की ओर से इसके बारे म जानकारी एकत्रित करने का कोई योजनाबद्ध प्रयास किया गया है।

रोजगार के दफ्तरो द्वारा प्रस्तुत किये गये आँकडो से प्रतीत होता है कि विगत कुछ वर्षों मे शहरी बेरोजगारी मे बहुत वृद्धि हुई है। इसके कारण स्पष्ट है—प्रथम, शहरो म शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप शिक्षित व्यक्तियो की सख्या अधिकाधिक बढती जा रहा है। परिणामत शहरो मे शिक्षित व्यक्तियो की बेरोजगारी की कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी है। दूसरे विगत कुछ वर्षों से देहात मे रहने वाले लोग भी रोजगार की तलाश मे अधिकाधिक सख्या मे शहरो मे आये हैं। इससे शहरी बेरोजगारी की समस्या और भी जटिल हो गयी है। यद्यपि ग्रामीण बेरोजगारी के बारे मे विश्वसनीय आँकडे उपलब्ध नही है लेकिन फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि विगत कुछ वर्षो मे ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की मात्रा बहुत बढ गयी है। द्वितीय कृषि-श्रम जाँच (Second Agricultural Labour Enquiry) के अनुसार सन 1951 से 1956 तक ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारो की सख्या मे काफी वृद्धि हुई थी। इसके साथ ही इस अवधि मे मज दूरी की दरो म कोई सुधार नही हुआ था। अत हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इस समय ग्रामीण क्षेत्रो मे बेरोजगारी की समस्या अत्यन्त गम्भीर बन चुकी है।

क्या भारत मे पूर्ण रोजगार की स्थिति सम्भव है ?

कभी-कभी कहा जाता है कि भारत जैसे विस्तृत आकार एव विशाल जनसख्या वाले देश मे पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त करना सम्भव नही है। परन्तु हमारी राय मे ऐसा कहना उचित प्रतीत नही होता। यह सत्य है कि भारत एक अति जनसख्या वाला देश है और इस समय इसकी जनसख्या बडी तेजी से बढती जा रही है। लेकिन इसके साथ ही हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत मे प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता है। वर्षों की दासता एव अन्य कारणो से भारत के प्राकृतिक साधनो का उचित शोषण सम्भव नही हो सका है। यदि भारत के इन साधनो का योजनाबद्ध विकास किया जाय तो निश्चय ही देश के बेरोजगार व्यक्तियो को रोजगार उपलब्ध हो सकेगा। दूसरे इस दृष्टिकोण के समर्थन मे यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि दूसरे विश्व युद्ध के दौरान भारत मे लगभग पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी यदि युद्धकाल मे भारत के पूर्ण रोजगार की दशा स्थापित की जा सकती थी तो कोई कारण नही कि अब योजनाबद्ध विकास द्वारा देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न न की जा सके। वास्तव मे, भारत की पंचवर्षीय योजनाओ का मुख्य उद्देश्य देश मे पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करना है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि देश मे पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए क्या क्या कदम उठाये जायें। इस सन्दर्भ मे अर्थशास्त्रियो द्वारा निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं

(1) *बचतो मे वृद्धि*—इस समय भारत मे राष्ट्रीय आय के अनुपात मे बचतो का स्तर बहुत कम है। इसी कारण देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी उपलब्ध नही होती। अत पूँजी के अभाव की कठिनाई को दूर करने के लिए यह तो नितान्त आवश्यक है कि देश मे बचतो की मात्रा मे अधिकतम वृद्धि की जाय। इस उद्देश्य के लिए सरकार को सभी प्रकार के प्रयत्न करने चाहिए। यदि आवश्यक हो तो बचतो को प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज दर मे और अधिक वृद्धि कर दी जाय।

(2) **कृषि का विकास**—भारतीय कृषि इस समय बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में है। भारतीय किसान आज भी उन्हीं विधियों और औजारों का प्रयोग करता है जो सैंकड़ों वर्ष पूर्व प्रयुक्त किये जाते थे। परिणामत प्रति हेक्टेयर उपज बहुत कम होती है। अत देश के आर्थिक विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय कृषि का शीघ्रातिशीघ्र समुचित विकास किया जाय। बढ़िया किस्म के औजारों, उत्तम बीजों तथा रासायनिक खाद आदि का प्रयोग करके प्रति हेक्टेयर उपज को बढ़ाया जाय। इसके साथ ही साथ बेकार पड़ी भूमि को कृषि के अधीन लाया जाय। इससे निश्चय ही ग्रामीण क्षेत्रों मे रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी।

(3) **उद्योगों का विकास**—पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद भारत आज भी औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश है। पूंजीगत एवं आधारमूलक उद्योगों का सवथा अभाव है। उपभोक्ता उद्योग भी अभी पूर्णत विकसित नहीं हो सके हैं। लघुस्तरीय उद्योगों की वर्तमान दशा भी सन्तोषजनक नहीं है। अत देश मे रोजगार की मात्रा को बढ़ाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि योजनाबद्ध आधार पर उद्योग धन्धों का समुचित विकास किया जाय। वर्तमान उपभोक्ता-उद्योगों का विस्तार किया जाय। नये-नये उद्योग स्थापित किये जायें तथा आधारमूलक उद्योगों की ओर विशेष ध्यान दिया जाय। इससे निश्चय ही बड़े-बड़े उद्योग धन्धों मे लोगों को रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध हो सकेंगे। इसके साथ ही देश मे छोटे छोटे एव मध्यम श्रेणी के उद्योगों का भी शीघ्रातिशीघ्र विकास किया जाना चाहिए। वास्तव मे, छोटे छोटे उद्योगों की रोजगार प्रदान करने की शक्ति बड़े उद्योगों की तुलना मे अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, उनके लिए अधिक पूंजी की भी आवश्यकता नहीं होती और न ही उन्हे विकसित करने में अधिक समय ही लगता है। अत भारत जैसे पिछड़े हुए देश को छोटे छोटे उद्योगों के विकास को अधिक महत्व देना चाहिए।

(4) **परिवहन का विकास**—भारत में इस समय परिवहन के विभिन्न साधन भी लगभग अविकसित दशा मे ही हैं। रेलों का वर्तमान विकास देश के आकार एव जनसख्या को देखते हुए अपर्याप्त है। इसी प्रकार सड़क परिवहन भी पूणतः विकसित नहीं हो सका है। आन्तरिक जल परिवहन तो लगभग पूर्णत अविकसित ही है। यही कारण है कि भारत के आन्तरिक व्यापार का विकास नहीं हो सका है। इसलिए यदि देश मे पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त करना है तो परिवहन के विभिन्न साधनों का और अधिक विकास करना होगा। इससे देश के आन्तरिक व्यापार की स्वत ही वृद्धि होगी और लोगों को रोजगार के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध हो सकेंगे।

(5) ***विदेशी व्यापार मे वृद्धि***—*इस समय भारत का विदेशी व्यापार भी अधिक विकसित अवस्था मे नहीं है। विशेषकर समाजवादी देशों के साथ भारत का व्यापार अभी अधिक प्रगति नहीं कर सका है। विदेशी व्यापार के विस्तार से लोगों को रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त होंगे। अत यह नितान्त आवश्यक है कि देश के विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए सरकार द्वारा सभी सम्भव उपाय किये जायें।*

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत रोजगार की व्यवस्था

दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के समय भारत में बेरोजगार व्यक्तियों की कुल सख्या 53 लाख थी। दूसरी योजना का लक्ष्य लगभग 1 करोड़ व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना था। परन्तु दुर्भाग्यवश, सरकार को इसमें सफलता नहीं मिल सकी। दूसरी योजना के दौरान केवल 80 लाख व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जा सका। इसमें से 15 लाख व्यक्तियों को कृषि मे और 65 लाख व्यक्तियों को गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार दिया गया। इस प्रकार दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में योजना के निर्धारित लक्ष्य से 20 लाख कम व्यक्तियों को रोजगार मिला था। परिणामत दूसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर लगभग 90 लाख व्यक्ति बेरोजगार थे।

योजना आयोग के अनुमानानुसार तीसरी योजना के दौरान देश की श्रम-शक्ति में 1 करोड़ 70 लाख की वृद्धि होने की सम्भावना थी। इसमें यदि पहले से चले आ रहे 90 लाख बेरोजगार व्यक्तियों को भी जोड़ दिया जाय तो तीसरी योजना में लगभग 2 करोड़ 60 लाख व्यक्तियों के

लिए रोजगार के नये अवसर खोज निकालना आवश्यक था। किन्तु तीसरी पंचवर्षीय योजना मे 35 लाख व्यक्तियो को कृषि मे और 1 करोड 5 लाख व्यक्तियो को गैर-कृषि क्षेत्रो मे रोजगार दिलाने की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार, कुल मिलाकर तीसरी योजना मे 1 करोड 40 लाख व्यक्तियो के लिए रोजगार की व्यवस्था की गई थी। अत 1 करोड 20 लाख व्यक्तियो के लिए रोजगार दिलाने की कोई व्यवस्था नही थी।

चौथी पचवर्षीय योजना की अवधि मे रोजगार के कितने अवसर उपलब्ध होगे, इस विषय पर योजना प्रलेख (Plan Document) कुछ भी प्रकाश नही डालता है। प्रथम तीन योजनाओ मे इस प्रकार के अनुमान प्रस्तुत किये गये थे। लेकिन चौथी योजना मे इस प्रकार के अनुमान प्रस्तुत करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया था। हाल ही मे योजना आयोग ने विशेषज्ञो की एक समिति नियुक्ति की थी और उसे बेरोजगारो की सख्या के अनुमान प्रस्तुत करने के लिए कहा गया था। लेकिन अपनी रिपोर्ट मे समिति ने यह विचार व्यक्त किया था कि बेरोजगारो की सख्या से सम्बन्धित अनुमान प्रस्तुत करना उसके लिए सम्भव नही है। इसका कारण यह बताया गया था कि बेरोजगारी से सम्बन्धित विश्वसनीय आँकडे कही भी उपलब्ध नही हैं और न ही इस विषय से सम्बन्धित कोई गहन अध्ययन ही किया गया है। योजना आयोग ने समिति की सिफारिश को स्वीकार कर लिया और चौथी योजना मे बेरोजगारी सम्बन्धित आँकडे प्रस्तुत नही किये थे। वास्तव में, यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। आँकडो के बिना स्थिति का हमे सही सही आभास ही नही हो सकता। लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि बेरोजगारी की समस्या, वास्तव मे, एक अत्यन्त गम्भीर समस्या है। निकट भविष्य मे इसके समाधान की कोई सम्भावना नही है।

चतुर्थ पचवर्षीय योजना मे बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रो मे ग्रामीण निर्माण-कार्य कार्यक्रम (Rural Works Programme) को विशेष महत्व दिया गया था। श्रम-प्रधान उद्योगों (labour intensive industries) को प्राथमिकता दी जायगी, कुटीर उद्योगो के विकास मे पहले से भी अधिक धन जुटाया जायगा, टेकनीकल प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था की जायगी।

पाँचवी पचवर्षीय योजना (प्रारूप) मे आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने तथा आर्थिक असमानताओ को कम करने के उद्देश्य से रोजगार के अवसरों मे वृद्धि करने पर विशेष जोर दिया गया है।

भारत में रोजगार-सम्बन्धी वर्तमान स्थिति (Present Employment Situation in India)—नवीनतम आँकडो के अनुसार 30 जून, 1974 को भारत के सार्वजनिक खण्ड (Public Sector) में लगभग 125 49 लाख व्यक्तियो को रोजगार प्राप्त था। इनका वितरण निम्नलिखित सारणी मे प्रदर्शित किया गया है -

सारणी

(लाखो मे)

रोजगार की शाखा	30 जून, 1974
सार्वजनिक खण्ड की शाखानुसार	
केन्द्रीय सरकार	29·44
राज्य सरकारें	46 96
अर्ध सरकारी (Semi Government) सस्थाएँ	29 75
स्थानीय निकाय (Local Bodies)	29·34
कुल	125·49

(Source : *Monthly Abstract of Statistics* September, 1975, p. 2.)

	(लाखो मे)
औद्योगिक वर्गीकरण द्वारा	
कृषि, पशुपालन, वन तथा मछली पालन	3 17
खानें एव खदान	6 44
उद्योग-धन्धे	10 34
निर्माण कार्य (construction)	9 94
बिजली, गैस, जलपूर्ति तथा स्वच्छता सेवाएँ	5 42
व्यापार एव वाणिज्य	4·55
परिवहन, गोदाम एव सचार	23 22
सेवाएँ (Services)	62·42
कुल	12 550

इसी प्रकार, 30 जून, 1974 को भारत के निजी खण्ड (Private Sector) मे लगभग 66 61 लाख व्यक्ति लगे हुए थे। इनका वितरण निम्न सारणी मे प्रदर्शित किया गया है

सारणी

उद्योग-व्यवसाय	(लाखो मे) 30 जून 1974
कृषि पशुपालन, वन तथा मछली पालन	8 50
खाने एव खदान	1 18
उद्योग धन्धे	40·32
निर्माण-कार्य	1·14
बिजली गैस जलपूर्ति एव स्वच्छता सेवाएँ	0 41
व्यापार, एव वाणिज्य	3 13
परिवहन, गोदाम एव सचार	0 78
सेवाएँ	11·15
कुल	66 61

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि निजी खण्ड मे उद्योग-धन्धे श्रमिको को अधिकतम रोजगार देते हैं। दूसरा स्थान सेवाओ का है। उनसे 11 15 लाख लोगो को रोजगार मिलता है। कृषि पशु-पालन, वनो तथा मछली पालन का तीसरा स्थान है।

सन् 1960 के अधिनियम 'The Employment Exchanges Compulsory Notification of Vacancies Act' के अन्तर्गत ऐसे सभी कारखानो एव कार्यालयो को जिनमे 25 अथवा 25 से अधिक व्यक्ति काम करते रहते हैं, रोजगार-दिलाऊ दफ्तरों (Employment Exchanges) को खाली स्थानो की सूचना अनिवार्य रूप मे देनी पडती है। रोजगार-दिलाऊ दफ्तरो की *कार्यशीलता के बारे मे उपलब्ध जानकारी को निम्न सारणी मे व्यक्त किया गया है*

सारणी[1]

		1950	1976
1	काम दिलाऊ दफ्तरो की सख्या	123	500
2	रजिस्टर्ड बेरोजगारो की सख्या	1,210,358	6,45,000
3,	नौकरियाँ दी गयी	331,193	4,29,000
4	Live Registers मे दर्ज किये गये अभ्यर्थियो की सख्या	300,743	97,40,000

(Source : *Economic Times, 7th February, 1977*)

1 *Ibid* p 4

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि सभी रजिस्टर्ड बेरोजगारों को रोजगार नहीं दिलाया जा सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि रोजगार के अवसरों की संख्या सीमित है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **पूर्ण रोजगार की परिभाषा दीजिए। पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिए राज्य को किस नीति का पालन करना चाहिए?** (आगरा, 1963)

   [संकेत—प्रथम भाग मे, उदाहरण सहित पूर्ण रोजगार की परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइये कि प्रो० केन्ज के अनुसार देश मे उपभोग एवं निवेश की मात्रा को बढ़ाकर रोजगार मे वृद्धि की जा सकती है।]

2. **रोजगार के सस्थापित सिद्धान्त को समझाइए तथा उसकी केन्ज के सिद्धान्त से तुलना कीजिए।** (आगरा, 1962)

   [संकेत—प्रथम भाग मे, क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के रोजगार सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। तदुपरान्त, इस सिद्धान्त की प्रो० केन्ज द्वारा की गयी आलोचना की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग मे, प्रो० केन्ज के रोजगार सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

3. **"पूर्ण-वृत्ति" का क्या अर्थ है? भारत में पूर्णवृत्ति को प्राप्त करने हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों की व्याख्या कीजिए।** (आगरा, 1969)

   अथवा

   पूर्ण रोजगार क्या है? क्या यह भारत में सम्भव है? (आगरा, 1970)

   अथवा

   पूर्ण रोजगार क्या है? यह भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में कैसे प्राप्त किया जा सकता है? (आगरा, 1971)

   [संकेत—प्रथम भाग के लिए देखिए, "पूर्ण रोजगार का अर्थ" नामक उपविभाग। दूसरे भाग के लिए देखिए, "क्या भारत मे पूर्ण रोजगार की स्थिति सम्भव है?" नामक उपविभाग।]

40

राष्ट्रीय आय
(National Income)

साधारणत किसी देश मे एक वर्ष मे जितना कुल उत्पादन होता है (चाहे भौतिक पदार्थों का हो अथवा सेवाओ का) वही उस देश की राष्ट्रीय आय है। राष्ट्रीय आय मे होने वाले परिवर्तनो से ही देश की आर्थिक स्थिति का आभास होता है। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय बढ रही है तो हम कह सकते हैं कि देश की आर्थिक स्थिति मे सुधार हो रहा है। इसके विपरीत, यदि उसकी राष्ट्रीय आय मे कमी हो रही है तो हम कह सकते हैं कि उस देश की आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय किसी देश की आर्थिक स्थिति का एक महत्वपूर्ण सूचक (Indicator) है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा

राष्ट्रीय आय की मुख्य मुख्य परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं

(क) डा॰ मार्शल की परिभाषा—डा॰ मार्शल ने राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लाभांश को निम्नलिखित शब्दो मे परिभाषित किया है, "किसी देश का श्रम व पूँजी उसके प्राकृतिक साधनो पर क्रियाशील होकर प्रतिवर्ष भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओ एव सभी प्रकार की सेवाओ का जो शुद्ध योग (Net Aggregate) उत्पन्न करते हैं, वह ही देश की निवल (शुद्ध) वार्षिक आय या राष्ट्रीय लाभांश है।"[1] डॉ॰ मार्शल की इस परिभाषा के अनुसार यदि हम देश के सभी उत्पादन कार्यों की शुद्ध उत्पत्तियो (Net Outputs) का जोड करें तो हमे देश की निवल उत्पत्ति का पता चल सकता है। इसी कुल निवल उत्पत्ति का ही देश के विभिन्न साधनो मे बँटवारा होता है। डॉ॰ मार्शल ने यह भी बताया है कि राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रतिवर्ष लगाया जाता है। डॉ॰ मार्शल इस तथ्य से भी अपरिचित नही थे कि उत्पादन कार्य मे मशीनो तथा अन्य पूँजीगत वस्तुओ का मूल्य-ह्रास (Depreciation) होता है और राष्ट्रीय आय की गणना मे इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती। अत एक अन्य स्थान पर डॉ॰ मार्शल ने कहा है "यदि हम देश की आय को विशिष्ट रूप से देखते हैं तो हमे उन स्रोतो के मूल्य-ह्रास (जिनसे आय प्राप्त होती है) को राष्ट्रीय आय मे से घटा देना चाहिए।[2]" इस प्रकार, डॉ॰ मार्शल वस्तुओ एव सेवाओ के कुल उत्पादन मे से उत्पादन क्रिया मे मशीनो तथा पूँजीगत माल के होने वाले मूल्य-ह्रास को घटाना आवश्यक समझते हैं।

---

1 "The labour and capital of the country acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities, material, and immaterial, including services of all kinds This is the true net annual income or revenue of the country or the national dividend " —*Marshall*

2 "If we look chiefly at the income of a country, we must allow for depreciation of the sources from which it is derived —*Ibid.*

डॉ० मार्शल की परिभाषा की आलोचना—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से डॉ० मार्शल द्वारा की गयी परिभाषा अत्यन्त वैज्ञानिक है और उसका सहज खण्डन नहीं किया जा सकता। किन्तु आलोचकों के अनुसार डॉ० मार्शल की परिभाषा में कुछ त्रुटियाँ भी पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो राष्ट्र की कुल उत्पत्ति की गणना कर सकना सहज नहीं होगा। दूसरे शब्दों में, मार्शल के दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीय लाभांश का सही-सही मापाकन करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यावहारिक जीवन में विशेषकर पिछड़े हुए एवं अल्प-विकसित देशों में बहुत सी वस्तुएँ तथा सेवाएँ ऐसी होती हैं जिनका विनिमय ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त, कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हो सकती हैं जो मुद्रा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आती। फलतः उनका मूल्य-निर्धारण ही नहीं हो पाता। इस प्रकार ये वस्तुएँ मार्शल की परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय लाभांश में सम्मिलित नहीं हो सकती।

(ख) प्रो० पीगू की परिभाषा—प्रो० पीगू की परिभाषा डॉ० मार्शल की परिभाषा से थोड़ा भिन्न है। प्रो० पीगू के अनुसार, 'राष्ट्रीय आय किसी समुदाय की वस्तुनिष्ठ आय (जिसमें विदेशों से कमायी गयी आय भी सम्मिलित है) का वह भाग है जिसे द्रव्य के रूप में नापा जा सकता है।'[1] प्रो० पीगू की इस परिभाषा में दो बातों पर जोर दिया गया है—(अ) देशवासियों द्वारा विदेशों में लगायी गयी पूँजी पर प्राप्त होने वाली आय को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है। (आ) केवल उसी आय को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है जिसे द्रव्य के रूप में मापा जा सकता है। यदि कोई ऐसी सेवा अथवा कार्य किया जाता है जिसका द्रव्य मूल्य नहीं है अर्थात् जिसके बदले में द्रव्य नहीं चुकाया जाता है तो ऐसी सेवा अथवा कार्य को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि कोई माता अपने बच्चे के लिए सेवा कार्य करती है तो इस प्रकार के सेवा कार्य की राष्ट्रीय आय में गणना नहीं की जा सकती। प्रो० पीगू राष्ट्रीय लाभांश की माप के सम्बन्ध में एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि "वही वस्तुएँ एवं सेवाएँ (उनकी दो बार गणना न करते हुए) राष्ट्रीय आय में सम्मिलित का जानी चाहिए जिनका, वास्तव में, मुद्रा के बदले में विक्रय होता है।"[2]

प्रो० पीगू की परिभाषा की आलोचना—प्रो० पीगू की परिभाषा भी दोषरहित नहीं मानी जा सकती। आलोचकों के अनुसार इस परिभाषा द्वारा प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय आय के क्षेत्र को सकुचित कर दिया है। दूसरे शब्दों में, प्रो० पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपनी नौकरानी को उसकी सेवाओं के बदले 100 रुपये प्रति माह चुकाता है तो उस नौकरानी की सेवाएँ राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जायेंगी क्योंकि उसकी सेवाओं का मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त किया गया है। यदि वह व्यक्ति उस नौकरानी से विवाह कर लेता है तो उसकी सेवाएँ अब राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की जायेंगी क्योंकि अब उन सेवाओं के बदले उसे 100 रुपये प्रति माह नहीं चुकाया जा रहा है। परिणामत प्रो० पीगू की परिभाषा राष्ट्रीय आय के क्षेत्र को कुछ अनिश्चित सा बना देती है। नौकरानी की सेवाएँ वही हैं लेकिन कभी तो वे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होती है और कभी नहीं। इस प्रकार, प्रो० पीगू का राष्ट्रीय आय सम्बन्धी दृष्टिकोण अस्पष्ट एवं अनिश्चित है।

(ग) प्रो० फिशर की परिभाषा—प्रो० इरविंग फिशर (*Irving Fisher*) ने राष्ट्रीय आय की परिभाषा उत्पादन के बजाय उपभोग के आधार पर की है। फलत प्रो० फिशर की परिभाषा मार्शल तथा पीगू की परिभाषाओं से बिलकुल भिन्न है। जहाँ मार्शल तथा पीगू ने वार्षिक उत्पादन के आधार पर राष्ट्रीय आय को परिभाषित किया है, वहाँ प्रो० फिशर वार्षिक उपभोग के आधार पर राष्ट्रीय आय की परिभाषा करते हैं। प्रो० फिशर के शब्दों में 'राष्ट्रीय लाभांश अथवा आय में केवल अन्तिम उपभोक्ताओं के द्वारा प्राप्त की जाने वाली सेवाओं का (चाहे उनकी प्राप्ति भौतिक अथवा मानवीय पर्यावरण से हुई हो) समावेश होता है। इस प्रकार एक पिआनो अथवा

---

1 "National income is that part of the objective income of a community including income earned in foreign countries which can be measured in money" —*Pigou*

2 " those goods and services should be included (double counting of course, being avoided) and only those that are actually sold for money" —*Pigou*

एक ओवरकोट जिसका निर्माण मेरे लिए इस वर्ष में हुआ है, मेरी इस वर्ष की आय का अंश न होकर, पूँजी में वृद्धि-मात्र है। केवल इन वस्तुओं के द्वारा मेरे लिए सम्पन्न की गयी सेवाएँ ही इस वर्ष की आय हैं।"[1] इस प्रकार, प्रो० फिशर के अनुसार किसी देश की आय उस देश के वार्षिक उत्पादन से नहीं, बल्कि वार्षिक उपभोग से निश्चित होती है। प्रो० फिशर द्वारा प्रस्तुत किया गया पिआनो का उदाहरण लीजिये। मान लीजिए कि सन् 1967 में दो हजार रुपये के मूल्य का एक पिआनो तैयार किया जाता है। अब मार्शल तथा पीगू के अनुसार समूचे दो हजार रुपये को सन् 1967 की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जायगा। लेकिन प्रो० फिशर समूचे 2 हजार रुपये को सन् 1967 की राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते। उनके अनुसार सन् 1967 की राष्ट्रीय आय में इस वर्ष में किये गये पिआनो के उपभोग के मूल्य को ही सम्मिलित किया जाना चाहिए। मान लीजिए कि पिआनो का जीवनकाल 20 वर्ष है। अब सन् 1967 में किये गये पिआनो के उपभोग का मूल्य 100 रुपये होगा। इसलिए सन् 1967 की राष्ट्रीय आय में केवल 100 रुपये ही जोड़ने चाहिए, 2 हजार रुपये नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रो० फिशर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय वस्तुओं के उपभोग-मूल्य को ही सम्मिलित करते हैं।

प्रो० फिशर की परिभाषा की आलोचना—देखने में तो प्रो० फिशर की परिभाषा मार्शल और पीगू की परिभाषाओं की तुलना में अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है क्योंकि फिशर के अनुसार किसी वर्ष में वस्तुओं के उपभोग-मूल्य को ही सम्मिलित किया जाता है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रो० फिशर की परिभाषा का कोई विशेष महत्व नहीं है। इसका कारण यह है कि वास्तविक जीवन में सभी वस्तुओं के वार्षिक उपभोग मूल्य को निकालना बहुत ही कठिन कार्य है। इसके लिए पहले तो सभी वस्तुओं के जीवनकाल को निश्चित करना होगा और फिर यह तय करना होगा कि प्रत्येक वस्तु का वार्षिक उपभोग-मूल्य किस आधार पर निकाला जाय। इस प्रकार प्रो० फिशर की परिभाषा को स्वीकार करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

कौनसी परिभाषा सर्वश्रेष्ठ है?—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त तीन परिभाषाओं में कौन-सी परिभाषा सर्वश्रेष्ठ है। जहाँ मार्शल और पीगू ने राष्ट्रीय आय की परिभाषायें उत्पादन के आधार पर की हैं, वहाँ प्रो० फिशर ने राष्ट्रीय आय की माप के लिए उपभोग के आधार को स्वीकार किया है। इन दोनों दृष्टिकोणों में कौन-सा दृष्टिकोण श्रेष्ठ है, यह बता सकना सहज नहीं है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रो० फिशर की परिभाषा मार्शल एवं पीगू की परिभाषाओं की तुलना में अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। इस परिभाषा के माध्यम से किसी देश के लोगों के जीवन-स्तर के विषय में सही अनुमान लगाना सरल हो जाता है। किन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं प्रो० फिशर की परिभाषा को स्वीकार करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। अब प्रश्न यह है कि मार्शल और पीगू की परिभाषाओं में से कौन सी परिभाषा श्रेष्ठ है। यह सत्य है कि मार्शल की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अत्यन्त वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण है। परन्तु इस परिभाषा में मुख्य कठिनाई यह है कि इसके द्वारा किसी देश की राष्ट्रीय आय का सही मापांकन नहीं किया जा सकता। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ और सेवाएँ होती हैं जो विनिमय क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं होतीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पीगू की परिभाषा ही सर्वश्रेष्ठ परिभाषा है, यद्यपि यह परिभाषा भी पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है। पीगू की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनके मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त किये जा सकते हैं।

कुल राष्ट्रीय आय
(Gross National Income)

कुल राष्ट्रीय आय को तीन भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। कुल राष्ट्रीय आय सभी प्रकार की आय का जोड़ होती है। यह सभी प्रकार के व्ययों का भी जोड़ होती है और

---

1 "National dividend or Income, consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environments. Thus a piano or an overcoat made for me this year is not a part of this year's income but an addition to capital. Only the services rendered to me during this year by these things are income."
—*Irving Fisher*

यह समस्त उत्पादन को मुद्रा मूल्य मे व्यक्त भी करती है। इस प्रकार, कुल राष्ट्रीय आय के तीन विभिन्न रूप होते है। इन तीनो मे से हम किसी भी रूप को अपना सकते हैं किन्तु परिणाम एक ही होगा। इसका कारण यह है कि अर्थ व्यवस्था मे किया गया व्यय सदैव अर्थ-व्यवस्था की आय के बराबर होता है। दूसरे शब्दो मे, सभी प्रकार की आय का जोड सभी प्रकार के व्ययो के जोड के बराबर होता है। इसका कारण यह है कि जब वस्तुओ एव सेवाओ को बेचा जाता है तो उनके बदले विक्रेताओ को उतना ही धन प्राप्त होता है जितना कि क्रेता उनके लिए चुकाते हैं अर्थात् विक्रेताओ की कुल आय क्रेताओ के कुल व्यय के बराबर होती है। इसी प्रकार, कुल आय अथवा कुल व्यय उन सभी वस्तुओ एव सेवाओ के बराबर होता है जो खरीदी अथवा बेची जाती हैं।

उपरोक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रीय आय को निम्नलिखित तीन रीतियो द्वारा मापा जा सकता है किन्तु इन तीनो रीतियो से परिणाम एक ही निकलता है

(क) किसी समय विशेष मे उत्पादन के साधनो को जो पारिश्रमिक (remuneration) अथवा आय प्राप्त होती है उन सभी का जोड चाहे वह आय साधनो को नकदी के रूप मे मिले अथवा वस्तुओ एव सेवाओ के रूप मे मिले।

(ख) किसी समय विशेष मे राष्ट्र के सभी उत्पादन क्षेत्रो मे होने वाली शुद्ध-उत्पत्तियो (net outputs) का जोड।

(ग) किसी समय विशेष मे उपभोक्ताओ तथा सरकार द्वारा वस्तुओ एव सेवाओ पर किये गये व्ययो तथा पूँजीगत वस्तुओ पर किये गये शुद्ध व्ययो का जोड।

प्रथम विधि ■ अनुसार तो सभी प्रकार की आय को जोड लिया जाता है। दूसरी विधि के अन्तर्गत देश की सभी शुद्ध उत्पत्तियो को जोड लिया जाता है। तीसरी विधि के अन्तर्गत उपभोक्ताओ एव सरकार द्वारा किये गये सभी प्रकार के व्ययो को जोड लिया जाता है। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, राष्ट्रीय आय की इन तीनो विधियो मे से किसी को हम अपना सकते है परन्तु प्रत्येक दशा मे परिणाम एक ही निकलेगा। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन तीनो विधियो मे ■ राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए कौन-सी विधि को अपनाया जाय। इसका हम कोई निश्चित उत्तर नही दे सकते। यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रीय आय का अनुमान किस उद्देश्य से लगाया जा रहा है। अत उद्देश्य के अनुसार ही राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने की विधि का भी चयन किया जा सकता है।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी मुख्य धारणाएँ

राष्ट्रीय आय के विशेषज्ञो ने इससे सम्बन्धित पाँच मुख्य धारणाओ (concepts) का प्रतिपादन किया है। ये इस प्रकार हैं—(क) कुल राष्ट्रीय उत्पादन (ख) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन, (ग) राष्ट्रीय आय (घ) वैयक्तिक आय (ङ) उपभोग्य आय। अब इनका हम एक एक करके विस्तृत विवरण देंगे।

(क) कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product or G N P)—इससे अभिप्राय किसी देश मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित की गयी वस्तुओ एव सेवाओ के कुल जोड से है। इसे कभी कभी अर्थ व्यवस्था की समस्त पूर्ति (Aggregate Supply of the Economy) भी कहते हैं। इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है—**किसी अर्थ व्यवस्था मे एक वर्ष की अवधि मे जितनी भी अन्तिम वस्तुएँ तथा सेवाएँ उत्पादित की जाती हैं, उन सभी के बाजार मूल्य के कुल जोड को कुल राष्ट्रीय उत्पादन कहते हैं।**

कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे मे तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम इसमे किसी देश मे वर्ष मे भर उत्पादित वस्तुओ तथा सेवाओ का मूल्य मुद्रा के रूप से जोडा जाता है। दूसरे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे केवल अन्तिम वस्तुओ तथा सेवाओ (final goods and services) को ही सम्मिलित किया जाता है। तीसरे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे अनुत्पादक सौदों (non productive transactions) को सम्मिलित नही किया जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन में उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को मुद्रा के रूप में क्यों व्यक्त किया जाता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। जैसा हम जानते हैं, प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में सैकड़ों किस्म की वस्तुएँ तथा सेवाएँ उत्पन्न की जाती हैं। ये वस्तुएँ तथा सेवाएँ भिन्न-भिन्न तोलों व नापों में व्यक्त की जाती हैं। उदाहरणार्थ, कपड़े को मीटरों में, कोयले को मीट्रिक टनों में, पेट्रोल को लिटरों में व्यक्त किया जाता है। यदि इन वस्तुओं तथा सेवाओं को मुद्रा के रूप में व्यक्त न किया जाय तो देश की राष्ट्रीय आय के बारे में हमें कुछ भी अन्दाज नहीं हो सकता और न ही हमें यह पता चल सकता है कि राष्ट्रीय आय, वास्तव में, बढ़ रही है अथवा कम हो रही है। यदि हमें दो वर्षों की राष्ट्रीय आय की तुलना करनी है तो हमें दोनों ही वर्षों के उत्पादनों को मुद्रा में परिणत करके उनकी तुलना करनी होगी। इसे हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं

सारणी

वर्ष	वार्षिक उत्पादन	वार्षिक उत्पादन का बाजार मूल्य
1966	100 मीटर कपड़ा + 100 क्विटल गेहूँ + 50 लिटर दूध।	100 मीटर कपड़ा 2 रु० प्रति मीटर + 100 क्विटल गेहूँ 40 रुपये प्रति क्विटल + 50 लिटर दूध 1 रुपया प्रति लिटर = 200 + 4000 + 50 = 4250 रुपये।
1967	80 मीटर कपड़ा + 60 क्विटल गेहूँ + 75 लिटर दूध।	80 मीटर कपड़ा 2 रुपये प्रति मीटर + 60 क्विटल गेहूँ 40 रुपये प्रति क्विटल + 75 लिटर दूध 1 रु० प्रति लिटर = 160 + 2400 + 75 = 2635 रुपये।

मान लीजिए कि सन् 1966 में कुल उत्पादन 100 मीटर कपड़ा, 100 क्विटल गेहूँ तथा 50 लिटर दूध है। सन् 1967 में उत्पादन की मात्रा बदलकर 80 मीटर कपड़ा, 60 क्विटल गेहूँ, 75 लिटर दूध हो जाती है। अब इन दोनों वर्षों के उत्पादनों की तुलना का सम्भव तरीका यही है कि उन्हें किसी एक ही मात्रा में बदल दिया जाय। वह तरीका यह है कि दोनों वर्षों के उत्पादनों को मुद्रा के रूप में परिणत कर दिया जाय। उपर्युक्त सारणी में ऐसा ही किया गया है। सन् 1966 के उत्पादन का कुल मूल्य 4250 रुपये और सन् 1967 के उत्पादन का कुल मूल्य 2635 रुपये है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन् 1967 का उत्पादन सन् 1966 के उत्पादन की तुलना में कम हो गया है। इस प्रकार, मुद्रा के उपयोग से दो वर्षों के उत्पादनों की तुलना करना सम्भव हो जाता है।

परन्तु आप यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि दोनों वर्षों में कीमतें एकसमान क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि हमने उदाहरण को सरल बनाने की दृष्टि से ही एकसमान कीमतों का उपयोग किया है। वास्तव में कीमतें एकसमान नहीं रहतीं, बल्कि उनमें थोड़ा-बहुत फेर-बदल अवश्य ही होता रहता है। अतः कीमतों के फेर बदल के परिणामस्वरूप यह सम्भव है कि एक वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षा सभी वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन भले ही बढ़ गया हो किन्तु यदि कीमतें गिर जाती हैं तो कुल राष्ट्रीय उत्पादन स्वतः ही कम हो जायगा। इसी प्रकार, इसके विपरीत भी होगा। यह सम्भव हो सकता है कि किसी वर्ष में दूसरे वर्ष की तुलना में कुल उत्पादन घट गया हो परन्तु कीमतों के बढ़ जाने से कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि हो जायगी। राष्ट्रीय आय के विशेषज्ञों ने इस कठिनाई का एक हल ढूँढ निकाला है। उनके अनुसार एक आधार-वर्ष (Base Year) चुन लिया जाता है और उस वर्ष की प्रचलित कीमतों के सामान्य स्तर को 100 के बराबर मान लिया जाता है। अब यदि हमें किसी वर्ष के कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे में जानकारी प्राप्त करनी है तो हम उस वर्ष की कीमतों का सामान्य-स्तर ज्ञात करके उसकी आधार-वर्ष की कीमतों के सामान्य स्तर के साथ तुलना करेंगे। इस प्रकार, हमें पता चल जायगा

कि कीमतो के सामान्य-स्तर मे कितने प्रतिशत वृद्धि अथवा कमी हुई है। तदुपरान्त, उस वर्ष के कुल राष्ट्रीय उत्पादन को उसी अनुपात मे घटा दिया जायगा जिसमे कि उस वर्ष मे आधार वर्ष की अपेक्षा कीमत स्तर मे वृद्धि हुई है। इस प्रकार कीमतो के उतार-चढ़ाव के कारण कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे समायोजन (adjustment) कर दिया जाता है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे मे *स्मरणीय दूसरी मुख्य बात यह है* कि इसमे केवल अन्तिम वस्तुओ एव अन्तिम सेवाओ के मूल्यो को ही सम्मिलित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे सभी प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओं को सम्मिलित नही किया जाता है। *ऐसा क्यो किया जाता है? इसका कारण यह है कि यदि सभी प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ की कुल* उत्पादन मे सम्मिलित कर लिया जाय तो इससे प्रत्येक वस्तु एव सेवा कई बार गिनी जायगी। परिणामतः हम कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे मे सही अनुमान नही लगा सकेंगे। अधिकाश *वस्तुएँ उपभोक्ता के पास उपभोग हेतु पहुँचने से पहले उत्पादन की कई अवस्थाओ (stages) मे* से गुजरती हैं और कई बार बेची तथा खरीदी जाती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के अनुमान मे दोहरी गिनती (double counting) से बचने के लिए हमे केवल *अन्तिम वस्तुओ (final goods) तथा अन्तिम सेवाओ (final services) के मूल्यो को ही इनमे जोड़ना चाहिए,* माध्यमिक वस्तुओ (intermediate goods) तथा सेवाओ के मूल्यो को नही।

अब प्रश्न यह है कि अन्तिम वस्तुएँ एव सेवाएँ क्या होती हैं? जैसा स्पष्ट ही है—***अन्तिम वस्तुए एव सेवाएँ वे होती हैं जिनका प्रयोग अन्तिम उपयोग मे उपभोक्ताओं द्वारा किया जाता है।*** **इस प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ का अन्य वस्तुओं एव सेवाओ [illegible] निर्माण में प्रयोग नहीं किया जाता। इसके विपरीत माध्यमिक वस्तुए एव सेवाएँ वे होती हैं जो अन्य वस्तुओं एव सेवाओ के निर्माण मे प्रयुक्त होती हैं।** *इस प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ को अन्तिम उपभोक्ताओ* के पास पहुँचने से पूर्व कई प्रकार की अवस्थाओ मे से गुजरना पड़ता है।

स्मरण रहे कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान लगाते समय हमे केवल अन्तिम वस्तुओ तथा सेवाओ के मुद्रा मूल्य को ही सम्मिलित करना है माध्यमिक वस्तुओ एव सेवाओ के मुद्रा-मूल्य को नही। जैसा कि हम उपर कह चुके है यदि हम माध्यमिक वस्तुओ एव सेवाओ को कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे सम्मिलित करते हैं तो इससे एक वस्तु अथवा सेवा कई बार गिनी जायगी। परिणामत *हम कुल राष्ट्रीय उत्पादन का सही सही अनुमान नही लगा सकेंगे।*

इस बात को एक उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि एक रेडीमेड बुशर्ट (ready made bush shirt) चार अवस्थाओ मे से होकर गुजरती है। पहली अवस्था मे किसान कपास पैदा करता है। दूसरी अवस्था मे किसान द्वारा बेची गयी कपास कारखाने मे कपड़े के रूप मे परिणत की जाती है तीसरी अवस्था मे कारखाने मे बनाया गया कपड़ा रेडीमेड गारमेण्ट फर्म (ready made garment firm) द्वारा बुशर्ट के रूप मे परिणत कर दिया जाता है। चौथी अवस्था मे यह फर्म रेडीमेड बुशर्ट को रिटेलर (retailer) के हाथो बेच देती है और अन्त मे रिटेलर से यह रेडीमेड बुशर्ट उपभोक्ता द्वारा खरीद ली जाती है। *अब इस बुशर्ट के विषय मे उन सभी सौदो को नही जोड़ना चाहिए,* अन्यथा इसके अनुमान मे दोहरी गिनती हो जायगा। इसे निम्न सारणी द्वारा स्पष्ट या जा किसकता है

सारणी

अनेक अवस्थाओ (stages) वाली उत्पादन-क्रिया मे मूल्य-वृद्धि

उत्पादन का स्टेज	वस्तु का बिक्री मूल्य	मूल्य वृद्धि
1 कपास पैदा करने वाला किसान	3 रुपये	3 रुपये
2 कपड़े बनाने वाला कारखाना	10 रुपये	7 रुपये
3 रेडीमेड गारमेण्ट फर्म	15 रुपये	5 रुपये
4 रिटेलर	17 रुपये	[illegible] रुपये
योग	45 रुपये	17 रुपये

उपर्युक्त सारणी मे यदि हम सभी स्टेजो की कीमतो का जोड कर लें तो यह 45 रुपये हो जाता है जबकि उपभोक्ता को उसके लिए केवल 17 रुपये ही चुकाने पडते हैं। अर्थात् यहाँ पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे 45 रुपये न जोडकर केवल 17 रुपये ही जोडने चाहिए क्योकि यही अन्तिम वस्तु (बुशशर्ट) का मूल्य है। इस प्रकार यदि हम सभी स्टेजो की कीमतो को जोडते हैं तो इससे अनुमान गलत हो जायगा। इस गलती से बचने के दो तरीके हैं—**प्रथम**, हम केवल अन्तिम वस्तु के मूल्य को सम्मिलित करें जो उपर्युक्त सारणी मे 17 रुपये है। **दूसरा**, प्रत्येक स्टेज पर उत्पादनकर्ता की सेवा के परिणामस्वरूप वस्तु के मूल्य मे जितनी वृद्धि हुई है, उन सभी मूल्य-वृद्धियो का जोड कर लिया जाय। उपर्युक्त सारणी मे हम देखते हैं कि दूसरे स्टेज पर कपडा बनाने वाले कारखाने ने 3 रुपये की कपास लेकर उस पर इतना काम किया है कि वह 10 रुपये के मूल्य के बराबर हो गयी है, अर्थात् कपडा बनाने वाले कारखाने ने उसमे 7 रुपये की मूल्य-वृद्धि की है। इसी प्रकार कपडे से बुशशर्ट बनाने वाली फर्म ने कपडे को बुशशर्ट मे परिवर्तित करने मे 5 रुपये की मूल्य-वृद्धि की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मूल्य-वृद्धि वाले तरीके से भी हम उसी परिणाम पर पहुँचते हैं जिस पर कि अन्तिम वस्तुओ के मूल्यो के जोड से। परन्तु यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि अन्तिम वस्तुओ के मूल्यो को जोडने वाली विधि मूल्य वृद्धि वाली विधि की तुलना मे श्रेष्ठ है, क्योकि इसमे गलती होने की सम्भावना अपेक्षाकृत कम रहती है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन के बारे मे तीसरी बात यह है। इसमे अनुत्पादक सौदो (unproductive transactions) को सम्मिलित नही किया जाता है। अर्थ-व्यवस्था मे कई प्रकार के अनुत्पादक सौदे होते हैं। उदाहरणार्थ, वित्तीय सौदे (financial transactions) तथा पुरानी वस्तुओ को बेचने के सौदे। वित्तीय सौदे से अभिप्राय वतमान स्टॉक्स एव शेयर्स के क्रय-विक्रय से होता है। ये स्टॉक्स एव शेयर्स पहले से ही चले आ रहे होते हैं। इन स्टॉक्स एव शेयरो मे धन लगाने से उत्पादन मे कोई वृद्धि नही होती। अत इस प्रकार के वित्तीय सौदो को कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे सम्मिलित नही करना चाहिए। दूसरे, पुरानी वस्तुओ की बिक्री से सम्बन्धित सौदो को भी कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे नही जोडना चाहिए, क्योकि ये वस्तुएँ विगत वर्षो मे उत्पादित की गयी थी तथा इन्हे पिछले वर्षो मे ही गिना जा चुका है। अब यदि इन्हे पुन कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे सम्मिलित किया जाता है तो इससे दोहरी गिनती हो जायगी और राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान सही नही होगा। इसके अतिरिक्त, सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था (social security schemes) के अन्तर्गत बेरोजगार श्रमिको, बूढो तथा विधवाओ की सहायतार्थ सरकार द्वारा भत्ते भी दिये जाते हैं। इन भत्तो को हस्तान्तरण भुगतान (transfer payments) कहा जाता है। चूँकि ये भत्ते किसी उत्पादक कार्य के बदले नही दिये जाते, इसलिए उन्हे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे सम्मिलित नही किया जाना चाहिए।

अब हम यह देखेंगे कि किसी देश के कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान कैसे लगाया जाता है। मुख्यत. इसका अनुमान लगाने के दो तरीके हैं। परन्तु इन दोनो का परिणाम एक ही होता है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन का व्यय अथवा उत्पादन के दृष्टिकोण से अनुमान

इसके अन्तर्गत, हम बाजार कीमतो पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान निम्नलिखित राशियो को जोडकर लगाते हैं

(क) वैयक्तिक उपभोग व्यय (Personal Consumption Expenditure)—इससे अभिप्राय समूचे व्यय से है जो किसी देश के लोग अपने निजी उपभोग पर करते हैं।

(ख) कुल देशी निजी निवेश (Gross Domestic Private Investment)—इससे अभिप्राय उस व्यय से है जो निजी व्यवसायो (Private enterprises) द्वारा नये निवेश पर किया जाता है।

(ग) शुद्ध विदेशी निवेश (Net Foreign Investment)—इससे अभिप्राय देश के शुद्ध निर्यात आधिक्य (net export surplus) से है। दूसरे शब्दो मे, जितनी राशि दूसरे देश उस देश की वस्तुओ एव सेवाओ को खरीदने पर लगाते हैं वह उस देश द्वारा विदेशो से आयात की गयी वस्तुओ और सेवाओ के कुल मूल्य से कितनी अधिक है।

(स) सरकार द्वारा किये गये क्रय (Government Purchases)—इससे अभिप्राय उस व्यय से है जो सरकार द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय पर किया जाता है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि यदि अर्थ-व्यवस्था के कुल उत्पादन को बाजार मूल्य पर खरीद लिया जाय तो वह देश की कुल राष्ट्रीय आय होगी। दूसरे शब्दों में, देश के कुल उत्पादन को खरीद लेने पर जो व्यय होता है वह कुल राष्ट्रीय आय कहलाती है। इस प्रकार, कुल राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए हम उपर्युक्त चार राशियों का जोड़ करना पड़ता है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन का आय दृष्टिकोण से अनुमान

अर्थ व्यवस्था में उत्पादित की गयी वस्तुओं एवं सेवाओं पर जो व्यय किया जाता है, वही परिवारों (households) की जेबों में मजदूरी, किराया तथा लाभ आदि के रूपों में आय बन जाता है। किन्तु अर्थ व्यवस्था में किये गये कुल व्यय में दो ऐसे तत्व (elements) भी सम्मिलित होते हैं, जो परिवारों को आय के रूप में उपलब्ध नहीं होते—प्रथम वस्तुओं तथा सेवाओं पर सरकार द्वारा लगाये गये परोक्ष कर (indirect taxes)। दूसरे, पूँजीगत वस्तुओं मकानों आदि की घिसाई-पिटाई के कारण हुआ ह्रास (depreciation)। वस्तुओं और सेवाओं पर परिवारों द्वारा जो व्यय किये जाते हैं उनमें परोक्ष कर भी सम्मिलित होते हैं। इन करों की आय परिवारों के पास आय के रूप में न जाकर सरकार के कोष में जाती है। इसी प्रकार, अर्थ व्यवस्था की कुल आय की गणना करते समय हम इसमें पूँजीगत वस्तुओं एवं मशीनों के मूल्य-ह्रास को भी सम्मिलित कर लेते हैं परन्तु यह भी परिवारों को आय के रूप में प्राप्त नहीं होता। अतः आय दृष्टिकोण से जब हम कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान लगाते हैं तो यह व्यय दृष्टिकोण में लगाये गये अनुमान की तुलना में कम बैठता है। इसलिए आय दृष्टिकोण से कुल राष्ट्रीय उत्पादन का अनुमान लगाते समय इसमें परोक्ष करों तथा मशीनों आदि के मूल्य-ह्रास को जोड़ना पड़ता है। इस बात को निम्न सारणी से स्पष्ट किया जा सकता है

सारणी

कुल राष्ट्रीय उत्पादन के आय तथा व्यय दृष्टिकोण

व्यय अथवा उत्पादन दृष्टिकोण	आय अथवा विभाजन दृष्टिकोण
परिवारों द्वारा उपभोग पर किये गये व्यय	मजदूरी
+	+
सरकार द्वारा खरीदी गयी वस्तुएँ तथा सेवाएँ	किराया
+	+
निजी व्यवसायी द्वारा निवेश पर किये गये व्यय	ब्याज
+	+
विदेशियों द्वारा किये गये शुद्ध व्यय	लाभ
=कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G N P)	+
	परोक्ष कर
	+
	पूँजीगत वस्तुओं का मूल्य ह्रास
	=कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G N P)

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन
(Net National Product)

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, जब देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तो इसमें पूँजीगत वस्तुओं अर्थात् मशीनों आदि की घिसाई पिटाई के कारण मूल्य-ह्रास होता है। इस प्रकार के मूल्य ह्रास को कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से निकाल दिया जायगा।

शेष शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन बच रहता है। इस प्रकार यदि किसी देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित सभी प्रकार की अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के बाजार-मूल्यों के जोड़ से मशीनों आदि के मूल्य ह्रास को निकाल दिया जाय तो शेष शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन बच रहता है। इसे बाजार-मूल्यों पर राष्ट्रीय आय (National Income at Market Prices) भी कहते हैं।

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन अथवा बाजार मूल्यों पर राष्ट्रीय आय=कुल राष्ट्रीय उत्पादन—मशीनों की घिसाई-पिटाई के कारण हुआ मूल्य-ह्रास (Net National Product or National Income at Market Prices=Gross National Product—Depreciation)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन की धारणा की अपेक्षा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की धारणा श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके अन्तर्गत पूँजीगत वस्तुओं के मूल्य-ह्रास की उचित व्यवस्था की जाती है।

राष्ट्रीय आय अथवा साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय
(National Income At Factor Cost)

अब हम यह देखेंगे कि एक वर्ष की अवधि में जितना शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन होता है, उसे उत्पादित करने के बदले उत्पादन के विभिन्न साधनों ने कितनी आय कमायी है अर्थात् भू-स्वामी को भूमि के बदले कितना लगान, पूँजीपति को पूँजी के बदले कितना ब्याज, श्रमिकों को श्रम के बदले कितनी मजदूरी तथा उद्यमियों को उद्यम के बदले कितना लाभ प्राप्त हुआ है ? दूसरे शब्दों में, **उत्पादन-लागत पर राष्ट्रीय आय से अभिप्राय यह है कि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की व्यवस्था करने के लिए विभिन्न साधनों को कितनी आय प्राप्त हुई है अथवा उनकी सेवाओं के बदले उन्हें कितना पारिश्रमिक चुकाया गया है।** स्पष्ट है कि जो पारिश्रमिक अथवा आय उत्पादन के साधनों को उपलब्ध होती है, उसमें सरकार द्वारा लगाये गये परोक्ष कर सम्मिलित नहीं होते। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत देश के शुद्ध उत्पादन का बाजार-मूल्यों पर मापांकन किया जाता है। परन्तु जब हमें साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना होता है तो बाजार-मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में से सरकार द्वारा लगाये गये परोक्ष करों को निकाल देना पड़ेगा। इसी प्रकार कभी कभी कुछ वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन पर सरकार द्वारा उपदान (subsidy) दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, इन वस्तुओं तथा सेवाओं की उत्पादन-लागत तो अधिक होती है परन्तु सरकार द्वारा उपदान दिये जाने के कारण इन्हें बाजार में उत्पादन-लागत से कम मूल्य पर बेचा जाता है। इस प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं को बाजार में भले ही कम कीमतों पर बेचा जाता है, किन्तु इन्हें उत्पादित करने वाले साधनों को अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में यदि हमें विभिन्न साधनों की आय ज्ञात करनी है तो हमें उत्पादन के बाजार-मूल्य में सरकार द्वारा दिये गये उपदान की राशि को जोड़ना होगा।

इन दोनों परिस्थितियों को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि कोई विशेष प्रकार का कपड़ा बाजार में 3 रुपये प्रति मीटर की दर से बिकता है। यह भी मान लीजिए कि इस कपड़े पर 50 पैसे प्रति मीटर उत्पादन कर लगाया जाता है। यद्यपि ग्राहक द्वारा इस कपड़े का मूल्य तीन रुपये प्रति मीटर चुकाया जाता है किन्तु इसमें से उत्पादन के साधनों को केवल दो रुपये पचास पैसे ही मिलते हैं। इस प्रकार, कपड़े की साधन-लागत ज्ञात करने के लिए हमें इसके बाजार-मूल्य में से इस पर लगाये गये परोक्ष कर को घटा देना होगा।

अब मान लीजिए किसी विशेष प्रकार के कपड़े पर सरकार उपदान देती है जिसके परिणामस्वरूप उस कपड़े का बाजार-मूल्य साधन-लागत (factor cost) से भी कम हो जाता है। मान लीजिए कि सरकार किसी विशेष प्रकार के कपड़े पर 50 पैसे प्रति मीटर उपदान प्रदान करती है और वह कपड़ा बाजार में 2 रुपये 50 पैसे प्रति मीटर के हिसाब से बिकता है। यद्यपि वह कपड़ा उपभोक्ता को 2 रुपये 50 पैसे प्रति मीटर के हिसाब से मिलता है लेकिन उस कपड़े की साधन-लागत वास्तव में 2 रुपये 50 पैसे+50 पैसे=3 रुपये प्रति मीटर है। अतः स्पष्ट है कि इस कपड़े की साधन-लागत ज्ञात करने के लिए हमें इसके बाजार-मूल्य में उपदान जोड़ना पड़े

है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रीय आय अथवा साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय=शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन—परोक्ष कर+उपदान [National Income or National Income at Factor Cost=Net National Product (or National Income at Market Prices) — Indirect Taxes+Subsidies] ।

वैयक्तिक आय
(Personal Income)

किसी देश मे एक वर्ष की अवधि मे सभी व्यक्तियो अथवा परिवारो द्वारा जितनी आय वास्तव मे प्राप्त की जाती है, उसे वैयक्तिक आय कहते हैं। स्मरण रहे कि एक वर्ष की अवधि मे उत्पादन के साधनो द्वारा जो आय कमाई जाती है वह सारी की सारी उन्हे उपलब्ध नही होती। इसका कारण यह है कि इसमे से कई प्रकार की कटौतियाँ की जाती हैं। उदाहरणार्थ, मिश्रित पूँजी कम्पनी के शेयर होल्डरो को जो आय प्राप्त होती है उसका कुछ अश उन्हे सरकार को आय-कर के रूप मे चुकाना पडता है। इसी प्रकार, श्रमिको एव अन्य वेतनभोगी व्यक्तियो को सामाजिक सुरक्षा हेतु (जैसे प्रॉवीडेण्ट फण्ड आदि के लिए) अपने वेतनो मे से कुछ अशदान करना पडता है। इसके विपरीत, बेरोजगार मजदूरो, वृद्ध व्यक्तियो एव विधवाओ को सरकार द्वारा भत्ते दिये जाते हैं। इस प्रकार के भत्ते किसी उत्पादक-कार्य के बदले नही दिये जाते हैं। इन्हे हस्तान्तरण भुगतान (Transfer Payments) कहा जाता है। अत जब हमे राष्ट्रीय आय से वैयक्तिक आय निकालनी होती है तो हमे साधनो की आय का वह भाग (जैसे प्रॉवीडेण्ट फण्ड आदि) जो उन्हे उपलब्ध नही होता, राष्ट्रीय आय मे से घटा देना पडता है। इसके विपरीत, विभिन्न व्यक्तियो को जो हस्तान्तरण भुगतान किये जाते हैं, उन्हे राष्ट्रीय आय मे जोडना पडता है। इस प्रकार वैयक्तिक आय=राष्ट्रीय आय—विभिन्न प्रकार की सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कटौतियाँ+हस्तान्तरित राशियाँ (Personal Income=National Income Social Security Contributions+Transfer Payments)।

उपभोग्य आय
(Disposable Income)

किसी देश मे व्यक्तियो तथा परिवारो को जो वैयक्तिक आय उपलब्ध होती है, वह सारी की सारी उपभोग पर व्यय नही की जा सकती। इसका कारण यह है कि वैयक्तिक आय का एक भाग व्यक्तियो तथा परिवारो को वैयक्तिक करो (personal taxes) के रूप मे सरकार को चुकाना पडता है। वैयक्तिक आय मे से सरकार द्वारा लगाये गये वैयक्तिक करो को निकाल देने स जो भाग शेष बच रहता है, उसे उपभोग्य आय कहते हैं, क्योकि यह आय ही उपभोग पर व्यय की जा सकती है। अत उपभोग्य आय=वैयक्तिक आय—वैयक्तिक कर (Disposable Income=Personal Income—Personal Taxes)। परन्तु यह आवश्यक नही कि उपभोग्य आय पूर्णत उपभोग पर ही व्यय की जाय। प्राय व्यक्ति अपनी उपभोग्य आय का एक बडा भाग तो उपभोग पर व्यय करते हैं और शेष बचा लेते हैं। इस प्रकार, उपभोग्य आय=उपभोग+बचत (Disposable Income=Consumption+Saving)।

राष्ट्रीय आय का महत्व

प्रत्येक देश की अर्थ व्यवस्था के लिए राष्ट्रीय आय के आँकडो का बडा महत्व होता है। इसे हम निम्नलिखित बातो से स्पष्ट कर सकते हैं ·

(1) **देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो का सापेक्षिक महत्व**—राष्ट्रीय आय के आँकडो के अध्ययन से हमे किसी देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो के सापेक्षिक महत्त्व के बारे मे जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, यदि हम भारत की राष्ट्रीय आय के आँकडो का अवलोकन करें तो हमे पता चलेगा कि भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 48 2 प्रतिशत भाग कृषि से उत्पन्न होता है और केवल 16 9 प्रतिशत भाग खानो एव उद्योग-धन्धो से उपलब्ध होता है।

(2) **लोगो के रहन-सहन के बारे मे ज्ञान**—किसी देश की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय के अध्ययन से उस देश के लोगो के रहन-सहन के बारे मे जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, भारत की औसत प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम होने के कारण भारतवासियो का रहन-सहन का स्तर विश्व मे निम्नतम है।

(3) **सरकार की आर्थिक नीति के निर्धारण मे सहायता**—राष्ट्रीय आय के आँकडो से देश की सरकार को अपनी आर्थिक नीति के निर्माण मे बडी सहायता मिलती है। प्रत्येक देश की सरकार अपनी साख, मुद्रा, निवेश, रोजगार एव बजट सम्बन्धी नीति का निर्माण राष्ट्रीय आय के आँकडो के आधार पर करती है।

(4) **आर्थिक नियोजन के लिए विशेष महत्त्व**—नियोजित अर्थव्यवस्था (planned economy) के लिए राष्ट्रीय आय के आँकडो का विशेष महत्त्व होता है क्योकि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे उत्पादन के विभिन्न क्षत्रो को प्राथमिकता (priority) देने का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस समस्या के समाधान मे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकडे सहायक सिद्ध होते हैं।

(5) **आर्थिक प्रगति के मार्ग मे उपस्थित होने वाली बाधाओ का आभास**—किसी देश की आर्थिक प्रगति मे उपस्थित होने वाली बाधाओ का ज्ञान उस देश की राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकडो से हो जाता है। अत सरकार इस प्रकार की बाधाओ को दूर करने के लिए नियोजित आधार पर कार्यवाही कर सकती है।

(5) **कर-देय योग्यता का अनुमान**—राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकडो का अध्ययन करने से लोगो की कर-देय क्षमता (taxable capacity) के बारे मे जानकारी उपलब्ध हो सकती है और इसके आधार पर सरकार अपनी कराधान प्रणाली का निर्माण कर सकती है।

(7) **देश के आर्थिक कल्याण का सूचक**—राष्ट्रीय आय देश के आर्थिक कल्याण पर गहरा प्रभाव डालती है। अत किसी देश के आर्थिक कल्याण की अधिकता अथवा न्यूनता उस देश की आय की मात्रा पर निर्भर रहती है। यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय अधिक है तो उस देश का आर्थिक कल्याण भी अधिक होगा। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का आकार देश के आर्थिक कल्याण का सूचक (indicator) होता है।

भारत की राष्ट्रीय आय

अभी कुछ वर्ष पूर्व तक भारत सरकार ने देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का कोई गम्भीर प्रयत्न नही किया था। कुछ निजी व्यक्तियो द्वारा समय समय पर भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाये गये थे, परन्तु इनको किसी भी तरह विश्वसनीय नही माना जा सकता था। हाल ही मे भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने के महत्त्व को अनुभव किया है। सन् 1949 मे भारत सरकार ने वित्त-मन्त्रालय के अधीन राष्ट्रीय आय का विश्वसनीय अनुमान लगाने हेतु राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) की स्थापना की थी। तदुपरान्त शीघ्र ही इस इकाई का पथ प्रदर्शन करने के लिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की नियुक्ति की और इसे राष्ट्रीय आय के अनुमान से सम्बन्धित एक रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए कहा गया। प्रो० महलानुबिस (Prof Mahalanobis) इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति की प्रथम रिपोर्ट सन् 1951 मे और अन्तिम रिपोर्ट फरवरी 1954 मे प्रकाशित की गयी थी। समिति की प्रथम रिपोर्ट मे सन् 1948-49 मे भारत की राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये थे और अन्तिम रिपोर्ट मे सन् 1948 49 की राष्ट्रीय आय के सशोधित अनुमान तथा सन् 1949 50 एव 1950 51 मे राष्ट्रीय आय के अनुमान दिये गये थे। इसके बाद राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (Central Statistical Organisation) को सौंपा गया था। अब वह सगठन प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय पर श्वेत-पत्र (White Paper) प्रकाशित करता है।

भारत की राष्ट्रीय आय मे प्रवृत्तियाँ (Trends in India's National Income)—भारत की राष्ट्रीय आय मे प्रचलित प्रवृत्तियो को अग्रांकित सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

शुद्ध राष्ट्रीय आय 1974-75
(सन् 1960-61 की कीमतो पर)

(राष्ट्रीय एव खण्डीय आय करोड रुपयो मे)

निम्नलिखित तालिका मे स्थिर कीमतो (सन् 1960-61 की कीमतो) के आधार पर केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन (Central Statistical Organisation) द्वारा तैयार किये गये सन् 1974-75 की राष्ट्रीय आय के तुरन्त अनुमान (Quick Estimates) प्रस्तुत किय गये हैं

सारणी*

खण्ड	1972-73	1973-74	1974-75
1 कृषि	7,284	7,945	7,607
2 वन एव लकडी उद्योग	285	281	281
3 मछली उद्योग	118	124	133
4 खानें एव खदान	232	237	256
प्रारम्भिक उप-योग (Sub-total)	7 919	8 587	8,277
5 निर्माण (Manufacturing)	3,265	3,387	3,421
5 1 रजिस्टर्ड	2,085	2,185	2,192
5 2 गैर रजिस्टर्ड	1,180	1,202	1,229
6 निर्माण-कार्य (Construction)	1,151	1 044	1 096
7. बिजली, गैस, जलपूर्ति	227	240	252
गौण उप-योग (Sub total)	4,643	4,67	4 769
8. परिवहन, गोदाम एव सचार	1,035	1,049	1 091
8 1 रेल परिवहन	432	405	4'1
8 2 अन्य परिवहन	463	494	524
8 3 सचार	140	150	156
9 व्यापार, होटल, रेस्तरा	2,126	2,166	2,2 6
परिवहन सचार व्यापार उप योग(Sub-total)	3,161	3,215	3,297
10 बैंकिंग एव बीमा	369	368	373
11 वास्तविक सम्पदा (Real Estate) एव मकानादि का स्वामित्व	491	498	503
वित्त और वास्तविक सम्पदा का उपयोग (Sub total)	860	866	876
12 सार्वजनिक प्रशासन एव सुरक्षा	1,367	1,484	1,571
13 अन्य सेवाएँ	1,320	1,356	1,396
सामुदायिक एव व्यक्तिगत सेवाओ का उप-योग (Sub total)	2,687	2 840	2 967
14 साधन लागत पर कुल राष्ट्रीय आय (Total National Income at Factor Cost)	19,270	20,179	20,186

* (Source : *Report on Currency and Finance 1975-76*, p 17, issued by the Reserve Bank of India)

उपर्युक्त सारणी का अवलोकन करने से पता चलता है कि स्थिर कीमतों अर्थात् सन् 1960 61 की कीमतों पर सन् 1974-75 मे सर्वाधिक आय (अर्थात् 7,607 करोड रुपये की आय) कृषि से हुई थी। कृषि भारत का प्रमुख धन्धा है। अत यह स्वाभाविक ही है कि कृषि से होने वाली आय सर्वाधिक हो। उद्योग-धन्धों (बड़े तथा छोटे) से उसी वर्ष 3,421 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी। व्यापार तथा वाणिज्य का तीसरा स्थान था। इनसे 2 206 करोड रुपये की आय हुई थी। चौथा स्थान सार्वजनिक प्रशासन एवं सुरक्षा का था जहाँ से 1571 करोड रु० की आय हुई थी। इसी प्रकार अन्य खण्डो (sectors) से भी आय प्राप्त हुई थी। उपर्युक्त सारणी से *भारत की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न खण्डो का सापेक्षिक महत्त्व भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।*

जैसा कि उपरोक्त सारणी मे व्यक्त किया गया है, सन् 1974-75 मे भारत की कुल राष्ट्रीय आय 20,186 करोड रुपये थी। सन् 1973-74 मे देश की राष्ट्रीय आय 20 179 करोड रुपये थी। इस प्रकार 1974 75 मे भारत की राष्ट्रीय आय मे साधारण सी ही वृद्धि हुई थी। स्थिर कीमतो (अर्थात् 1960-61 की कीमतो) पर सन् 1960-61 मे भारत की राष्ट्रीय आय 13,294 करोड रुपये ही थी। इस प्रकार 14 वर्ष की अवधि मे भारत की राष्ट्रीय आय मे 6892 करोड रुपये की वृद्धि हो सकी थी। इसी प्रकार 1960 61 की कीमतो पर भारत की प्रति व्यक्ति आय सन् 1974-75 मे 341 4 रुपये थी जबकि 1973 74 मे यह 340 रुपये थी। इस प्रकार सन् 1974-75 मे भारत की प्रति व्यक्ति आय मे 1973-74 की तुलना मे कुछ वृद्धि हो गयी थी। सन 1960-61 मे यह प्रति व्यक्ति आय 306 3 रुपये थी। इस तरह 14 वर्ष की अवधि मे प्रति व्यक्ति आय मे केवल 35 1 रुपये की अल्प वृद्धि ही हो सकी थी। देश मे प्रति व्यक्ति आय की इस धीमी प्रगति का मुख्य कारण जनसख्या की तीव्र गति से बढना है।

सन् 1974 75 मे भारत की राष्ट्रीय आय मे (सन् 1960 61 की कीमतो पर) सन् 1973-74 की अपेक्षा केवल 0 2 प्रतिशत की वृद्धि हो हुई थी। जबकि सन 1973-74 मे सन् 1972-73 की अपेक्षा 5 0 की वृद्धि हुई थी। जैसा कि उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है, सन् 1973-74 मे भारत की कुल राष्ट्रीय आय 20179 करोड रु० थी लेकिन सन् 974-75 मे यह बढकर 20186, करोड रु० हो गई थी। इस नाम मात्र की वृद्धि का मुख्य कारण यह था कि सन् 1974-75 मे खाद्य उत्पादन 104 7 मिलियन टन (सन् 1973-74) से घट कर 101 1 मिलियन टन रह गया था। इससे कृषि खण्ड के उत्पादन मे 4 3 प्रतिशत की गिरावट हुई थी। निश्चय ही अर्थ व्यवस्था के अन्य खण्डो म उत्पादन वृद्धि हुई थी लेकिन यह वृद्धि खाद्य-उत्पादन मे गिरावट को तटस्थ न कर सकी। अन्य खण्डो मे होने वाली वृद्धियाँ इस प्रकार थी—मछली पालन 7 3%, खनिज 8 0% निर्माण काय बिजली गैस जलपूर्ति प्रत्येक मे 5% की वृद्धि रेलो को छोड कर परिवहन के अन्य साधनो मे 6 1 % सावजनिक प्रशासन 5 9 %।

राष्ट्रीय आय की धीमी प्रगति तथा देश की जनसख्या मे होने वाली 2 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप सन 1974 75 मे भारत की प्रति व्यक्ति आय मे थोडी-सी वृद्धि हुई थी। *सन् 1974 75 मे प्रति व्यक्ति आय 341 4 रु० थी जबकि सन् 1973-74 मे यह 340 रु० थी।*

उपर्युक्त अध्ययन से एक स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है। भारत की अर्थ-व्यवस्था अब भी कृषि-प्रधान है। कृषि से अब भी भारत की राष्ट्रीय आय का सर्वाधिक अश प्राप्त होता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि अन्य खण्डो का विकास करके भारत की अर्थ व्यवस्था का विविधीकरण किया जाय।

भारत की राष्ट्रीय आय की विशेषताएँ—ये इस प्रकार है

(1) **कृषि पर अत्यधिक निर्भरता**—जैसा कि विदित है, भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 48 2 प्रतिशत भाग कृषि से उत्पन्न होना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे, इस स्थिति को सन्तोषजनक नही कहा जा सकता, क्योंकि कृषि एक अत्यन्त अनिश्चित धन्धा है। वर्षा की विफलता के कारण यह पूर्णत चौपट हो जाता है।

(2) **राष्ट्रीय आय का असमान वितरण**—दुर्भाग्यवश, भारत की राष्ट्रीय आय का वितरण अत्यन्त असमान है। एक अनुमान के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 30 प्रतिशत भाग केवल 5 प्रतिशत लोगों के हाथ में केन्द्रित रहता है। परिणामत देश में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी भारी विषमताएँ पायी जाती हैं। विगत 15 वर्षों में ये विषमताएँ और भी बढ़ गयी हैं।

(3) **राष्ट्रीय आय की वृद्धि जनसख्या की वृद्धि से अधिक नहीं है**—जैसा सर्वविदित है, भारत की जनसख्या बड़ी तीव्र गति से (लगभग 2 2 प्रतिशत वार्षिक की दर से) बढ़ रही है किन्तु राष्ट्रीय आय की वृद्धि भी लगभग इसी दर पर हो रही है। परिणामत देश की प्रति व्यक्ति आय में बहुत ही कम सुधार हो रहा है।

(4) **राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग खाद्य-पदार्थों पर व्यय किया जाता है** राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 53 प्रतिशत खाद्य-पदार्थों पर व्यय किया जाता है। यह हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का स्पष्ट प्रमाण है। यही कारण है कि भारत में बचत एवं विनियोग दर बहुत कम है।

भारत की राष्ट्रीय आय के कम होने के कारण जैसा सर्वविदित है, अन्य देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) **आर्थिक कारण**—(क) **बचत एवं विनियोग की न्यून दर**—अन्य देशों की तुलना में भारत में बचत एव विनियोग दर बहुत ही कम है। इस समय राष्ट्रीय आय का लगभग 11 प्रतिशत लोगों द्वारा बचाया जा रहा है। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय का लगभग 14 प्रतिशत विनियोग पर लगाया जा रहा है। स्पष्ट है कि भारत की न्यून बचत एव विनियोग दर ही राष्ट्रीय आय की न्यूनता के लिए उत्तरदायी है।

(ख) **कृषि पर अत्यधिक निर्भरता** भारत की राष्ट्रीय आय कम होने का यह प्रमुख कारण है। जैसा विदित है कृषि एक अत्यन्त अनिश्चित धन्धा है। कृषि पूर्णत प्रकृति पर निर्भर रहती है। यदि दुर्भाग्यवश किसी वर्ष मानसून फेल हो जाते हैं तो भारतीय कृषि भी चौपट हो जाती है। परिणामत राष्ट्रीय आय में भारी कमी हो जाती है।

(ग) **अपर्याप्त औद्योगिक विकास**—भारत की निर्धनता का मुख्य कारण देश के औद्योगिक विकास की अपर्याप्तता है। जैसा हम जानते हैं औद्योगिक दृष्टि से भारत एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश है। यहाँ पर भारी एव आधारमूलक उद्योगों का सर्वथा अभाव है। उपभोक्ता-उद्योगों का भी पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो सका है। इसी कारण दूसरे देशों की तुलना में भारत की राष्ट्रीय आय कम है।

(घ) **परिवहन का अपर्याप्त विकास** दुर्भाग्यवश भारत में परिवहन के विभिन्न साधनों का भी पूर्ण विकास सम्भव नहीं हो सका है। विशेषकर सड़क परिवहन एव आन्तरिक जल परिवहन अत्यन्त अविकसित दशा में हैं। परिणामत देश के व्यापार के विस्तार में बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं।

(ङ) **जनसख्या की तीव्र वृद्धि**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं भारत की जनसख्या बड़ी तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। पचवर्षीय योजनाओं के कारण देश की राष्ट्रीय आय में जो थोड़ी बहुत वृद्धि हुई है वह जनसख्या की तीव्र वृद्धि के कारण पूर्णत तटस्थ हो गयी है। भारत की मौद्रिक प्रति व्यक्ति आय (Money Income Per Capita) में भले ही सुधार हुआ हो लेकिन वास्तविक प्रति व्यक्ति आय (Real Income Per Capita) में पहले की अपेक्षा कमी हो गयी है।

(2) **सामाजिक कारण**—(क) भारत की कतिपय सामाजिक संस्थाएँ (जाति प्रथा एव संयुक्त परिवार प्रणाली) राष्ट्रीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। वास्तव में दोनों प्रथाएँ देश की आर्थिक प्रगति के मार्ग में भारी बाधाएँ उपस्थित करती हैं।

(क) भारत में जनसाधारण का भाग्यवादी दृष्टिकोण (Fatalistic Outlook) भी देश की आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। इससे लोग प्राय निराशावादी हो जाते हैं और अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न ही नहीं करते हैं।

(ख) भारत में लोगों की अशिक्षा एवं अज्ञानता भी बड़ी मात्रा में देश के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी है।

(3) **राजनीतिक कारण**—भारत में दीर्घकालीन विदेशी शासन भी देश के पिछड़ेपन के लिए उत्तरदायी था। हमारे ब्रिटिश शासकों ने जानबूझकर देश को अविकसित दशा में रखा था। उनका मुख्य उद्देश्य भारत में कच्चा माल खरीदना और ब्रिटेन के तैयारशुदा माल को भारत में बेचना था। अतएव उन्होंने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए भारत में उद्योगों का विकास नहीं होने दिया।

भारत की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए सुझाव—भारत की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं

(1) **बचत एवं निवेश की दर में वृद्धि की जाय**—भारत की राष्ट्रीय आय को बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि देश में निवेश की मात्रा में अधिकतम वृद्धि की जाय। इस समय राष्ट्रीय आय का केवल 14 प्रतिशत भाग ही निवेश पर लगाया जा रहा है। सुझाव दिया गया है कि इसे बढ़ाकर 25 प्रतिशत कर दिया जाय। इससे देश की आर्थिक प्रगति की गति स्वत ही तीव्र हो जायगी।

(2) **कृषि का विकास किया जाय**—राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए यह भी सुझाव दिया गया है कि भारतीय कृषि का शीघ्रातिशीघ्र विकास किया जाय। देश में बेकार पड़ी भूमि को खेती के अधीन लाया जाय। बढ़िया किस्म के औजारों उत्तम बीजों और रासायनिक खाद का प्रयोग करके कृषि को बढ़ाया जाय।

(3) **उद्योगों का विकास किया जाय**—राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए बड़े एवं छोटे उद्योगों का शीघ्रातिशीघ्र विकास किया जाय। विशेषकर छोटे उद्योगों की ओर अधिक ध्यान दिया जाय क्योंकि छोटे उद्योगों में थोड़े ही समय में उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

(4) **परिवहन का विकास किया जाय**—देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए सभी प्रकार के परिवहन साधनों का शीघ्रातिशीघ्र विकास किया जाय। इससे देश के आन्तरिक व्यापार में स्वत ही वृद्धि हो जायगी।

(5) **जनसंख्या पर नियन्त्रण किया जाय**—राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए यह भी आवश्यक है कि नियोजित परिवार प्रणाली द्वारा जनसंख्या की वर्तमान तीव्र वृद्धि को नियन्त्रित किया जाय।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 राष्ट्रीय आय की परिभाषा कीजिए। (आगरा 1970)

अथवा

राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए और इसके समपन के विभिन्न ढंग बताइये।
(आगरा, 1976)

[संकेत—प्रथम भाग में, मार्शल, पीगू एवं फिशर द्वारा प्रस्तुत की गयी राष्ट्रीय आय की परिभाषाओं की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में राष्ट्रीय आय की गणना करने की दो मुख्य विधियों की विवेचना कीजिए।]

2. देश की राष्ट्रीय आय के बारे में लिखिए। यह इतनी कम क्यों है? (आगरा, 1961)

[संकेत - प्रथम भाग मे, भारत की राष्ट्रीय आय के बारे मे लगाये गये अनुमानों के सम्बन्ध मे लिखिए और राष्ट्रीय आय की विशेषताओ की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग में, भारत की राष्ट्रीय आय के कम होने के आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक कारणों की विवेचना कीजिए।]

3. आय के वितरण में परिवर्तन का आय की वृद्धि-दर पर और रोजगार (employment) पर क्या प्रभाव पड़ेगा? (आगरा, 1966)

[संकेत—इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। क्लासीकल अर्थशास्त्रियो का मत था कि आय वितरण मे समानता स्थापित करने पर पूंजी-निर्माण की दर मे गिरावट होगी। परिणामतः राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर एव रोजगार की मात्रा मे ह्रास होगा। इसके विपरीत, समाजवादी अर्थशास्त्रियो का विचार है कि आय-वितरण मे समानता स्थापित करने से आय की वृद्धि-दर एव रोजगार की मात्रा बढ जायगी क्योंकि आय के न्यायपूर्ण वितरण से श्रमिको मे नवीन उत्साह उत्पन्न होगा। वे पहले की अपेक्षा अधिक कार्य करेंगे, उत्पादन, आय एव रोजगार मे वृद्धि होगी।]

"Public Finance deals with the provision, custody and disbursement of resources needed for the conduct of public or governmental functions."

—H L LUTZ

सप्तम् खण्ड

राजवित्त

(PUBLIC FINANCE)

कुछ स्मरणीय उद्धरण

•

1 Public Finance is one of those subjects that lie on the borderline between Economics and Politics It is concerned with the income and expenditure of Public Authorities and with the adjustment of the one to the other The principles of Public Finance are the general principles which may be laid down with regard to these matters "

—*Dalton*

2 'A tax is a compulsory contribution or payment for the support of Government or other public purposes Taxes may be employed to raise revenues to regulate certain activities or promote social objectives or for both revenue and regulation '

—*Buhler*

3 ' The best system of taxation from the economic point of view is that which has the best or the least bad, economic effects ' —*Dalton*

4 'Direct and Indirect Taxes are two attractive sisters between whom I have to be perfectly impartial because, as Chancellor of the Exchequer it is not only allowable but an act of duty to pay my address to them both "

—*Gladstone*

5 Taxable capacity is the limit of squeezability—it is the taxability of a nation, the maximum amount of taxation that can be raised and spent to produce the maximum economic welfare in the community '

—*Findlay Shirras*

6 "The main objective of public expenditure is to direct the productive resources in such a way that there may be maximum production of economic welfare "

—*Dalton*

7 I hold it to be true that a tax levied in any place is like a pebble falling into and making circles in a lake till one circle produces and gives motion to another, and the whole circumference is agitated from the centre '

—*Lord Mansfield*

41

राजवित्त

(Public Finance)

राजवित्त की परिभाषा

प्रत्येक देश म सरकार को कुछ विशेष कार्य करने पड़ते है। इन कार्यों को दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है (क) आवश्यक काय (Obligatory Functions), तथा (ख) ऐच्छिक कार्य (Optional Functions)।

विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना, देश के भीतर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना, सरकार के आवश्यक कार्य है। परन्तु शिक्षा की व्यवस्था करना, अस्पतालो की स्थापना करना आदि ऐच्छिक कार्य हैं। इन सभी कार्यों को करने के लिए सरकार को धन व्यय करना पड़ता है और इसलिए सरकार को धन की आवश्यकता पड़ती है। अत जो विज्ञान सरकार के धन प्राप्त करने तथा धन व्यय करने की क्रियाओ का अध्ययन करता है उसे राजवित्त कहते हैं। प्रो० फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) राजवित्त की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि "राज्यसत्ता द्वारा साधनो की प्राप्ति तथा व्यय से सम्बन्धित सिद्धान्तो का अध्ययन ही राजवित्त कहलाता है।[1] डा० डाल्टन (Dr Dalton) के कथनानुसार राजवित्त उन विषयो मे से एक है जो कि अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के सीमावर्ती क्षेत्रों मे स्थित है। इसका सम्बन्ध राज्य सत्ता की आय तथा व्यय और उनके पारस्परिक समीकरण से है।[2] प्रो० लुट्ज (Prof Lutz) के शब्दो मे, 'राजवित्त का विषय राजकीय एव जनहित कार्यों के लिए आवश्यक साधनो को एकत्रित करना उनके सरक्षण तथा व्यय का अध्ययन है।[3]

उपर्युक्त परिभाषाओ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमे कोई विशेष अन्तर नही है, केवल शब्दो का हेर फेर है। जहाँ तक आधारमूलक विचारो का सम्बन्ध है, वे सभी मे एक जैसे है।

राजवित्त को विज्ञान (Science) तथा कला (Art) दोनो ही कहा जा सकता है। जब हम सरकारी आय एव व्यय के सिद्धान्तो तथा नीतियो का अध्ययन करते हैं तब वह राजवित्त का वैज्ञानिक रूप होता है किन्तु जब हम इन सिद्धान्तो का प्रयोग सरकार की वित्तीय समस्याओ का समाधान करने के लिए करते है तब यह कलात्मक रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार राजवित्त का वैज्ञानिक एव व्यावहारिक महत्त्व है

---

1 the study of the principles underlying the spending and raising of funds by public authorities" —*Findlay Shirras*

2 It is one of those subjects which lie on the borderline between Economics and Politics It is concerned with the income and expenditure of public authorities and with the adjustment of the one to the other' —*Dalton*

3 Public Finance deals with the provision custody and disbursement of resources needed for the conduct of public or governmental functions" —*Lutz*

राजवित्त की विषय-सामग्री
(Subject matter of Public Finance)

राजवित्त के निम्नलिखित चार भाग हैं

(1) **सार्वजनिक आय (Public Revenues)**—राजवित्त के इस विभाग में हम उन सभी स्रोतों का अध्ययन करते हैं जिनसे सरकार को आय प्राप्त होती है। इस विभाग में हम करारोपण के सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन करते हैं। इसके साथ ही साथ इस विभाग में करवाह्यता (Incidence of Tax) की समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है।

(2) **सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)**—इस विभाग में हम सार्वजनिक व्यय के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं और यह भी देखते हैं कि सरकार किस प्रकार अपने व्यय का निर्धारण करती है।

(3) **सार्वजनिक ऋण (Public Debt)**—जिस प्रकार एक निजी व्यक्ति को ऋण की आवश्यकता पड़ती है ठीक उसी तरह सरकार को भी कुछ विशेष परिस्थितियों में (जैसे युद्ध, अकाल, बाढ़ आदि में) ऋण की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे समयों पर सरकार का व्यय उसकी आय की तुलना में बढ़ जाता है। अतः बजट के घाटे को पूरा करने के लिए सरकार लोगों से ऋण लेती है। आधुनिक सरकारें देश के आर्थिक विकास के लिए भी लोगों से ऋण लेती हैं। उदाहरणार्थ भारत सरकार पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए बड़े पैमाने पर लोगों से ऋण ले रही है।

(4) **वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)**—इस विभाग में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि सरकार वित्त प्रबन्ध कैसे करती है, बजट कैसे तैयार किया जाता है और उसे कैसे स्वीकार किया जाता है। सरकारी व्यय पर कैसे नियन्त्रण रखा जाता है और व्यय लेखों का कैसे अंकेक्षण (Auditing) किया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि वित्तीय प्रशासन को राजवित्त का एक विभाग नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह स्वयं एक विज्ञान है। परन्तु अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि वित्तीय प्रशासन को राजवित्त का ही एक अभिन्न अंग स्वीकार करना चाहिए।

निजी वित्त तथा राजवित्त में अन्तर
(Differences between Private Finance and Public Finance)

सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि निजी वित्त एवं राजवित्त के आधारभूत सिद्धान्त एक जैसे ही हैं। दोनों में आय व्यय का समायोजन (*Adjustment*) किया जाता है। दोनों का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। जिस प्रकार एक निजी व्यक्ति अपने व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है ठीक उसी तरह सरकार भी अपने व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करती है किन्तु इन समानताओं के साथ-साथ निजी वित्त एवं राजवित्त में कुछ अन्तर भी पाये जाते हैं

(1) **आय तथा व्यय का समायोजन**—निजी वित्त तथा राजवित्त में आय-व्यय का आपसी सम्बन्ध एक जैसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति यथासम्भव अपना व्यय अपनी आय के अनुसार ही करता है अर्थात् निजी व्यक्ति का व्यय उसकी आय में सीमित होता है। निजी व्यक्ति के बारे में यह पुरानी कहावत चरितार्थ होती है—"तेते पांव पसारिये जेती चादर होय" (Cut your coat according to your cloth) परन्तु सरकारी व्यय पर यह बात लागू नहीं होती। सरकार पहले अपने व्यय का अनुमान लगाती है और तदुपरान्त उस व्यय के अनुसार ही अपनी आय का प्रबन्ध करती है।

परन्तु निजी वित्त और राजवित्त के इस अन्तर में कुछ अतिशयोक्ति का तत्व हो सकता है। कभी-कभी निजी व्यक्ति भी कुछ विशेष परिस्थितियों में अपनी आय से अधिक व्यय कर सकता है। उदाहरणार्थ भारतीय किसान सामाजिक उत्सवों पर अपने साधनों से भी अधिक व्यय कर डालता है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति का व्यय उसकी आय से अधिक हो जाता है तब वह अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। अतः यह कहना सर्वथा ठीक नहीं होगा कि निजी व्यक्ति उतने ही पैर पसारता है जितनी कि उसकी चादर होती है। इसी प्रकार सरकार के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सदैव अपने व्यय के अनुसार ही आय का प्रबन्ध

करती है। इसका कारण यह है कि कोई भी सरकार अपनी आय को असीमित[1] मात्रा में नहीं बढ़ा सकती। अतः व्यय करते समय सरकार को अपनी आय की सीमितता का सदैव ध्यान रखना पड़ता है।

(2) **साख शक्ति का अंतर**—एक निजी व्यक्ति और सरकार की साख शक्ति में भी बड़ा अंतर होता है। निजी व्यक्ति की साख सीमित होती है। वह केवल सीमित मात्रा में और सीमित समय के लिए ही उधार ले सकता है। इसके विपरीत सरकार की साख लगभग असीमित होती है। सरकार जिस मात्रा में चाहे लोगों से ऋण ले सकती है। सरकार न केवल अपने नागरिकों से बल्कि विदेशियों से भी ऋण प्राप्त कर सकती है।

(3) **नोट छापने का अधिकार**—सरकार के पास आय का एक ऐसा साधन होता है जो एक निजी व्यक्ति को उपलब्ध नहीं होता। सरकार नोट छाप सकती है और उनके द्वारा छापे गये नोटों को सभी व्यक्तियों द्वारा कानूनन स्वीकार करना पड़ता है। आर्थिक संकट एवं युद्ध के समय आधुनिक सरकारें नोट छापकर अपने व्यय को पूरा करती हैं लेकिन एक निजी व्यक्ति को नोट छापने का अधिकार नहीं है।

(4) **समसीमांत उपयोगिता नियम का परिपालन**—एक निजी व्यक्ति अपना व्यय सम सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार करने का प्रयत्न करता है अर्थात् वह अपनी आय को विभिन्न मदों पर इस ढंग से व्यय करता है कि प्रत्येक मद से उपलब्ध होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान होती है क्योंकि ऐसा करने से ही उसे अपने व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो सकती है। एक निजी व्यक्ति अपनी आय को उपभोग तथा बचत में भी इस ढंग से वितरित करता है कि दोनों की सीमांत उपयोगिताएं बराबर होती हैं। दूसरे शब्दों में एक निजी व्यक्ति यथासम्भव समसीमांत उपयोगिता नियम का पालन करने का प्रयत्न करता है किन्तु सरकार समसीमांत उपयोगिता नियम को इतना महत्व नहीं देती जितना कि एक निजी व्यक्ति देता है। विशेषकर प्रजातांत्रिक देशों में कभी कभी सरकारें इस प्रकार के व्यय भी कर डालती हैं जिनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। वे ऐसा केवल कुछ वर्गों को संतुष्ट करने के लिए ही करती हैं। इसके अतिरिक्त एक निजी व्यक्ति की अपेक्षा सरकार वर्तमान की तुलना में भविष्य को अधिक महत्व देती है। निजी व्यक्ति भविष्य को इतना महत्व नहीं देता जितना कि वर्तमान को क्योंकि निजी व्यक्ति तो कुछ समय के लिए जीवित रहता है जबकि राष्ट्र सदैव जीवित रहता है।

(5) **बजट का स्वरूप**—एक निजी व्यक्ति के लिए बचत वाला बजट (Surplus Budget) सदैव अच्छा होता है अर्थात् एक व्यक्ति को अपनी आय की तुलना में व्यय कम करना चाहिए। परन्तु सरकार के लिए बचत वाला बजट अब अच्छा नहीं समझा जाता। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि बचत वाला बजट सरकार के लिए उपयुक्त नहीं होता। उनके अनुसार यदि किसी सरकार का बजट बचतपूर्ण है तो इसके दो अर्थ लगाये जा सकते हैं—प्रथम सरकार लोगों पर आवश्यकता से अधिक कर लगा रही है। दूसरे सरकार राष्ट्र कल्याणकारी कार्यों पर इतना व्यय नहीं कर रही जितना कि उसे करना चाहिए। प्रो० कैन्ज (Keynes) ने मंदी काल के लिए घाटे वाले सरकारी बजट (Deficit Government Budget) का समर्थन किया था। इस प्रकार एक निजी व्यक्ति के लिए तो बचत वाला बजट सदैव अच्छा रहता है किन्तु सरकार के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

(6) **बजट की गोपनीयता** (Secrecy of the Budget)—एक निजी व्यक्ति का बजट गोपनीय होता है। इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपनी वास्तविक आर्थिक स्थिति के बारे में दूसरों को जानकारी देना पसंद नहीं करता क्योंकि इससे उसकी साख पर कुप्रभाव पड़ सकता है। इसके विपरीत सरकारी बजट के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रजातांत्रिक देशों में तो सरकार अपने बजट का अधिक से अधिक प्रचार करती है। बजट को संसद में प्रस्तुत किया जाता है, उस पर काफी बहस होती है, आलोचनाएं की जाती हैं तथा सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार सरकारी बजट के बारे में गोपनीयता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(7) **वित्त की लोचकता**—निजी वित्त की अपेक्षा राजवित्त अधिक लोचदार होता है। निजी वित्त में परिवर्तनों की विशेष गुंजाइश नहीं होती जबकि राजवित्त में बहुत बड़े परिवर्तन

किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक निजी व्यक्ति अपनी आय में कोई विशेष वृद्धि नही कर सकता और न ही वह अपने व्यय मे विशेष परिवर्तन कर सकता है। इसके विपरीत, सरकार अपनी आय को नये करो द्वारा पर्याप्त मात्रा मे बढ़ा सकती है और अपने व्यय मे भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर परिवर्तन कर सकने मे समर्थ होती है।

(8) **उद्देश्य का अन्तर**—निजी वित्त तथा राजवित्त के उद्देश्यो मे आधारमूलक अन्तर है। निजी वित्त का उद्देश्य स्वार्थ-हितो की पूर्ति करना है जबकि राजवित्त का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना होता है।

राजवित्त का महत्व

19वी शताब्दी मे राजवित्त का कोई विशेष महत्व नही हुआ करता था। इसका कारण यह था कि उस समय सरकार आर्थिक विषयो में हस्तक्षेप नही किया करती थी। सरकार का कार्य केवल देश को विदेशी आक्रमणो से बचाना एव आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना हुआ करता था। अत इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सरकार थोड़ी ही मात्रा मे करो द्वारा लोगो से धन एकत्रित किया करती थी। इस प्रकार 19वी शताब्दी मे अबन्ध नीति (Laissez-Faire) के कारण राजवित्त को कोई विशेष महत्व प्राप्त नही था।

किन्तु 20वी शताब्दी मे कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की धारणा के उदय के परिणामस्वरूप सरकार का राजवित्त के प्रति दृष्टिकोण पूर्णत बदल गया है। अब सरकारें आर्थिक विषयो मे अधिक हस्तक्षेप करने लगी है। परिणामत राजवित्त का महत्व बढ गया है। इस समय राजवित्त के महत्व को निम्नलिखित बातो द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है

(1) देश मे आवश्यक वस्तुओ की मात्रा को बढाने के लिए विभिन्न उद्योग-धन्धो को सरकार द्वारा उपदान (Subsidies) दिये जाते है। पिछडे हुए अल्प-विकसित देशो मे तो उपदानो का सरकारी व्यय मे विशेष महत्व होता है।

(2) देश मे हानिकारक वस्तुओ के उत्पादन को निरुत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा वस्तु-कर लगाये जा सकते है। उदाहरणार्थ, शराब गाँजा आदि हानिकारक वस्तुओ के उत्पादन पर भारी कर लगाये जाते है। इनका उद्देश्य इन वस्तुओ के उपयोग को कम करना होता है।

(3) अल्पविकसित एव पिछडे हुए देशो मे शिशु-उद्योगो को प्रशुल्क-नीति द्वारा विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण दिया जाता है, अर्थात विदेशी माल के आयात पर सरकार भारी कर लगा कर देशी उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देती है।

(4) राजवित्त देश के योजनाबद्ध आर्थिक विकास मे भी बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, भारत मे पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक धन करो द्वारा लोगो से प्राप्त किया जाता है। फिर यही धन देश की विभिन्न परियोजनाओ को क्रियान्वित करने मे लगाया जाता है।

(5) रोजगार के आधुनिक सिद्धान्त मे भी राजवित्त का महत्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणार्थ मन्दी काल मे किसी देश मे रोजगार की मात्रा को बढाने के लिए असन्तुलित बजट अनिवार्य होता है, अर्थात ऐसे समय लोगो को रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने के लिए सरकार को यथा-सम्भव सार्वजनिक निर्माण-कार्यों (Public Works) पर अधिकाधिक मात्रा मे धन व्यय करना चाहिए। इसी प्रकार मन्दी काल मे बेरोजगार व्यक्तियो को भत्ते भी दिये जाने चाहिए ताकि वे अपने उपभोग-स्तर को बनाये रख सकें।

(6) पूँजीवादी देशो मे धन वितरण सम्बन्धी विषमताओ को दूर करने मे भी राजवित्त का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव मे, ऐसे देशो मे राजवित्त सरकार के हाथ मे एक ऐसा यन्त्र होता है जिसकी सहायता से वह आय सम्बन्धी विषमताओ को दूर अथवा कम कर सकती है। उदाहरणार्थ, सरकार धनी व्यक्तियों पर भारी कर लगाकर प्राप्त होने वाली आय का निर्धनो पर व्यय कर सकती है। सरकार निर्धनो को कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कर सकती है। जैसे, सस्ता अनाज, सस्ते मकान, नि शुल्क डाक्टरी सहायता तथा बच्चों के लिए नि शुल्क शिक्षा। इस प्रकार राजवित्त की सहायता से सरकार धन को अमीरो से लेकर गरीबो को हस्तान्तरित कर सकती है। परिणामत. सरकार आय सम्बन्धी असमानताओ को कम कर सकती है।

(7) समाजवादी तथा साम्यवादी देशो म तो राजवित्त का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है। इस प्रकार के देशो म राजवित्त की सहायता से ही समूचे आर्थिक एव सामाजिक जीवन का निर्माण किया जाता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त सकेत

1 **सावजनिक राजस्व से क्या तात्पर्य है? व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक राजस्व मे क्या कोई आधारभूत अन्तर है? भलीभाति समझाइए।** (आगरा, 1963)

[सकेत—प्रथम भाग म सावजनिक राजस्व (राजवित्त) की परिभाषा दते हुए इसक अथ की व्याख्या कीजिए। इस सम्बन्ध म प्रसिद्ध अथशास्त्रियो द्वारा की गयी राजवित्त की परिभाषाओ का उल्लख कीजिए। दूसरे भाग म यह बताइए कि यद्यपि व्यक्तिगत तथा सावजनिक राजस्व म कई समानताएँ है तथापि इन दोनो के बीच कई आधारभूत अन्तर भी है। तदुपरान्त इन आधारभूत अन्तरो का उदाहरणसहित स्पष्ट कीजिए।]

2 **योजनाबद्ध अथ-व्यवस्था मे राजस्व के महत्त्व एव कार्यों का उल्लेख कीजिए।** (विक्रम 1961)

[सकेत—पहले यहा पर यह बताइए कि 20वी शताब्दी म किन कारणो से राजस्व का महत्त्व बढ गया है। तदुपरात यह बताइए कि योजनाबद्ध अथ व्यवस्था म राजस्व का क्या महत्त्व है और इसके द्वारा किन किन कार्यों का सम्पन्न किया जाता है।]

42

राजवित्त का सिद्धान्त
(Doctrine of Public Finance)

राजवित्त का अध्ययन करने से पूर्व हमे यह जान लेना आवश्यक है कि राजवित्त का आधारभूत उद्देश्य क्या होता है। इस सम्बन्ध मे समय-समय पर अर्थशास्त्रियो द्वारा विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। अब हम उन सिद्धान्तो का एक-एक करके वर्णन करेंगे।

(1) न्यूनतम कर सिद्धान्त
(Principle of Minimum Taxation)

यह राजवित्त का प्राचीनतम सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को अपना व्यय न्यूनतम रखना चाहिए और लोगो पर कम से कम कर लगाने चाहिए। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से० (J B Say) के अनुसार राजवित्त का सबसे सुन्दर प्रबन्ध वह है जिसमे व्यय नही के बराबर होता है। इसी प्रकार सभी करो मे उत्तम कर वह है जिसकी मात्रा न्यूनतम होती है। 19वी शताब्दी के अधिकाश अर्थशास्त्री इसी विचारधारा के समर्थक हुआ करते थे। इस विचारधारा के 19वी शताब्दी मे लोकप्रिय होने के दो मुख्य कारण थे-- **प्रथम**, उस समय साधारण जनता मे व्यक्तिवाद (Individualism) की भावना बहुत प्रबल हुआ करती थी। अधिकाश लोगो का यह विचार था कि सरकार को आर्थिक विषयो मे कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, जहाँ तक आर्थिक क्षेत्र का सम्बन्ध है—साधारण जनता को उसमे प्रविष्ट होने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। दूसरे उस समय, अधिकाश अर्थशास्त्रियो का यह विचार हुआ करता था कि सरकारी व्यय सदैव अनुत्पादक होता है। अत इसे न्यूनतम रखा जाना चाहिए।

किन्तु वर्तमान समय म य दोनो धारणाएँ गलत प्रतीत होती हे। जैसा विदित है, पुरानी अबन्ध नीति (Laisez-Faire) अब अप्रचलित (obsolete) हो गयी है। सरकार के कार्य क्षेत्र की परिधि अब विस्तृत हो गयी है। वर्तमान समय म सरकारें आर्थिक क्षेत्र मे भी हस्तक्षेप करती है। अत "न्यूनतम कर" सिद्धान्त अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व का ही रह गया है। दूसरे, "न्यूनतम कर" सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा लगाया गया प्रत्येक कर बुरा होता है परन्तु आज यह बात सत्य नही है। सरकार द्वारा लगाये गये कुछ कर अवश्य ही ऐसे हैं जिन्हे किसी भी दृष्टि से बुरा नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, शराब अफीम, जैसी हानिकारक वस्तुओ पर लगाये गये कर बुरे नही कहे जा सकते, क्योकि उनके फलस्वरूप इन वस्तुओ का उपभोग हतोत्साहित होता है। **तीसरे**, न्यूनतम कर सिद्धान्त के अनुसार सरकारी व्यय सदैव अनुत्पादक होता है, किन्तु यह कहना भी उचित नही है। इसका कारण यह है कि सरकार के कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिन्हे किसी भी दृष्टि से अनुत्पादक नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि तथा उद्योग-धन्धो पर किये गये सरकारी व्यय अनुत्पादक नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नही है कि व्यक्तिगत व्यय सदैव उत्पादक होता है। अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ व्यक्तियो द्वारा किये गये व्यय किसी भी दृष्टिकोण

से उत्पादक नही माने जा सकते है। उदाहरणार्थ, शराब, जुए आदि पर किया गया व्यक्तिगत व्यय उत्पादक व्यय नहीं है।

(2) न्यूनतम सामूहिक त्याग सिद्धान्त
(Principle of Minimum Collective Sacrifice)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी 19वी शताब्दी के कुछ अर्थशास्त्रियो द्वारा किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकारी व्यय का भार समाज पर इस प्रकार वितरित किया जाय कि समूचे समाज की ओर उसकी विभिन्न इकाइयो को न्यूनतम त्याग (minimum sacrifice) करना पड़े। इसीलिए इस सिद्धान्त को "न्यूनतम सामूहिक त्याग सिद्धान्त" कहा जाता है। पहले सिद्धान्त की भाँति यह सिद्धान्त भी इस विचारधारा पर आधारित है कि प्रत्येक कर आवश्यक रूप से बुरा होता है। अत सरकार को अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए कम से कम मात्रा मे कर लगाने चाहिए। इस प्रकार "न्यूनतम कर" सिद्धान्त तथा "न्यूनतम सामूहिक त्याग" सिद्धान्त मे बहुत बडी समानता पायी जाती है।

परन्तु प्रथम सिद्धान्त की भाँति इस सिद्धान्त को भी वर्तमान समय मे स्वीकार नही किया जा सकता। इसके दो कारण हैं– **प्रथम**, आधुनिक समय मे सरकार का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। आधुनिक सरकारें कई प्रकार के ऐसे कार्य सम्पन्न करती हैं जो 19वी शताब्दी मे इनकी कार्य-परिधि से बाहर माने जाते थे। चूंकि अब सरकार का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है, अत सरकार को अपने विस्तृत कार्यों को भलीभाँति करने के लिए अधिक मात्रा मे कर लगाने पडते हैं। **दूसरे**, यह सिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त नही माना जा सकता। यह तो केवल आय-पक्ष पर ही जोर देता है, व्यय-पक्ष की उपेक्षा करता है, जबकि राजवित्त का सिद्धान्त तो ऐसा होना चाहिए जो आय तथा व्यय दोनो से ही सम्बन्धित हो। इस दृष्टिकोण से यह एक अधूरा सिद्धान्त ही है।

(3) मितव्ययता का सिद्धान्त
(Principle of Economy)

19वी शताब्दी के कुछ अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार सरकार अपने व्यय मे प्राय उतनी सावधान एव सतर्क नही हो सकती जितना कि एक निजी व्यक्ति होता है। सरकार के अधिकाश व्यय अनावश्यक एव अविवेकपूर्ण होते है। अत यह आवश्यक है कि अपने व्यय की व्यवस्था करते समय सरकार मितव्ययता के सिद्धान्त को अपने सम्मुख रखे। इस प्रकार इस सिद्धान्त के प्रतिपादको ने सरकारी व्यय मे मितव्ययता की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है।

किन्तु उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तो की भाँति यह सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है –**प्रथम**, यह कहना उचित नही है कि सरकार व्यय करते समय सदैव असावधान रहती है। हमारे पास अनेक ऐसे उदाहरण है जहा पर सरकार ने अपने व्यय को अत्यन्त सावधानी एव सतर्कता से किया है। वास्तव मे, सरकारी व्यय पर इतने नियन्त्रण होते है कि उसमे किसी प्रकार की असावधानता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नही है कि निजी व्यक्ति अपने व्यय मे सदैव सावधान ही रहता है। हमारे पास ऐसे अनेक उदाहरण है जहाँ पर निजी व्यक्तियो ने व्यय करते समय अपने हितो की पूर्ण उपेक्षा की है। **दूसरे**, उपर्युक्त सिद्धान्त की भाँति यह सिद्धान्त भी एक-पक्षीय सिद्धान्त (one sided theory) है, अर्थात यह सिद्धान्त राजवित्त के व्यय पक्ष पर ही जोर देता है और आय-पक्ष की पूर्ण उपेक्षा करता है। इस तरह यह सिद्धान्त भी एक अधूरा सिद्धान्त ही है।

(4) अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त
(Principle of Maximum Social Advantage)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० डाल्टन द्वारा किया गया है। उनके अनुसार राजवित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह होती है जिससे सरकार अपने कार्यो द्वारा अधिक-

तम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करती है। डा० डाल्टन के अनुसार प्रत्येक सरकार को अपनी आय की व्यवस्था एवं व्यय का निर्धारण करते समय इस सिद्धान्त का ध्यान में रखना चाहिए।

जैसा कि विदित है, सरकार अपने वित्तीय-कार्यों (financial activities) द्वारा देश के सभी वर्गों को प्रभावित करती है। एक ओर तो सरकार कुछ वर्गों पर कर लगाती है और दूसरी ओर उन्हीं करों से प्राप्त होने वाली आय को कुछ अन्य वर्गों पर व्यय करती है। आधुनिक सरकारें *प्राय धनिक वर्गों पर ऊँचे कर लगाती हैं और इनसे प्राप्त होने वाली आय निर्धन वर्गों पर व्यय* की जाती है। उदाहरणार्थ निर्धन वर्गों को सस्ता अनाज, सस्ते मकान तथा शिक्षा सम्बन्धी कई प्रकार की रियायतें दी जाती हैं। इस प्रकार आधुनिक सरकार अमीरों से धन एकत्रित करके उसे गरीबों को हस्तान्तरित करती है। इस प्रकार की प्रक्रिया (process) से अमीरों को तो कुछ कष्ट होता है किन्तु गरीबों को अवश्य ही लाभ होता है। इसका कारण स्पष्ट है, जब अमीरों पर कर लगाये जाते हैं तो उनसे उनकी मुद्रा से उपलब्ध होने वाली सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। स्पष्ट है कि जब उन पर कर लगाये जाते हैं तो उनके मुद्रा स्टॉक (money stock) में कमी हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उनकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। दूसरे शब्दों में, जब अमीरों पर कर लगाये जाते हैं तो वे ही कष्ट का अनुभव करते हैं। इस प्रकार कराधान से अमीरों को अवश्य ही कष्ट होता है। दूसरी ओर जब वही धन गरीबों को सुविधाएँ *प्रदान करने में व्यय किया जाता है तो उन्हें इससे उपयोगिता प्राप्त होती है,* किन्तु जब यह धन अधिकाधिक मात्रा में गरीबों पर व्यय किया जाता है तब इससे उनकी सीमान्त उपयोगिता घटनी शुरू हो जाती है।

इस प्रकार इस प्रक्रिया से दो घटनाएँ एक साथ घटित होती हैं—एक ओर तो अमीरों *पर भारी कर लगाने के कारण उनकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है और* दूसरी ओर गरीबों पर अधिक धन व्यय होने के कारण उनकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। डा० डाल्टन (Dr Dalton) के अनुसार यह प्रक्रिया सरकार द्वारा तब तक प्रचलित रखी जानी चाहिए जब तक कि बढ़ती हुई अमीरों की सीमान्त उपयोगिता गरीबों की घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के बराबर नहीं हो जाती। अर्थात् सरकार को यह प्रक्रिया उस बिन्दु तक जारी रखनी चाहिए जहाँ पर अमीरों द्वारा अनुभव किया गया कष्ट (अनुपयोगिता) गरीबों द्वारा अनुभव किये गये लाभ (उपयोगिता) के बराबर नहीं हो जाता। वास्तव में यही अधिकतम सामाजिक लाभ का बिन्दु है। यदि किसी कारणवश अमीरों का कष्ट गरीबों के लाभ से अधिक रहता है तो सामाजिक लाभ अधिकतम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि गरीबों का लाभ अमीरों द्वारा अनुभव किये गये कष्ट से अधिक रहता है तो भी अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। अधिकतम सामाजिक लाभ तो केवल उसी बिन्दु पर प्राप्त किया जा सकता है जिस पर एक ओर अमीरों का सीमान्त कष्ट एवं त्याग (Marginal Sacrifice) गरीबों के सीमान्त लाभ (Marginal Benefit) के बराबर होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। निम्नांकित सारणी में दो स्तम्भ दिये गये हैं। पहले स्तम्भ में कराधान (Taxation) की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न होने वाले कष्ट को दिखाया गया है। दूसरे स्तम्भ में सरकारी व्यय की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न होने वाले लाभ को दिखाया गया है।

सारणी

इकाई	कर की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न होने वाला कष्ट	व्यय को प्रत्येक इकाई से उत्पन्न होने वाला लाभ
1	5	40
2	8	32
3	12	28
4	16	26
5	23	23
6	30	15
7	38	10

उक्त सारणी को हम एक रेखाकृति द्वारा प्रदर्शित कर सकते है। इस रेखाकृति मे ल ल वक्र सरकारी व्यय की प्रत्येक इकाई से क्रमश घटते हुए सीमान्त लाभ (उपयोगिता) को व्यक्त करता है और त त वक्र कर की प्रत्येक इकाई से क्रमश बढता हुआ त्याग (अनुपयोगिता) सूचित करता है। दोनो वक्र एक-दूसरे को प बिन्दु पर काटते है। यह साम्य बिन्दु है। इस बिन्दु पर सामाजिक त्याग एव सामाजिक लाभ एक-दूसरे के बराबर होते हैं। इस प्रकार रेखाकृति से स्पष्ट है कि कुल कराधान अ म से अधिक नही होना चाहिए, क्योंकि यदि यह अधिक होता है तो सामाजिक लाभ अधिकतम नही हो सकता।
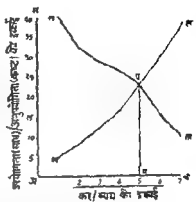
अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यहाँ पर सामाजिक लाभ से अभिप्राय क्या है? डा० डाल्टन के अनुसार सामाजिक लाभ दो बातो पर निर्भर करता है। प्रथम, उत्पादन म वृद्धि। **दूसरे,** उत्पादित धन के वितरण मे समानता। डा० डाल्टन के कथनानुसार उत्पादन मे वृद्धि से अभिप्राय यह है कि उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि हो और मजदूर पहले की अपेक्षा कम श्रम से अधिक उत्पादन कर सकें। इसका यह भी अभिप्राय है कि उत्पादन प्रक्रिया मे होने वाले सभी प्रकार के अपव्यय को न्यूनतम किया जा सके। इसी प्रकार धन के वितरण मे सुधार से अभिप्राय यह है कि आय सम्बन्धी विषमताओ का यथासम्भव कम किया जा सके। अत सरकार को अपनी आय-व्यय नीति मे इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति पर समुचित ध्यान देना चाहिए।

अब हमे यह देखना है कि अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति के लिए सरकार की कराधान नीति (taxation policy) कैसी होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे दो बाते ध्यान देने योग्य है—**प्रथम,** सरकार की कराधान नीति ऐसी होनी चाहिए कि उससे करदाताओ के उपभोग तथा बचत करने की शक्ति एव इच्छा पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव न पडे। इसके विपरीत, यदि सरकार की कराधान नीति के फलस्वरूप करदाताओ के उपभोग एव बचत करन की शक्ति एव इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है तो इससे सामाजिक लाभ अधिकतम नही हो सकता। अतएव इस प्रकार की कर-नीति अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहेगी। **दूसरे,** सरकार की कराधान नीति ऐसी होनी चाहिए कि उसके फलस्वरूप देश मे प्रचलित आय सम्बन्धी विषमताओ को दूर अथवा कम किया जा सके। इसी से ही अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति के लिए सरकार को किस प्रकार की व्यय-नीति अपनानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे तीन बाते ध्यान देने योग्य है—**प्रथम,** अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए सरकार को अपनी आय विभिन्न मदो पर इस ढग से व्यय करनी चाहिए कि इन सबसे प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हों, क्योंकि ऐसा करने से ही अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सकता है। यदि विभिन्न मदो पर किये गये व्ययो से सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर नही होती है तो सरकार अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य को प्राप्त करने मे असफल रह जायगी। उदाहरणार्थ यदि सरकार शिक्षा की अपेक्षा सुरक्षा (defence) पर अधिक व्यय करती है तो इससे सुरक्षा की सीमान्त उपयोगिता शिक्षा की सीमान्त उपयोगिता की तुलना मे कम हो जायगी और सरकार अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य को पूरा नही कर सकेगी। दूसरे सरकार का व्यय अनुत्पादक नही होना चाहिए, क्योंकि यदि सरकार का व्यय अनुत्पादक मदो पर किया जाता है तो इससे अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति नही हो सकती। उदाहरणार्थ, युद्ध पर किया गया व्यय उत्पादक नही माना जा सकता। परिणामत इससे सामाजिक लाभ मे वृद्धि नही हो सकती। **तीसरे,** सरकार की व्यय-नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि उससे देश की उत्पादन-शक्ति को प्रोत्साहन मिले। उदाहरणार्थ, यदि सरकार अपना अधिकाश व्यय आर्थिक नियोजन पर करती है तो इससे निश्चय ही देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होगी और सामाजिक लाभ अधिकतम होगा।

अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त की व्यावहारिक कठिनाइयाँ

निःसन्देह इस सिद्धान्त का सैद्धान्तिक महत्त्व बहुत अधिक है, किन्तु जब इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में परिणत किया जाता है तो अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं—**प्रथम**, इस सिद्धान्त के अनुसार जब देश के कुछ वर्गों पर कर लगाये जाते हैं तो निश्चय ही उन्हें कुछ कष्ट का अनुभव होता है, अर्थात वे कुछ त्याग करते हैं। किन्तु यहाँ कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि इस प्रकार के त्याग को कैसे मापा जाय। इसे मापना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। **दूसरे**, जब सरकारी व्यय के परिणामस्वरूप देश के कुछ वर्गों का लाभ होता है तो उस लाभ को भी सही-सही मापना एक अत्यन्त कठिन कार्य होता है। **तीसरे**, जब सरकारी करों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले लाभ को मापना ही कठिन है तो इन दोनों की तुलना करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। स्पष्ट है कि जब इन दोनों की तुलना नहीं हो सकती तब अधिकतम सामाजिक लाभ के बिन्दु का पता लगाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **'सार्वजनिक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जो अपनी क्रियाओं द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करती है।" विवेचना कीजिए।** (विक्रम, 1961)

   अथवा

   अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को बताइए और इसकी व्याख्या कीजिए। (आगरा 1966)

   अथवा

   सार्वजनिक वित्त में अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (राजस्थान, 1964)

   अथवा

   राजस्व में अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। (राजस्थान, 1969)

   [**संकेत**—यहाँ पर अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए और यह भी बताइए कि इसे व्यावहारिक रूप में परिणत करने पर क्या-क्या कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।]

43
सार्वजनिक आय
(Public Revenue)

एक व्यक्ति की भाँति सरकार को भी व्यय करना पड़ता है। इसी कारण व्यक्ति की तरह सरकार को भी आय प्राप्त करनी होती है। सार्वजनिक आय का विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया गया है।

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण
(Classification of Public Revenue)

सार्वजनिक आय के मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित है

(1) एडम स्मिथ का वर्गीकरण (Adam Smith's Classification)—एडम स्मिथ के अनुसार सार्वजनिक आय को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(क) **प्रत्यक्ष आय** (Direct Revenue)—इससे अभिप्राय उस आय से है जो सरकार को सार्वजनिक उद्योगों, उपहारों एव जब्तियो (forfeitures) से उपलब्ध होती है। **(ख) व्युत्पन्न आय** (Derivative Revenue)— इससे अभिप्राय उस आय से है जो सरकार को करो शुल्कों, जुर्मानो आदि से प्राप्त होती है। **(ग) प्रत्याशित आय** (Anticipatory Revenue)—इससे अभिप्राय उस आय से है जो सरकार को राजकोषीय विपत्रो (treasury bills) तथा अन्य प्रकार के ऋणों से प्राप्त होती है।

(2) प्रो० सैलिगमैन का वर्गीकरण (Prof Seligman's Classification)—प्रो० सैलिगमैन ने सार्वजनिक आय को तीन भागो मे विभाजित किया है—(क) **निःशुल्क आय** (Gratuitous Revenue)—इससे अभिप्राय उन सभी प्रकार के उपहारो, चन्दो आदि से है जो सरकार को बिना माँग किये लोगो द्वारा स्वेच्छा से दिये जाते है। इनके लिए सरकार लोगो पर किसी प्रकार का दबाव नही डालती। उदाहरणार्थ, युद्ध के समय लोगो द्वारा दिये गये ऐच्छिक चन्दे इसी श्रेणी मे सम्मिलित किये जा सकते हैं। **(ख) व्यापार द्वारा आय** (Contractual Revenue)—इससे अभिप्राय उस आय से है जो सरकार को सरकारी उद्योगो, मकानो एव भूमि से प्राप्त होती है। **(ग) अनिवार्य आय** (Compulsory Revenue)—इससे अभिप्राय उन करो से है जो सरकार अनिवार्य रूप मे नागरिको से एकत्रित करती है। कोई भी नागरिक इस प्रकार के करो को चुकाने म इन्कार नहीं कर सकता।

(3) प्रो० बेस्टेबिल का वर्गीकरण (Prof Bastable's Classification)—प्रो० बेस्टेबिल ने सार्वजनिक आय को दो भागो म विभाजित किया है - पहले भाग मे, वह उस आय को सम्मिलित करते है जो सरकार को एक बडा कॉरपोरेशन होने के नाते उपलब्ध होती है। इस प्रकार की आय और एक साधारण व्यापारिक फर्म की आय मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। दूसरे भाग म प्रो० बेस्टेबिल उस आय को सम्मिलित करते है जो सरकार अपनी राजनीतिक सत्ता (political power) के कारण लोगो से वसूल करती है। ऐसे करो को इसी श्रेणी मे सम्मिलित किया जा सकता है।

(4) प्रो० लुट्ज का वर्गीकरण (*Prof Lutz's Classification*)—प्रो० लुट्ज के अनुसार सार्वजनिक आय को छह भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(क) व्यापारिक आय, (ख) कर, (ग) प्रबन्ध सम्बन्धी आय, (घ) मौद्रिक अनुदान, (ड) सार्वजनिक ऋण और (च) बहीखाता सम्बन्धी आय।

उपर्युक्त वर्गीकरणो के अध्ययन से स्पष्ट है कि सार्वजनिक आय के आठ मुख्य साधन हैं—(1) कर, (2) शुल्क, (3) कीमत, (4) विशेष कर-निर्धारण, (5) जुर्माना, (6) उपहार, (7) महसूल, और (8) सरकारी सम्पत्ति।

(1) **कर** (Tax)—कर से अभिप्राय उस अनिवार्य भुगतान से होता है जो सरकार द्वारा अपने कार्यों का व्यय चलाने के लिए लोगो से वसूल किया जाता है। प्रो० डाल्टन के शब्दो मे कर किसी सार्वजनिक अधिकरण द्वारा लगाया गया एक अनिवार्य अशदान होता है। यह आवश्यक नही कि करदाता को कर के बदले म निश्चित मात्रा मे सेवाएँ प्राप्त हो और न ही कर किसी कानूनी अपराध की सजा के रूप मे लगाया जाता है। यदि प्रो० डाल्टन की इस परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो इसमे तीन मुख्य बातें पायी जायेंगी। **प्रथम**, कर एक अनिवार्य भुगतान (Compulsory payment) होता है, ऐच्छिक (optional) नही। दूसरे शब्दो मे, जब कर लगाया जाता है तो लोगो को इसे चुकाना ही पडता है और यदि वे इसे चुकाने मे आनाकानी करते है तो इसके लिए उन्हे दण्डित भी किया जा सकता है। **दूसरे**, करदाता कर के बदले मे सरकार से किसी विशेष व्यक्तिगत लाभ की माँग नहीं कर सकता, अर्थात् कर चुकाने के बदले करदाता को सरकार की ओर से कोई विशेष लाभ प्रदान नही किया जाता। कोई भी करदाता कर चुकाने से इस आधार पर इन्कार नही कर सकता कि उसके बदले मे उसे कोई लाभ प्राप्त नही होता। **तीसरे**, करदाता द्वारा चुकाये गये कर तथा सरकारी व्यय से उत्पन्न होने वाले लाभ के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नही होता। इसके विपरीत, सरकार कर द्वारा आय प्राप्त करके इससे सभी नागरिको की समान रूप से सेवा करती है।

(2) **शुल्क** (Fee)—**शुल्क से अभिप्राय उस भुगतान से होता है जो सरकार उन नागरिको से वसूल करती है जिनके लिए वह कुछ विशेष प्रकार की सेवाएँ करती है, अर्थात शुल्क नागरिको द्वारा किसी विशेष सरकारी सेवा के बदले ही चुकाया जाता है।** स्मरण रहे कि शुल्क सभी नागरिको द्वारा नही चुकाया जाता। शुल्क तो केवल उन्ही नागरिको द्वारा चुकाया जाता है जो सरकार द्वारा प्रदान की गयी सेवाओ का लाभ उठाते है। उदाहरणार्थ, लाइसेंस फीस केवल उन्ही नागरिको से वसूल की जाती है जो सरकार से लाइसेंस प्राप्त करते हैं। कर और शुल्क मे तीन मुख्य अन्तर है—*प्रथम* कर नागरिको द्वारा सार्वजनिक हित के लिए दिया जाता है जबकि शुल्क सरकार द्वारा की गयी किसी सेवा के बदले चुकाया जाता है। **दूसरे**, शुल्क नागरिको द्वारा तभी दिया जाता है जब वे सरकार द्वारा की गयी सेवाओ का लाभ उठाते है किन्तु कर तो नागरिको को अनिवार्यत देना पडता है चाहे उसके बदले उन्हे लाभ प्राप्त हो अथवा नही। **तीसरे**, शुल्क तथा लाभ म आपसी सम्बन्ध होता है। प्राय शुल्क लाभ की मात्रा के अनुसार ही निश्चित किया जाता है। परन्तु कर और लाभ मे किसी प्रकार का कोई आपसी सम्बन्ध नही होता।

(3) **कीमत** (Price)—आधुनिक सरकारें कई प्रकार की वस्तुओ एव सेवाओ का विक्रय करती हैं। **इन सेवाओ एव वस्तुओ के बदले सरकार को प्राप्त होने वाले भुगतान को कीमत कहते हैं।** उदाहरणार्थ सरकार नागरिको से रेल तथा बसो के भाडे वसूल करती है और इनके बदले उन्हे परिवहन सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करती है। कीमत केवल उन्ही नागरिको को चुकानी पडती है जो सरकार द्वारा की गयी किन्ही विशिष्ट सेवाओं का लाभ उठाते हैं। इस प्रकार कीमत और लाभ मे स्पष्ट सम्बन्ध होता है। नागरिको द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा के अनुसार ही कीमत निश्चित की जाती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि शुल्क एव कीमत मे अन्तर क्या है? वैसे तो ये दोनो ही सरकार द्वारा की गयी सेवाओ के बदले लिए जाते है। किन्तु जहाँ शुल्क गैर-आर्थिक सेवाओ (non economic services) के बदले लिया जाता है, वहाँ कीमत सरकार द्वारा केवल आर्थिक सेवाओं के बदले ही ली जाती है।

कीमत और कर म भी अन्तर होता है। कर सार्वजनिक लाभ के लिए लिये जाते है जबकि कीमत नागरिकों से किसी विशेष सेवा के बदल ली जाती है। **दूसरे**, कर मे अनिवार्यता (compul-

sion) का अंश होना है अर्थात कर सभी नागरिकों को अनिवार्य रूप से चुकाने पड़ते है। इसके विपरीत, कीमत में अनिवार्यता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। कीमत तो केवल उन्ही व्यक्तियो द्वारा चुकायी जाती है जो सरकार द्वारा की गयी आर्थिक सेवाओ का लाभ उठाते है।

(4) **विशेष कर-निर्धारण (Special Assessment)—किसी स्थान विशेष के निवासियों द्वारा उनको दी गयी विशेष सुविधाओं के बदले में जो भुगतान सरकार को दिया जाता है, उसे विशेष-कर निर्धारण कहते हैं।** उदाहरणार्थ, यदि नगरपालिका पक्की सडकें बनवाती है, या किसी विशेष स्थान पर जल तथा बिजली की व्यवस्था करती है जिसके फलस्वरूप उस स्थान पर जायदाद का विशेष मूल्य बढ़ जाता है तो नगरपालिका उस स्थान के निवासियों पर विशेष कर लगा सकती है। इसका कारण यह है कि नगरपालिका द्वारा दी गयी सुविधाओं के फलस्वरूप उस स्थान मे स्थित जायदाद एव सम्पत्ति की कीमत बढ़ जाती है। परिणामत वहाँ के लोगो को अनार्जित लाभ (unearned increment) प्राप्त होता है। अत यह न्यायसगत ही है कि उस अनार्जित लाभ मे से कुछ अश नगरपालिका को भी विशेष कर के रूप मे दिया जाय, क्योकि उसके द्वारा दी गयी सुविधाओ के कारण ही सम्पत्ति का मूल्य बढ़ा।

(5) **जुर्माना (Fines)**—सरकार प्राय उन व्यक्तियो से जुर्माने भी वसूल करती है जो समय-समय पर सरकारी नियमो का उल्लघन करते हैं। जुर्माने का उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि लोगो को कानून तोडने से हतोत्साहित करना होता है। इस स्रोत से सरकार को बहुत ही साधारण आय प्राप्त होती है।

(6) **उपहार *(Gifts)***—*कभी-कभी सरकार को उपहारो के रूप मे भी कुछ आय उपलब्ध* होती है परन्तु इसकी मात्रा बहुत ही सीमित होती है। वास्तव मे, आधुनिक सरकारो की आय का यह मुख्य साधन नही माना जाता।

(7) **महसूल (Duties)**—महसूल प्राय ऐसी वस्तुओ पर लगाये जाते है जिनके उपभोग से सामाजिक हानि होती है। उदाहरणार्थ, शराब, अफीम आदि पर लगाये गये महसूल इसी श्रेणी मे रखे जा सकते है। इसका मुख्य उद्देश्य आय कमाना नही, बल्कि इन वस्तुओ के उपभोग को निरुत्साहित करना है।

(8) **सरकारी सम्पत्ति (Government Property)**—आधुनिक सरकारें अपनी सम्पत्ति से पर्याप्त आय प्राप्त करती हैं। उदाहरणार्थ, खानो की रायल्टी, जगलात के ठेको तथा भूमि के किरायो से उपलब्ध होने वाली आय इस श्रेणी मे रखी जा सकती है।

करारोपण के सिद्धान्त
(Canons of Taxation)

जैसा हम ऊपर देख चुके है, करारोपण सरकार की आय का मुख्य साधन है। अब हम यह देखेंगे कि कर लगाते समय सरकार को किन-किन सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना पडता है। अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ (Adam Smith) ने चार प्रमुख सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है जो निम्नलिखित हैं

(1) **समता का सिद्धान्त (Canon of Equity)**—एडम स्मिथ के शब्दो मे, "प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा को अपनी योग्यता के अनुपात मे सरकार को कर देना चाहिए।" दूसरे शब्दो मे, राज्य-व्यय के लिए सरकार को प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुपात मे ही कर लेना चाहिए। किन्तु एडम स्मिथ के उपर्युक्त शब्दो मे कुछ अस्पष्टता पायी जाती है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के अर्थ के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो में कुछ मतभेद पाया जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि उपर्युक्त शब्दो से एडम स्मिथ का अभिप्राय आनुपातिक करारोपण (Proportional Taxation) से था, अर्थात उनके अनुसार एडम स्मिथ आनुपातिक करारोपण के समर्थक थे। अपने इस मत के समर्थन मे इन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि स्मिथ ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा मे 'अनुपात' शब्द पर बहुत ज़ोर दिया है। अत उनका विचार है कि एडम स्मिथ आनुपातिक करारोपण का ही समर्थन करना चाहते थे। परन्तु अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री इस विचार से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि एडम स्मिथ का स्पष्ट सकेत आरोही करारोपण (Progressive

Taxation) की ओर था। इस सम्बन्ध मे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nations) मे एडम स्मिथ ने स्पष्टत लिखा है, "धनी व्यक्तियो द्वारा कर अपनी आय के अनुपात मे नही, बल्कि अनुपात से अधिक देना उचित होगा।" अत इन शब्दो से स्पष्ट हो जाता है कि एडम स्मिथ आरोही कराधान के ही समर्थक थे।

(2) **निश्चितता का सिद्धान्त** *(Canon of Certainty)—इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए स्मिथ ने लिखा है, करदाता को जो कर चुकाना आवश्यक है, वह निश्चित होना चाहिए* मनमाना (arbitrary) नही। करदाता को इस बात की सही-सही जानकारी होनी चाहिए कि उसे कितना कर, किस समय तथा किस रूप मे चुकाना है। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक कर मे निश्चितता का गुण होना चाहिए, अर्थात प्रत्येक करदाता को पहले से ही यह पता होना चाहिए कि उसे कितना कर चुकाना है। यदि कर मे निश्चितता है तो कर अधिकारी (Tax official) करदाता का किसी तरह से शोषण नही कर सकता। इसी प्रकार यह भी निश्चित होना चाहिए कि करदाता को कर किस समय चुकाना है और किस रूप मे चुकाना है। कर की इस निश्चितता से करदाता एव सरकार दोनो को ही लाभ होता है। यदि कर निश्चित है तो करदाता पहले से ही उसके चुकाने की व्यवस्था कर सकता है। इसी प्रकार यदि कर निश्चित है तो सरकार को भी पहले से ही पता चल सकता है कि उसे कर से कितनी आय प्राप्त होने वाली है। एडम स्मिथ ने तो कराधान मे समता (equity) की अपेक्षा निश्चितता (certainty) को अधिक महत्व दिया था, क्योकि निश्चितता के कारण करदाता द्वारा कर के भार की चुभन (pinch) को अनुभव नही किया जाता इसलिए यह कहा जाता है कि पुराना कर कोई कर नही होता (An old tax is no tax)। इसका कारण स्पष्ट है। करदाता प्राय पुराने कर के आदी हो जाते है। परिणामत वे इसकी चुभन को महसूस नही करते।

(3) **सुविधा का सिद्धान्त** (Canon of Convenience)— इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर को इस ढग से तथा ऐसे समय पर लगाना चाहिए कि करदाता को अधिक से अधिक सुविधा मिल सके। *इस सिद्धान्त के अनुसार चूंकि करदाता चुकाते समय त्याग (sacrifice) करता है,* अत सरकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसे किसी प्रकार की असुविधा न हो। यही कारण है कि आधुनिक सरकारे कर वसूली करते समय करदाताओ की सुविधा की ओर विशेष ध्यान देती है। उदाहरणार्थ भारत सरकार वेतनभोगी करदाताओ से आय कर प्रत्येक माह की पहली तारीख को एकत्रित कर लेती है क्योकि उस समय करदाताओ के लिए आय-कर चुकाने मे कठिनाई नही होती। इसी प्रकार भारत मे किसानो से भूमि-कर (Land Revenue) दो किश्तो मे उस समय एकत्रित किया जाता है जबकि व फसलो की कटाई के बाद उसे चुकाने की स्थिति मे होते है।

(4) **मितव्ययता का सिद्धान्त** (Canon of Economy)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार का होना चाहिए कि करदाताओ से वसूल की जाने वाली रकम का अधिकतम भाग सरकारी कोष म जमा हो सके। दूसरे शब्दो म कर-सग्रह (Tax Collection) की लागत न्यूनतम होनी चाहिए। *यदि किसी कर से प्राप्त होने वाली आय का अधिकाश उसकी वसूली पर ही व्यय हो जाता है तो इस प्रकार का कर अच्छा कर नही माना जा सकता। अत जहाँ* तक सम्भव हो सरकारी कोष मे उतनी ही रकम आनी चाहिए जितनी कि करदाताओ से वसूल की गयी है।

एडम स्मिथ के उपर्युक्त मितव्ययता सिद्धान्त का कुछ अर्थशास्त्रियो ने दूसरा अर्थ भी लगाया है। उनके अनुसार यदि कोई कर देश की उत्पादन-शक्ति अर्थात व्यापार एव उद्योग धन्धो पर बुरा प्रभाव डालता है तथा लोगो की बचत शक्ति को निरुत्साहित करता है तो इस प्रकार का कर मितव्ययी (economical) नही माना जा सकता। उदाहरणार्थ भारतीय आय कर मितव्ययता की दृष्टि से एक अच्छा कर नही है क्योकि इससे उद्योग धन्धो पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

कराधान के अन्य सिद्धान्त
(Other Canons of Taxation)

एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त चार सिद्धान्तो के अतिरिक्त अर्थशास्त्रियो ने कुछ अन्य सिद्धान्तो का भी उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है

(1) **लोचकता का सिद्धान्त (Canon of Elasticity)**—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर मे लोच का अश होना चाहिए अर्थात इसमे देश की आवश्यकताओ के अनुसार घटने-बढने की शक्ति होनी चाहिए। उदाहरणार्थ यदि सकट के समय सरकार को अधिक आय की आवश्यकता पडती है तो कर की दर को बढाकर अधिक आय प्राप्त करना सम्भव होना चाहिए। आय कर मे यह गुण विशेष तौर पर पाया जाता है। युद्ध के समय सरकार आय कर की दर को बढाकर अथवा इसके ऊपर सरचार्ज (surcharge) लगाकर अपनी आय बढा लेती है।

(2) **उत्पादकता का सिद्धान्त (Canon of Productivity)**—इस सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार का होना चाहिए कि इससे सरकार का पर्याप्त आय उपलब्ध हो सके। यदि किसी कर से सरकार को थोडी सी आय प्राप्त होती है तो इस प्रकार के कर को उत्पादक कर नही माना जा सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार बहुत से अनुत्पादक कर लगाने के बजाय सरकार को केवल थोडे-से उत्पादक कर लगाकर ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। इसका कारण यह है कि बहुत से अनुत्पादक कर लगाने से परेशानी तो बढ जाती है किन्तु आय म कोई विशेष वृद्धि नही होती। इस सिद्धान्त का यह भी अर्थ लगाया गया है कि कर का समाज की उत्पादन शक्ति एव बचत शक्ति पर बुरा प्रभाव नही पडना चाहिए। यदि कोई कर उत्पादन शक्ति एव बचत शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है तो ऐसे कर का लगाना समाज के लिए हानिकारक होगा।

(3) **अनेकरूपता का सिद्धान्त (Canon of Variety)**—फिजियोक्रेट्स (Physiocrats) के कथनानुसार सरकार का केवल एक ही कर अर्थात भूमि-कर लगाना चाहिए किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इससे सहमत नही है। उनके अनुसार देश की कर प्रणाली म कई प्रकार के करो का सम्मिश्रण होना चाहिए अर्थात कर प्रणाली म व्यक्तिगत एव वस्तु-कर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर सभी प्रकार के करो का सम्मिश्रण होना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि सरकार द्वारा एक ही कर लगाया जाता है तो करदाताओ के लिए उससे बच सकना सरल हो जाता है। किन्तु यदि कई प्रकार के कर लगाये जाते है तो उनके लिए इनसे बचना कठिन होता है। परिणामत प्रत्येक करदाता अपनी चुकाने की योग्यता के अनुसार ही सरकार को कर चुकाता है।

(4) **सरलता का सिद्धान्त (Canon of Simplicity)**—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर सरल एव सादा होना चाहिए ताकि प्रत्येक करदाता विशेषज्ञो (Experts) की सहायता के बिना ही उसे समझ सकने मे समर्थ हो सके। यदि कर सरल है तो फिर प्रत्येक करदाता आसानी से समझ जायगा कि उसे कितना कर चुकाना है। इसके विपरीत यदि कर पेचीदा है तो इसे समझने के लिए वकीलो आदि की सहायता लेनी पडेगी। इसके साथ ही भ्रष्टाचार के अवसर भी बढ जायगे। दुर्भाग्यवश इस दृष्टि से भारतीय आय-कर कोई अधिक वाछनीय कर नही है क्योकि इसकी जटिलताओ के कारण साधारण व्यक्तियो के लिए इसे समझना कठिन है।

(5) **वाछनीयता का सिद्धान्त (Canon of Expediency or Desirability)**—इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कर किसी ऐसे आधार पर लगाया जाना चाहिए जिससे उसका औचित्य स्वय ही सिद्ध हो जाय। दूसरे शब्दो मे, करदाताओ को कर के औचित्य के बारे मे सन्देह नही होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से नये करो की अपेक्षा पुराने कर अधिक अच्छे समझे जाते है क्योकि लोग पुराने करो का चुकाने के आदी होते हैं। अत जब तक कोई समुचित आधार न हो सरकार को नया कर नही लगाना चाहिए और न ही पुराने कर की वृद्धि करनी चाहिए। प्रजातान्त्रिक देशो मे तो कराधान के इस सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कोई भी कर प्रणाली उक्त सभी सिद्धान्तो का पालन नही कर सकती। किसी कर प्रणाली मे तो किसी सिद्धान्त को महत्त्व दिया जाता है और किसी अन्य प्रणाली मे किसी अन्य सिद्धान्त को। वास्तव मे आज तक किसी ऐसी कर प्रणाली का आविष्कार नही किया जा सका है जो उपरोक्त सभी सिद्धान्तो की सतुष्टि करती हो। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह कहना उचित ही होगा कि सरकार को अपनी कर प्रणाली का निर्माण करते समय उपर्युक्त सिद्धान्तो को ध्यान मे रखना चाहिए क्योकि ऐसा करने से ही अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति हो सकती है।

करों का वर्गीकरण
(Classification of Taxes)

करो का वर्गीकरण तीन मुख्य आधारो पर किया जाता है (क) आनुपातिक आरोही अवरोही तथा अधोगामी (ख) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष (ग) विशिष्ट तथा मूल्यानुसार।

(क) आनुपातिक कर (Proportional Tax)—आनुपातिक कर के अन्तगत सभी प्रकार की आय पर कर समान दर पर लगाया जाता है। आय चाहे थोडी हो अथवा अधिक परन्तु कर की दर एक ही होती है। उदाहरणार्थ यदि कर की दर 5 प्रतिशत है तो 100 रुपये की आय वाले व्यक्ति को 5 रुपये 200 रुपये की आय वाले व्यक्ति को 10 रुपये तथा 300 रुपये की आय वाले व्यक्ति को 15 रुपये कर के रूप में देने पडेंगे। इस प्रकार आय के घटने अथवा बढने में कर की दर में कोई परिवर्तन नहीं होता। आनुपातिक कर के कई गुण है

1 आनुपातिक कर अत्यन्त सरल एव सादा होता है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी उन्हे बिना किसी कठिनाई के समझ सकता है।

2 आनुपातिक करो के अधीन प्रत्येक करदाता अपने द्वारा चुकायी जाने वाली कर की रकम का अनुमान आसानी से लगा सकता है।

3 आनुपातिक करो के फलस्वरूप समाज के धन के वर्तमान वितरण में कोई परिवर्तन नही होता क्योकि प्रत्येक करदाता को एक समान दर पर ही कर चुकाना पडता है।

इसके विपरीत आनुपातिक करो में दो मुख्य दोष भी पाये जाते है।

(1) आनुपातिक करो के कारण अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर कर का भार अधिक पडता है। इसका कारण यह है कि जब किसी व्यक्ति की आय बढ जाती है तो उसकी मुद्रा से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता कम हो जाती है। दूसरे शब्दो में अमीरो की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है जबकि गरीबो की मुद्रा से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है। यदि अमीरो तथा गरीबो पर एकसमान दर से कर लगाया जाता है तो स्पष्ट है कि अमीरो की अपेक्षा गरीबो को अधिक त्याग करना पडेगा। इस प्रकार त्याग तथा समानता की दृष्टि से आनुपातिक कर प्रणाली उचित नही मानी जा सकती।

(2) आनुपातिक कर धन की वर्तमान वितरण सम्बन्धी विषमताओ को कम नही करते बल्कि उन्हे ज्यो का त्यो बनाये रखते है। इसीलिए ये न्यायपूर्ण नही माने जा सकते है।

आरोही (प्रगतिशील अथवा वर्द्धमान) कर (Progressive Tax)– इस कर में आय की वृद्धि के साथ-साथ कर की दर में वृद्धि होती चली जाती है। इस कर की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ—**प्रथम** इसमे कर माफी (Tax Exemption) की सीमा निश्चित कर दी जाती है। वे सभी व्यक्ति जिनकी आय उस सीमा से कम होती है कर के भुगतान से मुक्त कर दिये जाते है। उदाहरणार्थ भारत में 10 000 रुपये वार्षिक से कम आय वाले व्यक्तियो को आय-कर से मुक्त कर दिया गया है। **दूसरे** आय की वृद्धि के साथ साथ कर की दर में भी वृद्धि होती चली जाती है। छोटी छोटी आय की अपेक्षा बडी बडी आय पर कर ऊँची दरो से लिया जाता है। उदाहरणार्थ करदाताओ की आय को कुछ कर शिलाओ (Tax slabs) में विभाजित कर दिया जाता है जैसे– 1000 रुपये तक की आय 2000 रुपये तक की आय 3000 रुपये तक की आय आदि। तदुपरान्त प्रत्येक कर शिला की एक दर निर्धारित कर दी जाती है। यह दर आय की वृद्धि के साथ-साथ बढती जाती है। चूंकि इस कर के अन्तगत आय को विभिन्न शिलाओ में विभाजित करके उन पर विभिन्न दरो पर कर लगाया जाता है इसलिए आरोही कर को कभी कभी क्रमवर्धी कर (Graduated Tax) भी कहते है।

आरोही कर के गुण—आज विश्व के प्राय सभी देशो में आरोही कराधान अत्यन्त लोकप्रिय हो चुका है। इसका कारण यह है कि आरोही कराधान से अनेक लाभ प्राप्त होते है।

(1) **यह कर चुकाने की योग्यता पर आधारित होता है**—यह कर करदाता की कर चुकाने की योग्यता पर आधारित होता है। कर चुकाने की योग्यता आय की वृद्धि के साथ-साथ बढती जाती है। इसीलिए आय की वृद्धि के साथ-साथ कर की दर में वृद्धि होती जाती है। चूंकि

यह कर "चुकाने की योग्यता" पर आधारित होता है, इसलिए करदाता के मन में किसी प्रकार का विरोध अथवा वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता।

(2) **धन के वितरण में समानता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत समाज में धन के वितरण को अधिक समान बनाया जा सकता है, क्योंकि धनी व्यक्तियों से निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ऊँची दरों पर कर वसूल किया जाता है। डॉ० मार्शल एवं प्रो० पीगू ने इसी आधार पर आरोही कराधान का समर्थन किया था।

(3) **आरोही कर उत्पादक होता है**—इस कर से सरकार अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि कर सकती है। संकटकालीन परिस्थितियों में सरकार कर की दर को बढ़ाकर अपनी आय बहुत अधिक मात्रा में बढ़ा सकती है। उदाहरणार्थ, भारत सरकार ने सुरक्षा पर बढ़े हुए व्यय को पूरा करने के लिए आय-कर की दर को बढ़ाकर अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि कर ली है।

(4) **आरोही कर कम खर्चीला होता है**—आरोही कर इस अर्थ में मितव्ययी होता है कि इसकी दरों को बढ़ाने से सरकार की आय में वृद्धि तो हो जाती है किन्तु इसको वसूल करने की लागत लगभग पूर्ववत ही रहती है।

(5) **यह कर लोचदार होता है**—यह कर लोचदार होता है, क्योंकि इसकी दरों में थोड़ी वृद्धि अथवा कमी करने से आय में बहुत वृद्धि अथवा कमी की जा सकती है।

(6) **नैतिक औचित्य**—नैतिक दृष्टि से भी यह कर उचित माना जाता है। जैसा विदित है, राजवित्त के सिद्धान्त के अनुसार सबसे शक्तिशाली कन्धों को सबसे अधिक बोझ उठाना चाहिए (The broadest shoulders should bear the heaviest burden)। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार निर्धनों की अपेक्षा धनिकों का कर का अधिक भार वहन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जिन व्यक्तियों की कर चुकाने की क्षमता अधिक है, उन्हें कर का अधिक भार वहन करना चाहिए। अतः आरोही कर नैतिक औचित्य पर आधारित है।

आरोही कर के दोष— इसके दोष निम्नलिखित है

(1) **कर लगाने में मनमानी** (Arbitrariness in Taxation)—इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत करों की दरें प्रायः मनमाने ढंग से निश्चित की जाती हैं। जब सरकार को संकट के समय अधिक आय की आवश्यकता पड़ती है तो वह मनमाने ढंग से कर की दरों को बढ़ा देती है।

(2) **बचतें निरुत्साहित होती है**—आरोही कर सदैव बचतों को निरुत्साहित करता है। इसका कारण यह है कि इसका भार प्रायः उन्हीं व्यक्तियों पर पड़ता है जो बचत करने की स्थिति में होते हैं। परिणामतः इससे देश में पूँजी संचय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) **कर-वंचन की गुंजाइश** (Scope for Tax-Evasion)—आरोही कर में प्रायः वंचन की बहुत गुंजाइश रहती है। करदाता कर अधिकारियों के सामने झूठा हिसाब-किताब पेश करके कर से बच निकलने की चेष्टा करते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी आरोही कराधान आज सर्वत्र लोकप्रिय हो गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके अन्तर्गत धन सम्बन्धी विषमताओं को दूर अथवा कम किया जा सकता है। यही कारण है कि डॉ० मार्शल तथा प्रो० पीगू जैसे महान अर्थशास्त्रियों ने सामाजिक न्याय के आधार पर इसका समर्थन किया था। प्रो० केन्ज ने भी अपने रोजगार सिद्धान्त (Theory of Employment) में *आरोही कर पर विशेष बल दिया था। आरोही कर की बढ़ती हुई लोकप्रियता* के कारण इस प्रकार है

(1) **'त्याग की समानता' का सिद्धान्त**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सभी करदाताओं द्वारा किये गये त्याग (sacrifice) में समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। चूँकि गरीबों की अपेक्षा अमीरों की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है इसलिए उन पर ऊँची दरों पर कर लगाया जाता है। इस प्रकार अमीरों तथा गरीबों द्वारा किये गये त्याग को समान बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

(2) **"कर चुकाने की योग्यता" का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की आय के बढ़ने के साथ साथ उसकी कर चुकाने की योग्यता में भी वृद्धि हो जाती है। यही कारण

है कि इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत गरीबो की अपेक्षा अमीरो पर अधिक ऊँची दर पर कर लगाया जाता है।

(3) **मितव्ययता एव उत्पादकता का सिद्धान्त**—आरोही कराधान इस सिद्धान्त की भी सन्तुष्टि करता है। यह न केवल मितव्ययी, बल्कि उत्पादक भी होता है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ इस कर से उपलब्ध होने वाली आय स्वय ही बढती जाती है।

उपर्युक्त कारणो से आरोही कराधान आज विश्व के सभी देशो की कर प्रणालियो का अभिन्न अग बन गया है।

आरोही (प्रतिगामी) कर (Regressive Tax)—यह कर आरोही कर-प्रणाली के बिलकुल विपरीत होता है। अवरोही कर के अन्तर्गत धनी व्यक्तियो की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियो से ऊँची दरो पर कर वसूल किया जाता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढती जाती है, वैसे-वैसे कर की दर घटती जाती है। इस प्रकार इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत निर्धनो पर कर-भार अधिक और धनिको पर कर-भार कम पडता है। यह कर-प्रणाली न्यायसगत नही है। इसलिए इसे सर्वत्र त्याग दिया गया है। कुछ वर्ष पूर्व भारत मे नमक पर लगाया गया कर अवरोही कर का एक उदाहरण था, क्योकि इसका भार धनिको की अपेक्षा गरीबो पर अधिक पडता था।

अधोगामी कर (Degressive Tax)—इस प्रकार का कर एक निश्चित सीमा तक तो प्रगतिशील होता है परन्तु उसके बाद यह आनुपातिक कर बन जाता है। दूसरे शब्दो मे एक निश्चित सीमा तक तो कर की दर आय वृद्धि के साथ बढती जाती है किन्तु उस सीमा के उपरान्त कर की दर सभी प्रकार की आय के लिए एक समान हो जाती है। इस प्रकार अधोगामी कर आरोही तथा आनुपातिक कर का सम्मिश्रण होता है। इस कर का यह परिणाम होता है कि अधिक आय वाले व्यक्तियो को कम आय वाले व्यक्तियो की अपेक्षा कम त्याग (sacrifice) करना पडता है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Tax)—करो को प्राय दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है—(क) प्रत्यक्ष कर, (ख) अप्रत्यक्ष कर।

(क) प्रत्यक्ष कर (Direct Tax)—**अप्रत्यक्ष कर यह कर होता है जिसका भार वही व्यक्ति वहन करता है जिस पर कि वह लगाया जाता है।** इसका भार अन्य किसी व्यक्ति पर नही डाला जा सकता है। उदाहरणार्थ, आय-कर एक प्रत्यक्ष कर है और इसका भार उसी व्यक्ति द्वारा वहन किया जाता है जो इसे चुकाता है।

(ख) अप्रत्यक्ष कर (Indirect Tax)—**अप्रत्यक्ष कर वह कर होता है जो एक व्यक्ति द्वारा चुकाया जाता है किन्तु जिसका भार दूसरे व्यक्ति द्वारा वहन किया जाता है।** वह व्यक्ति जो प्रथमत कर को चुकाता है वह इसके भार को दूसरे व्यक्ति के कन्धो पर डाल देता है। उदाहरणार्थ, मोटर कार पर लगाया गया कर प्रथमत आयातकर्ता द्वारा चुकाया जाता है पर अन्तत वह उसे ग्राहक के कन्धो पर डाल देता है। आयातकर्ता कर को मोटर कार के मूल्य मे सम्मिलित कर देता है तथा उसे ग्राहक से वसूल कर लेता है। इस प्रकार सभी अप्रत्यक्ष कर ग्राहको द्वारा वहन किये जाते है यद्यपि ये प्रथमत व्यापारियो द्वारा ही चुकाये जाते है।

कभी कभी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कर देयता (impact) और कर वाह्यता (incidence) शब्दो का प्रयोग किया जाता है। **अप्रत्यक्ष कर वह होता है जिसमे कर-देयता तथा कर-वाह्यता एक ही व्यक्ति पर होते हैं। इसके विपरीत, अप्रत्यक्ष कर वह कर होता है जिसमे कर देयता और कर वाह्यता अलग-अलग व्यक्तियो पर होते हैं।** कर की देयता उस व्यक्ति पर होती है जो इसे पहले चुकाता है किन्तु कर की वाह्यता उस व्यक्ति पर होती है जो अन्तत. इसके भार को वहन करता है। वह व्यक्ति जिस पर कर-देयता होती है उसके लिए यह आवश्यक नही कि वह कर भार को वहन भी करे। उदाहरणार्थ, आयात कर की देयता तो आयात कर्ता पर होती है, परन्तु आयात कर का भार उपभोक्ता पर ही पडता है। इसलिए आयात कर अप्रत्यक्ष कर होता है। इसके विपरीत, प्रत्यक्ष कर मे कर-देयता तथा कर वाह्यता दोनो एक ही व्यक्ति पर होते हैं। उदाहरणार्थ, आय कर एक अप्रत्यक्ष कर है, क्योकि इसे चुकाने वाला व्यक्ति ही इसके भार को वहन करता है।

प्रत्यक्ष करों के लाभ—ये निम्नलिखित हैं

(1) प्रत्यक्ष कर नागरिक जागरूकता उत्पन्न करते हैं—आय कर जैसा प्रत्यक्ष कर चुकाने वाले व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से चुभता है और वह तत्काल ही अपने अधिकारों के प्रति सजग हो जाता है। वह इस बात का भी ध्यान रखता है कि सरकार द्वारा करों से एकत्रित किये हुए धन का अपव्यय न हो और उसे फिजूल की योजनाओं पर व्यय न गँवाया जाय। परिणाम इससे सरकारी व्यय पर एक प्रकार का नियन्त्रण हो जाता है।

(2) प्रत्यक्ष कर किफायतपूर्ण (बचतपूर्ण) होते हैं—प्रत्यक्ष कर इस अर्थ में बचतपूर्ण होते हैं कि उनकी वसूल करने की लागत कम होती है। आय कर जैसा प्रत्यक्ष कर प्राय उद्गम (Source) पर ही वसूल कर लिये जाते हैं। उदाहरणार्थ वेतनभोगी व्यक्तियों पर लगाया गया आय-कर उनके वेतनों में से ही वसूल कर लिया जाता है।

(3) प्रत्यक्ष कर समतापूर्ण होते हैं—प्रत्यक्ष करों में समता का गुण पाया जाता है। इसलिए वे न्यायसंगत होते हैं। इनके अन्तर्गत कोई व्यक्ति जितना अधिक धनी होता है उतना ही वह कर का भार अधिक वहन करता है। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों की आय एक निश्चित सीमा से कम होती है उन पर कर का भार पड़ता ही नहीं है क्योंकि उन्हें कर भुगतान से मुक्त कर दिया जाता है।

(4) प्रत्यक्ष कर निश्चित होते हैं—प्रत्यक्ष करों के बारे में करदाताओं को पहले ही जानकारी हो जाती है कि उनसे कितना कर लिया जायगा तथा किस समय पर लिया जायगा। फलत वे इसके लिए पहले से ही पर्याप्त व्यवस्था कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष करों से सरकार को भी सुविधा रहती है क्योंकि इनकी निश्चितता के कारण सरकार इनसे प्राप्त होने वाली आय का सही अनुमान लगा सकती है।

(5) प्रत्यक्ष कर लोचदार होते हैं—प्रत्यक्ष करों में लोचकता का गुण भी पाया जाता है अर्थात आवश्यकता पड़ने पर उनसे अधिक आय प्राप्त की जा सकती है। संकटकाल में बढ़े हुए सरकारी व्यय को पूरा करने के लिए दरों की वृद्धि द्वारा करों से और अधिक आय प्राप्त की जा सकती है।

प्रत्यक्ष करों के दोष—ये दोष निम्नलिखित हैं

(1) प्रत्यक्ष कर असुविधापूर्ण होते हैं—इनका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि यह करदाताओं के लिए अत्यन्त असुविधापूर्ण होते हैं। कभी-कभी करदाता को कर की बड़ी रकम एक ही किश्त में चुकाने के लिए आदेश दिया जाता है जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। इसके अतिरिक्त कर दाता को कर अधिकारी की सन्तुष्टि के लिए विस्तृत रूप में अपना हिसाब किताब प्रस्तुत करना पड़ता है और कई प्रकार के पचीदा प्रपत्र भरने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय आय कर से व्यवसायियों को बहुत बड़ी असुविधा रहती है। यहाँ तक कि कर पद्धति भी उनको समझने के लिए विशेषज्ञों से परामर्श लेना पड़ता है।

(2) प्रत्यक्ष कर कभी-कभी गैर आर्थिक भी होते हैं—कुछ प्रत्यक्ष करों को वसूल करने की लागत बहुत ऊँची होती है विशेषकर उस अवस्था में जब करदाताओं की संख्या बहुत अधिक होती है और कर के रूप में वे छोटी-छोटी रकमें अदा करते हैं। उदाहरणार्थ भारत में भूमि कर अथवा मालगुजारी को वसूल करने की लागत बहुत ऊँची है। अत इसे मितव्ययी (Economical) नहीं कहा जा सकता।

(3) प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत कर वचन की सम्भावना रहती है—प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत कर वचन (Tax-evasion) की सदैव सम्भावना रहती है क्योंकि करदाता इस प्रकार के करों से आसानी से बच जाते हैं। उदाहरणार्थ भारत में अनेक व्यवसायी अपनी आय का ठीक ठीक हिसाब किताब न देकर आय कर से बच जाते हैं। उन पर या तो आय कर लगता ही नहीं और यदि लगता भी है तो बहुत कम दर पर। वास्तव में आजकल भारत में व्यापारियों द्वारा बड़े पैमाने पर आय कर की चोरी की जा रही है।

(4) प्रत्यक्ष कर प्राय मनमाने ढंग से लगाये जाते हैं—प्रत्यक्ष करों के विरुद्ध प्राय यह आपत्ति की जाती है कि वे सरकार द्वारा मनमाने ढंग से लगाये जाते हैं और उनकी दरों को

निर्धारित करते समय किसी निश्चित सिद्धान्त को ध्यान मे नही रखा जाता। इससे सामाजिक न्याय को ठेस पहुँचती है।

(5) **प्रत्यक्ष कर लोकप्रिय नही होते**—चूँकि प्रत्यक्ष कर करदाताओं द्वारा स्वयं ही चुकाये जाते है, इसलिए वे इनकी चुभन को प्रत्यक्ष रूप मे अनुभव करते हैं। यही कारण है कि प्रत्यक्ष कर अप्रत्यक्ष करो की तुलना मे कम लोकप्रिय होते है।

(6) **प्रत्यक्ष करो से गरीब लोग प्राय बच जाते हैं**—प्रत्यक्ष करो का भार प्राय अमीरो पर ही पडता है और गरीब उनसे लगभग पूर्णत मुक्त कर दिये जाते है। कुछ लोगो की दृष्टि मे यह उचित नही है, उनका कहना है कि राज्य-व्यय के भार का सभी नागरिको द्वारा अपनी-अपनी चुकाने की योग्यता के अनुसार वहन किया जाना चाहिए किन्तु प्रत्यक्ष करो के अन्तर्गत निर्धन-वर्ग अपना उचित अशदान (Contribution) करने से बच जाता है।

अप्रत्यक्ष करो के लाभ—ये निम्नलिखित हैं

(1) **अप्रत्यक्ष कर सुविधापूर्ण होते हैं**—अप्रत्यक्ष कर सामान्य वस्तुओ पर लगाये जाते है तथा वे उपभोक्ताओं द्वारा उस समय चुकाये जाते हैं जबकि वस्तुओं का क्रय किया जाता है। कर की रकम को वस्तु की कीमत मे सम्मिलित कर दिया जाता है तथा उपभोक्ता किसी चुभन को अनुभव किये बिना ही उसे चुका देता है। उपभोक्ता तो जानते ही नही कि वे कर चुका रहे है। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कर करदाताओ द्वारा उस समय दिये जाते है जबकि उनके पास उनको चुकाने के लिए पर्याप्त साधन होते है।

(2) **अप्रत्यक्ष करो का वचन नही किया जा सकता**—अप्रत्यक्ष करो से करदाता बच नही सकते, क्योकि वे उनसे खरीद की हुई वस्तुओ के लिए ऊँची कीमतो के रूप मे वसूल किये जाते है जब वस्तुएँ खरीदी जाती हैं, तब उन पर कर चुकाना ही पडता है। इसलिए ऐसे करो से बच निकलने की कोई सम्भावना नही होती।

(3) **अप्रत्यक्ष कर उत्पादक एव लोचदार** होते है—अप्रत्यक्ष कर जब गेहूँ तथा नमक जैसी जीवन की अनिवार्यताओ पर लगाये जाते है तब वहन लोचदार सिद्ध होते है। कर की दर को बढाने पर इनसे प्राप्त आय को बहुत बडी मात्रा मे बढाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ऐसे करो से प्राप्त होने वाली आय जनसख्या तथा उत्पादन की वृद्धि के साथ बढती है।

(4) **प्रत्यक्ष कर सामाजिक दृष्टिकोण से लाभकारी होते हैं**—शराब, अफीम गाँजा आदि नशीली वस्तुओ पर लगाये गये अप्रत्यक्ष कर उनके उपभोग को सीमित करते है जिससे समूचे समाज को लाभ होता है।

(5) **अप्रत्यक्ष कर समतापूर्ण होते है**—अप्रत्यक्ष करा द्वारा लोगा के सभी वर्गों से अशदान प्राप्त किया जा सकता है क्योकि सभी लोग वस्तुएँ खरीदते है। इसके अतिरिक्त विलासिता की वस्तुओ पर अप्रत्यक्ष कर लगाकर धनी वर्गों से भी उनका अशदान प्राप्त कर सकती है।

अप्रत्यक्ष करो के दोष—ये निम्नलिखित है

(1) **असमानता**—अप्रत्यक्ष कर प्राय सामान्य उपभोग की वस्तुओ पर लगाये जाते है और ऐसी वस्तुओ का उपभोग करने वाले निर्धन व्यक्ति को भी उतना ही चुकाना पडता है जितना कि एक धनी व्यक्ति को। स्पष्टत यह न्यायसगत नही है। इसलिए अप्रत्यक्ष कर एक प्रकार से अवरोही कर (regressive taxes) होते हैं।

(2) **अप्रत्यक्ष कर समाज मे आर्थिक असमानताओ को बढाते हैं**—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, अप्रत्यक्ष कर अधिकाशत अनिवार्यताओ पर लगाये जाते हैं। चूँकि एक निर्धन व्यक्ति धनी व्यक्ति की अपेक्षा अपनी आय का अधिकाश अनिवार्यताओ पर व्यय करता है इसलिए वह धनी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर-भार वहन करता है। परिणामत ये अवरोही कर बन जाते है और समाज मे आर्थिक असमानताओ को बढाने मे सहायक होते है।

(3) **अप्रत्यक्ष कर गैर-आर्थिक होते हैं**—अप्रत्यक्ष करो को वसूल करने की लागत ऊँची होती है। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कर के फलस्वरूप वस्तु का मूल्य कर के अनुपात से भी अधिक बढा दिया जाता जाता है। परिणामत साधारण जनता को इससे आर्थिक कष्ट होता है।

(4) अनिश्चितता—अप्रत्यक्ष करो से प्राप्त होने वाली आय सरकार द्वारा सही-सही आंकी नही जा सकती। जैसे ही किसी वस्तु पर कोई कर लगाया जाता है, वैसे ही उस वस्तु की कीमत बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप उसकी माँग मे कमी हो जाती है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वस्तु की माँग किस सीमा तक घट जायगी। अत कर से प्राप्त होने वाली आय अनिश्चित ही रहती है।

(5) अप्रत्यक्ष कर नागरिक जागरूकता उत्पन्न नही करते—चूंकि करदाता वस्तुओ को खरीदते समय यह अनुभव नही करते कि व कर चुका रहे है, इसलिए उनमे किसी प्रकार की नागरिक जागरूकता उत्पन्न नही होती। वे प्राय नागरिक कर्त्तव्यो के प्रति उदासीन रहते है तथा सरकार द्वारा की गयी वित्तीय अनियमितताओ (financial irregularities) पर कोई सजग दृष्टि नहीं रखते।

निष्कर्ष- -अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कर मे से कौन-सा श्रेष्ठ है। वास्तव म, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नही है। प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनो ही करो के गुण एव दोष होते है। 19वी शताब्दी मे अर्थशास्त्रियो द्वारा अप्रत्यक्ष करो पर अधिक जोर दिया जाता था, किन्तु अब 20वी शताब्दी मे अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रत्यक्ष करो पर अधिक बल दिया जा रहा है। वास्तव मे, एक अच्छी कर-प्रणाली मे प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनो ही करो का उचित सम्मिश्रण होना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से प्रत्यक्ष करो के दोष अप्रत्यक्ष करो के गुणो से दूर हो जाते है। फिर भी विकसित देशो मे प्रत्यक्ष करो पर जोर दिया जाता है जबकि पिछड़े हुए एव अर्द्ध-विकसित देशो मे अप्रत्यक्ष करो की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन (Gladstone) ने प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो की दो सुन्दर बहनो के साथ तुलना की है जिनमे किसी प्रकार का पक्षपात करना वह अनुचित समझते थे। उनके शब्दो मे यह केवल क्षम्य ही नही, बल्कि एक पुनीत कर्तव्य है कि इन दोनो बहनो का एक जैसा ही सत्कार किया जाय।

विशिष्ट तथा मूल्यानुसार कर—कभी-कभी करो का वर्गीकरण विशिष्ट करो तथा मूल्यानुसार करो म भी किया जाता है।

(क) विशिष्ट कर (Specific Tax)—जब किसी वस्तु पर उसके वजन के अनुसार अथवा उसकी इकाई के आकार के अनुसार कर लगाया जाता है, तब इसे विशिष्ट कर कहते है। उदाहरणार्थ, जब चीनी पर उत्पादन-कर प्रति क्विण्टल के हिसाब से लगाया जाता है अथवा कपडे पर उत्पादन-कर प्रति मीटर के हिसाब से लगाया जाता है, तब इसे विशिष्ट कर कहते है। विशिष्ट कर का मुख्य गुण यह है कि इसे वसूल करना आसान एव सुविधाजनक होता है, क्योकि यह वस्तु के वजन के अनुसार अथवा उसकी इकाई के आकार के अनुसार ही एकत्रित किया जाता है। किन्तु यह समता के सिद्धान्त का पालन नही करता, क्योकि अमीरो की अपेक्षा निर्धनो पर इसका बोझ अधिक पडता है। इसका कारण यह है कि अमीरो की अपेक्षा गरीबो की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है।

(ख) मूल्यानुसार कर (Ad-Valorem Tax)—जब किसी वस्तु पर उसके मूल्य के अनुसार कर एकत्रित किया जाता है, तब इसे मूल्यानुसार कर कहते हैं। इस कर के अन्तर्गत वस्तु का वजन एव आधार चाहे कुछ भी हो किन्तु कर उसके मूल्य के अनुसार ही लिया जाता है। आयात की गयी कई प्रकार की वस्तुओ पर आयात कर वजन के अनुसार नही, बल्कि वस्तु के मूल्य के अनुसार लिया जाता है। मूल्यानुसार कर का मुख्य गुण यह है कि इसका भार गरीबो की अपेक्षा अमीरो पर अधिक पडता है। अत इस दृष्टि से यह कर न्यायसगत है। परन्तु इस कर की मुख्य कठिनाई यह है कि इसे लगाते समय वस्तु के वास्तविक मूल्य को जानना कठिन होता है। प्राय व्यवसायी लोग कर से बचने के लिए बीजको (Invoices) मे वस्तु के मूल्य को कम करके दिखाते है। वास्तव म, विशिष्ट कर तथा मूल्यानुसार कर मे चयन करना कठिन है। एक अच्छी कर-प्रणाली मे इन दोनो को ही उचित स्थान दिया जाना चाहिए।

एक अथवा अनेक कर-प्रणाली
(Single Versus Multiple Tax System)

कर-प्रणाली प्राय दो प्रकार की होती है (क) एक कर-प्रणाली, (ख) अनेक कर-प्रणाली। **एक कर-प्रणाली वह प्रणाली होती है जिसके अन्तर्गत सरकार अपनी समूची आय केवल एक कर लगाकर ही प्राप्त करती है। इसके विपरीत, अनेक कर-प्रणाली वह प्रणाली होती है जिसमे सरकार की आय किसी एक कर से नहीं, बल्कि कई प्रकार के करों से प्राप्त होती है।** इस विषय पर अतीत काल मे अर्थशास्त्रियो मे बहुत मतभेद रहा है। उदाहरणार्थ, फिजियोक्रेट्स (Physiocrats) जैसे फ्रासीसी अर्थशास्त्रियो ने एक कर-प्रणाली का ही समर्थन किया था। उनके मतानुसार सरकार को तो केवल एक कर से ही अपनी समूची आय प्राप्त करनी चाहिए। एक कर-प्रणाली के समर्थको ने निम्नलिखित करो का भिन्न-भिन्न समयो पर समर्थन किया है

(1) **भूमि-कर** (Land-Tax)—फ्रासीसी अर्थशास्त्रियो (जिन्हे फिजियोक्रेट्स कहा जाता है) ने भूमि के आर्थिक लगान पर एकमात्र कर लगाने का सुझाव प्रस्तुत किया था। आगे चलकर उनके इस प्रस्ताव का समर्थन अमरीका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हेनरी जॉर्ज (Henry George) ने किया था। हेनरी जॉर्ज के मतानुसार सरकार को कर लगाकर भूमि का समूचा लगान अथवा भूमि के मूल्य मे होने वाली समूची अनर्जित वृद्धि (Unearned Increment) को ग्रहण कर लेना चाहिए। परन्तु भूमि-कर की एकाकी-कर प्रणाली मे कई दोष पाये जाते है—**प्रथम,** यदि भूमि पर ही कर लगाया जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका भूमि से नही कमाते वे कर से पूर्णत बच जायेंगे। **दूसरे,** इस प्रणाली के अनुसार कर का भार समाज के केवल एक वर्ग पर ही पड़ेगा, जबकि अन्य वर्ग इससे बिलकुल बच जायेंगे। नैतिक दृष्टि से यह उचित प्रतीत नही होता। **तीसरे,** भूमि के मूल्य मे समय-समय पर उतार-चढाव होते रहते है। अत यदि एकाकी भूमिकर के सुझाव को स्वीकार कर लिया जाता है, तो सरकार को कर लगाने से पूर्व प्रतिवर्ष भूमि का मूल्य ज्ञात करना पड़ेगा। इसमे कई प्रकार की कठिनाइयाँ हो सकती है। इसके अतिरिक्त, सरकार के लिए अनर्जित लाभ (Unearned Benefit) की मात्रा का अनुमान लगाना भी कठिन हो जायगा। **चौथे,** एकाकी भूमि-कर से सरकार को पर्याप्त आय उपलब्ध नही हो सकेगी और विवश होकर सरकार को अन्य कर लगाने ही पड़ेगे।

(2) **आय-कर** (Income Tax)—कुछ समाजवादी अर्थशास्त्रियो का सुझाव है कि सरकार का केवल लोगो की आय पर ही कर लगाना चाहिए, अर्थात सरकार को अपनी समूची आय केवल आय-कर से ही प्राप्त करनी चाहिए। इस सुझाव के समर्थन मे उनका कहना है कि इससे सरकार सभी प्रकार की आय वाले व्यक्तियो पर कर लगाकर पर्याप्त आय प्राप्त करने मे समर्थ हो जायगी। इसके अतिरिक्त, इससे कर के भार का वितरण भी प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी चुकाने की योग्यता के अनुसार किया जा सकेगा। परन्तु इस प्रकार के कर मे भी कई प्रकार के दोष पाये जाते है—**प्रथम,** छोटी छोटी आय वाले व्यक्तियो से आय-कर की वसूली करना कठिन होगा। इसके अतिरिक्त, कर-वसूली का व्यय भी बढ जायगा। **दूसरे,** इस प्रकार के कर से देश की बचतें निरुत्साहित होंगी जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तीसरे, कर-सग्रह से कुछ अन्य लाभपूर्ण साधन सरकार को उपलब्ध नही होगे, जैसे पूँजी कर एव उत्तराधिकार कर आदि।

(3) **सम्पत्ति-कर** (Property Tax)—कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि आय-कर के स्थान पर सरकार को केवल सम्पत्ति-कर ही लगाना चाहिए। किन्तु इस प्रकार के कर मे दो मुख्य दोष पाये जाते है—**प्रथम,** सम्पत्ति-कर केवल उन्ही लोगो पर लगाया जा सकता है जिनके पास सम्पत्ति होनी है। इस कर से बचने के लिए लोग सम्पत्ति एकत्रित करना ही बन्द कर देंगे। **दूसरे,** सम्पत्ति-कर लगाने के लिए सम्पत्ति का मूल्य जानना आवश्यक होता है। जैसा विदित है, सम्पत्ति का ठीक-ठीक मूल्याकन करना बहुत कठिन कार्य है।

वास्तव मे, एक कर-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण है कि आज की परिस्थितियो मे इसका अपनाया जाना कठिन ही नही, बल्कि असम्भव भी है। **प्रथम,** एक कर-प्रणाली के अन्तर्गत कर से बचना बहुत सरल हो जाता है जबकि अनेक कर-प्रणाली के अन्तर्गत करो से बचना इतना सरल

नहीं होता। दूसरे, एक कर-प्रणाली के अन्तर्गत सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय एकत्रित नहीं कर सकती। तीसरे, एक कर-प्रणाली के अन्तर्गत समाज में आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न हो जायेंगी जबकि अनेक कर-प्रणाली में इस प्रकार की सम्भावना बहुत कम रहती है। अत जैसा हम ऊपर कह चुके है, एक कर प्रणाली के अब अपनाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है। वास्तव में, आजकल विश्व के सभी देशों ने अनेक कर-प्रणाली को अपना रखा है। इस प्रणाली में, कुछ तो बड़े-बड़े कर होते हैं, जिनका भार धनी वर्गों पर पड़ता है और कुछ छोटे-छोटे कर होते हैं जिनका बोझ समाज के निर्धन वर्गों पर पड़ता है। अनेक कर-प्रणाली से कई प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। प्रथम, इसके अन्तर्गत कर वचन (Tax Evasion) को रोका जा सकता है। दूसरे, इसके अन्तर्गत अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सरकार पर्याप्त आय प्राप्त कर सकती है। तीसरे, इसके अधीन एक कर की बुराइयों को दूसरे करों के गुणों द्वारा दूर अथवा कम किया जा सकता है।

एक अच्छी कर-प्रणाली की विशेषताएँ
(Characteristics of a Good Tax System)

एक अच्छी कर-प्रणाली की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) **समता** (Equity)—एक अच्छी कर-प्रणाली में करों का जनता पर पड़ने वाला भार न्यूनतम होना चाहिए और इसके साथ देश के विभिन्न वर्गों पर इसका भार न्यायपूर्ण ढग से वितरित किया जाना चाहिए। सबसे चौड़े कन्धों पर सबसे अधिक बोझ पड़ना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करों का उचित सम्मिश्रण होना चाहिए। जैसा विदित हैं, प्रत्यक्ष करों का भार गरीबों की अपेक्षा अमीरों पर अधिक पड़ता है। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष करों का भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है। इस परिस्थिति में यदि इनमें से किसी एक—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष—कर की प्रधानता है तब देश की कर-प्रणाली न्यायसगत नहीं मानी जा सकती। अत कर-प्रणाली में समता स्थापित करने के लिए प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों का होना आवश्यक है।

(2) **उत्पादकता** (Productivity)—एक अच्छी कर-प्रणाली की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता उसकी उत्पादकता होती है। उत्पादकता के यहाँ पर दो अर्थ लगाये जाते हैं—**प्रथम**, देश की कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उससे सरकार को अपना व्यय पूरा करने के लिए पर्याप्त आय उपलब्ध हो सके। दूसरे कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उस देश की उत्पादन शक्ति पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े, अर्थात कर-प्रणाली यथासम्भव अधिक से अधिक मात्रा में उत्पादन-शक्ति को प्रोत्साहित करे।

(3) **लोचकता** (Elasticity)—एक अच्छी कर प्रणाली की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें पर्याप्त मात्रा में लोचकता का अश विद्यमान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसमें करों से उपलब्ध होने वाली आय को सरलता से घटाया-बढ़ाया जा सके। उदाहरणार्थ यदि सकटकाल में सरकार को अधिक आय की आवश्यकता पड़ती है तो करों की दरों में थोड़ी वृद्धि करके सरकार के लिए अधिक मात्रा में आय प्राप्त करना सम्भव होना चाहिए। विशेषकर युद्ध के समय तो कर-प्रणाली में लोचकता का होना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। कर-प्रणाली में लोचकता लाने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—**प्रथम**, उसमें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों का उचित सम्मिश्रण होना चाहिए। दूसरे, सरकार की आय के कुछ साधन केवल सकटकाल के लिए ही सुरक्षित रखने चाहिए अर्थात इन साधनों का प्रयोग केवल सकटकाल में ही किया जाना चाहिए।

(4) **सुविधा**—देश की कर-प्रणाली का निर्माण करते समय करदाताओं की सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। चूँकि करदाता कर चुकाते समय त्याग करते हैं, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उन्हें करों के परिणामस्वरूप किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कर-प्रणाली निश्चितता एव मितव्ययता के सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कर-प्रणाली इतनी सरल और सादा होनी चाहिए कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी विशेषज्ञों की सहायता के बिना इसे समझने में समर्थ हो सके।

(5) **कर-वचन का अभाव** (Absence of Tax-Evasion)—देश की कर-प्रणाली का

निर्माण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि उसमें कर-वचन की गुंजाइश न्यूनतम हो, अर्थात् कर-दाता करों से बच सकने में समर्थ न हो सके। दूसरे शब्दों में, कर-प्रणाली में सभी प्रकार के करों का समुचित सम्मिश्रण होना चाहिए। इससे कर-वचन की गुंजाइश स्वत ही कम हो जायेगी।

(6) **अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति**—डा० डाल्टन (Dr Dalton) के अनुसार सबसे बढ़िया कर-प्रणाली वह है जो अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित होती है। दूसरे शब्दों में, *कर-प्रणाली का उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना होना चाहिए।* अत इसके लिए आवश्यक है कि देश की कर-प्रणाली के कारण उत्पादन-शक्ति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि एक अच्छी कर-प्रणाली को यथासम्भव कराधान के सभी सिद्धान्तों की पूर्ति करनी चाहिए। वास्तव में, ऐसी कर प्रणाली का निर्माण करना कठिन है जो कराधान के सभी सिद्धान्तों की सन्तुष्टि करती हो। इसलिए सरकार का यह प्रयत्न होना चाहिए कि देश की कर-प्रणाली यथासम्भव अधिक से अधिक सिद्धान्तों की सन्तुष्टि करे।

करदान सामर्थ्य
(Taxable Capacity)

प्रत्येक देश के वित्तमन्त्री के लिए करदान सामर्थ्य का बहुत महत्त्व होता है। नये कर लगाते समय अथवा पुराने करों की दरों को बढ़ाते समय वित्तमन्त्री को देश की करदान सामर्थ्य को सदैव ध्यान में रखना पड़ता है। यदि कोई वित्तमन्त्री देश की करदान सामर्थ्य से अधिक कर लगाता है तो इससे लोगों में अवश्य ही असन्तोष फैल जायगा और वे इस प्रकार के प्रयास का कड़ा विरोध करेंगे। इसके विपरीत यदि कोई वित्तमन्त्री करदान सामर्थ्य से कम कर लगाता है तो स्पष्ट है कि वह सरकार को करों के रूप में मिलने वाली उचित आय से वंचित रखता है। अत ऐसी परिस्थिति में वित्तमन्त्री को देश की करदान सामर्थ्य के अनुसार ही कर लगाने चाहिए।

परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि करदान सामर्थ्य से अभिप्राय क्या है? वास्तव में, यह शब्द अर्थशास्त्रियों में विवाद का विषय रहा है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने करदान सामर्थ्य के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये हैं। अब हम विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा करदान सामर्थ्य की की गयी परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

(1) **प्रो० फिण्डले शिराज की परिभाषा**—फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) ने करदान सामर्थ्य की व्याख्या दो उप-शीर्षकों के अन्तर्गत की है—(क) निरपेक्ष करदान सामर्थ्य, (ख) सापेक्ष करदान सामर्थ्य। निरपेक्ष करदान सामर्थ्य (Absolute Taxable Capacity) से अभिप्राय कर-भार की उस मात्रा से है जो देश के आर्थिक संगठन द्वारा वहन की जा सकती है अर्थात् इसमें हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि देश में कर की कुल मात्रा कितनी होनी चाहिए। सापेक्ष करदान सामर्थ्य (Relative Taxable Capacity) से अभिप्राय एक देश की दूसरे देश की तुलना में सामुदायिक व्यय के लिए अंशदान करने की क्षमता से होता है।

करदान सामर्थ्य के उक्त दोनों अर्थों को ध्यान में रखते हुए प्रो० फिण्डले शिराज ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में की है, "करदान सामर्थ्य वह समूची बचत है जो कि उत्पादन में से उस न्यूनतम उपभोग को, जो कि इस उत्पादन को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, घटाकर उपलब्ध होती है, बशर्ते कि रहन-सहन के स्तर में कोई परिवर्तन न हो।" इस प्रकार प्रो० शिराज कुल उत्पादन में से न्यूनतम उपभोग को निकालकर करदान सामर्थ्य को प्राप्त करते हैं। किन्तु स्मरण रहे कि उनके अनुसार न्यूनतम उपभोग में दो चीजें सम्मिलित होती हैं—**प्रथम**, लोगों की न्यूनतम आजीविका। **दूसरे**, व्यापार एवं उद्योग की उन्नति के लिए पर्याप्त पूंजी की व्यवस्था। कुल उत्पादन में से इन दोनों मात्राओं को घटाकर ही करदान सामर्थ्य प्राप्त की जा सकती है।

(2) **प्रो० जोसाया स्टैम्प की परिभाषा**—जोसाया स्टैम्प (Josiah Stamp) के शब्दों में, "यह वह अधिकतम धन है जो किसी देश के लोग सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के हेतु अपने जीवन को नीरस एवं दुखी बनाये बिना तथा आर्थिक संगठन में उथल-पुथल किये बिना सरकार को देने के लिए तैयार हो जाते हैं।" प्रो० स्टैम्प की यह परिभाषा वैसे तो ठीक प्रतीत होती है किन्तु इसमें

थोड़ा-सा अनिश्चितता का अंश पाया जाता है। इसका कारण यह है कि "नीरस तथा दुखी जीवन" की कोई सही-सही माप उपलब्ध नहीं है।

(3) **प्रो० फ्रेजर की परिभाषा**—प्रो० फ्रेजर (Fraser) के अनुसार, "करदान सामर्थ्य उस समूचे आधिक्य द्वारा व्यक्त होती है जो उत्पादन और न्यूनतम उपभोग में (जो कि उस उत्पादन के लिए आवश्यक होता है) अन्तर के रूप में प्रकट होती है।" प्रो० स्टैम्प की परिभाषा की भाँति यह परिभाषा भी कुछ अनिश्चित-सी प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें न्यूनतम उपभोग का कोई विश्लेषण नहीं किया गया, अर्थात् प्रो० फ्रेजर ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं बताया है कि न्यूनतम उपभोग से अभिप्राय क्या है।

(4) **डॉ० डाल्टन की परिभाषा**—प्रो० शिराज की भाँति डॉ० डाल्टन (Dr Dalton) ने भी करदान सामर्थ्य को दो अर्थों में लिया है। प्रथम, किसी एक राष्ट्र की निरपेक्ष करदान सामर्थ्य। दूसरे, दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों की सापेक्षिक करदान सामर्थ्य। डा० डॉल्टन के अनुसार, किसी राष्ट्र की निरपेक्ष करदान सामर्थ्य को नापा नहीं जा सकता। अतः इसका अध्ययन महत्वहीन है। किन्तु डा० डॉल्टन के अनुसार सापेक्ष करदान सामर्थ्य से अभिप्राय तुलनात्मक कर देने की योग्यता से है। उनके कथनानुसार सापेक्षिक करदान सामर्थ्य को किसी न किसी तरह अवश्य ही नापा जा सकता है। डॉ० डाल्टन के शब्दों में "मेरा साधारण निष्कर्ष यह है कि तुलनात्मक करदान योग्यता एक यथार्थता है जो कि उचित रूप से दूसरे शब्दों में व्यक्त की जा सकती है परन्तु निरपेक्ष करदान योग्यता एक कल्पित कथा है जिसको स्वीकार करने से भयानक परिणाम निकल सकते है।"

(5) **प्रो० एलिंजर की परिभाषा**—प्रो० एलिंजर (Ellinger) ने करदान सामर्थ्य की परिभाषा इन शब्दों में की है "जब करदाताओं से इतना कर वसूल किया जाता है कि उनके उत्पादन का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है और जब आवश्यक पूँजी (जो कि घिसाई के कारण समाप्त हो चुकी है अथवा बढ़ती हुई जनसंख्या के नये श्रमिकों के लिए आवश्यक है) प्राप्त नहीं हो सकती तो हम समझ लेना चाहिए कि कराधान सीमा तक पहुँच चुका है। दूसरे शब्दों में जब कर-भार अधिकता के कारण व्यवसायियों का उत्साह क्षीण पड़ जाता है तथा घिसी हुई पूंजी परिसम्पत्ति का समुचित प्रतिस्थापन (Substitution) सम्भव नहीं होता, तब समझ लेना चाहिए कि सरकार लोगों की करदान सामर्थ्य के ठीक बराबर कर एकत्रित कर रही है।" प्रो० एलिंजर की यह परिभाषा भी पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है क्योंकि अन्य परिभाषाओं की भाँति यह भी अनिश्चित-सी प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि इस परिभाषा में करदान सामर्थ्य की परिसीमाओं का स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है।

(6) **भारतीय कराधान जाँच कमेटी की परिभाषा**—भारतीय कराधान जाँच कमेटी (Indian Taxation Enquiry Committee) ने करदान सामर्थ्य की परिभाषा इन शब्दों में की है, "करदान सामर्थ्य समता के सिद्धान्त की भाँति एक सापेक्षिक विचार है। आर्थिक दृष्टिकोण से समाज के विभिन्न वर्गों की करदान सामर्थ्य उनके कर चुकाने की उस सीमा में प्रदर्शित होती है, जिस पर पहुँचकर उत्पादन-कुशलता तथा प्रयास प्रायः क्षीण होने लगते हैं।" प्रो० एलिंजर की भाँति भारतीय कराधान जाँच कमेटी ने भी करदान सामर्थ्य की परिसीमाओं का वर्णन किया है और बताया है कि करदान सामर्थ्य की समूची राशि को करों के रूप में ग्रहण करने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ते है।

(7) **करदान सामर्थ्य के अन्य अर्थ**—करदान सामर्थ्य के दो अन्य अर्थ भी लगाये जाते हैं—**प्रथम**, करदान सामर्थ्य से अभिप्राय बिना कष्ट के कर देने की शक्ति से है। **दूसरे** करदान सामर्थ्य से अभिप्राय कष्ट की उपेक्षा करते हुए कर चुकाने की शक्ति से है। यदि हम करदान सामर्थ्य के प्रथम अर्थ को स्वीकार करते हैं तो उस दशा में देश की करदान सामर्थ्य शून्य के बराबर हो जायगी। इसका कारण यह है कि कोई भी कर ऐसा नहीं होता जिसको चुकाने में करदाता को कुछ न कुछ कष्ट न होता हो। यदि हम करदान सामर्थ्य के दूसरे अर्थ को स्वीकार करते है तो इससे करदाताओं की कर चुकाने की कोई भी अधिकतम सीमा नहीं रहेगी। इसका कारण यह है कि दूसरे अर्थ के अनुसार कर चुकाते समय करदाताओं द्वारा अनुभव किये गये कष्ट का ध्यान में नहीं रखा जाता है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि करदान सामर्थ्य की धारणा के बारे में अर्थशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। वास्तव में करदान सामर्थ्य की धारणा एक ऐसी धारणा है जिस पर अर्थशास्त्रियों में मतैक्य नहीं हो सकता। यह एक ऐसा अस्पष्ट विचार है कि इसको सही सही सीमांकित नहीं किया जा सकता। इसलिए डॉ० डाल्टन ने यह सुझाव दिया है कि राजवित्त के सभी गम्भीर विवेचनों में से करदान सामर्थ्य की धारणा को बाहर निकाल देना चाहिए।

ऐसा होते हुए भी करदान सामर्थ्य की सामान्य तौर पर इस प्रकार परिभाषा की जाती है, करदान सामर्थ्य से अभिप्राय उस बचत से है जो राष्ट्रीय आय में से कुल व्यय को घटा देने से प्राप्त होती है। कुल व्यय से यहाँ पर अभिप्राय लोगों की कार्यकुशलता एवं पूँजी परिसम्पत्ति की कार्यक्षमता को यथावत बनाये रखने पर किये गये व्यय से है। जब इस प्रकार के व्यय को कुल राष्ट्रीय आय से घटा दिया जाता है तो शेष करदान सामर्थ्य बच रहती है। सरकार इस प्रकार की बचत को पूर्णरूप में वसूल करने की अधिकारी होती है किन्तु व्यवहार में सरकार द्वारा इस बचत को करों में पूर्णरूप में ग्रहण नहीं किया जाता। इसके विपरीत सरकार इस बचत का कुछ अंश ही करों के रूप में लोगों से ग्रहण करती है। स्पष्ट है कि यदि सरकार इस बचत को पूर्णरूपेण ग्रहण कर लेती है तो इससे लोगों में निश्चय ही असन्तोष फैल जायगा। अतः लोगों को सन्तुष्ट रखने के लिए सरकार इस बचत का अंश ही करों के रूप में ग्रहण करती है।

किन्तु करदान सामर्थ्य के उक्त दृष्टिकोण को स्वीकार करने में भी दो मुख्य कठिनाइयाँ है— **प्रथम**, यह कैसे जाना जाय कि लोगों की कार्यक्षमता को यथावत बनाये रखने पर कितना व्यय आवश्यक है। **दूसरे**, यह जानना भी कठिन है कि पूंजी परिसम्पत्ति के मूल्य ह्रास की किस आधार पर व्यवस्था की जाय। वास्तव में करदान सामर्थ्य की यह धारणा अत्यन्त अस्पष्ट है और इसका कोई अधिक व्यावहारिक महत्त्व भी नहीं है। वस्तुतः इसकी सही माप करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

करदान सामर्थ्य को प्रभावित करने वाले तत्त्व—किसी देश की करदान सामर्थ्य अनेक तत्त्वों द्वारा प्रभावित होती है

(1) **करदाताओं की मनोवृत्ति** (Psychology of Tax payers)—किसी देश की करदान सामर्थ्य उस देश के करदाताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर रहती है। उदाहरणार्थ युद्ध के समय लोग प्रायः देश के हित के लिए अधिक त्याग करने को तत्पर हो जाते हैं। अक्टूबर 1962 में जब चीनियों ने भारत पर आक्रमण किया था उस समय देशभक्ति के उत्साह के फलस्वरूप साधारण जनता की करदान सामर्थ्य बढ़ गयी थी और लोग स्वतः ही सरकार को अधिक कर देने के लिए तैयार हो गये थे।

(2) **देश की प्रशासन व्यवस्था** (Administrative Set up of the Country)—किसी देश की करदान सामर्थ्य उस देश की प्रशासन व्यवस्था पर भी निर्भर रहती है। उदाहरणार्थ एक गुलाम देश में लोगों की करदान सामर्थ्य सदैव शून्य रहती है। इसका कारण यह है कि लोग विदेशी सरकार को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और अधिक मात्रा में कर देने के लिए तैयार नहीं होते। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीयों की करदान सामर्थ्य इसी कारण कम हुआ करती थी।

(3) **देश के आर्थिक विकास की स्थिति**—किसी देश की करदान सामर्थ्य बहुत बड़ी सीमा तक उस देश के आर्थिक विकास की स्थिति से निश्चित होती है। साधारणतः औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की करदान सामर्थ्य पिछड़े तथा अविकसित देशों की करदान सामर्थ्य की अपेक्षा ऊँची होती है।

(4) **देश की कर प्रणाली का स्वरूप**—यदि किसी देश की कर प्रणाली का निर्माण वैज्ञानिक आधार पर किया गया है तो निश्चय ही उस देश की करदान सामर्थ्य ऊँची होगी। स्मरण रहे कि वैज्ञानिक कर प्रणाली में सरकार द्वारा लगाये गये कर निश्चित, सरल एवं सुविधा पूर्ण होते हैं। अतः देश की करदान सामर्थ्य स्वतः ही ऊँची हो जाती है। यह भी स्मरण रहे

कि यदि देश की कर-प्रणाली उत्पादन-शक्ति पर बुरा प्रभाव डालती है तो इससे करदान सामर्थ्य निश्चय ही क्षीण पड जायगी।

(5) **सरकारी व्यय का स्वरूप**—देश की करदान सामर्थ्य सरकारी व्यय के स्वरूप पर भी निर्भर करती है। यदि सरकार अपने व्यय का अधिकाश भाग धनोत्पादन को प्रोत्साहित करने तथा लोगों की कार्य-कुशलता के स्तर को ऊँचा उठाने पर करती है तो इससे करदान सामर्थ्य स्वत ही ऊँची उठेगी। जब सरकार अपना अधिकाश व्यय कृषि-विकास, औद्योगिक विकास, परिवहन विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर करती है तो इससे देश की करदान सामर्थ्य मे वृद्धि होती है। इसके विपरीत, यदि सरकार अपने व्यय का अधिकाश भाग अस्त्रो के निर्माण एव युद्ध की तैयारी के लिए करती है तो इससे निश्चय ही देश की करदान सामर्थ्य घट जाती है।

(6) **देश मे धन का वितरण**—किसी देश मे धन का वितरण जितना अधिक असमान होता है, उतनी ही उसकी करदान सामर्थ्य अधिक होती है। इसका कारण यह है कि सरकार धनी वर्ग से करो द्वारा आसानी से पर्याप्त आय प्राप्त कर सकती है। इसके विपरीत, किसी देश मे धन का वितरण जितना अधिक समान होता है उतनी ही उसकी करदान सामर्थ्य कम होती है। इसका कारण यह है कि धन के वितरण में समानता होने के कारण अधिकाश निर्धन लोग अपनी आय को अनिवार्यताओ की सन्तुष्टि पर ही व्यय कर देते है। परिणामत उनकी करदान सामर्थ्य कम हो जाती है।

(7) **जनसख्या मे वृद्धि**—साधारणत किसी देश की करदान सामर्थ्य उस देश की जनसख्या के आकार पर भी निर्भर रहती है। अन्य बाते समान रहते हुए, देश की जनसख्या मे जितनी अधिक वृद्धि होती है, उतनी ही उस देश की करदान सामर्थ्य कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि जनसख्या मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोग पर किये जाने वाले व्यय मे भी वृद्धि हो जाती है। परिणामत देश की करदान सामर्थ्य घट जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि यदि जनसख्या मे वृद्धि के साथ-साथ देश की उत्पादन-शक्ति मे उसी अनुपात मे वृद्धि होती है तो लोगो की करदान सामर्थ्य मे कमी नही होगी।

(8) **लोगो का रहन-सहन स्तर**—देश की करदान सामर्थ्य पर लोगो के रहन-सहन स्तर का भी प्रभाव पडता है। यदि किसी देश का रहन-सहन स्तर ऊँचा है तो निश्चय ही वहाँ के लोगो की उत्पादन-शक्ति अधिक होगी। परिणामत उनकी आय भी अधिक होगी जिसके फलस्वरूप उनकी कर देने की योग्यता ऊँची होगी।

(9) **आय की स्थिरता**—राष्ट्रीय आय की स्थिरता भी देश की करदान सामर्थ्य को प्रभावित करती है। ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे विकसित देशो मे राष्ट्रीय आय प्राय स्थिर ही रहती है, अर्थात उसमे भारी उतार-चढाव नही होता किन्तु भारत जैसे देश मे राष्ट्रीय आय मे स्थिरता का अभाव पाया जाता है। यहाँ पर अधिकाश लोगो का व्यवसाय खेती है जो लगभग पूर्णत मानसून पर निर्भर रहती है। यदि मानसून ठीक समय पर तथा उचित मात्रा मे आते है तो खेती अच्छी हो जाती है और परिणामत राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत, दुर्भाग्यवश यदि किसी वर्ष मानसून फेल हो जाते है अथवा सूखा पड जाता है तो इससे खेती चौपट हो जाती है और राष्ट्रीय आय म कमी हो जाती है। अत राष्ट्रीय आय की इस अस्थिरता के कारण सरकार के लिए किसी वैज्ञानिक कर-प्रणाली का निर्माण कर सकना कठिन हो जाता है। परिणामत देश की करदान सामर्थ्य न्यून ही रहती है।

(10) **मुद्रा-स्फीति (Inflation)**—किसी देश की करदान सामर्थ्य का अध्ययन करते समय मुद्रा-स्फीति की उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि मुद्रा स्फीति करदान सामर्थ्य पर गहरा प्रभाव डालती है। मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओ की कीमते बढ जाती है किन्तु साधारण जनता की द्रव्य आय लगभग पूर्ववत हो रहती है। इस प्रकार उनकी वास्तविक आय मे कमी हो जाती है और परिणामत उनकी करदान सामर्थ्य भी घट जाती है।

अत किसी देश की करदान सामर्थ्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमे उपर्युक्त सभी बातो को ध्यान मे रखना पडता है।

करारोपण में न्याय की समस्या
(Problem of Justice in Taxation)

वास्तव में, यह कराधान की मुख्य समस्या मानी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि देश की कर प्रणाली यथासम्भव न्याय पर आधारित होनी चाहिए। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर भार के वितरण को न्यायसंगत कैसे बनाया जाय? कराधान में न्याय के आदर्श की प्राप्ति के लिए समय-समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें से मुख्य मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं

(1) **कर-निर्धारण का लाभ सिद्धान्त** (Benefit Theory of Taxation)—इस सिद्धान्त के अनुसार *प्रत्येक नागरिक से उतना ही कर लेना चाहिए जितना कि उसे सरकार द्वारा की गयी* सेवाओं से लाभ प्राप्त होता है। अर्थात् जिन नागरिकों को अधिक लाभ प्राप्त होता है उन्हें अधिक कर भार वहन करना चाहिए। इसके विपरीत जिन नागरिकों को कम लाभ प्राप्त होता है उन्हें कम कर देना चाहिए। जैसा विदित है नागरिकों के लिए सरकार कई प्रकार की सेवाएँ करती है। उदाहरणार्थ देश की शासन व्यवस्था पुलिस तथा सेना तथा देश की न्याय प्रणाली में विभिन्न नागरिकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक को सरकार द्वारा की गयी सेवाओं से प्राप्त होने वाले लाभ के अनुपात में ही कर चुकाना चाहिए।

किन्तु इस सिद्धान्त की दो आधारों पर *आलोचना की गई है*—**प्रथम,** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक को अपने द्वारा प्राप्त किये गये लाभ के अनुपात में ही कर चुकाना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि लाभ की इस मात्रा को कैसे नापा जाय? हमारे पास कोई ऐसा यन्त्र नहीं है जिसकी सहायता से हम नागरिकों द्वारा प्राप्त किये गये लाभ को सही-सही माप सकें। **दूसरे,** आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में सरकार द्वारा की गयी सेवाओं से अमीरों की अपेक्षा गरीबों को अधिक लाभ होता है। उदाहरणार्थ सरकार गरीबों के लिए सस्ते अनाज सस्ते मकान नि शुल्क शिक्षा एवं डॉक्टरी सहायता की व्यवस्था करती है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर करों का भार अधिक पड़ना चाहिए क्योंकि उनको अमीरों की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होता है। स्पष्टतः यह न्यायसंगत नहीं है। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करना कठिन है। लेकिन इसके बावजूद कुछ आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति करते समय सरकार इस सिद्धान्त का ध्यान में रखती है। उदाहरणार्थ जब सरकार नागरिकों को पानी बिजली गैस आदि आवश्यक वस्तुएँ सप्लाई करती है तो वह इनकी कीमतें लाभ सिद्धान्त के अनुसार ही निश्चित करती है।

(2) **कर निर्धारण का सेवा की लागत का सिद्धान्त** (Cost of Service Theory of Taxation)—कुछ अर्थशास्त्रियों ने कर-भार के वितरण का निर्धारण करते समय इस सिद्धान्त को ध्यान में रखने की सिफारिश की है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा की गयी सेवाओं की जो कुल लागत होती है उसी के अनुसार ही लोगों पर कर लगाया जाना चाहिए। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं—सरकार नागरिकों के लिए कई प्रकार की सेवाओं का प्रबन्ध करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार इन सेवाओं पर आने वाली कुल लागत का ध्यान में रखते हुए विभिन्न व्यक्तियों से कर लिये जाने चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि सरकार को उक्त सेवाओं की व्यवस्था न लाभ न हानि (No Profit No Loss) के सिद्धान्त पर करनी होगी।

इस सिद्धान्त की भी कई आधारों पर आलोचना की गयी है—**प्रथम** सरकार द्वारा की गयी सभी सेवाओं की कुल लागत निकालना ही कठिन कार्य है। यदि सेवाओं की कुल लागत का हिसाब लगाना ही कठिन है तो फिर उस नागरिकों पर वितरण करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। **दूसरे,** यदि यह मान भी लिया जाय कि सरकार द्वारा की गयी सेवाओं की कुल लागत सही सही निकाली जा सकती है तो फिर दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि प्रत्येक नागरिक के प्रति की गयी सेवा की लागत का अनुमान कैसे लगाया जाय? क्या इसका यह अर्थ है कि कुल लागत को सभी नागरिकों में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय? दूसरे शब्दों में क्या इसका अर्थ

यह कि सभी नागरिकों पर एक समान पोल-टैक्स (Poll-Tax) लगा दिया जाय। स्पष्ट है कि इस प्रकार का कोई भी सुझाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। **तीसरे**, आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में सरकार अमीरों की अपेक्षा गरीबों के लिए अधिक सेवाएँ करती है। उदाहरणार्थ, गरीबों के लिए बेरोजगारी भत्तो, वृद्धावस्था पेन्शन, नि शुल्क डाक्टरी सहायता, आदि की व्यवस्था की जाती है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो अमीरों की अपेक्षा सरकार को गरीबों से अधिक कर वसूल करने चाहिए, क्योंकि उनके प्रति की गयी सरकारी सेवाओं की लागत अपेक्षाकृत ऊँची होती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद होगी। लेकिन इसके बावजूद सरकार द्वारा कुछ आवश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति करते समय इस सिद्धान्त को अवश्य ही ध्यान में रखा जाता है। उदाहरणार्थ, रेल डाक, पानी तथा बिजली की दरें निश्चित करते समय सेवा की लागत के सिद्धान्त का अवश्य ही उपयोग किया जाता है, यद्यपि यहाँ पर भी सेवा की लागत का ठीक-ठीक अनुमान लगाना बहुत कठिन होता है।

(3) **'कर चुकाने की योग्यता' का सिद्धान्त** (Ability to Pay Theory of Taxation) – *इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक नागरिक को सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए अपनी योग्यता के अनुसार कर चुकाना चाहिए। यदि प्रत्येक व्यक्ति सरकार को अपनी क्षमता के अनुसार कर चुकाता है तो इससे न्यायपूर्ण और कोई कर-व्यवस्था नहीं हो सकती।*

परन्तु इस सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई यह है कि व्यक्ति की कर चुकाने की योग्यता को कैसे नापा जाय? इस कठिनाई को दूर करने के लिए अथवा 'कर चुकाने की योग्यता' का सही सही मूल्यांकन करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने इस विषय पर दो पहलुओं से विचार किया है—(क) विषयीगत अथवा आन्तरिक पहलू। (ख) विषयगत अथवा बाह्य पहलू।

(क) विषयीगत अथवा आन्तरिक पहलू (Subjective Aspect)—कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार करदाता की कर चुकाने की योग्यता का अनुमान उसकी कष्ट उठाने एवं त्याग करने की शक्ति से लगाया जा सकता है अर्थात किसी करदाता की कष्ट सहन करने की शक्ति जितनी अधिक होती है उतनी ही उसकी करदान सामर्थ्य भी अधिक होती है। अत इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि कर देने की योग्यता को त्याग (Sacrifice) द्वारा नापा जा सकता है। त्याग के सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है—(अ) समान त्याग का सिद्धान्त, (आ) आनुपातिक त्याग का सिद्धान्त, (इ) न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त।

(अ) समान त्याग का सिद्धान्त (Principle of Equality of Sacrifice)—*इस सिद्धान्त के अनुसार कर के मौद्रिक-भार* (Money Burden) *को विभिन्न करदाताओं पर इस ढंग से वितरित करना चाहिए कि प्रत्येक करदाता को बराबर का त्याग करना पड़े।* दूसरे शब्दों में, देश की कर-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि प्रत्येक करदाता को समान अथवा बराबर त्याग करना पड़े। इस सिद्धान्त के अनुसार देश की कर-प्रणाली समानुपातिक (Proportional) होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, सरकार द्वारा लगाए गये कर आनुपातिक होने चाहिए। सभी करदाताओं के लिए कर की प्रतिशत दर एक ही होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि आय-कर की दर 5 प्रतिशत है तो 100 रुपये आय वाले व्यक्ति को 5 रुपये, 200 रुपये आय वाले व्यक्ति को 10 रुपये तथा 300 रुपये आय वाले व्यक्ति को 15 रुपये कर के रूप में चुकाने पड़ेगे। इस प्रकार आय की वृद्धि के साथ कर की मात्रा तो बढ़ जायगी किन्तु कर की दर में कोई परिवर्तन नहीं होगा। परन्तु इस सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई यह है कि प्रत्येक करदाता द्वारा किये गये त्याग का सही-सही अनुमान लगाना कठिन होता है।

(आ) आनुपातिक त्याग का सिद्धान्त (Principle of Proportional Sacrifice)—*इस सिद्धान्त के अनुसार करदाताओं पर पड़ने वाले कर का भार समान नहीं होना चाहिए, बल्कि उनके द्वारा प्राप्त की जाने वाली आय के समानुपातिक होना चाहिए।* अत इस सिद्धान्त के अनुसार कर-निर्धारण आनुपातिक (Proportional) न होकर, आरोही (Progressive) होना चाहिए। *इस प्रकार की कर-प्रणाली में व्यक्ति की आय में वृद्धि के साथ ही साथ कर की दर में भी वृद्धि होनी चाहिए।* इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसकी त्याग करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है क्योंकि कम आय वाले व्यक्ति की तुलना में अधिक आय वाले व्यक्ति की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है। अत यदि अमीरों को

अपनी आय के अनुरूप ही त्याग करना है तो स्पष्ट है कि उन पर कर की दर अधिक होनी चाहिए। इस प्रकार अमीरों को न केवल कर की कुल मात्रा ही अधिक देनी चाहिए, बल्कि उन्हें कर की प्रतिशत दर भी अधिक देनी चाहिए।

(इ) न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धान्त (Principle of Least Aggregate Sacrifice)—डा० मार्शल, प्रो० पीगू तथा डा० डाल्टन जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार द्वारा कर-निर्धारण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि सभी करदाताओं द्वारा किये गये त्याग की कुल मात्रा न्यूनतम हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी नागरिकों से कर वसूल न किया जाय बल्कि आय की एक न्यूनतम सीमा निश्चित कर दी जाय। जिन व्यक्तियों की आय इस सीमा से नीची होती है, उन्हें कर से मुक्त कर दिया जाय। केवल उन्हीं व्यक्तियों से कर वसूल किया जाय जिनकी आय इस सीमा से ऊपर होता है और इन व्यक्तियों से प्रगतिशील दरों (Progressive Rates) पर कर की वसूली की जाय। अर्थात् निश्चित सीमा के ऊपर जैसे जैसे आय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही कर की दर भी बढ़ती जानी चाहिए। इसका कारण स्पष्ट है। गरीबों की अपेक्षा अमीरों की मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है। परिणामत अमीरों द्वारा कर चुकाने पर उन्हें गरीबों की अपेक्षा कम त्याग करना पड़ता है। अत यदि गरीबों को कर से मुक्त कर दिया जाय और कर की समूची आय को अमीरों से ही वसूल किया जाय तो निश्चय ही कर के परिणामस्वरूप किया जाने वाला कुल त्याग न्यूनतम होगा। स्मरण रहे कि जब धनी वर्ग से कर लिया जाता है तब वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का त्याग नहीं करते बल्कि उन्हें अपनी कुछ विलासिताओं का ही त्याग करना पड़ता है। इसके विपरीत जब गरीबों से कर लिया जाता है तो उन्हें विवश होकर अपनी अनिवार्यताओं की ही बलि देनी पड़ती है। अत स्पष्ट है कि अमीरों से कर-वसूली करने पर कुल त्याग न्यूनतम होता है।

परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर कर निर्धारण करने मे एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि इससे बचतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि श्रमिकों पर ऊँची दर पर कर लगाया जाता है तो निश्चय ही उनकी बचत करने की शक्ति एवं इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जब बचतें निरुत्साहित होती हैं तो देश की राष्ट्रीय आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो त्याग का सिद्धान्त उचित ही प्रतीत होता है परन्तु इसकी मुख्य कठिनाई यह है कि इसे व्यवहार मे परिणत करना बहुत ही कठिन कार्य है। इसका कारण यह है कि त्याग एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व (Psychological factor) है और इसे सही सही नापना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि करदान सामर्थ्य को नापने के लिए त्याग का आधार उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। अत इसका परित्याग ही कर देना चाहिए।

(ख) विषयगत अथवा बाह्य पहलू (Objective Aspect)—कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार कर देने की योग्यता को कुछ बाह्य तत्त्वों द्वारा नापा जा सकता है—(अ) व्यक्ति का व्यय (आ) व्यक्ति की सम्पत्ति (इ) व्यक्ति की आय।

(अ) व्यक्ति का व्यय—कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि व्यक्ति की कर देने की योग्यता को उसके व्यय द्वारा नापा जा सकता है। जिस व्यक्ति का व्यय अधिक है उसकी कर देने की योग्यता भी अधिक होगी। अत उस पर अधिक कर लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति का व्यय उसकी कर चुकाने की योग्यता का अच्छा माप माना जाता है। किन्तु आलोचकों के अनुसार व्यक्ति की कर देने की योग्यता की यह माप वास्तव मे, बहुत ही त्रुटिपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति अधिक व्यय करता है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी कर देने की योग्यता भी अधिक है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति बड़ा परिवार होने के कारण अधिक व्यय करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी कर चुकाने की योग्यता भी अधिक है। अत व्यक्ति का व्यय उसकी कर चुकाने की योग्यता की उचित माप नहीं है।

(आ) व्यक्ति की सम्पत्ति—कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यक्ति की सम्पत्ति को उसकी कर देने की योग्यता की अच्छी माप बताया है। अत इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के पास जितनी

अधिक सम्पत्ति है उतनी ही उसकी कर चुकाने की योग्यता अधिक होती है। परन्तु आलोचकों के अनुसार सम्पत्ति भी कर चुकाने की योग्यता का उचित आधार नहीं मानी जा सकती। **प्रथम,** समाज मे बहुत-से ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी आय तो अधिक होती है, परन्तु उनके पास सम्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार के व्यक्ति स्वत ही कर से मुक्त हो जायेंगे। स्पष्ट है कि यह न्यायसगत नहीं है। **दूसरे,** यदि सम्पत्ति को कर चुकाने की योग्यता का आधार मान लिया जाय तो एक अन्य कठिनाई उत्पन्न होती है। इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि समान आकार-प्रकार की सम्पत्ति से समान आय ही प्राप्त होगी। दो व्यक्तियो के पास समान प्रकार की सम्पत्ति हो सकती है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन दोनो की आय भी एकसमान ही होगी। दूसरे शब्दो मे, समान सम्पत्ति होने पर भी इन व्यक्तियो की कर चुकाने की योग्यता समान नहीं होगी। **तीसरे,** सम्पत्ति को आधार मान लेने पर एक अन्य कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि सम्पत्ति पर कर कैसे लगाया जाय। क्या सम्पत्ति के विक्रय-मूल्य पर कर लगाया जाय अथवा इससे प्राप्त होने वाली वार्षिक आय पर कर लगाया जाय ? इस सिद्धान्त के समर्थको ने इस विषय को अस्पष्ट ही रखा है। **चौथे** यदि सम्पत्ति को कर चुकाने की योग्यता का आधार मान लिया जाय तो अधिकांश लोग सम्पत्ति रखना ही पसन्द नहीं करेंगे। उपरोक्त कठिनाइयो के कारण सम्पत्ति को कर चुकाने की योग्यता का समुचित आधार नहीं माना जा सकता।

(इ) व्यक्ति की आय—कुछ अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि व्यक्ति की मौद्रिक आय उसकी कर चुकाने की योग्यता की अच्छी माप है। परन्तु इसे भी कर चुकाने की योग्यता की सन्तोषजनक माप नहीं माना जा सकता। हो सकता है कि दो व्यक्तियो की मौद्रिक आय एकसमान हो किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उन दोनो की कर चुकाने की योग्यता भी एकसमान होगी। यह सम्भव है कि उनमे से एक का बड़ा परिवार होने के कारण उसका व्यय भी अधिक हो। अत व्यक्ति की आय कर चुकाने की योग्यता का कोई विश्वसनीय आधार नहीं है किन्तु प्रो० जोसाया स्टेम्प (Josiah Stamp) के अनुसार अन्य आधारो की तुलना मे आय का आधार कर चुकाने की योग्यता का श्रेष्ठ प्रमाण है। अत उनके अनुसार व्यक्ति की आय को ही कर चुकाने की योग्यता का आधार बनाया जाना चाहिए। किन्तु ऐसा करते समय कुछ बातो का ध्यान रखा जाना चाहिए—**प्रथम,** कर लगाते समय एक न्यूनतम आय सीमा (minimum income limit) निश्चित कर देनी चाहिए। जिन व्यक्तियो की आय उस सीमा से कम है, उन्हें कर के भुगतान से मुक्त कर देना चाहिए। **दूसरे,** कर लगाते समय करदाता के परिवार के आकार को ध्यान म रखना चाहिए। छोटे परिवार वाले करदाता पर कर की दर अधिक तथा बड़े परिवार वाले करदाता पर कर की दर कम होनी चाहिए। **तीसरे,** कर लगाते समय अर्जित (earned) एव अनर्जित आय (unearned income) मे भेद किया जाना चाहिए। व्यक्ति द्वारा अर्जित आय पर कर की दर कम होनी चाहिए जबकि उसकी अनर्जित आय पर कर की दर अधिक होनी चाहिए। **चौथे** कर लगाते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि बचतो को पर्याप्त प्रोत्साहन मिले। उदाहरणार्थ, कर लगाते समय करदाता द्वारा बीमे के लिए चुकाये गये प्रीमियम (Premium) की रकम पर कर नहीं लगाया जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से बचतें हतोत्साहित होगी। **पाँचवे,** कर लगाते समय करदाता की पूँजी परिसम्पत्ति के मूल्य ह्रास के व्यय को उसकी आय मे से घटा देना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, कर कुल आय (Gross income) पर नहीं बल्कि शुद्ध आय (Net income) पर लगाया जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो के अन्तर को समझाइए। प्रत्यक्ष करो के गुणो तथा अवगुणो का वर्णन कीजिए। (आगरा, 1962)

[संकेत—प्रथम भाग मे, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो की परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए उदाहरण सहित उनके अन्तर को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, प्रत्यक्ष एव परोक्ष करो के गुणो एव अवगुणो की व्याख्या कीजिए।]

2 क्या आप एकाकी कर-प्रणाली के पक्ष मे हैं या बहुकर-प्रणाली के पक्ष मे। सकारण उत्तर दीजिए। (गोरखपुर, 1963)

[संकेत—प्रथम भाग में, एकाकी तथा बहुकर-प्रणाली की परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हुए इनके अन्तर को स्पष्ट करिए। दूसरे भाग में, यह बताइए कि वर्तमान युग में एकाकी कर-प्रणाली के अपनाये जाने की तनिक भी सम्भावना नहीं है। इसके साथ ही बहुकर-प्रणाली के पक्ष में दिये गये तर्कों की विवेचना कीजिए।]

3 कर देने की क्षमता से आप क्या समझते हैं? विस्तारपूर्वक बताइये। समाज में इसको निर्धारित करते समय आप किन-किन बातों का ध्यान रखेंगे?

(गोरखपुर, 1961, सागर 1963)

[संकेत— प्रथम भाग में कर देने की क्षमता की विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी परिभाषाओं की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में करदान क्षमता को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्वों का विस्तृत वर्णन कीजिए।]

4 'करारोपण में न्याय' का सिद्धान्त समझाइए। (नागपुर, 1960)

[संकेत—आरम्भ में, कर-निर्धारण में न्याय उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समय-समय पर अर्थशास्त्रियों द्वारा जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनकी उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। तदुपरान्त यह बताइये कि इनमें कर चुकाने की योग्यता का सिद्धान्त अपनाने से ही करारोपण में न्याय किया जा सकता है। इसके साथ ही यह भी बताइये कि कर चुकाने की योग्यता को नापने के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों द्वारा क्या-क्या सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।]

5 अच्छी कर-प्रणाली के गुणों की विवेचना कीजिए। (विक्रम, 1963)

[संकेत—यहाँ पर अच्छी कर-प्रणाली में पाये जाने वाले विभिन्न गुणों की विस्तृत विवेचना कीजिए। देखिए, उपर्युक्त अध्याय।]

6 कराधान के मुख्य सिद्धान्त क्या हैं? आपकी राय में आय-कर तथा बिक्री-कर इन सिद्धान्तों की कहाँ तक सन्तुष्टि करते हैं? (राजस्थान, 1963)

[संकेत—प्रथम भाग में, कराधान के मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग में, यह बताइये कि आय-कर तथा बिक्री-कर समता, निश्चितता, सुविधा तथा मितव्ययता के सिद्धान्तों की सन्तुष्टि तो करते हैं किन्तु सरलता, उत्पादकता आदि सिद्धान्तों का पालन नहीं करते।]

7 (क) कर की परिभाषा बताइये तथा इसकी विशेषताएँ समझाइए।

(ख) कर के सिद्धान्तों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। (आगरा, 1966)

[संकेत—प्रथम भाग में, कर की परिभाषा देते हुए इसकी दो मुख्य विशेषताओं की चर्चा कीजिए—(क) यह अनिवार्य भुगतान होता है, (ख) यह किसी विशेष सेवा के बदले नहीं चुकाया जाता। दूसरे भाग में कराधान के मुख्य सिद्धान्तों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।]

44

करवाह्यता (करापात) की समस्या
(Problem of the Incidence of Taxation)

करवाह्यता का अर्थ
(Meaning of Tax Incidence)

करवाह्यता से अभिप्राय कर के मौद्रिक भार से होता है। जब कोई कर लगाया जाता है तो उसका मौद्रिक भार अवश्य ही किसी न किसी व्यक्ति पर पड़ता है। अतः करवाह्यता के अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि कर का भार कहाँ और किस व्यक्ति पर पड़ता है। *कभी-कभी करदेयता (करारोप) तथा करवाह्यता (करापात) में अन्तर किया जाता है। करदेयता* (Impact of Tax) से अभिप्राय उस व्यक्ति की देयता से होता है जो कि प्रथमतः कर चुकाता है लेकिन, जैसा हम देख चुके है, यह आवश्यक नही कि जो व्यक्ति कर चुकाता है वह वास्तव मे कर का भार स्वयं ही वहन करता है। अर्थात यह आवश्यक नही कि करदेयता एवं करवाह्यता एक ही व्यक्ति पर हो। उदाहरणार्थ, जब सरकार चीनी पर उत्पादन-कर लगाती है तो उस कर को प्रथमतः मिल मालिक द्वारा चुकाया जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि करदेयता मिल मालिक पर है किन्तु मिल मालिक उस कर को चीनी के मूल्य मे सम्मिलित करके उपभोक्ताओ के कन्धो पर ढकेल देता है। अतः चीनी पर लगाये गये कर का भार (करवाह्यता), वास्तव मे, उपभोक्ताओ पर होता है। इस प्रकार चीनी पर कर लगाने से उपभोक्ताओ की आय मे जितनी *कमी हो जाती है, वह चीनी कर का भार है। स्मरण रहे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर लगे कर के* भार को यथासम्भव अन्य व्यक्तियो के कन्धो पर ढकेलने का प्रयत्न करता है। इसी कारण कर-वाह्यता की समस्या राजवित्त की एक महत्वपूर्ण समस्या बन गयी है।

"करवाह्यता" तथा "कर-प्रभावों" में अन्तर

वास्तव मे "करवाह्यता" (कर का भार) तथा "कर के प्रभाव" दो अलग विषय हैं। करवाह्यता से अभिप्राय तो कर के मौद्रिक भार से होता है और करवाह्यता का अध्ययन करते *समय हम यह देखते हैं कि कर का मौद्रिक भार कहाँ तथा किन-किन व्यक्तियो पर पड़ा है* किन्तु 'कर प्रभाव' शब्द का अर्थ अधिक विस्तृत रूप मे लिया जाता है। स्मरण रहे कि जब कोई कर लगाया जाता है तो उसके मौद्रिक भार के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रभाव होते है। उदाहरणार्थ, जब चीनी पर उत्पादन-कर लगाया जाता है तो उसका उपभोक्ताओ पर मौद्रिक भार तो पड़ता ही है किन्तु इसके अलावा उसके अन्य भी कई प्रभाव हो सकते हैं। जैसे चीनी के उपभोग मे कमी, उत्पादन मे कमी, उत्पादको के लाभ मे कमी आदि। इस प्रकार कर-प्रभाव एक विस्तृत शब्द है और इसमे करो से उत्पन्न होने वाली आर्थिक तथा गैर-आर्थिक सभी प्रकार की समस्याओ को *सम्मिलित किया जाता है।*

करवाह्यता के अध्ययन का महत्त्व

वास्तव मे, आजकल करवाह्यता की समस्या के अध्ययन का महत्त्व बहुत बढ गया है। प्रत्येक देश के वित्तमन्त्री के लिए करवाह्यता सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक

होता है। जब सरकार कोई कर लगाती है तो ऐसा करते समय उसका उद्देश्य कर का भार किसी विशेष वर्ग के कन्धों पर डालना होता है। किन्तु यह नितान्त सम्भव है कि उस वर्ग के चालाक व्यक्ति उस कर का बोझा अपने ऊपर से उठाकर दूसरों के कन्धों पर ढकेल दें। उदाहरणार्थ, भारत में बिक्री-कर (Sales Tax) राज्य-सरकारों द्वारा दुकानदारों पर लगाया गया है। वास्तव में, यह कर उनकी बिक्री पर लगाया गया है और इसका बोझ उन्हीं के कन्धों पर पड़ना चाहिए। लेकिन जैसा सर्वविदित है अधिकांश दुकानदार बिक्री कर का भार ग्राहकों के कन्धों पर ढकेल देते हैं। इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि बिक्री-कर को खरीद-कर (Purchase Tax) कहना न्यायोचित होगा। इस प्रकार सरकार के लिए करवाह्यता का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा पूर्व कहा गया है सरकार का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करना है। उस उद्देश्य का प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि अमीरों पर गरीबों की अपेक्षा कर-भार अधिक होना चाहिए। अतः सरकार को इस दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी करवाह्यता का विशेष महत्त्व है।

कर-विवर्तन (अथवा कर ढकेलना)
(Shifting of Tax)

जब किसी कर के आर्थिक भार को करदाता द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति पर ढकेल दिया जाता है, तब इसे कर-विवर्तन अथवा कर का ढकेलना कहते हैं। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं—प्रत्येक करदाता कर का भार दूसरे व्यक्तियों के कन्धों पर ढकेलने का प्रयत्न करता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अपने इस प्रयास में सदैव सफल हो जाता है। कर-विवर्तन भी दो प्रकार का होता है—(क) एक बिन्दु कर-विवर्तन (Single Point Shifting) (ख) बहु-बिन्दु कर-विवर्तन (Multi-Point Shifting)। **जब कोई व्यापारी अपनी वस्तु पर लगे कर को उपभोक्ता के कन्धों पर ढकेल देता है तब इसे एक-बिन्दु कर विवर्तन कहते हैं** (स्मरण रहे कि व्यापारी वस्तु का मूल्य बढ़ाकर कर की मात्रा को उपभोक्ता के कन्धों पर डाल देते हैं) **इसके विपरीत, जब किसी कर के भार को एक बिन्दु से अन्य कई बिन्दुओं तक विवर्तित किया जाता है तो इसे बहु-बिन्दु विवर्तन कहते हैं।** उदाहरणार्थ जब सरकार चीनी पर उत्पादन-कर लगाती है तो प्रथमतः वह कर मिल मालिक द्वारा चुकाया जाता है परन्तु बाद में मिल मालिक कर को थोक-व्यापारी पर और थोक व्यापारी उस कर के भार को फुटकर विक्रेता पर डाल देता है और अन्ततः फुटकर विक्रेता इस कर-भार को उपभोक्ता पर ढकेल देता है।

कर-विवर्तन की दिशा (Direction of Tax Shifting)—दिशा के आधार पर कर-विवर्तन को दो भागों में विभाजित किया जाता है—(क) अग्रगामी कर-विवर्तन (Forward Tax Shifting) (ख) प्रतिगामी कर विवर्तन (Backward Tax Shifting)। **अग्रगामी कर-विवर्तन से अभिप्राय कर के भार को आगे की ओर ढकेलने से है।** उदाहरणार्थ, जब व्यापारी वस्तु पर लगे कर के भार को उपभोक्ता पर ढकेल देता है तब उसे अग्रगामी कर-विवर्तन कहते हैं। किन्तु कभी-कभी परिस्थिति ऐसी होती है कि व्यापारी कर के भार को उपभोक्ता पर ढकेलने में असमर्थ होता है। उदाहरणार्थ यदि वस्तु की मांग लोचदार है और व्यापारी कर का भार वस्तु के मूल्य को बढ़ाकर उपभोक्ताओं पर डालते हैं तो शीघ्र ही उपभोक्ता उस वस्तु की खरीद को कम कर देंगे और अन्ततः व्यापारी को हानि उठानी पड़ेगी। अतः ऐसी परिस्थिति में व्यापारी कर का भार उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न नहीं करेगा। इसके विपरीत, अब वह कर भार का मिल मालिक के कन्धों पर ढकेलने का प्रयास करेगा अर्थात् वह मिल मालिक को वस्तु का मूल्य कम करने के लिए विवश करेगा और यदि मिल मालिक उसके दबाव के अन्तर्गत वस्तु के मूल्यों में कमी कर देता है, तो निश्चय ही कर का भार मिल मालिक पर पड़ेगा। **इस प्रकार के कर विवर्तन को प्रतिगामी कर-विवर्तन (अथवा कर को पीछे ढकेलना) कहते हैं।** परन्तु कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि व्यापारी कर के भार को न तो उपभोक्ता पर और न ही मिल मालिक पर ढकेल सकता है। ऐसी दशा में कर-भार उसे स्वयं ही वहन करना पड़ता है।

कर ढकेलने के रूप (Forms of Tax Shifting)—एक व्यापारी कर के भार को उप-

भोक्ता पर दो तरीकों से ढकेल सकता है—**प्रथम**, वह वस्तु के मूल्य को कर की मात्रा के बराबर बढ़ा देगा जिसके परिणामस्वरूप कर का समूचा भार उपभोक्ता के कन्धों पर पड़ेगा। दूसरे, यदि किसी कारणवश व्यापारी वस्तु का मूल्य बढ़ाने में असमर्थ रहता है तो वह वस्तु के गुणों को घटा देगा अर्थात् उपभोक्ता को घटिया किस्म का माल सप्लाई करेगा।

कर के ढकेलने की मात्रा (Quantum of Tax Shifting)—ऊपर हमने देखा है कि व्यापारी कर के भार को या तो पूर्णतः उपभोक्ताओं पर और या पूर्णतः मिल मालिकों पर ढकेल देता है किन्तु कुछ परिस्थितियों में वह ऐसा कर सकने में समर्थ नहीं होता अर्थात् कर के भार को वह न तो पूर्णतः उपभोक्ताओं पर और न ही पूर्णतः मिल मालिकों पर ढकेल सकता है। ऐसी परिस्थिति में कर के भार को तीन पक्षों में विभाजित करना पड़ता है अर्थात् व्यापारी, मिल मालिक तथा उपभोक्ता तीनों को ही कर का कुछ न कुछ अंश वहन करना पड़ता है।

कर-विवर्तन' तथा 'कर-वचन' में अन्तर—कर-विवर्तन तथा कर वचन में स्पष्ट अन्तर है। **कर-विवर्तन से अभिप्राय जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कर के भार को अन्य व्यक्तियों के कन्धों पर ढकेलने से है**। दूसरे शब्दों में करदाता सरकार को कर तो चुका देता है परन्तु उसके भार को वह अन्य व्यक्तियों के कन्धों पर डाल देता है। **इसके विपरीत, कर-वचन से अभिप्राय तो कर से बचने से है**। **अर्थात् करदाता कर चुकाने से बच जाता है**। उदाहरणार्थ भारत में लाखों व्यक्ति झूठे हिसाब किताब पेश करके आय कर से बच जाते हैं। स्पष्टतः कर वचन अत्यन्त आपत्तिजनक है और अवैधानिक भी है किन्तु कर विवर्तन के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कर का मौद्रिक भार तथा वास्तविक भार—कर का भार दो प्रकार का होता है मौद्रिक भार तथा वास्तविक भार। **मौद्रिक भार से अभिप्राय उस रकम से है जो सरकार को उस कर से उपलब्ध होती है। अर्थात् कर के मौद्रिक भार का अर्थ लोगों की आय के उस भाग से है जिससे वे कर के लगने के कारण वंचित रह जाते हैं**। इसके विपरीत, **कर के वास्तविक भाग से अभिप्राय कर के परिणामस्वरूप लोगों के आर्थिक कल्याण में होने वाली कमी से है**। उदाहरणार्थ जब सरकार चीनी पर उत्पादन-कर लगाती है तो इससे चीनी का मूल्य बढ़ जाता है और परिणामतः लोगों द्वारा किये जाने वाला चीनी का उपयोग कम हो जाता है। फलतः उसी मात्रा में जनता का आर्थिक कल्याण कम हो जाता है। यही कर का वास्तविक भार है। स्मरण रहे कि करवाह्यता का अध्ययन करते समय हम केवल मौद्रिक भार को देखते हैं वास्तविक भार को नहीं।

करवाह्यता के सिद्धान्त
(Theories of Tax Incidence)

करदाता के सम्बन्ध में दो मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है—(क) सकेन्द्रण सिद्धान्त और (ख) विकेन्द्रण अथवा सम मिश्रण सिद्धान्त।

(क) सकेन्द्रण सिद्धान्त (Concentration Theory)—फ्रांस के निर्बाधवादी अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि सरकार द्वारा लगाये गये सभी प्रकार के कर अन्त में भूमि की शुद्ध आय पर केन्द्रित हो जाते हैं। उनके कथनानुसार कृषि ही एकमात्र उत्पादक धन्धा है और इसी से ही आधिक्य (surplus) की उत्पत्ति होती है। अतः उनका यह विचार था कि कर चाहे किसी व्यक्ति अथवा वस्तु पर लगाये जायें किन्तु विवर्तन के माध्यम से अन्ततः वे भूमि पर ही केन्द्रित हो जाते हैं। इसलिए उन्होंने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि सभी प्रकार के करों का उन्मूलन करके केवल कृषि से उत्पन्न होने वाली शुद्ध आय पर ही एकमात्र कर लगाना चाहिए। परन्तु आलोचकों द्वारा इस सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की गयी है कि कृषि ही केवल एकमात्र उत्पादक धन्धा नहीं है अन्य धन्धे भी उत्पादक होते हैं। अतः यह मान लेना कि कृषि से ही केवल शुद्ध आय उत्पन्न होती है सर्वथा तथ्यों के विपरीत है।

(ख) विकेन्द्रण अथवा सम-मिश्रण का सिद्धान्त (Diffusion Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर का भार विवर्तन के माध्यम से अपने आप समूचे समाज में वितरित हो जाता है। लार्ड मेन्सफील्ड (Lord Mansfield) के शब्दों में, कर उस कंकड़ की भाँति है जिसको यदि झील में फेंका जाय तो यह गिरते ही अपने इर्द गिर्द एक घेरा-सा बना लेता है। इस घेरे से दूसरा घेरा बनता है और इस प्रकार घेरे पर घेरे बनते ही चले जाते हैं और अन्ततः प्रारम्भिक घेरा

समूची झील मे फैल जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार करो के अन्तर्गत भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। *जब सरकार किसी स्थान अथवा बिन्दु पर कर लगाती है तब इस कर का भार केवल उस स्थान अथवा बिन्दु तक ही सीमित नही रहता बल्कि चारो ओर फैल जाता है।* इसलिए इस सिद्धान्त को विकेन्द्रण सिद्धान्त कहते है। इस प्रकार प्रत्येक कर का समूचे समाज मे वितरण स्वत ही हो जाता है और कर के भार को किसी एक बिन्दु पर निश्चित करना सम्भव नही रहता। अत इस सिद्धान्त के अनुसार करवाह्यता की समस्या का अध्ययन करने से कोई लाभ नही होता।

परन्तु आलोचको ने इस सिद्धान्त को दो आधारो पर अस्वीकृत कर दिया है—**प्रथम**, *आलोचक इस बात से सहमत नही हैं कि सरकार द्वारा लगाया गया कर प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी क्षमता के अनुसार ही पडता है।* वास्तव म कई बार सरकार द्वारा लगाये गये कर का भार व्यक्ति पर उसकी क्षमता से भी अधिक पडता है जिसके परिणामस्वरूप समाज मे असन्तोष फैल जाता है। **दूसरे**, आलोचक इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि करवाह्यता की समस्या का अध्ययन करने से कोई लाभ नही होता। जैसा हम पूव देख चुके है, आधुनिक सरकार का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करना है। अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को यह देखना पडता है कि करो का भार सभी वर्गों पर उनकी क्षमता के अनुसार वितरित होता है अथवा नहीं। *इसलिए करवाह्यता की समस्या की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है।*

कर-भार
(Incidence of Tax)

वस्तु-कर का भार (Incidence of a Commodity Tax)—जैसा कि विदित है प्रत्येक *व्यापारी अपनी वस्तु पर लगाये गये कर के भार को उपभोक्ताओ के कन्धो पर ढकेलने का प्रयत्न* करता है। परन्तु इस प्रयास मे वह कहाँ तक सफल होता है यह निम्नलिखित बातो पर निर्भर करता है।

(1) **वस्तु की माग एव पूर्ति की लोच**—किसी वस्तु पर लगाये गये कर का भार मुख्यत इस बात पर निर्भर करता है कि उस वस्तु की माग एव पूर्ति की लोच का स्वरूप क्या है। यदि वस्तु की माँग लोचदार (Elastic) है तो कर का भार व्यापारी पर पडेगा। इसका कारण यह है कि यदि व्यापारी वस्तु का मूल्य बढाकर कर को उपभोक्ताओ के कन्धो पर ढकेलने का प्रयास करता है तो उपभोक्ता शीघ्र ही उस वस्तु की खरीद को बन्द अथवा कम कर देंगे। परिणामत व्यापारी को हानि उठानी पडेगी। इसलिए वह वस्तु के मूल्य को नहीं बढायेगा बल्कि कर के भार को स्वय ही वहन करेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग बेलोच (inelastic) है तो व्यापारी आसानी से कर का भार उपभोक्ताओ के कन्धो पर ढकेल सकता है। वह तुरन्त ही वस्तु का मूल्य कर की मात्रा तक बढा देगा और उपभोक्ताओ को वस्तु का बढा हुआ मूल्य चुकाना ही पडेगा *क्योकि उसकी माँग बेलोच है। अत हम कह सकते है कि अनिवार्यताओ पर लगाये गये कर का* भार पूर्णरूपेण उपभोक्ताओ पर ढकेला जा सकता है क्योकि इन वस्तुओ के सम्बन्ध में व्यापारी की स्थिति अधिक सुदृढ होती है। इसके विपरीत विलासिताओ पर लगाये गये करो का भार प्राय व्यापारियो को ही सहना पडता है क्योकि इस प्रकार की वस्तुओ की कीमतो को बढाने की अधिक गुजाइश नहीं होती।

इसी प्रकार यदि वस्तु की पूर्ति बेलोच है (अथवा वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली है) तो ऐसी परिस्थिति मे वस्तु पर लगाये गये कर का भार व्यापारी पर ही पडेगा। इसका कारण यह है कि वस्तु के नश्वर होने के कारण व्यापारी उसे अधिक समय तक अपने पास नहीं रख सकता। अत उपभोक्ता की तुलना मे उसकी स्थिति अपेक्षाकृत दुबल होती है। ऐसी परिस्थिति म कर का पूर्ण भार व्यापारी के कन्धो पर ही पडेगा। इसके विपरीत, यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार है (अथवा वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली नहीं है) तो ऐसी परिस्थिति मे कर का भार उपभोक्ताओ पर पडेगा क्योकि वस्तु के शीघ्र नष्ट होने के कारण उपभोक्ता की तुलना मे व्यापारी की स्थिति अपेक्षाकृत सुदृढ होती है और वह कर के भार को आसानी से उपभोक्ताओ पर ढकेल सकता है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति की लोच माँग की लोच के बिल्कुल बराबर होती है तो ऐसी परिस्थिति म

कर का भार बराबर मात्रा में व्यापारी एवं उपभोक्ता पर पड़ेगा। डॉ॰ डाल्टन (Dr. Dalton) के अनुसार प्रत्येक व्यापारी वस्तु की पूर्ति को कम करके कर के भार को उपभोक्ता पर डालना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक उपभोक्ता अपनी माँग को कम करके कर का भार व्यापारी पर ढकेलना चाहता है। अतः व्यापारी तथा उपभोक्ता के बीच कर के भार का वितरण उनकी तुलनात्मक सौदा-शक्ति के अनुसार होता है।

(2) स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धता (Availability of Substitutes)—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि बाजार में उनके पूर्ण अथवा लगभग पूर्ण स्थानापन्न पदार्थ उपलब्ध होते हैं। जैसे चाय तथा कॉफी अथवा मक्खन तथा मारग्रीन। उदाहरणार्थ, यदि सरकार चाय पर कर लगा देती है तब चाय का विक्रेता इस कर के भार को उपभोक्ताओं पर नहीं ढकेल सकता। इसका कारण यह है कि यदि वह चाय के मूल्यों को बढ़ाकर कर के भार को उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न करता है तो उपभोक्ता शीघ्र ही चाय के स्थान पर कॉफी का उपयोग प्रारम्भ कर देंगे। परिणामतः चाय की बिक्री कम हो जायेगी और विक्रेता को हानि उठानी पड़ेगी। अतः ऐसी स्थिति में विक्रेता चाय पर लगाये गये कर के भार को उपभोक्ताओं पर ढकेलने का प्रयास नहीं करेगा, बल्कि कर के भार को स्वयं ही वहन करेगा।

उत्पादन के नियमों का प्रभाव—किसी कर के भार का अध्ययन करते समय उत्पादन के नियमों को भी ध्यान में रखा जाता है अर्थात इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वस्तु का उत्पादन किस नियम के अन्तर्गत हो रहा है—वर्धमान प्रतिफल नियम (Law of Increasing Returns) ह्रासमान प्रतिफल नियम (Law of Diminishing Returns) तथा आनुपातिक प्रतिफल नियम (Law of Constant Returns)।

अब हम पहले उस उदाहरण को लेंगे जिसमें वस्तु का उत्पादन वर्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है। मान लीजिए कि ऐसी वस्तु पर सरकार द्वारा कर लगाया जाता है। तब ऐसी परिस्थिति में इस कर का वस्तु के मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा? स्पष्ट है कि यदि सरकार इस प्रकार की वस्तु पर कर लगाती है तो इसके फलस्वरूप होने वाली मूल्य वृद्धि कर की मात्रा से अधिक होगी। मान लीजिए कि कोई फर्म किसी वस्तु की 100 इकाइयां उत्पन्न कर रही है और वस्तु की प्रति इकाई लागत (सामान्य लाभ सम्मिलित करते हुए) 5 रुपये है। अब मान लीजिए कि इस वस्तु पर सरकार 50 पैसे प्रति इकाई के हिसाब से कर लगा देती है। इस कर के लगाने से वस्तु का मूल्य तुरन्त ही 5 रुपये 50 पैसे हो जायगा। मूल्य के बढ़ने के फलस्वरूप वस्तु की माँग स्वभावतः ही घट जायगी और माँग के घट जाने के कारण फर्म को अपने उत्पादन में भी कमी करनी पड़ेगी। चूंकि वस्तु का उत्पादन वर्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत हो रहा है अतः उत्पादन के कम होने से उसकी लागत स्वतः ही बढ़ जायेगी (स्मरण रहे कि वर्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत यदि वस्तु का उत्पादन कम कर दिया जाता है तो उसकी लागत बढ़ जाती है। इसके विपरीत, यदि वस्तु का उत्पादन बढ़ा दिया जाता है तो उसकी लागत कम हो जाती है)। चूंकि यहाँ पर माँग के कम होने से उत्पादन कम कर दिया जाता है, इसलिए वस्तु की उत्पादन लागत बढ़ जाती है। मान लीजिए कि वस्तु की उत्पादन लागत 5 रुपये प्रति इकाई से बढ़कर 5 रुपये 25 पैसे प्रति इकाई हो जाती है। यदि इसमें 50 पैसे प्रति इकाई का कर सम्मिलित कर दिया जाय तो वस्तु का मूल्य 5 रुपये 75 पैसे होगा। स्पष्ट है कि वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ़ गया है। कर की मात्रा तो केवल 50 पैसे ही है किन्तु वस्तु के मूल्य में होने वाली वृद्धि 75 पैसे है।

अब हम दूसरा उदाहरण लेंगे जिसमें वस्तु का उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है। मान लीजिये कि ऐसी वस्तु पर सरकार कर लगा देती है। तब ऐसी परिस्थिति में वस्तु के मूल्य में होने वाली वृद्धि कर की मात्रा से कम होगी। मान लीजिए कि किसी फर्म में इस वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन किया जा रहा है और उसकी प्रति इकाई लागत 5 रु० है। अब मान लीजिए कि सरकार इस वस्तु पर 50 पैसे प्रति इकाई के हिसाब से कर लगा देती है। तब ऐसी परिस्थिति में वस्तु का मूल्य तुरन्त ही 5 रुपये 50 पैसे हो जायगा। वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने के कारण इसकी माँग में कमी होगी और परिणामतः उत्पादन में भी कमी

करनी पड़ेगी। चूंकि वस्तु का उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत हो रहा है, इसलिए उत्पादन मे कमी करने के कारण प्रति इकाई लागत घट जायगी (स्मरण रहे कि जब इस प्रकार की वस्तु के उत्पादन में वृद्धि हो जाती है तो इसकी प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है। इसके विपरीत, जब वस्तु के उत्पादन मे कमी की जाती है तो उसकी प्रति इकाई लागत घट जाती है)। अब मान लीजिए कि उत्पादन मे कमी करने के कारण वस्तु की प्रति इकाई लागत 5 रुपये से घटकर 4 रुपये 75 पैसे हो जाती है। यदि इसमे 50 पैसे प्रति इकाई का कर सम्मिलित कर दिया जाय तो वस्तु का मूल्य 5 रुपये 25 पैसे हो जायगा। स्पष्ट है कि यहाँ पर वस्तु के मूल्य मे वृद्धि कर की मात्रा से कम हुई है। वस्तु की मौलिक लागत 5 रुपये प्रति इकाई थी और 50 पैसे प्रति इकाई का कर उसमें जोड़ने से उसका मूल्य 5 रुपये 50 पैसे होना चाहिए था किन्तु ह्रासमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता के कारण वस्तु की मूल्य-वृद्धि कर की मात्रा से कम होती है।

अब हम तीसरा उदाहरण लेंगे जिसमे वस्तु का उत्पादन आनुपातिक प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है। मान लीजिए कि ऐसी वस्तु पर सरकार कर लगा देती है। तब वस्तु के मूल्य मे होने वाली वृद्धि कर की मात्रा के बराबर होगी। मान लीजिए कि किसी फर्म मे इस वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन किया जा रहा है और उसकी प्रति इकाई लागत 5 रुपये है। अब मान लीजिए सरकार इस वस्तु पर 50 पैसे प्रति इकाई के हिसाब से कर लगा देती है, तब इस वस्तु का मूल्य तुरन्त ही 5 रुपये 50 पैसे हो जायगा। वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने के कारण इसकी माँग मे कमी हो जायगी और परिणामत उत्पादन मे भी कमी करनी पड़ेगी। चूँकि वस्तु का उत्पादन आनुपातिक प्रतिफल नियम के अधीन किया जा रहा है, इसीलिए उत्पादन लागत मे न तो कमी और न ही वृद्धि होगी अर्थात् उत्पादन लागत यथास्थिर ही रहेगी। परिणामत वस्तु का मूल्य 5 रुपये 50 पैसे ही बना रहेगा। दूसरे शब्दों में वस्तु के मूल्य मे होने वाली वृद्धि कर की मात्रा के ठीक बराबर ही होगी।

इस प्रकार किसी वस्तु पर कर लगाने से उसका मूल्य बढ जाता है। मूल्य के बढने पर उसकी माँग म कमी हो जाती है। माँग मे कमी होने के कारण उत्पादन मे कमी करनी पडती है। और उत्पादन म कमी किये जाने पर वस्तु की प्रति इकाई लागत उत्पादन नियमो के अनुसार कम अथवा अधिक हो जाती है अथवा समान रहती है। अन्त मे कर का भार इस मूल्य-वृद्धि के अनुसार ही वितरित होता है। साधारणत. **जो वस्तुएँ ह्रासमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत निर्मित की जाती हैं उन्हे कराधान के लिए अच्छी वस्तुएँ समझा जाता है। इसके विपरीत, जिन वस्तुओ का उत्पादन वर्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है, वे आर्थिक उपादान** (economic subsidies) **के लिए अच्छी वस्तुएँ समझी जाती हैं।**

(4) **कर की राशि तथा कर-प्रणाली**—कर की राशि का भी वस्तु की करवाह्यता पर प्रभाव पडता है। यदि सरकार द्वारा लगाये गये कर की मात्रा बहुत कम है तब ऐसी परिस्थिति मे विक्रेता उसे उपभोक्ता के कन्धो पर डालने का प्रयास नही करता। इसका कारण यह है कि वह इस छोटे-से कर के कारण अपने ग्राहकों को नाराज नहीं करना चाहता। किन्तु यदि कर की मात्रा अधिक है तो विक्रेता अवश्य ही उसे ग्राहको के कन्धो पर ढकेलने का प्रयास करेगा।

(5) **पूंजी की गतिशीलता**—पूँजी की गतिशीलता का भी करवाह्यता पर प्रभाव पड़ता है। यदि पूँजी पूर्णत गतिशील है तो ऐसी परिस्थिति मे उत्पादक कर के भार को उपभोक्ताओ के कन्धे पर डाल सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि उत्पादक अपने द्वारा लगायी गयी पूंजी को व्यवसाय मे से सुगमता से निकाल सकता है तो वह सरकार द्वारा लगाये गये कर को उपभोक्ताओ पर डालने की स्थिति म होता है। इसके विपरीत, यदि उत्पादक ने व्यवसाय मे अधिक मात्रा म पूँजी लगा रखी है और इसे वह सरलता से नही निकाल सकता तब ऐसी परिस्थिति मे वह कर के भार को उपभोक्ताओं के कन्धो पर डालने मे असमर्थ रहेगा और कर का भार उसे स्वयं ही सहन करना पडेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि करवाह्यता की समस्या एक अत्यन्त जटिल समस्या है और इसका अध्ययन करते समय कई प्रकार की बातो को ध्यान मे रखना पडता है।

एकाधिकार पर कर का भार (Incidence of Tax on Monopoly)—अब हम यह देखेंगे कि *एकाधिकारी व्यवसाय पर लगाये गये कर का भार किस पर पड़ता है ?* जैसा कि सर्व-विदित है—एकाधिकारी का उद्देश्य अपने व्यवसाय में से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना है। एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा को उस सीमा तक बढ़ाता चला जाता है जहाँ पर उसकी सीमान्त आय (Marginal Revenue) उसकी सीमान्त लागत (Marginal Cost) के बराबर होती है। *इस प्रकार सीमान्त आय और सीमान्त लागत के बीच समानता स्थापित करके* ही एकाधिकारी अधिकतम लाभ कमा सकता है। सरकार एकाधिकारी व्यवसाय पर दो तरीकों से कर लगा सकती है। **प्रथम** एकाधिकारी के लाभ पर कर। **दूसरे** उत्पादन की मात्रा के आधार पर कर।

अब हम यह देखेंगे कि एकाधिकारी लाभ पर लगाये गये कर का भार किस पर पड़ता है। सरकार एकाधिकारी लाभ पर दो तरीकों से कर लगा सकती है—**प्रथम,** सरकार एकाधिकारी से उसके लाभ पर एक मुश्त रकम (lump sum) कर के रूप में प्राप्त कर सकती है। **दूसरे,** सरकार एकाधिकारी से उसके लाभ का एक निश्चित भाग कर के रूप में प्राप्त कर सकती है। **इन दोनों ही अवस्थाओं में लगाये गये कर का भार एकाधिकारी के कन्धों पर ही पड़ता है।** एकाधिकारी इस भार को ग्राहकों के कन्धों पर नहीं ढकेल सकता। पहली अवस्था में जब सरकार एकाधिकारी से उसके लाभ पर एकमुश्त रकम प्राप्त करती है तो एकाधिकारी इसके भार को ग्राहकों पर नहीं ढकेल सकता। इसका कारण यह है कि उसने तो अपनी वस्तु का मूल्य पहले से ही एक ऐसे स्तर पर निश्चित कर रखा है *जिससे उसे अधिकतम आय प्राप्त हो रही है। अब* यदि वह कर के भार को मूल्य बढ़ाकर ग्राहकों पर डालता है तो इससे निश्चय ही उसका लाभ कम हो जायगा क्योंकि एक निश्चित मूल्य पर ही एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होता है। यदि उस निश्चित मूल्य में थोड़ा सा भी फेर-बदल कर दिया जाय तो लाभ की मात्रा घट जाती है। अतः एकाधिकारी *अपने लाभ को अधिकतम बनाये रखने* के लिए अपने पूर्व निश्चित मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करेगा अर्थात् कर का भार वह स्वयं ही वहन करेगा। दूसरी अवस्था में भी जब सरकार एकाधिकारी के लाभ का एक निश्चित प्रतिशत भाग कर के रूप में लेती है तो एका-धिकारी को इसका भार स्वयं ही वहन करना पड़ता है और वह उसे ग्राहकों पर नहीं डाल सकता। यहाँ पर भी वही कारण क्रियाशील होता है जो कि पहली अवस्था में लागू होता है। दूसरे शब्दों में यदि कर के परिणामस्वरूप एकाधिकारी वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है तो इससे उसके लाभ में अवश्य ही कमी हो जायगी। इसका कारण जैसा हम पहले ही बता चुके हैं यह है कि *एकाधिकारी एक निश्चित मूल्य पर ही अधिकतम लाभ कमा सकता है और उसने वह मूल्य* पहले से ही निर्धारित कर रखा है। इस मूल्य में थोड़ी-सी भी वृद्धि करने पर उसकी आय में कमी हो जायगी। अतः ऐसी परिस्थितियों में वह कर का भार स्वयं ही वहन करेगा।

अब हम दूसरा उदाहरण लेंगे जिसमें सरकार एकाधिकारी व्यवसाय पर उत्पादन की *मात्रा के आधार पर कर लगाती है। ऐसी दशा में वस्तु की उत्पादन लागत स्वतः ही बढ़ जायगी।* इसका कारण यह है कि कर की पूर्ण मात्रा उत्पादन लागत में सम्मिलित हो जायगी। इसके फल-स्वरूप सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय के बीच की समानता अब किसी ऊँचे मूल्य पर ही स्थापित हो सकेगी *अर्थात् कर लागू होने पर* वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा। परन्तु अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वस्तु का मूल्य किस मात्रा में बढ़ेगा। यह दो बातों पर निर्भर करता है—(क) वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोच। (ख) उत्पादन के नियमों का प्रभाव।

(क) **वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोच**—यदि वस्तु की माँग बेलोच है अर्थात् इसके मूल्य में वृद्धि होने पर भी *इसकी माँग में कोई विशेष कमी नहीं होती,* तो ऐसी परिस्थिति में कर का समूचा भार ग्राहकों के कन्धों पर ही पड़ेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग लोचदार है अर्थात् वस्तु के मूल्य में थोड़ी वृद्धि होने पर इसकी माँग में बहुत कमी हो जाने का भय है तब ऐसी परिस्थिति में कर का समूचा भार एकाधिकारी के कन्धों पर ही पड़ेगा। अर्थात् एकाधिकारी वस्तु के मूल्य को नहीं बढ़ायगा। इसी प्रकार यदि वस्तु की पूर्ति बेलोच है, तब कर का भार एकाधिकारी पर ही पड़ेगा। इसका कारण यह है कि वस्तु की पूर्ति बेलोच होने के फलस्वरूप एकाधिकारी की स्थिति ग्राहकों की तुलना में दुर्बल होती है और वह कर-भार उन पर नहीं डाल

सकता। इसके विपरीत यदि वस्तु की पूर्ति लोचदार है तब कर का भार ग्राहकों पर पड़ेगा क्योंकि ऐसी दशा में एकाधिकारी की परिस्थिति ग्राहकों की तुलना में अधिक सुदृढ़ होती है।

यदि वस्तु की माग पूर्ति से अधिक लोचदार है तब कर का भार ग्राहकों की अपेक्षा एकाधिकारी पर अधिक पड़ेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु की माग पूर्ति की अपेक्षा कम लोचदार है तब ऐसी परिस्थिति में कर का भार एकाधिकारी की अपेक्षा ग्राहकों पर अधिक पड़ेगा।

(ख) उत्पादन के नियमों का प्रभाव—यदि वस्तु का उत्पादन वर्धमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है तब कर लगाने से वस्तु की लागत बढ़ जायगी। इसका कारण यह है कि कर के लगाने से उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाती है। जब उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है तो वस्तु की लागत वर्धमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता के कारण बढ़ जाती है। ऐसी परिस्थिति में एकाधिकारी वस्तु की पुरानी लागत को यथास्थिर रखते हुए कर का समूचा भार स्वयं ही वहन करेगा। इसके विपरीत यदि वस्तु का उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल नियम के अन्तर्गत होता है तब कर लगाने के परिणामस्वरूप वस्तु की लागत कम हो जायगी। इसका कारण यह है कि कर लगाने के फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा में कमी हो जाती है। जब उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है तो ह्रासमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता के कारण वस्तु की लागत में भी कमी हो जाती है। ऐसी दशा में एकाधिकारी वस्तु के मूल्य को बढ़ाकर कर को ग्राहकों पर ढकेल देगा।

आयात निर्यात करों का भार (Incidence of Import Export Taxes)—पहले हम यह देखेंगे कि किसी वस्तु पर लगाये गये आयात कर का भार किस पर पड़ता है आयातकर्ता देश अथवा निर्यातकर्ता देश पर। इस सम्बन्ध में वस्तु की माग की लोच महत्त्वपूर्ण तथ्य हो जाती है अर्थात कर के भार का वितरण वस्तु की माग की लोच के अनुसार होता है। मान लीजिए कि आयात की जाने वाली वस्तु की माग आयातकर्ता देश के लिए बेलोच है। दूसरे शब्दों में आयातकर्ता देश इस वस्तु को अन्य दशों से प्राप्त करने में असमर्थ है। इसके साथ यह भी मान लीजिए कि आयातकर्ता देश की इस वस्तु की माग बहुत ही तीव्र है। ऐसी परिस्थिति में वस्तु पर लगाये गये आयात-कर का समूचा भार आयातकर्ता देश पर ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में विदेशी मशीनरी का उदाहरण दिया जा सकता है। भारत जैसे देश के लिए विदेशी मशीनरी की माग बहुत ही तीव्र है। अतः मशीनरी पर लगाये गये आयात कर का समूचा भार भारत को ही वहन करना पड़ता है।

इसके विपरीत यदि वस्तु की माग आयातकर्ता देश के लिए लोचदार है अथवा आयातकर्ता देश के लिए वस्तु की माग बहुत कम तीव्र है तब ऐसी परिस्थिति में आयात कर का भार निर्यातकर्ता देश पर पड़ेगा। परन्तु साधारणतः इस प्रकार की परिस्थिति बहुत ही कम हुआ करती है और अधिकांश आयात करों का भार आयातकर्ता देश पर ही पड़ता है।

अब हम देखेंगे कि निर्यात कर का भार किस पर पड़ता है—निर्यातकर्ता देश पर अथवा आयातकर्ता देश पर। यहा पर भी कर का भार निर्यात की जाने वाली वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। यदि आयातकर्ता देश की वस्तु के लिए होने वाली माग बेलोच है अर्थात आयातकर्ता देश की माग बहुत ही तीव्र है तो ऐसी परिस्थिति में निर्यात कर का भार आयातकर्ता देश पर ही पड़ेगा निर्यातकर्ता देश पर नहीं। उदाहरणार्थ ब्रिटेन तथा अमरीका की भारतीय चाय की माग लगभग बेलोच है। अतः चाय के निर्यात पर लगाये गये कर का भार ब्रिटिश तथा अमरीकी आयातकर्ताओं पर ही पड़ता है। इसके विपरीत यदि निर्यातकर्ता देश की वस्तु की पूर्ति बेलोच है तो ऐसी परिस्थिति में निर्यात कर का भार निर्यातकर्ता देश पर ही पड़ता है आयातकर्ता देश पर नहीं। किन्तु स्मरण रहे कि साधारणतः अधिकतर निर्यात करों का भार निर्यातकर्ता देश पर ही पड़ता है।

आय कर का भार (Incidence of Income Tax) जैसा विदित है आय कर एक प्रत्यक्ष कर है और इस नाते इसका भार करदाता पर ही पड़ता है और वह इसे दूसरों पर ढकेलने में असमर्थ होता है। अब हम वेतनों मजदूरियों तथा व्यावसायिक लाभ पर लगाये गये आय कर का अध्ययन करेंगे। पहले हम देखेंगे कि वेतनों तथा मजदूरियों पर लगाये गये आय कर का भार किस पर पड़ता है। स्पष्ट है कि वेतनों एवं मजदूरियों पर लगाये गये आय कर का भार

वेतन भोगी व्यक्तियो एवं श्रमिको पर ही पडता है और वे किसी भी दशा मे इसके भार को अपने मालिको पर नही डाल सकते। जैसा विदित है वेतन अथवा मजदूरी श्रमिको की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। कोई भी मिल मालिक मजदूरो को उनकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी देने के लिए तैयार नहीं होता। स्पष्ट है कि जब श्रमिक आय-कर चुकाते हैं तो इससे उनकी उत्पादकता मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती। परिणामत मिल मालिक उसकी मजदूरी मे किसी प्रकार की वृद्धि करने के लिए तैयार नही होगा। अन्तत आय-कर का भार मजदूरो पर ही पडेगा।

अब हम यह देखेंगे कि व्यावसायिक लाभ पर लगाये गये आय कर का भार किस पर पडता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार है कि आय कर का भार व्यवसायियो द्वारा उपभोक्ताओ के कन्धो पर डाल दिया जाता है। किन्तु वास्तव मे यह सत्य नही है। व्यवसायी लोग अपने लाभ पर लगाये गये आय-कर के भार को उपभोक्ताओ पर नही धकेल सकते। इसके दो कारण हैं—प्रथम व्यवसायियो मे आपसी प्रतियोगिता होती है और इसके साथ ही सभी व्यवसायी आय कर नही चुकाते। वे इस वस्तुओ के मूल्य बढ़ाकर उपभोक्ताओ के कन्धो पर नही डालेंगे। अब व्यवसायियो का एक वर्ग आय कर के भार को उपभोक्ताओ पर नही डालता तो स्पष्ट है कि तीव्र प्रतियोगिता होने के कारण आय-कर चुकाने वाले व्यवसायी भी इसके भार को उपभोक्ताओ पर डालने मे असमर्थ हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि यदि वे आय कर का भार उपभोक्ताओ पर डालने का प्रयास करते है तो शीघ्र ही उनके व्यवसाय पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। दूसरे यदि व्यवसायी वस्तुओ के मूल्य बढाकर आय-कर के भार को उपभोक्ताओ पर डालते है तो इसके साथ ही साथ उनके लाभ की मात्रा बढ जायगी और अन्त मे उनको पहले की अपेक्षा अधिक आय-कर चुकाना पडेगा। अत ऐसी परिस्थिति मे वे आय-कर के भार को उपभोक्ताओ पर डालना पसन्द नहीं करेंगे।

बिक्री-कर का भार (Incidence of Sales Tax)—बिक्री कर के भार का अध्ययन करते समय भी वस्तु की माग की लोच को ध्यान मे रखा जाता है। यदि वस्तु की माग बेलोच है अर्थात इसका मूल्य बढाये जाने पर भी इसकी माग मे कोई विशेष कमी नही होती तब बिक्री-कर का समूचा भार उपभोक्ताओ पर ही पडता है। इसके विपरीत यदि वस्तु की माग लोचदार है अर्थात वस्तु का मूल्य बढाये जाने पर इसकी माग मे पर्याप्त कमी हो जाती है तब ऐसी परिस्थिति मे बिक्री-कर का समूचा भार विक्रेता पर ही पडेगा। साधारणत बिक्री-कर का भार उपभोक्ताओ पर ही पडता है। जैसा विदित है भारत के सभी राज्यो मे बिक्री-कर लगाया गया है और इसका लगभग समूचा भार उपभोक्ताओ पर पड रहा है। इसीलिए कुछ लोगो ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि इसे बिक्री-कर कहने के बजाय खरीद-कर (Purchase Tax) कहना उचित होगा।

पेशेवर कर का भार (Incidence of Professional Tax)—कभी-कभी सरकार द्वारा कुछ विशेष पेशा मे लगे हुए व्यक्तियो पर पेशेवर कर लगाया जाता है। यह प्रत्यक्ष कर होता है। अत इसका भार करदाता के कन्धो पर ही पडता है। परन्तु यदि कर का भार बहुत अधिक है तब ऐसी परिस्थिति मे उन पेशा मे सलग्न व्यक्ति उस कर के कुछ भार को अपनी सेवाओ का उपभोग करने वाले व्यक्तियो पर डालने का प्रयत्न करते है। उदाहरणार्थ यदि डाक्टरो पर भारी पेशेवर कर लगाया जाता है तो निश्चय ही वे इस कर के कुछ भार को अपने मरीजो पर ढकेलने का प्रयत्न करेंगे।

मृत्यु कर का भार (Incidence of Death Duty)—मृत्यु कर से अभिप्राय उस कर से है जो मृतक व्यक्ति द्वारा छोडी गयी सम्पत्ति पर लगाया जाता है। मृत्यु कर दो प्रकार मे लगाया जा सकता है—(क) सम्पत्ति कर (ख) उत्तराधिकारी कर। इन दोनो मे मुख्य अन्तर यह है कि सम्पत्ति कर मृतक व्यक्ति की समूची सम्पत्ति पर लिया जाता है जबकि उत्तराधिकारी कर उत्तराधिकारियो से उनके द्वारा प्राप्त किये गये सम्पत्ति के भाग पर ही लिया जाता है। मृत्यु कर चाहे सम्पत्ति कर अथवा उत्तराधिकारी कर के रूप मे हो इसका भार दूसरो पर आसानी से ढकेला नहीं जा सकता। इस कर का भार तो उन व्यक्तियो पर ही पड़ता है जो मृतक व्यक्ति की जायदाद का हिस्सा प्राप्त करते है।

भूमि-कर का भार (Incidence of Land Tax)—*भूमि-कर प्रायः तीन प्रकार से लगाया* जा सकता है। **प्रथम**, इसे भूमि के लगान पर लगाया जा सकता है। पुराने क्लासीकल अर्थशास्त्री इस प्रकार के भूमि-कर के पक्ष में थे। उनके कथनानुसार लगान पर भूमि कर लगाना ही चाहिए *क्योंकि लगान को वे एक प्रकार का आधिक्य (surplus) अथवा अनर्जित आय (Unearned* Income) समझते थे। स्पष्ट है कि इस प्रकार का भार भूस्वामियों के कन्धों पर ही पड़ता है। और वे इसके भार का दूसरों पर विवर्तन (shifting) नहीं कर सकते। **दूसरे**, भूमि कर कृषि भूमि में लगायी गयी पूंजी पर भी लगाया जा सकता है। इस प्रकार के कर का भार प्रथमतः तो भूस्वामियों पर ही पड़ता है और परिणामतः वे भूमि में अधिक पूंजी लगाना बन्द कर देते हैं। उनके ऐसा करने से किसानों को हानि होती है और विवश होकर वे इस कर के भार को वहन करने के लिए तैयार हो जाते हैं। **तीसरे**, भूमि कर भूमि के उत्पादन पर भी लगाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में भूमि-कर का भार किस पर पड़ेगा यह कृषि पदार्थ की मांग की लोच पर निर्भर करता है। यदि कृषि पदार्थ की मांग बेलोच है तो इस प्रकार के भूमि कर का भार उपभोक्ताओं के कंधों पर पड़ेगा। इसके विपरीत यदि कृषि पदार्थ की मांग लोचदार है तो इसका भार किसानों पर ही पड़ेगा।

मकानों पर कर का भार (Incidence of House Tax)—*मकानों पर लगाये गये कर* के भार का अध्ययन करते समय हम मकानों की मांग की लोच का ध्यान में रखना पड़ता है। यदि किसी नगर में मकानों की कमी के कारण उसकी मांग बेलोच है तब ऐसी परिस्थिति में मकानों पर लगाये गये कर का भार किरायेदार के कन्धों पर ही पड़ेगा। इसका कारण यह है कि परिस्थिति का लाभ उठाते हुए मकान मालिक कर के समूचे भार को मकान के किराये में सम्मिलित कर देंगे। चूंकि मकानों की मांग बेलोच है अतः विवश होकर किरायेदारों को कर का भार वहन करना ही पड़ेगा। वास्तव में भारत में आजकल परिस्थिति यही पायी जाती है। इसके विपरीत यदि किसी देश में मकानों की मांग लोचदार है अथवा मकानों की पूर्ति मांग से अधिक है तब ऐसी परिस्थिति में कर का समूचा भार मकान मालिकों पर पड़ता है।

यदि किरायेदार कोई वस्तु बिक्रेता है और उसकी वस्तु की मांग बेलोच है तो वह किराये का कुछ अंश वस्तु के मूल्य में सम्मिलित करके खरीददारों के कन्धों पर डाल देगा। परन्तु इसमें कोई अधिक सफलता मिलने की आशा नहीं है क्योंकि विक्रेताओं में प्रायः तीव्र पारस्परिक प्रति*योगिता होती है।*

करों के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Taxation)

करों के आर्थिक प्रभावों का अध्ययन हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—(क) करों का उत्पादन पर प्रभाव (ख) करों का वितरण पर प्रभाव (ग) करों के अन्य प्रभाव।

(क) करों का उत्पादन पर प्रभाव (Effects of Taxation on Production) इस प्रभाव का हम तीन उप शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—(अ) काम करने तथा बचाने की क्षमता पर प्रभाव (आ) काम करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव (इ) आर्थिक साधनों के विभिन्न व्यवसायों तथा क्षेत्रों में वितरण पर प्रभाव।

(अ) काम करने तथा बचाने की क्षमता पर प्रभाव—प्रत्येक कर का करदाताओं की काम करने तथा बचाने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब कोई कर लगाया जाता है तो इससे करदाता की आय में कमी हो जाती है। परिणामतः उसके काम करने के उत्साह पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और इसके फलस्वरूप उसकी कार्यकुशलता का स्तर गिर जाता है। इसीलिए यह सुझाव दिया गया है कि कम आय वाले व्यक्तियों पर कर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उनकी काम करने तथा बचाने की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(आ) काम करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव—किसी कर का व्यक्ति की काम करने तथा बचाने की इच्छा पर पड़ने वाला प्रभाव कराधान के परिणामस्वरूप होने वाली उस व्यक्ति की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी अप्रत्याशित स्रोत (unexpected source) से अकस्मात् ही कोई बड़ी आय प्राप्त होती है (जैसे लाटरी निकलने पर अथवा किसी

दूर के रिश्तेदार की मृत्यु पर) और सरकार इस प्रकार की प्राप्त की गयी आय पर कर लगाती है तब इस प्रकार के कर का उस व्यक्ति की काम करने की इच्छा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसका कारण यह है कि उस व्यक्ति ने इस आय को प्राप्त करने के लिए कोई परिश्रम नहीं किया था।

इसी प्रकार किसी एकाधिकारी पर लगाया गया कर भी उसकी काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी ने अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए पहले से ही वस्तु का मूल्य निश्चित कर रखा है और यदि वह कर के लागू होने पर मूल्य में वृद्धि करता है तो उसकी आय में स्वतः ही कमी हो जायगी।

किसी व्यक्ति की आय की माँग की लोच का भी उसकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति की आय की माँग बेलोच है अर्थात उसके परिवार का आकार बड़ा है तब कर लगाने पर वह अधिक काम करेगा। इसका कारण यह है कि अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अब उसे पहले की अपेक्षा अधिक आय कमानी पड़ेगी। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति की आय की माँग लोचदार है अर्थात उसके परिवार का आकार छोटा है तब कर लगाने के फलस्वरूप उसकी काम करने की इच्छा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार कर के स्वरूप का भी व्यक्ति की काम करने तथा बचाने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है। साधारणतः अत्यधिक प्रगतिशील आय-कर से लोगों की काम करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है।

(इ) आर्थिक साधनों के विभिन्न व्यवसायों तथा क्षेत्रों में वितरण पर प्रभाव—यहाँ पर स्पष्ट रूप से यह कहना कि अमुक कर का आर्थिक साधनों के वितरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा बहुत कठिन है। यदि किसी व्यवसाय में बड़ी मात्रा में पूँजी लगायी गयी है और इसका विशिष्टीकरण (specialisation) हो चुका है तब ऐसी परिस्थिति में उस व्यवसाय पर कर लगाने पर भी पूँजी उस व्यवसाय से निकल नहीं सकती अर्थात उस पूँजी का अन्य व्यवसायों में हस्तान्तरण नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि उस व्यवसाय में पूँजी का विशिष्टीकरण नहीं हुआ है तो निश्चय ही कर लगाने पर पूँजी उस व्यवसाय से अन्य व्यवसायों को हस्तान्तरित हो जायगी। उदाहरणार्थ यदि सरकार मकानों पर भारी कर लगा देती है तो निश्चय ही लोग मकानों का निर्माण करना कम कर देंगे और अपनी आन्तरिक पूँजी का अन्य व्यवसायों में लगाना पसन्द करेंगे।

(ख) करों का वितरण पर प्रभाव—जैसा विदित है आय सम्बन्धी असमानताओं को दूर करने के लिए कराधान का उपयोग किया जाता है। आजकल सभी देशों में आरोही कराधान (Progressive taxation) द्वारा प्रचलित आर्थिक विषमताओं को कम करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। कराधान जितना अधिक आरोही होगा उतनी ही अधिक आर्थिक विषमताओं को कम करने में सहायता मिलेगी। इसके विपरीत कराधान जितना अधिक प्रतिगामी होगा उतनी ही आर्थिक विषमताएँ बढ़ती चली जाएँगी। इसलिए आधुनिक सरकार प्रायः प्रतिगामी करों का बहिष्कार करती हैं और यथासम्भव आरोही करों को ही लगाने का प्रयत्न करती हैं।

(ग) करों के अन्य प्रभाव—करों के अन्य प्रभावों का हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—*(अ) करों का रोजगार पर प्रभाव (आ) करों का आर्थिक जीवन पर प्रभाव।*

(अ) करों का रोजगार पर प्रभाव—कुछ लोगों का यह विचार है कि कराधान के परिणामस्वरूप देश में बेरोजगारी फैलती है और काम मिलने के अवसरों में कमी होती है। यदि सरकार द्वारा कर न लगाये जायें तो व्यापारियों को होने वाली बचतों को उद्योग धन्धों में लगाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप लोगों को अधिकाधिक मात्रा में रोजगार उपलब्ध हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का तर्क वास्तव में त्रुटिपूर्ण है। इसका कारण यह है कि कराधान के माध्यम से एकत्रित की गयी आय सरकार द्वारा व्यर्थ में बर्बाद नहीं की जाती बल्कि उसे विकासात्मक कार्यों पर लगाया जाता है जिसके परिणामस्वरूप रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ *पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा किया गया व्यय रोजगार की मात्रा में वृद्धि* करने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है।

(आ) **करों का आर्थिक जीवन पर प्रभाव**—कराधान के माध्यम से सरकार देश के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित भी कर सकती है। मुद्रा-स्फीति एव तेजी के समय सरकार कराधान द्वारा आवश्यक क्रय-शक्ति को लोगो से लेकर मूल्य वृद्धि की रोकथाम कर सकती है। इसके विपरीत, *मुद्रा-अवस्फीति एव मन्दी के समय सरकार करो के भार मे कमी करके व्यवसाय एव उद्योग को* प्रोत्साहन दे सकती है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **करापात और कराघात में भेद स्पष्ट कीजिए। करापात का निर्धारण कैसे होता है?**
(जबलपुर, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, करापात (करवाह्यता) और कराघात (करदेयता) के अन्तर को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, यह बताइये कि वस्तु-कर के भार का निर्धारण करते समय किन-किन बातो को ध्यान मे रखा जाता है।]

2 **कर-भार की परिभाषा लिखिए। कर-भार के विभिन्न सिद्धान्त समझाकर लिखिए।**
(विक्रम, 1961)

अथवा

कर-भार का क्या अर्थ है? बिक्री-कर तथा गृह-कर के 'कर-भार' की विवेचना करिए।
(राजस्थान, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे, कर-भार (करवाह्यता) की उदाहरण सहित परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग मे, करवाह्यता के दो मुख्य सिद्धान्तो *अर्थात सकेन्द्रण तथा विकेन्द्रण सिद्धान्तो* की आलोचना सहित विवेचना कीजिए। बिक्री-कर एव गृह-कर के 'कर-भार' के बारे मे उपर्युक्त अध्याय को देखिए।]

3 **सम्पत्ति के उत्पादन एव वितरण पर करो का महत्वपूर्ण प्रभाव बताइए।** (विक्रम, 1961)

[संकेत—यहाँ पर करो के सम्पत्ति के उत्पादन एव उसके वितरण पर पड़ने वाले प्रभावो की विस्तृत विवेचना कीजिए।]

45

सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure)

प्रस्तावना—प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने सार्वजनिक व्यय की ओर बहुत कम ध्यान दिया था। इसका कारण यह था कि उस समय अधिकाश देशो की सरकारो ने अबन्ध नीति (Laissez-Faire Policy) को अपना रखा था। इस नीति के अन्तर्गत सरकार का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित हुआ करता था। सरकार प्राय सुरक्षा एव नागरिक प्रशासन जैसे प्राथमिक कार्यों को ही सम्पन्न किया करती थी। विकासात्मक कार्यो मे सरकार अधिक रुचि नही लिया करती थी। परिणामत सरकार का व्यय बहुत कम हुआ करता था। यही कारण था कि क्लासीकल अर्थशास्त्रियो ने सार्वजनिक व्यय की ओर अधिक ध्यान देना उचित नहीं समझा था। किन्तु आजकल परिस्थिति पूर्णत बदल गयी है। वर्तमान सरकारें न केवल सुरक्षा एव नागरिक प्रशासन जैसे प्राथमिक कार्यों को ही सम्पन्न करती है बल्कि विकासात्मक विषयो मे भी अधिक रुचि लेती है। यही कारण है कि आजकल सरकारो के व्यय मे इतनी अधिक वृद्धि हो गयी है। परिणामत आधुनिक अर्थशास्त्री सार्वजनिक व्यय की उपेक्षा नही कर सकते। यही कारण है कि आजकल सार्वजनिक व्यय को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण

आधुनिक सरकारो के व्यय मे होने वाली वृद्धि के मुख्य-मुख्य कारण निम्नलिखित है

(1) सरकारो द्वारा किये जाने वाले विकासात्मक कार्य—जैसा ऊपर कहा गया है, वर्तमान सरकारे सुरक्षा एव नागरिक प्रशासन के अतिरिक्त कई प्रकार के विकासात्मक कार्य भी सम्पन्न करती है। उदाहरणार्थ, भारत मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारें कई प्रकार के विकासात्मक कार्यों को सम्पन्न कर रही है। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत देश की सर्वांगीण आर्थिक उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न किये जा रहे हैं। विगत कुछ वर्षों मे करोड़ो रुपये कृषि एव उद्योगो के विकास के लिए लगाये जा चुके है। परिणामत सार्वजनिक व्यय मे बहुत वृद्धि हुई है।

(2) जनसंख्या मे वृद्धि—आजकल प्राय सभी देशो में जनसख्या तेजी के साथ बढ़ती जा रही है। इस बढ़ती हुई जनसख्या की विभिन्न आवश्यकताओ की सन्तुष्टि के लिए सरकारो को पहले की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड रहा है। जितनी जनसख्या बढ़ती है लगभग उसी अनुपात मे ही सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि होती है।

(3) कीमतो मे वृद्धि—युद्ध एव युद्धोत्तर काल मे लगभग सभी देशो मे कीमतो मे भारी वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप सरकारो के व्यय बढ गये है। इसका कारण यह है कि निजी व्यक्तियो की भांति सरकार को भी वस्तुओ का क्रय करना पडता है। बढ़ी हुई कीमतो के कारण सरकारी व्यय मे वृद्धि का होना अनिवार्य ही है।

(4) प्रजातन्त्र का उदय—विभिन्न देशो मे प्रजातन्त्र के उदय के परिणामस्वरूप सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई है। जैसा विदित है, प्रजातान्त्रिक देशो मे सत्तारूढ़ दल अपनी स्थिति को

बनाये रखने के लिए यथासम्भव जनता की सद्भावना को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। इसके लिए वे उन्हे तरह-तरह की सुविधाएँ एव सेवाएँ प्रदान करते हैं। परिणामत सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हो जाती है।

(5) **युद्ध पर व्यय**—विगत सात दशाब्दियो मे दो विश्वयुद्ध हो चुके है। इन युद्धो के परिणामस्वरूप विभिन्न देशो को बड़े पैमाने पर व्यय करना पड़ा है। युद्ध तो प्राचीन समयो मे भी हुआ करते थे किन्तु वे इतने खर्चीले नही होते थे जितने कि आधुनिक युद्ध है। इस प्रकार इन युद्धो के कारण भी सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि हुई है।

(6) *आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा पर अधिक व्यय*—वर्तमान युग मे देश की आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा को बनाये रखने के लिए प्रत्येक सरकार को पहले की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड रहा है। जैसा विदित है इस समय विश्व दो सैनिक गुटो मे बँटा हुआ है और इन गुटो के बीच लम्बे समय से शीत युद्ध होता चला आ रहा है। प्रत्येक गुट अपनी सैनिक शक्ति को बढाने के लिए अधिकाधिक व्यय कर रहा है।

विश्व मे इस बढे हुए सार्वजनिक व्यय को देखकर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या सार्वजनिक व्यय की कोई सीमा भी है। वास्तव मे, यह एक जटिल प्रश्न है और इसका उत्तर देना सरल नहीं है। यह ठीक-ठीक बताना सम्भव नही है कि अमुक देश के लिए सार्वजनिक व्यय की उच्चतम सीमा क्या होनी चाहिए। वास्तव मे, किसी देश के सार्वजनिक व्यय की सीमा उस देश की आर्थिक सम्पन्नता, करदान क्षमता, जनसंख्या के आकार एव विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ, जैसी अनेक बातो से निश्चित होती है।

सार्वजनिक व्यय तथा व्यक्तिगत व्यय मे अन्तर

(Distinction Between Public and Private Expenditure)

इनके मुख्य अन्तर निम्नलिखित है

(1) व्यक्तिगत व्यय व्यक्ति की आय पर निर्भर करता है किन्तु सार्वजनिक व्यय सरकार की आय पर प्रत्यक्षत निर्भर नही होता। एक निजी व्यक्ति अपनी आय को ध्यान मे रखकर ही व्यय करता है किन्तु सरकार पहले अपने व्यय का अनुमान लगाती है और तदुपरान्त, उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त आय का प्रबन्ध करती है।

(2) व्यक्तिगत व्यय पर किसी अन्य व्यक्ति का प्रभाव नही पडता जबकि सार्वजनिक व्यय पर अनेक व्यक्तियो वर्गो एव राजनीतिक दलो का प्रभाव पडता है।

(3) व्यक्तिगत व्यय मे सार्वजनिक व्यय की अपेक्षा मितव्ययता (Economy) की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है अर्थात निजी व्यक्ति सरकार की तुलना मे अपने व्यय को अधिक मितव्ययतापूर्ण ढंग से करता है।

(4) निजी व्यक्ति प्राय अपनी आय ऐसी मदो पर व्यय करता है जिनसे कुछ लाभ प्राप्त होता है, किन्तु सरकारें कभी कभी ऐसे मदो पर भी व्यय करती है जिनसे उन्हे कोई तुरन्त लाभ प्राप्त नही होता।

सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण

(Classification of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतैक्य नही है। विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने विभिन्न आधारो पर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किया है। अब हम सार्वजनिक व्यय के कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गीकरणो का अध्ययन करेंगे।

(1) **प्रो० प्लेहन का वर्गीकरण** (*Prof Plehan's Classification*)—प्रो० प्लेहन ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण लोकहित के आधार पर किया है। उनके अनुसार सार्वजनिक व्यय को चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—**प्रथम** वह व्यय जिससे सभी लोगो को साधारण लाभ होता है जैसे देश की सुरक्षा पर किया गया व्यय। **दूसरे** वह व्यय जिससे कुछ विशेष वर्गो को उनकी अयोग्यता (Disability) के कारण विशेष लाभ होता है जैसे वृद्धावस्था पेन्शन, असहाय व्यक्तियो को दी गयी आर्थिक सहायता आदि। **तीसरे** वह व्यय जिससे सभी

लोगो को लाभ होता है, किन्तु कुछ व्यक्तियो अथवा कुछ वर्गों को उससे विशेष लाभ होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी क्षेत्र मे सरकार द्वारा सडक बनायी जाती है तो इससे सभी लोगो को लाभ होगा, किन्तु उस क्षेत्र मे रहने वाले लोगो को इससे विशेष लाभ होगा। चौथे, वह व्यय जिसका लाभ केवल कुछ विशेष व्यक्तियो को ही होता है। उदाहरणार्थ, सरकार जब कुछ उद्योग-पतियो को आर्थिक सहायता देती है तो इससे केवल उन्हे ही लाभ प्राप्त होता है। प्रो० प्लेहन के अनुसार आदर्श सार्वजनिक व्यय वह है जिससे देश के सभी लोगो को लाभ प्राप्त होता है और जिसमें विशेष लाभ की मात्रा न्यूनतम होती है। वास्तव मे, प्रो० प्लेहन का उपर्युक्त वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार मे उपर्युक्त चार प्रकार के व्ययो का अन्तर स्पष्टत समझना कठिन हो जाता है।

(2) **प्रो० निकलसन का वर्गीकरण** (*Prof Nicholson's Classification*)—प्रो० निकलसन ने सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण राज्य को प्राप्त होने वाले लाभ के आधार पर किया है। प्रो० निकलसन ने भी सार्वजनिक व्यय को चार भागो मे विभाजित किया है—पहले वर्ग मे, वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जिससे सरकार को कोई प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता। उदाहरणार्थ, जब सरकार बेरोजगार व्यक्तियो को आर्थिक सहायता प्रदान करती है तो इससे सरकार को स्वय कोई प्रत्यक्ष लाभ नही होता। दूसरे वर्ग मे, वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जिससे सरकार को कोई प्रत्यक्ष आय तो उपलब्ध नही होती किन्तु परोक्ष रूप से उसे कुछ लाभ अवश्य ही प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, जब सरकार नि शुल्क शिक्षा पर व्यय करती है तो इससे सरकार को स्वय तो कोई प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नही होता किन्तु दीर्घकाल मे अप्रत्यक्ष लाभ अवश्य ही होता है। इसका कारण यह है कि नि शुल्क शिक्षा के फलस्वरूप नागरिको की कार्यकुशलता का स्तर एव उत्पादन शक्ति अधिक बढ जाती है। परिणामत उनकी करदान क्षमता मे वृद्धि हो जाती है। तीसरे वर्ग मे, वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जिससे राज्य को आशिक रूप मे ही प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, जब सरकार शिक्षा पर व्यय करती है और इसके बदले शिक्षार्थियो से शुल्क वसूल करती है तो इससे उसको आशिक रूप मे प्रत्यक्ष लाभ अवश्य ही होता है। चौथे वर्ग मे, वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जिससे सरकार न केवल अपने व्यय को पूरा कर लेती है बल्कि इससे कुछ अतिरिक्त आय भी उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ, जब सरकार कृषि एव उद्योग धन्धो जैसे क्रियात्मक कार्यों पर व्यय करती है तब इसे अपने द्वारा किये गये व्यय के अतिरिक्त आय भी प्राप्त होती है।

प्रो० निकलसन द्वारा प्रस्तुत किया गया उपर्युक्त वर्गीकरण उचित प्रतीत नही होता क्योकि सार्वजनिक व्यय का अन्तिम उद्देश्य आय प्राप्त करना नही बल्कि जनता के कल्याण मे वृद्धि करना है।

(3) **प्रो० एडम का वर्गीकरण** (Prof Adam's Classification)—प्रो० एडम ने कार्यों के आधार पर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किया है। प्रथम वर्ग मे, उन्होंने ऐसे व्यय को सम्मिलित किया है जिसका सम्बन्ध देश के नागरिक प्रशासन एव सुरक्षा को बनाये रखने से है। इस प्रकार के व्यय को वह सुरक्षात्मक व्यय (*Defence Expenditure*) कहते है। दूसरे वर्ग मे, प्रो० एडम ने ऐसे व्यय को सम्मिलित किया है जो देश के व्यापार एव औद्योगिक विकास के लिये किया जाता है। इस प्रकार के व्यय को उन्होने वाणिज्य व्यय (Commercial Expenditure) की सज्ञा दी है।

तीसरे वर्ग मे, उन्होंने ऐसे व्यय को सम्मिलित किया है जिसका सम्बन्ध विकासात्मक कार्यों से होता है। उदाहरणार्थ, शिक्षा, चिकित्सा आदि पर किया गया व्यय इस वर्ग मे सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यय को विकासात्मक व्यय (Development Expenditure) कहा गया है। प्रो० एडम के इस वर्गीकरण मे प्रमुख कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि विभिन्न प्रकार के व्यय एक-दूसरे मे समाविष्ट हो जाते है और एक प्रकार के व्यय को दूसरे प्रकार के व्यय से पृथक करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, व्यापार आदि के विकास पर किये गये व्यय को वाणिज्य व्यय एव विकासात्मक व्यय दोनो के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है।

(4) **प्रो० फिण्डले शिराज का वर्गीकरण** (Prof Findlay Shirras's Classification)—प्रो० फिण्डले शिराज ने राज्य कर्तव्य के आधार पर सार्वजनिक व्यय को दो वर्गों मे विभाजित

किया है—(1) प्राथमिक व्यय (Primary Expenditure), (2) गौण व्यय (Secondary Expenditure)। प्राथमिक व्यय के अन्तर्गत वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जो देश की सुरक्षा, शान्ति व्यवस्था तथा ऋणों के भुगतान आदि पर किया जाता है। इसके विपरीत, गौण व्यय के अन्तर्गत वह व्यय सम्मिलित किया जाता है जो सामाजिक सेवाओं तथा विकासात्मक कार्यों पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रो० फिण्डले शिराज के अनुसार विकासात्मक कार्यों पर किया गया सरकारी व्यय प्राथमिक न होकर गौण ही समझा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रो० शिराज का यह वर्गीकरण अत्यन्त सरल है, लेकिन इसमें कठिनाई यह है कि दोनों प्रकार के व्ययों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग करना सम्भव नहीं और फिर अधिकांश अर्थशास्त्री इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि औद्योगिक विकास पर किया गया व्यय प्राथमिक न होकर गौण ही होता है। वर्तमान युग में आर्थिक विकास पर किया गया व्यय किसी भी दृष्टि से गौण नहीं समझा जा सकता है।

(5) डा० डाल्टन का वर्गीकरण (Dr Dalton's Classification)—डा० डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय को दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) अनुदान (Grants) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, (2) क्रय मूल्य (Purchase Price)। जब सरकार अपने साधनों का इस प्रकार जनता में हस्तान्तरित करती है कि उस हस्तान्तरण से उसे प्रतिफल (Quid Pro Quo) लाभ प्राप्त नहीं होता तब उसे अनुदान कहते हैं। उदाहरणार्थ वृद्धावस्था पेन्शन बेरोजगारी भत्ते निःशुल्क शिक्षा आदि पर किये गये व्यय को अनुदान ही समझा जायगा। डा० डाल्टन के अनुसार अनुदान भी दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष। जब सरकार द्वारा दिये गये अनुदान का लाभ उन व्यक्तियों अथवा वर्गों तक ही सीमित रहता है जिनके लिए वह दिया गया है, तब इसे प्रत्यक्ष अनुदान कहते हैं। इसके विपरीत, जब सरकार द्वारा दिये गये अनुदान का लाभ उन व्यक्तियों तथा वर्गों तक सीमित न रहकर अन्य व्यक्तियों तथा वर्गों को हस्तान्तरित हो जाता है तब ऐसे अनुदान को परोक्ष अनुदान कहते हैं। जब सरकार व्यक्तियों अथवा वर्गों को अपने साधनों का हस्तान्तरण इस ढंग से करती है कि वे उन्हें अपनी सेवाओं के बदले में ही प्राप्त करते हैं, तब इस प्रकार के हस्तान्तरण को क्रय-मूल्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब सरकार लोगों को किसी वस्तु अथवा सेवा के बदले उनसे बाजार मूल्य के बराबर भुगतान करती है तब उसे क्रय मूल्य कहते हैं।

(6) प्रो० रॉबिन्सन का वर्गीकरण (Prof Robinson s Classification)—प्रो० राबिन्सन ने सार्वजनिक व्यय को दो वर्गों में विभाजित किया है—(1) उत्पादक व्यय (2) अनुत्पादक व्यय। उत्पादक व्यय वह है जिसमें देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ कृषि उद्योग-धन्धों के विकास पर किया गया व्यय उत्पादक व्यय होता है। इसके विपरीत, अनुत्पादक व्यय वह है जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि नहीं होती। उदाहरणार्थ युद्ध पर किया गया व्यय अनुत्पादक व्यय ही माना जा सकता है।

(7) प्रो० पीगू का वर्गीकरण (Prof Pigou s Classification)—प्रो० पीगू ने भी सार्वजनिक व्यय को दो वर्गों में विभाजित किया है (1) हस्तान्तरण व्यय (Transfer Expenditure) (2) अहस्तान्तरण व्यय (Non Transfer Expenditure)। हस्तान्तरण व्यय से अभिप्राय उस सरकारी व्यय से है जो सरकार द्वारा नागरिकों के लाभार्थ किया जाता है। जैसे वृद्धावस्था पेन्शन बेरोजगारी भत्ते निःशुल्क डाक्टरी सहायता आदि पर किया गया व्यय हस्तान्तरण व्यय कहलाता है। इसके विपरीत, अहस्तान्तरण व्यय से अभिप्राय उस व्यय से है जो सरकार द्वारा अपने लाभार्थ किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रशासन पर किया गया सरकारी व्यय अहस्तान्तरण व्यय कहलाता है। परन्तु प्रो० पीगू के उपर्युक्त वर्गीकरण में मुख्य कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि दोनों वर्गों के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती।

(8) सार्वजनिक व्यय का एक अन्य वर्गीकरण—कुछ अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय को प्रशासन इकाई के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया। प्रथम, केन्द्रीय संघीय अथवा राष्ट्रीय व्यय (Central, Union or National Expenditure)। इसमें अभिप्राय उस व्यय से है जो देश की केन्द्रीय अथवा संघीय सरकार द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत सरकार द्वारा सुरक्षा पर किया गया व्यय केन्द्रीय अथवा संघीय व्यय कहलाता है। दूसरे प्रान्तीय अथवा

राज्यीय व्यय (Provincial or State Expenditure)। इससे अभिप्राय उस व्यय से है जो देश की प्रान्तीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, कृषि, पुलिस, न्याय, शिक्षा आदि पर किया गया व्यय प्रान्तीय अथवा राज्यीय व्यय कहलाता है। तीसरे, **स्थानीय व्यय** (Local Expenditure)—इससे अभिप्राय उस व्यय से है जो स्थानीय निकायों (local bodies) द्वारा किया जाता है। जैसे नगरपालिकाओं, जिला परिषदों एवं पंचायतों द्वारा किये गये व्यय को स्थानीय व्यय की संज्ञा दी जाती है।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त
(Canons of Public Expenditure)

प्रत्येक सरकार को अपना व्यय निश्चित करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए

1. **लाभ का सिद्धान्त** (Canon of Benefit)—इसमें अभिप्राय यह है कि अपना व्यय निश्चित करते समय सरकार को अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए, अर्थात् सरकार को अपना व्यय इस ढंग से निर्धारित करना चाहिए कि उससे अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति हो। दूसरे शब्दों में, सरकारी व्यय से अधिक से अधिक लोगों को लाभ होना चाहिए। इसका यह भी अभिप्राय है कि सरकारी व्यय के परिणामस्वरूप देश के उत्पादन में अधिकतम वृद्धि होनी चाहिए। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपना व्यय निश्चित करते समय सरकार यथासम्भव समसीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) का पालन करे। दूसरे शब्दों में, सरकार को विभिन्न मदों पर अपना व्यय इस ढंग से वितरित करना चाहिए कि प्रत्येक मद पर किये गये व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हों क्योंकि ऐसा करने से ही अधिकतम सामाजिक लाभ के लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सकती है। सरकार को भी एक निजी व्यक्ति की भाँति इस नियम का पालन करना चाहिए। जैसा विदित है, एक निजी व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए विभिन्न मदों पर अपना व्यय इस ढंग से वितरित करता है कि प्रत्येक मद से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निजी व्यय एवं सरकारी व्यय में एक प्रकार की समानता पायी जाती है क्योंकि अन्ततः दोनों प्रकार के व्यय समसीमान्त उपयोगिता नियम पर ही आधारित होते है। परन्तु इस नियम को व्यावहारिक रूप देते समय सरकार के सम्मुख एक कठिनाई उत्पन्न होती है। वह यह है कि विभिन्न मदों पर किये गये व्ययों की सीमान्त उपयोगिताओं को कैसे ज्ञात किया जाय। जैसा डा० डाल्टन ने कहा है "सरकार के लिए विभिन्न मदों पर किये गये व्ययों की सीमान्त उपयोगिताओं का सही सही अनुमान लगाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही है।'

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि सरकार को यथासम्भव अपना व्यय किसी विशेष व्यक्ति अथवा वर्ग के लिए नहीं, बल्कि सर्वसाधारण के लिए करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि सरकार किसी विशेष वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए कोई व्यय करती है तो निश्चय ही इस प्रकार का व्यय लाभ के सिद्धान्त की अवहेलना करेगा। इस सिद्धान्त का यह भी अभिप्राय है कि सरकार को अपने व्यय के माध्यम द्वारा यथासम्भव देश में प्रचलित आय सम्बन्धी असमानताओं को कम करना चाहिए। अतः अपना व्यय निश्चित करते समय सरकार को उद्देश्य की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

2. **मितव्ययता का सिद्धान्त** (Canon of Economy)—इस सिद्धान्त से अभिप्राय यह है कि सरकार का व्यय यथासम्भव मितव्ययतापूर्ण होना चाहिए, अर्थात् उससे किसी प्रकार का अपव्यय (wastage) नहीं होना चाहिए। सरकार को व्यय करते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए कि करदाताओं से प्राप्त किये गये धन का किसी भी तरह अपव्यय न हो। यह भी आवश्यक है कि अपव्यय को रोकने के लिए सरकारी व्यय में किसी प्रकार का दोहराव (duplication) न हो। मितव्ययता सिद्धान्त का यह भी अभिप्राय है कि सरकारी व्यय से देश के उत्पादन पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, अर्थात् सरकारी व्यय किसी भी तरह से उत्पादन को निरुत्साहित न करे। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि सरकारी

व्यय के परिणामस्वरूप लोगो की बचत करने की इच्छा एव शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। वित्त मन्त्री को इस सम्बन्ध मे विशेष तौर पर सतर्क रहना चाहिए। दुर्भाग्यवश, भारत मे राज्य सरकारो द्वारा किया गया व्यय इस सिद्धान्त को पूर्णत सन्तुष्ट नही करता। इससे कोई भी व्यक्ति इन्कार नही कर सकता कि अधिकाश राज्य सरकारो द्वारा व्ययो को उचित ढग से नही किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न सरकारी विभागो मे कई प्रकार के अपव्यय हो रहे हैं।

3 **स्वीकृति का सिद्धान्त** (Canon of Sanction)—इसका अभिप्राय यह है कि व्यय करने से पूर्व सरकार को समुचित अधिकरण सस्था (proper authority) से स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए अर्थात बिना उचित स्वीकृति के किसी भी प्रकार का व्यय नही किया जाना चाहिए। प्रजातान्त्रिक देशो मे प्रति वर्ष सरकार अपना बजट विधानसभा के सम्मुख प्रस्तुत करती है और उसकी स्वीकृति के बिना एक पैसा भी व्यय नही कर सकती। इसका यह भी अभिप्राय है कि सरकारी विभागो मे भी बिना उचित स्वीकृति के किसी प्रकार का व्यय न किया जाय और न ही एक मद के लिए स्वीकृत धन को दूसरी मद के लिए व्यय किया जाय। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि ऋणो द्वारा प्राप्त किया गया धन सरकार द्वारा उन्ही कार्यों पर व्यय किया जाना चाहिए जिनके लिए ऋण लिया गया है। स्वीकृति सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सरकारी व्यय का अकेक्षण (auditing) भी अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए ताकि किसी प्रकार के अनुचित व्यय की सम्भावना ही न रहे।

4 **लोच का सिद्धान्त** (Canon of Elasticity)—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक व्यय मे यथासम्भव अधिक से अधिक मात्रा म लोच का अश होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे आवश्यकताओ के अनुसार सार्वजनिक व्यय मे परिवर्तन की गु जायश होनी चाहिए। उदाहरणार्थ सकट के समय सार्वजनिक व्यय मे कटौती की गु जाइश होनी चाहिए क्योकि ऐसे समय सरकार की आय मे प्राय कमी हो जाती है।

5 **आय-व्यय के सन्तुलन का सिद्धान्त** (Canon of Balanced Income and Expenditure)—इस सिद्धान्त से अभिप्राय यह है कि सरकार की आय तथा व्यय म यथासम्भव सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए अर्थात सरकार के बजट मे न तो बचत और न ही घाटा होना चाहिए। यदि सरकार के बजट म बचत होती है तो इसका अभिप्राय यह है कि सरकार आवश्यकता से कम व्यय कर रही है। इसके विपरीत यदि सरकार के बजट मे घाटा होता है तो इसका अभिप्राय यह है कि सरकार आवश्यकता से अधिक व्यय कर रही है। इस दृष्टिकोण से आदर्श बजट वह होता है जिसमे आय तथा व्यय का सन्तुलन किया जाता है।

सार्वजनिक व्यय के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के आर्थिक प्रभावो का अध्ययन हम तीन उप शीर्षको के अन्तगत कर सकते है—(1) सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव (2) सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव (3) सार्वजनिक व्यय क अन्य प्रभाव।

1 **सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव**—डा० डाल्टन के अनुसार सार्वजनिक व्यय के उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनका अध्ययन हम तीन उप शीर्षको के अन्तगत कर सकते हैं

(क) **कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर प्रभाव**—सार्वजनिक व्यय का कुछ भाग अवश्य ही ऐसा होता है जिससे लोगो की कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति मे वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ, जब सरकार शिक्षा, चिकित्सा सस्ते मकानो आदि की व्यवस्था पर व्यय करती है तो इससे निश्चय ही लोगो की कार्यकुशलता मे सुधार होता है। परिणामत उसकी कार्य करने की शक्ति बढ जाती है और अन्त में, उनकी आय मे भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार लोगो की बचत करने की शक्ति मे भी सुधार होता है। इसी तरह जब सरकार कृषि, उद्योग धन्धो परिवहन एव सचार के साधनो के विकास पर व्यय करती है तो उस व्यय से देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि

होती है और लोगों की आय बढ़ जाती है। परिणामतः उनकी बचत करने की शक्ति में भी वृद्धि होती है। अतः इस प्रकार व्यय का उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(ख) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—सार्वजनिक व्यय का कुछ भाग लोगों को सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करने पर भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, आजकल लगभग सभी देशों में श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमे (social insurance) की व्यवस्था की गयी है। इसके अन्तर्गत, मजदूरों को वृद्धावस्था में पेन्शन दी जाती है, बेकारी भत्ते दिये जाते हैं तथा अस्वस्थता एवं बीमारी के दौरान उन्हें निःशुल्क डाक्टरी सहायता भी दी जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के सार्वजनिक व्यय से मजदूरों की कार्य तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जब सरकार मजदूरों के लिए इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था कर देती है तो निश्चय ही वे अपने भविष्य के बारे में उदासीन हो जाते हैं और बचत करना कम कर देते हैं, किन्तु यदि इस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था केवल असहाय एवं अपाहीन श्रमिकों के लिए ही की जाती है तो इनसे साधारण मजदूरों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(ग) विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों में उत्पादन के साधनों के वितरण पर प्रभाव—सार्वजनिक व्यय के माध्यम से सरकार विभिन्न व्यवसायों एवं उद्योगों के साधनों के वितरण को भी प्रभावित कर सकती है। उदाहरणार्थ, यदि सरकार उत्पादन के साधनों को किसी विशेष उद्योग में आकर्षित करना चाहती है तो वह ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता देना आरम्भ कर देगी। अर्थात् ऐसे उद्योग-धन्धों को सरकार उपदान (subsidy) देना आरम्भ कर सकती है। इस प्रकार की रियायतों से प्रोत्साहित होकर निश्चय ही उद्योगपति उस उद्योग में अपनी पूँजी लगाना प्रारम्भ कर देंगे। इसी प्रकार यदि सरकार उत्पादन के साधनों को किसी विशेष क्षेत्र में आकर्षित करना चाहती है तो वह उन्हें कई प्रकार के प्रोत्साहन देना आरम्भ कर देगी। उदाहरणार्थ, यदि सरकार किसी पिछड़े हुए क्षेत्र का विकास करना चाहती है तो वह ऐसे क्षेत्र में उद्योगपतियों को कई प्रकार की रियायतें देकर आकर्षित कर लेगी। इस प्रकार एक सुनियोजित सार्वजनिक व्यय प्रणाली द्वारा सरकार उत्पादन के साधनों की गतिशीलता को प्रभावित कर सकती है।

2 **सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव**—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, प्रत्येक सरकार अपने सम्मुख अधिकतम सामाजिक लाभ का लक्ष्य रखती है और यथासम्भव इस लक्ष्य को पूरा करने का प्रयत्न करती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है जबकि देश में प्रचलित आय सम्बन्धी असमानताओं को दूर अथवा कम किया जाय। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश में प्रचलित आर्थिक विषमताओं में यथासम्भव कमी की जाय। वास्तव में, सार्वजनिक व्यय इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आदर्श साधन प्रस्तुत करता है। सरकार को चाहिए कि वह धनिक वर्गों पर अधिकाधिक मात्रा में कर लगाये क्योंकि ऐसे वर्गों की करदान क्षमता निश्चय ही अधिक होती है। इस प्रकार के कराधान से प्राप्त होने वाली आय को निर्धन वर्गों पर व्यय किया जाय। सरकार को चाहिए कि निर्धन वर्गों को शिक्षा, चिकित्सा, सस्ता अनाज, सस्ते मकान, वृद्धावस्था पेन्शन तथा बेरोजगारी भत्तों जैसी सुविधाएँ प्रदान करे। ऐसा करने में देश में राष्ट्रीय आय का स्वतः ही पुनर्वितरण हो जायगा। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय का निर्धन वर्गों की ओर हस्तान्तरण होगा। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय आर्थिक विषमताओं को दूर अथवा कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता है। यही कारण है कि आजकल सभी देशों की सरकारें सार्वजनिक व्यय के माध्यम से राष्ट्रीय आय के वितरण में यथासम्भव समानता स्थापित करने का प्रयत्न करती हैं।

3 **सार्वजनिक व्यय के अन्य प्रभाव**—सार्वजनिक व्यय के आर्थिक जीवन पर अन्य प्रभाव भी पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक व्यय रोजगार की मात्रा को नियमित एवं नियन्त्रित करने का अच्छा साधन है। मन्दीकाल में सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय में पर्याप्त वृद्धि कर दे। ऐसा करने से रोजगार की मात्रा में स्वतः ही वृद्धि हो जायगी। सरकारी व्यय के परिणामस्वरूप बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार के नये-नये अवसर प्राप्त होंगे। इसके विपरीत, तेजी काल में सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय में पर्याप्त कमी कर दे। ऐसा करने से सरकार देश को

मुद्रा-स्फीति के कुप्रभावों से बचा सकेगी। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय के यन्त्र द्वारा रोजगार की मात्रा मे स्थायित्व लाया जा सकता है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **वे सिद्धान्त बताइये जिनके द्वारा राजकीय व्यय निर्धारित होता है। राजकीय व्यय किस प्रकार सामाजिक कल्याण बढ़ा सकते हैं ? समझाइए।** (आगरा, 1963)

[**संकेत**—*प्रथम भाग मे, सार्वजनिक व्यय के पाँच मुख्य सिद्धान्तो की विवेचना कीजिए।* दूसरे भाग मे, बताइए कि काम करने तथा बचत करने की शक्ति को बढ़ाकर सार्वजनिक व्यय सामाजिक कल्याण मे वृद्धि कर सकता है।]

2 **सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत व्यय मे क्या अन्तर है ? सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी सिद्धान्तों का वर्णन करिए।** (जबलपुर, 1965)

[संकेत—प्रथम भाग मे, सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत व्यय के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे, सार्वजनिक व्यय के मुख्य सिद्धान्तो का उल्लेख कीजिए।]

3 **आधुनिक वर्षों मे सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के कारणो का उल्लेख कीजिए।** (राँची, 1963)

[संकेत—*यहाँ पर विगत वर्षों मे जिन कारणो से सार्वजनिक व्यय की वृद्धि हुई है,* उनकी सविस्तार विवेचना कीजिए। देखिए उपर्युक्त अध्याय।]

46
सार्वजनिक ऋण
(Public Debt)

प्रस्तावना जब सरकार अपने बजट के घाटे का पूरा करने के लिए लोगों से ऋण लेती है तब इसे सार्वजनिक ऋण कहते है। जैसा विदित है एक निजी व्यक्ति की भांति सरकार को भी अपना व्यय पूरा करने के लिए लोगों से ऋण लेना पडता है। 19वीं शताब्दी से पूर्व सार्वजनिक ऋण का कोई विशेष महत्त्व नहीं हुआ करता था। यह ठीक है कि उस समय राजा लोग युद्ध लडने के लिए अपनी प्रजा से ऋण लिया करते थे। परन्तु इस प्रकार के लिए गये ऋणों की मात्रा बहुत कम हुआ करती थी। आधुनिक युग मे सार्वजनिक ऋण का आकार बहुत बढ गया है। इस समय शायद ही कोई ऐसी सरकार होगी जिसने लोगो से ऋण न ले रखा हो। वर्तमान युग मे सार्वजनिक ऋण की अत्यधिक वृद्धि के मुख्य कारण इस प्रकार है

(1) **अबन्ध नीति का परित्याग** (Abandonment of Laissez Faire)—आजकल लगभग सभी सरकारो ने अबन्ध नीति का परित्याग कर दिया है और वे आवश्यकतानुसार देश के आर्थिक जीवन म हस्तक्षेप करती है। उदाहरणार्थ देश के आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए विभिन्न प्रकार की आर्थिक योजनाओं का निर्माण किया जाता है और इन योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए सरकार को बडे पैमाने पर लोगो से ऋण लेना पडता है।

(2) **करो के विरोध से बचने के लिए**—जब सरकार जनता पर नये कर लगाती है अथवा पुराने करो को बढाती है तो निश्चय ही उसे जनता के विरोध का सामना करना पडता है। कभी कभी सरकार जनता के इस विरोध से बचने के लिए सार्वजनिक ऋण का सुगम मार्ग अपना लेती है।

(3) **दैवी विपत्तियो का सामना करने के लिए**—कभी कभी सरकार अकाल बाढ भूकम्प आदि जैसी दैवी विपत्तियो का सामना करने के लिए भी लोगो से ऋण प्राप्त करती है यद्यपि इस प्रकार के ऋण का आकार अधिक बडा नहीं होता।

(4) **युद्ध लडने के लिए** जैसा विदित है विगत 70 वर्षों म दो भयकर विश्व युद्ध हो चुके हैं। इन युद्धो के दौरान लगभग सभी सरकारो ने बडे पैमाने पर लोगो से ऋण प्राप्त किये थे। वास्तव मे सार्वजनिक ऋण की आधुनिक वृद्धि का यह सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। युद्ध की तैयारी करने के लिए भी सरकारो को सार्वजनिक ऋण का आश्रय लेना पडता है।

(5) **बजट मे अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए**—जब कभी सरकार के बजट मे अस्थायी घाटा हो जाता है और सरकार उस घाटे का पूरा करने के लिए नये कर लगाना उचित नहीं समझती तो ऐसी परिस्थिति म सरकार को सार्वजनिक ऋण का सहारा लेना पडता है।

व्यक्तिगत ऋण तथा सार्वजनिक ऋण में अन्तर
(Distinction Between Individual Debt and Public Debt)

व्यक्तिगत ऋण तथा सार्वजनिक ऋण में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं

(1) सरकार लोगों को ऋण देने के लिए विवश कर सकती है किन्तु एक निजी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता।

(2) सरकार लोगों से प्राप्त किये गये ऋण को लौटाने से इन्कार कर सकती है जबकि एक निजी व्यक्ति किसी अन्य शक्ति से लिए गये ऋण को वापस करने से इन्कार नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

(3) सरकार लोगों से लिये गये ऋण पर ब्याज की दर में एकपक्षीय कमी (Unilateral Reduction) कर सकती है अर्थात् सरकार लोगों से ऋण लेने के बाद भी ब्याज की दर में यदि चाहे तो कमी कर सकती है। किन्तु एक निजी व्यक्ति ऐसा करने में असमर्थ होता है। उसे तो ब्याज की वही दर चुकानी पड़ती है जिसके लिए वह अपने आप को पहले से ही बाध्य कर चुका है।

(4) सरकार लोगों से दीर्घकालीन ऋण ले सकती है जबकि एक निजी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से बहुत लम्बे समय के लिए ऋण प्राप्त नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि सरकार निरन्तर चलती रहती है जबकि एक निजी व्यक्ति मरणशील होता है।

(5) सरकार भीतरी तथा बाहरी दोनों प्रकार के साधनों से ऋण ले सकती है अर्थात् सरकार लोगों से ऋण ले सकती है और अपने आप से भी ऋण ले सकती है। जब सरकार नोट छापकर बजट सम्बन्धी घाटे को पूरा करती है तब वह अपने आप से ऋण लेती है किन्तु एक निजी व्यक्ति ऋण केवल बाहरी साधनों से ही ले सकता है भीतरी साधनों से नहीं।

(6) सार्वजनिक ऋण प्रायः ऋणदाताओं के कल्याण के लिए ही व्यय किया जाता है। उदाहरणार्थ जब सरकार लोगों से लिए गये ऋण को विकासात्मक कार्यों पर व्यय करती है तो इससे सभी लोगों के कल्याण में वृद्धि होती है अर्थात् ऋणदाताओं को भी इसका लाभ पहुँचता है। इसके विपरीत निजी ऋण प्रायः ऋणदाता के हित में व्यय नहीं किया जाता।

(7) सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत ऋणदाता अपने ऋण-पत्र को बेचकर अपनी पूँजी वसूल कर सकता है जबकि व्यक्तिगत ऋणदाता ऐसा नहीं कर सकता।

(8) सार्वजनिक ऋण का देश के उत्पादन तथा वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है जबकि व्यक्तिगत ऋण का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता।

(9) चूँकि सरकार की साख ऊँची होती है इसलिए सार्वजनिक ऋण व्यक्तिगत ऋण की तुलना में कम ब्याज की दर पर उपलब्ध होता है।

(10) सार्वजनिक ऋण का भुगतान सरकार जनता से धन लेकर करती है और इस प्रकार के धन में ऋणदाताओं को भी अपना अंशदान चुकाना पड़ता है। अर्थात् सार्वजनिक ऋण का भार ऋणदाताओं द्वारा भी वहन किया जाता है। इसके विपरीत व्यक्तिगत ऋण के अन्तर्गत ऋण का भार ऋणदाता द्वारा वहन नहीं किया जाता।

(11) सार्वजनिक ऋण प्रायः राज्य उत्पादक कार्यों के लिए व्यय किया जाता है जबकि व्यक्तिगत ऋण उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों प्रकार के कार्यों के लिए व्यय किया जाता है।

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
(Classification of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण का निम्न आधारों पर वर्गीकरण किया गया है

1 उत्पादक (सक्रिय) तथा अनुत्पादक (मृतभार ऋण) [Productive Debt and Unproductive (Deadweight) Debt]—उत्पादक ऋण वह ऋण होता है जिससे प्राप्त रकम को सरकार द्वारा उत्पादक कार्यों में लगाया जाता है जैसे—सिंचाई योजनाएं, सड़कों का विकास, रेलों का निर्माण इत्यादि। इस प्रकार के ऋण से सरकार की आय बढ़ जाती है और इस बढ़ी हुई आय में से ही सरकार ऋणों पर ब्याज चुकाती है। उत्पादक ऋणों से देश के उत्पादन में

वृद्धि होती है। उत्पादक ऋणों के पीछे उतनी ही रकम की परिसम्पित्त (assets) होती है। अत ऐसे ऋणों का लौटाना सरल होता है। इसके विपरीत अनुत्पादक ऋण वह ऋण होता है जिससे प्राप्त रकम को सरकार द्वारा उत्पादक कार्यों पर व्यय नहीं किया जाता। अर्थात ऐसे ऋणों से देश की उत्पादक शक्ति म वृद्धि नहीं होती। इसलिए इस प्रकार के ऋण का बोझ अधिक होता है और इसे वापस लौटाना और भी अधिक कठिन होता है। अत इस ऋण का मृतभार ऋण (Deadweight Debt) कहते हैं। इस प्रकार के ऋण प्राय युद्ध लडन तथा दैवी विपत्तियो का सामना करने क लिए सरकार द्वारा लिये जाते है।

2 ऐच्छिक ऋण तथा बलात ऋण (Voluntary Debt and Forced Debt)—जब लाग अपनी इच्छा से सरकार को ऋण देते है तो एसे ऋण को ऐच्छिक ऋण कहा जाता है। साधारणत सार्वजनिक ऋण ऐच्छिक आधार पर ही लोगो से लिया जाता है। लेकिन कभी-कभी सरकार लोगो से उनकी इच्छा के विरुद्ध भी ऋण लेती है। उदाहरणार्थ सकट के समय सरकार लोगो से उनकी इच्छा के विरुद्ध भी ऋण लेने के लिए तैयार हो जाती है। इस प्रकार के ऋण को बलात ऋण कहते हैं। उदाहरणार्थ भारत सरकार ने सन 1964 म लोगो से अनिवार्य निक्षेप (Compulsory Deposits) लेने का निश्चय किया था। वास्तव मे यह भी एक प्रकार का बलात ऋण ही था किन्तु जनता के कडे विरोध के कारण आगे चलकर भारत सरकार का इसका परित्याग करना पडा था। साधारणत सरकार लोगो से ऐच्छिक आधार पर ही ऋण लेती है। वास्तव मे बलात ऋण और कर म कोई अधिक अन्तर नही होता। सरकार के लिए बलात ऋण लेने की अपेक्षा कर लगाकर धन एकत्रित करना अधिक लाभदायक होगा क्योंकि ऐसा करने से सरकार को न तो ऋण चुकाने का भार ही वहन करना पडेगा और न ही उसे लिये गय ऋण पर ब्याज ही चुकाना होगा।

3 आन्तरिक ऋण एव बाह्य ऋण (Internal Debt and External Debt)—आन्तरिक ऋण से अभिप्राय उस ऋण से होता है जो सरकार द्वारा देशवासियो से ही लिया जाता है। इसके विपरीत बाह्य ऋण से अभिप्राय उस ऋण से होता है जो सरकार विदेशी सरकारो सस्थाओ एव व्यक्तियो से लेती है। उदाहरणार्थ ब्रिटिश शासनकाल मे भारत सरकार दो प्रकार क ऋण लिया करती थी। प्रथम रुपया ऋण (Rupee Loan)—यह वह ऋण था जो भारत सरकार भारतीयो से लिया करती थी। दूसरे स्टर्लिंग ऋण (Sterling Loan)—यह वह ऋण था जो भारत सरकार ब्रिटेन से लिया करती थी। बाह्य ऋण की अपेक्षा आन्तरिक ऋण श्रेष्ठ होता है। इसके दो कारण है—प्रथम जब ऋण विदेशो से लिया जाता है तो प्रतिवर्ष उस ऋण पर ऋणी देश को ब्याज चुकाना पडता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष देश से विदेशो को धन का हस्तान्तरण होता है। दूसर बाह्य ऋण से देश की आर्थिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रता को खतरा हो सकता है। इतिहास म अनेक ऐसे उदाहरण है जहा पर कुछ देशो ने विदेशी ऋणो के कारण ही अपनी आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता को खो दिया था।

4 कोषित ऋण तथा अकोषित ऋण (Funded Debt and Unfunded Debt)—कोषित ऋण वह ऋण होता है जिसके भुगतान के लिए सरकार एक पृथक कोष स्थापित कर देती है। सरकार प्रतिवर्ष इस कोष मे कुछ रकम जमा करती जाती है और ऋण की अवधि समाप्त हो जाने पर इसी कोष मे से उसका भुगतान कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ उत्पादक कार्यों के लिए लिये गये ऋण को कोषित ऋण कहते है क्योंकि इस प्रकार के ऋण के भुगतान की व्यवस्था अलग से एक कोष से की जाती है। इसके विपरीत अकोषित ऋण से अभिप्राय उस ऋण से होता है जिसके भुगतान के लिए सरकार कोई अलग कोष स्थापित नहीं करती। इस प्रकार के ऋण के ब्याज का भुगतान सरकार अपनी साधारण आय म से ही करती है और ऋण की अवधि समाप्त हो जाने पर इसके मूलधन का भुगतान लोगो से अन्य ऋण लेकर किया जाता है। इसीलिए इस प्रकार के ऋण को कभी कभी प्रचलित ऋण (Floating Debt) कहते हैं। स्मरण रहे कि कोषित ऋण को दीर्घकालीन ऋण (Long term Debt) भी कहते है और अकोषित ऋण को अल्पकालीन ऋण (Short Period Debt) कहते है। इसका कारण यह है कि कोषित ऋण दीर्घकाल के लिए लिया जाता है जबकि अकोषित ऋण थोडे समय के लिए ही

लिया जाता है। उदाहरणार्थ, ट्रेजरी बिलों का अकोषित ऋण ही समझा जायगा, क्योंकि वे केवल अल्पकाल के लिए ही होते हैं।

5 शोध्य ऋण तथा अशोध्य ऋण (Redeemable Debt and Non redeemable Debt)—शोध्य ऋण से अभिप्राय उस ऋण से होता है जिसका मूलधन सरकार निश्चित अवधि के उपरान्त लौटा देती है। सरकार इस प्रकार के ऋणों का नियमित ब्याज देती है और जब ऋण की अवधि समाप्त हो जाती है तो उनके मूलधन का भुगतान देती है। इसलिए इसे शोध्य ऋण कहा जाता है। शोध्य ऋण के लिए प्रायः सरकार एक शोधन निधि (Sinking Fund) का निर्माण कर देती है और प्रतिवर्ष कुछ धन जमा करती रहती है। ऋण की समाप्ति पर इस निधि से ऋण का मूलधन चुका दिया जाता है। इसके विपरीत, अशोध्य ऋण वह ऋण होता है, जिसका मूलधन सरकार द्वारा कभी भी नहीं लौटाया जाता। अशोध्य ऋण निरन्तर चलता रहता है। इस प्रकार के ऋण पर सरकार नियमित ब्याज देती रहती है, परन्तु इसका मूलधन कभी नहीं चुकाया जाता।

सार्वजनिक ऋण से लाभ

इसके लाभ निम्नलिखित हैं

(1) सार्वजनिक ऋण के कारण देश की पूँजी अधिक उत्पादक हो जाती है। जैसा विदित है, सार्वजनिक ऋण प्रायः उत्पादक कार्यों के लिए ही लिया जाता है। इस प्रकार के ऋण से देश के प्राकृतिक साधनों का शोषण किया जाता है और उत्पादन की मात्रा को बढ़ाया जाता है।

(2) सार्वजनिक ऋण देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने में बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। जैसा विदित है आधुनिक सरकारें लोगों से ऋण लेकर विकासात्मक कार्यों में धन लगाती हैं। इससे निश्चय ही देश के आर्थिक विकास की गति तीव्र हो जाती है।

(3) सार्वजनिक ऋण से प्राकृतिक विपत्तियों का सामना करने में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ अकाल, बाढ़ एवं महामारी जैसी विपत्तियों का सामना करने के लिए सरकार कभी-कभी लोगों से ऋण ली जाती है।

(4) सार्वजनिक ऋण से युद्ध को सफलतापूर्वक लड़ने में भी सहायता मिलती है। जैसा विदित है आधुनिक युद्ध बहुत खर्चीले होते हैं और सरकारें सार्वजनिक ऋण के बिना उन्हें सफलतापूर्वक नहीं लड़ सकतीं।

(5) सार्वजनिक ऋण के फलस्वरूप अतिरिक्त पूँजी वाले देशों (Surplus Capital Countries) को अपनी पूँजी के निकासी (outlet) के लिए नये-नये अवसर प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार कम पूँजी वाले देशों (Capital Deficit Countries) को भी सार्वजनिक ऋण के माध्यम से इच्छित मात्रा में पूँजी उपलब्ध होती है।

सार्वजनिक ऋण से हानियाँ

ये निम्नलिखित हैं

(1) चूँकि सरकार को जनता से ऋण लेने में कोई कठिनाई नहीं होती, इसलिए सरकार कभी-कभी अपनी आवश्यकता से भी अधिक ऋण ले लेती है जिसके कारण बाद में उसको वित्तीय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) चूँकि सरकार को ऋण लेने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती इसलिए ऋण द्वारा प्राप्त की गयी रकम का उपयोग प्रायः मितव्ययितापूर्ण ढंग से नहीं किया जाता। अर्थात् इस प्रकार के धन का प्रायः अपव्यय ही किया जाता है और सरकार की योजनाओं पर इसे बर्बाद किया जाता है।

(3) विदेशी ऋणों के कारण प्रतिवर्ष बड़ी-बड़ी रकमें ब्याज के रूप में बाहर चली जाती है जिससे देश का आर्थिक हानि होती है।

(4) अनुत्पादक ऋणों का लौटाना कठिन होता है क्योंकि उनके पीछे कोई परिसम्पत्ति (assets) नहीं होती। उदाहरणार्थ युद्ध लड़ने के लिए प्राप्त किये गये अनुत्पादक ऋण का बोझ देश पर अत्यधिक पड़ता है।

(5) विदेशी ऋणों के कारण देश की स्वतन्त्रता को भी खतरा हो सकता है। जैसा हम कह चुके हैं विदेशी ऋणों के कारण ही कुछ देशों ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को खो दिया है।

सार्वजनिक ऋण तथा कराधान में अन्तर
(Distinction Between Public Debt and Taxation)

सार्वजनिक ऋण तथा कराधान में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं।

(1) सरकार द्वारा लिया गया ऋण वापस लौटाया जाता है जबकि करों द्वारा प्राप्त की गयी आय को वापस नहीं लौटाया जाता।

(2) ऋणों से प्राप्त धन के व्यय में प्रायः अमितव्ययता हो जाती है जबकि करों से प्राप्त आय में ऐसा कम ही होता है।

(3) ऋण देशवासियों एवं विदेशियों दोनों से ही लिये जाते हैं जबकि कर केवल देशवासियों से ही वसूल किये जाते हैं।

(4) सार्वजनिक ऋण सरकार की आय का असाधारण स्रोत (extraordinary source) है अर्थात् सरकार केवल असाधारण उद्देश्यों के लिए ही लोगों से ऋण लेती है। इसके विपरीत कर सरकार की आय का एक नियमित स्रोत है अर्थात् कर साधारण उद्देश्यों के लिए लिये जाते हैं।

(5) ऋण का भार आने वाली पीढ़िया (future generations) पर पड़ता है जबकि करों का भार वर्तमान पीढ़िया द्वारा वहन किया जाता है।

किन किन परिस्थितियों में सरकार को ऋण लेना चाहिए ?

(1) **युद्ध के समय**—युद्ध के समय सरकार का व्यय असाधारण रूप से बढ़ जाता है और आय के साधारण साधनों से पूरा नहीं किया जा सकता। अतः सरकार को सार्वजनिक ऋण का आश्रय लेना चाहिए।

(2) **मन्दी काल में**—जैसा विदित है मन्दी काल में प्रभावपूर्ण माँग कम हो जाने के फलस्वरूप देश में बेरोजगारी फैल जाती है। अतः इस स्थिति का सामना करने के लिए सरकार को ऋण लेकर सार्वजनिक कार्यों (Public works) का बड़े पैमाने पर निर्माण करना चाहिए। इससे लोगों का स्वतः ही रोजगार के अत्यधिक अवसर प्राप्त होंगे।

(3) **विकासात्मक कार्यों के लिए**—देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए भी सरकार को ऋण लेना चाहिए। इस प्रकार के ऋण की सहायता से कृषि उद्योग धन्धों परिवहन एवं संचार के साधनों का विकास किया जाना चाहिए।

(4) **सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था के लिए**—सरकार को सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था के लिए भी ऋण लेना चाहिए अर्थात् शिक्षा चिकित्सा मकान आदि की व्यवस्था के लिए सरकार को ऋण लेने चाहिए। इस प्रकार के ऋण अन्ततः उत्पादक ही सिद्ध होते हैं क्योंकि इनसे लोगों की उत्पादक शक्ति में वृद्धि होती है।

(5) **अकस्मात आवश्यकता पड़ने पर**—कभी-कभी सरकार के बजट में अप्रत्याशित रूप से घाटा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए भी सरकार को ऋण लेना चाहिए।

सार्वजनिक ऋण का भार
(Incidence of Internal Debt)

अब हम आन्तरिक ऋणों तथा बाह्य ऋणों से उत्पन्न होने वाले भार का अध्ययन करेंगे।

1 **आन्तरिक ऋणों का भार** (Incidence of Internal Debt)— इसका हम चार उप शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं

(क) प्रत्यक्ष द्रव्य-भार (Direct Money Burden)—वास्तव में आन्तरिक ऋण का प्रत्यक्ष द्रव्य भार कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल क्रय शक्ति का हस्तान्तरण ही होता है। क्रय शक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग को हस्तान्तरित होती है। उदाहरणार्थ जब सरकार आन्तरिक ऋण लेती है तो क्रय शक्ति ऋणदाताओं से सरकार की ओर हस्तान्तरित होती है। सरकार इसे पुन उत्पादक कार्यों पर व्यय करती है जिसके परिणामस्वरूप यह क्रय शक्ति उत्पादकों ठेकेदारों मजदूरों एवं कर्मचारियों को हस्तान्तरित होती है।

(ख) अप्रत्यक्ष द्रव्य भार (Indirect Money Burden)—जब सरकार लोगों से लिये गये ऋण को विकासात्मक कार्यों पर व्यय करती है तो इससे अनेक वस्तुओं की माग में वृद्धि हो जाती जिसके फलस्वरूप उनकी कीमतों में भी वृद्धि हो जाती है। यही आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष द्रव्य भार है।

(ग) प्रत्यक्ष वास्तविक भार (Direct Real Burden)—जैसा विदित है सरकारआन्तरिक ऋण के मूलधन एवं ब्याज को लोगों से धन प्राप्त करके चुकाती है। अर्थात सरकार इस प्रकार के ऋण को अपनी ओर से नहीं—बल्कि करदाताओं से एकत्रित किये गये धन से ही चुकाती है। साधारणत करदाता निर्धन व्यक्ति होते हैं जबकि ऋणदाता धनी व्यक्ति होते है। जब सरकार करदाताओं से धन एकत्रित करके ऋणदाताओं को मूलधन एवं ब्याज चुकाती है तो निश्चय ही इससे क्रय शक्ति निर्धन वर्गों से धनी वर्गों की ओर हस्तान्तरित होती है। परिणामत राष्ट्रीय धन के वितरण में असमानताएं बढ जाती है। इसके अतिरिक्त करदाता प्राय सक्रिय (active) व्यक्ति होते हैं जबकि ऋणदाता प्राय अक्रिय (inactive) व्यक्ति ही होते है। आन्तरिक ऋण के भुगतान का अंतिम परिणाम यह होता है कि सक्रिय व्यक्तियों से अक्रिय व्यक्तियों को धन का हस्तान्तरण होता है। वास्तव में यह राष्ट्रीय हितों के अनुकूल नहीं है। यही आन्तरिक ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार है।

(घ) अप्रत्यक्ष वास्तविक भार (Indirect Real Burden)—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं ऋणों का भुगतान करने के लिए सरकार को लोगों पर अतिरिक्त कर लगाने पडते हैं जिसके परिणामस्वरूप देश में आर्थिक विषमताएँ और अधिक बढ जाती है। इससे लोगों की काम करने तथा बचत करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है अर्थात वह कम हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप देश की उत्पादन शक्ति पर बुरा प्रभाव पडता है। वास्तव में यही आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार है।

2 **बाह्य ऋणों का भार** (Incidence of External Debt)—इसका हम चार उपशीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है।

(क) प्रत्यक्ष द्रव्य भार (Direct Money Burden)—बाह्य ऋण के अन्तर्गत ऋणी देश द्वारा विदेशी ऋणदाता देश को प्रतिवर्ष ब्याज का भुगतान करना पडता है और ऋण की अवधि की समाप्ति पर उसके मूलधन को भी चुकाना पडता है। परिणामत देश से बडी मात्रा में धन बाहर जाता है। यही बाह्य ऋण का प्रत्यक्ष द्रव्य भार है।

(ख) अप्रत्यक्ष द्रव्य-भार (Indirect Money Burden)—कभी-कभी बाह्य ऋण पर दिया जाने वाला ब्याज वस्तुओं के रूप में दिया जाता है। अर्थात ऋणी देश को बडे पैमाने पर वस्तुओं का ऋणदाता देश को निर्यात करना पडता है। इसके परिणामस्वरूप देश में ऐसी वस्तुओं की कीमत बढ जाती है और लोगों के आर्थिक कल्याण में कमी हो जाती है। यही बाह्य ऋण का अप्रत्यक्ष द्रव्य भार है।

(ग) प्रत्यक्ष वास्तविक भार (Direct Real Burden)—बाह्य ऋण को चुकाने के लिए

सरकार बहुधा लोगों पर नये-नये कर लगाती है। साधारणत इन करों का भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। यही वाह्य ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार है।

(घ) *अप्रत्यक्ष वास्तविक भार (Indirect Real Burden)*—जैसा हम ऊपर कह चुके है, बाह्य ऋणो को चुकाने के लिए भी सरकार लोगो पर कर लगाती है। इन करो के फलस्वरूप साधारणत लोगों की काम करने तथा बचाने की क्षमता कम हो जाती है। अन्तत उत्पादन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यही बाह्य ऋण का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार है।

क्या वाह्य ऋण लेने चाहिए ?—वास्तव मे, यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि वाह्य ऋण लाभदायक होते है। बाह्य ऋणो के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है

(1) *वाह्य ऋणो की सहायता से देश के आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सकता है।* इसका कारण यह है कि बाह्य ऋणो से विदेशी मशीनों का आयात किया जा सकता है। जैसा कि विदित है—विदेशी मशीनों के साथ ही साथ टेकनीकल जानकारी का आयात भी होता है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास में वहुमूल्य सहायता मिलती ह।

(2) *वाह्य ऋण युद्ध को सफलतापूर्वक लड़ने मे भी सहायता करते है।* वाह्य ऋणो से युद्ध-सामग्री विदेशो से खरीदी जा सकती है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान बड़े पैमाने पर अमरीका से ऋण प्राप्त किये थे।

(3) *विदेशी ऋणो से युद्धध्वस्त देशों के पुनर्निर्माण मे भी बहुमूल्य सहायता मिलती है।* इन ऋणों की सहायता से विदेशो से मशीनरी तथा साज-सज्जा खरीद कर युद्ध-विनष्ट देशों का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, दूसरे विश्वयुद्ध के उपरान्त यूरोप के वहुत-से देशों ने अमरीका से ऋण लेकर युद्ध-विनष्ट अर्थ-व्यवस्थाओ का पुनर्निर्माण किया था।

(4) *बाह्य ऋणो की सहायता से देश की विदेशी विनिमय-दर को स्थिर करने में भी बड़ी सहायता मिलती है।* उदाहरणार्थ, यदि किसी देश की विनिमय दर विदेशी मुद्रा के अभाव के फलस्वरूप अधिक बढ़ जाती है तो वाह्य ऋण लेकर उसे उसके पूर्व स्तर पर स्थिर किया जा सकता है।

बाह्य ऋणो के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है

(1) बाह्य ऋणो का सबसे अधिक दोष यह है कि उनके कारण प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा मे धन ब्याज के रूप मे बाहर चला जाता है जिसके परिणामस्वरूप देश की आर्थिक हानि होती है।

(2) वाह्य ऋणो से देश की राजनीतिक एव आर्थिक स्वतन्त्रता को भी खतरा पैदा हो जाता है। *जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, कुछ देशो ने विदेशी ऋणो के कारण ही अपनी प्रभुसत्ता* (Sovereignty) को खो दिया है।

यदि हम विदेशी ऋणो के लाभो को तुलना उनकी हानियो से करते है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनसे उत्पन्न होने वाले लाभ उनकी हानियों की तुलना मे कही अधिक हैं। अत समग्र रूप से वाह्य ऋण हानिकर नही कहे जा सकते, विशेषकर पिछड़े एव अल्प-विकसित देशो के लिए तो वाह्य ऋण बहुत सहायक सिद्ध होते है। इनकी सहायता से इन देशो के आर्थिक विकास मे गति लायी जा सकती है।

सार्वजनिक ऋण के शोधन की विधियाँ
(Methods of Redemption or Repayment of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण के भुगतान की मुख्य विधियाँ निम्नलिखित है

(1) **बजट में बचत का उपयोग**—जब किसी सरकार के बजट मे कुछ बचत होती है तो सरकार इस बचत का उपयोग अपने ऋणो का भुगतान करने के लिए करती है। साधारणत इस बचत से सरकार बाजार मे अपने बॉण्ड्स अथवा ऋणपत्रों को खरीदना आरम्भ कर देती है। इससे सार्वजनिक ऋण का धीरे-धीरे भुगतान हो जाता है। वास्तव मे, यह एक प्राचीन विधि है, परन्तु आजकल इस विधि का कोई विशेष प्रयोग नही किया जाता। इसका कारण यह है कि आधुनिक सरकारो के बजटों मे प्राय इतनी अधिक बचत नही होती कि वे इससे अपने ऋणो का भुगतान कर सकें।

पूँजी-कर के अन्तर्गत धनी एवं सम्पत्तिवान व्यक्तियों पर भारी कर लगाया जाता है। इसके लिए एक छूट की सीमा (exemption limit) भी निश्चित कर दी जाती है। जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति इस सीमा से नीचे होती है, इन्हें पूंजी-कर म मुक्त कर दिया जाता है किन्तु जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति इस सीमा से ऊपर होती है, उन पर अधिकाधिक प्रगतिशील दरों पर कर लगाया जाता है। इस प्रकार पूँजी-कर का उद्देश्य यह है कि बड़ी मात्रा में धनिक वर्गों से धन प्राप्त करके युद्धकालीन ऋण का भुगतान कर दिया जाय। पूँजी-कर के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते है

(क) पूँजी-कर के समर्थन म प्रथम तर्क यह दिया जाता है कि युद्धकाल में धनिक वर्ग, उदाहरणार्थ उद्योगपति व्यापारी एवं व्यवसायी भारी लाभ कमाते हैं। युद्धकाल में प्राय कीमतें बढ़ जाती है और लाभ की मात्रा में भारी वृद्धि हो जाती है। वास्तव में, य लाग युद्ध से अनुचित लाभ कमाते हैं। इसीलिए यह तर्क दिया गया है कि युद्धकालीन ऋण के भुगतान के लिए इन लोगों के युद्धकालीन लाभ पर भारी कर लगाया जाना चाहिए।

(ख) पूँजी-कर के समर्थन म दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि युद्धकालीन ऋण का भार प्राय अत्यधिक हुआ करता है। यदि युद्ध के बाद उसे तुरन्त नही चुकाया जाता तो समय बीतने पर उसके भार में तेजी से वृद्धि होती चली जायगी। इसलिए युद्धकालीन ऋण को युद्ध के बाद तुरन्त ही चुका देना चाहिए और ऐसा करने का केवल एक ही तरीका है कि धनिक वर्गों पर पूंजी-कर लगा दिया जाय।

(ग) पूँजी-कर के समर्थन मे तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि यह कर समता के सिद्धान्त (Canon of Equity) पर आधारित होता है अर्थात इसका बोझ उन्हीं कन्धों पर पड़ता है जो इसे वहन करने की स्थिति में होते है। अत इस दृष्टिकोण से पूंजी-कर एक अच्छा कर माना जाना चाहिए।

(घ) पूँजी-कर के समर्थन मे चौथा तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि यदि इसे लगाकर युद्धकालीन ऋण का तुरन्त भुगतान नही कर दिया जाता तो समाज पर इसका बोझा निरन्तर जारी रहेगा। ऐसी परिस्थिति में सरकार सामाजिक कल्याण की वृद्धि पर अधिक व्यय करने मे असमर्थ रहेगी।

पूंजी-कर के विपक्ष म निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है

(क) पूँजी कर से बचतों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि जब सरकार पूँजी कर लगाती है तो इससे बचतें निरुत्साहित होंगी और देश के उद्योग धन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(ख) पूंजी कर से सरकार के प्रति जनता का विश्वास उठ जायगा और अपनी पूंजी देश म रखने के बजाय विदेशों को स्थानान्तरित कर देंगे जिसके परिणामस्वरूप देश के आर्थिक विकास को बड़ी क्षति पहुँचेगी।

(ग) पूजी कर से प्रशासन मे भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति की आय अत्यधिक है परन्तु उसके पास सम्पत्ति नही है तो वह पूँजी-कर से बच जायगा। स्पष्टत यह न्यायसगत न होगा।

उपरोक्त विवेचन स स्पष्ट है कि पूंजी कर के पक्ष एवं विपक्ष मे कई प्रकार के तर्क है किन्तु यदि उनकी तुलना की जाय तो पूंजी-कर के पक्ष में प्रस्तुत किये गये तर्क इसके विपक्ष में दिये गये तर्कों से अधिक प्रभावशाली हैं। अत समग्र रूप में पूँजी-कर देश के युद्धकालीन ऋण को चकाने का एक अच्छा साधन है।

सार्वजनिक ऋण की सीमाएँ
(Limits of Public Debt)

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि सरकार की साख की कोई सीमा नहीं होती, क्योंकि राष्ट्र के समूचे साधन उसके अधिकार में होते हैं, परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि सरकार लोगों से असीमित मात्रा मे ऋण प्राप्त कर सकती है। इसका कारण यह है कि सरकार द्वारा लिया गया

ऋण कुछ समय बाद चुकाना ही पडना है। इसलिए कोई भी सरकार ऋण लेते समय अपनी शोधन क्षमता (repaying capacity) की उपेक्षा नही कर सकती अर्थात ऋण लेते समय सरकार को अपनी शोधन क्षमता अवश्य ही ध्यान मे रखनी पडती है। यही कारण है कि सरकार असीमित मात्रा म लोगो से ऋण नही ले सकती। सार्वजनिक ऋण के विभिन्न रूपो की सीमाएँ निम्नांकित हैं।

(1) **विदेशी ऋण**—किसी देश द्वारा लिये गये विदेशी ऋण की दो महत्त्वपूर्ण सीमाएँ होती है—**प्रथम,** विदेशो मे उस देश की साख। यदि विदेशो म उस देश की साख ऊँची नही है तो उसे पर्याप्त मात्रा म ऋण उपलब्ध नही हो सकेंगे। दूसरे विदेशी ऋण आजकल राजनीतिक कारणो से भी शासित होते है। ऋणदाता देश प्राय राजनीतिक आधार पर ही ऋणी देशो को ऋण प्रदान करते हैं।

(2) **आन्तरिक ऋण**—विदेशी ऋण की भाति आन्तरिक ऋण की सीमाएँ होती है। उदाहरणार्थ आन्तरिक ऋण अन्तत लोगो की बचत करने को क्षमता से सीमित होते है। दूसरे शब्दो में सरकार लोगो की बचत करने की क्षमता के अनुसार ही उनसे ऋण ले सकती है लेकिन यहाँ भी ऋण लेते समय सरकार लोगो की बचत करने की क्षमता का पूर्ण उपयोग नही करती। इसका कारण यह है कि यदि सरकार लोगो की बचत करने की क्षमता का पूर्ण उपयोग करती है तो इसमे देश के उद्योग धन्धो तथा व्यापार आदि के लिए कुछ भी धन नही बच सकेगा। इसलिए सरकार लोगो की बचत करने की क्षमता से कम ही ऋण लेती है।

(3) **मुद्रा स्फीति**—सरकार मुद्रा स्फीति के माध्यम से भी लोगो से ऋण ले सकती है। यद्यपि ऐसे ऋण को बलात ऋण (forced loan) ही कहा जा सकता है। लेकिन मुद्रा-स्फीति के माध्यम से भी सरकार अधिक मात्रा म ऋण प्राप्त नही कर सकती। इसका कारण यह है कि यदि मुद्रा का प्रसार अत्यधिक मात्रा म किया जाता है तो उससे कीमत स्तर मे वृद्धि हो जायेगी और देश की अर्थ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार की ऋण लेने की शक्ति प्राय सीमित ही होती है।

युद्ध का अर्थ-प्रबन्ध
(War Finance)

युद्ध के समय सरकार के सामने प्राय यह समस्या उपस्थित होती है कि युद्ध का व्यय चलाने के लिए धन कैसे एकत्रित किया जाय। अर्थशास्त्रियो के अनुसार युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए सरकार तीन विधियो का आश्रय लेती है

(1) **करारोपण (Taxation)**—कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए सरकार को कराधान का आश्रय लेना चाहिए अथात युद्ध व्यय को पूरा करने के लिए लोगो पर नये-नये कर लगाकर आय प्राप्त की जानी चाहिए। इसके समर्थन म निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं

(क) युद्धकाल म करो के लगने से लोगो के आवश्यक उपभोग मे कमी हो जायगी और इसके परिणामस्वरूप युद्ध हेतु सरकार को अधिक साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

(ख) कराधान से मुद्रा स्फीति पर स्वत ही रोक लग जावेगी और इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं तथा सेवाओ की कीमतो म वृद्धि हो सकेगी।

(ग) युद्धोत्तर काल म सरकार पर ऋणो का बोझा नही पडेगा और न ही उनके भुगतान के लिए नये कर लगाने की आवश्यकता पडेगी।

(घ) कराधान के कारण युद्ध व्यय म होने वाले अपव्यय की प्रवृत्ति पर भी रोक लग जायगी।

इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियो का कहना है कि युद्ध व्यय को यथासम्भव करो से ही पूरा किया जाना चाहिए।

परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियो ने कराधान के विपक्ष म भी तर्क प्रस्तुत किये है

(क) आधुनिक युद्ध इतने खर्चीले होते है कि उनका समूचा व्यय करो द्वारा पूरा नही

किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, देश की करदान क्षमता भी प्राय: सीमित ही होती है। परिणामतः युद्ध व्यय को केवल करों द्वारा ही पूरा कर लेना सम्भव नहीं है।

(ख) युद्धकाल में भारी कर लगने से देश की उत्पादन एवं बचत शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। वास्तव में, युद्ध के समय तो उत्पादन को बढ़ाना नितान्त आवश्यक होता है लेकिन यदि ऐसे समय भारी कर लगाये जाते हैं तो उत्पादन शक्ति बढ़ने के बजाय कम हो जायगी।

(ग) अर्थशास्त्रियों का यह भी कहना है कि युद्धकाल में नये-नये कर लगाकर सरकार की आय को तुरन्त नहीं बढ़ाया जा सकता, क्योंकि करों को लागू करने तथा वसूल करने में कुछ समय अवश्य ही लगता है। अतः ऐसी परिस्थितियों में सरकार को सार्वजनिक ऋण का आश्रय लेना ही उचित होगा।

(2) **सार्वजनिक ऋण**—कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि सरकार को युद्ध का व्यय पूरा करने के लिए केवल सार्वजनिक ऋण का ही आश्रय लेना चाहिए। इसके समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं

(क) साधारण जनता की दृष्टि से करों की तुलना में ऋण श्रेष्ठ रहते हैं। इसका कारण यह है कि करों द्वारा प्राप्त की गयी आय तो सरकार द्वारा नहीं लौटायी जाती किन्तु सरकार द्वारा लिये गये ऋण अवश्य ही ब्याज सहित लौटाये जाते है। अतएव साधारण जनता करों की अपेक्षा ऋणों को अधिक पसन्द करती है।

(ख) कर चुकाते समय करदाता को प्राय अपने उपभोग में कमी करनी पड़ती है जिसकी चुभन को वह अवश्य ही अनुभव करता है। इसके विपरीत, ऋण प्राय. बचतों से दिया जाता है। परिणामत. ऋण का ऋणदाता के उपभोग पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए जनता करों की अपेक्षा ऋणों को अधिक पसन्द करती है।

(ग) करों के लगने से देश के उद्योग-धन्धों, व्यापार तथा बचतों की मात्रा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लेकिन ऋणों का व्यापार, उद्योग-धन्धों एवं बचत की मात्रा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। अत. अर्थ-व्यवस्था के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सरकार को यथासम्भव युद्ध-व्यय की पूर्ति ऋणों द्वारा ही करनी चाहिए।

(घ) यदि सरकार को ऋणों द्वारा पर्याप्त आय उपलब्ध हो जाती है तो ऐसी परिस्थिति में उसे मुद्रा-स्फीति का आश्रय लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने युद्ध-व्यय की पूर्ति ऋणों द्वारा करने का विरोध किया है।

(क) उनका कहना है कि कराधान की भाँति ऋणों की भी एक सीमा होती है अर्थात् सरकार लोगों से एक निश्चित मात्रा में ही ऋण ले सकती है। इसका कारण यह है कि लोगों की बचत करने की क्षमता प्राय सीमित होती है। अत ऐसी परिस्थिति में युद्ध का समूचा व्यय ऋणों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता।

(ख) यदि सरकार युद्ध का व्यय ऋणों द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करती है तो इससे सार्वजनिक ऋण का आकार बहुत बढ़ जायगा तथा लोगों पर इसका अत्यधिक बोझा पड़ेगा।

(ग) यदि युद्ध के व्यय को ऋणों द्वारा पूरा किया जाता है तो इससे युद्ध का भार वर्तमान पीढ़ियों पर न पड़कर भावी पीढ़ियों (Future generations) पर पड़ेगा। वास्तव में, इसे न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि युद्ध का उत्तरदायित्व वर्तमान पीढ़ियों का है और उन्हें ही इसके भार को वहन करना चाहिए। परन्तु यदि युद्ध के व्यय को ऋण लेकर पूरा किया जाता है तो इससे युद्ध का भार भावी पीढ़ियों पर पड़ेगा।

(3) **मुद्रा-स्फीति**—कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि युद्ध के व्यय को पूरा करने के लिए मुद्रा-स्फीति का आश्रय लिया जाना चाहिए. अर्थात् युद्ध के व्यय को नये नोट छापकर पूरा किया जाना चाहिए। इसके समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि आधुनिक युद्ध अत्यन्त खर्चीले होते हैं और उनके व्यय को कराधान और ऋणों द्वारा ही पूरा नहीं किया जा सकता। अतः ऐसे समय सरकार को नये नोट छापकर युद्ध का व्यय करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि मुद्रा-स्फीति आय प्राप्त करने का सरलतम उपाय है, क्योंकि जनता द्वारा इसका कोई सक्रिय

विरोध नही किया जाता है। यदि सरकार कर लगाती है तो जनता द्वारा इसका विरोध किया जाता है। परन्तु यदि सरकार नये नोट छापती है तो इसका कोई सक्रिय विरोध नहीं किया जाता यद्यपि इसका प्रभाव लोगो के आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा पडता है।

इसमे सन्देह नही कि युद्ध व्यय को पूरा करने मे मुद्रा स्फीति बहुमूल्य योग प्रदान कर सकती है किन्तु जैसा सर्वविदित है मुद्रा स्फीति की भी एक सीमा हुआ करती है। जब तक मुद्रा स्फीति उस सीमा के भीतर रहती है तब तक तो देश की अर्थ-व्यवस्था पर कोई बुरा प्रभाव नही पडता किन्तु यदि मुद्रा स्फीति उस सीमा का उल्लघन करती है तो इससे देश की अर्थव्यवस्था मे भयकर परिणाम दृष्टिगोचर होने है। देश के कीमत स्तर मे तेजी के साथ वृद्धि होती है, आवश्यक वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य अभाव हो जाता है, सट्टे की प्रवृत्तियो का प्रोत्साहन मिलता है, उपभोक्ताओ को हानि होती है, आर्थिक असमानताएँ बढ जाती है और देश की समूची अर्थव्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा स्फीति का सबसे बडा दोष यह है कि मुद्रा स्फीति और अधिक मुद्रा स्फीति को जन्म देती है और इस प्रकार देश की अर्थ व्यवस्था एक विषैले चक्र मे फँस जाती है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि युद्ध अर्थ प्रबन्धन के उपर्युक्त तीन उपायो मे से कराधान सर्वोत्तम है और मुद्रा स्फीति सबसे बुरी है। इसलिए प्रत्येक सरकार को युद्ध का व्यय यथासम्भव कराधान से ही पूरा करना चाहिए। यदि युद्ध का समूचा व्यय कराधान से पूरा नहीं होता तो ऐसी परिस्थिति मे ऋणो का आश्रय लेना चाहिए। किन्तु मुद्रा स्फीति को तभी अपनाना चाहिए कि जब कराधान तथा सार्वजनिक ऋण दोनो से ही पर्याप्त आय उपलब्ध नही होती अर्थात मुद्रा स्फीति को युद्ध अर्थप्रबन्ध का अन्तिम अस्त्र मानना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **सार्वजनिक ऋण से क्या अभिप्राय है ? सार्वजनिक ऋण लेने की विभिन्न विधियों की चर्चा कीजिए। सार्वजनिक ऋण कैसे चुकाया जाता है।**

[संकेत— प्रथम भाग मे सार्वजनिक ऋण की परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइए कि सार्वजनिक ऋण सामान्यत तीन प्रकार की विधियो से लिया जाता है- -(क) आन्तरिक ऋण तथा बाह्य ऋण (ख) ऐच्छिक ऋण तथा बलात ऋण (ग) वार्षिक ऋण तथा लाटरी ऋण। तीसरे भाग मे यह बताइए कि सार्वजनिक ऋण के शोधन की विभिन्न विधियां क्या क्या होती है।]

2 **युद्ध व्यय का अधिकतम सम्भव भाग अतिरिक्त कर द्वारा पूरा किया जाना चाहिए और इस कर का भार उन कन्धो पर रखा जाना चाहिए जो वहन करने के सर्वाधिक योग्य हो।**

[संकेत—हम उक्त कथन से पूर्णत सहमत है। युद्ध-व्यय का अधिकतम सम्भव भाग अतिरिक्त कर (विशेषकर पूजी-कर) लगाकर पूरा किया जाना चाहिए। **प्रथम** युद्ध से अधिकतम लाभ पूजीपतियो को होता है क्योकि युद्ध के दौरान कीमतें बढ़ती है और उनके साथ साथ मुनाफे भी बढ़ते है। अत यह स्वाभाविक ही है कि पूजीपति युद्ध-व्यय के भार को भी वहन करें। **दूसरे,** पूजीपति अतिरिक्त कर को वहन करने की स्थिति मे भी होते है उनके कन्धे अपेक्षाकृत अधिक चौड़े होते है।]

47

वित्तीय प्रशासन
(Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन की परिभाषा

वित्त प्रशासकीय मशीन का ईंधन समझा जाता है। प्रशासन चलाने के लिए वित्त की आवश्यकता पड़ती है। वित्तीय प्रशासन में इस बात पर ध्यान रखा जाता है कि सरकार की आय को न्यायसंगत रीति से एकत्रित किया जाय और सरकार के व्यय का मितव्ययतापूर्ण ढंग से किया जाय। अतः वित्तीय प्रशासन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्रो० जेज (Geze) के अनुसार "वित्तीय प्रशासन सरकार के संगठन का वह भाग है जिसके द्वारा सार्वजनिक आय का संग्रह, सुरक्षण तथा वितरण होता है। इसके द्वारा सार्वजनिक आय तथा सार्वजनिक व्यय का समन्वय होता है, सरकार की साख सम्बन्धी क्रियाओं का प्रबन्ध होता है और सरकार के वित्त सम्बन्धी कार्यों का नियन्त्रण होता है।"[1] यदि प्रो० जेज की उक्त परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो इसमें निम्नलिखित चार बातें स्पष्ट दिखायी देंगी—(1) सार्वजनिक आय का संग्रह, सुरक्षण तथा वितरण (2) सार्वजनिक आय तथा सार्वजनिक व्यय का समन्वय (3) सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध (4) सरकार की वित्त सम्बन्धी कार्यवाहियों का नियन्त्रण। इस प्रकार वित्तीय प्रशासन में इन चारों बातों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। स्मरण रहे कि आधुनिक सरकारें उपरोक्त चारों कार्यों को बजट के माध्यम द्वारा सम्पन्न करती हैं। अतः वित्तीय प्रशासन में बजट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्त
(Principles of Financial Administration)

वित्तीय प्रशासन के तीन मुख्य सिद्धान्त है

(1) **संसद के नियन्त्रण का सिद्धान्त** (Principle of Parliamentary Control)—प्रजातान्त्रिक देशों में राजवित्त पर संसद का पूर्ण नियन्त्रण होता है। संसद की इच्छानुसार ही सरकारी आय का संग्रह किया जाता है और उसके आदेशानुसार ही उसका व्यय किया जाता है। जैसा विदित है सरकार को अपने आय-व्यय सम्बन्धी मामलों में संसद की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है। बजट प्रणाली द्वारा संसद अपने इस अधिकार का प्रयोग करती है।

(2) **प्रभावपूर्ण सरकारी नियन्त्रण का सिद्धान्त** (Principle of Effective Govt Control)—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि संसद के अतिरिक्त सरकार के शासन विभाग को भी सार्वजनिक व्यय पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। किसी सरकारी विभाग में समुचित

---

1 Financial Administration is that part of government organisation which deals with the collection and distribution of public funds with the co ordination of public revenue and expenditure with the management of credit operations on behalf of the State and with the general control of the financial affairs of the public household

अधिकरण (Proper Authority) की अनुमति के बिना व्यय नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक मद पर किये गये व्यय का समुचित अंकेक्षण (Proper Auditing) किया जाना चाहिए ताकि सरकारी व्यय में गबन आदि की कोई सम्भावना न रहे।

(3) **सरलता का सिद्धान्त** (Principle of Simplicity)—इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि देश के वित्तीय प्रशासन में सरलता, नम्रता एवं नियमितता के गुण होने चाहिए। वित्तीय प्रशासन प्रणाली इतनी सरल होनी चाहिए कि साधारण शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी उसे समझने में समर्थ हो सके। इसके अतिरिक्त वित्तीय प्रशासन में विलम्ब एवं ढील ढाल के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

बजट
(Budget)

बजट की परिभाषा (Definition of Budget)—वित्तीय प्रशासन में बजट का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में सरकार का बजट वित्तीय प्रशासन की धुरी होती है। सरकार की सभी वित्तीय कार्यवाहियाँ बजट से ही निर्धारित होती हैं। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि बजट से अभिप्राय क्या है। प्रो० स्टार्म (Storn) के शब्दों में बजट वह प्रपत्र है जिसमें सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक व्यय की स्वीकृत व्यवस्था दी जाती है। इस प्रकार के बजट के दो पक्ष होते हैं—एक ओर तो सरकार की प्रत्याशित आय (Expected Income) दी जाती है और दूसरी ओर सरकार के प्रत्याशित व्यय (Expected Expenditure) को व्यक्त किया जाता है। बजट आगामी वर्ष के लिए प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् बजट में आने वाले वर्ष की सरकारी प्रत्याशित आय एवं प्रत्याशित व्यय को व्यक्त किया जाता है। प्रजातन्त्रिक देशों में प्रति वर्ष सरकार के बजट को संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। संसद की स्वीकृति प्राप्त होने पर बजट में सम्मिलित प्रस्तावों के अनुसार ही कार्य किया जाता है।

बजट का महत्त्व (Importance of Budget)—जैसा ऊपर कहा गया है देश की अर्थव्यवस्था में बजट का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वास्तव में, देश की अर्थ-व्यवस्था बहुत मात्रा में सरकार के बजट से ही प्रभावित होती है। इसलिए प्रति वर्ष बजट की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है। सरकार के बजट का महत्त्व निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जायगा :

1. देश की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति बहुत बड़ी मात्रा में सरकार के बजट पर ही निर्भर करती है। देश के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए कई प्रकार के प्रस्ताव सम्मिलित किये जाते हैं।

2. देश का उत्पादन स्तर भी बहुत बड़ी मात्रा में बजट से प्रभावित होता है। बजट में कर सम्बन्धी अनेक प्रकार की रियायतें एवं प्रोत्साहन देकर सरकार उत्पादन की मात्रा को बढ़ा सकती है।

3. बजट की सहायता से सरकार देश में प्रचलित मुद्रा स्फीति का उपचार कर सकती है। जैसा विदित है, साधारणतः सरकार नये कर लगाकर तथा जनता से ऋण लेकर उसकी क्रय शक्ति में कमी कर देती है जिससे बढ़ते हुए कीमत स्तर पर रोक लग जाती है।

4. बजट की सहायता से देश में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना भी की जा सकती है। उदाहरणार्थ अपने बजट में निर्धन वर्गों को इस प्रकार की रियायतें एवं सुविधाएँ देकर सरकार कल्याणकारी राज्य की स्थापना में योग दे सकती है। जैसा विदित है आधुनिक सरकारें बजट के माध्यम से देश में मजदूरों एवं कम आय वाले व्यक्तियों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करती हैं।

5. बजट की सहायता से देश में प्रचलित आर्थिक असमानताओं को दूर अथवा कम किया जा सकता है। सरकार धनिक वर्गों पर भी कर लगाकर प्राप्त की गयी आय का निर्धन वर्गों पर व्यय कर सकती है। इस प्रकार आर्थिक विषमताओं में कमी हो जाती है।

बजट के सामान्य नियम (General Principles of Budget Making)—बजट को तैयार करते समय सरकार को कुछ सामान्य नियमों का ध्यान में रखना पड़ता है। ये नियम निम्नलिखित हैं :

(1) सरकार के बजट में आगामी वर्ष की प्रत्याशित आय एवं प्रत्याशित व्यय को ही व्यक्त करना चाहिए।

(2) बजट के अनुमान सम्पूर्ण आधार (gross basis) पर ही बनाये जाने चाहिए, शुद्ध आधार (net basis) पर नहीं। अर्थात यदि किसी कर को प्राप्त होने वाली आय को एकत्र करने में कुछ व्यय होता है तो उस व्यय को आय में से घटाकर बजट में नहीं दिखाना चाहिए। इसके विपरीत, बजट में एक ओर तो उस कर से उपलब्ध होने वाली सम्पूर्ण आय को दिखाना चाहिए और दूसरी ओर उस आय को प्राप्त करने में किय गये व्यय को व्यक्त करना चाहिए।

(3) जैसा ऊपर बताया गया है, सरकार का बजट वार्षिक आधार पर बनाया जाता है। भारत में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारम्भ होकर आगामी वर्ष की 31 मार्च तक चलता है। बजट में स्वीकार की गयी व्यय की मदों पर 'व्यय समाप्ति नियम' (Doctrine of Lapse) क्रियाशील होता है। इससे अभिप्राय यह है कि यदि बजट में स्वीकार की गयी किसी मद पर व्यय 31 मार्च तक नहीं किया जाता तो ऐसी परिस्थिति में व्यय समाप्ति नियम लागू हो जायगा और उस मद का शेष व्यय स्वतः ही समाप्त हो जायगा। दूसरे शब्दों में उस मद के शेष व्यय को आगामी वर्ष में नहीं ले जाया जा सकता। वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से तो यह अच्छा सिद्धान्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रत्येक मद के लिए बजट में स्वीकार किया गया व्यय वित्तीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व हो जाना चाहिए परन्तु यह सिद्धान्त व्यय के दीर्घकालीन नियोजन (long-term planning of expenditure) की दृष्टि से अच्छा सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के कारण ही वित्तीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व अर्थात 31 मार्च से पहले सरकारी विभागों में प्रायः असावधानी से व्यय किया जाता है। कभी-कभी तो इसमें अपव्यय भी हो जाता है।

(4) देश की वित्तीय स्थिति का वास्तविक विवरण प्रस्तुत करने के लिए बजट में सभी प्रकार की आय और व्यय अर्थात साधारण एवं असाधारण आय-व्यय का सम्मिलित करना चाहिए।

(5) बजट बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राज्य सरकारें अपने लेखे (account) ठीक उन्हीं आधारों पर रखने चाहिए जिन पर केन्द्रीय सरकार रखती है, अन्यथा विभिन्न राज्य सरकारों के बजटों की तुलना करते समय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी। इसीलिए भारत में विभिन्न लेखों के रूप महाअंकेक्षक (Auditor General) द्वारा निश्चित किये जाते हैं ताकि सभी सरकारों के बजटों में एकरूपता स्थापित की जा सके।

(6) बजट में प्रस्तुत किए गए आय-व्यय सम्बन्धी अनुमान यथासम्भव ठीक होने चाहिए, अर्थात अनुमानित आय-व्यय एवं वास्तविक आय-व्यय में कोई अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इसीलिए यह नितान्त आवश्यक है कि बजट सम्बन्धी अनुमान लगाते समय सरकारी अधिकारियों को बड़ी सावधानी एवं सतर्कता से काम लेना चाहिए। दुर्भाग्यवश भारत में बजट के अनुमानित आय-व्यय एवं वास्तविक आय-व्यय में कभी-कभी भारी अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे देशवासियों के लिए अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ यदि सरकार अपने व्यय का आवश्यकता से अधिक अनुमान लगाती है तो उस व्यय को पूरा करने के लिए उसे बजट में नये-नये करों के प्रस्ताव भी सम्मिलित करने पड़ेंगे। इससे देशवासियों पर अनावश्यक ही करों का भार बढ़ जायगा। इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अनुमान तैयार करते समय सरकार को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए।

बजट कैसे तैयार किया जाता है? (How is the Budget Prepared?)—जैसा विदित है सरकार का शासन विभाग (*executive*) ही बजट को तैयार करता है। इसका कारण यह है कि शासन विभाग ही करों से होने वाली आय को एकत्रित करता है और इसे व्यय की विभिन्न मदों पर खर्च करता है। भारत में सरकार का बजट इस तरह तैयार किया जाता है—प्रतिवर्ष सितम्बर के महीने में सरकार अपना बजट सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ कर देती है। सभी स्थानीय विभागाध्यक्ष अपने-अपने विभागों के आगामी वर्ष में होने वाले आय-व्यय के अनुमानों को तैयार करते हैं। ये अनुमान प्रायः दो भागों में विभाजित किये जाते हैं। प्रथम भाग में, ये अनुमान प्रायः वर्तमान साधनों से प्राप्त होने वाली आय तथा वर्तमान मदों पर होने वाले व्यय को दिखाते हैं। दूसरे भाग में, आय के नये साधनों एवं व्यय की नयी मदों को दिखाया जाता है। प्रत्येक सरकारी

सरकार उसके लिए संसद के सम्मुख सांकेतिक मांग (Token Demand) रख सकती है। किन्तु ऐसा करते समय सरकार को उस मद से सम्बन्धित पूर्ण विवरण संसद के सामने रखना पड़ता है। इसी प्रकार जब किसी मद पर स्वीकृत रकम से अधिक व्यय हो जाता है तब सरकार उसका युक्तिकरण (Rationalisation) करने के लिए अनुदान प्रणाली का आश्रय लेती है।

जब सरकार के सभी मन्त्रालयों द्वारा प्रस्तुत की गयी माँगों को संसद द्वारा पास कर दिया जाता है तब उन्हें कानूनी रूप देने के लिए सरकार संसद के सम्मुख विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) प्रस्तुत करती है। इस विधेयक का उद्देश्य सरकार को भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) में से धन निकालने का अधिकार देना होता है। इसके बाद भारत के विभिन्न मन्त्रालय विनियोग विधेयक में दी गयी मदों के अनुसार ही आगामी वर्ष में अपना अपना व्यय करते हैं।

भारत के संविधान के अन्तर्गत देश में एक आपातकालीन निधि (Contingency Fund) की भी स्थापना की गयी है। यदि सरकार को किसी समय धन की अकस्मात आवश्यकता आ पड़ती है और बजट में उसके लिए कोई व्यवस्था नहीं होती तो ऐसी परिस्थिति में सरकार आवश्यक धन आपातकालीन निधि में से निकाल सकती है किन्तु यथाशीघ्र सरकार को संसद से इस व्यय की स्वीकृति लेनी पड़ती है। जब संसद इस प्रकार के व्यय की स्वीकृति दे देती है तब उतना ही धन भारत की संचित निधि में से निकालकर आपातकालीन निधि में जमा कर दिया जाता है।

द्रव्य बिल तथा अर्थ-बिल (Money Bill and Finance Bill)—भारत में द्रव्य बिल एवं अर्थ बिल में अन्तर किया जाता है। द्रव्य बिल में केवल कर और व्यय सम्बन्धी प्रस्ताव ही होते हैं जबकि अर्थ बिलों में इन दोनों के अलावा कई अन्य बातें भी सम्मिलित होती हैं। भारतीय संसद में द्रव्य बिल को पास करने की एक अलग प्रक्रिया निश्चित की गयी है। द्रव्य बिल को पहले लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है। उसके द्वारा पास किये जाने के उपरान्त इसे राज्यसभा में भेजा जाता है। यदि राज्यसभा द्रव्य बिल को उसी रूप में पास कर देती है तब कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यदि राज्यसभा उसमें संशोधन कर देती है तब उस संशोधित द्रव्य बिल को पुनः लोकसभा में पेश किया जाता है। यदि लोकसभा संशोधित बिल को स्वीकार नहीं करती तब राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित संशोधन स्वीकार नहीं किये जायेंगे और बिल अपने पहले रूप में ही पास कर दिया जायगा। इसके विपरीत अर्थ बिल को पास कराने की प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। द्रव्य बिल की भाँति अर्थ बिल भी पहले लोकसभा में पेश किया जाता है। तदुपरान्त इसे राज्यसभा में भेजा जाता है। यदि बिल के सम्बन्ध में दोनों में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाता है तब दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाकर बहुमत से अर्थ बिल को पास कर दिया जाता है। इस प्रकार अर्थ बिल राज्यसभा की अनुमति के बिना ही पास कराया जा सकता है।

सार्वजनिक व्यय का प्रशासन (Administration of Public Expenditure)—जब बजट पास हो जाता है और विनियोग विधेयक को भी संसद द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तब सरकार का शासन विभाग बजट में स्वीकार की गयी योजना के अनुसार व्यय करना आरम्भ कर देता है। प्रत्येक मन्त्रालय अपने अधीनस्थ कार्यालयों को उसके लिए बजट में स्वीकार किये गये अनुदानों की सूचना दे देता है। जैसा विदित है प्रत्येक मन्त्रालय द्वारा की गयी मांगों के अन्तर्गत कई प्रकार के उपशीर्षक (Sub heads) होते हैं। प्रत्येक विभागाध्यक्ष को उसके विभाग के लिए स्वीकृत किये गये धन की सूचना दे दी जाती है और वह आगामी वर्ष में उस स्वीकृत राशि के अनुसार ही व्यय करता है। कोई भी विभागाध्यक्ष अपने विभाग में स्वीकृत अनुदान से अधिक व्यय नहीं कर सकता जब तक कि वह सरकार से इसकी पूर्व अनुमति प्राप्त न कर ले। इसी प्रकार कोई भी विभागाध्यक्ष किसी निश्चित उद्देश्य के लिए स्वीकार किये गये अनुदान को किसी दूसरे उद्देश्य के लिए प्रयोग नहीं कर सकता जब तक कि वह इसके लिए सरकार की पूर्व अनुमति प्राप्त नहीं कर लेता।

सार्वजनिक ऋण का प्रशासन (Administration of Public Debt)—सरकार को सार्वजनिक ऋण लेने से पूर्व संसद से इसकी अनुमति लेनी पड़ती है। संसद यह तय करती है कि किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए लोगों से कितना और किन किन शर्तों पर ऋण लिया जाय। सार्वजनिक ऋण लोगों से भारत की संचित निधि के आधार पर लिया जाता है। संसद इस बात

का भी ध्यान रखनी है कि सरकार द्वारा लिया गया ऋण उसी उद्देश्य के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए जिसके लिए वह लोगो से प्राप्त किया जाता है।

भारत मे वित्तीय नियन्त्रण
(Financial Control in India)

निम्नलिखित सस्थाओ द्वारा भारत म वित्त नियन्त्रण का काय किया जाता है

(1) **अनुमान समिति** (Estimates Committee)—इस समिति म ससद द्वारा मनोनीत सदस्यो को नियुक्त किया जाता है। ये सदस्य प्राय वित्तीय विषयो के विशेषज्ञ होते है। वित्त मन्त्री इस समिति का अध्यक्ष होता है। जब वित्त मन्त्रालय सरकार का वार्षिक बजट तैयार कर लेता है तब इसे विचाराथ अनुमान समिति क सम्मुख पेश किया जाता है। यह समिति बजट प्रस्तावो का अध्ययन करती है और सरकार को अपनी राय से अवगत करती है। स्मरण रहे कि इस समिति का काय सरकार को केवल परामर्श देना ही है। जब समिति बजट सम्बन्धी प्रस्तावो का पूणत जाच कर लेती है तब बजट को ससद म पेश किया जाता है। इस प्रकार अनुमान समिति के माध्यम से ससद बजट के निर्माण पर अपना नियन्त्रण रखती है।

(2) **अकेक्षण विभाग** (Auditing Department)—अकेक्षण विभाग का उद्देश्य सरकारी लखो का जाच पडताल करना है। यह विभाग महाअकेक्षक (Auditor General) एव अकक्षक क निदशन म काय करता है। इस विभाग को भारतीय सविधान के अन्तगत अकेक्षण की पूण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। अकक्षण काय दो भागो म विभाजित किया गया है—(क) आय का अकेक्षण (ख) व्यय का अकेक्षण। अकेक्षण विभाग सरकार के उन विभागो के लेखा की भी जाच-पडताल करता है जिनके पास सरकारी भण्डार तथा स्टाक रहते है। आय की जाच करते समय अकेक्षण विभाग यह भी देखता है कि प्रत्येक करदाता से सही मात्रा म कर एकत्रित किया गया है। यह विभाग यह भी देखता है कि जितना धन वसूल किया गया है वह वास्तव म ट्रेजरी अथवा स्टेट बैंक आफ इण्डिया मे जमा भी कर दिया गया ■ अथवा नही। इसी प्रकार यह विभाग सरकारा द्वारा किये गये व्यय की भी जाच पडताल करता है और यह देखता है कि बजट म स्वीकृत अनुदान उन्ही कार्यों पर व्यय किये गये है जिनके लिए उनकी व्यवस्था की गयी थी। इसी तरह यह विभाग सरकारी लखा की शुद्धता एव सच्चाई की भी जाच-पडताल करता है। अकेक्षण काय के दौरान जो अशुद्धिया इस उपलब्ध होती है उनके आधार पर एक रिपोट बनायी जाती है और उस रिपोट को प्रकाशित कर दिया जाता है। इसके साथ ही सम्बन्धित अधिकारियो से उनके द्वारा की गयी अशुद्धियो एव नियम विरोधी बातो के बारे म स्पष्टीकरण मागे जाते है।

(3) **सावजनिक लेखा समिति** (Public Accounts Committee)—यह समिति भी ससद द्वारा नियुक्त की जाती है। इस समिति का मुख्य काम महाअकेक्षक द्वारा प्रस्तुत की गयी रिपोट की विस्तृत जाच करना होता है। इस समिति का यह भी कतव्य होता है कि यह देखे कि ससद द्वारा स्वीकृत अनुदानो से अधिक तो व्यय नही किया गया है। यह समिति अपनी रिपोट ससद के सम्मुख रखती है। इस प्रकार इस समिति के माध्यम से ससद सरकारी व्यय पर भी अपना नियन्त्रण रखती है।

(4) **सार्वजनिक उपक्रम समिति** (Public Undertakings Committee)—विगत कुछ वर्षों म भारत के सावजनिक क्षत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ है और कई प्रकार के सरकारी व्यवसाय (Govt Enterprises) स्थापित कर दिये गये है। इन व्यवसायों पर वित्तीय नियन्त्रण रखने के लिए ससद ने एक विशेष समिति बना दी है जिसे सावजनिक उपक्रम समिति कहा जाता है। इस समिति का मुख्य उद्देश्य सरकारी व्यवसायो के लेखो पर उचित नियन्त्रण करना है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त सकेत

1 **भारतीय आय व्ययक का तात्पर्य क्या है? भारतीय आय व्ययक किस प्रकार बनाया तथा कार्यान्वित किया जाता है?** (आगरा 1964)
[सकेत—प्रथम भाग म आय व्ययक (बजट) की परिभाषा दीजिए और स्पष्ट कीजिए कि भारतीय आय व्ययक म किन किन मदो को सम्मिलित किया जाता है। दूसरे भाग म विस्तारपूवक बताइए कि भारतीय बजट कसे तयार किया जाता है उसे कैसे ससद द्वारा पास कराया जाता है और अन्त मे उसे किस प्रकार क्रियान्वित किया जाता है।]

48

भारतीय राजवित्त

(Indian Public Finance)

भारतीय राजवित्त की विशेषताएँ

भारत के राजवित्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है

1. सघीय स्वरूप (Federal Character)—भारत के सन् 1935 के सविधान के अन्तर्गत केन्द्र एव प्रान्तो को कर-सम्बन्धी अलग-अलग अधिकार प्रदान किये गये थे अर्थात केन्द्र एव प्रान्तो के कराधान सम्बन्धी क्षेत्र स्पष्टत अलग-अलग कर दिये गये थे। जिन प्रान्तो की वित्तीय दशा दुर्बल होती थी उन्हे केन्द्र की ओर से विशेष अनुदान देने की व्यवस्था की गयी थी। सन् 1950 के स्वतन्त्र भारत के नये सविधान मे इसी वित्तीय ढाँचे को स्वीकार कर लिया गया और सघीय एव राज्य सरकारो के कर लगाने सम्बन्धी अधिकार स्पष्टत अलग-अलग निश्चित कर दिये गये थे।

2 आय के गैर-कर साधनो का अभाव (Paucity of Non-Tax Sources of Income)—भारत मे सरकारी आय के गैर-कर साधन प्राय अविकसित ही है। भारत मे सरकारी आय का केवल 10 प्रतिशत भाग ही गैर-कर साधनो (Non-Tax Sources) से उपलब्ध होता है। यह आय रेलो, डाक, तार, सिचाई के साधनो एव सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत मे सार्वजनिक क्षेत्र का अभी पर्याप्त विकास सम्भव नही हो सका है। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत जैसे जैसे सार्वजनिक क्षेत्र का विकास होता चला जायगा, वैसे ही वैसे सरकार की गैर-कर सम्बन्धी आय मे वृद्धि होती चली जायगी।

3 भारत मे राजवित्त का अविकसित स्वरूप (Undeveloped Character of Indian Public Finance)—भारत मे राजवित्त का अभी समुचित विकास सम्भव नही हो सका है। इसका मुख्य कारण देश का आर्थिक पिछड़ापन है। जैसा कहा गया है, हमारे देश मे केन्द्रीय एव राज्य सरकारो तथा स्थानीय सस्थाओ की कुल आय देश की राष्ट्रीय आय का केवल 13 प्रतिशत ही है, जब कि अन्य देशो मे सरकारी आय राष्ट्रीय आय का 25 से लेकर 35 प्रतिशत तक होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत मे राजवित्त कितना अविकसित है। सरकारी आय की सीमितता के कारण ही विभिन्न सरकारें अपने कार्य को भलीभाँति सम्पन्न नही कर पाती।

4 भारतीय वित्त-व्यवस्था मे अप्रत्यक्ष करो की प्रधानता—भारत की कर-प्रणाली मे प्रत्यक्ष करो की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर अधिक मात्रा मे पाये जाते है। वास्तव मे, यह भारतीय कर-प्रणाली के पिछड़ेपन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसा विदित है, विकसित देशो मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करो से प्राप्त होने वाली आय लगभग समान होती है किन्तु हमारे देश मे अप्रत्यक्ष करो की ही प्रधानता है। प्रत्यक्ष कर तो केवल नाममात्र को ही है। यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षो से सम्पत्ति कर, उपहार-कर एव मृत्यु-कर जैसे प्रत्यक्ष कर लगाये गये हैं। लेकिन इनके बावजूद हमारी कर प्रणाली मे अप्रत्यक्ष करो की ही प्रधानता है।

5 **भारतीय राजवित्त में अनिश्चितता**—भारतीय राजवित्त में अनिश्चितता का अंश पाया जाता है। जैसा कि प्रायः कहा जाता है, भारतीय बजट वास्तव में मानसून में जुआ है (Indian Budget is a Gamble in the Monsoons)। इसका कारण यह है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और भारतीय अर्थव्यवस्था बहुत बड़ी मात्रा में कृषि पर ही निर्भर करती है। किन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय कृषि मानसून हवाओं पर ही लगभग पूर्णतः निर्भर रहती है। मानसून हवाओं के फेल हो जाने पर कृषि फसलें भी फेल हो जाती हैं और देश की पूर्ण अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती है। परिणामतः सरकार का बजट भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघीय वित्त व्यवस्था

जैसा कि विदित है भारत एक संघात्मक राज्य है। भारत के नवीन संविधान के अन्तर्गत संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच कार्यों का विभाजन किया गया है। यह विभाजन ठीक वैसा ही है जैसा सन् 1935 के संविधान के अन्तर्गत हुआ करता था। किन्तु नवीन संविधान के अन्तर्गत शेष अधिकार (residuary powers) संघीय सरकार को ही सौंपे गये हैं। इस संविधान के प्रधान आय के साधनों के वितरण की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है—(क) **आय के संघीय साधन** (Union Sources of Income)—रेलें, डाक, तार, टेलीफोन, प्रसारण (Broadcasting) सीमा कर, निगम कर आदि संघीय सरकार के पास रहते हैं। (ख) **आय के राज्यीय साधन** (State Sources of Income)—भूमि कर, कृषि आय कर, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, बिक्री कर, मोटर गाड़ी कर, मनोरंजन कर आदि साधनों से प्राप्त होने वाली आय राज्य सरकारों के पास रहती है। इन करों को लगाने का पूर्ण अधिकार राज्य सरकारों को है। (ग) वे कर जो संघीय सरकार द्वारा लगाये एवं एकत्रित किये जाते हैं, परन्तु जिनसे प्राप्त की गयी आय संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच बाँटी जाती है। ये कर इस प्रकार हैं आय कर, उत्पादन कर। (घ) वे कर जो संघीय सरकार द्वारा लगाये एवं एकत्रित किये जाते हैं, परन्तु जिनकी समूची आय राज्य सरकारों को सौंप दी जाती है। ये कर इस प्रकार हैं—मृत्यु कर, रेलमार्ग, समुद्री मार्ग एवं वायुमार्ग द्वारा आने वाली वस्तुओं तथा यात्रियों पर सीमान्त कर। (ङ) वे कर जो संघीय सरकार द्वारा लगाये जाते हैं किन्तु उन्हें राज्य सरकारों द्वारा एकत्रित किया जाता है और उनकी आय भी राज्य सरकारों को ही उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ, स्टाम्प शुल्क तथा औषधियों पर लगाये गये उत्पादन कर।

नये संविधान के अन्तर्गत इन बातों की भी व्यवस्था की गयी है—(क) आय कर तथा उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली आय को संघीय एवं राज्य सरकारों में बाँटने की व्यवस्था की गयी है। (ख) संघीय सरकार की ओर से राज्य सरकारों को सहायक अनुदान (Grants in aid) देने की व्यवस्था की गयी है। ये अनुदान भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) में से दिये जाते हैं और इनकी मात्राएँ विभिन्न राज्यों की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित की जाती हैं। संघीय सरकार अधिभार (Surcharge) लगाकर किसी भी कर में वृद्धि कर सकती है जो राज्य सरकारों में विभाजित किया जाने वाला है। इन अधिभारों से उपलब्ध होने वाली आय पूर्णतः संघीय सरकार के पास रहती है।

देशमुख निर्णय (Deshmukh Award)—सन् 1948 में भारत सरकार द्वारा किये गये वित्तीय पुनर्वितरण की राज्य सरकारों द्वारा कड़ी आलोचना की गयी थी यद्यपि यह पुनर्वितरण केवल दो वर्षों के लिए ही था। इसलिए भारत सरकार ने राज्य सरकारों को सन्तुष्ट करने के लिए श्री देशमुख को मध्यस्थ के रूप में नियुक्त किया और उनसे कहा गया कि वह वित्तीय पुनर्वितरण के सम्बन्ध में अपने सुझाव सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करें। श्री देशमुख द्वारा दिये गये सुझावों को देशमुख निर्णय के नाम से सम्बोधित किया जाता है। देशमुख निर्णय के अन्तर्गत बम्बई (अब महाराष्ट्र) मध्य प्रदेश, असम और उड़ीसा राज्यों के भागों को यथास्थिर ही रखा गया। किन्तु पंजाब तथा पश्चिम बंगाल के भाग क्रमशः 1 5 तथा 5 0 प्रतिशत बढ़ा दिये गये। तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और बिहार के क्रमशः 0 5 व 1 0 और 0 5 प्रतिशत घटा दिये गये। जूट उत्पन्न करने वाले राज्यों के सम्बन्ध में श्री देशमुख ने उन्हें विशेष अनुदान देने का

सुझाव दिया। इन राज्यों के अनुदान इस प्रकार थे—पश्चिमी बंगाल 105 लाख, असम 40 लाख, बिहार 35 लाख, उड़ीसा 6 लाख रुपये।

प्रथम वित्त आयोग (First Finance Commission)—संविधान की धारा 280 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को प्रति 5वें वर्ष एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए राष्ट्रपति ने 21 नवम्बर 1951 को श्री के०सी० नियोगी (K C Neogy) की अध्यक्षता में प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति की थी। संविधान के अन्तर्गत प्रस्तावित इस प्रकार के वित्तीय आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं—(क) संघीय एवं राज्य सरकारों के बीच उन करों की शुद्ध प्राप्ति का वितरण जिन्हें उनके बीच विभाजित किया जाता है। (ख) इन करों में प्रत्येक राज्य सरकार के हिस्से का निर्धारण करना। (ग) उन सिद्धान्तों का निर्धारण करना जिनके आधार पर राज्य सरकारों को सहायक अनुदान (grants in aid) दिये जाने चाहिए। इस प्रकार प्रति पाँचवें वर्ष उपरोक्त विषयों पर विचार करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग की नियुक्ति की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रथम वित्त आयोग 21 नवम्बर 1951 को नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने 31 दिसम्बर 1952 को अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की थी। प्रथम वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं।

1 **आय-कर की प्राप्ति का वितरण**—उस समय तक (अर्थात 1952 तक) आय-कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय का 50 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में बाँट दिया जाता था परन्तु अब वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि भविष्य में आय कर की शुद्ध आय का 55 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में बाँटा जाय। इसके साथ ही वित्त आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि आय-कर की विभाज्य धनराशि का 80 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में जनसंख्या के आधार पर और शेष 20 प्रतिशत भाग आय कर के सापेक्षिक संग्रह (relative collections) के आधार पर राज्य सरकारों में वितरित किया जाय। इसी सूत्र के अन्तर्गत विभिन्न राज्य सरकारों के हिस्से वित्त आयोग द्वारा निर्धारित किये गये थे। बम्बई (अब महाराष्ट्र) राज्य का सबसे अधिक अर्थात 17 5 प्रतिशत और पप्सू राज्य (अब यह पंजाब राज्य में मिला दिया गया है) का सबसे कम अर्थात 0 75 प्रतिशत हिस्सा दिया गया था।

2 **संघीय उत्पादन करों का वितरण**—इस सम्बन्ध में वित्त आयोग ने दियासलाई वनस्पति तेल तथा तम्बाकू पर लगने वाले संघीय उत्पादन करों का राज्य सरकारों में वितरित करने की सिफारिश की थी। आयोग ने यह सुझाव दिया था कि इन तीनों संघीय उत्पादन करों की विशुद्ध आय का 40 प्रतिशत भाग को राज्य सरकारों में उनकी सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय। इस सूत्र के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात 18 23 प्रतिशत और पेप्सू (अब इस पंजाब राज्य में मिला दिया गया है) को सबसे कम अर्थात 1 0 प्रतिशत भाग हिस्से के रूप में मिला था।

3 **जूट निर्यात कर के बदले में सहायक अनुदान**—वित्त आयोग ने जूट निर्यात कर के बदले में पश्चिमी बंगाल असम बिहार तथा उड़ीसा राज्यों को क्रमश 150 लाख 65 लाख 75 लाख 15 लाख रुपये की वार्षिक सहायता अनुदान के रूप में देने की सिफारिश की थी।

4 **राज्यों को सहायक अनुदान**—वित्त आयोग ने केन्द्रीय बजट से राज्य सरकारों को सहायक अनुदान देने की सिफारिश की थी। असम को सबसे अधिक अर्थात 100 लाख तथा पंजाब को सबसे कम अर्थात 25 लाख रुपये देने की सिफारिश की गयी थी।

5 **प्रारम्भिक शिक्षा अनुदान** शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े हुए कुछ राज्यों को प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार के लिए आयोग ने विशेष अनुदान देने की सिफारिश की थी। इस सम्बन्ध में बिहार को सबसे अधिक और पप्सू (पंजाब) को सबसे कम अनुदान दिया गया था।

भारत सरकार ने प्रथम वित्त आयोग की सभी सिफारिशों को बिना किसी संशोधन के स्वीकार कर लिया था।

कर जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission 1953 1954)—अप्रैल 1953 में भारत सरकार ने तत्कालीन कर प्रणाली की जाँच करने के लिए जाँच आयोग की

नियुक्ति की थी। इस आयोग को कर-प्रणाली से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार करने के लिए कहा गया था। उदाहरणार्थ, इस आयोग को केन्द्रीय, राज्यीय एव स्थानीय करो के भार का अध्ययन करने तथा देश की पचवर्षीय योजनाओ के लिए वित्त की व्यवस्था करने एव देश मे धन के वितरण की असमानताओ को कम करने और तत्कालीन कर-प्रणाली मे सुधार करने आदि विषयो पर अपने सुझाव प्रस्तुत करने के लिए कहा गया था। डा० जॉनमथाई (Dr John Mathai) इस आयोग के अध्यक्ष थे। इस आयोग ने दिसम्बर 1954 मे सरकार के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी। इस आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी

(क) कराधान से सरकारी आय बढाने के लिए परोक्ष करो की अपेक्षा प्रत्यक्ष करो को अधिक महत्त्व दिया जाय।

(ख) वर्तमान परिस्थितियो मे आवश्यक वस्तुओं पर कर समाप्त नही किये जा सकते।

(ग) जनता की करदान क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि अतिरिक्त कराधान द्वारा प्राप्त की गयी आय किस प्रकार व्यय की जाती है।

(घ) विकास योजनाओ के लिए वित्त प्राप्त करने हेतु कराधान एव सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि की जाय।

(ङ) जब तक सार्वजनिक आय एव सार्वजनिक व्यय राष्ट्रीय आय के अनुपात मे कम है तब तक कर-प्रणाली का आय तथा धन सम्बन्धी विषमताओ को कम करने के लिए प्रयोग नही किया जा सकता।

सन् 1955-56 के बजट मे भारत सरकार ने कर जाँच आयोग के कुछ सुझावो को स्वीकार कर लिया था। तदुपरान्त सरकार ने अन्य सुझावो का धीरे-धीरे क्रियान्वित करने का निर्णय किया था।

प्रो० काल्डर की रिपोर्ट (Professor Kaldor's Report)—दूसरी पचवर्षीय योजना के लिए भारत सरकार ने देश की कर-प्रणाली का पुन निरीक्षण एव सुधार करना आवश्यक समझा था। अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० निकोलस काल्डर (Nicholas Kaldor) को देश की कर प्रणाली का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया। प्रो० काल्डर ने अपनी रिपोर्ट मे बताया कि भारत की तत्कालीन कर-प्रणाली अत्यन्त अकुशल एव अन्यायपूर्ण थी। प्रो० काल्डर के अनुसार भारत मे प्रतिवर्ष 200 से 300 करोड रुपये का कर-अपवचन (tax evasion) हो रहा था। इसके ही साथ प्रो० काल्डर ने यह भी बताया कि भारतीय कर-प्रणाली मे आवश्यक गति का अभाव था। यही कारण था कि राष्ट्रीय आय एव उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ करो से उपलब्ध होने वाली आय मे वृद्धि नही हो रही थी। अत इस दोष को दूर करने के लिए और कर-प्रणाली को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रो० काल्डर ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि भारत की कर-प्रणाली के आधार को अधिक विस्तृत किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने व्यक्तिगत व्यय कर, वार्षिक पूंजी कर, पूंजी लाभ कर तथा उपहार कर लगाने की सिफारिश की थी। उन्होने यह भी सुझाव दिया कि आय-कर की दर 45 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए। अपनी रिपोर्ट मे प्रो० काल्डर ने देश मे बडे पैमाने पर होने वाले कर अपवचन को रोकने के लिए सुझाव भी प्रस्तुत किये थे। प्रो० काल्डर के उक्त सुझाव भारत सरकार द्वारा सन 1957-58 तथा सन् 1958-59 के बजटो मे सशोधित रूप मे स्वीकार कर लिए गए थे।

द्वितीय वित्त आयोग (Second Finance Commission)—भारतीय सविधान की धारा 270 के अन्तर्गत मई 1956 को राष्ट्रपति ने श्री के० सथानम (K Santhanam) की अध्यक्षता मे दूसरे वित्त आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग को भी लगभग वही कार्य सौंपा गया था जो कि प्रथम वित्त आयोग को दिया गया था, अर्थात आयोग को विभाज्य करो के सघीय एव राज्य सरकारो के बीच वितरण, प्रत्येक राज्य सरकार के हिस्से का निर्धारण तथा राज्य सरकारों को दिये जाने वाले केन्द्रीय सहायक अनुदानों के वितरण के सम्बन्ध मे सिद्धान्तो का निर्धारण करने के लिए कहा गया था। इसके साथ ही जूट तथा जूट के पदार्थो पर लगने वाले निर्यात-कर की आय मे से असम, बिहार, उडीसा तथा पश्चिमी बगाल को दिये जाने वाले सहायक

अनुदानो का निर्धारण करने के लिए भी आयोग को कहा गया था। इसके अलावा, आयोग को आस्ति कर (Estate Duty) से उपलब्ध आय को राज्य सरकारो के बीच वितरित करने के सिद्धान्तो का निर्धारण करने के लिए भी कहा गया था। वित्त आयोग को सौंपे गये अन्य विषय इस प्रकार थे (क) दूसरी पचवर्षीय योजना के लिए राज्यो को दिये जाने वाले सहायक अनुदानो की मात्रा का निर्णय करना। (ख) रेलगाडी के यात्रियो पर लगाये जाने वाले करो की शुद्ध आय के वितरण के सिद्धान्तो का निर्धारण करना। (ग) सन् 1947 से सन 1956 के बीच भारत सरकार द्वारा विभिन्न राज्य सरकारो को दिये गये ऋणो की वापसी की शर्तो एव ब्याज की दरो के सम्बन्ध म आवश्यक संशोधन करने के बारे मे सुझाव देना। दूसरे वित्त आयोग ने अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर 1957 मे भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की थी। वित्त आयोग ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करते समय राज्य सरकारो की आधारमूलक एव विकासशील दोनो ही प्रकार की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखा था। आयोग की मूल्य सिफारिशें इस प्रकार थी

(1) **आय-कर का वितरण**—आयोग ने यह सिफारिश की थी कि आय-कर से उपलब्ध होने वाली आय का राज्य सरकारो का हिस्सा 55 प्रतिशत से बढाकर 60 प्रतिशत कर दिया जाय। स्मरण रहे कि प्रथम वित्त आयोग ने आय-कर से प्राप्त होने वाली आय का केवल 55 प्रतिशत भाग ही राज्य सरकारो म बाँटने की सिफारिश की थी परन्तु दूसरे वित्त आयोग ने इसे 55 प्रतिशत से बढाकर 60 प्रतिशत कर देने की सिफारिश की थी। आय-कर के विभाज्य हिस्से को राज्य सरकारो म वितरित करने के सम्बन्ध मे वित्त आयोग ने राज्यो की जनसख्या को ही मुख्य आधार स्वीकार किया था। आयोग ने राज्यो के हिस्सो का 90 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत सापेक्ष सग्रहो (Relative Collections) के आधार पर निश्चित करने का सुझाव दिया था। आयोग के इस सूत्र के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात 16 36 प्रतिशत तथा जम्मू और कश्मीर को सबसे कम अर्थात 1 13 प्रतिशत हिस्सा मिला था।

(2) **सघीय उत्पादन करो का वितरण**—दूसरे वित्त आयोग ने दियासलाई, तम्बाकू तथा वनस्पति तेल के अतिरिक्त चीनी कॉफी कागज तथा अनावश्यक तेलो (non-essential oils) से सघीय उत्पादन करो की आय को भी राज्य सरकारो मे वितरित करने का सुझाव दिया था। परन्तु इसके साथ ही वित्त आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि इन करो से राज्य सरकारो को दिया जाने वाला हिस्सा कुल आय के 40 प्रतिशत से कम करके 25 प्रतिशत कर दिया जाय। जहाँ तक इन करो से होने वाली आय का राज्य सरकारो के बीच वितरण का सम्बन्ध था वित्त आयोग ने जनसख्या के आकार को ही इसका मुख्य आधार माना। वित्त आयोग के इस सूत्र के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात 15 94 प्रतिशत और जम्मू तथा कश्मीर को सबसे कम अर्थात 1 75 प्रतिशत हिस्सा दिया गया था।

(3) **निर्यात-कर के स्थान पर सहायक अनुदान**—द्वितीय वित्त आयोग ने सन् 1959-60 तक जूट उत्पादक राज्यो अथात असम, पश्चिमी बगाल बिहार तथा उडीसा को जूट निर्यात कर के स्थान पर सहायक अनुदान देने की सिफारिश की थी। ये अनुदान क्रमश इस प्रकार थे 75 लाख 152 69 लाख 72 3 लाख 15 लाख रुपये।

(4) **राज्य सरकारो को सहायक अनुदान**—दूसरे वित्त आयोग ने राज्य सरकारो की विकासात्मक आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए उनके लिए पहले से अधिक सहायक अनुदानो की सिफारिश की थी।

(5) **आस्ति कर का वितरण**—आस्ति कर भारत सरकार द्वारा चल तथा अचल दोनो प्रकार की सम्पत्तियो पर लगाया जाता था। इसका सग्रह भी भारत सरकार द्वारा किया जाता था किन्तु इस कर से उपलब्ध होने वाली समूची आय राज्य सरकारो मे वितरित कर दी जाती थी। द्वितीय वित्त आयोग ने इस प्रकार की आय को राज्य सरकारो मे वितरित करने के लिए दो मुख्य आधारो का सुझाव दिया था। प्रथम अचल सम्पत्ति से होने वाली आय के कुछ भाग को राज्य सरकारो मे सम्पत्ति की स्थिति (Location) के आधार पर बाँटने का सुझाव दिया अर्थात प्रत्येक राज्य सरकार को उसके क्षेत्र मे स्थित अचल सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात मे हिस्सा

दने की सिफारिश की गयी थी। अचल सम्पत्ति से उपलब्ध आय के शेष भाग को राज्य सरकारो मे उनके क्षत्रा मे जनसख्या के आकार के आधार पर वितरित करन का सुझाव दिया गया। इस प्रकार आयोग के सूत्र के अतगत उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात 17 71 प्रतिशत तथा जम्मू और कश्मीर को सबसे कम अथात 1 24 प्रतिशत हिस्सा दिये जाने की सिफारिश की गयी थी।

(6) **भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारो को दिये गये ऋण**—जैसा कि पूव कहा गया है सन 1947 एव 1956 के बीच भारत सरकार न राज्य सरकारो को बड पैमाने पर कई प्रकार के ऋण न्यि थे किन्तु इन ऋणा पर दिय जान वाल ब्याज एव उनकी अदायगी की शर्तो म भारी अन्तर था। परिणामत भारत सरकार एव विभिन्न राज्य सरकारो के बीच वित्तीय सम्बधो म कई प्रकार की कठिनाइया उत्पन्न हो गयी था। इनको दूर करने के लिए दूसरे वित्त आयोग न सभी ऋणा के एकीकरण तथा ब्याज एव उनके भगतान की शर्तो के समानीकरण की एक योजना सरकार के सम्मुख रखी थी।

(7) ***अतिरिक्त उत्पादन करो का विकास*** —*भारत सरकार ने राज्य सरकारो के परामर्श से यह निणय किया था कि मिला म बने सूती कपडे चीनी तथा तम्बाकू पर राज्य सरकार बिक्री कर समाप्त कर द। उनक स्थान पर भारत सरकार उक्त वस्तुओ पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगाय और इन करो स उत्पन्न होन वाली समूची आय का राज्य सरकारो मे वितरित कर दिया जाय। इस सम्बन्ध मे वित्त आयाग न इन करा से प्राप्त होन वाली आय का राज्य सरकारो म वितरित करने सम्बन्धी सिद्धान्ता का प्रतिपादन भी किया था।*

(8) **रेल भाडो पर लगाये जाने वाले कर की आय का वितरण**—सन 1957 मे भारत सरकार ने रेलयात्री भाडा पर कर लगा दिया था। इस प्रकार का सग्रह भारत सरकार द्वारा किया जाता था परन्तु उससे उपलब्ध होने वाली समूची आय का राज्य सरकारा मे बाट दिया जाता था इस सम्बन्ध मे वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि इस कर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय का ½ प्रतिशत भाग केन्द्र प्रशासित क्षत्रो क लिए सुरक्षित रख दिया जाय और शेष धनराशि को राज्य सरकारा म उनकी सीमा के भीतर की गयी रेलयात्रा के आधार पर वितरित कर दिया जाय।

दूसरे वित्त आयाग की सिफारिशो क अतगत भारत सरकार द्वारा प्रतिवर्ष राज्य सरकारो का 140 करोड रुपय देन की व्यवस्था की गयी जबकि प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो के अन्तगत भारत सरकार केवल 93 करोड रुपय ही प्रतिवर्ष राज्य सरकारो को दिया करती थी। भारत सरकार न ऋण सम्बन्धी सिफारिश को छोडकर आयोग की शेष सभी सिफारिशे स्वीकार कर ली।

तीसरा वित्त आयोग (Third Finance Commission)—तृतीय वित्त आयाग की नियुक्ति सविधान की धारा 280 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा 2 दिसम्बर 1960 को की गयी थी। भारत क भूतपूर्व महाअकेक्षक श्री अशोक कुमार चान्दा इस समिति के अध्यक्ष थ इस समिति को इन विषयो क सम्बन्ध म अपनी सिफारिशे दन के लिए कहा गया (क) आय कर का वितरण (ख) मूल सघीय उत्पादन करो का वितरण (ग) अतिरिक्त उत्पादन करो का वितरण (घ) सविधान की धारा *275 की धारा क अन्तगत राज्य सरकारो को दिय जाने वाले सहायक अनुदानो का* निर्धारण (ङ) *सम्पत्ति कर से उपलब्ध होने वाली आय का राज्य सरकारो म वितरण (च) 12 5 करोड रुपय की राशि का राज्य सरकारो म वितरण—यह वह राशि थी जो रेलयात्री भाडा कर के हटाय जान के फलस्वरूप भारत सरकार द्वारा देय थी तृतीय वित्त आयोग ने 14 दिसम्बर 1961 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत की थी आयोग की सभी सिफारिशे सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गयी था। आयाग न राज्य सरकारो को सडक परिवहन के विकास हेतु जो विशेष सहायता दन की सिफारिश की थी उसे भी भारत सरकार न स्वीकार कर लिया था। रेलयात्री भाडा कर मे सम्बन्धित हानि पूर्ति क रूप म दी जाने वाली राज्य सरकारो की सहायता को छोडकर भारत सरकार न वित्त आयोग की सभी सिफारिशो को केवल 4 वर्ष की अवधि के लिए अर्थात 1 अप्रल 1962 स 31 मार्च 1966 तक क लिए स्वीकार किया था। ऐसा इसलिए किया गया ताकि चौथी पचवर्षीय योजना म प्रारम्भ से ही चौथे वित्त आयोग के सुझावो को क्रियान्वित किया जा सके*

तीसरे वित्त आयोग की मुख्य मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी

(1) **आय-कर का वितरण**—आयोग ने निगम कर (Corporation Tax) को छोडकर आय कर की आय म स राज्य सरकारा का हिस्सा 60 प्रतिशत से बढाकर $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दिया। था आयोग ने आय कर की विभाज्य आय म प्रत्येक राज्य के हिस्से के निर्धारण म राज्यो म कर के संग्रह को पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया। इस प्रकार आयोग ने आय-कर की विभाज्य आय मे से राज्यो व 80 प्रतिशत भाग को उनकी सापेक्षिक जनसख्या के आधार पर तथा शेष 20 प्रतिशत भाग को उनके द्वारा किये गए आय कर के सापेक्षिक सग्रह के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की। स्मरण रहे कि अब तक आय कर की विभाज्य आय मे स 90 प्रतिशत भाग का वितरण राज्या की सापेक्षिक जनसख्या के आधार पर तथा शेष 10 प्रतिशत भाग का वितरण राज्या म किये गये सापेक्षिक सग्रहो के आधार पर किया जाता था। आयोग के इस सूत्र के अन्तगत उत्तर प्रदेश का सबस अधिक अर्थात 14 42 प्रतिशत और जम्मू व कश्मीर को सबसे कम अर्थात 0 7 प्रतिशत भाग दिया गया था।

(2) **मूल सघीय उत्पादन करो का वितरण**—आयोग न मूल सघीय उत्पादन करो की आय म राज्या का हिस्सा 25 प्रतिशत स घटाकर 20 प्रतिशत कर दने की सिफारिश की लेकिन आयोग ने दियासलाई तम्बाकू वनस्पति काफी चीनी आदि वस्तुओ के अतिरिक्त 27 अन्य वस्तुओ के सघीय उत्पादन करो की आय का भी राज्य सरकारो म वितरित करने की सिफारिश की। इनम स मुख्य मुख्य उत्पादन कर इस प्रकार है मिट्टी का तेल डीजल आयल सूती रेशमी तथा ऊनी वस्त्र सीमेण्ट मोटर गाडिया जूते आदि वस्तुओ पर उत्पादन कर। इन उत्पादन करो की आय म विभिन्न राज्यो क हिस्सो के निर्धारण के सम्बन्ध म वित्त आयोग न विभिन्न राज्यो की सापेक्षिक जनसख्या वित्तीय क्षमता तथा पिछडी एव अछूत जातियो की विकास आवश्यकताओ आदि को विशेष महत्त्व दने की सिफारिश की थी। इन करो की विभाज्य आय म सबसे अधिक हिस्सा अथात 11 5 प्रतिशत बिहार को और सबसे कम हिस्सा अर्थात 2 20 प्रतिशत जम्मू व कश्मीर को दिया गया था।

(3) **अतिरिक्त उत्पादन करो का वितरण**—जैसा हम पूव कह चुके हैं सन 1957 म भारत सरकार ने राज्य सरकारो के परामर्श से मिलो के बने सूती वस्त्र चीनी तथा तम्बाकू पर राज्यीय बिक्री कर (State Sales Tax) क स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर (Additional Excise Duty) लगा दिये थे। दूसरे वित्त आयोग ने यह सिफारिश की थी कि इस अतिरिक्त उत्पादन करो का 1 प्रतिशत भाग केन्द्र शासित क्षेत्रो को तथा $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत भाग जम्मू व कश्मीर राज्य को दिया जाय और शेष आय अन्य राज्यो के बीच वितरित कर दी जाय। प्रथम राज्य सरकारो को इन वस्तुओ से बिक्री कर से जितनी आय हुआ करती थी उतनी ही उन्हे दी जाय और शेष राशि का वितरण राज्यो म सापेक्षिक उपभोग तथा जनसख्या के आधार पर किया जाय। तीसरे वित्त आयोग ने इस व्यवस्था म किसी परिवर्तन की सिफारिश नही की। चूकि 1 अप्रैल 1961 को रेशमी कपडे पर भी बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त कर लगा दिया गया था इसलिए राज्य सरकारो का बिक्री कर के स्थान पर भारत सरकार द्वारा गारण्टी की गयी आय 32 50 करोड रुपय से बढाकर 32 54 करोड रुपये कर दी गयी थी। तीसरे वित्त आयोग ने अतिरिक्त उत्पादन करो से प्राप्त होने वाली आय मे से 1 प्रतिशत भाग केन्द्र शासित क्षेत्रो तथा $1\frac{1}{4}$ प्रतिशत भाग जम्मू व कश्मीर को देने की सिफारिश की थी। राज्यो को गारण्टी की गयी राशि दने के उपरान्त शेष रकम को राज्यो मे अशत उनकी सापेक्षिक जनसंख्या तथा अशत सन 1957 58 मे उनकी बिक्री करो से होने वाली आय के आधार पर वितरित करने का सुझाव दिया गया था। आयोग द्वारा इस सूत्र के अन्तगत अतिरिक्त उत्पादन करो से महाराष्ट्र को सबसे अधिक हिस्सा अर्थात 63 करोड असम को सबसे अर्थात 85 लाख रुपये दिये गये थे।

(4) **आस्ति कर की आय का वितरण**—तीसरे आयोग ने आस्ति कर की आय के वितरण के सम्बन्ध म किसी विशेष परिवर्तन का सुझाव नही दिया गया था। आयोग न सन 1961 की जनगणना के आकडो के आधार पर प्रत्येक राज्य के हिस्से को निर्धारित किया था। तीसरे आयोग

न राज्यों में आस्ति कर के वितरण से सम्बन्धित दूसरे वित्त आयोग का सुझाव भी मान लिया था कि अचल सम्पत्ति से होने वाली आय के कुछ भाग को राज्यों में स्थिति (Location) के आधार पर वितरित किया जाय और अचल सम्पत्ति से उपलब्ध आय तथा चल सम्पत्ति से होने वाली समूची आय को राज्यों में उनकी सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय। आयोग के इस सूत्र के अन्तर्गत आस्ति कर की आय में से उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक हिस्सा अर्थात् 16 प्रतिशत और जम्मू व कश्मीर को सबसे कम हिस्सा अर्थात् 0.83 प्रतिशत दिया गया।

(5) **रेलगाड़ी भाड़ा-कर के हटाये जाने के परिणामस्वरूप राज्यों को सहायता**— जैसा कि पूर्व कहा गया है सन 1957 में भारत सरकार ने रेलयात्री भाड़ा कर लगाया था और इस कर से प्राप्त होने वाली आय को राज्य सरकारों में बाँट दिया जाता था। किन्तु अप्रैल 1961 में भारत सरकार ने इस कर को हटा दिया था जिसके परिणामस्वरूप राज्य सरकारों को हानि उठानी पड़ी थी। अतः तीसरे वित्त आयोग ने इस हानि पूर्ति हेतु प्रतिवर्ष राज्य सरकारों को 12.5 करोड़ रुपये की सहायता देने की सिफारिश की। इस राशि में सभी राज्य सरकारों के हिस्से निर्धारित कर दिये गये। उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक हिस्सा अर्थात् 2.34 करोड़ रुपये और उड़ीसा को सबसे कम हिस्सा अर्थात् 22 लाख रुपये दिये गये थे।

(6) **राज्य सरकारों को सहायक अनुदान**— तीसरे वित्त आयोग ने भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों को विस्तृत सहायक अनुदान दिये जाने की सिफारिश भी की थी। अब तक राज्य सरकारों को 39.5 करोड़ रुपये के वार्षिक सहायक अनुदान दिये जाते थे। तीसरे आयोग ने यह सिफारिश की कि महाराष्ट्र को छोड़कर अन्य 10 राज्यों को 110.25 करोड़ रुपये के वार्षिक अनुदान दिये जायें। ये अनुदान राज्य सरकारों को दो उद्देश्यों के लिए दिये जाने चाहिए। प्रथम, राज्य सरकारों की वित्तीय क्षमता को पूरा करने के लिए। दूसरे, राज्य सरकारों की विकासात्मक योजनाओं की पूर्ति के लिए। भारत सरकार ने वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित प्रथम आधार को तो स्वीकार कर लिया किन्तु इसके प्रस्तावित आधार के बारे में भारत सरकार ने अपनी असहमति प्रकट की।

(7) **राज्य सरकारों को सड़क परिवहन के विकास के लिए सहायक**—तीसरे वित्त आयोग ने राज्य सरकारों को सड़क परिवहन के विकासार्थ विशेष अनुदान देने की सिफारिश की थी। भारत सरकार ने वित्त आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया था क्योंकि उसका यह विचार था कि विशेष अनुदान के बिना तीसरी योजना की अवधि में सड़क परिवहन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति नहीं हो सकेगी। वित्त आयोग की सिफारिश के स्वीकार किये जाने के परिणामस्वरूप आन्ध्र, असम, बिहार, गुजरात, जम्मू व कश्मीर, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा राजस्थान को लगभग 9 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष अनुदान के रूप में दिये गये थे।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि तीसरे वित्त आयोग ने राज्य सरकारों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं का ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया था, लेकिन इसके साथ ही साथ वित्त आयोग ने यह भी ध्यान रखा था कि भारत सरकार की आय में अधिक कमी न होने पाये। आयोग ने आय-कर से उपलब्ध होने वाली आय का 66⅔ प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में वितरित करने की सिफारिश की थी। जहाँ तक वितरण के आधार का सम्बन्ध था, आयोग ने सापेक्षिक संग्रहण को पहले की अपेक्षा अधिक महत्व दिया था। परिणामतः महाराष्ट्र तथा पश्चिमी बंगाल जैसे औद्योगिक राज्यों को आय-कर में से पहले की अपेक्षा अधिक हिस्सा उपलब्ध होने लगा। यह सत्य है कि आयोग ने संघीय उत्पादन करों की आय का केवल 20 प्रतिशत भाग ही राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की थी जबकि पहले यह हिस्सा कुल आय का 25 प्रतिशत हुआ करता था। लेकिन इसके साथ ही वित्त आयोग ने 8 वस्तुओं के स्थान पर 35 वस्तुओं के संघीय उत्पादन करों की आय को राज्यों में बाँटने की सिफारिश की थी। अतः तीसरे वित्त आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप राज्य सरकारों के वित्तीय साधनों में पर्याप्त वृद्धि हुई थी।

चौथा वित्त आयोग (Fourth Finance Commission) चौथा वित्त आयोग मई 1964 में नियुक्त किया गया था और अगस्त 1965 में इसने अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की थी।

इस आयोग के अध्यक्ष डा० पी० वी राजामनार (Dr P V Rajamannar) थे। आयोग की मुख्य मुख्य सिफारिशे इस प्रकार था

(1) **आय-कर का वितरण**—आयोग ने आय कर की आय मे से राज्य सरकारो का हिस्सा $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत से बढ़ाकर 75 प्रतिशत कर दिया। आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि प्रत्येक राज्य का आय कर मे मे हिस्सा 80 प्रतिशत जनसख्या और 20 प्रतिशत कर सग्रह (Tax Collection) के आधार पर निर्धारित किया जाय जैसा कि पूर्व किया जाता रहा है। आयोग के इस सूत्र के अन्तगत उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात 14 60 प्रतिशत और नागालैण्ड को सबसे कम अर्थात 0 07 प्रतिशत भाग दिया गया था। आयोग की इस सिफारिश के परिणामस्वरुप राज्यो को चौथी पचवर्षीय योजना की अवधि म लगभग 800 करोड रुपये मिले थे।

(2) **सघीय उत्पादन करो का वितरण**—इस सम्बन्ध मे आयोग ने सिफारिश की थी कि 35 वस्तुओ के स्थान पर 68 वस्तुओ के उत्पादन करो का 20 प्रतिशत भाग राज्यो म वितरित किया जाय (स्मरण रहे तीसर वित्त आयोग ने कवल 35 वस्तुओ पर लगे उत्पादन-करो म से राज्य सरकारो को हिस्सा दन की सिफारिश की था।) आयोग की इस सिफारिश के अन्तगत सघीय उत्पादन करो की विभाज्य आय म से उत्तर प्रदश का सबस अधिक अर्थात 14 98 प्रतिशत और नागालैण्ड का सबस कम अथात 2 21 प्रतिशत भाग दिया गया था। चौथी पचवर्षीय योजना की अवधि मे इस स्रोत से राज्य सरकारो को लगभग 100 करोड रुपये मिले थे।

(3) **अतिरिक्त उत्पादन करो का वितरण** जैसा कि पूर्व कहा गया है सन 1957 मे भारत सरकार ने राज्य सरकारो के परामश से मिलो म बने सूती कपडे चीनी तथा तम्बाकू पर राज्यीय बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगा दिए थे। चौथे आयोग ने सिफारिश की थी कि इन अतिरिक्त उत्पादन-करो से उपलब्ध होने वाली आय का 97 45 प्रतिशत राज्य सरकारो म बाट दिया जाय। यह बँटवारा दो आधारो पर किया जाय। प्रथम राज्य सरकारो का इन वस्तुओ क बिक्री-कर से जितनी आय हुआ करती थी उतनी ही उन्हे गारण्टी दी जाय अर्थात उतनी आय तो उन्हे मिलनी ही चाहिए। दूसरे राज्यो को गारण्टीशुदा राशि दिये जाने के पश्चात शेष रकम का उन्हे उनके द्वारा सग्रहीत बिक्री कर के अनुपात म दिया जाय।

आयोग के इस सूत्र के अन्तगत गारण्टीशुदा आय का सबसे अधिक हिस्सा अथात 637 77 लाख महाराष्ट्र को और सबसे कम अर्थात 85 1 लाख असम को दिये गये थे। गारण्टीशुदा राशि चुकाने के बाद शेष बची रकम का राज्य सरकारो मे उनके द्वारा सग्रहीत बिक्री-कर के अनुपात म वितरित करने की व्यवस्था की गयी। इसमे सबसे अधिक हिस्सा अर्थात 11 93 प्रतिशत पश्चिमी बगाल को और सबसे कम अर्थात 1 98 प्रतिशत असम का दिया गया था।

(4) **आस्ति-कर की आय का वितरण**—इस सम्बन्ध मे चौथे आयोग की यह सिफारिश थी कि आस्ति कर से उपलब्ध होने वाली आय का 98 प्रतिशत राज्य सरकारो म वितरित किया जाय। आस्ति-कर की विभाज्य आय मे से सबसे अधिक हिस्सा 17 08 प्रतिशत उत्तर प्रदेश और सबसे कम अर्थात 0 9 प्रतिशत जम्मू एव कश्मीर को दिया जाय।

(5) **रेलयात्री भाडा कर के उन्मूलन के परिणामस्वरूप राज्य सरकारो की सहायता**—जैसा कि पूर्व कहा गया है 1 अप्रैल 1961 से भारत सरकार ने रेलयात्री भाडा कर हटा दिया था। इसके फलस्वरुप राज्य सरकारो को हानि उठानी पडी थी। अत तीसरे वित्त आयोग ने इस हानि पूर्ति हेतु प्रतिवर्ष राज्य सरकारो को 12 5 करोड रुपय की सहायता देने की सिफारिश की थी। चौथे आयोग ने इस राशि को राज्य सरकारो मे वितरित करने के बारे म प्रत्येक राज्य के प्रतिशत हिस्से निर्धारित कर दिये थे। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का हिस्सा सबसे अधिक अर्थात 18 23 प्रतिशत और नागालैण्ड का सबसे कम अर्थात 0 01 प्रतिशत निश्चित किया गया था।

(6) **राज्य सरकारो को सहायक अनुदान**—तीसरे आयोग की भाति चौथे आयोग ने भी यह सिफारिश की थी कि राज्य सरकारो को केन्द्रीय सरकार द्वारा सहायक अनुदान दिये जायँ। कुल मिला कर राज्य सरकारो को 10 61 करोड रुपय के अनुदान दिये जाने की सिफारिश की गयी थी।

(7) **राज्य सरकारों को दिये गये ऋणों की अदायगी**—केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये गये ऋणों के बारे में चौथे वित्त आयोग ने यह सिफारिश की थी कि इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञ समिति (Expert Committee) नियुक्त की जाय। यह समिति इन ऋणों पर लिए जाने वाले ब्याज तथा मूलधन को लौटाने की अवधि के बारे में सिफारिश प्रस्तुत करेगी।

भारत सरकार ने चौथे आयोग की लगभग सभी मुख्य सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। इन सिफारिशों को स्वीकार करने के फलस्वरूप चौथी योजना की अवधि में राज्यों को लगभग 780 करोड़ रुपये का अतिरिक्त धन केन्द्रीय सरकार से प्राप्त हुई थी।

चौथे वित्त आयोग की सिफारिशों से राज्य सरकारों में किसी प्रकार का असन्तोष नहीं होना चाहिए। वास्तव में आय-कर एवं उत्पादन-करों में से राज्यों का भाग निश्चित करते समय आयोग ने उदारता का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया है। आयोग ने राज्य सरकारों के वार्षिक अनुदानों को भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ा दिया है। इन सिफारिशों से *राज्य-सरकारों का गैर-योजना* आय घाटा (non-plan revenue deficit) लगभग समाप्त हो जायगा। कुछ राज्यों को तो बचत (surplus) भी होने लगेगी जिसका उपयोग वे योजना-व्यय की पूर्ति के लिए कर सकेंगे।

चौथे वित्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि उत्पादन-करों में विभिन्न राज्यों का भाग निश्चित करते समय न केवल उनकी जनसंख्या के आकार, बल्कि उनके आर्थिक पिछड़ेपन को भी ध्यान में रखा जाय। इसका परिणाम यह होगा कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्य अधिक तेजी से प्रगति कर सकेंगे। पिछड़े एवं विकसित राज्यों के बीच की खाई को पाटा जा सकेगा। इससे राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ हो सकेगी।

पाँचवें वित्त आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Fifth Finance Commission)—पाँचवाँ वित्त आयोग श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था। 26 जुलाई, 1969 को भारत सरकार ने इस आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया था।

इस आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत सन *1969-70* से लेकर सन् *1973-74* की पाँच वर्ष की अवधि में केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों का 4,266 करोड़ रुपये की धनराशि का हस्तान्तरण करेगी। चौथे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से केवल 2 885 86 करोड़ रुपये की धनराशि प्राप्त हुई थी। इस प्रकार पाँचवें वित्त आयोग की सिफारिशों के अन्तर्गत राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से 1380 14 करोड़ रु० की अधिक धनराशि प्राप्त हो रही थी। 4 266 करोड़ रु० की यह धनराशि राज्य सरकारों को केन्द्र की ओर से दो शीर्षकों के अन्तर्गत उपलब्ध होगी। 637 85 करोड़ रु० के तो सहायता अनुदान (*grants-in-aid*) *राज्य सरकारों को दिये जायेंगे और 3,628 करोड़ रु० उन्हें केन्द्रीय करों* में से उनके हिस्से के रूप में दिये जायेंगे।

1 आयोग ने यह सिफारिश की है कि संविधान की धारा 275 के अन्तर्गत सन 1973-74 में सात राज्यों को सहायता अनुदान नहीं दिये जाने चाहिए, क्योंकि तब तक इनकी वित्तीय स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जायगा। इन राज्यों के नाम इस प्रकार हैं—बिहार, गुजरात हरियाणा, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब एवं उत्तर प्रदेश।

2. आय-कर में राज्यों का हिस्सा निर्धारित करने के आधार (Basis) में पाँचवें आयोग ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है। तीसरे एवं चौथे आयोगों ने यह सिफारिश की थी (जिसे सरकार ने स्वीकार भी कर लिया था) कि आय-कर में से राज्यों का हिस्सा दो आधारों पर निर्धारित किया जाय—80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत उस राज्य में दिये गये कर-संग्रह (tax collection) के आधार पर। पाँचवें आयोग ने जनसंख्या के आधार को 80 प्रतिशत से बढ़ाकर 90 प्रतिशत कर दिया है। इसका उद्देश्य औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए राज्यों को सहायता देना है।

3 आय-कर को राज्यो मे वितरित करने हेतु पांचवें आयोग ने निम्न सुझाव प्रस्तुत किये थे

(क) *आय-कर से प्राप्त आय का 2 6 प्रतिशत भाग सघीय क्षेत्रो (Union Territories)* मे वितरित कर दिया जाये।

(ख) शेप राशि का 75 प्रतिशत निम्न प्रतिशत-आधार पर राज्यो मे वितरित कर दिया जाये—आन्ध्र—8 01 प्रतिशत, असम—2 67 प्रतिशत, बिहार—9 99 प्रतिशत, गुजरात—5 13 प्रतिशत, हरियाणा 1 78 प्रतिशत, जम्मू एव कश्मीर—0 79 प्रतिशत, केरल—3 83 प्रतिशत, महाराष्ट्र—7 09 प्रतिशत, कर्नाटक—5 40 प्रतिशत, नागालैंड—0 08 प्रतिशत, उडीसा—3 75 प्रतिशत पजाब—2 55 प्रतिशत राजस्थान—4 34 प्रतिशत तमिलनाडु—8 18 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश—16 1 प्रतिशत पश्चिमी बगाल—9 11 प्रतिशत।

4 पाँचवे आयोग ने सन् 1966 67 तक सचित हुए अग्रिम कर (advance tax) की वितरण समस्या का भी अध्ययन किया है। इसके अनुसार कर की यह राशि 371 12 करोड रुपये थी। आयोग ने यह सिफारिश की थी कि इस राशि का 2 5 प्रतिशत सघीय क्षेत्रो मे वितरित करने के उपरान्त शेष राज्य सरकारो मे बाँट दिया जाये। बाँटने का आधार वह होना चाहिए जो सन् 1967-68 मे आय कर के वितरित करने का था।

5 सघीय उत्पादन करो (Union Excise Duties) के वितरण से सम्बन्धित आधार मे भी पाँचवे आयोग ने कुछ परिवर्तन करने की सिफारिश की है। चौथे आयोग ने यह सिफारिश की थी कि इन करो का वितरण योग्य भाग राज्य सरकारो मे दो आधारो पर बाटा जाना चाहिए, (i) 80 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर (ii) 20 प्रतिशत पिछडेपन (backwardness) के आधार पर। पाँचवे आयोग ने प्रथम आधार को तो स्वीकार कर लिया है लेकिन दूसरे आधार मे कुछ सशोधन कर दिया है। इस 20 प्रतिशत का दो तिहाई भाग उन राज्यो मे वितरित किया जायेगा जिनकी प्रति व्यक्ति आय अखिल भारतीय प्रति व्यक्ति (All India Per capita Income) से कम है और शेप एक-तिहाई राज्यो मे पिछडेपन के एक विलयित सूचकाक (integrated index of backwardness) के अनुसार बाँटा जायेगा। इस सूचकाक मे अनुसूचित जातियो की सख्या, मिल मजदूरो की सख्या, सचित क्षेत्र, रेल एव सडक मार्ग स्कूलो मे पढने वाले बच्चो की सख्या तथा अस्पतालो मे शय्याओ (beds) की सख्या इत्यादि सम्मिलित की जायेगी।

6 भविष्य मे जो नये उत्पादन कर लगाये जायेंगे, उनके बारे मे आयोग ने यह सिफारिश की है कि उनका वितरण-योग्य भाग राज्य सरकारो मे दो आधारो पर वितरित किया जाना चाहिए (i) 50 प्रतिशत जनसख्या के आधार पर, (ii) 50 प्रतिशत राज्यो मे किये गये बिक्री-कर सग्रहो के आधार पर। लेकिन यह दूसरा आधार जम्मू व कश्मीर, नागालैण्ड एव सघीय क्षेत्रो पर लागू नही होगा। इनके हिस्से जनसख्या के आधार पर ही निर्धारित किये गये है।

7 जहाँ तक नये करो का सम्बन्ध है, पाँचवें आयोग ने केन्द्रीय सरकार को सुझाव दिया था कि वह समाचार पत्रो म प्रकाशित विज्ञापनो पर कर लगाने की व्यावहारिकता पर सोच-विचार करे।

8 राज्य सरकारो को सुझाव दिया गया है कि वह नये-नये कर लगाकर अपनी आय को बढाने का प्रयास करे। आयोग ने सिफारिश की है कि वे कृषि कर, सिंचाई कर, बिजली कर अतिरिक्त कर आदि लगायें और कर वसूली एव ऋण वसूली की ओर विशेष ध्यान दे।

यह सही है कि पाँचवे आयोग की सिफारिशो के अनुसार अगले पाँच वर्षो मे राज्य सरकारो को केन्द्र से 4 266 करोड रुपये की राशि प्राप्त होगी। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य सरकारें आयोग द्वारा की गयी व्यवस्था से सन्तुष्ट नही हैं। कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल, पजाब एव तमिलनाडु ने तो अपना असन्तोप व्यक्त कर ही दिया था। केवल हरियाणा आन्ध्र प्रदेश तथा राजस्थान ही ऐसे तीन राज्य थे जो आयोग की सिफारिशो से सन्तुष्ट थे।

वांचू समिति रिपोर्ट (Wanchoo Committee Report)—मार्च, सन् 1970 मे भारत सरकार ने प्रत्यक्ष कर जाँच समिति (Direct Taxes Enquiry Committee) नियुक्त की थी।

इसके अध्यक्ष भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री के० एन० वाचू थे। मार्च, सन् 1972 को इस समिति ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के समक्ष प्रस्तुत की थी।

इस समिति से यह कहा गया था कि वह काले धन (Black Money) एव कर-अपवचन (tax evasion) के कारणों की खोज करे और उनको दूर अथवा कम करने हेतु अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे।

1 समिति के अनुसार काले धन ने देश की अर्थ-व्यवस्था मे भयानक रूप धारण कर रखा है। काला धन देश के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है। इसने बचत एव निवेश पर भी बुरा असर डाला है।

2 समिति ने यह अनुमान लगाया था कि सन् 1968-69 मे काले धन से सम्बन्धित सौदो का मूल्य लगभग 700 करोड रु० था।

3 समिति का यह दृढ मत था कि काले धन एव कर-अपवचन मे घनिष्ट सम्बन्ध है। ये दोनो एक दूसरे को जन्म देते है।

4 समिति ने यह अनुमान लगाया था कि सन् 1968-69 मे लगभग 1400 करोड रु० की आय पर आय कर की चोरी की गयी थी और आय-कर की यह चोरी लगभग 470 करोड रु० थी।

5 समिति के अनुसार आय-कर की चोरी के मुख्य कारण इस प्रकार थे प्रत्यक्ष करो की ऊँची दरे, वस्तुओ का सामान्य अभाव एव वितरण सम्बन्धी नियन्त्रण, नियमो का गैर-प्रभावी क्रियान्वयन, सरकारी अधिकारियो एव कर्मचारियो मे रिश्वत का प्रचलन इत्यादि।

6 आय-कर की चोरी को रोकने हेतु समिति ने कई प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किये थे

(क) समिति ने यह सुझाव दिया कि सरचार्ज (surcharge) सहित आय-कर की अधिकतम दर 97 75 प्रतिशत से घटाकर 75 प्रतिशत कर दी जाय।

(ख) आय-कर की चोरी करने वालो को बैंको द्वारा ऋण आदि की सुविधाएँ न दी जायें। इसके साथ ही साथ कर-अपवचनकर्ता का सामाजिक बहिष्कार भी किया जाय।

(ग) आय-कर विभाग को आय-करदाताओ के घरो आदि की तलाशी लेने के विस्तृत अधिकार दिये जायें।

(घ) गैर-कृषि आय की भाति कृषि आय पर भी समान दर से कर लगाया जाय।

(ङ) धर्मार्थ ट्रस्टो को दिये गये गुमनाम दान पर 75 प्रतिशत कर लगाया जाय।

(च) धर्मार्थ एव धार्मिक ट्रस्टो की कार्यशीलता को कानून द्वारा नियन्त्रित किया जाय। किसी भी ट्रस्ट को अपनी निधि व्यापार एव व्यवसाय मे न लगाने दी जाय।

(छ) कर-बकाया (Tax arrears) की वसूली के लिए आय-कर विभाग द्वारा कठोर कदम उठाये जायें। बकाया कर न देने वालो को जेल भेजा जाय।

भारत सरकार ने वाँचू समिति की कतिपय सिफारिशो को स्वीकार कर लिया है और इस आशय का एक विधेयक ससद मे मई 1973 मे प्रस्तुत किया गया था।

राज समिति रिपोर्ट (Raj Committee Report)—हाल ही के वर्षों मे कृषि पदार्थों की कीमतो की वृद्धि के कारण बडे-बडे जमीदारो एव मध्यम श्रेणी के किसानो की कर-देय योग्यता मे वृद्धि हुई है लेकिन वे अपनी बढी हुई कर-देय योग्यता के अनुसार सरकार को कर नही चुका रहे थे। कृषि-क्षेत्र से अधिक वित्तीय साधन जुटाने हेतु भारत सरकार ने फरवरी 1972 मे सुविख्यात अर्थशास्त्री प्रो० के० एन० राज की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्ति की थी। इस समिति से कहा गया था कि वह कृषि-आय एव कृषि सम्पत्ति-पर नये कर लगाने हेतु सरकार के समक्ष सुझाव प्रस्तुत करे। राज समिति ने अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष नवम्बर, 1972 मे प्रस्तुत की थी।

1 समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि हाल ही के वर्षों मे कृषि पदार्थों की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि-क्षेत्र मे अतिरिक्त आय का आविर्भाव हुआ है। उसका कुछ अश सरकार द्वारा कर के रूप मे अधिगृहीत किया जाना चाहिए।

2 समिति ने सुझाव दिया कि कृषि क्षेत्र में साधारण किन्तु प्रगतिशील कृषि जोत-कर (agricultural holding tax) लगाया जाना चाहिए। लेकिन यह कर केवल उन्ही जोतो पर लगाया जाय जिनका मूल्य 5000 रु० अथवा उससे अधिक हो। इस प्रकार 5000 रु० से कम मूल्य वाली जोतो पर यह कर नहीं लगेगा अर्थात छोटी जोत वाले किसान इस कर से मुक्त हो रहेंगे।

3 बड़ी जोतो पर यह कर जोतो के आकार एवं उनकी उत्पादकता के अनुसार लगाया जायेगा। दूसरे शब्दो मे यह कर प्रगतिशील होगा।

4 कृषि जोत-कर से राज्य सरकारो को प्रतिवर्ष 200 करोड रु० की आय प्राप्त होगी।

5 समिति सभी प्रकार की आय (कृषि एवं गैर कृषि आय) पर एक ही आय-कर लगाने के पक्ष में नहीं थी। लेकिन समिति ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि उन करदाताओं की आय का एकीकरण (integration) कर दिया जाय जो इस समय विभिन्न स्रोतों (कृषि एवं गैर कृषि स्रोतों) से आय प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार शहरों में रहने वाले धनी व्यवसायियों को अपनी कृषि आय पर कर चुकाना पड़ेगा।

6 समिति ने यह भी सुझाव दिया कि कर निर्धारण हेतु परिवार को एक इकाई मान लिया जाय अर्थात पति तथा पत्नी दोनों की आय को जोड़ (club) कर उस पर कर लगाया जाय।

राज समिति की रिपोर्ट इस समय भारत सरकार के विचाराधीन है।

छठे वित्त आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the Sixth Finance Commission)—छठा वित्त आयोग भूतपूर्व मुख्य मन्त्री श्री के ब्रह्मानन्द रेड्डी (Brahmanand Reddy) की अध्यक्षता मे नियुक्त किया गया था। 18 दिसम्बर 1973 को भारत सरकार ने *इस आयोग की सभी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया था।*

(i) इस आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप राज्य सरकारो को 9 608 85 करोड रु० के नवीन वित्तीय साधन हस्तान्तरित किये गये थे जबकि पाचवे वित्त आयोग ने 5 315 करोड रु० के वित्तीय साधनो के हस्तान्तरण की सिफारिश की थी। इस प्रकार छठे वित्त आयोग ने राज्य सरकारो को अधिक वित्तीय साधन देने की सिफारिश की थी।

(ii) उपयुक्त नवीन वित्तीय साधन *राज्य सरकारो की पचवर्षीय योजना की अवधि* के लिए दिये जाने थे। ये साधन केन्द्र द्वारा राज्य सरकारो को हस्तान्तरित किये जाने थे।

(iii) आय-कर तथा केन्द्रीय उत्पादन कर में राज्य सरकारो का हिस्सा पांच वर्ष की अवधि के लिए 7 099 24 करोड रु० होगा।

(iv) आय-कर में से राज्य सरकारो के हिस्से को 75% से बढ़ाकर 80% कर दिया गया है। पहले की भांति आय कर के विभाज्य भाग में से प्रत्येक राज्य का हिस्सा 90% जनसंख्या तथा 10% कर निर्धारण के आधार पर निश्चित किया जायेगा।

(v) मूल संघीय उत्पादन करो की आय को राज्य सरकारो में वितरित करने की पुरानी प्रक्रिया में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। पहले की भांति इन करो से प्राप्त होने वाली आय का 20% राज्य सरकारो में बाटा जायेगा। लेकिन वितरण के आधार में परिवर्तन कर दिया *गया है। पहले विभाज्य आय में से प्रत्येक राज्य का हिस्सा 80% जनसंख्या तथा 20% पिछड़े* पन के आधार पर निर्धारित किया जाता था। अब प्रत्येक राज्य का हिस्सा 75% जनसंख्या तथा 20% पिछड़ेपन के आधार पर निर्धारित होगा। शेष 5% उन राज्यों में वितरित किया जायेगा जिनकी प्रति व्यक्ति आय उच्चतम प्रति व्यक्ति आय से कम है

(vi) आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि सहायक उत्पादन करो (Auxiliary Excise *Duties*) में से भी राज्य सरकारो का हिस्सा दिया जाय। यह सिफारिश सन् 1976 77 से लागू *की जानी थी। इससे राज्य सरकारो को 97 86 करोड रु० की अतिरिक्त आय प्राप्त होनी थी।*

(vii) आयोग ने राज्य सरकारो को केन्द्र से लिये गये ऋणों की अदायगी में भी राहत (relief) दी है। ऋणो को बट्टे खाते में तो नहीं डाला गया है किन्तु इनकी अदायगी की शर्तो

एवं अदायगी की अवधि को अधिक उदार बना दिया गया है। इस सिफारिश के परिणामस्वरूप राज्यों को 1 970 करोड़ रु० की राहत मिलेगी।

(viii) पाँचवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि में राज्य सरकारों को 2,510 करोड़ रु० के सहायक अनुदान (Grants in-Aid) दिये जायेंगे।

(ix) छठे आयोग ने सूखे एवं बाढ़ आदि में राज्यों को राहत देने सम्बन्धी राष्ट्रीय निधि स्थापित करने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया था। इसके विपरीत आयोग ने यह सिफारिश की थी कि सूखे एवं बाढ़ वाले क्षेत्रों के विकास हेतु उदार वित्तीय व्यवस्था की जाये।

जैसा कि ऊपर कहा गया है भारत सरकार ने छठे आयोग की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1 **नवीन विधानानुसार केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय साधनों के विभाजन की विवेचना कीजिए।**

[संकेत—यहाँ पर केन्द्र और राज्यों के बीच संविधान के अन्तर्गत वित्तीय साधनों के वितरण की की गयी व्यवस्था की विवेचना कीजिए और यह बताइए कि विभिन्न वित्त आयोगों द्वारा की गयी सिफारिशों का इस व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा था ?]

49

भारत सरकार का वित्त

(Finances of the Government of India)

इस अध्याय में हम भारत की आय के मुख्य साधनों एवं व्यय की मुख्य मदों का अध्ययन करेंगे।

भारत सरकार की आय के मुख्य साधन

भारत सरकार की आय के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) आय के कर साधन (Tax Sources of Income) (ख) आय के गैर कर-साधन (Non tax Sources of Income)। आय के कर साधनों में आयकर, निगम कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर, आस्ति कर, आयात निर्यात कर एवं संघीय उत्पादन कर सम्मिलित किये जा सकते हैं। आय के गैर-कर साधनों में राज्यों को दिये गये ऋणों पर ब्याज, नागरिक प्रशासन, नागरिक निर्माण कार्य, रेल, डाक, तार तथा करंसी व टकसाल आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

भारत के संविधान के अन्तर्गत भारत सरकार को इन मदों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है—(क) कृषि की आय को छोड़कर अन्य प्रकार की आय पर कर। (ख) नशीली वस्तुओं को छोड़कर भारत में उत्पन्न की जाने वाली अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर तथा परिसम्पत्ति के पूंजीगत मूल्य पर कर तथा कम्पनियों की पूँजी पर कर। (ग) कृषि सम्बन्धी भूमि को छोड़कर अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर कर। (घ) निगम कर (ङ) सीमान्त कर (च) शेयर बाजारों के वायदे के सौदों पर कर। (छ) विनिमय बिलों, साख विपत्रों, डिबेन्चरों, बीमे की पालिसियों आदि पर कर। (ज) समाचार पत्रों की बिक्री तथा उनमें प्रकाशित किये जाने वाले विज्ञापनों पर कर। किन्तु उक्त करों में से कुछ ऐसे कर भी हैं जो भारत सरकार द्वारा लगाये जाते हैं परन्तु उनसे उपलब्ध होने वाली आय राज्य सरकारों में बाँट दी जाती है।

भारत सरकार की आय के मुख्य कर साधन एवं गैर-कर साधन निम्नलिखित हैं

भारत सरकार की आय के कर-साधन—भारत सरकार की आय के मुख्य मुख्य कर साधन इस प्रकार हैं।

1 *आयकर* (Income Tax) —आयकर भारत सरकार की *आय का प्रमुख साधन* है। आयकर किसी व्यक्ति की कुल आय पर नहीं लगाया जाता बल्कि उसकी निवल आय (Net income) पर ही लगाया जाता है। भारतीय आयकर के मुख्य गुण इस प्रकार हैं

(अ) *भारतीय आयकर की एक निश्चित कर मुक्ति सीमा (Tax exemption limit) होती है।* जिन व्यक्तियों की आय इस सीमा से नीचे होती है उन्हें आयकर के भुगतान से मुक्त कर दिया जाता है। जिन व्यक्तियों की आय कर मुक्ति सीमा से ऊँची होती है उन पर प्रगतिशील दरों पर कर लगाया जाता है। इस प्रकार भारतीय आयकर एक आरोही कर (Progressive tax) है।

(आ) चूंकि भारतीय आयकर एक आरोही कर है अतः इस कर से आय सम्बन्धी असमानताओं को दूर व कम करने में बड़ी सहायता मिलती है।

(ड) चूंकि भारतीय आयकर एक प्रत्यक्ष कर है, अत इसके भार का विवर्तन (Shifting) अन्य व्यक्तियो पर नही हो सकता । इस कर का भार तो उसी व्यक्ति द्वारा वहन किया जाता है जिसके ऊपर यह लगाया जाता है ।

(ई) आयकर का भार करदाता की आय के सीमान्त उपयोग पर ही पडता है। यद्यपि दूसरे करो की भाँति आयकर भी करदाता की वित्तीय शक्ति को कम कर देता है परन्तु दूसरे करो के समान आयकर करदाता को किसी विशेष मद पर किये जाने वाले व्यय मे कमी करने के लिए विवश नही करता ।

(उ) आयकर एक अत्यन्त उत्पादक कर है और जैसा कि कहा गया है, यह भारत सरकार की आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है ।

(ऊ) भारतीय आयकर मे लोचकता का गुण भी पाया जाता है । आवश्यकता पडने पर आयकर की दर मे थोडी वृद्धि करके इससे प्राप्त होने वाली आय को पर्याप्त मात्रा मे बढाया जा सकता है ।

(ए) चूंकि आयकर एक प्रत्यक्ष कर है, अत इसके कारण करदाताओ मे राजनीतिक चेतना (political consciousness) उत्पन्न होती है और करदाता राजनीतिक विषयो मे अधिक रुचि लेने लगते है ।

भारतीय आयकर के मुख्य दोष इस प्रकार है

(अ) भारतीय आयकर बचत एव निवेश की प्रेरणा को हतोत्साहित करता है। जैसा कि विदित है, बचत एव निवेश की प्रेरणा देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। अत इस दृष्टिकोण से भारतीय आयकर अच्छा कर नही है ।

(आ) जैसा कि प्रो० काल्डर (Kaldor) का कहना है किसी व्यक्ति की चुकाने की योग्यता को केवल उसकी आय से ही नही नापा जा सकता है । अत इस दृष्टिकोण से भी आयकर त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है ।

(इ) भारतीय आयकर मे कई प्रकार की त्रुटियां भी पायी जाती है जिनका लाभ उठाते हुए करदाता कर चुकाने से बच जाते हैं । यही कारण है कि भारत में बड़े पैमाने पर कर-अपवंचन (Tax evasion) होता है ।

भारत मे आयकर सर्वप्रथम सन् 1860 मे लगाया गया था । उस समय भारत के प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम को दबाने के लिए ब्रिटिश सरकार को बडे पैमाने पर वित्तीय साधनो की आवश्यकता अनुभव हुई थी । अत ब्रिटिश सरकार ने वित्तीय कठिनाई को दूर करने के लिए लोगो पर आयकर लगा दिया था । प्रारम्भिक काल मे आयकर भारत सरकार की आय का ही साधन हुआ करता था, परन्तु कालान्तर मे इसे विभाजित शीर्षक (divided head) बना दिया गया । जैसा कि हम पूर्व कह चुके है, प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार आयकर से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय का 55 प्रतिशत भाग राज्य सरकारो म बाँट दिया जाता था। दूसरे वित्त आयोग ने सन् 1957 मे इस प्रतिशत को 55 से बढाकर 60 कर दिया था । तीसरे वित्त आयोग ने इस प्रतिशत को 60 से $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दिया था । चौथे वित्त आयोग ने इस प्रतिशत को $66\frac{2}{3}$ से बढाकर 75 प्रतिशत कर दिया है। आरम्भ मे आयकर की दर 2 प्रतिशत ही हुआ करती थी । परन्तु सन् 1939 मे शिला पद्धति (Slab System) लागू कर दी गयी । 1955-56 मे आयकर के सम्बन्ध मे विभिन्न मदो पर छूट देने की व्यवस्था की गयी थी । उदाहरणार्थ जीवन बीमा के चुकाये गये प्रीमियम एव मशीनो तथा यन्त्रो की घिसावट पर छूट दी जाने लगी ।

आयकर की सबसे बडी समस्या यह है कि इस समय बडे पैमाने पर लोगो द्वारा उसकी चोरी की जा रही है । प्रो० काल्डर के अनुमान के अनुसार आयकर की इस चोरी के कारण प्रतिवर्ष भारत सरकार को 200 से 300 करोड रुपये तक की क्षति होती है । वान्चू समिति के अनुसार सन् 1968-69 मे आयकर की चोरी लगभग 470 करोड रु० के बराबर थी । अत यह नितान्त आवश्यक है कि आयकर की चोरी को रोकने के लिए प्रभावशाली कदम उठाये जायँ । प्रो० काल्डर ने यह भी सुझाव दिया था कि वर्तमान आयकर तथा अतिकर (Super-Tax) के स्थान पर केवल एक ही एकाकी आयकर ही लगाया जाय । यह कर 25 हजार तक की आय के

लिए आरोही होना चाहिए और इस स्तर से ऊपर सभी आमदनियों पर रुपये में 43 पैसे की दर पर आयकर लगाया जाय। परन्तु भारत सरकार ने प्रो० काल्डर के इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि भारत सरकार को यह डर था कि इस सुझाव को स्वीकार करने से आयकर की आय में पर्याप्त कमी हो जायगी। वांचू समिति ने भी आयकर की चोरी को रोकने के अनेक सुझाव दिये है। अक्टूबर, 1975 मे करदाताओ की गुप्त आय का पता लगाने हेतु भारत सरकार ने स्वैच्छिक प्रकटीकरण योजना (Voluntary Disclosure Scheme) जारी की थी। इस योजना को अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। लगभग 1500 करोड रु० की गुप्त आय लोगो द्वारा प्रकट की गयी थी। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार आयकर से लगभग 957 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी। इसमे से राज्य सरकारो का देय हिस्सा 649 करोड रु० था।

(2) **निगम कर (Corporation Tax)**—निगम कर से अभिप्राय उस अतिकर (Super-Tax) से है जो व्यावसायिक कम्पनियो की आय पर लगाया जाता है। यह कर कम्पनियो द्वारा चुकाया जाता है। **निगम कर और आयकर मे अन्तर यह है कि निगम कर तो व्यावसायिक कम्पनियो द्वारा अदा किया जाता है जबकि आय कर निजी व्यक्तियो द्वारा चुकाया जाता है।** प्रत्येक व्यावसायिक कम्पनी के वार्षिक लाभ पर निगम कर लगाया जाता है और इस कर को चुकाने के बाद जो लाभ बच रहता है, वही कम्पनी के शेयर होल्डरो मे लाभाश (Dividend) के रूप मे वितरित किया जाता है। शेयर होल्डर पुन अपने लाभाश पर आयकर चुकाते है। आलोचकों का कहना है कि निगम कर व्यावसायिक कम्पनियो के शेयर होल्डरो की आय पर दो बार लगाया जाने वाला कर है। प्रथम, तो यह कर कम्पनी के सम्पूर्ण लाभ पर लगाया जाता है और इसके बाद जब कम्पनी ने लाभ को शेयर होल्डरो मे वितरित कर दिया जाता है तो उनके लाभाश पर पुन आयकर लगाया जाता है। इस प्रकार शेयर होल्डरो को एक ही आय पर दो बार कर चुकाना पडता है। परन्तु निगम कर की यह आलोचना उचित नही है। इसका कारण यह है कि कम्पनी का अपना पृथक अस्तित्व होता है और उसी नाते उसके कुल लाभ पर निगम कर लगाया जाता है। अत यह कहना ठीक नही है कि निगम कर कम्पनी के शेयर होल्डरो की आय पर दो बार लगने वाला कर है। निगम कर भारत सरकार की आय का मुख्य साधन है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को निगम कर से लगभग 1025 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(3) **आस्ति-कर (Estate Duty)**—जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, संविधान के अन्तर्गत भारत सरकार को कृषि-भूमि छोडकर अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर आस्ति-कर लगाने तथा इसका संग्रह करने का अधिकार है। परन्तु आस्ति-कर से उपलब्ध होने वाली आय पूर्णत राज्य सरकारो मे वितरित कर दी जाती है। स्मरण रहे कि कृषि-भूमि पर आस्ति-कर लगाने तथा इसका संग्रह करने का अधिकार राज्य सरकारो को प्राप्त है किन्तु यदि राज्य सरकारें चाहे तो अपना यह अधिकार वे भारत सरकार को सौप सकती है।

मृत्यु-कर के दो प्रमुख रूप होते है—(क) आस्ति-कर (Estate Duty), (ख) उत्तराधिकारी कर (Inheritance Tax)। आस्ति कर वह होता है जो व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त हस्तान्तरण की जाने वाली समूची सम्पत्ति पर लगाया जाता है। इसके विपरीत उत्तराधिकारी कर वह कर होता है जो व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियो द्वारा प्राप्त की गयी सम्पत्ति पर लगाया जाता है। उत्तराधिकारी कर की तुलना मे आस्ति कर श्रेष्ठ होता है, क्योकि इसके प्रशासन मे अधिक सरलता रहती है। इसके अतिरिक्त, उत्तराधिकारी कर की अपेक्षा आस्ति कर अधिक उत्पादक (productive) भी होता है।

भारत मे आस्ति-कर—भारत मे सर्वप्रथम आस्ति-कर 15 अक्टूबर, 1953 को लागू किया गया था। बाद मे चलकर सन् 1958 मे इसमे कुछ संशोधन किये गये थे। भारतीय आस्ति कर की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है—(क) आस्ति-कर व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी चल एव अचल सम्पत्ति पर लगाया जाता है। (ख) चल तथा अचल सम्पत्ति मे कई प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित की गयी है जैसे—भूमि मकान नकदी, शेयर्स प्रतिभूतियाँ, आभूषण, फर्नीचर इत्यादि। (ग) व्यक्ति की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व तक उसके सम्बन्धियो एव मित्रो को दिये गये उपहारो पर भी आस्ति-कर लागू होता है। (घ) आस्ति-कर का निर्धारण करने के लिए मृतक की

सम्पत्ति का मूल्यांकन बाजार मूल्य के आधार पर किया जाता है। (ड) आस्ति कर के भुगतान का दायित्व मरने वाले व्यक्ति के उत्तराधिकारियों पर डाला गया है। (च) यदि अविभाजित हिन्दू परिवार (Undivided Hindu Family) में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो पारिवारिक सम्पत्ति में मृतक व्यक्ति के हिस्से पर ही आस्ति-कर लगाया जाता है।

आस्ति कर प्रगतिशील दरों पर लगाया जाता है। इसकी न्यूनतम कर मुक्ति की सीमा 50 हजार रुपये निश्चित की गयी है अर्थात् 50 हजार रुपये की सम्पत्ति तक आस्ति-कर लागू नहीं होता। किन्तु इससे अधिक मूल्य की सम्पत्ति पर आस्ति कर प्रगतिशील दरों पर लगाया जाता है। यहां तक कि 20 लाख रुपये से अधिक मूल्य की सम्पत्ति पर आस्ति-कर की दर 40 प्रतिशत हो जाती है।

आस्ति-कर लगाते समय कुछ वस्तुओं को इससे मुक्त भी कर दिया जाता है—(क) मृतक व्यक्ति की विदेशों में स्थित चल एवं अचल सम्पत्ति। (ख) 2,500 रुपये तक के मूल्य के घरेलू सामान। (ग) 2,500 रुपये तक के मूल्य के ऐसे उपकरण एवं औजार जिनका उपयोग मृतक द्वारा आजीविका कमाने के लिए किया जाता था। आस्ति-कर के निर्धारण से पूर्व सम्पत्ति के मूल्य में से कुछ कटौतियां भी की जाती हैं। उदाहरणार्थ मृतक व्यक्ति का ऋण सम्पत्ति के मूल्य में से निकाल लिया जाता है। मृतक व्यक्ति के दाह-संस्कार के लिए 1000 रुपये तक कटौती भी की जा सकती है।

आस्ति कर के पक्ष एवं विपक्ष में कई प्रकार के तर्क दिये गये। आस्ति कर के पक्ष में दिये गये तर्क इस प्रकार हैं।

(क) आस्ति कर का भार उत्तराधिकारियों द्वारा अन्य व्यक्तियों के कन्धों पर नहीं डाला जा सकता।

(ख) आस्ति-कर कर चुकाने की योग्यता के अनुकूल ही होता है अर्थात् जिस व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति होती है उसे मृत्यु के पश्चात् अधिक कर चुकाना पड़ता है। अतः इस दृष्टिकोण से आस्ति कर न्यायसंगत है।

(ग) आस्ति कर से देश में प्रचलित आर्थिक विषमताओं को दूर अथवा कम करने में बहुत सहायता मिलती है।

आस्ति कर के विपक्ष में दिये गये तर्क इस प्रकार हैं

(क) आस्ति-कर पूंजी-संचय को हतोत्साहित करता है और काम करने तथा बचत करने की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

(ख) आस्ति कर के कारण बड़े आकार की उत्पादन इकाइयां छोटे-छोटे आकार की उत्पादन इकाइयों में बदल जाती हैं। उदाहरणार्थ जब किसी व्यवसाय के उद्यमकर्ता की मृत्यु हो जाती है तो आस्ति कर का भुगतान के लिए उस व्यवसाय को आंशिक रूप में बेचना पड़ता है।

(ग) आस्ति कर के अन्तर्गत सम्पत्ति के मूल्यांकन की प्रक्रिया अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। इसके अन्तर्गत अधिकारियों को अधिक अधिकार दिये गये हैं जिनके दुरुपयोग की सदैव सम्भावना बनी रहती है।

सन् 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार भारत सरकार को आस्ति कर से लगभग 8 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी। इसमें से 7 करोड़ रु० राज्य सरकारों को दिये जाने थे।

(4) उपहार कर (Gift Tax)—उपहार कर से आशय उस कर से है जो किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल में दिये गये एक निश्चित मूल्य से अधिक के उपहारों पर लगाया जाता है। उपहार कर लगाने के दो मुख्य उद्देश्य हैं—प्रथम आस्ति कर से बचने पर रोक लगाना, दूसरे देश में प्रचलित धन सम्बन्धी असमानताओं को कम करना। सर्वप्रथम प्रो० काल्डर ने इस कर को लगाने का सुझाव भारत सरकार को दिया था।

भारत में उपहार कर सर्वप्रथम सन् 1958 में लगाया गया था। इसके अनुसार निजी व्यक्तियों, हिन्दू अविभाजित परिवारों, निजी धार्मिक संस्थानों एवं व्यावसायिक कम्पनियों द्वारा दिये गये उपहारों

पर कर लगाया जाता है। उपहार कर उपहार देने वाले व्यक्ति के द्वारा चुकाया जाता है। उपहार कर प्रगतिशील दरों पर लगाया जाता है। किसी भी एक वर्ष में 10 हजार रुपये मूल्य तक के उपहारों को कर के भुगतान से मुक्त कर दिया गया है। यदि किसी वर्ष उपहारों का मूल्य 10 हजार रुपये से अधिक हो जाता है तब केवल उस अतिरिक्त धनराशि पर ही उपहार कर वसूल किया जाता है। उपहार कर के अन्तर्गत कर-मुक्तियों की भी व्यवस्था की गयी है। उदाहरणार्थ, सरकार को दिये गये उपहारों पर यह कर लागू नहीं होता।

जैसा कि पूर्व कहा गया है उपहार कर आरित कर से वचन पर रोक लगा देता है अर्थात उस कर के कारण लोग आरित कर से वचन में असमर्थ हो जाते हैं। इसके अलावा उपहार कर धन सम्बन्धी असमानताओं को दूर करने में भी सहायता देता है। सन 1976 77 के बजट अनुमानों के अनुसार भारत सरकार को उपहार कर से 5 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(5) सम्पत्ति कर (Wealth Tax)—सम्पत्ति कर से अभिप्राय उस वार्षिक कर से है जिसे व्यक्ति की सम्पत्ति धन अथवा पूंजी के कुल मूल्य पर लगाया जाता है। सम्पत्ति कर एक आवर्ती कर है अर्थात यह प्रतिवर्ष लगाया जाता है जबकि आस्ति कर व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त केवल एक ही बार लगाया जाता है। प्रो० काल्डर के अनुसार सम्पत्ति कर और आयकर एक साथ लगाये जाने चाहिए क्योंकि ऐसा करने से एक तो कर प्रशासन में सुविधा रहती है और दूसरे कर-वंचन को प्रभावपूर्ण ढंग से रोका जा सकता है।

भारत में सम्पत्ति कर सर्वप्रथम सन 1957 में ही लगाया गया था। यह कर निजी व्यक्तियों हिन्दू अविभाजित परिवारों तथा निजी व्यावसायिक कम्पनियों की विशुद्ध सम्पत्ति पर प्रतिवर्ष लगाया जाता है। यह कर आरोही दरों पर लगाया जाता है। जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति का मूल्य दो लाख अथवा दो लाख रुपये से कम है उन्हें इस कर के भुगतान से मुक्त कर दिया गया है। इसी प्रकार अविभाजित हिन्दू परिवारों के सम्बन्ध में कर मुक्ति की सीमा 4 लाख रुपये निश्चित की गयी है। निजी व्यक्तियों पर कर मुक्ति की सीमा के ऊपर प्रथम 10 लाख रुपये तक कर की दर ½ प्रतिशत अगले दस लाख रुपये पर 1 प्रतिशत तथा इसके ऊपर 1½ प्रतिशत है। अविभाजित हिन्दू परिवारों के सम्बन्ध में कर मुक्ति की सीमा के ऊपर 9 लाख रुपये तक की दर ½ प्रतिशत है और इसके ऊपर की दरें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि निजी व्यक्तियों के लिए। निजी व्यावसायिक कम्पनियों के सम्बन्ध में कर मुक्ति की सीमा 5 लाख रुपये निश्चित की गयी है। इसके ऊपर की दर 1 प्रतिशत निर्धारित की गयी है। कर लगाते समय सम्पत्ति का मूल्य बाजारी दरों के आधार पर लगाया जाता है। सम्पत्ति कर के निर्धारण में कुछ विशेष प्रकार की सम्पत्तियों को कर के भुगतान से मुक्त कर दिया गया है। उदाहरणार्थ धर्मार्थ एवं धार्मिक न्यासों (Charitable Trusts) से सम्बन्धित सम्पत्तियाँ बीमा पालिसियों तथा प्रोवीडैण्ट फण्ड को कर से मुक्त कर दिया गया है।

सम्पत्ति कर के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क इस प्रकार है—(क) सम्पत्ति कर व्यक्ति की करदान क्षमता के अनुसार ही लगाया जाता है। वास्तव में आयकर व्यक्ति की करदान क्षमता की सही-सही माप नहीं है। उदाहरणार्थ दो व्यक्तियों की आय समान हो सकती है लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं कि दोनों की करदान क्षमता भी एकसमान है। हो सकता है कि एक व्यक्ति के पास पर्याप्त सम्पत्ति हो और दूसरा पूर्णत सम्पत्तिहीन हो। ऐसी परिस्थिति में पहले व्यक्ति की करदान क्षमता दूसरे व्यक्ति की करदान क्षमता से अधिक होगी। अत आयकर की इस त्रुटि को दूर करने के लिए सम्पत्ति कर अत्यन्त आवश्यक है (ख) सम्पत्ति कर आयकर की अपेक्षा अधिक न्यायसंगत होता है। इससे देश में प्रचलित आय सम्बन्धी असमानताओं को दूर व कम करने में बड़ी सहायता मिलती है। इसके अलावा आयकर के वचन को रोकने के लिए भी सम्पत्ति कर अत्यन्त आवश्यक है। (ग) सम्पत्ति कर से सरकार को पर्याप्त आय उपलब्ध होती है।

सम्पत्ति कर के विपक्ष में दिये गये तर्क इस प्रकार है—(क) सम्पत्ति कर से बचत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और पूंजी-सचय में कमी हो जाती है। (ख) सम्पत्ति कर लगाते समय सम्पत्ति के मूल्य निर्धारण में बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं और कर-अधिकारियों द्वारा मनमाने ढंग से कर लगाने की सम्भावना बनी रहती है। (ग) अन्य देशों में सम्पत्ति कर वैयक्तिक सम्पत्ति

पर ही लगाया जाता है जबकि भारत में सम्पत्ति कर निजी व्यवसायिक कम्पनियों पर भी लगा दिया गया है।

सन् 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार भारत सरकार को सम्पत्ति कर से 52 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

केन्द्रीय उत्पादन कर (Central Excise Duties)—केन्द्रीय उत्पादन करों से अभिप्राय उन करों से है जो भारत सरकार द्वारा देश के भीतर वस्तुओं के उत्पादन पर लगाये जाते हैं। वास्तव में, उत्पादन कर दो प्रकार के होते हैं—**प्रथम**, वे उत्पादन कर जो शराब, अफीम, भाँग जैसी नशीली वस्तुओं एवं औषधियों पर राज्य सरकार द्वारा लगाये जाते हैं। इनसे प्राप्त होने वाली आय राज्य सरकारों के पास ही रहती है **दूसरे** वे उत्पादन कर जो भारत सरकार द्वारा लगाये जाते हैं। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं केन्द्रीय उत्पादन करों से उपलब्ध होने वाली आय को भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के बीच बाँट दिया जाता है। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति तेल पर लगाये गये केन्द्रीय उत्पादन करों की आय का 40 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में बाँट दिया जाता था। दूसरे वित्त आयोग ने चीनी, चाय, कॉफी, कागज और वनस्पति के अनावश्यक तेलों को भी इस सूची में सम्मिलित कर दिया था। किन्तु आयोग ने इन 8 करों से प्राप्त होने वाली आय का केवल 25 प्रतिशत भाग ही राज्य सरकारों में वितरित करने की सिफारिश की थी। दूसरे शब्दों में, आयोग ने इन उत्पादन करों का विभाज्य हिस्सा 40 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत कर दिया था। **तीसरे** वित्त आयोग ने उत्पादन करों के इस विभाज्य हिस्से को 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया, किन्तु 27 अन्य वस्तुओं पर लगे उत्पादन करों को भी इस सूची में जोड़ दिया। **चौथे** वित्त आयोग ने यह सिफारिश की थी कि 35 वस्तुओं के स्थान पर 68 वस्तुओं के उत्पादन करों का 20 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों में वितरित किया जाय। तीसरे वित्त आयोग ने केवल 35 वस्तुओं पर लगे उत्पादन करों में से राज्य सरकारों को हिस्सा देने की सिफारिश की थी।

जैसा विदित है उत्पादन करों के प्रायः दो मुख्य उद्देश्य हुआ करते हैं—**प्रथम**, सरकार के लिए आय प्राप्त करना **दूसरे** वस्तुओं के उपयोग की मात्रा में कमी करना। मुद्रा स्फीति के समय सरकार प्रायः भारी उत्पादन कर लगाकर आवश्यक वस्तुओं के उपभोग में कमी कर देती है।

उत्पादन करों के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क इस प्रकार हैं—(क) उत्पादन कर प्रायः सुविधाजनक होते हैं। इनका संग्रह उस समय किया जाता है जबकि उपभोक्ता वस्तुओं का क्रय करते हैं। चूँकि उत्पादन कर वस्तुओं के मूल्य में सम्मिलित होते हैं, अतः कई बार तो उपभोक्ताओं को पता ही नहीं चलता कि वे कर चुका रहे हैं। (ख) उत्पादन करों से हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर रोक लगायी जा सकती है। (ग) जब उत्पादन कर विलासिताओं पर लगाये जाते हैं तब उनका भार धनिक वर्गों पर ही पड़ता है। इस प्रकार देश की आर्थिक असमानताओं को कम करने में सहायता मिलती है। (घ) उत्पादन कर प्रायः अधिक उत्पादक (productive) होते हैं और इनसे सरकार को पर्याप्त आय उपलब्ध होती है।

उत्पादन करों के विपक्ष में दिये गये तर्क इस प्रकार हैं—(क) उत्पादन कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं। अतः इनका भार अधिकांशतः निर्धन वर्गों पर ही पड़ता है। इस प्रकार ये कर न्यायसंगत नहीं हैं। उत्पादन करों का वस्तुओं के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब उत्पादन कर लगाये जाते हैं तब वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। परिणामतः वस्तुओं की माँग कम हो जाती है और विवश होकर उत्पादकों को उत्पादन में कमी करनी पड़ती है।

सन् 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार केन्द्रीय उत्पादन करों से भारत सरकार को 4100 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी। इसमें से राज्य सरकारों का देय हिस्सा 970 करोड़ रु० था।

सीमा शुल्क (Customs Duties)—सीमा-शुल्को से अभिप्राय उन करो से है जो सरकार द्वारा देश के आयातो एव निर्यातो पर लगाये जाते हैं। जैसा स्पष्ट है, सीमा कर दो प्रकार के होते है—आयात कर तथा निर्यात कर। आयात करो (Import Duties) से अभिप्राय उन करो से है जो देश मे की गयी आयातित वस्तुओ पर लगाये जाते हैं। इसके विपरीत, निर्यात कर (Export Duties) वे कर होते है जो देश से विदेशो को निर्यात की गयी वस्तुओ पर लगाये जाते है। सीमा शुल्कों के प्राय दो मुख्य उद्देश्य हुआ करते है—प्रथम, सरकार की आय मे वृद्धि करना। दूसरे, देशी उद्योग-धन्धो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण प्रदान करना। सीमा-शुल्क दो आधारो पर लगाये जाते हैं—वस्तु के मूल्य के आधार पर तथा वस्तु के परिमाण के आधार पर। वस्तु के मूल्य के अनुसार लगाया गया सीमा-शुल्क आरोही (Progressive) होता है जबकि वस्तु के परिमाण के अनुसार लगाया गया सीमा-शुल्क अवरोही (Regressive) होता है।

भारत मे सीमा-शुल्क प्राचीन समय से लगाये जाते रहे है। सन् 1857 मे ब्रिटिश सरकार ने अपनी वित्तीय कठिनाइयो को दूर करने के लिए आयात-निर्यात करो की दरो को 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अधिक आय की प्राप्ति के लिए सीमा-शुल्को मे और अधिक वृद्धि कर दी गयी थी। सन् 1922 तक सरकार द्वारा लगाये गए सीमा-शुल्को का मुख्य उद्देश्य सरकार के लिए अधिक आय प्राप्त करना ही था किन्तु सन् 1922 मे भारत सरकार ने विवेकपूर्ण सरक्षण की नीति (Policy of Discriminating Protection) को अपनाया था। इस नीति का उद्देश्य भारतीय उद्योग-धन्धो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण प्रदान करना था। अत इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई प्रकार की आयात की गयी वस्तुओं पर सीमा-शुल्क लगाये गये थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत सरकार ने सरक्षण नीति का और भी बड़े पैमाने पर अपनाने का निर्णय किया था। इस नीति के अन्तर्गत लगभग सभी आयातित वस्तुओ पर भारी आयात कर लगा दिये गये थे। इस समय परिस्थिति यह है कि शायद ही कोई ऐसी वस्तु है जिस पर आयात कर न लगाया जाता हो। इसी प्रकार देश मे निर्यात की जाने वाली कुछ वस्तुओं पर भी निर्यात कर लगा दिये जाते है। वस्तुऐं इस प्रकार है—चाय, कॉफी, कालीमिर्च मैगनीज, जूट, ऊन, सूती कपडा, सिगरेट आदि। फरवरी, 1965 मे भारत सरकार ने सभी आयातित वस्तुओ पर 10 प्रतिशत अतिरिक्त सीमा-शुल्क लगा दिया था। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को सीमा-शुल्को से 1508 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

व्यय-कर (Expenditure Tax)—यह कर भारत सरकार द्वारा प्रो० काल्डर के सुझाव पर 1 अप्रैल 1958 को लगाया गया था। इसके अन्तर्गत, यदि किसी व्यक्ति का वार्षिक व्यय 30,000 रुपये से अधिक है तो उस पर यह लागू हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी सयुक्त हिन्दू सरकार का व्यय (वार्षिक) 36,000 रु० से अधिक है तो उस पर भी यह कर क्रियाशील हो जाता है। व्यय-कर आरोही कर है और विभिन्न व्यय-शिलाओ के अनुसार वसूल किया जाता है। इस कर मे यह आशा की गयी थी कि इससे बचत करने की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन मिलेगा और साथ ही इससे सरकार को आय भी प्राप्त होगी। परन्तु इन उद्देश्यो की पूर्ति मे असफलता ही मिली है।

व्यय कर की दो मुख्य आधारो पर आलोचना की जाती है। प्रथम, यह कर इतना आरोही (Progressive) है कि 80 000 रु० से अधिक व्यय पर कर की दर शत-प्रतिशत हो जाती है। दूसरे, इस कर से वास्तविक प्रशासन मे भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ प्रत्येक करदाता के व्यय का ठीक-ठीक जानना असम्भव नही तो कठिन अवश्य ही है। चूंकि इस कर मे भारत सरकार को कोई अधिक आय उपलब्ध नही होती थी, अत 1962-63 मे इसे स्थगित कर दिया गया था। परन्तु 1964-65 मे भारत सरकार ने इसे पुन लागू कर दिया। 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को व्यय कर से कुछ भी आय नही हुई थी।

अब तक हमने भारत सरकार की आय के कर-साधनो का ही अध्ययन किया है। अब हम भारत सरकार की आय के गैर कर साधनो का अध्ययन करेंगे।

भारत सरकार की आय के गैर-कर साधन—ये इस प्रकार है।

(1) ऋण सेवाएँ (Debt Services)—भारत सरकार ने राज्य सरकारो तथा अन्य सस्थाओ को काफी बडी सख्या मे ऋण दे रखे हैं। प्रतिवर्ष भारत सरकार को इन ऋणो से ब्याज के रूप मे आय प्राप्त होती है। सन् 1976-77 के बजट के अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को ऋण सेवाओ से 1056 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(2) करेंसी और टकसाल (Currency and Mint)—जैसा विदित है, भारत सरकार को नोट छापने एव सिक्के ढालने का पूर्ण अधिकार है। इसमे भी भारत सरकार को प्रतिवर्ष कुछ आय प्राप्त होनी है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को करेंसी एव टकसाल से 48 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(3) सामाजिक एव विकासात्मक सेवाएँ (Social and Development Services)—भारत सरकार प्रतिवर्ष स्वास्थ्य, चिकित्सा एव शिक्षा से सम्बन्धित अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाएँ प्रस्तुत करती है। इन सेवाओ से भी सरकार को कुछ आय उपलब्ध होती है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार भारत सरकार को इससे 77 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(4) सार्वजनिक निर्माण कार्य (Public Works)—भारत सरकार कई प्रकार के सार्वजनिक निर्माण कार्य भी सम्पन्न करती है। उदाहरणार्थ, सडक निर्माण पुलो का निर्माण इत्यादि। इस प्रकार के निर्माण कार्यों मे भी सरकार को कुछ आय प्राप्त होनी है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यो से 9 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(5) बहुद्देशीय नदी घाटी योजनाएँ (Multi-purpose River Valley Schemes)—विगत कुछ वर्षो मे भारत सरकार तथा अनेक राज्य सरकारो ने सिंचाई, बिजली बाढ-नियन्त्रण इत्यादि अनेक उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए कई प्रकार की नदी-घाटी योजनाएँ क्रियान्वित की है। यद्यपि इन योजनाओ से सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को केवल 17 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की सम्भावना थी परन्तु निकट भविष्य मे निश्चय ही इस स्रोत से सरकार की आय बढने वाली है।

(6) प्रशासनिक सेवाएँ (Administrative Services)—भारत सरकार केन्द्र शासित क्षेत्रो मे न्याय शान्ति-व्यवस्था, नागरिक प्रशासन आदि के रूप मे कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती है। इन सेवाओ मे भी भारत सरकार को थोडी-बहुत आय प्राप्त हो जाती है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार को प्रशासनिक सेवाओ से लगभग 120 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

सन 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार की आय 8,227 करोड रुपये थी।

भारत सरकार का व्यय
(Expenditure of the Government of India)

भारत सरकार के व्यय को दो मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, राजस्व स्रोतो का व्यय (Revenue Expenditure) दूसरे, पूंजीगत खाते का व्यय (Capital Expenditure)। राजस्व खाते के व्यय की पूर्ति करो, रेल डाक, तार विभाग एव नागरिक निर्माण कार्यों द्वारा की जाती है। पूँजीगत खाते के व्यय की पूर्ति मुख्यत सार्वजनिक ऋणो से की जाती है। राजस्व खाते के व्यय के अन्तर्गत मुख्य मदें इस प्रकार है—(क) प्रतिरक्षा व्यय (Defence Expenditure), (ख) असैनिक व्यय (Civil Expenditure)। इसमे राजस्व की प्रत्यक्ष माँगे, असैनिक प्रशासन, सामाजिक एव विकासात्मक सेवाएँ ऋण सेवाएँ तथा राज्य सरकारो को दिये जाने वाले सहायक अनुदान सम्मिलित है। पूंजी खाते व्यय के अन्तर्गत मुख्य मदें इस प्रकार है—(क) सार्वजनिक ऋणो का भुगतान, (ख) प्रतिरक्षा, विमान-चालन, रेल, डाक-तार, औद्योगिक विकास सार्वजनिक निर्माण कार्य तथा बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायें आदि।

भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदें—भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदे निम्नलिखित हैं

(1) **प्रतिरक्षा सेवाएँ (Defence Services)**—यह भारत सरकार के व्यय की सबसे बड़ी मद है। इसमें सेना, नौ-सेना तथा वायु-सेना पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित किया गया है। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय नेता सरकार के ऊँचे प्रतिरक्षा व्यय की कटु आलोचना किया करते थे। अत सन् 1947 के पश्चात यह आशा की गयी थी कि सरकार के प्रतिरक्षा व्यय मे आवश्यक कमी की जायगी। परन्तु कई कारणों से यह सम्भव न हो सका। प्रथम, भारत को प्रतिरक्षा सेवाओं के विस्तार एव आधुनिकीकरण (modernisation) पर अधिक व्यय करना पड़ा। दूसरे, कश्मीर के मामले पर भारत के पाकिस्तान से सम्बन्ध बिगड़ गये। तीसरे, अक्टूबर 1962 में चीन ने भारत के साथ विश्वासघात करते हुए उस पर आक्रमण कर दिया था। इन कारणों से भारत को अपने प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि करनी पड़ी थी। आशा की जाती है कि भविष्य में प्रतिरक्षा व्यय और अधिक बढ़ेगा। सन 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत का प्रतिरक्षा व्यय 2,286 करोड रुपये था।

(2) **प्रशासनिक सेवाएँ (Administrative Services)**—इस मद के अन्तर्गत संसद, सचिवालय, राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डल एव विभिन्न मन्त्रालयो पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित है। विगत कुछ वर्षों से प्रशासनिक सेवाएँ सम्बन्धी व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा है। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रशासनिक सेवाओ पर आवश्यकता से अधिक व्यय किया जा रहा है। उनके अनुसार प्रशासनिक सेवाओं पर इतना अधिक व्यय राष्ट्र के हित में नहीं है। वास्तव में, प्रशासनिक सेवाओं के स्थान पर सामाजिक एव विकासात्मक सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय अधिक वांछनीय होता है, क्योंकि इससे देश के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में बहुमूल्य सहायता मिलती है। इसीलिए आलोचकों द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि प्रशासनिक सेवाओ पर यथासम्भव कम व्यय किया जाना चाहिए, लेकिन भारत सरकार की बढ़ती हुई जिम्मेदारियों को देखते हुए वर्तमान प्रशासनिक व्यय अनिवार्य-सा ही प्रतीत होता है। सन 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार प्रशासनिक सेवाओ पर भारत सरकार ने 361 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

(3) **सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाएँ (Social and Development Services)**—इस मद के अन्तर्गत शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य एव चिकित्सा, कृषि, उद्योग-धन्धे, पिछड़े हुए वर्गों का कल्याण आदि सेवाएँ सम्मिलित हैं। चूँकि नये संविधान के अन्तर्गत भारत मे एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है इसलिए विगत कुछ वर्षों से सामाजिक एव विकासात्मक सेवाओं पर भारत सरकार का व्यय निरन्तर बढ़ता जा रहा है और भविष्य मे इसके और अधिक बढ़ने की आशा है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 1746 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

(4) **ऋण सेवाएँ (Debt Services)**—भारत सरकार ने सिंचाई, बिजली रेलो नया उद्योग धन्धों आदि के विकास के लिए समय-समय पर देशवासियो एव विदेशियो से ऋण लिये हैं। विशेषकर पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत तो भारत सरकार ने बड़े पैमाने पर ऋण लिया है। इस प्रकार के ऋणों पर प्रतिवर्ष भारत सरकार को बहुत बड़ी मात्रा मे ब्याज चुकाना पड़ता है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 1352 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

(5) **कर-संग्रह व्यय (Collection of Taxes)**—जैसा हम ऊपर देख चुके है भारत सरकार की आय का बहुत बड़ा हिस्सा करो से ही प्राप्त होता है। विगत कुछ वर्षों मे पंचवर्षीय योजनाओ के लिए अधिक धन जुटाने हेतु भारत सरकार द्वारा कई प्रकार के नये कर लगाये गये है। स्पष्ट है कि इन करों का एकत्रित करने के लिए भारत सरकार को बड़ी संख्या मे कर्मचारी एव अधिकारी नियुक्त करने पड़ते हैं। इन पर किया गया व्यय कर-संग्रह व्यय कहा जाता है। विगत कुछ वर्षों मे भारत सरकार के कर संग्रह व्यय मे काफी वृद्धि हुई है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 100 करोड रुपये व्यय का प्रस्ताव किया था।

(6) **राज्य सरकारों को अनुदान**—प्रतिवर्ष भारत सरकार वित्त आयोग द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तो के आधार पर राज्य सरकारो को सहायक अनुदान (grants-in-aid) प्रदान करती है। इन

अनुदानो से राज्य सरकारें अपनी पचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करती हैं। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार ने राज्य सरकारो को 785 करोड रुपये के अनुदान देन का प्रस्ताव किया था।

(7) **केन्द्रीय उत्पादन करो मे राज्यो का हिस्सा**—जैसा हम पूर्व कह चुके है, वित्त आयोग की सिफारिशो के अन्तर्गत भारत सरकार को कुछ उत्पादन करो से प्राप्त होने वाली आय का एक निश्चित हिस्सा राज्य सरकारो मे बाँटना पडता है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार ने केन्द्रीय उत्पादन करो की आय से राज्य सरकारो को 970 करोड रुपये देन का प्रस्ताव किया था।

(8) **सार्वजनिक निर्माण कार्य** (Public Works)—जैसा विदित है, कुछ राष्ट्रीय महत्व की सडको एव पुलो आदि की मरम्मत की जिम्मेदारी भारत सरकार की है और इन पर प्रतिवर्ष भारत सरकार को कुछ न कुछ व्यय करना ही पडता है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 50 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

(9) **परिवहन एव सचार व्यवस्था** (Transport and Communications)—परिवहन एव सचार व्यवस्था को बनाये रखने के लिए भी भारत सरकार को प्रतिवर्ष कुछ व्यय करना पडता है। सन 1976 77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 99 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

(10) **करेंसी एव टकसाल** (Currency and Mint)—यद्यपि करेंसी एव टकसाल भारत सरकार की आय का एक साधन भी है तथापि प्रतिवर्ष भारत सरकार को इस मद पर कुछ व्यय भी करना पडता है। सन् 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार इस मद पर भारत सरकार ने 30 करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव किया था।

सन 1976-77 के बजट अनुमानो के अनुसार भारत सरकार का कुल व्यय 7,690 करोड रु० था। इस प्रकार भारत सरकार को 537 करोड रु० की बचत प्राप्त हुई थी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त सकेत

1 **भारत मे केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधनो और मुख्य व्ययो का विवरण दीजिए।**
[सकेत यहाँ पर पहले भारत सरकार की आय के मुख्य मुख्य साधनो का उल्लेख कीजिए और बताइए कि इनमे से लगभग कितनी आय उपलब्ध होती है। तदुपरान्त विभिन्न मदो पर भारत सरकार द्वारा किये गये व्यय की चर्चा कीजिए। यहाँ पर आय-व्यय सम्बन्धी नवीनतम आकडे प्रस्तुत कीजिए।]

2 **भारत सरकार के व्यय की मुख्य मदो का वर्णन कीजिए। क्या हम रक्षा पर बहुत अधिक खर्चा कर रहे हैं ?**
[सकेत प्रथम भाग के लिए प्रश्न 1 के उत्तर को देखिए। दूसरे भाग मे, आप यह बताइए कि रक्षा पर हम अधिक खर्चा नही कर रहे है। वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय स्थिति को देखते हुए यह खर्चा वास्तव मे कम है। हमारे दो शत्रु देश—चीन और पाकिस्तान हमारे ऊपर मिलकर आक्रमण करने की सोच रहे है। इसलिए रक्षा पर तो व्यय और अधिक बढाना चाहिए यद्यपि इससे देश पर बोझ पडेगा।]

50

राज्य सरकारों का वित्त

(Finances of the State Government)

इस अध्याय में हम राज्य सरकारों की आय के मुख्य स्रोतों तथा व्यय की मुख्य मदों का अध्ययन करेंगे।

राज्य सरकारों की आय के मुख्य स्रोत

राज्य सरकारों की आय के मुख्य स्रोतों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) कर एवं शुल्क, (ख) नागरिक प्रशासन एवं विविध कार्य, (ग) केन्द्रीय उत्पादन करों, आय-कर एवं आस्ति-कर में से राज्य सरकारों को मिलने वाला हिस्सा, (घ) भारत सरकार की ओर से राज्य सरकारों को मिलने वाले सहायक अनुदान, (ङ) सरकारी व्यवसायों से आय। अब हम पहले राज्य सरकारों की आय के मुख्य कर साधनों का अध्ययन करेंगे।

(1) मालगुजारी (Land Revenue)—*मालगुजारी सरकार की आय का प्राचीनतम साधन है। हिन्दू एवं मुस्लिम शासनकाल में भी सरकार द्वारा किसानों से मालगुजारी वसूल की जाती थी और यह उस समय सरकार की आय का प्रमुख साधन हुआ करती थी।* ब्रिटिश सरकार ने भी मालगुजारी प्रथा को जारी रखा। लॉर्ड कार्नवालिस (Lord Cornwallis) ने बंगाल, बिहार, असम एवं उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) लागू किया था। इसके अन्तर्गत, जमींदारों द्वारा चुकायी जाने वाली मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गयी थी। अन्य प्रान्तों में ब्रिटिश सरकार ने अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) की प्रणाली को क्रियान्वित किया था। इसके अन्तर्गत, कृषकों द्वारा चुकायी जाने वाली मालगुजारी 30 या 40 वर्ष के लिए ही निर्धारित की जाती थी। इस अवधि के उपरान्त मालगुजारी का पुनः निर्धारण किया जाता था। जैसा विदित है, स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली के अन्तर्गत सरकार को बहुत हानि हुई थी। इसका कारण यह था कि कृषि उपज की कीमतें तो बढ़ गयी थीं, किन्तु सरकार द्वारा ली जाने वाली मालगुजारी स्थिर ही रही। सन् 1947 के बाद कांग्रेस सरकार ने विभिन्न राज्यों में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया था जिससे काश्तकारों को कुछ राहत मिल गयी।

इस समय भारत के विभिन्न राज्यों में मालगुजारी का निर्धारण विभिन्न विधियों से किया जा रहा है। अधिकांश राज्यों में मालगुजारी किसान की शुद्ध आय के आधार पर ही निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ, कुछ राज्यों में सरकार किसान की शुद्ध आय का 25 प्रतिशत भाग मालगुजारी के रूप में वसूल करती है। इसके विपरीत, कुछ अन्य राज्यों में मालगुजारी का निर्धारण व्यावहारिक आधार पर ही किया जाता है। स्मरण रहे कि अकाल, बाढ़ अथवा किसी अन्य दैवी विपत्ति के समय में सरकार किसानों को मालगुजारी के भुगतान से मुक्त कर देती है। जैसा विदित है, इस समय मालगुजारी राज्य सरकारों की आय का एक प्रमुख साधन है। बिक्री-कर के बाद मालगुजारी का दूसरा स्थान है। सन् 1976-77 में राज्य सरकारों को मालगुजारी से लगभग 199.7 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

मालगुजारी के गुण—मालगुजारी में तीन मुख्य गुण पाये जाते हैं—**प्रथम**, मालगुजारी निश्चितता के नियम की सन्तुष्टि करती है। मालगुजारी की दर पहले से ही निश्चित होती है और किसानों से मालगुजारी वसूल करते समय सरकारी अधिकारियों द्वारा किसी प्रकार की मनमानी नहीं की जा सकती। इस निश्चितता के कारण सरकार मालगुजारी से प्राप्त होने वाली आय का सही-सही अनुमान लगा सकती है। **दूसरे**, मालगुजारी सुविधा के नियम की भी सन्तुष्टि करती है। मालगुजारी सरकार द्वारा किसानों से फसलों की कटाई के बाद ही वसूल की जाती है और किसानों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे दो किश्तों में एकत्रित किया जाता है, पहली किश्त रबी की फसल के बाद और दूसरी किश्त खरीफ की फसल के बाद एकत्रित की जाती है। इसके अलावा, दैवी विपत्ति के समय मालगुजारी से छूट एवं मुक्ति भी प्रदान की जाती है। **तीसरे**, मालगुजारी में उत्पादकता का गुण भी पाया जाता है। जैसा पूर्व कहा गया है, मालगुजारी इस समय बिक्री-कर को छोड़कर राज्य सरकारों की आय का प्रमुखतम साधन है।

मालगुजारी के दोष—इसके दोष निम्नलिखित हैं

(क) मालगुजारी समता के सिद्धान्त को सन्तुष्ट नहीं करती। जैसा विदित है, मालगुजारी एक प्रकार का आनुपातिक कर है। सभी किसानों के लिए मालगुजारी की एक ही दर होती है जिसका परिणाम यह होता है कि गरीब किसानों पर धनी किसानों की अपेक्षा अधिक बोझ पड़ता है। इसके अलावा मालगुजारी की कोई मुक्ति-सीमा नहीं है अर्थात् सभी किसानों को मालगुजारी चुकानी पड़ती है।

(ख) मालगुजारी में लोच का अभाव है। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली के अन्तर्गत मालगुजारी को किसी भी दशा में बढ़ाया नहीं जा सकता था। इसी प्रकार ही अस्थायी बन्दोबस्त प्रणाली के अन्तर्गत भी 30 या 40 वर्ष तक मालगुजारी में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की जा सकती थी।

(ग) मालगुजारी में मितव्ययता (economy) का अभाव है। इसको वसूल करने में सरकार को बहुत व्यय करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि छोटे-छोटे किसानों से मालगुजारी वसूल करने के लिए बड़ी संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है।

(घ) मालगुजारी सरलता के सिद्धान्त को भी सन्तुष्ट नहीं करती। मालगुजारी का निर्धारण जटिल आधार पर किया जाता है जो एक साधारण किसान की समझ से बाहर होता है। इसके अतिरिक्त, मालगुजारी के वास्तविक प्रशासन में भी कई प्रकार की त्रुटियाँ पायी जाती हैं।

कराधान जाँच आयोग (1953-54) ने मालगुजारी व्यवस्था का पुनर्गठन करने हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये थे—(क) सभी राज्यों में मालगुजारी की दरें एक समान होनी चाहिए। (ख) प्रत्येक दस वर्ष के बाद कृषि फसलों की कीमतों के आधार पर मालगुजारी की दरों में संशोधन किया जाना चाहिए। (ग) स्थानीय संस्थाओं (Local Bodies) को अधिक वित्तीय साधन प्रदान करने के लिए उन्हें मालगुजारी पर अधिभार (Surcharge) लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए। (घ) राज्य सरकारों को मालगुजारी से उपलब्ध होने वाली आय का 15 प्रतिशत भाग स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिए। (ङ) मालगुजारी-भार की असमानताओं को कम करने के लिए कृषि आयकर लगाया जाना चाहिए।

(1) **कृषि-आयकर (Agricultural Income Tax)**—यह कर सरकारों द्वारा किसानों की कृषि-आय पर लगाया जाता है। कर लगाने से पूर्व किसान की आय में से कुछ कटौतियाँ कर दी जाती हैं। उदाहरणार्थ सरकार को अदा की गयी मालगुजारी, सिंचाई पर किया गया व्यय, स्थानीय कर आदि। इन मदों को किसान की कुल आय में से निकालकर जो शेष बच रहता है, उसी पर कृषि-आयकर लगाया जाता है। आजकल कृषि-आयकर असम, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, तमिलनाडु राजस्थान और केरल राज्यों में लगाया जाता है। विभिन्न राज्यों में कृषि-आयकर की दरें एवं कर-मुक्ति की सीमाएँ अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ बिहार, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु तथा केरल में 3000 रुपये की आय तक कृषि आयकर नहीं लगाया जाता। उड़ीसा तथा राजस्थान में कर मुक्ति सीमा क्रमशः 5000 तथा 3000 रुपये है। कृषि-

आय की विभिन्न शिलाओं (Slabs) पर कृषि-आयकर विभिन्न दरों से लगाया जाता है। इस प्रकार कृषि-आयकर एक आरोही कर है। बिहार उत्तर प्रदेश केरल तमिलनाडु तथा राजस्थान में कृषि आय पर अतिकर भी लगाया जाता है।

कृषि-आयकर के पक्ष में तर्क—ये इस प्रकार है

(क) जैसा विदित है मालगुजारी का भार अमीर किसानों की अपेक्षा गरीब किसानों पर अधिक पड़ता है क्योंकि मालगुजारी एक आनुपातिक कर है। मालगुजारी के भार की असमानताओं को दूर करने अथवा कम करने के लिए कृषि आयकर लगाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

(ख) कृषि-आयकर से सरकार को उसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक आय उपलब्ध हो सकती है।

(ग) शहरों में रहने वाले व्यक्तियों पर आय कर लगाया जाता है तो कोई कारण नहीं कि गाँव में रहने वाले समृद्ध किसानों पर आय-कर क्यों न लगाया जाय।

कृषि-आयकर के विपक्ष में तर्क—ये इस प्रकार हैं

(क) आलोचकों का कहना है कि कृषि-आयकर लगाने से किसानों पर दोहरा कराधान (Double Taxation) हो जाता है अर्थात उनकी आय पर दो बार कर लगता है। एक बार तो उन्हें मालगुजारी चुकानी पड़ती है और दूसरी बार उन्हें आयकर अदा करना पड़ता है। परन्तु इस तर्क में कोई विशेष सार नहीं है। इसका कारण यह है कि कृषि आयकर सभी किसानों द्वारा चुकाया नहीं जाता। अधिकांश किसान तो कृषि आयकर से मुक्त हो जाते हैं। कृषि-आयकर तो केवल समृद्धशाली किसानों पर ही लगाया जाता है।

(ख) आलोचकों का दूसरा तर्क यह है कि किसान वर्ग प्रायः निर्धन होता है और वह कृषि आयकर के भार को वहन करने में असमर्थ होता है। किन्तु इस तर्क में भी कोई विशेष सार प्रतीत नहीं होता। यह सत्य है कि अधिकांश किसान गरीब होते हैं और कृषि-आयकर के भार को वहन करने की स्थिति में नहीं होते। परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कृषि-आयकर तो केवल समृद्धशाली किसानों पर ही लगाया जाता है। वास्तव में कृषक वर्ग में प्रचलित आय सम्बन्धी असमानताएँ दूर करने के लिए कृषि-आयकर अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

(ग) आलोचकों का तीसरा तर्क यह है कि कृषि आयकर के वास्तविक प्रशासन में कई प्रकार की कठिनाइयाँ एवं जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश किसान अशिक्षित होते हैं और अपनी आय व्यय का समुचित हिसाब किताब नहीं रखते। परिणामतः कृषि आयकर के दर निर्धारण में बहुत कठिनाई होती है। परन्तु इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि शहरों में भी बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी आय व्यय का समुचित *हिसाब किताब नहीं रखते हैं किन्तु उन्हें भी आयकर चुकाना पड़ता है।*

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि आयकर के विपक्ष में दिये गये तर्क प्रायः सारहीन ही हैं। अतः कृषि-आयकर का लगाया जाना वर्तमान कृषि व्यवस्था में आवश्यक प्रतीत होता है। सन 1976 77 में राज्य सरकारों को कृषि आयकर से लगभग 17 2 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

कृषि-आयकर में सुधार करने हेतु कराधान जाँच आयोग ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये थे

(क) यद्यपि आय की दृष्टि से यह कर कोई अधिक उत्पादक तो नहीं है परन्तु न्याय की दृष्टि से इसे लगाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

(ख) 2000 रुपये प्रतिवर्ष की आय से ऊपर वाली आय पर किसानों पर यह कर लगाया जाना चाहिए। ऊँची आय वाले किसान पर यह ऊँची दर पर लगाया जाना चाहिए।

(ग) *विभिन्न राज्यों में कृषि आयकर की दरों एवं छूट की सीमाओं की वर्तमान असमानताओं को यथासम्भव कम किया जाना चाहिए।*

कृषि-क्षेत्र से राज्य सरकारों की आय बढ़ाने हेतु राज समिति ने कृषि-जोत कर का सुझाव दिया था। इससे प्रतिवर्ष 200 करोड़ रु० की आय होगी।

(3) **राज्य उत्पादन कर** (State Excise Duties)—भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य सरकारों का शराब, अफीम, भांग, गांजा तथा अन्य नशीली वस्तुओं एवं औषधियों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। इन करों को लगाने के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं—**प्रथम**, राज्य सरकारों के लिए आय उपलब्ध करना। **दूसरे**, नशीली वस्तुओं के उपभोग को हतोत्साहित करना। सन् 1947 के बाद राज्य सरकारों ने नशीली वस्तुओं पर भारी उत्पादन कर लगा दिये थे। इसके अलावा, कुछ राज्य सरकारों ने मद्य निषेध की नीति (Policy of Prohibition) को भी अपनाया है। इस समय महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु पूर्ण मद्य निषेध की नीति का अनुसरण कर रहे हैं। जबकि उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, असम, कर्नाटक, केरल और पंजाब में आंशिक मद्य निषेध की नीति को अपनाया गया है। मद्य निषेध की इस नीति के कारण राज्य सरकारों की इस स्रोत से होने वाली आय में पर्याप्त कमी हो गयी है। सन् 1976-77 में राज्य सरकारों को उत्पादन करों से लगभग 449.3 करोड़ रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

मद्य-निषेध नीति के पक्ष में तर्क—इसके पक्ष में दिये गये तर्क निम्नलिखित हैं

(क) नैतिक उत्थान—देश के नैतिक उत्थान के लिए मद्य-निषेध नीति अत्यन्त आवश्यक होती है।

(ख) स्वास्थ्य की उन्नति के लिए—स्वास्थ्य को समुन्नत बनाने के लिए भी मद्य निषेध नीति का समर्थन किया जाता है क्योंकि मदिरापान के कारण स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(ग) जन कल्याण में वृद्धि—मद्य निषेध नीति के कारण मदिरापान करने वाले व्यक्तियों के व्यय में कमी हो जाती है और इस प्रकार की गयी बचत को अन्य आवश्यक वस्तुओं के उपभोग पर व्यय करके कल्याण में वृद्धि की जाती है।

(घ) सामाजिक बुराइयों का अन्त—समाज में अधिकांश बुराइयाँ मदिरापान के कारण ही उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ मदिरापान एवं अपराध-प्रवृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(ङ) आर्थिक साधनों का कल्याणकारी उद्योगों में स्थानान्तरण—मद्य निषेध नीति के फलस्वरूप नशीली वस्तुओं के उत्पादन में कमी हो जाती है और इस प्रकार इन उद्योगों में लगे हुए साधनों को वहाँ से निकालकर अन्य कल्याणकारी उद्योगों में लगाया जा सकता है।

मद्य-निषेध नीति के विपक्ष में तर्क—ये निम्नलिखित हैं

(क) सरकार को वित्तीय क्षति—मद्य निषेध नीति के कारण सरकार को वित्तीय क्षति होती है। इसका कारण यह है कि एक ओर तो उत्पादन करों से आय कम होती जाती है और दूसरी ओर मद्य-निषेध नीति को क्रियान्वित करने पर सरकार को अधिक व्यय करना पड़ता है।

(ख) प्रशासनिक कठिनाइयाँ—मद्य-निषेध नीति को प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियान्वित करने में अनेक प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि मद्य निषेध के फलस्वरूप मदिरा लोगों द्वारा छुप छिपकर बनायी जाती है और अवैध तरीकों से इसका उपभोग भी किया जाता है। इसकी रोकथाम करने के लिए सरकार को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(ग) कानून तथा नैतिकता की अवनति—जहाँ कहीं भी मद्य निषेध की नीति अपनायी गयी है, वहाँ पर कानून एवं नैतिकता के स्तर में अवनति ही हुई है। लोगों का प्रायः कानून के प्रति आदर भाव कम हो गया है और वे खुल्लमखुल्ला कानून की अवहेलना करते हैं। परिणामतः उनके नैतिक स्तर में भी गिरावट आ जाती है।

बिक्री-कर (Sale Tax)—बिक्रीकर से अभिप्राय उस कर से है जो राज्य सरकारों द्वारा वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है। बिक्री-कर और क्रय-कर (Purchase Tax) में अन्तर स्पष्ट है। बिक्री-कर सरकार द्वारा विक्रेताओं पर लगाया जाता है और उन्हीं से वसूल किया जाता है, जबकि क्रय-कर क्रेताओं पर लगाया जाता है और उन्हीं से वसूल किया जाता

ह। बिक्री-कर के अनेक स्वरूप है—(क) चयनात्मक बिक्री कर (Selective Sale Tax)—जब सरकार केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं पर ही कर लगाती है तो इसे चयनात्मक बिक्री कर कहते हैं। (ख) सामान्य बिक्री कर (Gross Sale Tax)—जब बिक्री-कर कुछ वस्तुओं को छोड़कर शेष सभी वस्तुओं पर लगा दिया जाता है तब इसे सामान्य बिक्री कर कहते हैं। (ग) कुल प्राप्ति कर (Gross Receipts Tax)—जब बिक्री कर वस्तुओं पर ही नहीं बल्कि सेवाओं के विक्रय पर भी लगा दिया जाता है तब इसे कुल प्राप्ति कर कहते हैं। (घ) एकस्तरीय बिक्री कर (Single Point Tax)—जब बिक्री कर बिक्री के केवल एक ही स्तर पर लगाया जाता है तब इसे एकस्तरीय बिक्री-कर कहते हैं। उदाहरणार्थ जब बिक्री कर प्रथम उत्पादकों द्वारा की गयी वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है अथवा जब बिक्री कर खुदरा व्यापारी द्वारा की गयी बिक्री पर लगाया जाता है तब यह एकस्तरीय बिक्री कर कहते हैं। (ङ) बहुस्तरीय बिक्री कर (Multi Point Sale Tax)—जब बिक्री-कर विभिन्न स्तरों पर की गयी बिक्री पर लगाया जाता है तब इसे बहुस्तरीय बिक्री कर कहते हैं। इसके अन्तर्गत जितनी बार वस्तुओं की बिक्री होती है उतनी ही बार उन पर बिक्री कर लगाया जाता है। इस प्रकार सर्वप्रथम यह कर उस समय भी लगाया जाता है जब उत्पादक अपना माल थोक व्यापारी को बेचता है फिर यह कर उस समय भी लगाया जाता है जब थोक व्यापारी अपना माल खुदरा व्यापारी को बेचता है। अन्त में यह कर पुनः तब लगाया जाता है जब खुदरा व्यापारी अपना माल अंतिम उपभोक्ता को बेचता है। इस प्रकार बहुस्तरीय बिक्री कर बिक्री के विभिन्न स्तरों पर लगाया जाता है और एक ही वस्तु पर कई बार बिक्री-कर लगता है।

बिक्री कर के पक्ष में तर्क—ये इस प्रकार है

(क) **उत्पादकता** (Productivity)—उत्पादकता की दृष्टि से बिक्री कर राज्य सरकारों के लिए आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। जैसा हम पूर्व कह चुके हैं कुछ राज्यों में बिक्री कर मालगुजारी से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

(ख) **लोचकता** (Elasticity)—बिक्री-कर के पक्ष में दिया गया दूसरा तर्क यह है कि इसमें लोचकता का अंश पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। बिक्री-कर की दरों में थोड़ी सी वृद्धि करने और बिक्री कर में अन्तर्गत सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं की संख्या में थोड़ी सी वृद्धि करने पर इससे उपलब्ध होने वाली आय को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जा सकता है।

(ग) **विस्तृत करवाह्यता** (Wide Incidence)—बिक्री कर के पक्ष में तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि इसका भार किसी विशेष वर्ग पर न पड़कर समुदाय के सभी वर्गों पर पड़ता है।

बिक्री कर के दोष—ये इस प्रकार है

(क) **अवरोहीपन** (Regressiveness)—बिक्री कर का सबसे बड़ा दोष इसका अवरोही स्वरूप है। इसका कारण यह है कि बिक्री कर की दर सभी वर्गों के लिए एकसमान होती है। परिणामतः अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर बिक्री कर का अधिक बोझ पड़ता है।

(ख) **अन्तरराज्यीय व्यापार पर बुरा प्रभाव**—चूंकि विभिन्न राज्यों में बिक्री-कर की दर अलग अलग निश्चित की गयी है इसीलिए अन्तरराज्यीय व्यापार (Inter State Trade) में रुकावट उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः अन्तरराज्यीय व्यापार के विकास पर बुरा असर पड़ता है। बिक्री कर की इस कठिनाई को दूर करने के लिए सन 1956 में एक कानून के अन्तर्गत भारत सरकार ने कोयले, सूती कपड़े, चमड़े, तिलहन, जूट, तथा लोहा इस्पात आदि वस्तुओं को अन्तरराज्यीय व्यापार के महत्त्व की वस्तुएं घोषित कर दिया था और इस प्रकार की वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने का अधिकार भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया था। सन 1957 में भारत सरकार ने मिलों में बने सूती कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर राज्यीय बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगा दिया था। सन 1962 में रेशमी कपड़ों को भी इस सूची में सम्मिलित कर दिया गया था किन्तु इस प्रकार के अतिरिक्त उत्पादन करों से उपलब्ध होने वाली आय को राज्य सरकारों में बांट दिया जाता है।

(ग) **प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयां**—बिक्री कर के वास्तविक प्रशासन में भी कई प्रकार

की उलझनें उत्पन्न होती हैं, क्योंकि साधारणत बिक्री-कर कई स्तरों पर लगाया जाता है। इससे व्यापारियों को भी बहुत असुविधा एवं परेशानी होती है। उन्हें बिक्री-कर सम्बन्धी विस्तृत हिसाब-किताब रखने पड़ते हैं।

(घ) कर-वंचन (Tax Evasion)— बिक्री-कर की एक समस्या यह भी है कि व्यापारियों द्वारा इसका बड़े पैमाने पर वचन किया जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए करारोपण जाँच आयोग ने यह सुझाव दिया था कि छोटे-छोटे व्यापारियों को बिक्री कर से मुक्त कर देना चाहिए। आय मे होने वाली इस कमी का बहुस्तरीय बिक्रीकर लगाकर पूरा कर लेना चाहिए। इसके साथ ही आयोग ने यह भी सिफारिश की थी कि विभिन्न राज्यों मे बिक्री-कर की दरों में वर्तमान असमानताओ मे आवश्यक कमी की जानी चाहिए।

(ङ) संग्रह की ऊँची लागत—बिक्रीकर की एक अन्य त्रुटि यह भी है कि इसे व्यापारियों से वसूल करने की लागत बहुत ऊँची होती है। इसका कारण यह है कि अनेक छोटे-छोटे व्यापारियों के हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करने के लिए सरकार को बड़ी संख्या मे कर्मचारियों एवं अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती है।

(च) बिक्री-कर का स्फीतिक प्रभाव (Inflationary Effect of Sale Tax)—बिक्री-कर के विपक्ष मे यह भी कहा जाता है कि इसके फलस्वरूप आवश्यक वस्तुओं की कीमतों मे वृद्धि हो जाती है और देश की अर्थ-व्यवस्था मे स्फीतिक दशा उत्पन्न हो जाती है।

सन 1935 के संविधान के अन्तर्गत वस्तुओ पर बिक्री-कर लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारो को दिया गया था। भारत के नये संविधान के अन्तर्गत भी बिक्री-कर लगाने एवं इसे एकत्रित करने का अधिकार राज्य सरकारो को ही दिया गया है। यद्यपि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुछ अन्तरराज्यीय व्यापार के महत्व की वस्तुओं पर भारत सरकार को भी बिक्री-कर लगाने का अधिकार है। सर्वप्रथम सन् 1939 मे मद्रास सरकार ने बहुस्तरीय बिक्री-कर लगाया था। इसके बाद अन्य सरकारो ने भी बिक्री-कर लगाया। आज बिक्री-कर सभी राज्यो मे लगाया जा रहा है यद्यपि इसकी दरो म बहुत विभिन्नता पायी जाती है। साधारणत बिक्री-कर की दो दरें होती हैं—प्रथम व दरें जो सामान्य वस्तुओ की बिक्री पर लगायी जाती है, और दूसरे, वे दरें जो विलासिताओ पर लगायी जाती हैं।

जैसा हम पूर्व कह चुके है, बिक्री कर राज्य सरकारो की आय का अत्यन्त उत्पादक साधन है। सन् 1976-77 मे राज्य सरकारों को बिक्री-कर से लगभग 2165 8 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(5) स्टाम्प शुल्क (Stamp Duties)—राज्य सरकारो द्वारा लिये जाने वाले स्टाम्प शुल्क दो प्रकार के होते हैं—अदालती एवं गैर अदालती। अदालती शुल्कों से अभिप्राय उन शुल्कों से है जो कोर्ट फीस एवं अदालती स्टाम्पो के रूप मे लोगो से लिये जाते है। गैर अदालती शुल्क व शुल्क है जो हुण्डियों तथा अन्य दस्तावेजों पर लगाये जाने वाले स्टाम्पों की बिक्री से प्राप्त होते है। सन 1976-77 मे राज्य सरकारो को स्टाम्प शुल्को से 151 8 करोड रु० की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(6) रजिस्ट्रेशन (Registration) —इसमे अभिप्राय उस फीस से है जो दस्तावेजो की रजिस्ट्री कराते समय या उसकी नकल प्राप्त करते समय सरकार द्वारा लोगों से ली जाती है। सन् 1976-77 म राज्य सरकारो को रजिस्ट्रेशन से लगभग 100 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(7) मनोरंजन कर (Entertainment Tax)—इससे अभिप्राय उस कर से है जो राज्य सरकारो द्वारा सिनेमाओ, थियेटरो आदि को देखने वाले व्यक्तियों पर लगाया जाता है। सन् 1976-77 मे इस कर से राज्य सरकारो को लगभग 155 9 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(8) मोटर वाहनों पर कर—राज्य सरकारो को मोटर गाडियो के विक्रय एवं पेट्रोल के विक्रय पर भी कर लगाने का अधिकार है। सन् 1976-77 मे इस कर से राज्य सरकारो को लगभग 226 2 करोड रुपये की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(ख) नागरिक प्रशासन एवं विविध कार्य—इस मद के अन्तर्गत जेल एवं न्याय विभागों से उत्पन्न होने वाली आय को सम्मिलित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, राज्य सरकारों को शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि, पशुपालन, सहकारिता, उद्योग-धन्धा आदि से जो थोड़ी बहुत आय प्राप्त होती है वह भी इसी मद के अन्तर्गत शामिल की जाती है। इस प्रकार सरकार किसानों, उद्योगपतियों, विस्थापितों तथा सहकारी संस्थाओं को दिये गये ऋणों पर ब्याज भी कमाती है। यह भी इसी मद में सम्मिलित किया जाता है। सन 1976-77 में नागरिक प्रशासन से राज्य सरकारों को 1672 करोड़ रु० की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(ग) केन्द्रीय उत्पादन-करों, आयकर एवं आस्ति कर में से राज्य सरकारों को मिलने वाला भाग—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, आयकर से उपलब्ध होने वाली आय का एक निश्चित भाग भारत सरकार द्वारा राज्य सरकारों में बाँट दिया जाता है। सन 1976-77 में राज्य सरकारों का आयकर से मिलने वाला हिस्सा 649 करोड़ रुपये था। इसी तरह केन्द्रीय उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली आय का एक निश्चित भाग भी राज्य सरकारों में बाँट दिया जाता है। जैसा हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। सन 1976-77 के बजट अनुमानों के अनुसार राज्य सरकारों को केन्द्रीय उत्पादन करों की आय में से 970 करोड़ रुपये देने का प्रस्ताव किया गया था। इसी प्रकार भारत सरकार द्वारा लगाये गये आस्ति-कर में से राज्य सरकारों को उनका हिस्सा दिया जाता है। सन 1976-77 में आस्ति कर की आय में लगभग 7 करोड़ रु० राज्य सरकारों को देने का प्रस्ताव किया गया था।

(घ) राज्य सरकारों को भारत सरकार से मिलने वाले सहायक अनुदान—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं, प्रतिवर्ष भारत सरकार राज्य सरकारों को वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर बहुत बड़ी मात्रा में सहायक अनुदान देती है। ये अनुदान राज्य सरकारों द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं में सम्मिलित किये गये विकासात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग में लिये जाते हैं। सन 1976-77 के बजट के अनुमानों के अनुसार राज्य सरकारों को 1258.2 करोड़ रु० की राशि सहायक अनुदानों के रूप में देने का प्रस्ताव किया गया था।

(ङ) सरकारी व्यवसायों से प्राप्त होने वाली आय—सरकारी आय के ये स्रोत निम्न लिखित हैं :

(1) वन (Forests)—भारतीय संविधान के अन्तर्गत वन विभाग राज्य सरकारों के अधीन है। वनों में कई प्रकार की लकड़ी एवं अन्य प्रकार की उपज प्राप्त होती है। राज्य सरकारें वनों से पर्याप्त आय प्राप्त करती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय वनों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। यदि वनों के विकास हेतु सरकार द्वारा अधिक विनियोग किया जाय तो भविष्य में इस स्रोत से आय बढ़ायी जा सकती है। सन 1976-77 में सभी राज्य सरकारों को वनों से 3.5 करोड़ रु० की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(2) सिंचाई—भारतीय संविधान के अन्तर्गत सिंचाई विभाग भी राज्य सरकारों के अधीन है। राज्य सरकारें नहरों एवं नलकूपों द्वारा किसानों को सिंचाई के लिए पानी सप्लाई करती है और इसके बदले उनसे पानी दर (water rates) वसूल करती है। विगत कुछ वर्षों में राज्य सरकारों ने बहुउद्देश्यीय नदी घाटी योजनाओं पर बहुत व्यय किया है जिसके परिणामस्वरूप सिंचाई से होने वाली आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है। लेकिन सन 1976-77 में सभी राज्य सरकारों को सिंचाई से आय होने के बजाय उल्टे 50 करोड़ रु० की हानि हुई थी। क्योंकि सिंचाई पर व्यय अत्यधिक बढ़ गया।

(3) सार्वजनिक निर्माण कार्य (Public Works)—राज्य सरकारों को सार्वजनिक निर्माण कार्य अर्थात् सरकारी भवनों के किराया तथा सड़कों आदि पर लगाये गये टोल टैक्सों से भी कुछ आय प्राप्त होती है। सन 1976-77 में सभी राज्य सरकारों को इस स्रोत से 100 करोड़ रु० की आय प्राप्त होने की आशा थी।

(4) ऋण सेवायें (Debt Services)—जैसा विदित है, राज्य सरकारें किसानों को कृषि-कार्यों के लिए तकावी कर्ज प्रदान करती है। इसी प्रकार व्यापारियों एवं उद्योगपतियों को

भी व्यवसाय का विस्तार करन के लिए ऋण दिये जाते है। इन ऋणो पर राज्य सरकारो को प्रतिवर्ष ब्याज के रूप म कुछ आय प्राप्त होती है। सन 1976 77 म इस स्रोत से राज्य सरकारो को 49 करोड रु० की आय प्राप्त होने की आशा थी।

सन 1976 77 के बजटो के अनुसार राज्य सरकारो की कुल आय 8 401 4 करोड रुपये थी।

राज्य सरकारो के व्यय की मुख्य मदें

राज्य सरकारो के व्यय की मुख्य मद इस प्रकार है

(1) **राजस्व की प्रत्यक्ष माँगें** (Direct Demands on Revenue)—राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रो म विभिन्न प्रकार के करो की वसूली पर पर्याप्त व्यय करती है। उदाहरणार्थ राज्य सरकारो को बिक्री-कर उत्पादन कर मालगुजारी सिंचाई-कर कृषि-आयकर स्टाम्प शुल्क रजिस्ट्रेशन शुल्क मोटर वाहन एवं मनोरंजन आदि को एकत्रित करने के लिए बडी संख्या म कर्मचारियों एवं अधिकारियो की नियुक्ति करनी पडती है और इन्हे वेतन तथा भत्तो के रूप म पर्याप्त बडी राशि चुकानी पडती है। इस प्रकार का व्यय राजस्व की प्रत्यक्ष मांगो के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। सन 1976 77 मे सभी राज्य सरकारो ने इस मद पर लगभग 102 4 करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की थी। जैसा हम पूर्व देख चुके है एक अच्छी कर प्रणाली म मितव्ययता का गुण विद्यमान होना चाहिए अर्थात करो की वसूली पर अधिक व्यय नही किया जाना चाहिए। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय कर प्रणाली म इस गुण का सर्वथा अभाव है और करो की वसूली पर बहुत अधिक व्यय करना पडता है।

(2) **सुरक्षा सेवायें** (Security Services)—इस मद के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन न्याय जेल पुलिस आदि सम्मिलित किये जाते है। सन 1947 से पूर्व इस मद पर प्रान्तीय सरकारो की आय का एक बहुत बडा भाग व्यय किया जाता था। उस समय कांग्रेसी नेता प्रान्तीय सरकारो के इस बढे हुए व्यय की आलोचना किया करते थे। अत सन 1947 के बाद यह आशा की गयी थी कि इस मद पर होने वाले व्यय म कमी हो सकेगी। किन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी नहीं हो सकी। इसके विपरीत प्रतिवर्ष सुरक्षा सेवाओ पर राज्य सरकारो का व्यय निरन्तर बढता ही चला गया है। आलोचको का कहना है कि कल्याणकारी राज्य म सुरक्षा सेवाओ पर अधिक व्यय नही होना चाहिए। उनका कहना है कि कल्याणकारी राज्य म सुरक्षा सेवाओ के बजाय सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओ पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए। वास्तव म ऐसा कहना उचित ही है किन्तु भारत म कुछ विशेष परिस्थितियो के कारण राज्य सरकारो के लिए सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओ के व्यय म कमी करना सम्भव नही हो सका है और न ही भविष्य म सुरक्षा सेवाओ पर होने वाले व्यय मे कमी किये जाने की कोई सम्भावना है। सन 1976 77 मे राज्य सरकारो ने सुरक्षा सेवाओ पर 960 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं सुरक्षा सेवाओ के अन्तर्गत चार मुख्य भाग रखे जा सकते है

(क) **सामान्य प्रशासन** (General Administration) इसमे अभिप्राय उस व्यय से है जो सरकार को राज्य का सामान्य प्रशासन चलाने हेतु प्रतिवर्ष करना पडता है।

(ख) **न्याय** (Justice)—इससे अभिप्राय उस व्यय से है जो राज्य सरकारो को अदालतो आदि पर करना पडता है।

(ग) **जेल**—राज्य सरकारो को जेलो पर भी प्रतिवर्ष कुछ व्यय करना पडता है।

(घ) **पुलिस**—भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य सरकारो को पुलिस विभाग पर पर्याप्त राशि व्यय करनी पडती है। विगत कुछ वर्षो से सभी राज्यो म पुलिस पर होने वाले व्यय म निरन्तर वृद्धि होती चली आ रही है। इसका कारण यह है कि इस समय देश बहुत ही नाजुक परिस्थितियो म से होकर गुजर रहा है जबकि समाज विरोधी तत्त्वो की सरगर्मियो म निरन्तर वृद्धि होती चली आ रही है। परिणामत पुलिस व्यय म वृद्धि करना अनिवार्य हो है।

(3) **सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाएँ** (Social and Development Services) जैसा विदित है भारत एक कल्याणकारी राज्य है। भारत का उद्देश्य एक समाजवादी समाज

(Socialist Society) की स्थापना करता है। अतएव इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओं पर अधिकाधिक मात्रा में व्यय करना पड़ता है। इसलिए विगत कुछ वर्षों में राज्य सरकारों द्वारा सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओं पर किये जाने वाले व्यय में पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन 1976 77 में राज्य सरकारों ने सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओं पर 5 136 6 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी। इस मद के अन्तर्गत कृषि, सहकारिता उद्योग धन्धे पशुपालन सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं शिक्षा आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

(क) कृषि वास्तव में कृषि राज्य सरकारों के व्यय की एक महत्वपूर्ण मद है। राज्य सरकारें कृषि के सुधार एवं उत्थान के लिए प्रतिवर्ष बहुत व्यय करती हैं। किसानों को सिंचाई सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की जाती हैं इन्हें सस्ती दरों पर अच्छे बीज बढ़िया औजार एवं रासायनिक खाद आदि सप्लाई किये जाते हैं। सन 1976 77 में कृषि पर 1103 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गयी थी।

(ख) सहकारिता—राज्य सरकारें कृषि एवं उद्योग धन्धों के उत्थान के लिए सहकारिता आन्दोलन को बड़ा महत्व देती हैं। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गांवों एवं नगरों में सहकारी समितियाँ स्थापित की गयी हैं। सन 1976 77 में इस मद पर 60 करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गयी थी।

(ग) पशुपालन (Animal Husbandry)—राज्य सरकारें पशुओं की चिकित्सा के लिए गाँवों में पशु डिस्पेन्सरियाँ एवं अस्पताल खोलती हैं। पशुओं को महामारियों से बचाने के लिए उन्हें पशुपालन विभाग द्वारा निरोधक टीके भी लगाये जाते हैं। सन 1976 77 में राज्य सरकारों ने कृषि सहकारिता एवं पशुपालन पर 80 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी।

(घ) उद्योग-धन्धे— राज्य सरकारें छोटे छोटे एवं मध्यम श्रेणी के उद्योग धन्धों को भी सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करती हैं। उद्योगपतियों को ऋण दिये जाते हैं उन्हें कच्चा माल सप्लाई किया जाता है और तैयार शुदा माल की बिक्री में उनकी सहायता की जाती है। सन 1976 77 में सभी राज्य सरकारों ने उद्योग धन्धों पर 113 5 करोड़ रुपये व्यय किये थे।

(ङ) सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health)— सार्वजनिक स्वास्थ्य की देखभाल करना भी राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है।

(च) चिकित्सा—राज्य सरकारें बड़े बड़े नगरों एवं छोटे छोटे कस्बों में बीमार लोगों के उपचार के लिए अस्पताल एवं डिस्पेन्सरियाँ स्थापित करती हैं। सन 1976 77 में राज्य सरकारों ने चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य पर लगभग 686 3 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी।

(छ) शिक्षा बच्चों एवं नवयुवकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना भी राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। राज्य सरकारें न केवल सामान्य बल्कि टेकनीकल शिक्षा की भी व्यवस्था करती हैं। विगत कुछ वर्षों में शिक्षा पर होने वाला व्यय निरन्तर बढ़ता ही चला जा रहा है। सन 1976 77 में सभी राज्य सरकारों ने शिक्षा पर 1767 2 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी।

(ज) सार्वजनिक निर्माण-कार्य (Public Works)—जैसा विदित है राज्य सरकारें प्रतिवर्ष सड़कों भवनों आदि पर भी व्यय करती हैं। सन 1976 77 में राज्य सरकारों द्वारा इस मद पर 300 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी थी।

(झ) सिंचाई—जैसा हम पूर्व कह चुके हैं किसानों के लिए नहरी सिंचाई की व्यवस्था करना भी राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है। सन 1976 77 में सभी राज्य सरकारों द्वारा सिंचाई पर 80 करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गयी थी।

(ञ) सामुदायिक विकास परियोजनाएँ (Community Development Projects)—ग्रामों के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए सन 1952 से राज्य सरकारों ने सामुदायिक

विकास कायक्रम नियोजित किया है। सन 1976 77 म सभी राज्य सरकारो ने इस मद पर 190 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी।

(4) ऋण सेवाएं (Debt Services)—पचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए राज्य सरकार सघीय सरकार से बडे पैमाने पर ऋण प्राप्त करती है। अत उन्हे प्रतिवर्ष इन ऋणो पर ब्याज अदा करना पडता है। सन 1976 77 म सभी राज्य सरकारो ने ऋण सेवाओ पर 934 5 करोड रुपये व्यय करने की व्यवस्था की थी।

सन 1976 77 के बजटो के अनुसार राज्य सरकारो का कुल व्यय 7783 6 करोड रुपये था।

राज्यीय वित्त मे नवीन प्रवृत्तियां
(Recent Trends in State Finances)

विगत 20 वर्षो म राज्यीय वित्त मे कई प्रकार के परिवर्तन हुए है। राज्यीय वित्त म प्रचलित नवीन प्रवृत्तियां निम्नलिखित है

(1) राज्य सरकारो की आय एव व्यय म भारी वृद्धि हुई है। विगत कुछ वर्षो म राज्य सरकारो ने कई प्रकार के नये कर लगाये है जिनके परिणामस्वरूप उनकी आय म पर्याप्त वृद्धि हुई है। इसी प्रकार पचवर्षीय योजनाओ के कारण विगत कुछ वर्षों मे राज्य सरकारो के व्ययो म भी पर्याप्त वृद्धि हुई।

(2) विगत कुछ वर्षो म बिक्री-कर राज्य सरकारो की आय का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। सन 1939 40 से पूर्व राज्यो म बिक्री कर नही हुआ करता था। किन्तु अब यह राज्य सरकारो की आय का प्रमुखतम साधन हो गया है। सन 1976 77 म राज्य सरकारो का बिक्री कर से लगभग 2165 8 करोड रुपये की आय प्राप्त हुई थी।

(3) विगत कुछ वर्षों म राज्यीय वित्त के अवरोहीपन (regressiveness) म वृद्धि हुई है विशेषकर बिक्री कर लगाने से तथा स्टाम्प रजिस्ट्रेशन मनोरजन कर तथा राज्य उत्पादन करो म वृद्धि होने से राज्यीय वित्त म अवरोहीपन का अश पहले की अपेक्षा बढ गया है।

(4) विगत कुछ वर्षो म मद्य निषेध (Prohibition) की नीति के कारण उत्पादन करो से राज्य सरकारो की आय घटती जा रही है। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान उत्पादन करो से राज्य सरकारो की आय बहुत बढ गया था परन्तु युद्ध के पश्चात राज्य सरकारो द्वारा मद्य निषेध की नीति अपनाये जाने के फलस्वरूप इस स्रोत से राज्यो की आय म पर्याप्त कमी हुई है। भविष्य म इस स्रोत म होने वाली आय म और भी अधिक कमी होने की सम्भावना है। तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र जैसे राज्यो ने तो मद्य निषेध की नीति को पूर्णरूप से अपनाया है जबकि कुछ अन्य राज्यो म इसे आशिक रूप म ही अपनाया गया है। मद्य निषेध की नीति के परिणामस्वरूप राज्य सरकारो की वित्तीय स्थिति म बहुत कठिनाइयां उत्पन्न हो गयी है और दूसरी ओर मद्य निषेध नीति को क्रियान्वित करने पर उन्हे अधिक व्यय करना पड रहा है।

(5) पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने हेतु राज्य सरकारो को भारत सरकार से मिलने वाली वित्तीय सहायता म वृद्धि हुई है। अब राज्य सरकारो को आयकर आस्ति कर तथा उत्पादन करो म से पहले की अपेक्षा भारत सरकार से अधिक हिस्सा मिलता है। इसके साथ ही साथ राज्य सरकारो को केन्द्र से मिलने वाले सहायक अनुदानो म भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन 1956 57 म राज्य सरकारो को केन्द्र से 373 करोड रुपये की वित्तीय सहायता प्राप्त हुई थी। सन 1976 77 मे यह बढकर 1258 2 करोड रुपये हो गयी थी।

(6) विगत कुछ वर्षो से राज्य सरकारो के बजटो म निरन्तर घाटे की प्रवृत्ति क्रियाशील रही है अर्थात राज्य सरकारो के व्यय उनकी आय की तुलना म अधिक रहे है। इसके दो मुख्य कारण है प्रथम राज्य सरकारो को पचवर्षीय योजनाओ पर पर्याप्त राशि व्यय करनी पडती है। दूसरे राज्य सरकारो को पहले की अपेक्षा कर्मचारियो एव अधिकारियो को अधिक वेतन एव भत्ते देने पड रहे है।

(7) विगत कुछ वर्षों में राज्य सरकारों की नकद निधियों (cash reserves) में बहुत ह्रास हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि पंचवर्षीय योजनाओं को नियन्त्रित करने के लिए राज्य सरकारें अपनी नकद निधियों में से पहले की अपेक्षा अधिक धन निकाल रही हैं। कुछ सरकारों ने तो अपनी नकद निधियों का पूर्णत समाप्त ही कर लिया है।

(8) विगत कुछ वर्षों में राज्य सरकारों के विकासात्मक व्यय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि सामान्य प्रशासन पर भी पहले की अपेक्षा राज्य सरकारों का व्यय बढ़ गया है लेकिन यह वृद्धि उस अनुपात में नहीं हुई जिसमें विकासात्मक व्यय की वृद्धि हुई है अर्थात विकासात्मक व्यय सामान्य प्रशासन व्यय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ा है।

(9) विगत कुछ वर्षों में विकासात्मक परियोजनाओं को नियन्त्रित करने के लिए राज्य सरकारों को मुद्रा-बाजार से अधिकाधिक मात्रा में दीर्घकालीन ऋण लेने पड़े हैं।

(10) विगत कुछ वर्षों से राज्यीय वित्त में विविधीकरण (diversity) की प्रवृत्ति भी कार्यशील रही है। कई प्रकार के नये-नये कर लगाये गये हैं। इनमें से मनोरंजन कर भूमि सुधार कर गाड़ियों पर कर मालगुजारी पर सरचार्ज तथा शिक्षा-कर (Education Cess) उल्लेखनीय है।

राज्य वित्त की त्रुटियाँ
(Shortcomings of State Finances)

ये इस प्रकार हैं

(1) राज्य सरकारों की बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं को देखते हुए उनकी आय के वर्तमान साधन न केवल अपर्याप्त बल्कि स्थिर एवं बेलोच भी हैं। उदाहरणार्थ मालगुजारी एवं स्टाम्प शुल्कों से राज्य सरकारों को होने वाली आय लगभग स्थिर ही है। इसी प्रकार राज्य सरकारों की उत्पादन करों से होने वाली आय में निरन्तर ह्रास हो रहा है। वास्तव में राज्य सरकारों की वर्तमान वित्तीय स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। संविधान के अन्तर्गत राज्य सरकारों को जो काम सौंपे गये हैं कालान्तर में उन पर अधिकाधिक व्यय की आवश्यकता पड़ती है परन्तु राज्य सरकारों की आय के जो साधन सौंपे गये हैं वे अधिकांशत स्थिर एवं बेलोचदार हैं। परिणामत राज्य सरकारों को अपने दायित्वों को निभाने के लिए केन्द्रीय सरकार से ऋण एवं सहायक अनुदान लेने के लिए विवश होना पड़ता है।

(2) राज्यीय करारोपण का भार समुदाय के विभिन्न वर्गों पर समानता के आधार पर वितरित नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में राज्यीय करारोपण का मुख्य भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। मालगुजारी सिंचाई कर स्टाम्प शुल्क एवं बिक्री कर का मुख्य भार गरीबों पर ही अधिक पड़ता है।

(3) राज्य सरकारों की वित्तीय नीति अनुदार एवं दकियानूसी है। वे आय के साधनों का विकास करने के बजाय व्यय में कमी करना अधिक अच्छा समझती हैं। उदाहरणार्थ वनों का विकास करके राज्य सरकारें अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि कर सकती हैं परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश राज्यों ने ऐसा करने का प्रयास नहीं किया है।

(4) विभिन्न राज्यों की कर संरचनाओं (tax structures) में एकरूपता का अभाव है। मुख्यत यह विभिन्न राज्यों के प्रति व्यक्ति करारोपण में भी बहुत विभिन्नता पायी जाती है। उदाहरणार्थ प्रति व्यक्ति करारोपण विभिन्नता राज्यों के विकास स्तरों की भिन्नता के कारण ही है। परन्तु विगत कुछ वर्षों में विभिन्न धान महाराष्ट्र में सबसे अधिक तथा उड़ीसा में सबसे कम है। परन्तु विगत कुछ वर्षों में विभिन्न राज्यों में प्रति व्यक्ति करारोपण में होने वाली असमानताओं को कम करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(5) राज्य सरकारों के व्यय का वितरण भी असन्तोषजनक है। राज्य सरकारों की आय का मुख्य भाग राजस्व की प्रत्यक्ष माँगों एवं सुरक्षा सेवाओं द्वारा हड़प लिया जाता है। सामाजिक एवं विकासात्मक सेवाओं के लिए बहुत कम बच रहता है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारों का व्यय गरीबों की अपेक्षा अमीरों को अधिक लाभान्वित करता है।

राज्यीय वित्त में सुधार का सुझाव

राज्यीय वित्त के उपरोक्त दोषों एवं त्रुटियों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं :

(1) राज्य सरकारों की आय की अपर्याप्तता को दूर करने के लिए समुचित नये कर लगाने, गैर कर साधनों का विकास करने (अर्थात् औद्योगिक एवं व्यापारिक उद्यम स्थापित करने) तथा कर प्रशासन में आवश्यक सुधार करने के सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

(2) राज्यीय वित्त के अवरोहीपन (regressiveness) को दूर करने के लिए सुझाव दिया गया है कि राज्य सरकार कृषि आय पर आरोही कर लगायें और इसके साथ ही साथ धनी वर्गों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं पर ऊँचे कर लगाये जायें।

(3) राज्य सरकारों को चाहिए कि वे अपने कुछ विशेष करों की त्रुटियों को यथासम्भव दूर करने का प्रयत्न करें। उदाहरणार्थ उन्हें मालगुजारी में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने चाहिए। विशेषकर गैर आर्थिक जोतों (Uneconomic Holdings) के स्वामियों को मालगुजारी के भुगतान से मुक्त कर देना चाहिए। इसके साथ ही बिक्री कर के आवश्यक युक्तिकरण (rationalisation) करने की आवश्यकता है।

(4) राज्य सरकारों को यथासम्भव अपनी कर-संरचनाओं का विविधीकरण करना चाहिए अर्थात् उन्हें मालगुजारी एवं बिक्री-कर पर ही निर्भर न रहकर आय के अन्य स्रोतों का विकास करना चाहिए।

(5) राज्य सरकारों को यथासम्भव नागरिक प्रशासन व्यय में कमी करनी चाहिए। विशेषकर शिखर प्रशासन की लागत को कम करना तो अत्यन्त आवश्यक है।

(6) राज्यीय एवं स्थानीय वित्त में समुचित समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए ताकि प्रशासन की ये दोनों इकाइयाँ मिल जुलकर लोगों को आवश्यक सामाजिक सेवाएं प्रदान कर सकें।

भारतीय कर प्रणाली के दोष

(Defects of the Indian Tax System)

अब तक हमने भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के वित्त का विस्तृत अध्ययन किया है। अब हम भारतीय कर प्रणाली का समग्र रूप में अध्ययन करेंगे। इस प्रणाली के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :

(1) भारतीय कर प्रणाली किसी पूर्व निर्धारित योजना पर आधारित नहीं है अर्थात् इसका विकास किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया है। इसे तो मुख्यतः सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार ही ढाला गया है। इस प्रणाली का निर्माण करते समय देश में उत्पादन एवं वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है।

(2) इस कर प्रणाली में पर्याप्तता एवं लोचकता का भी अभाव है। दूसरे शब्दों में सरकार की आय के साधन न केवल अपर्याप्त बल्कि बेलोच भी हैं। देश की सामाजिक सेवाओं सम्बन्धी आवश्यकताओं को देखते हुए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की आय के साधन सीमित प्रतीत होते हैं।

(3) इस कर प्रणाली में अप्रत्यक्ष करों की अधिकता है। भारतीय कर प्रणाली में प्रत्यक्ष कर अधिक संख्या में नहीं पाये जाते। यह प्रणाली अधिकांशतः अप्रत्यक्ष करों पर ही निर्भर रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि विगत कुछ वर्षों में आस्ति कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर एवं व्यय कर—जैसे कुछ प्रत्यक्ष कर लगाये गये हैं। परन्तु इनसे उत्पन्न होने वाली आय बहुत कम है। राज्यीय एवं केन्द्रीय सरकारों की आय का मुख्य भाग अप्रत्यक्ष करों से ही उपलब्ध होता है।

(4) इस कर प्रणाली का अवरोही स्वरूप अत्यन्त आपत्तिजनक है। दूसरे शब्दों में भारतीय कर प्रणाली समता प्रनियम को सन्तुष्ट नहीं करती। भारत में अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर करों का भार अधिक पड़ता है। आयकर को छोड़कर शेष सभी कर अवरोही ही हैं। मालगुजारी

तो सबसे अधिक अवरोही कर है। इसी प्रकार सीमा शुल्कों उत्पादन करों स्टाम्प शुल्कों आदि का भार अमीरों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है। विगत कुछ वर्षों म बिक्री-कर तथा वनस्पति चाय तम्बाकू सुपारी एव बीडियां पर लगने वाले उत्पादन करो से भारतीय कर प्रणाली के अवरोहीपन म और अधिक वृद्धि हुई है।

(5) भारतीय कर प्रणाली परम्परागत (traditional) और अनुदार (conservative) है। इसम मालगुजारी एव उत्पादन कर जैसे अवरोही कर आज भी विद्यमान ह जबकि सभी दिशाओ स उनकी आलोचना की गयी है। आस्ति-कर उपहार कर एव सम्पत्ति कर जैसे प्रगतिशील कर हाल ही के कुछ वर्षो म लागू किय गय है।

(6) सघीय सरकार राज्य सरकारो एव स्थानीय निकायो (local bodies) के बीच आय साधनो का बँटवारा अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। जैसा हम ऊपर कह चुके है राज्य सरकारो के दायित्वो म निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है किन्तु इन दायित्वो को निभाने हेतु उन्हे आय के जो साधन सौपे गये ह व न केवल अपर्याप्त बल्कि बेलोचदार भी ह इसी प्रकार स्थानीय निकायो को भी सौप गये आय के साधन अत्यन्त अपर्याप्त एव लोचदार ह यद्यपि उनके कार्यों म निरन्तर वृद्धि होती चली जा रही है। साधनो की इस अपर्याप्तता के ही कारण स्थानीय निकाय अपने उत्तरदायित्व को उचित ढग से निभाने म असमर्थ रहते है।

(7) भारतीय कर प्रणाली म कुशलता का भी अभाव ह। विशेषकर सरकार के कर प्रशासन म कई प्रकार की त्रुटियां पायी जाती ह। यही कारण है कि भारत म बड़े पैमाने पर कर अपवचन (tax evasion) किया जा रहा ह। प्रो० काल्डर (Kaldor) के अनुमान के अनुसार इस अपवचन की वार्षिक मात्रा 200 स 300 करोड़ रुपय तक की है।

विगत कुछ वर्षों म व्यवसायी एव उद्योगपति वर्गों द्वारा नय करो की तीव्र आलोचना की गयी है। उन्होंने सरकार की नव कर नीति के विरुद्ध निम्नलिखित आरोप लगाय ह

(1) नये करो ने निजी क्षेत्र (Private Sector) म पूजी सचय तथा आर्थिक विकास की गति को धीमा कर दिया है जिसम व्यवसायियो एव उद्योगपतियो पर इनका प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा ह।

(2) नय करो स प्राप्त होने वाली आय लगभग नगण्य है जबकि इसको एकत्रित करने की लागत अपेक्षाकृत अधिक है। अत इस दृष्टिकोण से नये कर कोई अच्छे कर सिद्ध नही हुए है।

(3) कराधान ने समता उद्देश्य पर आवश्यकता स अधिक बल दिया जा रहा है। यद्यपि सम्पत्ति एव आय के वितरण म समानता का होना वाछनीय ही प्रतीत होता है तथापि सामाजिक न्याय की इस इच्छा को समुचित सीमाओ के भीतर ही रखा जाना चाहिए क्योकि समता पर अत्यधिक जोर देने से आर्थिक विकास की तीव्र गति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) विगत कुछ वर्षो म कराधान के अत्यधिक ऊँचे स्तर के कारण विदेशी पूजी का प्रवाह हतोत्साहित हुआ है। इसका कारण यह है कि ऊँचे करो के परिणामस्वरूप विदेशी पूजी पर कमाय जाने वाले लाभ म ह्रास हुआ है।

(5) भारत म कराधान देश के दीर्घकालीन आर्थिक विकास को समुन्नत करने मे सहायक सिद्ध नही हुआ है। सरकार की कराधान नीतियो म समन्वय का अभाव है और न ही सरकार ने अपने आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति हेतु किसी समुचित दीर्घकालीन कराधान नीति का अनुसरण ही किया है। सरकार द्वारा बिना किसी पूर्व निर्धारित योजना के ही कर लगाये जाते है।

सुधार के सुझाव—वर्तमान कर प्रणाली के दोषो एव त्रुटियो को दूर करने हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किय गये है

(1) मालगुजारी सिचाई कर आवश्यक वस्तुओ पर लगे उत्पादन कर तथा बिक्री-कर आदि अवरोही करो म सशोधन किया जाना चाहिए। विलासिताओ पर अधिक ऊची दरो पर कर लगाने चाहिए ताकि कर प्रणाली के वर्तमान अवरोही स्वरूप मे कमी की जा सके।

(2) वर्तमान कर प्रणाली म प्रत्यक्ष करो पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। विगत कुछ

वर्षों मे लगाये गये नये कर (जैसे आस्ति-कर सम्पत्ति कर व्यय कर उपहार कर एवं कृषि आयकर) वास्तव म उचित ही है। इनके अतिरिक्त अप्रत्याशित सम्पत्तियो की प्राप्ति पर भी प्रगतिशील दरा पर कर लगाये जाने चाहिए।

(3) कर-अपवचन स होने वाली वतमान क्षति को कडाइ क साथ रोकना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर प्रशासन प्रणाली का सुदृढ बनाना नितान्त आवश्यक है।

(4) अधिक आय प्राप्ति के लिए विभिन्न करो के क्षेत्रो का विस्तत किया जाना चाहिए।

(5) अन्तरिम काल म सावजनिक व्यय म परिवतन करके कर प्रणाली की त्रुटियो को दूर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दो म नागरिक प्रशासन पर होन वाले व्यय मे कमी करके *सामाजिक एव विकासात्मक सेवाओ पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए।*

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सक्षिप्त सकेत

1 भारत मे राज्य सरकारो की आय के मुख्य स्रोतो एव व्यय की मुख्य मदो की विवेचना कीजिए। (आगरा 1965)

अथवा

भारत मे राज्य सरकारो के बजटो की मुख्य विशेषताए बताइए। (राजस्थान 1967)

[सकेत—प्रथम भाग म राज्य सरकारो की आय के मुख्य स्रोतो की चर्चा कीजिए और दूसरे भाग म उनके व्यय की मुख्य मदो का वणन कीजिए। आय एव व्यय की मुख्य मदो की विवेचना करते समय नवीनतम आकडे भी प्रस्तुत कीजिए]

2 राज्यीय वित्त मे होने वाली हाल की प्रवत्तियो की चर्चा कीजिए। (जबलपुर 1962)

[सकेत—यहा पर राज्यीय वित्त की महत्वपूर्ण प्रवत्तियो की चर्चा कीजिए और सक्षेप म यह भी बताइए कि राज्यीय वित्त की मुख्य त्रुटियो को कैसे दूर किया जा सकता है।]

3 यहा पर कर प्रणाली के मुख्य दोष क्या-क्या हैं और उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है? (पजाब 1965)

[सकेत प्रथम भाग म भारतीय कर प्रणाली की मुख्य त्रुटियो की विवेचना कीजिए और दूसरे भाग म सक्षेप मे यह बताइए कि उन्हे कम दूर किया जा सकता है।]

51

स्थानीय वित्त

(Local Finance)

स्थानीय वित्त का अर्थ

स्थानीय वित्त से अभिप्राय स्थानीय निकायों के वित्त से है। जैसा कि विदित है, भारत में इस समय चार प्रकार के स्थानीय निकाय (Local Bodies) हैं—ग्राम पंचायत, जिला परिषद, नगरपालिकाएं तथा नगर निगम। स्थानीय वित्त से अभिप्राय इन संस्थानों के वित्त से है। वास्तव में, ये स्थानीय संस्थाएं देश की प्रशासन प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती हैं। कुछ कार्य ऐसे हैं जो केवल स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही सम्पन्न किये जा सकते हैं, जैसे सड़कों का निर्माण एवं मरम्मत, जल और बिजली की पूर्ति, सफाई एवं चिकित्सा तथा प्रारम्भिक शिक्षा आदि। राज्य सरकारों की अपेक्षा स्थानीय संस्थाएं इन कार्यों को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पन्न कर सकती हैं।

ग्राम पंचायत—इस समय भारत के सभी राज्यों में ग्राम पंचायत बन चुकी हैं। भारत में ग्राम पंचायतों की कुल संख्या 2,12,398 है और देश की कुल ग्रामीण संख्या का 99 प्रतिशत भाग इनके अन्तर्गत आता है। प्रायः प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम पंचायत होती है परन्तु कभी-कभी छोटे गांवों को पास के बड़े गांव से मिलाकर एक ही ग्राम पंचायत के अन्तर्गत रखा जाता है। ग्राम पंचायतें विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न करती हैं। इनके मुख्य कार्य पंचायतघरों का निर्माण करना, गांव के पानी की व्यवस्था करना, गांव में सड़कों तथा नालियों का निर्माण करना, रोशनी की व्यवस्था करना, प्राइमरी स्कूल एवं डिस्पेंसरियों का निर्माण करना तथा जन्म और मृत्यु दर के आंकड़ों को एकत्रित करना, कृषि एवं ग्रामीण उद्योगों की देखभाल करना है। इन कार्यों को सम्पन्न करने हेतु पंचायत घरों, भूमि मकानों, तथा वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाती है। उन्हें वस्तुओं पर चुंगी-कर लगाने का भी अधिकार है। इसके अलावा ग्राम पंचायतों को कुछ अदालती एवं पुलिस सम्बन्धी अधिकार भी दिये गये हैं।

जिला परिषद—प्रत्येक जिले में जिला परिषद संगठित किया गया है। इसके द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले मुख्य-मुख्य कार्य इस प्रकार हैं—(क) जिले की सड़कों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत, (ख) मनुष्यों तथा पशुओं के लिए जल पूर्ति की व्यवस्था करना, (ग) सिंचाई का प्रबन्ध करना, (घ) अस्पतालों एवं चिकित्सालयों आदि की स्थापना करना और उनकी देखभाल करना, (ङ) वृक्षों का लगाना, (च) सफाई की व्यवस्था तथा बीमारियों की रोकथाम करना, (छ) प्राइमरी स्कूलों एवं पुस्तकालयों की स्थापना करना तथा उनका प्रबन्ध करना।

नगरपालिकाएं (Municipalities)—प्रत्येक नगर में एक नगरपालिका होती है। इसके कार्य भी लगभग वही होते हैं जो जिला परिषद के होते हैं। नगरपालिका के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—(क) सड़कों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करना, (ख) सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था करना, (ग) नगर में सफाई की व्यवस्था करना, (घ) नगर में जल पूर्ति एवं बिजली पूर्ति की व्यवस्था करना, (ङ) अस्पतालों एवं डिस्पेंसरियों का निर्माण तथा उनकी देखभाल करना

(च) प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करना (छ) नालियों का निर्माण करना (ज) उद्यानों एवं कार्यों की व्यवस्था करना (झ) मेलों तथा प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

नगर निगम (Municipal Corporations)—बड़े बड़े शहरों में नगरपालिकाओं के स्थान पर निगम संगठित किये गये हैं। इनके कार्य नगरपालिकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत होते हैं। यह नगरपालिकाओं की अपेक्षा सरकारी नियन्त्रण से भी अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता होती है। नगरपालिकाओं की तुलना में इनको अधिक विस्तृत करारोपण सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं। जहाँ तक साधारण कार्यों का सम्बन्ध है, नगर निगमों के कार्य लगभग वही हैं जो नगरपालिकाओं द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

स्थानीय संस्थाओं की वित्त व्यवस्था

स्थानीय संस्थाओं के साधनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) आय के कर स्रोत (Tax Sources of Revenue) (ख) आय के गैर-कर स्रोत (Non Tax Sources of Revenue)। स्थानीय संस्थाओं के कर स्रोतों को आगे चलकर दो उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाये गये कर (आ) राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये तथा एकत्रित किये गये करों में से स्थानीय संस्थाओं को प्राप्त होने वाला हिस्सा। इसी प्रकार गैर कर स्रोतों को भी तीन उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) राज्य सरकार से उपलब्ध होने वाले सहायक अनुदान (आ) ऋण तथा उपदान (Subsidies) (इ) अन्य साधन। अब हम स्थानीय संस्थाओं के मुख्य वित्तीय साधनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

(1) **कराधान (Taxation)**—स्थानीय संस्थाओं द्वारा कई प्रकार के कर लगाये जाते हैं (अ) ग्राम पंचायतों द्वारा विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न प्रकार के कर लगाये जाते हैं किंतु सम्पत्ति कर (Property Tax) लगभग सभी राज्यों में ग्राम पंचायतों द्वारा लगाया जाता है। बहुत से राज्यों में पंचायतों को सेवा कर (Service Tax) मालगुजारी पर अधिभार (Surcharge on Land Revenue) विभिन्न पेशों तथा आजीविकाओं पर कर पशुओं एवं गाड़ियों पर कर लगाने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्यों में पंचायतें चुंगी, यात्रीकर, माल की बिक्री पर कर, मेला तथा प्रदर्शनियों पर कर तथा विवाहों पर भी कर लगा सकती हैं। किन्तु ऐसा करने के लिए उन्हें राज्य सरकारों से पूर्व स्वीकृति लेनी पड़ती है। (आ) ग्राम पंचायतों की भाँति जिला परिषदों को भी कर लगाने के अधिकार दिये गये हैं यद्यपि ये अधिकार इतने व्यापक नहीं हैं जितने कि ग्राम पंचायतों के हैं। जिला परिषदों द्वारा लगाया जाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण कर भूमि उपकर (Land Cess) है। इसके अतिरिक्त जिला परिषदें सम्पत्ति हस्तान्तरण कर, सम्पत्ति कर वृत्ति कर आदि भी लगा सकती हैं। जैसा कि स्पष्ट ही है, जिला परिषदों द्वारा लगाये जाने वाले अधिकांश कर ग्राम स्थिर एवं बेलोचदार ही हैं। (इ) *नगरपालिकाओं को भी कर लगाने के अधिकार* दिये गये हैं। नगरपालिकाएँ भवनों तथा भूमि पर कर, सेवा कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, वृत्तिकर (Profession Tax) सम्पत्ति कर, चुंगी तथा सीमान्त कर, पशुओं तथा गाड़ियों पर कर, आदि लगा सकती हैं। किन्तु नगरपालिकाओं की आय के प्रमुख साधन चुंगी तथा सीमान्त कर (Octroi and Terminal Tax) ही हैं यद्यपि सम्पत्ति कर भी इनकी आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। (ई) नगरपालिकाओं की भाँति नगर निगम भी कई प्रकार के कर लगा सकते हैं। नगर निगमों द्वारा लगाये जाने वाले कर लगभग वही होते हैं जो नगरपालिकाओं द्वारा लगाये जाते हैं किन्तु नगर निगमों को इस प्रकार के कर लगाने का नगरपालिकाओं की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता होती है।

(2) **करों के हिस्सों का वितरण**—कुछ कर ऐसे हैं जो *राज्य सरकारों द्वारा लगाये* तथा एकत्रित किये जाते हैं। परन्तु उनकी आय का कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं में वितरित कर दिया जाता है। प्रायः सभी राज्यों में मोटर वाहन कर (Motor Vehicle Tax) की आय का एक निश्चित भाग स्थानीय संस्थाओं में बाँट दिया जाता है। इसी प्रकार कुछ राज्यों में मालगुजारी से होने वाली आय का निश्चित भाग ग्राम पंचायतों तथा जिला परिषदों में वितरित कर दिया जाता है। कुछ राज्यों में मनोरंजन कर (Entertainment Tax) का कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं में वितरित कर दिया जाता है। करारोपण जाँच आयोग की सिफारिशों के अनुसार मालगुजारी

का कम से कम 15 प्रतिशत भाग ग्राम पचायतो मे अवश्य ही वितरित कर दिया जाना चाहिए

(3) स्थानीय संस्थाओ को मिलने वाले सहायक अनुदान—सभी राज्यो मे स्थानीय सस्थाओ को राज्य सरकारो की ओर से सहायक अनुदान दिये जाते है, किन्तु ये अनुदान इन सस्थाओ की आय का कोई महत्त्वपूर्ण स्रोत नही है। ये सहायक अनुदान दो प्रकार के होते हैं—सामान्य अनुदान (General Grants) तथा विशिष्ट अनुदान (Specific Grants)। सामान्य अनुदान वे होते है जो स्थानीय सस्थाओ को सामान्य उद्देश्यो के लिए दिये जाते है। इसके विपरीत, विशिष्ट अनुदान वे होते है जो स्थानीय सस्थाओ को कुछ विशिष्ट व्ययो की पूर्ति के लिए दिये जाते हैं। वास्तव मे सहायक अनुदानो का स्थानीय सस्थाओ के लिए बडा महत्त्व है—प्रथम, इन अनुदानो से स्थानीय सस्थाओ की वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने मे सहायता मिलती है। दूसरे, सहायक अनुदानो के माध्यम से राज्य सरकार स्थानीय सस्थाओ द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कार्यों म एकरूपता स्थापित कर सकती है।

(4) ऋण एव उपदान (Loans and Subsidies)—नगरपालिकाओ तथा नगर निगमो को सडक निर्माण नालियो की व्यवस्था गन्दी बस्तियो की सफाई तथा जल एव विद्युत-पूर्ति आदि अनेक योजनाओ के लिए ऋण लेने पडते है। चूँकि इन सस्थाओ की साख अधिक ऊँची नही होती इसलिए उन्हे मुद्रा बाजार मे ऋण लेने म कठिनाई होती है। अत करारोपण जाँच आयोग ने यह सुझाव दिया था कि राज्य सरकारो का नगरपालिकाओ तथा नगर निगमो द्वारा लिये जाने वाले ऋणो की गारन्टी चाहिए। यदि फिर भी ये ऋण अपर्याप्त हो तो राज्य सरकारो को सस्ती ब्याज-दरो पर अपनी ओर से इन्हे ऋण देना चाहिए। कुछ विशेष परियोजनाओ के लिए तो राज्य सरकारो को उपदान (Subsidies) भी देने चाहिए।

(5) आय के गैर-कर स्रोत—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, स्थानीय सस्थाओ की आय के कुछ गैर-कर स्रोत भी है, यद्यपि वे उतने महत्त्वपूर्ण नही है जितने कि उनकी आय के कर स्रोत। बडे-बडे नगरो मे कुछ नगरपालिकाएँ एव नगर निगम नगरवासियो के लिए बिजली, पानी तथा मोटर-परिवहन आदि की व्यवस्था भी करते है। इन उद्योगो से भी उन्हे आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त नगरपालिकाओ को भवनो एव भूमि के किरायो से भी आमदनी प्राप्त होती है। ग्राम पंचायतें तथा जिला परिषदें, मेलो एव प्रदर्शनियो मे दुकानो तथा स्टालो को किराये पर देकर भी कुछ आय प्राप्त करती है।

कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानीय कर—ये निम्नलिखित है

(1) सम्पत्ति कर (Property Tax)—स्थानीय करो मे सम्पत्ति कर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पत्ति कर मुख्यत चार प्रकार के होते हैं—(क) मकानो पर कर, (ख) सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, (ग) भूमि पर उपकर (घ) सुधार कर (Betterment Levy)। मकानो पर लगाये जाने वाले सम्पत्ति कर के भी दो मुख्य रूप होते है— सामान्य कर तथा सेवा कर (Service Tax) सामान्य सम्पत्ति कर से अभिप्राय उस कर से है जो सम्पत्ति के वार्षिक किराया मूल्य (annual rental value) पर लगाया जाता है। इसके विपरीत, सेवा कर वह कर है जो जल-पूर्ति, सडको की सफाई एव शिक्षा आदि के लिए नागरिको पर लगाया जाता हैं। सेवा कर भी सम्पत्ति के वार्षिक किराया मूल्य पर ही लगाया जाता है। सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी कर नगरपालिकाओ द्वारा लगाये जाते है। कुछ राज्यो मे जिला परिषदो तथा ग्राम पचायतो को भी सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। भूमि उपकर (Land Cess) जिला परिषदो द्वारा लगाया जाता है और यह इनकी आय का प्रमुख साधन है। वास्तव मे, भूमि उपकर मालगुजारी पर एक प्रकार का अधिभार होता है। राज्य सरकारें इसे किसानो से मालगुजारी के साथ ही एकत्रित करती है। परन्तु बाद में इसे जिला परिषदो मे वितरित कर दिया जाता है। सुधार कर से अभिप्राय उस कर स है जो स्थानीय सस्थाओ द्वारा क्रियान्वित की गयी सुधार योजना के परिणामस्वरूप भूमि एव सम्पत्ति के मूल्यो मे होने वाली वृद्धि पर लगाया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी क्षेत्र मे सडक-निर्माण, जल-पूर्ति एव बिजली-पूर्ति की योजनाओ के परिणामस्वरूप सम्पत्ति के मूल्य मे वृद्धि हो जाती है तो ऐसी परिस्थिति मे उस क्षेत्र मे स्थित सम्पत्ति पर कर लगाने का नगरपालिका को पूर्ण अधिकार है, क्योकि इसकी सुधार योजनाओ के

फलस्वरूप ही उस क्षेत्र मे सम्पत्ति के मूल्यो मे वृद्धि हुई है। कराधान जाँच आयोग ने सिफारिश की थी कि स्थानीय संस्थाओ को अधिकाधिक मात्रा मे सुधार कर लगाकर अपनी आय मे वृद्धि करनी चाहिए।

(2) वृत्तियो एवं पेशो पर कर (Profession Tax)—कुछ राज्यो मे स्थानीय संस्थाओ का कुछ विशेष पेशो, वृत्तियो व्यापारो आदि मे सलग्न व्यक्तियो पर कर लगाने का अधिकार दिया गया है। यह कर विभिन्न वृत्तिया तथा पेशो पर विभिन्न दरो पर लगाया जाता है। किन्तु स्मरण रहे, यह कर स्थानीय संस्थाओ की आय का कोई महत्वपूर्ण साधन नही है।

(3) टोल टैक्स (Toll Tax)—कुछ राज्यो म नगरपालिकाएँ तथा जिला परिषदे लोगो से टोल टैक्स भी वसूल करती है। टोल टैक्स से अभिप्राय उस कर से है जो किसी विशेष क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले अथवा किन्ही सुविधाओ का लाभ उठाने वाले व्यक्तियो से वसूल किया जाता है। उदाहरणार्थ, पहाडी स्थानो को जाने वाले पर्यटको को टोल टैक्स चुकाना पडता है। इसी प्रकार कुछ विशेष सड़को एव पुलो का प्रयोग करने वाले व्यक्तियो, पशुओ तथा मोटर वाहनो पर भी टोल टैक्स लगाया जाता है। इस प्रकार की टोल टैक्स केवल उन्ही सार्वजनिक निर्माण-कार्यों पर लगाया जाता है जिनकी लागत 5 लाख रुपये से अधिक होती है, परन्तु आर्थिक दृष्टि से टोल टैक्स एक अच्छा कर नही है क्योकि इसका भार अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर अधिक पड़ता है। इसके अतिरिक्त टोल टैक्स परिवहन के प्रवाह मे भी बाधक सिद्ध होता है।

(4) पशुओ तथा गाडियो पर कर—कुछ राज्यो म स्थानीय संस्थाओ को पशुओ एव मोटर वाहनो पर भी कर लगाने का अधिकार दिया गया है किन्तु अधिकाश राज्यों म मोटर वाहन कर राज्य सरकारो द्वारा एकत्रित किया जाता है यद्यपि इसकी आय का एक निश्चित भाग स्थानीय संस्थाओ को दे दिया जाता है।

(5) चुंगी एव सीमान्त कर (Octroi and Terminal Tax)—कुछ राज्यों मे चुगी तथा सीमान्त कर नगरपालिकाओ तथा नगर निगमो की आय का महत्त्वपूर्ण भाग है। चुगी कर से अभिप्राय उस कर से है जो किसी स्थानीय क्षेत्र मे आयात किये गये पदार्थो पर लगाया जाता है। इसके विपरीत, सीमान्त कर वह कर होता है जो किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र म आने वाले यात्रियो पर लगाया जाता है। वास्तव म आर्थिक दृष्टि से चुगी एव सीमान्त कर दोनो ही अच्छे कर नही हैं क्योकि इनका भार अमीरो की अपेक्षा गरीबो पर अधिक पडता है। इसके अतिरिक्त, कुछ तीर्थस्थानो पर आने वाले यात्रियो पर तीर्थयात्री कर (Pilgrim Tax) भी लगाया जाता है।

स्थानीय संस्थाओ की वित्त समस्या

जैसा हम पूर्व कह चुके है, स्थानीय संस्थाओ को कई प्रकार के कार्य सौपे गये है किन्तु, दुर्भाग्यवश, इन कार्यो की भलीभाँति सम्पन्न करने हेतु उन्हे आय के पर्याप्त एव लोचदार साधन नही दिये गये हैं। स्थानीय संस्थाओ को दिये गये वर्तमान आय के साधन न केवल अपर्याप्त बल्कि बेलोचदार भी हैं। परिणामत स्थानीय संस्थाएँ अपने कार्यो को भलीभाँति सम्पन्न नही कर पाती। उन्हे आर्थिक साधनो के लिए राज्य सरकारो के अनुदानो पर निर्भर रहना पडता है। दुर्भाग्यवश ये अनुदान न केवल अनिश्चित बल्कि अपर्याप्त भी होते है। इसके अलावा, राज्य सरकारो को स्थानीय संस्थाओ के कार्यक्षेत्र मे अनावश्यक हस्तक्षेप करने का भी अवसर मिल जाता है। इसके विपरीत, विदेशो में स्थानीय संस्थाओ की वित्तीय स्थिति बहुत ही अच्छी है। उन्हे आय के महत्वपूर्ण एव लोचदार साधन प्रदान किये गये है। यही कारण है कि विदेशो म स्थानीय संस्थाओ का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है। इसके अतिरिक्त, विदेशो की स्थानीय संस्थाएँ अपने कार्यो को भी अधिक अच्छे ढग से सम्पन्न करती है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भारत म स्थानीय संस्थाओ की मुख्य समस्या वास्तव मे वित्तीय साधनो की स्वल्पता है।

स्थानीय संस्थाओ की वर्तमान शोचनीय वित्त व्यवस्था के कारण

भारत में स्थानीय संस्थाओ की वर्तमान शोचनीय वित्त व्यवस्था के मुख्य कारण इस प्रकार है

(1) जैसा हम पूर्व कह चुके है आय के उत्पादक (productive) एव लोचदार साधन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने अपने लिये ही सुरक्षित रख छोडे है। स्थानीय सस्थाओ को केवल अनुत्पादक एव बेलोचदार साधन ही प्रदान किये गये है वास्तव मे, स्थानीय सस्थाओ की शोचनीय वित्त व्यवस्था का यही मुख्य कारण है।

(2) भारत म स्थानीय सस्थाओं ने अपने कराधान सम्बन्धी अधिकारो का पूर्ण उपयोग भी नही किया है। इसका कारण यह है कि इन सस्थाओ के निर्वाचित सदस्य जनता को अपने पक्ष मे रखने के उद्देश्य से करो की दरो एव सख्या मे वृद्धि करना पसन्द नही करते अर्थात् वे जनता पर अधिक कर लगाकर उसका विरोध मोल नही लेना चाहते।

(3) भारत मे नागरिको की करदान क्षमता भी सीमित ही है। परिणामत स्थानीय सस्थाओ के लिए अधिक कर लगाने की गुजाइश भी नही है।

(4) भारत की अधिकाश स्थानीय सस्थाओ मे उचित नियन्त्रण एव निरीक्षण के अभाव के कारण धन का बहुत बडे पैमाने पर अपव्यय भी होता है। वास्तव मे यह भी इनकी वित्तीय कठिनाइयो का एक प्रमुख कारण है।

(5) स्थानीय सस्थाओ को राज्य सरकारो से मिलने वाले सहायक अनुदान न केवल अनिश्चित एव अनियोजित बल्कि अपर्याप्त भी होते है।

स्थानीय सस्थाओ की वित्तीय स्थिति को सुधारने के सुझाव

स्थानीय सस्थाओ की वित्तीय समस्याओ का अध्ययन दो सरकारी समितियो द्वारा किया गया है— **प्रथम** स्थानीय वित्त जाँच समिति (Local Finance Enquiry Committee) **दूसरे** कराधान जाँच आयोग (Taxation Enquiry Committee)। इन दोनो ही समितियो ने स्थानीय सस्थाओ की वित्तीय समस्याओ का गहन अध्ययन करने के उपरान्त उन्हे सुलझाने के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये है। स्थानीय वित्त जाँच समिति (सन 1951) द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं

(1) भारत सरकार को रेलमार्ग समुद्रीमार्ग तथा वायुमार्ग के यात्रियो पर सीमान्त कर (*Terminal Tax*) *लगाकर उससे प्राप्त होने वाली आय को स्थानीय सस्थाओ मे वितरित कर* देना चाहिए।

(2) राज्य सरकारो को भूमि उपकर बिजली विक्रय कर मनोरजन कर आदि से प्राप्त होने वाली आय को स्थानीय सस्थाओ मे बाँट देना चाहिए।

(3) राज्य सरकारो को मोटर वाहन कर से प्राप्त होने वाली आय का कुछ भाग स्थानीय सस्थाओ को दे देना चाहिए।

(4) चूँकि स्थानीय सस्थाएँ केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति पर स्थानीय कर नही लगा सकती है अत इसके बदले मे केन्द्रीय सरकार को क्षतिपूर्ति के रूप मे कुछ राशि स्थानीय सस्थाओ को देनी चाहिए।

(५) स्थानीय सस्थाओ को अपने कराधान सम्बन्धी अधिकारो का समुचित एव पूर्ण उपयोग करके अपनी आय मे वृद्धि करनी चाहिए।

कराधान जाँच आयोग (सन 1954) ने स्थानीय सस्थाओ की आय मे वृद्धि करने हेतु *निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये थे*

(1) राज्य सरकारो को अपने करो से उपलब्ध होने वाली आय का एक निश्चित भाग स्थानीय सस्थाओ मे वितरित करना चाहिए।

(2) राज्य सरकारो को जल पूर्ति, बिजली पूर्ति, गन्दी बस्तियो की सफाई, सडक निर्माण तथा मोटर परिवहन आदि के लिए स्थानीय सस्थाओ को ब्याज की सस्ती दरो पर ऋण प्रदान करने चाहिए। इस प्रकार के उद्योगो से स्थानीय सस्थाओ को आय के नये साधन उपलब्ध हो सकेंगे।

(3) *नगरपालिकाओ एव नगर निगमो को* विज्ञापन कर (Advertisement Tax) लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(4) स्थानीय संस्थाओं को विवाहों के रजिस्ट्रेशन पर कर लगाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

(5) राज्य सरकारों को मनोरंजन कर से उपलब्ध होने वाली आय का कुछ भाग स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिए।

(6) राज्य सरकारों को मोटर वाहन कर से उपलब्ध होने वाली आय का 25 प्रतिशत भाग नगरपालिकाओं, नगर निगमों तथा जिला परिषदों में बाँट देना चाहिए।

(7) राज्य सरकारों को सहायक अनुदान देते समय स्थानीय संस्थाओं के सापेक्षिक क्षेत्र, जनसंख्या के आकार तथा वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। राज्य सरकारों को सामान्य अनुदानों के अलावा विशिष्ट उद्देश्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

(8) पंचायतों की स्थापना के बाद कुछ वर्षों तक उन्हें राज्य सरकारों से उदार सहायक अनुदान मिलने चाहिए। इसके अलावा, पंचायतों को आरम्भ में केवल कुछ चुने हुए और स्पष्ट कार्य ही दिये जाने चाहिए, ताकि वे उन्हें भलीभाँति सम्पन्न कर सकें।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **भारत में स्थानीय वित्त की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। दोषों का संकेत करते हुए सुधारों के सुझाव दीजिए।** (आगरा, 1959)

   [संकेत—प्रथम भाग में, ग्राम पंचायतों, जिला परिषदों, नगरपालिकाओं तथा नगर निगमों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन कीजिए और बताइए कि ये संस्थाएँ अपने व्यय की पूर्ति आय के किन-किन साधनों द्वारा करती हैं अर्थात संस्थाओं की आय के मुख्य साधनों की विस्तृत चर्चा कीजिए। दूसरे भाग में, इन संस्थाओं की शोचनीय वित्त-व्यवस्था के मुख्य कारणों की चर्चा करते हुए बताइए कि इन्हें कैसे दूर किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में स्थानीय वित्त जाँच समिति तथा कराधान जाँच आयोग की मुख्य सिफारिशों की चर्चा कीजिए।]

2. **भारत में स्थानीय वित्त के कौन-कौन से स्रोत हैं? उन्हें किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है?** (आगरा 1967)

   [**संकेत**—प्रथम भाग में स्थानीय संस्थाओं (local bodies) के कर एवं गैर-कर साधनों की चर्चा कीजिए। दूसरे भाग में स्थानीय वित्त के स्रोतों को बढ़ाने के जो सुझाव स्थानीय वित्त जाँच समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये थे उनका विवरण दीजिए।]

52

भारत का सार्वजनिक ऋण

(India's Public Debt)

प्रस्तावना भारतीय संविधान के अन्तर्गत संसद की अनुमति से भारत सरकार समय समय पर अपनी आवश्यकतानुसार लोगो से ऋण ले सकती है। इस प्रकार के ऋण भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India) की जमानत (Security) के आधार पर लिये जाते है। इसी प्रकार विधानमण्डलो की पूर्व अनुमति से राज्य सरकार भी लोगो से अपनी आवश्यकतानुसार ऋण ले सकती है। यदि किसी राज्य सरकार को भारत सरकार का कोई ऋण वापस करना बाकी है तो ऐसी परिस्थिति मे राज्य सरकार भारत सरकार की पूर्व अनुमति के बिना लोगो से नया ऋण नही ले सकती।

भारत के सार्वजनिक ऋण का इतिहास

भारत के सार्वजनिक ऋण का इतिहास काफी लम्बा है। सर्वप्रथम ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लोगो से ऋण लिये थे क्योंकि 18वी शताब्दी मे इस कम्पनी को फ्रांसीसी तथा डच कम्पनियो से अपनी स्थिति सुदृढ करने हेतु युद्ध करना पडा था। अतः उस समय सार्वजनिक ऋण मुख्यत युद्ध लडने के उद्देश्य से ही लिया गया था। परन्तु 19वी शताब्दी के मध्य मे ब्रिटिश सरकार ने नहरो तथा रेलो का निर्माण करने के लिए बडे पैमाने पर लोगो से ऋण लेने आरम्भ कर दिये थे। 19वी शताब्दी के अन्त मे भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण 271 करोड रुपये था। 20वी शताब्दी के आरम्भ मे भारत सरकार ने निर्माण कार्यो के लिए और भी अधिक बडे पैमाने पर लोगो से ऋण लिया था। इसके उपरान्त सन 1914 मे प्रथम विश्व युद्ध छिड जाने के कारण भारत सरकार को और भी अधिक बडे पैमाने पर ऋण लेना पडा था। सन 1929 मे विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के कारण भारत सरकार के बजट मे घाटा उत्पन्न हो गया था और इस घाटे की पूर्ति भारत सरकार ने लोगो से ऋण लेकर की थी। परिणामत भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण सन 1934 मे 1224 करोड रुपये हो गया था। इसके बाद सन 1939 मे दूसरा विश्व युद्ध छिड गया। इसके परिणामस्वरूप भारत सरकार के सार्वजनिक ऋण मे और भी अधिक तेजी से वृद्धि हुई थी। सन 1944 मे भारत सरकार का कुल ऋण लगभग 1860 करोड रुपये हो गया था। इसमे से लगभग 35 करोड रुपये विदेशी ऋण अर्थात स्टर्लिंग ऋण (Sterling Debt) और शेष 1825 करोड रुपये आन्तरिक तथा रुपया ऋण (Rupee Debt) थे। युद्धकाल मे भारत के सार्वजनिक ऋण की संरचना (Composition) मे एक महान परिवर्तन हुआ था। युद्ध से पूर्व भारत के सार्वजनिक ऋण मे विदेशी ऋण का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता था किन्तु युद्ध के उपरान्त विदेशी ऋण का महत्व कम हो गया। सन 1947 मे विभाजन के परिणामस्वरूप भारत सरकार की सम्पत्तियो (Assets) एव देनदारियो (Liabilities) का भी भारत और पाकिस्तान के बीच बँटवारा किया गया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 12 दिसम्बर 1947 को भारत और पाकिस्तान के बीच एक वित्तीय समझौता हुआ था। इस समझौते के अन्तर्गत भारत सरकार ने विभाजन से पूर्व समूचे सार्वजनिक ऋण को चुकाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया था और पाकिस्तान सरकार ने अपने हिस्से के ऋणो का 300 करोड रुपया भारत

सरकार को 3 प्रतिशत ब्याज की दर पर 50 वार्षिक किश्तो मे देने का इकरार किया था। इन किश्तो का भुगतान सन् 1952 से प्रारम्भ होना तय किया गया था।

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक ऋण का लक्ष्य 520 करोड रुपये निश्चित किया गया था। इनमे से 115 करोड रुपये बाजार ऋणो (Market loans) से, 270 करोड रुपये अल्प बचतो (Small Savings) से तथा 135 करोड रुपये अन्य स्रोतो से प्राप्त करने की योजना बनायी गई थी, परन्तु प्रथम योजनाकाल मे सरकार लोगो से केवल 360 करोड रुपये ही आन्तरिक ऋण के रूप मे प्राप्त कर सकी थी। इनमे से 60 करोड रुपये बाजार ऋणो से, 242 करोड रुपये अल्प बचतो से तथा 58 करोड रुपये अन्य स्रोतो से प्राप्त किये गये थे। दूसरी पचवर्षीय योजना मे 1200 करोड रुपये आन्तरिक ऋण के रूप मे प्राप्त करने का लक्ष्य निश्चित किया गया था। इसमे से 700 करोड रुपये बाजार ऋणो से तथा 500 करोड रुपये अल्प बचतो से प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इसी प्रकार 800 करोड रुपये विदेशी ऋणो तथा अनुदानो से प्राप्त करने का लक्ष्य निश्चित किया गया था। परन्तु, वास्तव मे, दूसरी पचवर्षीय योजना की अवधि मे 780 करोड रुपये बाजार ऋणो से, 400 करोड रुपये अल्प बचतो से तथा 1,090 करोड रुपये विदेशी ऋणो तथा अनुदानो से प्राप्त किये गये थे। तीसरी पचवर्षीय योजना मे 600 करोड रुपये बाजार ऋणो से, 600 करोड रुपये अल्प बचतो से तथा 2,200 करोड रुपये विदेशी ऋणो तथा अनुदानो के रूप मे प्राप्त करने का लक्ष्य निश्चित किया गया था। लेकिन तीसरी योजना की अवधि मे सरकार ने बाजार ऋणो के लक्ष्य को न केवल पूरा ही कर लिया बल्कि उससे थोडा आगे भी बढ गयी। सरकार ने जनता से 915 करोड रुपये के बाजार ऋण प्राप्त किये जबकि लक्ष्य 800 करोड रुपये का ही था। इसी प्रकार विदेशी सहायता भी सरकार को निर्धारित लक्ष्य से अधिक प्राप्त हुई थी। योजना की अवधि मे सरकार को लगभग 2455 करोड रुपये की विदेशी सहायता प्राप्त हुई जबकि लक्ष्य 2200 करोड रु० का था। लेकिन सरकार अल्प बचतो के लक्ष्य की पूर्ति न कर सकी। अल्प बचतो के रूप मे सरकार को 585 करोड रुपये ही उपलब्ध हुए जबकि निर्धारित लक्ष्य 600 करोड रुपये का था।

चौथी पचवर्षीय योजना मे निर्धारित किये गये लक्ष्य इस प्रकार थे—बाजार ऋण 1415 करोड रु०, अल्प बचतें 769 करोड रु०, विदेशी सहायता 2614 करोड रु०।

भारत सरकार के ऋण की संरचना (Composition of the Debt of the Govt of India)—भारत सरकार के ऋण की संरचना को पृष्ठ 720 की सारिणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है भारत सरकार का ऋण दो प्रकार का है आन्तरिक तथा बाह्य—आन्तरिक ऋण को चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(i) चालू बाजार ऋण, (ii) अन्य, (iii) कोषागार विपत्र, (iv) विशेष चल ऋण। चालू बाजार ऋणो (Current Market Loans) से अभिप्राय उन ऋणो से है जो भारत सरकार ने प्रत्यक्षत देश के मुद्रा बाजार से प्राप्त किये है। अन्य ऋणो के अन्तर्गत Prize Bonds, Premium Prize Bonds Banks Compensation Bonds तथा मृत ऋणो (Expired loans) की शेष राशियो को सम्मिलित किया गया है। कोषागार विपत्र (Treasury Bills)—ये उस ऋण को व्यक्त करते है जो भारत सरकार द्वारा देश के भीतर बैंको आदि से अल्पकाल के लिए प्राप्त किया जाता है। कोषागार विपत्र प्राय 90 दिन मे परिपक्व हो जाते है। सरकार को उनका मूलधन ब्याज सहित लौटाना पडता है। इस प्रकार कोषागार विपत्र अल्पकालीन ऋण ही होते है। विशेष चल ऋण (Special Floating Loans) कतिपय विशेष रुपया प्रतिभूतियो (Special Rupee Securities) मे निहित देयताओ (Liabilities) को व्यक्त करते हैं। ये विशेष रुपया प्रतिभूतियाँ भारत सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ को अपना अशदान अथवा चन्दा देने हेतु जारी की जाती है। 31 मार्च 1976 को इस प्रकार के ऋणो की कुल राशि 996 करोड रु० थी। इसी तिथि को भारत का कुल आन्तरिक ऋण 13, 349 करोड रु० था। इस प्रकार 1971-76 की अवधि मे भारत के आन्तरिक ऋण मे 5686 करोड रु० की वृद्धि हुई थी (देखिए पृष्ठ 720 पर सारणी)।

इसी प्रकार भारत सरकार के बाह्य (विदेशी) ऋण मे भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह ऋण सन् 1971 मे 6485 करोड रु० से बढकर सन् 1976 में 7102 करोड रु० हो गया था। इस विदेशी ऋण मे विभिन्न देशों के अशदान इस प्रकार थे—संयुक्त राज्य अमरीका 2079 करोड रु०,

ब्रिटेन 985 करोड रु०, पश्चिमी जर्मनी 505 करोड रु०, जापान 398 करोड रु०, सोवियत संघ 231 करोड रु०, कनाडा 228 करोड रु०, स्वीडन 58 करोड रु०, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Develoment Association), विश्व बैंक 193 करोड़ रु०, अन्य देश 325 करोड रु०। इस प्रकार 31 मार्च 1976 को भारत का कुल विदेशी ऋण 7102 करोड रु० के तुल्य था।

भारत के आन्तरिक एवं बाह्य ऋण का योगफल सार्वजनिक ऋण (Public Debt) कहलाता है। विगत कुछ वर्षों मे इसमे भारी वृद्धि हुई है। 31 मार्च, 1971 को भारत का कुल सार्वजनिक ऋण 14,148 करोड रु० था। 31 मार्च 1976 को यह बढकर 20,451 करोड रु० हो गया था। इस प्रकार पाँच वर्षों की अवधि मे इस ऋण मे 6303 करोड रु० की वृद्धि हो गयी थी।

अन्य देयताओ (Other Liabilities) को दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है।

(1) अकोषित ऋण (Unfunded Debt)

(2) रिजर्व कोष एवं जमाराशियाँ (Reserve Funds and Deposits)

अकोषित ऋण के अन्तर्गत सम्मिलित किये गये है

(क) अल्प बचते—भारत की अन्य देयताओ मे अल्प बचतो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अन्तर्गत पोस्ट ऑफिस सेविंग्स बैंक जमाराशियाँ, नेशनल डिफेन्स सर्टिफिकेट्स डिफेन्स डिपोजिट सर्टिफिकेट्स, राष्ट्रीय बचत सर्टिफिकेट्स इत्यादि सम्मिलित है। सन 1971-76 की अवधि मे अल्प बचतो मे उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 31 मार्च सन् 1971 को इनकी कुल राशि 2 209 करोड रुपये थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह बढकर 3903 करोड रु० हो गयी।

राज्य भविष्य निधियाँ (State Provident Funds) मे सार्वजनिक भविष्य निधि भी सम्मिलित है। ये निधियाँ भारत सरकार की देयताएँ है। इनमे पडा हुआ धन राज्य कर्मचारियो एवं अन्य कर्मचारियों का है। 31 मार्च, 1971 को इन निधियो की कुल राशि 841 करोड रुपये थी। 31 मार्च, 1976 को यह बढकर 1520 करोड रुपये हो गयी थी। PL 480 जमाराशियों का सन् 1974 से महत्व समाप्त हो गया है। अन्य अकोषित ऋणो मे भी वृद्धि हुई है।

सन् 1971-76 की अवधि मे भारत सरकार की कुल देयताओ मे भारी वृद्धि हुई है। 31 मार्च 1971 को ये देयताएँ 19 864 करोड रु० थी लेकिन 31 मार्च, 1976 को यह राशि बढकर 29,674 करोड रु० हो गयी थी। यदि इस अवधि मे से पाकिस्तान द्वारा देय ऋण अर्थात 300 करोड रु० को घटा दिया जाय तो भारत सरकार की विशुद्ध देयताएँ 29,374 करोड रु० रह जाती है।

भारत के सार्वजनिक ऋण के कम अनुपात के कारण

विदेशो की तुलना मे भारत का सार्वजनिक ऋण अपेक्षाकृत कम है। सन् 1976 मे भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण देश की राष्ट्रीय आय का लगभग 30 1 प्रतिशत ही था, जबकि ब्रिटिश सरकार का सार्वजनिक ऋण ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का 114 5 प्रतिशत था। अत स्पष्ट है कि भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण ब्रिटेन की तुलना मे अभी बहुत कम है। भारत के सार्वजनिक ऋण के अपेक्षाकृत कम होने के प्रमुख कारण इस प्रकार है

(1) चूँकि भारत की जनता पर करो का भार अपेक्षाकृत अधिक है, इसलिए उसके पास सरकार को ऋण देने के लिए पर्याप्त राशि नही बचती है।

(2) विगत कुछ वर्षों मे निरन्तर मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं तथा सेवाओ की कीमतो मे भारी वृद्धि हुई है। परिणामत लोगो की सरकार को ऋण देने की क्षमता का ह्रास हो गया है।

(3) विगत कुछ वर्षों मे कृषि-उपज की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय का पर्याप्त भाग गाँवो मे केन्द्रित हो गया है। गाँवो मे बचत-सुविधाओ के अभाव के कारण ग्रामीणो की बचतो का उचित उपयोग नही किया जा सका है।

सारणी

भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण एवं अन्य देयताएँ

(करोड़ रुपयों में)

मदें	31 मार्च 1971	31 मार्च 1972	31 मार्च 1973	31 मार्च 1974	31 मार्च 1975	31 मार्च 1976 (संशोधित अनुमान)	31 मार्च, 1977 (बजट अनुमान)
A सार्वजनिक ऋण (1+2)	14146	15163	17319	16973	18 790	20 451	22 221
					(31 3)	(33 0)	
1 आन्तरिक ऋण (i) से लेकर (iv)	7663	8332	10195	11104	12 371	13,349	16 294
(i) चालू बाजार ऋण / (ii) अन्य	4442	4840	5427	5590	6 574	6 965	7700
(iii) कोषागार विपत्र	2516	2765	4044	4384	5064	5 188	5556
(iv) विशेष चल ऋण	705	727	724	730	733	996	1038
2 बाह्य ऋण	6485	6831	7124	5869	6419	7 102	7927
B [illegible] देयताए (1+2)	5716	6259	6622	7297	7957	8 797	9647
					(13 2)	(14 2)	6336
1 अकोषित ऋण (क से घ तक)	3959	4235	4673	4595	4953	5,672	4293
(क) अल्प बचत	2209	2432	2802	3276	3552	3 903	1704
(ख) राज्य भविष्य निधियां	841	940	1024	1115	1301	1 520	
(ग) PL 480 जमाराशियां	678	645	627	—	—	—	—
(घ) अन्य अकोषित ऋण	231	218	220	204	100	249	339
2 रिजर्व कोष एवं जमाराशियाँ	1757	2024	1949	2702	3004	3125	3311
C कुल देयताएँ (A+B)	19864	21422	23941	24270	26,842	29,674	33,102
					(44 6)	(47 9)	
D पूर्व विभाजन ऋण में पाकिस्तान द्वारा देय भाग	300	300	300	300	300	300	300
E विशुद्ध देयताएँ	19564	21122	23641	23970	26,542	29,374	32,802

(Source Report on Currency and Finance, 1975-76 issued by the Reserve Bank of India), p 162

(4) विगत 30 वर्षो म सरकार द्वारा अपनायी गयी सुलभ द्रव्य नीति (Cheap Money Policy) के कारण लोगो को बचत के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन नही मिल सका है।

भारत के सार्वजनिक ऋण की विशेषताएँ
(Characteristics of India's Public Debt)

ये इस प्रकार है

(1) जैसा हम ऊपर कह चुके है अन्य देशो की तुलना म भारत के सार्वजनिक ऋण का आकार अपेक्षाकृत छोटा है।

(2) भारत सरकार का सार्वजनिक ऋण प्रतिवर्ष बढता जा रहा है। पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए भारत सरकार का प्रतिवर्ष अधिकाधिक मात्रा म ऋण लेना पड रहा है।

(3) भारत के सार्वजनिक ऋण म आन्तरिक एव बाह्य दोनो ही प्रकार के ऋण सम्मिलित है। दूसरे शब्दो म भारत सरकार न न केवल देशवासियो स बल्कि विदेशियो से भी ऋण प्राप्त किये है। पचवर्षीय योजनाओ के कारण विगत कुछ वर्षो म विदेशी ऋणो की मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

(4) सन 1947 से पूर्व भारत के सार्वजनिक ऋणो म स्टर्लिंग ऋणो का भारी महत्व हुआ करता था परन्तु सन 1947 के बाद भारत के सार्वजनिक ऋणो म डालर ऋणो का महत्व बढता जा रहा है।

(5) भारत के सार्वजनिक ऋणो म अल्प बचतो का महत्वपूर्ण स्थान है। अल्प बचतें नेशनल सेविग्स सर्टिफिकेटस एव पोस्ट आफिस सेविग बैंक के रूप म निम्न तथा मध्यम श्रेणी के लोगो स प्राप्त की जाती है।

(6) भारत का अधिकाश सार्वजनिक ऋण उत्पादक है। जैसा हम ऊपर कह चुके है भारत के सार्वजनिक ऋण का बहुत कम भाग अनुत्पादक उद्देश्यो के लिए लिया गया है। भारत का अधिकाश सार्वजनिक ऋण विभिन्न प्रकार की विकास योजनाओ के लिए लिया गया है। इस प्रकार भारत सरकार की सार्वजनिक ऋण स्थिति बहुत सुदृढ है।

राज्य सरकारो का ऋण (Debt of the State Governments)—राज्य सरकारो की ऋण स्थिति को निम्न सारणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है

जैसा आगे प्रस्तुत की गयी सारणी से स्पष्ट है राज्य सरकारो के ऋणो के तीन अग है—I) आन्तरिक ऋण II) केन्द्रीय सरकार स प्राप्त ऋण III) भविष्य निधियाँ।

राज्य सरकारो के आन्तरिक ऋण म तीन प्रकार के ऋण सम्मिलित है—(क) बाजार ऋण एव बाण्डस (Market Loans and Bonds) (ख) रिजर्व बैंक स प्राप्त अल्पकालीन ऋण (ग) बैंको एव अन्य सस्थाओ से प्राप्त ऋण। बाजार ऋणो स अभिप्राय उन ऋणो से है जो राज्य सरकार सीधे बाजारो से प्राप्त करती है अर्थात जनता से प्राप्त करती है। बाण्डस (Bonds) स तात्पर्य उन क्षतिपूर्ति बाण्डो (Compensation Bonds) से है जो राज्य सरकारो ने जमीदारी प्रथा का उन्मूलन करते समय जमीदारो को दिये थे। ये दीर्घकालीन बाण्डस है जिन पर राज्य सरकारें प्रति वर्ष ब्याज चुकाती है। इस शीर्षक के अन्तर्गत अन्य प्रकार के बाण्डो को भी सम्मिलित किया गया है। विगत वर्षो म इस मद म वृद्धि हुई है। 31 मार्च 1971 को राज्य सरकारो के बाजार ऋणो एव बाण्डस की कुल मात्रा 1233 करोड रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह बढकर 2103 करोड रुपये हो गयी थी। इसी प्रकार राज्य सरकार आवश्यकता पडने पर रिजर्व बैंक स अल्पकालीन ऋण भी लेती है। 31 मार्च 1971 को राज्य सरकारो द्वारा रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋणो की कुल राशि 375 करोड रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह राशि घटकर 132 करोड रुपये हो गयी थी। राज्य सरकारें बैंको एव अन्य सस्थाओ से भी समय समय पर ऋण प्राप्त करती रहती है। 31 मार्च, 1971 को राज्य सरकारो द्वारा प्राप्त ऋण राशि 239 करोड रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976

सारणी
राज्य सरकारो की ऋण स्थिति
प्रति वर्ष 31 मार्च को

(करोड रुपयो मे)

मदे	1971	1972	1973	1974	1975	1976 संशोधित अनुमान	1977 (बजट अनुमान)
I आन्तरिक ऋण (क से ग तक)	1847	2211	1859	2155	2416	2738	2 953
(क) बाजार ऋण एव बाण्ड (i से ii)	1233	1332	1465	1625	1836	2103	2,306
(i) बाजार ऋण	1143	1245	1380	1543	1758	2028	2,227
(ii) क्षतिपूर्ति एव अन्य बाण्डस	90	87	85	82	78	75	79
(ख) रिजर्व बैंक से प्राप्त अल्पकालीन ऋण	375	621	78	188	181	132	132
(ग) बैंको एव अन्य संस्थाओ से ऋण	239	258	316	342	399	503	515
II केन्द्रीय सरकार से प्राप्त ऋण	6,365	6732	7960	8 579	9149	9712	10,433
III भविष्य निधिया (Provident Funds)	537	627	726	857	1001	1165	1,354
IV कुल ऋण (I से III तक)	8,749	9,570	10,545	11,591	12,566	13,615	14,740

Source Report on Currency and Finance, 1975-76, p 129

का यह बढ़कर 503 करोड़ रु० हो गया थी। राज्य सरकारों का कुल आन्तरिक ऋण 31 मार्च 1971 को 1857 करोड़ रु० था लेकिन 31 मार्च 1976 को यह ऋण बढ़कर 2738 करोड़ रु० (अनुमानित) हो गया था।

केन्द्रीय सरकार भी समय-समय पर राज्य सरकारों को कर्ज देती रहती है। विगत कुछ वर्षों में इन ऋणों में विशेष वृद्धि हुई है। 31 मार्च 1971 को इन ऋणों की कुल मात्रा 6365 करोड़ रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह बढ़कर 9 712 करोड़ रु० हो गयी थी। यह राशि राज्य सरकारों के कुल ऋण की तीन चौथाई से भी अधिक है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ये ऋण पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित करने हेतु देती रहती है।

राज्य सरकारों के ऋणों का तीसरा अंग है भविष्य निधियाँ (Provident Funds)। ये भविष्य निधियाँ राज्य कर्मचारियों की हैं और राज्य सरकारों की देयताएँ (liabilities) हैं। इन राशियों पर राज्य सरकार ब्याज देती है। 31 मार्च 1971 को इन भविष्य निधियों की कुल मात्रा 537 करोड़ रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह राशि बढ़कर 1 165 करोड़ रु० हो गयी थी। इसका कारण यह था कि राज्य सरकारों ने कर्मचारियों का बढ़ा हुआ मँहगाई भत्ता नकद न देकर प्राविडेण्ट फण्ड में जमा कर दिया था।

विगत कुछ वर्षों में राज्य सरकारों के कुल ऋण में भारी वृद्धि हुई है। 31 मार्च 1971 को इस ऋण की कुल मात्रा 8 749 करोड़ रु० थी लेकिन 31 मार्च 1976 को यह बढ़कर 13 615 करोड़ रु० हो गयी थी।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संक्षिप्त संकेत

1. **सार्वजनिक ऋण क्या है? भारतीय सार्वजनिक ऋण की वर्तमान स्थिति तथा प्रवृत्ति क्या है?** (आगरा 1960)

अथवा

भारत के सार्वजनिक ऋण पर टिप्पणी लिखिए। *(आगरा 1966)*

[**संकेत**—प्रथम भाग में सार्वजनिक ऋण की परिभाषा प्रस्तुत कीजिए और यह भी बताइए कि सार्वजनिक ऋण कितने प्रकार का होता है। दूसरे भाग में भारत के सार्वजनिक ऋण के मुख्य अंगों की आंकड़ों सहित विवेचना कीजिए। अन्त में यह स्पष्ट कीजिए कि भारत के सार्वजनिक ऋण का अधिकांश भाग उत्पादक है और भविष्य में भी इसी प्रवृत्ति के जारी रहने की सम्भावना है।]

परिशिष्ट

परीक्षा भवन में अच्छा उत्तर कैसे लिखें

परीक्षा में उच्च स्तर के अंक प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र का विस्तृत व गहन अध्ययन ही पर्याप्त नहीं। विद्यार्थियों को सही, प्रासंगिक (relevant) तथा सन्तुलित उत्तर लिखने की कला से भी परिचित होना आवश्यक है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि कुछ विद्यार्थी अर्थशास्त्र में कड़ा तथा निरन्तर परिश्रम करने के बावजूद परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने में असमर्थ रहते है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे प्रश्नोत्तर लिखने की विधि से प्राय अनभिज्ञ होते हैं। अत विद्यार्थियों की सुविधा के लिए नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करेंगे जिनकी ओर उन्हे विशेष ध्यान देना चाहिए।

(1) **प्रश्न-पत्र को ध्यानपूर्वक पढ़िए**--परीक्षा भवन मे प्रश्न-पत्र मिलते ही इसे धीरे-धीरे ध्यानपूर्वक पढ़िए। तत्पश्चात प्रश्न-पत्र मे दिये गये नोट को सावधानी से पढ़िए। जितने प्रश्न करने का आदेश दिया गया हो उतने ही प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रश्न-पत्र सावधानी से पढ़ने पर जिन प्रश्नों के उत्तर आपको अच्छी तरह याद हो उनके सामने निशान लगा दीजिए। जो प्रश्न सबसे अच्छी तरह याद हो उसे उत्तर-पुस्तिका में सबसे पहले कीजिए।

(2) **समय का उचित वितरण कीजिए**--अक्सर ऐसा देखा गया है कि विद्यार्थी प्रथम प्रश्न के उत्तर को लिखने मे आवश्यकता से अधिक समय देते हैं। परिणामत शेष प्रश्नों के उत्तर लिखने के लिए उनके पास पर्याप्त समय नहीं बचता विशेषकर अन्तिम प्रश्न का उत्तर तो केवल घसीटा ही जाता है। इससे विद्यार्थी अच्छे अंक प्राप्त करने मे असमर्थ रहते है। अत यह अत्यन्त आवश्यक है कि समय का उचित वितरण किया जाय। प्राय परीक्षा मे पाँच प्रश्न करने को कहा जाता है और निर्धारित समय 3 घण्टे होता है। इस समय का उपयोग इस ढंग से करना चाहिए कि पाँचों प्रश्न 3 घण्टे के भीतर किये जा सके। प्राय 10 मिनट तो प्रश्न-पत्र को दो बार धीरे धीरे पढ़ने मे ही लग जाते है और 15-20 मिनट उत्तरों को दोहराने के लिए रख लेने चाहिए। इस प्रकार 5 प्रश्नों के उत्तर लिखने के लिए लगभग ढाई घण्टे बचते है। अत प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लिखने म केवल 20 मिनट ही दिये जा सकते है। यदि कोई प्रश्न आपको बहुत अच्छी तरह याद है तो उसका उत्तर लिखने में आप 35 मिनट तक का समय भी दे सकते हैं परन्तु इससे अधिक समय देने पर शेष प्रश्नों के लिए पर्याप्त समय नहीं बचेगा।

(3) **प्रश्नों का उचित चुनाव कीजिए**--हाईस्कूल इण्टरमीडिएट तथा बी० ए० की परीक्षाओं में प्राय तीन प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं--(1) **व्याख्यात्मक (Explanatory) प्रश्न**--ऐसे प्रश्नों मे परीक्षार्थियों को अर्थशास्त्र के किसी सिद्धान्त अथवा नियम की व्याख्या करने के लिए कहा जाता है या किसी महत्त्वपूर्ण उद्धरण (quotation) की व्याख्या करने के लिए कहा जाता है। यदि परीक्षार्थी द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्या सही है तो उसे अच्छे अंक प्राप्त होते है। प्राय ऐसे प्रश्नों में अधिक लिखना भी नहीं पड़ता और जैसा कहा गया है, अंक भी अच्छे मिलते हैं परन्तु शर्त यह है कि व्याख्या पूर्णत सही होनी चाहिए। यदि व्याख्या करते समय कहीं किसी पग पर त्रुटि या कमी रह जाती है तो इससे अंकों के कट जाने की आशंका भी रहती है। अत परीक्षार्थी को ऐसे प्रश्न तभी चुनने चाहिए जब सम्बन्धित विषय पर उसका ग्रहण (grasp) सुदृढ़ हो अन्यथा लाभ के बजाय हानि की अधिक सम्भावना रहती है।

(2) **वर्णनात्मक प्रश्न**—ऐसे प्रश्नो मे तो परीक्षार्थी को केवल तथ्यो की चर्चा ही करनी पडती है। किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नही होनी। ऐसे प्रश्नो का उद्देश्य तो केवल परीक्षार्थी की स्मरण-शक्ति की परीक्षा करना ही होता है। अत विद्यार्थियो को ऐसे प्रश्नो के उत्तर तभी देने चाहिए जब उन्हे सभी आवश्यक तथ्य कण्ठस्थ हो। प्राय ऐसे प्रश्नो मे लिखना बहुत पडता है और अक भी अपेक्षाकृत कम प्राप्त होते है क्योकि लिखने समय अक्सर परीक्षार्थी कुछ महत्वपूर्ण तथ्य भूल जाते है। परन्तु उत्तीर्ण होने योग्य अक प्राय इन प्रश्नो मे मिल ही जाते हैं।

(3) **सक्षिप्त टिप्पणी प्रश्न**—प्राय प्रत्येक प्रश्न-पत्र मे इस प्रकार का एक प्रश्न अवश्य होता है। परीक्षार्थी को यह प्रश्न जहाँ तक हो सके नही छोडना चाहिए क्योकि इसमे अपेक्षाकृत अधिक अक प्राप्त होते है यद्यपि लिखना भी अधिक पडता है।

सक्षिप्त टिप्पणी वाले प्रश्न के अलावा विद्यार्थी को व्याख्यात्मक तथा वर्णनात्मक दोनो प्रकार के प्रश्नो को करना चाहिए। यदि परीक्षार्थी सभी व्याख्यात्मक प्रश्न ही करता है तो ऐसा करने मे थोडा-सा जोखिम (risk) अवश्य रहता है कि कही किसी पग पर किसी अशुद्धि अथवा त्रुटि के कारण अक कट नही जाये। इसके विपरीत, यदि परीक्षार्थी सभी वर्णनात्मक प्रश्न करता है तो कुछ आवश्यक व महत्त्वपूर्ण तथ्यो को भूल जाने से अच्छे अको को प्राप्त करने से वचित रह जाता है। अत बुद्धिमत्ता इसी मे है कि दोनो प्रकार के प्रश्नो को उचित सम्मिश्रण मे किया जाय।

(4) **उत्तर न तो अधिक विस्तृत और न ही अधिक सक्षिप्त होना चाहिए**—प्राय विद्यार्थी पूछते है कि उत्तर का आकार (size) क्या होना चाहिए अर्थात् उत्तर कितने पृष्ठो का होना चाहिए। इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। यह तो प्रश्न के स्वभाव (nature) तथा विद्यार्थी की लेखन-शैली (style of writing) पर निर्भर करता है। सभी प्रश्नो के उत्तर समान आकार के नही होते। कुछ प्रश्न तो ऐसे होने हैं कि उनका सही तथा प्रासगिक उत्तर केवल 3 या 4 पृष्ठो मे दिया जा सकता है और कुछ प्रश्न ऐसे होते है कि उनका उचित उत्तर देने के लिए 8 या 10 पृष्ठो की आवश्यकता पडती है। अत उत्तर के आकार के बारे मे कोई सामान्य नियम नही बनाया जा सकता। यह इसलिए भी कठिन है, क्योकि सभी विद्यार्थियो की लेखन-शैली एक जैसी नही होती। कुछ विद्यार्थी बडे-बडे तथा मोटे अक्षरो मे लिखते है और बीच मे स्थान भी अधिक छोडते है। ऐसे विद्यार्थियो के लिए उत्तर का आकार स्वभावत ही बडा होगा। इसके विपरीत छोटे तथा बारीक अक्षर लिखने वाले विद्यार्थी के लिए उत्तर का आकार निश्चित रूप से छोटा होगा। परन्तु लेखन-शैली साधारण होते हुए (अर्थात् न बहुत बडे और न बहुत छोटे अक्षरो का उपयोग होने पर) साधारणत किसी प्रश्न का उत्तर छह-सात पृष्ठो से अधिक नही होना चाहिए। हाँ, आपके द्वारा किये गये प्रथम प्रश्न का उत्तर 8 पृष्ठो तक का भी हो सकता है। सक्षिप्त टिप्पणी मे दो-ढाई पृष्ठ ही पर्याप्त है। स्मरण रहे कि उत्तर के आकार को बढाने या विस्तृत करने से कोई लाभ नही होता। उल्टे इससे अपने बहुमूल्य समय का अपव्यय (wastage) ही होता है।

(5) **उत्तर को तीन भागों मे विभाजित कीजिए**—प्राय प्रत्येक प्रश्न के उत्तर को तीन मुख्य भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(1) **प्राक्कथन या परिचय** (Introduction)—उत्तर का प्रारम्भ प्राक्कथन या परिचय से होना चाहिए, परन्तु ध्यान रहे कि प्राक्कथन या परिचय अधिक विस्तृत नही होना चाहिए अन्यथा समय का अपव्यय होगा और कोई विशेष लाभ नही होगा। प्राक्कथन को प्राय एक या दो अनुच्छेदो (paras) मे ही समाप्त कर देना चाहिए। इसको प्राय किसी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री के उद्धरण से आरम्भ करना बेहतर होगा। यदि प्रश्न किसी उद्धरण के रूप मे है तो उसकी व्याख्या तो अवश्य ही उद्धरण से प्रारम्भ करनी चाहिए। (2) **मुख्य भाग** (main body)—जैसा स्पष्ट है, यह उत्तर का मुख्य तथा महत्वपूर्ण भाग होता है। अत इसके लिखने में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए। इसको लिखने से पूर्व विद्यार्थी को अपने मन मे इसकी पूर्व योजना बना लेनी चाहिए और उसी योजना के अनुसार उत्तर लिखना चाहिए। इस भाग मे प्राय किसी विषय के कारणो, उपायो, गुणो व दोषो की विवेचना की जाती है। अत इनका लिखने समय बाकायदा क्रम वार नम्बर देकर लिखना चाहिए। इस भाग मे महत्त्वपूर्ण नुक्तो (points) की व्याख्या करते समय उदाहरण व रेखाचित्रो का

उदारतापूर्ण प्रयोग करना चाहिए विषय सामग्री को छोटे छोटे अनुच्छेदों में विभाजित कर उन्हें रेखांकित शीर्षकों और उपशीर्षकों के अन्तर्गत लिखना चाहिए। इससे परीक्षक को उत्तर पुस्तिका जाँचने में कठिनाई नहीं होगी। उत्तर के इस भाग में एक या दो प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के उद्धरण देना उचित रहेगा। परन्तु उद्धरण देते समय ध्यान रहे कि इसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं होनी चाहिए और इसे यथासम्भव लेखक की भाषा में ही दिया जाना चाहिए। यदि आपको लेखक के शब्द सही-सही याद न हों तो गलत उद्धरण देने के बजाय उसका सारांश अपने ही शब्दों में व्यक्त कीजिए। लेखक का नाम भी सही होना चाहिए। लेखक का नाम गलत लिखने से परीक्षक पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना है। चूँकि हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र की शब्दावली अभी मानकित (standardised) नहीं हो पायी है अतः विद्यार्थियों को पारिभाषिक शब्द देते समय कोष्ठकों में उनके अंग्रेजी पर्यायवाची अवश्य देने चाहिए। उत्तर के इस भाग को प्रायः 3 4 पृष्ठों में समाप्त कर देना चाहिए और किसी प्रकार की अप्रासंगिक (non relevant) सामग्री नहीं देनी चाहिए। (3) **निष्कर्ष** (Conclusion)—उत्तर के मध्य भाग में दी गयी मुख्य-मुख्य बातों का सार यहाँ पर लिखिए और थोड़े से शब्दों में अपने निजी विचार भी प्रकट कीजिए। प्रायः निष्कर्ष आधे पृष्ठ से अधिक नहीं होना चाहिए। इसे अन्त से एक अनुच्छेद (Para) में लिखना चाहिए।

(6) **लिखाई (Hand writing) सुन्दर आकर्षक तथा सुगमता से पढ़ी जा सके**—यह अत्यन्त आवश्यक है कि आपका लेख सुन्दर आकर्षक तथा आसानी से पढ़ा जा सके। बहुधा विद्यार्थी अपनी लिखाई की ओर विशेष ध्यान नहीं देते और ऐसा भद्दा लिखते हैं कि परीक्षक के लिए उसको पढ़ना कठिन हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रायः परीक्षक क्षुब्ध होकर उत्तर पढ़ना ही बन्द कर देता है और यों ही (impression) के अनुसार अंक देता है जिससे परीक्षार्थी को प्रायः हानि ही होती है। अतः यह आवश्यक है कि आपका लेख परीक्षक द्वारा सुगमता से पढ़ा जा सके। इसलिए जरूरी है कि आप मोटे (परन्तु बहुत मोटे नहीं) अक्षरों में तथा उनके बीच कुछ स्थान छोड़कर लिखें। पतले व बारीक अक्षरों को पढ़ने में कठिनाई होती है।

(7) अन्य बातें—वे इस प्रकार है

(क) परीक्षार्थी को अपनी उत्तर पुस्तिका के बायीं ओर 1 इंच चौड़ा हाशिया अवश्य छोड़ना चाहिए।

(ख) प्रश्न का उत्तर आरम्भ करने से पूर्व हाशिये में उस प्रश्न का नम्बर अवश्य देना चाहिए। ध्यान रहे यह नम्बर वही होना चाहिए जो प्रश्न पत्र में दिया गया है।

(ग) प्रत्येक प्रश्न के उत्तर का आरम्भ एक नये पृष्ठ से होना चाहिए।

(घ) परीक्षा भवन में लिखने समय गाढ़ी व चमकीली रोशनाई का इस्तेमाल किया जाय ताकि परीक्षक को पढ़ने में असुविधा न हो।

(ङ) रेखाचित्रों को नोकदार पेंसिल व स्केल से खींचा जाय।